

उत्तर प्रदेश
राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

MAHI-08

साहित्य सिद्धांत और समालोचना

खंड

1

साहित्य की अवधारणा

पाठ्यक्रम निर्माण

इकाई लेखक
डॉ. कृष्णदत्त पालीवाल (इकाई 1-4)
हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली

पाठ्यक्रम संपादक
प्रो. निर्मला जैन
पाठ्यक्रम संयोजक
डॉ. रीतारानी पालीवाल

सामग्री निर्माण

प्रो. वी.रा.जगन्नाथन
निदेशक, मानविकी विद्यापीठ
इग्नू, नई दिल्ली

श्री कुलवंत सिंह
अनुभाग अधिकारी (प्रकाशन)
मानविकी विद्यापीठ, इग्नू

कैमरा रेडी कॉपी निर्माण एवं सचिवालयिक सहयोग
श्री हरीश कुमार सेठी

फरवरी 2004 (पुनः मुद्रित)

ISBN-81-7605-964-1

इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की अनुमति से पुनः मुद्रित। उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद की ओर से डा. अरूण कुमार गुप्ता, कुलसचिव द्वारा पुनः मुद्रित एवं प्रकाशित, 2019

मुद्रक : चन्द्रकला यूनिवर्सल प्रा. लि. 42/7 जवाहरलाल नेहरू रोड प्रयागराज 211002

पाठयक्रम परिचय

एम.ए. हिंदी का पाँचवाँ पाठ्यक्रम (एम.एच.डी-5) 'साहित्य सिद्धांत और समालोचना' का पाठ्यक्रम है। एम. ए. के अन्य पाठ्यक्रमों में आपने विभिन्न रचनाकारों और उनकी कृतियों यानी सृजनात्मक साहित्य का अध्ययन किया है। प्रस्तुत पाठ्यक्रम में आप साहित्यशास्त्र के सिद्धांतों और साहित्यिक समीक्षा अथवा आलोचना के विषय में पढ़ेंगे। हो सकता है आप में से कुछ विद्यार्थियों ने स्नातक स्तर पर साहित्य सिद्धांत विषयक कुछ जानकारी प्राप्त की हो किंतु, आप में से अधिकांश के लिए यह विषय पर्याप्त नया है।

साहित्य का मूल्यांकन करने वाला या साहित्य सौंदर्य की परख करने वाला शास्त्र (विद्या) साहित्यशास्त्र कहलाता है। संस्कृत में इस शास्त्र के लिए अनेक नाम प्रचलित रहे हैं - काव्यशास्त्र, अलंकार शास्त्र साहित्य विद्या, काव्य मीमांसा, साहित्य मीमांसा, क्रियाकल्प आदि। इस शास्त्र में काव्य-सौंदर्य का परीक्षण कर आधारभूत सिद्धांतों का प्रतिपादन किया जाता है और इन सिद्धांतों के आधार पर ही काव्य के विविध अंगों का मूल्यांकन होता है। पश्चिम में भी साहित्य से संबंधित सिद्धांतों का निरूपण करने वाले शास्त्र के लिए 'पोइटिक्स', 'थियरी ऑफ लिटरेचर', 'प्रिंसिपल्स ऑफ लेटररी क्रिटिसिज्म' आदि नाम मिलते हैं।

आलोचना' या 'समालोचना' शब्द का अर्थ है - देखना, समग्र रूप में परखना। इसीलिए किसी कृति की सम्यक व्याख्या, मूल्यांकन आदि को आलोचना कहा जाता है। आलोचक कृति को समग्र रूप में परखता है। इस तरह आलोचना कवि और पाठक के बीच की कड़ी है। कवि-कर्म के सामर्थ्य को परखने प्रकाश में लाने को ही विद्वानों ने आलोचना कहा है। अंग्रेज़ी में आलोचना का समकक्ष शब्द है 'क्रिटीक' (Critique)। इसका अर्थ भी है 'अलग करना' अर्थात् तुलना और निर्णय करना। रचना अच्छी है या बुरी तहर निर्णय कर देना मात्र आलोचना नहीं। आलोचना का उद्देश्य है रचना कर्म का प्रत्येक दृष्टिकाण से मूल्यांकन कर उसे पाठक के समक्ष प्रस्तुत करना, पाठक की रुचि-परिष्कार करना और साहित्यिक गतिविधि की 'समझ' को विकसित और निर्धारित करना।

साहित्य सिद्धांत और समालोचना का नाभि-नाल संबंध है। दोनों एक-दूसरे से अभिन्न रूप से जुड़े हैं। साहित्यशास्त्र (सैद्धांतिक आलोचना या समीक्षा) के परिप्रेक्ष्य से ही व्यावहारिक आलोचना का जन्म होता है। साहित्यशास्त्र का ज्ञान आलोचक को दिशा और दृष्टि प्रदान करता है। पुराने-नए साहित्य सिद्धांतों के प्रकाश में वह अपने आलोचना के प्रतिमान तय करता है। साहित्य को यदि हम जीवन की व्याख्या माने तो आलोचना को व्याख्या की व्याख्या मानना होगा। जीवन-स्थितियों और संदर्भों में परिवर्तन के साथ लोक-रुचि में बदलाव के परिणामस्वरूप साहित्य में भी परिवर्तन के मोड़ आते रहते है। आलोचना का इतिहास भी संसार की परिवर्तनशील रुचि का इतिहास है। समय-समय पर आलोचना भिन्न-भिन्न रूप धारण करती रही है और हर समय के रचनाकर्म की सामाजिक-सांस्कृतिक उपयोगिता पर उसका ध्यान केंद्रित रहा है।

हमारे मन में यह प्रश्न बार-बार उठता है कि आज के युग में साहित्य-सिद्धांत को पढ़ने-पढ़ाने की सार्थकता या उपयोगिता क्या है? इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए साहित्यशास्त्र - जिसे 'साहित्य दर्शन कहा जाता रहा है - के ज्ञान की उपयोगिता पर विचार कर लेना उपयुक्त होगा। साहित्य के स्वरूप, स्वभाव, प्रेरणा, हेतु, प्रयोजन या उद्देश्य, सौंदर्य चेतना और काव्य रूप, प्रभाव, उपादान आदि के संबंध में बहुत समय से देश-विदेश में गंभीर चिंतन होता आया है। इस चिंतन के फलस्वरूप कुछ ऐसे मौलिक सिद्धांत (रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि, अनुकरण सिद्धांत, विरेचन सिद्धांत आदि) निर्धारित किए गए हैं, जिनका ज्ञान कवि-पाठक-आलोचक के लिए उपयोगी होता है। देश-विदेश के इन्हीं सिद्धांतों या विचारधाराओं को लेकर साहित्यशास्त्र या साहित्य-दर्शन का निर्माण हुआ है। साहित्यशास्त्र के इन मौलिक सिद्धांतों, सारभूत नियमों और प्रतिमानों का ज्ञान सृजन कर्म के मूल्यांकन के लिए आवश्यक होता है। मूल्यांकन के स्वीकृत सिद्धांतों-मानदंडों को न अपनाने से आलोचना-कर्म में वैयक्तिक रूचियों प्रभावों पर आधारित अराजकता उत्पन्न होने का खतरा रहता है। साहित्य-सिद्धांतों के विवेकपूर्ण व्यवहार से समीक्षा सक्षम बनती है। जितना उत्तम निर्देशन हमें साहित्यशास्त्र के सिद्धांतों से मिलता है उतना किसी अन्य स्रोत से नहीं। शास्त्रगत प्रतिमान शाश्वत नहीं होते। समय और समाज की चेतना के प्रभाव दबावों से उनमें परिवर्तन होते रहते हैं, होने भी चाहिए। पुराने प्रतिमानों को पीछे धकेलते हुए नए प्रतिमान निर्मित होते रहते हैं। इन नए प्रतिमानों के निर्माण के पीछे नवीन सृजन

चेतना सक्रिय रहती है। किंतु नए प्रतिमानों का निर्माण भी शून्य में नहीं होता, वे भी लोक और शास्त्र की परंपरा के भीतर से ही फूटते और पनपते हैं। इसलिए साहित्यशास्त्र के ज्ञान द्वारा निर्मित पीठिका साहित्यिक अध्ययन के लिए अनिवार्य रूप से अपेक्षित है। उदाहरण के लिए, साहित्य के मूल्यांकन के रस प्रतिमान पर तो आज प्रश्न-चिह्न लग चुका है लेकिन रस चिंतन परंपरा के ज्ञान की उपादेयता कम नहीं हुई है। सार-संक्षेप यह है कि न तो भरत और प्लेटो, भामह और अरस्तू, अभिनवगुप्त और आई.ए.रिचर्डस, विश्वनाथ और टी.एस.एलियट, फ्रायड और कार्ल मार्क्स आदि द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों के सामान्य ज्ञान के बिना साहित्यिक अध्ययन और आलोचना की प्रक्रिया सुचारू रूप से सम्पन्न हो सकती है और न ही विभिन्न चिंतन पद्धतियों और विचारधाराओं के महत्व को अस्वीकार किया जा सकता है।

प्रस्तुत पाठ्यक्रम में भारतीय और पाश्चात्य चिंतन की परंपरा की जानकारी देते हुए प्रमुख आचार्यों और उनके सिद्धांतों के बारे में बताया गया है। प्राचीन सिद्धांतों के खंडन-मंडन और नवीन सिद्धांतों की स्थापना के प्रमुख बिंदुओं से अवगत कराने के साथ-साथ विद्यार्थियों को उन प्रमुख चिंतन-सरणियों (वादों) और विचारधाराओं से भी परिचित कराया गया है जिन्होंने आधुनिक आलोचना पद्धतियों को दिशा और दृष्टि दी। भारतीय और पाश्चात्य साहित्य चिंतन दृष्टि में समानता अथवा विषमता के महत्वपूर्ण पक्षों को उदघाटित करते हुए विद्यार्थियों को भारतीय साहित्य के संदर्भ में उनकी प्रासंगिकता की पहचान कराई गई है। हिंदी आलोचना के विकास एवं स्वरूप की जानकारी दी गई है तथा प्रमुख हिंदी आलोचकों के योगदान पर प्रकाश डाला गया है।

संपूर्ण पाठ्यक्रम कुल **सात खंडों** में विभाजित है।

पहला खंड '**साहित्य की अवधारणा**' साहित्य के स्वरूप, प्रयोजन हेतु जैसे बुनियादी प्रश्नों से संबंधित है। भारत और पश्चिम के आचार्यों द्वारा इन प्रश्नों पर विचार और विवेचन का संक्षिप्त परिचय इस खंड में दिया गया है। इसके साथ ही इस खंड में शब्द-शक्तियों के विषय में भी बताया गया है।

दूसरे खंड '**भारतीय काव्यशास्त्र : विकास के चरण**' में काव्यशास्त्र के प्रमुख संप्रदायों और उनसे सम्बद्ध आचार्यों की जानकारी दी गई है।

तीसरे खंड '**रस चिंतन के विविध आयाम**' में रस-सिद्धांत का विस्तृत परिचय रस के स्वरूप, रस निष्पत्ति, साधारणीकरण, रस के गृहीता (सहृदय) आदि के माध्यम से देते हुए आधुनिक समय में उनकी प्रासंगिकता पर विचार किया गया है।

चौथे और पाँचवे खंड '**पाश्चात्य काव्यशास्त्र-I**' तथा '**पाश्चात्य काव्यशास्त्र-II**' में प्लेटो से लेकर समकालीन पश्चिमी विचारकों और उनके साहित्य सिद्धांतों की परंपरा का संक्षिप्त विवेचन किया गया है।

छठे खंड '**साहित्य सिद्धांत और विचारधाराएँ**' में पश्चिम की प्रमुख विचारधाराओं और उनसे प्रभावित आलोचना दृष्टि की जानकारी दी गई है। इस खंड में पश्चिम के साहित्यिक और कला के आंदोलनों से सम्बद्ध समीक्षा सिद्धांतों और पद्धतियों के विषय में बताया है।

सातवाँ खंड '**हिंदी आलोचना**' पर आधारित है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिंदी आलोचना के प्रस्थान बिंदु हैं। इस बात को दृष्टि में रखते हुए एक इकाई आचार्य शुक्ल की आलोचना से संबंधित रखी गई है और दूसरी शुक्लोत्तर हिंदी आलोचना से। एक इकाई शुक्लोत्तर आलोचना के प्रमुख आलोचक डॉ.रामविलास शर्मा पर केंद्रित है। खंड की अंतिम इकाई साहित्य की विधाओं (काव्य-रूप) से संबंधित है।

खंड 1 का परिचय

'साहित्य सिद्धांत और समालोचना' पाठ्यक्रम (एम.एच.डी-5) का पहला खंड **'साहित्य की अवधारणा'** साहित्य रचना के बुनियादी सवालों से संबंधित है। साहित्य को परिभाषित करते समय चुनौती यही रही है कि कविता क्या है, उसकी प्रेरणा कहाँ से आती है और काव्य सृजन का प्रयोजन या उद्देश्य क्या है। देश-विदेश के काव्यशास्त्र में इन प्रश्नों पर भारी विचार-मंथन हुआ है और हो रहा है। काव्य के सभी बुनियादी आधार इसी चर्चा के केंद्र में हैं। कवि का माध्यम है - 'शब्द'। शब्द और अर्थ के सहभाव या रमणीय संयोग को काव्य माना गया है। कवि शब्द का कैसे उपयोग करता है कि काव्यत्व की सृष्टि होती है, यह सहभाव कैसे और किसलिए होता है। इस संबंध में हुए भारतीय और पश्चिमी चिंतन-विवेचन का संक्षिप्त परिचय इस खंड की चार इकाइयों में दिया गया है।

शब्द-शक्ति साहित्य सृजन में अंतर्निहित अर्थ को व्यक्त करने का व्यापार है। व्यापार से तात्पर्य है - वह कारण जिससे किसी कार्य का संपादन हो। उदाहरण के लिए, घड़ा बनाने के लिए मिट्टी, चाक, डंडा, कुम्हार आदि कारण हैं और चाक का घूमना वह व्यापार है जिससे घड़ा बनता है। इसी प्रकार अर्थ का बोध कराने में शब्द कारण है और अभिधा, लक्षणा आदि शब्द-शक्तियाँ व्यापार हैं। इन्हें आचार्यों ने कभी 'शक्ति' तो कभी 'वृत्ति' कहा है। शब्द-शक्तियों का अध्ययन आज के युग में अत्यंत उपयोगी तथा मूल्यवान है। कृति के अध्ययन की विश्लेषणात्मक पद्धति में भी इसकी उपयोगिता निर्विवाद रूप से स्वीकार की जा रही है।

इकाई 1 : **'काव्य लक्षण अथवा काव्य की परिभाषा'** के अंतर्गत काव्य के स्वरूप के विषय में प्राचीन युग से लेकर आज तक की चर्चा का सार क्रमबद्ध रूप में प्रस्तुत किया गया है।

इकाई 2 : **'काव्य प्रेरणा और काव्य हेतु'** में भारतीय आचार्यों द्वारा प्रतिपादित काव्य हेतुओं तथा काव्य प्रेरणा संबंधी पश्चिमी सिद्धांतों की चर्चा की गई है।

इकाई 3 : **'काव्य प्रयोजन'** में साहित्य के उद्देश्य के विषय में भारतीय एवं पश्चिमी आचार्यों के मतों का विवेचन है।

इकाई 4 : **'शब्द-शक्ति विवेचन'** के अंतर्गत शब्द और अर्थ के संबंध को निरूपित करते हुए शब्द-शक्तियों की सत्ता और महत्ता पर आधुनिक दृष्टि से विचार किया गया है।

प्रत्येक पाठ के अंत में विद्यार्थियों के अभ्यास के लिए कुछ प्रश्न दिए गए हैं।

खंड के अंत में कुछ उपयोगी पुस्तकों की सूची दी गई है। विषय को विस्तार एवं गहराई से समझने के लिए छात्र इनका उपयोग कर सकते हैं।

पाठों में प्रयुक्त अप्रचलित अथवा तकनीकी शब्दों का अर्थ प्रत्येक पाठ के 'शब्दावली' शीर्षक के अंतर्गत दिया गया है।

इकाई 1 काव्य लक्षण अथवा काव्य की परिभाषा

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- बता सकेंगे कि काव्य की परिभाषा कैसी होनी चाहिए;
- संस्कृत आचार्यों के काव्य लक्षण संबंधी मतों का उल्लेख कर सकेंगे;
- हिंदी रचनाकारों और आलोचकों द्वारा दी गई काव्य की परिभाषाओं के विषय में बता सकेंगे; और
- विभिन्न युगों की सामाजिक-सांस्कृतिक स्थितियों के अनुरूप साहित्य को परिभाषित करने की दृष्टि में हुए परिवर्तन पर प्रकाश डाल सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना

साहित्य-सिद्धांत और समालोचना के अध्ययन का आरंभ हम काव्य लक्षण अथवा काव्य की परिभाषा से करेंगे। इसके अंतर्गत इस बुनियादी प्रश्न पर विचार किया जाएगा कि काव्य का स्वरूप अथवा विशेषताएँ क्या हैं, कैसी हैं। इस पाठ को पढ़ते समय आपके मन मे सहज सवाल पैदा हो सकता है कि केवल काव्य के लक्षण की ही चर्चा क्यों की जा रहने है, साहित्य की अन्य विधाएँ भी तो हैं, उनकी बात क्यों नहीं हो रही। अपने प्रश्न का उत्तर आपकों मिल जाएगा जब आप काव्य शब्द का पूरा अर्थ जान जाएँगे। अतः अध्ययन आरंभ करने से पहले आपके लिए यह जान लेना जरूरी है कि काव्य भारतीय वाडमय का एक व्यापक शब्द है जिसके अंतर्गत समसत सृजनात्मक साहित्य शामिल है।

शायद आपने काव्य के भेदों - श्रव्य काव्य और दृश्य काव्य के विषय में सुना हो। नाटक को दृश्य काव्य कहा गया है क्योंकि यह दृश्य रूप में प्रस्तुत होता है। हम इसे रंगमंच पर अपनी आँखों से प्रत्यक्ष देखते हैं जबकि साहित्य की अन्य विधाओं को हम पढ़ते या सुनते है। इस तरह आप समझ सकते है कि नाटक भी काव्य का ही एक भेद है। काव्य के विभिन्न रूपों - गद्य काव्य, पद्य काव्य, चंपू काव्य आदि के विषय में भी शायद आपने सुना हो।

दुनिया-भर मे सजृनात्मक अभिव्यक्ति का आरंभ काव्य के रूप में हुआ। प्राचीनकाल से ही कविता मनुष्य के सुख-दुःख के गहन मनोभावों की अभिव्यक्ति का प्रबल माध्यम बनी हुई है, गद्य का विकास

काफी बाद में हुआ है। अतः साहित्य चिंतन की परंपरा काव्य को केंद्र में रखकर आरंभ हुई और साहित्य-सिद्धांत के चिंतन-विवेचन संबंधी शास्त्र को 'काव्यशास्त्र' और 'Poetics' जैसे नाम दिए गए। अतः ध्यान रखें कि काव्य लक्षण, काव्य प्रयोजन, काव्य हेतु अथवा काव्य प्रेरणा जैसे विषयों के अंतर्गत समग्र रूप में साहित्य की चर्चा समाहित है। 'काव्य लक्षण' नामक प्रस्तुत इकाई में आप विभिन्न युगों के मनीषी आचार्यों और चिंतकों द्वारा दिए गए काव्य लक्षणों के विषय में जानकारी प्राप्त करेंगे।

देश-विदेश के चिन्तकों-आचार्यों के लिए काव्य लक्षण पर विचार करना एक चुनौतीपूर्ण कार्य रहा है। इस कार्य में सबसे बड़ा जोखिम यह रहा है कि काव्य-विशेष, युग-विशेष की संस्कृति, परम्परा, परिवेश, इतिहास, दर्शन की मूल्य-चेतना को समाविष्ट किए रहता है। जीवन जगत का यथार्थ गतिशील एवं परिवर्तनशील होता है। यथार्थ की यह प्रकृति ही सृजन की प्रकृति को बदलती है। युग-परिवर्तन के साथ जिन वैचारिक क्रान्तियों, आन्दोलनों का जन्म होता है वे सृजन कर्म को काफी दूर तक प्रभावित करते हैं। भारतीय दर्शन और प्रकृति-चेतना ने कवि-कर्म को दृश्य और दृष्टि दोनों क्षेत्रों में आंदोलित किया है। इसी अर्थ में सृजन-कर्म एक सांस्कृतिक प्रक्रिया है। इसी प्रक्रिया के भीतर सामाजिक-नैतिक-सांस्कृतिक संवेदना और संवेदनात्मक ज्ञान की अभिव्यक्ति होती है।

1.2 कवि-कर्म से तात्पर्य

अभिनवगुप्त ने 'ध्वन्यालोक लोचन' में कहा है कि 'कवनीयं काव्य' अर्थात कवि-कर्म एक शाब्दिक निर्मिति है। भारतीय संस्कृति में 'कवि' शब्द अनेक अर्थच्छायाएँ रखता है। यहाँ तक कि 'कवि' शब्द 'ईश्वर', 'ब्रह्म' और 'प्रजापति' का पर्याय रहा है। काव्य की व्याख्या के लिए 'कवि' शब्द को समझना आवश्यक है। 'कु' धातु में अच् प्रत्यय (इ) जोड़कर 'कवि' शब्द की व्युत्पत्ति बतलाई गई है। यहाँ 'कु' का अर्थ है व्याप्ति', 'आकाश', 'अनंतता' अर्थात 'सर्वज्ञता'। फलतः कवि और सर्वज्ञ पर्याय प्रतीत होते हैं। कवि ही भ्रष्टा है, स्रष्टा है। 'कवि मनीषी परिभूः स्वयम्भूः' से तात्पर्य है काव्य उसी मनीषी की सृष्टि है जो स्वयं संपूर्ण और सर्वज्ञ हो। 'परिभूः' अर्थात जो अपनी अनुभूति में जीवन जगत के सब कुछ को समेटन की शक्ति स सम्पन्न हो। वैदिक साहित्य में कवि, द्रष्टा और ऋषि समानार्थक हैं और वेदों के विधाता ब्रह्मा को 'आदि कवि' घोषित किया गया है। लौकिक साहित्य में आकर 'कवि' शब्द की अर्थ व्याप्ति कुछ कम हो जाती है और रमणीय शैली में शब्दार्थ को रचने वाले के अर्थ में प्रयुक्त होने लगता है। बाल्मीकि रामायण को 'आदि काव्य' और 'महाभारत' को 'काव्य' की संज्ञा दी जाती है। इससे स्पष्ट है कि उत्तर वैदिक काल में 'कवि' शब्द विशिष्ट प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति के लिए एक विशेष अर्थ-संदर्भ में रूढ़ हो गया। 'काव्यं लोकोत्तरवर्णनानिपुणं कवि-कर्म.... (काव्य-प्रकाश, प्रथमोल्लास) कवि-कर्म को 'काव्य-संसार' कहा गया और कवि को इस संसार का स्रष्टा या ब्रह्मा - 'अपारे काव्यसंसारे कवि रेव प्रजापतिः।' (आदिपुराण, 339 : 10)

ध्यान देने की बात है कि भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य पर एक स्वतंत्र इकाई के रूप में भी चिन्तन-मनन हुआ है। 'कवि मौलिकता' से अर्थ लिया गया कि अनुभूति के लिए कवि किसी का ऋणी न हो। इसलिए प्रश्न उठा कि काव्य का सच्चा लक्षण क्या है? इस विषय को आचार्यों ने अनेक रूपों में उपस्थित किया। वास्तव में, इन आचार्यों के सामने एक समृद्ध सृजन-परम्परा थी। कई तरह की काव्य-कोटियाँ थीं। भरत मुनि ने नाटक पर आधारित काव्य लक्षण प्रस्तुत किया। भरत ने लोक-कल्याणकारी काव्य के सात लक्षण माने -

1. मृदु ललित पदावली
2. गूढ़ शब्दार्थहीनता
3. सर्वसुगमता
4. युक्तिमत्ता
5. नृत्य में उपयोग किए जाने की योग्यता
6. रस के अनेक स्रोतों को प्रवाहित करने का गुण
7. संधियुक्तता।

इनमें से पाँचवे और सातवें लक्षण में नाटक (दृश्य काव्य) पर बल है, शेष में गुण, रीति, अलंकार, औचित्य, रस आदि का निर्देश। शायद रस-चिंतन की परम्परा शक्तिशाली थी - इसका प्रमाण भरत और अग्निपुराण दोनों में मिलते है। अग्निपुराणकार ने कहा वाग्वैदग्ध्य प्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्। भामह और दण्डी दोनों पर रसवादियों का आतंक है। संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्य लक्षण पर वाद

विवाद की सीमा न रही। हर बात पर तर्क करना, संशय उठाना, बात की तह में जाना हम भारतीयों का स्वभाव बन गया। इसलिए यह प्रश्न उठा कि 'लक्षण' के लक्षण (विशेषताएँ) निर्धारित की जाएँ ताकि लक्षण कोई भ्रम उत्पन्न न करे क्योंकि काव्य लक्षण के अंतर्गत काव्य के स्वरूप या परिभाषा पर विचार किया जाता है।

1.3 'लक्षण' का लक्षण अर्थात् परिभाषा कैसी हो

किसी वस्तु अथवा विषय के असाधारण अर्थात् विशेष धर्म का कथन करना उसका लक्षण कहलाता है। लक्षण-निर्धारण करते समय इस बात का ध्यान रखना अनिवार्य है कि उसमें विवेच्य विषय-वस्तु का ऐसा विशिष्ट गुण निर्दिष्टं किया जाए, जो केवल उसी पदार्थ में विद्यमान हो। प्रायः लक्षण दो प्रकार के होते हैं -

1. स्वरूप लक्षण
2. तटस्थ लक्षण।

लक्षण का प्रमुख प्रयोजन होता है - समान जातीय और विषम जातीय अन्य पदार्थों से विभेद करना अथवा व्यवहार का प्रवर्त्तन कराना। 'स्वरूप लक्षण' में वस्तु के स्वरूप में अंतर्भूत मूल गुण का उल्लेख होता है और 'तटस्थ लक्षण' में इतर व्यावर्तक धर्म का। भारतीय आचार्यों ने सूक्ष्म और अतीन्द्रिय विषयों की विवेचना जैसे ब्रह्म-विद्या जैसे विषय में लक्षण-विधियों का प्रयोग किया है। भारतीय दर्शन में 'सत्यं ज्ञान अनन्तं ब्रह्म' जैसे सूत्र-वाक्यों में ब्रह्म का 'स्वरूप लक्षण' निर्धारित किया गया है तो 'जन्माद्यस्य यतः' आदि सूत्रों में उसके 'तटस्थ लक्षण' का। विवेचना की यही प्रणाली भारतीय दर्शन से भारतीय काव्यशास्त्र में आई है। काव्य लक्षण करते समय कहा गया है कि उसमें निम्नलिखित विशेषताएँ होनी चाहिए -

1 काव्य लक्षण में अति-व्याप्ति या अव्याप्ति का दोष नहीं होना चाहिए। अति-व्याप्ति दोष से तात्पर्य है विषय का अनावश्यक अति-विस्तार जैसे 'काव्य का' लक्षण करना चाहते थे लेकिन कर दिया -'सपूर्ण वाड्.मय का'। जैसे भामह का काव्य लक्षण है 'शब्द अर्थ के सहभाव का नाम काव्य है।' यह लक्षण'काव्य' का लक्षण न होकर मूलतः 'वाड्मय' का है। इसलिए भामह के काव्य लक्षण में अति-व्याप्ति का दोष माना जाएगा।

   इसी प्रकार, अव्याप्ति दोष का अर्थ है - अपूर्ण विस्तार, जैसे मूल काव्य लक्षण के केवल एक भेद का लक्षण बताना। उदाहरण के लिए, वर्डसवर्थ का काव्य लक्षण 'कविता तीव्रतम भावो का सहज उच्छलन है।' यह मूलतः प्रगीत-काव्य का लक्षण है जिसे काव्य का एक भेद माना जाता है - काव्य के अन्य रूपों की व्याप्ति इसमें समाहित नहीं हो सकी। अतः वर्डसवर्थ के इस काव्य लक्षण में अव्याप्ति का दोष है।

2. लक्षण सूत्रबद्ध होना चाहिए। अर्थात सारगर्भित, संक्षिप्त तथा अर्थवान होना चाहिए। संक्षिप्त होने से उसे याद रखने में सुविधा रहती है।

3. लक्षण में कोई पारिभाषिक शब्द नहीं होना चाहिए। जैसे परिभाषिक शब्द है -'रस'। रस के स्वरूप को समझना शास्त्र से अपरिचित व्यक्ति के लिए असंभव है। इसलिए काव्य लक्षण में रस, वक्रोक्ति, अलंकार जैसे परिभाषिक शब्दों का प्रयोग होगा तो वे कठिनाई उत्पन्न करेंगे।

4. कथन का अति-विस्तार नहीं होना चाहिए। कथन का अति-विस्तार अंतर्विरोधों को जन्म देता है। उससे बचना चाहिए।

5. लक्षण तार्किक, स्पष्ट और सहज बोधगम्य होना चाहिए। जटिलता, अस्पष्टता, दुरूहता से बचना चाहिए ताकि लक्षण सर्वग्राह्य हो सके।

6. घोर दार्शनिक प्रत्ययों को लक्षण में स्थान नहीं मिलना चाहिए क्योंकि ब्रह्म, माया आदि दार्शनिक अवधारणाएँ पूर्व-मीमांसा और उत्तर-मीमांसा में गहन-सूक्ष्म विवाद का मुद्दा होती है। सामान्य व्यक्ति उनसे अनभिज्ञ होता है।

निष्कर्ष यह कि अरथ अमित अति आखर थोरे (थोड़े शब्दों में अपार अर्थ) का गुण अर्थात सूत्रबद्धता का गुण ही लक्षण की शक्ति है।

काव्य लक्षण के विवेचन में यहाँ तीन बातों का ध्यान रखना आवश्यक है - (1) काव्य लक्षण की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि (2) काव्य लक्षण का आधार (3) विद्वानों के अभिमतों की समीक्षा तथा लक्षण की शक्ति एवं सीमा का निर्धारण।

संस्कृत काव्यशास्त्र की आचार्य-परम्परा बहुत विस्तृत है। इसलिए विवेचन के लिए प्रमुख आचार्यों के काव्य लक्षणों पर ही विचार किया जाएगा। संस्कृत के प्रमुख काव्य लक्षणों पर विचार करने के बाद हम पश्चिमी चिंतकों और हिंदी के आचार्यों तथा कवि-आलोचकों द्वारा प्रस्तुत काव्य लक्षणों की संक्षिप्त चर्चा करेंगे। फिर, तुलनात्मक दृष्टि से विचार करते हुए अपने निष्कर्षों की ओर बढेंगे।

1.4 संस्कृत आचार्यों द्वारा दिए गए काव्य लक्षण

1.4.1 भामह

अलंकारवादी भामह का काव्य लक्षण इस प्रकार है - 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' (काव्यालंकार 1/16) अर्थात शब्द और अर्थ दोनों का सहभाव काव्य है। भामह ने अपने ग्रंथ 'काव्यांलकार' में अपने से पहले की दो विचारधाराओं का उल्लेख किया है। एक विचारधारा अर्थालंकारों को काव्य-सौंदर्य का मूलांधार मानती है तथा दूसरी शब्दालंकारों को। किंतु दोनों विचारधाराएँ काव्य-सौंदर्य का आधार अलंकारों में ही खोजती हैं। अर्थालंकारवादी भामह तथा शब्दालंकारवादी दण्डी दो भिन्न विचारधाराओं की एकता अलंकार युग में प्रस्तुत करते हैं। अर्थालंकारवादियों का मत था कि रूपक-उपमा आदि अर्थालंकार ही काव्य-शोभा की सृष्टि करते हैं क्योंकि अर्थ-बोध के पश्चात् उन्हीं से काव्य-सौंदर्य की प्राप्ति होती है। भामह का आग्रह भी यही था कि काव्य-कृति में रसों-गुणों का कितना ही बढ़िया सामंजस्य क्यों न हो यदि समर्थ अलंकार-योजना नहीं है तो वह उसी प्रकार श्रीविहीन है जैसे अलंकारविहीन स्त्री (वनिता) का मुख। शब्दालंकारवादी कहते थे कि रूपक-उपमा आदि अर्थालंकार बाह्य प्रतीत होते हैं, काव्य में चमत्कार की सृष्टि तो शब्द-सौंदर्य के द्वारा ही की जा सकती है। शब्द-सौंदर्य से रहित अर्थ-सौंदर्य अधूरा रहता है। काव्य के पठन-पाठन, श्रवण-प्रेक्षण में सर्वप्रथम 'शब्द' ही हमारे हृदय पर अपना प्रभाव छोड़ता है। शब्द-ग्रहण की इस क्रिया के बाद ही अर्थ ग्रहण या अर्थ-प्रतीति होती है। अर्थात् शब्दालंकारों के सामने अर्थालंकारों की सत्ता गौण है। भामह को इन दोनों मतों का समन्वय करना ही उचित प्रतीत हुआ। कवि के लिए शब्द का भी महत्व है और अर्थ का भी। अतः उन्होंने काव्य लक्षण में 'शब्दार्थौ सहितौ' में 'सहितौ' पर विशेष बल दिया। विशेष बात यह भी है कि भामह ने इस विवाद को और गहराया कि काव्यत्व शब्द में होता है या अर्थ में या दोनों के सहभाव में। इस विवाद ने इतना प्रबल रूप धारण किया कि आगे चलकर पण्डितराज जगन्नाथ को कहना पड़ा कि - रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द ही काव्य हैं।

1.4.2 दण्डी

आचार्य दण्डी ने काव्य के शरीर पर विचार करते हुए कहा कि 'शरीरंतावदिष्टार्थ व्यवच्छिन्ना पदावली' ही काव्य है। उनके द्वारा निरूपित 'शरीरं तावदिष्टार्थ...' का 'तावद्' शब्द वाक्यालंकारों के लिए भी प्रयुक्त हुआ। उनका मत है कि केवल उसी शब्द-समूह (पदावली) को काव्य-शरीर कहा जा सकता है जो काव्य के लिए अभिलक्षित सरसता से युक्त हो और कवि-प्रतिमा से युक्त सुंदर पदावली से व्यवच्छिन्न हो। इष्टार्थ-युक्त पदावली का अर्थ यह भी है कि ऐसे पदो में योग्यता आकांक्षा 'आसक्ति' आदि विशेषताएँ भी विद्यमान हों। कारण, जिन पदों में वाक्यत्व की योग्यता नहीं होती वे 'काव्य' नहीं कहे जा सकते। पदावली का 'इष्टार्थत्व' ही काव्यार्थ में चमत्कार की सृष्टि करता है जिसमें लोकोत्तर आह्लादत्व का भाव पूरी तरह अंतर्भुक्त है। पण्डितराज ने जिस 'रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द' की चर्चा बाद में की है उसका आभास दण्डी ने पहले ही दे दिया। ऊपर से सरसरी तौर पर देखने से लगता है कि वे शरीर-मात्र के स्वरूप का कथन कर रहे थे, किंतु ऐसा नहीं है। उनके कथन में अलंकार के साथ 'रसापेक्षा' भी है। अपने काव्य लक्षण में वे 'रसवद्लंकार' की भूमिका को उपेक्षित नहीं छोडते। जाहिर है कि वे काव्य की आत्मा और काव्य-शरीर का भेद समझकर काव्य लक्षण में प्रवृत्त होते हैं। दण्डी शास्त्रज्ञ ही नहीं हैं, कवि भी हैं। इसलिए रस-चेतना पर उनका ध्यान केंद्रित है - यथा, 'अलंकृतमसंक्षिप्तं रसभाव निरंतरम्'। किंतु यहाँ 'रस' शब्द रस-जन्य भावात्मक आनद के लिए न होकर अलंकार-जन्य चमत्कार से उत्पन्न आनंद के लिए ही आया है। दण्डी ने समस्त अलंकारों का उद्देश्य रस-सृष्टि ही माना है। फलतः उनकी काव्यानंद संबंधी मान्यता रसवादियों की मान्यताओं से भिन्न है। वे मुक्त भाव से शब्दालंकार-अर्थालंकार के साथ रसवद् आदि अलंकार को सम्मिलित करते हैं। दण्डी ने काव्य लक्षण में प्रयुक्त 'इष्टार्थ' की स्पष्ट व्याख्या नहीं की। ऐसा लगता है

कि 'इष्टार्थ' में वे भामहकालीन विवाद पर ध्यान देते हैं जिसमें भामह को शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों इष्ट रहे हैं। दण्डी के अनुसार, शब्द-अर्थ-रस-सौंदर्य से विशिष्ट पदावली ही काव्य है। दण्डी की सीमा यह है कि वे 'इष्टार्थ' में केवल अर्थालंकारों पर केंद्रित हो जाते हैं।

1.4.3 वामन

काव्य शब्द में है अथवा अर्थ में? इस विषय में वामन को भामह की 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' वाली मान्यता पर कोई आपत्ति नहीं है। महत्वपूर्ण बात यह है कि वामन स्वयं प्रश्नाकुल भाव से पूछते हैं कि क्या सामान्य शब्द और अर्थ, काव्य हैं? भामह मानते थे - शब्दालंकार और अर्थालंकार से विशिष्ट शब्दार्थ काव्य है। केवल शब्द और अर्थ को काव्य मानना तो प्रचलन है - 'काव्यशब्दोऽयं गुणालंकारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते। शब्दार्थमात्र वचनोऽत्र गृह्यते।' (काव्यलंकार-सूत्र-वृत्तिः)

किंतु 'न कान्तमपि निर्भूष विभाति वनितामुखम्' उस युग का सर्वमान्य मत था। इस मत के विरोध में खड़े होने की क्षमता वामन में नहीं थी। वे यह मानने को विवश थे कि काव्य-अलंकार तत्व के कारण ही ग्राह्य है - 'काव्यं ग्राह्यमलंकारत्।' इतना ही नहीं, वे यह भी कह बैठे थे कि काव्य के शोभा कारण-धर्म को अलंकार कहते हैं। 'सौंदर्यमलंकारः', 'अलंकृतिरलंकारः', 'काव्य शोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः।' इस प्रकार वामन ने काव्य की ग्राह्यता को 'सौंदर्य' से निबद्ध कर दिया। वामन के अनुसार दोष-रहित, सगुण, सालंकार शब्दार्थ काव्य है। वास्तव में वामन न तो काव्य का शास्त्रीय लक्षण ही कर पाए न अलंकारवादियों की कतार में बैठ सके। वामन का गुण-संबंधी दृष्टिकोण भी रसवादियों के गुण संबंधी विवेचन से मेल नहीं खाता। रसवादी गुण का संबंध सीधे रस से जोड़ते हैं जबकि वामन के द्वारा निरूपित 'गुण' शब्द और अर्थ से सीधे सम्बद्ध होने के कारण भाषा या रचना के बाहर तक ही रह जाते हैं। हाँ, वामन का प्रदेय यह माना जा सकता है कि उन्होंने दण्डी के मार्ग को 'रीति' में नए ढंग से विस्तार दिया तथा अलंकार से आगे गुण की चर्चा करके विचार को आगे बढ़ाया।

1.4.4 'शब्दार्थौ काव्यम्' काव्य के लक्षण का विस्तार और विवाद

अलंकारवादी आचार्य रुद्रट ने काव्य का लक्षण किया - 'ननु शब्दार्थौ काव्यम्' और अपने लक्षण से भामह के 'सहितौ' को निकाल दिया। काव्य-चिंतन की पूर्व परम्परा को देखने पर ऐसा लगता है कि रुद्रट के समय तक यह विवाद प्रबल हो गया था कि काव्य शब्द में रहता है या अर्थ में या दोनों में। इस विवाद पर ही निर्णयात्मक स्वर में रुद्रट को कहना पड़ा कि शब्दार्थ निश्चय ही काव्य है। वामन-रुद्रट के बाद भी अलंकारवादी शान्त नहीं हुए और काव्य लक्षण के निरूपण में चमत्कारमय शब्दार्थ संबंध के सौंदर्य को काव्य मानने का आग्रह करते रहे। इन आचार्यों में हेमचन्द्र, विद्यानाथ, वाग्भट्ट, जयदेव आदि प्रमुख हैं। इनके लक्षण इस प्रकार हैं -

हेमचन्द्र	-	अदोषौ सगुणौ सालंकारौ च शब्दार्थौ काव्यम् (काव्यानुशासन)
विद्यानाथ	-	गुणालंकार सहितौ शब्दौ दोष वर्जितौ। (प्रताप रुद्रयशोभूषण)
वाग्भट्ट	-	शब्दार्थौ निर्दोषौ सगुणौ प्रायः सालंकारौकाव्यम् (काव्यानुशासन)
जयदेव	-	निर्दोषा लक्षणावती सरीतिर्गुणभूषणा। सालंकार रसानेकवृत्तिर्वाक्काव्यनाम भाक्।। (चन्द्रालोक)
भोज	-	निर्दोषं गुणवत्काव्यमलंकारैरलंकृतम्। रसान्वितं कविं कुर्वन प्रीति कीर्ति च विदंति।। (सरस्वती कंठाभरण)

इन काव्य लक्षणों से स्पष्ट है कि ये सभी आचार्य भामह और मम्मट के काव्य लक्षण की ही थोड़े-बहुत फेर से पुनरावृत्ति करते रहे। इनमें न मौलिकता थी न काव्य को ठीक से समझने की शक्ति। बाद में अग्निपुराणकार ने कहा कि ध्वनि, वर्ण, पद और वाक्य का ही नाम वाङ्मय है जिसके अंतर्गत शास्त्र, इतिहास तथा काव्य का समावेश रहता है। शास्त्र और काव्य में शब्द की प्रधानता होती है, इतिहास में इतिवृत्तात्मकता की। काव्य में अभिधा का प्राधान्य रहता है जिसके कारण वह इतिहास और शास्त्र से भिन्न हो जाता है, फिर 'कवित्व' तो प्रतिभाशाली के लिए भी दुर्लभ है। काव्य लक्षण देते हुए उन्होंने कहा कि जिस वाक्य समूह में अलंकार स्पष्ट रूप से प्रदर्शित हों तथा जो गुणों से युक्त और दोषों से मुक्त हो उसे काव्य कहते हैं।' इन आचार्यो ने यह सोचने तक का प्रयास नहीं किया महान प्रतिभा दोष मुक्त नहीं हो सकती।

1.4.5 आनंदवर्धन

हम देख चुके हैं कि अलंकार-युग के आचार्य काव्य लक्षण के संबंध में विचार करते हुए काव्य के शरीर पक्ष या बाह्य-सौंदर्य को ही प्रधानता देते रहे। नतीजा यह हुआ कि उन्होंनें काव्य के आत्म-तत्व अथवा आंतरिक सौंदर्य की उपेक्षा की। वे रस-रीति-गुण को भी अलंकार-सौंदर्य से ही समझाते रहे। अंततः नवीं शताब्दी में आचार्य आनन्दवर्धन ने इस परम्परा से विद्रोह किया। आनंदवर्धन का ध्वन्यालोक' इसी विचार-क्रान्ति का दस्तावेज़ है। आचार्य आनन्दवर्धन ने काव्य की आत्मा ध्वनि को मानते हुए अलंकार और अलंकार्य की पृथकता घोषित की। उन्होंने रस तथा सहृदय की काव्यानुभूति को पर्याप्त महत्त्व दिया तथा नए ढंग की काव्य लक्षण परम्परा की शुरुआत की।

1.4.6 कुन्तक

अपनी मौलिक प्रतिभा के बल पर आचार्य कुन्तक ने आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त के काव्य-दर्शन की वस्तुवादी व्याख्या की। उन्होंने 'वक्रोक्ति' को काव्य का व्यापक गुण मानते हुए उसे काव्य की आत्मा कहा। कवि-कर्म सामान्य आदमी के मार्ग से भिन्न है, कवि की वक्र शब्दावली में कल्पना के लिए पर्याप्त अवकाश रहता है। वक्रता को 'वैचित्र्य' तथा 'वैदग्ध्य भंगी भणिति' अर्थात् विदग्ध व्यक्ति के कहने का विशेष गुण कहा। काव्य के भाव-पक्ष की कला-पक्षीय व्याख्या करते हुए उन्होंने काव्य का लक्षण इस प्रकार प्रस्तुत किया -

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणी।। (वक्रोक्तिजीवितम)

कुन्तक के इस काव्य लक्षण की सीमा यह है कि हमें 'वक्रोक्ति' के विषय में समझना पड़ता है। कुन्तक मानते हैं 'वक्रतामय कवि-कौशलयुक्त मर्मस्पर्शी शब्दार्थ काव्य है।' यहाँ 'वक्रोक्ति' से तात्पर्य है - विशिष्ट अर्थ को अभिव्यक्त करने के लिए भाषा के भण्डार में अनेक शब्द होते हैं किंतु कवि उसी शब्द का प्रयोग करता है जो उस अर्थ को व्यक्त करने में सर्वाधिक समर्थ हो।' काव्यार्थ सहृदय आह्लादकारी, स्वस्पंद तथा रमणीय होता है। अर्थ तथा 'विवक्षित (ध्वनित) अर्थवाचक' शब्द दोनों ही काव्य के अलंकार्य हैं - अलंकार नहीं। अलंकार काव्य-शोभा के बाह्य उपकरण होते हैं जो शब्द और अर्थ दोनों को अलंकृत कर सकते हैं। इस प्रकार की रचना में अद्भुत सौंदर्य अभिव्यंजित होता है। इस 'वैदग्धं कवि कौशल, तस्य भङ्गी विच्छित्तिः' से जाहिर है कि कुन्तक वक्रोक्ति से अभिव्यंजना के सौंदर्य का अर्थ लेते हैं। वक्रोक्ति का एक आंतरिक पक्ष है - वर्ण्य-विषय में नवदीप्ति उत्पन्न करने वाला और एक बाह्य सौंदर्य पक्ष-गुण-अलंकार आदि का। 'वक्रता विचित्र गुणालंकार सम्पदा' का अभिप्राय अद्भुत कला दक्षता से ही है। क्योंकि 'विचित्रैवाभिधा वक्रोक्तिरित्युच्यते।' अर्थात वक्रोक्ति अभिव्यंग्य और अभिव्यंजक के विभिन्न स्तरों को अपने में अंतर्भूत करती हुई विचित्र अभिधा अर्थात् अभिव्यंजना की सीमा का अतिक्रमण कर जाती है। कुन्तक ने वक्रोक्ति के भेदों में वर्ण्य का अंतर्भाव कर लिया किंतु बल अभिव्यंजना के कौशल पर दिया। इस प्रकार,, कुन्तक ने काव्य के वर्ण्य-पक्ष पर कम बल दिया और अभिव्यंजना-पक्ष पर विशेष बल। यही कारण है कि उनकी 'वक्रोक्ति' विषयक अवधारणा ध्वनि-सिद्धांत की चेतना वाला विशद् संदर्भ प्राप्त न कर सकी।

1.4.7 मम्मट

मम्मट ने दोषरहित, गुणसहित और कभी-कभार अनलंकृत, शब्द और अर्थमयी रचना को काव्य कहा है - तद्दोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि (काव्य-प्रकाश)। इसमें दोषों के अभाव और गुणों के भाव को प्रधानता प्रदान की गई है और अलंकारों को नितांत आवश्यक नहीं माना है। आचार्य विश्वनाथ ने मम्मट की इस काव्य-परिभाषा की आलोचना करते हए कहा है कि श्रेष्ठ से श्रेष्ठ कविताओं में कभी-कभार दोष निकल ही आता है और दोष निकल आने पर भी हम उस कविता की श्रेणी से खारिज नहीं कर देते। अतः अदोषौ एक नकरात्मक लक्षण है। दूसरी बात यह कि यदि अलंकार कविता के लिए आवश्यक नहीं है जो उनकी चर्चा का ही कोई औचित्य नहीं है। इस परिभाषा में न रस का संकेत है न ध्वनि न वक्रोक्ति का - केवल गुण का संकेत है।

प्रश्न उठता है कि मम्मट का यह काव्य लक्षण इतना प्रसिद्ध क्यों रहा? अपनी सरलता के कारण यह लोकप्रिय हुआ। वास्तविकता यह है कि इसमें मौलिकता कम, समझौते की प्रवृत्ति अधिक दिखाई पड़ती है। मम्मट अलंकारवादियों को भी खुश करना चाहते हैं और गुणवादियों को भी। शब्द और अर्थ दोनों मिलकर ही काव्य हैं - यह कथन भी पुराने विवाद के शमन का प्रयत्न है। वामन ने दोष-त्याग तथा

गुणालंकार की बात पहले ही कह दी थी। इस प्रकार, मम्मट ने रस और ध्वनिवादियों का विरोध भी नहीं किया तथा रसवाद का समर्थन करते रहे हैं।

1.4.8 विश्वनाथ

साहित्य-दर्पणकार विश्वनाथ रसवादी आचार्य हैं। उन्होंने अपने पक्ष को सामने रखते हुए काव्य का लक्षण किया है - **वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।** (साहित्य-दर्पण, परिच्छेद-1) अर्थात् रसयुक्त वाक्य काव्य है। 'सार-सार को गहि रहै थोथा देय उड़ाय' की नीति को अपनाते हुए आचार्य विश्वनाथ ने 'काव्यत्व' के लिए रसत्व का आधार ग्रहण किया। क्योकि गुण-अलंकार-वक्रोक्ति-ध्वनि आदि सभी तो रस के पोषक हैं। रसात्मक वाक्य में शब्द और अर्थ दोनों समाहित हैं। पर 'रसात्मक' कठिन पारिभाषिक अवधारणा है। इस अवधारणा को समझ पाना 'सहृदय' के लिए सहज नहीं है।

राजशेखर ने काव्य के लिए कहा है -'गुणवदलंकृतं च वाक्यमेव काव्यम्' (काव्य-मीमांसा) अर्थात् गुणों और अलंकारों से युक्त वाक्य का नाम काव्य है ।' राजशेखर मानते थे कि अतिशयोक्तिपूर्ण होने से न तो कोई काव्य त्याज्य होता है न असत्य। क्योंकि काव्य में जो अर्थवाद या अतिशयोक्ति होती है - उसका समर्थन शास्त्र और लोक दोनों करते हैं। जो लोग काव्य में वर्णित संभोगादि शृंगार में अश्लीलता का अंश पाकर चौंकते हैं वे भ्रान्ति में है, क्योंकि काव्य में जीवन की समग्रता को अभिव्यक्ति दी जाती है। उसमें संयोग कैसे छूट सकता है। अतः कलावाद की दृष्टि से श्लील-अश्लील का प्रश्न ही गलत है। यह भी कहा गया है कि विश्वनाथ ने भामह के'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' के स्थान पर 'वाक्यं रसात्मकं काव्य' पद का प्रयोग किया है ।'वाक्य' में काव्य शरीर तथा 'रसात्मक' मे काव्य की आत्मा दोनों का समाहार है। यों तो अभिनवगुप्त ने भी रस को ही काव्य की आत्मा माना है - किन्तु भारतीय काव्यशास्त्र की परवर्ती परम्परा में विश्वनाथ को ही रसवाद का प्रतिनिधि समझा जाने लगा। मम्मट की काव्य लक्षण संबंधी मान्यता का खण्डन करके उन्हें अपनी बात स्पष्टता से रखनी थी। इसीलिए 'रसात्मकता' के आधार पर काव्य लक्षण प्रतिपादित करने का अर्थ हुआ काव्यात्मा तथा काव्यात्मकता दोनों में रस के महत्व को स्वीकार करना। विश्वनाथ का काव्य लक्षण रसवाद के इसी महत्व की घोषणा है।

1.4.9 पंडितराज जगन्नाथ

रसगंगाधरकार पंडितराज जगन्नाथ (17वीं शताब्दी) ने काव्य लक्षण की उस पूरी परम्परा पर ध्यान दिया जिस परम्परा में यह पुराना विवाद चला आ रहा था कि काव्य शब्द में होता है या अर्थ में अथवा शब्द-अर्थ दोनों में। इस विवाद से पंडिराज बचना भी नहीं चाहते थे। इसीलिए उन्होंने निर्भ्रान्त भाव से कहा कि काव्य शब्द में होता है। रमणीयतार्थ प्रतिपादक शब्द काव्य है। उन्होंने काव्य लक्षण निरूपण इस प्रकार किया -

> **'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।'**
>
> **'रमणीयता च लोकोत्तराल्हादजनक ज्ञान गोचरता। लोकोत्तरत्वं चाल्हादगत-श्चमत्कारत्वापरर्यायोऽनुभव साक्षिको जाति विशेषः। कारणं च तदवच्छिन्ने भावना-विशेष पुनरनुन्धानात्मा। 'पुत्रस्ते जातः', 'धनं ते दास्यामि' इति वाक्यार्थधीजन्यस्याल्हादस्य न लोकोत्तरत्वम्। अतो न तस्मिनंवाक्ये काव्यत्व प्रसक्तिः।**
>
> **इत्थं च चमत्कारजनक भावनाविषयार्थ प्रतिपादक शब्दत्वम्- यत्प्रतिपादितार्थ विषयक भावनात्वं चमत्कारजनकतावच्छेदकं तत्वम।**
>
> **स्वविशिष्टजनकतवाच्छेदकार्थप्रतिपादकतासंसर्गेणचमत्कारत्ववत्वमेव काव्यत्वमिति फलितम्। (रसगंगाधर, पृ4-5)**

डॉ. प्रेमस्वरूप गुप्त ने 'रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन' शीर्षक अपने शोध-प्रबंध में पंडितराज जगन्नाथ के उपर्युक्त काव्य लक्षण पर विचार करते हुए कहा है कि 'पण्डितराज ने यहाँ तीन काव्य लक्षणों को प्रस्तुत किया है अथवा यों कहिए, नैयायिक निरूपण प्रक्रिया को अपनाकर ही काव्य लक्षण को सामान्य, परिष्कृत एवं निष्कृष्ट या फलित रूप में प्रस्तुत किया है। यह निरूपण नैयायिक पदावली के प्रयोग से कुछ दुरूह-सा हो गया है। अतः उसपर एक व्याख्यात्मक दृष्टिपात की अपेक्षा है।' (पृ.34) अतः डॉ.गुप्त ने सामान्य, परिष्कृत, फलित तीनों पर अलग-अलग विमर्श प्रस्तुत किया। 'सामान्य लक्षण के अनुसार रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द ही काव्य है।' इस लक्षण से जाहिर है कि पंडितराज

विशिष्ट शब्दवादी हैं। ध्यान देने की बात यहाँ यह है कि पंडितराज के शब्द की विशिष्टता अन्य विशिष्टतावादियों से थोड़ी अलग है। प्रायः भाषा के समस्त शब्द अर्थ-प्रतिपादक ही होते हैं - निरर्थक शब्दों के लिए भाषा में स्थान ही नहीं होता। सामान्य भाषा के शब्दों के प्रतिपाद्य अर्थ से काव्य का प्रतिपाद्य अर्थ भिन्न हुआ करता है। जिसे कुन्तक ने 'स्वस्पन्दसुंदर' और आनन्दवर्धन ने 'सहृदयश्लाघ्य' कहा है - उसे ही पंडितराज 'रमणीय' कहते हैं। भाषागत सामान्य शब्द तो सामान्य अर्थों का ही प्रतिपादन करेंगे किंतु काव्य-भाषा के शब्द एक चमत्कारी अपूर्व आह्लाद की सृष्टि करते हैं। इस बात को नैयायिकों की भाषा में कहें तो कहा जा सकता है कि भाषा-शब्दों के सामान्यतः प्रतिपाद्य अर्थ काव्य के रमणीय अर्थ के अवान्तर व्यापार होते हैं।

अर्थ के दो धरातल होते हैं - स्थूल और सूक्ष्म। ये दोनों ही अर्थ 'रमणीयार्थ प्रतिपादन' में निहित मानने चाहिए। कारण यह कि 'रमणीयता' लोकोत्तर आह्लादजन्य ज्ञान का विषय बनने वाला वस्तु धर्म है। 'रमणीयता' ही 'ज्ञानगोचरता' है, वह हमारे ज्ञान का विषय बनती है अर्थात् रमणीय वस्तु हमारे ज्ञान में काव्यानुभूति में आकर लोकोत्तर आह्लाद की सृष्टि करती है। यहाँ विशेष बात यह है कि कितनी चतुरता से पंडितराज रमणीय पदार्थ एवं अनुभूति के बीच ज्ञान का अवयव डालना चाहते हैं। रमणीय अर्थ का यह धरातल स्थूल या भौतिक नहीं है सूक्ष्म और मानसिक है। ज्ञानगोचरता तो मानसिक धरातल की ही वस्तु हो सकती है। रमणीय काव्यार्थ शुद्ध मानसिक धरातल पर ही प्राप्त होता है।

प्रश्न उठता है कि 'भावना-विशेष' का अर्थ क्या है? पंडितराज 'भावना-विशेष' के दो पक्ष मानते हैं सामान्य और विशेष। ये दोनों पक्ष काव्यार्थ-अनुसंधान के पक्षधर हैं। काव्यार्थ की रमणीयता विषयगत और विषयिगत, दोनों है। काव्य का आह्लाद लौकिक नहीं, 'लोकोत्तर' है। लोकोत्तर का अर्थ है - लोक का परिष्कृत आनंद। लौकिक आह्लाद और लोकोत्तर आह्लाद का पार्थक्य दिखाने के लिए पंडितराज 'लोकोत्तर आह्लाद' को 'चमत्कारत्व' में ले जाते हैं। यह चमत्कार कौतूहल नहीं है काव्यानुभूति की अपूर्वता है। पुत्र-जन्म की सूचना के आह्लाद तथा काव्याह्लाद में मौलिक अंतर है। वे 'चमत्कारत्व' को 'जाति-विशेष' कहते हैं ताकि अन्य आह्लादों से काव्याह्लाद की जाति-विशेष को अलगाया जा सके। 'काव्याह्लाद' तथा 'चमत्कारत्व' अभिन्न हैं। अभिनवगुप्त ने भी 'काव्याह्लाद' तथा 'चमत्कारत्व' की अभेदता प्रतिपादित की है। 'चमत्कार' में एक अर्थ 'संविद विश्रान्ति' का है दूसरा चित्त की 'आन्दोलनात्मक अवस्था' का। रसानुभूति अथवा काव्यानुभूति के क्षणों मे विघ्नभूता-नियमन कारिणी वृत्तियों का व्यापार अवरुद्ध हो जाता है तथा आनंदमयी चेतना का निर्विघ्न परामर्श संभव होता है। (इसकी विस्तृत चर्चा खंड 3 में है) यही 'आत्म-विश्रान्ति' है, 'संविद विश्रान्ति' है, रस है। इस प्रकार, पंडितराज के काव्य लक्षण -'चमत्कारी आह्लाद से पूर्ण रमणीय अर्थों के प्रतिपादक शब्द काव्य है' में सर्वाधिक आत्मपरकता है और यह आत्मपरकता सहृदय-मूलक है कविमूलक नहीं। पंडितराज ने भारतीय आचार्यों की तरह कवि तथा सहृदय पर ध्यान केंद्रित किया है - पाश्चात्य आचार्यों की तरह कवि तथा काव्य पर नहीं। भारतीय काव्य-विवेचन का प्रतिमान है - सहृदय या सामाजिक। काव्य-विवेचन में यह 'सहृदय' बाहरी व्यक्ति न होकर भीतरी व्यक्ति है - काव्य से अभिन्न है।

संस्कृत काव्यशास्त्र के काव्य लक्षणों की परम्परा पर ध्यान केंद्रित करते हुए हम कह सकते हैं पंडितराज के काव्य लक्षण में मम्मट और विश्वनाथ के काव्य लक्षणों में मौजूद शास्त्रीयता का परिहार किया गया है। विश्वनाथ रस को काव्य की आत्मा मानते हैं तथा उसी आधार पर काव्य लक्षण प्रस्तुत करते हैं। उनके काव्य लक्षण में 'रस' शब्द पारिभाषिक रूप से प्रयुक्त हुआ है। पंडितराज ने विश्वनाथ के 'रस' के स्थान पर 'रमणीयता' शब्द का प्रयोग किया। यह विश्वनाथ के दृष्टिकोण की सीधी अस्वीकृति है। इस अस्वीकृति का कारण है कि यदि 'रसादि ध्वनि' को ही काव्य की आत्मा माना जाएगा तो उसी के आधार पर 'काव्यत्व' की महिमा का निर्णय होगा तो वस्तु-ध्वनि और अलंकार-ध्वनि वाले काव्य उसमें उपेक्षित ही रह जाएंगे। जबकि वस्तु-ध्वनि और अलंकार-ध्वनि वाले काव्यों को उत्तम कोटि का काव्य स्वीकार किया गया है।

पंडितराज का काव्य लक्षण प्रकारांतर से यह प्रश्न भी उठा देता है और यह प्रश्न मौलिक भी है कि क्या काव्य में सर्वत्र रसानुभूति ही होती है? काव्य की अन्य अनुभूतियाँ भी हमें कम आह्लाद प्रदान नहीं करती। ध्वनि-सिद्धांत भी केवल रसादि ध्वनि को मान्यता नहीं देता। रस-ध्वनि भावात्मक आनन्द वस्तु-ध्वनि बौद्धिक आनन्द और अलंकार-ध्वनि कल्पनात्मक आनन्द प्रदान करती है। हिंदी साहित्य के आधुनिक चिंतन में गजानन माधव मुक्तिबोध ने यह मत प्रस्तुत किया कि गली के अंधेरे में उगे पौधे में भी सौंदर्य होता है - पतझड़ के वृक्षों में भी एक तरह का सौंदर्य होता है। बौद्धिक अनुभूतियों से प्राप्त सौंदर्य की चरम परिणति रसात्मक नहीं होती, चैन तोड़ने वाली होती है। हर संघर्ष का अपना सौंदर्य है।

पंडितराज का काव्य लक्षण अपनी व्यापकता के कारण ही आज भी बहुतों को ग्राह्य है। उनकी रमणीयता की अर्थ-सीमा बहुत खुला क्षेत्र देती है - सभी ललित कलाओं का सौंदर्य इसमें आ जाता है। चित्र, मूर्ति, वास्तु, काव्य कलाएँ रमणीय अर्थ देती हैं और संगीत रमणीयता। अभिनवगुप्त के मत से रमणीयता चाहे रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द पर आधारित न हो पर उसमें भी सौंदर्यानुभूति की अर्थ-लय रहमी है। कहा जा सकता है कि आज भी पंडितराज का काव्य लक्षण नकारने की चीज नहीं है नए युग-संदर्भों में विचार करने की चीज है।

1.5 पाश्चात्य काव्यशास्त्र में काव्य लक्षण

पाश्चात्य काव्यशास्त्र का आरंभ **प्लेटो** (427 ई.पूर्व-347 ई.पूर्व) से होता है। आचार्य प्लेटो ही पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान के आदि-स्रोत हैं। उन्होंने साहित्य की विभिन्न समस्याओं पर विचार किया। किंतु उन्होंने काव्य की परिभाषा देने का प्रयत्न नहीं किया, केवल विवेचन किया। काव्य पर विचार करते हुए कहा कि काव्य प्रकृति का अनुकरण है और प्रकृति सत्य का अनुकरण। अनुकरण का अनुकरण होने के कारण वह सत्य से दूर हो जाता है।

प्लेटो के शिष्य **अरस्तू** ने अपने गुरु के इस विचार का प्रबल तर्कों से खण्डन किया। अरस्तू ने भी काव्य की परिभाषा नहीं की। लेकिन काव्य-विवेचन के दौरान ऐसे विचार व्यक्त किए हैं कि उनके आधार पर काव्य लक्षण का निर्माण किया जा सकता है जैसे (1) काव्य एक कला है, 'चित्रकार अथवा किसी भी अन्य कलाकार की ही तरह कवि अनुकर्त्ता है।' (अरस्तू का काव्यशास्त्र, पृ.4) 'महाकाव्य, त्रासदी, कामदी और रौद्र स्तोत्र तथा वंशी-वीणा संगीत के अधिकांश भेद अपने सामान्य रूप में अनुकरण के ही प्रकार हैं।', 'कुछ कलाएँ ऐसी हैं जो उपर्युक्त सभी साधनों का उपयोग करती हैं - लय, राग और छंद सभी का। रौद्र स्तोत्र, राग-प्रधान काव्य, त्रासदी और कामदी इन्हीं के अंतर्गत है।' अरस्तू का 'अनुकरण' से तात्पर्य 'नकल' न होकर 'पुनर्सृजन' है। काव्य प्रकृति का अनुकरण है और अनुकरण सर्जनात्मक प्रेरणा का पर्याय है। अतः कहा जा सकता है - **अरस्तू** के अनुसार काव्य लक्षण बन जाता है - **'काव्य भाषा के माध्यम से प्रकृति का अनुकरण है।'** डॉ. नगेन्द्र ने 'अनुकरण' तथा 'प्रकृति' जैसे विवादास्पद शब्दों की व्याख्या के पश्चात कहा है - **'काव्य भाषा के माध्यम से** (जो गद्य तथा पद्य दोनों ही हो सकती है) प्रकृति का अनुकरण है! आधुनिक शब्दावली में 'काव्य भाषा के माध्यम से अनुभूति और कल्पना द्वारा जीवन का पुनःसृजन है। ' (वही, पृ.27)

लांजाइनस का नाम यूनानी काव्यशास्त्र में अरस्तू के बाद आदर के साथ लिया जाता है। उनकी कृति 'पेरिइप्सुस' ('काव्य में उदात्त तत्व') में कला के आधारभूत सिद्धांतों का विवेचन है। लेकिन वे भी अरस्तू की ही भाँति 'काव्य' और 'प्रकृति' के अंतःसंबंध पर विचार करते हैं। काव्य का प्राण-तत्व है उदात्त तत्व। काव्य की अतर्वस्तु और अभिव्यंजना दोनों में उसकी सही व्याप्ति से ही रचना महान या उत्कृष्ट बनती है। लांजाइनस ने काव्य लक्षण देने का प्रयत्न नहीं किया लेकिन काव्य लक्षण के सूत्र दिए हैं - (1) औदात्य अभिव्यजना के वैशिष्ट्य और उत्कर्ष का नाम है और यही एकमात्र ऐसा आधार है जिसके अवलम्ब से महानतम कवियों एवं लेखकों ने गौरव-लाभ किया है। (2) उदात्त भाषा का प्रभाव श्रोता के मन पर प्रत्यक्ष रूप में नहीं पड़ता वरन् भावों के रूप में पड़ता है। (3) उदात्त एक या दो तत्वों की सिद्धि नहीं है वरन् रचना के समूचे ताने-बाने पर आधृत दुःसाध्य उपलब्धि है। (4) प्रकृति ही सृजन-शक्ति का मूल है। कला इस प्रकृति के सौंदर्य का ही रूप है। (5) प्रकृति अव्यवस्था में व्यवस्था स्थापित करने के लिए सजग और सक्रिय रहती है। (6) उदात्त के पाँच उद्गम स्रोत हैं। उदात्त निसर्गजात प्रतिभा है, उत्पाद्य नहीं। (7) अपने पूर्ववर्ती महान कवियों और लेखकों का अनुकरण तथा उनसे स्पर्धा। अपने इन मंतव्यों से लांजाइनस, प्लेटो और अरस्तू के निकट पहुँच जाते हैं। उनका काव्य लक्षण बनता है - उदात्त काव्य भाषा के माध्यम से प्रकृति का अनुकरण है। **उदात्त महान आत्मा की प्रतिध्वनि है।**

अरस्तू की काव्य-परिभाषा वस्तुपरक होने पर भी विवाद के केंद्र में रही। अरस्तू से प्रभावित यूरोप के परवर्ती आचार्यों ने 'प्रकृति' तथा 'अनुकरण' को काव्य लक्षण में अनिवार्य महत्व दिया। **ड्राइडन** ने काव्य लक्षण किया - **'काव्य भावपूर्ण तथा छंदोबद्ध भाषा में प्रकृति का अनुकरण है ।'** और **मैथ्यू आर्नल्ड** ने कहा **'काव्य सत्य और काव्य-सौंदर्य के सिद्धांतों द्वारा निर्धारित उपबंधों के अधीन जीवन** की आलोचना का नाम काव्य है।' यहाँ 'आलोचना' का अर्थ है - समग्र जीवन की समीक्षा। भारतीय काव्यशास्त्र की दृष्टि से मैथ्यू आर्नल्ड का काव्य लक्षण अति-व्याप्ति दोष के साथ पारिभाषिक शब्दावली

से बोझिल है। लक्षण में 'काव्य-सत्य' और 'काव्य-सौंदर्य' शब्दों का प्रयोग उचित नहीं कहा जा सकता। फिर आर्नल्ड का यह लक्षण अरस्तू की धमक लिए हुए है - आर्नल्ड का 'जीवन' अरस्तू के प्रकृति का पर्याय है और 'क्रिटिसिज़्म' 'समीक्षा या आलोचना' भी अरस्तू के 'अनुकरण' की अर्थच्छाया लिए हुए है। 'काव्य-सत्य' और 'काव्य-सौंदर्य' के अंतर्गत काव्य के राग-तत्व और कल्पना-तत्व को ही स्थान मिला है। 'काव्य-सत्य' विज्ञान का सत्य न होकर कला का राग है - मानव-हृदय का, भावना-अनुभूति का सत्य है। 'काव्य-सौंदर्य' से तात्पर्य है - वस्तु और रूप, विषय और अभिव्यंजना के सामंजस्य पर बल। उदात्तता, संयम, परिष्कार और सांस्कृतिक उन्नयन की शक्ति से ही सौंदर्य में रम्यता और दीप्ति आती है।

स्वच्छंदतावादी कवि-आलोचकों ने अरस्तू, ड्राइडन और मैथ्यू आर्नल्ड से विपरीत दिशा में जाकर काव्य लक्षण प्रस्तुत किए हैं। इनकी मूल-दृष्टि एकदम व्यक्तिपरक है। उदाहरण के लिए, वर्डसवर्थ और कॉलरिज के काव्य लक्षण, शैली और ली हंट के काव्य लक्षण लिए जा सकते हैं। **विलियम वर्डसवर्थ** (1770-1850) ने कविता से संबंधित पूर्ववर्ती सिद्धांत-वाक्यों को अस्वीकार करते हुए कहा - **'कविता बलवती भावनाओं का सहज उच्छलन होती है। शांत अवस्था में भाव के स्मरण से उसका उद्भव होता है।'** फिर कवि की सवेदनशीलता और सौंदर्य ग्रहण क्षमता साधारण मनुष्यों की अपेक्षा अधिक होती है। मानव और मानवेतर प्रकृति का उसे अधिक ज्ञान होता है - उसकी कल्पना-शक्ति में अप्रत्यक्ष को भी प्रत्यक्ष और मूर्त करने की क्षमता होती है। वर्डसव की काव्य-परिभाषा -- 'कविता बलवती भावनाओं का सहज उच्छलन है' -- स्वच्छंदतावादी प्रवृत्ति का सहज प्रतिफलन है। वर्डसवर्थ ने काव्य लक्षण में जो अन्य बातें कहीं है वे काव्य-परिभाषा पर कम काव्य की सृजन-प्रक्रिया पर ज्यादा प्रकाश डालती हैं। (Poetry is the spontaneous overflow of powerful feelings. It takes its origin from emotions recollected in tranquillity.) अनुस्मरण केवल स्मरण नहीं है बल्कि भाव का भावन है। विद्वानों का विचार है कि वर्डसवर्थ की इस परिभाषा में अव्याप्ति का दोष है, यह काव्य की परिभाषा न होकर काव्य के एक भेद (प्रगीत-काव्य) तक सीमित परिभाषा है जिसके भीतर प्रबंध काव्य समाहित नहीं हो पाता।

सैमुअल टेलर कॉलरिज ने जैव-सिद्धांत को काव्य संबंधी अपनी धारणा में स्थान दिया। कॉलरिज के अनुसार कविता की परिभाषा - **'कविता रचना का वह प्रकार है जो वैज्ञानिक कृतियों से इस अर्थ में भिन्न है कि उसका तात्कालिक प्रयोजन आनंद है, सत्य नहीं। और रचना के सभी प्रकारों से उसका अंतर यह है कि संपूर्ण से वही आनंद प्राप्त होना चाहिए जो उसके प्रत्येक घटक खंड (अवयव) से प्राप्त होने वाली स्पष्ट संतुष्टि के अनुरूप हो।'** (A poem is that species of composition, which is opposed to works of science, by proposing for it's immediate object pleasure.) कविता की इस परिभाषा में काव्य का मूल प्रयोजन आनंद कहा गया है - सत्य नहीं। सत्य का समर्थन करने वाली परंपरा का खण्डन करते हुए कॉलरिज आनंद को काव्य का चरम प्रयोजन मानते हैं। कॉलरिज के यही विचार **आई.ए.रिचर्डस** को 'कलात्मक परितोष' की ओर ले गए। कॉलरिज ने प्रतिभा तथा कल्पना को अभेद माना। **शैली** ने कहा **'सामान्यतः कविता को कल्पना की अभिव्यक्ति कहा जा सकता है।'** शैली से एक कदम और आगे बढ़कर **ली हंट** ने कहा - **'कल्पनात्मक आवेग का नाम कविता है।'** स्वच्छंदतावादी कवि-आलोचकों ने 'कल्पना' की महिमा स्थापित करते हुए काव्य को आत्माभिव्यक्ति माना। नतीजा यह हुआ कि इन सभी ने काव्य में वस्तु-तत्व की अपेक्षा भाव-तत्व को प्रधानता दी।

पश्चिम में 'उत्तमोत्तम शब्दों का उत्तमोत्तम क्रम-विधान कविता' मानने वालों की भी एक परंपरा रही है लेकिन वहाँ भारतीय काव्यशास्त्र के प्रतिनिधि लक्षणकारों की तरह काव्य को 'शब्दार्थ रूप' नहीं माना गया। **आई.ए.रिचर्डस** ने माना कि काव्य अनुभूति है, जीवनानुभूति है। 'प्रिंसिपल्स ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज़्म' में रिचर्डस ने कविता की परिभाषा पर विचार किया है। रिचर्डस केवल अनुभूति को कविता मानते हैं। इसी तर्क से वे कविता की परिभाषा अनुभूति के आधार पर करते हैं - **'कविता अनुभूतियों का एक ऐसा वर्ग है जो मानक अनुभूति से, प्रत्येक विशेषता में भिन्न होती हुई भी, किसी विशेषता में एक-खास मात्रा में भिन्न नहीं होती।'** रिचर्डस की इस परिभाषा को विद्वानों ने दुरूह-जटिल-अस्पष्ट कहा है। रिचर्डस 'मूल्य-सिद्धांत' और 'सम्प्रेषण-सिद्धांत' में काव्य-पाठक पर ही ध्यान केंद्रित किए रहे। अतः वे काव्य को ठीक-ठीक परिभाषित नहीं कर सके।

टी.एस.एलियट ने काव्य-चिंतन में एण्टी-रोमाण्टिक रवैया अपनाते हुए घोषित तौर पर कहा कि रचनाकार जितना ही उत्कृष्ट होगा, उसें भोक्ता और स्पष्टा का अंतर उतना ही स्पष्ट होगा। उन्होंनें

काव्य लक्षण का संकेत इस प्रकार से दिया कि एक नया विचार उभरकर सामने आ गया। एलियट ने कहा - **'कविता या कला, कवि के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नहीं है क्योंकि उसे व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति करनी ही नहीं है - वह तो अभिव्यक्ति का एक माध्यम मात्र है जो केवल माध्यम है, व्यक्तित्व नहीं।'** (The poet has, not a personality to express, but a particular mediun, which is only a medium and not a personality.) **'काव्य भाव का स्वच्छंद प्रवाह नहीं, भाव से मुक्ति या पलायन है। वह व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नहीं, व्यक्तित्व से मुक्ति है।'** (Poetry is not a turning loose of emotion but an escape from emotion; it is not the expression of personality, but an escape from personality. – Selected Work, T.S. Eliot, p.58) जिनके पास व्यक्तित्व और भाव हैं वे ही जान सकते हैं उनसे मुक्ति की आकांक्षा का अर्थ क्या होता है। परंपरा जीवित संस्कृति का वह अंश है जो अतीत के दाय के रूप में प्राप्त होकर वर्तमान का निर्माण और भविष्य का दिशा-निर्देश करती है।

पश्चिम में 'कविता क्या है?' पर निरंतर वाद-विवाद होता रहा है। **मनोविश्लेषणवादी और मार्क्सवादी 'कला कला के लिए'** और **'कला जीवन के लिए'**, दो ग्रुपों-गुटों में बँटे रहे हैं। **'नयी समीक्षा'** (न्यू क्रिटिसिज़्म) स्कूल के विद्वानों ने काव्य लक्षण पर बहस करने के बाद अपना निष्कर्ष दिया है कि **'कविता एक शाब्दिक निर्मित है।'** अर्थात् कविता शब्द है और अंत में भी यही बात बचती है कि कविता शब्द है।

भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य लक्षण पर विचार करने वाले आचार्यों ने काव्य को 'शब्दार्थ-रूप' माना है। अतः काव्य लक्षण का पूरा रूप है - काव्य अर्थ का रमणीय शाब्दिक प्रतिपादन है। पश्चिम के आचार्यों ने शब्द और अर्थ की महिमा का महत्व पहचानते हुए भी भारतीय आचार्यों की तरह काव्य लक्षण में 'शब्दार्थ' की महिमा का बहुत गहराई से चिंतन नहीं किया है।

1.6 आधुनिक हिंदी साहित्य में काव्य लक्षण

हिंदी साहित्य के आदिकाल तथा भक्तिकाल में सृजन-परम्परा तो समृद्ध और सम्पन्न रही, पर काव्यशास्त्र पर अलग से विचार नहीं किया गया। तुलसीदास के 'मानस' में कथन के 'सहज कवित कीरत विमल सोइ आदरहि सुजान' में काव्य लक्षण का संकेत तो है पर विधिवत काव्य लक्षण नहीं मिलता। रीतिकालीन कवि-आचार्य सामान्यतः संस्कृत काव्यशास्त्र के काव्य लक्षणों की नकल ही करते रहे। उदाहरण के तौर पर आचार्य चिन्तामणि के 'कविकुल कल्पतरू' तथा 'शृंगार मंजरी' में मम्मट और विश्वनाथ का स्पष्ट प्रभाव दिखाई पड़ता है -

(क) 'बतकहाउ रस में जु है कवित कहावै सोई' में विश्वनाथ के 'वाक्य रसात्मकं काव्यम्' की परिभाषा की सीधी अनुगूँज है।

(ख) मम्मट से प्रभावित काव्य लक्षण :

सगुन अलंकारन सहित, दोषरहित जो होइ।
शब्द अर्थ बारों कवित, विबुध कहत सब कोइ।।

वास्तव में रीतिकाल के कवि-आचार्यों में मौलिक काव्य लक्षण करने की ताकत न थी। परिणामस्वरूप वे संस्कृत काव्य लक्षणों का अनुकरण ही करते रहे। यही परम्परा आगे चलकर जगन्नाथ प्रसाद भानु कन्हैयालाल पोद्दार, लाला भगवानदीन, अर्जुनदास केडिया और रामशंकर शुक्ल रसाल आदि तक चली आई।

रीतिवाद का विरोध करते हुए आधुनिक युग में **आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी** ने शब्द और अर्थ का संदर्भ व्यापक सामाजिकता से जोड़ दिया। भारतीय और पश्चिमी काव्य-चेतना पर ध्यान देते हुए उन्होंने पश्चिमी कवि-आलोचक वर्डसवर्थ की भाँति कविता के लिए बोलचाल की भाषा का प्रतिमान अपनाने की वकालत की। मिल्टन की ओर झुकते हुए कहा, 'कविता को सादा, प्रत्यक्षमूलक और रागयुक्त होना चाहिए!' यहाँ 'सादा' से तात्पर्य है - झूठे चमत्कारवाद से मुक्ति। 'रसज्ञ-रंजन' पुस्तक के लेख 'कवि और कविता' में उन्होंने लिखा -'सादगी, असलियत और जोश (मिल्टन के बताए हुए तीनों गुण) यदि ये तीनों गुण कविता में हों तो कहना ही क्या है...अतएव कवि को असलियत का सबसे अधिक ध्यान

रखना चाहिए। वे 'असलियत' के साथ 'कल्पना' से नई-नई बातों की सूझ का संबंध भी अनदेखा नहीं करते।

भारतेंदु युग और द्विवेदी युग की नवजागरणकालीन मानसिकता का सबसे प्रबल विस्फोट **आचार्य रामचन्द्र शुक्ल** के निबंध 'कविता क्या है' में हुआ। आचार्य शुक्ल 'कविता क्या है' निबंध को जीवन-भर लिखते-परिष्कृत करते रहे। कविता के संबंध में उनका संशोधित-सम्पादित मत इस प्रकार है - 'जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान दशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्तावस्था के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है उसे कविता कहते हैं। इस साधना को हम भावयोग कहते हैं और कर्मयोग और ज्ञानयोग का समकक्ष मानते हैं।' (चिन्तामणि, भाग-1, पृ.192) आचार्य शुक्ल के रसवादी प्रतिमान 'कविता क्या है' में सक्रिय रहे पर 'रसदशा' बड़ी चीज बन गई -'जब तक कोई अपनी पृथक सत्ता की भावना को ऊपर किए इस क्षेत्र के नाना रूपों और व्यापारों को अपने योग-क्षेम, हानि-लाभ, सुख-दुःख आदि से सम्बद्ध करके देखता रहता है तब तक उसका हृदय एक प्रकार से बद्ध रहता है। इन रूपों और व्यापारों के सामने जब कभी वह अपनी पृथक सत्ता की धारणा से छूटकर अपने आपको बिल्कुल भूलकर विशुद्ध अनुभूति मात्र रह जाता है, तब वह मुक्त हृदय हो जाता है।' (वही) 'अपने हृदय को लोक-हृदय में मिला देना ही 'रसदशा' है।' अर्थात् 'रसदशा' व्यापक अर्थ में 'हृदय की मुक्तावस्था' ही है। आ.शुक्ल ने काव्य लक्षणों की परपरागत शब्दावली का अनुसरण करते हुए कविता को 'शब्द-विधान' की शक्ति माना। पश्चिम की 'नयी आलोचना' में कविता को 'शाब्दिक निर्मिति' कहा जा रहा है जिसमें भारतीय चिंतन-परम्परा की ध्वनि मौजूद है।

हिंदी के छायावादी कवियों ने काव्य लक्षण पर नए ढंग से विचार किया। **सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'** ने स्वच्छदतावादियों के ढंग पर काव्य की परिभाषा दी कि कविता विमल हृदय का उच्छवास है - 'तुम विमल हृदय उच्छ्वास और मैं कान्तकामिनी कविता।' 'काव्य-अभिव्यक्ति है' यह धारणा प्रसाद, पन्त और महादेवी भी व्यक्त करते रहे हैं। छायावाद को सामाजिक-सांस्कृतिक परम्परा के मूल से जोड़कर **जयशंकर 'प्रसाद'** ने काव्य को आत्मा की 'संकल्पनात्मक अनुभूति' कहा है। प्रसाद जी की प्रसिद्ध काव्य-परिभाषा है - 'काव्य आत्मा की संकल्पनात्मक अनुभूति है जिसका संबंध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नहीं है। वह एक श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञान धारा है....आत्मा की मनन शक्ति की असाधारण अवस्था, जो श्रेय सत्य को उसके मूल चारुत्व में सहसा ग्रहण कर लेती है, काव्य में संकल्पनात्मक मूल अनुभूति कही जा सकती है।' (काव्य और कला तथा अन्य निबंध, पृ.38) इस परिभाषा में सौंदर्य एवं सत्य के सामंजस्य के लिए प्रातिभ-अनुभूति पर विशेष बल दिया गया है। आ.शुक्ल और महाकवि प्रसाद ऊपर से देखने पर भिन्न दिखाई देते हैं पर तत्वतः दोनों में गहरी सहमति है - कविता को अनुभूति-योग या भाव-योग मानना। पश्चिमी स्वच्छंदतावादी कवियों का सबसे कम असर आ. शुक्ल पर है और प्रसाद जी पर तो लगभग था ही नहीं। ये दोनों अपनी काव्य-चिंतन भूमि पर खड़े रहकर पश्चिम के काव्य-चिंतन का अर्थ ग्रहण कर रहे थे।

दरअसल, भ्रमवश छायावाद को स्वच्छंदतावाद का पर्याय मान लिया जाता है जबकि दोनों भिन्न देश, भिन्न काल, भिन्न संस्कृति के काव्य-आंदोलन हैं। छायावाद के कवि-आलोचकों ने पश्चिम को पढ़ा-समझा था पर वे नकल में प्रवृत्त नहीं हुए। यह संयोग है कि मुक्ति की आकांक्षा और स्वानुभूति का विस्तार स्वच्छंदतावादी काव्य का भी केंद्रीय सरोकार रहा। वर्डसवर्थ की काव्य-परिभाषा Poetry is the spontaneous overflow of powerful feelings. It takes its origin from emotions recollected in tranquility' तथा कॉलरिज के अनुसार 'Poetry is the best words in the best order' कविता उत्तमोत्तम शब्दों का उत्तमोत्तम क्रम-विधान है। इन दोनों काव्य-परिभाषाओं का मूलाधार 'भावना' 'कल्पना' के योग से प्रगीत काव्य है। छायावाद के आत्माभिव्यक्ति सिद्धांत में वैयक्तिक अनुभूति पर अधिक बल देने के कारण इनकी दृष्टि कवि-केंद्रित रही काव्य-केंद्रित नहीं। आगे चलकर इसका विरोध प्रगतिवाद तथा नयी कविता के काल में हुआ। एण्टी-रोमाण्टिक रुझान के लिए अज्ञेय और टी.एस.इलियट दोनों महत्वपूर्ण माने गए।

'कविता क्या है' यह प्रश्न हिंदी के प्रगतिवादी काव्य-चिंतन में नए ढंग से उठाया गया। यहाँ कविता की व्याख्या उसको 'विकासमान सामाजिक वस्तु' मानकर की गई। ऐसी वस्तु, जिसका सृजन व्यक्तिगत प्रयास का परिणाम होते हुए भी मूलतः सामाजिक एवं सांस्कृतिक भूमि पर केंद्रित होता है। कविता में सांस्कृतिक परम्पराओं की संवेदना का समाहार रहता है। **गजानन माधव मुक्तिबोध** ने कहा - 'काव्य एक सांस्कृतिक प्रक्रिया' है। प्रगतिवादी काव्य-प्रक्रिया को छायावादी काव्य-प्रक्रिया से भिन्न मानते हुए

उन्होंने लिखा है - रोमैंटिक कवियों की भाँति आवेशयुक्त होकर, आज का कवि भावों के अनायास, स्वच्छंद अप्रतिहत प्रवाह में नहीं बहता। इसके विपरीत, वह किन्हीं अनुभूत मानसिक प्रतिक्रियाओं को ही व्यक्त करता है। कभी वह इन प्रतिक्रियाओं की मानसिक रूपरेखा प्रस्तुत करता है, कभी वह उस रूपरेखा में रंग भर देता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि वह व्याकुलता या आवेश का अनुभव नहीं करता। होता यह है कि वह अपने आवेश या व्याकुलता को बाँधकर, नियंत्रित कर, ऊपर उठाकर, उसे ज्ञानात्मक संवेदन के रूप में या संवेदनात्मक ज्ञान के रूप में प्रस्तुत कर देता है।' (नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध, काव्य : एक सांस्कृतिक प्रक्रिया, पृ.10) काव्य-सृजन में सामाजिक-आर्थिक, राजनीतिक-सांस्कृतिक शक्तियों का हाथ होता है। इसीलिए उसे 'सांस्कृतिक प्रक्रिया' कहा गया है।

प्रगतिवाद के काव्य-चिंतन का स्वर मार्क्स से प्रभावित है और मानता है कि काव्यानुभूति की बनावट में सामाजिक सौंदर्यानुभूतियों की भूमिका प्रधान होती है। **डॉ.रामविलास शर्मा** ने 'प्रगति और परम्परा' पुस्तक में माना है कि 'वह (काव्य) एक महान सामाजिक क्रिया है - जो सामाजिक विकास के समानांतर विकसित होती रहती है।' (पृ.130) कविता सामाजिक यथार्थ का चित्रण करती है। हिंदी के अधिकांश आरंभिक प्रगतिवादी काडवेल की इस मान्यता को मानते रहे कि 'साहित्य वह मोती है जो समाज-रूपी सीपी में पलता है।' ('Art is the product of Society as the pearl is the product of the oyster' – Illusion and Reality, p.13) काडवेल के ऐतिहासिक भैतिकवादी चिंतन से हटकर जार्च लुकाच ने काव्य-चिंतन के द्वंद्वात्मक भौतिकवादी आधार को महत्व दिया। उन्होंने कहा कि हमारी चेतना मात्र भौतिक स्थितियों से नियंत्रित नहीं होती - वह अपेक्षाकृत स्वतंत्र है और कभी-कभी वह बाह्य भौतिक स्थितियों के विपरीत भी जा सकती है। काव्य और कला चिंतन की यह जॉर्ज लुकाच की दृष्टि सौंदर्यशास्त्रियों के चिंतन के निकट है। कविता में जिस अनुभूति का चित्रण होता है वह वैयक्तिक न होकर सामाजिक होती है। इस सामाजिक अनुभूति में जटिलता-संश्लिष्टता और तनाव रहता है। अतः कविता सामूहिक भाव-बोध की अभिव्यक्ति है। आ.शुक्ल का यह विचार कि 'ज्ञान-प्रसार के भीतर ही भाव-प्रसार होता है' हिंदी के प्रगतिशील चिंतकों को मान्य रहा है।

1.7 कविता क्या है? नयी बहस का आरंभ

प्रयोगवादी तथा नयी कविता के कवियों-आलोचकों ने काव्य को नए ढंग से परिभाषित किया है। संवेदनशीलता को निर्मिति का रूपाकार देने वाली रचनात्मकता पर विचार करते हुए उन्होंने कहा कि काव्य के मूल में मानवीय संवेदना की सक्रियता है। मानवीय यथार्थ की तरह मानवीय संवेदना भी गतिशील-परिवर्तनशील है। युग-परिवेश की नवीनता काव्य-चिंतन के पूरे परिप्रेक्ष्य को बदल देती है। कवि-चिंतक अज्ञेय ने बदले हुए रागात्मक संबंधों की बात उठाई। परिवेश के साथ भावना तथा चेतना में परिवर्तन हुआ है - उसने पुराने संस्कारगत रागात्मक संबंधों को बदल दिया है। अज्ञेय के कथन में 'वागर्थ प्रतिपत्ति' की आकांक्षा रही है जिसे कालिदास से प्रेरणा ग्रहण कर उन्होंने 'तारसप्तक' की भूमिका में उठाया है। **रघुवीर सहाय** के काव्य-संकलन 'सीढ़ियों पर धूप में' की भूमिका में अज्ञेय ने कहा -'काव्य सबसे पहले शब्द है। और सबसे अंत में भी यही बात बच जाती है कि काव्य शब्द है। सारे कवि-धर्म इसी परिभाषा से निःसृत होते हैं। शब्द का ज्ञान, शब्द की अर्थवत्ता की सही पकड़ ही कृतिकार को कृती बनाती है। ध्वनि, लय, छंद आदि के सभी प्रश्न इसी में से निकलते हैं और इसी में विलय होते हैं। इतना ही नहीं, सारे सामाजिक संदर्भ भी यहीं से निकलते हैं : इसी में युग-सम्पृक्ति का और कृतिकार के सामाजिक उत्तरदायित्व का हल मिलता है या मिल सकता है।' नयी कविता के दौरान दो बातों पर बहस छिड़ गई 'नया' क्या है और 'कविता' क्या है। नया क्या है? से ज्यादा जीवित प्रश्न था कविता क्या है? **जगदीश गुप्त** ने कहा - 'ये दोनों प्रश्न परस्पर सम्बद्ध और एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। क्योंकि कविता में नवीनता की उत्पत्ति वस्तुतः सच्ची कविता लिखने की आकांक्षा से ही उत्पन्न होती है।...जो कथन सृजनात्मकता (Creativity) तथा संवेदनीयता (Emotivity) से रहित हो उसे किसी भी स्तर पर कविता नहीं कहा जा सकता।' पर जगदीश गुप्त ने कविता की परिभाषा देते समय 'सृजनात्मकता' शब्द को जाने क्यों छोड़ दिया। उनकी परिभाषा इस प्रकार है - 'कविता सहज आंतरिक अनुशासन से युक्त अनुभूति-जन्य सघन लयात्मक शब्दार्थ है जिसमें सह-अनुभूति उत्पन्न करने की यथेष्ट क्षमता निहित रहती है।' (नयी कविता : स्वरूप और समस्याएँ, पृ.116) इसी परिभाषा को स्पष्ट करते हुए आगे कहा -'यथेष्ट शब्द कवि और पाठक दोनों के इष्ट को अपनी अर्थ-व्याप्ति में समाहित किए हुए है क्योंकि मैं कविता के विषय में कवि के निर्णय को ही अंतिम निर्णय न मानकर श्रोता या पाठक द्वारा उसकी मान्यता को अनिवार्य समझता हूँ।' (वही) इस

परिभाषा पर आपत्ति उठाते हुए 'कविता के नए प्रतिमान' में 'कविता क्या है' निबंध में **डॉ.नामवर सिंह** ने कहा, 'डॉ.जगदीश गुप्त अपनी काव्य-परिभाषा में वह तत्व भूल गए जिसे नयी कविता ने हिंदी काव्य-परम्परा से जोड़ा है। इसीलिए अनुभूति तो उन्हें याद रह गई लेकिन सृजनात्मकता भूल गई।' (पृ.18) इसलिए इस परिभाषा की सबसे बड़ी सीमा है कि यह छायावादी अनुभूति और नयी कविता की नई अनुभूति में फर्क करके नहीं चलती। 'सह-अनुभूति' तथा 'सघन लयात्मक शब्दार्थ' में विचार-भंगिमा का नयापन है क्योंकि 'सह-अनुभूति', 'रसानुभूति' का पर्याय न होकर नवीन काव्यानुभूति का पर्याय है। अतः सह-अनुभूति का प्रश्न 'रसानुभूति' के विरोध में उठाया गया प्रश्न है।

श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा नयी कविता के प्रसिद्ध सिद्धांतकार और कवि हैं। उनके विचार से 'कविता आत्मपरक अनुभूति की रागात्मक अभिव्यंजना है।' और 'नयी कविता लघुमानव के लघु परिवेश की सच्ची अभिव्यक्ति।' (नयी कविता के प्रतिमान, पृ.194) 'कविता' का लघु-मानव से क्या संबंध? इस संबंध पर बहुत वाद-विवाद हुआ और लघु-मानव को 'सहज मानव' मानने पर आपत्तियाँ उठाई गईं। **ग.मा.मुक्तिबोध** को लघुमानव-सिद्धांत में अमरीकी शीत युद्ध की छाया के दर्शन हुए। लेकिन नयी कविता के प्रबल व्याख्याकार-सिद्धांतकार कविवर **विजयदेव नारायण साही** ने 'लघु मानव के बहाने हिंदी कविता पर एक बहस' नामक लम्बा लेख लिखकर छायावाद और नयी कविता की अनुभूति को स्पष्ट किया। **गिरिजाकुमार माथुर** ने कहा कि नयी कविता का तो लक्षण यही है कि वह अत्यंत जटिल अनुभवों को अत्यंत सहज और सर्वग्राह्य रूप में व्यक्त करती है और जटिलताओं को पचाकर उसमें सार्वजनीन सत्य का असल तत्व निकालती है। इस प्रकार 'कविता जटिल संवेदनाओं की अभिव्यक्ति है' पर नयी कविता का कवि यह नहीं भूलता कि उसे इन जटिल संवेदनाओं को सम्प्रेषणीय बनाना है। इसलिए विभावादि के साधारणीकरण का प्रश्न उसके लिए कम महत्वपूर्ण नहीं है।

कुँवरनारायण ने 'तीसरा सप्तक' के कवि-वक्तव्य में कहा है कि 'कविता मेरे लिए कोरी भावुकता की हाय-हाय न होकर यथार्थ के प्रति एक प्रौढ़ प्रतिक्रिया की मार्मिक अभिव्यक्ति है।' इस काव्य-परिभाषा में रोमांटिक दृष्टि का विरोध और एंटी रोमांटिक दृष्टि का समर्थन है। प्रश्न उठता है 'मार्मिक अभिव्यक्ति' से तात्पर्य क्या है? तात्पर्य वही है जिसे अज्ञेय ने वास्तविकता के बदलते संदर्भों की बात उठाकर 'नये रागात्मक संबंधों की प्रामाणिकता' के विकास की तथ्यगत स्थिति कहा है। अर्थात् कविता भावना नहीं है वह बुद्धि-प्रेरित व्यापार है। वह अब हृदय की मुक्तावस्था न होकर बुद्धि की मुक्तावस्था है। **केदारनाथ सिंह** ने कहा, 'कविता अपने अनावृत्त रूप में केवल एक विचार, एक भावना, एक अनुभूति, एक दृश्य और इन सबका कलात्मक संगठन है।' (तीसरा सप्तक, कवि-वक्तव्य, पृ.117) केदारनाथ सिंह की इस काव्य-परिभाषा में उनकी बिम्बवादी दृष्टि ध्वनित होती है - कविता में सबसे ज्यादा ध्यान वे बिम्ब पर देते हैं।

विजयदेव नारायण साही ने कविता को कवि-भावनाओं तथा परिवेशगत संघर्ष की उपज माना। उन्होंने स्वीकार किया कि यह संघर्ष पहले भी था लेकिन पुराना कवि अधिक 'विदग्ध' था, वह इस संघर्ष से बचने के उपाय जानता था - वह मानसिक तनावों से बच जाता था। लेकिन आज का कवि अपने परिवेश के साथ द्वंद्वमय स्थिति में है। नये परिवेश के कारण ही अनुभूति की जटिलता और संवेदनात्मक उलझावों का समावेश बढ़ा हुआ है और यही आज की कविता का मूल आंतरिक तत्व है। साही जी ने 'शमशेर की काव्यानुभूति की बनावट' शीर्षक लेख में कहा -'न सिर्फ कविता का कलेवर बदला है बल्कि गहरे स्तर पर काव्यानुभूति की बनावट में भी फर्क आ गया है।...चेतना के जो तत्व काव्यानुभूति के आवश्यक अंग दिखते थे, उनमें से कुछ अनुपयोगी या असार्थक दिखने लगे, कुछ अन्य जो पहले अनावश्यक या विरोधी लगते थे, काव्यानुभूति के केंद्र में आ गए। और कुल मिलाकर काव्यानुभूति और जीवन की काव्येतर अनुभूतियों में जो रिश्ता दिखता था, वह रिश्ता भी बदल गया।' (छठवाँ दशक पृ.90) साही जी की इस बात को ग्रहण करते हुए डॉ.नामवर सिंह ने कहा कि अनुभूति की बनावट को भिन्नता को समझे बिना छायावादी 'स्वानुभूति' और नयी कविता की 'अनुभूतिगत भिन्नता' को स्पष्ट नहीं कर सकते। 'यही कारण है कि नयी कविता छायावाद के समान ही अनुभूति पर बल देते हुए भी भावों की शाश्वतता के प्रति उतनी आश्वस्त नहीं है। इसीलिए नये कवि अनुभूति से अधिक अनुभूति के परिवर्तित संदर्भ पर अधिक बल देते हैं। स्पष्टतया उनका बल रागात्मक संबंधों पर है।' (कविता के नये प्रतिमान, पृ.25) अपने निष्कर्ष पर प्रामाणिकता की मुहर लगाने के लिए नामवर जी को अज्ञेय याद आये। क्यों याद आये यह अलग से विचारणीय प्रश्न है पर अज्ञेय का वक्तव्य उन्होंने उद्धृत किया, 'यह कहा जा सकता है कि हमारे मूल राग-विराग नहीं बदले, प्रेम अब भी प्रेम है और घृणा अब भी घृणा। यह साधारणतया स्वीकार किया जा सकता है। पर यह भी ध्यान रखना होगा कि राग वही रहने पर भी

रागात्मक संबंधों की प्रणालियाँ बदल गई हैं और कवि का क्षेत्र रागात्मक संबंधों का क्षेत्र होने के कारण, इस परिवर्तन का कवि-कर्म पर बहुत गहरा असर पड़ा है।....जैसे-जैसे बाह्य वास्तविकता बदलती है वैसे-वैसे हमारे रागात्मक संबंध जोड़ने की प्रणालियाँ भी बदलती हैं और अगर नहीं बदलतीं तो उस बाह्य वास्तविकता से हमारा संबंध टूट जाता है।' (दूसरा सप्तक, भूमिका, पृ.9) अज्ञेय समझ रहे थे कि पश्चिम में सृजन-प्रयोग चिंतन की जो नयी सोच शुरू हुई है उसका मूल स्वर रोमांटिक भावबोध का विरोधी है। स्वयं टी.एस.एलियट का पूरा स्वर एण्टी-रोमांटिक है। उनकी काव्य-परिभाषा इसका प्रमाण है। एलियट कहते हैं कि 'कविता व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नहीं है वरन् व्यक्तित्व से पलायन है।' यह परिभाषा रोमांटिकों के आत्माभिव्यक्ति-सिद्धांत का सीधा निषेध करती है और कविता के निर्वैयक्तिकता-सिद्धांत की स्थापना। 'व्यक्तित्व से पलायन' का अर्थ है स्व-पर (अपने-पराए) की भेद-बुद्धि से मुक्त हो जाना। इसे ही भारतीय काव्यशास्त्र में 'निज मोह संकट निवारणता' कहा जाता रहा है।

टी.एस.एलियट तथा आई.ए.रिचर्डस के काव्य-चिंतन में 'नयी समीक्षा' ('न्यू क्रिटिसिज्म') के बीज हैं। न्यू क्रिटिसिज्म ने माना है कि कविता एक शाब्दिक निर्मिति है - 'वर्बल आइकोन (Verbal Icon)' है। इसीलिए काव्य-भाषा को आधार बनाकर कविता पर विचार हुआ। नयी समीक्षा में चिंतन का केंद्र 'कवि' नहीं है, 'कविता' है - कविता की पाठ विश्लेषण प्रक्रिया है - काव्य भाषा है - कलाकृति है। काव्य-भाषा को आधार बनाकर कविता पर जान क्रो रैन्सम, एम्पसन, एलेन टेट, पाल वेलेरी माइकेल राबर्टस, क्लीन्थ ब्रुक्स, आदि ने कहा कि कविता भाषा की संभावित क्षमताओं का संधान है। कविता के अर्थ-संधान की मूल समस्या भाषा की समस्या है। हिंदी आलोचना में 'न्यू क्रिटिसिज्म' के पुरोधा हैं - अज्ञेय। उन्होंने अपने अनेक लेखों-कविताओं में यह बात बार-बार दुहराई है कि काव्य शब्द है - शब्द का संस्कार ही कृतिकार को कृती बनाता है। अज्ञेय के इस विचार को **डॉ.रामस्वरूप चतुर्वेदी** ने भाषा और संवेदना', 'अज्ञेय : आधुनिक रचना की समस्या' में उठाया है कि काव्य शब्द है और कविता को परखने का सर्वाधिक प्रामाणिक प्रतिमान है काव्य-भाषा। डॉ.साही, डॉ. चतुर्वेदी तथा रमेश चन्द्र शाह ने काव्य-भाषा के इसी पक्ष का समर्थन किया है।

नये काव्य-चिंतन के इसी दौर में छायावाद के आलोचक **डॉ.नगेन्द्र** ने 'कविता क्या है' शीर्षक लेख लिखा। इस लेख में डॉ.नगेन्द्र के छायावादी काव्य-संस्कार उभरकर सतह पर आ गए। रस-सिद्धांत को काव्य का शाश्वत काव्य-प्रतिमान मनवाने के चक्कर में उन्होंने अज्ञेय की कविता 'सोन मछली' का रस-सिद्धांत के संदर्भ में व्याख्या की। दिलचस्प बात यह है कि 'सोन मछली' कविता का शब्दार्थ-मर्म अज्ञेय स्वयं 'प्रतीक और सत्यान्वेषण' टिप्पणी में समझा चुके थे। रस-सिद्धांत का खंडन करते हुए वे कह चुके थे कि रस का आधार था - अद्वंद्व और चित्त की समाहिति, जबकि नयी कविता का आधार है - तनाव, द्वंद्व। अज्ञेय की 'सोन मछली' कविता -

हम निहारते रूप
काँच के पीछे
हाँप रही है मछली
रूप तृषा भी
(और काँच के पीछे)
है जिजीविषा।

इसपर अज्ञेय की टिप्पणी है - 'जीवन....स्वप्नों और आकारों का एक रंगीन और विस्मय भरा पुंज। हम चाहें तो उस रूप से ही उलझे रह सकते हैं, पर रूप का यह आकर्षण भी वास्तव में जीवन के प्रति हमारे आकर्षण का प्रतिबिंब है। जीवन को सीधे न देखकर हम एक काँच में से देखते हैं तो हम उन रूपों में ही अटक जाते हैं जिनके द्वारा जीवन अभिव्यक्ति पाता है।' (आत्मनेपद, पृ.45) अज्ञेय की इस टिप्पणी का सहारा लेकर डॉ.नामवर सिंह ने कहा - 'डॉ.नगेन्द्र को 'हाँपती हुई' मछली 'थिरकती हुई' दिखाई देती है और लय-बोध का अतिरिक्त उत्साह 'जिजीविषा' शब्द में मछली की 'तरंगायित आकृति' के अनुरूप 'वलयित उच्चारण' तक सुन लेता है। क्या यह असंगति रूप और भाव को अलग-अलग करके देखने वाली द्वैत-दृष्टि का परिणाम नहीं?...स्पष्ट है कि नयी कविता के संदर्भ में शाश्वत तत्व के रूप में 'अनुभूति' का नाम लेना ही काफी नहीं है - नाकाफी ही नहीं, बल्कि भ्रामक है। अज्ञेय को प्रसाद के अत्यंत निकट मानते हुए भी श्री विजयदेवनारायण साही ने दोनों कवियों के दो ठोस उद्धरण देकर स्पष्ट किय कि अनुभूति शब्द समान होने पर भी उसका अर्थ भिन्न हो गया और उसी के साथ कविता का मूल धर्म क्या हैं, इसकी परिभाषा भी। (कविता के नये प्रतिमान, पृ.24)

विजयदेव नारायण साही ने छायावादी कविता की मनोभूमि और अनुभूति का प्रश्न नयी कविता की मनोभूमि और अनुभूति के बदलाव को समझाने के लिए उठाया।'कामायनी' के बाद हिंदी कविता का अगला चरण इसी प्रश्न से शुरू होता है जिस'समरसता' को प्रसाद जी ने अनुभूति से दर्शन में बदल दिया उसे कैसे दर्शन से अनुभूति में बदला जाए। 'समरसता का दर्शन' या'निर्वैयक्तिक अनुभूति'? इस प्रश्न को जिस व्यक्ति ने पूछा उसका नाम था - अज्ञेय।'(छठवाँ दशक, पृ.295) यही कारण है कि अज्ञेय हिंदी कविता के पहले प्रश्नाकुल आधुनिक कवि हैं - तर्कशील विवेक वयस्क बौद्धिक कवि। अज्ञेय ने कहा है कि कवि के सामने शब्द में नया अर्थ भरने की चुनौती रहती है क्योंकि निरंतर प्रयोग से शब्द में बासीपन आ जाता है। नया कवि वही है जो शब्दों में नए अर्थ की प्रतिपत्ति करे। अज्ञेय की इसी बात को साही जी ने इस ढंग से उठाया है कि 'मूल बात यह है कि नयी कविता 'अभिव्यक्ति' नहीं है - 'निर्मिति' है। इस निर्मिति में नयी कविता'तरंग के रूप को स्ट्रक्चर ' में बदल देती है जैसे हीरे का क्रिस्टल हो।' इस दृष्टि को और स्पष्ट करने के लिए साही जी ने 'शमशेर की काव्यानुभूति की बनावट' शीर्षक निबंध में कहा - 'नयी कविता की बहसों में यह मान्यता अंतर्भुक्त ही है कि न सिर्फ कविता का ऊपरी कलेवर बदला है या नये प्रतीकों या बिंबों या शब्दावली की तलाश हुई है, बल्कि गहरे स्तर पर काव्यानुभूति की बनावट में ही फर्क आ गया है। लेकिन बहस में इस पर बल कम दिया गया है।' (छठवाँ दशक) इस पूरी बहस में यह माना गया कि काव्यानुभूति के बदलते हुए स्वरूप को समझे बिना और नयी कविता की बनावट या संरचना को ध्यान में रखे बिना आज कविता की कोई भी परिभाषा अधूरी रहेगी।

1.8 निष्कर्ष

काव्य लक्षण परम्परा की बहसों पर ध्यान केंद्रित करते हुए हम कुछ महत्वपूर्ण तथ्यों पर पहुँच सकते हैं -

1. काव्यार्थ शब्द में है या अर्थ में है या दोनों में है। इस वाद-विवाद में ज्यादातार आचार्यों ने शब्द परंपरा का समर्थन किया है।

2. अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, रस जैसे पुराने प्रतिमान जिस तरह पुरानी कविता के लिए कारगर थे आज नहीं रहे हैं। यहाँ तक कि रस अब कविता के लिए आवश्यक नहीं रह गया है।

3. रोमांटिक कवि और काव्य जहाँ भावकुता, कल्पना सहृदयता का वृत्त बनाता है वहाँ नया काव्य-सृजन रोमांटिक भाव-बोध का निषेध करता है।

4. काव्यानुभूति के निर्वैयक्तिकता अंततः शब्द की निर्वैयक्तिकता है। इस प्रकार काव्य एक निर्वैयक्तिक शब्द-व्यापार है।

5. काव्य वैयक्तिक प्रयास होते हुए भी एक सांस्कृतिक प्रक्रिया है। इस सांस्कृतिक प्रक्रिया में सामाजिक-आर्थिक-नैतिक-राजनीतिक प्रक्रियाएँ भी विद्यमान रहती है।

6. कविता हृदय की मुक्तावस्था कभी थी किंतु आज वह हृदय से ज्यादा बुद्धि-प्रेरित है। इसीलिए हम उसे बुद्धि की मुक्तावस्था कह सकते है।

7. कविता आत्म की अभिव्यक्ति नहीं है आत्म का निषेध है। आत्म के निषेध का अर्थ है निर्वैयक्तिक व्यापार-आत्मदान, आत्म-उमोवन और अंह का समर्पण।

8. कविता शाब्दिक निर्मिति है। मूल बात यह कि काव्य अभिव्यक्ति नहीं निर्मिति है। निर्मिति है इसलिए कलाकृति की संरचना पर हमें ध्यान देना पड़ता है। काव्य-भाषा ही वह चीज है जिसमें काव्यार्थ की नए भाव-बोध की निष्पत्ति होती है।

9. काव्य लक्षणों में जो परिवर्तन घटित होते रहे है उसका कारण काव्य की रागात्मकता न होकर रागात्मक संबंधों की बदलती प्रणालियाँ हैं। बाह्य-आंतरिक वास्तविकता से गहरा रिश्ता इन रागात्मक प्रणालियों के बदलाव से ही निर्धारित होती है।

10. जैसे-जैसे जीवन जटिल हुआ है काव्य में भी जटिलता बढ़ी है। इस काव्यानुभूति की जटिलता का कवि-कर्म पर गहरा असर पड़ा है। इसलिए काव्यानुभूति की बनावट पर विचार किए बिना हम कविता को परिभाषित नहीं कर सकते।

11. आज कविता हमें रिझाती नहीं है - रमणीय अर्थ का प्रतिपादन नहीं करती। वह हमें खिजाती है - हमारा चैन तोड़ देती है। शब्द और अर्थ का तनाव, सृजन में नए अर्थ-सौंदर्य और अर्थ-

संदर्भ को जन्म देता है। वस्तु और रूप के बीच एक द्वंद्वात्मक रिश्ता है और रिश्ता काव्य की समग्रता-अखण्डता-अन्विति की अंतर्योजना पर केंद्रित है।

1.9 शब्दावली

प्रत्यय	-	विचार, सम्मति, राय
पूर्व-मीमांसा	-	जैमिनी कृत वह वैदिक दर्शन जिसमें वेदों की कर्मकांड संबंधी बातों का निर्णय किया गया है।
उत्तर-मीमांसा	-	वेदांत दर्शन, अद्वैतवाद का दर्शन। वेदों के उत्तरार्द्ध के दार्शनिक विवेचन जिनमें महर्षि वादरायण व्यास ने ब्रह्म विषयक विचारों को छाँटकर ब्रह्म-सूत्रों की रचना की और जिनकी शंकराचार्य आदि ने वेदांत के नाम से पूर्ण प्रतिष्ठा की।
अंतर्भूत	-	शामिल
अतींद्रिय	-	अगोचर, अव्यक्त, जिसका अनुभव इंद्रियों द्वारा न हो सके।
आत्मातिक्रमण	-	आत्मा की उदात्त अवस्था
व्यवच्छिन्न	-	पृथक किया हुआ
निबद्ध	-	बँधा हुआ
वक्र	-	टेढ़ा, बाँका
विवक्षित	-	जिसकी आवश्यकता या इच्छा हो, अपेक्षित
वंकिया	-	बाँकापन
परवर्ती	-	बाद में आने वाला या होने वाला
नैयायिक	-	न्यायशास्त्र जानने वाला
विषयगत	-	वस्तुपरक (Objective)
विषयिगत	-	आत्मपरक (Subjective)
अवांतर	-	बीच का, अंतर्गत
संविद विश्रांति	-	चेतना या अनुभूति की विश्रान्ति
प्रतीयमान अर्थ	-	व्यंजना द्वारा ध्वनित अर्थ
रीतिवाद	-	लीकबद्ध पद्धति, रूढ़ शास्त्रवाद
ज्ञानयोग	-	ज्ञान की प्राप्ति द्वारा मोक्ष का साधन
भावयोग	-	भक्ति द्वारा मोक्ष का साधन
श्रेयमयी	-	मंगलदायक, कल्याणकारी
प्रेय	-	प्रिय
अप्रतिहत	-	बिना रोक-टोक का, जिसकी हार या हानि न हुई हो
वागर्थ प्रतिपत्ति	-	शब्द और अर्थ के बीच नया संबद्ध स्थापित करना
लघु मानव	-	लघु मानव नयी कविता का एक पारिभाषिक शब्द है। नयी कविता में प्रतिपादित लघु मानव सिद्धांत का अर्थ है - आम आदमी की अनंत शक्ति और संभावनाओं में विश्वास।
विभावादि		विभाव, अनुभाव, संचारी भाव आदि।

1.10 अभ्यास के लिए प्रश्न

1. संस्कृत आचार्यों द्वारा प्रतिपादित काव्य लक्षण पर विचार कीजिए।
2. आचार्य मम्मट के काव्य लक्षण पर विचार कीजिए।
3. पंडितराज जगन्नाथ के काव्य लक्षण की विशेषताओं का निरूपण कीजिए।
4. हिंदी की चिंतन परंपरा में काव्य लक्षण दृष्टि की चर्चा कीजिए।

इकाई 2 काव्य प्रेरणा और काव्य हेतु

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- बता सकेंगे कि रचनाकार सृजन की ओर क्यों प्रेरित होता है;
- भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य हेतु विषयक चिंतन पर प्रकाश डाल सकेंगे;
- सृजन कर्म में प्रतिभा के महत्व और उपादेयता की चर्चा कर सकेंगे;
- पश्चिम के काव्य प्रेरणा संबंधी विभिन्न सिद्धांतों का उल्लेख कर सकेंगे; और
- हिंदी में काव्य हेतु और काव्य प्रेरणा संबंधी विवेचन के विषय में जानकारी दे सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना

पिछली इकाई में आप काव्य के लक्षण यानी उसके स्वरूप की जानकारी प्राप्त कर चुके हैं। साहित्य क्या है - यह जान लेने के बाद आपके मन में सहज सवाल उठ सकता है कि साहित्य की रचना क्यो होती है। क्या कारण हैं जो कवि अथवा रचनाकार को रचना की आरे प्रेरित करते हैं। प्रस्तुत इकाई इसी प्रश्न का समाधान है। वस्तुतः यह प्रश्न प्राचीन काल से अब तक विद्वानों के मन में कौंधता रहा है कि सृजन का कारण क्या है, किस बात या स्थिति ने दुनिया भर के कवियों और लेखकों को रचनाकर्म की ओर मोड़ा है। प्राचीन और आधुनिक भारतीय तथा पश्चिमी आचार्यों के काव्य हेतु और काव्य सृजन प्रेरणा विषयक चिंतन-मनन की जानकारी आपको इस इकाई में मिलेगी।

2.2 काव्य सृजन किसी न किसी प्रेरणा और हेतु का परिणाम

देश-विदेश के काव्य-चिंतन अथवा सृजन-प्रक्रिया से संबंधित चिंतन में यह प्रश्न अत्यंत रोचक, महत्वपूर्ण किंतु विवादास्पद रहा है कि काव्य-सृष्टि कैसे और किन कारणों से होती है। भारतीय

काव्यशास्त्र में कवि-शिक्षण के अंतर्गत कवि में काव्य-निर्माण की सामर्थ्य उत्पन्न करने वाले साधनों को 'काव्य हेतु' अथवा 'काव्य के कारण' कहा गया है। रीति-सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक आचार्य वामन ने 'काव्य हेतु' के स्थान पर 'काव्यांग' शब्द का प्रयोग किया है। भामह ने काव्य हेतु के रूप में केवल 'प्रतिभा' का उल्लेख किया है। उनके मत के अनुसार गुरु-उपदेश से जड़बुद्धि भी शास्त्र का अध्ययन कर सकता है, परंतु काव्य का निर्माण तो कोई प्रतिभावान ही कर सकता है। आगे चलकर **प्रतिभा, शास्त्रज्ञान (व्युत्पत्ति)** तथा **अभ्यास**, तीनों को 'काव्य-कारण' कहा गया। राजशेखर 'काव्य हेतु' को 'काव्य-माता' कहते हैं तथा श्यामदेव और आचार्य मंगल के मतों का उल्लेख करते हैं। श्यामदेव के अनुसार 'काव्य-कर्म में कवि की समाधि' (चित्त की एकाग्रता) सर्वोत्कृष्ट साधन है तथा आचार्य मंगल 'अभ्यास' को प्रधान कारण मानते हैं। राजशेखर इन दोनों के मतों को समेट कर 'समाधि' एवं 'अभ्यास' से उत्पन्न 'शक्ति' को ही 'काव्य-कारण' स्वीकार करते हैं तथा उसे 'प्रतिभा' तथा 'व्युत्पत्ति' से बहुत दूर बताते हैं। इन सभी आचार्यों ने दैवी-प्रेरणा को 'काव्य हेतु' में स्थान दिया है। अतः भारतीय काव्यशास्त्र में पाश्चात्य विद्वानों की भाँति 'काव्य प्रेरणा' की अलग से चर्चा नहीं की गई है। भारतीय दृष्टि का सार यह कि काव्य ईश्वर-प्रदत्त 'प्रतिभा' का वरदान है।

पश्चिम के विद्वानों ने कवि या कलाकार पर विशेष ध्यान केंद्रित करते हुए 'काव्य प्रेरणा' पर विस्तार से चिंतन किया है। प्रायः काव्य प्रेरणा (पोयटिक इन्सपिरेशन) को दैवी-प्रेरणा-सिद्धांत (थियरी ऑफ डिवाइन इन्सपिरेशन) से सम्बद्ध करके उनका चिंतन आगे बढ़ा है। मनोविज्ञान में 'प्रेरणा' के बजाय ज्यादातर उत्तेजना (स्टिमुलस), अनुप्रेरणा (मोटिवेशन), प्रेरकवृत्ति (ड्राइव इम्पल्स) शब्द व्यवहार में लाए जाते रहे हैं। काव्य और कला चर्चा के अंतर्गत 'प्रेरणा', 'प्रेरणा-क्षण', 'प्रेरक वस्तु', 'प्रेरणा प्रकृति' आते हैं। कोई मार्मिक घटना, मार्मिक प्रसंग-प्रकरण-तथ्य-प्रकृति, कोई मानवीय साहचर्य, कोई युग, युग-पुरुष, युग-प्रवृत्ति और आंदोलन, कोई विचारधारा सीधे या परोक्ष, सम्बद्ध या असम्बद्ध रूप से हमें प्रेरित कर सकती हैं। उसके प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष उपस्थित होने के 'प्रतिक्रियात्मक काल' (रियेक्शन टाइम) को 'प्रेरणा का क्षण' या 'प्रेरक अवधि' कहा जा सकता है। इस प्रकार, प्रेरणा उत्तेजना, प्रतिक्रिया, साहचर्य की असाधारण 'चित्त-दशा' है।

इस 'प्रेरणा दशा' के कुछ खास लक्षण हैं :

1. ऐसा तीव्र आवेश या आवेग जो हमें अवश या विवश कर दे,
2. आत्म-विस्मृति की वह अवस्था जिसमें हमें विषय और परिवेश का ध्यान न रहे,
3. एक अपूर्वता, एक विशेष प्रकार का उन्माद, आवेश, तन्मयता, तादात्म्य,
4. समानुभूति का क्षण,
5. भाव-विभोरता, प्रबल मानसिक दशा, भावों की प्रबल धारा की आकस्मिकता,
6. अवचेतन मन का मुक्त प्रवाह,
7. भावों का अजनबीपन, आत्म-निर्वासन, आत्म से पलायन, व्यक्तित्व का माध्यम मात्र रह जाना आदि की रचना-धर्मिता।

प्रेरक दशा में चेतन-अवचेतन के भाव इतने प्रबल होते हैं कि रचनाकार की इच्छा अथवा माध्यम का अतिक्रमण करते हुए निवत्ति करते है या नया रचते है। रचना-प्रक्रिया के दौरान जो मानसिक भाव-पुंज सक्रिय हो जाते हैं - वे प्रायः अजनबी होते हैं। मिथकों-बिम्बों-प्रतीकों-लयों-फैण्टेसियों में अपूर्व रचते है। प्रतिभा या कल्पना खण्ड-खण्ड अनुभवों को अखण्ड एकाग्र कर संश्लिष्ट रूप देती है। कहना न होगा कि सृजन-प्रक्रिया के दौरान प्रेरणा-दशा, साधारण तथा प्रतिभाशाली दोनों प्रकार के रचनाकारों की भाव-सम्पत्ति होती है। प्रेरणा बहुधा असाधारण चित्त दशाा उत्पन्न करती है जिसमें आकस्मिक परिस्थिति का हाथ होता है।

कभी कभार आकस्मिक परिस्थिति और असाधारण चित्त दशा मे से यदि एक अनुपस्थित रहती है तो भाव-प्रवाह मंद पड़ जाता है और वह बदलते-विकसित होते, संशोधित-प्रौढ़ होने चलते है ऐसी परिस्थिति में असाधारणता कम हो जाती है और रचना-क्षणों की अवधि अप्रत्याशित ढ़ग से सुदीर्घ हो जाती है - जैसे कामायनी लगभग छः वर्षों में लिखी गई तात्पर्य यह कि संचित ऊर्जा को निबोध क्षर न मिलकर एक सृजन-दिशा विशेष में बढ़ने का सृजन-विवेक मिलते है। प्राय सृजनात्मक प्रतिभाएँ दो प्रकार की होती हैं - (1) रोमानियत प्रधान (Romantic); और (2) शास्त्रीयता प्रधान (Classical)। रोमानियत प्रधान प्रेरणा की 'अनुप्रेरणाएँ' ऐन्द्रिक तथा भावात्मक होती है और शास्त्रीयता

प्रधान प्रतिभा की प्रेरणा संयत, स्मृति-प्रधान तथा मूल्य-बोधक होती है। यदि रचनाकार में महान प्रेरणा का प्रबल ज्वार नहीं है तो बड़ा रचनाकार भी सामान्य कृति ही दे पाता है। किसी महान प्रेरणा की दशवर्ती होकर ही सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला की उदात्त प्रतिभा 'राम की शक्ति पूजा' या 'तुलसीदास' जैसी कृतियों को सृजित कर पाती हैं। इसलिए 'काव्य प्रेरणा' की 'काव्य-प्रतिभा' से अलग महिमा है। दोनो के आकस्मिक संयोग से ही कालजयी कृति का सृजन हो पाता है।

भारतीय तथा पाश्चात्य विचारक इस बात पर प्रायः एक मत रहे हैं कि काव्य का उदभव दैवी-अनुग्रह अथवा दैवी-प्रेरणा से होता है। ईश्वरीय कृपा अथवा अनुग्रह, प्रतिभा के रूप में प्रकट होता है - इसके बिना काव्य-सृजन संभव ही नहीं है। यह केवल शास्त्रज्ञ आचार्यों का ही मत नहीं है, सृजन क्षेत्र में सक्रिय सर्जकों का भी मत है कि ईश्वर की असीम कृपा होने पर ही प्रतिभा मिलती है, उसमें सृजन-स्फुरण होता है और उसी की कृपा से कवि-कर्म के मार्ग की बाधाएँ नष्ट होती हैं। इसीलिए कविगण काव्य के आरंभ में ही सरस्वती या वाग्देवी (पश्चिम में विद्या की देवी 'म्यूज') का आह्वान करते हैं तथा मंगलाचरण के रूप में विभिन्न देवी-देवताओं से कृपा-याचना करते हैं। यूरोपीय साहित्य में महान कवि होमर ने इस परम्परा का सूत्रपात किया है। तब से बहुत से रचनाकार इस परम्परा का पालन करते रहे हैं। पश्चिमी विचारकों तथा रचनाकारों ने 'काव्य प्रेरणा' (पोयटिक इन्सपिरेशन) के बारे में कई कोणों से गंभीरतापूर्वक विचार किया है।

भारतीय काव्य-चिंतन परंपरा ने दैवी-प्रेरणा या प्रेरणा को प्रतिभा में ही निहित मानकर उसका अलग से विवेचन नहीं किया। हालाँकि यहाँ कवियों द्वारा रचना के आरंभ में सरस्वती, गणेश अथवा इष्टदेव की वंदना की परम्परा बहुत पुरानी है। प्रबंध काव्य, नाटक आदि के सृजन-कर्म की सफलता के लिए कालिदास 'रघुवंश' के आरंभ में ही 'वागर्थ प्रतिपत्ति' के लिए जगत के माता-पिता पार्वती-महादेव की वंदना करते हैं और भास अपने नाटक 'स्वप्नवासवदत्तम्' में 'वसन्तकम्रोभुजौपाताम' कहकर नमस्कार करते हैं। लघु-काव्यों में भी दैव-आराधना-कवित्व-शक्ति-याचना के उदाहरण बराबर मिलते हैं। राम, कृष्ण, शिव, पार्वती, सरस्वती, गणेश, विष्णु आदि की स्तुति का विशेष विधान रहता है। काव्य की अधिष्ठात्री देवी माँ सरस्वती से आलोक और प्रबोध के लिए कवि हाथ फैलाता है। मैथिलीशरण गुप्त 'साकेत' के आरंभ में वीणा-पाणि सरस्वती से कहते हैं - 'अयि दयामयि देवि सुख दे शारदे / इधर भी निज वरदपाणि पसार दे।' आधुनिक हिंदी कविता के सबसे बड़े विद्रोही कवि निराला ने 'वर दे वीणा वादिनी वर दे' जैसी बहुत-सी रचनाएँ की हैं। तुलसीदास 'रामचरितमानस' का आरंभ सरस्वती-गणेश वंदना से करते हैं -

वर्णानामर्थसंघानां रसानां छन्दसामपि।
मंगलानां च कर्त्तारौ वन्दे वाणी विनायकौ॥

शास्त्र-ज्ञान से 'व्युत्पत्ति' या बहुज्ञता तथा अभ्यास से निपुणता तो प्राप्त हो जाती है किंतु कवि का अंतःकरण माँ शारदा की कृपा से ही आलोकित होता है, वही सृजन-शक्ति में दिव्य-दृष्टि देती है। सरस्वती की दया से ही काव्य में सौंदर्य और आह्लाद का जन्म होता है। सृजन-प्रक्रिया रहस्यमयी होने के कारण ही अलौकिक दैवी-प्रेरणा से जोड़ी गई है। कवि मानते है कि किसी अलौकिक दिव्य-शक्ति की प्रेरणा से ही काव्य-रचना संभव हो पाती है -

नियतिकृतनि यमारहितांह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम्।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति।।

मंगलाचरण, प्रार्थना, मंत्र-उच्चारण की इस दीर्घ परम्परा से स्पष्ट है कि कवि के लिए किसी अलौकिक विराट-शक्ति की कृपा अपेक्षित है। भारतीय मानस मानता आ रहा है कि आदि कवि के मुख से निकला श्लोक क्रौंच-वध को देखकर उत्पन्न करुणा या दुःख की ही चरम अनुभूति नहीं था, उसमें विराट शक्ति की प्रेरणा भी सक्रिय थी। यह सरस्वती की कृपा ही है कि 'लाख पाखर निराखर के मुख तैं मधुर मंजु आखर कढ़त हैं' यानी निरक्षर व्यक्ति के मुख से भी काव्यात्मक शब्द फूट पड़ते हैं।

2.3 संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्य हेतु पर चर्चा

संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्य हेतु चिंतन की एक सुदीर्घ परम्परा मिलती है। इस विचार-चर्चा में सभी प्रमुख आचार्यों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से हिस्सेदारी की है। यह प्रश्न कई कोणों से उठाया गया है कि वे कौन-से उपादान हैं जिनपर अधिकार करके कवि एक सामान्य-सा प्राणी दिखाई देते हुए भी सामान्य से अलग दिखाई देता है। इसी प्रश्न के समाधान के लिए आचार्यगण 'काव्य हेतु' पर विचार करने को प्रवृत्त हुए हैं। इस संदर्भ में सभी प्रमुख आचार्यों ने तीन उपादानों या कारणों की बात की है

(1) प्रतिभा
(2) व्युत्पत्ति; और
(3) अभ्यास।

इन तीनों में प्रतिभा की महत्ता सर्वस्वीकृत है। अतः भारतीय काव्यशास्त्र में इसपर विस्तृत विवेचन हुआ है। काव्य-सृजन में व्युत्पत्ति एवं अभ्यास की क्या भूमिका है या कितना योग है तथा प्रतिभा से उनका क्या संबंध है? यह निरंतर विमर्श का विषय रहा है।

2.4 प्रतिभा

'प्रतिभा' से तात्पर्य है - काव्य-सृजन शक्ति। इसलिए 'प्रतिभा' का एक नाम'शक्ति' भी है - 'शक्ति प्रतिभानम्'। (ध्वन्यालोचन, पृ.346) आचार्य अभिनवगुप्त ने प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास के महत्व पर विचार करते हुए कहा है कि काव्य-सृजन में अभ्यासादि की अपेक्षा प्रतिभा की ही निर्विवाद निर्णायक भूमिका रहती है और जिसे 'व्युत्पत्ति' कहा जाता है वह कोई अन्य वस्तु नहीं; बल्कि प्रतिभा का ही एक रूप हैं; इस प्रकार प्रतिभा ही शक्ति है। अभिनवगुप्त के इस विचार का आगे चलकर पंडितराज जगन्नाथ ने न केवल पूरा समर्थन किया है बल्कि व्युत्पत्ति और अभ्यास को चर्चा-योग्य तक नहीं समझा - 'तस्य च कारणं कविगता केवला प्रतिभा' अर्थात् कविगत प्रतिभा ही काव्य का प्रधान हेतु है या प्रधान कारण है।

प्रो.निर्मला जैन ने 'रस-सिद्धांत और सौंदर्यशास्त्र' शीर्षक अपने शोध-प्रबंध में 'सृजन-शक्ति' या प्रतिभा पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि 'संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्य की सृजन-शक्ति पर प्रायः 'काव्य हेतु' प्रकरण के अंतर्गत विचार करने की परम्परा रही है। आचार्यों ने काव्य हेतु के रूप में प्रतिभा, व्युत्पत्ति एवं अभ्यास तीन तत्वों को मान्यता दी है जिनमें प्रायः सभी ने प्रतिभा को प्रधान माना है। किंतु रस-सिद्धांत के समर्थक आचार्यों ने काव्य हेतु के रूप में एकमात्र प्रतिभा को ही स्वीकार किया है। यद्यपि रस-सम्प्रदाय के बाहर के आचार्यों में वामन ने भी प्रतिभा को कवित्व का बीज (कवित्वबीजं प्रतिभानम्) कहा है तथापि प्रतिभा को जो महत्व रस-सिद्धांत में प्राप्त है, वह संस्कृत काव्यशास्त्र के अन्य सिद्धांतो में विरल है। अभिनवगुप्त ने जिस कविगत संविद को रस का बीज कहा है वह वस्तुतः कवि प्रतिभा का ही दूसरा नाम है।' (पृ.393)

वास्तव में, काव्य-विद्या के स्फुरण की आदि जननी है - प्रतिभा। यही काव्य-सृजन की मूल एवं बीज-रूपा आद्याशक्ति है जिसके अभाव मे श्रेष्ठ सृजन की कल्पना ही नहीं की जा सकती। काव्य-सर्जना की आद्याशक्ति के रूप में, प्रतिभा का जो विवेचन किया जाता रहा है वह केवल काव्यशास्त्र तक सीमित न रहकर दर्शनशास्त्र तथा अध्यात्म-विद्या में भी व्याप्त है। रसवादी कश्मीरी शैवदर्शन में प्रतिभा को'विश्व सर्जना की मूल शक्ति' के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। आचार्य अभिनवगुप्त ने प्रतिभा के साथ-साथ'स्वतंत्र' शक्ति का उल्लेख 'घटकर्परकुलक विवृति' में किया है और कहा है 'इस प्रकृति मधुर स्वातंत्र्य रूप प्रतिभा-शक्ति के कारण ही कालिदास जैसे कवि के काव्य में सर्जन-संबंधी नियमों का अतिक्रमण भी सुभग-भाव में परिणत होता दिखाई देता है।' प्रत्यभिज्ञा-दर्शन की एक शाखा'कुल सिद्धांत' के प्रतिपादक आचार्य महेश्वरानंद ने 'महार्थ मंजरी' नामक ग्रंथ में 'भाषा-शक्ति' के रूप में एक प्रकार से प्रतिभा-शक्ति की ही महत्व-प्रतिष्ठा की है। उन्होंने 'भाषा' को सृष्टि के पंच तत्वों में एक प्रमुख तत्व मानकर उसे 'प्रतिभा', 'स्वातंत्र्य' तथा 'चित् शक्ति' का पर्याय माना है। भाषा-शक्ति चिन्मयी होने के कारण स्वभावतः शिक्षा के साथ एकात्य - भाव रखती है। 'कुल सिद्धांत' की मान्यता में 'प्रतिभा' की उच्चतम आध्यात्मिक भूमिका'परा प्रतिभा' है जिसे 'कौलिकी शक्ति' का नाम दिया गया है। इसे ही व्याकरणाचार्यों ने व्याकरण-दर्शन की 'परा-शक्ति' की कोटि में स्थान दिया है।

आचार्य अभिनवगुप्त ने 'परा-प्रतिभा' के नाम से जिस 'चिन्मयी शक्ति' का विचार-विवेचन किया है वह 'परमानंदरूप परा' और 'काव्योत्सभूत प्रतिभा' का सुंदर सामंजस्य दर्शन है। काव्य-प्रतिभा के अंतर्गत काव्य में अभिव्यक्त होने वाले समस्त काव्य उसी प्रकार अधिष्ठित हैं जिस प्रकार'परा प्रतिभा' में सभी पदार्थ अपने अनंत रूपों के साथ प्रतिबिंबित होते हैं। 'परा प्रतिभा' की सबसे बड़ी विशिष्टता यह है कि वह विश्व के समस्त पदार्थों के वैचित्र्य को अंतर्भुक्त रखती है और उसमें पश्यन्ती-मध्यमा-बैखरी आदि वाक् शक्तियों का भी समाहार रहता है। अभिनव ने 'तंत्रालोक' में 'परम शक्ति' के रूप में प्रतिभा का विमर्श-विवेचन करते हुए उसे 'प्रातिभ-ज्ञान' का भी पर्याय माना है। यहाँ 'प्रातिभ-ज्ञान'

का अर्थ है - 'महाज्ञान' तथा इस प्रातिभ-ज्ञान से सम्पन्न व्यक्ति को 'चिन्तामणि' नाम दिया है। आचार्य के मत से 'प्रातिभ-ज्ञान' अतीन्द्रिय और बुद्धि से परे है क्योंकि बुद्धि में एक प्रकार की जड़ता होती है जिसके कारण वह अपने विषय को इन्द्रिय ज्ञान तथा भेद के कारण ग्रहण करती है जबकि प्रतिभा का 'ज्ञेय विषय' के साथ अभेद संबंध है। वह बुद्धि से भिन्न 'स्वयं चित्त' अथवा 'संविद' का पर्याय है। प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति 'विवेक' के द्वारा 'शुद्ध विद्या' की उच्चतम भूमिका पर पहुँच जाता है। अभिनवगुप्त ने प्रतिभा को भगवती शिवा-पार्वती का साक्षात रूप मानकर वंदना की है। प्रातिभ-शिवा में ऐसी उन्मीलन शक्ति है जिसके द्वारा क्षण-भर में विश्व-उन्मीलित हो जाता है। कवि-प्रतिभा अपनी सर्जनात्मकता के द्वारा नाम-रूपात्मक विश्व को प्रतिभासित करने में समर्थ है। पश्चिम में प्रतिभा के इसी रूप को 'कल्पना सिद्धांत' के अंतर्गत व्याख्यायित-विश्लेषित किया जाता रहा है।

काव्य-सर्जना की यह आद्याशक्ति ही वाक् तत्व की अधिष्ठात्री देवी है। भारतीय विचारधारा प्रतिभा का विवेचन एक 'नैसर्गिक शक्ति' तथा 'प्राक्तन संस्कार' के रूप में करती रही है। सामान्य व्यक्ति की प्रतिभा माया के आवरणों से आच्छन्न रहती है पर नैसर्गिक प्रतिभा-प्राप्त कवियों की अंतःप्रज्ञा पर इस प्रकार का कोई आवरण नहीं रहता। 'प्रतिभा' की लोकोत्तरता पर विचार करते हुए आचार्य महिमभट्ट ने उसे शिव के तृतीय नेत्र के तुल्य कहा है। सूर्य चन्द्र शिव के दो नेत्र हैं तीसरा नेत्र है - अग्नि। कवि अग्निधर्मा होता है, वह अंधकार को चीरता है - त्रिकालदर्शी हो जाता है। उसे 'महाकाल' की यह शक्ति प्राप्त है।

राजशेखर ने प्रतिभा के दो भेद किए हैं - (1) कारयित्री प्रतिमा; और (2) भावयित्री प्रतिभा। कारयित्री प्रतिभा कवि की प्रतिभा है जो काव्य-सृजन में प्रवृत्त होती है। भावयित्री प्रतिभा काव्य के पाठक-दर्शक, रसज्ञ-सामाजिक-सहृदय की प्रतिभा है जिसके द्वारा वह काव्यार्थ को ग्रहण करता है, मूल्यांकन करता है। वस्तुतः भावक की भावयित्री प्रतिभा के कारण ही 'कवि-व्यापार-तरु' की सफलता का पता चलता है।

प्रतिभा एक खास अर्थ में 'प्रज्ञा' का पर्याय है। प्रायः विचारकों ने प्रज्ञा के माध्यम से ही प्रतिभा का परिचय कराया है। प्रतिभा के तीन रूप हैं - (1) स्मृति, (2) मति; और (3) प्रज्ञा। स्मृति अतीत विषय का स्मरण करने वाली बुद्धि-विशेष का नाम है। यही 'परम्परा' को धारण करती है। वर्तमान का बोध कराने वाली बुद्धि का नाम 'मति' है तथा अनागत या भविष्य का संकेत देने वोली बुद्धि 'प्रज्ञा' है। राजशेखर ने 'प्रज्ञा' को 'भविष्य-बुद्धि' से सम्बद्ध किया है किंतु 'काव्य-प्रकाश' के टीकाकार विद्याधर चक्रवर्ती ने 'प्रज्ञा' को 'त्रैकालिकी' घोषित किया है। तीनों कालों में नूतनता की उन्मेष-शालिनी प्रज्ञा ही प्रतिभा है - 'ज्ञेया प्रज्ञा त्रैकालिकीमता'।

2.4.1 प्रतिभा के कार्य

संस्कृत काव्यशास्त्र के प्रमुख आचार्यों ने प्रतिभा के स्वरूप परिचय के लिए 'प्रतिभा' के कार्यों पर विचार किया है। सुविधा के लिए यहाँ हम आचार्यों के प्रतिभा से संबंधित लक्षणों को देख सकते हैं -

भट्टतौत	-	**प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मतः।** (काव्य-कौतुक)
अभिनवगुप्त	-	(1) **प्रतिमा अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा।** (ध्वन्यालोक-लोचन)
		(2) **प्रतिभानं वर्णनीयवस्तुविषयनूतनोल्लेख शालित्वम।**
मंम्मट	-	**शक्ति कवित्व-बीजरूपः संस्कार विशेषः।** (काव्य-प्रकाश)
वाग्भट्ट	-	**प्रसन्नयदनव्यार्थयुवत्युद्बोध विधायिनी।** **स्फुरन्ती सत्कवेर्बुद्धिः प्रतिमा सर्वतोमुखी।।** (वाग्भटालंकार)
राजशेखर	-	**या शब्दग्राममर्थसार्थमलंकारतंत्रमुक्तिमार्गमत्यदपि तथा विधमधिहृदयं सपति सां प्रतिमा।** (काव्य-मीमांसा)

आचार्यों के इन संदर्भों से 'रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन' करते हुए डॉ.प्रेमस्वरूप गुप्त ने प्रतिभा के कार्य-संबंधी निर्णय इस प्रकार दिए हैं -

1. प्रतिभा कवि में नूतन कल्पनाएँ जाग्रत करती है।
2. प्रतिभा कवि को भावलीन होने तथा सौंदर्यानुभूति करने की क्षमता प्रदान करती है।
3. प्रतिभा कवि की कल्पनाओं को गोचर रूप देने के लिए उल्लेखन अथवा चित्र विधान करती है।

4. प्रतिभा उल्लेखन अथवा चित्रण को संवेद्य बनाने के लिए विभिन्न उपकरण जुटाती है। ये उपकरण हैं - शब्द-चयन, अर्थ-योजना, नाना अलंकार, विभिन्न उक्ति-प्रकार आदि।

कहना न होगा कि काव्य-सृजन में प्रतिभा के कार्य अनंत हैं। 'अनंता' शक्ति होने के कारण ही यह 'पार्वती शक्ति' कही गई है। पण्डितराज जगन्नाथ ने प्रतिभा की वस्तुवादी व्याख्या करते हुए कहा है कि 'सा काव्य-घटनानुकूल शब्दार्थोपास्थितिः।' अर्थात् प्रतिभा ही काव्य-घटना के अनुकूल शब्दार्थ को उपस्थित करने की सामर्थ्य रखती है। उनके मत से रमणीयार्थ के प्रतिपादक शब्द ही काव्य हैं। यह रमणीयार्थ भाव-बोधक, कल्पना-बोधक तथा बौद्धिक चेतना का उद्बोधक होता है।

2.4.2 क्या प्रतिभा काव्य-सर्जना का एक मात्र मूल कारण है?

प्रश्न उठता है कि काव्य-सर्जना के मूल हेतु केवल प्रतिभा को ही स्वीकार किया जाए अथवा प्रतिभा व्युत्पत्ति और अभ्यास तीनों के समीकृत स्वरूप को? प्रायः आचार्यों ने प्रतिभा' को प्रधान अंगी रूप में मान्यता देकर अन्य उपकरणों को अंग रूप में निरूपित किया है। अर्थात् प्रतिभा ही काव्य का मूल हेतु है तथा व्युत्पत्ति-अभ्यास आदि उसके सहायक हेतु हैं, पोषक हेतु हैं, संस्कारक हेतु हैं। प्रतिभा के साथ व्युत्पत्ति तथा अभ्यास का पोष्य-पोषक संबंध है। काव्य हेतु विवेचन के इस प्रसंग में सर्वप्रथम हमारा ध्यान आचार्य **भामह** के उस मत पर जाता है जिसमें वे कहते हैं गुरु के उपदेश से शास्त्र-अध्ययन तो जड़बुद्धि भी कर सकता है किंतु काव्य-सृजन कोई प्रतिभावान ही कर पाता है। व्युत्पत्ति में शास्त्र-ज्ञान, काव्य-विदुपासम रहते है और 'अभ्यास' काव्य-क्रियाधर (अभ्यास की निरंतरता) है। किंतु कवि प्रतिभा ही सर्वोपरि है, अभ्यास-निपुणता प्रतिभा को माँजते-चमकाते हैं। आचार्य वामन ने प्रतिभा के तीन रूप माने हैं - (1) लोक (2) विद्या; और (3) प्रकीर्ण। प्रकीर्ण के अंतर्गत छह बातें आती हैं -

1.	लक्ष्य तत्व	-	अन्य कवियों की कृतियों से परिचय
2.	अभियोग	-	काव्य-रचना का प्रयत्न
3.	वृद्ध सेवा	-	काव्य-कला के मर्मज्ञों की उपासना, उनकी संगति करना
4.	अवक्षेप	-	रचना में अधिकाधिक सही शब्द-चयन का अभ्यास
5.	प्रतिभान	-	कवित्व का बीज प्रतिभा
6.	अवधान	-	चित्त की एकाग्रता या चित्त-समाधि।

'विद्या' का अर्थ है - समस्त शास्त्रों के ज्ञान को प्राप्त करने का प्रयास तथा 'लोक' का अर्थ है लोक-वृत्त, लोक-ज्ञान। यहाँ भी प्रधानता 'प्रतिभा' को ही मिली है। अन्य कारण उसके उपकारक कारण हैं। भामह के बाद **दण्डी** ने कहा था - 'नैसर्गिकी च प्रतिभा, श्रुतं निर्मलम्। अमन्दाश्चभियोगोऽस्थाः कारणं काव्य संम्पदः' अर्थात् दण्डी ने प्रतिभा की अपरिहार्यता को स्वीकृति नहीं दी। तीनों को समुदित रूप में काव्य का कारण कहा है। यदि एक बार पूर्व वासना की कृपा से प्राप्त प्रतिभा न भी हो तो भी व्युत्पत्ति एवं अभ्यास से कवि-कर्म चल सकता है। **वामन** ने दण्डी के इस विचार का विरोध किया है और वामन के इस विचार की ओर ही रुद्रट झुकते हैं। **रुद्रट** ने प्रतिभा के दो भेद किए - (1) सहजा (2) उत्पाद्या। इनमें कवि के लिए जन्म-सिद्ध प्रतिभा ही काम्य है। वही काव्य का मूल हेतु है। उत्पाद्या प्रतिभा व्युत्पत्ति से उत्पन्न होती है तथा सहजा का संस्कार करती है। स्वर्ण को भी तो परिष्कृत करना ही पड़ता है।

आनन्दवर्धन ने शक्ति एवं व्युत्पत्ति (निपुणता) की तुलना में शक्ति या प्रतिभा की महत्ता का प्रतिपादन किया। उन्होंने कहा 'यदि कवि में प्रतिभा है तो उसे वर्ण्य-विषयों की कमी नहीं है। वह पुरातन, वर्णित विषयों को भी उठाकर उनमें नूतनता की सृष्टि कर सकता है और प्रतिभाहीन के लिए कवि-कर्म में कुछ नहीं रखा है।' (ध्वन्यालोक, पृ.316)

राजशेखर ने 'काव्य-मीमांसा' में श्यामदेव एवं आचार्य मंगल का मत दिया है पर आज इनका कोई ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। लेकिन राजशेखर ने 'काव्य हेतुओं' पर विस्तार से विचार किया और कहा कि उपयोग और उपादेयता की दृष्टि से प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति का संबंध सर्वोपरि है। प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति के आधार पर दो प्रकार के कवि होते हैं - (1) काव्य कवि (2) शास्त्र कवि। दोनों ही अपनी-अपनी जगह महत्वपूर्ण हैं। काव्य कारण को लेकर कहा - 'साशक्तिः केवलं काव्ये हेतुः इति यायावरीयः।' हाँ, समाधि (चित्त की एकाग्रता) भीतरी प्रयत्न है और अभ्यास बाहरी प्रयास। दोनों ही 'काव्य शक्ति को उद्भासित करते हैं - शक्तिवान ही प्रतिभा को धारण करता है।' इस प्रकार, राजशेखर ने 'शक्ति' के

कारण का प्रयोग 'प्रतिभा' से ज्यादा बड़ा माना है। प्रतिभा तो शब्दों, अर्थों, अलंकारों, उक्ति-पथों तक अपने को सीमित रखती है पर शक्ति 'अदृश्य पदार्थों को प्रत्यक्ष' करने की सामर्थ्य रखती है। प्रतिभा के दो भेद माने - (1) कारयित्री प्रतिभा (2) भावयित्री प्रतिभा। वामन की भाँति राजशेखर ने भी कारयित्री प्रतिभा के तीन भेद किए - सहजा, आहार्या, औपदेशिकी।

1.	सहजा	-	पूर्व-जन्म के संस्कारों से युक्त प्रतिभा।
2.	आहार्या	-	इस जन्म के संस्कारों से उत्पन्न प्रतिभा।
3.	औपदेशिकी	-	तंत्र, मंत्र, देवता, गुरु आदि के उपदेश से उत्पन्न होती है।

मम्मटाचार्य ने प्रतिभा-व्युत्पत्ति-अभ्यास तीनों की सम्यकता को काव्य हेतु माना - 'शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्र काव्याद्यवेक्षणात्। काव्यत्व शिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे।' किंतु आचार्य वाग्भट्ट के अनुसार केवल प्रतिभा ही काव्य का कारण है - 'प्रतिभैव च कवीनां काव्य-कारण कारणम्। व्युत्पत्त्यभ्यासौ तस्या एवं संस्कारकारकौ।' व्युत्पति एवं अभ्यास तो प्रतिभा के संस्कारक हेतु हैं। इसी बात को केशव मिश्र ने 'अलंकारशेखर' में दोहराया है - 'प्रतिभा कारणं तस्य व्युत्पत्तिस्तु विभूषणम्। भृशोत्पत्तिकृदभ्यासः काव्यस्यैषाव्यवस्थिति।।'

आचार्य हेमचन्द्र ने इस चिंतन परम्परा में निर्णय दे दिया - 'प्रतिभाऽस्य हेतुः। xxx अस्य काव्यस्पेदं प्रधानं कारणम्। व्युत्पत्यभ्यासौ तु प्रतिभाया एव संस्कार काविति वक्ष्यते।' (काव्यानुशासन) अज्ञान के मायावरणों के हट जाने पर उद्भासित चैतन्य का प्रकाश ही 'प्रतिभा' है।

'काव्य हेतु' चिन्तन-परम्परा की मान्यताओं को हम दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं - (1) वे आचार्य जो प्रतिभा-व्युत्पत्ति-अभ्यास तीनों को काव्य हेतु मानते हैं; और (2) वे आचार्य जो केवल 'प्रतिभा' को ही सृजन का मूल घोषित करते हैं -

(क) मम्मट, दण्डी, राजशेखर तीनों को महत्व देते हैं।

(ख) भामह, वामन, आनन्दवर्धन, राजशेखर, केशव मिश्र, वाग्भट्ट, रुद्रट तथा पण्डितराज जगन्नाथ - प्रतिभा के प्राधान्य को घोषित करते हैं।

पण्डितराज जगन्नाथ ने मीमांसा, न्याय तथा वेदान्त तीनों दर्शनों का उपयोग करते हुए काव्य हेतुओं पर विचार किया है। उनके निष्कर्ष इस प्रकार रखे जा सकते हैं -

1. प्रतिभा का मूल रूप प्रतिभात्व है जो अखण्ड उपाधि है।
2. रमणीय अर्थों तथा तद्नुरूप शब्दों की उद्भावना प्रतिभा का कार्य है।
3. व्युत्पत्ति एवं अभ्यास तथा अदृश्य-शक्ति, काव्य-प्रतिभा के उन्मीलक हेतु हैं। ये हेतु विविध रूप हो सकते हैं। प्रतिभा का उन्मीलित रूप भी विविध होता है।
4. सभी कवियों में एक-सी प्रतिभा नहीं होती। अतः प्रतिभा की अनेकरूपता काव्य की विलक्षणता का स्पष्ट संकेत है।
5. काव्य का कारण केवल प्रतिभा है। प्रतिभा, व्युत्पत्ति, अभ्यास तीनों नहीं हैं।
6. काव्य की संघटना अथवा रचना के अनुकूल शब्दों और अर्थों का संयोजन ही प्रतिभा का मूल कार्य है।

2.4.3 व्युत्पत्ति

राजशेखर ने प्राचीन आचार्यों के मतों पर विचार करते हुए व्युत्पत्ति का अर्थ किया है - 'बहुज्ञता'। संस्कृत काव्यशास्त्र के लगभग सभी आचार्यों को यही मत मान्य है। राजशेखर ने स्वयं अपना मत व्युत्पत्ति पर देते हुए कहा है कि 'उचित-अनुचित का विवेक ही व्युत्पत्ति है।' आचार्यों ने व्युत्पत्ति को प्रतिभा का 'संस्कारक', 'उपकारक', 'पोषक' कारण माना है। अकेले आचार्य मंगल ने कहा है कि प्रतिभा से व्युत्पत्ति श्रेष्ठ है किंतु इस मत को न तो समर्थन मिला है और न ही कोई चर्चा हुई है। कवि-कर्म की कसौटी है भाव की सम्प्रेषणीयता। कवि अपनी अनुभूति को 'निर्वैयक्तिक' बनाकर ही सफल होता है। पर हृदय को प्रभावित करने या पकड़ने की ताकत कवि में तभी आती है जब उसमें 'लोक-हृदयता' होती है। इस लोक-हृदयता के लिए कवि से व्यापक लोक-ज्ञान की अपेक्षा रहती है। इस प्रकार, कवि-प्रतिभा से व्युत्पत्ति का निकट संबंध है।

2.4.4 अभ्यास

काव्य-सृजन के लिए 'अभ्यास' की उपादेयता से भला कौन इनकार कर सकता है। काव्य केवल कवि की स्वानुभूति ही नहीं है वह साधना है, तप है, चित्त योग है, भाव-योग है, समाधि है। प्रतिभावान कवि निरंतर साधना से, तप से प्रतिभा को तपाता है, उसको निखारता-दमकाता है। यही कारण है कि कालिदास हों या जयशंकर प्रसाद - उनकी आरंभिक तथा आगे की रचनाओं में महान अंतर दिखाई देता है। 'प्रेमपथिक' के कवि ने 'कामायनी' तक आते-आते अपनी कला का अद्भुत विकास किया है। राजशेखर ने 'काव्य-मीमांसा' में कहा है कि 'निरंतर प्रयास करते रहने को अभ्यास' कहते हैं। सभी आचार्यों ने अभ्यास को प्रतिभा का पोषक हेतु माना है। दण्डी ने प्रतिभा को सर्वोपरि मानने पर भी कहा है कि 'पूर्व-वासनाजन्य अद्भुत प्रतिभा के न रहने पर भी शास्त्र के निरंतर अध्ययन और अभ्यास से वाग्देवी या सरस्वती प्रसन्न होती है। पर अभ्यास में 'समाधि' चाहिए। चित्त की एकाग्रता के बिना अभ्यास में तेज पैदा नहीं होता। लोक-जीवन में कहा जाता है कि 'करत करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान। रसरी आवत जात ही सिल पर परत निसान।' निरंतर रस्सी की रगड़ पत्थर पर निशान छोड़ देती है - 'अति की रगड़ करै जो कोई। अग्नि प्रकट चन्दन तै हौई।।' निरंतरता ही तप है - 'तप बल विष्णु करहि संहारा।'

2.4.5 भावयित्री-प्रतिभा की उपादेयता

कारयित्री प्रतिभा का संबंध कवि की काव्य-निर्माण शक्ति है तो भावयित्री प्रतिभा का संबंध भावक प्रमाता अथवा सहृदय की भावन-आस्वादन शक्ति से। राजशेखर स्पष्ट कहते हैं कि भावक के कारण ही कवि का व्यापार-तरु (कवि कर्म)सफल होता है। ज़ाहिर है कि भावक की प्रतिभा में ही कवि-प्रतिभा के तत्व अंतर्निहित होते हैं। स्मृति-मति या प्रज्ञा का महत्व कवि की भाँति सहृदय के लिए भी है। काव्यास्वादन की प्रक्रिया में भावयित्री प्रतिभा परम उपादेय हैं। काव्यानंद जिस व्यंग्यार्थ में निहित है उसे तो प्रतिभावान सहृदय ही भोग सकता है। मम्मट का 'प्रतिभाजुष' शब्द सहृदय की ही बोधक अवधारणा है। वाच्यार्थ का बोध तो सामान्य व्यक्ति कर सकता है किंतु व्यंग्यार्थ का भोग विशिष्ट पाठक या प्रतिभावान व्यक्ति ही कर सकता है। काव्यास्वादक से प्रतिभा का सहकारित्व होना ही अभिनव के मत से व्यंजना का प्राण है। व्यंजना को ग्रहण कर पाने में असमर्थ व्यक्ति ही 'अरसिक' है और अरसिक से काव्य-निवेदन नहीं करना चाहिए - 'अरसिकेषु काव्यनिवेदनं मा कुरु मा कुरु।' आचार्यो ने स्पष्ट कहा है कि 'सवासन्' (संस्कारी पाठक या दर्शक) व्यक्तियों को ही काव्य-नाटकादि में रस प्रतीति होती है तथा 'निर्वासन' व्यक्तियों की स्थिति काव्य-पाठ या नाट्य गृह में पाषाण और दीवार के समान है। शुष्कता के कारण ही आचार्यो ने वैयाकरणों को काव्यार्थ-बोध का अनधिकारी कहा है। शब्द के व्यंजक व्यापार की जो ध्वनि न समझता हो वह 'विदग्ध' जन नहीं है, काव्य का अधिकारी नहीं है। हिंदी आलोचना में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी की विदग्धता-सहृदयता को हम सभी सराहते हैं। आज की आलोचना में तो भावक या आलोचक को इतना महत्व मिल रहा है कि आलोचना-कर्म, कवि-कर्म से कम सृजनात्मक नहीं माना जा रहा है। आ. रामचन्द्र शुक्ल का 'तुलसीदास', आ. हज़ारी प्रसाद द्विवेदी का 'कबीर', विजयदेव नारायण साही का 'जायसी' सृजनात्मक आलोचना की बड़ी उपलब्धियाँ हैं।

2.5 प्रतिभा और कल्पना

भारतीय काव्य-चिंतन के अनुसार प्रतिभा की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता है - नूतन सृजन की क्षमता। अभिनवगुप्त ने प्रतिभा को 'नवनवोन्मेषशालिंनी प्रज्ञा' कहा है। 'प्रतिभा' की इस अवधारणा को अभिनवगुप्त ने प्रायः चर्चा का विषय बनाया है। जैसे प्रतिभान को 'वर्णनीय वस्तु-विषय का नूतन रूप' देने की बात 'प्रतिभानं वर्णनीय वस्तु विषयनूतनोल्लेखशालित्वम्।'

वक्रोक्तिकार ने 'वक्रोक्तिजीवितम्' में नूतनता या अपूर्वता की स्पष्ट व्याख्या की है। नूतनता या अपूर्वता का अर्थ है जिसका उल्लेख पहली बार किया गया है 'अपूर्व' है - 'नूतनोल्लेख-लोकातिक्रान्तगोचर निर्मिति।' अर्थात् अपूर्व में कवि लोक का अतिक्रमण करता है। वह ऐसे पदार्थ का निर्माण करता है जो प्रसिद्ध व्यवहार को तिरस्कृत कर देता है किंतु इसका अर्थ यह नहीं कि कवि किसी ऐसे पदार्थ का निर्माण करता है जो अविद्यमान हो। वर्ण्यमान विषय में कवि ऐसा वैशिष्ट्य पैदा कर देता है जो सहृदय के चित्त को चमत्कृत कर देता है। यही 'अपूर्व रमणीयता' है। प्रकृति में सभी चीज़ें पहले से ही मौजूद हैं किंतु कवि उनका ऐसा वर्णन करता है कि अपूर्व सौंदर्य की सृष्टि होती है। कालिदास का 'मेघदूत' तथा जयदेव का 'गीत गोविन्द' वर्णन अपूर्वता के उदाहरण हैं। कवि-कर्म क्या

है? वागर्थ की प्रतिपत्ति। शब्द अर्थ के द्वारा एक नूतन सृष्टि या सौंदर्य। अभिनवगुप्त ने कुन्तक से अलग अपूर्वता की व्याख्या शैवागम के आधार पर की है। इस 'अपूर्व' को कुमारस्वामी ने 'वस्तु-रूप-रस की रमणीयता' कहा है।

पाश्चात्य काव्य-चिंतन में 'कल्पना' का वही स्थान है जो भारतीय काव्य-चिंतन में 'प्रतिभा' का। वहाँ कल्पना काव्य का साध्य भी है और साधन भी! किंतु भारतीय चिंतन कल्पना को साधन रूप में ही स्वीकार करता है 'साध्य' रूप में नहीं। आ.शुक्ल बार-बार कहते हैं कि पश्चिम में कल्पना की इतनी मुनादी हुई कि सारा कवि-कर्म उसी पर केंद्रित हो गया। फिर सर्जनात्मक कल्पना (creative imagination) की सत्ता को साहित्य समीक्षा के क्षेत्र में स्वच्छंदतावादियों ने - विशेष कर वर्डसवर्थ और कॉलरिज ने - सुस्पष्ट रीति से घोषित किया। कल्पना-सिद्धांत की घोषणा में कॉलरिज की पुस्तक 'बायोग्रैफियालिटरेरिया' की बड़ी भूमिका रही है। इस ग्रंथ के तेरहवें अध्याय में उन्होंने कल्पना के स्वरूप का निर्धारण किया। कुछ विद्वानों का कहना है कल्पना-सिद्धांत में कॉलरिज का कुछ नहीं है, जो कुछ है काण्ट और हीगल (जर्मन दार्शनिक) का है। यह भी कहा जाता है कि कॉलरिज 18वीं शताब्दी के नवप्लेटोवादियों से प्लाटिनस से प्रभावित थे। शेक्सपियर के कथन में भी यह बात है कवि, प्रेमी और पागल तीनों में कल्पना की प्रचुरता होती है। कॉलरिज ने फैन्सी तथा इमैजिनेशन की भिन्नता को प्रतिपादित करते हुए कल्पना के दो रूप किए - (1) प्राइमरी इमैजिनेशन - भावयित्री प्रतिभा या ग्राहक की कल्पना, और (2) सेकेण्डरी इमैजिनेशन - उत्तरजात कल्पना या कारयित्री प्रतिभा या कवि-प्रतिभा। उत्तरजात कल्पना ही कवि की रूप-विधायिनी शक्ति है। इसे ही कॉलरिज ने 'इसैम्पलैस्टिक पॉवर' (Esemplastic Power) कहा है। कॉलरिज के बाद आई.ए. रिचर्डस ने भी माना कि कल्पना द्वारा निर्मित रूप-विधान बाहर से आरोपित नहीं होता बल्कि अंतःप्रेरणा से उद्भूत होता है। विचार, भावना और पदार्थ के संयोग से सर्जनात्मक कल्पना नूतन सृष्टि करती है। जाहिर है कि 'प्रतिभा' तथा 'कल्पना' में पर्याप्त समानता मिलती है। पर 'प्रतिभा' जैसी भारतीय अवधारणा के समान पाश्चात्य-चिंतन में कोई एक अकेली अवधारणा नहीं है। यह सच है कि भारत के समान पश्चिम में भी दार्शनिक स्तर पर सृजन-शक्ति के विषय में सूक्ष्म-गहन चिंतन हुआ है। वहाँ कुछ चिंतन 'सृजनात्मक सहजानुभूति' (क्रियेटिव इंट्यूशन) के अंतर्गत हुआ और कुछ 'सृजनात्मक कल्पना' के अंतर्गत। फ्रांसीसी सौंदर्यशास्त्री ज्याक मारिते ने 'आत्मा की सृजनशीलता' (क्रिएटिविटी ऑफ स्पिरिट) तथा 'सृजनशील आत्मा की स्वतंत्रता' (फ्रीडम ऑफ दि क्रिएटिव स्पिरिट) की पर्याप्त चर्चा की है। हिंदी मे अज्ञेय के कवि-काव्य के चिंतन संदर्भ में ज्याक मारिते की गूँज-अनुगूँज सुनाई देती है। सृजनशीलता ही ऐसी शक्ति है जो मानव को अन्य प्राणियों से अलग करती है। सृष्टि में मानव अकेला प्रतीक-स्रष्टा प्राणी है। सहजानुभूति को सृजन-शक्ति मानने वालों में बर्गसाँ, क्रोचे आदि प्रमुख हैं। हिंदी में ग.मा.मुक्तिबोध ('फैण्टेसी' के प्रधान कवि) ने माना है कि वे आरंभ में बर्गसाँ के चिंतन से प्रभावित रहे हैं। यह बात मुक्तिबोध ने 'तारसप्तक' के कवि-वक्तव्य में स्वयं स्वीकार की है।

2.6 पश्चिम में काव्य प्रेरणा संबंधी चर्चा

पश्चिम के सृजन-प्रेरणा संबंधी सिद्धांतों की एक संक्षिप्त रूपरेखा हम इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं।

2.6.1 काव्य प्रेरणा : दैवी प्रेरणा

पश्चिम में 'काव्य प्रेरणा' पर विचार करने की एक दीर्घ परम्परा है। पश्चिमी साहित्य में होमर ने इस परम्परा का सूत्रपात किया और तब से यह परम्परा किसी न किसी रूप में मिलती है। होमर ने अपने दोनों प्रख्यात महाकाव्यों 'इलियड' और 'ओडसी' के आरंभ में 'म्यूज' अर्थात् 'विद्या की देवी सरस्वती की स्तुति की है तथा उससे काव्य-सृजन-शक्ति की याचना की है। होमर को विश्वास था कि काव्य का मूल स्रोत किसी ऐसी पारलौकिक शक्ति में है जिसपर कवि का कोई नियंत्रण नहीं है। हिसियाड ने स्पष्ट कहा कि म्यूज ने कृपापूर्वक काव्य-रचना की शक्ति उसे प्रदान की है। प्राचीन यहूदी संतों के वचन तथा बाइबिल के संकेत तथा प्रेरणा का ग्रहण एवं प्रकाशन करने वाला मनुष्य असाधारण होता है।

काव्य प्रेरणा की प्रक्रिया पर प्लेटो के विचार न केवल ऐतिहासिक महत्व के हैं, बल्कि उनका तात्त्विक मूल्य भी कम करके नहीं आँका जा सकता। 'फैड्रस', 'इऑन' के संवादों में प्लेटो ने काव्य प्रेरणा पर बहुत कुछ कहा है।

सुकरात ने इऑन से कहा - 'जो शक्ति तुम्हें प्राप्त है वह कला नहीं है। किंतु जैसा कि मैंने अभी बताया है. वह 'प्रेरणा' है। तुम्हें एक दैवी-शक्ति परिचालित कर रही है, वह ऐसी शक्ति के समान है जो उस प्रस्तर-खण्ड में निहित रहती है, जिसे यूरुपिडीज ने 'चुम्बक' की संज्ञा दी थी। किंतु जो सामान्यतः हेरेक्ली का प्रस्तर कहलाता है। यह प्रस्तर न केवल लोहे की अँगूठियों को स्वयं आकृष्ट करता है अपितु उन्हें अन्य लोहे की अँगूठियों को आकृष्ट करने की शक्ति भी प्रदान करता है और कभी-कभी हम कई लोहे के खण्डों, अँगूठियों को आकर्षण के द्वारा एक श्रृंखला में सम्बद्ध पाते हैं। xxx इस भाँति म्यूज (विद्या की देवी) सर्वप्रथम कतिपय व्यक्तियों को प्रेरित करती है और इन अनुप्रेरित व्यक्तियों से अन्य प्रेरणा प्राप्त जनों की श्रृंखला जुड़ी रहती है, जो म्यूज द्वारा प्रेरित जनों से निरन्तर प्रेरणा प्राप्त करते रहते हैं। क्योंकि सभी उत्कृष्ट कवि चाहे वे महाकाव्य प्रणेता हों या मुक्तक प्रणेता हों, अपने सुंदर कला की रचना कला द्वारा नहीं करते, बल्कि उस प्रेरणा द्वारा करते हैं जो उन्हें प्रेरित और अभिभूत करती है। और जैसे कोरिबेष्टियन आमोद-प्रमोद करने वालों के मन में नृत्य करते समय विक्षेप होता है वैसे ही मुक्तक रचने वाले कवियों के मन में विक्षेप होता है। XXX कवि मनुष्यों के बारे में अनेक सुंदर बातें कहते हैं, किंतु जैसा तुमने स्वयं होमर के विषय में बताया है, वे उनके बारे में कला के नियमों द्वारा कथन नहीं करते, वरन वही बातें कहते हैं जिनके लिए 'म्यूज' उन्हें प्रेरित करती है।' प्लेटो ने कहा कि कवि में 'दिव्य पागलपन' (डिवाइन इनसेनिटी) होता है ईश्वर कवियों की चेतना को अपने वश में किए रहता है। प्लेटो के बाद भी परम्परा उन चिंतकों की कम नहीं रही है जो मानते रहे हैं कि प्रतिभावान व्यक्ति में विक्षेपयुक्त मनःस्थिति होती है। होरेस ने काव्य के लिए प्रेरणा को अनिवार्य माना। इसी परम्परा में मिल्टन ने कहा कि प्रेरणा में सृजनात्मक कल्पना की अग्नि होती है जिसे देवदूत ईश्वर के राज्य से लाकर भाग्यवान कवियों को प्रदान करते हैं।

ऐसे भी विद्वान हैं जो प्रेरणा को काव्य का सर्वस्व न मानकर सृजन में कवि के चेतन प्रयास की ही सत्ता-महत्ता मानते हैं। लेकिन ये विचारक भी प्रेरणा को अस्वीकार करने का साहस नहीं रखते हैं। वर्जिल, दान्ते, टैसो, मिल्टन आदि महान सर्जक सृजन के किसी न किसी भाग में दैवी-शक्ति का आवाहन करते हैं। दिलचस्प तथ्य यह है कि ईसाई धर्म के प्रचारोपरान्त भी यूनानी देवी-देवताओं की आदर-पूजा का भाव कम न हुआ। उदाहरण के लिए, दान्ते ने अपोलो देवता का स्तवन किया है और कट्टर ईसाई होने पर भी मिल्टन यूरैनिया से शक्ति-याचना करते मिलते हैं।

आधुनिक काल में काव्य प्रेरणा से संबंधित धारणा में थोड़े-बहुत परिवर्तन हुए हैं। शेक्सपियर अनेक स्थलों पर कवि-प्रेरणा से उद्भूत सर्जनात्मकता की बात करते हैं। ड्राइडेन ने तो स्पष्ट कहा है कि शक्तिशाली प्रेरणा के बिना काव्य-सृजन संभव ही नहीं है। स्वच्छंदतावादी युग में ब्लेक का काव्य-सृजन काव्य प्रेरणा, विशेषकर दैवी-प्रेरणा का पर्याय रहा। कॉलरिज, वर्डसवर्थ, शैली - सभी न केवल काव्य प्रेरणा की चर्चा करते हैं, बल्कि काव्य प्रेरणा पर गंभीरता से विचार करते हैं। इतना ही नहीं, रैम्बू से मलार्मे तक ऐसा कौन प्रतीकवादी कवि है जो दैवी-प्रेरणा से आक्रान्त नहीं है। बादलेयर, वर्लेन, वेलरी, रिल्के येट्स - सभी दैवी प्रेरणा की पुकार मचाते हैं और कहते हैं कि प्रेरणा का क्षण छोटा पर तीव्र और भीतर तक प्रकाश पैदा करने वाला होता है। शक्तिशाली प्रेरणा क्षणों में रची गई कविताओं में अनुभूति की घनता लाजवाब होती है।

काव्य प्रेरणा पर विचार करने वाले एक तरह के वे विचारक भी हैं जो मानते हैं कि काव्य प्रेरणा कवि के अंतःकरण में जन्म लेती है। शैली ने कहा, 'कविता तर्क की भाँति कोई शक्ति नहीं है जिसका व्यवहार इच्छापूर्वक किया जा सकता है। कोई आदमी नहीं कह सकता कि मैं कविता करूँगा। बड़ा से बड़ा कवि भी नहीं कह सकता क्योंकि सर्जनशील मन बुझते हुए अंगारे की भाँति होता है जिसे कोई अदृश्य हवा अस्थिर झोंके के समान जागृत कर क्षण-भर के लिए प्रज्वलित कर देती है। यह शक्ति आंतरिक होती है जो पुष्प के उस रंग की भाँति होती है जो जिस प्रकार खिलता है वैसे ही परिवर्तित होता है और मुरझा जाता है।' शैली के बाद सौंदर्यशास्त्री क्रोचे ने अंतःकरण में आविर्भूत प्रेरणा को 'सहजानुभूति' (इन्ट्यूशन) के सिद्धांत से प्रस्तुत किया।

एडगर एलेन पो ने प्रेरणा के क्षणिक स्वरूप और विलय की बात उठाई है। उनका मत है कि सर्जनशील काव्य प्रेरणा अल्पजीवी होती है। अतः विशालकाय काव्य-कृतियों में उसका तीव्र सघन उत्कर्ष प्रकट नहीं हो पाता। इस प्रकार काव्य प्रेरणा सिद्धांत को मानने वाले कुछ विचारकों ने मुक्तक या प्रगीतों को प्रबंध काव्य से ज्यादा उत्कृष्ट काव्य माना है। प्रो.सी.एम.बावरा ने माना कि काव्य प्रेरणा किसी भाव, घटना, भावना, स्मृति के साथ उत्पन्न होती है जिससे रचनाकार की अंतर्मानसिकता ही नहीं पूरा व्यक्तित्व आंदोलित होता है। यही 'दैवी उन्माद' (डिवाइन मैडनेस) है।

काव्य प्रेरणाजन्य मन में अनुपम एकाग्रता-तल्लीनता होती है। भारतीय काव्यशास्त्र में राजशेखर द्वारा वर्णित 'समाधि' यही अनुपम एकग्रता अथवा तल्लीनता है। काव्य प्रेरणा में प्रबल आवेग होता है, कवि की धमनियों में वह बिजली-सी कौंधती है। प्रेरणा की धारा में इतनी शक्ति होती है कि कोई उसे रोक नहीं सकता। तुलसीदास ने कहा 'कहे बिनुं मन न रहत' अर्थात् मन की विवशता यह है कि कहे बिना रहा नहीं जाता। स्वयं अरस्तू काव्य प्रेरणा को 'अनुकरण' तथा 'लय और संगीत का सामंजस्य' दो रूपों में स्वीकार करते हैं।

दिलचस्प तथ्य यह है कि काव्य प्रेरणा का क्षण दीर्घजीवी न होने पर भी 'अनन्त' होता है, देश और काल को अनुभूति की एकाग्रता में बाँध लेता है। वर्डसवर्थ तथा शैली दोनों 'अनन्त' की बात उठाकर 'इटरनल', 'इटरनिटी' आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं। यह प्रेरणा 'आनन्द रूप' ही नहीं 'ज्ञान रूप' भी होती है। मूल बात यह भी है कि प्रेरणा का रूप 'कल्पना', 'भावना', 'संवेदना' से भिन्न होता है। प्रेरणा एक अंतर्दृष्टि होती है जो कविता के वर्ण्य विषय और रूप (फार्म) को स्वतः परिवर्तित करती रहती है। रिल्के और टी.एस.एलियट मानते हैं काव्य प्रेरणा अपनी आवश्यकता के अनुकूल नये काव्य-रूपों, प्रयोगों की सृष्टि करती है।

2.6.2 अनुकरण सिद्धांत

अरस्तू का प्रसिद्ध मत है कि अनुकरण जीवन की मूल प्रवृत्ति है। आरंभ में हम सब अनुकरण के द्वारा ही सीखते हैं और अनुकरण से प्राप्त आनंद भी कम सार्वभौम नहीं। कला प्रकृति के माध्यम से जीवन का अनुकरण है। अनुकरण को अरस्तू 'नकल' नहीं मानते हैं। अतः अरस्तू के अनुकरण का अर्थ हुआ - जीवन की पुनर्रचना, पुनः सृजन, पुनः उत्पादन, नवीन निर्मिति आदि। योरोपीय सौंदर्य-दर्शन तथा साहित्यशास्त्र में 'माइमेसिस', 'इमिटेशन' अर्थात् अनुकरण की चर्चा निरंतर होती रही है। अनुकरण का सामान्य अर्थ है - उत्कृष्ट कवियों की कृतियों का अध्ययन और अनुसरण। **होरेस** ने तो यहाँ तक कह दिया कि नवीन रचनाकारों को प्राचीन कृतियों का दिन में अध्ययन और रात्रि में उनपर मनन-चिंतन करना चाहिए। **लांजाइनस** का विचार है कि जिन रचनाकारों को उदात्त भावनाओं की नैसर्गिक उपलब्धि नहीं होती वे महान रचनाकारों की कृतियों के चिंतन-मनन से उन्हें प्राप्त कर सकते हैं। नवजागरण-युग में यह प्रश्न उठाया गया कि कवि को प्राचीन कृतियों का अनुकरण करना चाहिए अथवा प्रकृति का। लगभग तीन सौ वर्षों तक यह विवाद चलता रहा और अंत में तय हुआ कि प्रकृति का अनुकरण ही श्रेयष्कर है। स्वच्छंदतावादियों ने 'प्रकृति' को केंद्रीयता प्रदान की और विशुद्ध प्राकृतिक उपादानों को ही कलात्मक सृजन का आधार माना। तत्पश्चात् अनुकरण सिद्धांत की नवीन व्याख्याएँ हुईं और कहा गया कि कला प्रकृति का अनुकरण नहीं करती अपितु प्रकृति के उन नियमों का अनुकरण करती है जिनके अनुसार प्रकृति उपादान एवं सृष्टि करती है।

आधुनिक भारतीय विद्वानों ने अरस्तू के 'अनुकरण' और भरतमुनि के 'अनुकरण' की तुलना करते हुए दोनों में समानता के काफी बिंदु खोजे हैं। लेकिन दोनों में दो संस्कृतियों के चिंतन की भिन्नता भी भुलाने की चीज़ नहीं है। संस्कृत में 'अनुकरण' के स्थान पर 'अनुकीर्त्तन' शब्द का प्रयोग होता है। 'अनुकीर्त्तन' शब्द को प्रायः 'अनुव्यवसाय' से जोड़कर व्याख्यायित किया गया है। अभिनवगुप्त ने 'अनुकीर्त्तन' को अलौकिक गति का निरूपण किया है। चिंतन की यह मूलग्राही-सूक्ष्मता 'इमीटेशन' में नहीं मिलती।

2.6.3 प्रतिभास सिद्धांत

पाश्चात्य सौंदर्यशास्त्र में 'प्रतिभास सिद्धांत' की चर्चा हुई है। कला-सृजन को अनुकरणात्मक प्रक्रिया स्वीकार करने पर मानना पड़ता है कि कला में जीवन के सत्यों का अनुकरण होता है। ऐसी स्थिति में अनुकरण का अर्थ हुआ जीवन की पुनर्रचना। कलाकृति का तात्कालिक प्रभाव 'सत्य से पृथकता' के रूप में होता है। इस 'अदरनेस फ्राम रियलिटी' के रूप में एक ऐसी 'प्रतिभास' प्रतीति होती है जो कलाकृति के विधायक तत्वों में अंतर्व्याप्त रहती है। कलाकृति में जो भी व्यक्त होता है उसे **शिलर** ने एक प्रकार का 'प्रतिभास' माना है। यह प्रतिभास जीवन जगत की नीरस वास्तविकताओं के बीच एक अजनबी मेहमान की भाँति होता है। इसे ही अजनबीपन या पृथकता कहा जा सकता है। स्वयं मनोविश्लेषणशास्त्री **युंग** ने कलावस्तु को 'प्रतिभास' कहा है और स्वप्न का दृष्टान्त देकर अपनी बात को समझाया है। कला, यथार्थ का भ्रम है और कलाकृति का प्रभाव, स्वप्न प्रभाव की भाँति होता है। भारतीय परंपरा में भरत ने नाट्य में 'अनुकीर्तन' को 'अनुव्यवसाय-विशेष' से जोड़ा है। इस विचार में 'नाट्य-भ्रान्ति' का सिद्धांत प्रतिपादित किया। भट्टलोलट ने 'उत्पत्तिवाद' और शंकुक ने 'अनुमितिवाद'

की चर्चा में 'नाट्य-भ्रान्ति' की स्थापना की है। मूल बात यह है कि सफल नाट्य-भ्रान्ति पैदा कर देना ही कला-सौंदर्य है।

2.6.4 आत्माभिव्यक्ति का सिद्धांत

पश्चिम में ऐतिहासिक दृष्टि से आत्माभिव्यक्ति-सिद्धांत का रिश्ता रोमाण्टिक चिंतनधारा के काव्य-सृजन से जोड़ा जाता रहा है। 'लिरिकल बैलेड्स' की भूमिका में **वर्डसवर्थ** ने इस सिद्धांत का प्रथम दस्तावेज़ प्रस्तुत किया है। यदि और खोजबीन करें तो इस सिद्धांत के बीज प्लेटो और लांजाइनस के 'उदात्त के विषय में सिद्धांत में भी मिल जाते हैं। अनुभूति के आवेग को लांजाइनस ने 'उदात्त' में स्पष्टता से स्थान दिया है। पश्चिम के अभिव्यंजनावादियों का मूल सिद्धांत भी यही है कि कविता प्रबल प्रेरणा प्रसूत अनुभूति के आवेग से संचालित होने वाली कला है। इस प्रकार पश्चिम का आत्माभिव्यक्ति-सिद्धांत मूलतः अभिजात्यवादी (क्लासिकल) तथा नव्य-शास्त्रवादी (पोप-ड्राइडन आदि) सिद्धांतों के विरुद्ध पैदा हुआ सिद्धांत है। आत्माभिव्यक्ति-सिद्धांत में व्यक्तिवाद की प्रतिष्ठा का एक अर्थ यह भी है कि वह व्यक्ति के आंतरिक आवेग और आवेश को कला-सृजन के लिए महत्वपूर्ण 'कारक' मानता है। इसीलिए इस सिद्धांत का केंद्र 'कवि' है, काव्य नहीं। रोमानी कवियों ने प्रकृत-सहज भाव-शक्ति को अत्यधिक महत्व दिया। कवि का कर्म आंतरिक भावों की सहज-प्रबल अभिव्यक्ति के कारण ही 'सृजन' हो गया। यह भी कहा गया कि काव्य-रचना मूलतः वैयक्तिक प्रयास है, व्यक्ति की मानसिक-दशा की अभिव्यंजना है। इस प्रकार, सृजन आत्म-साक्षात्कार के क्षणों की अनिवार्य प्रक्रिया है। एक ऐसी प्रक्रिया जिसमें 'अनुभूति' या राग-तत्व पर बल अधिक है। कवि मूलतः सामान्य प्राणियों की तुलना में अधिक संवेदनशील, कल्पनाशील होता है। वर्डसवर्थ की काव्य-परिभाषा से स्पष्ट है कि कविता अंतःस्फूर्त भावों की तीव्रतम अभिव्यक्ति है या भाव-उच्छलन है। अभिव्यक्ति की सहजता का रोमाण्टिक विचार-धारा में विशेष महत्व है। इसी 'सहजता' के आधार पर कला-सृजन की निष्प्रयोजनीयता का प्रतिपादन किया गया है।

2.6.5 इच्छा-पूर्ति का सिद्धांत

इस सिद्धांत के प्रवर्तक आचार्य सिगमंड **फ्रायड** माने जाते हैं। फ्रायड के मनोविश्लेषण में 'अवचेतन' का बड़ा महत्व है। अवचेतन के अध्ययन से ही फ्रायड ने कहा कि जीवन में अतृप्तियों की भूमिका प्रबल होती है। रचनाकार इन अतृप्तियों की पूर्ति का रचना में प्रयास करता है। कला अतृप्तियों की तृप्ति का प्रयास है। रचनाकार को 'मनोरोगी' कहते हुए फ्रायड ने 'स्वप्न सिद्धांत' का विस्तार से तथा कला-सृजन को 'फैण्टेसी' और 'शिशु-क्रीड़ा' से जोड़ दिया। कला-सृजन में कलाकार 'शिशु' की तरह आचरण करता है, दिवास्वप्नों तथा 'फैण्टेसियों' का निर्माण करता है। कवि की पूरी प्रतीक-बिम्ब व्यवस्था में आंतरिक अवचेतन में उमड़ती-घुमड़ती दमित वासनाएँ ही रूप बदलकर अभिव्यक्ति पाती हैं। भीतरी मन की विकृतियों के बाहर निकास से कला-सृजन में विरेचन या भाव-शुद्धीकरण की प्रक्रिया रहती है। 'फैण्टेसी' स्वयं विश्रान्ति का स्थल है जहाँ जीवन के भयंकर तनावों-दुःखों-अपूर्णताओं से घबराकर हम विश्रामजन्य शान्ति का अनुभव करते हैं। दुःखते-कसकते अनुभवों के घावों से भरा रक्त बह जाता है और थोड़ी देर के लिए हमें दर्द से निजात मिल जाती है। पद-प्रतिष्ठा, नारी-प्रेम, धन-सम्पत्ति के अभाव में हम काल्पनिक सुखलोक का निर्माण कर लेते हैं। लेकिन वहाँ स्थायी निवास नहीं कर सकते। इसलिए पुनः जीवन-जगत की कठोर वास्तविकताओं में लौटते हैं। इस प्रकार कला-सृजन यथार्थ से दिवास्वप्न (फैण्टेसी) और दिवास्वप्न से पुनः यथार्थ की ओर अंतर्यात्रा है। इसीलिए फैण्टेसी इकहरे अनुभवों से नहीं जटिल-दुरूह-संश्लिष्ट अनुभवों से निर्मित होती है। हिंदी में 'कामायनी' और ग.मा.मुक्ति की कविता 'अंधेरे में' को इस कला-दृष्टि से देखा गया है और इस उधेड़-बुन से महत्वपूर्ण विचार-कण हाथ लगे हैं। कॉलरिज की फैण्टेसी 'कुबला खाँ' हो या प्रसाद की फैण्टेसी 'कामायनी' हो - फ्रायड की यह मान्यता इनसे पुष्टि पाती है कि जाति-विशेष के अवचेतन में संचित स्मृति-राशि का कलाकार कला में उपयोग कर लेता है, पुराण कथाएँ, देव-आख्यान आदि के द्वारा। इसलिए कला और कलाकार दोनों 'परम्परा' हैं 'इतिहास अनुभव-पुंज' हैं।

2.6.6 अधिकार भावना का सिद्धांत

फ्रायड ने यौन-भावना को जीवन की केंद्रित प्रेरणा-शक्ति माना है, लेकिन मनोविश्लेषणवादी एडलर ने 'अधिकार-भावना' को। एडलर के मत से मानव को तीन क्षेत्रों में समायोजन करना पड़ता है - (1) समाज (2) कार्य (3) प्रेम। इस तीन प्रकार के समायोजन में बचपन के अनुभव साधक या बाधक बनते हैं। शिशु असहाय रूप में जन्म लेता है, उसे दूसरों पर निर्भर रहना पड़ता है। इस तरह हर कदम पर 'असहाय बोध' दृढ़ होता है। असहायता या हीनता के तीन क्षेत्र हैं - (1) विषम परिस्थितियाँ

(2) अनुचित व्यवहार (3) आंगिक हीनता। इन तीनों क्षेत्रों में से किसी एक क्षेत्र की भी असहायता उसमें 'कुंठा' को जन्म देती है, वह मनस्ताप का शिकार हो जाता है। अतः मनस्ताप के निदान के लिए चिकित्सक को बचपन का इतिहास जानना जरूरी हो जाता है।

असहायता की भावना की प्रतिक्रिया तीन रूपों में व्यक्त हो सकती है - (1) सफल क्षतिपूर्ति (2) पराजय के बाद आत्म-केंद्रित हो जाना या कर्म से पलायन करना (3) अति-क्षतिपूर्ति या समझौतापरस्ती की प्रवृत्ति का बढ़ना। किसी एक दिशा में ऊर्जा का प्रवाह अवरुद्ध होकर दूसरी दिशा में उत्कर्ष का साधन बनता है। यही सफल क्षतिपूर्ति है। सूरदास या मिल्टन अंधे थे, पर उन्होंने सृजन में विस्मयकारी सफलता प्राप्त की। क्षतिपूर्ति करने वाला व्यक्ति 'नॉर्मल' होता है और अतिक्षतिपूर्ति करने वाला 'एबनॉर्मल'। मानव के निर्माण में सर्वाधिक महत्व समाज-इतिहास-संस्कृति का होता है। 'हीनता-ग्रंथि' को हटाने के लिए खुली सामाजिकता अनिवार्य है। क्षतिपूर्ति ही जीवन और सृजन की मूल प्रेरणा है। इसी से 'अधिकार-भावना' की पूर्ति होती है।

2.6.7 प्रजातीय स्मृति का सिद्धांत

फ्रायड के समान **युंग** ने भी माना है कि अवचेतन का महत्व बहुत अधिक है। किंतु 'अवचेतन' के स्वरूप को लेकर दोनों में भेद हैं। फ्रायड के अवचेतन का निर्माण दमित यौन भावना से जुड़ा है, दमित इच्छाएँ अवचेतन में संचित होती हैं। युग मानते हैं कि अवचेतन में ऐसे तत्व भी वर्तमान हैं जो कभी व्यक्तिगत अनुभव की सीमा में आते ही नहीं। वे कभी चेतन रहे ही नहीं पर पुरातन और सर्वव्यापी हैं। इसके लिए युंग ने 'प्रजातीय स्मृति-सिद्धांत' (रेशियल मेमरी) की महत्व-प्रतिष्ठा की। प्रत्येक मानव में 'आदिम अवचेतन' (प्रिमिटिव अन्कॉन्शस) रहता है जो विश्व-व्यापी, सामूहिक, पुरातन और निर्वैयक्तिक हुआ करता है। युंग ने अवचेतन के दो भाग माने - (1) वैयक्तिक अवचेतन (2) सामूहिक या प्रजातीय अवचेतन। सामूहिक अवचेतन में सामूहिक विश्वास तथा मिथकों का भण्डार रहता है। सामूहिक अवचेतन का तल ही मानव-इतिहास का विश्व-अनुभव पुंज है। इस प्रकार, मन के तीन स्तर हैं - (1) चेतन मन (2) वैयक्तिक अवचेतन मन (3) सामूहिक अवचेतन मन। सामूहिक अवचेतन विचारों को युंग 'आद्य-प्ररूप' 'आद्य बिम्ब' (आर्किटाइपल इमेज) कहते हैं। युग मानते हैं कि कला-सृजन 'सामूहिक अवचेतन' की अभिव्यक्ति है और कलाकार 'सामूहिक मानव' होता है। रचनाकार की सृजन-निर्वैयक्तिकता में परम्परा-इतिहास सब कुछ बोल रहा होता है। 'कामायनी' में प्रसाद और उनका युग ही नहीं बोलता है - हमारे आदिम पुरखे तक बोल रहे होते हैं। टी.एस. एलियट ने 'ट्रेडिशन एण्ड इंडिवुजुअल टेलेण्ट' निबंध में सामूहिक अवचेतन सिद्धांत का व्यावहारिक रूप ही 'परम्परा' की अवधारणा में अभिव्यक्त किया है।

पश्चिमी जगत में कला-सृजन-प्रेरणा से संबंधित अनेक सिद्धांत समय-समय पर निर्मित होते रहे हैं जिनमें मार्क्सवादियों का 'आर्थिक-चिंतन सिद्धांत' तथा कलावादियों का 'सौंदर्य सिद्धांत' बहुचर्चित रहा है। सौंदर्यवादी मानते हैं कि सौंदर्य ही सृजन की मूल प्रेरणा है। ध्यान में रखने की बात यह है कि सौंदर्यवादियों ने 'सौंदर्य' शब्द का प्रयोग सीमित-संकुचित अर्थ में न करते हुए अर्थ-संदर्भ में प्रयुक्त किया है।

2.7 हिंदी में काव्य प्रेरणा और काव्य हेतु चिन्तन-परम्परा

हिंदी के चिंतकों पर संस्कृत तथा पश्चिमी चिंतन का प्रभाव अनेक रूपों में दिखाई देता है। किंतु विशेष बात यह है कि काव्य प्रेरणा तथा काव्य हेतु दोनों को मिलाकर ही यह चिंतन आगे बढ़ा है। 'काव्य प्रेरणा' से संबंधित पश्चिमी सिद्धांत हिंदी की आधुनिक आलोचना में पर्याप्त स्थान पाते रहे हैं। इतना अधिक कि कई बार तो पाठक को इनमें औपनिवेशिक गुलामी की गंध आती है और लगता है कि आधुनिक-चिंतन का अर्थ हो गया है - पश्चिमी चिंतन की नकल, अनुकृति-प्रभाव।

हिंदी काव्य-चिंतन के भक्तिकाल-रीतिकाल पर संस्कृत काव्यशास्त्र की गहरी छाप है। काव्य हेतु, संस्कृत काव्य का भरा-पूरा विषय रहा है। रीतिकाल के आचार्यगण संस्कृत काव्यशास्त्र के काव्य हेतुओं का ही सही-गलत अनुवाद करते रहे।

आधुनिक काल के आरंभ में **जगन्नाथ प्रसाद 'भानु'** ने अपनी पुस्तक 'काव्य-प्रभाकर' के 'काव्य-कारण प्रसंग' में प्रतिभा, व्युत्पत्ति, अभ्यास की चर्चा की। उनके मत से शक्ति या प्रतिभा पूर्व-संस्कार

है, निपुणता व्युत्पत्ति या लोक-ज्ञान है और अभ्यास अनवरत सेवन। भानु जी ने मराठी के विद्वान चिपलूणकर के इस मत का खण्डन किया है कि काव्य-सृजन के लिए प्रतिभा ही पर्याप्त है। भानु जी के मत पर **कन्हैया लाल पोद्दार** ने (काव्य-कल्पद्रुम रसमंजरी {प्रथम भाग}, पृ.9) अपनी मुहर लगाई और प्रतिभा-व्युत्पत्ति-अभ्यास तीनों को काव्य-सृजन में आवश्यक माना। यही हालत **बिहारी लाल भट्ट** के 'साहित्य सागर' में मौजूद काव्य हेतु चर्चा की है। पूर्व-संस्कार, सद्ग्रंथों का अध्ययन और अभ्यास काव्य-सृजन के लिए आवश्यक हैं। **पण्डित रामदहिन मिश्र** ने काव्य का कारण प्रतिभा, शास्त्राध्ययन और अभ्यास को माना। इसी चिंतन परम्परा को **बाबू गुलाबराय** ने 'सिद्धांत और अध्ययन' में स्वीकार कर लिया। 'साहित्य की मूल प्रेरणाएँ' निबंध में काव्य प्रयोजनों को काव्य प्रेरणाएँ मान लिया और कालिदास के साक्ष्य से कहा कि यश, धन-प्राप्ति ही काव्य की मूल प्रेरणाएँ हैं। बाबू जी ने फ्रायड, एडलर, युंग के काव्य प्रेरणा सिद्धांतों की चर्चा की। **बाबू श्यामसुंदरदास** ने 'साहित्यालोचन' में पश्चिमी प्रभाव लेते हुए काव्य प्रेरणा के लिए मानव में निहित चार मनोवृत्तियों की चर्चा की- (1) आत्माभिव्यंजन की इच्छा (2) मानव-व्यापारों में अनुराग (3) नित्य और काल्पनिक संसार में अनुराग (4) सौंदर्य-प्रियता।

आधुनिक हिंदी साहित्य ने आरंभ से ही साम्राज्यवादी शक्तियों का विरोध किया। नवजागरण के प्रकाश में अंग्रेज़ों की गुलामी से मुक्ति का भाव प्रबल होता गया। 'इस सृजन में देशानुराग, देशाभिमान और देश-भक्ति का भाव-प्रवाह फूट पड़ा। भारतेंदु-युग और द्विवेदी-युग के काव्य की प्रेरणा है - दासता से मुक्ति तथा देश-भक्ति।' **आ.महावीर प्रसाद** द्विवेदी ने 'प्रतिभा' शीर्षक निबंध में देशी-विदेशी मतों की परीक्षा की तथा रीतिवाद का खण्डन किया। जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' के 'छंद प्रभाकर' के परम्परावादी चिंतन का **मैथिलीशरण गुप्त** ने विरोध किया तथा मानव-कल्याणमूलक प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास को काव्य हेतु माना। जबकि गुप्त जी स्वयं 'प्रतिभा' से ज्यादा 'अभ्यास' के कवि रहे हैं।

हिंदी में छायावाद के कवियों और आलोचकों ने काव्य में आत्माभिव्यक्ति-सिद्धांत का पोषण किया। अंतःस्फूर्त अनुभूति ही छायावाद के केंद्र में रही। जयशंकर प्रसाद और डॉ.नगेन्द्र, निराला और नंददुलारे वाजपेयी, हज़ारी प्रसाद द्विवेदी, पन्त, महादेवी, शान्तिप्रिय द्विवेदी सभी स्वच्छंदतावादी कवि और आलोचक अपनी-अपनी शर्तों पर आत्माभिव्यक्ति को ही काव्य प्रेरणा मानते रहे हैं। आत्मनिष्ठता, स्वानुभूति का विस्तार छायावादी काव्य का प्रधान-बिंदु रहा है।'स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह' छायावाद मानने का अर्थ ही है बाह्य इतिवृत्तात्मकता के स्थान पर 'सूक्ष्म-विद्रोह' अर्थात् अंतर्मुखी-आत्मपरक प्रगीत काव्य की सूक्ष्म-सौंदर्य भावना को आदर तथा कलाभिव्यंजना में अपूर्व चमत्कार की सिद्धि। यहाँ प्रतिभा काव्य का प्रधान हेतु है और व्युत्पत्ति तथा अभ्यास संस्कारक-पोषक उपकारण हेतु। डॉ.नगेन्द्र तथा नंददुलारे वाजपेयी ने पश्चिमी चिंतन में पैठ करते हुए फ्रायड जैसे मनोविश्लेषवादी चिंतकों की भी चर्चा की है। इस काल में केवल आ.रामचन्द्र शुक्ल ने 'रस-मीमांसा' के निबंधों में प्रेरणा और हेतु चिंतन पर मौलिक ढंग से विचार किया। 'रसात्मक बोध के विविध स्वरूप' उनका ऐसा ही काव्य प्रेरणा और सृजन-शक्ति पर किया गया मौलिक चिंतन है।

हिंदी के प्रगतिवादी और प्रगतिशील कवि-आलोचकों ने साहित्य को सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन का हथियार माना है। अधिकांश चिंतकों ने कॉडवेल के इस मत का समर्थन किया है कि साहित्य रूपी मोती समाज रूपी सीपी में बनकर तैयार होता है। इसलिए समाज की चेतना ही साहित्य की सृजन प्रेरणा है। डॉ.रामविलास शर्मा ने कर्मरत मानव में आस्था व्यक्त करते हुए अपनी पुस्तकों के शीर्षक रखें - 'आस्था और सौंदर्य' और 'परम्परा का पुनर्मूल्यांकन'। उनके विचार से साहित्य एक सामाजिक-सांस्कृतिक प्रक्रिया है और चेतना का संशोधन-सम्पादन ही 'प्रतिभा' का मूल धर्म है। गजानन माधव मुक्तिबोध ने भी साहित्य को सांस्कृतिक प्रक्रिया मानते हुए तत्व और रूप के प्रति निरंतर साधना-श्रम को सृजन-कर्म की प्रेरणा स्वीकार किया है। उनका प्रसिद्ध कथन है - 'हृदय में संचित प्रतिक्रियाएँ, अनुभव, आवेशमय अनुरोध, अतृप्त स्वप्न-राशियाँ जो हृदय में संचित हैं - उत्थित, तरंगित और प्रवाहित होकर संवेदनात्मक उद्देश्यों की दिशा में, जब उमड़ने लगती है और साथ ही जीवन-दृष्टि से ज्योतित होकर अंतर्नेत्रों के सम्मुख दृश्यमान होने लगती है, तब वस्तुतः हमें एस्थेटिक इमोशन प्राप्त होता है। (नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध, पृ.17) इस एस्थेटिक सेन्स का भण्डार है जनता। प्रतिभा का काम है - कला-सृजन के द्वारा जन के बोध को जाग्रत करना। वे कहते हैं 'सक्षम, सुंदर अभिव्यक्ति तो अविरल साधना और श्रम के फलस्वरूप उत्पन्न होती है।' (वही, पृ.18) बर्गसाँ जैसे दार्शनिक और मनोविश्लेषणवादियों के'फैण्टेसी' चिंतन से भी मुक्तिबोध प्रेरित-प्रभावित हैं। लेकिन

मार्क्सवाद का चिंतन ही उनकी सोच को अधिक प्रभावित करता रहा है। 'रचनाकार का मानवतावाद' इसी में है कि वह जनता के कष्ट को अभिव्यक्ति दे।

नयी कविता के कवि-आलोचक अज्ञेय ने घोषित किया कि **काव्य प्रेरणा काव्य का आभ्यांतरिक उपादान** है तथा कला 'सामाजिक अनुपयोगिता की अनुभूति के विरुद्ध अपने प्रमाणित करने का प्रयत्न, अपर्याप्तता के विरुद्ध विद्रोह है।' हिंदी में अज्ञेय ने फ्रायड तथा एडलर के प्रेरणा-सिद्धांत अपने ढंग से व्याख्यायित और प्रस्तुत किए। उन्होंने 'तार सप्तक' के अपने वक्तव्य में स्पष्ट कहा है कि आज के कवि का मन यौन प्रतीकों से पटा हुआ है।'नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा' शीर्षक निबंध में अज्ञेय ने भारतीय काव्यशास्त्र के आचार्यों की भाँति प्रतिभा को काव्य का प्रधान हेतु मानते हुए अध्ययन (निपुणता) और अभ्यास की अनवरतता को संस्कारक हेतु स्वीकार किया है। उनके मत का सार है कि रचना आंतरिक प्रेरणा के साथ प्रतिभा-अध्ययन-अभ्यास का परिणाम होती है। उनके शब्दों में - 'सृजन-प्रक्रिया की जितनी चर्चा इधर हुई है उससे यह तो स्पष्ट हो ही जाना चाहिए कि सृजन एक यंत्रणा-भरी प्रक्रिया है।' अज्ञेय ने 'भोगने वाले प्राणी' और 'रचने वाली मनीषा' के बीच अलगाव करते हुए टी.एस. एलियट के इस मत को माना है कि भोगने वाले और रचने वाले प्राणी में दूरी होती है। यह दूरी जितनी अधिक होती है रचनाकार उतना ही बड़ा होता है।

अज्ञेय जी के इस कथन से यहाँ यह प्रश्न सहज ही उठता है कि क्या भावों से उन्मोचन ही महत्वपूर्ण है या कि सृजन में इसका भी कुछ मूल्य है कि कवि के वे भाव कितने प्रबल थे और किस प्रेरणा से फूटे थे। इसका उत्तर यह है कि मूल्य अनुभूति की प्रामाणिकता का है नयी कविता में अनुभूति की प्रामाणिकता तथा ईमानदार अनुभूति के प्रश्न पर बार-बार बहुत गहराई से विचार किया गया और कहा गया कि ईमानदार अनुभूति का अर्थ है - जीवन वास्तव का जिया-भोगा अनुभव। यह जिया-भोगा अनुभव ही अनुभूति में कला सृजन की प्रेरणा का रूप धारण कर लेता है। वास्तव में जितीन सच्ची सृजन-प्रेरणा होगी उतना ही उसका प्रभाव शक्ति का विस्तार होगा। सच्चा कवि अपनी प्रतिभा को अभ्यास से निरंतर माँजता और विकसित करता है तथा जीवन-जगत के ज्ञान-विज्ञान से उसे नई चमक देता है। इस स्थिति के कारण सृजन कर्म प्रेरणा से ज्यादा साधना है।

2.8 समाहार और निष्कर्ष

भारतीय और पश्चिमी चिंतकों ने काव्य की प्रेरणा-हेतु पर अपने-अपने ढंग से हर युग में चिंतन किया है। इनके चिंतन का सार है -

1. काव्य-सृजन किसी न किसी प्रेरणा का परिणाम है।
2. काव्य-प्रतिभा काव्य-सृजन का प्रधान हेतु है।
3. निपुणता - ज्ञान-विज्ञान की साधना है।
4. अभ्यास का महत्व इसलिए है कि वह वस्तु और रूप दोनों को माँजता और चमकाता है। चित्त की यही एकाग्रता समाधि है।
5. भावयित्री प्रतिभा काव्य-संस्कार का अंग है।

2.9 शब्दावली

प्राक्तन संस्कार	-	पूर्व जन्म से प्राप्त संस्कार
अंतःप्रज्ञा	-	अंतदृष्टि, अंतज्ञान
काव्य-विदुपासन	-	कविता के जानकारों की उपासना
वाक्-शक्ति	-	वाणी की शक्ति, सरस्वती द्वारा प्रदत्त शक्ति
उन्मीलन	-	विकास, खिलना
त्रिकालदर्शी	-	भूत, भविष्य, वर्तमान - तीनों कालों को देख सकने वाला महान योगी, ऋषि
संवेद्य	-	अनुभव करने योग्य, बताने योग्य
उत्पाद्या	-	अर्जित की हुई

नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा - नए ने नए अर्थ संदर्भों को उद्घाटित करने वाली शक्ति
मनस्ताप - आंतरिक दुख
स्वानुभूति - अपनी भोगी हुई अनुभूति
इतिवृत्तात्मकता - वर्णनात्मकता, स्थूल विवरण की अधिकता

2.10 अभ्यास के लिए प्रश्न

1. भारतीय आचार्यों की काव्य हेतु चर्चा पर विचार कीजिए।
2. 'प्रतिभा' पर विचार करते हुए 'व्युत्पत्ति' तथा 'अभ्यास' पर प्रकाश डालिए।
3. प्रतिभा तथा कल्पना के साम्य-वैषम्य पर विचार करते हुए सृजन कर्म में उनकी भूमिका का महत्व प्रतिपादित कीजिए।
4. पश्चिमी आलोचना सिद्धांतों के आधार पर काव्य प्रेरणा के प्रमुख सिद्धांतों की चर्चा कीजिए।

इकाई 3 काव्य प्रयोजन

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- काव्य प्रयोजन संबंधी चर्चा की आवश्यकता और सार्थकता पर प्रकाश डाल सकेंगे;
- भारतीय और पाश्चात्य जगत के काव्य प्रयोजन विषयक चिंतन के बारे में बता सकेंगे; और
- यह स्पष्ट कर सकेंगे कि साहित्य का प्रमुख प्रयोजन क्या है।

3.1 प्रस्तावना

साहित्य का मूल प्रयोजन या उद्देश्य मानव-संवेदना का विस्तार, संस्कार और परिष्कार करना है। इसी अर्थ में सृजन को सांस्कृतिक-प्रक्रिया कहा जाता है। यह प्रक्रिया मानव की भावात्मक और ज्ञानात्मक संवेदना को संशोधित-सम्पादित करती हुई बृहत्तर मानवीय संवेदना और सामाजिकता में निखार लाती है। देश-काल की समस्याओं, चिंताओं, चुनौतियों, द्वंद्वों-तनावों-संघर्षों के प्रति साहित्य हमें जागरूक बनाता है। सृजन का उद्देश्य यही होता है कि वह मानवीय-चेतना को विकसित करे और मानव-चेतना के सीमांतों का विस्तार करे। मनुष्य की मनुष्यता या मानव की मानवीयता में वृद्धि करे। यही कारण है कि सृजन-कर्म का श्रेय है आनंद और प्रेय है लोकमंगल। इन्हीं दो प्रयोजनों के अंतर्गत साहित्य के सभी प्रयोजन समाहित हो जाते हैं।

देश-विदेश के काव्यशास्त्र में सृजन-प्रेरणा, सृजन-प्रक्रिया, सृजन-हेतु के साथ ही साथ सृजन-कर्म के प्रयोजन या उद्देश्य की चर्चा का आरंभ हुआ है। कारण, मानव का सृजन-कर्म न तो प्रयोजन-रहित होता है और न हो सकता है। आधुनिक युग में काव्य प्रयोजन या सृजन-दृष्टि की चर्चा के अंतर्गत 'विचारधारा' (आइडियोलॉजी) को विशेष रूप से महत्व मिला है। उत्तर-आधुनिकतावाद, 'उत्तर पूँजीवाद' भी एक विचार है, विचारधारा है और उसके पीछे समृद्ध देशों की 'आइडियोलॉजी' है, उपभोक्तावादी साहित्य और संस्कृति का प्रयोजन है।

भारतीय चिंतन-परम्परा आरंभ से ही सृजन-कर्म की महिमा का गुणगान करती रही है। संस्कृत के प्राचीन रचनाकार मंगलाचरण में ही सृजन के प्रयोजनों का प्रायः निर्देश कर देते हैं। संस्कृत के साहित्यशास्त्र-मर्मज्ञ आचार्य भामह, रुद्रट, वामन, कुन्तक, भोज, मम्मट, विश्वनाथ, रसगंगाधरकार आदि ने ग्रंथारम्भ में ही काव्य प्रयोजनों की चर्चा की है। भरत-मुनि ने 'नाट्यशास्त्र' में नाट्य या काव्य

प्रयोजन की विस्तार से चर्चा की है, किंतु इस चर्चा को ग्रंथारंभ में प्रस्तुत नही किया। 'लोक' को 'पंचम वेद' या 'नाट्य वेद' कह देने के पीछे गहरे प्रयोजन-संदर्भ मिलते हैं। शोक से व्याकुल, दुःख से बेचैन, तपस्या की अग्नि से प्रकाशवान, गृहस्थ-तप में संघर्षशील, लोक-कल्याण में समर्पित - सभी तरह के लोगों में यह 'लोक-वेद' नाटक 'विश्रान्ति' या चित्त की थकान को दूर करने वाला कहा गया है।

प्रस्तुत इकाई में काव्य प्रयोजन-चर्चा में भारतीय और पाश्चात्य परम्परा की संक्षेप में चर्चा की जाएगी और इन दोनों चिंतन परम्पराओं से प्रभावित हिंदी के आचार्यों-रचनाकारों-पाठकों के द्वारा निर्दिष्ट काव्य प्रयोजनों पर प्रकाश डाला जाएगा। इस प्रकार, चर्चा को तीन धाराओं में विभाजित होगी :

(क) संस्कृत के आचार्यों-कवियों द्वारा निरूपित काव्य प्रयोजन
(ख) पाश्चात्य चिंतकों-रचनाकारों द्वारा निरूपित काव्य प्रयोजन
(ग) हिंदी के रचनाकारों-आलोचकों के काव्य प्रयोजन से संबंधित विचारों की चर्चा।

3.2 संस्कृत के आचार्यों-कवियों द्वारा निरूपित काव्य प्रयोजन

संस्कृत के रचनाकारों और आचार्यों ने जीवन के सभी पक्षों की अभिव्यक्ति या समग्रता में जीवन-सौंदर्य की अभिव्यक्ति को 'काव्य प्रयोजन' या सृजन-उद्देश्य माना है। इसका प्रमाण यह है कि वे जीवन में 'पुरुषार्थ चतुष्टय' (चतुर्वर्ग) अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष - चारों पक्षों की सिद्धि चाहते हैं। इस बात पर विचार हो सकता है और हुआ भी है कि 'अर्थ', 'धर्म', 'काम' और 'मोक्ष' से ठीक तात्पर्य क्या है? दरअसल, 'धर्म' 'अर्थ', 'काम' और 'मोक्ष' जैसे पारिभाषिक शब्दों पर विचार करने की आज आवश्यकता है क्योंकि आज का मानव 'मोक्ष', 'निर्वाण', 'चित्त समाधि', 'आत्म-विश्रान्ति', 'संविद-संवाद', 'रस या आनंद', 'लोकोत्तर या अलौकिक आनंद' से न तो मानसिक-बौद्धिक धरातल पर जुड़ा है और न ही जुड़ना चाहता है। आज का अधिकांश सृजन आत्म-निर्वासन, पीड़ा-संत्रास-विडम्बना के 'वास्तविक अनुभवों' की यथार्थ अभिव्यक्ति है अपने भोगे हुए अनुभव-सत्यों की ईमानदारी से अभिव्यक्ति ही को सृजन का प्रयोजन मानता है। इस सृजन का प्रयोजन 'रिझाना' नहीं 'खिजाना' है, बौद्धिक स्तर पर जागरूक बनाना है।

संस्कृत के आचार्य, ने अपने देश और काल की सामाजिकता के संदर्भ पर ध्यान देकर कहा था - काव्य 'धर्म', 'अर्थ', 'काम' और 'मोक्ष' का साधन है। आद्याचार्य **भरतमुनि** ने 'नाट्यशास्त्र' में नाट्य या काव्य को धर्म, यश, आयु का साधक, लोक-कल्याणकारी, बुद्धि का वर्द्धक तथा लोकोपदेशक माना है -

धर्म्यंशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्द्धनम्।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति॥ (नाट्यशास्त्र)

भरत के बाद आचार्य **भामह** ने 'काव्यालंकार' नामक अपने ग्रंथ में 'पुरुषार्थ चतुष्टय' के अतिरिक्त कलाओं में विलक्षणता, प्रीति एवं कीर्ति को भी काव्य-कला का प्रयोजन माना। काव्य में सभी कलाओं की पोषक भूमिका को मानते हुए कहा है कि

धर्मार्थ काममोक्षेवु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधु काव्यनिबन्धनम्॥ (काव्यालंकार 1.2)

इन काव्य प्रयोजनों को गिनाते समय भामह के सामने भरत का आदर्श था। शायद यही कारण है कि इन दोनों के काव्य प्रयोजन चर्चा में काफ़ी साम्य है। भरत के 'धर्म्य' और 'यशस्य' विशेषण भामह के यहाँ क्रमशः 'धर्म' और 'कीर्ति' रूप में निर्दिष्ट हुए हैं। भरत का 'बुद्धि विवर्धन' ही भामह में 'वैचक्षण्यं कलासु' का पर्याय बनकर आया।

प्रश्न उठता है कि काव्य प्रयोजन से कला या कलाओं की विलक्षणता का क्या अर्थ-संदर्भ? इसका उत्तर है कि वैदिक साहित्य में गद्य-पद्य में लिखी गई कहानियों में प्रतीक कला का अद्भुत-कौशल के साथ विकास हुआ। अलंकृत काव्य, जिसकी रचना परवर्ती कालों में हुई, अपना प्रधान प्रयोजन 'रस-सृष्टि' घोषित कर देता है। रस-चिंतन परम्परा में प्राचीनों के दार्शनिक-धार्मिक तत्ववाद का निचोड़ विद्यमान था। 'सच्चिदानंद स्वरूप' ब्रह्म या रस ही महाशिव (सभी कलाओं के सूत्रधार नटराज) की आद्य सृजन-सिसृक्षा ही शक्ति (पार्वती, महामाया, त्रिपुर सुंदरी, भुवन मोहिनी, आद्याशक्ति) के रूप में वर्तमान है। जब शिव को लीला के प्रयोजन की अनुभूति होती है तो यही महाशक्ति रूपी महामाया जगत् को प्रपंचित या प्रबुद्ध करती है। शिव की लीला सखी होने के कारण उन्हें 'ललिता' भी कहा

जाता है। यह लोक-रचना उन (पार्वती जी) की क्रीड़ा है, इस क्रीड़ा में उन्हें 'रस' या 'आनंद' आता है, चिन्मय शिव उनके सखा है - सदानंद उनका आहार है - आनंद ही उनका भोग्य है और सुमनसों या प्रमाताओं का हृदय ही उनका निवास-स्थल है। इसलिए कला का प्रयोजन होता है - 'आनंद का विस्तार', 'प्रेमरूपा शक्ति के सौंदर्य की सृष्टि', 'कलानिधि', 'काव्य-कला की रसज्ञा'। जहाँ भी सौंदर्य के आस्वादन का रस है वहाँ महामाया का यही रूप विद्यमान है। अतः ललिता ही कला और आनंद की प्रेरणा है और निधि भी। वे समस्त काव्य-कला के प्रयोजनों-प्रेरणाओं के रूप में विराजती हैं। विशेष बात यह है कि शैव-सिद्धांत में 'कला' का प्रयोग माया के कंचुक रूप में है - यह तो कला स्थूल रूप है। पर आगमों तथा तंत्रों में 'कला' का दार्शनिक अर्थ प्रबल रहा है - काल, नियति, राग, विद्या-कला - ये पाँच माया के कंचुक हैं। रचनाकार इन पाँचों कचुकों में अपने को बाँधता भी है और खोलता भी है। इस अर्थ में रचना समय में होकर भी समय का अतिक्रमण है - काल का अतिक्रमण करने की कला। व्यष्टि-चैतन्य को तोड़कर समष्टि-चैतन्य में समाहित होने की कला आत्म-विश्रान्ति का आनंद है। इसी को **अभिनवगुप्त** ने अपनी महान प्रतिभा से 'रस' प्रयोजन में कहा है कि 'तन रस एव वस्तुतः आत्मा.....'। चर्वण का पर्यवसान भाव या रस में होता है। काव्यशास्त्र से संबंधित अभिनवगुप्त के दोनों ग्रंथ - 'अभिनवभारती' और 'ध्वन्यालोकलोचन' में रस-प्रयोजन की महिमा है। इसी रस-महिमा के कारण मम्मट ने 'सद्यः पर निर्वृति' की व्याख्या में कहा है कि 'सकल प्रयोजन मौलिभूतं समानान्तरमेव रसास्वादसमुद्भूतं विगलित वेद्यान्तरभानन्दम।....?' अर्थात् इन सबसे अधिक काव्य से आनंद की प्राप्ति होती है जो सभी प्रयोजनों का प्रयोजन है जो बिना किसी व्यवधान के रस-आस्वादन से उद्भूत होता है और जिसकी चर्वणा (भोग) के समय अन्य सभी प्रकार का ज्ञान विगलित हो जाता है। इस प्रकार' कला का उद्देश्य है - रस की प्रमाता में सृष्टि। रस अर्थात् आनंद। रस-प्रयोजन को आनंदवादी-परम्परा ने यथार्थ अर्थ-संदर्भ दिया है।

संस्कृत के आचार्यों के सामने प्रायः भामह का काव्य प्रयोजन संबंधी मत आदर्श रहा। **रुद्रट** ने पुरुषार्थ-चतुष्टय को काव्य प्रयोजन माना तथा उन्होंने काव्य प्रयोजन में आह्लाद' को प्रधानता देते हुए भी 'चतुर्वर्ग' की चर्चा की है। कुन्तक ने कहा -

धर्मादिसाधनोपायः सुकुमार क्रमोदितः।
काव्यबन्धोऽभिजातानां हृदयाह्लादकारकः।। (वक्रोक्ति जीवितम 1-3)

वामन तथा भोज ने कीर्ति (यश) और प्रीति (आनंद) को काव्य प्रयोजन माना -

(1) **काव्यं सद्दृष्टार्थ प्रीतिकीर्तिहेतुत्वात।** (वामन, काव्यालंकारं सूत्रवृत्ति, 1-1-5)

(2) **निर्दोषं गुणवत्काव्यमलंकारैरलंकृतम्।**
रसान्वतः कविः कुर्वन कीर्ति प्रीतिंचविन्दति।।

विश्वनाथ ने 'पुरुषार्थ चतुष्टय' या चतुर्वर्ग और अग्निपुराणकार ने त्रिवर्ग (मोक्ष को छोड़कर) को ही काव्य प्रयोजन स्वीकार किया है। रुद्रट और कुन्तक ने चतुर्वर्ग फल-प्राप्ति के साथ अनर्थ का शमन, विपत्ति का निवारण, रोग से मुक्ति, मनोवांछित वरदान की प्राप्ति, व्यवहारौचित्य का परिज्ञान, हृदयाह्लाद (अंतश्चमत्कार) कहकर आचार्य मम्मट के लिए भूमि तैयार की। **मम्मट** ने भरत से लेकर कुन्तक तक की काव्य प्रयोजन चर्चा को समेटते हुए कहा -

काव्यं यशसे अर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयांपदेशयुजे।। (काव्यप्रकाश 1/2)

मम्मट ने काव्य प्रयोजन की सूची में कवि और पाठक, दोनों के काव्य प्रयोजनों को प्राथमिकता के आधार पर प्रस्तुत कर दिया। उनके मत से -

1. **यश :** कविता का प्रयोजन कवि को यश दिलाना है। मनुष्य की यश पाने की इच्छा तीव्र होती है और काव्य सृजन के माध्यम से वह इस इच्छा की पूर्ति करना चाहता है। कालिदास जैसा कवि भी यशः प्रार्थी होने की आंतरिक अभिलाषा रखता है और आधुनिक रचनाकार भी।

2. **धन :** कवि को कविता से धन की प्राप्ति होती है। राज्याश्रय प्राप्त कवि अपने आश्रयदाताओं से धन पाते थे। हिंदी के रीतिकालीन कवि बिहारी- पदमाकर-देव ने राजाओं से अपार सम्पत्ति प्राप्त की थी। बिहारी लाल को हर दोहे पर अशर्फी मिलना प्रसिद्ध है।

3. **व्यवहार ज्ञान :** कवि, कविता में जीवनानुभवों का खरापन पैदा करके ही बड़ा होता है। हिंदी कविता में अमीर खुसरो, तुलसी, कबीर, रसखान, रहीम, भारतेंदु, निराला, मुक्तिबोध का

रचना-कर्म हमें जीवन का व्यावहारिक ज्ञान देता है। हिंदी प्रदेशों में आज भी रहीम-तुलसी-कबीर आदि जनता की जुबान पर रहते हैं। बात-बात में उनकी पंक्तियाँ उद्धृत करते हुए लोग अपने कथन की प्रामाणिकता की पुष्टि करते हैं।

4. **शिवेतरक्षतये :** कविता से अमंगल का नाश होता है - यह विश्वास बहुत पुराना है। रौद्र स्त्रोत, दुर्गा सप्तशती, हनुमान-चालीसा, रामचरितमानस, सूरसागर आदि का पाठ इस दृष्टि से भी किया जाता है।

5. **सद्यः परनिर्वृतये :** अर्थात् तत्काल दुःख का नाश और आनंद की प्राप्ति। भरतमुनि ने 'नाट्यशास्त्र' में नाटक या काव्य का प्राण 'रस' को माना है। 'नहि रसादृते कश्चिदर्थः नियन्ता 'रस' ही है। भरतमुनि ने कहा है कि 'मेरे द्वारा रचित नाट्य दुःख से पीड़ित, थके-माँदे, शोक-संतप्त, असहाय लोगों के लिए समय पर विश्रान्ति प्रदान करने वाला है।' आगे चलकर भारतीय काव्यशास्त्र में में 'रस' के जिस 'संविद्विश्रान्तिमय' स्वरूप का विकास हुआ, उसका बीज भरत में विद्यमान है। अभिनवगुप्त ने नट-निष्ठ-रस को सामाजिक या सहृदय-निष्ठ तक पहुँचाकर सहृदय के रस का प्रतिपादन किया। कविगत रस और सहृदयगत रस का प्रामाणिक विवेचन करते हुए अभिनव ने 'रस' को ही काव्य का प्रयोजन माना। आगे चलकर संस्कृत और हिंदी की चिंतन परंपरा में जिन आचार्यों ने रस के आनंद-रूप आस्वाद को काव्य का प्रयोजन स्वीकार किया वे इसी परंपरा का विस्तार कर रहे थे। हिंदी में हरिऔध, जयशंकर प्रसाद, रामचन्द्र शुक्ल, डॉ. नगेन्द्र आदि ने रस को ही काव्य का सर्वस्व माना है। इधर नयी कविता के काल में रस और रस-सिद्धांत का खण्डन किया गया है।

6. **कान्तासम्मित उपदेश :** कविता मधुर भाषिणी स्त्री की तरह लोकहितकारी उपदेश देती है। कान्ता का अर्थ है - पति का हित चाहने वाली स्त्री। (जैसे रावण की पत्नी मन्दोदरी जो अपने पति को बराबर समझाती है कि दूसरों की पत्नी और सम्पत्ति का हरण करने वाले का नाश होता है अतः सीता वापस कर देनी चाहिए।)

इस प्रकार, भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य प्रयोजनों की चर्चा को कवि और सहृदय, दोनों की दृष्टि से की गई है। उदाहरण के लिए, मम्मट के आधार पर कहा जा सकता है कि यश और अर्थ तो मूलतः कवि को ही प्राप्त होते हैं और सद्यःपरनिर्वृति (रस या आनंद) व्यवहार-ज्ञान, कान्तासम्मित उपदेश सहृदय को। इनमें से प्रीति या आनंद की स्थिति तो सहृदय के साथ स्पष्ट है, परंतु व्यवहार-ज्ञान, वस्तुतः शिक्षा का ही पर्याय है। कविता मानव को जीवन के सभी क्षेत्रों के प्रति जागरूक बनाती है। इस प्रकार, मम्मट या अन्य संस्कृत के आचार्यों के मत से काव्य के प्रधान प्रयोजन दो हैं - (1) शिक्षा - या लोकमंगल (2) रस - प्रीति - या आनंद। इन दोनों में भी आनंद को ही 'सकल प्रयोजन मौलिभूत कहा भी गया है। कुछ आचार्य चतुर्वर्गफल-प्राप्ति (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) जीवन के पुरुषार्थों की सिद्धि को काव्य का प्रयोजन मानते हैं। इस कथन के पीछे मूल भावना यह रही है कि जीवन के सभी पक्षों की समग्रता में सिद्धि ही काव्य की चरम सिद्धि है।

3.3 पाश्चात्य चिंतकों-रचनाकारों द्वारा निरूपित काव्य प्रयोजन

3.3.1 पश्चिम में काव्य प्रयोजन की चर्चा का आरंभ

पाश्चात्य विद्वानों ने समय-समय पर काव्य प्रयोजन पर विचार किया है। मनोविज्ञान तथा मनोविश्लेषण-शास्त्र भी इस विषय में सहायक रहे हैं क्योंकि इनके द्वारा कवि-मानस की सृजन-प्रक्रिया को काफी दूर तक जानने-समझने की कोशिश की गई है। समाजशास्त्र, सौंदर्यशास्त्र और मार्क्सवाद में भी काव्य प्रयोजन के अंतर्गत मूल्य-चेतना पर विचार किया है। पश्चिम में काव्य प्रयोजन को लेकर दो दृष्टियाँ सक्रिय रही हैं - (1) कला कला के लिए (2) कला जीवन के लिए। काव्य प्रयोजन पर विचार करते समय हम परम्परा और इतिहास को ध्यान में रखते हुए प्लेटों से चर्चा का आरंभ करेंगें।

प्लेटो (427-347 ई.पू.) का आविर्भाव एथेन्स के पतनकाल में हुआ था। आध्यात्मिक और नैतिक ह्रास के इस युग में प्लेटों की मूल चिंता आदर्श राज्य की स्थापना, नागरिकों की उचित शिक्षा, चरित्र-निर्माण, नैतिक आदर्शों के द्वारा नैतिक मूल्यों की महत्व-प्रतिष्ठा पर आधारित थी। प्लेटो के मत के विषय में यह सर्वविदित है कि वे सत्य और शिव (लोकमंगल) को आधार बनाकर ही काव्य की निंदा करते हैं। प्लेटों का कवि के विरूद्ध निर्णय कवियों के लिए आदर्श-राज्य में प्रवेश-निषेध ही इसलिए है कि देवी-प्रेरणा से विक्षेपावस्था को प्राप्त कवि-पाठक की भावनाओं को उत्तेजित करता है भड़काता

है, अनियंत्रित करता है, फैलाता है, उन्हें सुखाकर नियंत्रित नहीं करता। कविता का यह अनैतिक स्वभाव हानिकारक है, अशिव है। प्लेटो का कहना है कि 'अतएव हम न्यायपूर्वक एक सुशासित नगर में उसका (कवि का) प्रवेश-निषिद्ध कर सकते हैं, क्योंकि वह आत्मा के इस पक्ष (आवेग) को उद्बुद्ध पोषित और दृढ़ करता है तथा विवेक पक्ष को नष्ट करता है।' प्लेटो ने काव्य का निषेध 'अनुकरण का अनुकरण' (सत्य से तीन गुना दूर) होने मात्र से नहीं किया था बल्कि पाठक पर उसके अनैतिक प्रभाव के कारण किया था। प्लेटो का काव्य प्रयोजन संबंधी निर्णय स्पष्ट है कि मानव-प्रकृति में जो महान और शुभ है, नैतिक और न्यायपरायण है उसका उद्घाटन ही कवि कर्म का अभीष्ट प्रयोजन होना चाहिए। संक्षेप में, कवि-दार्शनिक प्लेटो ने कला के आनंद-सिद्धांत से आगे बढ़कर लोकमंगल सिद्धांत की महत्व-प्रतिष्ठा की है।

अरस्तू ने कदाचित प्लेटो के इसी विचार को स्वीकार करते हुए अपने 'काव्यशास्त्र' में काव्य के सत्य और शिव का तर्कपूर्ण रीति से प्रतिपादन किया है। अरस्तू ने दो-तीन प्रसंगों में काव्य प्रयोजन की ओर संकेत किगा है। 'काव्यशास्त्र के आरंभ में ही उन्होंने अनुकरण रूप काव्य के दो स्पष्ट प्रयोजन माने हैं : (i) शिक्षा या ज्ञानार्जन (ii) आनंद। अरस्तू का प्रसिद्ध कथन है - 'और आरंभ में वह (मनुष्य) सब कुछ अनुकरण के द्वारा ही सीखता है। अनुकृत वस्तु से प्राप्त आनंद भी कर्म सार्वभौम नहीं, अनुभव इसका प्रमाण है - जिन वस्तुओं के प्रत्यक्ष दर्शन से हमें क्लेश होता है उन्हीं की यथावत प्रतिकृति का भावन आह्लादकारी बन जाता है। इस विषय में अरस्तू का कथन है - 'इसका कारण यह है कि ज्ञान के अर्जन से अत्यंत प्रबल आनंद प्राप्त होता है - केवल दार्शनिकों को ही नहीं, सामान्य व्यक्ति को भी।....अतः किसी प्रतिकृति को देखकर मनुष्य के आह्लादित होने का कारण यह है कि उसका भावन करने में वह कुछ ज्ञान प्राप्त करता है या निष्कर्ष ग्रहण करता है।'

प्रश्न उठता है कि इस काव्यानंद का स्वरूप क्या है? अरस्तू का कथन है, 'शायद वह अपने मन में कहता है, 'अरे यह तो अमुक है।' क्योंकि यदि आपने मूल वस्तु को नहीं देखा, तो आपका आनंद अनुकरण-जन्य न होगा, तह अंकन, रंग-योजना या किसी अन्य कारण पर आधृत होगा। इसका अर्थ हुआ कि काव्य का आनंद आध्यात्मिक आनंद न होकर भौतिक आनंद है, परंतु वह सामान्य आनंद न होकर अनुकरण-जन्य आनंद है। अरस्तू के अनसार यह आनंद एक विशिष्ट प्रकार के प्रत्यभिज्ञान का आनंद है। प्रत्यभिज्ञान का अर्थ है - किसी देखी हुई वस्तु को पहचानने का आनंद जो एक ओर तो वस्तु को देखने के आनंद से भिन्न है और दूसरी ओर शिल्प-विधान या कौशल की चमत्कार-क्षमता से भिन्न आनंद। यहाँ 'अनुकृति' का अर्थ है - भाव-कल्पनात्मक पुनर्निर्मिति। काव्यानंद न तो कोरा ऐन्द्रिय आनंद है, न बौद्धिक आनंद है, न सामान्य आनंद है, न आध्यात्मिक आनंद। यह तो अनुकरण-जन्य प्रत्यभिज्ञान का आनंद है। आठरहवीं शताब्दी के अंग्रेज़ आलोचक एडिसन ने इसे ही 'कल्पना का आनंद' नाम दिया है। अरस्तू के अनुसार काव्य का सार्वभौमिक सत्य मूलतः मानव-सत्य का पर्याय है। काव्य में कलात्मक प्रभाव नैतिक भावना का पोषक हो। इस प्रकार अरस्तू ने कलात्मक मूल्यों और नैतिक मूल्यों में भेद नहीं किया। त्रासदी के विवेचन में वे कहते हैं कि 'त्रास तथा करुणा के उद्रेक द्वारा इन मनोविकारों का विरेचन त्रासदी का उद्देश्य होता है।' व्यापक अर्थ में काव्य-मात्र का प्रयोजन है - विरेचन। अरस्तू का 'विरेचन' से तात्पर्य है - भाव-परिष्कार, भाव-उन्नयन। अतः अरस्तू के 'विरेचन सिद्धांत' की चर्चा त्रासदी तक सीमित न रहकर आज व्यापक रूप में सभी काव्य-रूपों से संबद्ध मानी जाती है। प्रसिद्ध आधुनिक अमरीकी आलोचक जॉन क्रो रैन्सम ने काव्य के दो पक्षों की विशेष चर्चा की है - 'दि माइमेटिक एंड दि केथारटिक' अनुकरण तथा रेचन पक्ष। साहित्यशास्त्र के साथ मनोविश्लेषशास्त्र भी काव्य प्रयोजन की चर्चा में विरेचन-सिद्धांत को महत्वपूर्ण मानता है।

पाश्चात्य साहित्य-चिंतन में प्लेटो-अरस्तू के बाद तीसरा महत्वपूर्ण नाम लांजाइन्स का है। उनका एक ही ग्रंथ उपलब्ध है - 'परिइप्सुस' अर्थात् 'उदात्त के विषय में' अथवा 'काव्य में उदात्त-तत्व'। लांजाइनस का 'उदात्त' से तात्पर्य वह नहीं है जिसे वक्तृत्व-विशारद उदात्त-शैली (ग्रेंड स्टाइल) कहते हैं। 'उदात्त के विषय में' लांजाइनस कहते हैं - 'वह वाणी का ऐसा वैशिष्ट्य है चरमोत्कर्ष है जिससे महान कवियों और इतिहासकारों को जीवन में प्रतिष्ठा और यश मिलता है। कारण यह है कि उनका असाधारण प्रतिभा से प्रणीत लेखन पाठक के प्रबोधन (पर्सुएशन) मात्र के लिए नहीं होता, अपितु उसके मन में आह्लाद (Ecstasy) उत्पन्न करने में सक्षम होता है।' उदात्त की शक्ति से पाठक कृति-प्रभाव को 'आत्मातिक्रमण' के रूप में ग्रहण करता है। उदात्त के अंतर्गत कोरे चमत्कारवाद या वागाडम्बर को स्थान नहीं है - महान सृजन महान आत्मा की प्रतिध्वनि है। 'किसी रचना के सृजनात्मक कौशल, समुचित वस्तु-योजना तथा वस्तु-विन्यास, दो-एक युक्तियों में उद्भासित नहीं होते, बल्कि वे कृति की पूरी बनावट के बीच से क्रमशः उभरते हैं। वास्तव में लांजाइनस की दृष्टि मानव-कल्पना में

निहित विराट्ता की ओर थी। उदात्त में मानव और प्रकृति, दोनों का विराट सम्मिलित रहता है। इस प्रकार, 'उदात्तता' भी एक विशेष अर्थ में भाव-परिष्कार, भाव-उन्नयन या विरेचन सिद्धांत ही है। काव्य प्रयोजन को लेकर लोंजाइनस ने रीतिवादी-चमत्कारवादी काव्य प्रयोजन का खण्डन करते हुए लोकमंगलवादी (शिक्षा और आनंद) काव्यशास्त्र का समर्थन किया। महान काव्य वही है जो सभी को सब कालों में आनंद प्रदान करे और समय जिसे पुराना न कर सके - वह नूतन प्रतीत होता रहे। इस प्रकार, 'आनंद' या 'आत्मातिक्रमण' ही साहित्य का प्रधान प्रयोजन है।

नव्य-प्लेटोवाद और **नव्य-अभिजात्यवाद** के उदयकाल में **प्लॉटिनस** ने दर्शन पर आधारित सिद्धांतों का प्रतिपादन किया। उनके विचार से कविता परम चैतन्य तक पहुँचने की सीढ़ी का काम करती है। इस तरह, कविता के दो प्रयोजन हैं - (1) आनंद, और (2) परम चेतना के सौंदर्य का साक्षात्कार।

3.3.2 नवजागरणकाल की चेतना और काव्य प्रयोजन दृष्टि

अंधकार-युग को चीरकर नवजागरणकाल का उदय विश्व-इतिहास की एक बड़ी घटना है। 'अधकार-युग' का विस्तार ईसा की तीसरी और चौथी शताब्दी से तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी तक माना जाता है। इस काल में साहित्य और कला का बहुत प्रामाणिक विवेचन नहीं मिलता। नवजागरणकाल में साहित्य और कला के क्षेत्र में नवीन चेतना का प्रबल विस्फोट होता है। इस युग में ईसाई धर्मतंत्र ढह गया। विज्ञान के प्रादुर्भाव से नए-नए अन्वेषण तथा आविष्कार हुए। धर्म और दर्शन का नया संस्करण किया गया। कला, विज्ञान, राजनीति, समाज व्यवस्था में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए। नई चेतना का प्रथम उन्मेष इटली में देखने को मिला और इसका विस्तार फ्रांस तथा जर्मनी होते हुए इंगलैंड तक पहुँचा। एक प्रकार से यूरोप का 'पुनर्जन्म', 'नया जन्म' हुआ। इसी कारण इस युग को 'नवजागरण' या 'पुनर्जागरण' (Renaissance) की संज्ञा प्रदान की गई है।

नवजागरण युग में क्लासिकी (प्राचीन यूनानी-रोमन) विद्या (ज्ञान) के पुनरुद्धार और प्रत्यावर्तन (रिवाइवल) का दौर चला। किंतु 'पुनरुद्धार' और 'प्रत्यावर्तन' मात्र को 'नवजागरण' (Renaissance) समझ लेना भूल होगी। नवजागरण प्राचीन ज्ञान के प्रति आकर्षण और उसके पुनः अवगाहन की प्रवृत्ति के साथ रेनेसाँ या नवजागरण अपने समय के वर्तमान को भी तलाशने-परखने और सुधारने-सँवारने का काम करता है। विज्ञान और तर्क का आधार ग्रहण करते हुए रूढ़ और जर्जर जीवन-दृष्टि तथा जीवन-मूल्यों का बहिष्कार करता है। इस तरह पंद्रहवीं शताब्दी के यूरोपीय रेनेसाँ ने मध्ययुगीनता के बंधनों से मानव को मुक्त कर व्यक्ति-चेतना, व्यक्तित्व-चेतना, व्यक्ति-स्वातंत्र्य भावना, सृष्टि के केंद्र में मानव की प्रतिष्ठा की और पादरीवाद में अनास्था, परलोकवाद के प्रति संशय तथा नवीन तर्कवाद को प्रस्तुत किया। साहित्य और कला में परलोकवाद के स्थान पर इहलौकिक चिंतन, ऐहिक मूल्य-चेतना का महत्व बढ़ा। धर्मनिरपेक्ष मानववाद के उदय ने नए बुद्धिजीवियों के लिए चिंतन का नया पथ प्रशस्त किया। स्पेंसर, मार्लो और शेक्सपियर की सृजन-दृष्टि इसी नवीन ऊर्जा से अनुप्राणित है। **इस साहित्य का प्रयोजन है - मानव की संवेदनात्मक ज्ञानात्मक चेतना का विकास और परिष्कार।**

3.3.3 नव-आभिजात्यवाद और नव-प्लेटोवाद

नवजागरण-युग के साहित्य में व्यक्ति-स्वातंत्र्य भावना के अतिवाद से जब अराजकता फैलने लगी तो आभिजात्यवाद की ओर झुकाव बढ़ने लगा। नव्य-आभिजात्यवाद के उदय से साहित्य के क्षेत्र में असर पड़ा। साहित्य में यह प्रभाव फ्रांस में दिखाई दिया, जहाँ अरस्तू और होरेस के सिद्धांतों की नवीन व्याख्याएँ शुरू हुईं। कार्लीन, रासीन, बुअलो ने अरस्तू के सिद्धांतों को ध्यान में रखकर नाट्य-लेखन के नए नियम बनाए। कथ्य तथा संरचना की गरिमा, भव्यता तथा संतुलन को श्रेष्ठ कृतियों के लिए प्रतिमान बनाया।

नव-आभिजात्यवाद (नियो-क्लासिसिज्म - Neo Classicism) का प्रवेश अठारहवीं शताब्दी के इंगलैंड में हुआ। इससे पूर्व सत्रहवीं शताब्दी में बेन जॉनसन जैसे रचनाकार और सिद्धांतशास्त्री ने ग्रीक-लैटिन नियम-आदर्शों के पालन पर बल दिया था। किंतु अठारहवीं शताब्दी के इंगलैंड में नव-आभिजात्यवादी सिद्धांतों की स्थापना में डॉ. सैम्युअल जॉनसन, जॉन ड्राइडन, अलेक्ज़ेंडर पोप, जोसेफ एडिसन आदि ने महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया। इन सभी ने साहित्य-प्रयोजन के रूप में **आनंद और नैतिक आदर्शों की शिक्षा** को महत्व दिया।

3.3.4 स्वच्छंदतावाद

सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी में नव-आभिजात्यवाद के साथ-साथ नव-मानववाद का भी विकास हुआ। इस मानववाद में न केवल मानव को विश्व के केंद्र में माना गया - बल्कि आत्मवाद की भी खास ढंग से

प्रतिष्ठा हुई। साहित्य और कला के क्षेत्र के रीतिवाद का सृजन में विरोध बढ़ने लगा और रचनाकार आत्माभिव्यक्ति के लिए बेचैनी व्यक्त करने लगे। औद्योगिक क्रांति और सामंतवादी ढाँचे के ढह जाने के कारण समाज व्यवस्था में परिवर्तन का सिलसिला शुरू हुआ। इसी परिवेश ने फ्रांसीसी राज्य-क्रांति की ज़मीन तैयार की जिसमें समानता, स्वतंत्रता और बंधुत्व की भावना - 'आंतरिक पुकार' बन गई। यह तीन बातें ही सृजन का प्रयोजन बन गईं जिनकी अनेक रूप-विधाओं (काव्य, चित्र-संगीत आदि) में अभिव्यक्ति हुई। नव्य-आभिजात्यवादी नियम-संयम-रूढ़िबद्धता के विरोध में स्वच्छंदतावाद ने जन्म लिया। कविता के क्षेत्र में इस विद्रोही प्रवृत्ति ने विलियम ब्लेक (1757-1827), सैम्युअल कॉलरिज (1772-1834), विलियम वर्डसवर्थ (1770-1850) शैले, कीट्स, बायरन आदि को जन्म दिया। इन सभी स्वच्छंदतावादी कवियों के सृजन का प्रयोजन है - **आत्म-साक्षात्कार, आत्म-सृजन और आत्माभिव्यक्ति।** इस तरह **मानव की मुक्ति-कामना ही 'स्वच्छंदतावाद' में सृजन का प्रयोजन बनकर उपस्थित है।** प्रगीत-विधा ने आत्माभिव्यक्ति को विशेष अवसर दिया। स्वच्छंदतावादी सृजन आभिजात्यवादी सृजन-प्रयोजन का विरोधी इस अर्थ में है कि वह नियम, संयम-संतुलन, तर्क की अपेक्षा, प्रकृति, स्वच्छंदता, मुक्त अभिव्यक्ति, कल्पना, भावावेग में विश्वास करता है। जीवन के आनंदवादी-सौंदर्यवादी-कलावादी मूल्य इसमें प्रधान हैं। सुंदर के साथ रहस्य, अद्भुत, वैचित्र्य में उसकी रुचि है। 'सुंदर के साथ अद्भुत के संयोग' को स्वच्छंदतावादी कला का प्राण-तत्व माना जा सकता है। काव्य कला में कल्पना शक्ति का अबाध विस्तार हुआ - कॉलरिज-वर्डसवर्थ का योगदान इस क्षेत्र में स्मरणीय है। वर्डसवर्थ ने 'लिरिकल बैलेड्स' (1798) की भूमिका में कहा कि कविता हमें आनंद प्रदान करती है। विद्वानों ने स्वच्छदतावाद और भारतीय रस-सिद्धांत की तुलना से यह सिद्ध किया है कि आनंदवादी-मूल्य और कलावादी-मूल्यों में अद्भुत समानता है। डॉ. नगेन्द्र ने दोनों की तुलना के बाद निष्कर्ष रूप में कहा है - 'स्वच्छंदतावाद का आनंदवाद के साथ घनिष्ठ संबंध है। शैले, वर्डसवर्थ, कॉलरिज - यहाँ तक कि रुग्ण कीट्स और आस्थाविहीन-बायरन में भी आनंद का स्वर प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से मुखर है, शैले का मानवता की मुक्ति में अटूट विश्वास, वर्डसवर्थ का सर्वात्मवाद, कॉलरिज का आत्मवाद, कीट्स की सौंदर्य के प्रति उल्लासपूर्ण आस्था और बायरन का जीवन के प्रति अबाध उत्साह आनंदवाद के ही विभिन्न रूप हैं।' (रस-सिद्धांत, पृ.332)

3.3.5 'कला कला के लिए' सिद्धांत का प्रतिपादन

एक अर्थ में स्वच्छंतावाद की प्रवृत्ति ने ही 'कलावाद' का रूप धारण किया। सन 1818 में फ्रांस में विक्टर कूजे ने 'कला कला के लिए' सिद्धांत का प्रतिपादन किया। इस सिद्धांत को आस्कर वाइल्ड, एँ.सी.ब्रैडले, ए.सी.स्विनबर्न, एडगर ऐलन पो, वाल्टर पेटर तथा व्हिस्लर तथा व्लीं जैसे कलाकारों का समर्थन प्राप्त हुआ। इस सिद्धांत के अनुसार 'काव्यकला का संसार स्वायत्त' है - कला का उद्देश्य धार्मिक या नैतिक नहीं है, स्वयं अपनी पूर्णता की तलाश है। इसी स्थिति के कारण उसे किसी उपयोगितावाद, नैतिकतावाद, सौंदर्यवाद, मार्क्सवाद की कसौटी पर कसना गलत है। कला की एकमात्र कसौटी है सौंदर्य-चेतना की तृप्ति। कला उस सौंदर्यानुभूति की वाहक है जो अपना लक्ष्य आप ही है।

उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में काव्य और कला की जो हालत थी, कलावाद को उसकी प्रतिक्रिया में उठा आंदोलन कहना चाहिए। इस आंदोलन ने स्पष्ट रूप में कहा कि काव्य एवं कला की अपनी पृथक और स्वतंत्र सत्ता है। उसका **एकमात्र प्रयोजन है - आनंद की सृष्टि।** कला और काव्य से प्राप्त आनंद की भी अपनी स्वतंत्र सत्ता है जिसकी तुलना हम आनंद की कोटियों से नहीं कर सकते। 'पोयट्री फॉर पोयट्रीज सेक' का अर्थ है - अपने अनुभव की स्वतंत्र सत्ता (This experience is an end in itself, is worth having on its own account, has an intrisic value)।

विशेष बात यह है कि स्वच्छंदतावाद, सौंदर्यवाद तथा कलावाद में गहरा भेद है - तीन अलग वैचारिक दृष्टिकोण हैं। कलावादी मानते हैं कि कलात्मक सौंदर्य, स्वाभाविक या प्रकृत सौंदर्य से श्रेष्ठ होता है। इस विश्वास की झलक वादलेयर, रेम्बू, मलार्मे में मिलती है। बिम्बवाद तथा प्रतीकवाद भी एक हद तक कलावाद का ही विस्तार है। बाल्जाक और गाटियर के बाद फ्रांस में पार्नेसियन-सम्प्रदाय का ज़ोर बढ़ने लगा और रूप-विधान पर अधिकाधिक ध्यान केंद्रित हुआ। रूपवाद, संरचनावाद, नयी-समीक्षा, नव-संरचनावाद या उत्तर-संरचनावाद, डेरिडा के विनिर्मितिवाद आदि को 'कला कला के लिए' सिद्धांत-दृष्टि का विकास मानना चाहिए।

3.3.6 'कला जीवन के लिए' सिद्धांत

कलावाती-दृष्टि का खण्डन कला को जीवन के लिए सिद्धांत को मानने वाले विचारकों ने जोरदार शन्दा में किया। इन विधारकों ने कलावाद को पलायनवाद, रीतिवाद घटिया भोगवाद का समर्थक

सिद्धांत कहा। कभी-कभार इसे व्यक्तिवाद-सौंदर्यवाद से जोड़कर भी निंदित किया। 'कलावाद' पर सीधा हमला मार्क्सवाद ने किया और उसे विकृत रूपवाद कहा।

'कला जीवन के लिए' विचार के संकेत तो अरस्तू से लेकर सरफिलिप सिडनी तक व्यापक रूप में मिलते हैं। किंतु इस क्षेत्र में **मैथ्यू आर्नल्ड** (1822-1888) का नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। उनका उदय रोमाण्टिक-युग की समाप्ति और विक्टोरियन-युग के चरम-वैभवकाल में हुआ था। यही वह समय था जब डार्विन और मार्क्स के विचार सामने आ रहे थे। इंगलैंड का मध्य-वर्ग नैतिक-मूल्यों के पतन पर था और औद्योगिक विकास तथा विज्ञानवाद के अंधड़ में सांस्कृतिक-पतन के लक्षण दिखाई दे रहे थे। आर्नल्ड ने 'धर्म' के स्थान पर 'संस्कृति' को रखते हुए अपनी सांस्कृतिक चिंता व्यक्त की। उन्होंने कविता का **प्रयोजन - जीवन की आलोचना** (Criticism of Life) घोषित किया। 'जीवन की आलोचना का अर्थ है - जीवन-सौंदर्य के गहन से गहनतर सत्य या यथार्थ का साक्षात्कार - अर्थात् भीतरी-बाहरी जीवन का **समग्रता में** अंकन। यह अंकन 'काव्य-सत्य' और 'काव्य-सौंदर्य' के नियमों के अधीन होना चाहिए। वास्तव में 'काव्य-सत्य' से आर्नल्ड का तात्पर्य 'विषय-वस्तु की मूल्यवत्ता' से है और 'काव्य-सौंदर्य' से अभिप्राय है - 'अभिव्यंजनागत सौंदर्य'। उनके विचार से जीवन में नैतिक विचारों का महत्व बहुत अधिक है। नैतिक विचारों की उपेक्षा करने वाली कविता तो जीवन-द्रोही, समाजद्रोही कविता है। बौद्धिकता और विवेक पर आधारित उनकी विचार-दृष्टि उपदेशक की सी है। उनका पूरा दृष्टिकोण शिक्षक और समाज-सुधारक का है। हिंदी में इसी दृष्टिकोण का समर्थन बालकृष्ण भट्ट, महावीर प्रसाद द्विवेदी, मैथिलीशरण गुप्त, रामचन्द्र शुक्ल आदि ने किया है। मैथ्यू आर्नल्ड और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल में विचारों के स्तर पर गहरी समानता है। साहित्यिक रीतिवाद का खण्डन करने में दोनों ही अपने-अपने ढंग से बेजोड़ हैं।

मैथ्यू आर्नल्ड के बाद **आई.ए.रिचर्डस** ने काव्य की उपयोगता को मूल्यों से सम्बद्ध करके सिद्ध किया। रिचर्डस ने वैज्ञानिक-पद्धति से काव्य की व्याख्या करते हुए कहा कि कविता का लक्ष्य है - 'विरुद्धों में सामंजस्य स्थापित करना'। कलानुभूति या सौंदर्यानुभूति- जीवनानुभूति से भिन्न नहीं है। कलानुभव भी सामान्य जीवनानुभव की कोटि से जुड़ा अनुभव है। अतः कलानुभूति को अद्वितीय अनुभूति नहीं कहा जा सकता। कला का प्रयोजन है - **मानवीय मनोवेगों में सामरस्य और संतुलन स्थापित करना**। इस प्रकार 'आवेगों की शान्ति (संतुष्टि) को काव्य का प्रयोजन कहकर रिचर्डस सार्वकालिक तथा सार्वदेशिक काव्यशास्त्र में निर्दिष्ट सामान्यतः सभी प्रयोजनों का, और विशेषतः आनंद का, मूलोच्छेद कर देते हैं। अरस्तू विरेचन के द्वारा भावों के उपशम की बात कहकर भी आनंद का खंडन नहीं करते किंतु रिचर्डस के मत से आनंद नाम की कोई वस्तु है ही नहीं।' (देवेन्द्रनाथ शर्मा - पाश्चात्य काव्यशास्त्र, पृ.223) रिचर्डस ने कलावादी-अभिव्यंजनावादी दृष्टि का प्रबल तर्कों से खण्डन किया और मूल्य-सिद्धांत की स्थापना की। काव्य का चरम मूल्य है - कलात्मक परितोष और भाव परिष्कार। कला इसी अर्थ में अनुकरण है कि वह जीवन का 'पुनः सृजन' करती है।

टी.एस.एलियट (1888-1965) ने अपने को क्लासिसिस्ट घोषित करते समय मैथ्यू आर्नल्ड के नैतिकतावाद की कठोर आलोचना की। एलियट ने स्वच्छंदतावादी दृष्टि का विरोध करते हुए गैर-रोमांटिक दृष्टि को अपनाया। काव्य और समीक्षा का उद्देश्य उन्होंने लोक-अभिरुचि को सुधारना, परिष्कृत करना माना है। एलियट मानते हैं कि प्रत्येक शब्द की, प्रत्येक पद्धति (Race) की अपनी सर्जनात्मकता ही नहीं, आलोचनात्मक मनोवृत्ति भी हुआ करती है। स्थूल रूप से दो उद्देश्य हैं - कलाकृतियों का विशदन (Elucidation of Works of Arts); और रुचि का परिष्कार (Correction of Taste)। फिर सार-संक्षेप में कहा - सृजन के दो उद्देश्य हैं (1) साहित्य का बोध और आस्वाद (The understandmg and enjoyment of Literature)।

3.3.7 मार्क्सवादी चिंतन में साहित्य-प्रयोजन

मार्क्सवाद साहित्य को समाज-परिवर्तन के अस्त्र के रूप में मानता है। साहित्य से जन-जागरण, लोक-जागरण का प्रकाश फैलता है। पूँजीवादी-साहित्य और सामंतवादी-साहित्य का विश्लेषण करते हुए मार्क्सवाद उसका विरोध करता है। मार्क्स ने जिस मूल्य-सिद्धांत की बात की थी, मार्क्सवादी उसके आधार पर साहित्य की विचारधारा, शिल्प और मूल्य-चेतना पर विचार करते हैं। अधिकांश मार्क्सवादी विद्वान ऐतिहासिक एवं द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धांतों से साहत्य का अध्ययन करते हैं और मानते हैं कि सामाजिक-राजनीतिक शक्तियों में आर्थिक-व्यवस्था, वर्ग-संघर्ष का विशेष हाथ होता है। साहित्यिक-आंदोलन हों या साहित्य रूप अथवा सृजन की साहित्यिक पृष्ठभूमि का अध्ययन हो - हम

इन्हें आर्थिक-सामाजिक प्रवृत्तियों के आधार पर ही समझ सकते हैं। इसी तर्क को मानने के कारण मार्क्सवाद ने 'कला कला के लिए सिद्धांत' के व्यक्तिवाद-भाववाद का खण्डन किया है। इसके अनुसार साहित्य का उद्देश्य है - मानव को प्रबुद्ध सामाजिकता की दृष्टि से सम्पन्न करना, शोषण-अन्याय-अनीति और अनैतिकता के प्रति जागरूकता पैदा करना। 'साहित्य मनुष्य के संपूर्ण जीवन से सम्नद्ध है। आर्थिक जीवन के अलावा मनुष्य एक प्राणी के रूप में भी अपना जीवन बिताता है। साहित्य में उसकी बहुत-सी आदिम भावनाएँ प्रतिफलित होती हैं जो उसे प्राणिमात्र से जोड़ती हैं। इस बात को बार-बार कहने में कोई हानि नहीं कि साहित्य विचारधारा मात्र नहीं है। उसमें मनुष्य का इन्द्रिय-बोध, उसकी भावनाएँ, आंतरिक प्रेरणाएँ भी व्यंजित होती हैं। साहित्य का पक्ष अपेक्षाकृत स्थायी होता है।' (रामविलास शर्मा - परम्परा का मूल्यांकन, पृ.11) साहित्य का ध्येय कृति की मूल्य-व्यवस्था पर ध्यान देना है। आनंदवादी-रीतिवादी मूल्य मानव को विकृत करते हैं और संघर्षपरक, समाज-सापेक्ष्य, लोकमंगलकारी मूल्य मानव-समाज को आगे बढ़ाते हैं। साहित्यिक उद्देश्य जीवन-यथार्थ का, जीवन-सौंदर्य का वास्तविक उद्घाटन है। **कॉडवेल से लेकर जार्ज लूकाच तक सभी मार्क्सवादी चिंतक साहित्य का उद्देश्य मानव-कल्याण भावना की अभिव्यक्ति मानते रहे हैं।** रचना के मूल्य और मूल्यांकन में ही रचना-प्रयोजन निहित रहता है। मार्क्सवाद कलावादी-मूल्यों से ज्यादा महत्व मानववादी-मानवतावादी, नैतिक उपयोगितावादी या सामाजिक मूल्यों को देता है। अतः मानता है - साहित्य, जनता के लिए हो। **साहित्य का प्रयोजन मानव-कल्याण है।**

3.3.8 मनोविश्लेषणवादी चिंतन में साहित्य-प्रयोजन

अरस्तू के विरेचन सिद्धांत या भाव-परिष्कार सिद्धांत का एक नया पाठ मनोविश्लेषणशास्त्र के अंतर्गत उठाया गया है। मनोविश्लेषण-शास्त्री फ्रायड की यह स्थापना है कि अवचेतन और चेतन मन में दमित काम-वासना से अनेक रोग-व्याधियाँ, मानसिक विक्षेप, उपद्रव उठ खड़े होते हैं जिनका शमन या प्रतिकार उपभोग, उदात्तीकरण अथवा रेचन द्वारा हो सकता है। काव्य, काम-वासना के रेचन अथवा उदात्तीकरण का माध्यम है। काव्य का प्रयोजन है - **मानव की भावनाओं का उन्नयन-परिष्करण और उदात्तीकरण करना।** मन की भीतरी विकृतियों से मुक्ति दिलाकर चित्त का शमन। सौंदर्यपरक काव्य और उद्दाम शृंगारपरक काव्य-नाटक-उपन्यास के अध्ययन-प्रेक्षण से मानव की काम-भावना परिष्कृत होती है एवं उसका वेग भी थम जाता है।

मनोविश्लेषणशास्त्री एडलर ने साहित्य को 'ग्रंथियों' से मुक्ति दिलाने का माध्यम माना है। पश्चिम के प्रसिद्ध मनोविश्लेषणवादी कार्ल युग ने कविता और पुरावृत्त अर्थात मिथक को समकक्ष माना है। जैसे स्वप्न और मिथक में आदिम काल से संचित मानव के सामूहिक अवचेतन मन (क्लेक्टिव सब-कॉन्शस) और आदिम-बिम्ब (आर्किटाइपल इमेजिज़) का प्रकाशन होता है वैसे ही कविता में भी हमारे आदिम पुरखे बोल रहे होते हैं। पुरावृत्त और कविता, दोनों में अप्रतिहत वेग से प्रवाहित होने वाली जीवनी-शक्ति निबद्ध होकर अपना संयमित और नियंत्रित रूप प्रस्तुत करती है। उनके अभाव में मानसिक जीवन का वह तीव्र प्रवाह या तो अवरुद्ध हो जाएगा अथवा अपने अतिशय वेग से मानसिक जीवन में रोग-अराजकता उत्पन्न कर देगा। काव्य और कला का कार्य है - भावों-विचारों का रेचन या परिष्कार करना।

पश्चिम में समय-समय पर काव्य और कला, सौंदर्यशास्त्र, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, नृत्यशास्त्र राजनीतिशास्त्र के भीतर से वैचारिक आंदोलन उठते रहे हैं। काव्य और ललित कलाओं से संबंधित अनेक विचारधाराओं आंदोलनों प्रवृत्तियों को उद्देश्य की दृष्टि से स्थूल रूप में दो वर्गों मं ही रखा जा सकता है -

1. **आनंदवादी मूल्यों की महत्व-प्रतिष्ठा वाले विचार-समूह।**
2. **कल्याणकारी मूल्यों की महत्व-प्रतिष्ठा वाले विचार-समूह।**

इन दोनों के भीतर सृजन का प्रयोजन या अर्थ है - मानव-चेतना का विस्तार और विकास। सृजन एक मनोवैज्ञानिक और सांस्कृतिक प्रक्रिया है रचनाकार-कलाकार इस प्रक्रिया को आगे बढ़ाता है - भावों-विचारों को सम्प्रेषित करता है। जीवन की जटिलता को अनुभूति की आँच में सहजता से पकाकर पाठक को परोस देना भी साहित्य का एक प्रयोजन कहा जा सकता है। इस प्रकार काव्य या कला का प्रयोजन है भावों-विचारों का सम्प्रेषण तथा सांस्कृतिक-चेतना का विस्तार और परिष्कार।

3.4 हिंदी के रचनाकारों-आलोचकों के काव्य प्रयोजन से संबंधित विचार

3.4.1 आदिकाल और मध्यकाल के कवियों की काव्य प्रयोजन संबंधी दृष्टि

हिंदी के भक्ति-काव्य का संदेश-उद्देश्य एक ही है - **'मानुष प्रेम भयउ बैकुंठी' प्रेम ही जीवन को उदात्त बनाता है, बैर नहीं।** प्रेम से ही मनुष्य वैकुंठी या दिव्य बन सकता है। पूरा भक्तिकाव्य इसी भावना की अभिव्यक्ति है।

भक्ति-काव्य और भक्तिशास्त्र पर आधारित भक्ति-रस का एक ही मंत्र है - 'प्रेमा पुमर्थो महान।' इस भाव को कृष्ण-भक्तों, सूफ़ी-कवियों ने पुरुषार्थ का रूप दिया। तांत्रिक-धार्मिक साधनाओं को निचोड़कर कवियों ने 'भक्त' और भक्ति-दर्शन की प्रतिष्ठा कर डाली। निर्गुण धारा के कबीर ने सामाजिक-धार्मिक विकृतियों से टकराकर लोक-जागरण की राह दिखाई तो जायसी ने 'पदमावत' में सत्ता-शक्ति के घमंड को चूर कर दिया।'रामचरितमानस' में तुलसीदास ने साहित्य-प्रयोजन पर कहा है - 'कीरति भनितिभूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कह हित होई।' अर्थात् कीर्ति-प्रीति-भनिति का एक ही उद्देश्य है - **लोकमंगल की भावना।** अतः लोकमंगल की भावना को ही भक्ति-काव्य और रूपगोस्वामी, जीवगोस्वामी के 'भक्ति रसामृत सिंधु' तथा 'उज्ज्वलनीलमणि' के भक्तिशास्त्र का प्रधान प्रयोजन माना जा सकता है।

हिंदी के रीतिकाव्य और रीतिशास्त्र में दरबारी काव्य के मूल्यों का पोषण हुआ। 'सरस राग-रति-रंग' में पूरी तरह निमग्न हो जाना सामंतों की नियति बन गया। रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध, रीतिमुक्त - तीनों धाराओं के कवि शृंगारिकता, रसिकता और झूठी शास्त्रीयता का पल्ला पकड़े रहे। 'राधिका कान्ह सुमिरन को बहाने' इस कविता का प्रधान उद्देश्य (प्रयोजन) बन गया - भोग, केलि-क्रीड़ा-विलासपूर्ण मनोरंजन। साध्य हो गए -

तजि तीरथ हरि-राधिका तन दुति कर अनुराग।
जेहि ब्रज केलि निकुंज मग पग-पग होतु प्रयाग।।

बिहारी के इस दोहे में कि 'राधा के शरीर से अनुराग करो' पूरे रीतिकाल का का जीवन-दर्शन समाहित है। इस काल में शृंगार-रस को रसराज का रूप तो मिला है। मूलतः यह कलाकाल है। इस काल के ज्यादातर कवि बिहारी-देव-मतिराम-घनानंद आदि रसवाद के पोषक हैं। ये सभी कवि प्रेमी नहीं, रसिक ही हैं।

3.4.2 आधुनिककाल के रचनाकारों-आलोचकों की काव्य प्रयोजन संबंधी दृष्टि

आधुनिककाल में आकर मनुष्य सारे चिंतन का केंद्र हो गया और ईश्वर की धारणा व्यक्तिगत आस्था तक सीमित हो गई। मनुष्य की इस बुनियादी अवधारणा में परिवर्तन 'नवजागरण' या 'पुनर्जागरण' की मानसिकता से आया। यह काल हिंदू-मानसिकता का 'पुनरुत्थानकाल' नहीं है - सांस्कृतिक नवजागरणकाल है। सांस्कृतिक नवजागरण की यह प्रक्रिया दो जातीय संस्कृतियों की टकराहट और संघर्ष से उत्पन्न हुई। भारत में अंग्रेज़ी-राज्य का विरोध करते हुए भारतेंदु बाबू ने स्वदेशी वस्तुओं के व्यवहार का प्रतिज्ञा-पत्र 'कविवचन सुधा' में छापा। डॉ.रामविलास शर्मा ने अपनी पुस्तक 'भारतेंदु युग और हिंदी भाषा की विकास परम्परा' में लिखा है - 'यह प्रतिज्ञा-पत्र भारतीय स्वाधीनता के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखा जाने योग्य है।' (पृ.3) बंगाल में आरंभ हुई नवजागरण की चेतना हिंदी प्रदेशों में पहुँचकर राष्ट्रीय सांस्कृतिक रूप धारण कर लेती है। भारतेंदु बाबू तथा इस युग के सभी लेखक गद्य-पद्य में विदेशी साम्राज्यवादी लूटतंत्र का विरोध करते हैं। इस युग के नाटक तो इस विरोध का सर्वाधिक समर्थ माध्यम कहे जा सकते हैं। इस पूरे युग की प्रतिनिधि सृजन-ध्वनि है - साम्राज्यवादी शोषण का विरोध, आपसी गृह-कलह की समाप्ति, सामाजिक धार्मिक सुधार चेतना। 1857 की जन-क्रान्ति के विफल हो जाने का दर्द तथा लोकजागरण की चेतना। हिंदी प्रदेशों में नवजागरण का प्रकाश 1857 के स्वाधीनता संग्राम से फैलना शुरू होता है। यह स्वाधीनता-संग्राम हमारा जातीय-संग्राम है जिसने जनता को जाग्रत किया। किसानों के लड़कों ने ही फौजी वर्दी में अंग्रेज़ों से लोहा लिया। अतः यह नवजागरण की चेतना अंग्रेज़ों की देन नहीं है, हमारी ही चिंतन-परम्परा की ऊर्जा का उग्र विस्फोट है - 'सरबस लिए जात अंगरेज' या 'धन विदेश चलि जात' या 'भारतवासी रोए' की आंतरिक राष्ट्र-ध्वनि है। अंग्रेज़ी साम्राज्यवादी लूटतंत्र के प्रति विरोध, विक्षोभ, विद्रोह और बगावत को व्यक्त करना ही इस काव्य की प्रमुख टोन है या प्रधान उद्देश्य।

द्विवेदी-युग के सृजन-कर्म ने पुराने दरबारी काव्य की रूढ़ियों से हिंदी कविता को मुक्त करने के लिए रीतिवाद विरोधी अभियान चलाया। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने सरस्वती पत्रिका से रीतिवाद

विरोधी आंदोलन को तेज़ किया और 1901 की 'सरस्वती' में 'नायिका-भेद' शीर्षक अपने लेख में कहा - 'राजाश्रय मिलने की देरी, राजाजी को सब प्रकार की नायिकाओं के रसास्वादन का आनंद चखाने के लिए कविजी को देरी नहीं। दस वर्ष की अज्ञात यौवना से लेकर पचास वर्ष की प्रौढ़ा तक के सूक्ष्म से सूक्ष्म भेद बताकर और उसके हाव-भाव, विलासादि की सारी दिनचर्या वर्णन करके ही कविजन संतोष नहीं करते थे। समस्या-पूर्ति करने वाले कवि-समाजों का तो जीवन-सर्वस्व ही था - नायिका-भेद।'

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'साहित्य की महत्ता' को लोकजागरण की चेतना से सम्बद्ध मानते हुए माना है कि 'साहित्य में जो शक्ति छिपी रहती है वह तोप, तलवार और बम्ब के गोलों में भी नहीं पायी जाती। योरप में हानिकारिणी धार्मिक रूढ़ियों का उद्‌घाटन साहित्य ने ही किया है, जातीय स्वातंत्र्य के बीज उसी ने बोए हैं....पोप की प्रभुता को किसने कम किया है? फ्रांस में प्रजा की सत्ता का उ़त्पादन और उन्नयन किसने किया है? पदाक्रान्त इटली का मस्तक किसने ऊँचा उठाया है? साहित्य ने, साहित्य ने, साहिंत्य ने।' इस प्रकार आचार्य द्विवेदी जी साहित्य को लोक-जागरण का सर्वाधिक समर्थ माध्यम मानते हैं। द्विवेदी जी की प्रेरणा से **मैथिलीशरण गुप्त** ने रीतिवाद-विरोधी अभियान में हिस्सा लिया और जगन्नाथ प्रसाद भानु की पुस्तक 'काव्य-प्रभाकर' के मई, 1912 अंक में आलोचना की। गुप्तजी रीतिवाद की निन्दा करते हुए कविता का आधार लोकानुभूति और सर्वसाधारण से जोड़ते हैं। उनकी 'भारत-भारती' का राष्ट्रीय जागरण में अमर स्थान है। गुप्तजी ने काव्य प्रयोजन को लेकर जगह-जगह कहा है -

1. **केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिए।**
   उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए।

2. **है जिस कविता का काम लोकहित करना**
   सद्‌भावों से मन मनुज मात्र का भरना
   पहले तो कांतासदृश हृदय का हरना
   फिर प्रकटित करना विमल ज्ञान का झरना

3. **अर्पित हो मेरा मनुजकाय। बहुजन हिताय, बहुजन हिताय।**

4. **संदेश नहीं मैं स्वर्गलोक का लाया**
   इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया।

पूरी की पूरी द्विवेदी-युगीन कविता में साहित्य का उद्देश्य है - लोकमंगल-भावना।

हिंदी आलोचना-शास्त्र में रीतिवाद-विरोधी अभियान को **आचार्य रामचन्द्र शुक्ल** ने दृढ़ आधार दिया। वे संस्कृत के आनंदवादी आचार्यों का 'रस-मीमांसा' में साथ न दे सके। **रस की लोकमंगलवादी व्याख्या** करते हुए उन्होंने ऐतिहासिक कार्य किया। भरत और मैथ्यू आर्नल्ड के साथ आई.ए.रिचर्डस की ओर झुकते हुए उन्होंने कलावाद-रूपवाद का खंडन किया। काव्य में विरुद्धों के सामंजस्य-सिद्धांत का समर्थन किया और काव्य प्रयोजन संबंधी दृष्टिकोण को स्पष्टतः से प्रस्तुत करने के लिए निबंध लिखा - 'काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था'। लोकमंगल की साधनावस्था के प्रतिमान हैं - तुलसीदास और उनका 'रामचरितमानस' तथा सिद्धावस्था या आनंद-क्रीड़ा के कवि हैं - विद्यापति, बिहारीलाल।

आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने 'साहित्य-सहचर' में साहित्य का प्रयोजन 'लोक-चिंता' को घोषित किया। उनके प्रिय कवि हैं - कबीर। कबीर की चिंतन-परम्परा ही अशिक्षित जनता की व्यथा-कथा को व्यक्त करती है। आ.द्विवेदी मानते हैं कि रचनाकार लोक-चिंताओं से जुड़कर ही लोक को दिशा-दृष्टि देता है।

हिंदी काव्यशास्त्र में पूर्वी और पश्चिमी काव्यशास्त्र पर **डॉ. नगेन्द्र** ने बहुत महत्वपूर्ण कार्य किया है। वे रसवादी आचार्य हैं और उनके चिंतन का उत्तमांश है - 'रस-सिद्धांत'। डॉ.नगेन्द्र साहित्य का प्रयोजन 'आत्माभिव्यक्ति' मानते हैं - रस को काव्य-प्रतिमान।

छायावाद के कवियों ने सृजन को, भारतीय स्वाधीनता-आंदोलन के नवजागरण से शक्ति लेकर मानव-मुक्ति-चेतना की ओर प्रवृत्त किया। **सुमित्रानंदन पंत** ने 'पल्लव' की भूमिका में रीतिवाद की कठोर निंदा की और मुक्त जीवन-सौंदर्य की अभिव्यक्ति को काव्य का प्रयोजन स्वीकार किया। **जयशंकर**

प्रसाद ने 'काव्य और कला तथा अन्य निबंध' के निबंधों मे रस की शंवाद्वैतवादी-आनंदवादी परम्परा का समर्थन किया और कविता को 'श्रेयमयी प्रेय ज्ञानधारा' माना है। अर्थात् आनंद और लोकमंगल, दोनों का सामंजस्य ही सृजन-धर्म है। **सूर्यकांत त्रिपाठी निराला** ने मिल्टन, माइकल मधुसूदर दत्त, तुलसीदास और रवीन्द्रनाथ की नवजागरणवादी परम्परा का हिंदी में विस्तार किया। उनका पूरा सृजन और चिंतन नवजागरण के मूल्यों से अनुप्राणित है और रूढ़िवाद का विरोधी। निराला और प्रसाद की चिन्तन-राह पर ही महादेवी वर्मा आगे बढ़ी हैं। उन्होंने गद्य में उपेक्षितों को और काव्य में 'शक्ति-काव्य' को अपनाया। उनके मत से साहित्य का उद्देश्य है - मानव-करुणा का विस्तार।

हिंदी में **'प्रगतिवाद'** के आंदोलन ने रूढ़िवाद का विरोध करते हुए मार्क्सवादी समाज-चिंतन को ग्रहण किया। **प्रेमचन्द** ने कहा कि रचनाकार समाज में आगे चलने वाली मशाल होता है - रचनाकार 'स्व-भाव' से प्रगतिशील होता है। उन्होंने लिखा - 'हमारे साहित्यकार ने निश्चित रूप से मनुष्य की महिमा स्वीकार कर ली है। अगला कदम सामूहिक मुक्ति का है - सब प्रकार के शोषणों से मुक्ति का।.....व्यक्ति मानव के स्थान पर समष्टि मानव का प्राधान्य। परंतु साथ ही उसने मनुष्य को व्यापक आदर्श और अधिक उत्साह दिया।' प्रेमचंद ने 'साहित्य का उद्देश्य' में जनता की चेतना को जाग्रत करना परिष्कृत करना साहित्य का उद्देश्य माना है।

हिंदी में 'प्रगतिशील' शब्द व्यापक अर्थ का वाहक है किंतु 'प्रगतिवाद' एक निश्चित तत्त्ववाद को सूचित करता है। प्रगतिशील साहित्य में विषय-वस्तु या अंतर्वस्तु को ज्यादा महत्व मिलता है - रूप को, कला-विन्यास को कम। साहित्य का उद्देश्य है - प्रतिक्रियावादी शक्तियों के लोक-विरोधी, जन-विरोधी चरित्र का भंडाफोड़ और मनुष्य की मनुष्यता का विकास-परिष्कार-प्रसार। रहस्यवादी-भाववादी रचनाकर्म का खंडन, 'कला कला के लिए' सिद्धांत का खंडन करते हुए कला में **उपयोगितावाद-यथार्थवाद** की महत्व-प्रतिष्ठा। डॉ. **रामविलास शर्मा** ने रीतिवाद-कलावाद के खंडन का कार्य 'प्रेमचन्द और उनका युग', 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिंदी आलोचना', 'परम्परा का मूल्यांकन', 'आस्था और सौंदर्य' तथा 'निराला की साहित्य-साधना' आदि सभी पुस्तकों में किया है। मूलतः डॉ.रामविलास शर्मा ने आ.रामचन्द्र शुक्ल की लोकमंगलवादी चिंतन-दृष्टि का विकास ही साहित्य का प्रयोजन माना है। शिवदान सिंह चौहान, रांगेय राघव, प्रकाश चन्द्र गुप्त का चिंतन मार्क्सवाद के विचारों का अनुवाद-मात्र है। हिंदी में गजानन माधव मुक्तिबोध ने नया चिंतन किया है। वे अज्ञेय के चिंतन में शीत-युद्ध की छाया पाते रहे। फलतः उन्होंने 'नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध' में 'लघु मानव सिद्धांत', 'क्षणवाद', 'रूपवाद-कलावाद' का विरोध किया। ग.मा.मुक्तिबोध साहित्य को जनता के लिए जनजागरण का अस्त्र मानते हैं। 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' तथा 'भूरी-भूरी खाक धूल' की कविताओं में भी वे पूँजीवादी-साम्राज्यवादी चिंतन का विरोध करते हैं।

प्रयोगवादी युग, नयी कविता युग तथा समकालीन युग में अज्ञेय, धर्मवीर भारती, विजयदेव नारायण साही, निर्मल वर्मा, लक्ष्मीकांत वर्मा, रामस्वरूप चतुर्वेदी आदि साहित्य-चिंतकों की एक पूरी पीढ़ी है जो 'व्यक्ति-स्वातंत्र्य', 'लघुमानव सिद्धांत' में विश्वास करती है। लेकिन इस पीढ़ी को कलावादी-रूपवादी-भाववादी-प्रतिक्रियावादी, शीत-युद्ध के मूल्यों के प्रचार की पीढ़ी कहना एकदम गलत और भ्रामक है। इनमें से कोई भी न तो शुद्ध फ्रायडवादी है, न अस्तित्ववादी है - ज्यादातर प्रजातंत्रवादी-समाजवादी चिंतन के लोग हैं जो 'कला कला के लिए' को साहित्य का प्रयोजन नहीं मानते हैं। इन सभी के मत से साहित्य का प्रयोजन है - मानव-व्यक्तित्व का समग्र विकास, मानव-स्वाधीनता की रक्षा, मुक्त-चिंतन का विकास। यह चिंतन अधिनायकवादी-उपनिवेशवादी-साम्राज्यवादी-फासिस्टवादी-मार्क्सवादी चिंतन का विरोध करता है। हाँ, सृजन में व्यक्तिवाद का विरोधी होकर भी आधुनिकतावादी चिंतन का समर्थन करता है। विजयदेवनारायण साही ने 'साहित्य किसके लिए' पुस्तक के निबंधों में अनेक प्रकार से यह कहा है कि रचनाकार किसी विचारधारा का भोंपू नहीं होता है - रचनाकार का मानवतावाद रचना की अर्थ-व्यंजना में निहित रहता है। अपनी पुस्तक 'जायसी' में उन्होंने कहा है कि 'पद्‌मावत' में जायसी का उद्देश्य सूफी सिद्धांतों का प्रसार न था - वे त्रासदी के माध्यम से मानव-सत्य का साक्षात्कार कराना चाहते थे। हिंदी जाति का विकास और इतिहास साक्षी है कि वह हर देशी-विदेशी को अपने में विलीन करते हुए एक नया रूप दे देता है। इसलिए हिंदी चिंतन परम्परा में लोकमंगलवादी मानव-सत्यों से साक्षात्कारवादी दृष्टि ही साहित्य का प्रयोजन रही है।

3.5 मूल्यांकन

भारतीय और पाश्चात्य साहित्य-प्रयोजन दृष्टि के पीछे सांस्कृतिक-सामाजिक चिंतन परम्पराओं का हाथ रहा है। भारतीय चिंतन का मूल रस-ध्वनि-वक्रोक्ति पर केंद्रित रहा है। हजारों वर्षों तक आचार्यगण रस-

ध्वनि-वक्रोक्ति पर वाद-विवाद करते रहे और आनंदवादी तथा कल्याणवादी विचारधाराओं में टकराहट बनी रही। इस टकराहट का कारण हमारा दर्शन, व्याकरण का चिंतन रहा, जो अभिन्नता में विश्वास करता है। द्वैत में अद्वैत, व्यष्टि में समष्टि, नर में नारायण, भिन्नता में अभिन्नता का अर्थ है - विरुद्धों में सामंजस्य स्थापित करने की शक्ति। यह शक्ति ही भारतीय सभ्यता-संस्कृति में रही है 'विरुद्धों का सामंजस्य'। दरअसल, हिंदुस्तान की संस्कृति का आधारभूत तत्व यही है - 'सुरसरि सम सबका हित होई' गंगा की तरह सभी को अपने में मिलाना और गंगा बना देना। इसलिए लोक-कल्याण और आनंद दो नाम अवश्य हैं, परंतु तत्वतः दोनों एक ही हैं, दोनो प्रयोजनों का मूल प्रयोजन है - लोक के साथ जीना, लोक-चिंता के साथ जीना। अपने हृदय को लोक के हृदय में मिलाना देना ही 'रस-दशा' है। रस-दशा का अर्थ है - हृदय की मुक्तावस्था, भावयोग दशा, साधारणीकरण - या समष्टि-भावना का आनंद। हिंदी काव्यशास्त्र के चिंतन का काव्य प्रयोजन संबंधी मूलाधार इसी हिंदुस्तानी लय से ओत-प्रोत है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि काव्य कला का प्रयोजन है - लोकमंगल भावना। लोकमंगल भावना का अर्थ है - मनुष्यता का विकास, उस मानवीयता का विकास जिसमें मानव के प्रति गहरे सामाजिक सरोकार हों, उसमें सौंदर्यानुभूति का विकास हो। इसे ही 'भावों का विरेचन', 'भाव परिष्कार', 'भाव-उन्नयन', 'सांस्कृतिक चेतना का विकास' आदि अनेक नाम दिए गए हैं। रचनाकार ही मानवता के प्रति करुणा और सहानुभूति की चेतना का विस्तार करता है। इसी में आनंद के साथ लोकमंगल की सिद्धि का भाव निहित है। अपने-पराए की भेद-बुद्धि से मुक्त होकर रचनाकर्म का मानवतावाद विश्व-दृष्टि का प्रसार करता है। लोकजागरण और लोक-कल्याण ही जीवन के सत्य, शिव और सुंदर की समग्र अभिव्यक्ति है और यही साहित्य का प्रयोजन है।

3.6 शब्दावली

संस्कार	-	शिक्षा आदि द्वारा ठीक करना, शुद्ध करना, साफ करना, सजाना।
चिन्मय	-	शुद्ध ज्ञान
सुमनस/प्रमाता	-	भारतीय काव्यशास्त्र में सुमनस, सहृदय, प्रमाता आदि शब्द काव्य के गुणग्राही पाठक या नाटक के दर्शक के लिए प्रयुक्त हुए हैं।
कंचुक	-	वस्त्र
प्रत्यभिज्ञान	-	अपने स्वरूप की पहचान
लोकमंगल	-	लोक का हित, सभी का कल्याण
मिथक	-	देवकथा, पुराकथा, पुरावृत्त

3.7 अभ्यास के लिए प्रश्न

1. संस्कृत आचार्यों के काव्य प्रयोजन संबंधी मतों का निरूपण कीजिए।
2. पाश्चात्य चिंतन परंपरा के काव्य प्रयोजन संबंधी मतों पर विचार कीजिए।
3. आचार्य मम्मट द्वारा निरूपित काव्य प्रयोजन पर संक्षेप में विचार कीजिए।
4. हिंदी के आधुनिक विद्वानों की काव्य प्रयोजन संबंधी दृष्टि पर प्रकाश डालिए।
5. टिप्पणियाँ लिखिए :
   (क) मार्क्सवादी चिंतन में साहित्य-प्रयोजन।
   (ख) मनोविश्लेषणवादी चिंतन में साहित्य-प्रयोजन।

इकाई 4 शब्द-शक्ति विवेचन

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- शब्द-शक्ति से तात्पर्य बता सकेंगे;
- अभिधा, लक्षणा, व्यंजना शब्द-शक्तियों का उल्लेख कर सकेंगे; और
- शब्द-शक्तियों के महत्व की चर्चा कर सकेंगे।

4.1 प्रस्तावना

भारतीय काव्यशास्त्र में शब्द-शक्तियों के विवेचन की एक सुदीर्घ और सुचिंतित परंपरा रही है। आचार्यों ने शब्द और अर्थ-चिंतन की परंपरा में दार्शनिकों के चिंतन के साथ-साथ व्याकरण के आचार्य-चिंतन को प्रसंगानुसार ग्रहण किया है। नतीजा यह हुआ है कि शब्द की अनेक अर्थच्छायाओं का इतना सूक्ष्म और गहन विवेचन हुआ है कि आज का बौद्धिक या आधुनिक पाठक आश्चर्यचकित रह जाता है कि अर्थ-मीमांसा में हमारा बुद्धिवाद कितना विकसित था। भारतीय शब्द-शक्तियों के ढंग का क्रमबद्ध चिंतन पश्चिम में नहीं हुआ है। हाँ, वहाँ शब्द और अर्थ के विवेचन की एक झाँकी प्लेटो-अरस्तू, लांजाइनस तथा होरेस में मिलती है। भाषण कला और वक्तृत्व-कला के अंतर्गत भी वहाँ इस विषय पर चर्चा हुई है। किंतु सच्चे अर्थों में इस चर्चा का वैज्ञानिक आरंभ आई.ए.रिचर्ड्स तथा आग्डेन की पुस्तक **'दि मीनिंग ऑफ मीनिंग'** से होता है। रिचर्ड्स तो अपनी पुस्तकों - 'प्रिंसिपल्स ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज़्म' तथा 'प्रैक्टिकल क्रिटिसिज़्म' - में अर्थ-मीमांसा पर बराबर चर्चा करते रहे हैं। टी.एस.एलियट तथा नयी समीक्षा, शैली-विज्ञान, संरचनावाद आदि से लेकर विनिर्मितिवाद (डि-कंस्ट्रशन थ्योरी) के प्रवर्तक देरिदा तक यह चिंतन गतिशील रहा है। हिंदी में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'रस-मीमांसा' के निबंधों तथा टिप्पणियों में शब्द-शक्तियों की चर्चा की है। आज के रचनाकार और पाठक दोनों के साहित्यिक-सांस्कृतिक समझ के लिए शब्द-शक्ति चर्चा आवश्यक है। इस दृष्टि से शब्द-शक्तियों का विवेचन बहुत ही प्रासंगिक विषय है, क्योंकि आज शब्द और अर्थ पर अनेक कोणों से विचार किया जा रहा है।

4.2 'व्यापार' का अर्थ

शब्द की 'शक्ति' अर्थ को व्यक्त करने का व्यापार है। शब्द का 'कारण' जिसके द्वारा कार्य का सम्पादन होता है उसे 'व्यापार' कहा जाता है। जिस प्रकार घड़ा बनाने के लिए मिट्टी, चाक, दण्ड तथा कुम्हार आदि कारण हैं और चाक का घूमना वह व्यापार है जिससे घड़ा बनता है, उसी तरह अर्थ-बोध कराने में शब्द कारण है तथा अर्थ का बोध कराने वाले व्यापार अभिधा-लक्षणा-व्यंजना तथा तात्पर्यवृत्ति आदि हैं। भारतीय आचार्यों ने इन्हीं को 'शक्ति' या 'वृत्ति' नाम दिया है। आचार्य विश्वनाथ ने इसे 'शक्ति' नाम दिया है तो मम्मट ने 'वृत्ति'।

भारतीय आचार्यों ने अर्थ के तीन प्रमुख भेद किए हैं - वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ। एक चौथे प्रकार के अर्थ-तात्पर्य-वृत्ति या तात्पर्यार्थ को भी कुछ आचार्यों ने स्वीकृति दी है किंतु इसके संबंध में मतभेद रहा है। वाचयार्थ की उपलब्धि अभिधा-व्यापार से होती है। अर्थात् साक्षात् संकेत दिए गए अर्थ का जो शब्द अभिधा-व्यापार द्वारा बोध कराता है - वाचक कहलाता है। वाचक शब्दों से प्राप्त अर्थ को वाच्यार्थ कहते हैं। लक्ष्यार्थ में लक्षणा शब्द-शक्ति और व्यंग्यार्थ में व्यंजना-शक्ति सक्रिय रहती हैं। यहाँ हम अभिधा, लक्षणा, व्यंजना तथा तात्पर्य-वृत्ति का निरूपण कर रहे हैं।

4.3 अभिधा शब्द-शक्ति

प्रसिद्ध अर्थ अथवा साक्षात् संकेतित अर्थ के बोधक व्यापार (मूल कारण) को अभिधा शब्द-शक्ति कहते हैं। पाठक अथवा श्रोता को अभिधा से जो अर्थ मिलता है उसे मुख्यार्थ कहते हैं क्योंकि सामान्य मानव-जीवन भाषा के अभिधा-व्यापार से ही चलता है। अभिधा-व्यापार की लोक-व्यापकता को देखते हुए कुछ आचार्यों ने अभिधा को लक्षणा-व्यंजना की तुलना में ज्यादा महत्व दिया है - 'अभिधा उत्तम काव्य है - मध्य लक्षणा क्षीण / अधम व्यंजना रस कुटिल उलटी कहत प्रवीन' जैसे कथन इसी चिंतन परंपरा की ओर ध्यान आकृष्ट करते हैं। हम इस कथन से पूरी तरह सहमत न भी हों तो भी यह तो स्पष्ट है कि इसमें अर्थ की स्पष्टता, निश्चितता और भाषा की स्वच्छता का गुण है। पश्चिम में भी 'क्लैरिटी' 'पर्सपिक्युटी' को गद्य और पद्य, दोनों में महत्व दिया गया है। कारण, मुख्यार्थ के बिना लक्षणा-व्यंजना का कार्य हो ही नहीं सकता है। अभिधा में लक्षणा-व्यंजना से ज्यादा लोक-विस्तार है।

वाचक शब्द उन शब्दों को कहते हैं जो मुख्यार्थ अथवा साक्षात् संकेतित अर्थ का बोध कराते हैं। वाचक को संकेतित शब्द भी कहते हैं। अभिधा-शक्ति द्वारा ज्ञात अर्थ 'वाच्यार्थ' कहलाता है। वाच्यार्थ के अन्य नाम हैं - प्रसिद्धार्थ, मुख्यार्थ, साक्षात-संकेतित। साक्षात-संकेतित का अर्थ - शब्द के गुण, जाति, द्रव्य तथा क्रिया से निर्धारित होता है। अभिधा-शक्ति के द्वारा तीन प्रकार के शब्दों का बोध हो जाता है - रूढ़, यौगिक, योगरूढ़। रूढ़ शब्द वे शब्द कहलाते हैं जिनका अर्थ-बोध लोक-प्रचलन की समुदाय-शक्ति द्वारा होता है। इनकी व्युत्पत्ति नहीं होती जैसे घोड़ा, गढ आदि। यौगिक शब्द उन शब्दों को कहते हैं जिनका अर्थ-बोध (प्रकृति और प्रत्यय) की शक्ति द्वारा होता है जैसे सुधांशु, दिनकर, दिवाकर आदि। योगरूढ शब्द उन शब्दो को कहते हैं जिनका अर्थ-बोध अवयवों की शक्ति के सहयोग से होता है। ये शब्द यौगिक होते हुए भी रूढ़ होते हैं जैसे 'जलज' का यौगिक अर्थ है जल से उत्पन्न, पर योगरूढ़ अर्थ हैं - कमल।

वस्तुतः अभिधा-व्यापार द्वारा वाचक शब्दों से अर्थ का स्पष्ट या प्रत्यक्ष संकेत मिलता है जैसे 'गो' शब्द कहने से एकदम एक विशिष्ट प्रकार के पशु का बोध होता है। 'पद और तद्विषयक पदार्थ में निश्चित संबंध होता है। अतः एक विशेष शब्द से एक विशेष पदार्थ का ही ज्ञान होना अनिवार्य है। बचपन से ही हम शब्द और पदार्थ के इस निश्चित संबंध को जानने लगते हैं और जैसे-जैसे अनुभव बढ़ता है वैसे-वैसे हमारा संबंध ज्ञान अधिकाधिक समृद्ध होता जाता है। संकेत-ग्रह के बारे में दार्शनिकों, वैयाकरणों, आलंकारिकों आदि में पर्याप्त मतभेद मिलता है। जब हम 'घर' अथवा 'गो' शब्द कहते हैं तब हमारा संकेत जाति से है अथवा व्यक्ति से, इस प्रश्न को लेकर दीर्घकाल तक विवाद चलता रहा। यदि कोई कहे कि गाय सड़क पर जा रही है तो उसका यह अभिप्राय कदापि नहीं कि गाय जाति के सभी प्राणी सड़क पर चले रहे हैं। उसका प्रयोजन केवल एक विशेष गाय से है। किंतु यद्यपि संकेत किसी गाय-विशेष की आरे है तथापि गाय शब्द के उच्चारण-मात्र से जाति ध्यान में आती है। फलतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि संकेत जाति और व्यक्ति दोनों का है। (साहित्य-सिद्धांत पृ.51) सार संक्षेप यह कि चार अर्थों में संकेत ग्रहण होता है - जाति, गुण, क्रिया, यदृच्छा। शक्ति-ग्रह के आठ साधन माने गए हैं - व्याकरण, उपमान, कोश, आप्तवाक्य, व्यवहार, वाक्याराप, विवृत्ति तथा सिद्धपद सान्निध्य। बौद्ध दार्शनिकों का विचार है कि संकेत-ग्रह अपोह में होता है। अर्थात् अपोह रूप अर्थ में ही शब्द का संकेत है - गो शब्द कहने से सभी पदार्थों का निराकरण हो जाता है केवल गो शब्द से गो अर्थ का बोध होता है। बौद्ध लोग जाति अथवा व्यक्ति में संकेत ग्रह नहीं मानते हैं। पश्चिम में रिचर्ड्स तथा आग्डेन ने दि मीनिंग ऑफ मीनिंग में शब्द को प्रतीक या चिह्न या संकेत मात्र मानकर प्रमुख रूप से शब्द के मुख्यार्थ या प्रसिद्धार्थ का ही विवेचन किया है क्योंकि शब्द का अभिधेय अर्थ ही लोक-व्यवहार में सर्वाधिक अर्थ-व्याप्ति रखता है।

4.4 लक्षणा शब्द-शक्ति

साहित्य में लक्षणा शब्द-शक्ति वहाँ होती है जहाँ लक्षक या लाक्षणिक शब्द का प्रयोग हो। मम्मट के अनुसार -

मुख्यार्थबाधे तद्योगेरूढितोऽथ प्रयोजनात।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत सा लक्षणा रोपिता क्रिया॥ (काव्य-प्रकाश 2:1)

अर्थात् मुख्य अर्थ के बाधित होने पर रूढ़ि अथवा प्रयोजन के कारण जिस शक्ति (क्रिया) के द्वारा मुख्य अर्थ से संबंध रखने वाला अन्य अर्थ लक्षित हो, उसे लक्षणा-व्यापार शक्ति कहते हैं। इस भाँति लक्षणा के लिए तीन बातें आवश्यक हैं - (1) मुख्यार्थ में बाधा, (2) मुख्यार्थ का अमुख्यार्थ (लक्ष्यार्थ) के साथ योग या आवश्यक संबंध; और (3) रूढ़ि अथवा प्रयोजन का कारण रूप में विद्यमान होना। यहाँ लक्षणा मूलतः अर्थ का व्यापार है - शब्द में वह आरोपित है। रूढ़ि अथवा प्रयोजन के आधार पर लक्षणा के दो प्रमुख भेद हैं - रूढ़ा और प्रयोजनवती लक्षणा। इन दोनों के क्रमशः उदाहरण हैं - (क) कर्मणि कुशलः (ख) गंगायां घोषः।

4.4.1 रूढ़ा लक्षणा

कुशल शब्द का अर्थ होता है - कुश (घास) को उखाड़कर लाने में चतुर। इस कार्य के लिए चतुरता जरूरी है, अपने हाथ को क्षति-ग्रस्त किए बिना कुश को उखाड़ना या उखाड़ने की कला-विधि में चतुर। जब हम कहते हैं कि कोई व्यक्ति कार्य-कुशल है तो हमारा अभिप्राय होता है कि वह कार्य करने में कुशल या दक्ष या प्रवीण है। व्यवहार में यही अर्थ प्रचलित हो गया। किंतु, मुख्यार्थ से सम्बद्ध होने पर भी वह उससे भिन्न है। रूढ़ा लक्षणा का अर्थ है - जहाँ मुख्यार्थ से सम्बद्ध होने पर भी वह उससे भिन्न है। जहाँ मुख्यार्थ रूढ़ि के कारण लक्ष्यार्थ का बोध कराए वहाँ रूढ़ा लक्षणा मानी जाती है। किसी भी भाषा के सभी मुहावरे और लोकोक्तियाँ रूढ़ा लक्षणा के अंतर्गत आ जाते हैं जैसे 'आँख का तारा' होना, 'आँख का काँटा' होना आदि।

4.4.2 प्रयोजनवती लक्षणा

जहाँ मुख्यार्थ किसी प्रयोजन के कारण लक्ष्यार्थ का बोध कराए, वहाँ प्रयोजनवती लक्षणा मानी जाती है। 'गंगायां घोषः' का अभिधा में अर्थ होगा - गंगा में अहीरों की बस्ती है। कहने वाले का प्रयोजन है कि गंगा तट पर जहाँ अहीरों की बस्ती है वहाँ वही शीतलता और पावनता है जो गंगा की धारा में है। यहाँ 'प्रयोजन' व्यंजना का विषय है। इसी कारण, प्रयोजनवती लक्षणा को 'व्यंजनाश्रित' स्वीकार किया गया है और उसे नया नाम दिया गया है - 'सव्यंग्या लक्षणा'। आचार्यों ने इस प्रश्न पर बहुत विवाद किया है कि लक्षण 'पद' में होता है अथवा 'वाक्य' में। अधिकांश आचार्य उसे पद का ही व्यापार मानते हैं किंतु विश्वनाथ ने लक्षणा को पद के अतिरिक्त वाक्य की शक्ति के रूप में भी माना है।

साहित्य-दर्पणकार विश्वनाथ ने लक्षणा के अस्सी भेट माने हैं - रूढ़ा के सोलह और प्रयोजनवती के चौंसठ भेद। मम्मट ने लक्षणा के तेरह भेद और उपभेद माने। प्रयोजनवती लक्षणा के दो भेद हैं - गौड़ी लक्षणा और शुद्धा लक्षणा। इन दोनों के दो-दो उपभेद हैं - उपादान लक्षणा और लक्षण-लक्षणा। इस प्रकार ये चार हैं फिर इन चारों के दो-दो उपभेद हैं - सारोपा और साध्यवसाना। गौण कहते हैं सादृश्य संबंध को और शुद्धा कहते हैं सादृश्य से इतर संबंध को। उपादान लक्षणा में शब्द के मुख्यार्थ का त्याग नहीं होता और साथ में अन्य अर्थ का भी आक्षेप होता है। लक्षण-लक्षणा में शब्द अन्य अर्थ की सिद्धि के लिए अपने को अर्पित कर देता है। गंगायां घोषः में गंगा शब्द का अर्थ तट किया जाए तो लखण-लक्षणा होगी और गंगा तट अर्थ किया जाए तो उपादान लक्षणा। संस्कृत के आचार्यों ने लक्षणा के इतने भेद-प्रभेद किए हैं कि आज के पाठक की बुद्धि चकरा जाती है। अतः लक्षणा के भेद-प्रभेदों की यहाँ चर्चा अनावश्यक है। केवल हमे इतना ही जानना पर्याप्त है कि लक्षणा का अर्थगत महत्व है। पाश्चात्य काव्यशास्त्र में मेटाफर को लक्षण का प्रमुख रूप माना जा सकता है। सरोपा लक्षणा और रूपक अलंकार का संबंध बहुत निकट का रहा है। रूपक केवल काव्य के अलंकरण का ही साधन नहीं रहा है अपितु अर्थ की लाक्षणिक अभिव्यक्ति में उसकी भूमिका का बहुत महतव है। सरोपा लक्षण में विषयी और विषय दोनों का शब्द द्वारा कथन किया जाता है जैसे वह निरा बैल है का अर्थ है - वह गँवार है। बैल के स्वरूप को वह पर आरोपित कर दिया - सरोपा लक्षणा है।

4.5 व्यंजना शब्द-शक्ति

अभिधा और लक्षणा के अतिरिक्त शब्द की तीसरी शक्ति का नाम - व्यंजना है। विद्वानों ने 'व्यंजना' शब्द की व्युत्पत्ति की ओर प्रायः ध्यान दिया है - 'अंजन' शब्द में 'वि' उपसर्ग लगाने से 'व्यंजन' शब्द निर्मित होता है। अतः व्यंजन शब्द का अर्थ हुआ - 'एक विशेष प्रकार का अंजन'। 'आँख में लगा हुआ अंज़न जिस प्रकार दृष्टि-दोष को दूर कर उसे निर्मल बना देता है, उसी प्रकार व्यंजना-शक्ति शब्द के मुख्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ को पीछे छोड़ती हुई उसके मूल में छिपे हुए अकथित अर्थ द्योतित करती है।' (हिंदी साहित्य कोश, भाग-1, संपा.धीरेन्द्र वर्मा) अभिधा-लक्षणा अपने अर्थ का बोध कराकर जब विरत हो जाती हैं तब जिस शब्द-शक्ति के द्वारा 'व्यंग्यार्थ' ज्ञात होता है, उसे व्यंजना-शक्ति कहते हैं। भारतीय काव्यशास्त्र में 'व्यंग्यार्थ' के लिए अनेक शब्द प्रयुक्त होते हैं - ध्वन्यार्थ, आक्षेपार्थ, सूच्यार्थ, प्रतीयमानार्थ आदि। अभिधा और लक्षणा का संबंध प्रायः शब्द से होता है, किंतु व्यंजना शब्द के साथ अर्थ पर भी आधारित रहती है। अर्थात् वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ - तीनों ही नवीन अर्थ-व्यंजना का साक्षात्कार बुद्धिमान पाठकों को कराते हैं। इतना ही नहीं, एक व्यंग्यार्थ दूसरे व्यंग्यार्थ की और दूसरा व्यंग्यार्थ तीसरे व्यंग्यार्थ की व्यंजना करा सकता है। ज़ाहिर है कि व्यंजना शब्द-शक्ति से शब्द का सूक्ष्मतर, गहनतर अर्थ-व्यंजित अथवा ध्वनित होता है।

वैयाकरणों के 'स्फोटवाद' सिद्धांत में भी 'व्यंजना' की महिमा का संकेत है। किंतु 'व्यंजना' की संपूर्ण महिमा को संस्कृत काव्यशास्त्र का ध्वनि सिद्धांत स्थापित करता है। आचार्य आनदवर्द्धन ने 'ध्वन्यालोक' में व्यंजना-शक्ति के निरूपण से पहले पूरा ध्यान उन तीन मतों के खण्डन पर केंद्रित किया है जो व्यंजना के अस्तित्व को ही अस्वीकार करते हैं। अभाववादी व्यंजना शक्ति को अस्वीकार करते हैं। लक्षणावादी आचार्यो का तर्क है कि व्यंजना का समाहार लक्षणा में ही हो जाता है तो अलग से मानने की आवश्यकता ही नहीं है। अभाववादी या अनुमानवादी महिम भट्ट ने 'व्यक्ति-विवेक' में व्यंजना को अस्वीकार करते हुए तर्क दिया था कि शब्द का अर्थ अनुमानाश्रित होता है - व्यंजनाश्रित नहीं। किंतु विचार-परंपरा में महिमभट्ट के मत को स्वीकृति नहीं मिली और तीसरे वर्ग के आचार्यो ने कहा कि व्यंजना का अस्तित्व है लेकिन वह 'अनिर्वचनीय' है। 'ध्वन्यालोक' में इन तीनों मतों को निराधार सिद्ध करने के बाद व्यंजना की अपार-व्याप्ति की प्रतिष्ठा का प्रतिपादन किया गया है। पादाचार्य अभिनवगुप्त की अतलदर्शी प्रतिभा ने 'ध्वन्यालोक लोचन' तथा 'अभिनव-भारती' में ध्वनि की महिमा को अनन्यता प्रदान की। पीछे से मम्मट, विश्वनाथ तथा रसगंगाधरकार ने व्यंजना अथवा ध्वनि को महत्ता के उच्चतम शिखर पर पहुँचा दिया।

'ध्वन्यालोक' ने अपने पहले ही छंद में यह तथ्य घोषित किया कि काव्य की आत्मा ध्वनि है ऐसा मेरे पूर्ववर्ती विद्वानों का भी मत है। (ध्वनिरिति बुधर्यः समाम्नातपूर्वः।) भारतीय दर्शन में भी 'व्यंजना एव' अभिव्यक्ति (दीपक से घर) की चर्चा भी बहुत प्राचीन है। कुन्तक ने 'वक्रोक्ति जीवितम्' में कहा 'सादृश्या लक्षणा वक्रोक्ति' अर्थात् लक्षणा में जहाँ सादृश्य गर्भित होता है वहाँ वह वक्रोक्ति होती है। सादृश्य की यह व्यंजना ध्वनि के अंतर्गत आती है। ध्वनिकार ने कहा कि काव्य में मुख्यतः वाच्यार्थ का नहीं वरन् व्यंग्यार्थ का सौंदर्य होता है। व्यंग्यार्थ की महत्ता के अनुपात से ही काव्य के तीन भेद किए गए - उत्तम काव्य अर्थात् ध्वनि काव्य, मध्यम काव्य अर्थात् गुणीभूत व्यंग्य काव्य और अधम काव्य अर्थात् चित्र काव्य। ध्वनि तीन प्रकार की होती है - रस-ध्वनि, अलंकार ध्वनि, वस्तु ध्वनि। इन तीनों में रस-ध्वनि ही सर्वश्रेष्ठ है। अभिनवगुप्त ने अभाववादी भट्टनायक के भावकत्व और भोजकत्व दोनों को व्यंजना में समाविष्ट कर लिया। अर्थ का प्रस्फुटन की स्फोट है और यह अर्थ-स्फोट शब्द और वाक्य से लेकर प्रबंध तक का होता है। इस प्रकार, ध्वनि-सिद्धांत का पूरा आधार ही व्यंजना-शक्ति पर केंद्रित हो गया। भट्टनायक और महिम भट्ट ने 'व्यंजना' को अस्वीकार किया था किंतु अभिनवगुप्त ने उन्हें अपने तर्कों से पराजित कर दिया। सेठ कन्हैयालाल पोद्दार ने 'व्यंजना' का सारांश इन शब्दों में दिया है:

1. लक्षणा में जो प्रयोजन रूप व्यंग्यार्थ होता है, जिसके लिए लक्षणा की जाती है, उसका बोध लक्षणा द्वारा न होकर केवल व्यंजना द्वारा ही हो सकता है।

2. असंलक्ष्य क्रम व्यंग्य में रस-भावादि व्यंग्य रहते हैं जो न तो अभिधा के वाच्यार्थ हैं न लक्षणा के लक्ष्यार्थ।

3. समान अर्थ के बोधक शब्दों का अभिधेयार्थ सर्वत्र एक ही होता है, परंतु व्यंग्यार्थ भिन्न हो सकते हैं।

4. प्रकरण, वक्ता, बोधक, स्वरूप, काल, आश्रय, निमित्त, कार्य, संख्या और विषय आदि के अनुसार व्यंग्यार्थ प्रायः वाच्यार्थ से भिन्न हो जाता है। उदाहरण के लिए 'सूर्यास्त हो गया' इस वाक्य का वाच्यार्थ तो सभी के लिए एक होगा परंतु व्यंग्यार्थ, प्रकरण आदि के अनुसार भिन्न-भिन्न रूप में प्रतीत होगा।

5. वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में काल-भेद सर्वत्र रहता है अर्थात् वाच्यार्थक बोध प्रथम और व्यंग्यार्थ का बाद में होता है।

6. वाच्यार्थ केवल शब्द में ही रहता है, पर व्यंग्यार्थ शब्द के एक अंश, शब्द के अर्थ और वर्णों की स्थापना-विशेष में रहता है।

7. वाच्यार्थ केवल व्याकरण आदि के ज्ञान से ही हो सकता है, परंतु व्यंग्यार्थ विशुद्ध प्रतिभा द्वारा काव्य-मार्मिकों को ही भासित हो सकता है।

8. वाच्यार्थ से केवल वस्तु का ही ज्ञान होता है पर व्यंग्यार्थ से चमत्कार (आनंद का आस्वादन) उत्पन्न होता है।

4.5.1 व्यंजना शब्द-शक्ति के भेद

भारतीय आचार्यों ने इसके दो भेद माने हैं - (क) शाब्दी-व्यंजना; और (ख) आर्थी व्यंजना।

4.5.2 शाब्दी व्यंजना

शब्द पर आधारित व्यंजना **अभिधामूला** तथा **लक्षणामूला** दो प्रकार की होती है।

क) **अभिधामूला शाब्दी व्यंजना :** 'काव्य-प्रकाश' के अनुसार जब संयोग आदि के द्वारा शब्द का वाच्यार्थ नियंत्रित हो जाता है तब व्यंजना ऐसे अर्थ का द्योतन कर दिया करती है जिसे कभी वाच्यार्थ नही कहा जा सकता। अनेकार्थी शब्दों के एक अर्थ में नियंत्रित हो जाने के बाद जिस शक्ति द्वारा उन शब्दों से दूसरा अर्थ ध्वनित होता है उसे अभिधामूला शाब्दी व्यंजना कहते हैं। अनेकार्थी शब्दों को एक अर्थ में नियंत्रित करने के चौदह कारण बताए गए हैं - संयोग, विप्रयोग, साहचर्य, विरोध, अर्थ, प्रकरण, लिंग, अन्य सन्निधि, सामर्थ्य, औचित्य, देश, काल, व्यक्ति तथा स्वर। एक उदाहरण लीजए - 'मलिनि आजक है न क्यों वा रसाल को हाल' ('काव्य निर्णय', भिखारीदास) यहाँ 'रसाल' शब्द अनेकार्थी है और 'आम' तथा 'प्रिय' का अर्थ देता है। मलिन के 'साहचर्य' से उसका अर्थ आम का फल निर्धारित हुआ, पर रसाल प्रिय व्यक्ति या रसिया के लिए भी प्रयुक्त होता है - इसका व्यंग्यार्थ हुआ कि हे सखी मेरे प्रिय का समाचार क्यों नहीं देती। वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ ज्ञात होने के कारण यहाँ अभिधामूला आर्थी व्यंजना है और शाब्दी इसलिए कि 'रसाल' शब्द को हटाते ही व्यंजना समाप्त हो जाती है।

ख) **लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना** : लक्षणा में शब्द का मुख्यार्थ बाधित रहता है। अतः जिस प्रयोजन की सिद्धि के लिए लक्षणा का सहारा लिया जाता है उस प्रयोजन की व्यंजना करने वाली शक्ति को **लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना** कहते हैं। स्पष्ट बात यह कि लक्षणा (प्रयोजनवती लक्षणा) ही व्यंजना के प्रयोजन का आधार बनती है। 'काव्य-प्रकाश' के मत से प्रयोजनवती लक्षणा के बारह भेद हैं, सब मिलाकर चौंसठ भेद हैं। ये सभी भेद लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना के उदाहरण हैं। 'गंगाया घोषः' की लक्षणा का अर्थ - 'मेरा गाँव गंगा के समीप है' व्यंग्यार्थ से ही लिया जाएगा अर्थात् गंगा के समीप गाँव में शीतलता-पवित्रता है।

4.5.3 आर्थी व्यंजना

वक्तृ, बोधव्य, काकु, वाक्य, वाच्य, सन्निधि, प्रस्ताव, देश, काल तथा चेष्टा आदि की विलक्षणता के कारण आर्थी व्यंजना के दस भेद हैं। कुछ विद्वान आर्थी व्यंजना के केवल तीन भेद मानते हैं - वाच्य सम्भवा, लक्ष्य सम्भवा तथा व्यंग्य सम्भवा। कारण, अर्थ के तीन भेद है - वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य। वस्तुतः व्यंजना में अर्थ-संभावनाओं की कोई सीमा नहीं है। अतः उसके दस या तीस भेदों की बात व्यर्थ है। शास्त्रकारों ने जिन भेदों की चर्चा की है - वे तो उदाहरण-मात्र हैं। वक्तृ-विशिष्ट आर्थी व्यंजना का एक उदाहरण लीजिए -

निरखि सेज रंग रंग भरी लगी उसासें लैन।
कछु न चैन चित्त में रहयो चढ़त चाँदनी रैन।। **(पद्माकर)**

होली के दिनों की चाँदनी भरी मादक रात में रंग-बिरंगी सेजों को देखकर नायिका आहें भरने लगी। उसके चित्त का चैन छिनने लगा। अर्थात् नायक की निष्ठुरता (व्यंग्यार्थ) पर उसे मलाल हुआ।

प्रतीयमान अर्थ का क्या मतलब है? इस संदर्भ में ध्वनिकार का मत है कि प्रतीयमान कुछ और ही चीज़ है जो रमणियों के प्रसिद्ध मुख, नेत्र, श्रोत्र, नासिकादि अवयवों से भिन्न उनके लावण्य के समान महाकवियों की वाणी में (वाच्य अर्थ से अलग) भासित होता है। इस कथन से जाहिर है कि व्यंजना में अर्थ की अनंतता होती है, साथ ही व्यंजना अथवा ध्वनि प्रतीयमान भाषा का स्थूल तत्व न होकर सूक्ष्मतर अमूर्त व्यापार है। वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति में निहित चमत्कारपूर्ण प्रभाव को अभिव्यक्त करना ही व्यंजना का ध्येय है। शब्द और अर्थ, वाक्य और प्रबंध, संपूर्ण काव्य में व्यंजना का अनंत अर्थ-सौंदर्य मिलता है। अतः लक्षणा की तुलना में व्यंजना का क्षेत्र बहुत विस्तृत और विशाल है।

संस्कृत काव्यशास्त्र में व्यंजना के भेदों-प्रभेदों पर निगाह डालने के बाद प्रो. राम अवध द्विवेदी ने कहा है - 'ध्वनि के भेदों-प्रभेदों का प्रश्न अत्यंत जटिल है। मम्मट ने 10455 भेदों का उल्लेख किया है। सच तो यह है कि व्यंजना की संभावनाएँ अनंत हैं और उसके विभिन्न रूपों की परिगणना नहीं कर सकते। जहाँ कहीं कथन में वैदग्ध मिलता है, अनुमान यही होता है कि व्यंजना-व्यापार अपना कार्य कर रहा है। तभी तो ध्वनि काव्य को उत्तम काव्य माना गया है।' (साहित्य सिद्धांत, पृ.54) फिर भी ध्वनि के भेदों की थोड़ी बात अपेक्षित है। ध्वनि के मोटे भेद हैं - अभिधामूला और लक्षणामूला। लक्षणामूला के दो भेद - अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि और अत्यंत तिरस्कृत वाच्य ध्वनि। अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि से अभिप्राय है - जहाँ वाच्यार्थ दूसरे अर्थ में संक्रमित हो जाए अर्थात् इसमें वाच्यार्थ बाधित अथवा अनुपपन्न होने के कारण दूसरे अर्थ में संक्रमण कर जाता है। मुख्यार्थ की अनुपपत्ति प्रायः दो कारणों से होती है - (1) किसी शब्द की पुनरुक्ति के कारण, जैसे राम राम ही हैं (2) वक्ता का मंतव्य अस्पष्ट होने के कारण जैसे गंगा पर गाँव हैं - कथन का अर्थ है 'गंगा के समीप ही'। इस अर्थान्तर को ग्रहण करना पड़ता है। इसलिए अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि को अविवक्षित वाच्य ध्वनि का पहला भेद माना जाता है। अत्यंत तिरस्कृत वाच्य ध्वनि में वाच्यार्थ अत्यंत तिरस्कृत रहता है - उसको छोड़ दिया जाता है - यह ध्वनि पदगत और वाक्यगत दोनों प्रकार ही होती है। पदगत जैसे 'तुम्हारी आँखों का आकाश / सरल आँखों का नीलाकाश / खो गया मेरा खग अनजान।' (सुमित्रानन्दन पन्त) यहाँ 'खग' शब्द का मुख्यार्थ प्रसंग में असिद्ध होने के कारण छोड़ दिया गया है - परित्यक्त है एवं 'मन' का अर्थ देना है।

इसी प्रकार अभिधामूला के दो भेद हैं - असंलक्ष्यक्रम ध्वनि और संलक्ष्यक्रम ध्वनि। असंलक्ष्यक्रम ध्वनि में पूर्वापर का क्रम ठीक प्रकार से दिखाई नहीं दे पाता - पर क्रम होता अवश्य है और आभासित भी होता है। इसीलिए इसे अभिधामूला विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि का पहला भेद भी कहा जाता है। अभिधामूला ध्वनि में वाच्यार्थ अपना बोध कराकर व्यंग्यार्थ की पुष्टि करने लगता है। असंलक्ष्यक्रम की व्यंजनाएँ आठ रूपों में होती हैं - रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावसंधि तथा भाव-शबलता। रस में अनौचित्य रसाभास है - जैसे शिष्य का गुरू-पत्नी से प्रेम अनौचित्य है। 'सूरदास सरबस दै दीजै कारो कृतहि न माने' पूरे वाक्य में वक्ता की खीझ का चमत्कार है। संलक्ष्यक्रम ध्वनि में वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ की प्रतीति का पूर्वापर क्रम स्पष्ट रीति से लक्षित होता है - इसी से इसे संलक्ष्यक्रम ध्वनि कहते हैं। कभी-कभार इसे 'अनुरणन ध्वनि' भी कहा जाता है। अनुरणन माने है पीछे होने वाली अनुगूँज - घंटे के अनुगूँज की तरह। यह व्यंजना कभी वसतु-ध्वनि से होती है की अलंकार ध्वनि से। 'वस्तु' किसी बात का कथन - 'ऊधौ भली करो ब्रज आए' की वस्तु-ध्वनि है कि ऊधो तुमने ब्रज की गोपियों को निर्गुण का उपदेश देकर अच्छा ही किया - हमारी कृष्ण में भक्ति और दृढ़ हो गई।

पाश्चात्य काव्यशास्त्र में व्यंजना के सादृश्य अर्थ की बात प्राचीनकाल से होती चली आई है तथा शैली पर विचार करने वाले सभी आचार्यों से वाच्यार्थ से भिन्न लक्ष्यार्थ - व्यंग्यार्थ की चर्चा की। 'विट', 'ह्यूमर', 'सेटायर', 'आयरनी' की चर्चा में व्यंग्यार्थ की बात है। रिचर्डस ने 'इमोटिव मीनिंग' तथा 'कंटेक्स्चुयल मीनिंग' में व्यंजना-व्यापार का ही संकेत दिया है एम्पसन ने एम्बियुटी थियरी (अनेकार्थकता के सिद्धांत) में व्यंजना-वृत्ति की अनंतता को ही संकेतित किया है। एफ.आर.लीविस तथा टिलयर्ड ने 'ऑब्लीक मीनिंग' की बात व्यंजना के संदर्भ में ही कही हैं। वास्तव में 'ऑब्लीक मीनिंग' तो व्यंजना का लगभग पर्याय है। सार-संक्षेप यह कि काव्यार्थ या व्यंग्यार्थ या काव्य की अनंत अर्थ-संभावनाओं की बात देश-विदेश में सदैव मान्य रही है।

4.6 तात्पर्या-वृत्ति

अभिधा वृत्ति द्वारा वाक्यगत प्रत्येक पद का वाच्यार्थ ज्ञात हो चुकने के बाद जिस वृत्ति द्वारा उन पदों के अन्वित अर्थ (तात्पर्य) का ज्ञान होता है उसे **तात्पर्या-वृत्ति** कहा जाता है। काव्य की इस चतुर्थ-शक्ति के बारे में विद्वानों में मतभेद हैं। अभिनवगुप्त, मम्मट आदि ध्वनिवादी आचार्यों ने 'तात्पर्या-वृत्ति' को व्यंजना से पृथक माना है किंतु परवर्ती टीकाकारों ने तात्पर्या-वृत्ति से व्यंजना को अभिन्न सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। इस बात पर सभी एकमत हैं कि तात्पर्य की स्थिति पद में - वाक्यार्थ में - होती है।

कुमारिल भट्ट की चिंतन-परंपरा के मीमांसकों के मत से अभिधा-शक्ति के द्वारा प्रत्येक पद का अलग-अलग अर्थ ही ज्ञात होता है, इसका अन्वित अर्थ ज्ञात नहीं होता - अर्थात् वाक्यार्थ ज्ञात नहीं होता। अभिधा-वृत्ति का क्षेत्र प्रत्येक पद के अर्थ निर्देश तक सीमित है। संपूर्ण वाक्य के 'तात्पर्य' निर्देश के लिए अन्य वृत्ति चाहिए, वह है तात्पर्या-वृत्ति। अभिधावृत्ति से प्रोक्त अर्थों का आपस में 'तात्पर्य' वृत्ति के द्वारा अन्वय-संबंध स्थापित करना पड़ता है। इसी कारण इन मीमांसकों को 'अभिहितान्वयवादी' कहा जाता है। अभिहितान्चयवादियों के अनुसार किसी वाक्य का अर्थ तीन कारणों से निश्चित होता है - आकांक्षा, योग्यता तथा सन्निधि। घोड़ा, गौ आदि पद अर्थ-अभिव्यक्ति के लिए दूसरे पदों से संबंध की अपेक्षा रखते हैं। पदों के परस्पर साहचर्य के बिना 'वाक्यार्थ' संभव ही नहीं है। इसी प्रकार, पदों में उपयुक्त अर्थ देने की योग्यता भी होनी चाहिए - अयोग्यता का प्रसिद्ध उदाहरण है - 'वह आग से सींचता है'। जबकि 'पानी से सींचा जा सकता है, आग से नहीं।' तीसरा कारण है - सन्निधि अर्थात् सहयोगी पदों के बीच में अनावश्यक व्यवधान होता है तो अर्थ-बाधा आती है। बीच-बीच में निरर्थक शब्दों के आने से अर्थ-बाधा आती है। अतः कह सकते हैं कि आकांक्षा, योग्यता तथा सन्निधि तीन कारण मिलकर अर्थ का स्फोट करते हैं। इस बात पर बार-बार बल दिया गया है कि स्मृति-मति-प्रज्ञा अर्थात् त्रिकालदर्शी प्रतिभा ही तात्पर्य-वृत्ति का आधारभूत तत्व है। पश्चिम में 'इम्प्लाइड मीनिंग' अर्थात् गूढ़ार्थ और कॉन्टेक्चुयल मीनिंग अर्थात् संदर्भगत अर्थ को न्यू क्रिटिसिज़्म, शैली-विज्ञान, संरचनावाद में बहुत महत्व मिला है। नव्य-अरस्तूवादी आलोचक भी 'प्लॉट' की चर्चा में तात्पर्य की चर्चा करना जरूरी समझते हैं। किंतु आलोचकों का एक ऐसा वर्ग भी देश-विदेश में है जैसे टी.एस.एलियट और एफ.आर. लीविस आदि जो तात्पर्य और व्यंजना (सजेस्टीविटी) को एक मानते हैं।

4.7 मूल्यांकन

देश-विदेश की समीक्षा-पद्धतियों में विश्लेषण की पद्धति का ज़ोर बढ़ रहा है। 'नयी समीक्षा' तो अपने इस कार्य के लिए प्रसिद्ध ही रही है। संस्कृत में भाष्य, टीका-पद्धति में इसी विश्लेषणात्मक-गवेषणात्मक समीक्षा का बोलबाला रहा है। हिंदी में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और डॉ. रामविलास शर्मा, दोनों का ज़ोर शब्द-अर्थ विश्लेषण पर है। विश्लेषण तभी संभव होता है जब आलोचक शब्द की विभिन्न शक्तियों तथा अर्थ-भेद की विभिन्न पद्धतियों-भेदों-प्रभेदों से गहन परिचय रखता हो। शब्द और अर्थ की व्याख्या, अर्थ-मीमांसा के आधार पर मूल्य-मीमांसा का जो कार्य आज की आलोचना में हो रहा है उसकी अपनी उपयोगिता और सार्थकता है।

4.8 अभ्यास के लिए प्रश्न

1. काव्य की अभिधा-शक्ति पर विचार कीजिए।
2. काव्य में लक्षणा शब्द-शक्ति की स्थिति स्पष्ट कीजिए।
3. काव्य में व्यंजना-शक्ति पर प्रकाश डालिए।
4. तात्पर्या-वृत्ति की सार्थकता पर विचार कीजिए।

इस खंड के लिए कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, **चिन्तामणि भाग-1**, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी.

2. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, **रस मीमांसा**, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी

3. आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी, **साहित्य सहचर**, 'हज़ारी प्रसाद द्विवेदी रचनावली', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली.

4. जयशंकर प्रसाद, **काव्य कला तथा अन्य निबंध**, भारती भंडार, इलाहाबाद.

5. गजानन माधव मुक्तिबोध, **नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध**, मुक्तिबोध रचनावली, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली.

6. सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' **दूसरा सप्तक**, भारतीय ज्ञानपीठ, लोदी रोड, नई दिल्ली.

7. सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' **सर्जना और संदर्भ**, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली.

8. बाबू गुलाबराय, **सिद्धांत और अध्ययन**, आत्माराम एंड संस, दिल्ली.

9. धीरेन्द्र वर्मा (संपा.), **हिंदी साहित्य कोश भाग-1**, ज्ञानमंडल, वाराणसी।

10. डॉ. नगेन्द्र, **भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका**, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज, नई दिल्ली.

11. डॉ. नगेन्द्र, **रस सिद्धांत**, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज, नई दिल्ली.

12. डॉ. नगेन्द्र एवं डॉ. सावित्री सिन्हा, **पाश्चात्य काव्यशास्त्र**, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली.

13. डॉ. नगेन्द्र, **अरस्तू का काव्यशास्त्र**, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज, नई दिल्ली.

14. डॉ. राम अवध द्विवेदी, **साहित्य सिद्धांत**, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना.

15. डॉ. रामविलास शर्मा, **आस्था और सौंदर्य**, राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली.

16. डॉ. रामविलास शर्मा, **परम्परा का मूल्यांकन**, राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली.

17. लक्ष्मीकांत वर्मा, **नयी कविता के प्रतिमान**, 'लक्ष्मीकांत वर्मा की प्रतिनिधि रचनाएँ' में संकलित, सचिन प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली.

18. लक्ष्मीकांत वर्मा, **नये प्रतिमान पुराने निकष**, 'लक्ष्मीकांत वर्मा की प्रतिनिधि रचनाएँ' में संकलित, सचिन प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली.

19. नामदस सिंह, कविता के नए प्रतिमान राजकमल प्रकाशन, दिल्ली

20. प्रो. निर्मला जैन, रस सिद्धांत और सौदर्यशास्त्र, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली

21. रामस्वरूप चतुर्वेदी, भाषा और संवेदना, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली

22. डॉ प्रेमसवरूप गुप्त, रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन, भारत प्रकाशन, अलीगढ़

23. डॉ. कृष्णदत्त पालीवाल, हिन्दी आलोचना का सैद्धांतिक आधार, सचिन प्रकाशन, दरियागंज नई दिल्ली



उत्तर प्रदेश
राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

MAHI-08
साहित्य सिद्धांत और समालोचना

खंड

2

भारतीय-काव्यशास्त्र : विकास के चरण

पाठ्यक्रम विशेषज्ञ समिति

पाठ्यक्रम निर्माण

इकाई लेखक
डॉ. सत्यदेव चौधरी (इकाई 5-6)
पूर्व रीडर, हिंदी विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली

पाठ्यक्रम संपादक
प्रो. निर्मला जैन
पाठ्यक्रम संयोजक
डॉ. रीतारानी पालीवाल

सामग्री निर्माण

प्रो. वी.रा.जगन्नाथन
निदेशक, मानविकी विद्यापीठ
इग्नू, नई दिल्ली

श्री कुलवंत सिंह
अनुभाग अधिकारी (प्रकाशन)
मानविकी विद्यापीठ, इग्नू

कैमरा रेडी कॉपी निर्माण एवं सचिवालयिक सहयोग
श्री हरीश कुमार सेठी

फरवरी 2004 (पुनः मुद्रित)

ISBN-81-266-0171-X

खंड 2 का परिचय

'साहित्य सिद्धांत और समालोचना' (एम.एच.डी-5) पाठ्यक्रम का दूसरा खंड - 'भारतीय काव्यशास्त्र : विकास के चरण' भारतीय साहित्य चिंतन की विविध दृष्टियों से संबंधित है। इसमें भारतीय काव्यशास्त्र के प्रमुख संप्रदायों में प्रतिपादित सिद्धांतों की जानकारी दी गई है।

दो हज़ार वर्षों के भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास में विकसित इन छह प्रमुख चिंतन दृष्टियों ने काव्य-सृजन और काव्यास्वादन से संबंधित प्रश्नों और समस्याओं पर अलग-अलग ढंग से विचार किया है। तर्क-बहस, खंडन-मंडन, चर्चा-संवाद, भाष्य-टिप्पणी को भारतीय चिंतन परंपरा में कितना अधिक महत्व दिया गया है ये संप्रदाय इसका प्रमाण हैं। भारतीय काव्यशास्त्र के सिद्धांतों पर दर्शनशास्त्र, व्याकरण-शास्त्र, कामशास्त्र, कलाशास्त्र, समाजशास्त्र आदि अनेक शास्त्रों का गहरा प्रभाव रहा है। अतः इनकी खंडन-मंडन दृष्टि के पीछे सक्रिय तर्क पर ध्यान देना आवश्यक है। इनके पीछे भारतीय जीवन की मूल्य-दृष्टि विद्यमान रही है। यह प्रश्न समय-समय पर उठाया जाता रहा है कि काव्य सृजन को परखने के ये मानदंड आज कितने प्रासंगिक हैं। किंतु ध्यान रखने की आवश्यकता है कि सृजन एक सांस्कृतिक प्रक्रिया है। अतः सृजन-विशेष में निहित संस्कृति-विशेष की भावात्मक और ज्ञानात्मक संवेदना के आंतरिक तत्त्वों को समझना अपेक्षित होता है।

संपूर्ण खंड कुल दो इकाइयों (इकाई 5-6) में विभाजित है।

इकाई 5 : **'भारतीय काव्यशास्त्र के प्रमुख संप्रदाय-I'** में क्रमशः रस संप्रदाय, अलंकार संप्रदाय और रीति संप्रदाय के आचार्यों द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों और उनसे संबद्ध खंडन-मंडन का विवेचन है।

इकाई 6 : **'भारतीय काव्यशास्त्र के प्रमुख संप्रदाय-II'** में वक्रोक्ति संप्रदाय, ध्वनि संप्रदाय और औचित्य संप्रदाय के आचार्यों द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों को प्रस्तुत करते हुए उनके मतों पर विभिन्न कोणों से विचार किया गया है।

इकाई 5 भारतीय काव्यशास्त्र के प्रमुख संप्रदाय-I

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के बाद आप

- **संस्कृत काव्यशास्त्र की चिंतन-दृष्टि का परिचय दे सकेंगे,**
- **विभिन्न संप्रदायों और उनके आचार्यों के विषय में बता सकेंगे,**
- **रस, अलंकार और रीति संप्रदाय की जानकारी दे सकेंगे तथा उनकी शक्ति और सीमाओं का उल्लेख कर सकेंगे।**

5.1 प्रस्तावना

पिछले खंड में भारतीय काव्यशास्त्र का अध्ययन करते हुए अभी तक हम यह विचार कर चुके हैं कि काव्य या साहित्य का लक्षण यानी परिभाषा क्या है, काव्य रचना किन कारणों अथवा हेतुओं से होती है तथा काव्य का प्रयोजन अथवा उद्देश्य क्या है। प्रस्तुत खंड में आप काव्य-सिद्धान्तों के विषय में पढ़ेंगे। इससे भारतीय साहित्य-चिंतन की परंपरा और उसमें विकसित विभिन्न मतों की जानकारी आपको मिलेगी। साहित्य चिंतन विषयक छः सम्प्रदायों में से तीन - रस-सिद्धान्त, अलंकार-सिद्धान्त, रीति-सिद्धान्त की चर्चा इस इकाई में की गई है और शेष तीन सिद्धांतों की चर्चा इकाई 6 में है।

5.2 संस्कृत काव्यशास्त्र की चिंतन-दृष्टि

भरतमुनि से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक लगभग डेढ़ दो हजार वर्ष तक फैली हुई संस्कृत काव्यशास्त्र की परंपरा में विभिन्न काव्य सिद्धांतों का प्रतिपादन और खंडन-मंडन होता रहा। ये सिद्धांत कई विचारधारात्मक दृष्टियों के माध्यम से प्रवर्तित-प्रतिपादित हुए जिन्हें 'भारतीय काव्यशास्त्र के

संप्रदाय कहा जाता है। ये संप्रदाय मुख्यतया छह हैं और इन संप्रदायों तथा इनके प्रणेता आचार्यों के नाम इस प्रकार हैं -

1. रस संप्रदाय - भरत मुनि
2. अलंकार संप्रदाय - भामह
3. रीति संप्रदाय - वामन
4. ध्वनि संप्रदाय - आनंदवर्धन
5. वक्रोक्ति संप्रदाय - कुंतक
6. औचित्य संप्रदाय - क्षेमेंद्र

भारतीय काव्यशास्त्र के इन संप्रदायों का विवेचन यहाँ दो इकाइयों (इकाई 5-6) में किया गया है। इन इकाइयों के अध्ययन से आप न केवल भारतीय साहित्य सिद्धांतों की चिंतन परंपराओं के समग्र परिप्रेक्ष्य को व्यापकता से समझ सकेंगे बल्कि काव्य के संदर्भ में उनकी प्रासंगिकता-अप्रासंगिकता को भी पहचान सकेंगे।

भारतीय काव्यशास्त्र संबंधी उपर्युक्त छः संप्रदाय वस्तुतः काव्य (साहित्य) संबंधी विभिन्न प्रश्नों और शंकाओं को उठाने और उनका उत्तर देने की खंडन-मंडन की प्रक्रिया के द्योतक हैं। भारतीय आचार्यों की परंपरा रही है कि वे किसी मत अथवा विचारधारा को आँख मूँद कर स्वीकार नहीं कर लेते। भारतीय काव्यशास्त्र में विकसित होने वाले संप्रदाय इस बात का प्रमाण हैं कि सिद्धांतों को लेकर निरंतर शंकाएँ उठाई गई। प्रत्येक संप्रदाय की विचारधारा या मत या सिद्धांत पर करारी बहसें की गई और खंडन-मंडन के माध्यम से निष्कर्ष निकाले गए।

भारतीय काव्यशास्त्र के इन संप्रदायों के अध्ययन से आपको यह स्पष्ट होगा कि कविता का प्राणतत्व क्या है। संसकृत आचार्य आत्मा और देह में बराबर अंतर करते रहें है। इसलिए दो तरह की विचार धाराएँ बराबर सक्रिय रहीं - पहली आत्मका को प्रधानता देने वाली विचारधारा जिसके अंतर्गत रस-संप्रदाय, ध्वनि-संप्रदाय और औचित्य-संप्रदाय को स्थान मिला। दूसरी, काव्य शरीर को प्रधानता देने वाली विचारधारा जिसके अंतर्गत अलंकार संप्रदाय, रीति-संप्रदाय और वक्रोक्ति संप्रदाय को। आत्मावादी और शरीरवादी इन दोनों चिंतन परंपराओं में इस बात को लेकर गंभीर विचार होता रहा कि साहित्य का प्राणतत्व क्या है। काव्य की आत्मा क्या है? यह प्रश्न लगातार बहस का मुद्दा बना रहा। आत्मा शब्द दर्शन का है और भारतीय काव्यशास्त्र व्याकरण तथा दर्शन से अभिन्न हो कर ही आगे बढ़ा है। शब्द और अर्थ के सहभाव का नाम साहित्य है लेकिन इस बात पर विवाद उठा कि शब्द और अर्थ में प्रधान कौन है। शब्द को प्रधानता देने वाली परंपरा शरीरवादी और अर्थ को प्रधानता देने वाली परंपरा आत्मावादी कहलायी। लंबी बहसों और विचार-विनिमय के पश्चात यह निष्कर्ष पाया जा सका कि काव्य की आत्मा न तो रस है न ध्वनि और न औचित्य। काव्य की आत्मा तो रस-ध्वनि ही कही जा सकती है।

काव्य के संदर्भ में 'आत्मा' शब्द लाक्षणिक अर्थ में प्रयुक्त होता रहा है। मूलतः आत्मा दर्शन में चिंतन का विषय रहा जिसमें सार तत्व की खोज प्रमुख रही। जैसे आत्मा जीवित प्राणी की संपूर्ण चेतना का पर्याय है जिसके न रहने पर शरीर मृत या निरर्थक हो जाता है उसी तरह खोज का विषय यह रहा है कि काव्य का प्राणतत्व या जीवन तजत्व क्या है या किसे कह सकते हैं। यह चिंतन काव्यशास्त्र के संप्रदायों या परंपरा के अंतर्गत हुआ।

संप्रदाय का अर्थ : एक विचार को स्वीकार करते हुए उसे आगे बढ़ाने वाले विद्वान एक संप्रदाय के विद्वान कहलाते हैं। संप्रदाय का अर्थ होता है धरोहर। गुरु-शिष्य-परपरा या विचार की धरोहर को मथकर चमकाने वाले लोग एक संप्रदाय के लोग कहलाते हैं। इस तरह संप्रदाय के मायने हैं School of thought. उदाहरण के लिए अलंकार संप्रदाय को ही लें। इस संप्रदाय की स्थापना भामह ने की थी। दंडी, उद्भट, रुद्रट, रुय्यक आदि अनेक प्रतिभाशाली व्यक्तियों ने भामह की स्थापना को आगे बढाया और यह चिंतन परंपरा आधुनिक काल तक सक्रिय रही है। अतः अलंकार संप्रदाय से तात्पर्य है उन विचारकों की परंपरा से है जिन्होंने रस और ध्वनि सिद्धांतों के प्रतिष्ठित हो जाने के पूर्व अथवा पश्चात् अलंकार को ही काव्य की उत्कृष्टता को प्रमुख साधन माना है। भामह के अनुसार अलंकार ही काव्य का अनिवार्य प्राण तत्व है। भामह की इस स्थापना का अलंकारवादी सभी आचार्य पोषण करते रहे हैं।

यहाँ पर भारतीय काव्यशास्त्र में विकसित होने वाले संप्रदाय और इनसे संबद्ध आचार्यो की ऐतिहासिक क्रम की एक संक्षिप्त जानकारी अपेक्षित है ताकि विभिन्न संप्रदायों को आचार्यो के बीच उभरने वाले संवादों, विवादों और मतभेदों से ऐतिहासिक विकासक्रम में परिचित हुआ जा सके।

रस-सिद्धांत से संबंधित सामग्री हमें सब से पहले भरत के 'नाट्यशास्त्र' में और इसके बाद भरत के परवर्ती प्रायः सभी काव्याचार्यो के ग्रंथों में मिलती है। भरत ने रस के अतिरिक्त अलंकार, गुण, रीति, दोष आदि पर भी प्रकाश डाला था पर बहुत कम।

भरत-परवर्ती आचार्यो में सबसे पहले ये तीन आचार्य एक साथ उल्लेख्य हैं - भामह, दंडी और उद्भट। इनका समय क्रमशः छठी, सातवी और नवीं शती ई. हैं। ये तीना आचार्य अलंकारवादी कहलाते हैं। इनके बाद नवीं शती में वामन हुए। ये रीतिवादी आचार्य हैं। इनके बाद नवीं शती में ही आनन्दवर्धन ने ध्वनि-सिद्धांत का प्रवर्तन किया और इनके बाद दसवीं-ग्यारहवीं शती में कुन्तक ने वक्रोक्ति-सिद्धांत का। इन सब के अनन्तर ग्यारहवीं शती में क्षेमेन्द्र ने औचित्य-तत्व या औचित्य-सिद्धांत पर विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला।

इनके अतिरिक्त अन्य प्रख्यात आचार्य हैं जिन्होंने किसी नवीन सिद्धांत का प्रवर्तन अथवा प्रतिपादन को नहीं किया, पर पूर्ववर्ती काव्यशास्त्रीय सिद्धांतों एवं मान्यताओं को व्याख्यायित और वयवस्थित रूप में संग्रहीत किया। ये आचार्य हैं - अभिनव गुप्त (11वीं शती), मम्मट (11वीं शती), विश्वनाथ (14वीं शती) और पंडितराज जगन्नाथ (17वीं शती)।

यों तो अन्य भी अनेक उल्लेखनीय काव्याचार्य हैं, जैसे महिमभट्ट, (11वीं शती) जयदेव (13वीं शती) भानुमिश्र (13-14वीं शती) आदि। किंतु संस्कृत-काव्यशास्त्र के क्षेत्र में उपर्युक्त आचार्यों का योगदान अति महत्वपूर्ण है। तो आइए, इनके नाम एक बार फिर पढ़ ले — (1) भरत (रसवादी), (2) भामह, दंडी और उद्भट (अलंकारवादी), (3) वामन (रीतिवादी,), (4) आन्दवर्धन (ध्वनिवादी), (5) कुन्तक (वक्रोक्तिवादी) और (6) क्षेमेन्द्र (औचित्य-तत्व का निरूपक)। इनके अतिरिक्त मम्मट, विश्वनाथ और जगन्नाथ संग्रहकर्ता आचार्य हैं। इस प्रकार भरत से जगन्नाथ पर्यन्त लगभग डेढ़-दो हजार वर्ष तक संस्कृत-काव्यशास्त्र में विभिन्न सिद्धांत प्रवर्तित, प्रतिपादित और खंडित-मंडित होते रहे। जैसा कि आप आगे देखेंगे ये संप्रदाय आपस में, किसी न किसी रूप में, जुड़े हुए हैं और ये सभी 'साहित्य-सिद्धांत' के अंग हैं।

प्रश्न उठता हैं कि साहित्य-सिद्धांत अथवा काव्यशास्त्र का अध्ययन क्यों किया जाए : इस अध्ययन से शिक्षार्थी अथवा सामान्य पाठक को अनेक लाभ होते हैं -

1. उसे इससे साहित्य (काव्य) के विविध रूपों की जानकारी मिलती है। उसे ज्ञात होता है कि काव्य दो प्रकार का होता है - पद्यबद्ध और गद्यबद्ध।

   पद्यबद्ध काव्य मुक्तक और प्रबंध रूप में होता है (1) मुक्तक काव्य - जैसे बिहारी के दोहे, गिरिधर कविराय की कुंडलियाँ आदि। (2) प्रबंध काव्य के दो रूप होते हैं — महाकाव्य और खंडकाव्य। महाकाव्य - जैसे तुलसीदास - रचित 'रामचरितमानस', जयशंकर प्रसाद- रचित 'कामायनी' आदि; खंडकाव्य - मैथिलीशरण गुप्त - रचित 'पंचवटी' आदि।

   गद्यबद्ध काव्य भी अनेक रूपों में होता है जैसे कहानी, उपन्यास, ललित निबंध, रेखाचित्र आदि। इनके अतिरिक्त काव्य की एक अन्य विधा नाटक है। इसे 'दृश्य काव्य' कहते हैं। इससे इतर, काव्य की उपर्युक्त शेष सभी पद्यबद्ध अथवा गद्यबद्ध विधाएँ 'श्रव्य काव्य' कहलाती है।

2. शिक्षार्थी को काव्यशास्त्र के अध्ययन से से यह ज्ञान होता है कि ये काव्य विधाएँ किन गुणों से संपन्न और किन दोषों से मुक्त होनी चाहिए। इस प्रकार गुण-दोष के ज्ञान के माध्यम से अध्येता में सत्साहित्य की पहचान जागृत होती है और ऐसे काव्य के प्रति उसकी अभिरूचि का विकास एवं परिष्कार होता है। इसके अतिरिक्त काव्यशास्त्र के अध्ययन से सभी पाठक तो नहीं, पर कुछ एक काव्यालोचन के प्रति उन्मुख होने लगते हैं और इस क्षेत्र में उन्हें पर्याप्त एवं स्वच्छ दिशा-निर्देश मिलता है; और

3. यदि कोई पाठक स्वयं कवि हुआ तो काव्यशास्त्र के अध्ययन से उसका काव्य काव्यशास्त्र में निर्दिष्ट गुणों से, अनायास - स्वतः ही सम्पन्न, और दोषों से प्रायः अस्पृश्य होने लगाता है यद्यपि कोई भी सच्चा कवि अपनी रचना करते समय इन गुणों के ग्रहण अथवा दोषों के त्याग के प्रति जानबूझकर अवधानवान नहीं होता। उल्लेख्य है कि काव्यशास्त्र के अनेकक ग्रंथों में 'काव्य-समय', 'कवि-शिक्षा', 'कवि-समय' आदि ऐसे अनेक प्रसंग भी हैं, जिनसे कवियों को प्रत्यक्ष रूप से तो नहीं, पर परोक्ष रूप से सहायता अवश्य मिलती है।

5.3 रस-सिद्धांत (रस संप्रदाय)

ऊपर रस आदि छह संप्रदायों का नाम लिया गया है — ये सभी संप्रदाय भारतीय अथवा संस्कृत-काव्यशास्त्र से संबद्ध हैं, यों इन पर पाश्चात्य काव्यशास्त्र में भी परोक्ष रूप से प्रकारान्तर से, विचार प्रस्तुत किए गए हैं। संस्कृत-काव्यशास्त्र का आरंभ भरतमुनि से माना जाता है। ये 'नाट्यशास्त्र' के प्रणेता थे। इनका समय निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता - संभवतः ये तीसरी शती ईसा-पूर्व से तीसरी शती ईस्वी के बीच - इन पाँच-छह सौ वर्षों में - किसी समय रहे हों। माना तो यह भी जाता है कि 'भरत' नाम का कोई व्यक्ति था ही नही। नाट्य (अभिनय आदि) के संबंध में जो सिद्धांत धीरे-धीरे पाँच-छह शताब्दियों में बनते-पनपते चले आए, उनका संग्रह 'नाट्यशास्त्र' नाम से करके इस का कर्ता 'भरतमुनि' को मान लिय गया। भरत कहते हैं कुशीलव अर्थात् अभिनेता को।

'नाट्यशास्त्र' में रस सिद्धांत का विवेचन है तथा इस पर चिंतन भी अत्यन्त गंभीर रूप से किया गया है। 'नाट्यशास्त्र' में कुल 32 अध्याय हैं। इसके छठे और सातवें अध्याय में क्रमशः रस और भाव का विवेचन है। अतः रस-सिद्धांत को सबसे पहला संप्रदाय माना जाता है। उल्लेख्य है कि रस के क्षेत्र में भरत के बाद सर्वाधिक महत्वपूर्ण नाम अभिनवगुप्त का है, जिन्होंने नाट्यशास्त्र पर 'अभिनवभारती' टीका लिखी।

5.3.1 विचारभूमि

आइए, अब रस-सिद्धांत की चर्चा के अंतर्गत पहले कुछ बुनियादी बाते करें -

1. जीवन में हमारे साथ अनेक घटनाएँ घटित होती हैं, इनसे हमे सुख भी मिलता है और दुःख भी

   क) हम अपने नन्हें भाई अथवा बेटे को गोद में लिये हुए उसे प्यार कर रहे हैं, उससे खेल रहे हैं, वह मुस्करा देता है, अपने दाँतों के बीच हमारी अंगुली भींच कर खुश होता है, कभी किलकारियाँ मारता है, कभी घुटनों के बल चल पड़ता है - यह सब देख हम अति प्रसन्न होते हैं, सुख का अनुभव करते हैं, और जब वह रो पड़ता है तो हमें उसे मनाने में भी आनन्द आता है। पर हमें अपने बच्चे के साथ हँसने-खेलने में जितना आनन्द आता है, उतना आनन्द हमें दूसरों के बच्चों के साथ नहीं आता। इसका कारण है 'निजी अथवा पर का संबंध' - यह बच्चा हमारा है और दूसरा बच्चा किसी और का।

   ख) हमने बस से दुर्घटना-ग्रस्त एक व्यक्त् को मृत अवस्था में पड़े देखा, हमें अति दुख हुआ। उसके दुःखी माता-पिता, भाई-बहन, मित्र आदि सभी क्रन्दन कर रहे हैं। जिस-जिस व्यक्ति का मृत व्यक्ति के साथ जितना निकट का संबंध है वह उतना ही अधिक दुःखी है। इसका कारण भी उपर्युक्त 'निज अथवा पर' का संबंध है।

2. भारतीय चिंतकों ने मन के तीन गुण माने हैं - रजोगुण, तमोगुण और सत्वगुण, अर्थात् हमारा मन सदा इन तीनों गुणों से, न्यून अथवा अधिक रूप में, युक्त रहता है - यों समझिए कि कभी 55% रजोगुण से, 35% तमोगुण से और 10% सत्वगुण से तो कभी इससे क्रमशः न्यून तथा अधिक स्थिति में। पर ऐसा कभी नहीं होता कि ये तीनों गुण साम्यावस्था में हो जाएँ, अथवा इन में से कोई एक गुण नितान्त विनष्ट हो जाए। इस प्रकार उक्त दोनों प्रसंगों में सुख और दुख की अनुभूति के अन्तर्गत 'निज और पर के संबंध' में हम रजोगुण और तमोगुण को आविर्भूत (प्रकटित) मानते हैं और सत्वगुण को तिरोभूत (छिपा हुआ, न कि नितान्त विनष्ट) मानते हैं। पर कुछ ऐसे प्रसंग भी होते हैं जहाँ हम सत्वगुण को आविर्भूत मानते हैं - इसका उद्रेक मानते हैं, इसे प्रधान मानते हैं और शेष दोनों गुणों को तिरोभूत मानते हैं - इन्हें गौण मानते हैं। उदाहरणार्थ, हम तुलसी-रचित 'मानस', सूरदास-रचित 'सूरसागर' में वात्सल्य के पद, और इधर प्रेमचन्द-रचित 'गोदान' उपन्यास अथवा उनकी प्रसिद्ध कहानी 'कफन' पढ़ रहे हैं अथवा कालिदास-रचित 'अभिज्ञानशकुन्तलम्' अथवा मोहन राकेश - रचित 'आषाढ़ का एक दिन' (नाटक) पढ़ रहे हैं तो इन सभी काव्यों के पात्रों के साथ हमारा 'निज अथवा पर' का संबंध नहीं रहता। ये पात्र काव्य के पाठकों और नाटक के दर्शकों में से किसी के भी 'निज अथवा पर' नहीं होते, अपितु ये पात्र इन सब के लिए साझे होते हैं। अतः इस स्थिति में सत्व गुण का उद्रेक माना जाता है, अर्थात सत्वगुण की प्रधानता होती है और अन्य दो गुणों की न्युनता।

3. काव्य के पाठक अथवा नाटक के दर्शक काव्यशास्त्र की दृष्टि में अब सामान्य मनःस्थिति के मानव नहीं रहते। सामान्य मनःस्थिति के मानव उस स्थिति में कहलाते जब पात्रों के साथ इनका 'निज अथवा पर' का संबंध होता। अब ये 'सहृदय' कहलाते हैं, इनमें सत्व गुण का उद्रेक होता है. ये निज अथवा पर के बंधन से मुक्त होते हैं, अतः इनका मनोमुकुर (मन-रूपी दर्पण) स्वच्छ माना जाता है। कल्पना कीजिए कि 'सत्य हरिश्चन्द्र' (भारतेंदु हरिश्चन्द्र रचित) नाटक को देखते समय मृत रोहिताश्व को देखते ही यदि किसी दर्शक को अपने मृत पुत्र की स्मृति हो आती है, अथवा 'अभिज्ञानशाकुन्तल' को देखते समय यदि किसी दर्शक को अपनी प्रेयसी की स्मृति हो आती है तो उसे तत्क्षण के लिए 'सहृदय' नहीं माना जाता, तब वह नाट्यगृह में बैठा हुआ भी अपनी निजता से ग्रस्त सामान्य मानव होता है।

4. जीवन की सभी घटनाएँ, चाहे वे सुखमय हों अथवा दुखमय, काव्य-नाटक में वर्णित होने पर, सुखमय बन जाती हैं। पर यह काव्य-सुख लौकिक सुख से भिन्न होता है और इस काव्य सुख (काव्यानन्द अथवा काव्याह्लाद) को भारतीय काव्यशास्त्र में रस कहते है और पाश्चात्य काव्यशास्त्र में Aesthic Experience अथवा Aesthetic Bliss कहते हैं।

5. प्रश्न है - माना कि लौकिक सुख काव्य-नाटक में वर्णित होने पर 'काव्य-सुख' (रस) कहलाता है , पर लौकिक दुख, काव्य में वर्णित होने पर 'काव्य-सुख' क्यों कहलाता है ? इसका प्रमुख कारण तो उपर्युक्त सत्व गुण का उद्रेक (आविर्भाव) अर्थात् निज अथवा पर के सम्बन्ध से मुक्ति है, और साथ ही, इनसे जुड़ा हुआ 'साधारणीकरण व्यापार' भी है। इस व्यापार से अभिप्रेत है कि काव्य-नाटक के पात्र अब पाठक तथा दर्शक के लिए 'विशेष न रहकर साधारण बन जाते हैं , दुष्यन्त और शकुन्तला किसी विशिष्ट देश तथा काल के व्यक्ति विशेष न होकर किसी भी देश तथा काल के प्रेमी-प्रेमिका बन जाते हैं। अर्थात् वैयक्तिक न रहकर, निर्वैयक्तिक हो जाते हैं। इसी प्रकार सत्य हरिश्चन्द्र नाटक में दर्शकों के लिए हरिश्चन्द्र और रोहिताश्व सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक पिता-पुत्र रह जाते हैं। तो यही कारण है कि काव्य-नाटक में वर्णित न केवल सुखमय घटनाएँ अपितु दुखमय घटनाएँ भी रस (काव्याह्लाद) प्रदान करती हैं और रस के आस्वादक पाठक को सामान्य मानव न कह कर काव्य-शास्त्र की विशिष्ट अवधारणा में प्रमाता या आस्वादक कहते हैं।

6. हमारे मन में दो प्रकार के भाव होते हैं -

क) कुछ तो सहजात होते हैं अर्थात् ये हमें हमारे जन्म के साथ ही उपलब्ध होते हैं। जैसे रति, हास, शोक, उत्साह आदि दस। इन्हें काव्यशास्त्र में स्थायीभाव कहते हैं (स्थायी भावों की विस्तृत चर्चा आगे देखिए)।

ख) कुछ भाव ऐसे होते हैं जो या तो उक्त सहजात भावों से उत्पन्न होते हैं, जैसे रति से उत्पन्न लज्जा, शोक से उत्पन्न विषाद आदि, या ये अर्जित होते हैं - दूसरों द्वारा सिखाये, समझाये, बताये जाते हैं, जैसे देवभक्ति, मातृभक्ति, पितृभक्ति, राजभक्ति, राष्ट्रभक्ति आदि। इन्हें 'संचारी भाव' कहते हैं।

जब हम काव्य पढ़ते अथवा नाटक देखते हैं तो उक्त दोनों भाव हमें रस (काव्यानन्द) प्राप्त करने की स्थिति तक पहुँचाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

7. क) ऊपर दुष्यन्त और शकुन्तला का उल्लेख किया गया है। इन दोनों के रतिभाव (प्रेमभाव) का वर्णन काव्य-नाटक में किया जाता है तो काव्यशास्त्रीय शब्दावली में ये दोनों 'आलम्बन विभाव' कहलाते हैं। जिसके हृदय में रतिभाव है उसे तत्क्षण के लिए 'आश्रय' कहते हैं, और जिसके प्रति रतिभाव है उसे तत्क्षण के लिए 'आलम्बन' कहते हैं।

ख) कण्व ऋषि के आश्रम का एकान्त स्थल, नदी-तट, चाँदनी रात आदि प्राकृतिक दृश्य उद्दीपन विभाव कहलाते हैं। इसके अतिरिक्त 'आलम्बन' की बाह्य चेष्टाओं को भी 'उद्दीपन विभाव' कहते हैं, क्योंकि ये आश्रय के रति आदि स्थायिभाव को उद्दीप्त करते हैं। उल्लेख्य है कि आलम्बन-विभाव के उक्त दोनों रूप तथा उद्दीपन विभाव के उक्त दोनों रूप-ये सभी विभाव कहलाते हैं।

ग) आश्रय की बाह्य चेष्टाएँ अनुभाव कहलाती हैं।

[1] असाधारणस्य (विशेषस्थ) साधारणकरणम इति साधारणीकरणम

घ) आश्रय और आलम्बन - इन दोनों के आन्तरिक मनोभावों को संचारी भाव कहते हैं, जैसे निर्वेद, ग्लानि, शंका आदि।

रस 'वाच्य' न होकर व्यंग्य होता है। इस का अभिप्राय यह है कि सहृदय को रस का आस्वाद रस, रति, लज्जा, शृंगार आदि शब्दों के कथन से प्राप्त नहीं होता, जैसे कि 'चन्द्र-मण्डल को देख उसका चित शृंगार में मग्न हो गया । अथवा उस मृगाक्षी को देखते ही हममें रस 'शृंगार रस' का संचार हो गया, आदि । इस प्रकार रस 'वाच्य' (कथन द्वारा बोध्य) नहीं होता।

यों कहें कि अभिधा व्यापार से रस का बोध नहीं होता -- यह शब्दों से न कहा जाकर, व्यंग्य (ध्वनित गम्य) होता है, अर्थात् यह व्यंजना-व्यापार से व्यंजित, ध्वनित, गमित (Suggested Inferred) होता है। इसके उदाहरण के लिए आगे देखिए 'पीतम दृग मिहचत पिया........ आदि (बिहारी)।

यहाँ तक आपको जिन पारिभाषिक शब्दों का ज्ञान हुआ वे हैं - (1) शृंगार आदि दस रस (2) रति आदि दस स्थायी भाव, (3) विभाव के दो भेद - आलम्बन विभाव; और उद्दीपन विभाव, (क) आलम्बन विभाव के दो रूप - आश्रय और आलम्बन, (ख) उद्दीपन विभाव के भी दो रूप - आलम्बन की बाह्य चेष्टाएँ तथा प्राकृतिक दृश्य, (4) अनुभाव (आश्रय की बाह्य चेष्टाएँ), (5) संचारी भाव (आश्रय और आलम्बन दोनो के मनोभाव), (6) सहृदय, (7) सहृदय के मन में सत्व गुण का उद्रेक, अर्थात् उसमें इस गुण का आविर्भाव होना तथा रजोगुण और तमोगुण का तिरोभाव होना परिणामतः, 'निज और पर के संबंध का मिट जाना।'

उल्लेख्य है कि स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव और संचारी भाव इन चारों को **'रस के अंग'** अथवा **'रसाभिव्यक्ति के साधन'** कहते हैं। रस विषयक उपर्युक्त बुनियादी बातों के बाद अब रस से संबंधित निम्नोक्त चार प्रश्नों पर विचार करना अपेक्षित है - (1) रस के अंग, (2) रस का स्वरूप, (3) रस-निष्पत्ति और (4) साधारणीकरण। इनमें से अंतिम तीन पर इकाई 7 और 8 के अंतर्गत आपको सामग्री भेजी जाएगी। यहाँ केवल 'रस के अंग' पर विचार किया जा रहा है। रस के अंग की चर्चा से पहले रस के अर्थ पर विचार किया जाएगा।

5.3.2 'रस' शब्द के विभिन्न अर्थ

उपर्युक्त चारों विषयों पर विचार करने से पूर्व यह उल्लेख्य है कि 'रस' शब्द काव्यानन्द का पर्याय तो है ही, साथ ही यह शब्द अन्य तीन अर्थों में - कुल मिलाकर निम्नोक्त चार अर्थों में - प्रयुक्त होता है

1. पदार्थों का रस, अर्थात्, मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय और तिक्त - ये षडरस अथवा 'आस्वाद'।

2. आयुर्वेद का रस, अर्थात् किसी एक अथवा अनेक ओषधियों से आयुर्वेदीय प्रक्रिया द्वारा तैयार किया गया द्रव। यह द्रव (रस) भी उपर्युक्त मधुर आदि छह आस्वादों में से किसी एक अथवा एकाधिक आस्वाद से युक्त होता है, पर इसमें रोग विनाशक अथवा शक्तिदायक गुण भी रहता है। वैदिक कालीन 'सोमरस' में प्रयुक्त 'रस' शब्द इसी औषधीय गुण का द्योतक है।

3. साहित्य का रस - काव्य का रस जिसे काव्य सौंदर्य, काव्यास्वाद, काव्यानन्द तथा काव्याह्लाद भी कहते हैं। यही 'रस' ही हमारा वर्णनीय विषय है। इस पर आगे प्रकाश डाला जा रहा है।

4. मोक्ष या भक्ति का रस या ब्रह्मानंद : आत्मा द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति का आनन्द जो आत्मानन्द का वाचक होता है। उल्लेख्य है कि काव्य रस को ब्रह्मानन्द-सहोदर कहा भी गया है। (पढ़िए इकाई 7 : 'रस की परिभाषा, स्वरूप और रस निष्पत्ति')

ऐसा प्रतीत होता है विभिन्न पदार्थों के आस्वाद तथा विभिन्न ओषधियों से निचुड़े हुए रस (द्रव) के आस्वाद के अनुरूप काव्य के आनन्द को भी रस कहा जाने लगा, और साथ ही, आत्मा द्वारा ब्रह्म प्राप्ति को भी। इस प्रकार यह शब्द भौतिक अर्थ में भी प्रयुक्त होता है तथा आध्यात्मिक अर्थ में भी। काव्य का आनन्द भौतिक है अथवा आध्यात्मिक - इस सम्बन्ध में 'रस का स्वरूप' के अन्तर्गत प्रकाश डाला जाएगा।

---

[1] चन्द्रमण्डलमालोक्य शृंगारे मग्नमन्तरम्

[2] तामदीक्ष्य करंगाक्षी रसो न कोऽप्यजायत

5.3.3 रस के अंग : रसाभिव्यक्ति के साधन

रस निष्पत्ति के संबंध में भरत का प्रख्यात सिद्धान्त-कथन (सूत्र) है - **विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्र रसनिष्पत्तिः।** इस कथन का तात्पर्य यह है कि स्थायी भाव का संयोग जब विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव अथवा संचारी भाव से होता है तो स्थायी भाव 'रस' रूप में निष्पन्न हो जाता है। ये चारों रस के अंग कहलाते हैं। अब इनका स्वरूप प्रस्तुत है -

1. **स्थायी भाव** - सहृदय के अन्त:करण में जो मनोविकार वासना रूप से सदा विद्यमान रहते हैं तथा जिन्हें अन्य कोई भी अविरुद्ध अथवा विरुद्ध भाव दबा नहीं सकता उन्हें स्थायी भाव कहते हैं। यह स्थायी भाव ही (रस रूप) आस्वाद का अंकुरकन्द अर्थात् मूलभूत है।[1]

   जिस प्रकार मिट्टी में पूर्व-विद्यमान गन्ध जल का संयोग पाकर प्रकट हो जाती है, उसी प्रकार स्थायी भाव विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के संयोग से व्यक्त होने पर साहित्यिक भाषा में 'रस' नाम से पुकारे जाते हैं। जिस प्रकार किसी खट्टे पदार्थ के संयोग से दूध 'दही' के रूप में परिणत हो जाता है, उसी प्रकार विभाव आदि के संयोग से स्थायी भाव अपने चर्व्यमाण रूप में परिणत होकर 'रस' नाम से अभिहित होते हैं।

   स्थायी भावों की संख्या सामान्यत: नौ मानी जाती है — रति, हास, शोक, उत्साह, क्रोध, भय, जुगुप्सा, विस्मय और निर्वेद। कई आचार्य निर्वेद को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार स्थायी भाव आठ हैं। ये क्रमश: निम्नोक्त रसों के रूप में निष्पन्न (अथवा अभिव्यक्त) होते हैं - शृंगार, हास्य, करूण, वीर, रौद्र, भयानक, वीभत्स, अद्‌भुत और शान्त। इनके अतिरिक्त एक अन्य रस वत्सल रस भी माना जाता है जिसका स्थायी भाव 'वात्सल्य' है।

2. **विभाव** - रस के कारण को विभाव कहते हैं। लोक में जो पदार्थ सामाजिक के हृदय में वासना रूप से स्थित रति, उत्साह, शोक आदि भावों के उद्‌बोधक हैं, वे काव्य-नाटकादि में वर्णित होने पर शास्त्रीय शब्दों में विभाव कहलाते हैं। विभाव के दो भेद हैं — आलम्बन विभाव और उद्दीपन विभाव।

   क) **आलम्बन विभाव** - काव्य-नाटकदि में वर्णित जिन पात्रों को आलम्बन करके सामाजिक के रत्यादि स्थायी भाव रसरूप में अभिव्यक्त (परिणत) होते हैं, उन्हें आलम्बन विभाव कहते हैं, जैसे शृंगार रस में नायक - नायिका आदि। आलम्बन - विभाव के दो भेद हैं, विषय और आश्रय। विषय को 'आलम्बन' भी कहते हैं। जिस पात्र के प्रति किसी के मन में भाव जागरित होते हैं वह आश्रय कहलाता है, उदाहरणार्थ, 'अभिज्ञान शकुन्तलम्' नाटक में दुष्यन्त के मन में शकुन्तला को देखकर भाव - रति भाव - जागृत होता है। शांकुतला को 'आलम्बन' कहेंगे और दुष्यन्त को 'आश्रय'।

   ख) **उद्दीपन विभाव** - उद्दीपन विभाव वे कहलाते हैं जो रस को उद्दीप्त करते हैं — अर्थात् जो रत्यादि स्थायी भावों को उद्दीप्त करके उनकी आस्वादन-योग्यता बढ़ाते हैं और इस प्रकार उन्हें रसावस्था तक पहुँचाने में सहायक होते हैं। उद्दीपन विभाव दो प्रकार के माने गये हैं—(1) आलम्बन-गत चेष्टाएँ,(2) बाह्य वातावरण। उदाहरण के रूप में, शृंगार रस में दुष्यन्त (आश्रय) के रतिभाव को अधिक तीव्र करने वाली शकुन्तला (आलम्बन) की कटाक्ष, भुजा-विक्षेप आदि चेष्टाएँ उद्दीपन विभाव कहलाती हैं। इसी प्रकार शृंगार रस में नदी तट, पुष्पवाटिका, चाँदनी रात इत्यादि बाह्य वातावरण, जोकि आश्रय के स्थायी भावों को उद्दीपन करता है, 'उद्दीपन विभाव' कहलाता है।

3. **अनुभाव** - रत्यादि स्थायी भावों को प्रकाशित करने वाली आश्रय की बाह्य चेष्टाएँ जो लोक में कार्य कही जाती हैं, काव्य-नाटक में वर्णित अथवा दर्शित होने पर, अनुभाव कहलाती हैं। उदाहरणार्थ — विप्रलम्भ शृंगार में विरह-व्याकुल नायक द्वारा सिसकियाँ भरना, अपने बाल

---

[1] अविरूद्धा विरूद्धा वा यं निरोद्यातुमक्षमा:।
आस्वादइकुरकन्दोऽसौ भाव: स्थायीति संमत: ।। साहित्यदर्पण 3.174

[2] रत्याद्युद्‌बोधका लोके विभावा: काव्यनाट्ययो: । वही 3.28

[3] उद्‌बुद्धे कारणै: स्वै: स्वैर्बहिर्भावं प्रकाशयन्।
लोके यः कार्यरूप सोऽनभावः काव्यनात्ययो ।। वही 3.132.133

नोचना, आँखों फाड़े शून्य की ओर ताकना आदि बाह्य चेष्टाएँ अनुभाव कहलाती हैं। इसी प्रकार संयोग शृंगार में रति जागरित होने पर दुष्यन्त का सानुराग अवलोकन, अंगसंचालन, भ्रूविक्षेप इत्यादि, ये सभी आश्रयगत बाह्य चेष्टाएँ अनुभाव कहलाती हैं। अनुभाव के चार रूप माने गये है - आंगिक, वाचिक, आहार्य (वेशभूषा) और सात्विक। सात्विक भाव आठ माने गये हैं - स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वरभंग, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय। अनुभाव के उक्त चार रूपों में से प्रथम तीन अनुभाव 'यत्नज' कहलाते हैं, क्योंकि नाटक में तो इनके निर्वहण में आश्रय को चेष्टा करनी पड़ती उदाहरणार्थ क्रुद्ध परशुराम द्वारा कुल्हाड़ा उठाना आदि बाहय चेष्टाएँ आंगिक अनुभाव हैं, आँखें लाल हो जाना आदि सात्त्विक अनुभाव।

संचारी भाव (व्यभिचारी भाव) - अस्थिर मनोविकार अथवा चितवृत्तियाँ 'संचारी भाव' कहलाती हैं; ये विकार आश्रय और आलम्बन के मन में उन्मग्न और निर्मग्न होते रहते हैं। संचारी शब्द का अर्थ है साथ-साथ चलना तथा संचरणील होना। संचारी भाव स्थायी भावों के सहकारी कारण हैं, उन्हें रसावस्था तक ले चलते हैं, पर स्वयं बीच में जलतरंगवत् आविर्भूत तथा तिरोभूत होते रहते हैं।

संचारी भाव, मन के विकार हैं जये शरीर के धर्म नहीं है। यद्यपि मनोविकारों की कोई संख्या नियत नहीं की जा सकती तथापि सुविधा के लिए संचारी भावों की संख्या 33 निर्धारित की गयी है - निर्वेद ग्लानिख शंका, असूया, मद श्रम, आलस्य, दीनतां चिन्ता, मोह, स्मृति घृति, व्रीडा, चापल्य, हर्ष, आवेग, जड़ता, गर्व विषाद, औत्सुक्य निद्रा, अपस्मार स्वप्न, विबोध, अवमर्ष, अवहित्था, उग्रता, मति, व्याधि, उन्माद, मरण, त्रास और वितर्क। किन्तु संचारी भावों की यह 33 संख्या कम से कम संख्या की ही द्योतक है, संचारी भाव तो अनन्त हो सकते है। स्वयं इन 33 संचारी भावों के परस्परिक मिश्रण से ही यह संख्या सहस्त्रों तक पहुँच सकती है।

संचारी भावों को 'व्यभिचारी भाव' भी कहते हैं, क्योंकि ये प्रत्येक स्थायी भाव के साथ विशेष रूप से अभिमुख होकर - उसके अनुकूल (सहायक) बन कर - चलते हैं। प्रत्येक स्थायी भाव का रस नियत है, पर प्रत्येक संचारी भाव का स्थायी भाव नियत नहीं है। एक संचारी भाव कई स्थायी भावों के साथ अभिमुख होकर चलता है, अतः यह 'व्यभिचारी भाव' भी कहलाता है।

अंतत: उल्लेख्य है कि

- रसास्वादन-प्रक्रिया में यद्यपि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव खण्डश: एक-एक करके प्रतीत होते हैं (यह अलग प्रश्न है कि उनकी यह खण्डश: प्रतीति अति त्वरित होने के कारण लक्षित नहीं होती); पर रस-प्रतीति में ये तीनों अखण्ड एवं संश्लिष्ट रूप में ही सहायक होते हैं, तभी रस को भी 'अखण्ड' अथवा 'विभादिसमूहालम्बनात्मक' माना गया है।

- इसके अतिरिक्त रस-प्रतीति में विभावादि समान रूप से सहायक होते हैं। यही कारण है कि किसी रचना में विभावादि में से केवल, किसी एक का वर्णन होने पर भी शेष दो भावों की समान-रूप से आक्षेप द्वारा स्वत: प्रतीति होने पर ही रसचर्वणा सम्भव है, अन्यथा नहीं। उदाहरणार्थ:

(क) तीनों साधनों की विद्यमानता :

पीतम दृग मिहचत प्रिया, पानि परस सुख पाइ।
जानि पिछानि अजान लौं, नेकु न होति जनाइ।। — बिहारी

इस पद्य में प्रीतम और प्रिय आलम्बनविभाव (क्रमश: आलम्बन और आश्रय) हैं। आँखें मींचना अनुभाव है। स्पर्श द्वारा सुख (हर्ष, मद, मोह, आवेग आदि) की प्राप्ति संचारी भाव है। सहृदय के चित्त में वासना रूप से स्थित रति नामक स्थायी भाव इन तीनों का संयोग पाकर शृंगार रूप में अभिव्यक्त होता है।

(ख) विभाव और अनुभाव की विद्यमानता :

बतरस लालच लाल की, मुरली धरी लुकाइ।
सौंह करै भौंहनु हँसे, देन कहैं नटि जाइ।। — बिहारी

यहाँ लाल (कृष्ण) विभाव (आलम्बर विभाव) है। मुरली छिपाना, सौंह करना भौंहों में हँसना, वापस देने के लिए कहना और फिर इन्कार कर देना - ये सभी अनुभाव हैं। चपलता, मद, मोह, औत्सुक्य, उग्रत आदि संचारी भाव यहाँ वर्णित नहीं हैं वे यहाँ आक्षिप्त (स्वतः गृहीत) है। राधा या गोपिका (आश्रय) भी आक्षिप्त है।

(ग) केवल अनुभाव की विद्यमानता :

भौंहनु त्रासति मुँह नटति, आँखिन सौं लपटाति।
ऐंचि छुड़ावति करु, इंची, आगें आवति जाति।। -- बिहारी

इस पद्य में भौहों में त्रास दिखाना आदि केवल 'अनुभाव' वर्णित है। शेष दो (विभाव और अनुभाव) का बोध आक्षेप द्वारा होने पर ही रसाभिव्यक्ति सम्भव है।

निष्कर्ष यह कि लौकिक कारण, कार्य, और सहकारी कारण काव्य-नाटक में, व्यंजना वृत्ति के बल पर, क्रमशः विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव नामों से अभिहित होते हैं। ये विभावादि सहृदय के स्थायी भावों को जब भाव के भोग या चर्व्यमाण स्थिति तक पहुँचा देते हैं, तो इन्हें 'रस' नाम से पुकारा जाता है।

काव्यशास्त्र में 'रस' शब्द से तात्पर्य है - काव्य-सौन्दर्य का आस्वादन। इस आस्वादन में बाधा डालने वाली स्थिति को 'रस विघ्न' नाम दिया गया है। रस विघ्न के आठ प्रकार हैं - रस-दोष, भाव-दोष, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता और भावशान्ति। भारतीय काव्यशास्त्र में रस-विघ्न के कारणों का विवेचन कवि और 'सहृदय' दोनों की दृष्टियों से किया गया है। 'रस' व्यवहार का अनौचित्य 'रस विघ्न' कहलाता है।

रस-दोष : 'रस' अथवा भाव का अपने वाचक शब्द द्वारा कथन रसास्वाद में बाधा उत्पन्न करता है। इसके पीछे तर्क यह है कि काव्य में रस अथवा भाव की व्यंजना होती है, कथन की नहीं। कथन तो दोष है। जैसे 'सांकेत' में यह तथ्य कथन -

कौशल्या क्या करती थी,
चुप-चुप धीरज धरती थी

यहाँ धृति का कथन है अभिव्यक्ति नहीं। इसलिए रस-दोष है।

भाव-दोष : भाव का अपर्याप्त कथन भाव-दोष है। प्रायः इसमें विभाव की स्थिति गड़बड़ होती है। अनुचित आलंबन के प्रति झुकाव भाव-दोष है, जैसे पुरुष का बकरी के प्रति रतिपरक आकर्षण।

रसाभास और भावाभास : जहाँ रस अथवा भाव की व्यंजना में किसी कारणवश अनौचित्य झलकने लगे, वहाँ क्रमशः रसाभास अथवा भावाभास माना जाता है। उदाहरणार्थ -

1. नायिका का उपनायक-विषयक अथवा बहुपुरूष-विषयक प्रेम,
2. एक नर का, अथवा नरों का, एक समय पर अथवा अनेक समयों पर बहुत-सी नारियों से प्रेम
3. उभयनिष्ठ रति न होना, अर्थात् नायक या नायिका में से केवल एक का दूसरे के प्रति प्रेम-वर्णन
4. श्रेष्ठ का नीच के प्रति अथवा नीच का श्रेष्ठ के प्रति प्रेम वर्णन
5. नायिका द्वारा मान करने के अनन्तर मानशन्ति न होना,
6. पशु-पक्षी विषयक प्रेम, आदि।

ज्ञातव्य है कि स्थायी भाव की अनौचित्यपूर्ण अभिव्यक्ति में रसाभास माना जाएगा और संचारी भाव की अनौचित्यपूण अभिव्यक्ति में भावाभास।

भावोदय, भावसंधि और भावशबलता : जहाँ एक भाव का उदय (वर्णन) हो वहाँ भावोदय माना जाता है, जहाँ दो भावो का वर्णन हो वहाँ भावसंधि और जहाँ दो से अधिक भावों का वर्णन हो वहाँ भावशबलता मानी जाती है।

भावशान्ति : जहाँ एक भाव उदित, होकर शान्त हो जाए।

5.3.4 रस-विषयक संक्षिप्त इतिवृत्त तथा रस का महत्व

संस्कृत-काव्यशास्त्र के इतिहास में रस, आदि से अन्त तक किसी न किसी रूप में, निरूपित होता रहा है। आद्याचार्य भरत ने रस-विषयक प्रायः सभी सामग्री साक्षात् रूप से अथवा प्रकारान्तर से प्रस्तुत की थी। उन्होंने अपने प्रख्यात ग्रन्थ 'नाटयशास्त्र' के छठे और सातवें अध्याय में रस, और भाव का विवेचन किया है।

इस विषय के मूल ज्ञान के लिए संस्कृत के तीन स्थल द्रष्टव्य है - (क) 'नाट्यशास्त्र', छठा अध्याय 'कारिका' तथा 'वृत्ति' 33, 34 (ख) 'काव्यप्रकाश' (मम्मट) चौथा उल्लास, 'कारिका' 27,28 तथा 'वृत्ति' (ग) 'साहित्यदर्पण' (विश्वनाथ) तीसरा परिच्छेद कारिका तथा वृत्ति।

1. रस के सम्बन्ध में उनके प्रख्यात कथन सूत्र 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्ति' का आशय यह है कि सहृदय के हृदय में वासना-रूप से स्थित रति आदि स्थायी भावों का संयोग अब काव्य-नाटक में वर्णित विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव से हो जाता है तो स्थायी भाव रस-रूप में ऐसे निष्पन्न (अभिव्यक्त) हो जाता है जैसे दूध खट्टे पदार्थ के संयोग से दही, पनीर आदि के रूप में परिणत हो जाता है - रति नामक स्थायी भाव शृंगार रस के रूप में शोक नामक स्थायी भाव करुण रस के रूप में निष्पन्न (अभिव्यक्त) हो जाता है। उल्लेख्य है कि उक्त कथन की व्याख्या परवर्ती अनेक आचार्यों ने की। इनमें से चार आचार्यों के नाम अति विख्यात हैं —भट्ट लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक, और अभिनवगुप्त। (रस निष्पत्ति आदि के सम्बन्ध में आपको इकाई-7 के अन्तर्गत सामग्री भेजी जाएगी।)

2. भरत ने मूल रस चार माने हैं —शृंगार, रौद्र, वीर, और वीभत्स। फिर इनसे उन्होंने क्रमश: हास्य, करूण, अद्‌भुत और भयानक रसों की उत्पत्ति मानी है।

3. उन्होंने भावों की संख्या निम्नोक्त रूप में 49 बताया है —8 स्थायी भाव, 33 व्यभिचारी भाव, और 8 सात्त्विक भाव। 8 स्थायी भावों के अनुसार उन्होंने 8 रस माने हैं, किन्तु 'नाटयशास्त्र' के एक संस्करण में निर्वेद नामक नवाँ स्थायी भाव भी स्वीकार किया गया है तथा इसके भी अनुसार एक अन्य नवाँ रस शान्त रस भी माना गया है।

4. उन्होंने रस के विषय में यह प्रश्न भी उठाया है कि इसे 'आस्वाद' मानें अथवा 'आस्वाद्य'। पर वे रस को आस्वाद ही मानते हैं न कि आस्वाद्य। भोजन की सामग्री आस्वाद्य (आस्वादनीय, भोत्य) कहलाती है, और इसे खाने के आनन्द को आस्वाद कहते हैं। भरत की दृष्टि में रस की विभाव आदि सामग्री तो आस्वाद्य है, पर इसकी निष्पत्ति आस्वाद (काव्यानन्द) में होती है।

5. शृंगार रस के आलम्बन विभाव के प्रसंग के अन्तर्गत उन्होंने नायक-नायिका भेद का वर्णन किया है।

6. अलंकार, गुण, दोष, वर्णयोजना और छन्द के प्रसगों में उन्होंने निर्दिष्ट किया कि इनका प्रयोग रस को लक्ष्य में रखकर करना चाहिए।

भरत के पश्चात् भामह-पर्यन्त काव्यशास्त्र का लिखित इतिहास नहीं मिलता। भामह, दण्डी और उद्‌भट यद्यपि अलंकारवादी थे, फिर भी इन्होंने रस को समुचित स्थान देते हुए रसवत्, प्रेमस्वत् ऊर्जस्वि और समाहित अलंकार माने जो कि रस से सम्बन्धित हैं। भामह और दण्डी ने तथा आगे चलकर वामन ने रस को महाकाव्य के लिए एक आवश्यक तत्व के रूप में स्वीकृत किया। भामह का कथन है कि कटु, ओषधि के समान शास्त्रचर्चा भी रस के संयोग से मधुवत् बन जाती है।

वामन ने निर्दिष्ट किया कि वैदर्भी आदि वृत्तियों का प्रयोग रस के अनुकूल करना चाहिए। उन्होंने शृंगार रस का प्राधान्य स्वीकार किया और कवियों को रस के लिए प्रयत्नशील रहने का आदेश दिया।
इनके अनन्तर आनन्दवर्धन ने रस के प्रति आदर प्रकट करते हुए अनेक कथन प्रस्तुत किये। केवल दो कथन लीजिए -

1. रस के सम्पर्क से प्रचलित अर्थ उस प्रकार नूतन रूप में आभासित होने लगते हैं जिस प्रकार वसन्त के सम्पर्क से द्रुम।

2. ध्वनि-तत्व के अनेक भेदों के होने पर भी कवि को केवल रसादिमय ध्वनि-काव्य में ही अवधानवान् रहना चाहिए। (ध्वन्यालोक 4.5)

इनके बाद कुन्तक ने रस को काव्य का अमृत एवं अंतश्चमत्कार का वितानक मानते हुए प्रकारान्तर से इसे सर्वप्रमुख काव्य-प्रयोजन के रूप में घोषित किया। उन्होंने रस को प्रबन्धवक्रता के लिए अनिवार्यतः स्वीकार किया।

अग्निपुराणकार के अनुसार काव्य के यद्यपि वाणी की विदग्धता की प्रधानता (अनिवार्यता) रहती है, तथापि उसका जीवित (आत्मा) तो रस ही है - वाग्वैग्ध्याप्रधानेऽपि रस एवाऽत्र जीवितम्।

---

[1] स्वादुकाव्यरसोन्मिश्र शास्त्रमप्युपर्युजते।
प्रथमालीदमधव: विबन्ति कटु भेषजम्।। का.अ.5.3

[2] दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्था: काव्ये रसपरिग्रहात्।
सर्वे नवा हवाभान्ति मधुमास हय दमाः ।। ध्वन्या 4.4

इसी बीच रस-विषयक अनेक समस्याएँ भी उत्पन्न हुई। यथा - रस का स्वरूप क्या है? करूण आदि रसों को सुखात्मक क्यों माना जाए? रौद्र और वीर रस में क्या अन्तर है? शृंगार के रसराजत्व की समस्या उत्पन्न हुई। शान्त रस की स्वीकृति तथा अस्वीकृति का प्रश्न उठा तथा भक्ति को रस मानें या भाव — यह प्रश्न भी, और साथ ही रस-संख्या का प्रश्न भी, तथा यह भी कि कौन से रस परस्पर मित्र अथवा विरोधी हैं, आदि आदि इस प्रकार मर्मज्ञ आचार्यो तथा टीकाकारों के गम्भीर विश्लेषण से रस-तत्व का शास्त्रीय विवेचन उत्तरोत्तर महनीय होता चला गया।

इसके अतिरिक्त दण्डी और विश्वनाथ के बीच काव्य-पुरूष-रूपक भी सुलझता और स्थिर होता चला गया, और काव्य के सभी प्रमुख तत्व - अलंकार, गुण, रीति, दोष - किसी न किसी रूप से रस से ही सम्बद्ध कर दिये गये, जैसे कि अलंकार और गुण को नित्य रूप से। इसी प्रकार रीति को भी रस की उपकत्री माना गया - गुणों के अभिव्यंजक वर्णों के माध्यम से। इतना ही नहीं, दोष को तभी स्वीकार किया गया जब वह रस का अपकर्षक हो, अन्यथा नहीं। आगे चलकर विश्वनाथ ने तो रस को ही काव्य की आत्म का घोषित करते हुए काव्य लक्षण को रस पर आधारित कर दिया - वाक्य रसात्मकं काव्यम्। इससे रस की महता और भी अधिक बढ़ गई।

हिन्दी में रस-विवेचन

इस प्रसंग के अन्तर्गत रीतिकाल और आधुनिक काल मे प्रस्तुत रसविवेचन पर संक्षेप में प्रकाश डाला जाएगा। रीतिकाल के आचार्य कवि तो संस्कृत के आचार्यो के 'रस निरूपण' से सम्बन्धित विचारों का ही हिंदी अनुवाद करते रहे । किन्तु हिंदी के आधुनिककाल में रस और रस सिद्धान्त पर नवीन दृष्टियों से विचार किया गया है।

रीतिकाल

आप जानते हैं कि पंडितराज जगन्नाथ संस्कृत काव्यशास्त्र के अन्तिम आचार्य हैं। वे शाहजहाँ (शासनकाल 1837-1858 ई.) के सभा पंडित थे। रीतिकाल के आचार्य चिन्तामणि को शाहजहाँ द्वारा पुरस्कृत किया जाना इतिहास-प्रसिद्ध घटना है। इस प्रकार संस्कृत काव्यशास्त्रीय परम्परा के समाप्त होते ही रीतिकाल का प्रारम्भ हो जाता है। यद्यपि चिन्तामणि से पूर्व अलंकार नायक-नायिका-भेद, नख-शिख बारहमासा, षड्ऋतु वर्णन-विषयक अनेक ग्रन्थों की रचना के अतिरिक्त केशव जैसे आचार्य हो चुके थे।

रीतिकाल में चिन्तामणि, कुलपति, देव, भिखारीदास, श्रीपति, सोमनाथ, प्रतापसिंह आदि अनेक आचार्यो ने मम्मट-रचित 'काव्य प्रकाश' और विश्वनाथ-रचित 'साहित्यदर्पण' के आधार पर रसों के अंगों - स्थायी भाव तथा विभावादि - पर प्रकाश डालते हुए रस के स्वरूप को भी उजागर किया। इस प्रसंग में कुलपति का यह कथन देखिए जिसमें उन्होंने रस को अलौकिक, आनन्दस्वरूप तथा ब्रह्मास्वाद-सहोदर माना -

नृत्य, कवित देखत, सुनत, भये आवरन भंग।
आनन्द रूप प्रकाश है, चेतन ही रस अंग।।
जैसो सुख है ब्रह्म को, मिले जगत सुधि जाति।
सोई गति रस मैं मगन भये सुरस नौ भाँति।। -- रसरहस्य, 3.34-36

रीतिकालीन आचार्यो की एक अन्य उल्लेखनीय विशेषता है कि इनमें से अधिकांश ने शृंगार रस के आलम्बन-विभाव के अन्तर्गत नायक-नायिका-भेद का प्रतिपादन करते हुए इनके स्वरचित उदाहरण प्रस्तुत किये है। ये उदाहरण अति सरस तथा विपुल मात्रा में हैं, और इनमें से अधिकतर में जीवन के मार्मिक पक्षों का उद्‌घाटन है। इस प्रसंग में कुछ-एक आचार्यों ने (जैसे तोष, रसलीन, भिखारीदास आदि ने) उस युग के अनुकूल नायक एवं नायिका के कुछ नवीन भेद अवश्य जोड़े, पर कुल मिलाकर इन आचार्यो का लक्षण-पक्ष शास्त्रीय दृष्टि से प्राय: शिथिल है। इसका कारण यह किक ये तथाकथित आचार्य मूलतः कवि थे और विभिन्न विषयों से सम्बन्धित पद्यों की रचना करने के उद्देश्य से इन्होंनें काव्यशास्त्रीय अंगों का सहारा लिया। हाँ, सरस उदाहरणों की रचना के कारण इनका महत्व अक्षुण्ण है। शृंगार रस से सम्बन्धित चिन्तामणि का यह पद्य लीजिए -

अवलोकनि में पलकैं न लगें पलको अवलोकि बिना ललकै।
पति के परिपूरन प्रेम पगी मन और सुभाव लगै न लकै।।
तिय की बिहँसौंही विलोकनि में 'मनि' आनंद आँखिन यों झलकै।
रसवंत कवित्तन कौ रसु ज्यों अखरान के ऊपर ह्वै छलकै।

और अब एक पद्य मतिराम रचित लीजिए -

आयो विदेस से प्राण-पिया 'मतिराम' अनंद बड़ाई अलेखै।
लोगनि को मिलि आँगन बैठि घरी ही घरी सगरो घर पेखै।
भीतर भौन के द्वार खरी सुकुमार तिया तनुकम्प बिसेखै।
घूँघट मे पट-ओट किये पर-ओट किये पति को मुख देखै।

आधुनिक काल

इधर आधुनिक काल में आचार्य केशव प्रसाद मिश्र, डॉ. श्यामसुन्दरदास, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' बाबू गुलाबराय, जयशंकर प्रसाद, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी और डॉ. नगेन्द्र ने रस का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए रस को — चाहे वह शृंगार, हास्य आदि रस हों अथवा करुण, बीभत्स आदि सब को — आनन्दस्वरूप माना है। किन्तु आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कविता क्या है नामक निबंध में करूण रस में आनंद-प्राप्ति को अस्वीकार करते हुए अपना यह प्रख्यात कथन प्रस्तुत किया है - 'जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है।' (चिंतामणि, भाग-1, पृ.141 तथा 247) उन्हीं के शब्दों में उक्त कथन से उनका 'तात्पर्य यह है कि रस दशा में अपनी पृथक सत्ता की भावना का परिहार हो जाता है, अर्थात् काव्य में प्रस्तुत विषय को हम.........निर्विशेष, शुद्ध और मुक्त हृदय द्वारा ग्रहण करते है इसी को पाश्चात्य समीक्षा-पद्धति में अहं का विसर्जन और नि:संगता कहते हैं। इसी को चाहे रस का लोकोत्तर या ब्रह्मास्वादसहोदरत्व कहिये, चाहे विभावन-व्यापार का अलौकिकत्व।' (चिंतामणि, भाग-1, पृ.141 तथा 247)

उपर्युक्त दोनों कथनों से आचार्य शुक्ल का अभिप्राय यह है कि काव्य अथवा नाटकों में कालिदास आदि रचनाकारों द्वारा दुश्यन्त, शकुन्तला आदि पात्र अनुकार्य अर्थात् वास्तविक पात्र - अपने युग के पात्र - नहीं होते, वे अनुकार्य के आधार पर रचनाकारों द्वारा निर्मित किए गए होते हैं - मानो वे रचनाकारों के मानस पुत्र हों। जब हम इन कृतियों को पढ़ते हैं तो उस समय हम किसी विशेष भावना से - चाहे यह धार्मिक हो या राजनीतिक - संवलित नहीं होते। उस समय हमारा हृदय अपने पराए की भेद बुद्धि से मुक्ति या निर्विशेष होता है, शुद्ध और मुक्त होता है।

परिणामतः रचनाकार की युगीन मानसिकता के अनुरूप वाल्मीकि के राम हमारे लिए महान मानव होते हैं, तुलसी के राम भगवान और माइकेल मधुसूदन दत्त के राम अति सामान्य जन होते है।

इस प्रकार आचार्य शुक्ल शृंगार तथा करुण दोनों प्रसंगों में रस को लौकिक आनन्द नहीं कहते, न लोकोत्तर आनन्द कहते हैं। वे रस को ऐसा आस्वाद अनुभव या हृदय की मुक्तावस्था स्वीकार करते हैं जिसमें पाठक अथवा दर्शक का मन रजोगुण और तमोगुण से अस्पृष्ट होकर प्रायः सत्वगुण से युक्त हो जाता है - 'रजस्तमोभ्याम् अस्पृष्टं मन: सत्वमिहोच्यते, और इसी अवस्था में वह सामान्य मानव न कहा जाकर 'सहृदय' कहलाता है और लोकोत्तर आनन्द को प्राप्त करता है।

इसी प्रसंग में डॉ. नगेन्द्र का प्रख्यात कथन है - 'काव्यानुभूति में एक ओर ऐन्द्रिय अनुभूति की स्थूलता एवं तीव्रता (ऐन्द्रियता एवं कटुता) नहीं होती और दूसरी ओर बौद्धिक अनुभूति की अरूपता नहीं होती, और इसलिए —वह (काव्यानुभूति) पहली से (ऐन्द्रिय अनुभूति से) अधिक शुद्ध परिष्कृत तथा दूसरी से (बौद्धिक अनुभूति से) अधिक सरस होती है।' (रस सिद्धांत, पृ.119) इस कथन से डॉ. नगेंद्र का अभिप्राय यह है कि -

- काव्य की अनुभूति एक ओर तो लौकिक अनुभूति से अर्थात् लौकिक प्रेमी एवं प्रेमिका की रति से जन्य अनुभूति से अथवा दो अभिन्न मित्रों के स्नेह से जन्य अनुभूति से अथवा पुत्र के प्रति वात्सल्य से जन्य अनुभूति से भिन्न होती है; और
- दूसरी ओर यह (काव्य अनुभूति) बौद्धिक अनुभूति से, अर्थात् विभिन्न शास्त्रों, विज्ञान के सिद्धान्तों, गणित के फ़ार्मूलों को रचने अथवा पढ़ने से प्राप्त अनुभूति से भी भिन्न होती है।

इस प्रकार काव्य की अनुभूति (क) लौकिक अनुभूति की अपेक्षा अधिक शुद्ध-परिष्कृत होती है, तथा (ख) बौद्धिक अनुभूति की अपेक्षा अधिक सरस।

निष्कर्ष-स्वरूप डॉ. नगेन्द्र काव्य द्वारा प्राप्त अनुभूति (आनन्द अथवा रस) को लौकिक और बौद्धिक अनुभूतियों (आनन्दों) से उत्कृष्ट मानते है। उधर भारतीय काव्यशास्त्र भी इस कारण रस को लोकोत्तर कहते है। लोकोत्तर का अर्थ है लोक से ऊपर उठा हुआ - उदात्त अनुभव!

5.4 अलंकार-सिद्धांत (अलंकार संप्रदाय)

5.4.1 'अलंकार' शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ

'अलंकार' शब्द की व्युत्पत्ति प्रायः दो प्रकार से की जाती है—करणपरक और भावपरक।

1. **करणपरक** : करण अथवा उपकरण कहते हैं साधन (इन्स्ट्रूमेंट) को - जिसके द्वारा कोई कार्य किया जाता है। (क) 'अलंक्रियतेऽनेन इति अलंकार' : अर्थात् जिसके द्वारा अलंकृत किया जाता है, शोभा की जाती है; अथवा (ख) 'अलंकरोति इति अलंकारः' अर्थात् जो अलंकृत करता है, शोभित करता है! इस प्रकार की व्युत्पत्ति करणपरक मानी जाती है।

2. **भावपरक** : यहाँ 'भाव' शब्द से तात्पर्य है - सिद्धि। 'अलंकृतिः अंलकारः' अर्थात् अलंकरण (शोभा, सौन्दर्य, सजावट) को अलंकार कहते हैं। इस प्रकार की व्युत्पत्ति को भावपरक माना जाता है।

5.4 2 अलंकारवादी आचार्य और इनका अलंकार-सिद्धान्त

भरत के 'नाट्यशास्त्र' में हमें केवल चार अलंकारों के नाम मिलते हैं— उपमा, रूपक, दीपक और यमक। भरत के बाद इस दृष्टि से **भामह** (छठी शती) का नाम उल्लेखनीय है। इन्हें (अलंकार - सिद्धान्त) का प्रवर्तक माना जाता है। इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ का नाम है - 'काव्यालंकार'। भामह ने 37 अलंकारों का निरूपण किया तथा अलंकार को काव्य का अनिबार्य तत्व घोषित किया। भामह का अनुकरण **दण्डी** ने किया और भामह और दण्डी का **उद्भट** ने इन तीनों अलंकारवादी अचार्यों की मान्यताओं से स्पष्ट है कि वे अलंकार को काव्य का सर्वस्व एवं अनिवार्य तत्व स्वीकार करते थे —

1. भामह ने अलंकार को काव्य का एक आवश्यक सौन्दर्य-विधायक या आभूषक तत्व मानते हुए कहा कि -

   क) अनेक आचार्यो द्वारा प्रस्तुत रूपक आदि अलंकार काव्य में आवश्यक हैं। जिस प्रकार किसी नारी का सुन्दर मुख भी आभूषणों के बिना शोभित नहीं होता उसी प्रकार अलंकार के बिना कविता सुशोभित नहीं होती -

   रूपकादिरलंकारस्तथान्यैर्बहुधोदितः।
   न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्।। ('काव्यालंकार' भामह, 1.13)

   ख) अर्थ-मर्मज्ञों की वाणी अलंकारों के द्वारा उस प्रकार शोभित होती है, जिस प्रकार नारी आभूषणों से शोभित होती है।

   अनेन वागर्थविदामलंकृता,
   विभाति नारीव विदग्धमण्डना । ('काव्यालंकार', भामह, 3.58)

2. ये आचार्य काव्य के सभी शोभाकर धर्मो को 'अलंकार' नाम से अभिहित करने के पक्ष में हैं। दण्डी के शब्दों में - 'काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारन् प्रचक्षते।' (काव्यादर्श 2.1) इसका तात्पर्य यह है कि अनुप्रास, उपमा आदि तो अलंकार हैं ही गुण, रस, ध्वनि आदि अनेक काव्य-तत्व भी इसी नाम से अभिहित होते हैं। ये आचार्य रस को रसवद् अलंकार कहते हैं, भाव को प्रेयस्वद् अलंकार, रसाभास तथा भावाभास को ऊर्जस्वि अलंकार तथा भावशान्ति को समाहित अलंकार। इसी प्रकार इन तीनों आचार्यों के अनुसार गुण, ध्वनि, प्रबन्धकाव्यत्व, नाट्यसन्धि आदि भी 'अलंकार' नाम से अभिहित होते हैं।

निष्कर्षत : अलंकारवादियों के मत में —

- 'अलंकार' व्यापक अर्थ का द्योतक है, संकुचित अर्थ का नहीं। अर्थात् 'अलंकार' काव्य-सौन्दर्य या काव्य-चमत्कार के उत्पादक सभी प्रकार के साधनों का वाचक है, केवल अनुप्रास, उपमा आदि का नहीं।
- और इसी कारण, 'अलंकार' काव्य का अनिवार्य साधन है—चाहें तो परवर्ती शब्दावली में कह सकते है कि अलंकारवादी आचार्यों को यह स्वीकृत था कि 'अलंकार काव्य की आत्मा है', यद्यपि उन्होंने 'आत्मा' शब्द का कहीं इस अर्थ में प्रयोग नहीं किया। पर वे 'अलंकार' को ही काव्य का प्राण-तत्व मानते थे।

5.4.3 अलंकार-सिद्धान्त की स्वीकृति तथा अलंकार का मान्य स्वरूप

भामह आदि द्वारा प्रस्तुत अलंकार-सिद्धान्त का खण्डन किया गया। दण्डी द्वारा प्रस्तुत अलंकार के उक्त लक्षण को ही अस्वीकृत करके मानो अलंकार-सिद्धान्त को जड़ से उन्मूलित कर दिया गया - दण्डी नें अलंकार का जो लक्षण किया था, वामन ने वही लक्षण गुण का प्रस्तुत कर दिया। तुलनार्थ-

दण्डी : काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचयते। (काव्यादर्श 2.1)
वामन : काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः। (काव्यालंकारसूत्रवृति 3.99.2)

इतना ही नहीं, वामन ने गुण को काव्य में नित्य स्थान दिया और अलंकार को अनित्य - 'पूर्वे नित्याः'। उनके कथनानुसार गुण यदि काव्य के शोभावर्धक धर्म हैं तो अलंकार उस शोभा के वर्धक हैं - तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः। इस प्रकार वामन की दृष्टि में अलंकार का महत्व गुणों की अपेक्षा कम हो गया।

इसके पश्चात् आनन्दवर्धन ने अलंकार का नूतन लक्षण प्रस्तुत करते हुए इसका महत्व और भी कम कर दिया, और इनकी स्थिति इस रूप में स्वीकृत की,जैसी कि शरीर के कटक, कुण्डल आदि शोभाकारक आभूषणों की होती है -

अंगाश्रितास्त्वलंकाराः मन्तव्याः कटकादिवत्। (ध्वन्यालोक 2.6)

यहाँ 'अंग' से तात्पर्य है[1] शब्दार्थ-रूप काव्य-शरीर के अस्थिर धर्म के रूप में उसकी अतिशय शोभा बढ़ाते हुए रसादि का कभी उपकार करते हैं। इनके बाद पण्डिताराज जगन्नाथ के अनुसार 'अलंकार' उन्हें कहते हैं जो काव्य की आत्मा 'व्यंग्य' की रमणीयता के प्रयोजक हैं[2]

निष्कर्षतः आनन्दवर्धन, मम्मट, विश्वनाथ और जगन्नाथ इन चारों आचार्यो द्वारा प्रस्तुत अलंकार-लक्षण का संक्षिप्त विश्लेषण इस प्रकार है :

- जिस प्रकार कटक-कुण्डल आदि आभूषण शरीर की प्रायः शोभा करते हैं और कभी नहीं भी करते, उसी प्रकार अनुप्रास, उपमा आदि अलंकार शब्दार्थ-रूप काव्य-शरीर की प्रायः शोभा वृद्धि करते हैं, और कभी नहीं भी करते। मूल बात यह कि अलंकार 'शब्दार्थ' के अस्थिर धर्म हैं।
- अलंकार शब्दार्थ की शोभा द्वारा परम्परा-सम्बन्ध से रस का उपकार ठीक उसी प्रकार करते हैं, जिस प्रकार, शरीर पर धारण किये गए आभूषणों द्वारा प्रकारान्तर से आत्मा का उत्कर्ष होता है।
- अलंकार किन्हीं स्थितियों में रस का उपकार नहीं करते और कभी कभार रस का अपकार भी कर देते हैं।

इस प्रकार हमने देखा कि अलंकारवादियों का 'अलंकार' अब काव्य का अनिवार्य तत्व न रह कर शब्दार्थ की शोभा के माध्यम से रस का उपकारक बन गया और वह भी नित्य रूप से नहीं। मम्मट द्वारा प्रस्तुत काव्यलक्षण में प्रयुक्त 'अनलंकृती पुनः क्वापि' कथन इसी अवहेलना का द्योतक है। इस प्रकार अलंकार को 'काव्य की आत्मा' मानने का प्रश्न आनन्दवर्धन, मम्मट आदि आचार्यो के मत में तो उत्पन्न ही नहीं होता। भामह, दण्डी और उद्भट के मत में भी अलंकार को काव्य की आत्मा नहीं मान सकते, क्योंकि उनके मत में भी अलंकार काव्य का अनिवार्य माध्यम (साधन) होते हुए भी अधिकांशतः एक बाह्यपरक तत्व है। किन्तु आत्मा कहलाने योग्य काव्य-तत्व वह होता है जो कि काव्य का एक अनिवार्य एवं आन्तरिक साधन या प्राण-तत्व होता हो।

5.4.4 काव्य में अलंकार के प्रयोग का औचित्य एवं मूल्यांकन

अंततः विचारणीय प्रश्न यह है कि काव्य में अलंकार का प्रयोग कब एवं कैसा होना चाहिए? इस संबंध में एक शब्द में उत्तर है कि 'औचित्यपूर्ण'। इस सम्बन्ध में उल्लेख्य है कि शब्दालंकार अथवा अर्थालंकार - (1) कभी स्फुट रूप में विद्यामान रहकर काव्य-चमत्कार में वृद्धि करता है, और (2) कभी अस्फुट रूप में विद्यमान रहकर काव्य-चमत्कार में वृद्धि करता है, (3) किन्तु, कभी प्रमुखतः अलंकार ही काव्य-चमत्कार का कारण बनता है। अब इन तीनों स्थितियों के उदाहरण लीजिए :

1. सखी बोली - ये तुमने अपने नेत्र कैसे लड़ाके बना लिये है कि उधर बेचारे कृष्ण बेहाल पड़े है - कहीं मुरली पड़ी है, कहीं पीत पट पड़े है तो कहीं मुकुट और कहीं बनमाला पड़ी है -

कहा लड़ैते दृग करे परे लाल बेहाल।
कहुँ मुरली कहुँ पीत पट, कहुँ मुकुट बनमाल।। — बिहारी

---

[1] (क) उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः। (काव्यप्रकाश 8.67)
(ख) शब्दार्थयोरस्थिराः ये धर्माः शोभातिशायिनः।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत्।। (साहित्यदर्पण 10.1)

[2] काव्यत्मनो व्यंग्यस्य रमणीयताप्रयोजका अलंकारा। (रसगंगाधर)

कृष्ण गोपिका के नेत्रों से आहत विरही के रूप में छटपटा रहे हैं - यह व्यंग्यार्थ (व्याजनिन्दा) अलंकार के माध्यम से और भी अधिक चमत्कृत हो उठा है। नेत्रों को लड़ाके कहना निन्दा है, पर बिहारी को वस्तुत: उनकी स्तुति करना अभीष्ट है कि ये अति सुन्दर हैं। यहाँ व्याजनिन्दा अलंकार स्फुट रूप में है। इसी प्रकार

अमी हलाहल मदभरे स्वेत स्याम रतनार।
जियत मरत झुकि-झुकि परत जेहि चितवत इक बार॥

(नायिका के नेत्र अमृत, विष और मदिरा से भरे हैं, तभी तो ये श्वेत, श्याम और रक्ताभ हैं, और तभी इन्हें एक बार देखने वाले जीते, मरते और गिरते-पड़ते से हैं।) यहाँ नेत्रों का अद्‌भुत सौन्दर्य-वर्णन कवि को यहाँ अभीष्ट है, और यथासंख्य अलंकार का चमत्कार उसमें किंचित् और वृद्धि कर रहा है। यहाँ भी यह अलंकार स्फुट रूप में है।

2. अब दूसरे प्रकार के उदाहरण लीजिए। कवि प्रसाद के निम्नोक्त पद्य -

औरों के प्रति प्रेम तुम्हारा इसका मुझको दुख नहीं ।
जिसके तुम हो एक सहारा, वही न भूला जाए कहीं॥

में किसी अलंकार के स्फुट रूप में विद्यमान न होने पर भी 'प्रेम की उत्कटता' रूप व्यंग्य काव्य-चमत्कार का द्योतक है। यों, इस पद्य में 'तुम्हारा' और 'सहारा' तथा 'नहीं' और 'कहीं' तुकों के बल पर अनुप्रास अलंकार भी ढूँढा जा सकता है, पर यह उक्त व्यंग्य में सहायक नहीं है। इसके अतिरिक्त इस पद्य में विभावना, विशेषोक्ति, विषम और विरोध जैसे अलंकारों की कल्पना भी की जा सकती है, जो कि यहाँ स्फुट रूप से विद्यमान नहीं है।

3. अब तीसरे प्रकार के उदाहरण लीजिए जिनमें अलंकार के चमत्कार के कारण व्यंग्यार्थ अस्फुट रूप से प्रतीत होता है निम्नोक्त पद्य में केवल भ्रान्तिमान् (भ्रम) अर्थालंकार के कारण ही काव्यत्व की स्वीकृति की जा सकती है। यहाँ कवि को नायिका का आभूषण-सौंदर्य व्यंजित करना अभीष्ट है, पर यह व्यंग्यार्थ भ्रान्तिमान अलंकार के चमत्कार के कारण अस्फुट बनकर रह गया है। ध्वनि-सिद्धान्त के अन्तर्गत आप जानेंगे कि ऐसे स्थलों को चित्रकाव्य कहा गया है।

नाक का मोती अधर की कान्ति से,
बीज दाड़िम का समझ कर भ्रांति से।
देख उसको ही हुआ शुक मौन है,
सोचता है अन्य शुक यह कौन है।

अब ऐसा उदाहरण शब्दालंकार (अनुप्रास) का लीजिए -

मुकुट शुभ हिम तुषार
प्राण प्रणव ओंकार
ध्वनित दिशाएँ उदार
शतमुख-शतरव-मुखरे! (निराला : भारती वन्दना)

यहाँ कवि को यह व्यंग्यार्थ अभीष्ट है कि 'माँ भारती' (भाषा) गौरव-शालिनी है, पर पाठक इस व्यग्यार्थ से इतना चमत्कृत नहीं होता जितना कि अनुप्रास अलंकार से होता है। अत: यहां व्यंग्यार्थ अस्फुट माना जाता है।

5.4.5 काव्य में अलंकार का औचित्यपूर्ण निर्वहण

काव्य में अलंकार के औचित्यपूर्ण निर्वहण के लिए आनन्दवर्धन ने निम्नोक्त नियमों का निर्देश किया है:

1. क) काव्य में रस ही अंगी होता है, अतः रूपक आदि अलंकारों को उसके अंग रूप में ही प्रयुक्त करना चाहिए।
   ख) अलंकार की अंगीरूप में विवक्षा कभी नहीं करनी चाहिए।
2. क) अलंकारों को अवसर पर ग्रहण करना और
   ख) अवसर पर ही इनका त्याग कर देना चाहिए।
3. क) अलंकार-प्रयोग का आरम्भ करके उसे अंत तक निभाने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए।
   ख) यदि अनायास आद्यन्त निर्वाह हो भी जाए तो उसे अंग-रूप में रस का पोषक बनाने का यत्न करना चाहिए।

निष्कर्ष यह कि अलंकारों की सार्थकता इसी में है कि वह एक अनायास साधन के रूप में रस (काव्यानन्द) का उत्कर्ष करे न कि स्वयं रस को आच्छादित करके कवि की चमत्कारप्रियता का परिचय देने लगे।[1]

5.4.6 अलंकारों की संख्या और प्रकार

वाक-तत्व में निहित, वाणी-विलास की ज्यों-ज्यों सूक्ष्म विवेचना होती गयी काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में अलंकारों की संख्या भी त्यों-त्यों प्राय: बढ़ती चली गयी। इसी बीच पिछले आचार्यों द्वारा स्वीकृत अलंकारों को अमान्य भी ठहराया जाता रहा, फिर भी, नये अलंकारों के समावेश से संख्या में वृद्धि होती रही। भरत मुनि ने केवल 4 अलंकार माने थे और यह संख्या अप्पय्यदीक्षित के समय (16वीं - 17वीं शती में) 124 अलंकारों के तक जा पहुँची।

अलंकारों की संख्या को उत्तरोत्तर बढ़ाने के मोह का परिणाम यह हुआ कि वे वस्तुगत-वर्णन भी 'अलंकार' नाम से पुकारे जाने लगे, जिनका सम्बन्ध अलंकार्य, अर्थात् रस, को किसी भी रूप में अलंकृत करने के साथ् नहीं है, जैसे जयदेव ने प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि सम्भव और ऐतिह्य - इन आठ प्रमाणों की प्रमाणालंकार नाम दे दिया। इसी प्रकार स्मरण, भ्रम, सन्देह प्रहर्षण, वीप्सा आदि को भी अलंकार मान लिया गया जो कि मूलत: हृदय की वृत्तियाँ मात्र हैं।

पर साथ ही अलंकारों की संख्या को न्यून करने के प्रयास भी समय-समय पर होते रहे। इस दिशा में कुन्तक का प्रयास विशेषतः उल्लेखनीय है। इन्होंने के 20 अलंकारों का निरूपण किया, और इनमें से भी प्रतिवस्तूपमा, उपमेयोपमा, तुल्ययोगिता अंनन्वय, निदर्शना और परिवृत्ति — इन छह सादृश्यमूलक अलंकारों का उपमा में, समासोक्ति का श्लेष में, तथा सहोक्ति का उपमा में अन्तर्भाव करके शेष 13 अलंकार ही मान्य ठहराये। अन्य आचार्यों द्वारा सम्मत अलंकारों में उनका अन्तर्भाव हो सकता है। अत: वे मान्य नहीं है।[2]

कुन्तक के बाद इस दिशा में जयदेव का नाम उल्लेख्य है। उन्होंने शुद्धि, संसृष्टि, संकर, मालोपमा और रशनोपमा अलंकारों की अस्वीकृति की है। इधर, यही प्रयास टीकाकारों ने भी किया है। काव्यप्रकाश के टीकाकार भट्ट वामन झलकीकर ने कुल मिलाकर 54 अलंकारों में से कुछ का खण्डन किया है और कुछ को मम्मट-सम्मत अलंकारों में अन्तर्भूत करने का निर्देश किया है।

किन्तु इतना सब कुछ होते हुए भी वाणी-विलास के भेदोपभेदों का नामकरण होता चला गया और अप्पय्यदीक्षित तक अलंकारों की संख्या 121 और उनके भदोपभेदों की संख्या लगभग 300 तक पहुँच गयी।

अलंकार-प्रकार

अलंकारों को तीन प्रकारों में विभक्त किया गया है - शब्दगत, अर्थगत और शब्दार्थगत। मम्मट के अनुसार इस विभाजन का आधार है - 'अन्वय-व्यतिरेक-संबंध'। जिसके रहने पर जो रहे वह 'अन्वय' कहाता है, और जिसके न रहने पर जो न रहे वह 'व्यतिरेक'। इसका तात्पर्य यह है कि जिस शब्द के कारण चमत्कार हो, उसके स्थान पर उसका पर्यायवाची शब्द रखने पर यदि चमत्कार नष्ट हो जाए तो शब्दालंकार, चमत्कार नष्ट न हो तो अर्थालंकार माना जाता है, और जहाँ दोनों स्थितियाँ बनी रहें वहाँ शब्दार्थालंकार (उभयालंकार) माना जाता है । इसी आधार पर अनुप्रास यमक आदि शब्दालंकार है, उपमा रूपक आदि अर्थालंकार हैं और पुनरुक्तवदाभास उभयालंकार है। यह ज्ञातव्य है कि शब्दालंकारों में अर्थ की और अर्थालंकारों में शब्द की सत्ता तो रहती है, और कभी-कभी क्रमश : इनका चमत्कार भी रहता है, किन्तु नामकरण प्रधानता के ही आधार पर किया जाता है - (1) जहाँ शब्द का चमत्कार

---

[1] ध्वन्यात्मभूतश्रंगारे समीक्ष्य विनिवेशत:।
रूपकादिरलंकारवर्ग एति यथार्थताम्।। — ध्वन्या. 2.17

[2] भूषणान्तरभावेन शोभाशून्यतया तथा।
अलंकारास्तु ये केचन्नालंकारतया मनाक्।। — व.जी. 3 x 44

[3] अलंकारों की संख्या इस प्रकार है : भरत - 4, भामह - 39, दण्डी - 35, उद्‌भट - 40, वामन - 33, रुद्रट - 52, भोजराज - 72, मम्मट - 67, रुय्यक - 81, जयदेव - 10 विश्वनाथ - 88 अप्पय्य दीक्षित - 124 जगन्नाथ

अपेक्षाकृत अधिक होगा वहाँ शब्दालंकार माना जाएगा, जैसे अनुप्रास आदि, (2) जहाँ अर्थ का चमत्कार समान-रूप से होगा वहाँ अर्थालंकार जैसे उपमा आदि, और (3) जहाँ शब्द और अर्थ का चमत्कार समान-रूप से हो वहाँ उभयालकार, जैसे पुनरूक्तववाभास।

अर्थालंकारों का वर्गीकरण

अर्थालंकारों का वर्गीकरण संस्कृत-आचार्यों में एक विवाद का विषय रहा है। रुद्रट ने सर्वप्रथम अर्थालंकारों को वर्गीकृत करने का प्रयास किया, यद्यपि उनसे पहले उद्भट ने भी यह प्रयास अवश्य किया था, पर वे इसमें सफल नहीं हुए थे। रुद्रट ने अर्थालंकारों को — वास्तव, औपम्य अतिशय और श्लेष - इन चार श्रेणियों में विभक्त किया। रुद्रट के बाद रुय्यक ने इनका वर्गीकरण किया, और एकावली के कर्ता विद्याधर ने इस दिशा में प्रायः रुय्यक का ही अनुकरण किया। एकावली के टीकाकार मल्लिनाथ ने रुय्यक और विद्याधर के वर्गीकरण का विशेष रूप से स्पष्टीकरण करते हुए पाठकों के लिए उसे सुबोध रूप दे दिया, जिसका संक्षिप्त विवरण, इस प्रकार है -

1. सादृश्यमूल क अलंकार वर्ग : उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि।
2. औपम्यगर्भ अलंकार वर्ग : दीपक, दृष्टान्त, व्यतिरेक, परिकर, श्लेष, आदि।
3. विरोधगर्भ अलंकार वर्ग : विरोध, विभावना, विशेषोक्ति आदि।
4. श्रृंखलाकार अलंकार वर्ग : कारकमाला, एकावली, मालादीपक, आदि।
5. न्यायमूलक अलंकार वर्ग : काव्यलिंग, यथासंख्या, परिसंख्या आदि।
6. गूढार्थप्रतीतिमूलक अलंकार वर्ग : सूक्ष्म, व्याजोक्ति और वक्रोक्ति।

इस वर्गीकरण को समझने के लिए कुछ उदाहरण लीजिए -

1. सादृश्यमूलक अलंकार -

उदाहरण : 'बिखरी अलकें ज्यों तर्कजाल'

यहाँ अलकों को तर्क-जाल के सदृश बिखरी (उलझी) बताया गया है। अत : यहाँ उपमा अलंकार है। इस कथन में अलकें उपमेय है, तर्क जाल उपमान है, 'ज्यों' वाचक शब्द है, बिखरना सादृश्य है।

2. औपम्यगर्भमूलक अलंकार -

उदाहरण : रहिमन अँसुआ नयन ढरि, जिय-दुख प्रकट करेइ।
जाहि निकारों गेह ते, कस न भेद कहि देह।।

'आँसू आँखों से ढरक कर जी को दुःख देते है । यहाँ यह उपमेय-वाक्य है। इसी के दृष्टान्त-स्वरूप दूसरा वाक्य उपमान-वाक्य है - 'जिसे घर से निकाल दोगे तो वह घर का भेद भला किस को नहीं बता देगा?' इन दोनों वाक्यों बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव (भाव-साम्य) है। अत: यहाँ दृष्टान्त अलंकार है। स्पष्ट है कि भाव-साम्य का आधार औपम्य अर्थात् सादृश्य होता है।

3. विरोधगर्भमूलक अलंकार -

उदाहरण : बिनुपद चलै, सुनै बिनु काना, कर बिनु करै करम बिधि नाना।
आनन रहित सकल रस भोगी, बिन बादी बकता बड़ जोगी।।

जहाँ कारण न हो, पर कार्य हो, वहाँ विभावना अलंकार होता है। भगवान् के पाँव नहीं होते, पर वे चलते हैं, कान नहीं होते, पर सुनते हैं, आदि। कारण न होते हुए भी कार्य हो रहे हैं। अत: यहां विभावना अलंकार है। स्पष्ट है कि ऐसे कथनों के मूल में विरोध होता है, क्योंकि कारण न होने पर कार्य भी नहीं होना चाहिए, पर यहाँ हो रहा है।

4. श्रृंखलाकार अलंकार वर्ग -

उदाहरण : नहिं सर जहँ सरसिज नहीं, जलज न जहँ नहिं भौंर!
भ्रमर न जो गुंजत नहीं, गुंजन न मनहर जोन।।

वह तालाब (किसी काम का) नहीं जिसमें कमल न हों, वह कमल (किसी काम का) नहीं जिस पर भौंरे न मंडराते हों —। यहाँ एकावली अलंकार है जहाँ पदों के ग्रहण (स्थापन) और त्याग (निषेध), भ्रमर और गुंजन पदों में श्रृंखला रखी गयी है।

5. न्यायमूलक अलंकार वर्ग -

उदाहरण : पावस में धनुष अब, सरित-तीर ही तीर।
रोदन ही में लाल दृग, नौ रस ही में बीर।। (वियोगी हरि)

अब इस युग में वीरता का अभाव हो गया है - धनुष तो अब वर्षा ऋतु में होते हैं (धनुष = इन्द्रधनुष)। तीर तो अब नदी के तीर (तट) ही होते हैं। अब लाल आँखें रोने पर ही होती हैं, शत्रु पर क्रोध के कारण लाल नहीं होती। वीर (रस) तो नौ रसों में होता है, अब वे शूरवीर कहाँ? यहाँ परिसंख्या अलंकार है। यह अलंकार वहाँ होता है जहाँ किसी वस्तु को अन्य स्थलों से हटा कर किसी एक ही स्थान पर स्थापित किया जाए। उक्त पद्य में भी यही स्थिति है। न्यायमूलक अलंकारों में अभीष्ट बात कहने में कोई न्याय (तर्क) निहित होता है। जैसे इस पद्य में तर्क यह कि अब वह शूरवीरता का युग नहीं रहा।

6. गूढ़ार्थ प्रतीतिमूलक अलंकार -

उदाहरण : ललन-चलन सुनि पलन में अँसुआ झलके आइ।
भई लखानन सखिन हूँ झूठें ही जमुहाइ।। (बिहारी)

नायक के जाने की (नगर से बाहर चले जाने की) सूचना से नायिका की नेत्रों में अश्रु आ गये। पर उसने तुरन्त जमुहाई ले ली कि सखिया समझें कि अश्रु जमुहाई के कारण आये हैं न कि भावी विरह के कारण। यहाँ व्याजोक्ति अलंकार है। जहाँ कोई भेद किसी बहाने से छिपाए जाए ऐसे अलंकार किसी गुढ़ार्थ की प्रतीति कराते हैं।

5.4.7 अलंकार और अलंकार्य

अंततः विचारणीय है कि अलंकार और अलंकार्य में क्या अन्तर है?

- अलंकार काव्य के शब्दार्थ-रूप काव्य-शरीर को शोभा प्रदान करने वाले काव्यतत्व हैं, जैसे - अनुप्रास, यमक आदि शब्दालंकार तथा उपमा, रूपक आदि अर्थालंकार।
- इन अलंकारों से जो अलंकृत होता उसे 'अलंकार्य' (अलंकरणीय, अलंकृत करने योग्य) कहते हैं। यों तो अलंकार शब्दार्थ-रूप काव्यशरीर की शोभा बढाते हैं, अत: शब्दार्थ को अलंकार्य मानना चाहिए, परंतु चूँकि अलंकार शब्दार्थ-रूप काव्य-शरीर की शोभा के माध्यम से अन्ततः रस का उपकार (उत्कर्ष) करते हैं, अतः आनन्दवर्धन एवं इनके अनुकरण में मम्मट ने रस को 'अलंकार्य' माना न कि शब्दार्थ को।

निष्कर्षतः अलंकार रस का उपकार करते हैं अत: अनुप्रास, उपमा आदि अलंकार कहलाते हैं और रस अलंकार्य कहलाता है जैसे उपर्युक्त पद्य 'ललन चलन सुनि..... पद्य में शृंगार रस 'अलंकार्य' है और व्याजोक्ति 'अलंकार' है, क्योंकि यह शृंगार रस का उपकार कर रहा है। इसी प्रसंग में एक स्थिति और है

क) कभी-कभार शृंगार आदि रसों में से कोई एक रस किसी अन्य का उपकार कर रहा होता है तो उस उपकारक रस को रसवद् अलंकार कहते हैं और उपकार्य रस को अलंकार्य। एक उदाहरण लीजिए

सपनो है संसार यह रहस न जाने कोय।
मिलि पिय मनमानी करौ, काल कहाँ धौं होय।।

यहाँ शृंगार रस 'अलंकार्य' है और इसका उपकारक शान्त रस 'अलंकार' है। इस स्थिति में अलंकार्य को अंगी कहते हैं, और अलंकार को अंग।

ख) इसी प्रकार यदि स्थायी भाव, संचारी भाव और सात्विक भावों के भेदों में से कोई एक भेद किसी अन्य भेद का उपकार कर रहा होता है, अथवा किसी रस का उपकार कर रहा होता है तो यह उपकारक काव्यतत्व 'अलंकार' कहलाता है और जिसका उपकार होता है वह 'अलंकार्य' कहलाता है।

शब्दालंकार अथवा अर्थालंकार 'अलंकार्य' का, अर्थात् रस का, कैसे उपकार करते हैं, इस सम्बन्ध में निम्नोक्त दो उदाहरण लीजिए—

ऊँचे घोर मंदर के अंदन रहन वारी,
ऊँचे घोर मंदर के अंदर रहाती हैं।
कंदमूल भोग करैं, कंद मूल भोग करैं,
तीन बेर खाती ते, वै तीनि बेर खाती हैं।। (शिवा बावनी, 8)

भूषण कवि ने उक्त पद्य में कहा है कि शिवाजी के शौर्य के कारण पराजित शत्रुओं की नारियों की यह दुर्दशा हो गयी है। इस पद्य में यमक नामक शब्दालंकार है, और यह अलंकार यों तो, शब्दार्थ-रूप

काव्यशरीर की शोभा कर रहा है, पर इस शोभा के माध्यम से यह अलंकार वीर रस का उपकार कर रहा है। यहाँ वीर रस को 'अलंकार्य' कहा जाएगा, क्योंकि यमक अलंकार अन्ततः इसी का उपकार कर रहा है।

अब अर्थालंकार का उपर्युक्त उदाहरण 'अमी हलाहल मद भरे .....' एक बार फिर लीजिए। इससे विषय को समझने में सहयता मिलेगी -

अमी हलाहल मदभरे स्वेत स्याम रतनार।
जियत मरत झुकि झुकि परत, जेहि चितवत इक बार।।

इसका अर्थ है कि सुन्दरी के नेत्र अमृत, विष और मदिरा से भरे हुए हैं, तभी तो ये क्रमश: श्वेत, श्याम और लाल रंग के हैं। जो इन्हें एक बार देख लेता है वह जीता है, मरता है और गिरता-पड़ता है।

इस पद्य में यथासंख्य अलंकार है। पर कवि को इस पद्य के द्वारा मूलतः नेत्रों का अद्‌भुत सौन्दर्य-वर्णन करना अभीष्ट है, और यथासंख्य अलंकार शृंगार रस का उपकार कर रहा है। इस प्रकार यहाँ शृंगार रस 'अलंकार्य' है और यथासंख्य 'अलंकार' है।

इस प्रसंग के अंतर्गत उपर्युक्त 'रसवद्' अलंकार की चर्चा एक बार करें। काव्य में रस दो रूपों में वर्णित होता है - अंगी रूप में एवं अंग रूप में। उदाहरण के लिए, कालिदास के 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' नाटक में अंगी रस अर्थात् प्रधान अथवा मुख्य रस 'शृंगार' है, और शृंगार रस के सहायक रस - वात्सल्य, अद्‌भुत, हास्य, शान्त आदि अन्य रस - भी नाटक में मौजूद हैं। इन्हें यहाँ अंग रस अर्थात् गौण रस माना जाता है। आनन्दवर्धन के अनुसार इस नाटक में शृंगार रस (अंगी रस) को अलंकार्य माना जाता है और वात्सल्य आदि रसों को 'रसवद् अलंकार'। इतना ही नहीं, एक पद्य में भी यह स्थिति हो सकती है कि एक रस दूसरे रस का उपकारक हो। निम्नोक्त पद्य फिर लीजिए -

सपनो है संसार यह रहस न जाने कोय
मिलि पिय मनमानी करौ, काल कहाँ धौं होय।। (अज्ञात)

(नायक का नायिका के प्रति यह कथन कि संसार स्वप्न है। इस रहस्य को कोई नहीं जानता। न जाने कब मृत्यु हो जाए, अतः आओ परस्पर मनोरंजन करें।) यहाँ शृंगार रस प्रधान होने के कारण, 'अलंकार्य' है और शान्त रस गौण होने के कारण 'अलंकार' है । ऐसे स्थलों में रसवद् अलंकार माना जाता है।

निष्कर्षतः जहाँ कोई अनुप्रास, उपमा आदि अलंकार, रस, भाव आदि आठों में किसी एक का उपकार करता है वहाँ उस अलंकार को 'अलंकार' कहा जाता है और रस आदि को 'अलंकार्य'।

क) जहाँ रस, भाव आदि आठों में से कोई एक किसी अन्य का उपकार करता है तो उस उपकृत रस (प्रधान रस) को अलंकार्य कहते हैं और उपकारक रस को 'रसवद् अलंकार'।

ख) यही स्थिति महाकाव्य, नाटक आदि में भी मानी जाती है कि प्रधान (अंगी) रस को 'अलंकार्य' कहते हैं और गौण (अंग) रस को अलंकार।

आप पूछ सकते हैं कि किस स्थिति में रस को रसवद् अलंकार मान लिया जाता है। उत्तर होगा कि जो रस (अलंकार्य) का उपकार करे उसे 'अलंकार' कहते हैं— चाहे वह अनुप्रास अथवा उपमा अलंकार हो अथवा शृंगार आदि कोई रस हो। इस स्थिति में यह उपकारक रस 'रसवद् अलंकार' कहलाता है। लेकिन प्रसंग यहाँ समाप्त नहीं हो जाता। कुन्तक ने आनन्दवर्धन के इस मन्तव्य को अस्वीकृत किया है कि शृंगार आदि रस को अलंकार्य माना जाए और अनुप्रास, उपमा आदि को अलंकार। उनके अनुसार 'रस' अलंकार्य नहीं है, अपितु 'शब्दार्थ' अलंकार्य है -

अलंकृतिरलंकार्यमपोद्‌धृत्य विवेच्यते।
तदुपायतंया, तत्वं सालंकारस्य काव्यता।।
अलंकार्यम् अलंकरणीयं वाचकरूपं वाच्यरूपं च। (वक्रोक्ति जीवित 1.6 तथा वृति)

अर्थात् काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में 'अलंकार' और 'अलंकार्य' (शब्दार्थ) का प्रतिपादन समझने-समझाने के लिए अलग-अलग किया जाता है, पर काव्यत्व तो 'अलंकार-साहितक' को कहते हैं। जैसे आभूषण शरीर से अलग किये जा सकते हैं उसी प्रकार अनुप्रास, उपमा आदि अलंकार 'अलंकार्य' से- शब्दार्थ रूप काव्य शरीर से - अलग नहीं किये जा सकते। अत: काव्यत्व तो अलंकार-सहित होता है, इसके बिना नहीं होता। एक छोटा सा उदाहरण लीजिए - 'मुख चन्द्रमा है', इसमें रूपक अलंकार है, पर हम रूपक अलंकार को शब्दार्थ-रूप काव्यशरीर से अलग नहीं कर सकते जैसे कि आभूषणों को अपने शरीर से अलग कर सकते है। अत: कुन्तक का मन्तव्य है कि अनुप्रास, उपमा आदि अलंकार है, और 'शब्दार्थ' (रूपी काव्य शरीर) अलंकार्य है। इस प्रसंग में कुन्तक का मत भी आगे मान्य हुआ।

हिन्दी में अलंकार-विवेचन

रीतिकालीन रीतिसिद्ध आचार्यों में से कुछ आचार्यों ने काव्य के सभी अंगों - काव्य स्वरूप, शब्द शक्ति ध्वनि, रस, गुण, अलंकार आदि - का विवरण प्रस्तुत किया, जैसे कि चिन्तामणि, कुलपति, देव आदि ने। ये विविध-काव्यांगनिरूपक आचार्य कहलाते हैं। कुछ आचार्यों ने रसनिरूपण के अन्तर्गत शृंगार रस के आलम्बन-प्रसंग में नायक-नायिका-भेद का प्रतिपादन किया, जैसे कि तोष, मतिराम, रसलीन आदि ने और कुछ आचार्यों ने अलंकार-ग्रन्थ लिखे यथा -जसवन्तसिंह, मतिराम, भूषण, पद्माकर आदि ने। उल्लेख्य है कि इन रीतिकालीन अलंकार-निरूपक आचार्यों को संस्कृत के भामह, दण्डी और उद्भट के समान अलंकारवादी आचार्य नहीं कहना चाहिए, अलंकार-निरूपक आचार्य कहना चाहिए।

इन रीतिकालीन आचार्यों से पूर्व भक्तिकालीन आचार्य **केशव** ने अपने ग्रन्थ 'कविप्रिया' में अलंकार के सम्बन्ध में कहा कि -

जदपि सुजाति सुलक्षनी सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषण बिनु न विराजहीं कविता वनिता मित्त।।

अर्थात् कोई कविता सुजाति (स्वभावोक्ति अलंकार), भूषण, शोभा आदि लक्षणों, सुन्दर वर्णों और सुन्दर छन्दों से भले ही युक्त हो, परन्तु हे मित्र! वह अनुप्रास, उपमा आदि अलंकारों के बिना ऐसे शोभित नहीं होती जैसे कोई नारी भले ही शुभ लक्षणों से युक्त, सुन्दर वर्ण वाली, आकर्षक और सुभाषिणी क्यों न हो, पर वह कंकण, कुण्डल, नूपुर आदि आभूषणों के बिना शोभित नहीं होती। केशव को विशेषत: इसी कथन के आधार पर अलंकरवादी कहा जाता है। उनकी यह मान्यता उपर्युक्त अलंकारवादी आचार्य भामह के उपर्युक्त कथन से मेल खाती है कि 'न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्', पर इतना होते हुए भी केशव का रस के प्रति समादरभाव कुछ कम नहीं है -

ज्यों बिन डीठ न शोभिये लोचन लोल विशाल।
त्यों ही केशव सकल कवि, बिन वाणी न रसाल।।

वस्तुतः केशव अलंकारवादी हैं नहीं। कारण यह कि इन्होंने भामह, दण्डी और उद्भट के समान गुण, प्रबन्ध-काव्यत्व, नाटयसन्धि आदि को 'अलंकार' मानने का कहीं संकेत तक नहीं किया। वस्तुत: इन्होंने अपना 'कविप्रिया' ग्रन्थ दण्डी द्वारा रचित 'काव्यादर्श' के आधार पर प्राय: प्रस्तुत किया है, और अपना एक अन्य ग्रन्थ 'रसिकप्रिया' भानुमिश्र की 'रसमंजरी' के आधार पर। अत: इन्हें न तो 'कविप्रिया' के आधार पर अलंकारवादी कहना चाहिए और न ही 'रसिकाप्रिया' के आधार पर रसवादी। ये उक्त दोनों ग्रन्थों के रूपान्तरकार मात्र हैं। इनका किसी एक काव्यतत्व-विशेष के प्रति कोई आग्रह नहीं था।

निष्कर्षतः रीतिकालीन आचार्यों ने अलंकार-विषयक सिद्धान्तपक्ष संस्कृत काव्यशास्त्र से ग्रहण किया, पर वे इसे समर्थ रूप मे प्रस्तुत नहीं कर सके। हाँ, उनके द्वारा प्रस्तुत अलंकारों के उदाहरण निःसंदेह सटीक हैं और अति कवित्वपूर्ण हैं। इधर आधुनिक काल में निम्नोक्त विद्वानों ने प्रायः मम्मट और विश्वनाथ के ग्रन्थों के आधार पर अलंकार-विषयक ग्रन्थ लिखे - मुरारीदान (जसवन्तभूषण), भानु-कवि (काव्यप्रभाकर), भगवानदीन (अलंकार मंजूषा), अर्जुनदास केडिया (भारती भूषण), कन्हैयालाल पोदार (अलंकारमंजरी), रामदहिन मिश्र (काव्यदर्पण) आदि।

इनके अतिरिक्त हिन्दी के अनेक मनीषियों ने अलंकार के सम्बन्ध में अपने-अपने बहुविध विचार प्रस्तुत किये -

- आचार्य **महावीरप्रसाद द्विवेदी** के कथनानुसार अलंकारों का प्रयोग नवयुग की चेतना के अनुरूप बलात नहीं करना चाहिए। (रसज्ञ रंजन, पृ.20)
- सादृश्यमूलक अलंकारों में प्रस्तुत और अप्रस्तुत का विविध रूप में साम्य दर्शाया जाता है। इसके सम्बन्ध में आचार्य **रामचन्द्र शुक्ल** का यह कथन अति महत्वपूर्ण हैं - 'अप्रस्तुत-योजना प्रस्तुत के अनुरूप होनी चाहिए और उसमें वस्तु-गुण और क्रिया अथवा व्यापार-समष्टि का भाव जगाने की वैसी क्षमता होनी चाहिए जैसी प्रस्तुत में है।' (चिन्तामणि, भाग।, पृष्ठ-168)
- **बाबू गुलाबराय** की मान्यता है, 'जब तक अलंकार भीतरी उत्साह के द्योतक होते हैं तब तक वे शोभा को उत्पन्न करने वाले कहे जा सकते हैं, किन्तु जब वे रूढ़ि या परम्परा-मात्र रह जाते है, तभी वे भार रूप दिखाई देने लगते हैं।' (सिद्धान्त और अध्ययन, पृष्ठ 4)
- **डॉ. नगेन्द्र** अलंकारों के रचना के मूल कारण की तलाश करते हुए कहते हैं -'मन के उच्छ्वास के साथ वाणी अनिवार्यत: उच्छ्वसित हो जाती है। वाणी का यही उच्छ्वास उक्ति-वैचित्र्य है। इसलिए व्यापक अर्थ में अलंकार उक्ति-वैचित्र्य है।' (रीतिकाव्य की भूमिका, पृष्ठ 94-95)

आधुनिक मनीषियों के उक्त कथनों का निष्कर्ष यह है कि काव्य में अलंकारों का प्रयोग विषयानुरूप तथा नियन्त्रित रूप से में किया जाना चाहिए।

5.5 रीति-सिद्धान्त (रीति संप्रदाय)

आप रस-सिद्धान्त और अलंकार सिद्धान्त के विषय में पढ चुके हैं। इन सिद्धान्तों के प्रवर्तक क्रमश: भरत और भामह हैं। भामह के बाद **वामन** हुए। इन्होंने रीति सिद्धान्त का प्रवर्तन किया। इनके ग्रंन्थ का नाम 'काव्यालंकारसूत्रवृत्ति' है। रीति और गुण--ये दोनो काव्यांग परस्पर-सम्बन्धित हैं। अतः यहाँ रीति-सिद्धान्त के अन्तर्गत रीति और गुण, इन दोनों पर प्रकाश डाला जा रहा है।

5.5.1 रीति शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ

'रीति' शब्द की व्युत्पत्ति है -'रीयते गम्यतेइतिऽनेन रीतिः' अर्थात् मार्ग, जिसके द्वारा गमन किया जाय। काव्यशास्त्र में रीति से तात्पर्य है काव्यरीति, काव्यमार्ग, काव्यपथ, आदि। यों, समझा यह जाता है कि भारतीय काव्यशास्त्रीय 'रीति' शब्द से अभिप्रेत है--शैली (style) लेखन-प्रक्रिया, लेखन-प्रकार writing आदि। पर यहाँ 'रीति' शब्द शैली आदि शब्दों से, एक सीमा तक, सम्बन्धित अवश्य है, इन शब्दों का पर्यायवाची नहीं है।

5.5.2 वामन से पूर्व रीति और गुण विषयक चर्चा

वामन-सम्मत रीति-सिद्धान्त का निरूपण करने से पूर्व, आइए, पहले यह देख लें कि वामन से पूर्व रीति और गुण इन दोनों पर क्या चर्चा हुई थी। उल्लेख्य है कि वामन से पूर्व (1) 'रीति' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ था, दण्डी ने 'काव्य मार्ग' शब्द का प्रयोग किया था। (2) भरत और दण्डी दोनों ने श्लेष, प्रसाद, समता आदि दस गुण गिनाये थे, वही वामन ने भी गिनाये, पर इन तीनों आचार्यों द्वारा इन गुणों के जो लक्षण बताये गये थे, वे आपस में प्रायः मेल नहीं खाते। (3) भामह ने काव्य के दो प्रकार बताये थे - वैदर्भ और गौडीय, और दण्डी ने भी काव्यमार्ग के दो भेद बताये थे--वैदर्भ और गौड। (4) दण्डी ने उक्त मार्गो के प्रसंग में उक्त दस गुणों का निरूपण किया था कि श्लेष आदि दस गुण वैदर्भ मार्ग के प्राण है। इधर वामन ने तीन रीतियाँ मानी हैं--वैदर्भी, गौडीया और पांचाली और इन्हीं तीनों का संबंध गुणों के साथ स्थापित किया।

पर वस्तुतः देखा जाए तो वामन के रीति-सिद्धांत पर उक्त तीनों आचार्यो - भरत, भामह और दंडी के उपर्युक्त प्रसंगों का कोई विशिष्ट प्रभाव है नहीं। वामन ने अपने से पूर्ववर्ती आचार्यो से पारिभाषिक शब्द भले ही लिए हैं, पर इनका रीति-सिद्धांत निजी है। उन आचार्यों की धारणाओं से मेल नहीं खाता। वामन के पश्चात् इस विषय पर आनन्दवर्धन ने और इनके आलोक में मम्मट और विश्वनाथ ने इस विषय पर प्रकाश डाला। इनकी चर्चा यथास्थान आगे की जा रही है।

5.5.3 वामन सम्मत रीति और गुण

वामन के अनुसार रीति का लक्षण है -'विशिष्टा पदरचना रीतिः' और उसमें यह विशेषता गुणों के समावेश आती है - 'विशेषो गुणात्मा'। उनके अनुसार गुण कहते हैं - काव्य के शोभाकारक धर्म को **(काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः।** -- काव्यालंकारसूत्रवृत्ति 3.11) काव्य का यह शोभाकारण धर्म शब्दगत भी है और अर्थगत भी। इनकी संख्या दस-दस है। काव्य कहते हैं - गुण और अलंकार से संस्कृत (युक्त) शब्दार्थ को, यों गौण रूप से भले ही शब्दार्थ को काव्य कह दिया जाए। **(काव्यशब्दोऽयं गुणालंकारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोवर्तते। भक्त्या तु शब्दार्थमात्रवचनोऽत्र गृह्यते।** -- काव्यालंकारसूत्रवृत्ति 1.1.1)

रीतियाँ तीन हैं - वैदर्भी गौड़ी और पांचाली। वैदर्भी में सभी गुण रहते है--दस शब्दगुण और दस अर्थगुण, अथवा केवल दस शब्दगुण अथवा केवल दस अर्थगुण। गौड़ीया में दो गुण रहते हैं--ओज और कान्ति, और पांचाली में भी दो गुण--माधुर्य और सौकुमार्य। जिस प्रकार चित्र में रेखाओं का समन्वय होता है, उसी प्रकार ये रीतियाँ भी अपने-अपने काव्य-गुणों का समन्वय ही हैं। **(एतासु तिसृषु रीतिषु रेखास्विव चित्रं काव्यं प्रतिष्ठितमिति।** -- काव्यालंकारसूत्रवृत्ति 1.2.13)

इनमें से वैदर्भी सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि इसमें सभी गुण विद्यमान रहते है । वामन-सम्मत वैदर्भी रीति सदा असमस्तपदा समास रहिता तो नहीं होती, पर हाँ, जब वह समास-रहिता होती है तो उसे 'शुद्धा वैदर्भी' कहा जाता है। समास-प्रयोग के आधार पर वैदर्भी को असमस्त-पदा अथवा समास-रहिता कहा गया है, गौडीया को उदभटपदा तथा समासबहला और पांचाली को कोमलपदा।

1. वामन-सम्मत रीति उस पद-रचना को कहते हैं जो गुणों से युक्त होती है।

2. गुण कहते हैं - 'काव्य की शोभा करने वाले धर्म को'। आपने अलंकार-सिद्धान्त के प्रकरण में पढा है कि दण्डी ने अलंकार का लक्षण किया था--काव्य की शोभा उत्पन्न करने वाले धर्म को अलंकार कहते हैं, पर वामन ने यही लक्षण गुण का माना है - **काव्यशोभायाः कर्तारो धर्माः गुणाः।** (काव्यालंकारसूत्रवृत्ति 3.11)

   अर्थात्, काव्य की शोभा उत्पन्न करने वाला धर्म गुण कहलाता है। और, वामन के अनुसार अलंकार उसे कहते हैं जो गुण द्वारा उत्पन्न शोभा का वर्धक है। गुण और अलंकार में से वामन ने गुण को नित्य माना है और अलंकार को अनित्य। अर्थात् काव्य गुण तो अनिवार्यतः विद्यमान रहता है, पर अलंकार अनिवार्यतः विद्यमान नहीं रहता। श्लेष आदि दस गुणों का प्रतिपादन हम आगे कर रहे हैं। 'अलंकार' शब्द से अभिप्रेत है - अनुप्रास, यमक आदि शब्दालंकार और उपमा, रूपक आदि अर्थालंकार।

5.5.4. वामन-सम्मत शब्दगुण और अर्थगुण

वामन के रीति-सिद्धान्त पर प्रकाश डालने से पूर्व यहाँ वामन-सम्मत शब्दगुणों और अर्थ-गुणों का स्वरूप प्रतिपादित करना अपेक्षित है -

क) शब्दगुण

1. **ओज** : ओज बन्ध (रचना) की गाढता को कहते हैं - 'गाढबन्धत्वमोज,'।

2. **प्रसाद** : प्रसाद बन्ध की शिथिलता को - 'शैथिल्यं प्रसाद'।

3. **श्लेष** : मसृणता का नाम है 'मसृणत्वं श्लेषः' बहुत से पदों का एक पद के समान भासित होना मसृणता कहलाता है।

4. **समता** : मार्ग का अभेद है - 'मार्गाभेदः समता,' अर्थात् जिस शैली से काव्य रचना का आरम्भ किया जाए, अन्त तक उसका त्याग न करना।

5. **समाधि** : आरोह-अवरोह (उतार-चढ़ाव) के क्रम को कहते है - 'आरोहोवरोहक्रमः समाधि अर्थात् जहाँ आरोह के बाद आवरोह, और अवरोह के बाद आरोह का क्रम निभाया गया हो।

6. **माधुर्य** : वहाँ होता है जहाँ पदों को पृथक् रखा गया हो 'पृथक् पदत्वं माधुर्यम्।'

7. **सुकुमारता** : बन्ध की अकठोरता (अपरुषता) को कहते है 'अजरठत्व'

8. **सौकुमार्यम्** और **उदारता** बन्ध की विकटता को कहते हैं - 'विकटत्वमुदारता।' विकटता से अभिप्राय है - पदों का नृत्य करते प्रतीत होना।

9. **अर्थव्यक्ति** :.गुण वर्ण्य विषय की स्पष्टता का नाम है - 'अर्थव्यक्तिहेतु-त्वमर्थव्यक्तिः और

10. **कान्ति** : बन्ध की उज्जवलता को कहते हैं - 'औज्ज्वलयं कान्तिः'।

इसी प्रसंग में यह उल्लेख्य है कि वामन ने शब्दगत गुणों को केवल पाठ का धर्म नहीं माना, क्योंकि वे सर्वत्र ऐसे नहीं दिखायी देते - 'न पाठधर्माः सर्वत्रादृष्टेः। इसका आशय यह है कि किसी रचना में यदि समाधि गुण न हो, किन्तु फिर भी, यदि कोई पाठक उसे आरोह-अवरोह (उतार-चढ़ाव) के क्रम से पढ़ने लगे तो वहाँ समाधि गुण नहीं माना जाएगा। जहाँ उतार-चढ़ाव वास्तव में हो, वहीं यह गुण माना जाएगा। इसी प्रकार अन्य गुणों के विषय में भी यही स्थिति है।

ख) अर्थगुण

1. **ओज** अर्थ की प्रौढ़ता है - अर्थस्य प्रौढिरौजः।

2. **प्रसाद** अर्थ की विमलता को कहते हो - अर्थवैमल्यं प्रसादः।

3. **श्लेष** कहते हैं घटना को - घटना श्लेपः। यहाँ घटना से तात्पर्य है - निम्नोक्त चार तत्वों की श्लिष्टता अथवा योग - (क) अनेक क्रिया-परम्परा, (ख) विदग्धचेष्टा, (ग) प्रसिद्ध वर्णन शैली; और (घ) युक्ति विन्यास।

4. **समता** कहते हैं अविषमता को—अवैषम्यं समता। समता दो प्रकार की होती है--क्रम का न टूटना तथा सुगमतापूर्वक अर्थ का समझ में आना।

5. **समाधि** से अभिप्राय है अर्थदृष्टि (अर्थचमत्कार) --अर्थदृष्टिः समाधिः। इसके दो रूप है - (क) कवि की नवीन उद्भावना पर आश्रित, (ख) अन्य कवियों की उद्भावना पर आश्रित। ये दोनों रूप स्फुट भी होते हैं और अस्फुट भी।

6. **माधुर्य** उक्ति के वैचित्र्य का नाम है - उक्तिवैचित्र्यं माधुर्यम्।

7. **सकुमारता** कठोरता का अभाव है - अपारूष्यं सौकुमार्यम्।

8. **उदारता** ग्राम्यता के अभाव को कहते हैं - अग्राम्यत्वमुदारता।

9. **अर्थव्यक्ति** कहते हैं वर्णनीय पदार्थो के स्वभाव की स्पष्टता को - वस्तुस्वभाव-स्फुटत्वमर्थव्यक्तिः।

10. **कान्ति** गुण वहाँ होता है जहाँ शृंगार आदि रस दीप्त हों - दीप्तरसत्वं कान्तिः।

वामन-सम्मत शब्दगुणों और अर्थगुणों पर एक बार दृष्टि डालने पर आप अनुभव करेंगे कि शब्दगुण काव्य के वाक्य-विन्यास, इसकी बनावट से संबन्धित हैं, और अर्थगुण काव्य के अधिकाशंतः बाह्य अर्थ अर्थात् वाच्यार्थ से संबंधित हैं—केवल अर्थगत कान्ति गुण ही ऐसा गुण है जो रस से--काव्य के आन्तरिक रूप से संबंधित है।

वामन ने रीति को काव्य की आत्मा माना है। इनसे पूर्ववर्ती किसी भी आचार्य ने इस प्रश्न पर विचार नहीं किया था कि किस काव्यतत्त्व को काव्य की आत्मा माना जाए। यह समस्या सर्वप्रथम वामन ने उठायी उनके शब्दों में 'रीतिरात्मा काव्यस्य'। इसका स्पष्ट कारण यह है कि जिन दस शब्दगत और दस अर्थगत गुणों से रीति निर्मित होती है, उनमें काव्य के अधिकांश तत्व, किसी न किसी रूप में, अनुस्यूत हैं। यहाँ तक रस जैसा महनीय काव्य-तत्व भी रीति का एक अंग है। इसी व्यापकता के कारण वामन की 'रीति' काव्य की आत्मा मानी गयी है।

5.5.5 रीति-सिद्धान्त की अस्वीकृति अथवा खण्डन

सभी काव्य तत्वों के किसी न किसी रूप में समाहित करने के बावजूद रीति को काव्य की आत्मा मानना संभव नहीं है। कारण स्पष्ट है कि वामन के मत में रीति काव्य का अनिवार्य साधन होते हुए भी अधिकांशतः एक बाह्यपरक काव्य-तत्व है। वस्तुतः काव्य की आत्मा वही काव्य-तत्व बन सकता है जो कि काव्य का अनिवार्य साधन तो हो ही, साथ ही वह नितान्त आन्तरिक भी हो। आगे चलकर यह सिद्धान्त किसी आचार्य द्वारा स्वीकार नहीं किया गया, अपितु इसका उपहास तक उड़ाया गया -

1. आनन्दवर्धन ने कहा -'रीतियाँ तो उन लोगों द्वारा चला दी गयीं जो ध्वनि जैसे अवर्णनीय काव्यतत्व को समझने में असमर्थ थे।

   अस्फुटस्फुटितं काव्यतत्वमेतद् यथोदितम।
   अशक्नुवदिभर्व्याकर्तुं रीतयः सम्प्रवर्तिताः।। (ध्वन्या. 3.47)

2. कुन्तक ने कुछ इस प्रकार के स्वर में कहा - 'अजी हटाओ भी, कौन रीति-जैसी निःसार वस्तु के साथ अपना मगज खपाए' - 'तदलमनेन निस्सार-वस्तु-परिमल-व्यसनेन'।

3. मम्मट और उनके अनुकरण में विश्वनाथ ने वामन-सम्मत सभी शब्दगत और अर्थगत गुणों का खण्डन किया। इस का निष्कर्ष इस प्रकार है -

   क) कुछ गुण तो आनन्दवर्धन द्वारा निर्दिष्ट माधुर्य, ओज और प्रसाद नामक इन तीन गुणों में अन्तर्भूत हो सकते हैं - जैसे, शब्दगत श्लेष, समाधि, उदारता, प्रसाद और अर्थव्यक्ति गुणों का अन्तर्भाव 'प्रसाद' गुण में कर सकते हैं।

   ख) कुछ गुण दोषाभाव-रूप होते हैं - जैसे (1) शब्दगत सुकुमारता गुण परूषता दोष का अभाव ही है। (2)उदारता गुण ग्राम्यता दोष के अभाव को ही कहते हैं। (3) अर्थगत समता गुण अविषमता के अभाव का ही दूसरा नाम है।

   ग) कुछ गुण 'गुण' न होकर कहीं दोष-रूप हो जाते हैं - जैसे शब्दगत समता गुण किन्हीं स्थितियों में दोष बन जाता है।

5.5.6 रीति और गुण का अंततः मान्य स्वरूप

क) रीति का अंततः मान्य स्वरूप

आनन्दवर्धन ने रीति को 'संघटना' (सम्यक घटना = रचना) नाम दिया और इसे 'समास' से सम्बद्ध मानकर इसके तीन रूप स्वीकार किये-असमासा, अल्पसमासा और दीर्घसमासा। उनके अनुसार संघटना का कार्य है गुणों के आश्रित रहकर रस को व्यक्त करना।

आनन्दवर्धन से ही प्रेरणा प्राप्त कर मम्मट और विश्वनाथ ने रीति का लक्षण इस प्रकार प्रस्तुत किया-मम्मट-नियत वर्णो का रस-विषयक व्यापार वृत्ति (रीति) कहलाता है।

विश्वनाथ पद-संघटना को रीति कहते हैं। यह अंग-संस्था के समान है, अर्थात् काव्य-पुरुष रूपक में इसकी स्थिति शरीर के अवयवों की बनावट के समान है, और इसी रूप में रहकर वह रस का उपकार करती है।

इन दोनों आचार्यो ने तीन रीतियाँ मानी-वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली[2] और इन्हें क्रमशः माधुर्य, ओज और प्रसाद के रचनागत स्वरूप के साथ सम्बद्ध किया। इस प्रकार इन दोनों आचार्यो के अनुसार रीति का स्वरूप इस प्रकार है -

1. पदों की संघटना का नाम रीति है।
2. ये तीन हैं, जो कि क्रमशः माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणों के व्यंजक नियत वर्णो से रचित होती हैं। क्रमशः समास की रहितता, अधिकता और न्यूनता इनका बाह्य रूप है।
3. शब्दार्थ के घर्म गुण पर आश्रित रहकर ये रीतियाँ रस की अभिव्यक्ति में साधक बनती हैं।

ऊपर कहा गया है कि मम्मट और विश्वनाथ ने वैदभी, गौड़ी, और पांचाली -- ये तीन रीतियाँ मानी हैं। इन तीनों का लक्षण प्रस्तुत करने से पूर्व गुण का स्वरूप समझना आवश्यक है।

ख) गुण का अंततः मान्य स्वरूप

आनन्दवर्धन से पूर्व

1. भरत मुनि ने 'गुणों को दोषों से विपर्यस्त कहा था, अर्थात् गुण दोषों से विपरीत होते हैं, अथवा अन्यथा-स्थित होते हैं अथवा उनके अभावनात्मक होते हैं।
2. दण्डी के अनुसार दोष यदि काव्य की विपति (विनाश) के लिए होता है तो गुण काव्य की सम्पदां (वृद्धि) के लिए।[5]
3. वामन के शब्दों में 'काव्य की शोभा करने वाले धर्म गुण कहलाते हैं।' किन्तु आगे चलकर आनन्दवर्धन ने गुण को प्रकारान्तर से 'चित्तवृति' का पर्याय स्वीकार करते हुए इसका स्वरूप रस पर आधारित किया। उनके अनुसार - 'गुण उन्हें कहते हैं जो काव्य के अंगीभूत रस का अवलम्बन करते हैं।

मम्मट और विश्वनाथ ने आनन्दवर्धन-प्रस्तुत उक्त धारणा का आधार ग्रहण कर गुण के स्वरूप को और अधिक स्पष्ट किया। इन दोनों आचार्यों के मतानुसार कुल मिलाकर गुणों का स्वरूप इस प्रकार है - गुण रस का धर्म होने के कारण उसके साथ अचल भाव से रहता है और उसका उत्कर्षक (साधक) है, साथ ही वह गौण रूप से शब्दार्थ का भी धर्म है। इस लक्षण का विश्लेषण इस प्रकार किया जा सकता है:

---

[1] पदसंघटना रीतिरगसंस्था विशेषवत्।
उपकर्त्री रसादीनाम् ....।। साहित्यदर्पण 9.1

[2] विश्वनाथ ने वैदर्भी और पांचाली रीतियों से मिश्रित 'लाटी' नामक एक रीति और भी मानी है।

[3] एते दोषास्तु विज्ञेया........एत एव विपर्यस्ता: गुणा: । (नाटयशास्त्र 17.95)

[4] विपर्यस्त कहते हैं - किसी से विपरीत, अथवा अन्यथा-स्थित रूप को अथवा किसी के अभावात्मक रूप को।

[5] दोषाः विपत्रये तत्र, गुणाः सम्पत्रये यथां। का आदर्श 3.124

[6] 'तमर्थमवलम्बन्ते येऽड गनं ते गुणाः स्मताः ।' (ध्वन्यालोक 26)

- जिस प्रकार शौर्य आदि गुण आत्मा के धर्म हैं, उसी प्रकार माधुर्य आदि तीन गुण भी रस के धर्म हैं।
- रसयुक्त रचना में गुण की स्थिति अचल (नित्य) है।
- गुण रस के सदा उत्कर्षक अर्थात् साधक होते हैं।
- जिस प्रकार शौर्य प्रमुख रूप से तो आत्मा का धर्म है और गौण रूप से उसे शरीर का धर्म भी मान लिया जाता है--उदाहरणार्थ, किसी स्थूलकाय किन्तु कायर भी व्यक्ति को हम शूर कह देते हैं, उसी प्रकार गुण भी प्रमुख रूप से रस का धर्म है, किन्तु साथ ही, गौण रूप से शब्दार्थ (रचना) का भी धर्म है, और गुण के इसी रचना-परक स्वरूप पर रीति आधारित है।

गुण अथवा चितवृत्ति

अभी ऊपर कहा गया है कि आनन्दवर्धन ने गुण को प्रकारांतर से 'चित्तवृति' का पर्याय माना। आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक (2.8-10) में कहा है कि (क) माधुर्य गुण शृंगार आदि कोमल रसों से चित्त को द्रुत करता है। (ख)ओज गुण रौद्र आदि कठोर रसों से चित्त को दीप्त करता है तथा (ग) प्रसाद गुण सब प्रकार के गुणों में चित्त को (व्याप्त) करता है। आगे चल कर मम्मट ने भी काव्य प्रकाश (8.68-70) में उक्त आधार पर माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणों में चित्त की क्रमशः यही तीन वृत्तियाँ स्वीकार कीं - चित्तद्रुति, चित्तदीप्ति और चित्तव्याप्ति।

गुण को, इसी कारण, 'चित्तवृत्ति' का पर्याय मानते हैं, और यह केवल इसी स्थिति में ही रस का अचल (नित्य) तथा उत्कर्षक धर्म है।

जैसा कि आप ऊपर पढ़ आए हैं आनन्दवर्धन और उनके अनुयायी मम्मट तथा विश्वनाथ के अनुसार गुण की स्थिति एक और भी होती है। किसी रचना में कोमल वर्णों का प्रयोग होने पर वहाँ माधुर्य गुण माना जाता है, कठोर वर्णों का प्रयोग होने पर ओज गुण, गौण रूप से शब्दार्थ अथवा रचना के धर्म माने जाते हैं न कि रस के। उल्लेख्य है कि इन्हीं रचनागत तीनों गुणों के साथ क्रमशः वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली रीतियों को सम्बद्ध किया गया है।

इस प्रकार निम्नोक्त तत्वों में पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है - (1) रस, (2) चित्तवृति (3) गुणः रस का नित्य धर्म (4) गुणः शब्दार्थ (रचना) का गौण धर्म, (5) रीति, (6) वर्ण-प्रतिकूलता नामक रसदोष। इस प्रकार चित्तवृत्ति का पर्याय गुण तो रस का नित्यधर्म है, किंतु वर्ण योग्यता से द्योतित गुण शब्दार्थ (रचना) गौण (अनित्य) धर्म है।

5.5.7 संघटना, रचना-शैली अथवा रीति प्रयोग के नियामक तत्व

आनन्दवर्धन ने संघटना (रीति) के प्रयोग के संबंध में चार नियामक तत्वों का उल्लेख किया है। (1) वक्तृ-औचित्य, (2) वाच्यौचित्य, (3) विषयौचित्य और (4) रसौचित्य, अर्थात् वक्ता, वाच्य, विषय और रस - इन चारों के समन्वित रूप के ही औचित्य को ध्यान में रखते हुए संघटना का प्रयोग करना चाहिए -

1. **वक्तृ-औचित्य** : वक्ता स्वयं कवि अथवा कवि-निबद्ध पात्र होता है। पात्र नायक होता है अथवा नायक से इतर कोई अन्य पात्र होता है। नायक चार प्रकार के होते हैं - धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित और धीरप्रशान्त। यों तो कवि अथवा पात्र प्रायः रस-भाव-युक्त कथनों का प्रयोग करते हैं, किंतु कभी-कभी औचित्य के ही आधार पर उन्हें रस-भाव-रहित कथनों का प्रयोग करना पड़ता है। इस प्रकार इन सबके औचित्य के आधार पर असमस्ता, अल्पसमस्ता तथा दीर्घ-समस्ता संघटना का प्रयोग काव्य-चमत्कार का साधक होता है।

2. **वाच्यौचित्य** : यहाँ वाच्य से तात्पर्य है वर्णनीय वस्तु अथवा कथानक। यह अभिनेय और अनभिनेय दोनों प्रकार का होता है, तथा उत्तम, मध्यम, अधम आदि सब प्रकार के पात्रों की प्रकृति के साथ सम्बद्ध रहता है। इन सबके अनुरूप संघटना का प्रयोग समुचित है।

3. **विषयौचित्य** : यहाँ विषय से तात्पर्य है काव्य-प्रकार, अर्थात् प्रबंध, मुक्तक, चम्पू, दृश्य-काव्य, कथा, आख्यायिका आदि। इन सब के औचित्य को ध्यान में रख कर संघटना का प्रयोग करना चाहिए। उदाहरणार्थ, प्रबंध-काव्यों की विशेषतः महाकाव्यों की, संघटना (रचना-शैली) चाहे कितनी सघन हो, किंतु दृश्यकाव्य में उससे बचना चाहिए। इस प्रसंग में आख्यायिका

और कथा नामक गद्यकाव्य का उल्लेख करना आवश्यक है। आख्यायिका में सदा गाढबन्धता का प्रयोग होना चाहिए, चाहे शृंगार रस का वर्णन भी क्यों न हो, और कथा में सदा मसृण रचना का प्रयोग करना चाहिए, चाहे रौद्र रस का वर्णन भी क्यों न हो। कारण संभवतः यह है कि आख्यायिका का पाठक विशिष्ट वर्ग का व्यक्ति होता है, और कथा का पाठक सामान्य वर्ग का। पर यह आदर्श स्थिति नहीं है।

4. **रसौचित्य** : संघटना का प्रयोग रसानुकूल होना चाहिए। उदाहरणार्थ, करुण, विप्रलम्भ, शृंगार शांत आदि कोमल रसों में मध्यमसमासा संघटन का प्रयोग समुचित है और वीर, रौद्र, भयानक आदि कठोर रसों में दीर्घ समासा रचना का।

आनन्दर्धन का अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त चारों - वक्ता, वाच्य, विषय और रस - के अलग-अलग रूप को नहीं, अपितु इनके समन्वित रूप को ही लक्ष्य में रखकर संघटना का प्रयोग श्रेयस्कर है। वस्तुतः काव्य में इन्हें पृथक-पृथक किया भी नहीं जा सकता - यों समझने-समझाने के लए इनका उक्त विभाजन कर दिया गया है।

इस प्रकार हमने देखा कि :

- वामन-सम्मत रीति एक विशिष्ट प्रकार की पद-रचना है, जो गुणों से निर्मित होती है। इन गुणों में काव्य के शोभाकार सभी धर्म समाविष्ट हो जाते हैं और इनसे रीति बनती है अतः वामन ने रीति को काव्य की आत्मा माना है।

- वामन ने रीतियों के स्वरूप-निर्देश में समास-बद्धता की ओर भी संकेत किया था - संभवतः इसी आधार पर आनन्दवर्धन ने 'रीति' के स्थान पर 'संघटना' शब्द का प्रयोग करते हुए इसे केवल 'समास-बद्धता' से संबंधित कर दिया।

- आगे चलकर एक ओर इसी 'संघटना' शब्द को लेते हुए और दूसरी ओर इसे गुणों से सम्बद्ध करने और साथ ही इसे रसोपकारिका मानने के उद्देश्य से मम्मट ने इसका नूतन लक्षण प्रस्तुत किया कि 'ऐसी पद संघटना रीति कहलाती है जो गुणों अर्थात् गुण-व्यंजक वर्णों पर आश्रित रह कर रस का उत्कर्ष करती है, और विश्वनाथ के शब्दों में - रीति रस का उत्कर्ष उस प्रकार करती है जिस प्रकार हमारी अंग-संथान (अंगों की बनावट) हमारी आत्मा का प्रकारान्तर से उत्कर्ष करती है।

इस प्रकार कहाँ तो वामन के समय में रीति पर गुण आश्रित थे और रीति काव्य की आत्मा थी, और कहाँ मम्मट, विश्वनाथ के समय में अब रीति गुणों पर आश्रित है, और शब्दार्थ -रूप काव्य-शरीर की अंग-संस्था के समान रहकर रस-रूप काव्यात्मा का प्रकारांतर से उत्कर्ष करती है। अब यह केवल रचनामात्र है, आधुनिक शब्दावली में कहें तो एक 'शैली' मात्र है, और अधिकांशतः काव्य के बाह्य पक्ष - कला पक्ष- के स्वरूप की निश्चायक है। काव्य में कलापक्ष का निस्संदेह महत्व है, इस दृष्टि से 'रीति' का भी काव्य में निजी महत्व एवं स्थान है, भले ही यह 'काव्य की आत्मा न मानी जाए'।

'रीति-सिद्धांत' का यह प्रकरण भारतीय काव्यशास्त्र की दृष्टि से समाप्त हुआ। निष्कर्ष यह कि -

i) वामन को रीति-सिद्धांत का प्रवर्तक माना जाता है, यद्यपि इनसे पूर्व भरत, भामह और दंडी के ग्रंथों में रीति सिद्धांत के स्रोत उपलब्ध हो जाते हैं।

ii) वामन-सम्मत 'रीति' का लक्षण है - **गुणों से युक्त विशिष्ट पदरचना रीति कहलाती है। गुण** कहते हैं - काव्य की शोभा करने वाले धर्म को। गुण दस हैं, जो कि शब्दगत भी हैं और अर्थगत भी। रीतियाँ तीन हैं - वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली। ये रीतियों विभिन्न गुणों के समावेश से बनती हैं। क्योंकि इन गुणों में काव्य के विभिन्न शोभाकर धर्म साक्षात् रूप से अथवा प्रकारान्तर से समाविष्ट हो जाते हैं अतः **रीति काव्य की आत्मा है।**

iii) पर आनन्दर्धन ने वामन के दृष्टिकोण को स्वीकार नहीं किया। उनके अनुसार संघटना (रीति) गुण पर आश्रित रहकर रस का उपकार करती है उस गुण पर जो शब्दार्थ का धर्म है न कि का रस का। उंनकी यही मान्यता मम्मट ने और इनके बाद विश्वनाथ ने स्पष्ट शब्दो में प्रस्तुत की।

iv) रीति काव्य के कलापक्ष की निर्देशिका है, अत: उसका निजी महत्व है, भले ही उसे आनन्दवर्धन आदि के अनुसार काव्य की आत्मा न माना जाए।

5.5.8 पाश्चात्य काव्यशास्त्र की दृष्टि में रीति (शैली)

रीति का जो विवेचन भारतीय काव्यशास्त्र में प्रस्तुत हुआ है उसका निष्कर्ष यह है कि रचना, वर्ण-योजना, संघटना आदि का ही दूसरा नाम रीति है। उधर पाश्चात्य काव्यशास्त्र में 'स्टाइल' अर्थात् शैली को जो विवेचन हुआ है वह भारतीय काव्यशास्त्रीय 'रीति' के ठीक अनुकूल तो नहीं है, पर हाँ, उसके आस-पास अवश्य है। इसका किंचित् दिग्दर्शन-प्रस्तुत है।

- **प्लेटो** ने तीन शैलियाँ स्वीकार कीं - सहज-सरल, विचित्र और मिश्र। इनमें से मिश्र को उन्होंने सर्वोत्कृष्ट माना है। सरल भी उपदेय है, पर विचित्र एक निकृष्ट शैली हे जिसमें बालक अथवा हीन कोटि के जन रूचि लेते है। ये तीनों रूप क्रमश: कुन्तक-सम्मत सुकुमार , विचित्र और मध्यम नामक गुणों के समानान्तर माने जा सकते है।

- **अरस्तू** के अनुसार शैली के दो मूल गुण हैं - स्पष्टता और औचित्य (विषय की उचितता), और दो मुख्य भेद हैं—साहित्य-शैली और विवाद-शैली। विवाद-शैली के दो उपभेद हैं—संसद् की शैली तथा न्यायालय की शैली। इनके अनुसार शैली के चार मुख्य दोष हैं - (1) समासों का अधिक प्रयोग (2) अप्रचलित शब्दों का प्रयोग (3) दीर्घ, अनुपयुक्त तथा अधिक विशेषणों का प्रयोग (4) दूरारूढ़ तथा अनुपयुक्त रूपकों का प्रयोग। इधर भारतीय काव्यशास्त्र में गौड़ी रीति को समास-बहुला कहा गया है—जो कि रौद्र, वीर, आदि कठोर रसों के उपयुक्त है, किन्तु शृंगार, करूण आदि कोमल रासों में इसका प्रयोग सदोष कहलाता है। शेष तीन दोषों को भारतीय काव्यशास्त्र में प्रतिपादित किसी न किसी दोष के समकक्ष रखा जा सकता है—अप्रचलित शब्दों का प्रयोग तो स्पष्टत: अप्रयोग' दोष है ही।

- **सिसरो** के अनुसार शैली, के चार तत्व हैं - (1) उपयुक्त शब्द-चयन, (2) स्पष्ट और मुहावरेदार भाषा, (3) चुने हुए शब्दों के द्वारा सामंजस्यपूर्ण रचना, (4) कर्कशता-रहित वर्ण-गुम्फ। इन्होंने शैली के दो भेद माने - (1) ऐटिक शैली अर्थात् सरल, ऋजु, अनलंकृत और संयत शैली, तथा (2) एशियाटिक शैली, अर्थात् अतिशय अलंकृत तथा चमत्कारपूर्ण शैली। इन्हें पढकर अनायास दण्डी द्वारा प्रस्तुत वैदर्भ और गौड नामक काव्य-मार्गों की स्मृति हो आती है।

- **होरेस** के अनुसार काव्य-शैली विवेक-सम्मत एवं स्पष्ट शब्द-योजना है, और **लांजाइनस** के अनुसार 'काव्य की महान् शैली' आत्मा की महती की प्रतिध्वनि है। इन्होंने शैली के पाँच उद्गम माने हैं - (1) धारणा की भव्यता, (2) भावना की तीव्रता, (3) अलंकारों का उपयुक्त प्रयोग (4) भाषागत आभिजात्य; और (5) पदरचना की गरिमा और औदात्य।

- **बैन जान्सन** के अनुसार शैली का प्रमुख गुण है - प्रसाद, और प्रमुख दोष है - क्लिष्टता जिसके लिए व्याख्याता की आवश्यकता पड़े। हिन्दी में इसके क्रमशः उदाहरण हैं - इधर मैथिलीशरण गुप्त की और उधर केशव की अधिकतर कविता।

- **वर्डसवर्थ** की काव्य-भाषा के सम्बन्ध में मूल धारणा यह है कि काव्य में मानव की सहज-भाषा का प्रयोग होना चाहिए, और सहज-भाषा ग्राम्य-जन की भाषा में मिलती है। उन्होंने कृत्रिम एवं चमक-दमक से युक्त भाषा को निष्प्राण तथ काव्य के अनुपयुक्त माना। यदि वर्डसवर्थ ग्राम्य-जन द्वारा प्रयुक्त सहज भाषा से यह तात्पर्य लेते हैं कि काव्य-भाषा जन-साधारण द्वारा बोधगम्य होनी चाहिए तो उनकी धारणा एकांगी अवश्य है, पर नितान्त अग्राह्य एवं त्याज्य नहीं है, क्योंकि ऐसी भाषा भी विषयानुकूल उपयुक्त होती है, यद्यपि सर्वत्र उपयुक्त नहीं होती। साथ ही, कृत्रिम बाह्याडम्बर-युक्त भाषा को भारतीय काव्यशास्त्र में भी गर्हित कहा गया है। सबसे अधिक गर्हणा यमक और चित्र अलंकारों की गयी है किन्तु यदि वर्डसवर्थ ग्राम्यजन द्वारा प्रयुक्त 'सहज-भाषा' से तात्पर्य यही लेते हैं कि काव्य-भाषा अनलंकृत, अनगढ़ और यथा- तथ्यपूर्ण होनी चाहिए तो उनकी यह धारणा सर्वथा मान्य नहीं हो सकती।

- **मैथ्यू आर्नल्ड** उदात्त शैली के समर्थक थे, पर साथ ही उन्हें यह भी अभीष्ट था कि काव्य का विषय और उसकी शैली दोनों उदात्त होनी चाहिए।

- **क्रोचे** का अभिव्यंजना-सिद्धान्त मात्र अभिव्यंजना के पृष्ठपोषक हैं। वह उक्ति को महत्व देते हैं, अर्थ के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते। भारतीय काव्यशास्त्र में ऐसा एकांगी रूप कहीं भी व्यक्त नहीं हुआ—न अलंकार-सिद्धान्त में, न रीति-सिद्धान्त में, और न ही वक्रोक्त-सिद्धान्त में। यूरोप में भी इसे यथावत् स्वीकार नहीं किया गया।

- प्रसिद्ध आलोचक आई.ए. रिचर्डस के अनुसार 'शब्द या ध्वनि का प्रभाव' जैसी कोई वस्तु नहीं होती। वस्तुतः कोई शब्द अपने-आप में न कुरूप होता है और न सुन्दर। इसकी प्रभविष्णुता परिस्थितियो के अनुसार ग्राह्य एवं अग्राह्य, रूचिकर एवं अरूचिकर, सुन्दर एवं असुन्दर बनती रहती है। इस प्रकार रिचडर्स ने क्रोचे की मात्र अभिव्यंजना को अस्वीकार करते हुए विषय के अनुरूप अभिव्यंजना के सौन्दर्य को ग्राह्य और इसके असौंदर्य को अग्राहय माना। इधर भारतीय काव्यशास्त्र में यह धारणा रसानुकूल रीति-प्रयोग के समकक्ष है। उदाहरणार्थ, जो गौड़ी रीति वीर रस में ग्राह्य है वही शृंगार रस में गर्हित है।

इस प्रकार पाश्चात्य काव्यशास्त्र में स्टाइल (शैली) विभिन्न विचार-वीथियों में से गुजरती हुई अंततः वहीं आन पहुँची है जहाँ भारतीय काव्यशास्त्र में रीति आ पहुँची थी। मानव-मन के ऐक्य का यह एक प्रबल प्रमाण है। **समग्र रूप में कहा जा सकता है कि रीति अथवा इसकी समकक्ष शैली ऐसी शब्द-योजना है जिसका प्रयोग वर्ण्य विषय के अनुकूल ही सुंदर होता है, अन्यथा नहीं! साथ ही यह रचयिता के व्यक्तित्व की भी द्योतक होती है।**

भारतीय एवं पाश्चात्य दृष्टि से आदर्श 'रीति' अथवा 'शैली' के तीन प्रमुख तत्व हैं उपयुक्त शब्दचयन विषयानुकूल मंजुल अथवा गाढ़ पदबंध और स्पष्टता। वस्तुतः इन्हीं गुणों में शेष सभी गुणों का समावेश हो जाता है। उपयुक्त शब्दचयन और स्पष्टता अर्थात् त्वरित अर्थावबोध तो सर्वत्र अपेक्षित है - भारतीय दृष्टि से इसे रचनागत प्रसाद गुण अथवा पांचाली रीति कह सकते हैं। मंजुल पद-बंधन में असमासता अथवा अल्पसमासता भी समाहित है और कोमल एवं मसृण वर्ण-योजना भी इसे रचनागत माधुर्य गुण अथवा वैदर्भी रीति मान सकते हैं। गाढ़ पद-बंधन से समास-बहुलता का समावेश भी है और कठोर एवं जटिल वर्ण-योजना का भी - इसे रचनागत ओज गुण अथवा गौडी रीति कह सकते हैं। यह तो स्पष्ट है ही कि किसी रचना में इन सभी तत्वों का एक-साथ सद्भाव किसी भी रूप में अपेक्षित नहीं है। स्पष्टता अथवा सुबोधता शैली का प्रधान तत्व है - यथासम्भव इसका सदभाव अत्यन्त उपादेय एवं श्रेयस्कर है।

5.6 कुछ उपयोगी पुस्तके

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, **रस-मीमांसा**, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी.

डॉ. नगेन्द्र,, **रस सिद्धांत**, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज, नई दिल्ली.

डॉ. नगेन्द्र, **भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका**, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज, नई दिल्ली.

डॉ. नगेन्द्र, **रीतिकाव्य की भूमिका**, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज, नई दिल्ली.

डॉ. सत्यदेव चौधरी, **भारतीय काव्यशास्त्र**, अलंकार प्रकाशन, दिल्ली.

धीरेन्द्र वर्मा (संपा.), **हिंदी साहित्य कोश** (भाग 1), ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी.

5.7 अभ्यास के लिए प्रश्न

1. रस के अंगों पर प्रकाश डालिए।
2. अलंकार सम्प्रदाय की शक्ति और सीमाओं पर विचार कीजिए?
3. काव्य में अलंकारों की उपयोगिता पर प्रकाश डालिए?
4. अलंकार तथा अलंकार्य का संबंध निरुपण कीजिए?
5. रीति-सम्प्रदाय की स्थापनाओं पर विचार कीजिए?
6. काव्य में रीति-गुण की महत्ता का प्रतिपादन कीजिए?
7. निम्नलिखित पर टिप्पणियाँ लिखिए -
   (क) विभाव
   (ख) आलम्बन और आश्रय
   (ग) अलंकारों के प्रकार
   (घ) काव्य के गुण

इकाई 6 भारतीय काव्यशास्त्र के प्रमुख संप्रदाय-II

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- भारतीय काव्यशास्त्र के ध्वनि संप्रदाय, वक्रोक्ति संप्रदाय और औचित्य संप्रदाय के विषय में जानकारी दे सकेंगे,
- इन सिद्धांतों से मिलते-जुलते पश्चिमी काव्यशास्त्र के मतों के विषय में बता सकेंगे,
- इन सिद्धांतों के महत्व पर प्रकाश डाल सकेंगे।

6.1 प्रस्तावना

इकाई 5 के अंतर्गत आप रस, अलंकार और रीति-सिद्धांतों के विषय में पढ़ चुके हैं। प्रस्तुत इकाई में आप भारतीय काव्यशास्त्र के अन्य तीन सिद्धांतों अथवा संप्रदायों के विषय में पढ़ेंगे।

6.2 ध्वनि-सिद्धांत (ध्वनि संप्रदाय)

ध्वनि सिद्धांत के प्रवर्तक **आनंदवर्धन** है। ये नवम शती ई. में विद्यमान थे। इनके ग्रंथ का नाम 'ध्वन्यालोक' है, अर्थात् इसमें ध्वनि पर आलोक (प्रकाश) डाला गया है। आनंदवर्धन के सम्मुख पिछले तीन सिद्धांत थे - रस, अलंकार और रीति। उन्होंने अपने ग्रंथ में प्रमुखतया दो कार्य किए :

1. ध्वनि का स्वरूप तथा इसके भेद आदि प्रस्तुत किये।
2. रस आदि उक्त सिद्धातों को, विशेषतः अलंकार और रीति को नूतन रूप प्रदान करते हुए इन्हें ध्वनि-सिद्धांत के अंतर्गत समाविष्ट किया।

इस प्रकार उन्होंने इन चारों सिद्धांतों मे से ध्वनि को प्रमुख स्थान दिया, इसे ही काव्य की आत्मा मानते हुए काव्यशास्त्र को नई दिशा की ओर मोड़ दिया। इनके बाद कुछ आचार्यों द्वारा ध्वनि-सिद्धांत को अस्वीकृत तो किया गया, पर अधिकतर आचार्यों ने इसे ही स्वीकार किया, और ध्वनि-विरोधी आचार्यों की आवाज़ दब गयी। इस आधार पर हम भारतीय काव्यशास्त्र के सिद्धांतों को कालक्रमानुसार इस प्रकार विभक्त कर सकते हैं :

1. ध्वनि-पूर्ववर्ती सिद्धांत - रस, अलंकार और रीति,
2. ध्वनि-सिद्धांत,
3. ध्वनि-परवर्ती सिद्धांत-वक्रोक्ति आदि ध्वनि-विरोधी सिद्धांत तथा औचित्य-सिद्धांत।

आनंदवर्धन को ध्वनि-सिद्धांत का प्रवर्तक माना जाता है, पर उन्होंने अपने ग्रंथ 'ध्वन्यालोक' में अनेक बार संकेत किया है कि उनसे पूर्ववर्ती एवं उनके समकालीन आचार्यों ने ध्वनि और इसके भेदों का निरूपण किया है।[1] पंडित गोष्ठियों में तो इस सिद्धांत पर चर्चा अवश्य होती होगी। यद्यपि इस पर 'ध्वन्यालोक' को छोड़ कोई अन्य ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। इस तथ्य का संकेत 'ध्वन्यालोक' की 'लोचन' नामक टीका के कर्ता अभिनवगुप्त ने किया है।[2]

ध्वनि-सिद्धांत की आवश्यकता

आप ऊपर पढ़ चुके हैं कि आनंदवर्धन से पूर्व काव्यशास्त्र के अंतर्गत रस अलंकार और रीति नामक तीन सिद्धांत प्रतिपादित हो चुके थे। इनमें से अलंकार और रीति-तत्व काव्य के प्रायः बाह्य रूप तक सीमित थे। रस-तत्व निःसंदेह काव्य के आंतरिक रूप से संबद्ध था, और नाटक तथा प्रबंध-काव्य (महाकाव्य, खण्डकाव्य) पर पूर्णतः घटित हो जाता था, अनेक मुक्तक रचनाओं पर भी इसकी प्रक्रिया घटित हो सकती थी, पर फिर भी, ऐसी अनेक मुक्तक रचनाओं को, जो विभावादि-सामग्री से प्रायः शून्य होते हुए भी, चमत्कारपूर्ण थीं, रसवाद के आवेष्टन में ला सकना कठिन नहीं, असंभव था क्योंकि रस अपनी विशिष्ट शास्त्र-प्रक्रिया में परिबद्ध है, उसकी सीमा विभाव आदि सामग्री तक सीमित है। आनंदवर्धन ने उक्त तीनों सिद्धांतों - रस, अलंकार और रीति सिद्धांतों - की इन त्रुटियों को पहचाना और शब्द की तीसरी शक्ति व्यंजना से सम्बद्ध ध्वनि (व्यंग्यार्थ) का प्रवर्तन किया, जो आंतरिक तत्व भी है और व्यापक तत्व भी।

काव्यशास्त्र में 'ध्वनि' शब्द के विभिन्न प्रयोग

'ध्वनि' शब्द का प्रयोग काव्यशास्त्र में पाँच भिन्न-भिन्न अर्थों में मिलता है - (1) व्यंजना शब्द शक्ति, (2) व्यंजक शब्द, (3) व्यंजक अर्थ (4) व्यंग्यार्थ; और (5) व्यंग्यार्थ-प्रधान काव्य। इस प्रकरण का प्रतिपाद्य विषय 'व्यंग्यार्थ' और 'व्यंग्यार्थ-प्रधान काव्य' है। इन पाँचों शब्दों के अर्थ आप आगे यथास्थान जान जाएँगे।

ध्वनि-सिद्धांत का स्रोत

1. व्याकरण-शास्त्र 'ध्वनि' का स्रोत मान लिया गया है, यद्यपि व्याकरण-ग्रंथों में ध्वनि अथवा व्यंजना शब्दशक्ति से संबंधित ऐसे संकेत स्पष्ट अथवा प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त नहीं होते, जिन्हें काव्यशास्त्र में प्रतिपादित ध्वनि का मूल संकेत माना जा सके। काव्यशास्त्र विषयक ध्वनि पर प्रायः व्याकरण 'स्फोट' का प्रभाव स्वीकार किया गया है, पर वस्तुतः यह प्रभाव प्रत्यक्ष न होकर अप्रत्यक्ष है।

   स्फोटवादियों ने ध्वनि (अर्थात् उच्चार्यमाण शब्द अथवा नाद) को व्यंजक माना है, और स्फोट को व्यंग्य माना है। किंतु इधर काव्यशास्त्रियों ने ध्वनि, व्यंजक और व्यंग्य ये शब्द लिये तो व्याकरणशास्त्र से हैं, पर इनका प्रयोग अपनी दृष्टि से विभिन्न प्रकार से किया है। इन तीनों शब्दों से क्या अभिप्रेत है - यह आप आगे पढ़ेंगे।

2. आनंदवर्धन से पूर्व अलंकारवादी आचार्यों के ग्रंथों में यद्यपि ध्वनि शब्द का स्पष्ट प्रयोग नहीं मिलता, तथापि भामह, दण्डी और उद्भट तथा रूद्रट के ग्रंथों में प्रस्तुत कतिपय अलंकारों में व्यंजना के संकेत मिल जाते हैं जैसे कि प्रतिवस्तूपमा, अपह्नुति, समासोक्ति, अर्थान्तरन्यास, पर्यायोक्त आदि अलंकार। इनमें से पर्यायोक्त अलंकार का लक्षण कीजिए -

   पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाऽभिधीयते।
   वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां शून्येनावगमात्मना।। -- का.अ.आ.सं. (उद्भट) 5.6

   पर्यायोक्त अलंकार उसे कहते हैं जहाँ कोई बात अन्य प्रकार से कही जाए - इस प्रकार से कही बात में शब्द वाचक नहीं कहलाता व्यंजक कहलाता है, और अर्थ वाच्य नहीं कहलाता अवगमित (व्यंग्य) कहलाता है।

संभवतः, ऐसे संकेत धीरे-धीरे विकसित होते-होते आनंदवर्धन के समय तक ध्वनि-सिद्धांत के रूप में प्रस्फुटित हो गये होंगे। इतना ही नहीं, यह सिद्धांत आनंदवर्धन के समय में इतना प्रचलित हो गया था कि इसके विरोधी भी उत्पन्न हो गये थे।

[1] (क) काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः (ध्वन्या. 1.1)
(ख) विमतिविषयो य आसीन्मनीषिणां सततमविदितसतत्वः।
ध्वनिसंज्ञितः प्रकारः काव्यस्य व्यंजितः सोऽयम्।। (ध्वन्या. 3.34)

[2] विनाऽपि विशिष्टपुस्तकेषु विनिवेशनाद इत्यभिप्रायः। (ध्वन्यालोक लोचन पृ 11)

इस प्रकार ध्वनि-सिद्धांत का एक स्रोत तो व्याकरण शास्त्र है, पर यह स्रोत न होकर अप्रत्यक्ष है, और दूसरा स्रोत भारतीय काव्यशास्त्र का 'अलंकारसिद्धांत' है जो कि प्रत्यक्ष है।

ध्वनि (व्यंग्यार्थ) का स्वरूप

आनंदवर्धन ने ध्वनि का स्वरूप इस प्रकार प्रस्तुत किया है- 'जहाँ' वाच्य (अर्थ) एवं वाचक (शब्द) अपने-अपने अस्तित्व को गौण बनाकर जिस विशिष्ट अर्थ को प्रकट करते हैं वह अर्थ 'ध्वनि' कहलाता है :

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः।। (ध्वन्या0 1.13)

आनंदवर्धन ने ध्वनि के स्वरूप को सुलझाने के लिए कतिपय उदाहरण प्रस्तुत किये हैं -

क) जिस प्रकार किसी अंगना के सुंदर अवयव और उनसे फूटता हुआ लावण्य परस्पर भिन्न-भिन्न पदार्थ है, उसी प्रकार महाकवियों की वाणी में प्रसिद्ध अवयव (अर्थात् वाचक शब्द और वाच्य अर्थ) और उनसे अभिव्यक्त प्रतीयमान अर्थ भी परस्पर भिन्न-भिन्न होते हैं -

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवांगनासु।। (ध्वन्या0 1.4)

ख) जिस प्रकार दीपशिखा और उससे निःसृत प्रकाश अलग-अलग पदार्थ है, उसी प्रकार 'वाच्यार्थ' और उससे व्यंजना शक्ति के द्वारा अभिव्यक्त 'व्यंग्यार्थ' अलग-अलग तत्व है -

आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवान् जनः।
तदुपायतया तदवद् अर्थे वाच्ये तदादृतः।। (ध्वन्या0, 1.9)

ग) ध्वन्यर्थ तो सुंदरियों की लज्जा की भाँति (एक आंतरिक एवं विभिन्न तत्व) है -

मुख्या महाकविगिरामलंकृतिभृतामपि।
प्रतीयमानच्छायेषा भूषा लज्जेव योषिताम्।। (ध्वन्या0, 3.38)

उक्त उदाहरण का निष्कर्ष यह है कि -

- ध्वनि (व्यंग्यार्थ) शब्दार्थ से भिन्न तत्व है।
- ध्वनि लावण्य प्रकाश लज्जा आदि के समान एक आंतरिक तत्व है।
- शब्दार्थ आधार एवं साधन है और ध्वनि आधेय एवं साध्य। जिस प्रकार लावण्य के लिए अंगना के अंगों की, अथवा प्रकाश के लिए दीपशिखा की अपेक्षा रहती है उसी प्रकार ध्वनि के लिए शब्दार्थ (वाचक शब्द और वाच्य अर्थ) की अपेक्षा रहती है।

संक्षेप में कहें तो **वाच्यार्थ से भिन्न अर्थ 'व्यंग्यार्थ' अथवा 'ध्वनि' कहलाता है,** और इसी व्यंग्यार्थ (ध्वनि) को आनंदवर्धन ने, और उनके अनुकरण में मम्मट और जगन्नाथ ने काव्य की आत्मा माना है।

इसी प्रसंग में **वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ** में अंतर भी जान लेना चाहिए। यह अंतर निम्नोक्त आठ तत्वों पर आधारित है -

1. **निमित्त कारण** : वाच्यार्थ का निमित्त कारण शब्द है, पर व्यंग्यार्थ का प्रतिभा-नैर्मल्य। इसी कारण वाच्यार्थ का ज्ञाता बोद्धा कहलाता है और व्यंग्यार्थ का ज्ञाता सहृदय।

2. **आश्रय** : वाच्यार्थ का आश्रय शब्द है, पर व्यंग्यार्थ का आश्रय शब्द के अतिरिक्त शब्द का एक देश, वर्ण अथवा वर्ण-संघटना आदि है, और कभी-कभी चेष्टा आदि भी।

3. **कार्य** : वाच्यार्थ का कार्य वस्तुमात्र की प्रतीति कराना है, पर व्यंग्यार्थ का कार्य चमत्कार की प्रतीति कराना है!

4. **काल** : वाच्यार्थ का बोध पहले होता है, और व्यंग्यार्थ की प्रतीति इसके बाद। यह अलग प्रश्न है कि यह प्रतीति इतनी त्वरित होती है कि दानों अर्थों में पूर्व और पर का क्रम लक्षित नहीं हो पाता।

5एवं 6. **बोद्धा और संख्या** : एक वाच्य का वाच्यार्थ सब बोद्धाओं के लिए एक समान होता है, पर व्यंग्यार्थ भिन्न-भिन्न बोद्धाओं के लिए अलग-अलग। उदाहरणार्थ, 'सूर्य अस्त हो गया' इस वाक्य का वाच्यार्थ छात्र, दुकानदार, भगवद्भक्त, यात्री आदि के लिए एक है, पर व्यंग्यार्थ इन सबके लिए अलग-अलग होने के कारण ये अनेक हैं।

7. **विषय** : कहीं वाच्यार्थ का विषय एक व्यक्ति होता है, और व्यंग्यार्थ का विषय दूसरा व्यक्ति।

8. **स्वरूप** : कहीं वाच्यार्थ विधि-रूप होता है तो व्यंग्यार्थ निषध-रूप, कही वाच्याथ संशयात्मक होता है तो व्यंग्यार्थ निश्चयात्मक, कहीं वाच्यार्थ निंदापरक होता है तो व्यंग्यार्थ स्तुतिपरक। इसी प्रकार कहीं स्थिति इनसे विपरीत भी होती है।

6.2.1 ध्वनि के तारतम्य के आधार पर काव्य के तीन भेद

आनंदवर्धन स्वीकार करते हैं कि काव्य में ध्वनि (व्यंग्यार्थ) तत्व अनिवार्य रूप से अनुस्यूत रहता है। इसके बिना कोई सार्थक कथन या तो लोकवार्ता कहलाता है[1] या शास्त्रकथन कहलाता है[2] निष्कर्षतः, कोई ऐसा काव्य नहीं जिसमें ध्वनि-तत्व विद्यमान न हो, पर प्रत्येक काव्य में यह तत्व एक-सम्मान नहीं रहता। इसके तारतम्य के अनुसार आनंदवर्धन ने काव्य को तीन प्रकारों से वर्गीकृत किया है - ध्वनि-काव्य गुणीभूतव्यंग्य-काव्य, और चित्र-काव्य। इन्हें मम्मट ने क्रमशः उत्तम, मध्यम और अवर काव्य कहा है। इनमें से प्रथम दो प्रकारों में ध्वनि स्फुट-रूप से अनुस्यूत रहती है; और चित्रकाव्य में अस्फुट रूप से। अब इनके लक्षण लीजिए:

1. **ध्वनि-काव्य** : जहाँ व्यंग्यार्थ का चमत्कार वाच्यार्थ की अपेक्षा अथवा उसके चमत्कार की अपेक्षा प्रधान अर्थात् अतिशय हो।

2. **गुणीभूतव्यंग्य-काव्य** : जहाँ व्यंग्यार्थ का चमत्कार वाच्यार्थ की अपेक्षा अथवा उसके चमत्कार की अपेक्षा गौण अर्थात् न्यून अथवा उसके समान हो।

3. **चित्र-काव्य** : जहाँ व्यंग्यार्थ अस्फुट रूप में विद्यमान हो। इसका तात्पर्य यह है कि जिस काव्य में गुणों की वर्ण-व्यंजकता और शब्दगत अथवा अर्थगत अलंकारों का चमत्कार इतना अधिक हो कि व्यंग्यार्थ अस्फुट बन जाए वहाँ चित्र-काव्य माना जाता है। अभिप्राय यह है कि चित्र काव्य में व्यंग्यार्थ का नितांत अभाव नहीं रहता, अपितु यह अस्फुट रह जाता है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि 'चित्रकाव्य' को चित्रालंकार (खड्गबंध, पद्मबंध, आदि) नहीं समझना चाहिए। चित्रालंकार तो एक शब्दालंकार है।

इस प्रकार आनंदवर्धन ने ध्वनि-तत्व के तारतम्य के आधार पर समग्र काव्य को तीन प्रकारों में विभक्त कर दिया है, किंतु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि काव्य-चमत्कार की दृष्टि से पहले प्रकार के उदाहरण शेष दो प्रकार के उदाहरणों की अपेक्षा सदा उत्कृष्ट कोटि के होंगे, और दूसरे प्रकार के उदाहरण सदा मध्यम कोटि तथा तीसरे प्रकार के उदाहरण सदा अवर कोटि के ही होंगे। यह तो केवल एक शास्त्रीय परिधि मात्र (academic decorum) है।

1. ध्वनिकाव्य के भेद

आनंदवर्धन द्वारा प्रस्तुत ध्वनि के भेदाभेदों को आगे बढ़ाते हुए मम्मट ने ध्वनि-काव्य के पहले 51 भेद माने जो परस्पर-संयोजन द्वारा कई सहस्र तक जा पहुँचते हैं, किंतु उक्त 51 में से ये पाँच भेद ही प्रमुख हैं - (1) अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि, (2) अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि, (3) वस्तुध्वनि, (4) अलंकारध्वनि, (5) रसध्वनि।

कुछ विद्वानों के अनुसार इनमें से प्रथम दो भी वस्तुतः वस्तु-ध्वनि के ही रूपांतर मात्र हैं। अतः ये विद्वान् ध्वनि के वस्तुध्वनि, अलंकार-ध्वनि तथा रसध्वनि- ये तीन भेद ही स्वीकार करते हैं। परंतु अन्य विद्वानों का मानना है कि पहले दो भेदों को वस्तुध्वनि में समाविष्ट कर देना उचित नहीं है।

क) **अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि** : यह ध्वनि वहाँ मानी जाती है जहाँ वाच्यार्थ अन्य (व्यंग्य) अर्थ में संक्रमित हो जाता है। यथा -

> सेना छिन्न, प्रयत्न भिन्न कर, पा मुराद मनचाही।
> कैसे पूजूँ गुमराही को, मैं हूँ एक सिपाही।। (भारतीय आत्मा)

'सिपाही' शब्द का वाच्यार्थ है योद्धा। किंतु यहाँ वह वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ में संक्रमित हो गया है। 'सिपाही' शब्द का व्यंग्यार्थ है - अपने प्राणों का बलिदान करने वाला, साहसी, देश का उन्नायक, आदि।

---

[1] जैसे 'बाज़ार से अपनी पुस्तक के साथ मेरे लिए भी पुस्तक खरीदते लाना आदि वाक्य।

[2] जैसे 2+2=4 होते हैं आदि वाक्य।

ख) **अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि** : यह ध्वनि वहाँ मानी जाती है जहाँ वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ के द्योतनार्थ अत्यंत तिरस्कृत हो जाता है। यथा -

नीलोत्पल के बीच समाये मोती से आँसू के बूंद।
हृदय-सुधानिधि से निकले हो तब न तुम्हें पहचान सके।। (प्रसाद)

यहाँ 'नीलोत्पल' शब्द का वाच्यार्थ है कमल, और व्यंग्यार्थ है 'नेत्र'। यहाँ वाच्यार्थ नितांत अभीष्ट नहीं है, वह व्यंग्यार्थ के द्योतनार्थ अत्यंत तिरस्कृत हो गया है।

ग) **बस्तु-ध्वनि** : जहाँ व्यंग्यार्थ किसी वस्तु[1] के रूप में प्रतीत होता है वहाँ वस्तु-ध्वनि मानी जाती है। यथा -

वह इष्टदेव के मंदिर की पूजा सी,
वह दीपशिखा सी शांत, भाव में लीन,
वह क्रूर काल-ताण्डव की स्मृति रेखा सी,
वह टूटे तरू की छुटी लता सी दीन,
दलित भारत की ही विधवा है। (निराला)

इस पद्य में भारत की विधवा को 'पूजा', 'दीपशिखा', 'क्रूरकाल ताण्डव की स्मृतिरेखा' और 'छुटी लता' से उपमित किया गया है। इन उपमानों से क्रमशः भारत की विधवा की पवित्रता, तेजस्विता, दयनीय दशा तथा असहायावस्था द्योतित होती है। यहाँ 'पवित्रता' आदि 'वस्तु' हैं, जो कि व्यंग्य हैं।

घ) **अलंकार ध्वनि** : जहाँ व्यंग्यार्थ किसी अलंकार के रूप में प्रतीत होता है, वहाँ अलंकार-ध्वनि होती है। यथा -

दियो अरघ नीचे चलो संकट-भानै जाइ।
सुचती ह्वै औरै सबै ससिहिं विलोकै आइ।। (बिहारी)

यहाँ रूपक अलंकार व्यंग्य है, क्योंकि नायिका के मुख पर चन्द्रमा का आरोप रूपक अलंकार के समान वाच्य रूप में न किया जाकर व्यंग्य रूप में किया गया है।

ङ) **रस-ध्वनि** : जहाँ व्यंग्यार्थ विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के संयोग पर आधारित होता है वहाँ रस-ध्वनि मानी जाती है।

काव्यशास्त्र में रस से तात्पर्य है - रसादि अर्थात् रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भावसंधि, भावशबलता - ये आठ काव्य-तत्व।

(i) **रस** : विभाव आदि के संयोग से स्थायी भाव की अभिव्यक्ति रस कहलाती है। जैसे-

एक पल मेरी प्रिया के दृग-पलक
थे उठे ऊपर सहज नीचे गिरे।
चपलता ने इस विकंपित पुलक से
दृढ़ किया मानो प्रणय-संबंध था।। (पंत)

यहाँ आलम्बन विभाव नायक और नायिका हैं। उद्दीपन विभाव है - नायिका के दृगपलकों का ऊपर-नीचे गिरना। अनुभाव है - नायक का विकम्पित पुलक। संचारी भाव हैं - लज्जा, चपलता आदि। इस संपूर्ण काव्य-सामग्री से ध्वनि यह निकलती है कि दोनों में अतिशय प्रणयभाव है - इस प्रतीति के पश्चात् सहृदय को काव्यानंद प्राप्त होता है। उक्त सामग्री के कारण यहाँ 'रस-ध्वनि' है - इसे संक्षेप में रस कहते हैं। यह पद्य शृंगार रस का उदाहरण है। एक उदाहरण और लीजिए-

आए विदेश से प्रानप्रिया, मतिराम अनंद बढ़ाये अलेखै।
लोगन सो मिलि आँगन बैठि, घरी-सी-घटी सिगरी घर पैखै।।
भीतर मौन के द्वार खरी, सुकुमारी तिया तन काम विसेखै।
घूँघट को पट ओट दियै, पट-ओट किए पिय को मुँह देखै।।

पति परदेस से घर आया हुआ है। नायिका घूँघट से अपने मुँह को छिपा कर कपड़े की ओट में से उसका मुँह देख रही है। नायिका के आचरण में नायक के प्रति हृदय का प्रेमभाव झलक रहा है। यह शृंगार रस (रस-ध्वनि) का उदाहरण है। यहाँ व्यंग्यार्थ यह है कि दोनों में

1. यहाँ वस्तु से तात्पर्य है कोई भाव (Concent)

अतिशय प्रेम' है। इस प्रतीति के पश्चात् ही सहृदय को काव्यानंद की प्राप्ति रस की अभिव्यक्ति होती है।

(ii) **भाव** : भाव वहाँ माना जाता है जहाँ (क) निर्वेद, ग्लानि, शंका आदि संचारि भाव प्रधानता से प्रतीयमान (व्यंजित) हों, (ख) देवता, राजा, राष्ट्र, गुरु आदि के प्रति रति प्रधानता से प्रतीयमान हो; तथा (ग) विभाव आदि के सम्यक् निर्वहण के अभाव में रति, हास, उत्साह आदि स्थायी भाव उद्बुद्ध-मात्र रह गए हों।

(1) प्रधानता से व्यंजित अवहित्था (लज्जा) नाम संचारिभाव -

अनुरूप वर है शिव इसका
देवर्षि के कहते ही इतना,
बैठी पास पिता के उमा,
लगी गिनने कमल के पत्तों को वह
मानो खेल-खेल में, झुके-झुके आनन से।

(2) मातृभूमि (राष्ट्र) के प्रति व्यंजित रतिभाव -

निर्मल तेरा नीर अमृत के सम उत्तम है,
षड्ऋतुओं का विविध-दृश्य-युत अद्भुत क्रम है,
हरियाली का फर्श नही मख़मल से कम है।
शुचि सुधा सींचता रात में तुझ पर चन्द्र-प्रकाश है।
हे मातृभूमि! दिन में तरणि करता तम का नाश है।

(मैथिलीशरण गुप्त पद्म प्रबंध)

(3) केवल उद्बुद्ध-मात्र उत्साह नामक स्थायिभाव -

सहे वार पर वार अंत तक
लड़ी वीर बाला सी।
आहुति-सो गिर चढ़ी चिता पर,
चमक उठी ज्वाला-सी। (सुभद्रा कुमारी चौहान)

(iii)एवं (iv) **रसाभास और भावाभास** : जहाँ रस अथवा भाव की व्यंजना में किसी कारणवश अनौचित्य झलकने लगे, वहाँ क्रमशः रसाभास अथवा भावाभास माना जाता है। उदाहरण के तौर पर (1) नायिका का उपनायक-विषयक अथवा बहुपुरुष-विषयक प्रेम (2) एक नर का, अथवा नरों का, एक समय पर अथवा अनेक समयो पर बहुनारी-विषयक प्रेम (3) उभयनिष्ठ रति न होना, अर्थात् नायक अथवा नायिका में से केवल एक का दूसरे के प्रति प्रेम (4) श्रेष्ठ का नीच के प्रति अथवा नीच का श्रेष्ठ के प्रति प्रेम-वर्णन (5) पशु-पंक्षी विषयक प्रेम आदि। पशु-पक्षी विषयक प्रेम का उदाहरण देखिए -

शाखाओं पर जिनकी लटके वल्कल
ऐसे वृक्ष बनाने हैं -
नीचे एक मृगी मृग के सींगों से
निज बाँयाँ नयन खुजाती हो।

(कालिदास : अभिज्ञान शाकुंतल 6.17 का हिंदी रूपांतर)

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि स्थायिभाव की अनौचित्यपूर्ण अभिव्यक्ति में **रसाभास** माना जाएगा और संचारिभाव की अनौचित्यपूर्ण अभिव्यक्ति में **भावाभास**।

(v),(vi) एवं (vii)**भावोदय, भावसंधि और भावशबलता** : जहाँ एक भाव का उदय (वर्णन) हो वहाँ **भावोदय** माना जाता है, जहाँ दो भावों का वर्णन हो वहाँ **भावसंधि** और जहाँ दो से अधिक भावों का वर्णन हो वहाँ **भावशबलता** मानी जाती है।

(viii) **भावशांति** : जहाँ एक भाव उदित होकर शांत हो जाए।

यहाँ वह ज्ञातव्य है कि रसादि (रस, भाव आदि आठों) ध्वनि (व्यंग्यार्थ) पर ही आश्रित रहते हैं न कि वाच्यार्थ पर। उदाहरण के तौर पर -

- आह कितना सकरुण मुख था, आर्द्र सरोज **अरुण मुख था**।
- कौशल्या क्या करती थी, कुछ-कुछ **धीरज धरती थी**।

ऐसे स्थलों में 'करुण', 'धीरज' शब्दों के प्रयोग कर देने पर भी करुण रस की अभिव्यक्ति नहीं होती। अतः रसादि को ध्वनि (व्यंग्यार्थ) पर आश्रित माना गया है न कि वाच्यार्थ पर। इसी कारण आनंदवर्धन ने रसादि को ध्वनि का ही एक भेद माना है।

रस-ध्वनि (रसादि-ध्वनि) को असंलक्ष्यक्रम-व्यंग्य ध्वनि भी कहते हैं क्योंकि अन्य ध्वनि-भेदों की तुलना में इसमें वाच्यार्थ के अनंतर व्यंग्यार्थ की प्रतीति इतनी त्वरित होती है कि लक्षित नहीं होती।

2. गुणीभूतव्यंग्य-काव्य : लक्षण तथा भेद

गुणीभूतव्यंग्य-काव्य वहाँ माना जाता है जहाँ व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की अपेक्षा गौण (अप्रधान) अर्थात् न्यून अथवा समान रूप से चमत्कारक हो। यह गौणतः आठ कारणों से संभव है, अतः गुणीभूतव्यंग्य-काव्य के ये प्रमुख आठ भेद बताये गये हैं: (1) अगूढ़-व्यंग्य, (2) अपरांग-व्यंग्य, (3) वाच्यसिद्ध्यंग-व्यंग्य, (4) अस्फुट व्यंग्य, (5) संदिग्ध-प्राधान्य-व्यंग्य, (6) तुल्य-प्राधान्य-व्यंग्य (7). काक्वाक्षिप्त-व्यंग्य, (8) असुंदर-व्यंग्य।

क) **अगूढ़-व्यंग्य** : जहाँ व्यंग्यार्थ गूढ़ न हो, अपितु स्पष्ट हो। जैसे -

पुत्रवती युवती जग सोई।
रामभगत जाकर सुत होई।। (तुलसी)

इस पद्यांश का वाच्यार्थ स्पष्ट है। व्यंग्यार्थ यह है कि जिनके पुत्र रामभक्त हैं, केवल वही माताएँ प्रशंसनीय हैं, शेष नहीं। यह व्यंग्य वाच्यार्थ के समान अगूढ़-स्पष्ट है। अतः यहाँ अगूढ़ गुणीभूतव्यंग्य है। वस्तुतः व्यंग्य वाच्यार्थ की अपेक्षा गूढ़ होना चाहिए, इस स्थिति में ध्वनि-काव्य माना जाता है, अन्यथा गुणीभूतव्यंग्य-काव्य।

ख) **अपरांग-व्यंग्य** : जहाँ एक व्यंग्य है कि रस, स्थायी भाव, संचारी भाव, अनुभाव आदि में से कोई एक किसी दूसरे का अंग बनकर उसका उत्कर्ष करे और साथ ही, जिसका अंग बने उस अंगी की अपेक्षा अधिक यह चमत्कारपूर्ण हो।

(i) रस की अंगता को रसवत अलंकार कहते हैं।
(ii) भाव की अंगता की प्रेयस्वत् अलंकार।
(iii) रसाभास और भावाभास की अंगता को ऊर्जस्वि अलंकार।
(iv) भावशांति की अंगता को समाहित अलंकार।
(v) भावोदय, भावसंधि और भवशबलता की अंगता क्रमशः भावोदय, भावसंधि और भावशबलता अलंकार कहते हैं।

इन अंगभूतों को अलंकार इसलिए कहा जाता है कि ये अपने अंगीभूतों को अलंकृत करते हैं - अंग अलांकर है और अंगी उनके द्वारा अलंकरणीय। उदाहरण लीजिए -

सपनो है संसार यह, रहस न जाने कोय।
मिलि पिय मनमानी करौ, काल कहाँ धौं होय।।

'मिलि पिय मनमानी करो' इस पद्यांश में शृंगार रस की सामग्री है और शेष अंश में शांत रस की। इस पद्य में शांत रस अंग अर्थात् पोषक है और शृंगार रस उससे पेषित होने के कारण अंगी है, किंतु शांत रस (अंग) शृंगार रस (अंगी) की अपेक्षा अधिक चमत्कारपूर्ण बन गया है। अतः अपरांग है। यही उदारहण रसवत् अलंकार का भी है।

इसी प्रकार जिन पद्यों में महादेव-पार्वती, आदि के प्रति भक्ति की व्यंजना करते हुए भी कवि उनका रति-संबंध अपेक्षाकृत अधिक चमत्कारपूर्ण रूप में वर्णित करता है वहाँ अपरांग गुणीभूतव्यंग्य होता है।

ग) **वाच्यसिद्ध्यंग-व्यंग्य** : जहाँ व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की सिद्धि के लिए उसका अंग बन जाए।

वसुधा पर ओस बने बिखरे,
हिमकण आँसू जो क्षोभ भरे -
ऊषा बटोरती अरूण गात। (प्रसाद)

उषाकाल का वर्णन यहाँ प्रस्तुत है। वाच्यार्थ है - पृथ्वी पर आँसू के रूप में बिखरे ओस-कणों को ऊषा बटोर लेती है। व्यंग्यार्थ है जीवन का शुभ प्रभात व्यक्ति के पूर्ण दुखों को मिटा देता है। यह व्यंग्यार्थ उक्त वाच्यार्थ की सिद्धि के लिए अंग (पोषक) बन गया है। इसके जानने के पश्चात् उषाकाल द्वारा ओस के बटोरने का विषय चमत्कारपूर्ण हो उठता है।

घ) **अस्फुट-व्यंग्य** : जहाँ व्यंग्य स्फुट न हो, अर्थात् बहुत देर के बाद समझ में आए-

खिले नव पुष्प जग प्रथम सुगंध के,
प्रथम वसंत में, गुच्छ-गुच्छ। (निराला)

जगत् में वसंत के आगमन पर नवीन तथा सुगंधित पुष्पों के गुच्छ-समूह खिल उठे - यह उक्त पद्य का वाच्यांर्थ है। व्यंग्यार्थ यह है कि इस नायिका में यौवन के पदार्पण करते ही उसके मन में अनेक लालसाएँ उदित हो उठीं। यह व्यंग्य तुरंत समझ नहीं आता, बहुत देर तक सोचने के बाद कठिनाई से समझ में आता है, अतः अस्फुट है।

ङ.) **संदिग्ध-प्राधान्य-व्यंग्य** : यहाँ वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में किस की प्रधानता है - यह संदेह बना रहे।

थके नयन रघुपति छवि देखी। पलकनहूँ परिहरी निमेखी।।
अधिक सनेह देह भई भोरी। सरद ससिहिं जनु चितब चकोरी।। (तुलसी)

जैसे चकोरी चन्द्रमा को देखती रह जाती है, वैसे सीता भी राम को देखती रह गयी - यह वाच्यार्थ है। अधिक स्नेह के कारण सीता की देह भोरी (स्तब्ध) रह गयी - इससे जड़ता नामक संचारी भाव व्यंजित होता है। उक्त वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में से कौन-सा अर्थ अधिक चमत्कारपूर्ण है - इसमें संदेह है।

च) **तुल्य-प्राधान्य-व्यंग्य** : जहाँ वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का चमत्कार लगभग एक-समान प्रतीत हो।

पश्चिम जलधि में
मेरी लहरीलीं अलकावली समान
लहरें उठती थीं मानो चूमने मुझ को
और साँस लेता था समीर मुझे छूकर। (प्रसाद : लहर, 'प्रलय की छाया ')

यहाँ वाच्यार्थ है - कमला की लंबी-लंबी ' केशराशि ' का, एवं 'प्रेमोच्छवासों ' का, क्रमशः 'जलधि की तरंगों ' और 'समीर' के उपमान द्वारा वर्णन, एवं व्यंग्यार्थ है - कमला का अपने रूप-सौंदर्य पर स्वयं मुग्ध होना। वस्तुतः ये दोनों अर्थ ही तुल्य-रूप से चमत्कारपूर्ण प्रतीत होते हैं।

छ) **काक्वाक्षिप्त-व्यंग्य** : जहाँ व्यंग्यार्थ काकु द्वारा आक्षिप्त (स्वतः गृहीत) हो। काकु कहते हैं - भिन्न कण्ठ-ध्वनि को -

अरावली शृंग सा समुन्नत सिर किस का? (प्रसाद)
वे कुछ दिन कितने सुंदर थे? (प्रसाद)
कितना सोहाग था, कैसा अनुराग था? (प्रसाद)

आदि प्रश्नवाचक कथनों से जो व्यंग्यार्थ प्रतीत होता है वह काक्वाक्षिप्त व्यंग्य कहलाता है।

ज) **असुंदर-व्यंग्य** : जहाँ वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ सुंदर न हो।

निज अलकों के अंधकार में तुम कैसे छिप पाओगे?

'केश-पाश के अंधकार में न छिप सकना ' इस वाच्यार्थ का व्यंग्यार्थ है कि मैं तुम्हें खोज लूँगा। पर यह व्यंग्यार्थ चमत्कारपूर्ण नहीं है - उधर वाच्यार्थ अत्यंत चमत्कारपूर्ण है।

3. चित्र-काव्य

चित्र-काव्य से अभिप्राय है जहाँ शब्दालंकार अथवा अर्थालंकार अथवा गुणों की वर्ण-व्यंजकता के कारण व्यंग्यार्थ अस्फुट बनकर रह जाए - उपर्युक्त तीनों में से किसी एक के चमत्कार के आधिक्य के कारण तिरोभूत हो जाए - दबकर रह जाए। उदाहरण लीजिए -

प्रति पल परिवर्तित-व्यूह, भेद-कौशल समूह
राक्षस- विरूद्ध प्रत्यूह, क्रुद-कपि-विषम-हूह ... (निराला : राम की शक्ति पूजा)

इस पद्य में कवि की विवक्षा अनुप्रासालंकार-जन्य चमत्कार द्योतन में ही अधिक है। अतः यह शब्द-चित्रकाव्य (शब्दालंकार) का उदाहरण है -

उदित उदय गिरि मंच पर, रघुवर बाल पतंग।
विकसे संत सरोज सब, हरषै लोचन भृंग।।

इस पद्य में रूपक अलंकार से जन्य वाच्यार्थ ही प्रधान है, श्री राम का सौंदर्य-रूप व्यंग्य अस्फुट (नगण्य) मात्र रह गया है।

क्षमा करो इस भाँति न तुम तज दो मुझे
स्वर्ण नहीं है राम, चरण रज दो मुझे (साकेत)

इस पद्य में प्रसाद गुण के वर्णों की व्यंजकता के कारण ही काव्य-चमत्कार है। केवट की राम के प्रति भक्ति-रूप व्यग्य अस्फुट बनकर रह गया है । किंतु इनके विपरीत एक उदाहरण और लीजिए-

अमी हलाहल मदभरे स्वेत स्याम रतनार।
जियत मरत झुकि झुकि परत जेहि चितवत इक बार।।

इस पद्य में यद्यपि कवि को नेत्रों के अद्भुत सौंदर्य का वर्णन करना अभीष्ट है, न कि यथा संख्य अलंकार का चमत्कार दिखाना, पर इस अलंकार का चमत्कार वर्ण्य-विषय की अभिवृद्धि अवश्य कर रहा है। अतः, इस प्रकार के स्थल 'चित्रकाव्य' के अंतर्गत नहीं आते।

इस प्रकार आनंदवर्धन ने ध्वनि तत्व के तारतम्य के आधार पर समग्र काव्य को तीन प्रकारों में विभक्त कर दिया है, किंतु इसका यह तात्पर्य कदाचित नहीं कि काव्य-चमत्कार की दृष्टि से पहले प्रकार के उदाहरण शेष दो प्रकार के उदाहरणों की अपेक्षा सदा उत्कृष्ट कोटि के होंगे, अथवा तीसरे प्रकार के उदाहरण शेष दो प्रकारों की अपेक्षा सदा हीन कोटि के होंगे, और दूसरे प्रकार के उदाहरण सदा मध्यम कोटि के ही होंगे। यह तो केवल एक शास्त्रीय व्यवस्था मात्र है।

6.2.2 ध्वनि तत्व तथा अन्य काव्य तत्व

ध्वनि-प्रवर्तक आनंदवर्धन से पूर्व 'अलंकार' को काव्य का सर्वस्व और 'रीति' को काव्य की आत्मा के रूप में घोषित किया गया था, और इसके अतिरिक्त रस-तत्व भी प्रतिपादित था। आगे चलकर वक्रोक्ति-सिद्धांत निरूपित हुआ। इन चारों काव्य-तत्वों का ध्वनि के प्रति अथवा ध्वनि का इनके प्रति क्या दृष्टिकोण रहा – यहाँ इसका दिग्दर्शन प्रस्तुत है :

1. **अलंकार और ध्वनि** : अलंकारवादी आचार्यों को काव्य के सभी तत्वों का अंतर्भाव अलंकार में करना अभीष्ट था। उन्होंने यद्यपि 'ध्वनि' शब्द का प्रयोग तो नहीं किया, किंतु प्रतिवस्तूपमा, पर्यायोक्त आदि अलंकारों के लक्षणों से प्रतीत होता है कि वे ध्वनि-तत्व से परिचित थे, और अपने दृष्टिकोण से उन्हें ध्वनि का अंतर्भाव विभिन्न अलंकारों में करना अभीष्ट होगा। किंतु इधर, आनंदवर्धन को अलंकारवादियों का यह दृष्टिकोण अभीष्ट नहीं हुआ। उन्होंने अलंकार को 'शब्दार्थ का शोभाकारक धर्म' माना। उनके अनुसार ध्वनि महाविषयीभूत है। उसके तारतम्य के आधार पर काव्य के तीन भेदों में से 'चित्रकाव्य' के अंतर्गत अलंकार का चमत्कार समाविष्ट हो जाता है। अतः ध्वनि को अलंकार में अंतर्भूत नहीं करना चाहिए।

2. **रीति और ध्वनि** : रीतिवादी वामन के ग्रंथ मे ध्वनि का साक्षात् अथवा प्रकारांतर से संकेत नहीं मिलता। इधर आनंदवर्धन ने वामन-सम्मत रीतिवाद का यद्यपि कहीं खण्डन तो नहीं किया, किंतु उनके निम्नोक्त कथन से रीति के प्रति अवहेलना अवश्य प्रकट होती है - 'ध्वनि जैसे अवर्णनीय काव्य तत्व को समझ सकने में असमर्थ लोगों द्वारा काव्यशास्त्रीय जगत में रीतियाँ चला दी गयीं।'[1] इसके अतिरिक्त उन्होंने वामन-सम्मत 'रीति' की एक विशेषता 'समस्तपदता' के आधार पर संघटना (सम्यक् घटना = रचना-शैली) का निरूपण किया, तथा इसके तीन रूप निर्धारित किए - असमासा, अल्प-समासा और दीर्घ-समासा। यही रूप आगे चलकर मम्मट और विश्वनाथ के ग्रंथों में रीति का स्वरूप तथा रीति के तीन भेद--वैदर्भी, गौडी और पांचाली का स्वरूप निर्धारित करने में सहायक हुए।

3. **रस और ध्वनि** : यद्यपि आनंदवर्धन ने रस को स्वतंत्र काव्य-तत्व स्वीकार न करके ध्वनि का एक भेद 'असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य-ध्वनि' माना, और इसी में रस, भव आदि आठों को अंतर्भूत किया, तथापि रस की महत्ता को उन्होंने मुक्तकंठ से स्वीकार किया। उनके दृष्टिकोण से रस, जैसा कि ऊपर कह आये हैं, अपने पारिभाषिक अर्थ में, विभावादि की परिधि में सीमित है, अतः रस प्रबंध-काव्य (महाकाव्य, खण्डकाव्य आदि) तथा दृश्य-काव्य पर निःसंदेह घटित हो जाता है, अधिकतर मुक्तकों पर भी घटित हो जाता है, किंतु फिर भी, ऐसे अनेक चमत्कारपूर्ण मुक्तक शेष रह जाते हैं, जिन पर रस सुघटित नहीं होता। इसी कारण, उन्होंने ध्वनि को काव्य की आत्मा मानते हुए रसादि को उसका एक भेद स्वीकार किया। ध्वनि का फलक अति विशाल है, एवं 'रस' ध्वनि का एक भेद है।

4. **वक्रोक्ति और ध्वनि** : वक्रोक्तिवाद के प्रवर्तक कुंतक के सम्मुख आनंदवर्धन का ग्रंथ था, और वस्तुतः ध्वनि के समस्त भेदोपभेदों को 'वक्रोक्ति' में समाविष्ट करने के ही उद्देश्य से उन्होंने इसके पहले छह प्रमुख भेद और फिर इक्तालीस उपभेद किये। एक स्थान पर उन्होंने वक्रोक्ति का

---

[1] अस्फुट-स्फुरितं काव्यतत्त्वमेतद् यथोदितम्।
अशक्नुवद्भिर्व्याकर्तुं रीतयः सम्प्रवर्तिताः ।। (ध्वन्यालोक 1.7)

अर्थ किया है विचित्र न्यास अर्थात् इतिवृत्तात्मक शब्द-अर्थ से भिन्न विशिष्ट ढंग का चमत्कारी प्रयोग। वक्र का अर्थ है रमणीय अर्थात् विदग्धता या रमणीयता कवि प्रतिभा जन्य होती है। मूल बात यह कि वक्रोक्ति का कवि-प्रतिभा एवं कवि-व्यापार से स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। कवि-व्यापार क्या है इस विषय में कुंतक मौन हैं शायद वे इसे अनिवर्चनीय मानते हैं। कुंतक की वक्रता एक विशिष्ट उक्ति तक ही सीमित न रह कर वर्ण-विन्यास से लेकर प्रबंध वक्रता तक अपनी व्याप्ति रखती है। कवि-व्यापार वक्रता के कुंतक छह भेद करते हैं और काव्य का पूरा प्रपंच इसके अंतर्गत समेट लेते हैं।

- ध्वनि नितांत आंतरिक तत्व है। यह अलंकार, रीति और वक्रोक्ति के समान अधिकांशतः बाह्यपरक नहीं है।
- इसके अतिरिक्त ध्वनि साधन है, स्वयं सिद्धि अथवा साध्य नहीं है। सिद्धि अथवा साध्य तो काव्याह्लाद, काव्यानंद अथवा रस है। अतः ध्वनि काव्य की आत्मा है।

निष्कर्ष

इस प्रकार आनंदवर्धन ने अलंकार, रीति और रस के स्थान पर ध्वनि-तत्व को अधिक महत्त्व दिया। ध्वनि से तात्पर्य है - वाच्यार्थ से भिन्न अर्थ। ध्वनि के तारतम्य के अनुसार काव्य के तीन प्रकार है - ध्वनि-काव्य, गुणीभूतव्यंग्य-काव्य और चित्रकाव्य। इन तीनों में समग्र काव्य समाविष्ट हो जाता है। अतः आनंदवर्धन के अनुसार ध्वनि काव्य का आंतरिक तत्व तो है ही, अनिवार्य तथा व्यापक तत्व भी है। इसलिए इसे इन्होंने काव्य की आत्मा घोषित किया। रस को उन्होंने ध्वनिकाव्य का एक भेद माना तथा अलंकार, गुण और रीति का स्वरूप पूर्ववर्ती आचार्यों के समान प्रस्तुत न कर, रस को केंद्र मानकर इन्हें नवीन रूप में प्रस्तुत किया, और इस प्रकार उन्होंने ध्वनि के माध्यम से काव्यशास्त्र को एक अभिनव दिशा की ओर उन्मुख कर दिया।

6.2.3 ध्वनि विरोधी आचार्य

अब अंत में ध्वनिविरोधी आचार्यों के सिद्धांतों की किंचित् चर्चा मात्र करें। ऐसा प्रतीत होता है कि आनंदवर्धन के समय, संभवतः इनके पूर्व भी, विद्वद्गोष्ठियों में काव्य में ध्वनि-तत्व का विरोध रहा होगा। स्वयं आनंदवर्धन ने ध्वनि-विरोधी तीन प्रकार के आचार्यों का उल्लेख किया - अभाववादी, भाक्त (लक्षणावादी) और अनिर्वचनीयतावादी।[1]

1. **अभाववादी** से आनंदवर्धन का तात्पर्य है वे आचार्य जो ध्वनि को न मानकर अलंकार और गुण (रीति) को मानते हैं अर्थात् भामह दण्डी और उद्भट नामक अलंकारवादी आचार्य और वामन नामक रीतिवादी आचार्य। इन दोनों सिद्धांतों का उल्लेख ऊपर किया गया है और साथ ही इन पर आपको पर्याप्त सामग्री इकाई-5 के अंतर्गत भेजी गयी है जिसमें यह भी प्रस्तुत किया है आनंदवर्धन ने इन दोनों सिद्धांतों को किस आधार पर अस्वीकार कर इनके प्रति नूतन दृष्टिकोण प्रस्तुत किया।

2. **भाक्त** से आनंदवर्धन का तात्पर्य है लक्षणावादी, अर्थात् भट्ट, उद्भट आदि वे आचार्य जो ध्वनि (व्यंजना शब्दशक्ति) को न मानकर भाक्त (लक्षणा) को मानते हैं। ये व्यंग्यार्थ का अंतर्भाव लक्ष्यार्थ में करते हैं। पर आनंदवर्धन के अनुसार स्वयं लक्ष्यार्थ व्यंग्यार्थ पर आधारित होता है - वह इसके बिना संभव नहीं हो सकता। जैसे 'गंगा पर आश्रम है' इस वाक्य में गंगा शब्द का वाच्यार्थ है - 'गंगा नदी', लक्ष्यार्थ है 'गंगा-तट' पर यह लक्ष्यार्थ भी तभी संभव है जब वक्ता को गंगा शब्द से शीतलता, पवित्रता आदि व्यंग्यार्थ अभीष्ट होते हैं। अतः लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ दोनों भिन्न-भिन्न हैं - व्यंग्यार्थ को लक्ष्यार्थ में अंतर्भूत कर देना उचित नहीं है।

3. **अनिर्वचनीयतावादी** से आनंदवर्धन का तात्पर्य है वे आचार्य जो ध्वनि (व्यंग्यार्थ) को अवर्णनीय मानते हैं क्योंकि यह वाणी का विषय न होकर हृदय का विषय है। इसका कारण यह है कि इसे वाणी द्वारा व्यक्त (वर्णित) नहीं किया जा सकता। इसके उत्तर में आनंदवर्धन कहते हैं अब यह अवर्णनीय कैसे रहा जब कि हमने इसके स्वरूप तथा भेदोपभेद आदि पर 'ध्वन्यालोक' पुस्तक के माध्यम से विवेचन प्रस्तुत कर दिया। (देखिए 'ध्वन्यालोक' 1.19 वृत्ति)

[1] **तस्याभावं जगदुरपरे भक्तमाहुस्तमन्ये।**
केचिद् वाचां स्थितमविषये तत्वचस्तदीयम्।। — ध्वन्यालोक 11

ये तो थे वे तीन प्रकार के ध्वनि-विरोधी आचार्य जिन्हें आनंदवर्धन ने स्वयं उत्तर दिया। इनके पश्चात अभिधावादी, तात्पर्यवादी, और अनुमानवादी आचार्यों ने ध्वनि को अस्वीकार करते हुए इसे क्रमशः अभिधा शब्दशक्ति, तात्पर्यवृत्ति और अनुमान में अंतर्भूत (समाविष्ट) करने का प्रयास किया। मम्मट (11वीं शती उत्तरार्ध) ने इन तीनों आचार्यों के मन्तव्य को अस्वीकृत किया तथा व्यंजना की पुनः स्थापना की। इन सबके अतिरिक्त कुंतक ने ध्वनि-सिद्धांत के स्थान पर वक्रोक्ति सिद्धांत का प्रवर्तन किया।

6.2.4 ध्वनि के प्रति पाश्चात्य दृष्टि

आइए, अब ध्वनि के संबंध में पाश्चात्य काव्याशात्र के अनुसार विचार करें। पश्चिम में ध्वनि का सीधा विवेचन तो नहीं मिलेगा, पर हाँ, इसके समकक्ष दृष्टि अवश्य मिल सकती है, और वह इस रूप में कि 'ध्वनि (व्यंग्यार्थ) वस्तुतः कल्पना का पर्यायवाची है। कवि अपनी विशिष्ट शब्दावली के माध्यम से सहृदय में कल्पना को जगाता है और इसके जगते ही सहृदय काव्यानंद (रस) को प्राप्त करता है।

इस पाठ में प्रस्तुत निराला पद्य 'वह इष्टदेव के मंदिर की पूजा सी ...' को आप एक बार फिर पढ़िए। इस पद्य में प्रयुक्त पूजा, दीपशिखा आदि वाचक शब्दों के वाच्यार्थों से हमें काव्यानंद (रस) की अनुभूति तब तक नहीं होती - जब तक हमें इनका क्रमशः पवित्रता, तेजस्विता आदि व्यंग्यार्थ समझ में नहीं आता। इनके व्यंग्यार्थ की प्रतीति होते ही हमें रसानुभूति होती है। इस प्रकार ये तीन चरण हुए- (1) पाठक अथवा दर्शक को वाच्यार्थ के ज्ञान के अनंततर (2) व्यंग्यार्थ की प्रतीति होते ही (3) रस की अनुभूति। इसी व्यंग्यार्थ को आधुनिक मनोविज्ञान में कल्पना- तत्व कहा गया है। यों कहिए कि ध्वनि (व्यंग्यार्थ) कल्पना का पर्यायवाची है।

पाश्चात्य काव्यशास्त्र में आद्याचार्य **प्लेटो** (428-448 ई.पू.) के अनुसार काव्य भौतिक पदार्थों या घटनाओं का अनुकरण करता है, अतः काव्य उनकी अनुकृति अथवा प्रतिकृति मात्र है, इससे बढ़कर और कुछ नहीं है। उनके इस प्रकार के कथनों से माना जाता है कि उनकी दृष्टि वाच्यार्थ तक सीमित थी - वे व्यंग्यार्थ अथवा कल्पना-तत्व तक नहीं पहुँचे थे।

पर प्लेटो के शिष्य **अरस्तू** ने इस मर्म को पहचाना। यों, अरस्तू भी काव्य को मानते तो 'अनुकृति' (अनुकरण : imitation) ही है, पर प्लेटो के समान अनुकृति से उनका तात्पर्य प्रतिकृति नहीं है, अपितु वस्तु (वर्ण्य विषय) का कल्पनात्मक पुनर्निर्माण है - कल्पना पर आधारित पुनःसर्जना है। पाठक वस्तु के प्रत्यक्ष रूप को ग्रहण नहीं करता, उसके विषय में कवि के मानस में क्या रूप है उसे ग्रहण करता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के कथनानुसार पाठक कवि की उक्ति का अर्थ (वाच्यार्थ) ग्रहण नहीं करता, उसका बिम्ब (इमेज) ग्रहण करता है। इस प्रकार अरस्तू का अनुकृति शब्द प्रकारांतर से व्यंग्यार्थ (ध्वनि) का संकेत प्रस्तुत करता है।

होरेस (रोमन आलोचक) के कथनानुसार 'यदि कोई (कवि) किसी विदग्ध प्रसंग की उद्भावना कर किसी प्राचीन शब्द को नवीन अर्थ दे सके तो वह पूर्ण सफल (कवि) होगा।' प्राचीन शब्द को नवीन अर्थ देना इधर कल्पना-तत्व की ओर संकेत करता है और उधर व्यंग्यार्थ की ओर। क्विंटेलियन (लैटिन समीक्षक) का कथन है कि 'वाणी में चमत्कार लाने के लिए कला का

गोपन-अव्यक्त रहना - आवश्यक है इस कथन में 'कला का अव्यक्त रहना' प्रकारांतर से ध्वनि (व्यग्यार्थ) की ओर संकेत करता है। **ड्राइडन** (18वीं शती) के कथनानुसार 'कवि के लिए विवेक आवश्यक है, पर कल्पना ही उसकी कविता को जीवन-स्पर्श और अव्यक्त छवियाँ प्रदान करती है। यहाँ 'अव्यक्त छवि' शब्द को ध्वनि (व्यंग्यार्थ) का पर्यायवाची निःसंदेह स्वीकार किया जा सकता है।

इसी प्रकार पाश्चात्य काव्यशास्त्र के अंतर्गत **क्रोचे** का अभिव्यंजनावाद (Expressionism), **डब्ल्यू.बी. यीट्स, एबरक्रोम्बी** आदि का प्रतीकवाद (Symbolism) भी स्पष्टतः तो नहीं, प्रकारातर से, ध्वनि (व्यंग्यार्थ) तत्व की ओर अवश्य संकेत करते हैं।

6.2.5 हिंदी आचार्यों का ध्वनि संबंधी मत

इधर हिंदी के आधुनिक मनीषियों में से आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने प्रश्न उठाया था 'काव्यत्व का अधिवास वाच्यार्थ में होता है अथवा व्यंग्यार्थ में' इस विषय में उनका स्पष्ट उत्तर है - वाच्यार्थ में'। उदाहरणार्थ : 'जीकर हाय पतंग मरे क्या' यह वाक्य भले ही अयोग्य तथा अनुपपन्न है, पर चमत्कार इसके वाच्यार्थ में ही है कि पतंगा यदि शमा पर अपने-आपको न जला कर जीता है तो यह उसकी मौत है - जीते हुए भी मरना-इसी वाच्यार्थ में चमत्कार है, न कि इस लक्ष्यार्थ में कि पतंगा जीकर क्यों कष्ट भोगे, और न ही इस व्यंग्यार्थ में कि प्रेमी अपनी प्रेमिका पर अत्यंत आसक्त है।

वास्तव में, यह समस्या आनंदवर्धन के सम्मुख भी थी और इसी कारण उन्होंने ध्वन्यर्थ के दो भेद किये थे वाच्य और प्रतीयमान (व्यंग्य)।[1] इन भेदों से उनका तात्पर्य था कि व्यंग्यार्थ, वाच्यार्थ की भूमि पर ऐसा टिका होता है, जैसे कि भित्ति आदि नींव (आधारभूमि) पर टिके हो हैं।[2] अतः वाच्यार्थ का भी अपना महत्व है - पर देखा जाए तो वाच्यार्थ से अंततः प्रतिफल तो व्यंग्यार्थ का होता है जिसे आनंदवर्धन ने रसानुभूति के लिए अनिवार्य कड़ी माना। जो हो, शुक्ल जी भी संभवतः इसी प्रकार की मान्यता रखते हों। पर सचाई यह है कि वाच्यार्थ (आधारभूमि) की अपेक्षा व्यंग्यार्थ (आधेय) का महत्व अधिक माना जाना चाहिए जो सहृदय-श्लाध्य होता है - ज्यों ही कोई सहृदय पाठक वाच्यार्थ से यथेष्ट व्यंग्य अर्थ को समझ लेता है त्यों ही उसे काव्यत्व की अनुभूति हो जाती है न कि व्यंग्यार्थ की प्रतीति से पूर्व। अतः काव्यत्व का अधिवास व्यंग्यार्थ में मानना चाहिए न कि वाच्यार्थ में।

6.3 वक्रोक्ति सिद्धांत (वक्रोक्ति संप्रदाय)

वक्रोक्ति सिद्धांत के प्रवर्तन का श्रेय कुंतक को तो है, पर इनसे पूर्व वक्रोक्ति नामक काव्यतत्त्व व्यापक और संकुचित दोनों अर्थों में प्रचलित रहा। अपने ग्रंथ वक्रोक्ति जीवितम् में कुंतक ने वक्रोक्ति का व्यापक अर्थ ग्रहण करते हुए इसका लक्षण एवं स्वरूप प्रस्तुत किया, इसके अनेक भेदोपभेद किए तथा इसे काव्य का जीवित (आत्मा) माना। कुंतक के बाद इस सिंद्धांत का अनुकरण नहीं हुआ, अपितु महिमभट्ट और विश्वनाथ ने अपने-अपने दृष्टिकोण से इसका खंडन किया।

वक्रोक्ति शब्द का दो रूपों में प्रयोग

रीति और अलंकार की भाँति वक्रोक्ति शब्द का भी काव्यशास्त्र में पहले व्यापक और फिर संकुचित दोनों रूपों में प्रयोग हुआ है। वक्रोक्ति के व्यापक अर्थ का संकेत काव्यशास्त्र के ग्रंथों के अतिरिक्त बाणभट्ट (छठी शती) के ग्रंथ 'कादंबरी' में भी मिलता है, जहाँ राजा शूद्रक को 'वक्रोक्ति-निपुण' कहा गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि बाणभट्ट 'वक्रोक्ति' के विभिन्न तत्वों से परिचित थे, और उन्होंने स्वयं भी वक्रोक्ति-मार्ग को अपनाया, जिसे लक्ष्य में रखकर कविराज (11वीं शती) ने अपने ग्रंथ 'राघव-पाण्डवीयम' में बाणभट्ट 'वक्रोक्तिमार्ग-निपुण' कहा।[3] बाणभट्ट के निम्नोक्त कथन में संभवतः वक्रोक्ति के तत्वों का उल्लेख है - 'नवीन अर्थ', अग्राम्य जाति, अक्लिष्ट श्लेष, स्फुट रस और विकट अक्षर बंध - ये सभी एक साथ दुर्लभ होते हैं।[4]

अब काव्यशास्त्रीय ग्रंथों को लीजिए। कुंतक वक्रोक्ति-सिद्धांत के प्रवर्तक माने जाते हैं, किंतु इनसे पूर्व भामह और दण्डी के ग्रंथों में अलंकार रूप में 'वक्रोक्ति' के व्यापक रूप का स्रोत उपलब्ध हो जाता है, और वामन, रूद्रट तथा आनंदवर्धन ने इसे केवल अलंकार के रूप में स्वीकृत किया। कुंतक के समकालीन भोजराज ने वक्रोक्ति का व्यापक अर्थ ग्रहण किया तो मम्मट आदि आचार्यों ने संकुचित अर्थ। एक दिग्दर्शन प्रस्तुत है -

- भामह वक्रोक्ति को व्यापक अर्थ में ग्रहण करते हुए इसे अतिशयोक्ति का पर्याय मानते हैं और इसे सब अलंकारों का अनिवार्य तत्व घोषित करते हैं। इसी से ही अर्थ चमत्कृत हो उठता है। उनके अनुसार इसके बिना रचना यथार्थ काव्य न होकर कथन-समुदाय मात्र या वार्ता-मात्र रह जाती है।[5]

- दण्डी ने समस्त वाङ्मय को प्रमुख दो भागों में (क) स्वभावोक्ति; और (ख) वक्रोक्ति में विभाजित किया, उन्होंने स्वभावोक्ति को छोड़कर उपमा आदि शेष सभी अलंकारों को वक्रोक्ति का पर्याय माना। (काव्यादर्श)

---

[1] योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः।
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ।। — ध्वन्यालोक 1.2

[2] यथा पूर्वानिर्माणे चिकीर्षिते पूर्वं भूमिरेव विरच्यते तथा ध्वनिस्वरूपे
प्रतीयमानाख्ये निरूपयित्व्ये निर्विवादसिद्धवाच्याभिधानं भूमिः।
तत्पृष्ठकेऽधिकप्रतीयमानांशोल्लिङ्गनात्।। — ध्वन्यालोक 1.2 वृत्ति

[3] सुबन्धुबाणभट्टश्च कविराज इति त्रयः।
वक्रोक्तिमार्गनिपुणाश्चतुर्थो विद्यते न वा।। — राघवपाण्डवीयम्

[4] नवोऽर्थो जातिरग्राम्या श्लेषो क्लिष्टः स्फटो रसः।
विकटाक्षरबंधश्च कृत्स्नमेकत्र दुर्लभम्।। — हर्षचरितम्

[5] (क) सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया बिना।। — काव्यालंकार 2.85
(ख) काव्यालकार 2 86 87

- वामन ने वक्रोक्ति को एक अर्थालंकार मात्र माना, जिसका लक्षण है -'सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः', अर्थात् सादृश्य पर आधारित (गौणी) लक्षणा वक्रोक्ति अलंकार कहलाता है। (काव्यालंकारसूत्रवृत्ति 4.3-8) पर वामन की यह धारणा आगे चलकर किसी भी रूप में स्वीकृत नहीं हुई।

- रूद्रट ने वक्रोक्ति को एक शब्दालंकार मात्र स्वीकार करते हुए इसके दो भेदों का उल्लेख किया - काकु-वक्रोक्ति और सभंग-वक्रोक्ति (काव्यालंकार 2.14-17) और आनंदवर्धन ने इसे वाच्यालंकार (अर्थालंकार) मात्र स्वीकार किया। (ध्वन्यालोक 2.21 'वृत्ति')

कुंतक के समकालीन आचार्य भोजराज ने वक्रोक्ति का व्यापक अर्थ ग्रहण करते हुए 'वक्रवचन' को काव्य कहा, और समस्त वाङ्मय को तीन प्रकारों में विभाजित कियाः वक्रोक्ति, रसोक्ति और स्वभावोक्ति। (सरस्वती कण्ठाभरण 5.8)

इनके पश्चात् मम्मट और विश्वनाथ ने वक्रोक्ति को एक शब्दालंकार मात्र माना और रूय्यक, विद्यानाथ और अप्पय्यदीक्षित ने एक अर्थालंकार मात्र।

6.3.1 कुंतक-सम्मत वक्रोक्ति के छः प्रमुख भेद

लक्षण

कुंतक ने भामह और दण्डी के समान वक्रोक्ति का व्यापक अर्थ लिया। उनके अनुसार वक्रोक्ति कहते हैं 'वैदध्य-भंगी-भणिति' को, अर्थात् कविकर्म-कौशल से उत्पन्न वैचित्र्यपूर्ण अथवा विद्ग्ध कथन को। दूसरे शब्दों में, जो काव्य-तत्व किसी कथन में विशेष काव्य-सौंदर्य या लोकोत्तर चमत्कार उत्पन्न कर दे उसका नाम वक्रोक्ति है। इसका तात्पर्य यह है कि लोकवार्ता या कहिए लौकिक सामान्य वचन से, विशिष्ट कथन 'वक्रोक्ति' के अंतर्गत आता है। पर यह कथन सहृदयों के लिए आह्लादकारी होना चाहिए। उन्होंने वक्रोक्ति को एक ओर तो 'काव्य का अपूर्व अलंकार' कहा और दूसरी ओर इसे 'विचित्र अभिधा' (प्रकारांतर से कहें तो 'ध्वनि') की संज्ञा प्रदान की।[1]

इससे प्रतीत होता है कि कुंतक अलंकार और ध्वनि से प्रभावित होते हुए भी वक्रोक्ति को इन दोनों तत्वों की भाँति व्यापक रूप में प्रतिपादित करना चाहते थे। वस्तुतः, ध्वनि के बहुसंख्यक भेदोपभेदों को - जो कि पदांश से लेकर प्रबंध तक फैले हुए है - वक्रोक्ति के कलेवर में समाविष्ट करने के उद्देश्य से ही इन्होंने इस सिद्धांत का प्रतिष्ठापन किया और इसके अनेक भेदोपभेद प्रस्तुत किये।

कुंतक-सम्मत वक्रोक्ति के छः प्रमुख भेद हैं - (1) वर्णविन्यासवक्रता; (2) पदपूर्वार्धवक्रता, (3) पदपरार्धवक्रता, (4) वाक्यवक्रता, (5) प्रकरणवक्रता, (6) प्रबंधवक्रता। फिर इनके कुल 38 उपभेद हैं। इन भेदोपभेदों का संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है :

1. वर्णविन्यासवक्रता

वर्णों के विन्यास पर, विशेषतः वर्णों की आवृत्ति पर, आधारित वक्रता। सभी शब्दालंकारों, विशेषतः अनुप्रास और यमक, के भेदों का चमत्कार इसी में अंतर्भूत है। उदाहरणार्थ :

एक वर्ण की आवृत्ति -

कनक कोमल केसर कलियाँ।
ज्ञान-गिरा गुण की गलियाँ॥ वैतालिक (मै.श. गुप्त)

दो वर्णो की आवृत्ति -

नया-नया उत्साह कार्य में उसे रहता था। शकुंतला (मै.श. गुप्त)

रकार-युक्त वर्ण की आवृत्ति -

चित्र भी था चित्र और विचित्र भी।
रह गये चित्रस्थ से सौमित्र भी॥ साकेत (मै.श. गुप्त)

कुंतक ने वर्णो के विन्यास को एक प्रकार की वक्रता (चमत्कार) स्वीकार करते हुए भी इनके विवेकशील प्रयोग पर बल देने के उद्देश्य से निम्नोक्त प्रतिबंधों का निर्देश किया है - वर्णविन्यास-वक्रता

---

[1] (क) वक्रोक्तिः प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा। कीदृशी वैदग्ध्यभंगीभणिति।
वैदग्ध्यं विदग्धता, कविकर्मकौशलम्, तस्य भंगी विच्छितिः, तया भणितिः।
विचित्रैवाभिधा वक्रोक्तिरित्युच्यते।
(ख) लोत्तरचमत्कारकारि-वैचित्र्य-सिद्धये
काव्यस्यायमलंकारः कोऽप्यपर्वो विधीयते।। (व जी 12)

(1) विषयानुकूल होनी चाहिए (2) आग्रह-पूर्वक विरचित न हो (3) न असुंदर वर्णो से युक्त हो (4) वैचित्र्य-पूर्ण हो, पूर्वावृत्त वर्ण यथासंभव पुनः आवृत्त न हों (5) प्रसादगुण-सम्पन्न हो (6) श्रुति-सुखद हो।

2. पद-पूर्वार्द्धवक्रता

पद के पूर्वार्द्ध (प्रकृति अथवा प्रातिपदिक) पर आधारित वक्रता। इसके निम्नोक्त 8 भेद हैं -

(क) **रूढ़िवैचित्र्यवक्रता** : रूढ़ि (प्रसिद्धार्थ) से किसी असंभव अर्थ के आरोप द्वारा प्राप्त वक्रता। उदाहरण-

मेरा राम रमा है मुझ में,
मैं चाहे मणि हूँ या काँच। गुरूकुल (मै.श. गुप्त)

'राम' शब्द का रूढ़ अर्थ है दशरथ-पुत्र, पर यहाँ अभीष्ट है रूढ़ि से विचित्र अर्थ-भक्त-रक्षक, दयालु आदि।

(ख) **पर्याय वक्रता** : किसी विशिष्ट पर्याय (समानार्थक शब्द) पर आश्रित वक्रता। जैसे निम्नोक्त पद्य में पृथ्वी शब्द के पर्याय 'रसा' के प्रयोग पर वक्रता आधारित है-

है कृषि-प्रधान प्रसिद्ध भारत और कृषि की यह दशा।
होकर रसा यह नीरसा अब हो गई है कर्कशा।। भारत-भारती (मै.श. गुप्त)

भूमि-वाची अनेक शब्दों में से यहाँ 'रसा' शब्द अत्यंत सार्थक एवं उपयुक्त होने से वक्रता (काव्य चमत्कार) का उत्पाद है।

(ग) **उपचार-वक्रता** : सर्वथा भिन्न स्वभाव वाले भी 'प्रस्तुत' पर उस 'अप्रस्तुत' के आरोप द्वारा प्राप्त वक्रता जिसके सामान्य धर्म का प्रस्तुत के साथ के संबंध मात्र ही हो। उदाहरण-

जल भी परम उमंग भरा,
नाच रहा है रंग-भरा। वैतालिक (मै.श.गुप्त)

जल पर नर्तक का आरोप : जड़ पर चेतन का आरोप उपचारवक्रता का सूचक है। इसी प्रकार

नीरव संध्या में प्रशांत।
डूबा है सारा ग्राम-प्रांत। पन्त

(घ) **विशेषण-वक्रता** : जहाँ विशेषणों के कारण वक्रता हो। जैसे-

मूक स्तब्ध सजनता मेरी।
कल-कल विकल विजनता।

(ङ.) **संवृति-वक्रता** : सर्वनाम के प्रयोग द्वारा संवृति (वस्तु-गोपन) से प्राप्त वक्रता जैसे-

पडी तरल यमुना तरंगिनी धनी खड़ी हो जावे।
तो उस अंग-भंगिमा का कुछ रंग-ढंग वह पावे।।

यहाँ 'कुछ' शब्द द्वारा अभीष्ट कथ्य की संवृति की गयी है।

(च) **वृत्ति-वक्रता** : समास, तद्धित, कृत आदि से युक्त वृत्तियों द्वारा प्राप्त वक्रता। जैसे-

तुमने यह कुसुम-विहग! लिबास
क्या अपने सुख से स्वगं बुना?

यहाँ 'कुसुम-विहग' समासंबद्ध पद चमत्कारोत्पादक है।

(छ) **लिंगवैचित्र्य-वक्रता** : पुलिंग अथवा स्त्रीलिंग के प्रयोग के कारण वक्रता, जैसे-

सिखा दो ना है मधुपकुमारि!
मुझे भी अपने मीठे गान। -पन्त

छायावादी काव्य में प्रकृति पर नारी के आरोप द्वारा अनेक काव्य-चमत्कार उत्पन्न किए गए हैं। यहाँ 'मधुपकुमार' शब्द भी प्रयुक्त हो सकता था, परंतु उससे अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति न होती।

(ज) **क्रियावैचित्र्य-वक्रता** : क्रिया की विचित्रता के कारण वक्रता। जैसे-

(i) आनन ते छलकी परै आँखें।

(ii) उन्नत वक्षों में आलिंगन-सुख लहरों सा तिरता।

3. पदपरार्ध-वक्रता

पद के परार्ध अर्थात् प्रत्यय से (उत्पन्न) वक्रता। इसके निम्नोक्त छः भेद हैं-

(क) **काल-वक्रता** : वर्तमान, भूत अथवा भविष्यत् काल (के सूचक प्रत्यय) के कारण वक्रता। जैसे-

हाय! मिलेगा मिट्टी में वह वर्ण-सुवर्ण खरा
सूख जाएगा मेरा उपवन जो है आज हरा।। यशोधरा (मै.श.गुप्त)

'मिलेगा', 'सूख जाएगा' भविष्यत् काल के इन प्रयोगों द्वारा कवि ने यशोधरा की वृद्धावस्था की ओर संकेत किया है।

(ख) **कारक-वक्रता** :

झींगुर के स्वर का प्रखर तीर केवल प्रशांत को रहा चीर। -- पन्त

'तीर के द्वारा' कारक का प्रयोग न करके 'तीर' कर्ता कारक का प्रयोग किया गया है।

(ग) **संख्या (वचन) वक्रता** :

हमीं भेज देती है रण मे, क्षात्र धर्म के नाते। यशोधरा (मै.श.गुप्त)

'मैं भेज देती' के स्थान पर 'हमीं' का प्रयोग समस्त क्षत्रिय-नारियों का सूचक है, जिससे यह वक्रता ज्ञात होती है कि मैं भी उसी परंपरा का पालन अनिवार्यतः करती।

(घ) **पुरूष-वक्रता** :

करके ध्यान आज इस जन का निश्चय वे मुस्काये। -मै.श.गुप्त

यहाँ 'मेरा' (उत्तम पुरूष) के स्थान पर 'इस जन' (अन्य पुरूष) का प्रयोग किया गया है।

(ङ.) **प्रत्यय-वक्रता** : एक प्रत्यय में अन्य प्रत्यय लगाने के कारण वक्रता। यों तो इस प्रकार के प्रयोग संस्कृत भाषा में संभव हैं, किंतु 'संदेश' से 'संदेसड़ा' जैसे हिंदी-प्रयोग भी उदाहरण-स्वरूप लिये जा सकते हैं -

पिय सो कहहु संदेसड़ा हें भैंरा, हे काग। -जायसी

पदपूर्वार्ध-वक्रता और पदपरार्ध-वक्रता निर्दिष्ट करने के बाद कुंतक ने उपसर्गवक्रता और निपातवक्रता ये दो भेद और निर्दिष्ट किए हैं - इन दोनों को पदवक्रता के रूप मान सकते हैं :

(i) उपसर्ग-वक्रता : उपसर्ग के प्रयोग-कौशल के कारण वक्रता।

एक बार पीकर प्रमत्त हुआ जहाँ,
सुध फिर अपनी पराई उसको कहाँ? नहुष (मै.श.गुप्त)

(ii) निपात-वक्रता : निपात (अव्यय) के प्रयोग-कौशल के कारण वक्रता।

उसके आशय की थाह मिलेगी किसको?
जन कर जननी ही जान न पायी जिसको। - मै.श.गुप्त

4. वाक्य-वक्रता

वाक्य के प्रयोग-कौशल के कारण वक्रता। इसे वाच्यवक्रता अथवा वस्तुवक्रता भी कहते हैं। यहाँ वस्तु से तात्पर्य है वर्ण्य विषय। इसके दो भेद हैं -

(क) **सहजा वस्तुवक्रता** : पदार्थ की स्वाभाविक शोभा का वर्णन अथवा स्वभावोक्ति (देखिए 'ध्वनि-सिद्धांत' के अंतर्गत 'अलंकार-व्यंग्य') कवि की सहज प्रतिभा द्वारा प्रकृत वस्तुओं का सजीव चित्रण सहजा वाक्य (वाच्य) वक्रता कहलाता है। कुंतक के अनुसार वयःसंधि, ऋतु-संधि, नारी के अंगों का सौंदर्य, उषाकाल की उज्ज्वल आभा आदि सहज-सुंदर विषयों का स्वाभाविक रूप में वर्णन इसी के अंतर्गत आता है। उदाहरणार्थ, स्वाभाविक-शोभा-वर्णन से संबंधित ये दो स्थल लीजिए-

(i) भरा हुआ तालाब खेलती हैं मछलियाँ
पानी की सतह पर पूँछ पटकती हुई। (अणिमा - निराला)

(ii) जलाशय के किनारे कुहरी थी,
हरे नीले पत्तों का घेरा था।
पानी पर आम की डाल आई हुई,
गहरे अंधेरे का डेरा था। (अणिमा - निराला)

(ख) **अर्थालंकारों के प्रयोग-कौशल से जन्य वक्रता** : किसी भी अर्थालंकार का उदाहरण वाक्यवक्रता के इस भेद के अंतर्गत गृहीत किया जा सकता है, जैसे निम्नोक्त पद्य में रूपक अलंकार के कारण-

उदित उदयगिरि मंच पर, रघुवर बाल पतंग।
विकसे संत सरोज सब, हरषे लोचन भृंग।। (रामचरितमानस)

आनंदवर्धन जहाँ कोई अर्थालंकार व्यंग्य-रूप में मानते हैं, कुंतक ने वहाँ भी वाक्यवक्रता मानी है जैसे -

दियो अरघ नीचे चलौ संकट _ भानै जाइ।
सुचती ह्वै सखिहि सबै ससिहि विलोकन आइ।। (बिहारी)

5. प्रकरण-वक्रता

प्रकरण से तात्पर्य है प्रबंध का एक देश या अंग अर्थात् कथा-प्रसंग। इसकी वक्रता प्रकरण-वक्रता कहलाती है। यह वक्रता निम्नोक्त आठ प्रकारों से उत्पन्न की जा सकती है -

(क) **पात्र-प्रवृत्ति-वक्रता** : अर्थात् पात्रों द्वारा भावपूर्ण स्थिति की उद्‌भावना-जिससे पात्रों के चरित्र का उत्कर्ष हो। उदाहरणार्थ -

आया फिर तू राम, कोख में मानो मेरी
लक्ष्मण, मेरी गोद रहे शिशु-शैया तेरी।
जन्म जन्म में यही कोख जननी मैं पाऊँ
माँ, मैं लक्ष्मण इसी गोद में पलता जाऊँ। -साकेत, सर्ग 12 (मै.श. गुप्त)

इस भावपूर्ण संवाद से कौशल्या, राम और लक्ष्मण का उत्कर्ष द्योतित होता है।

(ख) **उत्पाद्यलावण्य** : ऐतिहासिक कथावस्तु में कवि-कल्पना द्वारा नवीन काव्य-सौंदर्य की उत्पत्ति। इसके दो रूप हैं -

(i) **अविद्यमान की कल्पना** : अर्थात् नवीन, प्रसंग की उद्‌भावना- जैसे, कालिदास ने अभिज्ञानशाकुंतल में दुर्वासा के शाप की कल्पना द्वारा दुष्यंत के चरित्र को लांछित होने से बचा लिया।

इसी प्रकार 'साकेत' में मैथिलीशरण गुप्त ने कैकेयी के हृदय में अपने पति के प्रति और भी अधिक अविश्वस्त होने और उसे अनिष्टकारी समझने का यह एक नूतन कारण प्रस्तुत किया है कि-

'भरत से सुत पर भी संदेह
बुलाया तक न उन्हें जो गेह'
गूँजते थे रानी के कान
तीर-सी लगती थी यह तान।

इसी प्रकार साकेत में कैकेयी का पश्चाताप-प्रसंग, लक्ष्मण-शक्ति का संवाद सुनकर अयोध्यावासियों का रणसज्जा-प्रसंग आदि।

(ii) **विद्यमान का संशोधन** : जैसे मायुराज प्रणीत 'उदात्तराघव' संस्कृत-नाटक (अप्राप्य) में मारीच-वध के लिए राम नहीं अपितु लक्ष्मण जाते हैं और सीता लक्ष्मण की प्राण-रक्षा के लिए राम को भेजती है।

(ग) **प्रमुख तथा और प्रासंगिक कथाओं में उपकार्योपकारक-भाव** : प्रासंगिक कथाएँ परस्पर एक-दूसरे का उपकार करती हुई अंततः प्रमुख कार्य (फलबंध) का उपकार करें। उदाहरणार्थ 'उत्तररामचरित' नाटक के पहले अंक में राम ने जृम्भकास्त्रों की अद्‌भुत शक्ति का वर्णन किया और पाँचवें अंक में लव ने उन अस्त्रों का प्रयोग किया। इन दोनों प्रसंगों में से पहला दूसरे का उपकारक है, क्योंकि दूसरे प्रसंग में पाठकों को इन अस्त्रों की अद्‌भुत क्षमता पूर्वज्ञात थी, अन्यथा वे इसे असंभव समझते। और फिर, ये दोनों प्रसंग नाटक के अंत में 'राम-सीता मिलन' इस प्रमुख कार्य (फलबंध) का उपकार करते हैं। कुंतक की यह मान्यता अरस्तू-सम्मत 'कार्यान्विति' (Unity of action) के अधिकांशतः समीप है।

इसी प्रकार साकेत के दूसरे सर्ग में लक्ष्मण तथा उर्मिला का भरत के विषय में सोचना कथा-प्रसंग को आगे बढ़ाता है। 'कामायनी' के कामसर्ग में मनु-काम की वार्ता आगे चलकर इड़ा सर्ग में काम के अभिशाप का उपकार करती हुई मनु को पतन के मार्ग पर और भी वेग से

अग्रसर कर देती है, और इस प्रकार चरम घटना की सिद्धि में सहायक होती है। ('वक्रोक्ति-जीवित' की भूमिका, डॉ. नगेन्द्र, पृ.98)

(घ) **आवृत्ति-वक्रता** : अर्थात् किसी एक प्रकरण का अत्यंत मनोहारी वर्णन-कंथा के किसी एक प्रकरण का नवीन एवं मनोहारी वर्णन[1] प्रबंध काव्य को वक्रतापूर्ण बना देता है। उदाहरणार्थ 'कामायनी में लज्जा-वर्णन 'साकेत' में उर्मिला-विरह-वर्णन, आदि।

(ड.) **प्रकरण-रस-वक्रता** : अर्थात् रोचक प्रसंगों का विशेष विस्तार से वर्णन-जैसे षड्ऋतु, चन्द्रोदय, सूर्योदय, जलक्रीड़ा, मधुपान आदि का। उदाहरणार्थ, 'रघुवंश' में कुश की जलक्रीड़ा का वर्णन, 'किरातार्जुनीय' में बाहुयुद्ध-प्रसंग। इधर प्रियप्रवास में रास-क्रीड़ा आदि, 'जयद्रथ-वध' में स्वर्ग-वर्णन आदि, 'साकेत' में चित्रकूट वर्णन आदि।

(च) **अप्रधान किंतु सुंदर प्रसंग का उद्भावना द्वारा प्रधान कथावस्तु की सिद्धि** : 'मुद्राराक्षस' नाटक में चाणक्य द्वारा नियुक्त पुरूष द्वारा आत्महत्या का प्रपंच करना, जिससे चाणक्य राक्षस को जीवित बंदी बना सकने में सफल हुआ। इसी प्रकार मैथिलीशरण गुप्त के 'शकुंतला' काव्य में वणिक् द्वारा डूबकर मर जाने के प्रसंग से दुष्यंत को अपनी वंशरक्षा की सुधि आ गयी आदि।

(छ) **गर्भांक** : नाटक के अंक के अंतर्गत लघु अंक की रचना जिसमें एक कुशल नट सामाजिक का रूप ग्रहण कर लेता है जैसे राजशेखर के 'बालरामायण' नाटक के तीसरे अंक में 'सीता-स्वयंवर' नामक गर्भांक।

(ज) **विभिन्न प्रकरणों की परस्पर अन्विति** : मुख, प्रतिमुख आदि पाँच नाट्यसंधियों के माध्यम से विभिन्न प्रकरणों की परस्पर सम्बद्धता। संस्कृत और हिंदी के प्रायः सभी प्रबंध-काव्य - रघुवंश कुमारसंभव, किरातार्जुनीय आदि तथा इधर हिंदी में 'कामायनी', 'साकेत', 'यशोधरा', 'नूरजहाँ', 'लोकायतन आदि इसी अन्विति के कारण ही उपादेय बन सके हैं।

6. प्रबंध-वक्रता

'प्रबंध' से तात्पर्य है महाकाव्य, खण्डकाव्य, एकार्थकाव्य नाटक आदि। प्रंबध से सम्बद्ध कवि-कौशल प्रबंध-वक्रता कहलाता है। इसके छह भेद हैं -

(क) **मूलरस में परिवर्तन** : आधार-कथा को हृदयहारी बनाने के उद्देश्य से उसके मूल रस के स्थान पर किसी अन्य रस का निर्वहण। उदाहरणार्थ, शांतरस-प्रधान रामायण पर आधारित 'उत्तररामचरित' को करूण रस प्रधान अथवा विप्रलम्भशृंगाररस-प्रधान नाटक के रूप में, और शांतरस-प्रधान महाभारत पर आधारित 'वेणीसंहार' को वीररस-प्रधान नाटक के रूप में प्रस्तुत करना। इसी प्रकार हिंदी में भी रामायण पर आधारित 'रामचन्द्रिका' को वीररस-प्रधान और साकेत को शृंगाररस-प्रधान काव्य के रूप में प्रस्तुत करना।

'मूलरस-परिवर्तन' का उत्कृष्ट उदाहरण है माइकेल मधुसूदन दत्त का मेघनाद-वध, जिसमें मूल कथा में आमूल परिवर्तन के माध्यम से रस-परिवर्तन हो गया है तथा कथा के वातावरण में अपने आधार-ग्रंथ से भिन्नता आ गयी है।

(ख) **प्रकरण-विशेष पर कथा-समाप्ति** : कभी-कभी कवि नायक का उत्कर्ष दिखाने के उद्देश्य से इतिहास-प्रसिद्ध कथा के किसी विशेष प्रकरण पर कथा की समाप्ति कर देता है, विशेषतः उस स्थिति में जब कथा का परवर्ती भाग कोरा इतिवृत्तात्मक अतएव नीरस होता है, जैसे -

यद्यपि 'किरातार्जुनीय' के प्रारंभिक श्लोकों से प्रतीत होता है कि कवि भारवि मूल से लेकर दुर्योधन के नाश और युधिष्ठर के राज्यारोहण-पर्यन्त समग्र कथा का अनुबंध कर रहे हैं, किंतु वह कथा की समाप्ति वहीं कर देते हैं जहाँ अर्जुन किरात-वेशधारी शिव के साथ युद्ध करके अपना शौर्य-पराक्रम दिखाकर पाशुपत अस्त्र प्राप्त कर लेता है।

इधर हिंदी में 'जयद्रथवध' में जयद्रथ के वध के उपरांत मैथिलीशरण गुप्त ने अर्जुन की प्रतिज्ञापूर्ति के साथ कथा की समाप्ति कर दी है, यद्यपि अभी दुर्योधन का नाश तथा युधिष्ठिर का राज्यारोहण आदि घटनाएँ दिखायी जा सकती थीं। 'किरातार्जुनीय' और 'जयद्रथवध'

---

[1] गिर रही पलकें, झुकी थी नासिका की नोक,
भ्रूलता थी कान तक चढ़ती रही बेरोक। (कामायनी - वासना सर्ग)

दोनों में कथा को मध्य में छोड़ देने का उद्देश्य है - अर्जुन के चरम उत्कर्ष को दिखाना। इसी प्रकार प्रसाद के 'चन्द्रगुप्त' नाटक में भी कथा वहीं समाप्त कर दी गयी है जब चन्द्रगुप्त यवनों को निष्कासित कर देता है।

(ग) **कथा के मध्य में ही किसी अन्य कार्य द्वारा प्रधान कार्य की सिद्धि** : उदाहरणार्थ, 'शिशुपाल वध' में माघ ने शिशुपाल के वध के पश्चात् कथा की समाप्ति कर दी है, यद्यपि कथा-स्रोत युधिष्ठिर के राजसूय-यज्ञ तक आगे बढ़ना था।

इधर हिंदी में 'नहुष' में नहुष के पतन पर तथा 'विकट भट' में बालक के वीरतापूर्ण कथन पर कथा समाप्त कर दी गयी है। कथा-सूत्र का अनायास एवं आकस्मिक विच्छेद प्रायः अत्यंत चमत्कारपूर्ण हो उठता है।

वस्तुतः उक्त दूसरे और तीसरे भेद में विशेष अंतर नहीं है।

(घ) **नायक द्वारा अनेक फलों की प्राप्ति** : एक विशेष फल की सिद्धि के लिए तत्पर होने पर अन्य फलों की भी प्राप्ति हो जाना। उदाहरणार्थ, 'नागानन्द' नाटक में उसका नायक जीमूतवाहन, मूलतः अपने पिता की सेवा के लिए वन में गया था, किंतु वहाँ उसका गंधर्व-कन्या मलयवती से प्रेम और विवाह हुआ तथ शंखचूड़ नामक नाग की रक्षा के लिए अपने प्राण-त्याग द्वारा उसे नागवंश को नष्ट होने से बचा लिया। इस प्रकार वह पितृभक्त होने के साथ-साथ एक सफल प्रेमी और लोकोपकारक भी बन गया।

इधर 'हिडिम्बा' (मैथिलीशरण गुप्त) में पाँचों पाण्डव लाक्षागृह से प्राण बचाकर अज्ञातवास के लिए गये तो भीम का विवाह हिडिम्बा से हो गया। इस प्रकार 'चित्रांगदा' (अनूदित) में वनवास-दण्ड भोगने के लिए अर्जुन यात्रा के लिए निकलता है, परंतु वहाँ उसे चित्रांगदा की प्राप्ति हो जाती है।

इस प्रकार के प्रसंगों से कवि प्रबंधकाव्य में मानव की बहुविध कुतुहलताओं और अभिलाषाओं की पूर्ति अप्रत्याशित रूप से करके काव्य-वैचित्र्य उत्पन्न कर देता है।

(ड.) **प्रधान कथा का द्योतक नाम** : प्रबंध-काव्य के नामकरण द्वारा कथा के मूल रहस्य को प्रकारांतर से संकेतित करने के माध्यम से प्राप्त वक्रता। जैसे-'अभिज्ञानशाकुंतल' 'मेघदूत' 'मुद्राराक्षस', 'मृच्छकटिक', और इधर 'साकेत', 'रंगभूमि', 'कायाकल्प', 'लोकायतन' आदि नाम। किंतु इनके विपरीत 'शिशुपालवध', 'यशोधरा', 'जयद्रथवध', 'प्रियप्रवास' आदि नाम अभिधात्मक हैं। अतः इनमें उक्त वक्रता का अभाव है।

(च) **एक विषय से सम्बद्ध विलक्षण-प्रबंधत्व** : एक मूल कथा पर आधारित परस्पर-भिन्न प्रबंधों की रचना, जैसे 'रामायण' पर आधारित 'वीरचरित', 'बाल-रामायण', 'प्रतिभा नाटक', 'रघुवंश' काव्य। इधर हिंदी में 'रामचरितमानस', 'रामचन्द्रिका', 'साकेत' आदि। वस्तुतः प्रबंधवक्रता के इ भेद का प्रयोजन यह है कि सहृदय को तुलनात्मकता से भी एक प्रकार का सुख मिलता है।

इस प्रकार कुंतक-सम्मत वक्रोक्ति के छह प्रमुख भेदों के (6+8+6+2+2+8+6) कुल 38 उपभेद हैं। ये सभी सौंदर्य-प्रकार, यों कहिए वक्रोक्तियाँ, अकेले-अकेले रूप में भी काव्य-सोंदर्य उत्पन्न करती है तथा एक से अधिक रूप में मिलकर भी। दूसरी स्थिति में काव्य की शोभा कहीं अधिक बढ़ जाती है। कुंतक के अनुसार इन्हीं भेदोपभेदों के अंतर्गत काव्य का सभी प्रकार का सौंदर्य, चाहे वह बाह्य हो अथवा आंतरिक, समाविष्ट हो जाता है। कतिपय उदाहरण लीजिए-

1. **अनुप्रास, यमक आदि शब्दालंकार, तथा उपनागरिका आदि वृत्तियाँ और उनके अनुरूप वैदर्भी आदि रीतियाँ - वर्णविन्यासवक्रता।**
2. **उपमा, रूपक आदि अर्थालंकार तथा अलंकारध्वनि - वाक्यवक्रता।**
3. **परिकर और इसके सदृश अर्थालंकार - पर्यायवक्रता।**
4. **अर्थान्तर-संक्रमित-वाच्य-ध्वनि और अत्यंत-तिरस्कृत-वाच्य-ध्वनि रूढ़िवैचित्र्यवक्रता (पदपूवार्द्ध वक्रता का एक उपभेद)।**
5. **ध्वनि के काल, कारक, वचन, उपसर्ग, निपात, आदि से सम्बद्ध उपभेद - पदपरार्धवक्रता अथवा पदवक्रता।**
6. **वाक्यगत ध्वनि = वाक्यवक्रता के समीप।**

7. प्रबंधगत ध्वनि = प्रबंधवक्रता के समीप।

6.3.2 वक्रोक्ति तथा अन्य काव्य-तत्व

कुंतक से पूर्व अलंकार को काव्य का सर्वस्व तथा रीति और ध्वनि को काव्य की आत्मा स्वीकृत किया जा चुका था, तथा भरत और आनंदवर्धन द्वारा रस का स्वरूप ध्वनि के आधार पर अधिकांशतः व्यवस्थित हो चुका था। कुंतक इन चारों काव्य-तत्वों से पूर्णतया परिचित थे। इनमें से वामन-सम्मत रीति को इन्होंने निःसार वस्तु समझकर इस पर विशिष्ट प्रकाश डालना समुचित नहीं समझा।[1] शेष काव्य तत्वों को उन्होंने अपनी मान्यता के अनुसार वक्रोक्ति से सम्बद्ध करते हुए अथवा इसी में अंतर्भूत करते हुए भी कहीं इनका खण्डन नहीं किया।

अलंकार के प्रति कुंतक का दृष्टिकोण यद्यपि भामह, दण्डी और उद्‌भट जैसे अलंकारवादियों के समान न होकर अधिकांशतः आनंदवर्धन के समान ही है, किंतु वे उनके द्वारा प्रतिपादित अलंकार के 'व्यापक' अर्थ को भुला नहीं सके : काव्यता तो सालंकार [वचन] की होती है, यह एक तथ्य है - 'तत्त्वं, सालंकारस्य काव्यता', और इसी धारणा के वशीभूत होकर मानो वे वक्रोक्ति को एक अपूर्व अलंकार की संज्ञा दे रहे हैं : 'काव्यस्यायमलंकारः कोऽप्यपूर्वो विधीयते।'

- जहाँ तक ध्वनि का प्रश्न है उन्होंने इसी प्रसंग के ठीक आस-पास वक्रोक्ति को 'विचित्रा अभिधा' भी कहा है। इससे उनका तात्पर्य 'ध्वनि' से ही है। इस प्रकार 'ध्वनि' के प्रति भी इन्होंने असाक्षात रूप से अपनी मान्यता प्रकट की है। यों, इन्होंने ध्वनि के भेदापभेदों को ही आधार बनाकर वक्रोक्ति के अधिकतर भेदों का निर्माण किया है, तथा उनके अधिकतर उदाहरण भी 'ध्वन्यालोक' से लिये हैं। वस्तुतः उनका उद्देश्य भी ध्वनि के स्थान पर वक्रोक्ति का प्रतिष्ठापन करना था।

- शेष रहा चौथा काव्यतत्व रस। इसे कुंतक ने मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया हे। रस को काव्य का अमृत एवं अंतश्चमत्कार का वितानक मानते हुए प्रकारांतर से इसे सर्वप्रमुख काव्य-प्रयोजन कहा है।[2] उन्होंने रसवत् अलंकार को सब अलंकारों का जीवित कहते हुए प्रकारांतर से रस की उत्कृष्टता घोषित की।[3] प्रकरण-वक्रता और प्रबंध-वक्रता के लिए रस की अनिवार्यता का अनेक रूपों में निर्देश किया, उपसर्ग-वक्रता और निपातवक्रता के प्रसंग में रस की चर्चा की, आदि। इस प्रकार रस की महत्ता स्वीकार करते हुए भी उन्होंने काव्य का 'जीवित' (साधन-भूत तत्व) वक्रोक्ति को ही माना।

वक्रोक्ति : काव्य का जीवित (आत्मा)

वक्रोक्ति के उक्त भेदोंपभेदों से इसकी व्यांपकता स्वतःसिद्ध है तथा इसी के अंतर्गत प्रायः सभी प्रमुख काव्य तत्वों का स्पष्टतः अथवा प्रकारांतर से समावेश हो जाता है। इसी कारण कुंतक ने वक्रोक्ति को 'काव्य का जीवित' स्वीकार किया। वस्तुतः कुंतक की इस धारणा का मूल आधालत नहीं हो सका। र है वक्रोक्ति का स्वरूप -- उक्ति की वक्रता अथवा विच्छित्ति को वक्रोक्ति कहते हैं, और इसी व्यावतर्क धर्म[4] के बल पर काव्य को एक ओर लौकिक कथनों से, और दूसरी ओर शास्त्रीय प्रतिपादनों से पृथक कहा जा सकता है।

6.3.3 वक्रोक्ति सिद्धांत की अस्वीकृति

कुंतक के वक्रोक्ति-तत्व का, आगे चलकर, किसी आचार्य ने अनुमोदन नहीं किया। इसका एक मात्र कारण यह है कि रस और ध्वनि जैसे आंतरिक तथा अपेक्षाकृत अधिक व्यवस्थित तत्व की तुलना में वक्रोक्ति जैसा अधिकांशतः बाह्य और अपेक्षाकृत न्यूनतया व्यवस्थित तत्व प्रचर्विश्वनाथ ने 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्' कथन को अस्वीकार किया भी तो इस आधार पर कि वक्रोक्ति एक अलंकार-मात्र है, किंतु जैसा कि हम देख चुके हैं, दिश्वनाथ से पूर्व वक्रोक्ति को एक अलंकार-मात्र वामन, रूद्रट, आनंदवर्धन और मम्मट ने भी माना है। पर वक्रोक्ति का यह संकुचित अर्थ इसके कुंतक-सम्मत व्यापक अर्थ से नितांत भिन्न है। इन दोनों के नाम-साम्य को देखकर विश्वनाथ द्वारा कुंतक का खण्डन अशास्त्रीय, तर्क-विहीन एवं असंगत है।

---

[1] तदलम् अनेन निःसारवस्तुपरिमल-व्यसनेन। (व.जी. 1.22 वृत्ति)

[2] चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तदविदाम्।
काव्यामृतरसेनाऽन्तश्चमत्कारो वितन्यते।। व.जी. 1.5

[3] वक्रोक्तिजीवत 3.14.3. वही, 4.4,8,1016,21 4. वही, 2.33

[4] अलग करने वाला तत्व (Differentiating factor)

फिर भी, कुंतक की वक्रोक्ति को काव्य का जीवित (आत्मा) नहीं माना जा सकता। 'आत्मा' शब्द से काव्यशास्त्रीय क्षेत्र में अभिप्राय है - काव्यानंद-प्राप्ति का वह साधन जो पर्याप्त विशद होने के साथ-साथ नितांत आंतरिक भी हो, किंतु कुंतक की वक्रोक्ति साधन तो है, पर्याप्त विशद भी है, परंतु नितांत आंतरिक नहीं है। यह नितांत बाह्य भी नहीं है। इसमें बाह्य और आंतरिक दोनों का समावेश है, फिर भी, इसे अधिकांशतः बाह्य स्तर पर अवस्थित किया गया है। कुंतक का प्रयास कहीं-कहीं अत्यंत असंगत और हास्यास्पद-सा प्रतीत होता है। उदारहणार्थ -

1. अलंकार (वाच्य अलंकार) और अलंकार-ध्वनि दोनों को कुंतक ने वाक्यवक्रता कहा है।
2. 'रामोऽस्मि सर्व सहे' - मैं राम हूँ, सब कुछ सहूँगा - में 'राम' शब्द का वक्रार्थ है - खर-दूषण तथा रावण का निहंता, प्रजापालक, आदर्श नृप आदि। कुंतक इस आंतरिक अर्थ को पदपूर्वार्ध-वक्रता जैसे बाह्यपरक नाम से पुकारते हैं, जबकि आनंदवर्धन उक्त व्यंग्यार्थ को अर्थांतर-संक्रमितवाच्य-ध्वनि कहते हैं।
3. इसी प्रकार कुंतक ने उपचार-वक्रता अर्थात् लक्षणा जैसे आंतरिक तत्व को पदपूर्वाधवक्रता जैसे बाह्य-परक भेद का एक उपभेद माना है। आनंदवर्धन ने इस व्यंग्यार्थ को वस्तुध्वनि नाम दिया था।

इस प्रकार कुंतक का वक्रोक्ति-सिद्धांत वामन के रीति-सिद्धांत और भामह-दण्डी के अलंकार-सिद्धांत के समान काव्य के कला-पक्ष का ही अधिकांश रूप में विवेचक तथा मर्म-निर्देशक है। कला-पक्ष भी निस्संदेह महत्वपूर्ण होता है। इस दृष्टि से वक्रोक्ति-सिद्धांत का भी निजी महत्व है, फिर भी वक्रोक्ति को काव्य की आत्म (आंतरिक साधन) के रूप में स्वीकृत नहीं किया जा सकता।[1]

6.3.4 पाश्चात्य काव्य-सिद्धांत में वक्रोक्ति

आइए, अब विचार करें कि क्या पाश्चात्य काव्यशास्त्र में भी कुंतक-सम्मत 'वक्रोक्ति' के समान किसी काव्य-तत्व को स्पष्टतः न सही, प्रकारांत से, प्रस्तुत किया गया है[2]

आप ध्वनि सिद्धांत के अंतिम भाग में पढ़ चुके हैं कि (1) अरस्तू का 'अनुकरण-सिद्धांत', (2) होरेस तथा ड्राइडन द्वारा स्वीकृत 'कल्पना तत्व', (3) क्विन्टेलियन की मान्यता कि 'कला को अव्यक्त रूप में प्रस्तुत किया जाए', (4) क्रोचे का 'अभिव्यंजनावाद'[3] (5) यीट्स एवं एबरक्रोम्बी आदि का 'प्रतीकवाद' - ये सभी- किसी न किसी रूप में 'व्यंग्यार्थ' के समकक्ष ठहरते हैं। (कृपया इन्हें एक बार फिर पढ़ लीजिए।)

उधर 'वक्राक्ति-सिद्धांत' के पाठ में आप पढ़ चुके हैं कि कुंतक 'वक्रोक्ति' को वस्तुतः ध्वनि (व्यंग्यार्थ) के स्थानापन्न रूप में ढालना चाहते थे। वक्रोक्ति को उन्होंने 'विचित्रा अभिधा' (प्रकारांतर से व्यंजना वृत्ति) भी कहा। इस प्रकार इनकी वक्रोक्ति का बीज ध्वनि ही है।

इस प्रकार, उक्त पाँचों काव्यतत्व न केवल ध्वनि के अपितु वक्रोक्ति के भी अनुरूप माने जा सकते हैं। इनके अतिरिक्त, इस दृष्टि से कुछ अन्य पाश्चात्यवाद एवं तत्व लीजिए-

सिसरो (रोमन आचार्य : ईसा की पहली शती ई.) ने 'औचित्य' को भले ही साहित्य का प्राणतत्व माना है, पर वे इसमें 'वक्रता की छटा' का समावेश भी करना चाहते हैं।

लांजाइनस अथवा लोंगिनुस (रोमन आचार्य : तीसरी शती ई.) साहित्य में उदात्त भावना को प्रमुख स्थान देने के पक्ष में है। उनके अनुसार औदात्य के ये पाँच प्रमुख आधार है - (1) परिकल्पना-शक्ति, (2) अंतःप्रेरित आवेग, (3) विचार तथा अभिव्यंजना से संबद्ध अलंकार विधान भाषागत आभिजात्य तथा (5) रचनागत गरिमा। देखा जाए तो ये सभी तत्व 'वक्र उक्ति' अर्थात् लोकोत्तर (लौकिक रूप से भिन्न) उक्ति। का आधार ग्रहण किये बिना संभव नहीं हो सकते। इस प्रकार 'उदात्त भावना' एक दृष्टि से वक्रोक्ति से सम्बद्ध अवश्य है।

---

[1] इस संबंध में पढ़िए डॉ.सत्यदेव चौधरी की पुस्तक 'भारतीय काव्यशास्त्र' में 'काव्य की आत्मा' नामक लेख।

[2] देखिए : 'हिंदी वक्रोक्तिजीवतम्' (दिल्ली विश्वविद्यालय प्रकाशन) टीका आ0 विश्वेश्वर डॉ0 नगेन्द्र लिखित भूमिका के अंतर्गत अथवा 'भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका' (डॉ0 नगेन्द्र) के अंतर्गत 'पाश्चात्य काव्यशास्त्र में वक्रोक्ति'।

[3] 'अभिव्यंजना' पर आगे किंचित् प्रकाश डाला जा रहा है।

दान्ते (13वीं शती ई.) भी उदात्त शैली के पक्षधर हैं और उनके अनुसार यह मसृण और प्रकृत शब्दों से निर्मित होती है 'मसृण' से उनका तात्पर्य है वे शब्द जो न तो ग्राम्य हैं और न अनगढ़ हैं, न बच्चों की बोली के समान तोतले हैं और न नारियों की बोली के समान स्त्रैण हैं। 'प्रकृत' से उनका तात्पर्य है कि ये 'कवि के यथाभीष्ट अभिप्राय के सूचक हैं - कुंतक के शब्दों में कहें तो न ये अन्यून होते हैं और न अनतिरिक्त, अर्थात् ये कवि के अभिप्राय को न तो कम रूप में प्रस्तुत करते हैं और न अधिक रूप में। इस प्रकार दान्ते का 'उदात्त' तत्व भी प्रकारांतर से एक सीमा तक कुंतक के वक्रोक्ति-तत्व को इंगित करता है।

दान्ते के बाद पाश्चात्य काव्येतिहास का **'पुनर्जागरणकाल'** माना जाता है अर्थात् वह काल जिसमें इटली, स्पेन, इंगलैंड आदि में प्राचीन अमर वाङ्मय का पुनरूद्धार भी हुआ और नवीन उत्कृष्ट साहित्य का सृजन अदम्य वेग से हुआ। इस काल के डेनियलो (1536 ई.) के अनुसार काव्य में 'सत्य' (इतिहास घटित अथवा सम्भाव्य घटना) के साथ-साथ कल्पना का मिश्रण भी अनिवार्यतः रहता है - कवि को यथावत् वर्णन का त्याग करना होता है वैसे ही जैसे कुंतक के अनुसार कवि इसे 'वक्रोक्ति' के रूप में ढाल देता है।

इसी काल के मनीषी **पैट्रिजी** के अनुसार काव्य का विषय इतिहास हो, कला हो, या फिर विज्ञान भी क्यों न हो, पर उसका प्रतिपादन 'काव्यमय रीति' में होना चाहिए, यों कहिए कि कवि का अभिव्यक्ति-पक्ष कल्पना-मिश्रित हो और कुंतक के अनुसार 'वक्र' हो।

पाश्चात्य काव्येतिहास में पुनर्जागरण काल के बाद **नव्यशास्त्रवाद** (Nco Classicism) का उदय हुआ। इसका समय 17-18वीं शती माना जाता है। इस वाद का प्रमुख सिद्धांत है कि 'अमर साहित्य का अनुकरण ही साहित्य-रचना की सफलता का रहस्य है। उनके अनुकरण से 'प्रकृति' अर्थात् विवेक और सुरुचि की जागृति होती है। इस वाद के अनुसार काव्य में वक्रता-तत्व का समावेश अनुपादेय एवं हेय है।

इस वाद के सुदृढ़ पोषक फ्रांस के मनीषी **बोइलो** और इंगलैंड के प्रख्यात कवि **पोप** माने जाते हैं, तथा इन दोनों के मध्यवर्ती ड्राइडन की दृष्टि संतुलित है-

1. बोइलो के अनुसार रीतिबद्धता (वक्रता) आडम्बर मात्र है। 'इटली के काव्य में समाविष्ट वक्रता-वैचित्र्य नकली हीरों के समान है।
2. इसी प्रकार पोप ने भी वक्रता-वैचित्र्य को एक ऐसे शीशे के समान कहा जो कि चारों ओर, अपना भड़कीला रंग और चमक-दमक इतना अधिक बखेर देता है कि वर्ण्य विषय दबकर रह जाता है।[1]

ड्राइडन के मत से काव्याभिव्यक्ति संतुलित होनी चाहिए। उसमें प्राचीन अमर साहित्य का अनुकरण आवश्यक तो है, पर इतना नहीं कि वह शास्त्रीय जड़ता से ग्रस्त होकर अपनी जीवन्तता खो दे। अतः इसमें वैचित्र्य और नूतनता का समावेश भी आवश्यक है। इसी वैचित्र्य को कुंतक ने वक्रता, भंगिमा, विच्छिति आदि नाम दिया है।

पोप के समसामयिक **एडिसन** (18वीं शती) ने काव्य में कल्पना-तत्व की प्रतिष्ठा करते हुए प्रकारांतर से वक्रता को स्वीकृति प्रदान की। उनके अनुसार किसी वर्णनीय विषय में तभी काव्य-चमत्कार आता है जब उसमें आह्लाद और विशेषतः विस्मय उत्पन्न करने की क्षमता हो। किसी धवल पदार्थ को दुग्ध या बर्फ के समान कह देने से या किसी रंग-बिरंगे पदार्थ को इन्द्रधनुष के समान कह देने मात्र से काव्यचमत्कार उत्पन्न नहीं होता, यह तो लोकवार्ता मात्र है। काव्यचमत्कार के लिए तो सच्चे कवि को किसी ऐसी स्थिति संगति का अन्वेषण करना होता है जो पाठक के मन में विस्मय की उद्बुद्धि कर सके। यह संगति वक्रता-तत्व के समावेश से ही उद्भासित होकर विस्मयकारी बन जाती है। अब यह वक्रता पर आधारित अभिव्यक्ति 'लोकवार्ता' न कही जाकर 'काव्य' कहलाती है।

एडिसन की उक्त धारणा से हमें बरबस कुंतक का यह कथन स्मरण हो आता है कि काव्य का अर्थ सहृदयाह्लादकारी' एवं 'स्वस्पन्द सुंदर' होना चाहिए (व.जी. 1.9)। वक्रता के समावेश से काव्य का अर्थ स्वयं अपने स्पन्दन (प्रभविष्णुता) से सहृदयों के लिए आह्लादजनक बन जाता है।

पाश्चात्य काव्येतिहास में अठारहवीं शती के उत्तरार्ध में रीतिबद्ध एवं रूढ़िबद्ध काव्यशिल्प के विरूद्ध प्रतिक्रिया आरंभ हो गयी। इस मत के प्रणेता मनीषी जन स्वच्छन्दतावादी कहलाते हैं। **स्वच्छन्दतावाद (Romanticism)** से तात्पर्य है कवि-प्रतिभा की स्वतंत्रता तथा कला की स्वच्छन्दता। इस वाद के आरंभिक पक्षधर हैं - लैसिंग, शिलर और गेटे (जर्मनी)। ये नव्यशास्त्रवादियों द्वारा प्रतिपादित रीतिबद्धता

1. तुलनार्थ : भारतीय काव्यशास्त्र में 'चित्रकाव्य'

और रूढ़िबद्धता को त्याज्य घोषित करते हैं। इनके अनुसार 'प्राचीन' के अनुकरण की अपेक्षा मौलिक सृजन को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए।

स्वच्छन्दतावाद का विशिष्ट ढंग से प्रवर्तन **वर्डसवर्थ** द्वारा लिखित 'लिरिकल बेलेड्स' की 'भूमिका' से हुआ है। इसमें उन्होंने अपनी इस मान्यता पर बल दिया कि 'काव्य में कृत्रिम भाषा का प्रयोग नहीं होना चाहिए। कृत्रिम भाषा से उनका तात्पर्य है कि जिसमें अलंकारों का यन्त्रवत् प्रयोग किया गया हो। काव्यभाषा को विभिन्न प्रकार के चमत्कारों, वैचित्र्य-वक्रताओं, चित्रालंकारों, प्रहेलिकाओं आदि के आडम्बर से मुक्त होना चाहिए।'

वर्डसवर्थ काव्य-भाषा को 'जनसाधारण की भाषा' बना देने के पक्ष में हैं। उनकी दृष्टि में समर्थ काव्यभाषा वह होती है जिसकी शब्दावली मानव-व्यवहार की भाषा से गृहीत होते हुए भी उसका चयन सुरुचि एवं सहृदयता के साथ किया जाता हे। इधर कुंतक भी तो इसी आशय पर बल देते हैं कि अनेक पर्याय शब्दों के होते हुए भी सच्चे कवि द्वारा उनमें से चयनित शब्द का प्रयोग कवि के अभीष्ट अभिप्राय का सूचक होने के कारण सहृदयाह्लादक होता है।

इसके अतिरिक्त वर्डसवर्थ काव्यभाषा में ऐसे अलंकारों तथा वैचित्र्य-सम्पन्न लाक्षणिक प्रयोगों के पक्षधर हैं जो कि वर्ण्य-विषय को प्रस्तुत करते समय स्वतः आवेग-प्रेरित होते हैं, ये कृत्रिम कदापि नहीं होते। इधर आनंदवर्धन ने भी निम्नोक्त वचन में यही आशय प्रकट किया है कि 'प्रतिभावान् कवि का चित्त रचना करते समय जब रस में डूब जाता है तब एक के बाद एक अलंकार मानो 'मैं पहले, मैं पहले' कहते हुए उसके आगे स्वतः गिरते-पड़ते चले जाते हैं।' सच्चा कवि इनका प्रयोग जान-बूझकर नहीं करता।

वर्डसवर्थ वस्तुतः पूर्ववर्ती बागाडम्बर-प्रिय कवियों की भाषा से क्षुब्ध थे, वे दुरूह एवं नुमायशी वक्रता से पूर्ण तथा अनपेक्षित अलंकारों से बोझिल भाषा को काव्यरचना में अस्वीकृत करते थे, न कि ऐसी भाषा को जो औचित्यपूर्ण वक्रता से युक्त हो, और विषय के पोषक तथा अनायास-प्रयुक्त अलंकारों से शोभित हो।

ठीक यही स्थिति वर्डसवर्थ के परवर्ती आलोचक कवि **मैथ्यू आर्नल्ड** की भी है। उन्होंने वक्रता के स्वच्छंद विलास को तो स्वीकार नहीं किया, पर वक्रता जहाँ औचित्य से अनुशासित होती है, उसे समुचित महत्त्व अवश्य दिया है। पर हाँ, आर्नल्ड के युग में **टेनीसन** और **स्विनबर्न** जैसे कला-विलासी कवि भी हुए जिनकी कविता में वैचित्र्य-वक्रता का उन्मुक्त विहार है, पर उस युग के अधिकतर समीक्षकों ने आर्नल्ड के ही इस मन्तव्य को ग्राह्य समझा कि काव्य की अभिव्यक्ति में संयम से काम लिया जाए।

विद्वानों ने वक्रोक्ति सिद्धांत की तुलना **क्रोचे** के '**अभिव्यंजनावाद**' (Expressionism) से की है।

- देखा जाए तो इधर कुंतक 'वैदग्ध्य-भंगी-भणिति' अथवा 'वक्र उक्ति' तथा उधर क्रोचे की अभिव्यंजना ये दोनों लगभग पर्यायवाची हैं। इन दोनों तत्वों के अंतर्गत समस्त कविव्यापार, काव्यकौशल तथा कल्पना-तत्व का समावेश हो जाता है।
- कुंतक ने एक स्थान पर संकेत किया है कि सफल कवि ऐसे शब्दों का प्रयोग करते हैं जो उनके तात्पर्य को यथावत् रूप में प्रकट करते हैं- ये शब्द न तो 'अन्यून' होते हैं और न ये 'अनतिरिक्त' होते हैं (वक्रोक्तिजीवित)। क्रोचे की भी यही मान्यता है - ये उक्ति को अद्वितीय मानते हैं, अर्थात् कवि की रचना इससे न तो कम रूप में शोभा पाती है और न इससे अधिक।
- दोनों आचार्यों में एक साम्य और भी है। कुंतक का कहना है कि काव्य-रीतियों (वैदर्भी, गौड़ीया और पांचाली नामक रीतियों) को उत्तम, मध्यम और अधम नहीं मानना चाहिए काव्यसौंदर्य की दृष्टि से ये तीनों एक-समान होती हैं। उधर क्रोचे भी यही मानते हैं कि एक सफल अभिव्यंजना और दूसरी सफल अभिव्यंजना में श्रेणीभेद नहीं होता, ये दोनों अभिव्यंजनाएँ एक-समान होती हैं।

वक्रोक्ति और अभिव्यंजनावाद में परस्पर अंतर भी है। कुंतक वक्रता और वार्ता में भेद स्वीकार करते हैं, पर क्रोचे दोनों अभिव्यक्तियों को काव्य मानते हैं। कुंतक के अनुसार काव्य का सर्वस्व 'कविव्यापार' है तो क्रोचे के अनुसार 'सहजानुभूति' है आदि-आदि।

इधर आधुनिक हिंदी आचार्यों में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल[1] मात्र 'वक्र उक्ति' को काव्य नहीं मानते, वे इसे सूक्ति का एक रूप मानते हैं अथवा चमत्कार मात्र। इसके विपरीत वे 'भाव-प्रेरित वक्र उक्ति' को काव्य मानते हैं।

डॉ. नगेन्द्र के अनुसार कुंतक ने वक्रोक्ति सिद्धात के माध्यम से काव्यकला का व्यापक, गहन, मार्मिक तथा अति व्यवस्थित विवेचन किया है, जो कि भारतीय सौंदर्य शास्त्र में एक नूतन पद्धति को उद्घटित करता है।

6.4 औचित्य सिद्धांत (औचित्य संप्रदाय)

'औचित्य-तत्त्वं' के प्रवर्तन का श्रेय **क्षेमेन्द्र** (11वीं शती) को दिया जाता है, किंतु वस्तुतः, यह इसके प्रवर्तक न होकर व्यवस्थापक हैं। इनसे पूर्व भरत, भामह, दण्डी, उद्भट, रूद्रट, आनंदवर्धन, कुंतक और महिमभट्ट के ग्रंथों में इस तत्व के संबंध में साक्षात एवं असाक्षात् रूप से पर्याप्त सामग्री मिल जाती है। इनमें से सर्वाधिक प्रकाश आनंदवर्धन ने डाला है।

1. भरत के नाट्यशास्त्र में 'औचित्य' शब्द का प्रयोग न होते हुए भी इसके संबंध में अनेक स्थलों पर पर्याप्त संकेत मिल जाते हैं -

- 'जिस पात्र के लिए जैसी भूमिका एवं चेष्टा उचित हो वह वैसी होनी चाहिए'।[2]

जैसा कि हम आगे देखेंगे, क्षेमेन्द्र ने भी 'उचित' शब्द के स्वरूप-निर्देश में संभवतः भरत का ही अनुकरण करते हुए कहा है कि जो जिसके सदृश हो उसे उचित कहते हैं - 'उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्त तत्। (औचित्यविचारचर्चा)

- अभिनेता का 'वेष' आयु के अनुरूप, 'गतिप्रचार' (शारीरिक चेष्टाएं) वेष के अनुरूप होना चाहिए।[3]

- अटापटा वेष अभिनेता के फूहड़पन को द्योतित करता है - मेखला को कटि पर धारण न कर कण्ठ में धारण कर लेने से वह उपहास का पात्र बन जाता है।[4] नाट्य वही सिद्ध होता है, जो 'लोकस्वभावज' हो। वस्तुत: नाट्य प्रयोगों में 'लोक' ही प्रमाण होता है-

  लोकसिद्धं भवेत्सिद्धं नाट्यं लोकस्वभावजम्।
  तस्मान्नाट्यप्रयोगेषु प्रमाणं लोक इष्यते।। (नाट्यशास्त्र)

2. भामह के ग्रन्थ काव्यालंकार में भी 'औचत्य' शब्द का प्रयोग न होते हुए भी इस तत्व के द्योतक अनेक कथन मिल जाते है -

⇨ भरत ने 'नाट्य' को 'लोकस्वभावज' कहा था तो भामह के शब्दों में महाकाव्य 'लोक-स्वभाव-युक्त' होना चाहिए-

  युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलै: पृथक्। (काव्यालंकार 1.21)

⇨ दोष माना कि दोष है, किन्तु वह प्रयोग-विवेक के बल पर कहीं दोष नहीं रहता, और कही तो गुण बन जाता है। इस सम्बन्ध में भामह के अनेक कथन औचित्य-तत्व के द्योतक हैं। दो स्थल लीजिए-

  (क) विशेष परिस्थिति के कारण सदोष कथन भी शोभित होने लगता है। जैसे पुष्पमाला के बीच-बीच गुथा हुआ नील-पलाश भी शोभित होने लगता है।[5]

---

[1] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के मंतव्यों से ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हें संभवतः 'वक्रोक्तिकाव्यजीवितम' ग्रंथ उपलब्ध नहीं हुआ था।

[2] (क) यादृश्यो यस्य कर्तव्या विन्यासे भूमिकास्ततः।।
(ख) या सस्य सदृश चेष्टा ह्युतमाधममध्यमा।। (नाट्यशास्त्र 35.1)

[3] वयोऽनुरूपः प्रथमस्तु वेषो, वेषानुरूपश्च गतिप्रचारः।
गतिप्रचारानुगतं च पाठयम्, पाठ्यानुरूपोऽभिनयश्च कार्यः।। (ना.शा. 14.68)

[4] अदेशजो हि वेषस्तु न शोभां जनयिष्यति।
मेखलोरसि बंधे च हास्यायैवोपजायते।। (ना.शा.)

[5] सन्निवेशविशेषातु दुरूक्तमपि शोभते।
नीलं पलाशमाबन्दमन्तराले स्रजामिच।। (काव्यालंकार 1.54)

(ख) कोई असाधु वस्तु भी आश्रय के सौन्दर्य से अत्यन्त सुन्दर बन जाती है, जैसे-कज्जल स्वभावत: काला होता है, किन्तु सुन्दर स्त्री के नेत्रों में अंजित होने पर उसकी शोभा बढ जाती है।[1]

3. इसी प्रकार दण्डी ने भी दोष के निवारण तथा गुणत्व के सम्बन्ध में बहुविध सामग्री प्रस्तुत की है। उदाहरणार्थ -

- कवि-कौशल के बल पर देशगत कालगत आदि विरोध दोषत्व को छोड़ गुण बन जाते हैं। दूसरे शब्दों में, यदि कोई कवि अपने काव्य में इन दोषों का औचित्य देखते हुए इनका प्रयोग जानबूझ कर करता है तो वहाँ ये दोष गुण बन जाते हैं।[2]

4. उद्भट के अनुसार ऊर्ज़स्वि अलंकार वहाँ माना जाता है जब काम, क्रोध आदि के (अनुचित प्रयोग) के कारण रसों और भावों की अनौचित्यपूर्ण रचना की जाए।[3]

5. इनके पश्चात् काव्याचार्यों में रूद्रट ने संभवत: सर्वप्रथम 'औचित्य' और 'अनौचित्य' शब्द का प्रयोग करते हुए औचित्य की महत्ता का स्पष्ट संकेत किया है। उनके कथनानुसार-

- वैदर्भी और पांचाली रीतियों का प्रेयान्, करूण, भयानक और अद्भुत रसों में तथा लाटीया और गौडीया का रौद्र रस में प्रयोग औचित्य-पूर्वक करना चाहिए।[4]

रूद्रट ने इसी प्रसंग में 'अनौचित्य' शब्द का प्रयोग भी किया है। उनके अनुसार ग्राम्य वहाँ दोष माना जाता है जहाँ कुल, जाति, विद्या, वित्त, आयु, स्थान और पात्र इन (आठों विषयों) में व्यवहार, आकार, वेश और वचन का अनौचित्य हो।

6. इन सबके पश्चात् आनन्दवर्धन ने अलंकार, गुण, संघटना, प्रबन्ध, वृत्ति (रसवृत्ति) तथा भाषा के प्रयोग के औचित्य पर पर्याप्त प्रकाश डालते हुए क्षेमेन्द्र के लिए इस तत्व को प्रतिपादित करने का द्वार खोल दिया। विशिष्ट स्थल देखिए-

अलंकार का औचित्य इसी में है कि वह रस, भाव आदि के तात्पर्य (चमत्कार-वृत्ति) का साधन बन कर रहे।[5] अलंकार का बन्ध रस को ध्यान में रखते हुए ऐसे सहज भाव से होना चाहिए कि रचना करते समय न तो कवि को इसके समावेश के लिए कोई पृथक अभ्यास करना पड़े, और न ही पाठक को कोई अलंकार-विशेष पृथक रूप से आभासित हो सके।[6] इसके अतिरिक्त अलंकार के के प्रयोगौचित्य के सम्बन्ध में आनन्दवर्धन ने अनेक नियम भी निर्धारित किये हैं।

गुण का औचित्य इसी में है कि गुण रस का धर्म बनकर रहे। शृंगार आदि कोमल रसों के आस्वाद से क्षण भर पूर्व घटित सहृदय के चित्त की 'द्रुति' माधुर्य गुण कहलाती है। इसी प्रकार रौद्र आदि कठोर रसों के आस्वाद से क्षण भर पूर्व घटित-सहृदय के चित्त की -'दीप्ति' ओज गुण कहलाती है। इसके अतिरिक्त माधुर्य गुण की अभिव्यंजना, कोमल वर्ण-योजना के माध्यम से भी, प्रकारान्तर से होती है, जिसका प्रयोग शृंगार आदि कोमल रसों में करना चाहिए। इसी प्रकार ओज गुण की अभिव्यंजना, कठोर वर्णयोजना के माध्यम से भी प्रकारान्तर से होती है, जिसका प्रयोग वीर रौद्र आदि कठोर रसों में करना चाहिए। शब्दार्थ की स्वच्छता को-चाहे वह किसी रस में हो-प्रसाद गुण कहते हैं।

संघटना से आनन्दवर्धन का अभिप्राय है असमासा मध्यमसमासा, और दीर्घसमासा रचना। संघटना का औचित्यपूर्ण प्रयोग इसी में है कि वह माधुर्य आदि गुणों के आश्रित रहकर रसाभिव्यक्ति में सहायक

---

[1] किंचित् आश्रयसौंदर्यात् धते शोभामसाध्वपि।
कांता-विन्यस्त-न्यस्तं मलीमसमिवांजनम्।। (का.अ. 1.55)

[2] विरोधो सकलोऽप्येष कदाचित् कवि-कौशलात्।
उत्क्रम्य दोषगणानां गुणवीथिं विगाहते।। (काव्यालंकार 3.179)

[3] अनौचित्यप्रवृत्तानां कामक्रोधादिकारणात्।
भावनां च रसानां च बंध ऊर्जस्वि कथ्यते।। (काव्यालंकारसारसंग्रह, चतुर्थ वर्ग)

[4] वैदर्भीपांचाल्यौ प्रेयसि करूणे भयानकाद्भुतययोः।
लाटीयागौडीये रौद्रे कुर्याद् यथोचित्यम्।। (काव्यालंकार 15.20)

[5] रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम्।
अलंकृतीनां सर्वासामलंकारत्वसाधनम्।। (ध्वन्यालोक 3.6)

[6] रसाक्षिप्ततया यस्य बंधः शक्यक्रियो भवेत्।
अपथग्प्रयत्ननिर्वत्येः सोऽलंकारो ध्वनौ मतः।। (ध्वन्या 2.17)

बने। इसका प्रयोग वक्ता, वाच्य, विषय और रस-इन चारों के औचित्य को ध्यान में रखकर करना चाहिए।

इसके अतिरिक्त आनन्दवर्धन ने भाषा के विभिन्न अवयवों-सुबन्त (विभक्ति) तिङन्त (क्रिया-रूप), वचन, कारक, कृदन्त, तद्धित, समास, निपात, उपसर्ग, काल आदि के संबंध में भी कहा है कि काव्य में इनके विशेष अर्थात् औचित्यपूर्ण प्रयोग द्वारा रस की अभिव्यक्ति की जा सकती है। (ध्वन्यालोक 3.16 वृत्ति)

अस्तु ! इस प्रकार आनन्दवर्धन ने 'औचित्य' के सम्बन्ध में सर्वप्रथम सर्वाधिक सामग्री प्रस्तुत करते हुए यह धारणा स्थिर की कि विभिन्न काव्य-तत्वों का औचित्य इसी में है कि इनका रसानुकूल प्रयोग किया जाए, और इस प्रकार उन्होंने काव्य-सौन्दर्य के विधान में औचित्य को गौरवपूर्ण स्थान प्रदान किया, और 'अनौचित्य' को रसभंग का सर्वप्रमुख कारण बताया-

अनौचित्याद् ऋते नान्यद् रसभंगस्य कारणम्।
प्रसिद्धोचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा॥ (ध्वन्या.3.14, वृत्ति)

7. **आनन्दवर्धन के बाद महिमभट्ट ने अपने ग्रन्थ व्यक्तिविवेक में काव्य-दोष को 'अनौचित्य' नाम** दिया है। अनौचित्य कहते हैं जो रसादि की प्रतीति में विघ्न उपस्थित करता है।

8. इनके पश्चात् इस दृष्टि से रामचन्द्र-गुणचन्द्र का नाम उल्लेख्य है, जिन्होंने पाँच रस दोषों में से एक रसदोष 'अनौचित्य' को भी माना, जिसका लक्षण है -- सहृदयानां विचिकित्सा-हेतु कर्म अनौचित्य (नाट्यदर्पण, 3.125) अर्थात्, जो कर्म सहृदयों के चित्त में क्षोभ उत्पन्न करता है, अनौचित्य कहलाता है।

यह तो रहा औचित्य तत्व का विवरण जो कि क्षेमेन्द्र से पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा प्रस्तुत हुआ है। इनके पश्चात् **क्षेमेन्द्र ने अपने ग्रन्थ 'औचित्यविचारचर्चा'** में 'औचित्य' का विस्तृत विवेचन किया है - उचित के भाव को औचित्य कहते हैं। जो जिसके सदृश (अनुकूल) हो, उसको, अर्थात् उसके अनुरूप प्रस्तुति को, 'उचित' कहते हैं" -

उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते।।

उनके कथानुसार काव्य यद्यपि रस-सिद्ध होता है, किंतु उसका स्थिर-अनवर - 'जीवित' तो औचित्य ही है -

औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।।

किंतु साथ ही, उन्होंने एक अन्य स्थल पर औचित्य को काव्य का चमत्कारी कहते हुए रस का भी 'जीवित' कहा है -

औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारूचर्वणे।
रसजीवितभूतस्य विचारं कुरूतेऽधुना।।

क्षेमेन्द्र ने काव्य के निम्नोक्त 27 काव्यांगों की परिगणना करते हुए कहा कि इन सभी अंगों में एकमात्र व्यापक जीवन औचित्य ही है, अर्थात् काव्य में इन सभी काव्यतत्वों का प्रयोग औचित्य-पूर्ण होना चाहिए-

काव्यस्यांगेषु च प्राहुरौचित्यं व्यापि जीवितम्।।

वे 27 काव्यांग इस प्रकार हैं, जिन्हें हम निम्नोक्त तीन वर्गों में विभक्त कर सकते हैं -

क) **भाषा-विषयक** : पद, वाक्य, क्रिया, कारक, लिंग, वचन, विशेषण उपसर्ग, निपात और काल।

ख) **काव्यशास्त्र-विषयक** : प्रबंधार्थ, गुण, अलंकार और रस। इनके अतिरिक्त 'नाम' को परिकर अलंकार और 'अभिप्राय' को 'व्यंग्यार्थ' का पर्याय मानते हुए इन दोनों को भी इसी वर्ग में रख सकते हैं।

ग) **वर्ण्य-विषयक** : देश, कुल, व्रत, तत्त्व, सत्व, स्वभाव, सारसंग्रह, प्रतिभा, अवस्था (वयः) विचार और आशीर्वचन।

यह उल्लेख्य हैं कि क्षेमेन्द्र को केवल यही 27 काव्यांग अभीष्ट नहीं हैं, ये इनसे अधिक भी हो सकते हैं।[1]

क्षेमेन्द्र ने इस सभी काव्यांगों के उदाहरण-प्रत्युदाहरण प्रस्तुत करते हुए क्रमशः यह प्रतिपदित किया है कि काव्य इन अंगों के औचित्यपूर्ण प्रयोग से उपादेय बनता है, और अनौचित्यपूर्ण प्रयोग से अनुपादेय। उनके कथनानुसार, औचित्यपूर्ण प्रयोग के बल पर ही अलंकार और गुण अपने-अपने नाम के वास्तविक अधिकारी हैं, अन्यथा नहीं। सच्चे अर्थों में अलंकार उसे कहना चाहिए जिसका उचित स्थान पर विन्यास किया गया हो, और गुण भी वही मानना चाहिए जा औचित्य से सम्पन्न हों -

उचितस्थानविन्यासादलकृतिरलंकृतिः।
औचित्यादच्युता नित्यं भवन्त्येव गुणाः गुणाः।।

ऐसा अलंकार व्यर्थ है, और ऐसा गुण भी मिथ्या है, जिसका जीवित औचित्य न हो, अर्थात् जिसका प्रयोग औचित्यपूर्ण नहीं किया गया-

काव्यस्यालमलंकारैः किं मिथ्यागणितैर्गुणैः।
यस्य जीवितमौचित्यं विचिन्त्यापि न दृश्यते।।

अर्थ (वर्ण्य विषय) के औचित्य के अनुरूप अलंकार-प्रयोग के द्वारा कवि का सुन्दर कथन इस प्रकार शोभित हो उठता है, जिस प्रकार पीन-स्तन पर धारण किये हुए हार से कोई मृगनयनी सुन्दरी शोभित होती है-

अर्थौ चित्यवता सूक्तिरलंकारेण शोभते।
पीनस्तनस्थितेनेव हारेण हरिणेक्षणा।।

ठीक इसी प्रकार के कथन क्षेमेन्द्र ने लगभग सभी काव्यांगों के सम्बन्ध में कहे हैं। रस के औचित्य के सम्बन्ध में क्षेमेन्द्र ने दो कथन प्रस्तुत किए हैं -

क) औचित्यपूर्ण प्रयोग के कारण रस रूचितर रूप में प्रस्तुत होकर सह्रदय के मन को उस प्रकार उल्लसित करता है, जिस प्रकार वसन्त ऋतु अशोक वृक्ष को उल्लसित करती है।[2] इसी प्रकार-

ख) शृंगार आदि रस कौशलपूर्वक परस्पर संयोजित कियें जाने पर उस प्रकार विचित्र आस्वाद को प्राप्त कराते हैं, जिस प्रकार मधुर, तिक्त आदि रस। अत: इनके परस्पर-मिश्रण में औचित्य की रक्षा अवश्य करनी चाहिए। पर अनौचित्य के स्पर्श मात्र से भी (दूषित) रसों का मिश्रण भला किसे अभीष्ट हो सकता है?

क्षेमेन्द्र के अनुसार इन सभी अंगो में एकमात्र व्यापक जीवन औचित्य ही है, अर्थात् काव्य में इन सभी काव्य-तत्वों का प्रयोग औचित्य-पूर्ण होता चाहिए- 'काव्यस्यांगेषु च प्राहुरौचित्यं व्यापि जीवितम्।।'

यथा, अलंकार और गुण के सम्बन्ध में उनका मन्तव्य है कि जब इनका उचित प्रयोग किया जाएगा तभी ये अलंकार अथवा गुण कहलाएँगे, अन्यथा नहीं। उदाहरणार्थ, र और ल जैसे कोमल वर्णों की आवृत्ति से जन्य अनुप्रास अलंकार का प्रयोग विप्रलम्भ शृंगार में तो औचित्यपूर्ण है, किन्तु इसके विपरीत यदि शृंगार रस में टवर्ग का अनुप्रास कर दिया जाए तो यह औचित्यपूर्ण नहीं होगा। इसी प्रसंग में भूषण कवि का निम्नोक्त पद्य लीजिए जिसमें वीर रस के प्रसंग में अनुप्रास अलंकार का प्रयोग अत्यन्त औचित्यपूर्ण हुआ है, किन्तु शृंगार अथवा करूण रस में ऐसा प्रयोग औचित्यपूर्ण नहीं होगा-

क) दुग्ग पर दुग्ग जीते सरजा सिवाजी गाजी,
दुग्ग नाचे दुग्ग पर रुंड मुंड फरके।

ख) पील खन डील जहाँ गिरि से गिरन लागे,
मुंड मतवारे गिरैं झुंड मतवारे से।।

क्षेमेन्द्र के अनुसार रस काव्य का प्राण अवश्य है, किन्तु जब तक वह भी औचित्य से रूचिर नहीं होता तब तक वह सह्रदयों के चित्त को आकर्षित नहीं कर सकता। इस प्रसंग में जयशंकर प्रसाद की एक कविता लीजिए जिसमें उन्हों‌ने वीभत्स रस का औचित्यपूर्ण प्रतिपादन किया है-

---

[1] अन्येषु वा काव्यांगेषु अन्यैव दिशा स्वयमौचित्यमुत्प्रेक्षणीयम्। (औ.वि.च. : अंतिम स्थल)

[2] कुर्वन् सर्वाशये व्याप्तिमौचित्यरुचिरो रसः।
मधुमास इवाशोकं करोत्यंकरितं मनः।।

दुर्बलता इस अस्थिमांस की
ठोंक कर लोहे से, परख कर वज्र से,
प्रलयोल्का, खंड के निकष पर कस कर
चूर्ण अस्थिपुंज सा हँसेगा अट्टाहास कौन ?
साधना पिशाचों की बिखर चूर-चूर होके,
धूलि सी उड़ेगी किस द्रुत फूत्कार से।

अब एक उदाहरण रस-संकर के औचित्य का लीजिए-

है यह सत्य कि होती मनोरम नारी,
यह भी सत्य कि सम्पद् होती मनोहर है,
क्षणभंगुर यह जीवन किन्तु ऐसा.......
होते चपल कटाक्ष हैं जैसे, मदमाती रमणी के।[1]

यहाँ शान्त रस का अंग रूप में वर्णित करते हुए शृंगार रस की प्रस्तुति की गयी है, अतः यहाँ इन दोनों रसों का संकर औचित्यपूर्ण है।

इस प्रकार क्षेमेन्द्र ने औचित्य के विविध प्रकारों का विधान करते हुए यह प्रमाणित किया है कि इसका अनुधावन या पालन किए बिना काव्य और नाटक दोनों में रमणीयता नहीं आती।

अब अंत में यह समस्या विचारणीय है कि क्या औचित्य को काव्य की आत्मा मानना संगत है, और इसी आधार पर क्या इसे विशिष्ट सिद्धान्त अथवा सम्प्रदाय कहना संगत है। इस सम्बन्ध में अधिकांश विद्वानों का विचार है कि औचित्य कोई अलग सिद्धान्त न होकर विभिन्न काव्यांगों को परिष्कृत एवं उपादेय बनाने का हेतुमात्र है। गुण, अलंकार, रस, आदि सभी 27 काव्य-तत्वों के सम्बन्ध में उनकी एक ही धारणा है कि इनका प्रयोग औचित्य-पूर्ण ही होना चाहिए। इसी के बल पर ये काव्यांग अपने यथावत् रूप में प्रस्तुत हो सकते हैं, अन्यथा नहीं। निसन्देह क्षेमेन्द्र ने औचित्य को काव्य का 'जीवित' कहा है, किन्तु यहाँ जीवित शब्द आत्मा का पर्याय नहीं है, अपितु इससे तात्पर्य है- किसी काव्यांग को उपादेय बनाने का हेतु। अतः औचित्य को काव्य की आत्मा मानना संगत नहीं है।

इसी संबंध में यह भी उल्लेख्य है कि अलंकार, रीति, वक्रोक्ति और रस - इन पाँचों काव्य-सिद्धांतों के प्रवर्तक एवं अनुमोदक या तो अपने मान्य सिद्धांत के अंतर्गत अन्य काव्य-तत्वों को समाविष्ट करते हैं, जैसे अलंकारवादी; रीतिवादी एवं वक्रोक्तिवादी, अथवा अन्य काव्यांगों को अपने मान्य सिद्धांत के परिपोषक रूप में स्वीकृत करते हैं, जैसे ध्वनिवादी एवं रसवादी। किंतु क्षेमेन्द्र इनमें से किसी आधार को नहीं अपनाते। यह सभी काव्यांगों को स्वीकार करते हुए केवल

सत्यं मनोरमा रामाः सत्यं रम्या विभूतयः।
किंतु मत्तांगनापांगभंगलोलं हि जीवितम्।। (औ.वि.च.18, वृत्ति)

उनके औचित्यपूर्ण प्रयोगा पर ही बल देने के पक्ष में है। अतः औचित्य को काव्य की आत्मा अथवा कोई स्वतत्र सिद्धांत न मानकर इसे तभी काव्य-तत्वों का उत्कर्षक एवं उपादेन ही स्वीकार करना चाहिए।

6.5 समाहार और निष्कर्ष

निस्संदेह भारतीय काव्यशास्त्र रस-सिद्धांत सबसे प्राचीन काव्य-सिद्धांत/काव्य संप्रदाय रहा है। अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति तथा औचित्य सिद्धांतों का विकास इसके पश्चात् और इसी के संदर्भ में हुआ है। काव्य के अंतरंग और बहिरंग की बहस को यदि आत्मा और देह के आधार पर विभक्त किया जाए तो अलंकार, रीति तथा वक्रोक्ति को देहवादी तथा रस ध्वनि और औचित्य को आत्मवादी संप्रदाय कहा जा सकता है।

डॉ. नगेन्द्र ने लिखा है - 'आत्मवादी संप्रदायों का तो रस-सिद्धांत से मात्र प्रत्यक्ष और घनिष्ठ संबंध हैं। एक प्रकार से ध्वनि और औचित्य दोनों की ही कल्पना रस के आधार पर की गई है। औचित्य सिद्धांत के प्रवर्तक ने स्पष्ट रूप से और आरंभ में ही कहा "औचित्य रससिद्धस्य स्थिर काव्यरूप जीवितम्"।

[1] सत्यं मनोरमा रामाः सत्यं रम्या विभूतयः।
किंतु मत्तांगनापांगभंगलोलं हि जीवितम्।। (औ.वि.च.18, वृत्ति)

वास्तव में औचित्य के भवन का निर्माण ही आनंदवर्धन के इस प्रसिद्ध वाक्य के आधार पर हुआ है प्रसिद्धौचित्य बंधस्तु रससयोपनिषत् परा इसमें संदेह नहीं कि ध्वनिकार ने रस के स्थान पर ध्वनि को काव्य की आत्मा माना है फिर भी संपूर्ण ध्वनि सिद्धांत रस की भावना से ओतप्रोत है। आनंदवर्धन तथा उनके अनुयायी सभी ध्वनिवादियों ने स्थान-स्थान पर रस की महत्व प्रतिष्ठा की ओर रसध्वनि को काव्य का उत्तमोत्तम रूप मानकर यह सिद्ध कर दिया कि काव्य की आत्मा ध्वनि है और ध्वनि की आत्मा रस है। रस सिद्धांत भाव तत्व पर अधिक बल देता है और ध्वनि सिद्धांत भाव की व्यंजना पर। काव्य में ध्वनि और रस का सहयोग एक प्रकार से कल्पना और भावना का सहयोग है क्योंकि भावना या कल्पना के बिना काव्यात्मकता की सिद्धि संभव नहीं है। आत्मवादी मानते हैं कि कविता अनुभूति रूप है जिसमें कल्पना और विचार तत्व का योग रहता है।

वस्तुवादी या देहवादी आचार्य काव्य के बाहरी सौंदर्य पर बल देते हैं। भाव या विचार की उपेक्षा वे भी नहीं करते किंतु उनकी दृष्टि से वह गौण है देहवादी आचार्यों के मत से काव्यात्मकता या कवित्व कथन की चारूता का ही अंग है। अलंकारवादी, रीतिवादी, वक्रोक्तिवादी सिद्धांतों के अनुसार रस या भाव कवित्व का सार तत्व न होकर उपकरण मात्र है उदाहरण के लिए अलंकार सिद्धांत के अनुसार अलंकार ही काव्यशोभा के कारण हैं इस कथन का अर्थ हुआ काव्य का सौंदर्य अलंकार पर आश्रित है अलंकार शब्दार्थ के धर्म हैं साधारण धर्म नहीं विशेष धर्म जो शब्दार्थ में सौंदर्य की सृष्टि कर उसे काव्य का रूप प्रदान करते हैं।

रीति संप्रदाय भी अलंकारवादी संप्रदाय की भाँति रस या ध्वनि के बहुत अनुकूल नहीं है। रीति संप्रदाय के प्रतिष्ठापक आचार्य वामन के अनुसार रीति ही काव्य की आत्मा है और रस रीति के आधारभूत बीस गुणों में से एक (अर्थ गुण) कोटि का मूल तत्व है। यहाँ रस रीति का एक पोषक तत्व है अर्थात् रस की दीप्ति रीति की शोभा का पोषण करती है यही उसकी सार्थकता है। रस का सीधा संबंध गुण के साथ है और गुण शब्दार्थ रूप काव्य का नित्य धर्म है। वर्ण विन्यास और शब्द विन्यास से निर्मित रीति गुण पर आश्रित है और गुण रस के धर्म हैं। रीति शब्द और अर्थ का मिश्रित रचना चमत्कार का नाम है जो माधुर्य ओज अथवा प्रसाद के द्वारा चित्त को द्रवित, दीप्त और विशद करती हुई रस दशा तक पहुँचाने में सहायक होती है।

वक्रोक्तिकार कुंतक ने वक्रोक्ति को ही काव्य की आत्मा घोषित किया। वक्रोक्ति काव्यजीवितम् में उन्होंने काव्य के लक्षण और प्रयोजन के अंतर्गत रस के महत्व को स्वीकार किया और कई बार तो यहाँ तक कह दिया कि वक्रोक्ति सिद्धांत के अंतर्गत काव्य का प्रधान तत्व रस ही है। कुंतक का मूल कथन यह है कि अलंकार रूपिणी वक्रोक्ति ही काव्य का प्राण है। इस सिद्धांत के अनुसार काव्य का प्राण तो वक्रोक्ति ही है। इस प्रकार वक्रोक्ति संपूर्ण कला के सौंदर्य का पर्याय है। वक्रोक्ति का मूल आशय यही है कि काव्य प्रधान रूप से कला है अनुभूति नहीं इस कला की रचना के लिए कवि शब्द-अर्थ की अनेक शक्तियों का प्रयोग करता है रस काव्य की निधि है किंतु काव्य की प्राण चेतना तो वक्रता ही है।

औचित्य सिद्धांत को विषय में बहुत अलग से विवेचन की आवश्यकता इसलिए भी नहीं है कि उसकी कल्पना तो रस सिद्धांत के परिवेश में ही की गई है। यह सच है कि औचित्य सिद्धांत का विकास रस सिद्धांत में से ही हुआ है अतः एक प्रकार से वह रस का अंग ही है रस की परिधि में ही औचित्य की सत्ता और सार्थकता है।

अन्य संप्रदायों की भाँति ध्वनि संप्रदाय का जन्म भी उसके प्रतिष्ठात्मक आचार्य के जन्म से पहले हुआ था स्वयं ध्वनिकार ने स्पष्ट कहा है कि काव्य की आत्मा ध्वनि है ऐसा मेरे पूर्ववर्ती आचार्यों का मत है वास्तव में इस सिद्धांत के मूल संकेत उनके समय के बहुत पहले वैयाकरणों के सूत्रों में - विस्फोट आदि के विवेचन में - मिलते हैं इसके अतिरिक्त भारतीय दर्शन में व्यंजना एवं अभिव्यक्ति (दीपक से घर) की विचार चर्चा भी कम प्राचीन नहीं है। ध्वनिकार से पहले रस अलंकार और रीतिवादी अपने-अपने सिद्धांतों की तार्किक महत्व प्रतिष्ठा कर चुके थे। नवीं शताब्दी के मध्य में 'ध्वन्यालोक' की रचना हुई यह एक युग प्रवर्तक ग्रंथ है जिसने व्यंजना पर आश्रित ध्वनि को काव्य की आत्मा घोषित किया। ध्वनिकार के सामने निश्चित दो लक्ष्य थे (1) ध्वनि सिद्धांत की महत्व प्रतिष्ठा तथा युग यह सिद्ध करना कि पूर्ववर्ती किसी सिद्धांत के अंतर्गत उसका समाहार नहीं हो सकता। (2) रस, अलंकार, रीति ध्वनि, आदि सिद्धांतों का अच्छी तरह परीक्षण करते हुए ध्वनि के साथ उनका संबंध स्थापित करना और इस प्रकार सर्वांगपूर्ण सिद्धांत की रूपरेखा सामने ला देना। इस कार्य में ध्वनिकार अभिनवगुप्त की प्रतिभा से सफल भी हुए। किंतु आधुनिक विद्वान ध्वनि सिद्धांत को रस सिद्धांत का ही एक अंग मानते हैं और यह बात काफी हद तक उचित भी प्रतीत होती है।

6.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, **रस मीमांसा**, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।

डॉ. नगेन्द्र, **रस सिद्धांत**, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।

डॉ. नगेन्द्र, **भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका**, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।

डॉ. नगेन्द्र, **रीतिकाव्य की भूमिका**, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।

डॉ. सत्यदेव चौधरी, **भारतीय काव्यशास्त्र**, अलंकार प्रकाशन, दिल्ली-110 051।

धीरेन्द्र वर्मा (संपा.) **हिंदी साहित्य कोश (भाग-1)**, ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी।

6.7 अभ्यास के लिए प्रश्न

1. ध्वनि सिद्धांत की प्रमुख स्थापनाओं पर विचार कीजिए।
2. रस और ध्वनि का अंतर स्पष्ट करते हुए रस-ध्वनि, वस्तु-ध्वनि और अलंकार-ध्वनि पर प्रकाश डालिए।
3. वक्रोक्ति सिद्धांत की मूल स्थापनाओं पर प्रकाश डालिए।
4. ध्वनि-सिद्धांत का खंडन करते हुए कुंतक ने वक्रोक्ति सिद्धांत की स्थापना क्यों की है। तर्क संगत उत्तर दीजिए।
5. 'औचित्य सिद्धांत अलग से सिद्धांत न होकर रस, रीति, ध्वनि आदि सिद्धांतों का समन्वय मात्र है।' इस कथन की व्याख्या कीजिए।



उत्तर प्रदेश
राजर्षि टण्डन मुवत विश्वविद्यालय

MAHI-08

साहित्य सिद्धांत और समालोचना

खंड

3

रस-चिंतन के विविध आयाम

पाठ्यक्रम विशेषज्ञ समिति

पाठ्यक्रम निर्माण

इकाई लेखक
डॉ. रीतारानी पालीवाल (इकाई 7)
इग्नू, नई दिल्ली
डॉ. कृष्णदत्त पालीवाल (इकाई 8-9)
हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली

पाठ्यक्रम संपादक
प्रो. निर्मला जैन
पाठ्यक्रम संयोजक
डॉ. रीतारानी पालीवाल

सामग्री निर्माण

प्रो. वी.रा.जगन्नाथन
निदेशक, मानविकी विद्यापीठ
इग्नू, नई दिल्ली

श्री कुलवंत सिंह
अनुभाग अधिकारी (प्रकाशन)
मानविकी विद्यापीठ, इग्नू

कैमरा रेडी कॉपी निर्माण एवं सचिवालयिक सहयोग
श्री हरीश कुमार सेठी

फरवरी 2004 (पुनः मुद्रित)

ISBN-81-7605-965-X

खंड 3 का परिचय

'साहित्य सिद्धांत और समालोचना' (एम.एच.डी.05) पाठ्यक्रम के तीसरे खंड - 'रस चिंतन के विविध आयाम' में रस-सिद्धांत की विस्तार से चर्चा करते हुए साधारणीकरण सिद्धांत और सहृदय पर विचार किया गया है। प्रश्न उठता है पिछले खंड में भारतीय काव्यशास्त्र के विभिन्न सम्प्रदायों के अंतर्गत रस-सम्प्रदाय की चर्चा हो जाने के बाद रस-चिंतन के इतने विस्तृत विवेचन की आवश्यकता अथवा प्रासंगिकता क्या है?

ध्यान देने की बात है कि भारतीय साहित्यशास्त्र में रस-चिंतन का स्थान सर्वाधिक महत्वपूर्ण रहा है। अन्य सम्प्रदायों के आचार्यों ने अपने-अपने पक्ष को महत्व देते हुए रस की महत्ता को स्वीकार किया है। रस-चिंतन की व्यापकता ही यह प्रमाण है कि प्राचीन तथा नवीन चिंतकों ने मनोविज्ञान, मनोविश्लेषणशास्त्र, सौंदर्यशास्त्र, कलाशास्त्र आदि में रसानुभव, सौंदर्यानुभव या काव्यास्वाद पर विभिन्न दृष्टियों से विचार किया है। रस-चिंतन में मानव मन की सूक्ष्म क्रियाओं, अनुभूतियों, संवेदनाओं, भावनाओं के सम्यक ज्ञान का अद्भुत मिश्रण मिलता है। रस-निष्पत्ति या अभिव्यक्ति संबंधी विवेचन में काव्यास्वाद की प्रक्रिया के महत्वपूर्ण प्रश्न पर बहुत पुराने समय से विचार होता चला आ रहा है। काव्यार्थ के ग्रहण और काव्यानुभूति अथवा काव्यास्वाद संबंधी साधारणीकरण सिद्धांत देश-विदेश के साहित्य-चिंतन में बेजोड़ है। आधुनिक समीक्षा में साधारणीकरण और काव्य-सम्प्रेषण व्यापार की चर्चा को इसलिए महत्व मिला है कि साधारणीकरण अपने-पराए की भेद-बुद्धि से दूर होकर निर्वैयक्तिक स्तर पर काव्यानुभूति की प्रक्रिया है।

रस निष्पत्ति और साधारणीकरण की चर्चा से जुड़ी है - सामाजिक अथवा काव्य के गृहीता की चर्चा। भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य का गृहीता कोई बाहरी व्यक्ति न होकर काव्य का भीतरी व्यक्ति है - वही भोक्ता आस्वादक, मर्मज्ञ और आलोचक है।

इस खंड में कुल तीन इकाइयाँ (इकाई 7-9) हैं।

इकाई 7 **'रस की परिभाषा, स्वरूप और रस निष्पत्ति'** में रस-चिंतन की परम्परा को रेखांकित करते हुए रस के स्वरूप और करुण रस के आस्वाद की चर्चा की गई है तथा रस-निष्पत्ति के संबंध में विभिन्न आचार्यों के मतों को प्रस्तुत किया गया है।

इकाई 8 **'साधारणीकरण'** में साधारणीकरण से तात्पर्य स्पष्ट करते हुए संस्कृत आचार्यों तथा हिंदी विद्वानों के साधारणीकरण विषयक चिंतन पर प्रकाश डाला गया है। साथ ही, पश्चिम के काव्यानुभूति की प्रक्रिया संबंधी सिद्धांतों से साधारणीकरण की तुलना करते हुए इस सिद्धांत के महत्व को प्रतिपादित किया गया है।

इकाई 9 **'काव्य का अधिकारी'** में भारतीय तथा पाश्चात्य साहित्य सिद्धांत परम्परा में साहित्य के पाठक और प्रेक्षक संबंधी चिंतन की चर्चा की गई है।

इकाई 7 रस की परिभाषा, स्वरूप और रस निष्पत्ति

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- बता सकेंगे कि रस शब्द से क्या तात्पर्य है तथा इसके विषय में चिंतन की क्या परंपरा रही है,
- रस की परिभाषा दे सकेंगे,
- रस का स्वरूप बता सकेंगे तथा स्पष्ट कर सकेंगे कि करूण रस का आस्वाद किस तरह होता है,
- रस निष्पत्ति की प्रक्रिया संबंधी विभिन्न मतों का परिचय दे सकेंगे,
- रस सिद्धांत की शक्ति और सीमाओं की चर्चा कर सकेंगे।

7.1 प्रस्तावना

इस खंड की पिछली इकाइयों में आपने भारतीय काव्यशास्त्र के विभिन्न संप्रदायों का अध्ययन किया और यह जानकारी प्राप्त की कि साहित्य के मूल्यांकन के लिए संस्कृत के आचार्यों ने विभिन्न पहलुओं से विचार किया है। एक वर्ग रस को अधिक महत्व देता है तो दूसरा अलंकार को, तीसरा वक्रोक्ति को तो चौथा ध्वनि को। इन विभिन्न दृष्टियों अथवा साहित्य चिंतन के संप्रदायों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान रस संप्रदाय का रहा है। अतः रस संबंधी विवेचन को विस्तार से समझना आवश्यक है। प्रस्तुत इकाई में आप रस संबंधी चिंतन के विविध पक्षों का विस्तृत परिचय प्राप्त करेंगे।

भारतीय काव्यशास्त्र में रस चिंतन, सौंदर्य चिंतन का मूल आधार है। सौंदर्य के आस्वादन में निहित आनंद को प्रधानता देते हुए रस चिंतन का विकास हुआ। सौंदर्य में निहित अद्भुत तत्व की व्याख्या के लिए अलंकार संप्रदाय, वक्रोक्ति संप्रदाय आदि सामने आए। किंतु कालक्रम की दृष्टि से नहीं व्यापक प्रभाव की दृष्टि से भी रस सिद्धांत भारतीय काव्यशास्त्र में सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान का अधिकारी रहा है।

7.2 'रस' शब्द का अर्थ तथा रस-चिंतन की परंपरा

'रस' भारतीय वाङ्मय के प्राचीनतम शब्दों में से एक है। सामान्यतः रस शब्द का चार अर्थों में प्रयोग होता है - (1) पदार्थ का रस, जैसे अम्ल तिक्त आदि, (2) आयुर्वेद का रस, (3) साहित्य का रस; और (4) मोक्ष या भक्ति का रस।

प्राकृतिक रस में रस शब्द का अर्थ है किसी वनस्पति को निचोड़ कर निकाला हुआ द्रव, अर्थात् पदार्थ सार जिसका आस्वादन किया जा सकता है। आयुर्वेद में रस का अर्थ है पारद। यहाँ पदार्थ के सार का अर्थ तो निहित है ही किंतु महत्व उसके आस्वाद का नहीं बल्कि गुण का माना जाता है। तीसरा प्रयोग

है साहित्य का रस। यहाँ रस क अर्थ है (1) काव्य का आस्वाद, (2) काव्य का सौंदर्य, (3) काव्य का आनंद। मोक्ष या भक्ति का रस आत्मा के आनंद या ब्रह्मानंद का वाचक है। इस प्रकार रस के सभी अर्थों में भोग या आस्वाद का भाव अंतर्निहित है।

ऊपर चर्चा की जा चुकी है कि रस का पहला अर्थ है पदार्थों का सारभूत द्रव। वैदिक युग में वनस्पतियों के रस का प्रयोग मिलता है वहाँ यजमान (यज्ञ करने वाला व्यक्ति) अपने देवता को द्रव्य (हवन में प्रस्तुत की जाने वाली वस्तु) के रूप में रस प्रस्तुत करता है। इसके अलावा रस शब्द का प्रयोग दूध और जल के अर्थ में भी मिलता है। किंतु इस युग में सर्वाधिक महत्वपूर्ण है सोमरस के रूप में रस का प्रयोग। सोमरस के संदर्भ में रस के प्रयोग से ही आस्वाद रूप में रस का अर्थ विकास हुआ।

उपनिषद में रस का प्रयोग आस्वाद और आह्लाद के संदर्भों में मिलता है। तैत्तिरीय उपनिषद में आता है - औषधि से अन्न, अन्न से वीर्य और वीर्य से पुरुष अर्थात् शरीर उत्पन्न हुआ। यह शरीर अन्न के रस से बना है। यहाँ रस का प्रयोग केवल द्रव्य नहीं है देह धातु और शक्ति का वाचक है। यह अर्थ आयुर्वेद के रस के पर्याप्त निकट है। यहीं पर रस को दर्शन में प्रवेश मिला और कहा गया वह (ब्रह्म) सर्व गंध और सर्व रस है। धीरे-धीरे रस की भौतिक और आध्यात्मिक सीमाएँ मिल गईं और यह प्रसिद्ध हो गया -'रसो वै सः' (तैत्तिरीय उपनिषद) अर्थात् वह (ब्रह्म) रस रूप है। उसे प्राप्त कर मनुष्य आनंदमय हो जाता है।

रस का मूल अर्थ था अन्न का रस या वनस्पतियों का रस, सोमरस। सोमरस में आस्वाद के साथ एक प्रकार का आनंद और तन्मयता दानों की अर्थ ध्वनि है। इस प्रकार रस का अर्थ अन्न रस से ब्रह्म रस तक की यात्रा पूरी करता है। काव्य रस के शास्त्रीय अर्थ में रस का प्रयोग वैदिक वाङ्‌मय में नहीं मिलता है। कभी-कभार वाणी के लिए मधु के समान दीखने वाली विशेषण का प्रयोग मिलता है।

इस प्रकार वैदिक युग में ही रस शब्द का प्रयोग वाक्, वाणी या शब्दार्थ के लिए होने लगा था। रामायण, महाभारत काल में आकर नवरस का उल्लेख मिलने लगता है। बाल्मीकि रामायण के बालकांड के चतुर्थ सर्ग में नवरस का स्पष्ट उल्लेख है किंतु डॉ. नगेन्द्र का मत है कि बालकांड का यह अंश जिसमें रस की चर्चा है निश्चय ही प्रक्षिप्त है। 'रस सिद्धांत' में उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि रामायण में रस का प्रयोग जीवन-रस या पेय के साधारण अर्थ में ही मिलता है। महाभारत में भी रस जल, पेय, गंध अथवा सुरा का ही पर्याय है। एक-दो प्रयोग नए हैं जैसे रस का काम और स्नेह के अर्थ में प्रयोग।

महाभारत काल के बाद का समय दर्शन सूत्रों की रचना तथा बौद्ध एवं जैन दर्शनों के आविर्भाव का युग है लेकिन इसी युग में वैयाकरण पाणिनि का 'अष्टाध्यायी' कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' और वात्स्यायन का 'कामसूत्र' लिखा गया। वात्स्यायन ने 'कामसूत्र' में रस शब्द का प्रयोग रति अथवा काम के अर्थ में किया है। निश्चय ही वास्त्यायन के युग में रस शब्द के शास्त्रीय अर्थ का आविर्भाव हुआ। वात्स्यायन के 'कामसूत्र' की रचना ई.पू. चौथी शती के लगभग हुई। 'कामसूत्र' इस युग के पूर्वार्द्ध की रचना है और 'भरतसूत्र' (नाट्यशास्त्र) उत्तरार्द्ध की। भरत के 'नाट्यशास्त्र' में रस की इतने विस्तार और गहराई से चर्चा है कि रस की शास्त्रीय परंपरा को भरत से लगभग दो शताब्दी पहले तक ले जाना आवश्यक है। भरत ने अपने पूर्ववर्ती रस चिंतकों का उल्लेख किया है किंतु उनका कोई ग्रंथ अब उपलब्ध नहीं है।

रस सिद्धांत का प्रतिपादक प्राचीनतम उपलब्ध ग्रंथ भरतमुनि का 'नाट्यशास्त्र' ही है। 'नाट्यशास्त्र' में नाटक के संदर्भ में 'रस' का विस्तार से विवेचन मिलता है। 'नाट्यशास्त्र' के बारे में अधिकांश विद्वानों का मत है कि यह छठी शताब्दी ईसा पूर्व से पहले की रचना नहीं है। भरत ने नाटक को ही साहित्य. का सर्वश्रेष्ठ रूप माना है और कहा है कि नाटक का प्राण है रस। कोई भी नाटक का अंग रस के बिना शक्ति को प्राप्त नहीं कर सकता या रस के बिना कोई अन्य अर्थ प्रवृत्त नहीं हो सकता। नाट्य सिद्धि के लिए भरत ने सूत्रधार तथा प्रेक्षक दोनों की दृष्टि से भाव तथा रस को मुख्य माना है। नाटक के निर्माण करने वाले तत्वों में भरत रस-भावादि को प्रधानता देते हैं। वे कहते हैं नाटक इस समस्त त्रैलोक्य के भावों का अनुकीर्तन करता है। एक जगह उनका कथन है - 'मैंने जिस नाट्य का निर्माण किया है वह नाना प्रकार के भावों से समन्वित है। इसमें विविध प्रकार की अवस्थाएँ हैं और यह लोक चरित का अनुकरण करता है।' नाट्य के चार प्रमुख अंग हैं - (1) वस्तु तत्व (2) अभिनय (3) संगीत; और (4) रस। पहले तीनों अंगों का नियंता रस है।

भरत के उपरांत रस-सिद्धांत अधिक लोकप्रिय नहीं रहा। आगे आने वाले आचार्यों ने अलंकार और रीति को काव्य की आत्मा घोषित किया। रस-सिद्धांत के पहले विरोधी आचार्य भामह थे। उन्होंने रस का अलंकार में अंतर्भाव कर लिया। दंडी ने भी रस को अलंकारों के अंतर्गत स्थान दिया। रीतिवादी आचार्य वामन ने रस को कांतिगुण का मूल तत्व मानते हुए उसकी प्रतिष्ठा को थोड़ा बढ़ाया। भामह से लेकर रूद्रट तक अलंकार और रीति की प्रधानता रही और रस का स्थान गौण रहा।

लेकिन उस समय के दोनों प्रसिद्ध कवियों - कालिदास और भवभूति ने अपने समकालीन आलोचकों का विरोध करते हुए रस की प्रतिष्ठा की। कालिदास ने अपनो नाटक 'मालविकाग्निमित्र' में 'त्रैगुण्योद्भवमत्रलोकचरितम् नाना रसम् दृश्यते' कहकर.रस की प्रतिष्ठा की। भवभूति ने करूण रस को ही एक मात्र रस घोषित किया। पीछे से आनंदवर्धन ने ध्वनि सिद्धांत का प्रतिपादन किया। उन्होंने ध्वनि को काव्य की आत्मा मानते हुए रस सिद्धांत को असीम विस्तार प्रदान कर दिया। इस प्रकार ध्वनि को रस का विरोधी न मानकर उसका व्यापक रूप मानना ही उचित है। 'ध्वन्यालोक' (आनंदवर्धन) के उपरांत अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोकलोचन की रचना की और रस संबंधी अनेक भ्रांतियों का निराकरण करते हुए रस की प्रतिष्ठा की। परवर्ती आचार्यों में भोजराज के 'शृंगार प्रकाश' मम्मट के 'काव्य प्रकाश' और विश्वनाथ के 'साहित्य दर्पण' का नाम रस-सिद्धांत की परंपरा में विशेष उल्लेखनीय है। विश्वनाथ ने सत्वोद्रेक को रस का हेतु बताया और रस को अखंड, लोकोत्तर, चमत्कारप्राण कहा।

रस चिंतन की यही परंपरा हिंदी साहित्य को प्राप्त हुई। हिंदी में रस चिंतन को आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने 'रस मीमांसा' और डॉ. नगेन्द्र ने 'रस-सिद्धांत' में विशेष रूप से व्याख्यायित-विश्लेषित किया। छायावाद युग तक रस सिद्धांत की चर्चा निर्भ्रांत होती रही। छायावादोत्तर युग में उसका विरोध हुआ विशेषकर नयी कविता के युग में कहा गया कि रस का संबंध चित्त की विश्रांति और अद्वंद्व से है जबकि नयी कविता का आधार है द्वंद्व, तनाव, संघर्ष तथा विक्षोभ। इस प्रकार नयी कविता युग में रस को काव्य के प्रतिमान के रूप अस्वीकार कर दिया गया।

7.3 रस की परिभाषा

रस की व्याख्या करने वाला भरत मुनि का यह प्रसिद्ध सूत्र है - '**विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रस-निष्पत्ति**'। अर्थात् विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी (संचारी भाव) के साथ जब स्थायी भाव का संयोग होता है तब रस की निष्पत्ति होती है। स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव, संचारी भाव - ये चारों रस के अंग कहलाते हैं (इनकी विस्तृत चर्चा के लिए देखिए इकाई-5)। भरत ने अपने रस संबंधी मंतव्य को इस प्रकार स्पष्ट किया है -

> **जिस प्रकार नाना प्रकार के व्यंजनों, औषधियों तथा द्रव्यों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है, जिस प्रकार गुड़ादि द्रव्यों, व्यंजनों और ओषधियों से 'षाडवादि' रस बनते हैं उसी प्रकार विविध भावों से संयुक्त होकर स्थायी भाव भी रस रूप को प्राप्त होते हैं।**

यहाँ यह सहज प्रश्न उठता है कि रस कौन सा पदार्थ है अथवा रस को रस क्यों कहा जाता है? इसका उत्तर है जो आस्वाद्य हो वह रस है। जिस प्रकार नाना प्रकार के व्यंजनों से पके हुए अन्न का उपभोग करते हुए 'सुमनस व्यक्ति' (स्वस्थ चित्त वाले व्यक्ति) रसों का आस्वादन करते हैं उसी प्रकार प्रेक्षक (नाटक के दर्शक) विविध भावों एवं अभिनयों द्वारा व्यंजित - आंगिक, वाचिक, सात्विक, आहार्य अभिनयों से संयुक्त - स्थायी भावों का आस्वादन करते हैं और हर्षादि प्राप्त करते हैं। इस प्रकार भरत रस की लौकिक संदर्भों में व्याख्या करते हैं। उनके कथन का सारांश है -

(1) रस अनुभूति का विषय है

(2) विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव से संयुक्त एवं विविध अभिनयों द्वारा व्यंजित स्थायी भाव ही रस या नाट्य रस में परिणत हो जाता है।

(3) स्थायी भाव रस नहीं है किंतु रस का आधार है क्योंकि नाट्य सामग्री से संयुक्त होकर वही रस बन जाता है। उदाहरण के लिए रति स्थायी भाव अपने मूल रूप में शृंगार रस नहीं है परंतु नायक नायिका के सुख-दुख आदि के प्रसंग में विविध अभिनयों के द्वारा जब वह रंगमंच पर प्रस्तुत किया जाता है तो शृंगार रस के रूप में परिणत हो जाता है।

(4) यहाँ स्थायी भाव से अभिप्राय कवि या सहृदय के स्थायी भाव का न होकर नायक के स्थायी भाव का है क्योंकि नायक ही लोक का प्रतिनिधि है।

(5) रस कला का आस्वाद नहीं है कलात्मक स्थिति है।

(6) सहृदय इसका आस्वादन करता है और उसका आस्वादन हर्षादि रूप ही होता है। हर्षादि के दो अर्थ किए जाते हैं - एक तो यह कि रसास्वाद केवल आनंदमय ही नहीं होता। विभिन्न स्थायी भावों के अनुसार विभिन्न प्रकार का होता है। दूसरा यह कि भरत ने कटु अनुभूतियों की व्यंजना की ओर संकेत नहीं किया रामचंद्र गुणचंद्र ने रस को सुख-दुख रूप माना है।

इस प्रकार भरत के अनुसार नाना भावों से संपन्न स्थायी भाव ही रस है। इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि नाट्य सौंदर्य और काव्य सौंदर्य के माध्यम से स्थायी भाव की उपस्थिति ही रस है। भरत सूत्र के अन्य व्याख्याकार आचार्यों ने, प्रमुख रूप से अभिनवगुप्त ने शैवाद्वैत सिद्धांत के आधार पर कहा कि रस का अर्थ है आनंद और यह आनंद विषयगत न होकर आत्मगत ही होता है। विषय तो आत्मास्वाद का माध्यम मात्र है जिसके द्वारा प्रेक्षक या सामाजिक या सहृदय 'संविद विश्रांति' को प्राप्त होता है। इस दृष्टि में रस के आनंद से इतर रूप की कल्पना नहीं है। संस्कृत काव्यशास्त्र में रस का सामान्य अर्थ है काव्य-सौंदर्य। इस प्रकार रस के तीन अर्थ हुए - (1) रस भाव की कलात्मक अभिव्यंजना है (2) रस भावमूलक काव्य सौंदर्य की अनुभूति है (3) पूरा काव्य सौंदर्य सामान्य अर्थ मे रस ही है।

प्रश्न उठता है कि रस एक आनंदमयी चेतना तो है परंतु यह जाग्रत किस में होती है और किस प्रकार होती है। आनंदमयी चेतना और अन्य प्रकार की चेतना में क्या अंतर है। रस का स्वरूप क्या है? अतः यहाँ सर्वप्रथम रस के स्वरूप पर विचार करना अपेक्षित है।

7.4 रस का स्वरूप

संस्कृत आचार्यों ने रस की जिन विशेषताओं का समय-समय पर उल्लेख किया है रस विषयक उन सभी विशेषताओं का सारांश आचार्य विश्वनाथ (14वीं शताब्दी) ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है -

सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्द चिन्मयः।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः।
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः।
स्वकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः। (साहित्यदर्पण)

यहाँ सत्वोद्रेक रस का हेतु या कारण है तथा अखंड स्वप्रकाशानंद चिन्मय आदि पदों के द्वारा रस के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। संस्कृत रसशास्त्र में रस के प्रधान लक्षण इस प्रकार हैं -

(1) जिसका आस्वादन हो वह रस है ('रस्यते इति रसः' या 'आस्वाद्यते इति रसः')। रस सहृदय संवेद्य है अर्थात् सहृदय ही रस का आस्वादन करता है।

(2) अनिवार्यतः यह आस्वाद आनंदमय है और इस आनंद की तीन विशेषताएँ हैं अखंडता चिन्मयता और वेद्यांतर स्पर्शशून्यता। 'अखंड' का यहाँ अर्थ है विभाव, अनुभाव, स्थायी भाव, संचारी भाव आदि की खंड-खंड चेतना नहीं होती सभी की अखंड चेतना होती है। दूसरी विशेष बात यह कि उस समय किसी अन्य विषय की चेतना नहीं होती यही 'वेद्यांतरस्पर्शशून्य' अनुभूति है। 'चिन्मय' का अर्थ है यह अनुभूति बुद्धि मृण्मय न होकर विलक्षण आनंद की अनुभूति होती है।

(3) रस का आविर्भाव सत्व के उद्रेक होने पर ही होता है। रजोगुण और तमोगुण से रहित अंतःकरण को सत्व कहते हैं। सामान्य शब्दावली में कह सकते हैं - सांसारिक रागद्वेष से मुक्त चित्त की विशदता ही सतोगुण की स्थिति। यह आस्वाद ऐंद्रिय चेतना से भिन्न होने के कारण अत्यंत परिष्कृत कोटि का या उदात्त कोटि का होता है।

(4) रसानुभव अन्य ज्ञान के अनुभव से रहित है। रस पूर्ण तन्मयता की स्थिति है। आज के संदर्भ में इसका अर्थ हुआ रस की स्थिति में सहृदय स्व-पर की भावना से मुक्त हो जाता है देशकाल के बंधन से ऊपर उठ जाता है और स्थिति या प्रसंग से पूर्ण तादात्म्य का अनुभव करता है। यही स्थिति साधारणीकरण कहलाती है।

(5) रस स्वप्रकाशानंद है और चिन्मय भी, अर्थात् रसानुभूति आत्म-चैतन्य से प्रकाशित आनंदमयी चेतना है। इस आनंदमयी चेतना में मृण्मय अर्थात् घोर ऐंद्रिय अनुभूति का अभाव रहता है और

चैतन्य आत्मास्वाद का योग। इस तरह रस ऐंद्रिय सुख की अनुभूति मात्र नहीं है वह एक प्रकार का परिष्कृत आनंद है।

(6) रस 'लोकोत्तर चमत्कार प्राण' है। रस ऐसी चेतना है जिसमें ज्ञाता की चेतना विलीन हो जाती है। यह एक अलौकिक, अनिर्वचनीय स्थिति है। आधुनिक शब्दावली में अलौकिक काफी विवादास्पद शब्द है और अलौकिक को लेकर ही आधुनिक विचारकों ने रस सिद्धांत पर आक्षेप किए हैं। उनका कहना है कि काव्य लोक की वस्तु है लौकिक अनुभवों पर आधारित होती है। ऐसी स्थिति के कारण उसके आस्वाद को अलौकिक कहना कहाँ तक उचित है। लौकिक का अर्थ न अतींद्रिय है, न अतिप्राकृतिक, न आध्यात्मिक। अलौकिक अनुभूति का अर्थ है - ऐसी अनुभूति जो मात्र लौकिक न होकर लोकोत्तर हो, अर्थात् परिष्कृत अनुभूति।

(7) रस ब्रह्मास्वाद सहोदर है। सहोदर का अर्थ है सगाभाई अर्थात् रस ब्रह्मास्वाद (ईश्वरीय आनंद) का सगाभाई या ब्रह्मास्वाद के समान है। ब्रह्मास्वाद सहोदर का दूसरा विशिष्ट अर्थ हैं - रस विषयानंद से भिन्न चिन्मय अनुभव है। रस शुद्ध आत्मानंद या ब्रह्मास्वाद नहीं है क्योंकि ब्रह्मास्वाद स्थायी होता है, रस अस्थायी स्थिति है। इसके अलावा रस लौकिक स्थितियों का पूरी तरह लोप नहीं होता। मूल बात यह कि काव्यानंद और ब्रह्मास्वाद में बुनियादी अंतर है यह अंतर प्रकृति का नहीं गुण का है। अपने मूल में काव्यानंद और ब्रह्मास्वाद दोनों आत्मानंद के ही भेद हैं। सारांश यह है कि रस काव्य का आस्वाद है और यह आस्वाद एक प्रकार की आनंद चेतना है। आत्म-चेतना का अर्थ है आत्म साक्षात्कार का आनंद।

संस्कृत काव्यशास्त्र में रस के स्वरूप विषयक चर्चा पर पुनर्विचार करते हुए डॉ. नगेन्द्र ने रस के स्वरूप के विषय में तीन प्रश्न उठाए हैं और उनके समाधान का प्रयास किया है - (1) भावानुभूति और रसानुभूति का क्या संबंध है? (2) क्या रसानुभूति अनिवार्यतः आनंदमयी चेतना है? (3) यदि है तो इस आनंद का स्वरूप क्या है?

डॉ. नगेन्द्र के मत से प्रथम प्रश्न का उत्तर है रसानुभूति भावानुभूति से भिन्न है। भावानुभूति में व्यक्तिगत रागद्वेष का संसर्ग बना रहता है किंतु रसानुभूति व्यक्तिगत रागद्वेष के संसर्ग से मुक्त होती है। इस अनुभूति को ही आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'कविता क्या है' निबंध में 'हृदय की मुक्तावस्था' कहा है। दूसरे प्रश्न का उत्तर है कि रस अनिवार्यतः आनंदमय होता है। इस विषय में मतभेद है शृंगार, वीर, हास्य और शांत का आस्वाद तो आनंदमय होता है किंतु करूण, भयानक, वीभत्स का आस्वाद भी आनंदमय होता है यह विवाद का विषय है। तीसरे प्रश्न का उत्तर है रस में 'हर्षादि' पद के आधार पर विद्वान यह कहते हैं कि रस का आस्वाद केवल आनंद रूप नहीं है स्थायी भाव के आस्वाद के आधार पर वह विपरीत भी हो सकता है। जैन आचार्य रामचन्द्र, गुणचन्द्र ने स्पष्ट कहा है कि रस सुखात्मक तथा दुःखात्मक दोनों प्रकार के होते हैं। रौद्र, वीभत्स, करूण और भयानक यह चार उनके मत से दुःखात्मक रस हैं। संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास में 'रस अनिवार्यतः आनंदमयी चेतना है' का इतना स्पष्ट विरोध रामचन्द्र गुणचन्द्र करते हैं। (रस-सिद्धांत)

संस्कृत काव्यशास्त्र की परंपरा ही आधुनिक भारतीय भाषाओं में आती है। जयशंकर प्रसाद 'काव्य और कला तथा अन्य निबंध' नामक पुस्तक में रस को आनंदमयी चेतना मानते हैं। आचार्य केशव प्रसाद मिश्र, बाबू श्यामसुंदर दास, बाबू गुलाबराय, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी सभी रस को आनंद स्वरूप ही मानते हैं किंतु इस परंपरा में रामचन्द्र शुक्ल एक ऐसे आचार्य हैं जो रस के समर्थ पोषक होते हुए भी रस की आनंदरूपता का स्पष्ट विरोध करते हैं - 'मेरी समझ में रसास्वादन का प्रकृत स्वरूप 'आनंद' शब्द से व्यक्त नहीं होता। 'लोकोत्तर', 'अनिर्वचनीय' आदि विशेषणों से न तो उसके अवाचकत्व का परिहार होता है न प्रयोग का प्रायश्चित। क्या क्रोध, शोक, जुगुप्सा आदि आनंद का रूप धारण करके ही श्रोता के हृदय में प्रगट होते हैं? अपने प्रकृत रूप का सर्वथा विसर्जन कर देते हैं? उसे कुछ भी लगा नहीं रहने देते? क्या 'विभावत्व' उनका स्वरूप हर कर उन्हें एक ही स्वरूप-सुख का दे देता है? क्या मृत पुत्र के लिए विलाप करती हुई शैव्या से राजा हरिश्चन्द्र का कफन माँगना देख सुनकर आँसू नहीं आ जाते, दाँत निकल पड़ते हैं? क्या महमूद के अत्याचारों का वर्णन पढ़कर यह जी में नहीं आता कि वह सामने आता तो उसे कच्चा खा जाते? क्या कोई दुःखांत कथा पढ़कर बहुत देर तक उसकी खिन्नता नहीं बनी रहती? चित्त का यह द्रुत होना क्या आनंदगत है? इस 'आनंद' शब्द ने काव्य के महत्व को बहुत कुछ कम कर दिया है। उसे नाच तमाशे की तरह बना दिया है।' ('रस मीमांसा', पृ. 101) इस प्रकार आचार्य शुक्ल के मत से रस आनंद स्वरूप नहीं है।

हिंदी काव्यशास्त्र में डॉ. नगेन्द्र ने 'रस सिद्धांत' नामक पुस्तक में रसानंद के स्वरूप का प्रतिपादन किया है। उन्होंने 'रीतिकाव्य की भूमिका' में लिखा है -'वास्तव में संवेदना न अपने आप में कटु है और न मधुर। कटुता और मधुरता तो अनुभूति का गुण है। अनुभूति में एक पृथक संवेदन नहीं होता, संवेदनों का एक विधान होता है। जब संवेदनों में सामंजस्य और अन्विति स्थापित हो जाती है तो हमारी अनुभूति मधुर होती है, और जब ये विश्रृंखल और विकीर्ण होते हैं तो अनुभूति कटु होती है। काव्य से प्राप्त संवेदन प्रत्यक्ष न होकर सूक्ष्म बिंब-रूप होते हैं। एक तो इसी कारण उनकी कटुता अत्यंत क्षीण हो जाती है। दूसरे वे कवि द्वारा भावित होते हैं इसलिए अनिवार्यतः उनमें सामंजस्य स्थापित हो जाता है क्योंकि काव्य के भावन का अर्थ ही अव्यवस्था में व्यवस्था स्थापित करना है और अव्यवस्था में व्यवस्था ही आनंद है। इस प्रकार जीवन के कटु अनुभव भी काव्य में अपने तत्व रूप में संवेदन के समन्वित हो जाने से आनंदप्रद बन जाते हैं।'

इस प्रकार रस न सुखात्मक है न दुःखात्मक। रसदशा ह्दय की मुक्तावस्था का नाम है जिसमें वैयक्तिक रागद्वेष का सर्वथा शमन हो जाता है। रस सरल अनुभूति नहीं है। उसमें अनेक परस्पर विरोधी अंतर्वृत्तियों का घुलन-मिलन-संतुलन रहता है। अतः वह जीवन का वैविध्यपूर्ण अनुभव है।

7.5 करुण रस का आस्वाद

रस अनिवार्यतः आनंदरूप होता है अथवा दुःखात्मक अनुभव है यह प्रश्न स्वभावतः सामने आता रहा है। भारतीय काव्यशास्त्र का अत्यंत महत्वपूर्ण प्रश्न है करूणादि रसों का आस्वाद आनंदप्रद कैसे हो सकता है? यह सच है कि यह प्रश्न भारतीय आचार्यों के लिए अधिक विवाद का विषय नहीं रहा फिर भी इसके विषय में वे अपने ढंग से सजग अवश्य रहे हैं। काव्य रस अलौकिक या लोकोत्तर होता है अतः लौकिक कार्यकारण संबंध उसके लिए अनिवार्य नहीं है। दुःख से दुःख की उत्पत्ति तो लौकिक नियम है, किंतु कवि प्रतिभा के स्पर्श से काव्य में दुःख से सुख की उत्पत्ति सहज संभव है। प्रतिभा का यही चमत्कार अलौकिकता है। आचार्य पंडितराज जगन्नाथ ने कहा है - 'यह अलौकिक व्यापार (व्यंजना) की महिमा है उसके द्वारा अभिव्यक्त अरमणीय शोकादि पदार्थ भी अलौकिक आनंद को उत्पन्न करने लगते हैं।' (रस गंगाधर)।

रस की अलौकिकता का अर्थ ही है लौकिक संबंध भावना से मुक्त हो जाना। देश-विदेश में काव्य को दैवी प्रेरणा या दैवी शक्तियों से विभूषित माना जाता रहा है। काव्यगत प्रतिभा सामान्य मानव प्रतिभा से अलग है इसलिए काव्यगत स्थायी भाव का अनुभव लौकिक शोक के अनुभव से भिन्न है।

लेकिन संस्कृत काव्यशास्त्र में भट्टनायक जैसे आचार्य भी हैं जो यह तर्क उपस्थित करते रहे हैं कि यदि रस की सामाजिक द्वारा प्रतीति मानी जाए तो करूण रस में दुःख की अनुभूति स्वीकार करनी होगी। काव्य में भावकत्व का अर्थ है शब्दार्थ को दोषमुक्त तथा गुणालंकार युक्त करने वाला व्यापार अर्थात काव्य कौशल। यह व्यापार अभिधा द्वारा वाच्यार्थ का बोध हो जाने के उपरांत आरंभ होता है। इसके दो कार्य हैं - (1) पाठक की चेतना को निविड़ निज मोह संकट से मुक्त करना (2) विभावादि का साधारणीकरण करना। काव्यास्वादन के समय पाठक लोकानुभव की भाँति शोकादि स्थायी भावों की दुःखमय प्रतीति नहीं करता। अतः करुण रस का आस्वाद दुःखमय नहीं होता। रस की न तो उत्पत्ति या प्रतीति होती है और न लौकिक भोग। रस तो एक प्रकार का आत्मास्वाद है और इस आत्मास्वाद में सुख या दुःख का प्रवेश नहीं है क्योंकि आत्मा आनंद रूप है अतः करुण रस में व्यक्तिबद्ध शोक की प्रतीति नहीं होती अपितु साधारणीकृत आत्मा का सहज आनंद रूप मिलता है। रसवादियों में एक तर्क शारदातनय का है जो यह मानते हैं कि यह संसार दुःख मोहादि से कलुषित है और जीवात्मा अपने राग, विद्या और कला, इन तीन तत्वों के द्वारा उसका भोग करता है।

इनमें राग सुखत्व का अभिमान है, विद्या के द्वारा अविद्या से आच्छन्न (ढके हुए) चैतन्य का ज्ञान अभिव्यक्त होता है और कला आत्मा को प्रदीप्त करने वाला कारण है। इसी न्याय से प्रेक्षक शोक, भय, ज्ञान आदि से निष्पन्न करूण, भयानक वीभत्स आदि रसों का अपने आत्मस्थ तीन तत्वों - राग, विद्या या कला के द्वारा चर्वण या भोग करता है।

मूल अर्थ यह है कि काव्य का शोक व्यक्तिगत न रहकर साधारणीकृत हो जाता है। 'उत्तर रामचरितम्' में राम की उदात्त कर्त्तव्य भावना उनके व्यक्तिगत दुख को विशेष गरिमा से मंडित कर देती है। यहाँ

पाठक या प्रेक्षक जीवन के गहनतर अर्थों का साक्षात्कार करता है। इस प्रकार जीवन के कटु अनुभव अपने आधारभूत संवेदनों के समन्वित हो जाने से आनंद की ही अनुभूति कराते हैं। पश्चिम में अरस्तू के विरेचन सिद्धांत पर भी विद्वानों ने निरंतर बहस की है और अंत में यह निष्कर्ष निकाला है कि त्रासदी का अनुभव भी अंततः आनंद में परिणत हो जाता है।

7.6 रस की निष्पत्ति

भरतमुनि के प्रसिद्ध सूत्र 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्ति' में 'निष्पत्ति' **शब्द का शब्दार्थ है - प्रकाशन, उत्पत्ति अथवा परिपक्वता।** भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य की सौंदयानुभूति के समकक्ष रस निष्पत्ति शब्द को स्वीकृति मिली है। वस्तुतः काव्यानुभूति, काव्यानंद आदि शब्द एक प्रकार से रस-निष्पत्ति के ही समानार्थी है। भरत के सूत्र में निष्पत्ति और संयोग प्रमुख शब्द रहे हैं और परवर्ती आचार्यों ने इन शब्दों की व्याख्या अपने-अपने मत के अनुसार की है। भरत के शब्दों में विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। भरत ने छह प्रकार के विभिन्न स्वादों वाली वस्तुओं के मेल से बने आपानक से इसकी तुलना करके समझाने का प्रयत्न किया है और आस्वाद्य होने को कारण इसे रस माना है। आगे चलकर भरत ने स्थायी भाव के आस्वादन को रस निष्पत्ति के रूप में ग्रहण किया। भाव और रस के संबंध पर विचार करके भी वे इसी निष्कर्ष पर पहुँचे कि रस और भाव एक-दूसरे पर आश्रित हैं।

7.6.1 भट्ट लोल्लट का उत्पत्तिवाद या आरोपवाद

भरत सूत्र के आधार पर रस की व्याख्या करने वाले प्रथम आचार्य भट्ट लोल्लट माने जाते हैं। इनके ग्रंथ का पता नहीं लग सका है। केवल 'अभिनवभारती' में अभिनवगुप्त द्वारा प्रस्तुत इनका मत आगे के आचार्यों के लिए तर्क-वितर्क का कारण रहा है। अभिनवभारती के अनुसार भट्ट लोल्लट का मत है -

(1) विभावादि का स्थायी भाव से संयोग होने पर रस निष्पत्ति होती है।

(2) विभाव रस के कारण स्वरूप है। इनके द्वारा स्थायी भाव की उपचित अवस्था का नाम है रस

(3) यह रस मूलतः अनुकार्य अर्थात् राम आदि ऐतिहासिक पात्रों में ही होता है किंतु उनके रूपादि के अनुसंधान से अनुकर्ता नट में भी विद्यमान होता है।

इस प्रकार भट्ट लोल्लट के अनुसार निष्पत्ति का अर्थ उत्पत्ति या पुष्टि है। विद्वानों ने इस सिद्धांत को **'उत्पत्तिवाद'** का नाम दिया है। भट्ट लोल्लट के इस सिद्धांत में संयोग का वही अर्थ है जो भरत ने किया है अर्थात् स्थायीभाव के साथ संयोग उत्पत्ति का अर्थ यहाँ वास्तव में अभाव में भाव की कल्पना है। इस सिद्धांत को **'आरोपवाद'** भी कहते हैं। अभिनवगुप्त द्वारा उद्धृत अर्थ में आरोप का मतलब होगा नट (अभिनेता) का कुछ समय के लिए अपने को रामादि (नाटक का मूल पात्र) समझना। **आरोप** में तादात्म्य बहुत कुछ बाह्य रहता है **'अभिमान'** में आंतरिक हो जाता है। सामाजिक या दर्शक नट में राम का आरोप कर उसमें रामगत रस की प्रतीति कर लेता है। अर्थात नट में अनुकार्य की तुल्यता के अनुसंधान के कारण सामाजिक उन्हीं पर अनुकार्य का आरोप कर लेता है और चमत्कृत होता है। भट्ट लोल्लट ने संयोग को तीन अर्थों में स्वीकार किया -

(1) स्थायी भाव विभाव के साथ उत्पाद्य-उत्पादक संबंध से उत्पन्न होते हैं।

(2) अनुभाव अनुमाप्य-अनुमापक संबंध से उनकी अनुमिति कराते हैं।

(3) संचारी भाव पोष्य-पोषक भाव संबंध से उनकी रस-रूप में पुष्टि करते हैं। इस रस की स्थिति यद्यपि मूल रूप में अनुकार्य में ही होती है पर अभिनेता के कौशलपूर्ण अभिनय के कारण दर्शक उसी पर अनुकार्य का आरोप करता है।

भट्ट लोल्लट सहृदय या सामाजिक के आनंद का निषेध नहीं करते किंतु उनकी धारणा है कि रस का वास्तविक आस्वादन मूल ऐतिहासिक नायक-नायिका ही करते हैं। दर्शक या सामाजिक के हृदय में तो नर-नारी के माध्यम से उनके रस की प्रतीति करके रस उत्पन्न होता है। अर्थात् नायक-नायिका का रस है वास्तविक तथा सामाजिक (दर्शक) का रस है प्रतीति से उत्पन्न रस और इसके माध्यम हैं नट-नटी। सामाजिक नट-नटी में मूल नायक-नायिका का आरोप करके नाटक का आनंद लेता है।

यहाँ पर दो-तीन प्रश्न विचारणीय हैं - (1) नायक-नायिका, उदाहरण के लिए दुष्यंत शकुंतला से क्या आशय है - मूल ऐतिहासिक दुष्यंत शकुंतला या नाटक में वर्णित दुष्यंत शकुंतला (2) नट-नटी का इनसे क्या संबंध है (3) रस की प्रतीति से सामाजिक के हृदय में रस कैसे उत्पन्न होता है?

भट्ट लोल्लट का उत्तर है रस का वास्तविक अनुभव करते हैं मूल नायक-नायिका। प्रश्न उठता है कि नायक-नायिका से आशय क्या है? उस दुष्यंत शकुंतला से जिसे हम 'महाभारत' में पढ़ते हैं या जिसे कालिदास ने उसी रूप में पढ़ा होगा अथवा कालिदास द्वारा प्रस्तुत दुष्यंत शकुंतला से जो महाभारत में प्रस्तुत दुष्यंत शकुंतला से कुछ भिन्न अवश्य हैं। भट्टलोल्लट का आशय निश्चय ही ऐतिहासिक दुष्यंत शकुंतला से है। गहराई में जाएँ तो पता चलता है कि महाभारत के दुष्यंत शकुंतला भी ऐतिहासिक दुष्यंत शकुंतला नहीं है।

भट्ट लोल्लट रस की स्थिति ऐतिहासिक दुष्यंत शकुंतला में ही मानते हैं। प्रेक्षक नट-नटी के अभिनय से उनकी कल्पना कर लेता है और उसे रस की प्राप्ति होती है। एक प्रकार से लोल्लट ने ऐतिहासिक व्यक्तियों में रस की स्थिति मानकर काव्य विषय की महत्ता का प्रतिपादन किया है। लोल्लट के इस मत की सीमा यह है कि वे ऐतिहासिक व्यक्ति और कवि द्वारा अंकित व्यक्तियों का अंतर स्पष्ट नहीं कर सके क्योंकि इसमें कल्पित घटना वाली रचनाओं के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता।

7.6.2 शंकुक का अनुमितिवाद

रस सूत्र की व्याख्या करने वाले दूसरे आचार्य शंकुक (नवीं शताब्दी) हैं जिन्होंने न्याय दर्शन के अनुमान प्रमाणवाद सिद्धांत के आधार पर अनुमितिवाद की स्थापना की। भट्ट लोल्लट का विरोध करते हुए उन्होंने 'निष्पत्ति' का अर्थ 'अनुमिति' किया। अर्थात् उन्होंने कहा कि रस उत्पन्न नहीं होता, अनुमित होता है। रस की मूल स्थिति शंकुक भी ऐतिहासिक नायक-नायिका में ही मानते हैं किंतु प्रेक्षक उसको प्रत्यक्ष देखकर आरोप के द्वारा प्राप्त नहीं करते वरन् अनुमान से प्राप्त करते हैं। शंकुक का कहना है कि दूसरों को रस दशा में देखकर पहले तो दर्शक को रस की प्रतीति ही नहीं हो सकती, यदि कुछ अनुभव होता भी है तो जरूरी नहीं कि वह अनुकूल ही हो, प्रतिकूल न हो। उदाहरण के लिए नायक-नायिका की प्रत्यक्ष शृंगार रसानुभूति सहृदय (दर्शक) में संकोच या ईर्ष्या की भावना जाग्रत कर सकती है दूसरी बात यह कि जिन नायक-नायिका को हमने कभी देखा नहीं उनके रसास्वादन की अनुभूति हम कैसे कर सकते हैं? उत्तर दिया जा सकता है कि कल्पना के द्वारा। किंतु 'शंकुक' का यह समाधान नहीं है। शंकुक ने रस की प्रतीति न मानकर चित्र-तुरंग-न्याय के आधार पर इसका अनुमान ही संभव माना है। शंकुक का सिद्धांत इस प्रकार है -

भरत ने स्थायी भाव और रस में कोई अंतर नहीं माना। स्थायी भाव की मूल अनुभूति तो मूल नायक-नायिका को ही होती है रंगमंच पर नट-नटी सफल अभिनय करते हैं तो प्रेक्षक **चित्र तुरंग न्याय** से उन्हीं को नायक-नायिका समझ लेता है और उनके अभिनय से चमत्कृत होकर मूल भाव का अनुभव करता है जिस प्रकार बच्चा घोड़े के चित्र को देखकर उसे वास्तविक घोड़ा समझ लेता है उसी तरह प्रेक्षक रामादि पात्रों को नट-नटी द्वारा अभिनय देख उन्हें वास्तविक पात्र मान लेता है यह मूल पात्रों की वैसी ही प्रतीति है जैसी बच्चे को घोड़े की प्रतीति होती है। यह अनुमित भाव ही रस है और स्थायी भाव से भिन्न न होकर उसका अनुमित रूप ही है। दर्शनशास्त्र में अनुमान को चित्र-तुरंग-न्याय कहते हैं। शंकुक पर न्यायदर्शन का प्रभाव है।

परवर्ती आचार्यों ने शंकुक के अनुमितिवाद का खंडन यह कहकर किया है कि अनुमान तो वास्तविकता के आधार पर किया जा सकता है कृत्रिम विभावादि के द्वारा इसकी सिद्धि कैसे हो सकती है? शायद शंकुक का ध्यान इस ओर था। उन्होंने अभिनेता के कौशल के सहारे अनुमान की सिद्धि मानी है। साथ ही उन्होंने दूर की उठी हुई धूल को धुँआ समझकर अग्नि के अनुमान की बात कही है। पर रंगमंच के अभिनय को लेकर इस प्रकार के अनुमान की बात नहीं की जा सकती क्योंकि प्रेक्षक पहले ही जानता है कि अभिनय करने वाले पात्र वास्तविक नहीं हैं।

7.6.3 भट्टनायक का भोगवाद

भरत के रससूत्र की व्याख्या करने वाले तीसरे आचार्य भट्टनायक (दसवीं शताब्दी) हैं। इनका सिद्धांत भोगवाद कहलाता है। भट्टनायक ने अपने पूर्ववर्ती सिद्धांतकारों का खंडन करते हुए कहा कि शंकुक ने अनुमान सिद्धांत के द्वारा मूल बात को उलझा दिया है। लोल्लट और शंकुक तथा ध्वनिकार की बात

का खंडन करते हुए उन्होंने कहा कि रस का न तो ज्ञान होता है, न उत्पत्ति, न अभिव्यक्ति। यदि रस दूसरे के भाव के साक्षात्कार अथवा ज्ञान से उत्पन्न होता है तो शोक से शोक की उत्पत्ति होनी चाहिए आनंद की नहीं, और शोक प्राप्त करने के लिए कोई नाटक क्यों देखेगा अथवा काव्य क्यों पढ़ेगा। दूसरी बात यह कि रस यदि, सहृदय के हृदय में ही स्थित है और विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के संयोग से अभिव्यक्त हो जाता है तो प्रश्न उठता है कि नायक का व्यक्तिगत भाव प्रेक्षक के वैसे ही व्यक्तिगत भाव को कैसे अभिव्यक्त कर सकता है।

भट्टनायक ने रस की स्थिति न तो नायक-नायिका में मानी और न नट-नटी में। रस की स्थिति उन्होंने सीधे सहृदय में मानी। उनके अनुसार काव्य में तीन शक्तियाँ रहती हैं - (1) अभिधा (2) भावकत्व और (3) भोजकत्व। अभिधा वह शक्ति है जिसके द्वारा पाठक या दर्शक काव्य के शब्दार्थ को ग्रहण करता है। दूसरी शक्ति है भावकत्व जिसके द्वारा उसे उस अर्थ का भावन होता है। भाव का भावन होने पर भाव की वैयक्तिकता का नाश होकर **साधारणीकरण** हो जाता है और भाव विशिष्ट न रहकर साधारण बन जाता है। उदाहरण के लिए दुष्यंत की शंकुतला के प्रति रति पाठक के लिए स्त्री पुरुष मात्र की रति रह जाती है। प्रेक्षक के हृदय में सहज साधारण भाव का अर्थ है - रजोगुण, तमोगुण का लोप होकर सतोगुण का आविर्भाव हो जाता है और पाठक भाव का भोग करता है। भाव का भोग या भोजकत्व व्यापार ही रस है। इस प्रकार रस की अभिव्यक्ति नहीं भोग या भुक्ति होती है। इसीलिए इस सिद्धांत को भोगवाद कहते हैं।

यहाँ भट्टनायक ने भारतीय काव्यशास्त्र के अति महत्वपूर्ण सिद्धांत - साधारणीकरण सिद्धांत - को जन्म दिया। भट्टनायक के मत से 'निष्पत्ति' का अर्थ हुआ भावित होना। विभावादि के साथ संयोग होने से स्थायी भाव भावित होकर रस रूप में परिणत हो जाता है यही रस की निष्पत्ति है। विभावादि भावन क्रिया के कारक हैं और स्थायी भाव भाव्य। अतः 'संयोग' का अर्थ हुआ भावक-भाव्य संबंध। इस प्रकार रस का स्थान है सहृदय का चित्त। डॉ. नगेन्द्र का कहना है - 'कतिपय विद्वानों का मत है कि भट्टनायक रस की स्थिति शब्दार्थ में मानते हैं। आरंभ में हमारी भी यही धारणा थी किंतु इसमें अधिक सार नहीं है। अभिनवभारती आदि में उद्धृत भट्टनायक के मंतव्य के विश्लेषण तथा अभिनव द्वारा उसके खंडन से इस मत का निश्चित निराकरण हो जाता है' (रस सिद्धांत)।

भट्टनायक के मत का मूल्यांकन : भट्टनायक के इस मत की शक्ति यह है कि उन्होंने पहली बार इस दिशा में सफल प्रयत्न किया कि काव्यानंद आत्मा में विश्रांति का नाम है। यह विश्रांति सत्वगुण के उद्रेक की अवस्था में होती है। अभिनवगुप्त के विचार से भट्टनायक के मत की सीमा यह है कि वे रस और रसभोग का अंतर स्पष्ट नहीं कर सके। दूसरा यह कि प्रतीति और भुक्ति का भेद मिथ्या है। भुक्ति भी प्रतीति ही है। अतः रस-प्रतीति का खंडन कर रस-भुक्ति की स्थापना संगत नहीं है। तीसरा यह कि भट्टनायक द्वारा प्रस्तुत भोग के स्वरूप की व्याख्या तात्विक नहीं है। अभिनवगुप्त ने कहा कि अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व तीनों की चर्चा ही रस निष्पत्ति के संदर्भ में अप्रासंगिक है।

7.6.4 अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद

भरत रस सूत्र के चौथे व्याख्याता हैं अभिनवगुप्त (दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी)। वस्तुतः इनकी 'नाट्य-शास्त्र' पर **'अभिनवभारती'** नामक और 'ध्वन्यालोक' पर **'लोचन'** नामक टीकाओं के आधार पर ही रस सिद्धांत के अन्य आचार्यों के मतों की स्थापना भी की जा सकी है। अभिनवगुप्त का सिद्धांत अभिव्यक्तिवाद के नाम से प्रसिद्ध है जो प्रायः शैव दर्शन पर आधारित माना जाता है। अभिनव ने भट्टनायक के भोगवाद की आलोचना करते हुए कहा कि उन्होंने तीन शक्तियों की कल्पना व्यर्थ की क्योंकि काव्य में यह कार्य लक्षणा तथा व्यंजना से संपादित हो जाता है। जिस प्रकार धरती में बीज पड़े रहते हैं और अनुकूल स्थिति पाने पर अंकुरित हो जाते हैं उसी प्रकार सहृदय के मन में स्थायी भाव रूपी बीज पड़े रहते हैं जो अनुकूल परिस्थिति पाने पर अभिव्यक्त हो जाते हैं। सहृदय के मन में रति, शोक, निर्वेद आदि स्थायी भाव बीज की तरह पड़े रहते हैं नाटक या कविता देखने या पढ़ने से काव्य-प्रतिपादन के आधार पर अनुकूल परिस्थिति पाकर सहृदय का स्थायी भाव अभिव्यक्त हो जाता है यही अभिव्यक्तिवाद है। अभिनवगुप्त के मत का सारांश इस प्रकार है -

(1) निर्विघ्न प्रतीति से ग्राह्य भाव ही रस है अर्थात नाटक अथवा काव्य के उपकरणों द्वारा साधारणीकृत होकर - व्यक्तिगत रागद्वेष आदि की चेतना से मुक्त होकर रति आदि भाव सुखमय प्रतीति के विषय बन जाते हैं। यह सुखमय प्रतीति ही रस है।

(2) रस की प्रतीति तो सहृदय की आत्मा ही करती है किंतु यह प्रतीति वैयक्तिक न होकर निर्वैयक्तिक होती है।

(3) साधारणीकरण व्यष्टि के धरातल पर ही न होकर समष्टि के धरातल पर भी होता है।

(4) स्थायी भाव प्रत्येक सहृदय के चित्त में संस्कार रूप से विद्यमान रहते हैं। संस्कार रूप होने के कारण वे समान भी होते हैं।

(5) काव्यात्मक शब्द से सहृदय व्यक्ति को सामान्य अर्थबोध से अधिक प्रतीति होती है।

(6) भोजकत्व की शक्ति तो शब्दार्थ में मानी ही नहीं जा सकती वह तो चित्त की क्रिया है। शब्दार्थ इस क्रिया का प्रेरक मात्र और यह शक्ति उसे व्यंजना से प्राप्त होती है। अतः निष्पत्ति का अर्थ हुआ **अभिव्यक्ति** और संयोग का अर्थ हुआ **व्यंग्य-व्यंजक** संबंध।

7.6.5 अभिनवगुप्त के मत का महत्व

भारतीय काव्यशास्त्र में व्यापक समर्थन अभिनवगुप्त के मत को ही मिला। निस्संदेह ही उनका विवेचन अत्यंत प्रौढ़ एवं पुष्ट है। अभिनवगुप्त ने ही सर्वप्रथम रस के सहृदयनिष्ठ रूप की प्रतिष्ठा की। रसास्वाद आनंदमय ही होता है यह स्थापना तो भट्टनायक ने की थी किंतु अभिनवगुप्त ने उसे शैव आनंदवाद का आधार प्रदान कर सर्वथा प्रामाणिक सिद्ध कर दिया। परिणामतः निरानंदवादी जैन आचार्यों ने जितने भी विकल्प प्रस्तुत किए थे वे सब निरर्थक सिद्ध हो गए। अभिनवगुप्त के रस विवेचन की सबसे बड़ी शक्ति है समष्टिगत रस की कल्पना।

अभिनवगुप्त के परवर्ती आचार्यों में महिम भट्ट ने व्यंजनावृत्ति का निषेध किया किंतु महिमभट्ट अभिनवगुप्त की प्रतिभा के सामने टिक नहीं सके। पीछे से मम्मट (13वीं-14वीं शताब्दी) और पंडितराज जगन्नाथ (सत्रहवीं शताब्दी) ने रस प्रसंग में विस्तार से चर्चा की। पंडितराज ने 'रसगंगाधर' नामक ग्रंथ के प्रथम आनन में रस विषयक ग्यारह मतों का उल्लेख एवं विवेचन किया। विशेष बात यह है कि पंडितराज में अभिनवगुप्त के प्रति पूर्ण आस्था है।

पंडितराज के बाद रस चिंतन की परंपरा हिंदी के रीतियुगीन आचार्यों के हाथ में पड़ गई और वे लंबे समय तक उसका वर्णन विवेचन करते रहे किंतु रीतिकालीन आचार्य रस या निष्पत्ति के क्षेत्र में कुछ नया योगदान नहीं दे सके। आधुनिक युग में आकर मराठी और हिंदी में प्राचीन काव्यशास्त्रीय सिद्धांतों के पुनर्विचार का श्रीगणेश हुआ। आधुनिक हिंदी के विचारकों में भारतेंदु, हरिऔध, महावीर प्रसाद द्विवेदी, बाबू श्यामसुंदरदास, केशवप्रसाद मिश्र, रामदहिन मिश्र, रामचंद्र शुक्ल, बाबू गुलाबराय, जयशंकर प्रसाद, हजारी प्रसाद द्विवेदी, नंददुलारे वाजपेयी, डॉ. नगेन्द्र, डॉ. निर्मला जैन आदि ने रस सिद्धांत की विवेचना की है और अपने-अपने ढंग से महत्व भी प्रदान किया है। हिंदी के ज्यादातर विद्वानों पर भरत और अभिनवगुप्त के रस संबंधी चिंतन का गहरा प्रभाव है, पर साधारणीकरण की स्थिति के संबंध में मौलिक ढंग से सोचने का प्रयत्न किया गया है आचार्य शुक्ल ने इस विषय पर 'साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद' निबंध में विचार किया। आचार्य शुक्ल का दृष्टिकोण लोकमंगल पर आधारित रहा है। उनके रस संबंधी चिंतन के ग्रंथ 'रस-मीमांसा' में भी यही दृष्टि सक्रिय है। आचार्य शुक्ल ने मनोविज्ञान के परिप्रेक्ष्य में रस की नवीन व्याख्या की और लोक हृदय में अपने हृदय को मिला देना ही रस दशा स्वीकार किया। आचार्य शुक्ल के समय में ही जयशंकर प्रसाद ने 'काव्य और कला तथा अन्य निबंध' में रस की अभिनवगुप्तीय व्याख्याओं का नए ढंग से प्रतिपादन किया। तत्पश्चात् रस संबंधी चिंतन को डॉ. नगेन्द्र ने 'रस-सिद्धांत' बाबू गुलाब राय ने 'सिद्धांत और अध्ययन', डॉ. निर्मला जैन ने 'रस-सिद्धांत और सौंदर्यशास्त्र' डॉ. रमेश कुंतल मेघ ने 'मध्ययुगीन रस दर्शन और सौंदर्यदृष्टि जैसी महत्वपूर्ण पुस्तकों में विस्तार से प्रस्तुत किया। आचार्य शुक्ल की व्याख्याओं को डॉ. नगेन्द्र ने 'रस-सिद्धांत' में आगे बढ़ाया और डॉ. निर्मला जैन ने भारतीय रस सिद्धांत और पश्चिमी सौंदर्यशास्त्र का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए रस का आधुनिक दृष्टि से विश्लेषण विवेचन किया। डॉ.नगेन्द्र के 'रस सिद्धांत' की स्थापनाओं को लेकर हिंदी की शुक्लोत्तर समीक्षा में नई बहसों का आरंभ हुआ और रचनाकार तथा आलोचक रस-सिद्धांत की शक्ति और सीमाओं पर विचार करेन के लिए विवश हुए।

7.7 रस सिद्धांत की शक्ति और सीमाएँ

रस सिद्धांत में हृदय के राग-तत्व की प्रधानता है और शब्दार्थ के कल्पनात्मक प्रयोग का महत्व भी कम नहीं है। भरत के वस्तुपरक अर्थ में तो उसका महत्व स्पष्ट ही है और भट्टनायक का भावकत्व व्यापार वस्तुतः कला तत्व ही है जिसे अभिनवगुप्त ने साधारणीकरण व्यापार में स्वीकार किया है। वास्तव में रस कल्पना काव्यास्वाद की एक समग्र दृष्टि से कल्पना है। रस की परिधि में भाव तत्व,

कल्पना तत्व, बुद्धि तत्व और कला तत्व का भी अपने-अपने ढंग से समावेश हुआ है। रसाचार्यो ने रस की परिधि के अंतर्गत भाव, भावाभास, रस, रसाभास आदि का विवेचन किया है और रस के साथ 'काव्य का अधिकारी' या 'सहृदय' की चर्चा भी विस्तार से हुई है। वास्तविक रूप में रस आत्मानंद का नहीं काव्यानंद का पर्याय है। रस सिद्धांत के प्रवर्तक भरत की दृष्टि में रस पदार्थ है - 'रस इति कः पदार्थः'। रस-चिंतन को अभिनवगुप्त ने नया आध्यात्मिक रंग दे दिया जो बाद तक चलता रहा। किंतु हिंदी के आधुनिक काव्यशास्त्र में आचार्य शुक्ल ने अभिनवगुप्त की आध्यात्मिक रस व्याख्याओं को अस्वीकार करते हुए रस की वस्तुपरक व्याख्या की। जयशंकर प्रसाद रस की आत्मवादी व्याख्या करते रहे। किंतु इस व्याख्या से अलग हटकर नगेन्द्र और हजारी प्रसाद द्विवेदी ने रस की छायावाद की सौंदर्य चेतना के परिप्रेक्ष्य में व्याख्यायित किया। हिंदी समीक्षा में रस-सिद्धांत के साथ आभिजात्यवाद, स्वच्छंदतावाद, आदर्शवाद, यथार्थवाद, सौंदर्यशास्त्र आदि का थोड़ा बहुत तुलनात्मक अध्ययन भी शुरू हुआ और ज्यादातर विद्वानों ने रस-चिंतन को स्वच्छंदतावाद और सौंदर्यवाद के अधिक निकट पाया है।

यथार्थवाद और मार्क्सवाद ने शास्त्रीय रस चिंतन के विरोध का स्वर ऊँचा किया और कहा कि प्रगतिवादी साहित्य आनंदवादी मूल्यों पर आधारित न होकर चेतना विकास के नैतिक मूल्यों पर आधारित होता है। मार्क्सवादियों ने रसवादियों की ब्रह्मास्वादसहोदर दृष्टि की खिल्ली उड़ाई लेकिन साधारणीकरण सिद्धांत का वे निषेध नहीं कर सके। प्रगतिवाद की प्रमुख मान्यता है कि साधारणीकरण सामष्टिगत काव्यचेतना का सिद्धांत है और संप्रेषण सिद्धांत की व्यावहारिक परिणति भी। नयी कविता के युग में रस चिंतन को पूरी तरह अस्वीकार कर दिया गया। अज्ञेय, रामस्वरूप चतुर्वेदी, विजयदेव नारायण साही, रघुवंश, जगदीश गुप्त, डॉ. नामवर सिंह आदि सभी ने एक स्वर से कहा कि अब रस को काव्य का प्रतिमान नहीं बनाया जा सकता। नयी कविता रस की कविता नहीं है। वह नई परिस्थितियों के विस्फोट की कविता है जिसमें द्वंद्व, तनाव पीड़ा और अवसाद की तीखी अभिव्यक्ति है। अज्ञेय और जगदीश गुप्त आदि ने रस सिद्धांत के विरोध में निम्नलिखित तर्क दिए हैं -

(1) रस का आधार है - समाहिति, अद्वंद्व किंतु नयी कविता द्वंद्व और असामंजस्य की कविता है।

(2) नयी कविता वर्तमान पर क्रेंदित है जब कि रस की दृष्टि अतीतोन्मुख रहती है। नयी कविता का विषय है क्षण की अनुभूति जब कि रस का आधार है जन्मांतरगत वासना और स्थायीभाव।

(3) रस-सिद्धांत में कवि व्यक्तित्व की पूर्ण उपेक्षा है जिसे रसानुभूति के समकक्ष सह अनुभूति की संज्ञा दी जा सकती है। रसानुभूति में व्यक्तित्व और विवेक का परिहार होना आवश्यक है किंतु सहअनुभूति का आस्वादन व्यक्ति चेतना के साथ ही हो सकता है। आत्म-विलयन के आनंद और भावावेग के परिपाक की दृष्टि से रसानुभूति अवश्य ही उत्कृष्ट कोटि की कही जाएगी, परंतु मानवीयता के विचार से सहअनुभूति को उससे उत्कृष्टतर मानना ही विवेक संगत दिखाई देता है।

(4) नयी कविता की अनुभूति आनंदमयी नहीं है। नयी कविता आकर्षण को नहीं विकर्षण को महत्व देती है। व्यंग्य करना, वैचारिक झटके से झकझोर देना, खिजाना, भीतरी तड़प पर ध्यान दिलाना और सोचने पर मजबूर करना उसका स्वभाव है, वह रिझाने से ज्यादा सताती है और उसमें जीवन के भयानक तथ्यों और दुर्घटनाओं का अंबार लगा होता है।

(5) नयी कविता, भाव केंद्रित न होकर विचार केंद्रित कविता है। वास्तव में नयी कविता का मूल स्वर रागात्मक नहीं बौद्धिक है। उसमें एक अंतर्निहित आलोचनात्मकता और यथार्थ चित्रण का आग्रह मिलता है।

इस प्रकार नयी कविता के सिद्धांतकार और रचनाकारों ने रस प्रतिमान की प्रासंगिकता को अस्वीकार कर दिया है। रस को काव्यमूल्य इसलिए नहीं माना जा सकता कि आज हम धर्मवीर भारती के अंधायुग' या मोहन राकेश के नाटक 'आधे अधूरे' या अज्ञेय के उपन्यास 'नदी के द्वीप' की या निर्मल वर्मा की कहानी 'परिंदे' की अगर रस के प्रतिमान से व्याख्या करेंगे तो न केवल इन कृतियों के साथ ही अन्याय होगा अपितु ऐसी समीक्षा उपहास का कारण भी बनेगी। जाहिर है कि आज मुक्तिबोध की कविता 'अंधेरे में' का मूल्यांकन रस सिद्धांत के आधार पर नहीं किया जा सकता।

7.8 शब्दावली

विभावादि भरतमुनि के रस-सूत्र में वर्णित विभाव, अनुभाव, संचारी (व्यभिचारी) भाव।

विभाव	-	रस के कारण को विभाव कहते हैं। विभाव दो तरह के होते हैं - आलंबन विभाव, और उद्दीपन विभाव।
आलंबन विभाव	-	आलंबन विभाव के दो पक्ष होते हैं - आश्रय और आलंबन।
आश्रय	-	जिसके हृदय में भाव जाग्रत होता है यानी जिसे रसानुभूति होती है, उसे आश्रय कहते हैं।
आलंबन	-	वह पात्र या स्थिति जिसे देखकर आश्रय के मन में भाव जाग्रत होता है उसे आलंबन कहते हैं। उदाहरण के लिए, शकुंतला को देखकर दुष्यंत के मन में शकुंतला के प्रति आकर्षण उत्पन्न होता है। यहाँ दुष्यंत आश्रय है और शकुंतला आलंबन।
उद्दीपन विभाव	-	उद्दीपन विभाव के दो पक्ष होते हैं - बाह्य वातावरण और आलंबन की बाह्य चेष्टाएँ।
अनुभाव	-	आश्रय के शारीरिक विकारों को अनुभाव कहते हैं जैसे क्रोध का भाव उत्पन्न होने पर आश्रय की आँखें लाल हो जाना, ओंठ और नथुने फड़कने लगना, जिस व्यक्ति पर क्रोध आ रहा हो उसे मारने के लिए हाथ उठाना। अनुभाव दो तरह के होते हैं - यत्नज और अयत्नज। मारने को हाथ उठाना यत्नज अनुभाव है और आँखें लाल हो जाना अयत्नज अनुभाव। अनुभावों को सात्विक भाव भी कहा जाता है। अनुभावों की संख्या आठ होती है।
संचारी/व्यभिचारी भाव	-	जो भाव क्षण-क्षण में संचरित होकर स्थायी भाव का पोषण करते हैं, उन्हें संचारी भाव कहा जाता है। पहले इनकी संख्या 33 मानी जाती थी, लेकिन आधुनिक मनोविज्ञान के आधार पर अब इनकी संख्या अनगिनत मानी जाती है।
स्थायी भाव	-	जिन भावों को विरोधी अथवा अविरोधी भाव कभी नष्ट नहीं कर पाते उन्हें स्थायी भाव कहते हैं। प्राचीन आचार्यों ने इनकी संख्या नौ मानी है (नौ रसों के नौ स्थायी भाव)। लेकिन अब इनकी संख्या में भी वृद्धि हुई है क्योंकि दसवें, ग्यारहवें रसों की कल्पना की गई है।
सौंदर्य चिंतन	-	कलाकृति अथवा रचना के अनुभूति और अभिव्यक्ति पक्ष को समझने और परखने की प्रक्रिया।
अभिमान	-	रस के संदर्भ में अभिमान का अर्थ है अभिनय करते समय नट या नटी का अपने आपको राम-सीता आदि समझ लेना। अतः अभिमान में अनुकार्य से नट का आंतरिक तादात्म्य रहता है।
आरोप	-	नट का अपने में रामादि का आरोप अर्थात् अपने व्यक्तित्व पर उन पात्रों के व्यक्तित्व का आरोप जिनका वह अभिनय कर रहा है। आरोप में नट का अनुकार्य से तादात्म्य बहुत कुछ बाह्य ही होता है।
निर्वैयक्तिक हो जाना	-	रस के संदर्भ में इसका अर्थ है - सामाजिक या प्रेक्षक में सत्व का उद्रेक होने से अपने-पराए का भेद समाप्त हो जाना अथवा इस भेद से मुक्त हो जाना। इस स्थिति को भाव का वैयक्तिक न रहकर निर्वैयक्तिक हो जाना भी कहा जाता है। वैयक्तिक भाव का निर्वैयक्तिक हो जाना लोकदशा को प्राप्त हो जाना है।
अनुकार्य	-	वे पात्र जिनका नाटक के माध्यम से अनुकरण किया जा रहा है अर्थात राम-सीता या दुष्यंत-शकुंतला आदि।
उत्पाद्य-उत्पादक संबंध	-	रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया में विभाव से स्थायी भाव का संबंध उत्पाद्य-उत्पादक संबंध कहा गया है।
पोष्य-पोषक संबंध	-	संचारी भाव स्थायी भाव की पुष्टि करते हैं। अतः रस प्रक्रिया में स्थायी तथा संचारी भाव का संबंध पोष्य-पोषक संबंध कहलाता है।

भावकत्व	-	अपने पराए की भेदबुद्धि से मुक्त हो जाना।
भावन	-	भावकत्व व्यापार का साधारणीकरण। स्थायीभाव के भावन का अर्थ है - भावकत्व व्यापार के फलस्वरूप भाव की कल्पनात्मक प्रतीति।
व्यष्टि	-	वैयक्तिक संसर्ग या व्यक्तिगत संबंध।
समष्टि	-	भाव का वैयक्तिक संसर्ग से मुक्त होकर सबका हो जाना।
व्यंग्य-व्यंजक संबंध	-	विभावादि व्यंजक है और रस रूप में परिणत स्थायी भाव व्यंग्य है। अतः अभिनवगुप्त ने निष्पत्ति का अर्थ किया अभिव्यक्ति और संयोग का अर्थ किया 'व्यंग्य-व्यंजक संबंध'। व्यंग्य का आधार है व्यंजनाशक्ति।
निरानंद	-	आनंदरहित।

7.9 अभ्यास के लिए प्रश्न

1. 'रस' शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए रस चिंतन की परंपरा का उल्लेख कीजिए।
2. रस की परिभाषा दीजिए।
3. रस का स्वरूप स्पष्ट करते हुए करूण रस के आस्वाद पर विचार कीजिए।
4. भट्ट लोल्लट के रस निष्पत्ति संबंधी विचारों पर प्रकाश डालिए।
5. रस निष्पत्ति में भट्टनायक के मत का महत्व निर्धारित कीजिए।
6. अभिनवगुप्त के रस-निष्पत्ति संबंधी चिंतन पर विचार कीजिए।
7. रस सिद्धांत की शक्ति और सीमाओं का उल्लेख करते हुए बताइए कि आधुनिक साहित्य के मूल्यांकन के लिए यह किस हद तक उपयुक्त प्रतिमान सिद्ध हो सकता है।

इकाई 8 साधारणीकरण

इकाई की रूपरेखा

8.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के बाद आप बता सकेंगे कि

- साधारणीकरण से क्या तात्पर्य है
- भारतीय आचार्यों ने साधारणीकरण की व्याख्या किस प्रकार की है
- काव्यानुभूति की प्रक्रिया संबंधी पश्चिम के सिद्धांत कौन से हैं
- पश्चिम के सिद्धांतों की तुलना में साधारणीकरण का क्या महत्व है
- आधुनिक युग में रस-चिंतन दृष्टि में बदलाव के बावजूद साधारणीकरण क्यों महत्वपूर्ण है।

8.1 प्रस्तावना

इस खंड की पिछली इकाई में आपने रस-सिद्धांत की जानकारी प्राप्त की। रस क्या है, उसका स्वरूप कैसा है, उसकी निष्पत्ति किस प्रकार होती है आदि के विषय में आप पढ़ चुके हैं। आपने ध्यान दिया होगा कि रस-निष्पत्ति काव्य के आस्वाद की प्रक्रिया है। यह आस्वाद किस प्रकार का होता है इस प्रश्न पर आचार्यों ने विस्तार से विचार किया है। कवि किस प्रकार रचना में रस सृष्टि करता है और पाठक किस तरह कवि द्वारा सृजित रस का आस्वादन करता है इस बात को सूत्र-व्याख्या-उदाहरणों द्वारा समझाया गया है। साधारणीकरण इस आस्वाद प्रक्रिया का महत्वपूर्ण अंग है। साधारणीकरण किस तरह होता है इसपर गंभीर विचार-विवेचन हुआ है। युग संदर्भ बदलने के साथ-साथ काव्य के आस्वाद के स्वरूप के प्रति दृष्टिकोण बदला है। किंतु यह मानने के बावजूद कि आज की कविता हमें रिझाती नहीं सताती है, साधारणीकरण व्यापार का महत्व खत्म नहीं हुआ। बल्कि यहाँ तक माना गया कि काव्यानुभूति की प्रक्रिया का कोई भी पश्चिमी सिद्धांत भारतीय साधारणीकरण सिद्धांत के समकक्ष पूर्ण एवं समग्र नहीं है। इस दृष्टि से साधारणीकरण का महत्व एवं आवश्यकता आज भी विद्यमान है। प्रस्तुत इकाई में आप साधारणीकरण के विषय में विस्तार से पढ़ेंगे। साधारणीकरण की चर्चा कब और कहाँ शुरू हुई और साधारणीकरण कैसे होता है यह तो आप इस इकाई में पढ़ेंगे ही साथ ही काव्यानुभूति की प्रक्रिया संबंधी पश्चिमी सिद्धांतों की जानकारी भी प्राप्त करेंगे। इन सिद्धांतों से साधारणीकरण की तुलना भी प्रस्तुत इकाई में की जाएगी।

8.2 भट्टनायक द्वारा 'साधारणीकरण' शब्द का प्रयोग

रस निष्पत्ति के प्रसंग में 'साधारणीकरण' शब्द का विशिष्ट महत्व है। भारतीय रस-चिन्तन के अंतर्गत साधारणीकरण पर विचार करने की लंबी परम्परा विद्यमान रही है।'साधारणीकरण' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम भट्टनायक (10वीं शताब्दी) ने रस-निष्पत्ति संबंधी भरत के प्रख्यात् सूत्र -'विभावानुभावव्यभिचारिसयोगाद्रसनिष्पत्ति' - की व्याख्या के भीतर किया है। भट्टनायक ने भरत-सूत्र के व्याख्याकार भट्टलोल्लट (उत्पत्तिवाद या आरोपवाद), शंकुक (अनुमितिवाद) के व्याख्यागत दोषों का परिहार करने के लिए अपने सिद्धांत - भोगवाद या भुक्तिवाद - के अंतर्गत साधारणीकरण की प्रतिष्ठा की। काव्य में वर्णित विशिष्ट पात्रों के 'भाव' 'सहृदय साधारण' या सर्वसाधारण के आस्वाद के विषय किस प्रकार हो जाते हैं? काव्यानुभूति के आस्वाद के इस मौलिक प्रश्न पर पर्याप्त ध्यान केंद्रित किया गया है। इसी प्रश्न का समाधान है - साधारणीकरण सिद्धांत। व्यापक अर्थो में'साधारणीकरण' को 'काव्यानुभूति की प्रक्रिया' कहा जा सकता है। इस प्रक्रिया का गहरा संबंध काव्य-सम्प्रेषण व्यापार से है। आज लगभग सभी विद्वान इस बात से सहमत हैं कि साधारणीकरण सिद्धांत के बीज भरत मुनि (तीसरी-चौथी शताब्दी) के 'नाट्यशास्त्र' में विद्यमान है। भरतमुनि का यह कथन 'सामान्य गुणयोगेने रसा निष्पद्यन्ते' अर्थात् जब पाठक भावों को सामान्य रूप से 'मैं' और 'पर' की भावना से मुक्त होकर ग्रहण करते हैं तब रस की निष्पत्ति होती है। परंतु साधारणीकरण-सिद्धांत का निश्चित उल्लेख भट्टनायक के मत में ही मिलता है। भट्टनायक का ग्रंथ 'हृदय दर्पण' आज उपलब्ध नहीं है। किंतु आचार्य अभिनवगुप्त ने अपने ग्रंथ 'अभिनवभारती' में भट्टनायक का मत उद्धृत किया है। उसी के आधार पर भट्टनायक के मत की जानकारी आज उपलब्ध है। अभिनवगुप्त ने भट्टनायक के साधारणीकरण सिद्धांत को उद्धृत करते हुए उसका अपने ढंग से संशोधन किया है।

भट्टनायक के अनुसार काव्य में तीन व्यापार होते हैं - अभिधा, भावकत्व एवं भोगकत्व या भोजकत्व।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि इन तीन व्यापारों का अर्थ क्या है।

जहाँ तक अभिधा-व्यापार का संबंध है, वह तो शब्द को आधार बनाकर चलने वाले सभी शास्त्रों में मिलता है, किंतु शेष दो व्यापार काव्य-शब्दों की अपनी विशेषता है। इन्हीं दो विशिष्ट व्यापारों के कारण काव्य अन्य शब्दधारी शास्त्रों से विशिष्ट एवं विलक्षण होता है। काव्य में अभिधा व्यापार वाच्यार्थ को उपस्थित करने की क्षमता रखता है। किंतु वास्तविक कार्य भावकत्व एवं भोजकत्व व्यापारों के द्वारा ही सम्पन्न होता है। भावकत्व व्यापार विशिष्ट विभावादिकों को साधारणीकृत रूप में उपस्थित करने के साथ सामाजिक या सहृदय की 'निज-मोह-संकटता का निवारण' करते हुए रसों को भावित कर देता है तथा भोजकत्व व्यापार के द्वारा उन भावित रसों का भोग होता है। इस प्रकार अभिधा व्यापार वाच्यार्थ-विषयक है, भावकत्व रसादि विषयक और भोजकत्व सहृदय या सामाजिक विषयक। इन्हीं तीन व्यापारात्मक अंशों के आधार पर काव्य के शब्द अन्य शास्त्रादिक के शब्दों से विशिष्ट एवं विलक्षण हो जाते हैं। भट्टनायक का सिद्धांत कथन अभिनवगुप्त ने 'अभिनवभारती' में इन शब्दों में निरूपित किया है -

> **'काव्ये दोषाभावगुणालंकारमयत्वलक्षणेन नाटये चतुर्विधाभिनयरूपेण, निविड निज मोह संकटता निवारण कारिणाविभावादि साधारणीकरणात्मनाऽभिधातो द्वितीयांशेन भावकत्व व्यापारेण भाव्यमानो रसः।'**

8.3 साधारणीकरण से भट्टनायक का तात्पर्य

भट्टनायक के इस कथन का विश्लेषण करने पर निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं -

1. साधारणीकरण विभावादि व्यापार का होता है।
2. भावकत्व-व्यापार का प्राण है - साधारणीकरण।
3. भावकत्व व्यापार द्वारा भाव्यमान स्थायी भाव ही रस रूप में परिणत हो जाता है।
4. साधारणीकरण रसास्वाद से पूर्व की प्रक्रिया है। यह एक ऐसी प्रक्रिया है जो रस के विभिन्न अवयवों को अपने-अपने वैशिष्ट्य से मुक्त कर आस्वाद्य रूप में प्रस्तुत कर देती है।
5. अभिधा व्यापार की सीमा सामान्य पद-पदार्थ तक ही है। इससे आगे के कार्य भावकत्व तथा भोजकत्व व्यापार के द्वारा होते हैं। कवि पूरे प्रयास से भाषा को दोषों से बचाता है तथा गुणों-

अलंकारों से अलंकृत करता है। इससे काव्य-भाषा में एक विशेष प्रकार का अर्थ-चमत्कार आ जाता है। हाँ, दृश्य-काव्य में यह क्षमता अभिनय के द्वारा आती है। काव्यानुभूति के लिए भाषा का भाव-प्रवण कलात्मक प्रयोग एक विशेष पृष्ठभूमि या मानसिक परिवेश तैयार करता है।

6. विभावादि के साधारणीकरण का सहृदय की चेतना पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। इसे ही भट्टनायक 'निज-मोह-संकटता-निवारण' कहते हैं। 'निज-मोह-संकटता-निवारण' अर्थात् अपने-पराये के मोहपाश का नाश। भावकत्व-व्यापार को ही निज-मोह-संकटता-निवारणकारी कहा गया है।

7. भावकत्व व्यापार तथा साधारणीकरण एकदम पर्यायवाची नहीं हैं। साधारणीकरण स्वयं मे भावकत्व व्यापार का एक अंग है। हाँ, अपने महत्व के कारण उसे भावकत्व की आत्मा घोषित किया गया है।

8.4 'भावकत्व व्यापार के स्वरूप' पर विचार

काव्यशास्त्र के आचार्यों ने साधारणीकरण और भावकत्व के संबंधों पर विचार करने के लिए 'भावकत्व व्यापार के स्वरूप' पर ध्यान केंद्रित किया है। इस ध्यान केंद्रण का प्रमुख कारण है कि विभिन्न शास्त्रों में 'व्यापार' शब्द का प्रयोग होता है किंतु इसका प्रधान क्षेत्र न्यायशास्त्र है। काव्यशास्त्र में शब्द-शक्ति को 'व्यापार' या 'वृत्ति' का नाम दिया गया है। व्यापार अथवा शब्द-शक्ति के द्वारा पद से पदार्थ का ज्ञान होता है। शब्द कारण है जैसे मिट्टी घड़े का कारण है। कुम्हार डंडे से चाक को घुमाता है तभी मिट्टी से घड़ा बनता है। इसी भाँति शब्द रूपी कारणों से एक विशेष व्यापार द्वारा अर्थ की अभिव्यक्ति होती है। शब्दों के व्यापार कई प्रकार के होते हैं किंतु आचार्यो ने अभिधा, व्यंजना, लक्षणा - इन तीन शब्द-शक्तियों को ही विशेष स्वीकृति प्रदान की है। इसके अतिरिक्ति, कभी-कभार तात्पर्य वृत्ति की भी चर्चा की है। तर्कभाषाकार केशव मिश्र ने कहा है, 'तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजन कोऽवान्तर व्यापारः। यथा कुठारजन्यः कुठारुदारुसंयोगः, कुठारजन्यछिदाजनकः।' ('तर्कभाषा', पूना सं. पृ. 6) व्यापार उसे कहते हैं जो अपने कारण से उत्पन्न होता है। उदाहरण के लिए हम कुल्हाड़े से लकड़ी चीरते हैं, कुठार तथा काष्ठ का इसमें संयोग होता है। यह एक व्यापार है - कुठार-दारु-संयोग व्यापार। हर तरह के व्यापार का एक फल होता है। कुठार-दारु-संयोग को अवान्तर व्यापार भी कहा गया है क्योंकि इस प्रधान व्यापार में अन्य बहुत से व्यापार शामिल रहते हैं। ठीक यही स्थिति भावकत्व तथा साधारणीकरण की होती है। भावकत्व एक अत्यंत व्यापक व्यापार है जिसमें कुछ अन्य व्यापारों के साथ साधारणीकरण भी शामिल है। भावकत्व काव्य-शब्दों का एक व्यापार है, काव्य शब्द-जन्य है तथा फलरूप में रस-भावन का जनक है। अतः साधारणीकरण भावकत्व व्यापार का एक महत्वपूर्ण अंग है।

सांख्यवादी भट्टनायक ने भावकत्व-व्यापार की महत्व-प्रतिष्ठा मीमांसा के आधार पर की। मीमांसा में 'भावना' का विशेष अर्थ है। मीमांसक 'क्रिया' को 'भावना' कहते हैं। इसी कारण इसे 'भावन-क्रिया' कहा जाता है। उदाहरणार्थ 'स्वर्ग का भोजयेन' अर्थात् स्वर्ग की कामना करने वाला भजन करे। किंतु मीमांसक कहेगा 'यज्ञ क्रिया से स्वर्ग भावित होता है।' यज्ञ-क्रिया 'भावना' है और साध्य है - स्वर्ग, जोकि मीमांसा की भाषा में 'भाव्य' है। 'भावना' पारिभाषिक शब्द है - साध्य की सिद्धि में अनुकूल व्यापार का नाम है - भावना। यह भावना दो प्रकार की है - शाब्दी तथा आर्थी। भावना के साध्य के विषय में तीन बातें आवश्यक हैं - (1) किं भावयेन् अर्थात् क्या सिद्ध करना है। (2) केन भावयेत् अर्थात् किन साधनों से करना है। (3) कथं भावयेन् अर्थात् किस प्रकार करना है। ध्यान देने की बात यह है कि भट्टनायक ने इसी परिपाटी का सहारा लेकर काव्य-शब्दों में भावकत्व-व्यापार का प्रतिपादन किया है। इस व्यापार के अनुसार ही काव्य 'भावक' है और रस 'भाव्य'।

अभिनवगुप्त के विचार

सामान्यतः अभिनवगुप्त को रस-प्रक्रिया में यह मीमांसा-प्रणाली मान्य नहीं है। अभिनवगुप्त का कहना है कि भावकत्व को व्यंजना-व्यापार से पृथक मानना अनावश्यक है। उन्होंने 'भावकत्व' और 'भोजकत्व' शक्तियों को अस्वीकार करके भी साधारणीकरण को स्वीकार किया है। उनके अनुसार साधारणीकरण के दो स्तर हैं - एक स्तर पर विभावादि का व्यक्ति-विशिष्ट संबंध छूट जाता है और दूसरे स्तर पर सामाजिक का व्यक्तित्व बंधन नष्ट हो जाता है। अर्थात् विभावादि का साधारणीकरण होता है और साथ ही पाठक या सामाजिक की अनुभूति का साधारणीकरण होता है। शब्द और अर्थ की व्यंजना के सहारे ही रस-भाव का भोग या आस्वादन भावक को होता है। अतः काव्यानुभूति की प्रक्रिया में भावकत्व

व्यापार को पृथक मानना व्यर्थ है। यहाँ 'साधारणीकरण' शब्द के व्युत्पत्तिगत अर्थ पर ही विचार करें तो साधारणीकरण शब्द 'च्वि' प्रत्यय के योग से बनता है - साधारण + च्वि + करण। च्वि प्रत्यय 'अभूत तद्भाव' में होता है। अर्थात् जो वस्तु पहले जैसी नहीं थी उसका वैसा हो जाना। तब साधारणीकरण का अर्थ हुआ काव्य-निबद्ध विशिष्ट अनुभूति जिस प्रक्रिया के द्वारा सहृदय-समाज की अनुभूति व्यक्ति संबंधों से मुक्त होकर सामान्य या सामान्यीकरण के रूप में आ जाती है उसी को साधारणीकरण कहा जाता है। मूल अर्थ हुआ असाधारण का साधारण बन जाना। अतः साधारणीकरण के लिए आवश्यक है - पहले वस्तु की असाधारण स्थिति हो। जहाँ पहले से असाधारणता विद्यमान नहीं है वहाँ साधारणीकरण के लिए अवकाश ही कहाँ है। ऐसी स्थिति के कारण साधारणीकरण का अर्थ हुआ विशिष्ट काव्य-शब्दों के द्वारा जो विभावादि उपस्थित किए जाते हैं वे अभिधा व्यापार की सीमा में असाधारण होते हैं। सामाजिक या प्रमाता के मानस-पट पर उनका अर्थ ग्रहण विशेष रूप में ही होता है। विभावादि साधारणीकृत हो जाते हैं, का अर्थ है अपने-पराये के संबंधों से मुक्त - 'निज-मोह-संकटता निवारण' की भावभूमि को प्राप्त होना। यह साधारणीकरण व्यापार सामाजिक के वासना रूप में स्थित स्थायी भावों के आधार पर होता है। इस प्रकार अभिनवगुप्त ने 'वासना' को स्वीकृति प्रदान की और स्थायी भाव का साधारणीकरण माना।

8.5 संस्कृत आचार्यों द्वारा साधारणीकरण की व्याख्या और विवेचन

आधुनिक समीक्षा में साधारणीकरण को लेकर बहुत से प्रश्न उठाए जाते हैं -

1. साधारणीकरण किसका होता है?
2. इस व्यापार की प्रक्रिया एवं स्वरूप क्या है?
3. काव्यास्वाद में साधारणीकरण की स्थिति एवं महत्व क्या है?

इन प्रश्नों को दृष्टि में रखने पर यह जिज्ञासा भी उठती है कि भट्टनायक को किस-किस का साधारणीकरण अभिप्रेत है। भट्टनायक विभावादि का साधारणीकरण मानते हैं। यहाँ सीधा प्रश्न उठता है कि अभिनवगुप्त तक ने साधारणीकरण के सिद्धांत-कथन में यह कहीं भी स्पष्ट नहीं किया कि विभावददि के अंतर्गत साधारणीकरण के लिए अमुक-अमुक वस्तुओं को लिया जा सकता है। उनकी वस्तुपक्षीय सामग्री को देखने से तो यही लगता है कि विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावों का ही साधारणीकरण उन्हें अभिप्रेत है। इसका कारण है कि उनका पूरा रस-चिन्तन भरत के सूत्र 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' के प्रसंग में ही आया है। भरत के मूल कथन में 'विभावादि' आने से भट्टनायक या अभिनवगुप्त को इसे अलग से स्पष्ट करने की आवश्यकता ही नहीं पड़ी। भट्टनायक ने विषय-पक्ष (विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव) का साधारणीकरण से अभिप्रेत अर्थ लिया। विषयि-पक्ष अर्थात् प्रमाता या समाजिक की सत्ता तथा स्थायी भावों के साधारणीकरण पर वे मौन ही रहे। केवल उन्होंने प्रमाता-चेतना (सामाजिक) के मोह संकटता निवारण की स्पष्ट बात कही है। भट्टनायक 'निविड निज मोह संकटता निवारण' को भावकत्व व्यापार की सीमा में देखते हैं पर सत्वोद्रेक को 'संविद् विश्रान्ति' के साथ रखकर भोजकत्व व्यापार के अंतर्गत देखते हैं। इसीलिए वे सामाजिक की सत्ता के साधारणीकरण की बात नहीं उठाते। भट्टनायक का ग्रंथ 'हृदय दर्पण' उपलब्ध न होने से भी उनकी बात को समझने में कठिनाई रही है। अभिनवगुप्त ने 'अभिनवभारती' में उनके मत को 'हृदय दर्पण' से उद्धृत किया है। अभिनवगुप्त 'प्रत्यभिज्ञा-वृत्ति-विमर्शिनी' में 'यथाहः मीमांसकाग्रणोभट्टनायकः' से जाहिर है कि वे उन्हें मीमांसक ही मानते हैं और मीमांसा की सीमाओं के भीतर ही भट्टनायक के मत का खण्डन करते हैं।

8.5.1 आचार्य अभिनवगुप्त

अभिनवगुप्त ने भट्टनायक के मत में संशोधन कर साधारणीकरण को अपने ही ढंग से प्रस्तुत किया - वाक्यार्थ के ज्ञान के उपरांत साधारणीकरण नामक व्यापार द्वारा सहृदय की कुछ इस प्रकार की मानसी एवं साक्षात्कारात्मिका प्रतीति होती है कि जिसके द्वारा काव्य अथवा नट आदि सामग्री (दृश्य काव्य में) में वर्णित देश, काल, प्रमाता आदि की विषय-सीमा नष्ट हो जाती है। अर्थात् ये नियामक कारणों के बंधनों से पूरी तरह मुक्त हो जाते हैं। वस्तुतः यही साधारणीकरण व्यापार है। उदाहरणार्थ - भयानक रस के निदर्शन 'ग्रीवाभंगाभिरामं.....तस्यां च यो मृगयोतकादिर्माति तस्य विशेष रूपत्वा भावादि्भत इति, त्रासकस्यापारमार्थिकत्वाद् भयमेव परं देशकालाद्यनलिंगितम्।' में त्रस्त मृग, त्रासक (दुष्यंत) और भय स्थायी भाव, देशकाल आदि के बंधनों से मुक्त हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में सहृदय को जिस भयानक रस की प्रतीति होती है - वह उस भावना से भिन्न होती है कि 'मैं भीत हूँ' अथवा 'यह भीत है'

अथवा 'शत्रु-मित्र' अथवा 'उदासीन भीत है'। यह प्रतीति लौकिक सुख-दुख के ज्ञान से भिन्न या विलक्षण होती है। 'इसका अभिप्राय यह हुआ कि आश्रय और आलंबन का साधारणीकरण हो जाने से स्थायी भाव ही देशकाल के बंधन से मुक्त हो जाता है। इसी तथ्य को और स्पष्ट करते हुए अभिनवगुप्त लिखते हैं - इसीलिए 'मैं भीत हूँ', 'यह भीत है' या 'शत्रु ' 'मित्र' अथवा 'तटस्थ भीत है' इत्यादि सुख-दुःखकारी अन्य प्रत्ययों (ज्ञान) को नियमतः उत्पन्न करने के कारण विघ्न बहुल प्रतीतियों से भिन्न निर्विघ्न प्रतीति रूप में ग्राह्य (भय स्थायी भाव ही) भयानक रस बन जाता है।' अर्थात् काव्य में स्थायी भाव सभी प्रकार के व्यक्ति-संसर्गों से मुक्त हो जाता है वे व्यक्ति-संसर्ग अपनी परिमिति के कारण दुःखादि के कारण होते हैं। अतः इनसे मुक्ति का अभिप्राय होता है - लौकिक सुख-दुःख आदि की चेतना से मुक्ति। यह साधारणत्व परिमित न होकर सर्वव्याप्त होता है - अनादि संस्कारों से चित्रित चित्त वाले समस्त सामाजिकों की एक-जैसी वासना (संस्कार) होने के कारण सभी को एक जैसी ही प्रतीति होती है। अतः अभिनवगुप्त के मतानुसार,

1. साधारणीकरण विभावादि का ही नहीं होता, स्थायी भाव का भी होता है। जिस प्रकार विभावादि स्थायी भाव के कारण होते हैं, उसी प्रकार विभावादि का साधारणीकरण भी स्थायी भाव के साधारणीकरण का कारण होता है।

2. स्थायी भाव के साधारणीकरण का अर्थ है - देशकाल के बंधन, व्यक्ति-संसर्ग आदि से मुक्ति। व्यक्ति चेतना से मुक्त हो जाने पर भाव की ऐन्द्रिय सुख-दुःख भावना भी नष्ट हो जाती है।

3. काव्यास्वाद की प्रक्रिया में भाव का साधारणीकरण वैयक्तिक न रहकर सामूहिक क्रिया है। यह एक सामाजिक की अनुभूति न होकर सामूहिक अनुभूति है।

4. साधारणीकरण का सार है - स्थायी भाव का साधारणीकरण।

अभिनवगुप्त की उपर्युक्त व्याख्या को **आचार्य मम्मट** के 'काव्य-प्रकाश' की टीका में इस प्रकार दिया गया है -

1. भावकत्व ही एक विशिष्ट अर्थ में साधारणीकरण है।

2. भावकत्व व्यापार के द्वारा ही विभावादि तथा स्थायी भाव का साधारणीकरण होता है।

3. साधारणीकरण का अभिप्राय है - व्यक्ति संसर्गों से मुक्त होकर विभावों का विशेष से सामान्य हो जाना (सीतादि विशेष पात्रों का कान्तात्व आदि सामान्य रूप में उपस्थित होना)।

4. स्थायी भाव और अनुभाव के साधारणीकरण का अभिप्राय है - अपने-पराये के व्यक्ति संबंधों से छूट जाना।

'काव्य-प्रकाश' के टीकाकार **गोविन्द ठक्कर** ने भट्टनायक के सिद्धांत-कथन का सार इस प्रकार दिया - 'भावकत्वं साधारणीकरणम्। तेन हि व्यापारेण विभावः स्थायी च साधारणीक्रियन्त्। साधारणीकरणं चैतदेव यत्सीतादिविशेषाणां कामिनीत्वादि सामान्येनोपस्थितिः। स्थाय्यनुभावादीनां च सम्बन्धविशेषानवच्छिन्नत्वेन।' अर्थात् भावकत्व का अभिप्राय है - साधारणीकरण। इस व्यापार के द्वारा विभावादि का और स्थायी भाव का साधारणीकरण होता है। साधारणीकरण का अर्थ है सीतादि विशेष पात्रों का कामिनी आदि सामान्य रूपों में उपस्थित होना। स्थायी भाव तथा अनुभाव के साधारणीकरण का अर्थ है - विशिष्ट संबंधों की भावना से छुटकारा या मुक्ति पा जाना। इस व्याख्या के अनुसार विभाव (आश्रय-आलम्बन-उद्दीपन) अनुभाव, संचारी भाव, स्थायी भाव सभी का साधारणीकरण होता है। इस स्थिति को हम एक उदाहरण से समझ सकते हैं -

'कौन तुम? संसृति-जलनिधितीर
तरंगों से फेंकी मणि एक,
कर रहे निर्जन का चुपचाप
प्रभा की धारा से अभिषेक?

मधुर विश्रान्त और एकान्त
जगत का सुलझा हुआ रहस्य,
एक करुणामय सुंदर मौन
और चंचल मन का आलस्य।'

सुना यह मनु ने मधु गुंजार
मधुकरी का सा जब सानंद,

किए मुख नीचा कमल समान
प्रथम कवि का ज्यों सुंदर छंद

एक झटका सा लगा सहर्ष
निरखने लगे लुटे से, कौन,
गा रहा यह सुंदर संगीत?
कुतुहल रह न सका फिर मौन।

और देखा वह सुंदर दृश्य
नयन का इन्द्रजाल अभिराम
कुसुम वैभव में लता समान
चन्द्रिका से लिपटा घनश्याम।

(कामायनी, श्रद्धा सर्ग)

यहाँ आरंभ की आठ काव्य-पंक्तियों में श्रद्धा आश्रय है और मनु आलंबन है। एकान्त निर्जन में चुपचाप व्यक्तित्व का परिवेश उद्दीपन है। श्रद्धा के मनोभाव अनुभाव हैं और हर्ष-मति-वितर्क आदि संचारी हैं। इन आठ काव्य-पंक्तियों के बाद स्थिति बदल जाती है और हम पाते हैं कि अब सहसा सौंदर्य-चकित मनु आश्रय है, श्रद्धा आलंबन है, श्रद्धा का रूप-वैभव उद्दीपन है। मनु के 'एक झटका सा लगा' आदि अनुभाव हैं। कामिनी के रूप-लावण्य की दीप्ति में रति स्थायी है और हर्ष-पुलक, आश्चर्य आदि संचारी भाव हैं। उपर्युक्त व्याख्या के प्रकाश में काव्यानुभूति की प्रक्रिया या रसास्वादन की प्रक्रिया में इन सभी का साधारणीकरण हो जाता है। आश्रय मनु के साधारणीकरण का अर्थ है कि वे मनु न रहकर सौंदर्य मुग्ध (रति-मुग्ध) सामान्य पुरुष मात्र रह जाते हैं, उनके देश और काल तथा उनके निजी वैशिष्ट्य लगभग तिरोहित हो जाते हैं और नारी या कामिनी के सौंदर्य से अभिभूत सामान्य मानव का मन उभर कर सामने आ जाता है। आलंबन श्रद्धा के साधारणीकरण का अभिप्राय भी बहुत कुछ वैसा ही है अर्थात् वह एक कामिनी मात्र रह जाती है। अनुभाव (आश्रय के शारीरिक विकार) के साधारणीकरण से आशय यह है कि मनु की चेष्टाएँ मनु से सम्बद्ध न रहकर सामान्य सौंदर्य-मुग्ध मानव की चेष्टाएँ रह जाती हैं। इसी प्रकार, स्थायी भाव रति आदि और चकित, पुलकित आदि संचारी भाव भी एक ओर मनु श्रद्धा के तथा दूसरी ओर सहृदय तथा उसके आलंबन से सम्बद्ध नहीं रह जाते - वे वैयक्तिकता को खोकर निर्वैयक्तिक हो जाते हैं। यह निर्वैयक्तिकता व्यक्तिगत संबंधों से मुक्ति है। इस प्रसंग में जो रति स्थायी भाव है वह न तो मनु की श्रद्धा के प्रति रति है, न सहृदय की श्रद्धा के प्रति और न सहृदय की अपनी प्रेमिका-विशेष के प्रति - यह तो नर-नारी का निर्वैयक्तिक-मुक्त रति-भाव है जिसमें 'निविड़ निज मोह संकटता निवारण' की स्थिति आ चुकी है अर्थात् अपने-पराये ही स्थायी भाव है परंतु साधारणीकृत स्थिति के कारण स्व-पर की चेतना से मुक्त हो गया है। इस उदाहरण से स्पष्ट है कि रस के अवयवों में जो मूर्त हैं वे 'विशेष' से 'सामान्य' बन जाते हैं और जो अमूर्त भाव रूप हैं वे व्यक्ति-संसर्गों से मुक्त हो जाते हैं - विभावों की भी देश और काल के बंधन से मुक्ति होती है और भाव वैयक्तिक चेतना से मुक्त होकर निर्वैयक्तिकता को प्राप्त हो जाते हैं।

साधारणीकरण की महत्व-प्रतिष्ठा करते समय भट्टनायक के सामने कुछ नैतिकता की समस्याएँ थीं, कुछ जीवन-जगत के यथार्थ की। उन्होंने 'सन्निवेश औचित्य' और 'सन्निवेश लालित्य' आदि विभावादि का औचित्य आवश्यक माना। राम की आलंबन सीता 'सहृदय' की विभावादि कैसे बन जाती है? देवता-महापुरुष आदि के समुद्र लंघनादि जैसे कार्य उसके विभावों का कार्य कैसे करते हैं? संक्षेप में, इस तरह की समस्याओं को सुलझाने के लिए भट्टनायक ने साधारणीकरण की अवधारणा प्रस्तुत की। औचित्य के साथ, साधारणीकरण का घनिष्ठ संबंध जोड़ते हुए भी भट्टनायक साधारणीकरण की सीमाओं का सही-सही निर्देश न कर सके। प्रश्न उठता है कि सीता के प्रति सामाजिक नैतिक स्तर पर छूट कैसे ले सकता है? भट्टनायक का उत्तर है कि भावकत्व-व्यापार से इन विघ्नों को दूर किया जा सकता है।

8.5.2 आचार्य विश्वनाथ

संस्कृत के परवर्ती सभी शास्त्रकार प्रायः भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त के साधारणीकरण सिद्धांत की पुष्टि करते रहे। केवल आचार्य विश्वनाथ और पण्डितराज जगन्नाथ ने चिन्तन के कुछ मौलिक संकेत दिए। विश्वनाथ (14वीं शताब्दी) ने दो भिन्न स्थापनाओं का संकेत दिया। विश्वनाथ के अनुसार पाठक या प्रमाता का आश्रय के साथ अभेद संबंध स्थापित हो जाता है। अर्थात् साधारणीकृत स्थिति में रत्यादि स्थायी भाव का उसी रूप में अनुभव होने लगता है और इस रसानुभूति के समय 'परस्य न परस्येति

ममेति न ममेतिच' (यह दूसरे का है, यह दूसरे का नहीं है यह मेरा है, यह मेरा नहीं है) इस प्रकार का भेद का नष्ट हो जाता है।

1. विभावादि के विभावन-व्यापार के कारण सहृदय या प्रमाता आश्रय से तादात्म्य स्थापित कर लेता है। इस प्रकार, सामान्य-जन देव-महापुरुष आदि के कार्यों तथा अनुभूतियों का आस्वादन कर सकता है। देवताओं-महापुरुषों से तादात्म्य साधारणीकरण के परिणामस्वरूप घटित होता है।

2. काव्यास्वाद के समय काव्य के विभावादि का 'मेरे हैं अथवा मेरे नहीं हैं दूसरे के हैं अथवा दूसरे के नहीं हैं' इस संबंध भावना का परिहार हो जाता है। उन्होंने कहा कि -

परस्य न परस्येति ममेति न ममेति च
तदास्वादे विभावादिः परिच्छेदो न विद्यते। (साहित्यदर्पण, 3-13)

8.5.3 पण्डितराज जगन्नाथ

पण्डितराज जगन्नाथ (17-18वीं शताब्दी ई.) ने नव्य-न्याय दर्शन के प्रकाश में आश्रय के साथ तादात्म्य या अभेद को स्वीकार तो कर लिया किंतु साधारणीकरण व्यापार के स्थान पर 'दोष-दर्शन' की स्थापना कर डाली। 'दोष-दर्शन' की स्थापना का अर्थ है - पाठक को व्यंजना वृत्ति से आलंबन विषयक रति का ज्ञान। इसके बाद सहृदयता के कारण पाठक के मन में एक दोष-भावना जाग्रत होती है जिससे उसकी आत्मा कल्पित विभावादि से आच्छादित हो जाती है और उसमें सीपी के टुकड़े में चाँदी की प्रतीति सदृश इस दोष के कारण अनिर्वचनीय सत्-रूप रति आदि चित्तवृत्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। इन्हीं चित्तवृत्तियों के आत्म-चैतन्य द्वारा प्रकाशित होने को रसास्वाद कहते हैं। इस 'दोष-दर्शन' की कल्पना के आधार पर ही वे आश्रय से तादात्म्य की स्वीकृति दे सके। उनका कथन है कि

'काव्ये नाट्ये चं, कविना नटेन च प्रकाशितेषु विभावादिषु, व्यंजनव्यापारेण दुष्यन्तादौ शकुन्तलादिरतौ गृहीतायामनन्तरं च सहृदयतोल्लसितस्य भावना विशेष रूपस्य दोषस्य महिम्ना कल्पित दुष्यन्तत्वावच्छादितेस्वात्य न्य ज्ञानावच्छिन्ने शुक्तिकाश कल इव रजत खडः समुत्पद्यमनोऽनिर्वनीयः साक्षिभास्य शकुन्तलादि विषयक रत्यादि रेव रसः।'

(हिंदी रसगंगाधर, प.आ., पृ.101)

अर्थात् सर्वप्रथम तो हमें काव्य और नाटक में कवि तथा नट द्वारा प्रस्तुत विभावादि का ज्ञान होता है। तत्पश्चात् व्यंजना-व्यापार के द्वारा यह प्रतीति होती है कि दुष्यन्त शकुन्तला के प्रति अनुरक्त है। इसके उपरान्त सहृदयता के कारण हमारे चित्त में एक प्रकार की भावना उत्पन्न हो जाती है। यह भावना एक ऐसा दोष है जिससे हमारी आत्मा कल्पित दुष्यन्तादि से आच्छादित हो जाती है अर्थात् उस समय भ्रान्तिवश हम अपने को ही दुष्यन्त समझने लगते हैं और जब हम अपने को दुष्यन्त समझने लगते हैं तब हमें अपने को शकुन्तला का प्रेमी समझने में कोई बाधा नहीं रह जाती। जैसे दूरत्व आदि दोषों के कारण जब सीपी के टुकड़े अज्ञान से ढक जाते हैं। उन्हें हम वास्तविक रूप में नहीं समझ सकते तब उन टुकड़ों में चमत्कार भ्रान्ति दोष से या चाक चिक्य दोष से चाँदी के टुकड़े उत्पन्न हो जाते हैं। आशय यह कि हम सीपी के टुकड़ों को ही चाँदी के टुकड़े समझने लग जाते हैं। पण्डितराज जगन्नाथ का विचार है कि प्राचीनों द्वारा कथित साधारणीकरण व्यापारदोष की स्वीकृति के बिना असंभव है क्योंकि काव्य में विशेष व्यक्तियों के प्रतिपादक शब्द सामान्य के बोधक कैसे हो सकते हैं? प्रो.निर्मला जैन ने 'रस सिद्धांत और सौंदर्यशास्त्र' में पण्डितराज के इस विचार-कथन पर एक महत्वपूर्ण व्याख्यात्मक टिप्पणी की है - 'पण्डितराज ने शब्द-भेद से आश्रय के साथ तादात्म्य और समानुभूति की ही स्वीकृति की है। साधारणीकरण व्यापार की अस्वीकृति और भावना-दोष की परिकल्पना के मूल में उनकी दार्शनिक प्रतिबद्धता ही सक्रिय रही है। वह शब्द-भेद है, मतभेद नहीं।' (पृ.173) सार-संक्षेप यह कि सामाजिक किसी से रति नहीं करता, केवल सामान्यीकरण या साधारणीकरण के रूप में 'रति' का अनुभव मात्र करता है।

8.6 हिंदी विद्वानों द्वारा साधारणीकरण संबंधी चिन्तन और विवेचन

संस्कृत काव्यशास्त्र में पण्डितराज के बाद गंभीर शास्त्रीय चिन्तन औरं विवेचन का युग ही समाप्त हो गया। हिंदी के भक्त और रीति के कवि प्रायः सरलीकरण के शिकार हो गए। ध्वनि-रस-साधारणीकरण जैसे गंभीर विषयों की चर्चा की न तो उनमें सामर्थ्य थी न उनकी प्रवृत्ति। ऐसी स्थिति के कारण लगभग तीन शताब्दियों तक साधारणीकरण की चर्चा बंद रही।

8.6.1 आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

आधुनिक काल में हिंदी-आलोचना के प्रथम आधुनिक आलोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने साधारणीकरण सिद्धांत पर गंभीरता से विचार किया और इस सिद्धांत को पुनरुज्जीवित किया। आ.शुक्ल ने अपने प्रसिद्ध लेख 'साधारणीकरण और व्यक्तिवैचित्र्यवाद' में साधारणीकरण सिद्धांत पर मौलिक चिन्तन प्रस्तुत किया। यह चिन्तन इतना मौलिक है कि काव्यशास्त्र की शास्त्रबद्ध जड़ता से मुक्त होकर नवीन दृष्टि प्रदान करता है। आचार्य शुक्ल ने वर्तमान की चुनौतियों का सामना करने के लिए इस सिद्धांत का पुनर्नवा रूप 'लोकधर्म सिद्धांत' के पोषण एवं समर्थन के लिए प्रस्तुत किया। हालाँकि उनके चिन्तन में विश्वनाथ के मत की अनुगूँज मिलती है, लेकिन व्याख्यान-विश्लेषण उनका मौलिक है। साधारणीकरण सिद्धांत से संबंधित आ. शुक्ल की स्थापनाएँ निम्नलिखित हैं -

1. किसी काव्य का श्रोता या पाठक जिन विषयों को मन में लाकर रति, करुणा, क्रोध, उत्साह इत्यादि भावों तथा सौंदर्य, रहस्य-गांभीर्य आदि भावनाओं का अनुभव करता है, वे अकेले उसी के हृदय से संबंध रखने वाले नहीं होते, मनुष्य मात्र के हृदय में विद्यमान भावनाओं की भावनात्मक सत्ता (मनुष्य मात्र के हृदय में विद्यमान भावनाओं) पर प्रभाव डालने वाले होते हैं।

2. जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलंबन हो सके, तब तक उसमें रसोद्‌बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती। इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ 'साधारणीकरण' कहलाता है।

3. सच्चा कवि वही होता है जिसे लोक-हृदय की पहचान हो, जो अनेक विशेषताओं और विचित्रताओं के बीच मनुष्य जाति के सामान्य हृदय को देख सके। इसी लोक-हृदय में हृदय के लीन होने की दशा का नाम रस-दशा है।

4. जब तक रस के वर्णन में आलंबन का चित्रण इस रूप में न होगा कि वह मनुष्य मात्र के क्रोध का पात्र हो सके तब तक वह वर्णन भाव-प्रदर्शन मात्र रहेगा, उसका भाव और विभाव पक्ष या तो शून्य अथवा अशक्त होगा। पर भाव और विभाव दोनों पक्षों के सामंजस्य के बिना पूरी और सच्ची रसानुभूति हो नहीं सकती।

5. काव्य का विषय सदा 'विशेष' होता है, 'सामान्य' नहीं, वह व्यक्ति सामने लाता है 'जाति' नहीं।xxx बिंब जब होगा तब विशेष या व्यक्ति का ही होगा, सामान्य या जाति का नहीं।

6. साधारणीकरण का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्ति-विशेष या वस्तु-विशेष आती है वह जैसे काव्य में वर्णित 'आश्रय' के भाव का आलंबन होती है वैसे ही सब सहृदय पाठकों या श्रोताओं के भाव का आलंबन हो जाती है।

7. इससे सिद्ध हुआ कि साधारणीकरण आलंबनत्व धर्म का होता है। व्यक्ति तो विशेष ही रहता है पर उसमें प्रतिष्ठा ऐसे सामान्य धर्म की ही रहती है - जिसके साक्षात्कार से सब पाठकों या श्रोताओं के मन में एक ही भाव का उदय थोड़ा-बहुत होता है।xxx विभावादि सामान्य रूप में प्रतीत होते हैं' - इसका तात्पर्य यही है कि रसमग्न पाठक के मन में यह भेदभाव नहीं रहता कि यह आलंबन मेरा है या दूसरे का। थोड़ी देर के लिए पाठक या श्रोता का हृदय लोक का सामान्य हृदय हो जाता है।' (चिन्तामणि, भाग-1, पृ.227-230)

8. साधारणीकरण में आलंबन द्वारा भाव की अनुभूति प्रथम कवि में चाहिए, फिर उसके वर्णित पात्र में और फिर श्रोता या पाठक में। विभाव द्वारा जो साधारणीकरण किया गया है, वह तभी चरितार्थ होता है।' (रस-मीमांसा, पृ.99)

9. 'लोक-हृदय की यह सामान्य अंतर्भूमि परखकर हमारे यहाँ 'साधारणीरण-सिद्धांत' की प्रतिष्ठा की गई है। वह सामान्य अंतर्भूमि कल्पित या कृत्रिम नहीं है।' (चिन्तामणि, भाग-1, पृ.237)

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि आ.शुक्ल ने आचार्य विश्वनाथ के मत का पल्ला पकड़ा है। इसीलिए वे आश्रय के साथ तादात्म्य पर बल देते हैं और आलंबनत्व धर्म का साधारणीकरण स्वीकार करते हैं। आ. शुक्ल के मत से 'साधारणीकरण में आलंबन द्वारा भाव की अनुभूति प्रथम कवि में होनी चाहिए' अर्थात् कवि की अपनी व्यक्ति-चेतना का सामान्य भावभूमि ग्रहण करना या साधारणीकृत होना आवश्यक है। उन्होंने कवि, काव्य और सहृदय की त्रयी में नया सूत्र जोड़ दिया - कवि-भावना के साधारणीकरण की स्वीकृति'। आ. शुक्ल के इसी विचार को बाद में डॉ.नगेन्द्र ने पुनर्प्रतिष्ठित किया।

आ.शुक्ल का मत भारतीय काव्यशास्त्र के स्वीकृति सिद्धांत से थोड़ा भिन्न है। इसलिए कई विद्वानों ने उनके मत की आलोचना की है। **रामदहिन मिश्र** ने 'काव्य दर्पण' में विभावादि के साधारणीकरण को

केवल 'आलंबनत्व धर्म' तक सीमित किए जाने पर आपत्ति की है और कहा है कि रस की कोटियों का विभाजन रस की प्रकृति के विपरीत है। अतः साधारणीकरण और तादात्मीकरण का एक ही अर्थ में प्रयोग भ्रामक है। **आ. केशव प्रसाद मिश्र** ने आ. शुक्ल के मत को 'भ्रम' की संज्ञा देकर कहा 'साधारणीकरण से यहाँ यह अर्थ लिया गया है कि विभाव, अनुभाव आदि को साधारण रूप देकर सामने लाया जाए। विभाव, अनुभाव आदि का साधारण अथवा लोक-सामान्य होना दो अर्थों में माना जा सकता है। एक तो स्वरूपतः सामान्य होना और दूसरे परिणाम या उद्देश्य में सामान्य होना। स्वरूपतः सामान्य होने का आग्रह करना ठीक न होगा, क्योंकि उस अवस्था में विभाव, अनुभाव आदि सीमित और श्रृंखलाबद्ध हो जाएँगे और काव्य की व्यापकता नष्ट हो जाएगी। xxx किंतु हम आचार्य अभिनवगुप्त का मत मानते हैं। साधारणीकरण तो कवि अथवा भावक की चित्त-वृत्ति से संबंध रखता है। चित्त के एकतान और साधारणीकृत होने पर उसे सभी कुछ साधारण प्रतीत होने लगता है।' ('साहित्यालोचन' डॉ. श्यामसुंदर दास से उद्धृत) आ.केशव प्रसाद मिश्र के मत पर डॉ.नगेन्द्र ने कहा है कि 'वे अभिनवगुप्त के अनुसार साधारणीकरण से अभिप्राय चित्तवृत्तियों के साधारणीकरण का ही मानते हैं : सहृदय का चित्त जब एकतान हो जाता है तो उसे सभी कुछ साधारण प्रतीत होने लगता है। विभाव का साधारणीकरण एकांगी है - भाव का साधारणीकरण ही वास्तविक एवं पूर्ण है।' (रस सिद्धांत, पृ.204) **आचार्य केशव प्रसाद मिश्र ने साधारणीकरण को 'योग की मधुमती भूमिका' घोषित किया है।**

8.6.2 बाबू गुलाबराय

बाबू गुलाबराय ने 'सिद्धांत और अध्ययन' में आलंबन के विषयगत अस्तित्व पर बल देकर कहा है कि 'जनता के मन में भी परम्परागत संस्कारों से एक सामान्य भावना बनी रहती है, वही आलंबन का विषयगत अस्तित्व है। जो बात सबके मन में रहती हो वह मानसिक रहती हुई विषयनिष्ठता धारण कर लेती है।' (पृ. 213) निष्कर्ष यह कि सहृदय का तादात्म्य काव्य-निबद्ध कवि की अनुभूति से होता है। 'रामचरितमानस', 'साकेत', और 'राम की शक्ति पूजा' की काव्य-संवेदना की अनुभूति एक-सी नहीं - उसमें कवि-अनुभूति की भिन्नता का अनुभव रहता है।

8.6.3 डॉ.नगेन्द्र

साधारणीकरण के प्रश्न पर डॉ.नगेन्द्र ने सभी कोणों से विचार किया है। उनके विचारों का सार 'रीति-काव्य की भूमिका' के अनुसार इस प्रकार है -

1. साधारणीकरण का अर्थ है काव्य के भावन द्वारा पाठक या श्रोता का भाव की 'सामान्य' भूमि पर पहुँच जाना - दुष्यंत की शकुंतला के प्रति रति के भाव का उस अवस्था में पहुँच जाना कि यह रति शकुंतला के प्रति दुष्यंत की रति न रहकर पुरुष की स्त्री के प्रति साधारण रति-मात्र रह जाए।

2. भट्टनायक और अभिनवगुप्त इसका भी निषेध करते हैं कि हम दुष्यंत के स्थान पर अपने को और शकुंतला के स्थान पर अपनी प्रेयसी को देखने लगते हैं, क्योंकि एक तो अपनी रति का प्रकाशन लज्जास्पद है, दूसरे यह भी संभव है कि हमारा किसी व्यक्ति-विशेष से प्रेम ही न हो। उस समय शुक्ल जी कहते हैं कि हमारे सामने कल्पित सुंदरी का चित्र आएगा, परंतु किसी कल्पित सुंदरी का चित्र आना व्यक्तिगत रति का नहीं, साधारण रति का रूप है। दूसरे, यदि भाव मधुर न होकर कटु है (जैसे राम का रावण पर क्रोध देखकर मेरा भी अपने शत्रु के प्रति क्रोध जाग्रत हो जाता है) तो मेरा यह अनुभव प्रत्यक्ष होने के कारण कटु ही होगा। रस इसे नहीं कहते। वास्तव में यह सब कुछ होता तो साधारणीकरण की आवश्यकता ही क्यों होती?

3. प्रश्न उठता है कि साधारणीकरण किसका होता है? 'मानस' में पुष्प वाटिका के प्रसंग को पढ़ते हुए मुझे तीन व्यक्तियों की चेतना है - अपनी (सहृदय की), राम की (आश्रय की) तथा सीता की (आलंबन की)। इसके अतिरिक्त एक अव्यक्त व्यक्तित्व और है - कवि का। मेरे (सहृदय के) व्यक्तिगत आलंबन का भी एक अव्यक्त व्यक्तित्व हो सकता है।

4. क्या साधारणीकरण आश्रय का होता है? अर्थात् क्या राम का व्यक्तित्व सभी सहृदयों का व्यक्तित्व हो जाता है - और स्पष्ट शब्दों में क्या सभी सहृदय अपने को राम समझ कर रति का अनुभव करते हैं? नहीं। यहाँ शायद नायक का व्यक्तित्व प्रेय होने के कारण और भाव मधुर होने के कारण आपको 'हाँ' कहने का लोभ हो जाए। परंतु जहाँ आश्रय अप्रिय है और भाव कटु है वहाँ इसकी संभावना कैसे हो सकती है।

5. क्या साधारणीकरण नायक का होता है? नायकस्यकवेः श्रोतुः समानोअनुभवस्ततः इसमें क्या आपत्ति है? आपत्ति स्पष्ट है। संस्कृत काव्य का नायक ऐसे गुणों से विभूषित था कि उसके साथ तादात्म्य करना प्रत्येक सहृदय को सहज और स्पृहणीय था, परंतु आज तो काव्य पर यह प्रतिबंध नहीं है। आज के अनेक प्रथम श्रेणी के उपन्यासों में नायक का रूप उक्त आदर्श के बिल्कुल विपरीत मिलता है जिसके साथ तादात्म्य आपके लिए न सहज होगा न स्पृहणीय।

6. क्या आलंबन का साधारणीकरण होता है? xxx क्या राम की प्रिया विश्वप्रिय बन जाती है? क्या पुष्पवाटिका की सीता भी हमारे लिए माता ही बनी रहती है? अगर माता ही बनी रहती है तो यह कहना मिथ्या है कि हम अमिश्रित शृंगार रस का अनुभव कर रहे हैं। हम जब तक उसे प्रेयसी रूप में न देखेंगे, शृंगार रस की दशा से दूर रहेंगे।

7. हम काव्य की सीता से प्रेम करते हैं और काव्य की यह आलंबन रूप सीता कोई व्यक्ति नहीं है जिससे हमको किसी प्रकार का संकोच करने की आवश्यकता हो वह कवि की मानसी सृष्टि है अर्थात् कवि की अपनी अनुभूति का प्रतीक है। उसके द्वारा कवि ने अपनी अनुभूति को संवेद्य बनाया है।

8. जिसे हम आलंबन कहते हैं वह वास्तव में कवि की अपनी अनुभूति का संवेद्य रूप है। उसके साधारणीकरण का अर्थ है कवि की अनुभूति का साधारणीकरण; जो भट्टनायक और अभिनवगुप्त का प्रतिपाद्य है। अतएव निष्कर्ष यह निकला कि साधारणीकरण कवि की अपनी अनुभूति का होता है, अर्थात् जब कोई व्यक्ति अपनी अनुभूति की इस प्रकार अभिव्यक्ति कर सकता है कि वह सभी के हृदयों में समान अनुभूति जगा सके तो पारिभाषिक शब्दावली में हम कह सकते हैं कि उसमें साधारणीकरण की शक्ति वर्तमान है।

9. साधांरणीकरण कवि के लिए किस प्रकार संभव होता है? वह किस प्रकार अपनी अनुभूति का साधारणीकरण करता है? पण्डितों ने इसके दो उत्तर दिए हैं - (1) साधारणीकरण भाषा का धर्म है (2) साधारणीकरण का मूलाधार मानव सुलभ सहानुभूति है जो सभी मनुष्यों के हृदय में एकतार अनुस्यूत है।

10. सहृदय की रसानुभूति में तो किसी को संदेह हो ही नहीं सकता। xxx रस की स्थिति सहृदय के अंतर में ही है।

इस प्रकार, डॉ.नगेन्द्र ने सर्वांग का साधारणीकरण माना है। 'अतः काव्य प्रसंग या रस के समस्त अवयवों का साधारणीकरण मानने की अपेक्षा कवि भावना का साधारणीकरण मानव मनोविज्ञान के अधिक अनुकूल है। दोनों के साथ इसकी संगति बैठ जाती है। वस्तुतः यह दोनों के बीच अनुस्यूत संबंध सूत्र है और वर्तमान में रस-सिद्धांत के सबसे समर्थ प्रतिष्ठापक आचार्य शुक्ल को भी इसमें कोई आपत्ति नहीं है।' (रस सिद्धांत, पृ. 208)

प्रो. निर्मला जैन ने आ.केशव प्रसाद मिश्र, आ.शुक्ल और डॉ.नगेन्द्र के मतों पर समग्रता में विचार करने के बाद यह प्रश्न उठाया है कि 'भट्टनायक जिस रस-सामग्री के बार-बार भावन से साधारणीकरण की चर्चा करते हैं अथवा शुक्ल जी जिसमें आलंबन पर सबसे अधिक बल देते हैं वह कवि की अनुभूति का शब्द मूर्त रूप है। परंतु सहृदय की चित्तवृत्ति के साधारणीकरण के बिना रसानुभूति कैसे सिद्ध होगी यह स्पष्ट नहीं होता।' (रस सिद्धांत और सौंदर्यशास्त्र, पृ.175) एक गंभीर बौद्धिक बहस के बाद प्रो. निर्मला जैन आखरिकार डॉ.नगेन्द्र के इस कथन से सहमत हो जाती हैं कि 'साधारणीकरण रसास्वाद का समरूप, सहचारी या संचारी नहीं, वह तो कारण है।' आचार्य केशव प्रसाद मिश्र के मत की परिसीमा यह है कि 'वे सहृदय के चित्त की एकतानता और साधारणीकरण को एक मानकर चले। वस्तुतः ये रसानुभूति की प्रक्रिया के सोपान हैं, जिनमें पूर्वापर अथवा चरम स्थिति है - जो संविद विश्रान्ति है रस है।' (वही, पृ.176) हिंदी के विद्वानों की साधारणीकरण संबंधी धारणाओं को जाँचने-परखने के बाद प्रो. जैन को कहना पड़ा है कि 'वस्तुतः भट्टनायक ने भावकत्व और भोजकत्व शक्तियों की कल्पना करके साधारणीकरण और रसास्वाद की चरमस्थिति में एक जो क्रम निर्धारित किया है, वह यों ही उड़ा देने की बात नहीं है। उन्हें भावकत्व या भोजकत्व व्यापार न कहकर भले ही व्यंजना-व्यापार के आधार पर समझा दिया जाए किंतु साधारणीकरण और रसास्वादन के मध्यक्रम चाहे कितना ही अलक्षित क्यों न हो, क्रम निश्चय ही वर्तमान रहता है।' (वही, पृ.176)

8.7 रस चिंतन पर नए संदर्भों में विचार और साधारणीकरण

आधुनिक हिंदी साहित्य में विशेष रूप से छायावादोत्तर काल में साहित्य के आस्वाद के प्रतिमान के रूप में रस-सिद्धांत पर प्रश्न-चिह्न लगाया गया। प्रगतिवादी कवि-आलोचकों ने भी और नयी कविता के कवि-आलोचकों ने भी यह बात ज़ोर देकर कही कि अब साहित्य को रस की कसौटी पर कसना उचित नहीं है। - उन्होंने कहा कि प्राचीन और मध्यकालीन साहित्य के लिए रस उपयुक्त मानदंड हो सकता था किंतु समय, समाज, जीवन-स्थितियों में बदलाव के परिणामस्वरूप अब साहित्य केवल आनंदमयी चेतना नहीं है, सुंदरता के साथ-साथ कुरूपता भी आग्राह्य नहीं है। ऐसी स्थिति में रसात्मक बोध और रस निष्पत्ति कवि के अभीष्ट नहीं हैं। किंतु ये सभी आलोचक साधारणीकरण के महत्त्व को स्वीकार करते हैं क्योंकि यह साहित्य के सम्प्रेषण की अनिवार्य प्रक्रिया है। साधारणीकरण के लिए 'सहानुभूति', 'विश्व-दृष्टि', 'भावजगत की सामान्य अनुभूति' जैसे नए शब्द भी प्रयोग किए गए हैं और जीवन-स्थितियों की जटिलता के परिणामस्वरूप साधारणीकरण संबंधी नई चुनौतियों का दायित्व रचनाकार ने स्वीकार किया है।

8.7.1 हिंदी के प्रगतिवादी आलोचकों का मत

हिंदी के प्रगतिवादी आलोचकों ने रस-सिद्धांत पर तो अनेक आपत्तियाँ उठाई हैं लेकिन साधारणीकरण सिद्धांत को स्वीकार किया है। इन सभी ने साधारणीकरण का परम्परा से भिन्न अर्थ -'काव्य की सम्प्रेषणीयता' के व्यापक संदर्भ में लिया है। **डॉ.रामविलास शर्मा** ने कहा है कि 'साहित्य की विषय-वस्तु नौ रसों के साँचे में ढलने से इनकार करती है।' (लोक जीवन और साहित्य, पृ.12) मार्क्सवादी आलोचकों ने प्रायः आ.शुक्ल के इस मत को स्वीकार किया है कि 'लोक हृदय में अपने हृदय को मिला देना ही रस दशा है।' काव्य-सृजन में प्रेषणीयता एक अनिवार्य शर्त है। काव्यानुभूति की प्रेषणीयता के अभाव में उसका पूरा सौंदर्य निष्क्रिय दिखाई देता है। डॉ.शर्मा ने सौंदर्य-बोध, भाव-बोध, इन्द्रिय-बोध का पारस्परिक संबंध दिखाते हुए कहा है कि सौंदर्य की वस्तुगत सत्ता और सामाजिक विकास, कवि-चेतना को निर्धारित करते हैं।

1. प्रकृति, मानव जीवन तथा ललित कलाओं के आनंदात्मक गुण का नाम सौंदर्य है। इस स्थापना पर आपत्ति यह की जाती है कि कला में असुंदर को भी स्थान मिलता है। xxx इस आपत्ति का उत्तर यह है कि कला में कुरूप और असुंदर विवादी स्वरों के समान है जो राग के रूप को निखारते हैं। xxx दुखांत नाटकों में हम दूसरों का दुःख देखकर द्रवित होते हैं। हमारी सहानुभूति अपने तक अथवा परिवार या मित्रों तक सीमित न रहकर एक व्यापक रूप ले लेती है। मानव-करुणा के इस प्रसार को हम सुंदर कहेंगे या असुंदर?

2. व्यक्तिगत संबंधों के अतिरिक्त भी सौंदर्यानुभूति की एक कोई सामान्य भूमि है। xxx मनुष्य के इन्द्रिय-बोध का संसार बहुत विशाल है उसमें एक से अधिक वर्गों और देशों के लोग भाग लेते हैं। ललित कलाओं की सार्वजनीन लोकप्रियता का बहुत बड़ा कारण इन्द्रिय-बोध की व्यापकता है।

3. इस इन्द्रिय-बोध के साथ मनुष्य का भाव जगत है। अपने सामाजिक विकास के साथ मनुष्य ने इस भाव जगत को परिष्कृत और समृद्ध किया है।

4. अनुभूतियों का आधार मनुष्य का सामाजिक जीवन है। यह वस्तुगत आधार होने से ही हम एक-दूसरे के अनुभव को जानते-पहचानते हैं, भिन्नता के होते हुए भी इस वस्तुगत आधार के कारण हम एक-दूसरे के निकट आते हैं। 'भारतीय काव्यशास्त्र ने साधारणीकरण के सिद्धांत द्वारा इस भाव जगत की सामान्य अनुभूति भूमि की ओर संकेत किया। यह उसकी बहुत बड़ी विशेषता है। शुक्ल जी ने उस प्राचीन स्थापना को नवीन रूप देते हुए लिखा था कि सच्चा कवि वही है जिसे लोक हृदय की पहचान हो, जो अनेक विशेषताओं और विचित्रताओं के बीच मनुष्य जाति के सामान्य हृदय को देख सके।' (आस्था और सौंदर्य, पृ.30)

कहना न होगा कि डॉ.रामविलास शर्मा ने आ.शुक्ल की साधारणीकरण से संबंधित मान्यताओं से अपनी सहमति व्यक्त की है।

गजानन माधव मुक्तिबोध ने सौंदर्यानुभूति, साधारणीकरण और कला के स्वभाव पर विस्तार से विचार किया है। उनके चिंतन का सार इस प्रकार है-

1. इसीलिए सौंदर्यानुभव जीवन के सारस्वरूप का प्रगाढ़ मार्मिक अनुभव है किंतु वह तभी प्राप्त होता है जब मनुष्य को अपने से परे जाने, अपने से ऊपर उठने, तटस्थ होने, निजबद्धता से मुक्त होने के साथ-साथ (और एक साथ) तन्मय होने का, विलीन हो जाने का मानवीय गुण और गुण का सामर्थ्य प्राप्त हो, तभी वह विशिष्ट की सामान्य में परिणति की मुक्त आत्मीयता का आनंद ले सकेगा।

2 कलाकार में निजबद्धता की स्थिति से ऊपर उठने की क्षमता का विकास होना आवश्यक है।

3. इस प्रकार हम देखते हैं कि सौंदर्यानुभूति के दो लक्षण हैं। (एक) आत्मबद्ध दशा का परिहार। (दो) आनंदात्मक अनुभव। xxx सौंदर्यानुभूति उच्च स्तर पर, अधिक उदात्त स्तर पर जीवनानुभूति ही का एक रूप है। xxx उसमें जीवनानुभवों का पुनः सृजन होता है संवेदना पूर्ण कल्पना द्वारा। xxx किंतु इस पूरे अनुभव में, आत्मबद्ध दशा का परिहार होना अत्यंत आवश्यक है।

4. अतएव सौंदर्यानुभव वास्तविक जीवन की मनुष्यता है। अपने से परे उठने और परे जाने की मनुष्य-क्षमता से उसका पूरा और सीधा संबंध है।

(नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध, पृ.167)

आ.शुक्ल का 'लोक हृदय में हृदय को लीन करने की 'दशा' वाला भाव ग.मा.मुक्तिबोध की 'विश्व-दृष्टि' चेतना में व्याप्त है। वस्तुतः साधारणीकरण एक अर्थ में बृहत्तर सामाजिकता से साक्षात्कार की शक्ति है। कलाकार एक विश्व-चेतस् और आत्म-चेतस् प्रबुद्ध मानव है जो कला में निजी आत्मबद्धता से ऊपर उठकर निर्वैयक्तिकता को प्राप्त हो जाता है।

8.7.2 नये साहित्य में साधारणीकरण पर विचार

नये साहित्य में अज्ञेय ने साधारणीकरण और सम्प्रेषण की समस्या को नए ढंग से उठाया है। उनके विचार से आधुनिक भाव-बोध के जटिल हो जाने की समस्या एक चुनौती का रूप धारण करती रही है। इसलिए कवि-कर्म कठिन होता गया है। कवि के सामने अनुभूति की जटिलता के कारण विचार-सम्प्रेषण की समस्या उपस्थित होती रही है। पर इस संकट का बोध हम सभी को एक-सा नहीं होता, नहीं हो सकता क्योंकि लेखक स्वयं ही परिवेश हो गया है। इसी परिवेश में भावकत्व व्यापार की महत्व-प्रतिष्ठा करते हुए अज्ञेय ने कहा है कि -

1. तारसप्तक के कवियों पर यह आक्षेप किया गया है कि वे साधारणीकरण का सिद्धांत नहीं मानते। यह दोहरा अन्याय है क्योंकि वे न केवल इस सिद्धांत को मानते हैं बल्कि इसी से प्रयोगों की आवश्यकता भी सिद्ध करते हैं।

2. यह मानना होगा कि सभ्यता के विकास के साथ-साथ हमारी अनुभूतियों का क्षेत्र भी विकसित होता गया है और अनुभूतियों को व्यक्त करने के हमारे उपकरण भी विकसित होते गए हैं। यह कहा जा सकता है कि हमारे मूल राग-विराग नहीं बदले - प्रेम अब भी प्रेम है - घृणा अब भी घृणा। यह साधारणतया स्वीकारात्मक संबंधों की प्रणालियाँ बदल गयी हैं; और कवि का क्षेत्र रागात्मक संबंधों का क्षेत्र होने के कारण इस परिवर्तन का कवि-कर्म पर बहुत गहरा असर पड़ा है।

3. लेकिन जैसे-जैसे बाह्य वास्तविकता बदलती है, वैसे-वैसे हमारे उससे रागात्मक संबध जोड़ने की प्रणालियाँ भी बदलती है - और अगर नहीं बदलतीं तो उस बाह्य वास्तविकता से हमारा संबंध टूट जाता है।

4. कहना होगा कि जो आलोचक इस परिवर्तन को नहीं समझ पा रहे हैं, वे उस वास्तविकता से टूट गए हैं जो आज की वास्तविकता है। उससे रागात्मक संबंध जोड़ने में असमर्थ वे उसे केवल बाह्य वास्तविकता मानते हैं जबकि हम उससे वैसा संबंध स्थापित करके उसे आंतरिक सत्य बना लेते हैं। और इस विपर्यय से साधारणीकरण की नई समस्याएँ आरंभ होती हैं।

5. प्राचीनकाल में, जब ज्ञान का क्षेत्र सीमित था, जब कवि, वैज्ञानिक, साहित्यिक आदि अलग-अलग बिल्ले अनावश्यक थे और जो पठित या शिक्षित था, सभी ज्ञानों में पारंगत नहीं तो उनसे परिचित तो था ही, साधारणीकरण की समस्या दूसरे प्रकार की थी। तब भाषा का एक मुहावरा था। या कह लीजिए कि शिक्षित वर्ग का एक मुहावरा था, जन का एक और। एक संस्कृत था एक प्राकृत। लेकिन आज क्या वह स्थिति है?

6. विशेष ज्ञानों के इस युग में भाषा एक रहते हुए भी उसके मुहावरे अनेक हो गए हैं। आज भाषा भी प्रेषण का माध्यम है; यह कोई नहीं कहता कि उसने अपनी सार्वजनिकता की प्रवृत्ति छोड़ दी है या छोड़ दे। लेकिन वह अब प्रवृत्ति है तथ्य नहीं। ऐसी कोई भाषा नहीं जो सब समझते हों -सब बोलते हों।

7. अंग्रेजी है, अंग्रेजी के बड़े-बड़े कोश हैं जो शब्दों के सर्वसम्मत अर्थ देते हैं, पर गणितज्ञ की अंग्रेजी दूसरी है, अर्थशास्त्री की दूसरी और उपन्यासकार की दूसरी। ऐसी स्थिति में जो कवि एक क्षेत्र का सीमित सत्य (तथ्य नहीं सत्य अर्थात् उस सीमित क्षेत्र में जिस तथ्य से रागात्मक संबंध है वह) उसी क्षेत्र में नहीं, उससे बाहर अभिव्यक्त करना चाहता है - उसके सामने बड़ी समस्या है। या तो वह यह प्रयत्न ही छोड़ दे, सीमित सत्य को सीमित क्षेत्र में सीमित मुहावरे के माध्यम से अभिव्यक्त करे यानी साधारणीकरण तो करे पर साधारण का क्षेत्र संकुचित कर दे, अर्थात् एक अंतर्विरोध का आश्रय ले या फिर एक बृहत्तर क्षेत्र तक पहुँचने का आग्रह न छोड़े और इसलिए क्षेत्र के मुहावरे से बँधा न रहकर उससे बाहर जाकर राह खोजने की जोखिम उठाये। इस प्रकार वह साधारणीकरण के लिए ही एक संकुचित क्षेत्र का मुहावरा छोड़ने को बाध्य होगा।

8. जरा भाषा के मूल प्रश्न पर - शब्द और अर्थ के संबंध पर ध्यान दीजिए। शब्द में अर्थ कहाँ से आता है, क्यों और कैसे बदलता है, अधिक या कम व्याप्ति पाता है। xxx एक अत्यंत छोटा उदाहरण लिया जाए। हम कहते हैं 'गुलाबी' और उससे एक विशेष रंग का बोध हमें होता है। निस्संदेह इससे अभिप्राय है गुलाब के फूल जैसा रंग, यह उपमा उसमें निहित है। xxx उस समय यह प्रयोग चमत्कारिक रहा होगा। पर अब वैसा नहीं है। अब हम शब्द से सीधे रंग तक पहुँच जाते हैं फूल की मध्यस्थता अनावश्यक है। अब उस अर्थ का चमत्कार मर गया है अब वह अभिधेय हो गया है। xxx यह क्रिया भाषा में निरंतर होती रहती है और भाषा के विकास की अनिवार्य क्रिया है। चमत्कार मरता रहता है और चमत्कारिक अर्थ अभिधेय बनता रहता है। xxx इस प्रकार कवि के सामने हमेशा चमत्कार सृष्टि की समस्या बनी रहती है वह शब्दों को निरंतर नया संस्कार देता चलता है और वे संस्कार क्रमशः सार्वजनिक मानस में पैठकर फिट ऐसे हो जाते हैं कि उस रूप में कवि के काम के नहीं रहते - 'बासन अधिक घिसने से मुलम्मा छूट जाता है।'

9. जब चमत्कारिक अर्थ मर जाता है और अभिधेय बन जाता है तब उस शक्ति की रागोत्तेजक शक्ति भी क्षीण हो जाती है। उस अर्थ से रागात्मक संबंध स्थापित नहीं होता। कवि तब उस अर्थ की प्रतिपत्ति करता है जिससे पुनः राग का संचार हो, पुनः रागात्मक संबंध स्थापित हो। साधारणीकरण का अर्थ यही है।

10. क्या है जो कविता को आवृत्ति का नहीं, सृष्टि का गौरव देता है? कवि नए तथ्यों को उनके साथ नए रागात्मक संबंध जोड़कर नए सत्यों का रूप दे उन नए सत्यों को प्रेष्य बनाकर उनका साधारणीकरण करे, यही नयी रचना है। इसे नयी कविता का कवि नहीं भूलता। साधारणीकरण का आग्रह भी उसका कम नहीं है बल्कि यह देखकर कि आज साधारणीकरण अधिक कठिन है वह अपने कर्तव्य के प्रति अधिक सजग है और उसकी पूर्ति के लिए अधिक बड़ा जोखिम उठाने को तैयार है। ('दूसरा सप्तक' भूमिका)

अज्ञेय के साथ उनकी पूरी पीढ़ी ने आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की प्रगति और प्रवृत्ति - विशेषीकरण पर ध्यान देकर साधारणीकरण की कठिनता पर गंभीरता से विचार-विवेचन किया है। **लक्ष्मीकांत वर्मा** ने 'नये प्रतिमान पुराने निकष', **रघुवंश** 'साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य', **जगदीश गुप्त** 'नयी कविता : सीमाएँ और संभावनाएँ', **डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी** 'भाषा और संवेदना', **धर्मवीर भारती** 'मानव मूल्य और साहित्य', **डॉ.नामवर सिंह** 'कविता के नये प्रतिमान' में काव्य-सम्प्रेषण की चुनौतियों पर नया चिंतन किया है।

8.8 पश्चिमी विद्वानों के काव्यानुभूति की प्रक्रिया संबंधी सिद्धांत

पश्चिमी काव्यशास्त्र और सौंदर्यशास्त्र में काव्यानुभूति की प्रक्रिया पर विचार की एक समृद्ध परम्परा है। यह ठीक है कि वहाँ रस-चिंतन जैसी कोई चीज़ नहीं है, लेकिन काव्यानुभूति और काव्यास्वाद के मौलिक प्रश्न तो उनके सामने भी आते रहे हैं। सम्प्रेषण और ग्रहण की प्रक्रिया पर पश्चिम में सौंदर्यशास्त्र के अंतर्गत विस्तार से विचार हुआ है। विचार का मूल मुद्दा रहा है कि कवि अपने अनुभव

को पाठक तक कैसे सम्प्रेषित करता है तथा पाठक उस अनुभव को कैसे ग्रहण कर पाता है। प्रो. निर्मला जैन ने 'रस सिद्धांत और सौंदर्यशास्त्र' शीर्षक शोध-प्रबंध में साधारणीकरण सिद्धांत की तुलना पश्चिम के अनेक काव्यानुभूति की प्रक्रिया से संबंधित सिद्धांतों से की है। उन्होंने पश्चिम के प्रमुख सिद्धांतों का सार इस प्रकार दिया है -

> 'कलागत सौंदर्यानुभूति का विषय सदा आत्म से इतर होता है। अतः वह जीवनगत घटनाओं की प्रत्यक्ष अनुभूति न होकर, उन घटनाओं या विषयों से कला-निबद्ध रूप की कल्पनासिद्ध अनुभूति होती है। इस प्रकार कला-सृजन और कलानुभूति, स्रष्टा और ग्राहक के बीच अनुभूति के धरातल पर संवाद है। वह ग्राहक के द्वारा विषय का सीधा अनुभव न होकर दूसरे के अनुभव का अनुभव है। यह परगत अनुभव ग्राहक का आत्मगत अनुभव किस सामान्य भावभूमि पर कैसे हो जाता है यह प्रश्न सौंदर्यानुभूति की प्रक्रिया से सम्बद्ध है। इस प्रक्रिया में जो 'सामान्य' तत्व है, उसका एक अभिप्राय तो कवि और ग्राहक के बीच किसी सामान्य भावभूमि से है और दूसरा अनेक एक देशीय और समसामयिक ग्राहकों तथा विभिन्न देश-काल के व्यक्तियों के बीच अनुस्यूत उस सामान्य सूत्र से है जो किसी कलाकृति को सार्वभौम या कालसिद्ध रूप देता है।' (पृ.178)

प्रत्येक देश के रचनाकार की परम्परा-संस्कृति-इतिहास-भूगोल की मानसिकता की बनावट भिन्न होती है। मनोभूमिका की यह भिन्नता कलाकृति की अनुभूति में दखल देती है। इसलिए एक ही कलाकृति पर पाठकों की प्रतिक्रिया भिन्न-भिन्न होती है। जैसे हमारी परम्परा में शेक्सपियर जन्म नहीं ले सकता है वैसे ही पश्चिम की परम्परा में कालिदास-तुलसीदास का जन्म संभव नहीं। फिर भी पाठक इन रचनाकारों की कृतियों का आस्वादन तो करता ही है।

कवि और पाठक के बीच एक 'सामान्य भूमि' मानव-संवेगों के **सामाजिक-सांस्कृतिक सामूहिक रूप** के आधार पर निर्मित होती है। मनोविश्लेषणशास्त्री सी.जी.युंग और मार्क्सवादी सिद्धांतकार क्रिस्टोफर कॉडवेल तथा साहित्य-मनीषी एफ.आर.लीविस तीनों क्षेत्रों के विद्वान अंततः एक ही राय व्यक्त करते हैं कि रचना की 'सामान्य भूमि' का आधार **सामाजिक-सामूहिक-निर्वैयक्तिक चेतना** है। युंग तो साफ कहते हैं कि हम कलानुभूति और कलास्वाद के क्षणों में 'व्यक्ति' नहीं 'सामूहिक मानव' (क्लेक्टिव मैन) होते हैं। टी.एस.इलियट के 'निर्वैयक्तिकता सिद्धांत' का एफ.आर.लीविस समर्थन कर देते हैं। क्या यह उसी सत्य का साक्षात्कार नहीं है जिसे युंग कहते हैं कि 'प्रत्येक महान कलाकृति वस्तुगत और निर्वैयक्तिक होते हुए भी हममें से प्रत्येक को गहरे स्तर पर विचलित करती है।' मूल बात यह है कि काव्यानुभूति की प्रक्रिया एक प्रकार से निर्वैयक्तिकता (डि-परसनलाइज़ेशन) की प्रक्रिया है। रचनाकार अपनी अनुभूतियों को मिथकों-प्रतीकों-बिम्बों, रूपकों, अभिप्रायों की भाषा में वस्तुगत रूप देता है। काव्यानुभूति की प्रक्रिया का 'विशेष' पाठक में 'सामान्य' कैसे बनता है - इस समस्या पर विद्वानों ने कई कोणों से विचार किया है। यहाँ प्रमुख सिद्धांतों की चर्चा जरूरी है -

(क) विरोधों का सामंजस्य
(ख) समानुभूति का सिद्धांत
(ग) आसक्तिहीन आसक्ति का सिद्धांत
(घ) अव्यक्तिवाद का सिद्धांत
(च) संवेग संतुलन की निर्वैयक्तिकता का सिद्धांत
(छ) निर्वैयक्तिकता-सिद्धांत का नया पाठ

(क) विरोधों का सामंजस्य

विद्वानों का एक बड़ा समुदाय यह हमेशा मानता रहा है कि एक श्रेष्ठ रचना की पहचान है - विरोधी तत्वों में सामंजस्य स्थापित करने की शक्ति। इस विचार के बीज **अरस्तू** के 'विरेचन सिद्धांत' में पाते हैं। त्रासदी की शक्ति इस बात से ही जानी जा सकती है कि उसमें त्रास और करुणा के बीच सामंजस्य घटित हो पाता है या नहीं। अरस्तू के बाद इस सिद्धांत की तार्किक स्थापना रोमाण्टिक विचारकों ने करनी चाही है - विशेष कर जर्मन रोमाण्टिक विचारकों में **श्लेगल** का नाम प्रमुख है। जर्मन दार्शनिकों से प्रभावित अंग्रेज़ी के प्रसिद्ध कवि-आलोचक **कॉलरिज** ने 'बायोग्राफिया लिटरेरिया' में कल्पना-सिद्धांत की चर्चा करते हुए कहा है कि कल्पना की शक्ति विरोधों में सामंजस्य स्थापित करने में है। 'कल्पना की यह शक्ति विरोधी गुणों के सामंजस्य में अपने आपको व्यक्त करती है।' यहाँ ध्यान देने की विशेष बात यह है कि 'विरोधों का सामंजस्य' सिद्धांत को रोमाण्टिक काव्य के विरोधी **टी.एस.इलियट और आई.ए.रिचर्डस** ने भी स्वीकार किया है। एलियट ने विरोधों के सामंजस्य को

'विट' (वैदग्ध) के अंतर्गत समझाया और रिचर्डस ने समाहार-धर्मी कविता की 'आयरनी' (विडम्बना) के अंतर्गत। विडम्बना का कार्य है - विरोधी-वृत्तियों का अंतर्भाव। 'विरोधी संवेगों के बीच संतुलन' सिद्धांत के प्रतिष्ठापक रिचर्डस ने काव्य-लय के अर्थ व्यापार को भी विरोधों के सामंजस्य के भीतर ही महत्वपूर्ण माना है। हिंदी समीक्षा में आ.शुक्ल ने विरोधों के सामंजस्य और समाहार-शक्ति की चर्चा पर पर्याप्त बल दिया है।

(ख) समानुभूति का सिद्धांत

पश्चिमी सौंदर्यशास्त्र में सौंदर्यानुभूति की प्रक्रिया के एक विशेष पक्ष को 'थियरी ऑफ एम्पेथी' (Theory of Empathy)के अंतर्गत प्रस्तुत किया गया है। हिंदी में इस 'एम्पेथी' के लिए 'समानुभूति का सिद्धांत' एक अवधारणा के रूप में आया है। मूलतः यह सिद्धांत मूर्तिकला तथा नृत्यकला के संदर्भ से संबंधित है किंतु इसका विस्तार संगीत और साहित्य को भी अपने में समेट लेता है। जर्मन विद्वान **थ्योडोर लिप्स** के अनुसार समानुभूति का अर्थ है - सौंदर्य के क्षण में विषय और विषयी के मध्य द्वैत-चेतना का लोप और अद्वैत की भावना का उदय। द्वैत-बोध का लोप विषयी के द्वारा विषय पर अहं के प्रक्षेपण से होता है। **विल्हेम वोरिंगर** ने पृथक्करण (एब्सट्रेक्शन) के विरोध में समानुभूति को व्यापक अर्थ-संदर्भों में परिभाषित किया है। उनके विचार से ग्रीक-रोमन, पुनर्जागरण और आधुनिक यथार्थवादी कलाकृतियाँ ही समानुभूति जाग्रत करती हैं। इस जागृति का कारण है - माँसलता, मूर्त्तता और ऐन्द्रिय-बोध। किंतु अमूर्त कलाएँ 'पृथक्करण' उत्पन्न करती हैं। पृथक्करण में ग्राहक अमूर्त रूपों का कल्पना के सहारे अतिक्रमण करता है पर यह प्रक्रिया बहुत जटिल है। इसलिए समानुभूति के सिद्धांत को अधिकांश विद्वान 'साधारणीकरण' का पर्याय मानने से इनकार करते हैं।

(ग) आसक्तिहीन आसक्ति का सिद्धांत

इस सिद्धांत के प्रतिष्ठापक जर्मन दार्शनिक **काण्ट** हैं। सौंदर्य या कला विषयक आसक्ति को कांट ने 'आसक्तिहीन' माना है। उनके अनुसार, सौंदर्य ग्रहण शुद्ध बुद्धि (प्योर रीजन) और व्यावहारिक बुद्धि (प्रैक्टिकल रीजन) से भिन्न 'निर्णय' (जजमेंट) के अंतर्गत आता है जिसे कला में अभिरुचि (टेस्ट) के द्वारा परिभाषित किया जा सकता है। 'निर्णय मीमांसा' में कांट ने यह कहा है कि **कला एक परिवर्द्धित मनोवृत्ति (इनलार्ज्ड मेन्टेलिटी) है जिसमें अपने आप से सहमत होना पर्याप्त नहीं है - बल्कि हरएक के स्थान पर अपने आपको रखकर सोचना भी आवश्यक है।** अर्थात् निर्णय में वैयक्तिक सीमाओं से मुक्ति आवश्यक है। निर्णय के कार्य में दूसरों की साझेदारी आवश्यक है। निर्णय-क्षमता का संबंध सौंदर्य संबंधी 'अभिरुचि' से है। सौंदर्यगत निर्णय वैयक्तिक न होकर निर्वैयक्तिक, सार्वजनीन निर्णय हैं। कलाकृति की वस्तुगत सत्ता है जिसे अपनी-अपनी निगाह से देखने-परखने में हर पाठक स्वतंत्र है। मूल बात यह है कि सौंदर्य की यह वस्तुनिष्ठता ही 'अभिरुचि' और 'निर्णय' दोनों को निर्वैयक्तिकता प्रदान करती है। 'निर्वैयक्तिक भावभूमि पर कलाकृति के प्रति न तो किसी का कोई प्रयोजन रह जाता है न आत्मा के नैतिक आग्रह का आधार ही शेष बचता है। ग्राहक की अभिरुचि में 'आसक्तिहीन आसक्ति' की एक व्यापक वस्तुनिष्ठ स्थिति आ जाती है। यही कलानुभूति या सौंदर्यानुभूति की 'अनासक्त परितोषजन्यता' है। कलानुभूति में 'अनासक्ति' की महत्व-प्रतिष्ठा करते हुए कांट ने '**अनुभूति की** विषयिगत सार्वभौमिकता के सिद्धांत को स्वीकृति दे दी।

(घ) अव्यक्तिवाद का सिद्धांत

टी.एल.एलियट ने एंटी-रोमांटिक दृष्टिकोण की प्रतिक्रिया स्वरूप कला में निर्वैयक्तिता के सिद्धांत का प्रतिपादन किया। उनकी दृष्टि में कला व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति न होकर व्यक्तित्व से पलायन है। रोमांटिक कविता की सबसे बड़ी दुर्बलता है - भावावेग; अनियंत्रित भावोच्छ्वास। इसलिए एलियट ने रोमाण्टिक कवि के चरम व्यक्तिवाद पर आक्रमण किया है। उन्होंने निर्वैयक्तिकता-सिद्धांत की स्थापना काव्य की सृजन-प्रक्रिया के धरातल पर की और कवि की व्याख्या सर्जक के रूप में नहीं, माध्यम के रूप में की। उनका तात्पर्य यह है कि **कवि के पास अभिव्यक्त** करने के लिए व्यक्तित्व नहीं, बल्कि **एक विशेष माध्यम होता है जो केवल एक माध्यम होता है** व्यक्तित्व नहीं जिसमें विभिन्न प्रभाव और **अनुभव** विशिष्ट और **अप्रत्याशित रूपों में संयुक्त हो जाते हैं।** कवि-कर्म की प्रक्रिया में निजी और व्यक्तिगत अनुभवों को अमान्य ठहराकर जब एलियट 'व्यक्तित्व से पलायन' की बात करते हैं तो उनका उद्देश्य व्यक्ति-तत्व का निषेध और तिरस्कार नहीं होता - उसका निर्वैयक्तिकीकरण होता है। '**होता यह है कि क्षण-विशेष में** व्यक्ति जैसा भी है उसका निरंतर समर्पण किसी अधिक मूल्यवान वस्तु **के प्रति होता है।** एक कलाकार की प्रगति व्यक्तित्व के निषेध और अनवरत् आत्म-बलिदान में है।' निर्वैयक्तिकीकरण की यह प्रक्रिया कला को विज्ञान की स्थिति के निकट पहुँचा देती है। इसके लिए एलियट ने एक उत्प्रेरक (catalyst) का दृष्टान्त दिया। ऑक्सीजन और सल्फर डाइऑक्साइड मिलकर

सल्फ्यूरस एसिड बन जाते हैं। यह संयोजन तभी घटता है जब प्लेटिनम मौजूद हो, फिर भी इस नवनिर्मित गैस में प्लेटिनम का कोई चिह्न नहीं बचता और स्वयं प्लेटिनम पर भी कोई प्रभाव पड़ता प्रतीत नहीं होता, वह निष्क्रिय, तटस्थ और अपरिवर्तित रहता है। कवि का मानस-प्लेटिनम का तार है। xxx कलाकार जितना ही सिद्ध होगा उसके भीतर के भोक्ता और सृष्टा मानव का पार्थक्य होगा।' इस प्रकार एलियट के निर्वैयक्तिकता-सिद्धांत में वैयक्तिकता मात्र का निषेध है। 'महान कला इस अर्थ में निर्वैयक्तिक होती है कि वैयक्तिक संवेग और वैयक्तिक अनुभव विस्तृत होकर आत्मेतर में पूर्णता प्राप्त करते हैं। वह वैयक्तिक अनुभव और संवेग के अर्थ में निर्वैयक्तिक नहीं।' जिस प्रकार कवि व्यक्तित्व अपनी वैयक्तिकता को त्याग कर बृहत्तर आत्मेतर पूर्णता को प्राप्त होता है उसी प्रकार काव्यानुभूति के क्षणों में पाठक या सामाजिक भी अपनी निजता या वैयक्तिकता से मुक्त होकर किसी आत्मेतर अनुभूति में पूर्ण होता है।

(च) संवेग संतुलन की निर्वैयक्तिकता का सिद्धांत

आई.ए.रिचर्डस के अनुसार कलानुभूति की निर्वैयक्तिकता का पहला कारण काव्यानुभूति को किसी भी प्रकार के विजातीय तत्व के मिश्रण से बचाने का प्रयत्न है। यहाँ तक हम अपनी वैयक्तिक विचित्रताओं तक को उसमें प्रवेश नहीं करने देते। दूसरे, एक ही काव्य-कृति का अनुभव थोड़े से अंतर के साथ अनेक व्यक्ति कर लेते हैं। इससे जाहिर है कि काव्य-कृति व्यक्तिगत सम्पत्ति न होकर सामूहिक सम्पत्ति होती है। इससे काव्य-कृति की निर्वैयक्तिकता स्वतः प्रमाणित हो जाती है। हम कह सकते हैं कि कलाकृति में काव्यानुभूति या जीवनानुभूति की विशिष्टता उसकी निर्वैयक्तिकता में ही अंतर्भूत है। रिचर्डस भारी छान-बीन के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि संवेग-संतुलन सिद्धांत की अपरिहार्य परिणति है - कलाकृति की निर्वैयक्तिकता। 'साहित्य समीक्षा के सिद्धांत' शीर्षक पुस्तक के त्रासदी के आस्वाद के प्रकरण में रिचर्डस ने 'संवेग-संतुलन' सिद्धांत की तार्किक व्याख्या प्रस्तुत की और कहा कि 'निर्वैयक्तिकता की स्थिति में पाठक की अधिकाधिक रुचियाँ शामिल रहती हैं। वह वैयक्तिक सीमाओं से ऊपर उठकर निर्वैयक्तिक भाव-भूमि को प्राप्त हो जाता है। एफ.आर.लीविस के अनुसार, रिचर्डस की सबसे बड़ी देन अर्थ-मीमांसा के क्षेत्र में काव्यानुभूति की ऐसी प्रक्रिया उपस्थित करना है जो पूर्ववर्ती मान्य प्रक्रियाओं से कहीं अधिक मूल्यवान और समर्थ है।

(छ) निर्वैयक्तिकता-सिद्धांत का नया पाठ

अंग्रेज़ी आलोचनाशास्त्र में **एफ.आर.लीविस** ने एक बड़ा काम यह किया है कि उन्होंने टी.एस.एलियट द्वारा व्याख्यायित 'निर्वैयक्तिकता' संबंधी मान्यता को चिंतन की सूक्ष्म-गहन ताकत से आगे बढ़ाया है। वाल्टर स्काट की एक कविता का विश्लेषण करते हुए 'विचार और संवेगात्मक गुण' नामक निबंध में लिखा है कि 'उसे (प्राइड मैजी कविता) पढ़ते हुए ऐसा नहीं लगता कि हमें केवल संवेग ही प्रदान किए गए हैं। जैसे-जैसे हम कविता को पढ़ते जाते हैं और उसके नाटकीय तत्वों से साक्षात्कार करते जाते हैं - संवेग विकसित होता है और अपने आपको परिभाषित करता है। उस कविता के प्रभाव-स्वरूप जो तथ्य हमारे हाथ लगता है - उसमें संवेगात्मक अनासक्ति का अहसास है। इस 'अनासक्ति' शब्द के स्थान पर हम 'निर्वैयक्तिकता' शब्द का प्रयोग कर सकते हैं और इस शब्द के द्वारा हम सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आलोचनात्मक अवधारणा प्रस्तुत करते हैं। इस कथन से ज़ाहिर है कि काव्य में निर्वैयक्तिक संवेग वह है जो कविता में विभावन व्यापार के माध्यम से अपने को परिभाषित करता है। सफल कवि वैयक्तिक संवेग को परस्पर विरोधी जटिल अनुभूत संयोजन के द्वारा निर्वैयक्तिक रूप देने में सक्षम होता है। टेनीसन की कविता के माध्यम से उन्होंने यह भी कहा कि जहाँ निर्वैयक्तिकता नहीं होती वहाँ भाव का प्रभावहीन सरलीकरण होता है। कारण, भावों के वैयक्तिक स्तर में सस्ती भावुकता प्रविष्ट होकर 'वैयक्तिक एकीकरण' में बाधा डालती है और कवि यथार्थ का उन्मुक्त भाव से सामना करने में डगमगा जाता है। मूल बात यह है कि लीविस ने 'निर्वैयक्तिकता' में संवेगों की सार्वभौमिकता का प्रतिपादन किया। डी.एच.लारेन्स के सृजन-मर्म का उद्घाटन करते हुए उन्होंने यह भी कहा कि अराजकता से भरे इस जीवन-जगत में व्यक्ति अपना आंतरिक विकास करना चाहता है और विकास तभी संभव है जब हम अनासक्त होकर अपनी विवेक-वयस्कता को धार दें। काव्य, कवि के साथ अपने पाठक को भी निवैयक्तिक भावभूमि प्रदान करता है और उसका आत्म-विस्तार भी करता है।

8.9 काव्यात्मक भाषा और साधारणीकरण

काव्यानुभूति के सम्प्रेषण के लिए विभावादि में सामान्यीकरण का सामर्थ्य होना ही सब कुछ नहीं है - बल्कि विभावादि का काव्यात्मक भाषा में निष्पन्न होना भी अपेक्षित है। भारतीय और पाश्चात्य जगत के

काव्यशास्त्री इस बात पर पूरी तरह एकमत हैं कि भाव-सम्प्रेषण के लिए काव्य-भाषा का महत्व असंदिग्ध है। स्वयं भट्टनायक ने साधारणीकरण के प्रसंग में काव्य-भाषा का प्रश्न उठाया और शब्द-विलक्षणता को आवश्यक माना। 'काव्यात्मक शब्द' के कारण ही अभिधा-व्यापार से ज्यादा भावकत्व व्यापार विलक्षण अर्थ-दीप्ति पैदा करता है। इसी संकेत को ग्रहण करते हुए अभिनवगुप्त ने अभिधा भावकत्व व्यापार को 'व्यंजना व्यापार' में समाविष्ट करने का प्रस्ताव किया। अभिनवगुप्त ने 'अभिज्ञान शाकुन्तल' के छंद 'ग्रीवा-भंगाभिराम' का उदाहरण पेश करते हुए कहा कि काव्य-भाषा के द्वारा ही यहाँ भयाक्रान्त मृग का साक्षात्कार काव्य-बिंब ग्रहण के रूप में होता है। आ.शुक्ल ने अर्थ ग्रहण के साथ बिंब ग्रहण की जो बात कही है उसके लिए भी काव्य-भाषा का वैशिष्ट्य अपेक्षित है।

पाश्चात्य काव्यशास्त्र में 'त्रासदी' के संदर्भ में भाषा की काव्यात्मकता पर विचार करने की एक परम्परा रही है। इसी परम्परा के चिन्तन का सार प्रस्तुत करते हुए जार्ज संतायना ने कहा कि 'विषय नहीं बल्कि कलात्मक निर्वाह ही त्रासदी को त्रासदी का गौरव प्रदान करता है।' हेमलेट के स्वगत कथन काव्यात्मक गुण के कारण ही पाठक के मर्म को छूते हैं। एफ.आर.लीविस ने 'त्रासदी और माध्यम' शीर्षक निबंध में कहा है कि त्रासदी की निर्वैयक्तिकता का आधार ही 'भाषा के काव्यात्मक उपयोग' में निहित है। काव्यात्मक से यहाँ अर्थ है वह नाटकीय भाषा जो वक्रोक्ति-विदग्धता से परिपूर्ण होती है। यही बात अभिनवगुप्त 'व्यंजना व्यापार' से कहते हैं। जिसे लीविस 'अन्वेषणात्मक सृजनशीलता' कहते हैं वह 'अपूर्व वस्तु निर्माण क्षमता' के ही समकक्ष है। इस प्रकार काव्यानुभूति की निर्वैयक्तिकता के साथ भाषा की निर्वैयक्तिकता की बात करना गहन सूझ-बूझ का नतीजा है।

संस्कृत के आचार्यों, विशेषकर अभिनवगुप्त और पंडितराज जगन्नाथ ने साधारणीकरण और काव्य-भाषा के भावमय प्रयोग पर विस्तार से विचार किया है। हिंदी में आ.शुक्ल ने इस परंपरा को 'कविता क्या है?', 'साधारणीकरण और व्यक्तिवैचित्र्यवाद' जैसे निबंधों में आगे बढ़ाया है। अज्ञेय ने 'तारसप्तक' 'दूसरा सप्तक', 'तीसरा सप्तक' की भूमिकाओं में साधारणीकरण और काव्य-भाषा के प्रश्न को नए नया आयाम दिया है। साधारणीकरण मूलतः सम्प्रेषण व्यापार है और इस व्यापार की शक्ति कवि काव्य-भाषा के भावमय प्रयोग से ही प्राप्त करता है। मुक्तिबोध, डॉ.रामविलास शर्मा, डॉ.रामस्वरूप चतुर्वेदी, डॉ. देवराज, रघुवीर सहाय, जगदीश गुप्त, लक्ष्मीकांत वर्मा आदि ने काव्य-भाषा और सम्प्रेषण पर निरंतर विचार किया है।

8.10 पश्चिम के काव्यानुभूति की प्रक्रिया संबंधी सिद्धांतों से साधारणीकरण की तुलना

भारतीय साधारणीकरण सिद्धांत के समकक्ष पश्चिमी आलोचनाशास्त्र में निर्वैयक्तिकता का सिद्धांत चर्चा के केंद्र में रहा है। अरस्तू के विरेचन का व्यापक अर्थ है - निर्वैयक्तिकीकरण (डि-इंडिविजुअलाइज़ेशन) हीगेल को 'विरेचन' का उपर्युक्त अर्थ ही मान्य रहा। यह अर्थ काण्ट के 'आसक्तिहीन आसक्ति' के पर्याप्त निकट है क्योंकि निज-पर की भेद-बुद्धि से दूर आसक्तिहीनता ही निर्वैयक्तिकता है जिसमें पाठक या सहृदय देश-काल के बंधनों से मुक्त हो जाता है। विशिष्ट व्यक्तिगत संसर्गों से मुक्ति ही साधारणीकरण है। साधारणीकरण यदि 'काव्यानुभूति की सार्वभौमिकता' नहीं है तो क्या है। क्योंकि सार्वभौमिकता में निर्वैयक्तिकता की ही व्याप्ति है। टी.एस.एलियट ने रोमाण्टिक काव्य की अतिशय भावुकता का विरोध करते हुए कहा कि कवि पर नहीं, कविता पर ध्यान देना चाहिए। काव्य एक व्यक्ति की नहीं, एक माध्यम की अभिव्यक्ति है। कला आत्मदान है, आत्म-समर्पण है - इसका अर्थ है कि कलाकार निरंतर अपने व्यक्तिगत मन को, अपने तात्कालिक, क्षणिक अस्तित्व को एक बृहत्तर व्यक्तित्व के निर्माण के लिए मिटाता रहता है। व्यक्तित्व का उत्सर्ग उसका विनाश नहीं है क्योंकि उसके द्वारा वह परम्परा का विकास कर रहा है जिसपर वह निछावर है। छोटे व्यक्तित्व से निरंतर बड़े व्यक्तित्व की ओर बढ़ते जाना व्यष्टि 'स्व' से समष्टि 'पर' की ओर बढ़ते जाना ही कलाकार की प्रगति है और कला की निर्वैयक्तिकता।

प्रो.निर्मला जैन ने भारतीय काव्यशास्त्र में साधारणीकरण सिद्धांत तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्र में निर्वैयक्तिकता से संबंधित सिद्धांतों पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार करते हुए निम्नलिखित निष्कर्ष प्रस्तुत किए हैं -

1. रसानुभूति की प्रक्रिया की जैसी सम्यक्-संपूर्ण व्याख्या भारतीय काव्यशास्त्र के साधारणीकरण सिद्धांत में सुलभ होती है, उनके तुल्य पाश्चात्य काव्यशास्त्र एवं सौंदर्यशास्त्र में कोई एक अकेला सिद्धांत या सर्वांगपूर्ण अवधारणा नहीं है।

2. साधारणीकरण की तुलना में प्रायः जिस 'एम्पेथी' सिद्धांत को उपस्थित किया जाता रहा है, वह साधारणीकरण व्यापार के एक अंश से तुलनीय है और वह अंश है - तादात्म्य अथवा तन्मयीभवन, किंतु 'एम्पेथी' में 'तन्मयीभवन' के भी केवल एक पक्ष से ही समानता दिखाई देती है।

3. पाश्चात्य सौंदर्यशास्त्र में 'मानसिक अंतराल'(साइकिकल डिस्टेंस) नामक सिद्धांत 'एम्पेथी' के साथ संयुक्त होकर साधारणीकरणगत 'तन्मयीभवन' की पूरी क्षमता करने में समर्थ हो पाता है।

4. साधारणीकरण सिद्धांत की पूर्णता इस बात में है कि एक ही सिद्धांत के द्वारा रसास्वाद प्रक्रिया के संपूर्ण सोपानों और घटकों के पारस्परिक संबंधों का निरूपण संभव हो जाता है। इसके अंतर्गत कवि, काव्य और सहृदय तीनों की अनुभूतियों के साधारणीकरण की विवेचना के साथ कवि से सहृदय तक के संपूर्ण सम्प्रेषण-व्यापार की व्याख्या को संभव बना दिया। भारतीय काव्यशास्त्र, विशेषकर रस-शास्त्र के अंतर्गत साधारणीकरण इतना व्यापक सिद्धांत है कि हम पाते हैं कि पाश्चात्य परंपरा में साधारणीकरण से तुलनीय कोई एक संतुलित एवं सांगोपांग सिद्धांत निर्मित नहीं हो सका है।

5. काव्यगत विभावादि के साधारणीकरण पर विचार करते हुए संस्कृत काव्यशास्त्र में विशेष से सामान्य होने की जो प्रक्रिया बतलाई गई है, उसके समान पाश्चात्य सौंदर्यशास्त्र में 'यूनिवर्सलाइज़ेशन' और 'टाइप' सिद्धांतों का निरूपण मिलता है। परंतु पश्चिमी साहित्य की परंपरा में 'यूनिवर्सल' और 'टाइप' संबंधी मान्यता सदैव स्वीकृत नहीं रही। रोमाण्टिक आंदोलन के प्रभाव से आधुनिक युग में प्रायः 'व्यक्ति' अथवा विशेष की ही प्रतिष्ठा दिखाई पड़ती है।

6. संस्कृत काव्यशास्त्र में विभावादि को पूर्णतया सहृदय ग्राह्य होने के लिए साधारणीकरण-व्यापार द्वारा लौकिक से अलौकिक बनाने का विधान है, जिसके तुल्य पाश्चात्य सौंदर्यशास्त्र में 'नाटकीय आभास' अथवा 'प्रतिभास' का सिद्धांत प्राप्त होता है।

7. भाव के स्तर पर साधारणीकरण व्यापार 'सत्व-रज-तम से युक्त भावों को परिशुद्ध करके सत्वोन्मुख करता है जिसे प्रायः पाश्चात्य काव्यशास्त्र के त्रासदीय विरेचन अथवा 'केथासिस' से तुलनीय माना जाता है, किंतु विवेचन से स्पष्ट है कि भावगत साधारणीकरण विरेचन की तुलना में अधिक विधेयात्मक है।

8. साधारणीकरण में जहाँ व्यक्ति संबंधों से मुक्ति की बात कही गई है, उसकी तुलना में पाश्चात्य काव्यशास्त्र में प्रतिपादित 'निर्वैयक्तिकता' को उपस्थित किया जा सकता है किंतु दोनों की तुलना करने पर स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्ति-संबंधों के विकल्पों का विवेचन संस्कृत काव्यशास्त्र में अधिक सूक्ष्मता और गहराई के साथ किया गया है, साथ ही यह विवेचन 'निर्वैयक्तिकता' की अपेक्षा कम निषेधात्मक है।

9. साधारणीकरण के अंतर्गत भाषा के काव्यात्मक प्रयोग को जो महत्व प्राप्त है, उसकी गूँज पाश्चात्य काव्यशास्त्र में भी यत्र-तत्र सुनाई पड़ती है, किंतु भारतीय काव्यशास्त्र में भाषा के काव्यात्मक रूप का 'व्यंजना व्यापार' के नाम से जिस प्रकार स्पष्टतः निर्देश किया गया है, उस प्रकार की स्पष्टता पाश्चात्य काव्यशास्त्र में सुलभ नहीं है।

10. पाश्चात्य काव्यशास्त्र से साधारणीकरण की तुलना करते समय यह तथ्य ध्यातव्य है कि साधारणीकरण एक निश्चित दर्शन की उपज है। शैवाद्वैत तथा शांकर अद्वैत जैसे व्यापक जीवन-दर्शन से ही साधारणीकरण जैसे समर्थ काव्य-सिद्धांत की उत्पत्ति संभव है। भारतीय दर्शन की इस विशिष्ट पृष्ठभूमि के बिना साधारणीकरण की सांगोपांगता का रहस्य समझना कठिन है।

8.11 समाहार तथा निष्कर्ष

साधारणीकरण का सिद्धांत भारतीय काव्य-दर्शन की मौलिक उपलब्धि है। इस सिद्धांत के द्वारा काव्यास्वाद और काव्य-सम्प्रेषण के मौलिक प्रश्न का मनोवैज्ञानिक समाधान प्रस्तुत किया गया है। साधारणीकरण में असाधारण को साधारण करने की क्रिया का अर्थ है विशिष्ट को सर्वसामान्य, साधारण, सर्वजनीन बनाने का कवि का प्रयास। पाठक या दर्शक का कवि-अनुभूति से साक्षात्कार जिस

प्रक्रिया द्वारा होता है वह साधारणीकरण से ही संभव होती है। इस सिद्धांत के प्रथम पुरस्कर्ता भट्टनायक हैं और इस विषय का विवेचन करने वाले संस्कृत आचार्यों में भट्टनायक, अभिनवगुप्त, विश्वनाथ तथा पंडितराज जगन्नाथ का नाम उल्लेखनीय है। पाश्चात्य काव्य-चिंतन में 'थ्योरी ऑफ एम्पेथी', 'थ्योरी ऑफ यूनिवर्सलाइजेशन' जैसे अनेक सिद्धांत होते हुए भी साधारणीकरण के समकक्ष कोई सिद्धांत नहीं है - यह बात तुलना से स्पष्ट है।

हिंदी में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने साधारणीकरण पर नवीन और मौलिक चिंतन किया है। इसी चिंतन परंपरा को एक खास ढंग से आगे बढ़ाते हुए डॉ. नगेन्द्र ने साधारणीकरण की मनोवैज्ञानिक व्याख्या में बहुत से प्रश्नों का समाधान करते हुए कहा है कि साधारणीकरण 'कवि की अनुभूति' का होता है। साधारणीकरण में भाषा का भावमय प्रयोग होता है। साधारणीकरण और काव्य-भाषा के संबंध को लेकर आ.शुक्ल, अज्ञेय, रामस्वरूप चतुर्वेदी आदि ने गहराई से विचार किया है और माना है कि साधारणीकरण का प्रश्न आज सम्प्रेषण का प्रश्न है। आज के जीवन की जटिल अनुभूति का सम्प्रेषण कवि-कर्म की सबसे बड़ी चुनौती है। हिंदी के प्रगतिवादी और नयी कविता के आलोचकों-कवियो ने रस को अस्वीकार करते हुए भी न केवल साधारणीकरण की महत्ता को स्वीकार किया है बल्कि काव्य-भाषा प्रतिमान को इसके साथ जोड़कर इसे एक नया अर्थ-संदर्भ दे दिया है। रोचक बात यह है कि आज भी साधारणीकरण और काव्य-सम्प्रेषण व्यापार पर जीवंत बहस जारी है।

8.12 शब्दावली

व्यक्ति-संसर्ग	-	व्यक्तिगत लगाव
विभावन	-	साहित्य में प्रदर्शित भाव का पाठक या दर्शक द्वारा अनुभव
तादात्म्य	-	साहित्यकार की अनुभूति से साक्षात्कार या तदाकार हो जाना, कवि और पाठक की भावभूमि की अद्वैतता
चाकचक्य	-	चमचमाहट, उज्ज्वलता, शोभा
शास्त्रबद्ध जड़ता	-	शास्त्र की लीक अथवा रूढ़ियों का अंधानुकरण
पुनर्नवा	-	पुनः नया करने वाला
प्रेष्य	-	सम्प्रेषणीय

8.13 अभ्यास के लिए प्रश्न

1. 'साधारणीकरण' से तात्पर्य स्पष्ट करते हुए उसके महत्व का प्रतिपादन कीजिए।
2. संस्कृत तथा हिंदी आचार्यों के साधारणीकरण से संबंधित चिंतन पर प्रकाश डालिए।
3. रस चिंतन पर नए संदर्भों में विचार के परिप्रेक्ष्य में साधारणीकरण का विवेचन कीजिए।
4. पाश्चात्य साहित्य में काव्यानुभूति की प्रक्रिया संबंधी सिद्धांतों पर विचार कीजिए।
5. पश्चिम के काव्यानुभूति प्रक्रिया संबंधी सिद्धांतों की तुलना साधारणीकरण से कीजिए।
6. टिप्पणी लिखिए -
   (क) साधारणीकरण और काव्य-भाषा
   (ख) भावकत्व व्यापार का स्वरूप
   (ग) साधारणीकरण से भट्टनायक का तात्पर्य

इकाई 9 काव्य का अधिकारी

इकाई की रूपरेखा

9.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप

- 'काव्य के अधिकारी' शब्द से तात्पर्य बता सकेंगे; तथा
- भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्र में काव्य के अधिकारी पर हुए चिंतन की जानकारी दे सकेंगे।

9.1 प्रस्तावना

इस खंड के पिछले दो पाठों में आपने रस के स्वरूप, निष्पत्ति, साधारणीकरण आदि के बारे में पढ़ा है। इन्हें पढ़ते समय 'सहृदय', 'सामाजिक', 'नागरक' आदि जैसे कई शब्द आपके सामने बार-बार आए होंगे और इन शब्दों का सामान्य अर्थ भी आपको पता चला होगा। ये शब्द या अन्य ऐसे ही कुछ शब्द कविता या नाटक के पाठक/दर्शक के लिए प्रयुक्त होते हैं। ये काव्यशास्त्र के बीज (महत्वपूर्ण) शब्द हैं क्योंकि संपूर्ण साहित्य सृजन इन्हीं को लक्ष्य में रखकर चलता है। प्रस्तुत इकाई में आप इन्हीं शब्दों के विषय में - इनसे जुड़ी अवधारणाओं और उनमें निहित चिंतन के विषय में - पढ़ेंगे। रोचक बात यह है कि अब तक आपने साहित्य सिद्धांतों के विषय में, साहित्य के सम्प्रेषण के विषय में पढ़ा है किंतु प्रस्तुत पाठ का संबंध साहित्य के पाठक अथवा दर्शक से है। साहित्य को पढ़ने, जानने, समझने का अधिकारी कौन है, क्यों है, कैसा है? यही इस पाठ का विवेच्य विषय है।

9.2 काव्य के अधिकारी के विषय में चर्चा की आवश्यकता

साहित्य का स्वरूप, कारण, उद्देश्य और जीवित अथवा आत्मा क्या है आदि प्रश्नों पर विचार-मंथन के साथ ही जो प्रश्न बराबर साहित्य-चिंतकों की दृष्टि में रहा है वह है काव्य के अधिकारी का प्रश्न। रचनाकार की साधना - साहित्य रचना - किसके लिए है? उसका गृहीता कौन है? कैसा है और कैसा होना चाहिए? रचना का सम्प्रेषण किसमें होता है? इसपर चर्चा प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष दोनों रूपों में होती रही है। कविता या नाटक के पाठक या प्रेक्षक का प्रश्न आचार्यों की दृष्टि से कभी ओझल नहीं हुआ। हो भी नहीं सकता था क्योंकि रचना की संपूर्ण सार्थकता, उसका व्यष्टि से समष्टि रूप हो पाना, कृति का व्यक्ति से समाज का बन पाना उसके पाठक द्वारा ही संभव होता है। रचनाकार का संपूर्ण उद्यम उसी के लिए है। साहित्य चिंतकों का संपूर्ण विवेचन उसी की ओर निर्दिष्ट है, काव्य के आस्वाद का पूरा विधान उसी को केंद्र में रखकर किया गया है। रस-निष्पत्ति, अलंकार की चमत्कृति, वक्र उक्ति के वैचित्र्य, रीति के सौंदर्य, औचित्य के सामंजस्य एवं ध्वनि की व्यंजना की प्रतीति किसे होती है? पाठक या दर्शक को ही तो। काव्य में जिस रमणीयार्थ का प्रतिपादन होता है उसका गृहीता तो पाठक/प्रेक्षक ही है। रचना इस गृहीता के चित्त में अर्थ ग्रहण करती है और इसी से जीवन पाती है। पाठक के हृदय, रुचि और स्मृति में विद्यमान रहकर ही तो वह कालातीत बनती है अन्यथा एक बार रचनाकार द्वारा

सृजित हो जाने के बाद समाप्त हो जाए। रचना कालजयी है या नहीं यह तो गृहीता द्वारा ही तय होता है। रचना के औदात्य के प्रतिमान भी तो भाव या गृहीता को दृष्टि में रखकर बताए गए हैं। यह गृहीता ही काव्य का अधिकारी है।

अतः काव्य के अधिकारी की चर्चा देश-विदेश के साहित्य-चिंतन की प्रक्रिया का अनिवार्य अंग रही है। काव्य के दुष्प्रभाव से चिंतित आचार्यों की दृष्टि में भी और काव्य के प्रतिमान निर्धारित करने वाले आचार्यों की दृष्टि में भी। काव्य की गुणवत्ता, श्रेष्ठता, महत्ता आदि को भी उसके गृहीता के कोण से ही आँका गया है।

9.3 काव्य का अधिकारी कौन?

प्रश्न यह है कि साहित्य की रचना का गृहीता कौन है? इसे ग्रहण करने का अधिकारी कौन है? यह प्रश्न हर युग में किसी न किसी रूप में उठता रहा है और हर बार इस बात को रेखांकित किया गया है कि हर व्यक्ति काव्य का अधिकारी नहीं हो सकता। साहित्य, संगीत कला के क्षेत्र में प्रवेश के लिए व्यक्ति में कुछ संस्कार, कुछ योग्यताएँ, कुछ सामाजिक नियमों, अनुशासनों के पालन का लोक-सम्मत विधि-विधान चाहिए। आधुनिक भाषा में कहें तो हम में उसकी 'तमीज' होनी चाहिए कि 'अहं' का समर्पण करते हुए उसे समग्र भाव से ग्रहण करने के लिए, उसके मर्म को समझने के लिए प्रयासशील हो। मर्म की महिमा जानने की कोशिश से ही संस्कार पड़ते हैं और संस्कारवान व्यक्ति ही संस्कारी अथवा काव्य का अधिकारी कहलाता है। तुलसीदास के 'रामचरितमानस' में 'रामकथा अधिकारी चीन्हा' की बात बार-बार आती है। जो भक्त है वही राम-कथा का गुण-ग्राही है, उसी को राम-कथा जानने-समझने-कहने-सुनने का अधिकार है।

'आस्थावान को ही ज्ञान प्राप्त होता है' यह लोकोक्ति काव्य के आस्वादन के अधिकारी के संदर्भ में भी लागू है। लोक में बार-बार यह दोहराया जाता रहा है कि 'अरसिकेषु काव्य निवेदनम् मा कुरु मा कुरु, मा कुरु' अर्थात अरसिक या हृदयहीन व्यक्ति से रमणीयार्थ को समझने का निवेदन नहीं करना चाहिए क्योंकि वह तो उसके मर्म को समझ ही नहीं सकता, उसके पास काव्य-ग्रहण-क्षमता के संस्कारों का अभाव होता है इसीलिए लोक और शास्त्र दोनों ही परंपराओं में काव्य या ज्ञान के अधिकारी का महत्व रहा है संस्कारहीन व्यक्ति का आदर नहीं रहा। 'साहित्य संगीत कला विहीना। साक्षात पशु पुच्छ विषाण हीना' जैसी उक्तियाँ लोक में काफी प्रचलित रही हैं। दूसरी ओर, काव्यशास्त्र में काव्य के अधिकारी की चर्चा सहृदय, प्रमाता, सामाजिक, नागरक जैसी अवधारणाओं के माध्यम से बार-बार उठती रहीं।

9.4 काव्य के अधिकारी के लिए भारतीय काव्यशास्त्र में प्रयुक्त शब्द

भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य के अधिकारी के लिए समय-समय पर अनेक शब्दों का प्रयोग होता रहा है - सहृदय, सुमनस, प्रमाता, नागरक, सामाजिक, भावक, प्रेक्षक-दर्शक, आस्वादक, रसज्ञ या रसिक, मर्मज्ञ, गृहीता, भोक्ता, श्रोता आदि। इन अवधारणात्मक विशिष्ट शब्दों में मानव-चिंतन का विशिष्ट इतिहास और समाजशास्त्र निहित है। एक-दूसरे के पर्याय रूप में प्रयुक्त इन शब्दों के अर्थ पर ध्यान दें तो पाते हैं कि हमारी साहित्य चिंतन परंपरा साहित्य के पाठक से कुछ अपेक्षाएँ करती रही हैं। इनमें से कुछ शब्दों में निहित अर्थ को देखने से यह बात स्पष्ट हो जाएगी।

1. **सहृदय** : सहृदय का अर्थ है, हृदय सहित यानी वह व्यक्ति जिसका हृदय दूसरों के हृदय से संवाद कर सके। वह व्यक्ति जिसका हृदय या मनोनुकुर दर्पण की तरह स्वच्छ हो, विमल प्रतिभानशाली हो, परंपरा के ज्ञान से सम्पन्न तथा संस्कारी हो।

2. **सुमनस** : सुमनस का अर्थ है - सुंदर मन वाला, यानी निर्मल मन वाला। राग-द्वेष विकृतियों से मुक्त और विविध कलाओं में पारंगत व्यक्ति जो यह माने कि विद्या वही है जो हमें मुक्त करती है, अज्ञान के बंधनों को काटती है। ऐसा वेद-पाठी 'सुमनस' होता था।

3. **प्रमाता** : भारतीय काव्यशास्त्र में सुमनस का पर्यायवाची शब्द है - प्रमाता जिसका अर्थ प्रकृष्ट मन वाला, उदात्त उच्च विचार की भूमि पर पहुँचा हुआ व्यक्ति। साहित्य के अध्ययन-मनन से बने एक बेहतर व्यक्ति का प्रतिमान है 'प्रमाता'। यह कवि की तरह बहुज्ञ और प्रतिभावान होता है। अतीत की 'स्मृति', वर्तमान की 'मति', भविष्य बुद्धि 'प्रज्ञा' तीनों इसमें विकसित होती हैं। इस प्रमाता

को ही काव्य की समीक्षा या समालोचना पर अधिकार है क्योंकि प्रमातत्व से उसका ज्ञान लोक और शास्त्र, दोनों के विवेक से सम्पन्न होता है।

4. **नागरक** : 'नागर' का अर्थ है चतुर, प्रबुद्ध-प्रवीण। वह व्यक्ति नागरक कहलाता था जो कला मर्मज्ञ, पारखी और कला को सराहने की क्षमता से सम्पन्न हो। प्राचीन राज-दरबारों की काव्य-गोष्ठियों में भाग लेने का अधिकार बौद्धिक विकास से सम्पन्न नागरक को ही होता था।

5. **सामाजिक** : भारतीय काव्यशास्त्र ने प्राचीन काल से ही समाज को प्रधानता दी, व्यक्ति को नहीं। व्यक्ति अपनी सत्ता को समाज में मिलकर ही आदर पाता रहा। 'सत्य, शिव, सुंदर' तीनों की समन्वित साधना ही समाज के मंगल के लिए कवि और पाठक के साध्य रहे। साहित्य के गृहीता के लिए 'सामाजिक' शब्द के प्रयोग में यही लोक-चेतना समाहित है। लोक की, जन-जन की कष्ट और पीड़ा को समझने की संवेदनशीलता से सम्पन्न व्यक्ति ही सामाजिक है। उसका हृदय लोक हृदय है, वह दूसरों के दुख में दुखी और दूसरों के सुख से प्रसन्न होने में समर्थ है। प्राचीनकाल का यह सामाजिक ही परवर्ती कालों में 'कला जीवन के लिए' सिद्धांत का साधक बना। हिंदी के आधुनिक-काल के भारतेंदु युग में अनेक 'सभा और समाज' स्थापित हुए। इनके भीतर से नया सामाजिक तैयार हुआ। इसी सामाजिक को आगे चलकर मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र या साहित्य के समाजशास्त्र में स्थान मिला। सामाजिक हमारे साहित्य के अध्येता का चिंतक या पर्याय हो गया।

6. **प्रेक्षक** : प्रेक्षक या दर्शक 'नाट्यशास्त्र' की विशिष्ट अवधारणा का संकेत करने वाला शब्द है जो नाट्य-रस के आस्वादक, भोक्ता, गृहीता के लिए प्रयुक्त होता है। नाट्य-धर्मी और लोक-धर्मी परंपरा का ज्ञाता रंग-संस्कारवान व्यक्ति ही नाटक का अधिकारी प्रेक्षक होता है।

9.5 भारतीय काव्यशास्त्र में 'सहृदय' संबंधी चिंतन

संस्कृत के आचार्यों ने रस के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए 'सहृदय' की अवधारणा पर विस्तार से गंभीर चर्चा की है। इन आचार्यों को मूल विचार यह है कि काव्यगत अर्थों को विभावत्व प्राप्त ही रसिक की अनुभूति की दृष्टि से होता है। ऐसी स्थिति के कारण रसिक या पाठक या सामाजिक रस-प्रयोग से बाहर नहीं रह सकता। काव्यशास्त्र तथा अन्य शास्त्रों ने 'काव्य का अधिकारी' या सहृदय को परिभाषित करने के लिए अलग-अलग सूत्र संकेत दिए हैं। उन सूत्रों को जोड़कर 'काव्य के अधिकारी' का आकार-प्रकार खड़ा किया जा सकता है। कृति, कृती और कृति का ग्राहक तीन का सामंजस्य न हो तो कृति का कोई सामाजिक अर्थ संदर्भ ही नहीं बनता है। कृतिकार की कृति और ग्राहक को जोड़ने वाले सूत्र के रूप में ही साधारणीकरण की अवधारणा विकसित हुई। साधारणीकरण का अर्थ न तो समूहीकरण है, न सामान्यीकरण। इसका अर्थ - कृति-कृतिकार और ग्राहक की सहज-उन्मुक्त साझेदारी है।

9.5.1 भरतमुनि का 'नाट्यशास्त्र'

'नाट्यशास्त्र' के प्रणेता भरतमुनि ने प्रेक्षक या सामाजिक को नाटक का अपरिहार्य अंग माना है। नाट्य में कवि, काव्य, नायक, नट के साथ सामाजिक को भी समाविष्ट किया गया। वस्तु-नेता-रस के त्रिकोण में केंद्र रस का भोक्ता या सहृदय ही है। नाट्य-सिद्धांत के अनुसार रूपक (नाटक) के तीन तत्व हैं - वस्तु, नेता, और रस। यह विधान अपने क्रम में उत्कर्षमूलक है। कथावस्तु से ज्यादा महत्व है नायक चेतना का कथावस्तु और नायक दोनों से ज्यादा महत्व है रस का। पूरा विचार आरंभ से ही इस बात पर केंद्रित रहा है कि रस क्या है, रस निष्पत्ति कैसे होती है, कितने भाव या रस हैं और रंगमंच का पूरा विधान रस को कैसे प्रस्तुत कर पाता है। अभिनेता और अभिनय से दर्शक या प्रेक्षक का साधारणीकरण व्यापार कैसे घटित होता है और रस का स्वरूप क्या है? नाट्याचार्यों की एक विस्तृत परंपरा दर्शक या प्रेक्षक या सामाजिक की दृष्टि से ही नाट्य-प्रभाव या नाटक के आस्वाद पर विचार करती रही है। नाटक में सभी शिल्प, सभी कलाओं का समाहार लोकजीवन के सभी पक्षों का ग्रहण रहता है। परंतु उसकी सफलता-असफलता का निर्णायक नाटककार या निर्देशक या अभिनेता को न मानकर प्रेक्षक या सामाजिक को ही माना गया है।

भारतीय रसशास्त्र-सौंदर्यशास्त्र आरंभ से ही काव्यत्व सौंदर्य-गुण पर विभाव दृष्टि और प्रमाता की दृष्टि से विचार करता रहा है। काव्यानुभूति-रसानुभूति में भाव-विभाव की, स्थायी भाव की अपेक्षा रहती है। स्थायी-भाव सहृदय का गुण है। स्थायी वासना (इच्छा) के कारण सहृदय को सवासन भी कहा गया

है। 'सुम' नामक अनुभूति यानी सौंदर्यानुभूति प्रमाता या भावुक के मन में होती है - वह किसी न किसी भीतरी या बाहरी विभाव (कारण) का परिणाम। भारतीय काव्यशास्त्र विभावन-व्यापार पर सदियों तक चिंतन-मनन-विवेचन करता रहा है।

प्राचीन साहित्य-संगीत कलाओं में 'सामाजिक' पर विशेष रूप से ध्यान केंद्रित था। आ.हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने 'प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद' शीर्षक पुस्तक में 'दर्शक' की और उसके नाट्य-संस्कार की विशेष रूप से चर्चा की है। प्राचीन भारत में प्रेक्षागृह बहुतायत में थे और 'इन प्रेक्षागृहों में चाहे वे स्थायी हों या अस्थायी अभिनय देखने के लिए जाने वाले दर्शकों में छोटे-बड़े, शिक्षित-अशिक्षित कभी हुआ करते थे, पर ऐसा जान पड़ता है कि अधिकांश दर्शक रसशास्त्र के नियमों के ज्ञाता हुआ करतें थे। कालिदास, हर्ष आदि के नाटकों में अभिरूप-भूमिष्ठा और गुणग्राहिणी परिषद का उल्लेख है। भारतीय जीवन की यह विशेषता रही है कि ऊँची से ऊँची चिंता जन-साधारण में घुली पाई जाती है। यद्यपि शास्त्रीय विचार और तर्क-शैली सीमित क्षेत्र में परिचित होती थी, किंतु सिद्धांत सर्वसाधाण में ज्ञात होते थे।' (पृ.107) साहित्य कलाओं में 'सर्वसाधारण'की सत्ता का अर्थ है - सामाजिकता का विस्तार, हृदय-संवाद का लोक पक्ष। अपने हृदय को लोक-हृदय में मिला देने की कला ही सृजन की ताकत है, भाव-गरिमा है। लोक (लोग) जाग्रत था और रचनाकार सुविज्ञ। रचनाकार की कारयित्री प्रतिमा से भावक या प्रेक्षक की भावयित्री-प्रतिभा तादात्म्य स्थापन में समर्थ थी। कैसे समर्थ थी? क्यों समर्थ थी? इसका उत्तर आ.हज़ारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में - 'नृत्य और अभिनय संबंधी मूल सिद्धांत भी उन दिनों सर्वसाधारण में परिचित रहे होंगे। संस्कृत नाटकों और शास्त्रीय संगीत और अभिनय के द्रष्टा को कैसा होना चाहिए इस विषय में 'नाट्यशास्त्र' (भरतमुनि 27-51 और आगे) ने स्पष्ट रूप से कहा है कि (दर्शक) उसकी सभी इन्द्रियाँ दुरुस्त होनी चाहिए, ऊहापोह में उसे पटु होना चाहिए (अर्थात् जिसे आजकल 'क्रिटिकल ऑडिएंस' कहते हैं - ऐसा होना चाहिए) दोष का जानकार और रागी होना चाहिए। जो व्यक्ति शोक से शोकान्वित न हो सके और आनंदजनक दृश्य देखकर आनंदित न हो सके अर्थात् जो संवेदनशील न हो, उसे 'नाट्यशास्त्र' दर्शक या प्रेक्षक का पद नहीं देना चाहता (27-52) यह जरूर है कि सभी की रुचि एक-सी नहीं हो सकती। वयस अवस्था और शिक्षा-भेद से नाना भाँति की रुचि और अवस्था के अनुसार भिन्न विषय के नाटकों और अभिनयों का प्रेक्षकत्व निर्दिष्ट किया गया है। जवान आदमी शृंगार रस की बातें देखना चाहता है, सहृदय कला-नियमों (समय) के अनुकूल अभिनय को पसंद करता है, अर्थपरायण लोग अर्थ चाहते हैं, वैरागी लोग विरागोत्तेजक दृश्य देखना चाहते हैं, शूर लोग वीर रस, रौद्र रस आदि पसंद करते हैं, वृद्ध लोग धर्माख्यान और पुराण के अभिनय में रस पाते हैं (27-57-58), फिर एक ही तमाशे के सभी तमाशबीन कैसे हो सकते हैं। फिर भी जान पड़ता है कि व्यवहार में इतना कठोर नियम नहीं पालन किया जाता होगा और उत्सवादि के अवसर पर जो कोई अभिनय आदि को देखना पसंद करता होगा वही जाया करता होगा परंतु कालिदास आदि जब परिषद की निपुणता और गुण-ग्राह्यता की बात करते हैं तो निश्चय ही कुछ चुने हुए सदस्यों की बात करते हैं। (प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद, पृ.107)

9.5.2 आनंदवर्धन

युग-परिवर्तन के साथ भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' का सामाजिक अथवा प्रेक्षक ही कश्मीरी शैव आचार्यों के यहाँ आकर 'सुमनस', 'प्रमाता' अथवा 'सहृदय' में रूपांतरित हो गया। शैवाद्वैत चिंतन में 'सहृदय' विशेष अवधारणा में आकार पाकर पारिभाषिक शब्द हो गया। ध्वन्यालोककार आनंदवर्धन की दृष्टि में 'सहृदय-हृदयाल्लादि-शब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम्।।' शैवाद्वैत-चिंतन में 'सहृदय' शब्द का प्रयोग 'संविद' या चित् के लिए हुआ जिसमें रागात्मकता सक्रिय रहती है। शैवाचार्यों का मन 'सहृदय' शब्द में इतना रमा है कि उन्होंने अपनी कृतियों का नाम रखा है - 'सहृदयालोक' 'सहृदय-हृदय-दर्पण' आदि। इसका प्रमाण यह है कि बहुत से प्राचीन ग्रंथों में 'ध्वन्यालोक' को 'सहृदयालोक' कहा गया है। पादाचार्य अभिनवगुप्त ने 'लोचन' की टीका में अपार-श्रद्धा भाव के साथ आनंदवर्धन को 'सहृदय चक्रवर्ती' कहा है। मूल बात यह कि 'सहृदय' संबंधी अवधारणा के निर्माण और प्रचलन के केंद्र में रहे हैं - आनंदवर्धन। उन्होंने ही 'सहृदय' संबंधी अवधारणा का व्याख्यान-विवेचन भी किया है।

आनंदवर्धन ने यह प्रश्न उठाया है कि 'सहृदयत्व' क्या है? क्या रस-भाव की अपेक्षा न करके काव्य के आश्रित संकेत विशेष की जानकारी रखना ही 'सहृदयत्व' है? अथवा रस-भाव आदि काव्य के स्वरूप के गहन ज्ञान की मर्मज्ञता ही 'सहृदयत्व' है। प्रश्न उठा कि रस क्या है और रसज्ञता क्या है। काव्य-मर्मज्ञता ही रसज्ञता है। काव्य-मर्मज्ञता का अर्थ-संदर्भ वाग्देवी से जुड़ा है। वाग्देवी या सरस्वती ही सहृदय-व्यापार की देवी है। वाग्देवी ही जातीय-प्रतिभा है, जातीय संवेदना है, जातीय प्रज्ञा है और जातीय स्मृति है। इस वाग्देवी के मर्म को ग्रहण कर पाना ही 'सहृदयता' है। इसका स्थान मन और

चित्त, दोनों से ऊपर है, स्व-पर की चेतना से मुक्त मन पहले साधारणीकरण करता है। तदंतर अपने आपको भाव प्रवाह में निमज्जित कर देता है। सहृदय में स्मृति की घनता और धी (बुद्धि) - भावयित्री प्रतिभा का स्फुरण होता है। इस स्फुरण में 'सृष्टि' का नया अर्थ-रस प्राप्त होता है। इसलिए रसज्ञता ही सहृदयत्व है। यह सहृदय प्रतिभा-विशेष है, कवि की कारयित्री प्रतिभा की भाँति भावक की **'भावयित्री प्रतिभा'** इसी का नाम है।

दरअसल, ध्वनिवादी आचार्यों ने व्यंग्यार्थ को ग्रहण करने के लिए सहृदय में प्रतिभा-विशेष को आवश्यक माना है। अभिनवगुप्त के मत से 'प्रतिपत्तृ प्रतिभा सहकारित्वमस्माभि द्योतनस्य प्राणत्वेन उक्तम्' अर्थात् प्रतिभा का सहकारत्व ही व्यंजना का प्राण है। पूरी परम्परा के चिंतन को सहेजने के बाद मम्मट ने 'सहृदय' के लिए 'प्रतिभाजुष' शब्द का प्रयोग किया। व्यंग्यार्थ की प्रतीति के लिए प्रतिभा अनिवार्य है। प्रतिभा के तीन रूप हैं - स्मृति, मति, प्रज्ञा। प्रतिभा ही 'वासना' कहलाती है और नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा इसी का नाम है। प्रतिभा या वासना के बिना रस-प्रतीति संभव ही नहीं है - **सवासन** या प्रतिभावान ही सहृदय हो सकता है - वैयाकरण को सहृदय जैसी रस-प्रतीति नहीं हो सकती। जो सवासन नहीं है वे काव्य कौर नाटक को भोग नहीं सकते। यही कारण है कि ध्वनिवादी आचार्यों ने व्यंग्यार्थ को ग्रहण करने के लिए प्रतिभा की महत्त्व-प्रतिष्ठा की है। रस का आधार है - व्यंजना-व्यापार एवं 'सवासन' का अर्थ है - संस्कार-विशेष से परिमार्जित प्रतिभा। इस प्रकार लोक में रमते हुए सहृदयता एक सामाजिक तैयारी है। इस संस्कार से अपना सुख-दुःख बिसर जाता है। कालिदास जब सीता-निर्वासन का प्रसंग लाते हैं तो कहते हैं कि 'नृत्य मयूरा......रुदितं वनेपि' मोरों ने नाचना छोड़ दिया वृक्षों से कुसुमों को झटका दिया, हरिणी ने मुँह में ली हुई घास गिरा दी। सीता के दुःख में दुःखी होकर वन फूट-फूटकर रो पड़ा। सीता के दुःख में मानव और प्रकृति एकरूप हो गए। 'लोक-हृदय' का यहाँ अनुपम विस्तार है। सहृदय तक कवि का यह भाव कैसे आता है? भीतर तक भीगने से आता है। कालिदास के लिए सहृदयता 'पर्युत्सुकीभवन' है, वह दुःख-सुख से आँख सेंकना नहीं है। हर रचनानुभव में नया संस्कार होता है, हमारा नया जन्म हो जाता है, पाठक कुछ और ही हो जाता है। सीता के भाव में रमने का अर्थ भोगना नहीं है - सीता में खो जाना है। अर्थात् रमना दूसरों के लिए होता है। 'सहृदयता' की अवधारणा में भारतीय विश्व-दृष्टि की अवधारणा है। ध्वन्यालोककार ने प्रथम आलोक की बारहवीं कारिका की वृत्ति में 'सहृदय' के लिए 'सचेतस' पर्याय की व्याख्या की है जिनकी आत्मा सतही अर्थ से संतुष्ट नहीं होती है। वे ही सचेतस हैं 'सहृदय' हैं। अर्थात् मर्मभूत अर्थ को प्राप्त करने की बेचैनी ही सहृदयता है। वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक ने 'सहृदय' का अर्थ किया काव्यार्थविद्। काव्यार्थ समझने का भाव क्या है? आंतरिक अर्थ-अनुगूँज को ग्रहण करने की क्षमता। इसीलिए काव्यार्थ 'स्वपरिस्पन्द सुंदर' होता है। काव्यार्थ एक अलग साधना है, वह योगियों से नहीं सधता, चित्तवृत्तियों के संस्कार से 'सहृदय' को सधता है। योगी और प्रेमी की संलग्नता को जो एक-साथ साधे वह 'सहृदय' है।

यही कारण है कि भारतीय काव्यशास्त्र का सामाजिक, रसज्ञ, भावक, प्रेक्षक, भोक्ता, काव्यार्थविद्, प्रमाता, सुमनस - कामशास्त्र का 'नागरक' नहीं है, न कलाशास्त्र का 'विलक्षण' व्यक्ति। कलाशास्त्र में आचार्यत्व चाहिए - पर काव्य में विदग्धता। विदग्धता में अपने को अनुभव के ताप में झोंककर रस पाने का भाव है। काव्यार्थ ही 'सहृदय-हृदय संवाद' है। संवाद में समंजस भाव है - कुछ कहने का मन, कुछ सुनने का मन। संवाद का अर्थ है - द्वैत समाप्त कर अद्वैत की ओर बढ़ना। दो का एक हो जाना ही कनविन्सिबिलिटी है। जब कौशल्या 'उत्तररामचरित' में लव के चेहरे को देखती है तो कहती है कि अरे यह तो बहू (सीता) के चहरे से मिलता है - वैसा ही होंठों की बनावट, वैसे ही कान - 'सैवोष्ठमुद्रास स च कर्णपाशः' कभी यह मेरे रघुनंदन से मिलता है - यह मिलना ही संवाद है, सादृश्य नहीं है - बार-बार एकत्व के अनुसंधान की आकांक्षा बनी रहे यही संवाद है। साहित्य के मर्म के ग्रहण के समय 'हृदय-संवाद' होता है। शूद्रक के नाटक 'मृच्छकटिक' के एक प्रकरण में धाई मदनिका ने रोहसेन को बताया है कि वसन्त सेना तुम्हारी माँ है, एक प्रश्न करता है 'जइ मे जाणणी कह अलंकिदा' यदि मेरी माँ है तो इतने आभूषणों से क्यों लदी है? तब केवल इस मर्मबेधी बात पर वसन्तसेना के गहने न्योछावर नहीं होते - संसार भर की समृद्धि का खोखलापन मिट्टी की गाड़ी पर न्योछावर हो जाता है। एक तड़प के साथ मातृत्व जागता है और एक विराग के साथ समृद्धि का राग जल जाता है।

3.5.3 अभिनवगुप्त

अभिनवगुप्त को भारतीय परंपरा 'सहृदय' विचार-दर्शन का प्रवर्तक आचार्य मानती है। उन्होंने 'सहृदय' की व्याख्या करते हुए कहा है कि 'अधिकार चारु विमल प्रतिमान शालिहृदयः।' वह 'विमल प्रतिमान-

शाली' होता है। वे इसी के साथ 'अधिकारी' शब्द का प्रयोग करते हैं। पूरा बल इस विचार पर है कि सहृदय ही काव्य का अधिकारी है - हर ऐरा-गैरा व्यक्ति नहीं। वह अधिकारी इसलिए है कि उसमें काव्यार्थ-ग्रहण की क्षमता है। इस क्षमता का नाम ही 'मानसी साक्षात्कारात्मिका शक्ति' है। इस शक्ति द्वारा वह काव्य से मानस-साक्षात्कार करता है, अर्थात् पूरे विभावादि का मानस-बिंब उसके सामने आ जाता है। आज का विद्वान इस शक्ति को 'कल्पना' कहता है, प्राचीन आचार्य इसे ही 'भावना' कहते रहे हैं।

सहृदय कौन?

प्रश्न उठता है कि सहृदय कौन है? अभिनवगुप्त का उत्तर है - 'सहृदयमिति। येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद्विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवन योग्यता ते सहृदय संवाद भाजः सहृदयाः। यथोक्तम्

योऽर्थो हृदय संवादी तस्य भावो रसोद्भवः।
शरीरं व्याप्यते तेन शुष्क काष्ठमिवाग्निना।। इति।।

अर्थात् सहृदय वे हैं जिनका हृदय-दर्पण काव्य के गहन अनुशीलन के अभ्यास से निर्मल हो गया है और इसलिए उस हृदय-दर्पण में वर्णनीय विषय के साथ तन्मय होने की क्षमता आ गई है। वे ही काव्यार्थ के साथ अपने हृदय का संवाद स्थापित करने वाले सहृदय है। जैसा कि कहा गया है कि हृदय से हृदय मिलाने वाला जो अर्थ होता है उसी का भाव रस का उन्मीलक होता है। जैसे सूखे काठ में जरा-सी आग रख दें तो वह धधक उठती है, वैसे ही अर्थ में रस के प्रकाश की तैयारी रहती है। किंतु अभिनवगुप्त के लिए 'सहृदय' का 'विमल प्रतिभानशाली' होना ही पर्याप्त नहीं है वह कवि-हृदय के समान हृदय वाला भी हो तभी तो उसमें 'तन्मयीभवन' तथा 'हृदय-संवाद' की सामर्थ्य होगी। भरतमुनि ने भी इसी तरह की बात कही थी कि 'सहृदय' हृदय संवादी होता है। 'तन्मयीभवन' का अर्थ है स्व-तद्रूपता को छोड़कर पर-तद्रूपता को प्राप्त होना। देश-काल नियति के संकुचित बंधनों से मुक्त होकर काव्यार्थ ग्रहण करना। कवि और सहृदय का एकात्म्य स्थापित हो जाना।

विद्वानों ने अभिनवगुप्त के 'सहृदय' की तुलना भोज के 'रसिक' से की है। भोज का रसिक एक विशिष्ट ढंग का भावक है - उसकी रसिकता का वैशिष्ट्य मानव-व्यक्तित्व के उत्तमांश से जुड़ा है। अभिनव का सहृदय काव्य-विशेष के हृदय-संवाद तक ही परिसीमित है 'सर्वस्य न सर्वत्र न हृदय संवादः।' अर्थात् शृंगार रस के लिए जो सहृदय है वही व्यक्ति वीर रस के लिए अहृदय हो सकता है। परंतु ऐसे व्यक्ति को सहृदय-पद से वंचित कर देना उचित नहीं होगा। सार-संक्षेप यह कि 'सहृदय' की अवधारणा से कठिनतर है हृदय-संवाद की अवधारणा। क्योंकि सहृदय होकर 'हृदय-संवाद' करना सबसे कठिन काम है।

9.6 पश्चिमी काव्यशास्त्र में 'काव्य का अधिकारी'

पश्चिमी काव्यशास्त्र में 'काव्य का अधिकारी' अथवा 'सहृदय' जैसी गहन अवधारणा तो नहीं है, पर आदर्श-पाठक या 'ग्राहक' (आईडियल रीडर) की अवधारणा पर पर्याप्त विचार हुआ है। भारतीय आचार्यों ने 'सहृदय' के जिन गुणों पर बल दिया है, उसका पूरा स्वरूप 'प्रतिभा' पर खड़ा है - अर्जन पर कम। इसके विपरीत, पश्चिमी चिंतकों ने 'आदर्श प्रेक्षक' अथवा 'आदर्श ग्राहक' में सतत ग्रहणशीलता, शिक्षा एवं प्रयत्न तीनों का योग महत्वपूर्ण माना है। वहाँ भी पाठक में भावयित्री प्रतिभा की स्वीकृति है, पर यह सब अभिजात वंशानुक्रम परम्परा से विरासत में प्राप्त संस्कार है, प्रतिभा का सहज उभार कम। पाठक के 'संस्कार' को सामाजिक संदर्भ प्रदान करते हुए 'विशिष्ट वर्ग' (Elite) का प्रतिनिधि माना गया जिसमें स्वभावतः काव्यास्वाद का संस्कार भी आ जाता है।

काव्य के अधिकारी संबंधी मान्यता में 'विशिष्ट वर्ग' की या अल्पसंख्यक की बात वहाँ बहुत समय से चली आ रही है। वहाँ माना जाता रहा है कि यह विशिष्ट वर्ग थोड़ा या अल्पसंख्यक होता है। इस चिंतन परम्परा का परिणाम यह हुआ कि आई.ए.रिचर्डस, टी.एस.एलियट तथा एफ.आर.लीविस जैसे प्रबुद्ध आधुनिक भी 'अल्पसंख्यक संस्कृति सिद्धांत' के प्रति एकदम नरम हैं। यह ठीक बात है कि हर समाज में सच्चे ग्राहक कम ही होते हैं। टी.एस.एलियट जब अल्पसंख्यक वर्ग को काव्य का अधिकारी कहते हैं तो उस वर्ग को पूरे यूरोप की महान परंपरा का वाहक, धारक, उद्धारक और उत्तराधिकारी मानते हैं। वे स्वयं जब बोलते हैं - चाहे रचनाकार के स्वर में बोलें या पाठक-आलोचक के स्वर में - पूरे यूरोप की तरह से,

पूरी ईसाई चिंतन परम्परा के प्रवक्ता की तरह बोल रहे होते हैं। अभिजात वर्ग ही काव्य-संस्कारों वाला है औद्योगिक समाज का मध्य वर्ग तो संस्कारहीन उपभोक्तावादी संस्कृति का अंग है। एलियट के विचार से लीविस कई अर्थों में सहमत हैं। लीविस के अनुसार 'जनतंत्र और शिक्षा के अनियंत्रित प्रचार-विकास से लाभ कम हानि बहुत हुई है।' उनका मानना है कि 'अल्पसंख्यक संस्कृति' में 'काव्य के ग्राहकों' की संख्या भी थोड़ी ही होती है।

काव्यानुभूति बनाम सौंदर्यानुभूति के चिंतन में पश्चिमी विचारकों ने काव्यशास्त्र, सौंदर्यशास्त्र, मनोविश्लेषणशास्त्र आदि कई क्षेत्रों से विचार किया है। इस विचार के तहत वहाँ 'आदर्श पाठक' की चर्चा का विस्तार हुआ है। संवेदनात्मक क्षमता, ज्ञानात्मक संवेदना की बोध-शक्ति तथा चित्त की एकाग्रता के आधार पर वहाँ 'ग्राहक' की कोटियाँ निर्धारित की गई हैं। वहाँ इन कोटियों के निर्धारण का नतीजा यह हुआ है कि सौंदर्यानुभव (एस्थेटिक ऐक्सपीरिएंस) एवं सम्प्रेषणीयता (कम्युनिकेशन) दोनों ही निरीक्षक (ऑब्ज़र्वर) से सम्बद्ध हो गए हैं। 'निरीक्षक' का अर्थ है कला के संस्कारों और मनोवृत्तियों वाला वह व्यक्ति जो कलाकृति के प्रति अपनी तात्कालिक 'ऐन्द्रियक', 'सौंदर्यबोधात्मक' रुचियों (टेस्ट) का प्रस्तुतीकरण करे। वह कलाकृति के सौंदर्य को समझने-सराहने वाला गुण पहचानने वाला आशंसक (एप्रीशिएटर) या भोक्ता हो। उसमें शिक्षा-संस्कार, अभ्यास, परिवेश आदि के संयोग से विकास-परिष्कार-परिवर्तन हो। अनुकूल संस्कार और अनुकूल परिवेश दोनों का अनुपात 'निरीक्षक' में आवश्यक है। उसमें यह शक्ति भी हो कि वह 'रुचि', 'निर्णय', तथा 'तर्क' का पृथक्करण कर सके। रुचि का संबंध एन्द्रिय तुष्टि से है और तर्क का मूल्यांकनपरक विवेक से। 'समसामयिक गृहीता' का अर्थ भी ऐतिहासिक-चेतना से विमुखता नहीं है। समाजशास्त्री 'कलाकृति' में समाज-विकास के सांस्कृतिक पैटर्न खोजते हैं तो रेडियोलॉजिस्ट आदि चित्रकला में चित्र के रंग तथा रेखा रचना के तकनीकी-क्रम खोजते हैं। यहाँ 'गृहीता' में रुचि से ज्यादा महत्व अर्जित ज्ञान को मिला है। कारण यह है कि सभी कलाओं के लिए 'ऑडिएंस', 'स्पेक्टेटर' तथा 'एप्रीशिएटर' में 'कला-परख' पर बल ज्यादा है। सौंदर्यवेत्ताओं के अनुसार 'आशंसा' (appreciation)एक 'काव्यात्मक विश्वास' (पोयटिक बिलीफ) है। मनोविश्लेषणवादी फ्रायड कहते हैं कि आशंसक की अतृप्त यौन कामनाओं की तृप्ति ही कला की आशंसा है। कलाकार की तरह, आशंसक भी, अवचेतन यौन इच्छाओं की काल्पनिक तुष्टि, दिवास्वप्नों-फैंटेसियों के द्वारा करता है। कलाकार की तरह, 'ग्राहक' या पाठक भी न्यूराटिक ढंग से दमित इच्छाओं का उन्नयन या उदात्तीकरण करता है।

टाल्स्टाय मानते हैं कि आशंसा कलाकृति में कलाकार द्वारा गुम्फित संवेगों की साझेदारी है। ध्यान देने की बात है कि अरस्तू 'त्रासदी के विरेचन' में भाव-शुद्धि (purgation) मानते हैं। इसका अर्थ हुआ कि शिक्षा और विवेक-सम्पन्न आशंसक ही 'आलोचक' हो जाता है। आशंसक जितना अधिक संवेदनशील और तार्किक होगा वह उतना ही अभिरुचि और मूल्य के बीच फर्क कर सकेगा। अतः आलोचना 'अभिरुचियों का निर्वैयक्तिक विवेक' ही तो है। आशंसक कोरा भोक्ता नहीं होता, वह रचना की पुनर्रचना करने के कारण 'सृजनशील' होता है। कृतिकार और पाठक का गहरा रिश्ता सौंदर्यानुभव में फैला हुआ है। कलाकृति या 'मूल रचना' आशंसक द्वारा अपने मानस में मूल रचना की पुनर्रचना (अनुकृति नहीं) है। जाहिर है कि पाठक की ग्रहणशीलता एक प्रकार की 'सृजनशीलता' ही है। ज्याँ पाल सार्त्र ने कहा है कि रचना में पाठक विद्यमान होता है। रचना करते समय रचनाकार के मस्तिष्क में पाठक होता है। काण्ट भी मानते थे कि कलाकृति अपना अस्तित्व तभी प्राप्त करती है जब कोई उसे 'देखता' हो। रचना ही पाठक को नहीं बदलती - पाठक भी रचना को बदलता है, रचनाकार को बदलने के लिए विवश होता है। इसलिए सृजनशीलता और ग्रहणशीलता में द्वंद्वात्मक सह-संबंध रहता है। सच्चा रचनाकार एक 'सार्वभौम पाठक' के लिए लिखता है जिसे हम 'आदर्श पाठक' कहते हैं। जो रचना के मूलार्थ को समझ सकता है, वह 'विशिष्ट पाठक' है, आलोचक है। यह विशिष्ट पाठक (आलोचक) ही कलाकृति की वस्तुनिष्ठता-विशिष्टता और परम्परा में कलाकृति के स्थान का मूल्यांकनकर्ता है।

विलियम के. विमसाट ने इस 'आदर्श पाठक' को 'नाटकीय पाठक' कहा है क्योंकि वही काव्य का वास्तविक पाठक है और वह किसी अन्य के कंधे पर झुका हुआ पाठक है। यानी वह लोकमत को आदर देता है। इस नाटकीय पाठक को ही पूरी कविता का काव्यार्थ संबोधित होता है। स्वयं एफ.आर लीविस भारी वाद-विवाद के बाद इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आदर्श पाठक ही आदर्श आलोचक होता है। आदर्श पाठक के तीन गुण हैं - 'जानना', 'समझना' और 'मूल्यांकन' करना। काव्य-समझ का सच्चा परिचय काव्यास्वाद का या काव्यानुभूति, काव्यानुभव का सच्चा मूल्यांकन ही है।

9.7 काव्य का अधिकारी और आलोचक

'काव्य के अधिकारी' के संदर्भ में आलोचक की चर्चा अपेक्षित है। आलोचक का कार्य है - रचना अथवा कलाकृति की व्याख्या और विश्लेषण। वह साहित्य के वैशिष्ट्य का उद्घाटन करके उसके मूल्यांकन में प्रवृत्त होता है। वह भी काव्य-सौंदर्य का भावक होता है लेकिन सामान्य भावक नहीं। सामान्य भावक रचना का आस्वादन करता है लेकिन आलोचक आस्वादन के साथ-साथ मूल्यांकन भी करता है। मूल्यांकन के लिए रचना के वैशिष्ट्य का उद्घाटन वह तभी कर सकता है जब वह सामान्य से ऊँचे दर्जे का सहृदय पाठक या प्रेक्षक हो, सुपठित हो, शास्त्र मर्मज्ञ हो, निपुण हो, रसज्ञ हो। 'अभिज्ञान शकुंतलम' में कालिदास जब कहते हैं - आपरितोषाद विदुषां न साधुमन्ये प्रयोग विज्ञानम्' तो विद्वानों का परितोष प्रदान करने में ही अपने प्रयोग विज्ञान की - नाटक की सफलता मानते। आ. हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने 'प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद' में लिखा है - 'कालिदास आदि जब परिषद की निपुणता की बात करते हैं तो निश्चय कुछ चुने हुए सदस्यों की बात करते हैं' वास्तव में ये चुने हुए 'सहृदय' ही कला मर्मज्ञ, कला पारखी, कला निष्णात, कला पारंगत, विद्या वारिधि जैसे संबोधन पाते थे। यह उच्च कोटि का सहृदय ही आलोचक कहलाता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की उच्च सहृदयता या रसज्ञता ही उन्हें उच्च कोटि का आलोचक सिद्ध करती है। अभिनवगुप्त को भारतीय परंपरा में सहृदय विचार-दर्शन का प्रवर्तक आचार्य माना गया है। नाट्यालोचन, काव्यालोचन और दर्शन के वे सहृदय आलोचक आचार्य हैं, उनकी सहृदयता इतनी शिखर तक पहुँची सहृदयता है कि वे साहित्यशास्त्र विषयक दो ग्रंथों की रचना करते हैं जिन्हें मौलिक रचना से भी ज्यादा महत्वपूर्ण माना जाता है।

9.8 निष्कर्ष

अपने मूल मंतव्य हम इस प्रकार रख सकते हैं -

1. भारतीय काव्यशास्त्र में 'सहृदय' एक बहुत व्यापक अवधारणा है। भारतीय काव्यशास्त्र में सहृदय कोई बाहरी व्यक्ति न होकर काव्य का अंतरंग, आत्मीय, अभिन्न और अपरिहार्य अंग रहा है। पाश्चात्य काव्यशास्त्र तथा सौंदर्यशास्त्र के 'आदर्श ग्राहक' से उसकी ऊपरी समानता दिखाई देने पर भी गहराई में स्पष्ट भिन्नता है।
2. काव्यानुभूति संबंधी समस्त विवेचन का प्रतिमान है - सहृदय अथवा आदर्श पाठक।
3. काव्यानुभूति का स्वरूप-निर्णय काव्यार्थविद् या प्रमाता पर निर्भर है। इसीलिए देश-विदेश के विचारकों ने एक आदर्श-पाठक की परिकल्पना एक प्रतिमान के रूप में की है। भारतीय काव्यशास्त्र में जिसे प्रेक्षक, दर्शक, भावक, सामाजिक, सुमनस, रसज्ञ, सहृदय, प्रमाता आदि की संज्ञा प्रदान की गई है, उसे ही पश्चिमी चिंतकों ने 'आइडियल रीडर', 'एप्रीशिएटर' 'आब्जर्वर', 'स्पेक्टेटर' (आदर्श पाठक, आदर्श ग्राहक, नाटकीय पाठक, विशिष्ट प्रेक्षक) की संज्ञा प्रदान की है।
4. यह आदर्श 'पाठक' और 'सहृदय' काव्य का बाहरी अंग न होकर उसका अभिन्न, अपरिहार्य - भीतरी अंग है।
5. कवि-कृति और पाठक के बीच संवाद-सेतु है साधारणीकरण। साधारणीकरण पाठक का कवि-अनुभूति से होता है।
6. कलाकार की मूल रचना को अपने हृदय में ग्रहण करके पाठक उसकी पुनर्रचना करता है।
7. आदर्श पाठक ही आदर्श आलोचक होता है जिसमें परम्परा, संस्कृति, इतिहास, धर्म, मिथक अपना विशिष्ट अर्थ संस्कार रचते हैं।

9.9 अभ्यास के लिए प्रश्न

1. भारतीय काव्यशास्त्र में 'सहृदय' की अवधारणा पर विचार कीजिए।
2. पश्चिमी काव्यशास्त्र में 'सहृदय' संबंधी चिंतन पर विचार कीजिए।
3. काव्य के अधिकारी से तात्पर्य स्पष्ट करते हुए उसके महत्व पर प्रकाश डालिए।

इस खंड के लिए कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, **रस मीमांसा**, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी.
2. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, **चिन्तामणि, भाग-1**, इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग.
3. डॉ. प्रेमस्वरूप गुप्त, **रस गंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन**, भारत प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़.
4. डॉ. नगेन्द्र, **रस सिद्धांत**, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली.
5. डॉ. नगेन्द्र, **रीतिकाव्य की भूमिका**, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली.
6. डॉ. निर्मला जैन, **रस सिद्धांत और सौंदर्यशास्त्र**, वाणी प्रकाशन, दिल्ली.
7. लक्ष्मीकांत वर्मा, **नई कविता के प्रतिमान**, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली.
8. डॉ. नामवर सिंह, **कविता के नए प्रतिमान**, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली.
9. सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय', **आधुनिक साहित्य एक परिदृश्य**, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली.
10. सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' (संपा.), **दूसरा सप्तक**, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली.
11. आ. विश्वेश्वर (अनु.), **हिंदी अभिनवभारती**, हिंदी अनुसंधान परिषद, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली.
12. गणेश त्र्यंबक देशपाण्डे, **भारतीय साहित्यशास्त्र**, पॉपुलर बुक डिपो, बंबई.
13. बाबू गुलाबराय, **सिद्धांत और अध्ययन**, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली.
14. प्रो. रमेश कुंतल मेघ, **अथातो सौंदर्य जिज्ञासा**, मेकमिलन कंपनी लिमिटेड इंडिया, नई दिल्ली.
15. पं.विद्यानिवास मिश्र, **सहृदय**, साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली.



उत्तर प्रदेश
राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

MAHI-08

साहित्य सिद्धांत और समालोचना

खंड

4

पाश्चात्य काव्यशास्त्र-I

पाठ्यक्रम विशेषज्ञ समिति

पाठ्यक्रम निर्माण

इकाई लेखक
डॉ. रीतारानी पालीवाल (इकाई 10)
रीडर, इग्नू, नई दिल्ली
डॉ. कुसुम बाँठिया (इकाई 11)
देशबंधु कॉलेज, नई दिल्ली
डॉ. अजय तिवारी (इकाई 12)
पत्राचार एवं अनुवर्ती शिक्षा महाविद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
डॉ. कृष्णदत्त शर्मा (इकाई 13-14)
हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
डॉ. रेखा सेठी (इकाई 15)
इन्द्रप्रस्थ कॉलेज, दिल्ली

पाठ्यक्रम संपादक
प्रो. निर्मला जैन
पाठ्यक्रम संयोजक
डॉ. रीतारानी पालीवाल

सामग्री निर्माण

प्रो. वी.रा.जगन्नाथन
निदेशक, मानविकी विद्यापीठ
इग्नू, नई दिल्ली

श्री कुलवंत सिंह
अनुभाग अधिकारी (प्रकाशन)
मानविकी विद्यापीठ, इग्नू

कैमरा रेडी कॉपी निर्माण एवं सचिवालयिक सहयोग
श्री हरीश कुमार सेठी

फरवरी 2004 (पुनः मुद्रित)

ISBN-81-266-0172-8

खंड 4 का परिचय

'साहित्य सिद्धांत और समालोचना' (एम.एच.डी.05) पाठ्यक्रम का चौथा खंड पाश्चात्य साहित्य सिद्धांत से संबंधित है। 'पाश्चात्य काव्यशास्त्र-I' नामक इस खंड में प्लेटो से लेकर मैथ्यू आर्नल्ड तक के साहित्य चिंतन का विवेचन है। पश्चिमी साहित्य एवं संस्कृति का विकास यूनान से आरंभ होकर रोम होता हुआ आधुनिक यूरोपीय भाषाओं (अंग्रेज़ी, फ्रांसीसी, जर्मन आदि) तक पहुँचा है। प्राचीन पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान का केंद्र था यूनान और यूनानी ज्ञान का प्रमुख स्रोत थी प्लेटो की प्रतिभा। प्लेटो से ही पाश्चात्य साहित्य चिंतन का आरंभ होता है। अपनी दार्शनिक प्रतिभा से प्लेटो ने साहित्य संबंधी कुछ मौलिक प्रश्न उठाए। उनके मेधावी शिष्य अरस्तू ने अपने गुरु के अनेक सिद्धांतों का दृढ़तापूर्वक खंडन करते हुए उनके तार्किक समाधान प्रस्तुत किए। इस प्रकार यूनान में आरंभ से ही दो चिंतन परंपराओं की टकराहट दिखाई देती है। एक दार्शनिक नैतिक प्रत्ययवादी परंपरा का प्रवर्तन प्लेटो करते हैं और दूसरी भौतिकवादी तर्क पर आधारित परंपरा का प्रवर्तन अरस्तू। पाश्चात्य साहित्यशास्त्र की परंपरा इन दोनों के खंडन-मंडन के आधार को लेकर आगे बढ़ती है।

यूनान के तीसरे प्रमुख साहित्य चिंतक है - लांजाइनस। काव्य में औदात्य (उदात्तता) के विषय में चर्चा पश्चिम में प्राचीन काल से ही होने लगी थी। ऐलेग्जैंड्रिया और रोम के कई भाषाशास्त्र विशारदों के औदात्य संबंधी लेखों और ग्रंथों का उल्लेख मिलता है किंतु इस विषय पर सर्वाधिक महत्वपूर्ण निबंध लांजाइनस का उपलब्ध है। उन्होंने औदात्य को काव्य की अंतर्वस्तु मानते हुए कहा कि औदात्य से आह्लाद उत्पन्न होता है। लांजाइनस के औदात्य संबंधी चिंतन से पश्चिम में स्वच्छंदतावाद और सौंदर्यवाद का नए ढंग से प्रवर्तन हुआ।

आभिजात्यवादी दृष्टि के प्रबल पोषक रोमी आचार्य हॉरेस का औचित्य संबंधी चिंतन प्राचीन यूनानी रचनाकारों के सफल अनुकरण को श्रेष्ठ साहित्य की कुंजी मानता है। उन्हीं की दृष्टि सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दी में अंग्रेज़ी नव्य-शास्त्रवादियों के चिंतन का आधार बनती है। नव्यशास्त्रवादी आलोचकों में केवल ड्राइडन ही ऐसे आलोचक हैं जो प्राचीन यूनानी रचनाकारों के अनुकरण को भरपूर महत्व देने के बावजूद सोलहवीं सदी के अंग्रेज़ी नाटककारों की मौलिक प्रतिभा और उनके द्वारा ली गई शास्त्रीय अनुकरण से छूट के महत्व को स्वीकार करते हैं। वे स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि अरस्तू द्वारा दिए गए सिद्धांतों का अनुपालन ही पर्याप्त नहीं है क्योंकि अरस्तू ने जो प्रतिमान निर्धारित किए थे वे उनके समय में विद्यमान यूनानी नाटकों पर आधारित थे। अब नए नाटकों में उन प्रतिमानों से ली गई स्वच्छंदता भी कम सराहनीय नहीं है। अपने आलोचना सिद्धांतों में ड्राइडन ने नाट्य-प्रयोजन और तुलनात्मक आलोचना के क्षेत्र में नवीन चिंतनभूमि का निर्माण किया।

उन्नीसवीं शताब्दी तक आते-आते पश्चिम में स्वच्छंदतावादी काव्य-प्रतिमानों की स्थापना हो जाती है जिन्हें दृढ़ आधार वर्डसवर्थ और कॉलरिज के चिंतन से मिलता है। कवि-कर्म, सर्जनात्मक कल्पना की सत्ता तथा काव्य भाषा को साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में प्रतिष्ठित करने का श्रेय इन दोनों कवि-आलोचकों को है।

विक्टोरियन युग में मैथ्यू आर्नल्ड ने औद्योगिक क्रांति से जन्मे भौतिक मूल्यों के विरुद्ध नैतिक मूल्यों का प्रश्न उठाया और कला की नैतिकता के आधार पर काव्य सत्य और कला सौंदर्य को परखने का प्रयास किया।

संपूर्ण खंड कुल छह इकाइयों (इकाई 10-15) में विभाजित है।

इकाई 10 **'प्लेटो का काव्य चिंतन'** में प्लेटो के युग और व्यक्तित्व का संक्षिप्त परिचय देते हुए काव्य प्रेरणा, काव्य सत्य और अनुकरण के संबंध में प्लेटो के विचारों को प्रस्तुत किया गया है।

इकाई 11 **'अरस्तू का साहित्य चिंतन'** में प्लेटो के आक्षेपों के अरस्तू द्वारा दिए गए समाधान का संक्षिप्त चर्चा करते हुए अरस्तू के अनुकरण सिद्धांत, त्रासदी संबंधी विवेचन तथा विरेचन सिद्धांत का निरूपण किया गया है।

इकाई 12 '**लांजाइनस : उदात्त की अवधारणा**' के अंतर्गत लांजाइनस के उदात्त संबंधी दृष्टिकोण तथा औदात्य के स्रोतों पर प्रकाश डाला गया है।

इकाई 13 '**जॉन ड्राइडन : युग परिवेश और आलोचना सिद्धांत**' के अंतर्गत ड्राइडन के नाट्य काव्य नामक निबंध के विषय में जानकारी देते हुए उनके प्रमुख समीक्षा सिद्धांतों को प्रतिपादित किया गया है। साथ ही, तुलनात्मक आलोचना के क्षेत्र में ड्राइडन के योगदान पर प्रकाश डाला गया है।

इकाई 14 '**स्वच्छंदतावादी काव्य चिंतन : वर्डसवर्थ और कॉलरिज**' में साहित्य चिंतन में स्वच्छंदतावादी दृष्टि के उदय के विषय में जानकारी देते हुए इसके प्रवर्तक कवि-आलोचकों - वर्डसवर्थ के काव्य-भाषा संबंधी दृष्टिकोण तथा कॉलरिज के कल्पना सिद्धांत - का निरूपण किया गया है।

इकाई 15 '**मैथ्यू आर्नल्ड : कला और नैतिकता**' में आर्नल्ड द्वारा प्रस्तुत कला की आभिजात्यवादी व्याख्या तथा साहित्य और कला में नैतिकता के महत्व पर प्रकाश डाला गया है।

इकाई 10 प्लेटो का काव्य चिंतन

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- बता सकेंगे कि पश्चिम में साहित्य चिंतन का आरंभ कब हुआ और उसमें सबसे महत्वपूर्ण चिंतन किन आचार्यों का है,
- प्लेटो के समय और उनके व्यक्तित्व के विषय में जानकारी दे सकेंगे,
- प्लेटो के काव्य प्रेरणा और काव्य सत्य संबंधी विचारों का परिचय दे सकेंगे,
- उनके अनुकरण संबंधी सिद्धांत की चर्चा कर सकेंगे,
- प्लेटो द्वारा प्रतिपादित काव्य प्रभाव का विवेचन कर सकेंगे,
- बता सकेंगे कि प्लेटो के काव्य सिद्धांत ने परवर्ती साहित्य चिंतन को किस प्रकार प्रभावित किया।

10.1 प्रस्तावना

इस पाठ्यक्रम की पिछली इकाइयों में आप भारतीय काव्यशास्त्र का परिचय प्राप्त कर चुके हैं। साहित्य के स्वरूप, उद्देश्य; साहित्य चिंतन के विभिन्न सम्प्रदायों के विषय में जानकारी पाने के अतिरिक्त आपने शब्द शक्तियों के विषय में पढ़ा है। प्रस्तुत खंड में हम पश्चिमी साहित्य सिद्धांतों का परिचय प्राप्त करेंगे।

पश्चिम में साहित्य-शास्त्र के विकास के संकेत पाँचवीं शती ईसा पूर्व के पहले से ही मिलने लगते हैं। हैसिओड, सोलन, पिंडार आदि की रचनाओं में काव्य, काव्य के हेतु तथा काव्य प्रयोजन संबंधी मान्यताओं का उल्लेख मिलता है। प्रसिद्ध नाटककार अरिस्तोफिनीस के नाटकों में भी हास्य-व्यंग्य के माध्यम से साहित्य के सिद्धांतों का उल्लेख हुआ है। किंतु एक सुसम्बद्ध शास्त्र के रूप में साहित्यालोचन के दर्शन हमें सबसे पहले प्लेटो में ही मिलते हैं। प्लेटो मूलतः आत्मवादी चिंतक हैं; उन्होंने कविता पर एक दार्शनिक की दृष्टि से विचार किया है। प्लेटो के शिष्य अरस्तु ने कविता पर अधिक वैज्ञानिक और व्यवस्थित दृष्टि से विचार किया। गुरु और शिष्य की मूल दृष्टि का अंतर उनके काव्य सिद्धांतों में दो जीवन-दृष्टियों का अंतर बनकर सामने आता है। प्लेटो जहाँ अनुकरण को यथार्थ से दूर और यथार्थ को विकृत करने वाला मानते हैं, वहीं अरस्तु उसे यथार्थ से बढ़कर मानते हैं। अरस्तू के विवेचन के लगभग दो शताब्दियों तक साहित्य सिद्धांतों की विशेष चर्चा उपलब्ध नहीं है। उनके बाद रोमन कवि हॉरेस (65-68 ई.पू.) की 'आर्स पोइटिका' (Ars Poetica) का साहित्य सिद्धांत के रूप में उल्लेख मिलता है। उनका भाषा संबंधी सिद्धांत काव्यालोचन के क्षेत्र में उनकी एक विशेष देन है। ईसा की पहली शताब्दी में यूनानी चिंतक लौंगिनुस/लाजाइनस की कृति 'पेरीइप्सुस' में काव्य के संदर्भ में उदात्त को बहुत अधिक महत्व दिया गया। ईसा की तीसरी शताब्दी तक आते-आते आत्मवाद तथा वस्तुवाद क्रमशः नव्य-प्लेटोवाद और नव्य-अभिजात्यवाद के रूप में सामने आने लगा। इस समय प्लॉटिनस ने गहन दर्शन पर आधारित सिद्धांतों का प्रतिपादन किया। नव्य-प्लेटोवाद का प्रभाव मध्ययुगीन धार्मिक चिंतन पर पड़ा।

10.2 युग परिचय

पश्चिम में सुसम्बद्ध शास्त्र के रूप में साहित्यालोचन के दर्शन सबसे पहले प्लेटो (427-347 ई.पू.) में होते हैं। उनका आविर्भाव ऐसे समय में हुआ था जिसे एथेन्स (यूनान) का पतनकाल कहा जाता है। युद्ध में पराजित एथेन्स अनेक कठिनाइयों से गुज़रते हुए शक्तिहीन हो चुका था। चारों ओर आध्यात्मिक मूल्यों का विनाश और सर्वत्र अवसरवादिता, विश्वासघात का माहौल था। ज्यादातर लोगों की संख्या ऐसी थी जो दास थे और जिनकी पीड़ाएँ अकथनीय थीं। इन श्रमजीवी दासों के बल पर ही ऐथेन्स की सभ्यता और संस्कृति का निर्माण हुआ था। किंतु ये लोग नागरिक जीवन में अधिकार पाने से वंचित थे। प्रजातंत्र के नाम पर राज्यसत्ता व्यापारियों और कुछेक कुलीनों के कब्ज़े में थी। इसलिए अधिकांश विद्वानों का यह मत है कि प्लेटो का आदर्शवाद समकालीन सामाजिक पतन की गहरी प्रतिक्रिया का परिणाम है।

प्लेटो की मूल दृष्टि आत्मवादी (Subjective) या 'प्रत्ययवादी' (Idealist) थी अर्थात् उनके मत से यह विश्व और इसके सकल पदार्थ विश्व की विराट चेतना में प्रत्यय के रूप में स्थित हैं। बाहरी संसार में हम जो कुछ देखते हैं वह उस अमूर्त प्रत्यय का मूर्त अनुकरण मात्र है। कविता बाह्य संसार से सामग्री ग्रहण करती है और इस सामग्री को ही संशोधित-सपांदित कर संयोजित करती है। अतः वह अनुकरण का अनुकरण होने के कारण सामान्यतः ग्रहणीय नहीं है। प्लेटो के मत से कविता में वैज्ञानिकता तर्कसिद्धता और गहरी मानवीय सामाजिकता का अभाव होता है।

10.3 प्लेटो का व्यक्तित्व

प्लेटो का जन्म एक कुलीन वंश में हुआ था। उन्हें माता-पिता ने 'अरिस्तोक्लीस' नाम दिया था। किंतु उनके शरीर के आकार-प्रकार को देखकर मल्ल गुरु ने उन्हें 'प्लातोन' नाम दिया। प्लातोन का अर्थ है - चौड़ा-चकड़ा। अरबी-फारसी परंपरा में यही नाम 'अफलातून' के रूप में प्रसिद्ध हुआ। लेकिन विश्व की अनेक भाषाओं में उन्हें प्लेटो नाम से ही जाना जाता है। प्लेटो के दुर्भाग्य की भी एक कहानी है। बचपन में ही पिता की मृत्यु हो गई और माता ने दूसरा विवाह कर लिया। उनका बचपन एक ऐसे पारिवारिक परिवेश में बीता जिसके सदस्य लंबे समय से ऐथेन्स की राजनीति में सक्रिय भाग लेते चले आ रहे थे। प्लेटो ने स्वयं प्रत्यक्ष राजनीति में भाग नहीं लिया किंतु यह सच बात है कि उनके संस्कारों और विचारों में राजनीति रची हुई थी। युवा प्लेटो, जिनकी उम्र बीस वर्ष रही होगी, महान दार्शनिक सुकरात के संपर्क में आए। उनकी पूरी शिक्षा-दीक्षा सुकरात की छत्रछाया में हुई। इतना ही नहीं, वे सुकरात के मृत्यु-क्षण तक उनके साथ रहे। 28 वर्ष की अवस्था से लगभग 12 वर्ष तक प्लेटो देश-देशांतर में भ्रमण करते हुए विभिन्न मत-मतांतरों का अध्ययन करते रहे और वैचारिक रूप से परिपक्व होकर ऐथेन्स लौटे। प्रौढ़ प्लेटो ने लौटकर उस प्रसिद्ध अकादेमी की स्थापना की जिसे यूरोप का सर्वप्रथम विश्वविद्यालय कहलाने का श्रेय प्राप्त है। प्लेटो से संबंधित तथ्य यह बात भी सामने लाते हैं कि किशोर और युवा प्लेटो की रुचि काव्य रचना में थी। किंतु सुकरात के संपर्क में आने पर अपनी काव्य रचनाएँ उन्होंने नष्ट कर दीं और रचनाकर्म समाप्त। आज भी उनकी काव्य-रचना के कुछ अंश 'ऑक्सफोर्ड बुक ऑफ ग्रीक वर्स' में संकलित हैं।

प्लेटो का चिंतन संवादों में मुखरित हुआ है। यह विश्वास किया जाता है कि अकादेमी की स्थापना के पूर्व वे अनेक 'संवादों' (Dialogues) की रचना कर चुके थे। अकादेमी की स्थापना के बीस वर्ष तक उन्होंने कोई 'संवाद' नहीं लिखा। लेकिन अंतिम वर्षों में फिर से संवादों की ओर प्रवृत्त हुए। उनका अंतिम संवाद 'लॉज' नाम से प्रसिद्ध है। प्लेटो के कुछ संवाद 'पोलितेइया', 'रिपब्लिक', तथा 'ईऑन' में संकलित हैं। कुल मिलाकर विद्वान प्लेटो की 28 रचनाओं को प्रामाणिक कृतित्व के रूप में स्वीकार करते हैं जिनमें 27 संवाद और ग्यारह पत्रों का एक संग्रह शामिल है। यह बात भूलने की नहीं है कि प्लेटो ने काव्य और कला के संबंध में किसी स्वतंत्र ग्रंथ की रचना नहीं की है, संवादों में प्रसंगवश काव्य या कला की चर्चा आती रहती है। ऐसे संवादों में 'ईऑन', 'फैड्रूस', 'सिम्पोसिऑन' आदि का नाम लिया जा सकता है। प्लेटो के संवादों की प्रमुख विशेषता है - द्वंद्वात्मक पद्धति। संवादों के प्रमुख नाटकीय पात्र सुकरात के कथन में जगह-जगह पूर्वापर असंगतियाँ और अंतर्विरोध मिलते हैं। प्रायः पाठक यह निश्चित नहीं कर पाता कि मूल विषय पर स्वयं प्लेटो के विचार क्या हैं। इन कठिनाइयों के बावजूद इस द्वंद्वात्मक पद्धति की अपनी विशेषताएँ हैं जिनके प्रति विद्वानों का अपना आकर्षण रहा है। काव्य और कला के विषय में प्लेटो की बुनियादी चिंता है - 'रिपब्लिक' या आदर्श गणराज्य में उनकी उपयोगिता। इस उपयोगिता का निर्णय करने के लिए ही प्लेटो ने काव्य की प्रेरणा, काव्य का स्वरूप,

काव्य के विषय, काव्य के रूप, काव्य और सत्य का संबंध, काव्य और सौंदर्य, काव्य और लोकमंगल कला की परिभाषा, कलाओं में काव्य का स्थान, जीवन और कविता आदि अनेक विषयों पर चर्चा की है। प्लेटो के इन विचारों की व्यापकता को देखते हुए इनमें एक व्यापक और व्यवस्थित काव्य सिद्धांत के पुनर्निर्माण की संभावनाओं का संकेत मिलता है, भले ही प्लेटो के संवादों में किसी निश्चित क्रम का निर्वाह न किया गया हो।

10.4 काव्य प्रेरणा और काव्य सत्य

प्लेटो ने काव्य और कला को दैवी प्रेरणा का परिणाम माना है। उन्होंने अपने संवादों में अनेक स्थानों पर कवि के 'दिव्य पागलपन' (Divine Insanity) की चर्चा की है। उनका यह भी विश्वास है कि सृजन के क्षणों में परमात्मा कवियों से उनका मस्तिष्क छीन लेता है। विद्या की देवी सरस्वती (Muse) कवि के भीतर एक ऐसी कल्पना-शक्ति जाग्रत करती है कि वह भावावेग की प्रेरणा के बिना रह नहीं सकता। प्लेटो ने प्रसिद्ध प्राचीन ग्रीक कवि होमर की कृतियों - 'इलियड' और 'ओडसी' - पर विचार करते हुए भी यह मत व्यक्त किया है कि उनकी कविताओं और चरित्रों में भावावेग और कल्पनातिरेक है। उन्होंने यहाँ तक कहा है कि दुनिया-भर के लोगों को झूठ बोलना होमर ने ही सिखाया है। प्रेरणा दिव्य-शक्ति के रूप में कवि को संचालित करती है और एक अमिट श्रृंखला बनाती है।

प्लेटो द्वारा कविता की दिव्य-प्रेरणा की चर्चा एक प्रकार से काव्य की सृजन प्रक्रिया के संबंध में प्लेटो के विचार हैं जो 'ईऑन' नामक संवाद में मिलते हैं। काव्य सृजन प्रक्रिया के संबंध में प्लेटो की यह मान्यता है कि सभी समर्थ कवि अपनी रचना किसी सचेष्ट कलात्मक प्रेरणा द्वारा नहीं बल्कि दैवीय शक्तियों से प्रेरित एवं अभिभूत होकर करते हैं। अर्थात् कवि कर्म किसी वैज्ञानिक तर्क-पद्धति पर आधारित नहीं है। कवि में सृजन की क्षमता का उदय दैवी शक्ति की प्रेरणा (Divine Inspiration) के रूप में होता है। अपने इस विश्वास को सिद्ध करने के लिए प्लेटो ने यह तर्क दिया कि काव्य-सृजन के क्षणों में रचनाकार किन्हीं कलात्मक नियमों के आधार पर रचना में प्रवृत्त नहीं होता। वह तो दिव्य शक्ति के वशीभूत होकर काव्य-रचना में प्रवृत्त होता है। इसलिए प्लेटो कवि के 'दिव्य पागलपन' (Divine Frenzy) की चर्चा बार-बार करते हैं। उनके अनुसार यह किसी प्रकार की मानसिक विकृति या मनोग्रंथि का परिणाम न होकर दिव्य प्रेरणा से अभिभूत मानव की सहज आत्म-विस्मृति का सुपरिणाम है। निष्कर्ष यह कि काव्य का सृजन ऐसी मनःस्थिति में होता है जब कवि अपनी सहज विवेक वयस्कता को खोकर किन्हीं दैवी शक्तियों के अधीन हो जाता है। इतना ही नहीं, वह एक आरोपित व्यक्तित्व धारण कर लेता है। प्लेटो का विचार है कि -

> **इस अवस्था में वह केवल एक यंत्र एक माध्यम मात्र रह जाता है। इस मनःस्थिति में उच्चरित अमूल्य वाणी का वक्ता स्वयं कवि नहीं होता वह दैवीय उक्तियों का माध्यम मात्र होता है। समस्त सुंदरतम कविता का आविष्कार मूलतः काव्य देवियों द्वारा होता है। अलौकिक शक्ति द्वारा अधिकृत कवि स्रष्टा नहीं, उनका प्रवक्ता मात्र होता है। सृजन क्षण को प्लेटो सचेष्ट प्रयत्न न मानकर अनायास घटित घटना मानते हैं। उनके मतानुसार दैवीय अनुकम्पा के बिना कोई कवि कवि नहीं हो सकता। काव्य सृजन प्रक्रिया को प्लेटो ने एक सुनिश्चित कलात्मक प्रयास नहीं माना। कविता उनके लिए शिल्प नहीं। (पाश्चात्य साहित्य चिंतन, निर्मला जैन, कुसुम बाँठिया, पृ.38)**

इस प्रकार प्लेटो ने कवि को कविता का निमित्त कारण मानकर उसे सभी दायित्वों से मुक्त कर दिया। कवि, कविता के प्रति इस हद तक समर्पित हो जाता है कि कवि कविता की रचना नहीं करता, वह स्वयं रच जाती है। उसका रचनाकार तो ईश्वर ही है। प्लेटो के इस काव्य-सृजन-सिद्धांत का काफी समय बाद रोमांटिक कवियों ने समर्थन किया। शायद प्लेटो से पहले भी यह धारणा चली आ रही थी कि काव्य दैवी प्रेरणा का परिणाम है। इसका प्रमाण यह है कि होमर ने अपनी काव्य रचना का आरंभ काव्य देवियों की स्तुति के साथ किया है। प्लेटो ने 'फैड्रस' में काव्य-विक्षेप (दिव्य पागलपन) के चार प्रकारों की चर्चा की है जिसमें कवि को पैगम्बर, धर्मगुरु और प्रेमी का समवर्गी सिद्ध किया गया है। 'ईऑन' प्लेटो के इन्हीं विचारों का विस्तार करता है।

विद्वानों का मानना है कि अनेक परिवर्तनों से गुज़रने पर भी प्लेटो का यह सिद्धांत आज भी जीवित है। जीवित होने का प्रमाण यह है कि इस सिद्धांत की अनुगूँज शेक्सपियर और ड्राइडन तक में सुनाई देती है। यह दूसरी बात है कि प्लेटो ने 'रिपब्लिक' के दसवें अध्याय में जिस रूप में काव्य की चर्चा की है वह 'ईओन' की काव्य चर्चा से काफी भिन्न है। 'ईऑन' में तो प्लेटो कविता की दैवीय प्रेरणापरक

व्याख्या करते हुए कवि को एकदम झूठा असत्य-भाषी तक कह देते हैं। मूल बात यह है कि अपने काव्य चिंतन में प्लेटो नैतिक मूल्यों की ओर बढ़ते चले गए और उन्होंने कवि की नैतिक जिम्मेदारी के प्रश्न पर ही गंभीरता से विचार किया। रिपब्लिक के विचारों में कवि के नैतिक दायित्व की चिंता प्रधान रूप से व्याप्त है। विद्वान कहते हैं कि यह कवि और दार्शनिक के बीच द्वंद्वात्मक संबंध विषयक चिंता का परिणाम है।

प्लेटो के संपूर्ण चिंतन का आधार है - नैतिकता और आदर्श राज्य का निर्माण। उनके कला संबंधी सभी विचार आदर्श नागरिक के निर्माण की चिंता के संदर्भ को ही व्यक्त करते हैं। ललित कलाओं का प्रसंग आने पर कभी-कभार प्लेटो व्यक्तित्व निर्माण के लिए संगीत की आवश्यकता स्वीकार करते हैं। किंतु इस तरह के विचार उनके चिंतन का केंद्रीय मुद्दा नहीं है। कला के संदर्भ में 'माइमेसिस' (Mimesis) (अनुकरण) शब्द का प्रयोग उन्होंने परंपरा सिद्ध मानकर प्रश्न को यह रूप दिया कि अनुकरण का विषय क्या है और कला के लिए अनुकरणीय क्या है। प्लेटो ने 'अनुकरण' शब्द का प्रयोग दो संदर्भों में किया - (1) विचार जगत और गोचर जगत के बीच संबंध की व्याख्या के लिए; और (2) वास्तविक जगत और कला जगत के बीच संबंध निरूपण के लिए। विद्वान मानते हैं कि पहले का संबंध **तत्व-मीमांसा** से है एवं दूसरे का संबंध नैतिकता से संबंधित प्रश्नों से। कला का प्रश्न नैतिक परिधि में आता है। कला चिंतन के इतिहास में प्लेटो को नैतिकतावादी मानने के मूल में यही धारणा सक्रिय रही है।

10.5 काव्य सत्य और अनुकरण

प्लेटो के लिए काव्य के संदर्भ में सत्य का प्रश्न ही अनावश्यक है। काव्य में सत्य का अनुकरण नहीं किया जाता। उदाहरण के तौर पर, बच्चों को सुनाई जाने वाली कहानियाँ प्रायः कल्पित और असत्य होती हैं। मूल चुनाव यहाँ सत्य-असत्य का नहीं है, अच्छे झूठ और बुरे झूठ के बीच का है। इस प्रकार प्लेटो की बहस अनुकरण से नहीं, अनुकरण के विषय से रही है। भारत में भी अनेक पुराण कथाएँ ऐसी हैं जिनको लेकर प्रश्न सत्य-असत्य का नहीं है। हम केवल इस तथ्य की ओर आकृष्ट होते हैं कि उसमें कल्पना की सर्जनात्मकता का किस हद तक उपयोग हुआ है। प्लेटो का स्पष्ट मत है कि काव्य में ऐसे विषयों की चर्चा होनी चाहिए जो सद्-मूल्यों पर आधारित हों। विवेकहीन, अपरिपक्व, असंगत, अनैतिक, मन पर दुष्प्रभाव डालने वाले साहित्य का पूर्णतया निषेध होना चाहिए चाहे वह सत्य ही क्यों न हो। उनका स्पष्ट मत है कि साहित्य नैतिक संस्कारों के निर्माण का साधन होना चाहिए। सोच-समझकर ही प्लेटो ने अन्यापदेशिक शैली में लिखी गई कथाओं को भी निषिद्ध माना है। इसके पीछे उनका तर्क यह है कि कच्ची उम्र के बच्चों में कथा के अभिधेय और अन्योपदशिक अर्थ के बीच अंतर करने की न तो क्षमता होती है और न तमीज़। यदि कवि लोकमंगलकारी विचारों का अनुकर्ता हो यानी ऐसी कविता करे जिससे समाज का हित (लोकमंगल) हो तो प्लेटो उसे अपने आदर्श गणतंत्र में रखने को तैयार दिखाई देते हैं।

इस प्रकार, प्लेटो की बहस अनुकरण से नहीं, अनुकरण के विषय से है। ज़ाहिर है कि प्लेटो ने काव्य का निषेध अनुकरण का अनुकरण होने मात्र होने के कारण नहीं किया बल्कि अनैतिक होने के कारण किया है। यहाँ इस बात को समझ लेना चाहिए कि प्लेटो के मत से मूल सत्य 'प्रत्यय' (idea) है। उस सत्य प्रत्यय का अनुकरण प्रकृति है और उस प्रकृति का अनुकरण कलाकृति अथवा कविता में प्रकट होता है। जो अंतर सत्य और असत्य के बीच है, ज्ञान और धारणा के बीच है वही अस्तित्व और आभास के बीच है। कला का स्वभाव अनुकरणात्मक है अर्थात् असत्यमूलक है। अनुकरण का अनुकरण होने के कारण कविता सत्य से तीन गुना दूर हो जाती है। प्लेटो अपनी बात कुर्सी-मेज़ बनाने वाले एक बढ़ई का उदाहरण देकर स्पष्ट करते हैं। वे कहते हैं कि रचनाकार वस्तु जगत की चीज़ों के इस तरह के अनुकरण से प्रभावित होता है। प्लेटो ने सुकरात और ग्लॉकन के संवाद के द्वारा अपने अभिप्रेत को स्पष्ट किया है -

> **सुकरात - 'क्या तुम अनुकरण को इतनी अच्छी तरह समझते हो कि मुझे इसके बारे में समझा सको? क्योंकि मैं स्वयं भी पूर्णतः नहीं समझता कि वह है क्या?**
>
> **ग्लॉकन - 'संभव है मुझे अनुकरण के स्वरूप का पता हो।'**
>
> **सुकरात - 'इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि तुम्हें इसका स्वरूप पता हो, क्योंकि बहुधा ऐसा भी होता है कि धुँधले ज्ञान वाले लोग अपने कथ्य को पूर्ण ज्ञानी लोगों से भी अधिक स्पष्ट कर देते हैं।'**

ग्लॉकन - 'यह तो है ही। परंतु तुम्हारी उपस्थिति में मुझमें इतना साहस नहीं होता कि मैं घबोल सकूँ कि मैं क्या सोचता हूँ। अतः पहले तुम अपना मत दो।'

सुकरात - 'हम अपना विवेचन सामान्य पद्धति से ही आरंभ करते हैं। हम उन समस्त वस्तुओं को एक ही श्रेणी में रखने के आदी हैं जिनके लिए हम एक ही नाम देते हैं।'

ग्लॉकन - 'अब हमें वस्तुओं की कोई भी श्रेणी बना लेनी चाहिए जैसी तुम चाहो। उदाहरणार्थ, यदि काम चले तो पलंग और मेज़ को ही ले लो।

सुकरात - 'परंतु इन वस्तुओं की दो आकृतियाँ हैं, एक पलंग की और एक मेज़ की।'

ग्लॉकन - 'तब ठीक है, क्या हम यह नहीं कहते कि प्रत्येक वस्तु का निर्माता आकृति को देखकर ही अपने मस्तिष्क में विचार लाता है। पलंग और मेज़ का हम उपयोग करते हैं जैसे कि अन्य वस्तुओं को उपयोग करते हैं क्योंकि कोई भी निर्माता वास्तविक आकृति निर्माण नहीं कर सकता - और करे भी कैसे।'

सुकरात - ' यह सोचो तुम उस निर्माता को किस नाम से पुकारोगे। मेरा मतलब उस व्यक्ति से है जो सम्पूर्ण वस्तुओं को बनाता है और सभी हस्तकलाओं का वही उद्‌गम स्रोत है।'

ग्लॉकन - 'तुम तो किसी अद्‌भुत प्रतिभाशाली एवं कुशल व्यक्ति की बात कर रहे हो।'

'तनिक ठहरो', सुकरात ने उत्तर दिया, 'तुम्हारे पास इस बात को कहने के लिए और भी पुष्ट कारण होगा। यह शिल्पी इसी प्रकार की अनेक वस्तुएँ ही नहीं बनाता अपितु वह पृथ्वी पर उत्पन्न होने वाली प्रत्येक वस्तु का निर्माता है, संपूर्ण प्राणि-जगत को उत्पन्न करता है और हम सभी को भी - इतने से संतुष्ट न होकर स्वर्गलोक तथा मृत्युलोक की सृष्टि करता है तथा स्वर्ग एवं पृथ्वी के नीचे नरक की अन्य वस्तुओं की भी.....।'

ग्लॉकन - 'तुम तो किसी अद्‌भुत तथा चतुर के विषय में कह रहे हो?'

सुकरात ने जवाब दिया - 'क्या तुम विश्वास नहीं करते। मुझे बताओ तुम्हारे विचार से ऐसा कोई स्रष्टा नहीं है या तुम्हारा यह विचार है कि मनुष्य एक प्रकार से इन समस्त वस्तुओं का निर्माता हो सकता है और दूसरे प्रकार से नहीं। क्या तुम्हें यह नहीं लगता कि पद्धति-विशेष से तुम भी ये सब वस्तुएँ बना सकते हो।'*

प्लेटो ने स्पष्ट कहा कि अनुकर्ता कवि या चित्रकार यथार्थ वस्तुओं का चित्रण नहीं करते, प्रतीयमान वस्तुओं का चित्रण करते हैं क्योंकि मूल में यथार्थ वस्तु महान् शिल्पी (परमात्मा) की बनाई हुई है कवि तथा चित्रकार दोनों ही उसका अनुकरण या नकल करते हैं। उदाहरण के लिए - बढ़ई जिस पलंग या कुर्सी को बनाकर तैयार करता है वह विराट स्रष्टा (ईश्वर) के मस्तिष्क में बने रूप की छाया मात्र है। फिर भी बढ़ई सत्य के काफी निकट पहुँचा है, लेकिन चित्रकार जो उस पलंग का चित्र बनाता है वह तो यथार्थ से 'दोगुना-तिगुना' दूर चला गया है। सत्य से तिगुनी दूर चले जाने की चर्चा उन्होंने इस प्रकार से की -

सुकरात - 'यह कठिन नहीं है, तुम बिना विलम्ब के प्रत्येक स्थान पर वस्तुओं को बना सकते थे। इसका सबसे आसान तरीका यह है कि दर्पण को लेकर चतुर्दिक घुमाओ। इस पद्धति से तुम फ़ौरन ही सूर्य, नक्षत्र, पृथ्वी, स्वयं तथा अन्य जीवधारियों को, लता-द्रुमों तथा उन सभी वस्तुओं को बना सकते हो, जिनकी चर्चा हुई है।'

ग्लॉकन - 'ठीक है। परंतु यह संपूर्ण प्रकृति प्रतीयमान होगी, वास्तविक नहीं।'

सुकरात - 'तुमने बहुत ठीक बात कह दी है, जो मेरी धारणा थी वही तुमने कहा, 'मैं सोचता हूँ चित्रकार भी इसी प्रकार का निर्माता है।'

ग्लॉकन - 'तुम यह भी कह सकते हो या कहोगे कि वह जो कुछ बनाता है वह वास्तविक नहीं होता। जब कि एक प्रकार से चित्रकार भी पलंग की सृष्टि करता है, करता है या नहीं? जब वह चित्र (पलंग) बनाता है।'*

अर्थात् बढ़ई जो बनाता है वह वास्तविक (सत्य पलंग) का निर्माण नहीं करता है, वह जो बनाता है वह 'वास्तविक का अनुकरण' मात्र है। अतः मूल पलंग का निर्माता है ईश्वर, दूसरा उसी का निर्माण करता है बढ़ई, तीसरा उसी पलंग का चित्र आँकता है, चित्रकार। ईश्वर द्वारा पलंग की रचना वास्तविक है,

* Republic X, 'Literary Criticism – Plato To Dryden', Allan H. Gilbert से साभार

शेष दोनों ही उसके अनुकर्ता हैं। इसलिए बढ़ई सत्य से दूना दूर और चित्रकार सत्य के तीन गुना दूर हो जाता है। जो बात चित्रकार पर लागू होती है, वही कवि पर भी। क्योंकि दोनों ही एक ही कोटि के प्राणी हैं। जिस प्रकार चित्रकार सत्य से तीन गुना दूर ठहरता है। दूसरे शब्दों में यही बात इस प्रकार से कही जा सकती है कि काव्य 'मूल प्रकृति' का अनुकरण है एवं 'प्रकृति' सत्य का अनुकरण करती है। अनुकरण का अनुकरण (Imitation of Imitation) होने के कारण कला वास्तविकता से तीन गुना दूर (Thrice Removed from reality) होती है। अतः कवि का अनुकरण झूठा होने के कारण वह पूर्ण आदर का अधिकारी नहीं है।

वास्तविकता और उसका आभास (Appearance and Reality)

प्लेटो ने 'अनुकरण' के संबंध में एक अत्यंत महत्वपूर्ण जिज्ञासा को प्रकट किया है कि कवि या कलाकार वस्तुओं का बिल्कुल वैसा ही अनुकरण करता है जैसी वे हैं अथवा उसका अनुकरण मात्र तथ्य और कल्पना पर आधारित होता है। उन्होंने पलंग वाला उदाहरण फिर दोहराया और कहा कि यदि हम उस पलंग को एक किनारे के सामने से अथवा अन्य किसी सिरे से देखने की कोशिश करते हैं तो वह अलग-अलग ढंग से दिखाई देता है।

दिखाई देने वाला यह अंतर वास्तविक है अथवा आभास-मात्र है? क्या यह वैसा ही अनुकरण है जैसा कि मूल पलंग (Does it imitate the thing as it actually is?) या यह वैसा दिखाई देता है जैसा उसे रचना में ढाला जाता है? क्या वह केवल कल्पनात्मक अनुकरण है अथवा सत्य का अनुकरण है? इस बात का जब हम निर्णय करते हैं तब यही स्पष्ट होता है कि कवि या कलाकार 'प्रकृति निर्माता' के पलंग का यथा-तथ्य (Actual) अनुकरण नहीं कर सका है उसकी असफलता ने उसे अनुकरण के द्वारा सत्य से बहुत दूर कर दिया है। (The imitation is far removed from truth) वह ऐसी कल्पना मिला देता है जिसपर पहले तो विश्वास ही नहीं हो सकता और यदि विश्वास हो भी जाए तो यह धोखे का विश्वास (Illusion) है। धोखे का यह विश्वास विवेकहीन व्यक्ति को ही हो सकता है। अतः कंवि या कलाकार अपनी तरह के मूर्ख व्यक्तियों को ही मूर्ख बना सकते हैं। चूँकि सच्चे सत्य की अभिव्यक्ति उन्हें नहीं आती। इसलिए उसका अनुकर्ता भी अज्ञान में जीता है। लेकिन विवेक-युक्त प्राणी को तो इस अज्ञानपूर्ण अनुकरण की भर्त्सना करनी चाहिए क्योंकि यह त्याज्य है।

प्लेटो ने अपनी बात के पुष्टीकरण के लिए त्रासद-कवियों में अग्रणीय होमर का नाम लिया। उन्होंने यह घोषणा की कि दुनिया-भर के त्रासद कवियों को होमर ने ही झूठ सिखाया। त्रासदी का कवि होमर यह जानता है कि वह कैसे लिखी जाती है और इसका दिव्य-ज्ञान उसे है। साथ ही, वह त्रासदी का उचित निर्वाह भी कर सकता है और म्यूज (Muse) के वश में रहता हुआ भी वह, यह कह देता है जो उसे कहना चाहिए। त्रासदी पढ़ते हुए भी हम यह कैसे भूल सकते हैं कि यह एक अनुकरण है और यह अनुकर्ता कवि अंतिम वास्तविकता (Ultimate reality) को व्यक्त करने में असमर्थ रहता है -

> **मेरे प्यारे होमर, अगर तुम्हारा गुणात्मक ज्ञान सत्य से दूर नहीं है और तुम हमारी अनुकरण की परिभाषा के अनुसार केवल कल्पनाजीवी नहीं हो और अगर तुम सत्य से सच्चे अर्थों में संबंधित हो साथ ही तुम मनुष्य की ज़िन्दगी की अच्छी-बुरी बनाने वाली वस्तुएँ भी जानते हो तो भी क्या तुम हमें बता सकते हो कि तुमने किस शहर अथवा किस सरकार का कितना सुधार किया है। होमर के सेनापतियों ने या सलाहकारों ने अपने समय में ऐसा कौन-सा युद्ध लड़ा है, जिसने देश का उद्धार किया हो।**

यह बात कैसे मानी जाए कि होमर ने मनुष्य को एक नई जीवन-दृष्टि दी है। जबकि उसकी कृतियों के देखने से यह लगता है कि उसने मनुष्य को छला है। जिस व्यक्ति ने अनुकरण को अपनाया है वह केवल छाया-कृति को ही पकड़ सका है। अतः प्लेटो ने होमरीय जीवन के आदर्शों का भरसक खण्डन किया है -

> **परंतु सोचो ग्लॉकन यदि होमर सचमुच लोगों को शिक्षित करके उन्हें श्रेष्ठ बनाने में सफल रहा होता, यदि उसे केवल अनुकरण के क्षेत्र में ही सफलता मिली होती तो उसने कई शिष्य नहीं बनाए होते और वह उनके सम्मान और प्रेम का पात्र न होता?......यदि होमर लोगों को उत्कृष्ट बनाने में कुछ सहायता कर सका होता तो क्या उस समय का समाज उसे और हेसियाद को गीत गाते हुए यहाँ-वहाँ भटकने के लिए छोड़ देता? लोग उसे सोने से भी अधिक मूल्यवान समझकर उसे अपने साथ रखते? और यदि उसमें वे सफल होते तो लोग अपनी शिक्षा का भार सौंपकर उसके पीछे-पीछे भागते दिखाई देते।**

10.6 प्रत्ययवाद से तात्पर्य

प्लेटो में काव्य और दर्शन के सापेक्ष महत्व को लेकर प्रायः अंतर्द्वंद्व दिखाई देता है। इसका कारण है वे स्वभाव और संस्कार से कवि हैं तथा शिक्षा और परिस्थिति से दार्शनिक। कभी वे काव्य और दर्शन के पुराने कलह की याद दिलाते हैं तो कभी काव्य को ईश्वरीय प्रेरणा से उद्भूत मानकर उसकी प्रशंसा करते हैं। प्रायः प्लेटो का स्मरण काव्य के विरुद्ध अनेक अभियोग लगाने वाले दार्शनिक आचार्य की तरह किया जाता है। उनके मत से काव्य की अग्राह्यता के दो आधार हैं - दर्शन और प्रयोजन। मूलतः प्लेटो प्रत्ययवादी (Idealist) दार्शनिक हैं। प्रत्ययवाद के अनुसार प्रत्यय अर्थात् विचार ही परम सत्य है, वह नित्य है, एक है, अखंड है और ईश्वर ही उसका स्रष्टा है। यह दृश्यमान वस्तु-जगत प्रत्यय (परम सत्य या ईश्वर) का अनुकरण है क्योंकि कलाकार किसी वस्तु को ही अपनी कला के द्वारा निर्मित अंकित या चित्रित करता है। इस क्रम में कला तीसरे स्थान पर है - पहला स्थान प्रत्यय का (अर्थात् ईश्वर का) दूसरा स्थान उसके आभास या प्रतिबिंब या वस्तु-जगत का और तीसरा स्थान वस्तु-जगत के प्रतिबिंब कला-जगत का। इसलिए परम सत्य से कला का तिहरा अलगाव है और अनुकरण का अनुकरण होने के कारण वह मिथ्या या झूठ है। प्लेटो के शब्दों में कविता या कला सत्य से तिगुना दूर (Thrice removed from reality) होती है।

अपने इस सिद्धांत कथन को प्लेटो अपने उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं। उनका कहना है कि संसार में प्रत्येक वस्तु का एक नित्य रूप होता है। यह प्रत्यय या विचार में ही निहित रहता है और यह रूप ईश्वर निर्मित है। विचार (प्रत्यय) में मौजूद उसी रूप के आधार पर किसी वस्तु का निर्माण होता है। प्लेटो के द्वारा दिया गया पलंग का उदाहरण लें। यथार्थ पलंग वह है जिसका रूप हमारे प्रत्यय या विचार में है और इस रूप का निर्माण ईश्वर ने किया है। इस विचार में विद्यमान रूप के आधार पर बढ़ई लकड़ी के पलंग का निर्माण करता है और उसके द्वारा निर्मित पलंग का चित्र कवि या कलाकार निर्मित करता है। इस प्रकार तीन पलग हुए - (1) एक तो वह जिसका निर्माण ईश्वर करता है (प्रत्यय या विचार रूप मे पलंग), (2) दूसरा वह जिसका निर्माण लकड़ी से बढ़ई करता है; और (3) तीसरा वह जिसका निर्माण कलाकार या चित्रकार करता है। इन तीनों के पलंग में अंतर है।

मूल बात यह कि वस्तु प्रत्यय में ही रूपायित होती है, फिर उसके अनुकरण कर निर्माता उसे ठोस आकार देता है। यह आकार यथार्थ की नकल होता है। इसलिए उसकी स्थिति यथार्थ के दूसरे स्थान पर है। कलाकार - कवि, चित्रकार, मूर्तिकार - किसी माध्यम (शब्द रंग या पत्थर) के द्वारा उस ठोस वस्तु की नकल कर उसे नया रूप देता है। इसलिए वह यथार्थ से तीसरे स्थान पर है। इसीलिए प्लेटो कहते हैं कि कला नकल की नकल है, अनुकरण का अनुकरण है, छाया की छाया है, प्रतिबिंब का प्रतिबिंब है अर्थात् नकल या मिथ्या है। प्लेटो अपना यह तर्क सभी कलाओं पर लागू करते हैं। प्लेटो का विचार है कि होमर और हैसिओड (आठवीं शताब्दी ई.पूर्व) जैसे कवियों के काव्य अथवा सोफोक्लीज अरिस्तोफोनीज़ जैसे नाटककारों के नाटक भी अपवाद नहीं हैं। इन कृतियों को पढ़ने, देखने या सुनने से अच्छे नागरिकों का निर्माण आदर्श राज्य के लिए संभव नहीं है। नैतिकतावादी आग्रहों से प्रेरित होकर प्लेटो काव्य और कलाओं की निंदा करते हैं। उनके कुछ तर्क इस प्रकार हैं -

1. होमर के महाकाव्यों - 'इलियड' और 'ओडसी' - में देवताओं का चरित्र असत्य भी है और अनुचित भी। उनमें देवत्व कहाँ है और देवत्व नहीं है तो वे मनुष्यों के उन्नयन में सहायक नहीं हो सकते।

2. होमर और हैसिओड के काव्य में ऐसे स्थल प्रायः आते हैं जो पाठक को वीर और साहसी के बदले दुर्बल और कायर बनाते हैं। काव्य तो ऐसा होना चाहिए जो नवयुवकों में शौर्य की भावना भरे उनके चरित्र का निर्माण करे और मृत्यु की लालसा के लिए उन्हें तैयार करे। प्लेटो का प्रसिद्ध कथन है - 'दासता मृत्यु से भी बुरी चीज़ है।

3. प्रायः कवि भोग और विलास की कामना से भर कर आवेशपूर्ण, कामुकतापूर्ण भावों की सृष्टि करते हैं। इनसे शुद्धता और संयम में बाधा पड़ती है तथा चरित्रहीनता, भोग-लिप्सा और अराजकता फैलती है।

4. होमर के काव्य में ऐसी कहानियाँ भरी पड़ी हैं जिनमें दुष्ट जन सुख भोगते हैं और सज्जन दुख से व्याकुल रहते हैं। जहाँ सदाचार के लिए दंड और दुराचार के लिए सुख-वैभव और

पुरस्कार मिलेगा वहाँ नैतिकता कैसे टिक सकेगी। कोमल बुद्धि वाले बालकों पर इन कहानियों का प्रभाव अनिष्टकारी होता है।

5. नाटककार प्रायः हल्के, ओछे, टुच्चे, हँसोड़, मसखरे, कामुक भावों का चित्रण पसंद करते हैं और प्रेक्षकों का एक वर्ग रंगशाला में ऐसे अभिनयों की दाद भी देता है। होता यह है कि नाटककार उदात्त भावों से सर्वथा दूर रहते हैं। इससे समाज में ओछे भावों का वर्चस्व बढ़ जाता है।

6. काव्य या नाटक की अंतःप्रेरणा भावोच्छलन या भावों के तीव्र आवेग से उत्पन्न होती है, तर्क से नहीं और तर्क न होने के कारण भावावेश हृदय से चालित होता है बुद्धि से नहीं। बुद्धि और हृदय में संतुलन का अभाव आ जाने से कला उदात्त की सृष्टि नहीं कर पाती। फिर भावमूलक होने से कला भाव को ही उद्दीप्त कर पाती है, तर्क को नहीं। तब होता यही है - काव्य मनोवेगों का पोषण और सिंचन करता है (Poetry feeds and waters the emotions)। इसी का दुष्परिणाम यह होता है कि काव्य सत्य और शिव से दूर हो जाता है।

7. काव्य में प्रायः अन्योक्ति (Allegory) की रचना होती है। बालकों में इतनी बुद्धि नहीं होती कि वे अन्योक्ति तथा यथार्थ में भेद कर सकें। इसलिए बच्चों के सामने शुद्ध और नैतिक विचारों की ही कहानियाँ आनी चाहिए, असत्य और अनैतिक कल्पनाओं से प्रेरित नहीं।

इस प्रकार प्लेटो का काव्य-नाटक विषयक विरोध साहित्येतर और नैतिक प्रतिमानों से प्रेरित है। उनके विचार से काव्य-सृजन एक प्रकार का ईश्वरीय उन्माद है, कवि उन्मत्त व्यक्ति है और काव्य-देवी द्वारा अंतःप्रेरित होकर रचना करता है। प्लेटो बार-बार इस बात की ओर संकेत करते हैं कि साहित्य में मनुष्य के नैतिक पक्ष को सम्पन्न, समृद्ध और संतुष्ट करने की शक्ति होनी चाहिए। इस दृष्टि से वे नैतिकतावादी ही नहीं उपयोगितावादी भी हैं। उनकी दृष्टि में सुंदर वही है जो सत्य और शिव से सम्पन्न है।

प्लेटो ने काव्य प्रकृति और काव्य सृजन प्रक्रिया के साथ काव्य प्रभाव पर भी गहराई से विचार किया है। 'रिपब्लिक' के दसवें अध्याय में एक ओर तो वे कविता को सत्य का निम्नतर स्तर का चित्र या वर्णन मानते हैं, वहीं दूसरी ओर वे कविता को आत्मा के अधम भाग से सम्बद्ध कर देते हैं। उनके विचार से मानव आत्मा की प्रकृति दोहरी होती है - प्रथम, उत्तम भाग में बुद्धि और विवेक तथा दूसरे अधम भाग में शोक, क्रोध आदि मनोविकार। इसलिए काव्य का प्रभाव आत्मा के निम्न स्तर से संबंधित होता है। प्लेटो के शब्दों में - अनुकरण धर्मी कवि का उद्देश्य लोकप्रियता प्राप्त करना होता है। किंतु लोकप्रिय होने के लिए वह आत्मा के बौद्धिक पक्ष को संचालित और प्रभावित करके अपने पाठकों को प्रसन्न नहीं करता बल्कि वह सहज उत्तेजनशील संवेगों को संचालित करने में रुचि लेता है। इस प्रकार कवि प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा में दुष्ट प्रकृति का बीजारोपण करता है। दार्शनिक प्लेटो को कविता के विरुद्ध केवल यही शिकायत नहीं थी कि वह आत्मा के असाधु अंश का पोषण करती है बल्कि कविता को लेकर उनकी सबसे बड़ी शिकायत यह थी कि कविता हमारी वासनाओं को उत्तेजित करती है, उन्हें भड़काती और है, मनुष्य को अनियंत्रित बनाती है और आचरण-भ्रष्ट प्राणी का रूप देती है। जबकि अच्छी कविता का काम हमारी वासनाओं को सुखाना और संयमित करना होना चाहिए। चूँकि काव्य एक ऐसी शक्ति से सम्पन्न होता है जो भली प्रकृति के व्यक्ति के लिए घातक होती है, अतः प्लेटो कविता को आग्राह्य मानते हैं। किसी कवि की सफलता का रहस्य यह होता है कि वह हमारी भावनाओं को जाग्रत करने में किस हद तक सफल हुआ है। विचार करने पर हम पाते है कि वास्तविकता इसके ठीक विपरीत है क्योंकि जीवन में जब हम शोकाकुल होते हैं तो हमें भावावेग और भावोद्वेलन के क्षणों को संयत करने में मानवीय गौरव की अनुभूति होती है। हम धैर्य से उसका सामना करते हैं और इसी आचरण की लोक में सराहना होती है। गलदश्रु भावुकता का लोक में आदर नहीं होता है। प्लेटो ने कहा आम तौर पर सामाजिक मर्यादा की रक्षा के लिए हम जिन भावों को अभिव्यक्त नहीं करते वे भाव अभिव्यक्ति का अवसर खोजते रहते हैं। भावावेग के क्षणों में कविता उन्हें यह अवसर प्रदान करती है और हमारे पूरे आत्म-संयम को शिथिल कर देती है। ध्यान देने की बात है कि प्लेटो की यह धारणा केवल दुःखमूलक काव्य-कृतियों या त्रासदी को ही लेकर नहीं थी बल्कि कामदी आदि हास्य व्यंग्यमूलक विधाओं के संबंध में भी समान महत्व रखती है। परिहास का दमन हम मानव जीवन में इसलिए करते हैं कि कहीं हमें सस्ता भावुक मसखरा न समझ लिया जाए। चाहे त्रासदी हो या कामदी प्लेटो का आदर्श अच्छे मनुष्य का निर्माण करना है। एक ऐसे मनुष्य का निर्माण जो सुख-दुःखमूलक सभी प्रकार के संवेगों के दमन पर निर्भर है। चूँकि कविता इस दमन में बाधक है, इसलिए प्लेटो कहते हैं - 'यह अनुकरण इन मनोवेगों को फैलाता, सींचता और पुष्ट करता है, जबकि हमको उन्हें सुखा

देना चाहिए। यह उनको हमारा शासक बनाकर स्थापित करता है, जबकि उनको तो शासित होना चाहिए।' कितनी विचित्र बात है कि प्लेटो कविता का विरोध करते हुए भी कविता को अपने पक्ष समर्थन के लिए पूरा अवसर प्रदान करना चाहते थे। उन्होंने कहा - **'प्रिय ग्लॉकन! सचमुच इस द्वंद्व में बड़ी भारी बाजी लगी हुई है। इतनी बड़ी बाजी जितनी कि लोग समझते नहीं है क्योंकि इस द्वंद्व पर मनुष्य का भला या बुरा होना निर्भर है। अतएव क्या समाज, क्या धन क्या पद और क्या कविता प्रलोभन किसी को भी हमें न्यायपराणता और सद्‌गुणों के प्रति असंयत एवं असावधान होने के लिए उत्तेजित नहीं करना चाहिए।**

विद्वानों का यह मत है कि प्लेटो का यह विचार रोमांटिक काव्य सिद्धांतों के विरोध में आज भी खड़ा है। प्लेटो त्रासदी के मूल में मौजूद करुणा और त्रास के दोहरे मनोवेग और उसके सुखात्मक प्रभाव के अहसास से परिचित यह बात उनके संवादों में विशेषकर 'फिलेबस' (Philebus) में विस्तार से मिलती है।

प्लेटो के चिंतन में कवि और दार्शनिक का न केवल द्वंद्व है बल्कि उनके व्यक्तित्व के दोनों पक्षों में आश्चर्यजनक द्वंद्वात्मक एकता के दर्शन होते हैं। वस्तुतः कविता दर्शन को चुनौती देती है और दार्शनिक प्लेटो दर्शन से तुलना करते हुए ही कविता की आलोचना करते हैं। सच बात यह है कि दर्शन की ओर से कविता को चुनौती देकर प्लेटो ने उसके ऊपर एक गहन दायित्व सौंपने का कार्य किया है।

10.7 समाहार

आज भी विद्वान प्लेटो द्वारा कविता पर लगाए गए आक्षेपों से जूझ रहे हैं और उनका सही समाधान उन्हें नहीं मिल पा रहा है। समय-समय पर प्लेटो के संवादों में परवर्ती काव्यशास्त्र में विकसित अनेक सिद्धांतों के बीज भी खोजने के प्रयत्न किए गए हैं। इस तरह के प्रयत्न करने वाले विद्वानों ने करुणा और त्रास की दोहरी मिश्रित स्थिति या विरेचन सिद्धांत, विरुद्धों के सामंजस्य का सिद्धांत आदि के बीज संकेत प्लेटो में पाए हैं जबकि सच बात यह है कि प्लेटो के चिंतन का महत्व काव्य सिद्धांतों की सूची बनाने में नहीं है बल्कि इस बात में है कि प्लेटो कविता को लेकर बुनियादी प्रश्न उपस्थित करते हैं। प्लेटो जैसे चिंतक इसलिए मूल्यवान हैं कि वह कविता पर सजग तार्किकता के साथ विचार करते हैं। प्लेटो के चिंतन का परवर्ती काव्य चिंतन पर अनेक जगह प्रत्यक्ष और प्रच्छन्न प्रभाव दिखाई देता है। अनेक आक्षेपों और वाद-विवादों के केंद्र में रहते हुए भी प्लेटो का नाम पश्चिमी आलोचना जगत में आज भी उल्लेखनीय है। इसका प्रधान कारण यह है कि अरस्तू के काव्य सिद्धांत प्लेटो द्वारा कविता पर किए गए आक्षेपों का समाधान या उत्तर देने की मनःस्थिति से उपजे हैं। प्लेटो के बिना अरस्तू के चिंतन की कल्पना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। प्लेटो ने कवियों का गौरव यह कहकर छीन लिया है कि कवि नकलची होता है। कवि के इस छिने हुए गौरव को प्लेटो के शिष्य अरस्तू पश्चिमी काव्यशास्त्र में पुनः स्थापित किया है। बीसवीं सदी के महत्वपूर्ण चिंतन-आलोचक टी.एस.एलियट रोमांटिक साहित्य सिद्धांतों के विरोध में खड़े हुए। कारण, रोमांटिक कविता में भावातिरेक और कल्पनातिरेक से उत्पन्न असंतुलन उन्हें अमान्य है। स्वयं एलियट ने कवि की व्याख्या सर्जक के रूप में नहीं माध्यम के रूप में की है। संक्षेप में पश्चिम के कविता संबंधी चिंतन के वाद-विवाद के मूल में प्लेटो कहीं न कहीं अवश्य रहे हैं।

10.8 शब्दावली

तत्वमीमांसा	-	ब्रह्म, आत्मा, सृष्टि आदि के यथार्थ ज्ञान आदि का तर्कसंगत विवेचन।
अन्यापदेशिक शैली	-	अन्योक्ति शैली
प्रतीयमान	-	ध्वनि या व्यंग्य द्वारा जाना जाता हुआ
गलदश्रभावुकता	-	अतिशय भावुकता
भावातिरेक	-	भावों की अति अधिकता

10.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

निर्मला जैन, प्लेटो **के काव्य सिद्धांत**, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।

निर्मला जैन, कुसुम बाँठिया, **पाश्चात्य साहित्य चिंतन, वाणी प्रकाशन**, दिल्ली।

देवेन्द्रनाथ शर्मा **पाश्चात्य काव्यशास्त्र**, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।

राम अवध द्विवेदी, **साहित्य सिद्धांत**, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना।

डॉ. नगेन्द्र और डॉ. सावित्री सिन्हा (सपा.) **पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परंपरा**, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

भोलानाथ शर्मा, **आदर्श नगर व्यवस्था**, (रिपब्लिक का मूल ग्रीक से अनुवाद), हिंदी साहित्य सम्मेलन प्रयाग।

David Daiches, **Critical Approaches to English Literature,** Longmans, London, 1956.

William K. Wimsatt and Cleanth Brooks, **Literary Criticism : A Short History**, Alfred A. Knopf, New York, 1957.

10.10 अभ्यास के लिए प्रश्न

1. प्लेटो के काव्य प्रेरणा सिद्धांत पर प्रकाश डालिए।
2. प्लेटो द्वारा कविता पर लगाए गए आक्षेपों पर विचार कीजिए।
3. काव्य सत्य और अनुकरण के संबंध में प्लेटो के मत पर प्रकाश डालिए।
4. प्लेटो का अनुकरण से क्या तात्पर्य है? उनके मूल मंतव्य को स्पष्ट कीजिए।
5. प्लेटो के काव्य सिद्धांतों की सार्थकता/प्रासंगिकता पर विचार कीजिए।

इकाई 11 अरस्तू का साहित्य चिंतन

इकाई की रूपरेखा

11.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- बता सकेंगे कि प्लेटो द्वारा कविता पर लगाए गए आक्षेपों को अरस्तू ने किस प्रकार उत्तर दिया;
- अरस्तू के अनुकरण सिद्धांत के विषय में जानकारी दे सकेंगे ;
- त्रासदी की परिभाषा देते हुए उसका महत्व बता सकेंगे; और
- विरेचन से तात्पर्य बताते हुए उस सिद्धांत का उल्लेख कर सकेंगे।

11.1 प्रस्तावना

पिछली इकाई में आपने प्लेटो की साहित्यिक मान्यताओं का अध्ययन किया। यह आप जानते हैं कि वे मूलतः साहित्यशास्त्री नहीं बल्कि दार्शनिक थे। साहित्यशास्त्र के संदर्भ में उनकी जिन मान्यताओं का उल्लेख किया जाता है वे उनकी दर्शन तथा राजनीति संबंधी चर्चा में प्रासंगिक रूप से आई हैं। सच्चे अर्थों में यदि किसी को पाश्चात्य साहित्यशास्त्र का जनक माना जा सकता है तो वे प्लेटो के शिष्य अरस्तू हैं। प्रस्तुत इकाई में आप अरस्तू के साहित्य सिद्धांतों के विषय में पढ़ेंगे।

11.2 अरस्तू का व्यक्तित्व

अरस्तू का जन्म 384 ई.पू. में मकदूनिया के समुद्रतट पर स्थित एक यूनानी उपनिवेश में एक अत्यंत प्रतिष्ठित परिवार में हुआ। इस परिवार में वंश परंपरा से वैद्यकी चली आ रही थी और इनके पिता मकदूनिया के राजवैद्य थे।

अरस्तू बाल्यकाल से ही अत्यंत मेधावी, कुशाग्रबुद्धि और विद्याव्यसनी थे। किशोरावस्था में एथेंस जाकर वे प्लेटो के विद्यापीठ में दाखिल हो गए। वहाँ इन्होंने बीस वर्ष की आयु तक मुख्यतः दर्शन का अभ्यास किया। प्लेटो इनसे बहुत प्रभावित थे और ये उनके प्रिय छात्र थे। विद्यापीठ छोड़ने के कुछ वर्ष बाद इन्होंने मकदूनिया के राजपुत्र सिकंदर के शिक्षक का पदभार सँभाला। आठ वर्ष इस पद पर रहने के

बाद इन्होंने एथेंस लौटकर स्वयं अपने विद्यापीठ की स्थापना की जहाँ अनेक विषयों की शिक्षा दी जाती थी। स्वयं अरस्तू वहाँ अनेक विषय पढ़ाते थे। बासठ वर्ष की आयु में इनकी मृत्यु हो गई।

अरस्तू की विद्वता का अबाध प्रसार ज्ञान के अनेक क्षेत्रों में था और कहा जाता है कि इन्होंने दर्शन, अध्यात्म, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, राजनीति, प्राकृतिक विज्ञानों आदि पर लगभग 400 ग्रंथों की रचना की थी। आज ये ग्रंथ अनुपलब्ध हैं। इनकी उपलब्ध रचनाओं में साहित्य से संबद्ध दो ग्रंथ हैं। इनमें से **तेख्नेस रितेरिकेस'** भाषण कला से संबद्ध है, और इसी संदर्भ में इसमें भाषा और अभिव्यक्ति पर भी विचार किया गया है। दूसरा ग्रंथ **'पेरि पोइतिकेस'** काव्यशास्त्र से ही संबद्ध है। वास्तव में यह ग्रंथ न होकर एक छोटी-सी पुस्तिका कही जा सकती है जिसमें सिद्धान्तों का व्यवस्थित विवेचन नहीं बल्कि अध्यापन के लिए तैयार की गई सामग्री का संपादित रूप ही मिलता है। यह रूप भी अखंड या समग्र नहीं है। संभवतः इनके शिष्यों ने उपलब्ध सामग्री को ही संयोजित किया, इसलिए कुछ विषयों पर इसमें कोई चर्चा मिलती ही नहीं। कुछ विषयों पर अधूरी चर्चा हुई है और विषय के प्रतिपादन में असंतुलन रह गया है। किंतु इसके बावजूद पाश्चात्य काव्यशास्त्र का यह आदिग्रंथ अनेक दृष्टियों से बहुत महत्वपूर्ण है।

प्लेटो की साहित्य संबंधी मान्यताओं में उनके आदर्शवादी दार्शनिक दृष्टिकोण के कारण कई साहित्यिक सत्यों की उपेक्षा दिखाई देती है। इसीलिए उन्होंने कवि और काव्य पर कई आक्षेप भी लगाए थे। अरस्तू की दृष्टि वस्तुवादी थी और उन्होंने साहित्यिक रचनाओं को सामने रखकर साहित्य की ही दृष्टि से साहित्य का विवेचन किया। इस क्रम में उन्होंने अपने गुरु प्लेटो द्वारा कविता पर लगाए गए आक्षेपों का तो उत्तर दिया ही, कई मौलिक सिद्धांतों की भी स्थापना की। उन्होंने काव्य रचना के प्रेरक तत्वों, काव्य की प्रकृति, संरचना, प्रकार्य और प्रभाव सभी पर विचार किया, और इसमें भी सबसे अधिक बल त्रासदी पर दिया। संभव है, और विधाओं की चर्चा भी उन्होंने की हो, किंतु 'पेरि पोइतिकेस' के खंडित होने के कारण हम तक वह चर्चा न पहुँची हो।

बहरहाल इतना आप याद रखें कि अरस्तू का संक्षिप्त विवेचन भी बहुत सारगर्भित है। उनका एक महत्वपूर्ण गुण उनकी मौलिकता है। उन्होंने अपने विवेचन को हवाई दार्शनिक धारणाओं पर नहीं, ठोस वस्तुगत सत्यों पर आधारित किया। महाकाव्य तथा त्रासदी संबंधी उनका विवेचन वास्तव में होमर के महाकाव्यों तथा एस्खिलुस, यूरिपिडीस, सोफोक्लीज़ आदि नाटककारों की रचनाओं से आधार ग्रहण करता है। इसलिए वह व्यावहारिक तथा तर्कसंगत भी है। प्लेटो से ग्रहण ज्ञान को भी उन्होंने अपने मौलिक विचारों की कसौटी पर कसकर ग्रहण किया। इसीलिए वे काव्य पर प्लेटो द्वारा लगाए गए आक्षेपों का उत्तर भी दे सके। वास्तव में अरस्तू की प्रतिभा गहन, गंभीर, सारग्राहिणी तथा मौलिक थी।

अरस्तू के इस सामान्य परिचय के बाद, आइए, हम इस बात पर विचार करें कि प्लेटो ने काव्य पर कौन-से आक्षेप लगाए थे और अरस्तू की मान्यताओं द्वारा किस प्रकार उन आक्षेपों का परिहार किया जा सकता है।

11.3 प्लेटो के आक्षेप और अरस्तू के उत्तर

प्लेटो के आक्षेपों पर विचार करने के पहले हमारे लिए उनकी वैचारिक पृष्ठिभूमि पर दृष्टिपात कर लेना उचित होगा।

11.3.1 प्लेटो की मान्यताएँ

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, प्लेटो की काव्य संबंधी मान्यताओं का स्रोत उनका साहित्य चिंतन नहीं वरन् उनकी दार्शनिक विचारधारा थी। वे आदर्शवादी और प्रत्ययवादी दार्शनिक थे। आदर्शवादी होने के नाते वे 'जो कुछ है' की अपेक्षा 'जो कुछ होना चाहिए' पर अधिक बल देते थे और **सदाचार तथा नैतिकता के उच्च मानकों को सामाजिक जीवन के लिए अनिवार्य मानते थे।** प्रत्ययवादी होने के नाते उनका विश्वास था कि संसार का परम सत्य एक अदृश्य शक्ति है। विचार या प्रत्यय के रूप में संसार की सभी वस्तुएँ उसी में स्थित हैं। बाहरी जगत में हम जो कुछ भी देखते हैं, वह वास्तविकता नहीं, बल्कि उसी प्रत्यय का अनुकरण है। इसे इस प्रकार समझें - जब कोई बढई पलंग बनाता है तो वह लकड़ी के कुछ टुकड़े लेकर मनमाने ढंग से जैसे-तैसे नहीं जोड़ देता। उसके दिमाग में पलंग की एक पूर्वकल्पना, एक रूपरेखा रहती है, जिसके अनुसार वह लकड़ी के टुकड़ों को काटता और जोड़ता है। यह पूर्वकल्पना एक प्रत्यय (idea) के रूप में बढ़ई की चेतना में रहती है। प्लेटो के अनुसार यह प्रत्यय उस परम चैतन्य शक्ति में स्थित होता है और मानव की चेतना में प्रतिबिंबित होता है। यही मूल सत्य

है और बाह्य जगत मे पलंग आदि के रूप मे इसकी जो अभिव्यक्ति होती है, वह सत्य न होकर सत्य का अनुकरण मात्र है। अब, कोई चित्रकार यदि पलंग का चित्र बनाता है, या कवि यदि पलंग पर कविता लिखता है तो उसके सामने वस्तु के रूप में बाह्य जगत में स्थित वही अनुकृति होती है जो मूल सत्य नहीं, उसका अनुकरण मात्र है। कलाकार/कवि उसी अनुकृति का अनुकरण करते हैं अतः **उनकी कृतियाँ सत्य से तिगुनी दूर होती हैं।** प्लेटों ने काव्य पर जो आक्षेप किए हैं उन्हें समझने के लिए आप सार-रूप में इन बातों का ध्यान रखें :

- प्लेटो मूलतः दार्शनिक थे, साहित्यशास्त्री नहीं, और उनका साहित्य-सिद्धांत संबंधी विवेचन अन्य विषयों की चर्चा में केवल प्रासंगिक रूप से आया है।
- आदर्शवादी होने के नाते वे सामाजिक जीवन में सदाचार तथा नैतिकता को बहुत महत्व देते थे।
- प्रत्ययवादी विचारधारा के अनुरूप वे प्रत्यय (idea) को ही मूल सत्य मानते थे, इस संसार और इसकी वस्तुओं को उस प्रत्यय का अनुकरण और काव्य तथा कला को उस अनुकरण का भी अनुकरण।

11.3.2 काव्य पर प्लेटो के आक्षेप

प्लेटो ने काव्य तथा कवि की चर्चा अपनी आदर्श राज्य की संकल्पना के अंतर्गत की थी। उनके अनुसार आदर्श राज्य का लक्ष्य होना चाहिए - चरम दार्शनिक सत्य की प्राप्ति। उसके तमाम क्रिया-कलाप उसी सत्य की खोज की ओर अग्रसर होने चाहिए। जीवन की समस्त क्रियाओं का मूल्यांकन इसी कसौटी पर होना चाहिए। कविता भी उसी सीमा तक स्वीकार्य हो सकती है जहाँ तक वह इस लक्ष्य की सिद्धि में सहायक हो सके। ध्यान दें, **प्लेटो कविता मात्र के विरोधी नहीं थे। जिस कविता में ईश्वर की स्तुति अथवा साधुओं का गुणगान हो, उसपर उन्हें कोई आपत्ति नहीं थी।** किंतु अपने समय में कविता का जो स्वरूप उन्होंने देखा था, वह उनके मत में इस आदर्श से बहुत दूर था और उसी के आधार पर उन्होंने कविता का विरोध किया तथा आदर्श राज्य में कवि का प्रवेश अवांछित माना।

- कविता को लेकर प्लेटो की एक आपत्ति यह थी कि यह सत्य से दुगुनी दूर होती है क्योंकि यह मूल सत्य के अनुकरण का अनुकरण होती है। इस बात का उल्लेख पिछले अनुभाग में भी हो चुका है। उनका यह भी मानना था कि सत्य के अनुकरण का अनुकरण भर करने वाले रचनाकार या शिल्पी को सत्य का ज्ञान नहीं होता। उसकी रचना में ज्ञान का जो भी अंश होता है, वह उसकी अप्रत्यक्ष, अस्पष्ट, अनिश्चित तथा अधूरी जानकारी से उत्पन्न होता है। अतः उसे अज्ञान से ही उत्पन्न माना जाना चाहिए। आदर्श राज्य में ऐसी कविता या कलाकृति का कोई स्थान नहीं होना चाहिए।
- पिछले अनुभाग में उल्लेख हो चुका है कि आदर्शवादी होने के नाते प्लेटो राज्य में और राज्य के सामाजिक जीवन में नैतिकता को बहुत महत्व देते थे। इनके मत में सत्य तथा सदाचरण की उपलब्धि ही राज्य की हर गतिविधि का लक्ष्य होना चाहिए। इसलिए कविता को भी वे केवल आनंद का स्रोत मानने को तैयार नहीं थे। उसे राज्य तथा समाज के लिए हितकारी होना चाहिए और इसलिए उसे नैतिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों का पोषक भी होना चाहिए। उससे समाज में सदाचरण, ज्ञान तथा सत्य को बढ़ावा मिलना चाहिए, बल्कि उसे ऐसी कसौटी प्रस्तुत करना चाहिए जिस पर समाज में इन मूल्यों की स्थिति को परखा जा सके।
- सदाचार और नैतिक मूल्यों को प्रोत्साहित करने वाली कविता सदसद् के विवेक के अंतर्गत सोच-समझकर ही रची जा सकती है, किंतु अपने समय के काव्य को देखते हुए प्लेटो का मत था कि ऐसा संभव नहीं है। यह माना जाता था कि कविता की रचना दैवी प्रेरणा से होती है। ऐसी प्रेरणा के स्फुरण से कवि अपने समाज और परिवेश का भान भुलाकर मानसिक विक्षेप की-सी स्थिति में आ जाता है। ऐसी संज्ञाशून्य स्थिति में रची गयी कविता में विवेक का अंकुश नहीं रहता। आदर्श आचार की कसौटी प्रस्तुत न कर पाने के कारण ऐसी कविता वर्ज्य है।
- प्लेटो के अनुसार कविता नागरिक की नैतिकता को पुष्ट नहीं करती बल्कि उसे नीचा ही गिराती है। लोकप्रियता हासिल करने के लिए कवि इस प्रकार की आवेगमय और उन्मत्त स्थितियों का चित्रण करते हैं जो पाठकों में गुदगुदी पैदा करती हैं और उनके हीन कोटि के मनोवेगों और वासनाओं को उत्तेजित करती हैं। इस स्थिति में नागरिक भी आवेग में बह जाते हैं और उन नैतिकता का नियंत्रण नहीं रह पाता। इसके अतिरिक्त इस प्रकार का काव्य ऐंद्रिय उत्तेजना और हीन कोटि का आनंद प्रदान करता है। प्लेटो के अनुसार बुद्धिग्राह्य और बुद्धि को उत्तेजित करने

वाला आनंद ही श्रेष्ठ आनंद है जो इस काव्य से नहीं मिलता। इन तमाम बातों को देखते हुए आदर्श राज्य के लिए ऐसा काव्य काम्य नहीं है।

काव्य या तो विवरणात्मक (Descriptive) होता है या अन्योक्तिपरक (Allegorical) । प्लेटो को दोनों ही प्रकार के काव्यों की विषयवस्तु और प्रस्तुति पर आपत्ति थी। इन काव्यों में आदर्श स्थितियों का चित्रण नहीं होता था। इसमें सत्यवादी तथा धर्मात्मा पात्रों की विजय तथा दुष्टों की पराजय दिखलाने के स्थान पर सदाचारी पात्रों को दुखी तथा कंगाल और दुष्टों को सत्ता तथा समृद्धि से सम्पन्न दिखलाया जाता था। चरित्रांकन में भी आदर्श का पालन नहीं होता था। नायक में सद्गुणों के अतिरिक्त ऐसी चारित्रिक कमियाँ भी दिखलाई जातीं थीं जो उसे समाज के लिए प्रेरक रूप में प्रस्तुत नहीं होने देती थीं। देवताओं, देवतुल्य पात्रों तथा महान योद्धाओं को भी आदर्श, उदार, संयमी, सत्यनिष्ठ तथा प्रेरक चरित्रों के रूप में अंकित किया जाता था। इस प्रकार जिन चरित्रों में समाज के लिए आदर्श और नैतिकता के उन्नायक बनने की संभावनाएँ थीं, वे ही उच्च नैतिकता से गिरे हुए चित्रित किए जा रहे थे। ईश्वर का चित्रण भी इन काव्यों में कई बार निष्ठुर दंड-विधाता के रूप में होता था। शुभ तथा सुंदर के वर्णन के स्थान पर इन काव्यों में भूत-प्रेत, अतिप्राकृत तत्वों, नारकीय स्थितियों आदि का भी अंकन हुआ करता था। इस प्रकार का काव्य समाज को स्वस्थ नैतिकता तथा आस्था का संबल प्रदान करने मे असमंर्थ था। इसलिए प्लेटो ने इसे आदर्श गणतंत्र से बहिष्कार के योग्य माना था।

11.3.3 अरस्तू के उत्तर

पिछले अनुभाग में हमने कवि तथा काव्य को लेकर प्लेटो की आपत्तियों पर एक दृष्टिपात किया। ध्यान रहे, ऐसा नहीं है कि किसी एक लेख या प्रसंग में उन्होंने इन तमाम आपत्तियों को एक-एक करके सिलसिलेवार रूप से सामने रखा हो। उनके संवादों में विविध प्रसंगों में ये विचार उभरे हैं। उनके शिष्य अरस्तू ने भी एक-एक आपत्ति को उठाकर उनके उत्तर नही दिए हैं, **बल्कि काव्य, अनुकरण तथा त्रासदी संबंधी उनकी अवधारणाओं में ही उनके उत्तर निहित हैं।** जब आप उन अवधारणाओं पर विचार करेंगे तो अरस्तू का कथन आपके सामने और भी अधिक स्पष्ट होगा। यहाँ संक्षेप में उन बातों का उल्लेख भर किया जा रहा है जो प्लेटो के कथन का खंडन चाहे न हों, उनका जवाब जरूर देती हैं।

(i) विचारधारा का अंतर - इस संदर्भ में आप एक बात का ध्यान अवश्य रखें। ऐसा नहीं है कि प्लेटो तथा अरस्तू का काव्य संबंधी आपत्ति तथा प्रतिकार का यह क्रम एक ही विचारधारा के तहत चला हो। वास्तव में गुरू तथा शिष्य की इस जोड़ी की मूल दृष्टि तथा विषय से संबद्धता में ही अंतर था। यह उल्लेख बार-बार हो चुका है कि -

- प्लेटो मूलतः दार्शनिक थे, साहित्यशास्त्री नही और साहित्य विवेचन उनका विषय या लक्ष्य कभी नहीं था। यह उनकी अन्य विषयों की चर्चा के दौरान प्रासंगिक रूप से ही उभरा है। इसके विपरीत अरस्तू ने साहित्यशास्त्र को अपना विषय बनाया और अपने समय की साहित्यिक कृतियों को दृष्टि में रखते हुए पश्चिमी जगत में बाकायदा साहित्य-चिंतन का सूत्रपात किया।
- प्लेटो की दार्शनिक दृष्टि आदर्शवादी तथा प्रत्ययवादी (Idealistic) थी। एक अमूर्त मूल सत्य की संकल्पना को प्रस्थान बिंदु बनाकर उसी के आलोक में वे जीवन तथा जगत के प्रश्नों पर विचार करते थे। अरस्तू की दृष्टि इसके विपरीत अनुभववादी (Empirical) थी। वे वस्तुजगत को सत्य मानकर यहीं से सामग्री लेकर अपना अध्ययन आरंभ करते थे।

इस अंतर को देखते हुए हम आसानी से इस बात को समझ सकेंगे कि अरस्तू का विवेचन प्लेटो के प्रश्नों तथा आपत्तियों का उत्तर किस प्रकार देता है।

(ii) अरस्तू का दृष्टिकोण - अरस्तू का दृष्टिकोण वैज्ञानिक था तथा बाह्य जगत की ठोस वास्तविकताओं पर आधारित था। उन्होंने साहित्य की संरचना तथा नियमों को स्थिर करके भावी साहित्य-सृजन के लिए भी दिशा का निर्धारण किया। काव्य के प्रसंग में अपने गुरू प्लेटो से उनकी असहमति का मुख्य मुद्दा तो यही था कि वे अनुकरण को निंदनीय या हीन नहीं मानते थे। इसके अतिरिक्त अनुकरण की प्रकृति को लेकर भी उनकी दृष्टि प्लेटो से भिन्न थी।

- **अरस्तू के अनुसार अनुकरण मानव स्वभाव की मूल प्रवृत्ति है।** अनुकरण की शक्ति पशुओं में नहीं केवल मानवों में ही होती है और इसी के माध्यम से वे संसार का ज्ञान हासिल करते हैं। **कविता का उत्स भी मानव की सहज प्रवृत्तियों में होता है और इसलिए कविता और अनुकरण का भी सहज संबंध है।**

- अरस्तू ने प्लेटो की भाँति जगत को किसी अमूर्त सत्य का अनुकरण नहीं माना है, बल्कि साहित्य के संदर्भ में इस प्रकार के दार्शनिक विवेचन से वे दूर ही रहे हैं। प्लेटो की ही भाँति उन्होंने भी काव्य को अनुकरण पर ही आधारित माना किन्तु **प्लेटो जहाँ अनुकरण को पूरी तरह प्रतिकृति की चेष्टा मानते थे, अरस्तू के अनुसार यह पुनःसृजन का एक प्रकार है।** इस संदर्भ में इस इकाई के अगले भाग में विस्तार से विचार होगा। यहाँ आप इतना समझ लें कि अरस्तू के अनुसार रचनाकार द्वारा जगत का अनुकरण दर्पण में दिखाई देने वाली प्रतिछवि के समान नहीं होता जो बाह्य जगत को ज्यों का त्यों प्रतिबिंबित कर देता है। कला को जब प्रकृति की प्रतिकृति कहा जाता है तो उसका तात्पर्य यह नहीं होता कि वह प्रकृति का ज्यों का त्यों प्रत्यंकन है। बल्कि इस प्रतिकृति में रचनाकार प्रकृति या बाह्य जगत से सामग्री मात्र ग्रहण करता है। अपनी अनुभूति तथा प्रतिभा के आधार पर, अपनी कलागत आवश्यकता के अनुसार वह उस सामग्री को काट-छाँटकर तथा पुनःसंयोजित करके एक अभिनव कला-वस्तु के रूप में प्रस्तुत करता है। यहाँ तक कि वह कई बार प्रकृति का अतिक्रमण भी कर जाती है। वह बाह्य स्तर पर दिखाई देने वाले सत्य तक सीमित न रहकर आंतरिक सत्य का भी उद्घाटन करती है। हम कह सकते हैं कि इस प्रकार अनुकरण सत्य के और भी निकट आ जाता है।

- अरस्तू के अनुसार कवि वस्तुओं (स्थितियों) के केवल बाहर से दिखाई देने वाले रूप (जैसी वे हैं) का ही चित्रण नहीं करता। वह उनके संभाव्य (जैसी वे हो सकती हैं) और आदर्श (जैसी उन्हें होना चाहिए) रूप का भी चित्रण करता है। इस प्रकार भी वह बाह्य यथार्थ की सीमा को पार कर जाता है। प्लेटो ने अनुकरण को जिस रूप में देखा था, वह केवल बाह्य जगत का मशीनी प्रत्यंकन था जबकि अरस्तू अनुकरण में संभावनाओं और आदर्श स्थितियों को भी समन्वित कर लेते हैं। इससे एक ओर उनकी अनुकरण की अवधारणा अधिक विस्तृत हो गई है तो दूसरी ओर उन्होंने रचनाकार को कोरे नकलनवीस या अनुकर्ता की भूमिका से उठाकर उसकी सर्जनात्मकता को भी स्वीकृति दी है। इसीलिए काव्य का सत्य कई बार जगत के यथार्थ से भी आगे बढ़ जाता है। अगले भाग में हम देखेंगे कि इसीलिए अरस्तू कविता के सत्य को इतिहास के सत्य से बढ़कर मानते हैं कि इतिहास केवल उसी तथ्य को प्रस्तुत कर सकता है जो घटित हो चुका है जबकि कविता संभावनाओं को भी व्यक्त कर सकती है। इसलिए इतिहास तथ्यपरक और सीमित है जबकि कविता सत्य की बोधक और सार्वभौम होती है।

- अरस्तू अनुकरण को काव्य का साधक ही नहीं काव्य के आनंद का नियोजक भी मानते हैं। आनंद को वे काव्य का मुख्य प्रयोजन मानते हैं। काव्य अनुकरण के माध्यम से रचा जाता है इसलिए उसमें बाह्य संसार का चित्रण भी होता है। काव्य का आस्वाद करते हुए श्रोता/पाठक को जब उसमें अपने जाने-पहचाने संसार की झलक मिलती है तो उसे एक विशेष प्रकार का आनंद होता है - प्रत्यभिज्ञान या पहचान का आनंद। यह अनुकरण की वजह से ही हो पाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्लेटो की भाँति काव्य-सर्जन में अनुकरण की भूमिका को स्वीकारते हुए भी अरस्तू न कवि की निंदा करते हैं, न काव्य की, न अनुकरण की। अनुकरण की प्रकृति को लेकर प्लेटो की तथा उनकी अवधारणाएँ भिन्न हैं। प्लेटो जहाँ अनुकरण को सत्य से दूर ले जानेवाला मानते थे वहाँ अरस्तू उसे बाह्य जगत के सीमित तथ्यों से आगे ले जाकर सार्वभौम सत्य के दर्शन कराने का माध्यम मानते हैं।

11.4 अरस्तू का अनुकरण सिद्धान्त

प्लेटो ने काव्य को जीवन का अनुकरण मानते हुए इस क्रिया के लिए ग्रीक शब्द 'मीमेसिस' का प्रयोग किया था जिसका अंग्रेजी अनुवाद 'इमीटेशन' हुआ। हिंदी में 'इमीटेशन' का अनुवाद 'अनुकरण' किया गया है।

'अनुकरण' की चर्चा करते समय प्लेटो की दृष्टि दार्शनिक और नैतिकतावादी थी और अरस्तू की सौंदर्यशास्त्रीय। स्पष्ट है, साहित्यशास्त्रीय चर्चा के लिए सौंदर्यशास्त्रीय दृष्टि ही अधिक उपयुक्त है।

एक बात पर ध्यान दें। अरस्तू की अनुकरण संबंधी मान्यताओं को साहित्यशास्त्र में इतना महत्व दिया जाता है, पर स्वयं उन्होंने इस अवधारणा तथा इसकी प्रकृति की स्पष्ट व्याख्या नहीं की है, या हम कह सकते हैं कि उनके उपलब्ध साहित्य में कहीं भी स्वतंत्र रूप से इस पर विचार किया गया नहीं दिखाई देता। इतना तय है कि **पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में 'अनुकरण' एक महत्वपूर्ण अवधारणा है।** किंतु भिन्न-भिन्न विचारधाराओं ने इस अवधारणा को भिन्न-भिन्न रूपों में लिया है। उन विभिन्न मतों

पर भी हम नज़र डालेंगे लेकिन उसके पहले हमें यह देख लेना चाहिए कि अरस्तू की विवेचना में 'अनुकरण' का कौन-सा रूप उभरता है।

11.4.1 अनुकरण : अरस्तू की दृष्टि में

अरस्तू ने कला को 'प्रकृति की अनुकृति' ही माना है, किंतु यहाँ ध्यान रखें कि यह उसके बाह्य रूप की अनुकृति नहीं है जैसी कि प्लेटो की मान्यता थी। पिछले खंड में इस बात का संकेत किया जा चुका है। कला मात्र को अनुकृति मानना यह दिखलाता है कि अरस्तू की दृष्टि में अनुकरण का कितना महत्व था। यह अनुकरण यदि बाह्य जगत की वस्तुओं का दर्पण-बिंब मात्र होता तो वह उन वस्तुओं से उपजने वाले भाव से भिन्न कोई भाव जगाने में सक्षम नहीं होता। किंतु कलाकृतियाँ पाठकों/श्रोताओं/दर्शकों में जीवन की सामान्य अनुभूतियों से भिन्न और तीव्रतर अनुभूतियाँ उत्पन्न करती हैं। इसका अर्थ यह होगा कि इन्हें प्रेरित करने वाले अनुकरण की प्रकृति भी भिन्न होती है।

अरस्तू के विवेचन से स्पष्ट होता है कि उनके लिए अनुकरण प्रकृति के बाह्य रूपों का नहीं, बल्कि उसकी सर्जन-प्रक्रिया का अनुकरण है। यह बाह्य जगत से सामग्री चुनता है और उसे अपने तरीके से छाँटकर और तराशकर इस प्रकार पुनःसंयोजित करता है कि वह कलात्मक अनुभूति को जन्म देती है। इसके लिए उसे विशिष्ट संवेदनशीलता और कल्पना का सहारा भी लेना पड़ता है। प्रकृति में जो कुछ अपूर्ण रह जाता है उसे वह पूर्ण रूप में प्रस्तुत कर सकता है और इस प्रकार वह प्रकृति का भी अतिक्रमण कर जाता है। अतः अनुकरण की प्रक्रिया को अरस्तू सामान्य नकल से ऊपर और सर्जनशील मानते थे।

आइए, अब हम कुछ ऐसे संदर्भों पर नज़र डालें जो अरस्तू की अनुकरण संबंधी अवधारणा को स्पष्ट करते हैं।

- अरस्तू के अनुसार काव्य की विषयवस्तु का चित्रण तीन रूपों में हो सकता है:
  - ❖ प्रतीयमान - अर्थात्, वस्तुएँ वास्तव में जैसी हैं या दिखाई देती हैं,
  - ❖ संभाव्य - अर्थात, वस्तुएँ जैसी हैं नहीं, मगर हो सकती हैं, और
  - ❖ आदर्श - अर्थात, वस्तुओं को जैसा होना चाहिए।

कविता जहाँ पहले वर्ग का चित्रण का चित्रण करती है, वहाँ उसे यथातथ्य अनुकरण माना जा सकता है। किंतु दूसरे और तीसरे वर्ग में जिन स्थितियों का चित्रण होता है, वे वास्तविक जगत में नहीं होतीं। इसलिए उनके चित्रण में बाह्य जगत का अनुकरण करने का प्रश्न ही नहीं उठता। **इनमें कवि बाह्य जगत को आधार बनाता है किंतु फिर कल्पना तथा आदर्श भावना का सहारा लेकर उस वस्तु का चित्रण इस प्रकार करता है कि वह बाह्य, इंद्रियगोचर जगत की सीमा से बहुत ऊपर उठ जाती है।** अरस्तू ऐसी रचनाओं को स्वीकृति देते हैं, इसी से स्पष्ट हो जाता है कि वे **अनुकरण को सर्जनात्मक मानते हैं।**

- आपने भारतीय काव्यशास्त्र में पढ़ा होगा कि काव्य की कथा प्रख्यात (इतिहास-पुराण प्रसिद्ध), उत्पाद्य (कवि-कल्पना से उत्पन्न) या मिश्र (पिछले दोनों प्रकारों का मिश्रण) हो सकती है। अरस्तू ने भी कथानक के तीन प्रकार माने हैं - ऐतिहासिक, दंतकथामूलक और कल्पित। इनमें ऐतिहासिक तथा दंतकथामूलक कथानकों की सामग्री तो रचनाकार बाह्य जगत से ले सकता है और इस प्रकार सामग्री लेने को अनुकरण भी माना जा सकता है। किंतु कल्पित कथानक उसकी अपनी सर्जनात्मकता से ही उपज सकता है।

- इतिहास तथा काव्य की तुलना करते हुए अरस्तू ने काव्य के सत्य को इतिहास के तथ्य से ऊँचा माना है, क्योंकि :
  - ❖ इतिहास केवल उन्हीं घटनाओं का उल्लेख करता है जो घटित हो चुकी हैं जबकि काव्य संभाव्य तथा आदर्श स्थितियों का भी अंकन करता है।
  - ❖ इतिहास केवल बाह्य जगत की विशिष्ट घटनाओं का उल्लेख तथा विवेचन करता है, इसलिए वह मात्र विशेष की ही अभिव्यक्ति करता है। इसके विपरीत काव्य का सत्य घटना विशेष तक सीमित न रहकर 'सामान्य' होता है।
  - ❖ इतिहास वस्तुपरक होता है जबकि काव्य-रचना में अनुभूति तथा विचार का आश्रय लिया जाता है। इसके अतिरिक्त श्रेष्ठ काव्य में दर्शन तत्व की प्रधानता होती है।

- इन सब बातों के आधार पर हम समझ सकते हैं कि अरस्तू काव्य को बाह्य यथार्थ के अनुकरण मात्र के रूप में नहीं देखते थे। यदि ऐसा होता तो काव्य तथा इतिहास में वे इतना फ़र्क न करते। उनके अनुसार काव्य अनुभूति, कल्पना तथा दार्शनिकता का योग होता है और वह यथार्थ जगत की वस्तुओं तथा घटनाओं से आगे जाकर संभाव्यता का भी अंकन करता है। इससे यह स्पष्ट है कि उनकी दृष्टि में कवि/कलाकार अर्थात अनुकर्ता बाह्य जगत से प्राप्त विषयवस्तु में अपनी तरफ से भी बहुत कुछ जोड़ता है। इस प्रकार अनुकरण मात्र प्रतिबिंबन का नहीं बल्कि सर्जना का व्यापार है।

- अरस्तू ने इस बात की ओर ध्यान दिलाया कि बाह्य जगत में जो वस्तुएँ और स्थितियाँ हममें त्रास जगाती हैं, वे ही काव्य/नाटक में इस प्रकार प्रस्तुत की जाती हैं कि करुणा तथा आतंक का निराकरण करके वे हमें आनंद प्रदान करती हैं। यह निराकरण विरेचन द्वारा संभव होता है जिसकी चर्चा इस पाठ में आगे जाकर की जाएगी। किंतु दुःख के माध्यम से आनंद प्राप्त होने का विरोधाभास तभी समझा जा सकता है जब हम काव्य के आनंद को यथार्थ जीवन के आनंद से भिन्न और विशिष्ट मानें। यह विशिष्टता यथार्थ को ज्यों का त्यों प्रतिबिंबित कर देने से नहीं आ सकती। रचनाकार की सर्जनशीलता रचना की विषयवस्तु को इस प्रकार संगठित तथा प्रस्तुत करती है कि श्रोता/पाठक/दर्शक की अनुभूतियाँ विशेष प्रकार से जाग्रत और समाहित होती हैं। नाटक यथार्थ जीवन का अनुकरण करता है किंतु उसके प्रभाव में यह विशिष्टता तभी आ सकती है जब यह अनुकरण कलात्मक और सर्जनात्मक हो। प्रसिद्ध समालोचक स्कॉट जेम्स ने इसे 'जीवन का पुनर्निमाण' कहा है।

- अरस्तू के अनुसार क्रियाशील मानव ही काव्य, अर्थात अनुकरण का विषय होता है किंतु उनका विवेचन यह भी संकेत करता है कि काव्य केवल बाह्य जगत में प्रत्यक्ष जीवन का ही नहीं बल्कि सूक्ष्म, अमूर्त, आंतरिक जीवन का भी अनुकरण करता है। जीवन का यह पक्ष बाह्य जगत में प्रत्यक्ष नहीं होता अतः इसके अनुकरण में अनुकर्ता को अनुभूति और कल्पना का सहारा लेना ही पड़ता है।

आशा है, अब तक की चर्चा से आपके सामने स्पष्ट हो गया होगा कि अरस्तू अनुकरण को काव्य का अनिवार्य तत्व मानते थे किंतु यह मशीनी अनुकरण नहीं था। इसमें दर्शन और विचार तत्व, अनुभूति और कल्पना के योग से विशिष्ट सर्जनशीलता आ गई थी।

11.4.2 अनुकरण : विभिन्न व्याख्याएँ

इस बात का संकेत किया जा चुका था कि पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में विभिन्न विचारधाराओं के प्रभाव से अरस्तू की अनुकरण संबंधी दृष्टि की अपने-अपने तरीके से व्याख्या की गई। इस अनुभाग में हम उन्हीं व्याख्याओं पर एक नज़र डालेंगे।

यह हम देख चुके हैं कि प्लेटो ने 'अनुकरण' की व्याख्या दो स्तरों पर की थी - मूल सत्य और सृष्टि के संबंध और फिर सृष्टि तथा काव्य के संबंध के स्तर पर। सृष्टि अमूर्त मूल सत्य का मूर्त अनुकरण है और काव्य ज्यों का त्यों प्रतिबिंब के रूप में सृष्टि का अनुकरण है। इसमें अनुकरण एक हीन व्यापार माना गया और अनुकर्ता में मौलिकता या सर्जनशीलता की कोई संभावना नहीं देखी गई।

अरस्तू ने अनुकरण की अवधारणा की स्वतंत्र चर्चा नहीं की, न इसका रूप स्पष्ट किया किंतु इनकी काव्य सिद्धान्त संबंधी चर्चा से स्पष्ट होता है कि ये अनुकरण को यथावत् नकल के स्थान पर एक सर्जनात्मक व्यापार मानते थे जिसका संबंध मात्र बाह्य सृष्टि से नहीं बल्कि उसकी सर्जनात्मक प्रक्रियाओं से होता है! इसीलिए अनुकरण के माध्यम से प्रस्तुत सत्य कोरे सतही या बाह्य सत्य से कहीं आगे जाता है।

आइए, अब इसकी विभिन्न व्याख्याओं पर विचार करें।

(i) नव्य-क्लासिकी व्याख्या : नव्य-क्लासिकी दृष्टि या नव्य-अभिजात्यवाद/शास्त्रवाद का उदय ईसा की तीसरी शताब्दी के लगभग हुआ और पूर्ण विकास ईसा की 17वीं-18वीं शताब्दी में, किंतु इस पर ईसापूर्व पहली शताब्दी में हुए होरेस जैसे शास्त्रवादियों का प्रभाव था। सिसरो तथा डायोनिसिस जैसे ग्रीक विचारकों तथा मध्ययुग के क्विंटीलियन तथा सेंट टॉमस अक्वाइनस जैसे पादरियों ने भी इस विचारधारा में महत्वपूर्ण योगदान किया। होरेस की दृष्टि वस्तुपरक थी और उन्होंने अनुकरण को मुख्य रूप से शास्त्रीय सिद्धान्तों का और सिद्ध रचनाकारों - सोफ़ोक्लीज़, होमर, वर्जिल आदि द्वारा दिखाए गए मार्ग का अनुकरण माना।

अरस्तू ने अपने समय की श्रेष्ठ रचनाओं के आधार पर काव्यशास्त्र का प्रणयन किया था और विभिन्न विधाओं के शास्त्रीय नियम स्थिर कर दिए थे। नव्य-अभिजात्यवादी/शास्त्रवादी विचारकों ने केवल उन्हीं रचनाओं को श्रेष्ठ माना जिनमें अरस्तू द्वारा प्रतिपादित साहित्य सिद्धान्तों का पालन/अनुकरण किया गया हो। शेक्सपीयर के समकालीन शास्त्रवादियों ने उनकी आलोचना इसी आधार पर की थी कि उनकी रचनाएँ शास्त्रीयता की दृष्टि से शुद्ध नहीं थीं। बेन जॉन्सन तो शेक्सपीयर की मृत्यु पर श्रद्धांजलि में भी चुटकी लेने से बाज नहीं आए कि उनका लैटिन भाषा का ज्ञान बहुत कम था और ग्रीक भाषा का उससे भी कम। अर्थात ऐसे विचारकों की दृष्टि में अरस्तू के सिद्धांतों का मशीनी अनुकरण ही साहित्य की श्रेष्ठता का मानक था।

सिद्ध साहित्यकारों के अनुकरण पर भी इन लोगों का विशेष बल रहा। यह अनुकरण भी अनायास नहीं, सोचा-समझा और सचेत भाव से होना चाहिए। क्विंटीलियन ने तो साफ-साफ कहा था कि कवि को सचेत भाव से चुना लेना चाहिए कि वह किस प्राचीन रचनाकार का अनुकरण करेगा और किन-किन बातों में। अठारहवीं सदी के नव्य-अभिजात्यवादियों ने भी यह आवश्यक माना कि वर्तमान युग के कवि प्राचीन ग्रीक कवियों का गहन अध्ययन करें और उन्हें अपना आदर्श मानें।

ऐसी स्थिति में रचनाकार की अपनी मौलिकता या सर्जनशीलता की कहीं भी गुंजाइश नहीं थी। स्पष्ट ही यह दृष्टिकोण अरस्तू की अपेक्षा संकीर्ण था क्योंकि अरस्तू ने प्रत्यक्ष वस्तुगत सत्य के साथ ही संभाव्य तथा आदर्श सत्य के अंकन की भी बात की थी। किंतु आभिजात्यवाद तथा नव्य-आभिजात्यवाद की दृष्टि केवल प्रत्यक्ष तक ही सीमित थी - वह प्रत्यक्ष जगत हो, सुनिश्चित शास्त्रीय सिद्धांत हो या प्राचीन सिद्ध रचनाकारों की कृतियाँ। पोप तथा ड्राइडन जैस परवर्ती नव्य-आभिजात्यवादियों ने अवश्य इस कमी को महसूस किया। पोप ने साहित्य में युगानुरूपता की वकालत की तो ड्राइडन ने रचनाकार की अपनी प्रतिभा और कौशल को महत्व देते हुए उसकी मौलिकता को मान्यता दी।

(ii) रोमांटिक व्याख्या : यह कहा जा सकता है कि रोमांटिक विचारधारा में 'अनुकरण' की अवधारणा का स्वतंत्र रूप से कोई स्थान नहीं है क्योंकि अनुकरण को चाहे कितने ही व्यापक अर्थ में लिया जाए, इसका प्रारंभिक आधार वस्तुजगत ही है। इसके विपरीत रोमांटिक विचारधारा आत्मतत्व-प्रधान है। इस विचारधारा के अनुसार साहित्य-सर्जना में बाह्य जगत की भूमिका गौण होती है और रचनाकार की अपनी अनुभूतियों और संवेदनाओं की भूमिका प्रधान होती है। वह बाह्य जगत का चित्रण भी करता है तो उस रूप में नहीं जैसा कि वह 'है', बल्कि उस रूप में 'जैसा कि वह उसे प्रतीत होता है'। अपने कल्पना सिद्धान्त के विवेचन में कॉलरिज ने अनुकरण को असंभव माना था। इसकी मुख्य वजह तो यह है कि किसी भी निर्माण या सृजन के पीछे की मूल शक्ति कल्पना होती है। कल्पना का गुण सृजन है, अनुकरण नहीं। अतः काव्य भी सृजन है, अनुकरण नहीं। इसी विचारधारा का अतिवादी रूप हमें क्रोचे में दिखाई देता है जहाँ वे सर्जना तथा अभिव्यक्ति - दोनों ही स्तरों पर बाह्य जगत का बहिष्कार करते हैं।

इस प्रकार आपने देखा कि अनुकरण का अपने आपमें रोमांटिक विचारधारा में स्थान नहीं है। किंतु यहाँ हम इस बात पर विचार कर रहे हैं कि अरस्तू द्वारा प्रयुक्त अनुकरण की अवधारणा को रोमांटिक दृष्टि वाले विचारकों ने किस प्रकार समझा और व्याख्यायित किया है। इस विषय में भी अलग-अलग विद्वानों ने इस अवधारणा के अलग-अलग पक्षों को लिया है और कहीं-कहीं उनमें कुछ मतभेद भी रहा है। किंतु साररूप में समझें तो अनुकरण की रोमांटिक व्याख्या में अनुकर्ता को नकलनवीस नहीं, बल्कि सर्जक के रूप में देखा गया है। स्कॉट जेम्स के अनुसार अनुकरण बाह्य जगत की वस्तुपरक अनुकृति नहीं, बल्कि 'जीवन का कलात्मक पुनर्निर्माण' है। बूचर ने भी अनुकरण को 'सादृश्य-विधान' माना है किंतु यहाँ पर भी सादृश्य वस्तुपरक नहीं माना गया है। रचनाकार वस्तुओं का चित्रण उस रूप में नहीं करता जैसी कि 'वे हैं', बल्कि उस रूप में करता है जैसी कि 'वे उसे प्रतीत होती हैं'। डॉ.नगेन्द्र की मान्यता है कि अरस्तू जब कला को 'प्रकृति की अनुकृति' कहते हैं तो उनका आशय प्रकृति के बाहरी मूर्त रूप ही नहीं आंतरिक अमूर्त रूप से भी है। वे साहित्य में प्रतीयमान के साथ ही संभाव्य और आदर्श स्थितियों के चित्रण की भी बात करते हैं। संभाव्य तथा आदर्श स्थितियाँ प्रत्यक्ष नहीं होतीं। उनके चित्रण के लिए कल्पना का सहारा लेना आवश्यक है। इसलिए अनुकरण कल्पना तथा सर्जना का भी व्यापार है।

इस प्रकार रोमांटिक व्याख्या में अनुकरण को मुख्यतः पुनःसृजन के रूप में देखा गया है। यह पुनःसृजन वस्तु का नहीं होता, वस्तु द्वारा कलाकार के मन पर पड़नेवाले प्रभाव का होता है। इसके आगे जाकर कुछ विद्वानों ने यह भी माना है कि कलाकृति में मानव जीवन के सामान्य पक्ष का अनुकरण होता है और वह मानव जीवन को 'जैसा है वैसा ही' प्रस्तुत करने के स्थान पर उसका आदर्शीकृत प्रतिरूप प्रस्तुत करती है।

(iii) रूपवादी तथा संरचनावादी व्याख्या : विचार के स्तर पर रूपवाद तथा संरचनावाद में बहुत साम्य है। अरस्तू के अनुकरण सिद्धान्त संबंधी विचारों की व्याख्या में भी इनके मतों को अलगा कर नहीं देखा जा सकता है। अतः यहाँ दोनों का विवेचन साथ ही किया जा रहा है।

रूपवाद तथा संरचनावाद में कृति को ही विवेचन का केंद्र बनाया जाता है। बाह्य तत्वों को नहीं। इन विचारधाराओं में अनुकरण का महत्व तो स्वीकारा गया था मगर इसे कला के लिए अपरिहार्य नहीं माना गया।

इन्होंने अनुकरण को एक प्रकार से काव्य-कला का भेदक तत्व माना जो उसे वक्तृत्व-कला से अलगाता है जिसका काम है श्रोता को 'परसुएड' (persuade) या कायल करना। इनके अनुसार काव्य प्रकृति का अनुकरण तो करता है, किंतु न तो उसके अधीन होता है न यह अनुकरण प्रकृति का प्रतिबिंब मात्र होता है। अगर यह पूर्णतः प्रकृति के अधीन होता तो प्रकृति के केवल बाह्य रूपों का चित्रण इसकी बाध्यता होती। कृतिकेंद्रित ये विचारधाराएँ कृति को इस प्रकार बाह्य जगत के अधीन मानने को तैयार नहीं थीं।

तो फिर अनुकरण से इनका तात्पर्य क्या था? अनुकरण प्रकृति तथा उसकी प्रक्रियाओं का सादृश्य अवश्य निर्मित करता है। रूपवादी-संरचनावादी व्याख्या के अनुसार यह अनुकरण सतही स्तर का नहीं, बल्कि प्रकृति की आंतरिक प्रक्रिया का होता है। आप इसे समझकर देखें। यदि काव्य बाह्य जगत का दर्पण बिंब है तो वह केवल उसी विशेष छवि को झलका सकेगा जो उसके सामने है। इस प्रकार उसका क्षेत्र सीमित हो जाएगा। प्रस्तुत व्याख्या के अनुसार काव्य यदि प्रकृति की पद्धति और प्रक्रिया का, अर्थात उसके व्यापार में अंतर्निहित नियमों तथा संरचना का अनुकरण करता है तो उसकी व्याप्ति उन तमाम क्षेत्रों में हो जाएगी जहाँ-जहाँ वे नियम लागू होते हैं। **इस प्रकार काव्य का क्षेत्र सीमित न रहकर सार्वभौम हो जाता है। इसीलिए काव्य संभाव्य तथा आदर्श स्थितियों का भी चित्रण कर सकता है** क्योंकि वे स्थितियाँ भले ही उसके सामने न रहें, पर वैसी स्थितियों का उत्पन्न और संचालित करने वाले नियमों की कुंजी उसके हाथ में होती है।

यह कहा गया है कि काव्य से प्राप्त आनंद वास्तव में अनुकरण से मिलने वाला आनंद है। कवि जब बाह्य जगत का चित्रण (अर्थात उसका अनुकरण) करता है तो उसकी कृति में हम अपने परिचित जगत को पहचान कर आनंदित हो उठते हैं। रूपवादियों के अनुसार इस आनंद के लिए जगत और कृति के स्तर पर साम्य होना आवश्यक नहीं है। उपमा, रूपक आदि अलंकारों के प्रयोग से भी हमें आनंद मिलता है और यह आनंद प्रस्तुत से नहीं बल्कि अप्रस्तुत से समानता की पहचान के कारण मिलता है। इस तरह काव्य के आनंद के लिए भी बाह्य जगत की वस्तुओं का अनुकरण आवश्यक नहीं है।

सारांशतः, रूपवादी/संरचनावादी दृष्टि के अनुसार अरस्तू ने 'अनुकरण' का प्रयोग वस्तुजगत के प्रतिबिंबन के अर्थ में नहीं बल्कि प्रकृति की सर्जन प्रक्रिया और आभ्यंतर संरचना के नियमों के अनुकरण के अर्थ में किया था।

समग्रतः इन प्रमुख आलोचना पद्धतियों ने इस बात पर विचार किया कि 'अनुकरण' से अरस्तू का तात्पर्य क्या था। दूसरी ओर कुछ अन्य विचारधाराओं पर अनुकरण सिद्धान्त का प्रभाव भी पड़ा और उन्होंने अपने तरीके से 'अनुकरण' की व्याख्या की। **यथार्थवादी दृष्टि** ने काव्य के सार्वभौम तत्वों को मान्यता देते हुए भी काव्य को जीवन का यथातथ्य चित्रण माना। साहित्य को इस प्रकार समाज का दर्पण मानना स्पष्ट ही कला में जीवन के अनुकरण को मान्यता देना है। यहाँ बहस सिर्फ़ इस बात की होती है कि जीवन को केवल बाहरी जगत तक सीमित माना जाए या अंतर्जगत के यथार्थ और अमूर्त भावनाओं को भी उसमें शामिल कर लिया जाए। हर हाल में साहित्य उसका अनुकरण करता है। यथार्थवाद से आगे जाकर प्रकृतवाद तो साहित्य को जीवन के फ़ोटोग्राफ के रूप में देखता है जिसमें जीवन के हर पक्ष की नग्न सच्चाई झलकती है। इस प्रकार आज हालांकि कृति का मूल्यांकन उसके अपने गुणों तथा पाठकों पर पड़नेवाले प्रभाव के आधार पर किया जाता है, किंतु उसकी रचना प्रक्रिया की चर्चा में अनुकरण सिद्धान्त के किसी न किसी रूप का प्रभाव झलक ही जाता है।

1.4.3 विवेचन

आप देख चुके हैं कि स्वयं अरस्तू ने 'अनुकरण' की अवधारणा, इसकी प्रकृति या प्रकार्य आदि पर कोई प्रकाश नहीं डाला था और आज तक आलोचक इस बात को लेकर बहस करते रहते हैं कि अनुकरण' से अरस्तू का आशय क्या था? ऐसे में इस सिद्धान्त की कोई स्पष्ट समालोचना भी संभव नहीं है क्योंकि हो सकता है कि जिस बात को लेकर आप आलोचना करें, वह अरस्तू के ख्याल में भी

न हो। फिर भी यहाँ कुछ उन आरोपों का संक्षिप्त उल्लेख किया जा रहा है जो समय-समय पर इस सिद्धान्त पर लगाए गए हैं।

प्लेटो के ही समान अरस्तू ने भी अनुकरण के लिए 'मीमेसिस' शब्द का प्रयोग किया था जबकि इस शब्द से संबद्ध उनकी अवधारणा भिन्न है। यह बात अध्येताओं को उलझन में डाल सकती है। इसके अतिरिक्त उन पर यह भी आरोप है कि अनुकरण की परिधि में वे पुनःसृजन, संभाव्य तथा आदर्श स्थितियों के संकेत आदि को भी समेट लेते हैं किंतु वास्तव में 'अनुकरण' के अर्थ के अंतर्गत यह सब नहीं आता। इस आरोप के संदर्भ में आप याद रखें कि स्वयं अरस्तू ने अपनी 'अनुकरण' संबधी अवधारणा पर प्रकाश नहीं डाला है। संभव है अरस्तू ने इस विषय का विवेचन किया हो किंतु वह अब उपलब्ध न हो। इससे भी इस प्रकार की उलझन उठ खड़ी होती है।

यह भी कहा गया है कि 'अनुकरण' को सर्जना से संबद्ध मानते हुए भी उन्होंने इसे मूलतः वस्तुजगत पर ही आधारित माना है। इसमें रचनाकार की अंतश्चेतना या उसकी मानसिक प्रक्रियाओं को पर्याप्त महत्व नहीं दिया गया है। आप जानते हैं कि अरस्तू की दृष्टि मूलतः वस्तुपरक ही थी। अतः उनके सिद्धान्तों का भी वस्तुपरक होना स्वाभाविक है। इस सिलसिले में बहस उनकी दृष्टि को लेकर हो सकती है, उनके सिद्धान्त को लेकर नहीं।

11.5 त्रासदी

अरस्तू की साहित्यशास्त्रीय चर्चा में जिस विधा की बड़े ही विस्तार और गहराई से चर्चा मिलती है, वह है त्रासदी (Tragedy)। वस्तुतः अरस्तू के युग के पहले ही यूनान में त्रासदी का रूप विकसित हो चुका था और वही अरस्तू के विवेचन का आधार बना।

त्रासदी ग्रीक साहित्य की एक महत्वपूर्ण विधा थी। इसका आरंभ मद्य देवता दिओनिसिअस के सम्मान में होने वाले समारोह में माना जाता है। इस समारोह में कलाकार बकरे के सिर जैसा मुखौटा धारण करके नाचते-गाते थे। ईसा पूर्व छठी शताब्दी में थेसियस ने इस नृत्य-गीत की श्रृंखला के बीच-बीच में छंदोबद्ध भाषणों की भी योजना की। त्रासदी का आरंभ यहीं से होता है। ईसा के पहले की पाँचवी शताब्दी आते-आते यूनान में त्रासदी एक परिपक्व विधा के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी थी और एस्खिलुस, सोफ़ोक्लीज़ और यूरीपाइदिस जैसे नाटककार इस विधा को समृद्ध कर रहे थे। इन नाटककारों की कृतियाँ आज भी क्लासिकी साहित्य के अनुपम उदाहरणों में गिनी जाती हैं।

उस युग में त्रासदी के अतिरिक्त कामदी, महाकाव्य, गीतिकाव्य आदि विधाएँ भी प्रचलित थीं किंतु अरस्तू के 'पेरि पोइतिकेस' में सबसे अधिक महत्व त्रासदी को ही दिया गया है और एक प्रकार से यही पश्चिमी काव्य-चिंतन की आधारशिला रही।

11.5.1 त्रासदी की परिभाषा तथा प्रमुख तत्व

अरस्तू ने त्रासदी को **'किसी गंभीर स्वतःपूर्ण निश्चित आयाम से युक्त कार्य की अनुकृति'** माना है। **'यह समाख्यान रूप में न होकर कार्य-व्यापार रूप में होती है। इसका माध्यम नाटक के विभिन्न भागों में तदनुरूप प्रयुक्त सभी प्रकार के आभरणों से अलंकृत भाषा होती है। उसमें करुणा तथा त्रास के उद्रेक के द्वारा इन, मनोविकारों का उचित विरेचन किया जाता है।'** ('अरस्तू का काव्यशास्त्र' : डॉ० नगेन्द्र में अरस्तू की परिभाषा का हिंदी अनुवाद)। इस परिभाषा के आधार पर हम त्रासदी की प्रमुख विशेषताओं को समझ सकते हैं। ये हैं :

- त्रासदी 'कार्य की अनुकृति' है।
- इसमें वर्णित कार्य गंभीर होता है, स्वतःपूर्ण होता है (अर्थात पूर्ण होने के लिए उसे किसी अन्य तत्व पर निर्भर नहीं रहना पड़ता), और उसका आयाम, अर्थात क्षेत्र तथा विस्तार निश्चित रहता है।
- यह समाख्यानात्मक (वर्णनात्मक) रूप में नहीं, बल्कि कार्य-व्यापार के रूप में प्रस्तुत की जाती है।
- कार्य-व्यापार की प्रधानता होते हुए भी इसका माध्यम भाषा होती है और वह भाषा नाटक के लिए उपयुक्त अलंकारों से युक्त होती है।
- इसमें करुणा और त्रास का उद्रेक होता है, और
- इस उद्रेक के द्वारा इन मनोविकारों का उचित विरेचन किया जाता है।

अरस्तू ने त्रासदी के छः तत्व माने हैं - (i) कथानक (Plot), (ii) चरित्र (Character), (iii) विचार (Thought), (iv) पदविन्यास (Diction), (v) दृश्य-विधान (Spectacle); और (vi) गीत (Song)। इन सभी तत्वों का उन्होंने कमोबेश विस्तार से विवेचन किया है और इन सभी का संबंध अनुकरण से है।

(i) कथानक - कथानक का अर्थ है त्रासदी की विषयवस्तु या घटना-विन्यास। अरस्तू ने त्रासदी में सबसे अधिक महत्व इसी तत्व को दिया और इसी पर सबसे अधिक विस्तार से विचार भी किया।

त्रासदी कार्य की अनुकृति है और कथानक उसी कार्य-व्यापार को प्रस्तुत करता है। यह व्यक्ति-चरित्र का नहीं घटनायुक्त जीवन के कार्य-व्यापार का, सुख-दुःखमय प्रसंगों का अंकन है। त्रासदी का प्रभाव कार्य-व्यापार पर ही निर्भर करता है। इसके अन्य सब तत्व भी कार्य-व्यापार के ही साधक हैं। चरित्र कार्य-व्यापार के माध्यम के रूप में ही आते हैं। चरित्रों के बिना त्रासदी की योजना हो सकती है, कार्य-व्यापार के बिना नहीं।

यह उल्लेख हो चुका है कि अरस्तू की मूल दृष्टि वस्तुपरक (Objective) थी, इसलिए वस्तुजगत तथा इसमें घटनेवाली घटनाओं के प्रति उनका झुकाव स्वाभाविक ही था। इसका दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि जिन त्रासदियों को सामने रखकर अरस्तू ने अपना काव्यशास्त्र रचा था वे भी कार्य-व्यापार प्रधान ही थीं। इसलिए उनके त्रासदी विवेचन में भी कार्य-व्यापार को प्रस्तुत करने वाले तत्व-कथानक पर सबसे अधिक बल रहा।

(क) **कथानक के स्रोत** - अनुकरण के संदर्भ में उल्लेख हो चुका है कि अरस्तू ने कथानक के तीन स्रोत माने हैं - दंतकथा, कल्पना और इतिहास। इनमें से वे कल्पना और इतिहास को हालाँकि उपेक्षणीय नहीं मानते थे किंतु दंतकथा या लोकप्रचलित कथा को वे सर्वश्रेष्ठ मानते थे क्योंकि उसमें एक ओर इतिहास का सत्य होता है और दूसरी ओर कल्पना की सृजनशीलता। इसलिए इसका क्षेत्र अधिक व्यापक होता है और इसका प्रभाव अधिक सघन। कल्पनाप्रसूत कथानक तभी ग्रहणीय होता है जब वह संभाव्य भी हो। ऐतिहासिक कथानक वस्तु सत्य के निकट होता है किंतु अरस्तू वस्तुजगत के सत्य की अपेक्षा काव्य के सत्य को अधिक महत्व देते थे और त्रासदी की एतिहासिक कथावस्तु को तब बेहतर मानते थे जब वह मात्र तथ्य के स्थान पर जीवन के आंतरिक सत्य का भी उद्‌घाटन करे।

(ख) **कथानक के प्रकार** - शिल्प की दृष्टि से अरस्तू ने कथानक के दो प्रकार माने हैं - सरल और जटिल।

1. **सरल कथानक** एकसूत्री होता है और उसमें कथा महान त्रुटि, स्थिति विपर्यय तथा अभिज्ञान जैसी किसी बड़ी उथल-पुंथल के बिना ही अपनी परिणति तक पहुँच जाती है।
2. **जटिल कथानक** में मुख्य कथा के साथ प्रासंगिक कथाएँ भी चलती हैं और घटनाक्रम में अनेक आकस्मिक, अप्रत्याशित स्थितियाँ तथा मोड़ आते हैं। ऐसे कथानक में स्थिति-विपर्यय तथा अभिज्ञान की योजना-के माध्यम से नायक के जीवन की विडंबनाओं तथा उसके भाग्य-परिवर्तन को दर्शाया जाता है।

(ग) **नाटकीय युक्तियाँ** - अरस्तू के अनुसार त्रासदी में महान त्रुटि, स्थिति-विपर्यय तथा अभिज्ञान की भूमिका बड़ी महत्वपूर्ण होती है इसलिए इन नाटकीय युक्तियों से संबद्ध अवधारणाओं का आपके सामने स्पष्ट होना बहुत जरूरी है।

1. **महान त्रुटि (हमरशिया)** - त्रासदी का नायक अतिमानव नहीं मानव होता है अतः उसमें मानवोचित गुण-दोष भी होते हैं। त्रासदी में उसके चरित्र में कोई ऐसी त्रुटि दिखाई जाती है जिसके कारण उसके जीवन में स्थिति-विपर्यय घटित होता है। यह कोई नैतिक दोष नहीं होता क्योंकि तब उसे दर्शकों की सहानुभूति नहीं मिलेगी और उसका त्रास दर्शकों में त्रास जगाने में सफल नहीं होगा। दुष्ट पात्रों की दुर्दशा प्रेक्षकों में आनंद और संतोष जगाती है लेकिन जो पात्र दुष्ट नहीं होते उनकी दुर्दशा से प्रेक्षकों के मन में करूणा उपजती है। यह दुर्दशा उनकी किसी त्रुटि या चारित्रिक भूल या कमज़ोरी के कारण होती है जो अपने दुखद परिणाम के कारण 'महान त्रुटि' कहलाती है। उदाहरण के लिए शेक्यपीयर के नाटक 'ओथेलो' में नायक ओथेलो का सहज़ विश्वासी तथा कान का कच्चा होना ही उसकी त्रासदी के लिए जिम्मेदार होता है। इस त्रुटि के कारण वह खल

पात्र इयागो की बातों में आकर अपनी पतिव्रता पत्नी के चरित्र पर संदेह करने लगता है। यहाँ तक कि इसी संदेह के कारण अंत में वह पत्नी की हत्या कर देता है। कान का कच्चा होना नैतिक दोष नहीं उसके चरित्र की एक कमजोरी भर है। किंतु इसी त्रुटि के कारण उसका जीवन नष्ट होता है और उसका त्रास दर्शकों में भी सहानुभूति जगाता है।

2. **अभिज्ञान (अनाग्नोरिसिस)** - इस शब्द का अर्थ है कि किसी अज्ञात तथ्य का सहसा ज्ञान होना। त्रासदी में यह ज्ञान अपने साथ अनेक नाटकीय संभावनाएँ लेकर आता है। उदाहरण के लिए सोफ़ोक्लीज़ के नाटक 'ईडिपस रेक्स' में नायक ईडिपस एक भविष्यवाणी के कारण बचपन में ही माता-पिता से अलग कर दिया जाता है। वर्षों बाद घटनाचक्र इस प्रकार चलता है कि वह बिना इस तथ्य को जाने ही कि जिस व्यक्ति की वह हत्या कर रहा है वह उसका पिता है, अपने पिता की हत्या करके अपनी माता से विवाह कर लेता है। यह वह महान त्रुटि है जो उसके जीवन में त्रासदी के बीज बोती है। न माता-पिता उसे पहचानते थे, न वह माता-पिता को। वर्षों उसे वास्तविकता का ज्ञान नहीं होता और इस विवाह से उन्हें संतान भी होती है। कई वर्ष बाद उसे वस्तुस्थिति का **अभिज्ञान** होता है और वह घोर आत्मग्लानि और मनस्ताप में डूब जाता है। यहीं से उसका भाग्यविपर्यय आरंभ होता है और उसके जीवन की त्रासदी दर्शकों में करुणा जगाती है। इस प्रकार अभिज्ञान के कारण स्थिति-विपर्यय भी घटित हो सकता है।

3. **स्थिति विपर्यय (पेरिपेसेइया)** - विपर्यय का अर्थ है उलट-फेर और स्थितिविपर्यय का अर्थ है नाटक की स्थितियों में अप्रत्याशित रूप से ऐसा परिवर्तन जिससे कार्य व्यापार एक दिशा में अग्रसर होते-होते अचानक विपरीत दिशा में मुड़ जाता है। यह परिवर्तन अप्रत्याशित तो होता है मगर असंभाव्य नहीं। यह पात्रों को ऐसी स्थिति में ले आता है जहाँ उनके भाग्य और भविष्य के प्रति पाठकों/दर्शकों की उत्कंठा बढ़ने लगती है। भारतीय प्रसंग में आप राम के वन-गमन में इस स्थिति को देख सकते हैं जहाँ राज्यभिषेक जैसे परम सौभाग्य की स्थिति में आते-जाते उन्हें सब कुछ त्यागकर वन का मार्ग लेना पड़ता है।

   इस प्रकार स्थिति-विपर्यय और अभिज्ञान में आकस्मिकता का आधार रहता है। ये युक्तियाँ त्रासदी के कथानक को गंभीर, रोचक तथा महत्वपूर्ण मोड़ देती हैं किंतु अरस्तू सावधान करते हैं कि इनकी **योजना कथानक के सहज तथा अभिन्न अंग के रूप में ही होनी चाहिए।**

(घ) **कथानक का आयाम** - अरस्तू मानते हैं कि दर्शक पर त्रासदी के समुचित प्रभाव के लिए उसका एक सुनिश्चित आयाम होना जरूरी है। यदि यह आयाम बहुत विस्तृत हुआ तो दर्शक उसे समुचित रूप से आत्मसात नहीं कर पाएगा और यदि यह सूक्ष्म हुआ तो दर्शक कथानक को ठीक से समझ नहीं पाएगा। इसलिए उसका आकार इतना होना चाहिए **जिसे दृष्टि एक साथ समग्र रूप में ग्रहण कर सकें** और उसे स्मरण रखना आसान हो। उसमें इतना अवकाश होना चाहिए कि **उसमें घटनाओं का चक्र एक बार पूरी तरह घूम सके** और पात्रों के जीवन की दुर्भाग्य या सौभाग्यमय परिणति दिखलाई जा सके। मगर उसमें इतना विस्तार न आ जाए कि घटनाओं की अन्विति में बाधा पड़े और त्रासदी के समग्र समन्वित प्रभाव की हानि हो।

(ङ) **कथानक की संरचना के अनिवार्य गुण** - एक आदर्श कथानक में कुछ गुण अनिवार्य रूप से होने चाहिए। ये गुण हैं :

1. **अन्विति** - कथानक के आयाम के संदर्भ में अन्विति की भी चर्चा हुई है। अन्विति का अर्थ है कि **कथानक के विभिन्न अंग परस्पर सुसंबद्ध हों और एक ही लक्ष्य की ओर अग्रसर हों।** जीवन में विशृंखलता और असंतुलन हो सकते हैं मगर नाटक को **सुसंगत और सुसंबद्ध** होना चाहिए। एक अविभाजित इकाई होने के लिए उसे कई स्तर पर अन्विति के नियमों का पालन करना चाहिए। उसका कार्य व्यापार बहुत दूर-दूर के स्थानों तक न फैला हो और सारा कार्य सूर्य की एक परिक्रमा (एक दिन) या इससे कुछ अधिक समय तक सीमित रखने का प्रयत्न किया जाना चाहिए। इस प्रकार स्थान और समय की अन्विति की आगे चलकर काफी चर्चा हुई किंतु अरस्तू ने इनकी विशेष चर्चा नहीं की। उनका पूरा बल कार्य और प्रभाव की अन्विति पर था जिसका उल्लेख इस अनुच्छेद के आरंभ में हुआ है।

2. **पूर्णता** - कथानक पूर्ण होना चाहिए। अर्थात् **उसमें आदि, मध्य और अंत सुसंबद्ध तरीके से नियोजित हों।** कथानक का आदि ऐसा होना चाहिए जो कथा का परिचय देते हुए उसके भावी विकास के लिए उत्सुकता जगाए, मध्य अब तक घटी घटनाओं का परिणाम दिखलाए और भावी घटनाओं के लिए भूमि तैयार करे और अंतिम भाग ऐसा हो जिसमें संपूर्ण घटनाक्रम का समाहार हो जाए, आगे के लिए कोई कौतूहल बाकी न रहे।

3. **संभाव्यता** - कथानक में केवल आवश्यक तथा संभाव्य प्रसंगों का ही चित्रण होना चाहिए। **संभाव्यता का अर्थ है, जो घटनाएँ वास्तविक जीवन में चाहे न घटित हुई हों, स्थितियों को देखते हुए उनका घटना संभव अवश्य हो** ताकि कथा की विश्वसनीयता बनी रहे और उसका प्रभाव बाधित न हो। अतिप्राकृत, अविश्वसनीय, कपोलकल्पित और अनावश्यक प्रसंगो को भर देने से त्रासदी की गंभीरता और गरिमा खंडित होती है। त्रासदी के पात्र तथा प्रसंग, दोनों ही संभाव्य तथा विश्वसनीय होने चाहिए।

4. **सहज विकास** - कथानक को **सहज तथा विश्वसनीय ढंग से आगे बढ़ना चाहिए, उसकी घटनाओं के बीच** सहज कार्य-कारण संबंध होना चाहिए, **और उसमें** कुतूहल **तथा विस्मयजनक घटनाएँ भी ऐसी होनी चाहिए कि व** अनपेक्षित या अविश्वसनीय **प्रतीत न हों। उन्हें कथानक के** स्वाभाविक अंग के रूप में आना चाहिए।

5. **करुणा तथ त्रास की योजना** - इन तमाम बातों के साथ ही त्रासदी की प्रधान **विशेषता है** उसमें करुणा और त्रास की योजना। कथानक का जो अंश इन भावों **को उद्‌बुद्ध करता है,** वही त्रासदी का सबसे प्रमुख अंश होता है। ये भाव प्रायः तब **जागते हैं जब** त्रासदी में प्रधान पात्र का अपकर्ष दिखलाया जाता है। यह आवश्यक **नहीं कि यह** अपकर्ष या इससे उत्पन्न करुणा तथा त्रास के भाव ही त्रासदी की अंतिम **परिणति हों। वह सुखांत भी हो सकती है किंतु त्रासदी होने की शर्त यह है कि करुणा तथा त्रास के भाव उसमें अधिक तीव्र तथा अधिक व्यापक हों।** ये भाव ही विरेचन के माध्यम से श्रोता/पाठक/दर्शक में आनंद उत्पन्न करते हैं।

विरेचन की चर्चा हम बाद में विस्तार से करेंगे। आइए, अब हम त्रासदी के अगले अनिवार्य तत्व - चरित्र चित्रण पर एक दृष्टि डालें।

(ii) चरित्र चित्रण - आपने देखा कि अरस्तू ने त्रासदी के तत्वों में सबसे अधिक महत्व कथानक और कार्य-व्यापार को दिया है। कार्य-व्यापार का निष्पादन चूँकि चरित्रों के द्वारा होता है इसलिए **कथानक के बाद चरित्र ही उनकी दृष्टि में सबसे महत्वपूर्ण है।** वे मानते है कि त्रासदी के पात्रों का अपना विशिष्ट व्यक्तित्व होता है, किंतु उनका **चरित्रांकन त्रासदी के समग्र कथ्य के अनुरूप होना चाहिए।** इसके अतिरिक्त उनके माध्यम से त्रासदी का नैतिक प्रयोजन भी अभिव्यक्त होना चाहिए। अरस्तू **चरित्रों के यथार्थ अंकन** पर भी बल देते हैं। ऐतिहासिक पात्रों का जहाँ चित्रण हो, वह उनके इतिहास प्रसिद्ध रूप से बहुत भिन्न न हो। अन्य चरित्रों के अंकन में भी संभाव्यता का पूरा ध्यान रखा जाना चाहिए। **चरित्रांकन में औचित्य तथा एकरूपता या अन्विति का भी ध्यान रखा जाना चाहिए।** गतिशील चरित्रों में जो परिवर्तन दिखलाए जाएँ वे असंगत या अस्वाभाविक न हों। वस्तुतः चरित्रांकन के लिए अरस्तू ने कुछ आधारभूत सिद्धांतों पर बल दिया है। वे इस प्रकार है :

- **चरित्र भद्र होना चाहिए और उनके माध्यम से नैतिक उद्देश्य की अभिव्यक्ति होनी चाहिए।** प्रत्यक्ष रूप से कथन के माध्यम से और अप्रत्यक्ष रूप से कार्य-व्यापार के माध्यम से उसकी अभिव्यक्ति हो सकती है।

- **चरित्रों के अंकन में औचित्य तथा एकरूपता या अन्विति का भी ध्यान रखा जाना चाहिए।** औचित्य या अन्विति का अर्थ है, किसी चरित्र में विसंगत या परस्पर विरोधी विशेषताएँ नहीं दिखाई जानी चाहिए। उसकी विशेषताएँ स्थिति तथा प्रकृति के ही अनुरूप हों।

- **चरित्रों में स्वाभाविकता तथा संभाव्यता होनी चाहिए,** अर्थात् जीवन के यथार्थ से उनका मेल हो। गतिशील चरित्रों में दिखाए जाने वाले परिवर्तन भी असंगत या यथार्थ विरोधी न हों।

- इसी से यह बात जुड़ी है कि **चरित्रों में आए परिवर्तन उनकी मूल प्रकृति के अनुरूप तथा स्वाभाविक हों।**

- चरित्रांकन में अरस्तू ने चित्रांकन को अपना आदर्श माना। उनका कहना था कि जिस प्रकार चित्रकार बाह्य जगत को अपने विषय के तौर पर लेते हुए भी उसे अधिक सुंदर रूप में प्रस्तुत करता है, उसी प्रकार रचनाकार को भी **स्वाभाविकता तथा यथार्थ की रक्षा करते हुए भी चरित्रों को अधिक सुंदर तथा परिष्कृत रूप में प्रस्तुत करना चाहिए।**

त्रासदी का नायक - नायक त्रासदी का केंद्र होता है। त्रासदी की सभी घटनाओं तथा कार्यों का संबंध प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से नायक से ही होता है और वही नाटक की अन्विति का सूत्र होता है। उसी के माध्यम से त्रासदी में करुणा तथा त्रास के भाव उद्बुद्ध होते हैं। प्रश्न उठता है कि त्रासदी का नायक कैसा होना चाहिए?

1. नायक को सर्वथा निर्दोष, नितांत सज्जन व्यक्ति नहीं होना चाहिए क्योंकि ऐसे व्यक्ति का अपकर्ष दर्शकों को आघात पहुँचाता है, उनमें करुणा तथा त्रास के स्थान पर हताशा तथा आदर्श के प्रति अनास्था के भाव जगाता है।

2. वह खलपात्र भी नहीं होना चाहिए क्योंकि ऐसे व्यक्ति का पतन करुणा अथवा त्रास पैदा नहीं करता वरन् दर्शक की न्याय भावना को पुष्ट करता है।

3. अरस्तू के अनुसार त्रासदी के **नायक को कुलीन, अत्यंत वैभवशाली, यशस्वी, समृद्ध तथा प्रभावशाली होना चाहिए** ताकि उसका अपकर्ष वृहत्तर समाज को भी प्रभावित करे। इस तरह, त्रासदी का नायक **अत्यंत महान या परम दुष्ट न होकर सामान्य मानवों जैसा होना चाहिए जिसके चरित्र में अच्छाई के साथ कमजोरियाँ भी होती हैं। किंतु मूल रूप से उसे सज्जन ही होना चाहिए!** उसकी कमजोरियाँ या कमियाँ ही उसकी विपत्तियों का कारण बनती है किंतु मूलतः सज्जन होने के कारण वह पाठकों/दर्शकों से तिरस्कार के स्थान पर सहानुभूति अर्जित करता है और उसकी दुर्दशा उनमें करुणा तथा त्रास जगाती है।

(iii) विचार - अरस्तू ने विचार के अंतर्गत केवल बुद्धितत्व ही नहीं बल्कि भावतत्व को भी समेटा है। बुद्धि के स्तर पर विचार सामान्य सत्य की व्यंजना करने का माध्यम होता है। अर्थात्, वह सामान्य सत्य का संकेत करता है, साथ ही प्रमाणों तथा तर्क द्वारा यह किसी वस्तु के भाव (होने) या अभाव (न होने) को भी सिद्ध करता है। भाव के स्तर पर यह करुणा, त्रास, क्रोध आदि की व्यंजना करता है और उनका मूल्यांकन भी। इसके अंतर्गत चिंतन भी आ जाता है और तर्क भी। इसका साधन वाणी या भाषा है और विचारों को व्यक्त करने वाली भाषा भी विशिष्ट होनी चाहिए।

(iv) पदविन्यास - अरस्तू के युग में वक्तृत्व कला इतनी महत्वपूर्ण मानी जाती थी कि इसका विकास एक शास्त्र के रूप में हो गया था। इसी से आप समझ सकते हैं कि वाणी या भाषा और उसके विन्यास को उस युग में कितना महत्व प्राप्त था। त्रासदी में जो विचार तत्व निहित होता था उसे अभिव्यक्त करने का माध्यम भी भाषा ही है।

अरस्तू के अनुसार **पदविन्यास का अर्थ था शब्दों द्वारा अर्थ की अभिव्यक्ति।** जिस प्रकार त्रासदी के कथानक और चरित्र यथार्थ जगत से उठाए जाकर भी यथार्थ की अपेक्षा कुछ विशिष्ट होते हैं उसी प्रकार उसकी भाषा **मूलतः प्रचलित भाषा होते हुए भी विशिष्ट होती है ताकि वह त्रासदी के विचारतत्व में निहित सत्य को अभिव्यक्त कर सके।** वह भाषा **अलंकृत होनी चाहिए**, अर्थात् उसमें **'लय, सामंजस्य और गीत का समावेश'** हो। वह **प्रसाद गुण संपन्न, प्रसन्न, समृद्ध और उदात्त** होनी चाहिए। उदात्तता से अरस्तू का आशय है कि त्रासदी की भाषा **चलती हुई क्षुद्र भाषा** न हो। उसमें त्रासदी के विषय के अनुरूप गरिमा हो। किंतु यहीं वे इस बात पर भी बल देते हैं क **भव्यता, उदात्तता या गरिमा का अर्थ वागाडंबर नहीं होता।** अनेक स्रोतों से औचित्य तथा आवश्यकता के अनुरूप शब्द ग्रहण करने के कारण भी वह भाषा समृद्ध होती है।

अरस्तू त्रासदी के लिए **छंदोबद्ध भाषा या पद्य को अधिक उपयुक्त** मानते हैं, हालाँकि गद्य का भी वे विरोध नहीं करते। गीत को भी वे त्रासदी का अभिन्न अंग मानते हैं। उनके समय में त्रासदी में वृंदगान (कोरस) की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण होती थी और वृंदगान की आवश्यकता पर भी उन्होंने विशेष बल दिया।

(v) दृश्य-विधान - त्रासदी के कार्य-व्यवहार का सचालन यदि चरित्रों के माध्यम से होता है तो उसकी प्रस्तुति दृश्य-विधान के माध्यम से। दृश्य-विधान का अर्थ है **रंगमंचीय साधनों** का प्रयोग। अरस्तू

मानते थे कि इन साधनों के कुशल प्रयोग से त्रासदी के प्रभाव को सघन करने में सहायता मिलती है, किंतु इसे उन्होंने **त्रासदी का अनिवार्य या** महत्वपूर्ण अंग नहीं माना। इस पर उन्होंने बहुत अधिक विचार भी नहीं किया। इसके दो कारण हैं। एक तो, दृश्य-विधान रंगमंच से जुड़ा है, रचना के लेखन से नहीं। यह मुख्य रूप से मचशिल्पी का काम है। त्रासदीकार का इससे उतना अधिक संबंध नहीं है। दूसरा कारण यह है कि अरस्तू के अनुसार त्रासदी की प्रभावात्मकता मात्र उसकी अभिनेयता में न होकर काव्यात्मकता में भी निहित होती है।

(vi) गीत - पद विन्यास के संदर्भ में भी उल्लेख हो चुका है कि अरस्तू गीत को त्रासदी का अनिवार्य अंग मानते हैं। ग्रीक नाटकों में गायकों का समूह होता था जो 'कोरस' कहलाता था। ग्रीक नाटकों में वृंदगान (समूह गान) करने वाले इस 'कोरस' की महत्वपूर्ण भूमिका होती थी। कोरस अपने गीतों के माध्यम से पूर्वघटित स्थितियों और घटनाओं का परिचय देता और उन पर टिप्पणी करता था, आगे आने वाली घटनाओं नाटक की कथा के रिक्त स्थानों की पूर्ति करता था। जो घटनाएँ दृश्य रूप में प्रस्तुत नहीं की जाती थीं, कोरस उनकी सूचना देकर कथा को आगे बढ़ाता था। अरस्तू मानते थे कि नाटक में वृंदगान का महत्व किसी पात्र से कम नहीं है। वह नाटक में आनंद तथा गंभीरता की सृष्टि करता है और उसके प्रभाव की वृद्धि करता है।

11.5.2 त्रासदी का महत्व

अरस्तू ने सभी विधाओं में त्रासदी को सर्वोच्च स्थान दिया है। कामदी, महाकाव्य आदि अन्य विधाओं पर बातचीत में भी उन्होंने त्रासदी को ही संदर्भ बनाया है।

त्रासदी की भाँति ही कामदी भी एक नाट्य विधा है किंतु **वह जिस यथार्थ का चित्रण करती है वह सामान्य से नीचे दर्जे का होता है।** अतः यह अपेक्षाकृत हल्की विधा है। पिछले विवेचन में हम देख चुके हैं कि त्रासदी का विषय भी वस्तु जगत से ही लिया जाता है किंतु वह उस जगत के श्रेष्ठतर रूप का चित्रण करता है।

पहले महाकाव्य को त्रासदा से श्रेष्ठ माना जाता था क्योंकि महाकाव्य केवल काव्य के माध्यम से अपना पूर्ण प्रभाव छोड़ सकता है जबकि नाटक/त्रासदी में पूरा प्रभाव डालने के लिए काव्य के अतिरिक्त अभिनय, संगीत तथा मंच आदि का भी सहारा लेना पड़ता है। अरस्तू ने इस बात का खंडन करते हुए कहा कि **त्रासदी मात्र अभिनेय ही नहीं पाठ्य भी होती है।** उसे रंगमंच पर ही प्रस्तुत करना जरूरी नहीं है। महाकाव्य की भाँति उसके पाठ से भी आनंद उठाया जा सकता है। संगीत तथा अभिनय उसके अतिरिक्त सहायक की भाँति हैं जो उसके आनंद को और बढ़ा देते हैं।

अरस्तू ने त्रासदी को महाकाव्य से श्रेष्ठ माना। इसका एक आधार यह था कि महाकाव्य का फलक बहुत विस्तृत होता है और उसकी कथा में अनेक प्रासंगिक कथाएँ गुँथी रहती हैं। इसलिए उसकी कथा और प्रभाव में बिखराव आ जाता है। इसके विपरीत त्रासदी का कथापट संक्षिप्त तथा सुगठित होता है। महाकाव्य की अनेक आधिकारिक-प्रासंगिक कथाओं में से कोई एक भी त्रासदी का विषय बन सकती है। **इसलिए त्रासदी में महाकाव्य की अपेक्षा अधिक सुगठन तथा अन्विति दिखाई देती है।** इसलिए उसका **प्रभाव भी अधिक** सघन होता है।

अरस्तू त्रासदी को इसलिए भी बहुत महत्वपूर्ण मानते हैं कि यह हमारे त्रासदायक मनोभावों को उकसाकर उनका विरेचन कर देती है। जिससे हमारा उद्वेग दूर हो जाता है और हमारे मनोभावों में संतुलन आ जाता है। त्रासदी में करुणा तथ त्रासदायक भावों को इतने तीव्र तथ आतंककारी रूप में चित्रित किया जाता है कि हमारे हृदय की गहराई में दबे हुए मनोवेगों को भी वे उत्तेजित कर देते हैं। सदगुणी नायक की किसी एक चारित्रिक त्रुटि या चूक के कारण उस पर आने वाली विपत्ति हममें भी त्रास जगाती है। त्रासदी के पात्रों के बहाने हमारे अपने मन में उद्वेग उभर कर शांत हो जाते हैं। यह कला का प्रभाव है कि दुखद स्थिति भी हमारे आनंद का कारण बन जाती है! यह प्रक्रिया विरेचन **(Catharsis)** कहलाती हैं। इस पर अगले भाग में विचार किया जा रहा है।

11.6 विरेचन सिद्धांत

'विरेचन' शब्द का उल्लेख पिछले अनुभागों में बार-बार हो चुका है। यह उल्लेख भी हो चुका है कि अरस्तू त्रासदी को सबसे श्रेष्ठ विधा मानते थे और इसकी श्रेष्ठता के कारणों में एक प्रमुख कारण यह

है कि यह दर्शकों के मन में करुणा तथा त्रास की भावनाओं को उकसाकर उनका विरेचन कर देती है। इससे दर्शक के उद्वेग शांत हो जाते हैं और उसके मनोभावों में संतुलन आ जाता है। यह स्थिति आनंददायक होती है। इसीलिए माना गया है कि त्रासदी त्रास से पूर्ण होने के बावजूद अंतिम परिणति में आनंद ही प्रदान करती है। इस विरोधाभास को समझने के लिए आपको पहले विरेचन की संकल्पना को समझना होगा।

11.6.1 'विरेचन' शब्द का प्रयोग

ग्रीक भाषा का 'कैथार्सिस' (Catharsis) शब्द मूलतः चिकित्साशास्त्र का शब्द है और उसका बहु-प्रचलित हिंदी अनुवाद 'विरेचन' भी वैद्यक से जुड़ा है। इसका अर्थ है उपयुक्त औषधि के प्रयोग द्वारा शरीर को विकारों या अस्वास्थ्यकर तत्वों से मुक्त करके राहत प्रदान करना। उदाहरण के लिए कब्ज़ की चिकित्सा भी विरेचन के अंतर्गत आती है। परंपरा से वैद्यकी करने वाले परिवार में जन्म लेने के कारण अरस्तू इस शब्द और इसके सटीक अर्थ से भली-भाँति परिचित रहे होंगे। काव्यशास्त्र के संदर्भ में इस शब्द का प्रयोग सबसे पहले उन्होंने ही किया है।

इस शब्द से उनका ठीक-ठीक आशय क्या था, इसकी अलग से स्पष्ट व्याख्या आज उपलब्ध नहीं है। हालाँकि एक स्थान पर उन्होंने कहा है कि काव्य का विवेचन करते समय वे इस अवधारणा का प्रतिपादन कर चुके हैं, पर वे पृष्ठ आज संभवतः नष्ट हो चुके हैं। आज उनके विवेचन में विरेचन का उल्लेख दो स्थानों पर मिलता है। एक उल्लेख त्रासदी की परिभाषा में, और दूसरा उल्लेख 'राजनीति' से संबद्ध ग्रंथ में संगीत के प्रभाव के संबंध में।

त्रासदी की परिभाषा में आप देख चुके हैं कि अरस्तू ने करुणा तथा त्रास के उद्रेक द्वारा इन मनोविकारों के उचित विरेचन को त्रासदी का प्रकार्य माना था। त्रासदी के तमाम विवेचन में इसकी व्याख्या या इससे संबद्ध और कोई बात नहीं मिलती है। इस स्थिति में अनुकरण की ही भाँति विरेचन की अवधारणा की भी भिन्न-भिन्न विचारकों ने अपने-अपने नज़रिये से व्याख्या की है। इसकी चर्चा अगले अनुभाग में होगी।

त्रासदी के संदर्भ में विरेचन का केवल नामोल्लेख है किंतु संगीत के संदर्भ में बात इससे कुछ अधिक स्पष्ट हुई है और उसीसे सूत्र लेकर विद्वानों ने इस संकल्पना को समझने-समझाने की कोशिश की है। अरस्तू का कहना है कि करुणा तथा त्रास अथवा आवेश कुछ व्यक्तियों में बड़े प्रबल होते हैं, किंतु देखा जाता है कि धार्मिक रागों के प्रभाव से वे शांत हो जाते हैं 'मानो उनके आवेश का शमन और विरेचन हो गया हो' (अरस्तू का काव्यशास्त्र : डॉ. नगेंद्र)। इसका अर्थ हुआ कि जिनका मन त्रासदायक भावों के कारण उद्विग्न हो, वे संगीत सुनकर शांत हो जाते है, उनके आवेग का उफान बैठ जाता है। इस शमन अर्थात् शांत, हो जाने की स्थिति के साथ ही अरस्तू ने 'विरेचन' शब्द का भी प्रयोग किया है। चिकित्साशास्त्र के इस शब्द के इस लाक्षणिक प्रयोग से उनका आशय प्रतीत होता है कि जिस प्रकार रेचक औषधि के प्रभाव से शरीर के अस्वास्थ्यकर तत्व दूर हो जाते हैं और व्यक्ति राहत महसूस करता है, उसी प्रकार धार्मिक रागों को सुनकर व्यक्ति के मन के विकार दूर हो जाते हैं और वह शांति का अनुभव करता है।

यह अनुमान इस बात से भी पुष्ट होता है कि अरस्तू ने करुणा और त्रास से आविष्ट व्यक्तियों के 'एक प्रकार की शुद्धि का अनुभव' (अरस्तू का काव्यशास्त्र) करने की बात कही है। इस शुद्धि की भावना को रेचक औषधियों द्वारा शरीर की 'शुद्धि' या विकारमुक्ति के संदर्भ में रखकर देखा जा सकता है।

संगीत के संदर्भ में अरस्तू के मत को देखते हुए यह मानना संगत होगा कि त्रासदी के संदर्भ में भी उन्होंने विरेचन का इसी अर्थ में प्रयोग किया होगा। अर्थात, त्रासदी भी दर्शक/पाठक के मन में उमड़ते करुणा तथा त्रास के भावों का शमन कर देती है और उन्हें इन विकारों से मुक्त कर देती है। इस विषय में परवर्ती साहित्यशास्त्र में लंबा विचार-विमर्श चला है। आगे हम उसपर एक संक्षिप्त नज़र डालेंगे।

11.6.2 विरेचन सिद्धांत : विविध व्याख्याएँ

यह प्रश्न आपके मन में उठ सकता है कि त्रासदी में तो वैसे ही त्रासकर भावों की योजना होती है। वह भला दर्शक/पाठक के अंतर में स्थित त्रास का शमन अथवा विरेचन कैसे कर सकती है? विद्वानों ने इस बात का उत्तर भी विरेचन सिद्धांत की व्याख्या के माध्यम से देने की चेष्टा की है। परवर्ती साहित्यशास्त्र में इस विषय से संबद्ध चार प्रकार की व्याख्याएँ मिलती हैं - (i) धर्मपरक,

(ii) नीतिपरक, (iii) सौंदर्यपरक, और (iv) संरचनापरक। आइए, इन विविध व्याख्याओं पर विचार करते हुए हम विरेचन का अर्थ और प्रकार्य समझने की कोशिश करें।

(i) धर्मपरक व्याख्या - यह विरेचन की सर्वप्रथम व्याख्या है और इसके सूत्र अरस्तू के धार्मिक रागों से संबद्ध कथन से उठाए गए हैं। इस कथन का उल्लेख पिछले अनुभाग में हो चुका है। यहाँ हम उसी पर कुछ विस्तार से बात करेंगे।

आप पिछले अनुभाग के उस अंश पर फिर से दृष्टि डालें जिसमें धार्मिक रागों के प्रभाव के विषय में अरस्तू के मत का उल्लेख हुआ है। उन्होंने ध्यान दिलाया है कि कुछ लोगों में करुणा और त्रास का आवेश बहुत प्रबल होता है किंतु धार्मिक रागों के प्रभाव से वे शांत हो जाते हैं मानों उनके आवेश का शमन और विरेचन हो गया हो।

इसके अतिरिक्त अरस्तू ने एक और धार्मिक प्रक्रिया का उल्लेख किया है। आप जानते हैं कि धार्मिक आवेश में कुछ लोग 'हाल' की स्थिति में आ जाते हैं, अर्थात् उनका आवेश उन्माद की-सी स्थिति में पहुँच जाता है जहाँ उन्हें अपनी या संसार की सुध-बुध नहीं रहती। अरस्तू ने ध्यान दिलाया है कि यूनान में ऐसे व्यक्तियों को उद्दाम संगीत सुनाया जाता था जिससे उनके आवेश का शमन हो जाता था।

ये दोनों ही स्थितियाँ ऐसी हैं जहाँ बाह्य - अर्थात् संगीत के प्रभाव से व्यक्ति के आंतरिक उद्वेग या आवेश को शांत करने की चेष्टा की जाती थी। अरस्तू के मतानुसार यह शांति विरेचन के माध्यम से होती है। प्रो. गिलबर्ट मरे जैसे कुछ विद्वानों ने माना है कि त्रासदी के संदर्भ में भी विरेचन से अरस्तू का यही तात्पर्य था, अर्थात् दर्शकों के मन में करुणा तथा त्रास की भावनाएँ पहले से ही होती हैं। उद्दाम संगीत की ही भाँति त्रासदी की उद्वेगकर स्थितियाँ भी दर्शक/पाठक के अंतर में निहित इन भावों को उत्तेजित करके फिर शांत कर देती हैं और मन को संतुलन की अवस्था में ले आती है।

अरस्तू के मत की धर्मपरक व्याख्या के पीछे दो मुख्य कारण है :

- अरस्तू द्वारा 'विरेचन' शब्द का प्रयोग इन्हीं दो संदर्भों में मिलता है - त्रासदी तथा धार्मिक संगीत।
- त्रासदी तथा धार्मिक परंपरा का संबंध बहुत पुराना है। आप इस इकाई में पहले ही पढ़ चुके हैं कि यूरोप में नाटक का जन्म धार्मिक या अर्धधार्मिक उत्सवों से ही हुआ था।

इस व्याख्या की आलोचना में यह कहा जाता है कि त्रासदी के दर्शकों/पाठकों तथा धार्मिक संगीत के श्रोताओं में एक मौलिक अंतर होता है। धार्मिक राग के श्रोताओं पर करुणा और त्रास का आवेश पहले से ही छाया रहता है या फिर वे 'हाल' की स्थिति में रहते हैं। अर्थात् राग सुनना आरंभ करते समय उनकी मनस्थिति सामान्य नहीं होती। किंतु, त्रासदी के दर्शक/पाठक इए प्रकार आविष्ट स्थिति में नहीं होते। अतः दोनों को एक श्रेणी में रखना और इस आधार पर त्रासदी में विरेचन की व्याख्या करना उचित नहीं है।

इस आलोचना में कुछ तथ्य है। किंतु आप ध्यान दें, अरस्तू ने संगीत तथा त्रासदी, दोनों ही सदंर्भो में करुणा तथा त्रास की भावनाओं तथा चर्चाधीन विधा द्वारा उनके विरेचन का उल्लेख किया है। अतः इन्हें बिल्कुल असंबद्ध नहीं माना जा सकता और विरेचन की धर्मपरक, व्याख्या में कुछ सार अवश्य है।

(ii) नीतिपरक व्याख्या - विरेचन की नीतिपरक व्याख्या इसे मनोविकारों से जोड़कर देखती है। जर्मन विद्वान बारनेज़ ने इस व्याख्या का प्रतिपादन करते हुए माना कि मानव के मन में अनेक मनोविकार होते हैं। इनमें से करुणा और त्रास बड़े प्रबल और दुखदायी होते हैं। मानव यदि इनका निरंतर दमन करता रहे तो ये ग्रंथि बनकर उसे मानसिक रूप से अस्वस्थ कर देते हैं। किंतु जीवन में इनकी खुलकर अभिव्यक्ति करने का अवसर उसे नहीं मिलता। त्रासदी में परिस्थितियों की ऐसी योजना होती है जिनमें ये मनोवेग बड़े अतिरंजित रूप में प्रस्तुत किए जाते हैं। दर्शक/पाठक उन दृश्यों का भावन करते समय स्वयं को भी उन्हीं स्थितियों से गुजरता हुआ महसूस करता है और उसके मन में करुणा तथा त्रास के भाव तीव्र हो उठते हैं। यहाँ उसे उन्हें छुपाकर या दमित करके रखने की आवश्यकता नहीं होती। तीव्र उद्वेलन के बाद ये भाव शमित हो जाते हैं, उसे मन में शांति और विशदता का अनुभव होता है, और साथ ही मनोविकारों के शांत हो जाने के कारण आत्मिक शुद्धि का भी। उसका मन सहजता तथा संतुलन पा लेता है। अर्थात त्रासदी के प्रभाव से पहले उसके मन में घुमड़ते दुखद भाव उत्तेजित हो उठते हैं और फिर यह उफान शांत होकर मानसिक विशदता, शुद्धि और संतुलन में बदल जाता है। यही प्रक्रिया विरेचन है। चिकित्साशास्त्र में रेचक औषधियों के प्रयोग द्वारा जो विरेचन होता है वह शरीर के

विकारों को शांत करके शरीर को स्वास्थ्य प्रदान करता है। उसी प्रकार त्रासदी मानसिक स्तर पर विकारों का विरेचन करके दर्शक/पाठक को मानसिक स्वास्थ्य तथा संतुलन प्रदान करती है।

यदि आपने फ्रॉयड द्वारा प्रतिपादित मनोविश्लेषण पद्धति का अध्ययन किया है तो आप समझ जाएँगे कि बारनेज़ की यह व्याख्या फ्रॉयड के सिद्धांत से मेल खाती है। फ्रॉयड का मत था कि व्यक्ति की दमित इच्छाएँ उसके अवचेतन में ग्रंथियाँ बन जाती हैं और मनोरोगों को जन्म देती हैं। विशिष्ट मनोवैज्ञानिक उपचार द्वारा वह इन ग्रंथियों से मुक्त होकर स्वस्थ और संतुलित हो जाता है। हम मान सकते हैं कि बारनेज़ व्यक्ति के मानस पर त्रासदी के प्रभाव को मनोचिकित्सा के प्रभाव की ही श्रेणी में रखकर देख रहे थे।

विरेचन की यह व्याख्या भी धर्मपरक व्याख्या से बहुत भिन्न नहीं है। किंतु ध्यान दे कि यह आधुनिक युग में मनोविज्ञान की प्रगति से जुड़ी हुई व्याख्या है। आज हम त्रासदी के प्रभाव को इस संकल्पना से जोड़कर समझें तो संगत लगता है। पर प्रश्न यह है कि क्या अरस्तू भी मनोविज्ञान और मनोविश्लेषणशास्त्र की इन गहराइयों से परिचित थे या हमने आज की संकल्पनाएँ ईसा पूर्व चौथी सदी पर आरोपित कर दी हैं?

धर्मपरक और नीतिपरक व्याख्याएँ विरेचन को दर्शक/पाठक के मनोविज्ञान - मानसिक उद्वेग और उसके शमन से प्राप्त संतुलन - से जोड़कर ही देखती हैं। त्रासदी को कला या साहित्य की एक विधा के रूप में देखते हुए उसमें विरेचन के स्थान या महत्व का विवेचन ये व्याख्याएँ नहीं करतीं। इनके विपरीत कलापरक व्याख्या त्रासदी को केंद्र में रखती हैं।

(iii) सौंदर्यपरक व्याख्या - आप आगे के अध्ययन में देखेंगे कि कला पर बल देने वाले सिद्धांत - रूपवाद, कलावाद आदि - हमेशा कृति को ही अपने विवेचन का केंद्र बनाते हैं, बाह्य तत्वों को नहीं। विरेचन की कलापरक व्याख्या में भी विरेचन को मूलतः प्रेक्षक/पाठक पर पड़ने वाले प्रभाव की दृष्टि से नहीं, बल्कि एक कलागत व्यापार के रूप में देखा गया है। स्वच्छंदतावादी आलोचकों के विवेचन में इस कलापरक व्याख्या के संकेत मिलने लगे थे किंतु इसके प्रमुख प्रतिपादक प्रो. बूचर माने जाते हैं।

आप देख चुके हैं कि पिछली दो व्याख्याओं में विरेचन को वह प्रक्रिया माना गया था जो त्रासदी में आयोजित करुणा तथा त्रास की स्थितियों के माध्यम से दर्शक/पाठक के मन में निहित इन भावों को उद्वेलित करके शांत करती है और उसके मन को स्थिर तथा संतुलित दशा में ले आती है। बूचर ने इस बात का विरोध नहीं किया बल्कि इसे विरेचन की चर्चा का केवल पहला पक्ष माना। डॉ. नगेंद्र के अनुसार उनकी दृष्टि में यह विरेचन प्रक्रिया का अभावात्मक पक्ष है क्योंकि यह करुणा और त्रास का शमन करता है। बूचर के अनुसार 'त्रासदी का कार्य केवल करुणा या त्रास के लिए अभिव्यक्ति का माध्यम प्रस्तुत करना नहीं है, बल्कि इन्हें एक सुनिश्चित कलात्मक परितोष प्रदान करना है। इन्हें कला के माध्यम में ढालकर परिष्कृत तथ स्पष्ट करना है।'

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि बूचर के अनुसार करुणा तथ त्रासदी अभिव्यक्ति विरेचन के कार्य का केवल पूर्व पक्ष है। इसका अधिक महत्वपूर्ण तथा भावात्मक पक्ष है इन भावों को कला के माध्यम में ढालकर परिष्कृत तथा स्पष्ट करना। अर्थात् विरेचन का प्रमुख कार्य कला की सिद्धि से जुड़ा है। भावक पर उसका प्रभाव उसकी भूमिका या अनुषंग मात्र है।

बूचर की स्थापना के दो पक्षों को क्रमशः अभावात्मक तथा भावात्मक की श्रेणी में रखते हुए डॉ. नगेंद्र ने दिखलाया है कि अरस्तू के उपलब्ध विवेचन में तथाकथित भावात्मक पक्ष अर्थात् विरेचन द्वारा कलात्मक आनंद प्राप्त होने का कोई संकेत नहीं मिलता। अतः अपनी ओर से अरस्तू के मत पर यह व्याख्या आरोपित कर देना उचित नहीं होगा।

(iv) संरचनापरक व्याख्या - संरचनावादी साहित्य-दृष्टि का मत है कि साहित्य सिद्धांत हो या किसी कृति की व्यावहारिक समीक्षा इनमें कृति से बाह्य तत्वों का पूरी तरह बहिष्कार होना चाहिए और इन्हें पूरी तरह विधा या कृति की संरचना पर ही केंद्रित रहना चाहिए। विरेचन के संदर्भ में भी इस दृष्टि ने दर्शक/पाठक पर पड़नेवाले प्रभाव को चर्चा के क्षेत्र से बाहर माना है क्योंकि इसका संबंध संरचना से नहीं है। पिछली चर्चाओं में विरेचन को जिस प्रकार शरीरविज्ञान और मनोविज्ञान से जोड़ा गया था, उसे भी इन्होंने नकारा। इनके अनुसार विरेचन पूर्णतः कलापरक अवधारणा है और इसका संबंध त्रासदी की संरचना से है।

अब आप देखें कि प्रसिद्ध विद्वान गोल्डस्टीन ने इसे संरचना से कैसे जोड़ा है। इन्होंने करुणा और आतंक को दर्शकों पर प्रभाव डालने वाले भावों के रूप में नहीं बल्कि त्रासदी की सामग्री के रूप में देखा है। जीवन में ये भाव त्रासदायक हैं किंतु त्रासदी में ये भी ग्राह्य हो जाते हैं, अर्थात् ये दुख के दंश से मुक्त हो जाते हैं। यह कैसे होता है? इनके अनुसार यह विरेचन की प्रक्रिया द्वारा होता है। अर्थात् इनके मत में विरेचन दर्शक के मन को त्रास से मुक्त करने की प्रक्रिया नही है बल्कि त्रासदी के अंदर ही करुणा तथ त्रास के भावों को कष्ट देने की प्रवृत्ति से मुक्त करने की प्रक्रिया है। जैसा अभी-अभी कहा गया, इस मत के अनुसार करुणा तथा त्रास त्रासदी की सामग्री है। त्रासदीकार इस सामग्री में से कुछ अंश छोड़ता है, कुछ अंश चुनता है और उसका रूप-विधान इस प्रकार करता है कि वह कलात्मक सामग्री बन जाती है। जिस प्रकार माली पेड़-पौधों की मनमाने ढंग से बढ़ी शाखाओं की छँटाई (pruning) करके उन्हें एक सुंदर संरचित रूप देता है उसी प्रकार त्रासदीकार भी उपलब्ध सामग्री की काट-छाँट करके उसे 'व्यवस्थित' और 'रूपबद्ध' करता है। अर्थात् त्रासदी की समुचित रूप-रचना के लिए सामग्री का समुचित चयन तथा व्यवस्था आवश्यक होती है। यही प्रक्रिया विरेचन है।

अन्य मतों की चर्चा के दौरान आप देख चुके हैं कि उनके अनुसार विरेचन का अर्थ मूलतः प्रेक्षकों की मानसिक शुद्धि और दंशमुक्ति रहा है। संरचनापरक व्याख्या में विरेचन का अर्थ नाट्य सामग्री की शुद्धि तथा दंशमुक्ति है। यह नाटक की संरचना में सहायक प्रक्रिया है क्योंकि उपयुक्त तथा व्यवस्थित सामग्री प्राप्त होने पर ही उसे उपयुक्त संरचना में ढाला जा सकता है।

इस मत की आलोचना में भी यही कहा जा सकता है कि अरस्तू के कथनों में इस प्रकार त्रासद भावों के अपने आपमें दंशमुक्त हो जाने के बारे में कोई संकेत नहीं मिलता। इसके अतिरिक्त उस युग में दर्शक पर पड़ने वाले प्रभाव को नकारने की प्रवृत्ति नहीं थी। धार्मिक रागों के संदर्भ में अरस्तू ने स्पष्ट ही भोक्ता, अर्थात् संगीत के श्रोता के विकारों के शमन की बात कही थी। यह मानने का कोई कारण नहीं है कि त्रासदी के संदर्भ में उन्होंने श्रोता की भूमिका को परे करके नाट्य सामग्री के विरेचन की बात सोची होगी।

वस्तुतः जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है, अरस्तू द्वारा विरेचन का उल्लेख केवल दो स्थानों पर मिलता है। उनके द्वारा प्रणीत अन्य सामग्री का भी बहुत ही कम अंश आज उपलब्ध है। इसलिए उस सामग्री के आधार पर भी प्रामाणिक तौर पर यह सुनिश्चित नहीं किया जा सकता कि अरस्तू का अभिप्राय वास्तव में क्या था। इसलिए विभिन्न विद्वानों ने अरस्तू के सामान्य दृष्टिकोण को सामने रखते हुए अपने-अपने मत के अनुसार विरेचन के अर्थ की व्याख्या की है। इन तमाम व्याख्याओं को हम अनुमान की श्रेणी में रख सकते हैं, पूर्णतः सिद्ध सत्य की श्रेणी में नहीं। संभव है कि इनमें से कोई एक व्याख्या सत्य हो या सत्य के निकट हो। यह भी संभव है कि इनमें से एक से अधिक व्याख्याओं में सत्य का अंश हो। जो बात तय है, वह यह, कि विरेचन की प्रक्रिया त्रासद स्थितियों को सुखद बना देती है। अगले अनुभाग में हम इसी बात पर एक संक्षिप्त नजर डालेंगे।

11.6.3 त्रासदी का सुखद प्रभाव

विरेचन संबंधी चर्चा से आपके स्पष्ट हो चुका है कि त्रासदी हालाँकि दुखद स्थितियों का चित्रण करती है किंतु उसका अंतिम प्रभाव सुखद होता है। यह आवश्यक भी है क्योंकि मानव स्वभाव से ही दुख से मुक्त रहना और सुख पाना चाहता है। ऐसे में यदि त्रासदी उसपर दुखद प्रभाव डालेगी तो वह उसे देखने जाएगा ही क्यों? व्यावहारिक अनुभव भी दिखलाते हैं कि जीवन में जो स्थितियाँ दुखद होती हैं, साहित्य मे उनकी अभिव्यक्ति भावकों को एक प्रकार का आनंद देती है। आइए, देखें कि त्रासदी में ऐसा क्यों और कैसे होता है और विरेचन की प्रक्रिया का इससे क्या संबंध है।

पहले हम यह समझने की कोशिश करेंगे कि इस संदर्भ में 'सुख' या 'आनंद' से क्या तात्पर्य है। 'भाषण-कला' पर चर्चा करते हुए अरस्तू ने सुख को एक ऐसी गति माना है 'जिसके द्वारा संपूर्ण आत्मा को सचेष्ट रूप से अपने अस्तित्व की प्रकृत अवस्था में लाया जाता है' ('पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परंपरा' : संपा. डॉ. सावित्री सिन्हा)। धार्मिक रागों की चर्चा में अरस्तू ने उनके प्रभाव से 'आवेश के शमन और विरेचन' को 'एक प्रकार की शुद्धि का अनुभव' माना जिससे व्यक्तियों की 'आत्मा विशद और प्रसन्न हो जाती है।' अर्थात् विरेचन के माध्यम से जो सुख मिलता है वह आत्मा की शुद्धि, विशदता और प्रसन्नता का पर्याय है। यह मन की प्रकृत अवस्था है जिसमें वह आवेश या दुख के दंश से मुक्त होकर संतुलित हो जाता है। यह प्रकृत अवस्था वह है जिसमें दुख, द्वंद्व उद्वेग आदि का अभाव है। इसीलिए डॉ. नगेंद्र ने इसे विरेचन का 'अभावात्मक पक्ष' कहा है। अब प्रश्न उठता है कि यह क्यों और कैसे होता है ? प्रो.बूचर ने इसके दो कारण सुझाए हैं -

- पहले कारण को हम भारतीय काव्यशास्त्र की साधारणीकरण की अवधारणा के आलोक में भी देख सकते हैं। त्रासदी में जिस नायक का अपकर्ष दिखाया जाता है वह व्यक्ति होता है किंतु उसके दुख उसके अपने दुख नहीं रह जाते। प्रेक्षक की दृष्टि में करूणा तथा त्रास की वे भावनाएँ व्यक्ति तक सीमित न रहकर साधारणीकृत हो जाती हैं और पूरे प्रेक्षक समुदाय की भावनाएँ बन जाती हैं। प्रेक्षक के अपने व्यक्तिगत दुख और त्रास भी इन सार्वभौम भावनाओं से जा मिलते हैं। उसकी संवेदना 'स्व' की सीमा पार करके 'सर्व' में लय हो जाती है। बूचर के शब्दों में वह अपनी 'अहं-केंद्रिकता' से ऊपर उठ जाता है और अपने दुख उसे तुच्छ प्रतीत होने लगते हैं। यह स्थिति उसके 'मनोवैज्ञानिक तथा नैतिक स्वास्थ्य के लिए उत्तम' होती है। मन की यह उदात्तता और विशदता उसे शांति और संतोष देती है। इस कारण त्रासदी में व्यक्त दुख और त्रास उसके लिए उदात्तता-जनित सुख का कारण बनते हैं।

- बूचर के अनुसार त्रासदी से प्राप्त सुख का दूसरा कारण त्रासदी की कलात्मक प्रक्रिया है। त्रासदी में करुणा तथा त्रास को सामान्य जीवन में उठने वाली भावनाओं की भाँति ज्यों का त्यों प्रस्तुत नहीं किया जाता बल्कि बड़े कलात्मक रूप में सामने लाया जाता है। दर्शक/पाठक पात्रों के दुख की सहानुभूति में दुख का अनुभवन तो करता है किंतु उसकी प्रस्तुति की कलात्मकता उसे चमत्कृत तथा आनंदित कर देती है। अतः त्रासदी से प्राप्त आनंद कला के आस्वाद का आनंद है।

बूचर के इन दो तर्कों के अलावा त्रासदी के आनंद को एक और दृष्टि से भी समझा जा सकता है। त्रासदी में दुख और करुणा की योजना अकारण नहीं होती। इन भावनाओं से आक्रांत होने वाला पात्र हालाँकि दुष्ट या कुटिल नहीं होता किंतु उसकी कोई चारित्रिक त्रुटि या नैतिक चूक ही उसके त्रास का कारण बनती है। इसी इकाई के अनुभाग 11.5.1 में नाटकीय युक्तियों के अंतर्गत अभिज्ञान (अनाग्नोरिसिस) में सोफ़ोक्लीज़ के नाटक 'ईडिपस रेक्स' का उल्लेख हो चुका है जिसमें इडिपस अनजाने में अपने पिता की हत्या करके अपनी माता से ही विवाह कर लेता है और यह भूल उसके लिए अत्यंत त्रासद सिद्ध होती है। प्रेक्षक त्रासदी में इस प्रकार की भूल तथा उसके दुखद परिणाम को देखता है तो उसे अनैतिकता की पराजय और प्रकारांतर से नैतिकता की विजय का संतोष होता है। उसकी वृत्ति **नैतिकता तथा समाज के लिए शुभ एवं मंगलकारी कर्मों की ओर झुकती है। इस शुभ प्रेरणा के कारण त्रासदी दुख के स्थान पर आनंद देती है।**

ये तमाम तर्क अपनी जगह पर और स्वतंत्र रूप से सही हो सकते हैं किंतु अरस्तू के उपलब्ध साहित्य में इनमें से किसी की भी पुष्टि नहीं होती, न विरोध ही होता है। हमें विरेचन के बारे में अरस्तू का कथन सिर्फ दो स्थानों पर मिलता है यह आप देख चुके हैं। त्रासदी के संदर्भ में वे विरेचन को त्रासदी का प्रकार्य मानते हैं और धार्मिक रागों के संदर्भ में मन को शुद्ध और शांत करने वाली प्रक्रिया। इसे त्रासदी से जोड़कर यह माना जा सकता है कि त्रासदी में भी विरेचन का कार्य यही है, अर्थात् मन को शुद्ध करके प्रकृत अवस्था में लाना। इसे दृष्टि में रखते हुए यह संभव है कि इस कथन के माध्यम से अरस्तू, प्लेटो द्वारा काव्य पर लगाए गए आक्षेप का उत्तर दे रहे हों। इस इकाई में बार-बार इस बात का उल्लेख हो चुका है कि प्लेटो गणतंत्र से कवि और काव्य का इस आधार पर बहिष्कार कर देने के पक्ष में थे कि काव्य मानव की क्षुद्र वासनाओं और निम्न स्तर की प्रवृत्तियों को उत्तेजित कर देता है। विरेचन के तत्व का प्रतिपादन करते हुए अरस्तू संभवतः यह दिखलाना चाहते होंगे कि काव्य (त्रासदी) दुखद तथा उद्वेगकारी भावों को उत्तेजित करके उनका शमन कर देता है और फिर विरेचन की प्रक्रिया द्वारा धार्मिक संगीत की ही भाँति चित्त को शांत तथा शुद्ध कर देता है। **इस प्रकार यह समाज के मानसिक स्वास्थ्य को बिगाड़ता नहीं बल्कि बनाता है।**

11.7 सारांश

इस इकाई में आपने पाश्चात्य साहित्यशास्त्र के प्रणेता अरस्तू की कुछ स्थापनाओं पर विचार किया। आपने पढ़ा कि बहुमुखी प्रतिभा के धनी अरस्तू के जीवन तथा लेखन के बारे में काफी जानकारी उपलब्ध है किंतु उनके साहित्य का बहुत बड़ा अंश आज लुप्त हो चुका है। इसलिए उनकी मान्यताओं के सभी पक्षों को समझ पाना तथा उनके बारे में निश्चित तथा निर्विकल्प रूप से कुछ कह पाना संभव नहीं है। उनका महत्व इस बात से समझा जा सकता है कि उनकी उपलब्ध सामग्री अधूरी होने पर भी पाश्चात्य साहित्यशास्त्र का प्रस्थान बिंदु बनी। यही नहीं, उस पर लगातार विचारविमर्श भी होता रहा और उसकी व्याख्या के प्रयत्न भी। इतनी सदियों बाद आधुनिक युग के आलोचक भी इस प्रयास में लगे हुए हैं और अपने विचारों के अनुसार तथा अपने तरीके से अरस्तू की स्थापनाओं की व्याख्या करने की चेष्टा कर रहे हैं।

इस इकाई में हमने अरस्तू के जीवन के सामान्य परिचय के बाद उनकी विचारधारा का अध्ययन किया। उनके गुरु प्लेटो की काव्य संबंधी मान्यताओं आर कवि तथा काव्य के प्रति उनके आक्षेपों का ब्यौरा देकर अरस्तू द्वारा उनके समाधान में दिए गए तर्कों से हमने इसे अध्ययन का आरंभ किया। इसके बाद अरस्तू द्वारा प्रतिपादित काव्य सिद्धांतों के कुछ प्रमुख मुद्दों पर हमने दृष्टि डाली। ये हैं - अनुकरण सिद्धांत, त्रासदी, और विरेचन सिद्धांत।

1. इसके बाद हमने प्लेटो तथा अरस्तू के दृष्टिकोण पर नज़र डालते हुए देखा के अरस्तू भी काव्य को अनुकरण से उत्पन्न मानते हैं पर उनकी अनुकरण संबंधी अवधारणा प्लेटो से भिन्न है। वे अनुकरण को मानव-स्वभाव का अंग मानते हुए उसे मात्र नकल से अलगाकर एक सर्जनात्मक शक्ति मानते हैं। यह शक्ति बाह्य जगत से तथ्यों का संग्रह करके उनमें से आवश्यक तत्व चुनकर काव्य में संयोजित करती है। वह केवल बाहरी तथ्यों तक सीमित न रहकर संभावनाओं तथा आदर्शों को भी काव्य में प्रस्तुत करती है और इस प्रकार श्रोता/पाठक को सतही तथ्य की अपेक्षा सत्य के अधिक निकट पहुँचा देती है। अनुकरण के कारण ही श्रोता/पाठकों को काव्य में प्रत्यभिज्ञानपरक आनंद भी मिलता है।

2. अरस्तू ने काव्य को इतिहास से ऊँचा दर्जा दिया है क्योंकि इतिहास बाह्य जगत की घटनाओं से बँधा हुआ, वस्तुपरक तथा विशेष होता है, जबकि काव्य में अनुभूति तथा विचार का योग होता है, वह संभाव्य तथा आदर्श स्थितियों का अंकन करता है और सार्वभौम होता है। अर्थात वह इतिहास की भाँति बाह्य जगत की स्थितियों से बँधा नहीं होता। अरस्तू ने इस बात की ओर भी ध्यान दिलाया कि काव्य में वर्णित दुःखद स्थितियाँ भी श्रोता/पाठक/दर्शक को आनंद देती है, अर्थात काव्य का आनंद यथार्थ जीवन के आनंद से भिन्न होता है। यह सामान्य अनुकरण के नहीं बल्कि सर्जनात्मक अनुकरण के माध्यम से ही संभव हो सकता है। ये तमाम तथ्य संकेत करते हैं कि अरस्तू की नज़र में अनुकरण मात्र नकल न होकर एक सर्जनात्मक प्रक्रिया रही होगी।

3. इस भाग में हमने अरस्तू के त्रासदी संबंधी विचारों पर दृष्टिपात किया। हमने देखा कि यूनान में त्रासदी की परंपरा अरस्तू के समय के पहले से चली आ रही थी और उनके काल तक यह विधा बहुत समृद्ध हो चुकी थी। इन त्रासदियों के आधार पर ही अरस्तू ने इस विधा के नियम स्थिर किए।

4. अरस्तू ने कथानक को त्रासदी का सबसे महत्वपूर्ण तत्व माना था क्योंकि त्रासदी मूलतः 'कार्य की अनुकृति' है और कार्य-व्यापार कथानक के माध्यम से ही प्रस्तुत होता है। अरस्तू ने कथानक के अनेक पक्षों पर विचार किया है।

5. कथानक की संरचना के कुछ अनिवार्य गुणों की ओर भी अरस्तू ने संकेत किया है। ये हैं - अन्विति, पूर्णता, संभाव्यता, सहज विकास और करुणा तथा त्रास की योजना।

6. इकाई के अंतिम भाग में आपने अरस्तू के विरेचन सिद्धांत का अध्ययन किया। सबसे पहले आपने 'विरेचन' का शब्दार्थ समझने के क्रम में देखा कि यह चिकिसाशास्त्र का शब्द है और इसका प्रयोग रेचक औषधियाँ देकर शरीर को विकारमुक्त और स्वस्थ्य करने के अर्थ में होता है। अरस्तू ने इसका प्रयोग किस अर्थ में किया है इसका स्पष्टीकरण स्वयं उनके शब्दों में नही मिलता क्योंकि उनका बहुत-सा साहित्य लुप्त हो चुका है। इस शब्द का प्रयोग अरस्तू के उपलब्ध साहित्य में दो स्थानों पर मिलता है। एक त्रासदी की परिभाषा में, जहाँ उन्होंने इसे त्रासदी का प्रमुख प्रकार्य मानते हुए इसका नामोल्लेख भर किया है; और दो, धार्मिक रागों के संदर्भ में, जहाँ उन्होंने कहा है कि इन रागों के प्रभाव से श्रोता के मन में उमड़ते करूणा और त्रास के प्रबल भावशांत हो जाते है 'मानो उनके आवेश का शमन और विरेचन हो गया हो। इससे माना जा सकता है कि मनोवैज्ञानिक स्तर पर भी वे 'विरेचन' का अर्थ (त्रासदी या संगीत के प्रभाव से मन की) विकारों से मुक्ति तथा शुद्धि ही मानते थे। इसके बाद आपने विद्वानों द्वारा विरेचन सिद्धांत की प्रमुख व्याख्याओं पर दृष्टिपात किया। भिन्न-भिन्न दृष्टियों से प्रेरित इन व्याख्याओं को धर्मपरक, नीतिपरक, कलापरक और संरचनापरक व्याख्याएँ कहा जा सकता है।

11.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

डॉ. नगेन्द्र **अरस्तू का काव्यशास्त्र**, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

डॉ. राम अवध द्विवेदी, **साहित्य सिद्धांत**, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना।

डॉ. देवेन्द्रनाथ शर्मा, **पाश्चात्य काव्यशास्त्र**, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।

11.9 अभ्यास के लिए प्रश्न

1. प्लेटो तथा अरस्तू की विचारधारा के अंतर को स्पष्ट करते हुए दिखलाएँ कि अरस्तू ने प्लेटो के आक्षेपों का समाधान कैसे किया है?
2. 'अनुकरण' के बारे में प्लेटो तथा अरस्तू की मान्यताओं का अंतर स्पष्ट कीजिए।
3. अरस्तू के अनुकरण सिद्धांत पर प्रकाश डालते हुए उसकी शक्ति और सीमाओं का निरूपण कीजिए।
4. अरस्तू के अनुसार त्रासदी की परिभाषा देते हुए त्रासदी के प्रमुख तत्वों का निरूपण कीजिए।
5. अरस्तू के अनुसार कथानक के महत्व और उसकी विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।
6. अरस्तू के मत में त्रासदी में चरित्रांकन के आधारभूत सिद्धांत क्या हैं। त्रासदी के नायक के चरित्रांकन में वे किन बातों का ध्यान रखना जरूरी मानते हैं?
7. 'विरेचन' से अरस्तू का क्या तात्पर्य है? 'विरेचन' से संबंधित विभिन्न व्याख्याओं का विवरण देते हुए बताइए कि इनमें से कोई व्याख्या सर्वाधिक संगत मानी जा सकती है?
8. अपने आपमें दुखद होते हुए भी त्रासदी प्रेक्षक/पाठक को आनंद कैसे प्रदान करती है, समझाएँ।
9. टिप्पणियाँ लिखे :
   (क) 'मीमेसिस'
   (ख) अरस्तू के अनुसार काव्य तथा इतिहास का अंतर
   (ग) स्थिति विपर्यय
   (घ) अभिज्ञान

इकाई 12 लांजाइनस/लोंगिनुस : उदात्त की अवधारणा

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप

- पाश्चात्य साहित्य-चिंतन के आरंभिक विकास-क्रम में लांजाइनस का युगांतकारी योगदान समझ सकेंगे,
- उदात्त की अवधारणा का व्यापक सौंदर्यशास्त्रीय रूप पहचान सकेंगे,
- अभिव्यक्ति के विभिन्न माध्यमों की एकता और संबद्धता से परिचित हो सकेंगे,
- कला की रचना में सामाजिक जीवन और मानव-व्यक्तित्व की अनिवार्य भूमिका के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपना सकेंगे,
- साहित्य में प्रेरणा और शिक्षा, प्रकृति और कला आदि के संबंधों के प्रश्न को द्वन्द्वात्मक दृष्टि से समझकर अपनी धारणा का विकास कर सकेंगे।

12.1 प्रस्तावना

पूर्व में भारत और पश्चिम में यूनान, संस्कृति और चिंतन के अत्यंत प्राचीन और उन्नत केंद्र रहे हैं। पाश्चात्य काव्यशास्त्र के विकास का विशेष संबंध यूनान से रहा है। प्लेटो और अरस्तू के बाद लांजाइनस/लोंगिनुस ने कला-चिंतन में अपूर्व योगदान किया है। लांजाइनस यूनानी मूल के लेखक थे जो रोम में बस गये थे। उन्होंने पूर्ववर्ती परंपराओं को आलोचनात्मक दृष्टिकोण से आत्मसात करके भावी विकास का द्वार खोला था। प्लेटो के लिए साहित्य 'उत्तेजक' था, अरस्तू के लिए 'विरेचक' था, पर लांजाइनस के लिए 'उदात्त' था। उनकी यह धारणा इतनी युगांतरकारी सिद्ध हुई कि आगे चलकर उसे शास्त्रवाद से जोड़ा गया, स्वच्छंदतावाद से जोड़ा गया, आधुनिकतावाद से जोड़ा गया, यथार्थवाद से भी जोड़ा गया। उसमें निहित विचार-सूत्रों की अनेक संभावनाएँ अब भी शेष हैं। यह निर्विवाद है कि एक स्वतंत्र कला चिंतन की दृष्टि से उसका महत्व असंदिग्ध है और वह समसामयिक साहित्य-चिंतन के लिए भी प्रचुर संकेत और विचार-बिंदु प्रस्तावित कर सकता है।

12.2 लांजाइनस और उनका 'पेरिइप्सुस'

पाश्चात्य साहित्य चिंतन में न तो लांजाइनस के काल को लेकर मतैक्य है, न उनकी कृति के पाठ को लेकर। पुनर्जागरण युग के दौरान 16वीं सदी में जब पहली बार 'पेरिइप्सुस' सामने आयी तब यह मत प्रचलित हुआ कि लांजाइनस शास्त्रवाद से प्रभावित, तीसरी सदी में पालमीरा की महारानी ज़ेनोविया के अति विश्वस्त यूनानी मंत्री थे, जिन्हें बाद में महारानी के लिए मृत्यु का वरण करना पड़ा। 1928 में स्कॉट-जेम्स ने इस मत को पुनर्प्रतिष्ठित करते हुए उन्हें 'पहला स्वच्छंदतावादी आलोचक' बताया और नव-प्लेटोवादी चिंतन-धारा के प्रवर्तक प्लूटिनस का आठ वर्ष छोटा सहयोगी सिद्ध किया। उनसे पहले 1899 में प्रो. रीज़ रॉबर्टस अपने विशद अनुसंधान से यह प्रमाणित कर चुके थे कि 'पेरिइप्सुस' के रचयिता तीसरी सदी के केसियस लांगिनुस नहीं, पहली सदी के दिओनीसिडस लांगिनुस थे। आगे चलकर सौंदर्य-दर्शन के विद्वान ई.एफ. कैरिट, प्राचीन साहित्य-सिद्धान्तों के शोधकर्ता एटकिंस और नव्य समीक्षक बिलियम-क्लींथ ब्रुक्स ने भी इसी मत को स्वीकार किया। हिंदी में 'पेरिइप्सुस' का दूसरा, किंतु अधिक प्रामाणिक अनुवाद 'उदात्त के विषय में' नाम से प्रस्तुत करते हुए प्रो. निर्मला जैन ने भी 'ईसा की पहली शती में होने वाला लाजाइनस' कहकर यही मत प्रस्तावित किया है।

12.2.1 काल-निर्धारण

लांजाइनस के महत्व में इससे फर्क नहीं पड़ता कि वे पहली सदी के थे या तीसरी, पर वैज्ञानिक अध्ययन के लिए यह समस्या विचारणीय है। रीज़ रॉबर्टस के साक्ष्य पर विमसाट-ब्रुक्स भी यह कहते हैं कि लांजाइनस ने ऑगस्टस के बाद का कोई कवि या वक्ता उद्धृत नहीं किया है। स्पार्टाकस के प्रसिद्ध दास-विद्रोह (74-71 ई.पू.) के बाद लड़खड़ाती गणतंत्र-प्रणाली ई.पूर्व 27 में नष्ट हो गयी, तानाशाह सीज़र ने रोमन-साम्राज्य की स्थापना की, जो पाँच सौ साल, 476 ई. तक चलता रहा। ओक्तावियस ऑगस्टस का पुत्र और पहली सदी का निरंकुश सम्राट था। लांजाइनस साम्राज्य-काल के लेखक थे, यह निर्विवाद है।

यूनान को पहले, फिलिप ने, फिर 'महान' सिकंदर ने और तब रोम ने गुलाम बनाया। सामाजिक-सांस्कृतिक उन्नति और बौद्धिक चिंतन में इस पराधीनता से गिरावट आयी। इस ह्रास से क्षुब्ध होकर लांजाइनस एथेंस से रोम आकर बसे होंगे। परंतु उनमें यूनानियों की विशेषता - स्वतंत्र-चेतना - उत्कर्ष पर थी। उन्होंने जगह-जगह फिलिप और सिकंदर के प्रशंसकों, रोमन वक्ताओं और यूनानी देशद्रोहियों की आलोचना की है, स्वाधीनता के लिए लड़-मरने वाले पूर्वजों को दैवी-अमरता का अधिकारी बताया है। इससे उनके देशप्रेम और स्वाधीनता-प्रेम का पता चलता है। मिस्र, यूनान और रोम की समाज-व्यवस्थाएँ वर्ण और दास प्रथाओं का मिला-जुला रूप थीं। उनकी समाज-व्यवस्थाओं में इस समानता को बराबर रेखांकित किया गया है। रोम ने यूनान की व्यवस्था अपनायी, यूनान ने मिस्र से वर्ण-व्यवस्था ली, यह खुद अरस्तू मानते हैं। चार वर्णों की इस व्यवस्था में तीन वर्ण स्वतंत्र नागरिकों के थे - दार्शनिक, योद्धा, किसान-कारीगर-व्यापारी, जिन्हें चित्तवृत्तियों के आधार पर प्लेटो ज्ञानप्रेमी, आनप्रेमी, धनप्रेमी (रीज़न, स्पिरिट, एपैटाइट) कहते थे। चौथा वर्ण दासों का था जो 'नागरिक' नहीं थे। दास दो तरह के थे - अतिनिर्धन किसान-कारीगर और खरीदे हुए या युद्धबंदी दास। शासन-प्रणाली कैसी भी हो, उसके स्थानीय रूप कितने भी भिन्न हों, पर समाज व्यवस्था तीनों जगह बहुत कुछ एक जैसी चलती रही। उसका रूप था - दासों और दासमालिकों वाली उत्पादन प्रणाली तथा वंशगत पेशों पर आधारित वर्ण-व्यवस्था और दास प्रथा वाली सामाजिक प्रणाली। धनी वर्ग के स्वतंत्र नागरिकों और संपत्तिहीन दासों के बीच तनाव को 'पेरिइप्सुस' में साम्राज्यवादी रोम के पतन का कारण माना गया है। लांजाइनस 'हर प्रकार की दासता को, चाहे वह कितनी भी न्यायसंगत हो, मानव आत्मा के लिए एक पिंजरा, एक कारागार' मानते थे। दूसरी तरफ, धनी वर्ग की पतनशीलता भी खूब पहचानते थे, 'आडंबर, दंभ और विलास' जैसे दुर्गुण 'संपत्ति की जारज संतानें हैं।

ऐसे वातावरण में उदात्त के लिए कोई संभावना न थी। अगर ऑगस्टस के बाद डेढ़ सौ वर्षों तक उन्हें कोई उल्लेखनीय कवि-वक्ता नहीं दिखायी देता तो आश्चर्य की बात नहीं। उनके 'अंत:साक्ष्यों' में साहित्यिक उद्धरणों के अलावा समाज की आलोचना को शामिल करें तो भिन्न परिणाम निकलते हैं। दासों और नागरिकों का तनाव एक प्रकार की शासन-प्रणाली में जब विस्फोटक रूप लेता था, तब उस संकट को दबाने के लिए शासन का रूप बदलता था। साम्राज्य व्यवस्था का आगमन इसी प्रक्रिया का अंग था। लांजाइनस ने पतन की जिस पराकाष्ठा का चित्र खींचा है, वह साम्राज्य की स्थापना के तत्काल बाद न हो सकती थी। साम्राज्य व्यवस्था ने दासता के संकट को दबाकर व्यापार की उन्नति के

द्वारा रोम को विश्व-शक्ति बनाने में और साम्राज्य के प्रसार में मदद की। दास मुख्य श्रमशक्ति थे। सीज़र और ऑगस्टस की तानाशाही ने उन्हें दबाकर बिकाऊ-माल वाले विनिमय संबंधों की रक्षा की। लांजाइनस ने दासता का व उस पर टिकी सत्ता का विरोध करते हुए समकालीन चाटुकारों के मुकाबले अतीत के उन सभी कवियों-वक्ताओं को गौरव-मंडित किया, जिन्होंने दासता का विरोध किया था।

लांजाइनस का यह कार्य पहली सदी की अपेक्षा तीसरी सदी में अधिक तर्कसंगत जान पड़ता है। पहली सदी की चेतना का वह स्तर न था जो लांजाइनस में है। सन 68-69 में जॉन के 'एपोकैलिप्स' में 'महाभ्रष्ट रोम' का विनाश आसन्न नहीं था, भविष्य के गर्भ में था, नीरो के गुरु और स्टोइक (वीतरागी) दार्शनिक सेनेका के यहाँ दास केवल शरीर से गुलाम थे, अपनी बुद्धि और आत्मा के स्वामी बने हुए थे।

लेकिन जिस समय लांजाइनस अपना निबंध लिख रहे थे, रोम के पतन की भविष्यवाणी साकार रूप ले चुकी थी और दास इतने कुचल गये थे कि उनकी आत्मा भी 'स्वतंत्र' नहीं रह गई थी। पराधीनता, उत्पीड़न, वर्गभेद और दासता से लांजाइनस का यह विरोध दूसरी सदी के अंतिम चरण में शुरु हुए विद्रोहों की कड़ी का विकास है। उनका उदात्त केवल पतन की प्रतिक्रिया नहीं है, इस विद्रोही परंपरा का नैतिक-दर्शन है। यह कल्पना तर्कसंगत नहीं जान पड़ती कि वे जेनोबिया के मंत्री थे। अधिक तर्कसंगत यह लगता है कि तीसरी सदी में दो लांजाइनस हुए, जिनमें केसियस तो मंत्री थे और दिओनीसिउस स्वतंत्रचेता, प्रखर विचारक थे।

12.2.2 'पेरिइप्सुस' की खोज और अनुवाद

लांजाइनस के बारे में अनिश्चय का कारण यह है कि 1554 में रॉबर्टेलो द्वारा खोजी जाने से पहले 'पेरिइप्सुस' बारह सौ साल तक अज्ञात थी। इस पुस्तक के अलावा उनके विषय में जानकारी का दूसरा स्रोत नहीं है और यह कृति भी खंडित है, अनुमानतः उसका एक तिहाई भाग लुप्त है।'इप्सुस' के अर्थ को लेकर भी अनिश्चय रहा है। पहला अंग्रेजी संस्करण लैंगवेन ने 1636 में प्रकाशित किया था और पहला अंग्रेजी अनुवाद 1662 में जॉन हॉल ने किया था - 'वाणी की पराकाष्ठा' (हाइट ऑफ इलोक्वेंस)। जॉन पैल्टेंसी ने 1680 में दूसरा अनुवाद किया - 'भाषा का लालित्य या उत्तुंगता' (लॉफ्टीनेस ऑर एलीगेंसी ऑफ स्पीच)। किंतु 1674 में बोइलो द्वारा किये गये फ्रांसीसी अनुवाद के बाद 'इप्सुस' के पर्याय के रूप में 'सब्लाइम' (उदात्त) शब्द प्रचलित हो गया। लंबे समय बाद 1899 में रीज़ रॉबर्टस ने अपने अनुसंधान के साथ 'लांगिनुस ऑन द सब्लाइम' में जो अनुवाद प्रस्तुत किया, वह अधिक मान्य हुआ। डॉ. नगेंद्र और नेमिचंद जैन द्वारा प्रस्तुत पहला हिंदी अनुवाद 'काव्य में उदात्त तत्व' उसी पर आधारित है। किंतु हैमिल्टन फाइफ ने 1927 में एक और अनुवाद प्रस्तुत किया, जिसे 'अनेक कारणों से अधिक ग्राह्य' पाकर डॉ. निर्मला जैन ने भारत भूषण अग्रवाल के सहयोग से 'उदात्त के विषय में' हिंदी में रूपांतरित किया।

मतभेद 'ऊँचाई', 'उत्तुंगता' या 'लालित्य' को लेकर भी रहे, 'सब्लाइम' या 'उदात्त' को लेकर भी हैं। ऊँचाई और उत्तुंगता का संबंध शास्त्रवादी धारणाओं से और उदात्त का संबंध स्वच्छंदतावादी भावबोध से जोड़ा गया है। लांजाइनस के अतीत-प्रेम को शास्त्रवाद का प्रमाण माना गया है तो प्राकृतिक आदर्श को स्वच्छंदतावाद का। शास्त्रवाद से अब वे मुक्त हो चुके हैं पर स्वच्छंदतावाद की गूँज अब भी सुनायी पड़ती है। ऐलेन टेट ने स्वच्छंदतावादी रूप मिटाकर उन्हें नयी समीक्षा से जोड़ने का प्रयास किया है। उनका तर्क है कि लांगिनुस की 'सिंथेसिस' (कंपोज़ीशन यानी संयोजन, संगठन) और 'सामंजस्य' (हार्मनी) संबधी धारणाएँ नयी समीक्षा के 'स्ट्रक्चर' (संरचना) की धारणा में आसानी से बदली जा सकती हैं। यही नहीं, 'भाषा के औदात्य' के माध्यम से लांगिनुस ने परोक्ष रूप में 'वस्तुनिष्ठता' की ओर कदम बढ़ाया, जिसकी गुंजाइश न प्लेटो के 'दैवी विक्षेप' में थी, न अरस्तू के 'संरचनात्मक तत्वों' में। किंतु इमैनुएल कांट ने 'उदात्त' की जो व्याख्या की थी, उससे पश्चिमी दृष्टि इतनी आक्रांत है कि लांजाइनस को स्वच्छंदतावादी साँचे से बाहर कम ही देखा जाता है! कांट के अनुसार, कला में उदात्त संबंधी धारणा प्रकृति की अनुरूपता पर निर्भर है। फर्क यह है कि प्राकृतिक सौंदर्य के साथ उद्देश्यवत्ता जुड़ी रहती है क्योंकि यह हममें संतोष का भाव जगाती है, जबकि उदात्त का भाव हमारे निर्णय के संदर्भ मे सोद्देश्यता की सीमा से परे चला जाता है। यही नहीं, 'प्रकृति के उदात्त की प्रातिनिधिकता (रिप्रेज़ेंटेशन) से मन प्रेरणा अनुभव करता हैं, जबकि सुंदरता के बारे में सौंदर्यशास्त्रीय निर्णय विश्रांत चिंतन में ही होता है।' इस भाववादी और स्वच्छंदतावादी प्रसंग से 'सब्लाइम' को मुक्त करने के प्रयत्न होते रहे हैं, पर किसी अन्य विकल्प के अभाव में अंग्रेजी आलोचकों को 'सब्लाइम' का ही सहारा लेना पड़ता है!

हिंदी में 'उदात्त' को लेकर मतभेद नहीं है। 'उदात्त' शब्द ग्रीक 'इप्सुस' के ज्यादा निकट है। इसका कारण यह है कि दो प्राचीन सभ्यताओं में विकसित अवधारणाएँ एक-दूसरे के काफी अनुकूल हैं। भारत और यूनान में पुराना संपर्क है। 'धीरोदात्त' नायक वाला अर्थ-संदर्भ कुछ संस्कारगत बाध्यता ज़रूर पैदा करता है लेकिन इस समस्या के प्रति सचेत रहकर लांजाइनस के उदात्त की मूल धारणा को समझा जा सकता है।

12.2.3 पाश्चात्य साहित्यशास्त्र और लांजाइनस

लांजाइनस ने 'भाव पक्ष' और 'कला पक्ष' में विभाजन मानने वाली, कला पक्ष को महत्वपूर्ण मानने वाली शास्त्रवादी जड़ता को तोड़कर समन्वित दृष्टिकोण अपनाया। डॉ. रामविलास शर्मा ने लिखा है, 'ज़ब वह भाषा पर विचार करता है, तब भाव और विचार उसकी दृष्टि से ओझल नहीं होते, जब वह भावों और विचारों का विवेचन करता है, तब भाषा का भी ध्यान रखता है।' (आस्था और सौंदर्य) यही कारण है कि उदात्त शैली शास्त्रवादी नहीं है और भाव या प्रेरणा स्वच्छंदतावादी नहीं है। उन्हें स्वच्छंद आंदोलन को उभारने का श्रेय देते हुए स्कॉट-जेम्स भी यह बताने में नहीं चूकते कि उन्होंने 'अचूक आलोचनात्मक निर्णय के साथ (स्वच्छंदतावाद के) खतरे के मार्ग चिह्नों को भी रेखांकित किया और शास्त्रीय अनुशासन की पुनःप्रतिष्ठा की।' (R.A.Scott James – 'The Making of Literature') इसलिए डॉ. निर्मला जैन का यह विचार पूर्णतः तर्कसंगत है कि लोंगिनुस/लांजाइनस रोमांटिक या क्लासिकी जैसे एक दायरे में नहीं बँधते, दोनों के तत्व लेते हुए वे 'दोनों प्रवृत्तियों की सीमा का अतिक्रमण कर एक अनूठा मार्ग' निकालते हैं। इस मार्ग का अनूठापन यह था कि लांजाइनस दोनों प्रवृत्तियों की शक्ति को पहचानने और सीमाओं को त्यागने का काम यथार्थवादी आधार पर करते हैं।

लांजाइनस से पहले काव्यशास्त्रीय चिंतन की भरी-पूरी परंपरा विकसित हो चुकी थी। प्लेटो ने काव्य-सृजन में प्रेरणा की जो शक्ति देखी थी, वह 'दैवी-विक्षेप' का परिणााम थी। लांजाइनस ने 'दैवी' तत्व और 'विक्षेप तत्व हटाकर कवि की प्रेरणा का गहरा संबंध सामाजिक जीवन से जोड़ा। अरस्तू को परिपूर्ण कला की विंता थी लेकिन 'कला मर चुकी थी', इसलिए समाज में व्यवस्था लाने वाली कला का अनुकरणीय आदर्श बनी, 'अतीत की कल', लांजाइनस ने अतीत को आदर्श नहीं बनाया, उसे समसामयिक बोध से परखा, उससे प्रेरणा ली, हासशील तत्वों की आलोचना की और प्रगतिशील तत्वों से सीखकर आगे बढ़ने का रास्ता सुझाया।

विमसाट ब्रुक्स ने लांजाइनस को 'असाधारण भाषणवादी' कहा है। अरस्तू से देमेत्रिअस तक भाषण कला की यथेष्ट चर्चा हो चुकी थी। वाग्यिता की शैलियों और व्याकरण की युक्तियों को लेकर वर्गीकरणों और विभेदों का जंजाल उपस्थित हो गया था। लांजाइनस ने इस प्रकार की तकनीकी विशेषज्ञता का तिरस्कार करते हुए उदात के सर्वव्यापी प्रभाव संख्या' में अनेक पक्षों और प्रवृत्तियों का सामंजस्य स्पष्ट किया और 'भाषा के वैशिष्टा औश्र चरमोत्कर्ष' को अपने विवेचन के केंद्र में रखा जो कवियों औश्र इतिहासकारों को अमर यश प्रदान करता है। उन्होंने रीतिवाद-विरोधी साहित्यशास्त्र का सूत्रपात किया। और सुदृढ़ यथार्थवाद का आधार अपनाया।

12.2.4 उदात्त की परिधि

'पेरिइप्सुस' के आरंभिक हिंदी अनुवाद से भ्रम होता है कि उदात्त का संबंध सिर्फ काव्य से है। इस शास्त्रीय दृष्टिकोण से अलग एलेन टेट का आधुनिकतावादी नज़रिया है जो यहाँ 'साहित्य का वृहत्तर बोध' पाते हैं लेकिन यहाँ भी व्यापकता 'साहित्य' तक सीमित है। डॉ. रामविलास शर्मा ने प्रसंगवश लिखा है कि 'यूनान पर जब रोमन भूस्वामी शासन कर रहे थे, तब 'उदात्त' पर अपने विख्यात निबंध में लांगिनुस ने ..... उदात्त के निदर्शन के लिए होमर और प्लेटो के साथ दे-मोस्थेनीज़ को उद्धृत किया।' होमर कवि थे, प्लेटो दार्शनिक थे और देमोस्थनीज वक्ता थे। काव्य, दर्शन, वक्तृत्व कोई भी क्षेत्र लांजाइनस की विचारसीमा से बाहर नहीं था। विषयक्षेत्र की इस व्यापकता को सामने रखकर डॉ. निर्मला जैन ने ठीक कहा है कि उसमें गद्य-पद्य, इतिहास-दर्शन-धर्मग्रथ-भाषण सभी आ जाते हैं, लांजाइनस 'विधाओं और विद्याओं का अंतर' पहचानते थे लेकिन उनका कृत्रिम विभाजन अस्वीकार करते थे, 'शुद्ध साहित्य' की जड़ता से अलग उनमें दृष्टि की ऐसी समग्रता थी (जो 'प्राचीन ग्रीक-रोमन साहित्यशास्त्र में ही नहीं बल्कि आज भी दुर्लभ है।'

लांजाइनस अभिव्यक्ति के किसी माध्यम को उदात्त की परिधि से बाहर नहीं मानते। पर्यायोक्ति: अलंकार की चर्चा करते हुए कहते हैं कि 'संगीत के विवादी और संवादी स्वरों के सहयोग से मुख्य राग का सौंदर्य' निखर आता है। कला में निर्दोषता पर विचार करते समय वे कहते हैं कि 'हम मूर्ति में

मनुष्य का सादृश्य खोजते हैं.... साहित्य में हम मानवोपरि गुणों की खोज करते हैं।' यहाँ दो बातें स्पष्ट होती हैं। एक यह कि संगीत, मूर्तिशिल्प और साहित्य की विशिष्ट प्रकृति का अंतर लांजाइनस समझते हैं और उनके परस्पर संबंध को भी पहचानते हैं। अलंकार का प्रयोग 'संवादी और विवादी' स्वरों की तरह होना चाहिए, यह संगीत और साहित्य के रिश्ते की व्याख्या है, मूर्ति में मानव-सादृश्य और साहित्य में मानवोपरि गुण, यह दो कलाओ के अंतर की पहचान है। दूसरे यह कि साहित्य की सभी विधाओं और कला के विभिन्न रूपों के साथ ज्ञान के अन्य अनुशासनों को समाहित करने वाली उनकी दृष्टि एक व्यवस्थित सौंदर्यशास्त्र का सुदृढ़ आधार निर्मित कर देती हैं।

इतना ही नहीं, उन्होंने महान शैली को महान आत्मा और गंभीर विचारों की प्रतिध्वनि कहकर उदात्त को कला या अभिव्यक्ति के दायरे से निकालकर मनोविज्ञान और समाजशास्त्र का आयाम प्रदान किया। शैली की महानता विचारों की गरिमा पर निर्भर है और विचारों की गरिमा आचरण की महानता से आती है - यह सिद्धान्त उदात्त की परिधि को पुराने भाषणशास्त्र से अलग एकदम नयी दिशा में विस्तृत कर देता है। इसीलिए 'क्षुद्र और अधम' कार्यों में जीवन बिताने वाले उदात्त से वंचित रहते हैं और महात्माओं की सीधी-सरल वाणी भी उदात्त होती हैं, उसके लिए गर्जन-तर्जन वाली शब्दावली और तड़क-भड़क वाली पदावली की जरूरत नहीं है। इसीलिए वे कुछ खास-खास भावों को ही उदात्त का विषय नहीं मानते और न किसी भाव को उदात्त से बाहर मानते हैं। यदि वे 'करुणा और भय' जैसे भावों को क्षुद्र बताकर उदात्त से बाहर रखते हैं तो 'उचित प्रसंग में सच्चे भावों' को उदात्त का सबसे बड़ा साधक बताकर सभी भावों में उदात्त की संभावना स्वीकार करते हैं। स्रष्टा के संदर्भ में उदात्त का संबंध 'महान आत्मा' से है, भावक के संदर्भ में 'उचित प्रसंग' में व्यक्त सच्चे भावों से। इस प्रकार, रचना-प्रक्रिया से लेकर कलात्मक प्रभाव तक कला के सभी पहलू उदात्त की परिधि में आते हैं।

लांजाइनस के संपूर्ण विवेचन को ध्यान में रखकर कहा जाय तो उदात्त के लिए न विषय की सीमा है, न विधा की, न भाव की सीमा है न स्थितियों की। जिस तरह भाषण, कविता, दर्शन, संगीत, मूर्तिशिल्प, कहीं भी उदात्त हो सकते हैं, उसी तरह विराट आकार और प्रबल वेग, युद्ध वर्णन और प्रेम गीत, गगन-भेदी स्वर और पातालवासी मौन, उल्लास और वेदना, किसी भी दृश्य या भाव में उदात्त हो सकता है। संक्षेप में, उदात्त के लिए सीमाएँ नहीं हैं। उसका संबंध आत्मा स्वभाव और आंतरिकता से है केवल कौशल, भाषा और कला, से नहीं। इसलिए लांजाइनस भाषणशास्त्रियों की तरह केवल भाषा की संरचना से नहीं खेलते।

12.2.5 उदात्त और भारतीय चिंतन

उदात्त शब्द की रचना उद्+आत्त (ऊर्ध्व+गृहीत) के मिलने से हुई है। संस्कृत में उदात्त एक अलंकार है जो वर्ण्य वस्तु की संपन्नता या महिमा की व्यंजना करता है। लेकिन लांजाइनस के लिए उदात्त अलंकार-मात्र नहीं है। वह अभिव्यक्ति का संपूर्ण गुण है। इस प्रकार की भिन्नताओं ने भारतीय काव्यशास्त्र के अध्येताओं का ध्यान अपनी ओर खींचा है। लेकिन लांजाइनस द्वारा शब्दालंकार और विचारालंकार का जो वर्गीकरण है, वह भारतीय काव्यशास्त्र के शब्दालंकार और अर्थालंकार से अलग नहीं है। आनंदवर्धन ने 'ध्वन्यालोक' में लिखा था कि कवि रस से ऐसा बंधा हो कि अलंकार खुद बन जाय, अलग से कोशिश ही न की जाय कि वह अलंकार है।' और लांजाइनस ने लिखा था - 'अलंकार सर्वथा प्रभावशाली तब होता है जब इस बात पर ध्यान ही न जाए कि वह अलंकार है।' रामविलासजी ने उद्धृत किया है कि 'क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदैव रूपं रमणीयतायाः'। मानो इसी की व्याख्या करते हुए लांजाइनस ने लिखा है, 'वास्तव में महान रचना वही है जो बार-बार कसौटी पर कसी जाने पर भी सदा खरी उतरे, जिससे प्रभावित होना कठिन ही नहीं, लगभग असंभव हो जाय और जिसकी स्मृति इतनी प्रबल हो कि मिटाए न मिटे।' यहीं लांजाइनस उदात्त को 'सभी कालों में सभी व्यक्तियों को आनंद' देने वाला गुण बताते हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने 'लोकहृदय में लीन होने' को रसदशा कहकर बहुत अलग बात न की थी।

इस प्रकार, भाव, अलंकार, लोकव्यापकता और कालातीतता आदि अनेक आधारों पर हम भारतीय साहित्य चिंतन और लांजाइनस में समानता पाते हैं। इसका कारण यही है कि दो उन्नत सभ्यताओं ने कला के विवेचन के लिए जो रुचियाँ और सिद्धान्त विकसित किये, उनमें मेल बैठता है।

12.3 लांजाइनस का उदात्त-विवेचन

लांजाइनस और उनकी रचना से संबंधित प्रमुख समस्याओं का अध्ययन कर लेने के बाद अब हम उनके उदात्त विवेचन की आलोचना-दृष्टि और विश्लेषण-पद्धति पर विचार करेंगे।

12.3.1 लांजाइनस की विश्लेषण-पद्धति

उदात्त पर लिखने की सूझ और श्रम के लिए कैफीलिडस की प्रशंसा करते हुए लांजाइनस अपने असंतोष का यह कारण भी बताते हैं कि उन्होंने जो 'अधिक महत्वपूर्ण' काम नहीं किया और वह है 'उस पद्धति का निर्देश' जिससे 'हम स्वय उस लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं।' कैफीलिडस उदात्त कला के लक्षण स्पष्ट कर रहे थे जबकि लांजाइनस का उद्देश्य था 'अपनी क्षमताओं को एक निश्चित स्तर तक उठाने' के प्रयत्न में 'व्यावहारिक सहायता' प्रदान करना। जाहिर है, परंपरागत शास्त्र और लांजाइनस के उद्देश्य भिन्न-भिन्न थे। उद्देश्य की भिन्नता के कारण लांजाइनस के लिए यह ज़रूरी हो गया कि वे उदात्त की अपनी संश्लिष्ट अवधारणा और समन्वित दृष्टि के साथ-साथ नयी पद्धति का भी विकास करें क्योंकि इस नयी वस्तु को न तो पारंपरिक-बोध के जरिये धारण किया जा सकता था, न ही पारंपरिक भाषा के जरिये व्यक्त किया जा सकता था।

लांजाइनस ने यह निबंध अपने रोमन शिष्य-मित्र पोस्तुमिउस तेरेन्तिआनुस के नाम पत्र के रूप में लिखा है। इससे शैली में अनौपचारिकता और रोचकता तो आयी ही है, इस शैली ने विश्लेषण-पद्धति को भी प्रभावित किया है। नयी अवधारणा और अनौपचारिक शैली,दोनों ही कारणों से लांजाइनस ने सटीक वर्गीकरण और सूत्रबद्ध परिभाषाओं की जगह उदाहरण, विवेचन, व्याख्या और 'विषयांतर' के सहारे अपने विचार संप्रेषित किये हैं।

भाषण, काव्य, शिल्प आदि कलाओं का समन्वित विवेचन और कला, व्यक्तित्व, समाज, नैतिकता, राजनीति आदि विषयों का समन्वित विवेचन - यह संश्लिष्ट पद्धति उनकी अवधारणा के संश्लिष्ट स्वरूप का नतीजा है। होमर का युद्ध-वर्णन उदात्त है, पर सैफो के प्रेमगीत? लांजाइनस एक लंबा उद्धरण देकर लिखते हैं, 'क्या यह विस्मयकारी नहीं है कि एक ही साथ वह आत्मा, शरीर, कान, जिह्वा, आँखे, वर्ण सबका इस प्रकार आह्वान करती है मानो वे उससे अलग होकर कहीं और जा पड़े हों। उसकी अनुभूति में विरुद्धों का सामंजस्य पाया जाता है। वह झुलसती भी है, और ठिठुरती भी है, वह बेहोश भी है और होश में भी है - क्योंकि वह या तो भयाक्रांत है या मरणासन्न। वह ऐसा इसलिए करती है कि उसमें संवेग नहीं बल्कि संवेगों का संघात दृष्टिगत हो।' इस उद्धरण से लांगिनुस की पद्धति समझ में आती है। कला में उदात्त किसी विशेष भाव या विचार के कारण नहीं बल्कि अनेक भावों के संघात से उत्पन्न होता है। सभी भाव संवादी हों, यह न आवश्यक है, न उचित। संघात हमेशा 'विरुद्धों का सामंजस्य' उपस्थित करता है। भावों के साथ कला के साधनों में भी संघात होता है। इसकी चर्चा आगे की जाएगी। भाव और अभिव्यक्ति में विरुद्धों का सामंजस्य देखने वाली यह द्वन्द्वात्मक पद्धति लांजाइनस को अपने युग से बहुत आगे सिद्ध करती है। उनका यह द्वन्द्वात्मक विवेक ही उन्हें शास्त्रवाद और स्वच्छंदतावाद के अतिवादी आग्रहों से बचाता है और वे एक ही साथ नैसर्गिक प्रेरणा और अनुशासित शिक्षा का अंत:संबंध देखते हैं। इस द्वन्द्वात्मकता ने उनकी दृष्टि और पद्धति में ऐसी एकता पैदा कर दी है जो उनके सजीव गद्य को अत्यंत मूल्यवान बना देती है।

इस द्वन्द्वात्मक चिंतन की विशेषता यह है कि लांजाइनस अनेक असंबद्ध वस्तुओं की सामान्य भूमि पहचानते हैं, विभिन्न प्रक्रियाओं में निहित संबंध समझते हैं, समान लगने वाली चीजों की भिन्नता और असमान लगने वाली चीजों की एकता पहचानते हैं। संवादी-विवादी स्तरों की तरह विरुद्धों की एकता में औदात्य और उत्कर्ष देखते हैं। वर्तमान ह्रास की आलोचना करते हुए अतीत में जाते हैं किंतु अतीत की पूजा नहीं करते, वहाँ भी नकारात्मक पहलुओं का निषेध करते हुए भविष्य की स्वतंत्र राह निकालते हैं। उनका यह द्वन्द्वात्मक दृष्टिकोण पूरे निबंध में आदि से अंत तक मौजूद है। उस समय को देखते हुए यह असाधारण गुण था। उनके दृष्टिकोण की वैज्ञानिकता का परिणाम यह भी है कि उदात्त का लक्ष्य स्पष्ट करने के बाद वे पहले दोष-चर्चा करते हैं, फिर स्रोत-चर्चा। स्रोतों में भी 'सहजात' और 'कला की उपज' के आधार पर क्रम-निर्धारण करते हैं।

12.3.2 उदात्त के बाधक तत्त्व

कला में दो प्रकार के दोष हो सकते हैं। एक, रचना के नियम संबंधी, दूसरे, विषय-वस्तु संबंधी। लांजाइनस दोनों पर विचार करते हैं पर उन्हें उदात्त के लिए समान रूप से बाधक नहीं मानते। इस संबंध में उनकी कसौटी यह है कि 'कला में हम निर्दोषता की प्रशंसा करते हैं, तो प्रकृति में भव्यता की, और मनुष्य को वाक्शक्ति का वरदान प्रकृति से प्राप्त हुआ है।' दोनों की 'सहकारिता' से पूर्णता आती है, मगर कला इनमें प्राथमिक नहीं है, वह प्रकृति की सहायक होकर ही उदात्त बनती है। इसलिए रचना के नियम संबंधी दोष 'औदात्य और उत्कृष्टता के एक ही स्पर्श से' बारंबार धुल जाते

हैं, लेकिन प्रकृति संबंधी दोष नहीं दबते। लांजाइनस इन्हें आडंबर की संज्ञा देते हैं, जो इन वस्तुओं के मोह से पैदा होता है जिनका तिरस्कार करना हमारे दैनिक जीवन में सम्मान की बात मानी जाती है, 'मेरा आशय संपत्ति, पद, प्रतिष्ठा, राजपाट तथा ऐसी ही उन वस्तुओं से है, जिनमें बाहरी तड़क-भड़क होती है।' एक तरफ नियमों में बंधी निर्दोष कला, दूसरी तरफ उदात्त नैसर्गिक वाणी, एक तरफ तड़क-भड़क वाली रीतिवादी शैली, दूसरी तरफ सहज-निस्पृह औदात्य - लांजाइनस इन दोनों प्रवृत्तियों का अंतर दिखाते हैं। स्वभावतः वे निर्दोषता और औदात्य को पर्यायवाची नहीं मानते। उनका यह कथन प्रसिद्ध है कि 'महान प्रतिभा निर्दोषता से बहुत दूर होती है। शीन-काफ-दुरुस्त होने में ओछेपन का खतरा रहता है, जबकि बेशुमार दौलत की तरह बड़ी रचना में कुछ-न-कुछ कमी रह जाती है।' कला का दोष प्रतिभा की असावधानी से पैदा होता है, लेकिन कला के प्रति अत्यधिक सावधानी में ओछेपन का खतरा होता है। उदात्त का विलोम है ओछापन। त्याज्य वस्तुओं के मोह से इस ओछेपन का संबंध है। इस प्रकार, कला, मनोवृत्ति और सामाजिक आधार (या संस्कृति) परस्पर जुड़े हुए हैं। तड़क-भड़क वाली 'निर्दोष' कला 'ओछेपन' की मानसिकता का परिचय देती है और यह मानसिकता 'संपत्ति, पद, प्रतिष्ठा, राजपाट' के लिए युद्धरत संपत्तिशाली वर्गों से जुड़ी है।

संक्षेप में, लांजाइनस कला में दोष और आडंबर का अलग-अलग सामाजिक आधार पहचानते हैं। वे निर्दोष कला के रीतिवादी आदर्श के मुकाबले उदात्त कला का लोकतांत्रिक आदर्श प्रस्तुत करते हैं। स्पष्ट है कि उनके लिए उदात्त एक नैतिक प्रेरणा और समानांतर विवेक है, जिसकी कसौटी पर वे प्रतिद्वंद्वी विचारों से बहस करते समय स्पष्टीकरण नहीं, चुनौती देते हैं। कला नियम के दोष असावधानी के द्योतक हैं, इसलिए वे उदात्त को बाधित नहीं करते बल्कि स्वयं उससे दब जाते हैं, लेकिन आंडबर का दोष तुच्छता का परिचायक है जो 'निर्दोषता' की आड़ में त्याज्य वस्तुओं के मोह को सांस्कृतिक मुखौटा प्रदान करता है, इसलिए वह उदात्त का सबसे बड़ा शत्रु है। कला में यह आडंबर की संस्कृति जिन तीन रूपों में प्रतिबिंबित होती है, वे हैं : शब्दाडंबर, बचकानापन और भावाडंबर। इनकी आलोचना करते हुए लांजाइनस ने मानो संपत्तिशाली वर्गों की संस्कृति की पूरी तस्वीर अंकित कर दी है।

तीनों दोष भाव और कला में अलगाव से आते हैं और उनका प्रभाव भी तुच्छतापूर्ण होता है। 'त्रासदी में राजसी तड़क-भड़क और शब्दाडंर के लिए स्वभावतः गुंजाइश होती है' इसलिए उसके मोह से बचना कठिन होता है। लेकिन यह मोह 'बालसुलभ मूढ़ता' के सिवा कुछ नहीं है क्योंक ऐसा 'प्रसंगच्युत वागाडंबर' रचना और वार्ता में 'अक्षम्य' होता है। शब्दाडंबर 'राजसी' अभिरुचि का परिणाम है तो बालेयता (बचकानापन) 'पंडिताऊ दृष्टि' का। यह दोष 'असाधारण, अतिरमणीय और उससे भी अधिक मनोरंजक होने की कोशिश' से उत्पन्न होता है। लगता है मानो लांजाइनस हिंदी की रीतिकविता पर टिप्पणी कर रहे हों। दरबारी कवि अपने आश्रयदाता का मनोरंजन करने के लिए ऐसी कविता लिखते थे। राजसी दरबारों और दरबारी कवियों में संबध हैं, शब्दाडंबर और बालेयता में भी संबंध है, 'जहाँ अतिशय विस्तार की परिणति शब्दाडंबर पूर्ण असफलता में होती है।' शब्दाडंबर 'बालसुलभ मूढ़ता' है और बालेयता 'शब्दाडंबरपूर्ण असफलता'। अगर वाणी का अनियंत्रित प्रयोग उदात्त का बाधक है तो भावों का अनियंत्रित प्रयोग भी बाधक है। भावाडंबर वहाँ होता है 'जहाँ आवेग की अपेक्षा न हो, वहाँ असंगत और निरर्थक आवेग की अभिव्यक्ति, अथवा जहाँ नियंत्रण की अपेक्षा हो वहाँ भाव का अनियंत्रित प्रयोग।' मन के भाव और प्रदर्शित भाव के इसी फर्क का नाम आडंबर है, जिसे दरबारी संस्कृति में 'हाव-भाव' कहा जाता था और व्यापारी संस्कृति में 'शिष्टाचार' कहा जाता है। भाव के अनुपात में शब्द न हों, किसी एक का अतिरेक हो, इससे पूरी 'अभिव्यक्ति में असंतुलन आता है और असंतुलन सुंदर नहीं होता। अतिरिक्त मूल्य का शोषण करने वाले वर्ग कला में भी अतिरेक को बढ़ावा देते हैं। कलात्मक नियमों की निर्दोषता की दुहाई समाज और रचना में इस असंतुलन को छिपाने का काम करती है। आडंबर के विभिन्न रूपों की 'पेरिइप्सुस' में जितनी सटीक आलोचना है, उतनी ही सजीव शैली है। शब्दाडंबर को शोथ (सूजन) बताते हुए लांजाइनस एक कहावत उद्धृत करते हैं, 'जलोदर से अधिक शुष्कता कहीं नहीं होती।' यह रोग ऐसा है जैसे गाल फुला-फुला कर सरकंडे की पिपहरी बनाना।' बालेयता को उन्होंने 'कृत्रिमता की रंगीन चट्टान' कहा है, जिसकी और व्याख्या जरूरी नहीं रह जाती। भावाडंबर 'शराबियों जैसा आचरण' है जो अपने भावों पर अंकुश नहीं रख पाते। वे इन सटीक बिंबों, मुहावरों और कहावतों के मोह में न पड़कर उन्हें तर्क को पैना बनाने के लिए इस्तेमाल करते हैं। इसीलिए वे 'विषयांतर' चाहे करते हों, बहकते नहीं। उदात्त के बाधक कारणों का सामान्य कारण यदि तयाज्य वस्तुओं का मोह है, तो उनका सामान्य आधार है व्यक्तिवाद : साहित्य में इस प्रकार के संपूर्ण अनौचित्य के बीज एक ही प्रवृत्ति में निहित हैं, और यह प्रवृत्ति विचारों की धन है जिसकी झक आजकल लोगो पर सवार है।' यही बात आजकल के साहित्य के लिए भी कही जा सकती है।

12.3.3 उदात्त के स्रोत : साधक और प्रसाधक

बाधक कारणों की तरह साधक और प्रसाधक कारणों का एक सामान्य आधार है - 'अभिव्यक्ति की सहज क्षमता' और उनका सामान्य स्रोत है - महान आत्मा। लांजाइनस ने औदात्य के पाँच स्रोत बताए हैं। उनका यह विवेचन इतना सूचित और स्पष्ट है कि उन्हीं के शब्दों में उसे देखना ज्यादा उपयोगी होगा : 'इन पाँचों में **प्रथम** और सर्वाधिक महत्वपूर्ण है - महान और पुष्ट विचारों के धारण की क्षमा........**दूसरा** स्थान प्रबल भावावेग की प्रेरणा का है। उदात्त के ये दोनों तत्व बहुत कुछ सहजात होते हैं, जबकि शेष तीन कला की उपज हैं। **तीसरे** के अंतर्गत है अलंकारों की समुचित योजना, जिसके दो संभाव्य प्रकार हैं : विचारालंकार और शब्दालंकार। इसके अतिरिक्त **चौथा** है अभिजात्य पद-रचना जिसमें शब्द-चयन, बिंब-विधान तथा शब्द-समृद्धि का अंतर्भाव किया जा सकता है। उदात्त का **पाँचवाँ** स्रोत, जिसमें सभी स्रोतों का अंतर्भाव किया जा सकता है, गरिमा और ऊँचाई का समग्र प्रभाव है।' ये सभी तत्व अलग-अलग नहीं, संश्लिष्ट रूप में उदात्त के साधक होते हैं। मानव-शरीर की तरह इनमें भी एक अंग का दूसरे से स्वतंत्र निजी मूल्य नहीं है। इसीलिए 'एक काल खंड में भव्यता अनेक तत्वों के सहयोग से उत्पन्न होती है।'

ज़ाहिर है कि पाँचों तत्वों में महत्व क्रम के साथ-साथ भीतरी तर्क भी मौजूद है। महान आचरण और विचार से अभिव्यक्ति की सहज क्षमता आती है, इस क्षमता से वह संयम आता है जो उदात्त के सबसे बड़े साधक - 'उचित प्रसंग में सच्चे भाव' - का स्रोत है, यह संयम ही 'सर्जनात्मक कौशल' है जो वक्ता की शक्ति को 'कृति की पूरी बुनावट के बीच से क्रमशः' उभारकर एक ही क्षण में पाठक को अभिभूत कर देता है। **इस प्रकार, पहले दोनों अंतरंग तत्वों का संबंध मानव-आत्मा की गरिमा से है, इन दोनों से तीसरे और चौथे कलात्मक तत्वों का संबंध है और इन सभी के सामंजस्य पर अंतिम तत्व 'समग्र प्रभाव' निर्भर है। यह एक तर्कसंगत ढाँचा है जिसमें असंगति उदात्त के लिए हानिकर सिद्ध होगी।**

12.4 उदात्त के प्रसंग और पहलू

आत्मा की गरिमा सृष्टा से संबद्ध है और प्रभाव की सृष्टि भावक में होती है। दोनों के बीच की कड़ी है कलाकृति या अभिव्यक्ति। कलाकार, रचना और पाठक के बीच यह तारतम्य सजीव मानव-व्यापार है और मनुष्य की परिस्थितियाँ उसे प्रभावित करती हैं।

12.4.1 परिवेश-व्यक्तित्व-अभिव्यक्ति

हम यह देख चुके हैं कि लांजाइनस एक वर्ग की मनोवृत्तियों को उदात्त का शत्रु मानते हैं। प्रकृति (स्वभाव) और अंतःप्रेरणा के रूप में व्यक्तित्व के भीतर जो उदात्त प्रकट होता है, उसका मनुष्य के सामाजिक परिवेश और नैतिक आचरण से घनिष्ठ संबंध होता है। यह संबंध व्यक्तित्व के निर्माण में अन्य धरातलों पर सक्रिय होता है। यदि कोई दास अच्छा वक्ता नहीं हो सकता या घूसखोर निर्णायक निष्पक्ष न्याय नहीं कर सकता, तो यह परिवेश और नैतिकता की एक प्रकार की भूमिका है। किंतु राष्ट्रीय या जातीय चरित्र के निर्माण में व्यक्तित्व और परिवेश का संबंध दूसरी भूमिका अदा करता है। सिसेरो की रोमन शैली और देमोस्थेनीज़ की यूनानी शैली का अंतर समझाते हुए लांजाइनस तेरेन्तिआनुस को संबोधित करते हैं, 'तुम रोमन लोग, इस प्रश्न पर बेहतर निर्णय कर सकते हो।' स्कॉट-जेम्स ने ऐसे अंशों को 'तुलनात्मक आलोचना' का उदाहरण माना है। किंतु यहाँ प्रश्न केवल तुलना का नहीं है, अभिव्यक्ति के जातीय गुणों की पहचान का भी है। अपने ग्रीक संस्कारों के कारण (भी) लांजाइनस को देमोस्थेनीज़ की 'वज्रपात' जैसी शैली सिसरो की 'दूरप्रसारी ज्वालमाला' से अधिक पसंद है, लेकिन वे रुचि की आत्मसात सीमाओं का अनुभव करके अंधराष्ट्रवादियों की तरह अपना निर्णय थोपसे नहीं। यह उदारता उसी तरह ग्रीक चरित्र की विशेषता है, जिस तरह स्वतंत्रता-प्रेम। फिलिप और सिंकदर के हाथों यूनान की पराजय से क्षुब्ध लांजाइनस 'पुराकाल के ग्रीकवासियों' के जातीय गुण का उद्बोधन करते हैं जो सभी अच्छाइयों का मानदंड 'मुक्ति और स्वतंत्रता' को मानते थे।

सामाजिक परिवेश और जातीय गुणों से व्यक्तित्व की अंतःप्रेरणा और गरिमा का संबंध निरूपित करके लांजाइनस यथार्थवादी चिंतन-दृष्टि का विकास करते हैं। कलात्मक अभिव्यक्ति व्यक्तित्व की गरिमा के नाते उदात्त बनती है। ऐसा कलाकार विषय से असंबद्ध शब्दों-बिंबों-अलंकारों के पीछे नहीं भागता। भिन्न भाव-संदर्भ में वह एक-सी भाषा का प्रयोग नहीं करता। तुलसीदास ने विषण्ण राम के प्रसंग में 'घन

घमंड नभ गरजत घोरा' जैसी पदावली और राग-रंजित राम के प्रसंग में 'कंकन किंकिनि नूपर धुनि सुनि' जैसी पदावली का उपयोग किया है। चरित्र और प्रसंग के अनुरूप भाषा की ध्वनि से बनने वाले चित्र पूरे प्रसंग को उदात्त बना देते हैं। 'कंकन किंकिनि' वाली प्रेम-व्यंजना से 'कहत नटत खीझत रिझत मिलत खिलत सकुचात' (बिहारी) की चमत्कारिक प्रेम-व्यंजना की तुलना कीजिए, उदात्त और अनुदात्त का फर्क स्पष्ट हो जायेगा। बिहारी मे हाव-भाव की चपलता पदावली को चंचल बना देती है। अभिव्यक्ति का यह अंतर दोनों कलाकारों के भावबोध और सांस्कृतिक परिवेश का प्रतिबिंब है।

लांजाइनस ने विषय से संबंधित होमर के दिगंतव्यापी बिंबों को उदात्त कहा है, 'मित्र, तुम देखो, कैसे धरती को उसके आधार से छिन्न कर दिया गया है, पाताल अनावृत्त पड़ा है, संपूर्ण विश्व खंड-खंड होकर उलट गया है। और साथ ही सभी पदार्थ-स्वर्ग और नरक, मर्त्य और अमर्त्य समान रूप से संघर्ष और उस युद्ध के खतरों के सहभागी हैं।' निराला ने 'राम की शक्तिपूजा' में संघर्ष का गहन चित्र खींचा है। वह होमर से तुलनीय है। राम-रावण युद्धरत हैं, प्रकृति भी युद्धरत है - पृथ्वी-अग्नि-वायु राम के पक्ष में हैं, आकाश और समुद्र रावण के पक्ष में, प्रकृति का यह विभाजन राम के 'संशय' में भी प्रतिबिंबित होता है - पराजित, हताश मन और अपराजित योद्धा मन, भीतर और बाहर के विभाजन को जोड़कर संघर्ष को गहन करने वाली बिंबमालाएँ - उगलता गगन घन अंधकार, उतरा ज्यों दुर्गम पर्वत पर नैशांधकार, इत्यादि - उदात्त की ऐसी सृष्टि करती हैं जो गगनभेदी गर्जन करने वाली सैकड़ों कविताएँ मिलकर नहीं कर पातीं। अंधकार में डूबा राम का मन भी नीचे उतरता है, अंधकार की ही तरह, किंतु राम पर्वत की तरह हैं जिस पर अंधेरा उतर आया है पर वह अपनी दृढ़ता में अटल भी है। भाववस्तु का यह द्वन्द्व बिंब और पदावली से और निखर आता है, इसलिए उदात्त है।

होमर के युद्ध-वर्णन की तरह 'अएल्स का मौन' और प्लेटो की 'नि:शब्द वाग्धारा' भी उदात्त हैं। 'शक्तिपूजा' में राम को धिक्कारने वाले विभीषण के 'वीरवचन' में उदात्त का जो छल है, उसके बाद निराला दिखाते हैं - 'मौन में रहा यों स्पंदित वातावरण विषम'। यह मौन-स्पंदन वीरवचन के छल को जागर करने के नाते विभीषण के आजस्वी शब्दों से अधिक उदात्त है। परिस्थिति और मानव-स्वभाव इस चित्रण निराला के यहाँ ही नहीं, होमर के यहाँ भी उदात्त है - दिव्य स्वभाव का वर्णन देवताओं के युद्ध से भी अधिक श्रेष्ठ है। यह लांजाइनस के मानवतावाद का, उनके यथार्थवादी दृष्टिकोण का सबल उदाहरण है।

12.4.2 संवेग-कल्पना-तर्क-यथार्थ

लांजाइनस प्लेटो के आदर्शवाद से प्रभावित थे पर उनकी कल्पनाजन्य असंगतियों से दूर थे, वे अरस्तू की द्वन्द्वात्मक पद्धति से प्रभावित थे पर उनकी शास्त्रीयता से दूर थे। अरस्तू के व्यवस्थाप्रेमी काव्यशास्त्र में करुणा और भय की केंद्रीय भूमिका थी क्योंकि इन्हीं भावों को सुधारकर व्यवस्था लागू करनी थी। लांजाइनस ने दोनों भावों को क्षुद्र और अनुपयुक्त बताकर एक नये चिंतन का सूत्रपात किया। उनके लिए उदात्त का संबंध न तो केवल भाव या संवेग से है, न गिने-चुने भावों से। एक तरफ, 'अनेक उदात्त अंश संवेग से दूर होते हैं', दूसरी तरफ, सुनियोजित न होकर 'स्वाभाविक विस्फोट का भ्रम' उत्पन्न करने वाले संवेग उदात्त के लिए सार्थक होते हैं।

संवेग अपने में न उदात्त का कारण हैं, न उदात्त के विरोधी। उनका संबंध यथार्थ से हो तभी वे कलात्मक और भव्य हो सकते हैं। यथार्थ से चुने गये संवेग इकहरे नहीं होते, उनमें अनेक प्रसंगों का संघात होता है। इसलिए त्रासदी में ही नहीं, गीत और वक्तृता में भी संश्लिष्ट संवेगों का अधिक महत्व है। सैफो के प्रगीतों की तरह देमोस्थेनीज़ की ओजस्विता भी 'सशक्त और सघन संवेग-राशि' में निहित रहती है। सशक्त भाव कल्पना को सक्रिय करके विषय को प्रत्यक्षवत् कर देते हैं, 'जहाँ सबल संवेग की प्रेरणा से हमें लगता है कि जिसका हम वर्णन कर रहे हैं उसे साक्षात् देख भी रहे हैं और उसे अपने श्रोताओं की आँखों के सामने प्रत्यक्ष कर रहे हैं।' संवेग ही नहीं, कल्पनाशक्ति का महत्व भी यथार्थ से संबद्ध होने - प्रत्यक्ष करने - में है।

कल्पनाशक्ति का ह्रास होने पर होमर जैसे लेखक भी 'चरित्र-चित्रण की ओर उन्मुख हो जाते हैं।' भावात्मक शक्ति उदात्त के लिए ज़रूरी है, 'परंतु संवेग का औदात्य के तत्वों में उतना ही स्थान है, जितना किसी सुखद रचना में चरित्र-चित्रण का होता है।' क्या भावों के बारे में लांजाइनस के विचारों में अंतर्विरोध है? चरित्र की विश्वसनीयता को यथार्थवाद में एक महत्वपूर्ण उपकरण माना गया है। क्या लांजाइनस का उदात्त उनके यथार्थवाद का निषेध कर देता है? लांजाइनस साधारणता का भी विरोध करते हैं, 'उपयोगी और आवश्यक है, वह तुच्छ होता है, संभ्रम का अधिकारी तो हमेशा असाधारण ही

होता है।' असाधारण के इस आग्रह का यथार्थ से क्या संबंध है? लांजाइनस 'ब्योरेवार यथातथ्यता' के बदले 'केवल महानतम' के चुनाव में उदात्त की संभावना देखते हैं। यथार्थवाद में कलात्मक उद्देश्य पर आधारित चयन-दृष्टि को अत्यंत महत्वपूर्ण माना गया है। यही चयन-दृष्टि उसे यथातथ्य चित्रण करने वाले प्रकृतिवाद से अलग करती है। चरित्र-चित्रण का अर्थ है चरित्र का ब्योरेवार चित्रण। जैसे संवेग नहीं, संवेगों का संश्लिष्ट विधान उदात्त का कारण है, वैसे चरित्र नहीं चरित्रों के असाधारण गुण हैं। 'ब्योरेवार यथातथ्यता' और उपयोगितावाद को छोड़े बिना प्रासंगिक तथ्यों का चुनाव संभव नहीं है।

लांजाइनस के लिए कल्पना और चिंतन की शक्तियाँ मनुष्य को संसार की सीमा में तृप्त नहीं रहने देतीं। संसार से असंतोष की उपज है उदात्त कला। लांजाइनस का संपूर्ण विवेचन अपने समकालीन संसार से उनके असंतोष को अच्छी तरह स्पष्ट करता है। उनके उदात्त की यह विद्रोही संभावना यथार्थवादी दृष्टिकोण को पुष्ट करती है। असंतोष का अर्थ यथार्थ से पलायन नहीं है। 'इलियद' की श्रेष्ठता का एक कारण यह है कि उसमें 'वास्तविक जीवन से गृहीत छलकती हुई बिंब-माला भी' मिलती है। अपने प्रेमगीतों के लिए सैफो 'वास्तविक जीवन के भावचक्र में से केवल प्रेम के आवेग के सहवर्ती भावों का चयन करती हैं।' इसी प्रकार, 'भाषण कला में कल्पना का सर्वोत्तम प्रभाव सदा उसकी वास्तविकता और सत्यता में होता है।' लांजाइनस बारंबार जिस वास्तविकता का आग्रह करते हैं, उसका अर्थ है यथार्थ की विश्वसनीयता। यथार्थ साधारण है, उदात्त असाधारण। किंतु यह असाधारण उदात्त निर्भर है साधारण यथार्थ पर।

सत्यता और वास्तविकता का यह आग्रह लांजाइनस को काल्पनिक और अलौकिक विचारों से दूर ला खड़ा करता है। डॉ. निर्मला जैन ने ठीक ही लिखा है कि 'लांजाइनस ने काव्यानुभूति को आध्यात्मिक अनुभूति नहीं माना।' उदात्त अनुभूति और आध्यात्मिक अनुभूति में उनके लिए इतना अलगाव था कि होमर के उदात्त अंशों में वे उन्हें भी गिनते हैं, जिन्हें यदि 'रूपक न समझा जाय तो वे पूर्णतः धर्म-विरुद्ध और अनुचित हैं।' क्षुद्र आचार-विचार और काल्पनिक-आध्यात्मिक प्रवृत्तियों को एक साथ उदात्त से बाहर रखकर लांजाइनस सुसंगत यथार्थवादी दृष्टिकोण का परिचय देते हैं।

कल्पना का सर्वोत्तम प्रभाव अतिरंजनों में नहीं, प्रत्यक्षीकरण में, अर्थात् वास्तविकता और सत्य में होता है। यथार्थ की विश्वसनीयता अर्जित करने के लिए कल्पना को 'तर्कपूर्ण शैली' का सहारा लेना पड़ता है। न केवल कल्पना उदात्त है, न तर्क। दोनों के 'संयोग' से वह भूमि तैयार होती है जहाँ श्रोता का ध्यान 'तर्कयुक्ति से हटकर कल्पना के सम्मोहक प्रभाव की ओर खिंच जाता है .... क्योंकि तर्क और कल्पना इन दो शक्तियों को अगल-बगल रखने पर प्रबलतर शक्ति सदा अन्यतर शक्ति के गुणों का समावेश कर लेती है।' भव्यता कल्पना से आती है लेकिन कल्पना विश्वसनीय हुए बिना उदात्त नहीं हो सकती और उसे विश्वसनीय बनाता है तर्क। इस प्रकार, लांजाइनस के उदात्त की संश्लिष्ट अवधारणा संवेग, कल्पना, तर्क और यथार्थ के परस्पर-संबंध से निर्मित होती है। कहने की ज़रूरत नहीं कि उदात्त आत्मा में इन सभी शक्तियों का सहज समन्वय होता है और वही लांजाइनस का आदर्श है।

12.4.3 अलंकार-बिंब-भाषा

लांजाइनस को अपने युग के समाज से जो असंतोष था, उसने उन्हें सनातनवादी विचारों से अलग कर दिया था। सनातनवादी धारणाओं के अनुसार संसार के नियम अपरिवर्तनशील हैं, संसार में रहने वाले मनुष्यों के भाव भी अपरिवर्तनशील और स्थायी हैं, इन स्थायी भावों का चित्रण करने वाली कला को मनोरंजक और विलक्षण बनाने का काम चित्रण की शैली - छंद, अलंकार, भाषा आदि करते हैं। यह जीवन-दर्शन समाज में रूढ़िवादी है और साहित्य में रीतिवादी। लांजाइनस यह नहीं मानते थे कि विस्तारण आदि अलंकारों की भाषा 'विषय को भव्यता प्रदान करती है।' आत्मा (वस्तु) की भव्यता के बिना शरीर (शैली) की भव्यता आडंबर है। पुराने भाषाशास्त्री 'उदात्त, आवेगपूर्ण और आलंकारिक' तीनों शैलियों के लिए एक-जैसे अलंकारों का विधान करते थे। लांजाइनस इन्हें केवल शैली न मानते थे। उन्होंने उदात्त, आवेगपूर्ण और आलंकारिक शैलियों को उनकी वस्तु के आधार पर भिन्न-भिन्न माना और उदात्त अंश में आवेग, अलंकार आदि का संश्लिष्ट विधान स्वीकार किया। विस्तारण में 'परिमाण और वाग्विस्तार' होता है, जबकि उदात्त का आधार है 'उन्नयन'। यह ऊँचाई (फैलाव के विपरीत) घनत्व से आती है। घनत्व के लिए जिस तरह 'संवेगों का संघात' ज़रूरी है, उसी तरह अलंकारों का संघात या संश्लेष ज़रूरी है। देमोस्थेनीज़ के एक अंश का उद्धरण देकर लांजाइनस ने इसे बहुत अच्छी तरह स्पष्ट किया है। एफ्योलिस की काव्य-कृति में एथेंस की पराजय का चित्रण था, वहाँ से प्रेरणा लेकर अपने भाषण में देमोस्थेनीज़ ने 'शपथोक्ति अलंकार' का प्रयोग किया। लांजाइनस इसे 'संबोधन' कहते हैं। एफ्योलिस तो अलंकार के मोह में पड़कर संकट झेलने वाले मनुष्यों से युद्ध जैसी निर्जीव

वस्तु में भटक गए। जैसे बहुत से रीतिवादी कवि वस्तु-गणना में भटक जाते थे! लेकिन दमोस्थेनीज़ ने शपथोक्ति के मर्म को पकड़ा और विषय के दबाव से उसे अपने प्रसंग के अनुकूल ढाला। उन्होंने मृतकों को 'देवपुरुष' की तरह याद करते हुए 'अपने पूर्वजों को देवत्व प्रदान किया है।' फलतः उनकी 'युक्ति में विश्वास की शक्ति' आ गयी है और उनकी युक्ति 'अलौकिक औदात्य और संवेग के अवतरण में रूपांतरित' हो गयी है। इस प्रकार अनेक भूमिकाओं के संश्लिष्ट हो जाने के कारण उनका कथन 'एक साथ ही शपथ, प्रशस्ति और प्रोत्साहन' का उदाहरण बन गया है। दमोस्थेनीज़ का उद्देश्य था यह संदेश देना कि स्वतंत्रता के लिए युद्ध को विनाश न समझें। वह अपने उद्देश्य से नहीं भटकते, इसलिए अलंकार वस्तु से विच्छिन्न नहीं होता, न वह वस्तु को अपदस्थ करके अपनी सत्ता जताता है।

दरबारी साहित्यशास्त्र में अलंकारों का सर्वाधिक महत्व होता है। बुढ़ापे में रोमान ही नहीं बढ़ता, सुरमा-खिजाब की लत भी बढ़ती है। भाव और कला में अतिशय श्रृंगारिकता किसी संस्कृति की पतनशीलता ज़ाहिर करती है। स्वाभाविक ओज और सौंदर्य के क्षय को शैली के बनाव-श्रृंगार से छिपाने की कोशिश होती है। लांजाइनस ने इस साहित्यशास्त्र की विशद आलोचना करते हुए अलंकारों पर विस्तार से लिखा है। वे स्पष्ट घोषणा करते हैं कि 'प्रत्येक वाक्य में अलंकार की झंकार व्यर्थ का आडंबर होगा।' इसलिए अलंकारों का प्रयोग वहीं होना चाहिए जहाँ ज़रूरी और उचित हो, इस तरह होना चाहिए कि अलंकारों पर अलग से ध्यान न जाये - वे वस्तु का अंग हों, तभी वे स्वयं भी उदात्त से शक्ति प्राप्त करते हैं - यानी सच्चे सौंदर्य से भर जाते हैं, और भव्यता के आलोक में उन्हें वैसे ही छिप जाना चाहिए जैसे सूर्य के आगे आसपास के मद्धिम प्रकाश छिप जाते हैं। अलंकारों को मंद प्रकाश बताकर लांजाइनस दरबारी सौंदर्य-बोध का ऐसा मूल्यांकन कर देते हैं जो हर प्रगतिशील युग में संदर्भवान रहता है। उदात्त सूर्य का प्रकाश है, जो रीतिवादी-कलावादी शास्त्र का विकल्प है।

लांजाइनस कल्पना की यह भूमिका मानते थे कि वह विषय को प्रत्यक्ष कर दे। इस मूर्तिविधान का दूसरा नाम बिंब है। बिंब सघन भाव और उद्दीप्त कल्पना से निर्मित कला के घटक हैं। आधुनिक सौंदर्यशास्त्र में इन कल्पना-चित्रों को ही नहीं, इंद्रिय-अनुभाव को भी बिंब कहा जाता है। शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध - ये बिंब-ग्रहण के माध्यम या रूप हैं। लांजाइनस के समय बिंब का यह विषद विवेचन न हुआ था। फिर भी उन्होंने भावों के उद्दीपन और रचनाकर की उत्तेजना में पाठक की हिस्सेदारी के बारे में अलंकारों से ज्यादा ज़रूरी 'साहसपूर्ण बिंब-विधान' को माना है, जो उनकी मौलिक सूझ-बूझ का उदाहरण है। यह सही है कि बिंब-विधान भी स्वतंत्र घटक नहीं है, वह अलंकारों की तरह भावोद्दीपन का साधन है। इसलिए जिन कवियों के बिंब रोमानी अतिरंजना के कारण 'विश्वसनीयता की सीमा लांघ जाते हैं', वे निष्प्राण होते हैं, जिन वक्ताओं के बिंब 'वास्तविक और सत्य' होते हैं, वे अपेक्षित प्रभाव जगाते हैं। बिंब की कलात्मक शक्ति इस बात में है कि वह कवि के लिए भावों की प्रबलता और सघनता का आधार है और पाठक के लिए वर्णन की सजीवता का। लेकिन अगर वह 'तथ्यों पर दबाव डालने' लगें, अतिशयोक्ति की तरह वस्तु को छोटा या बड़ा करने लगे, तो नुकसानदेह हैं।

भाषा की युक्तियाँ इस नियम से बाहर नहीं हैं। अनावश्यक होने पर 'महान और राजसी शब्दावली' वैसे ही हानिकर है, जैसे अत्यावश्यक होने पर 'तिरस्करणीय और गर्हित भाषा' भी सहायक हो जाती है। रंग और गंध की रुचियों की तरह भाषा की जातीय लय होती है। शब्द और अर्थ की एकता होने से भाषा रंग-गंध की अपेक्षा जातीय संस्कृति से और भी सीधा संबंध रखती है। 'हमारी मान्यता है कि रचना एक प्रकार की शब्दगत लय है - ऐसे शब्द जो मानव-प्रकृति के अंग हैं और जिनका प्रभाव उसके कानों पर ही नहीं बल्कि सीधे उसकी आत्मा पर भी पड़ता है।' लांजाइनस को इस बात का श्रेय नयी समीक्षा के दौर में बराबर दिया गया है कि उन्होंने 'विशिष्ट क्रम में शब्दों की योजना' को मानव-शरीर के अंगों की तरह आपस में संबंधित बताकर आवयविक रचना-सिद्धान्त का संकेत किया। लेकिन उन्होंने इस 'क्रम' में मानव-प्रकृति से संबद्ध लय देखी, इस ओर ध्यान नहीं दिया गया है। कविताओं में यह लय चित्र-निर्माण के द्वारा भावोद्दीपन में विशेष सहायक होती है। विचार से एकमेव होकर वह उत्कर्ष लाती है। इसे एक उदाहरण से समझें। निराला की कविता है - 'जल्द-जल्द पैर बढ़ाओ आओ, आओ।' यहाँ कवि का उद्बोधन ही नहीं है, हर शब्द पर रुकते हुए चलने की लय से कदम बढ़ाते हुए आने वाले लोगों का चित्र भी बनता है। इस क्षिप्र-लय के साथ 'संध्या-सुंदरी' की तुलना करें -

दिवसावसान का समय,
मेघमय आसमान से
उतर रही थी वह, संध्या-सुंदरी-
परी-सी-
धीरे, धीरे, धीरे।

जैसा धरती आकश को एक करने वाला बिंब है, वैसे ही प्रदीर्घ शब्द और बिना विराम के एक-दूसरे शब्द तक अनायास खींच ले जाने वाली लय भी उस विस्तार की अनुभूति कराते हैं। लय का यही गुण संगीतात्मकता है। लेकिन 'दुर्बल-खंडित लय' और 'अतिलयात्मकता' दोनों क्रिया-व्यापार और शब्दार्थ को बाधित करते हैं। कवि ही नहीं, गद्यकार भी जातीय लय से अपनी अभिव्यक्ति को खींचकर अपनी कला निखार सकते हैं - जैसे होमर की असंख्य पदावलियाँ अपने गद्य में लाकर प्लेटो शुष्क 'दार्शनिक सिद्धान्तों में फूलों की बहार' और 'काव्यात्मक पदावली का सिंगार' ले आते हैं।

संक्षेप में, कलात्मक युक्तियों के यथासंभव हर पहलू पर लांजाइनस ने विचार किया है और उनके संबंध में भिन्न-भिन्न कसौटियों का इस्तेमाल किया है, परंतु अपना यह मूल सिद्धान्त वे बराबर अपनाये रहे कि कला-चातुरी छिपी रहनी चाहिए, बिंब-अलंकार-भाषा आदि सहज, स्वतःस्फूर्त और परिस्थिति की उपज मालूम हों। उनका यह प्रसिद्ध कथन स्मरणीय है कि किसी रचना में विचार और पद-रचना परस्पर निर्भर रहती है.........सुंदर शब्द विचारों का साक्षात आलोक हैं।'

12.4.4 प्रकृति और कला

प्रकृति का अर्थ है स्वभाव और स्वाभाविकता। उसमें बाह्य प्रकृति, जिसकी एक रचना मनुष्य है, आंतरिक प्रकृति जो देश-काल की परिस्थिति से संबद्ध है, और कला की सहजता जहाँ वाणी के साधन आत्मा की गरिमा के सहायक बनकर आते हैं, तीनों चीजें शामिल हैं। प्रतिभा और निर्दोषता के संबंध पर विचार करते हुए प्रकृति और कला के बारे में लांजाइनस के कुछ विचार हम देख चुके हैं। अन्य विषयों की तरह इस संबंध में भी उनकी सैद्धान्तिक कसौटी और व्यवहारिक विश्लेषण एक-दूसरे के सर्वथा अनुकूल हैं। उनका सिद्धान्त यह है कि ''प्रत्येक सृजन का आदि कारण और महान उदाहरण उदाहरण प्रकृति है।' लेकिन कला में उसे 'अभिव्यंजक' बनाते समय नियमों की निर्दोषता के प्रश्न कला या शास्त्रविधि की देन हैं। अपनी इस द्वन्द्वात्मक दृष्टि के कारण ही वे शास्त्रवाद या स्वछंदतावाद के एकांगी आग्रहों से बचकर प्रतिभा और अंकुश, नैसर्गिक प्रेरणा और अनुकूल शिक्षा दोनों को साथ-साथ ज़रूरी मानते हैं। देमोस्थेनीज़ का उदाहरण देकर वे यह सुंदर वाक्य लिखते हैं, 'सौभाग्य का स्थान प्रकृति को और सद्विवेक का स्थान कला को प्राप्त है।' एक के बिना दूसरे का अस्तित्व अपने आप मिट जायेगा, यह समझना मुश्किल नहीं है। सौभाग्य (महान आत्मा) के बिना सद्विवेक (कला चातुरी) भव्य नहीं बन सकती और सद्विवेक के बिना सौभाग्य बचा नहीं रह सकता। प्रकृति खुद भी नियमरहित और मनमानी नहीं है, इसलिए प्रतिभा का अराजक विस्फोट भी गरिमापूर्ण नहीं बन सकता। दोनों का यह अनिवार्य संबंध लांजाइनस को इस निष्कर्ष तक पहुँचाता है कि 'कला तभी पूर्ण होती है जब वह प्रकृति के समान प्रतीत होती है और प्रकृति तभी सफल होती है जब वह अपने तई कला को छिपा ले जाती है।' प्रकृति को प्राथमिक मानते हुए भी कला के महत्व के प्रति लांजाइनस उदासीन नहीं हैं। साथ ही, इनमें कौन सहायक है और कौन प्राथमिक, वे इस बारे में भी भ्रमित नहीं हैं।

12.5 लांजाइनस का अवदान

पिछले भाग में हम पढ़ चुके हैं कि लांजाइनस ने रीतिवादी-शास्त्रीय आलोचना-दृष्टि का व्यवस्थित रूप में विरोध करते हुए जनतांत्रिक दृष्टिकोण की प्रतिष्ठा की। कला के रूपगत पक्षों की आलोचना के क्रम मे उन्होंने प्रकृति पर ध्यानं केंद्रित करके स्वच्छंदतावाद के तत्वों का भी उपयोग किया। अपने को इन दोनो प्रवृत्तियों में किसी के साथ न बांधकर सामाजिक जीवन और कलाकार की अंतरंगता की नयी कसौटियाँ पेश कीं। उदात्त को सबसे बड़ा मूल्य बनाते समय उसे अनेक बातों के सामंजस्य और संतुलन का परिणाम बताया। इस प्रकार, यथार्थवादी दृष्टि और द्वन्द्ववादी पद्धति की आधारशिला रखी।

उनकी आलोचना पर विचार करते हुए विमसाट-ब्रुक्स ने उसमें 'कसौटियों की विविधता' को एक असाधारण खूबी बताया है। हमने यह देखा है कि कसौटियों की विविधता के साथ-साथ कसौटियों की निरंतरता भी उनकी महत्वपूर्ण विशेषता है। अपनी सुसंगत आलोचना-दृष्टि के नाते लांजाइनस कसौटियों का मनमाना इस्तेमाल नहीं करते, बल्कि तथ्यों और कलात्मक साधनों के प्रयोग में चयन-दृष्टि को अत्यधिक महत्व देते हैं। यही गुण विविधता को अंतस्सूत्रित करता है और उसे अंतर्विरोधों का पुंज नहीं बनने देता।

स्कॉट-जेम्स ने उन्हें 'तुलनात्मक आलोचना' के विकास में एक पड़ाव माना है। समकालीन काव्य की उनकी आलोचना की गंभीरता और सूक्ष्मता को देखते हुए डॉ.निर्मला जैन ने उन्हें 'व्यावहारिक

आलोचना' के लिए स्थायी महत्व के औज़ार प्रदान करने का श्रेय दिया है। होमर के विवेचन में उन्होंने 'इलियद' और 'आदेसी' की जो तुलना की है, वह सृजनात्मक आलोचना का अविस्मरणीय उदाहरण है। अंतर्दृष्टि की सूक्ष्मता, कला की परख, इतिहास-बोध, भाव-प्रवणता और संतुलित विवेक की दृष्टि से वह अंश अद्वितीय है। उन्होंने पहली बार दोनों कृतियों का रचनाक्रम निर्धारित किया और 'ओदेसी' 'इलियद' के बाद की रचना है, इसके संकेत उन्होंने दोनों कृतियों के भीतर से प्राप्त किये -- प्रतिभा के उत्कर्ष काल में 'इलियद' का नाटकीय क्रिया-व्यापार, वृद्धावस्था के चलते 'ओदेसी' में रोमांस और समाख्यान, 'ओदेसी में होमर की तुलना डूबते सूर्य से की जा सकती है, जिसमें भव्यता तो रह जाती है किंतु तेज नहीं होता।.....ऐसा प्रतीत होता है मानों कोई सागर अपने तल में सिमटकर अपनी परिसीमाओं में शांत पड़ा हो।........मैं वृद्धावस्था का वर्णन कर रहा हूँ, किंतु होमर की।'

यह अंकुठित विवेक और परिपक्व सहृदयता उनके निबंध की अनुपम देन है। उन्होंने यथार्थवादी दृष्टि से सामाजिक जीवन और कला के संबंधों का निरूपण किया और मनुष्य की जातीय संस्कृति से अभिव्यक्ति का संबंध पहचाना। स्वतंत्रता को वे सर्वोच्च महत्व देते थे और उदात्त की अवधारणा ने, व्यापक अर्थ में , स्वतंत्रता को कलात्मक विवेक का रूप प्रदान किया। अपने द्वन्द्ववादी नज़रिये के कारण लांजाइनस अंधराष्ट्रवादियों की तरह अतीत-पूजा में और साम्राज्यवादियों की तरह राष्ट्रीय उत्पीड़न में विश्वास नहीं रखते थे। समाज और कला के रिश्तों की समीक्षा करते हुए उन्होंने व्यापक समाजशास्त्रीय दृष्टि अपनायी, जिसमें इतिहास और मनोविज्ञान का भी समावेश था। उनका विवेचन कला से विशेष संबंध रखता है, पर उनका दृष्टिकोण बहुज्ञानशास्त्रीय है। इसीलिए उनके विचारों को विभिन्न साहित्यिक प्रवृत्तियों ने बराबर अपनाया है फिर भी उसकी संभावनाएँ चुकी नहीं हैं। उदात्त प्रभाव के बारे में उन्होंने लिखा था, 'इस गर्वोन्नत मन:स्थिति में हम आनंदपूर्ण अहंकार का अनुभव करते हैं गोया उस सुनी हुई कृति के स्रष्टा हम स्वयं ही हों।' पाठक को ही रचयिता मानने वाला (रीडर ऐज़ राइटर का) जो उत्तर-आधुनिकतावादी सिद्धान्त है, लांजाइनस का यह कथन उसके निकट पड़ता है। अंतर यह है कि लांजाइनस के यहाँ वक्ता के प्रभाव से श्रोता अभिभूत होता है और उत्तर-आधुनिक पाठक अपने अनुभव-संदर्भ के आधार पर कृति का अपना पाठ बनाता है। लांजाइनस इस तरह के मनमानेपन की छूट न रचनाकार को देते हैं, न पाठक को।

12.6 सारांश

प्रस्तुत इकाई में आपने पढ़ा कि लांजाइनस तीसरी सदी के यूनानी विचारक थे जो रोम में बस गये थे। 'पेरिइप्सुस' उनका अकेला निबंध है जो अपने खंडित रूप में उपलब्ध है। इस ग्रंथ की खोज 1554 ई. में रॉबर्टेलो ने की थी और उसका पहला अंग्रेजी अनुवाद 1662 में जॉन हॉल ने किया था। पहले 'इप्सुस' के अर्थ को लेकर अनिश्चय रहा, किंतु 1674 में बोइलो के फ्रांसीसी अनुवाद के बाद उसका अर्थ निश्चित हो गया - 'सब्लाइम' (उदात्त)। उदात्त की अवधारणा पेश करते हुए लांजाइनस ने अपने समाज के वर्ग-भेद की तीखी आलोचना की भाषण और कला के रूढ़वादी-रूपवादी विचारों को संपत्तिधारी वर्गों की आडंबर-प्रिय संस्कृति का अंग बताया और स्वयं उदात्त को प्रकृति और मानव-गरिमा का प्रतिबिंब सिद्ध किया। उन्होंने प्रेरणा और अनुशासन में एकता का सिद्धान्त प्रस्तुत किया और उदात्त का संबंध साहित्य, ललित कलाओं और अभिव्यक्ति के दूसरे साधनों से जोड़कर 'शुद्ध-साहित्य' के नज़रिये का विरोध किया। उनकी अनेक स्थापनाएँ भारतीय चिंतन से मिलती-जुलती हैं।

लांजाइनस ने उदात्त के प्रभाव को सार्वभौम और सार्वकालिक माना। उदात्त का लक्ष्य है मनुष्य का नैतिक उन्नयन। इसलिए कला-संबंधी निर्दोषता उतनी ज़रूरी नहीं है, जितना ज़रूरी है आडंबर और अतिरेक से बचना। शब्दाडंबर, बचकानापन और भावाडंबर - तीन दोष उदात्त के बाधक हैं। इनसे बचने की योग्यता महान आत्मा का गुण है। उदात्त का सबसे महत्वपूर्ण स्रोत है महान पुष्ट विचारों को धारण करने की क्षमता, जो महान आत्मा का गुण है। प्रबल भावावेग की प्रेरणा उदात्त का दूसरा स्रोत है। इन दो अंतरंग स्रोतों के बाद अभिव्यक्ति को निखारने के साधन हैं - विचारों एवं भावों से संबंधित अलंकारों का औचित्यपूर्ण प्रयोग तथा गरिमापूर्ण शब्दावली - शब्दों का चुनाव, शब्द-भंडार और बिंब। इन चारों के समन्वय से गरिमा और ऊँचाई का समग्र प्रभाव निर्मित होता है और वह कृति की पूरी संरचना में से अपने आप प्रकट होता है। तुच्छ कार्यों में लगे रहने वाले लोग उदात्त से बहुत दूर जा पड़ते हैं। इसलिए महान विचार और भव्य प्रेरणा का घनिष्ठ संबंध मनुष्य के आचार-विचार-व्यवहार और सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश से है। कला के साधन तभी सार्थक होते हैं, जब वे एक तरफ गरिमापूर्ण आत्मा से, दूसरी तरफ जीवन के यथार्थ से संबद्ध हों। यथार्थ का मतलब ब्योरों का संग्रह नहीं, मानवीय विवेक से

यथार्थ की तर्कसंगत पहचान है, यथार्थ के उदात्त और जीवत अंशों की पहचान है। इसलिए चयन-दृष्टि का अत्यधिक महत्व है। इस चयन-दृष्टि के नाते ही संवेग-कल्पना-तर्क जैसी आंतरिक शक्तियाँ और अलंकार-बिंब-भाषा जैसी कलात्मक युक्तियाँ उचित अनुपात में प्रस्तुत होकर उदात्त की सृष्टि करती हैं। उदात्त की नयी कसौटी पेश करते हुए लांजाइनस न केवल प्रचलित काव्यशास्त्र से, बल्कि प्रचलित समाज व्यवस्था और मूल्य व्यवस्था से भी तीखा असंतोष व्यक्त करते हैं। यह असंतोष उन्हें गंभीर अर्थ में विद्रोही, यथार्थवादी और मानवतावादी बनाता है।

12.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

R.A. Scott-James : **The Making of Literature**, Secker & Warburg, London.

Prof. W. Rhys Roberts : **Longinus On The Sublime**, Cambridge : At The University Press.

J.W.H. Atkins : **Literary Theory In Antiquity**, Vol.-II, Cambridge: At The University, Press.

डॉ. निर्मला जैन, **उदात्त के विषय में**, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 1983।

डॉ. नगेन्द्र और नेमिचन्द्र जैन (अनुवादक), **काव्य में उदात्त तत्व**, राजपाल एंड संस, दिल्ली।

12.8 अभ्यास के लिए प्रश्न

1. लांजाइनस और उनके 'पेरिइप्सुस' पर प्रकाश डालिए।
2. उदात्त के विषय में लांजाइनस के प्रमुख विचारों का प्रतिपादन कीजिए।
3. लांजाइनस के प्रमुख आलोचना सिद्धांतों पर प्रकाश डालिए।

इकाई 13 जॉन ड्राइडन : युग परिवेश और आलोचना सिद्धांत

इकाई की रूपरेखा

13.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- बता सकेंगे कि अंग्रेज़ी में विश्लेषणात्मक समीक्षा का सूत्रपात किसने किया;
  पुनःस्थापन युग के परिवेश की जानकारी दे सकेंगे;
- ड्राइडन के 'नाट्य-काव्य' नामक निबंध के विषय में चर्चा कर सकेंगे; और
- ड्राइडन के आलोचना सिद्धांतों का उल्लेख कर सकेंगे।

13.1 प्रस्तावना

जॉन ड्राइडन को अंग्रेज़ी की विश्लेषणात्मक समीक्षा का संस्थापक माना जाता है। उनसे पहले इंग्लैंड में आलोचना की कोई व्यवस्थित परंपरा नहीं थी। पूर्ववर्ती पुनर्जागरण या एलिज़ाबेथ-युग रचनात्मक दृष्टि से काफी उर्वर था। उस समय मार्लो, शेक्सपियर, बेन जॉनसन - जैसे उच्च कोटि के रचनाकार हुए थे जिनमें पुनर्जागरण अपनी पूरी शक्ति के साथ फूट पड़ा था। किंतु उस समय की आलोचना निर्णयात्मक, पांडित्यपूर्ण और शास्त्रीय उद्धरणों से बोझिल है। उसमें न तो किसी रचना के विवेचन-विश्लेषण का प्रयास है, न मूल्य-निर्णय में समसामयिक रचनाशीलता को अधार बनाया गया है। यूनानी-रोमी काव्य -प्रतिमानों का आतंक इतना हावी है कि आलोचक प्राय: उनसे बाहर जाने की बात सोच ही नहीं पाता। वह अरस्तू, होरेस आदि के काव्य-सिद्धांतों को आधार बनाकर रचना-कर्म में प्रवृत्त होने का उपदेश देता है, किंतु समसामयिक सृजन के संदर्भ में उन सिद्धांतों का आकलन नहीं करता। ड्राइडन ने अपने आलोचनात्मक लेखन द्वारा इन सीमाओं का काफी हद तक अतिक्रमण किया।

ड्राइडन मूलत: कवि और नाटककार थे। आलोचना उनकी साहित्यिक चिंता का प्रमुख क्षेत्र नहीं था। सत्रहवीं सदी में आलोचना को स्वतंत्र विधा के रूप में मान्यता प्राप्त नहीं हुई थी। सैद्धांतिक आलोचना पर ड्राइडन की एक ही रचना है - 'ऑफ ड्रामेटिक पोइज़ी' (नाट्य काव्य) जो 1688 में प्रकाशित हुई थी। इसकी विस्तार से चर्चा हम आगे करेंगे। उनकी शेष कृतियाँ स्वयं अपनी रचनाओं की प्रस्तावनाओं तथा समर्पणपत्रों के रूप में हैं। इन प्रस्तावनाओं का उद्देश्य अपने नाटकों और कविताओं का श्रोतावर्ग तैयार करना था। उनकी इन्हीं प्रस्तावनाओं के द्वारा धीरे-धीरे अंग्रेजी आलोचना का रूपांतरण हुआ।

13.2 ड्राइडन (1631-1700) का युग और परिवेश

ड्राइडन के संपूर्ण रचनाकाल का संबंध पुन:स्थापन युग (Restoration Age - 1660-1700) से है। लगभग ग्यारह वर्ष के लोकतांत्रिक प्रयोग के बाद 1660 में राजतंत्र की फिर से स्थापना हुई थी। राजशाही की पुन:स्थापना के बावजूद यह काल एक नए युग के आगमन का सूचक है। ऊपर-ऊपर से

देखने पर तो ऐसा लगता है कि लोकतंत्र का प्रयोग विफल रहा किंतु असलियत यह है कि एक बार आरंभ होने के बाद लोकतंत्रिक मूल्यों के विकास की यह प्रक्रिया रुकी नहीं, वरन् उत्तरोत्तर तेज होती गई और राजतंत्र को अंतिम झटका 1688 की गौरवपूर्ण क्रांति (ग्लोरियस रिवोल्यूशन) से लगा। इस क्रांति से यह अंतिम रूप से स्पष्ट हो गया कि संसद की सत्ता सर्वोपरि है। चूंकि इस सत्ता-परिवर्तन में कोई खून-खराबा नहीं हुआ, इसीलिए इसे 'गौरवपूर्ण क्रांति' की संज्ञा दी गई है। अतः राजनीतिक दृष्टि से ब्रिटिश जनों का आधुनिक विकास यद्यपि 1688 से आरंभ होता है किंतु नैतिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विकास का यह सिलसिला 1660 से ही शुरु हो जाता है। चार्ल्स द्वितीय के पुन:स्थापन 1660 से एक नए समाज और नवीन साहित्य का आरंभ होता है। ड्राइडन इस नई चेतना के वाहक रचनकार हैं।

पुनःस्थापन का उदय गणराज्यकालीन संयम की कोख से हुआ था। शुद्धतावादियों ने सभी प्रकार के आनंद और उल्लास पर प्रतिबंध लगा दिया था। अत: इंग्लैंड में 1642 से 1660 तक सभी नाट्यगृह बंद रहे। शुद्धतावादी या प्यूरिटन (Puritans) अंग्रेजी प्रोटेस्टेंटों का वह वर्ग था जो यह मानता था कि एलिजाबेथ - युग में धर्मसुधार का जो सिलसिला चला वह काफी नहीं था। वस्तुत: चर्च में और ज्यादा क्रांतिकारी सुधार होने चाहिए थे। 17वीं सदी में गृहयुद्ध के दौरान शुद्धतावादियों का राजनीतिक वर्चस्व रहा और क्रॉमवेल के नेतृत्व में राजशाही को उखाड़ फेंकने में उन्होंने प्रमुख भूमिका निभाई। उनका बल आचरण की शुद्धता पर था। इसीलिए गणतंत्र काल (1649-1660) के दौरान इंग्लैंड में शराबखाने और नाट्यगृह बंद कर दिए गए थे। पुनःस्थापना के साथ ही ये नाट्यगृह फिर से खुल गए और जन-उत्सवों तथा जन-समारोहों की बाढ़-सी आ गई। इन गतिविधियों से नाट्य लेखन तथा उनके मंचन को बढ़ावा मिला और नाटक युग की केंद्रीय विधा के रूप में उभरकर सामने आया।

पुन:स्थापन से पहले पुनर्जागरण का युग था जिसमें रचनात्मक ऊर्जा का विस्फोट हुआ था। यह एलिजाबेथ का और शेक्सपियर का युग था। इसकी उपलब्धियाँ अप्रतिम थीं। पुनःस्थापन युग के रचनाकारों - विशेष रूप से ड्राइडन की स्मृति में यह युग बसा हुआ है। उन्होंने 'पूर्ववर्ती युग' कहकर इसका बार-बार उल्लेख किया है। इस युग के साहित्य में प्रेरणा-प्रसूत आवेग और कल्पनाशीलता की प्रधानता है। किंतु पुनर्जागरण से पुन:स्थापना में संक्रमण के दौर में लेखकों की मनोवृत्ति और साहित्य के स्वर में धीरे-धीरे बदलाव आ रहा था। वैचारिकता के प्रति रुझान के साथ-साथ भाव में संश्लिष्टता और जटिलता बढ़ती जा रही थी। भाव प्रधान साहित्य का स्थान विचार प्रधान साहित्य लेता जा रहा था। व्यवस्था और संतुलन पर बल था। कला में बौद्धिकता का प्रभाव बढ़ रहा था क्योंकि बौद्धिकता ही वह तत्व है जिससे व्यवस्था और संतुलन को बल मिलता है।

इस बौद्धिकता का एक परिणाम यह हुआ कि जीवन के हर क्षेत्र में तर्क और शोध की भावना का विकास हुआ। मानव-मूल्यों की जाँच-पड़ताल और भौतिक रहस्यों की खोज करके उन्हें व्यवस्थित रूप देने की स्पृहा बलवती हुई। नैतिक और राजनीतिक दर्शन नई विधि-संहिता बनाने की ओर प्रवृत्त हुए। देकार्त व्यवस्था को बढ़ावा मिला। अंग्रेजी दार्शनिक हॉब्स (1588-1679) की कृतियों में मानव बुद्धि का विधिवत अध्ययन किया गया।

वैज्ञानिक चेतना के उदय और प्रसार से भी तार्किकता की प्रवृत्ति पुष्ट और दृढ़ हुई। इस काल में विज्ञान युग का फैशन बन गया था। विलियम हार्वे (1578-1657) ने रक्त-संचार की खोज कर ली थी। रॉयल सोसाइटी, जिसकी स्थापना विज्ञान को बढ़ावा देने के लिए की गई थी, वैज्ञानिक सरगर्मी का केंद्र बनती जा रही थी। न्यूटन (1642-1727) ने अपने अनेक शोध-परिणाम पहले-पहल इसी सोसाइटी में उद्घाटित किए थे। तर्क और विज्ञान के प्रभाव से इस युग के गद्य में एक खास तरह की ताजगी और पारदर्शिता है जो इससे पहले के गद्य में दुर्लभ थी। ड्राइडन के गद्य में यह पारदर्शिता और ताजगी सबसे ज्यादा है, इसीलिए उन्हें आधुनिक अंग्रेजी गद्य का जनक भी माना जाता है।

पुनःस्थापन काल में फ्रांस का प्रभाव अधिक मुखर रूप में सामने आया। पुनर्जागरण काल में यूनानी-रोमी प्रभाव इटली के माध्यम से आया था। पुनःस्थापन काल में इस प्रभाव का स्रोत फ्रांस बन गया। चार्ल्स प्रथम की हत्या 1649 के बाद चार्ल्स द्वितीय के साथ अनेक दरबारी, अभिजात वर्ग के सदस्य, लेखक और बुद्धिजीवी फ्रांस चले गए थे और उन्होंने फ्रांसीसी आचरण और सभ्यता को बहुत गहराई से आत्मसात किया था। पुनःस्थापना के साथ फ्रांसीसी प्रभाव बड़े समारोह के साथ जीवन के विविध क्षेत्रों में प्रवेश करने लगा। दरबार से लेकर राजधानी के फैशनपरस्त क्षेत्रों तक यह प्रभाव देखा जा सकता है। जीवन के बाह्य रूपों, तरह-तरह के फैशनों और आचरण पर यह प्रभाव अधिक मुखर है। अनेक फ्रांसीसी कृतियों का अनुवाद किया गया। ड्राइडन ने स्वयं बड़े मनोयोग से फ्रांसीसी आलोचकों का अध्ययन किया। फ्रांसीसी गद्य ने भी अंग्रेजी गद्य को प्रभावित किया। भाषा के माध्यम से यह प्रभाव

धीरे-धीरे भाव और चिंतन के क्षेत्र में भी पहुँचा और कलाकृतियों के माध्यम से इसने तत्कालीन अभिरुचि को प्रभावित किया। कालांतर में यह प्रभाव इतना सर्वग्रासी हो उठा कि इसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप सांस्कृतिक क्षेत्र में एक प्रकार की राष्ट्रीय भावना को बल मिला। सांस्कृतिक राष्ट्रीयता की यह चेतना ड्राइडन की आलोचना का मूल स्वर है।

इस दौर में लेखकों की कुछ श्रेणियों को अन्यों की तुलना में बहुत बेहतर सुविधाएँ मिली हुई थीं। पुराने और नए अभिजात वर्ग के लोग लिखने में अपनी शान समझते थे। वीरता और प्रेम के प्रदर्शन के बजाय अब वे साहित्यिक गतिविधियों में अधिक रुचि लेने लगे थे। इसके पहले के किसी युग में ऐसा झुकाव देखने में नहीं आया था। लेकिन मध्य वर्ग और निम्न वर्ग से आने वाले लेखकों की संख्या में भी उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही थी। राष्ट्र के निम्न स्तरों पर संस्कृति का विस्तार होने लगा था। किंतु जिन लोगों की सामाजिक प्रतिष्ठा नहीं थी वे केवल कलम के सहारे जीवन-यापन नहीं कर सकते थे। पुस्तकों के मुद्रण, प्रकाशन और बिक्री को कानूनी संरक्षण प्राप्त नहीं हुआ था, कलात्मक चीजों में संपत्ति के विचार को अभी मान्यता नहीं मिली थी और अंत में किसी सामान्य पाठक वर्ग का उदय अभी नहीं हुआ था। सामान्य पद्धति यह थी कि हर लेखक अपना कोई स्थायी या अस्थायी संरक्षक (Patron) चुन लेता था, उसकी प्रशंसा करता था, अपनी रचनाएँ उसे समर्पित करता था, उसके पारिवारिक जीवन की घटनाओं को समारोह की तरह मनाता था और बदले में उसे दान और पारितोषिक मिलता था। यह संरक्षण उसकी जीविका और सामाजिक प्रतिष्ठा का आधार था। ड्राइडन स्वयं अभिजात वर्ग के न थे, किंतु उनका विवाह अभिजात वर्ग में हुआ था। 1668 में वे राजकवि बने। उनकी अधिकतर कृतियाँ किसी-न-किसी आश्रयदाता को समर्पित है। 1688 की क्रांति के बाद वे राजकृपा से वंचित हो गए थे, अत: अपने जीवन के अंतिम 10-12 वर्ष उन्हें बड़ी कठिनाइयों में गुज़ारने पड़े। किंतु इस दौर में उन्होंने अद्‌भुत भाव-संयम और सैद्धांतिक निष्ठा का परिचय दिया।

पुनःस्थापनकालीन साहित्य में अपने पूर्ववर्ती साहित्य के प्रति गहरी प्रतिक्रिया की भावना भी दिखाई देती है। इस काल के अनेक लेखक पुनर्जागरण काल के साहित्य का मूल्यांकन करते हैं और कई कारणों से अपने साहित्य को उससे बेहतर समझते हैं। ड्राइडन में भी यह द्वंद्व है हालाँकि पूर्ववर्ती साहित्य के प्रति उनकी पूरी सहानुभूति है। इस काल की आदर्श रचनाओं के स्रोत अन्यत्र हैं : प्राचीन आभिजात्यवादी यूनानी-रोमी-विशेष रूप से रोमी रचनाओं में और समसामयिक फ्रांस में। इस काल का लेखक शिल्पगत प्रौढ़ता को साहित्यिक विकास का लक्षण मानता है और स्वयं अपने युग को, इस दृष्टि से, अपने अन्य सभी युगों से आगे समझता है। पुन:स्थापना काल के साहित्य की मुख्य विशेषताएँ हैं - विश्लेषण और तर्क-वितर्क, यथार्थवादी दृष्टि, आलोचना, कामदी और व्यंग। इन विशेषताओं के अनुरूप ही इस युग की सर्वोत्तम उपलब्धियाँ गद्य के क्षेत्र में हैं।

ड्राइडन पुनर्जागरण से पुन:स्थापन काल में संक्रमण के दौर की अंतिम महान विभूति हैं। वे पुनर्जागरण को नव्यशास्त्रवादी युग से जोड़ने वाली कड़ी है। इसीलिए ड्राइडन में सहजता भी है और अनुशासन भी। शास्त्रवाद की दिशा में जो विकास हो रहा था उसे उन्होंने नेतृत्व प्रदान किया किंतु इस क्षेत्र में वे बहुत दूर तक नहीं गए। वे 1631 में पैदा हुए थे, अत: लंबे समय तक उन्हें गणराज्य के वातावरण में साँस लेने का अवसर मिला था। पुन:स्थापन तक पहुँचते-पहुँचते वे काफी परिपक्व हो गए थे। उनके स्वभाव में प्रकृति ने तर्क और व्यवस्था के साहित्य का बीजवपन कर दिया था जो अब धीरे-धीरे रूप ग्रहण कर रहा था। वे अपने युग के हैं और उसे अतिक्रांत भी करते हैं। इसलिए उनमें एक ओर स्पष्टता, अनुपात, नियमनिष्ठता और वैज्ञानिकता के तत्व हैं, तो दूसरी ओर कल्पना का ऐश्वर्य, शक्ति और जीवंतता के प्रति लगाव, आजस्वी छंदविधान और मूर्त प्रत्यक्षीकरण की प्रतिभा भी है। आरंभ में परंपरागत शास्त्रवाद की ओर झुकाव है, किंतु धीरे-धीरे स्वतंत्रता के प्रतिमानों की ओर प्रत्यावर्तन और विदेशी कला-प्रतिमानों की दासता के खिलाफ राष्ट्रीय प्रतिक्रिया का स्वर मुखर होता गया है। पुनःस्थापनाकालीन और पुनर्जागरणकालीन कला-मूल्यों के बीच इस द्वंद्व के चलते ड्राइडन को नव्यशास्त्रीय आलोचक कहना उचित नहीं होगा। इंग्लैंड में नव्यशास्त्रवाद का विकास 18वीं सदी में होता है।

13.3 'नाट्य काव्य' निबंध[1]

पुनःस्थापन काल की मुख्य विधा नाटक थी। इससे पहले एलिजाबेथ या शेक्सपियर के युग में भी नाटक ही केंद्रीय विधा के रूप में उभरकर सामने आया था। स्वयं ड्राइडन के आलोचना साहित्य के दो-तिहाई अंश का संबंध नाटक से है। उन्होंने नाट्य विधा को केंद्र में रखकर सहित्य पर विचार किया।

[1]इस निबंध के हिंदी अनुवाद एवं विस्तृत विवेचन के लिए देखिए- 'ड्राइडन के आलोचना सिद्धांत' पृ.111-191 व पृ.8-39.

जैसा कि आरंभ में उल्लेख किया गया था, सैद्धांतिक आलोचना पर ड्राइडन की एक ही रचना है - 'नाट्य काव्य' (1668)। यह निबंध ड्राइडन की आलोचना-दृष्टि का प्रतिनिधि उदाहरण है। इसीलिए उनकी सैद्धांतिक मान्यताओं की मूल प्रकृति को समझने में यह सबसे ज्यादा उपयोगी है। यह ड्राइडन की ऐसी आलोचना-कृति है जो उनकी किसी रचना-विशेष को ध्यान में रखकर नहीं लिखी गई है। इसका फलक सामान्य, अत: अधिक व्यापक है। इसीलिए सैद्धांतिक आलोचना की दृष्टि से यह अधिक महत्वपूर्ण भी है। इसमें ऐसा ढाँचा मिलता है जिसके अंतर्गत उनकी अन्य आलोचनात्मक रचनाओं को समाहित किया जा सकता है।

ड्राइडन के सामने प्राचीन यूनानी-रोमी नाटक की उपलब्धियाँ थीं, सत्रहवीं सदी का फ्रेंच नव्यशास्त्रीय नाट्य साहित्य था, समसामयिक पुन:स्थापनकालीन अंग्रेजी नाटक था और पिछले युग - शेक्सपियर के युग - की प्रशस्त नाट्य परंपरा थी। ड्राइडन पूरी समस्या पर इस रूप में विचार करना चाहते थे कि उक्त सभी नाट्य परंपरओं के उपयोगी और सर्जनात्मक पहलू सामने आ जाएँ जिससे नाट्य रचना के मूल सिद्धांतों का अधिक पूर्ण और व्यापक फलक निर्मित हो सके। वे आधुनिक संवेदना के वाहक रचनाकार थे, अत: समसामयिक रचनाशीलता के प्रति उनकी सहानुभूति स्वाभाविक थी। साथ ही अंग्रेजी नाट्य साहित्य की महत्व-प्रतिष्ठा द्वारा राष्ट्रीय स्वाभिमान की रक्षा भी उनका पूर्व-नियोजित उद्देश्य था।

राष्ट्रीय अस्मिता के लिए मुख्य चुनौती फ्रांस से थी। सत्रहवीं सदी के उत्तरार्ध में फ्रांस ने यह दर्शाया था कि नाटक के क्षेत्र में आभिजात्यवादी यूनानी-रोमी प्रतिमानों का कितना अच्छा उपयोग किया जा सकता है। वहाँ कार्नेई (1606-1684) और रासीन (1639-1709) जैसे प्रसिद्ध नाटककार हुए थे जिनके नाटकों में काल, स्थान और कार्यव्यापार की अन्वितियों का पूरी तत्परता से पालन किया गया था, त्रासदी तथा कामदी के तत्वों के मिश्रण को सावधानीपूर्वक बचाया गया था और जिन दृश्यों को रंगमंच पर दिखाना प्रेक्षकों के लिए जुगुप्साजनक हो अथवा जिन्हें देखने से उनकी कल्पना-शक्ति पर बहुत जोर पड़े उन्हें रंगमंच पर दिखाने के बजाय सूच्य की श्रेणी में रखना अधिक युक्तिसंगत माना गया था। फ्रांसीसी रंगमंच की तुलना में अंग्रेजी रंगमंच अनपढ़ और श्रीहीन दिखाई देता था। उसमें परिष्कार का अभाव था। फ्रांस में अंग्रेजी नाटककारों को एकदम असंस्कृत और बर्बर माना जा रहा था। शेक्सपियर भी इस आलोचना का अपवाद नहीं थे। इस विरोधी आलोचना का असर इंग्लैंड में भी पड़ रहा था क्योंकि यूरोप के सांस्कृतिक परिदृश्य पर उन दिनों फ्रांस का वर्चस्व था। अपने ''नाट्य काव्य'' निबंध में ड्राइडन ने पहली बार शेक्सपियर और उस काल के कुछ अन्य नाटककारों की अकुंठ भाव से सराहना की और इस प्रकार अपनी राष्ट्रीय अस्मिता को रेखांकित किया। एलिजाबेथीय नाट्य प्रतिमानों के प्रति उनका यह झुकाव उत्तरोत्तर बढ़ता गया। यह बड़ा ही समयोचित कार्य था। निबंध के आरंभ में, पाठक को निर्दिष्ट भूमिका में, उन्होंने लिखा : 'लेखक का उद्देश्य ऐसे लोगों की निंदा से अंग्रेज लेखकों के सम्मान की रक्षा करना है जो संपूर्ण न्याय-भावना को ताक पर रखकर उनकी तुलना में फ्रांसीसी लेखकों को अधिक पसंद करते हैं।' (वही, पृ.118)

पूरा निबंध संवाद-शैली में है। संवाद में चार पात्र भाग लेते हैं : क्रिटेस, यूजेनियस, लिसिडीयस और निएण्डर। इन पात्रों की ऐतिहासिक पहचान भी की गई है हालाँकि ड्राइडन ने इन्हें यूनानी नाम दे दिए हैं। निएण्डर जिसका शाब्दिक अर्थ है 'नया आदमी' स्वयं ड्राइडन है। संवाद के क्रम के अनुरूप ही पूरे विवेचन को तीन भागों में रखा जा सकता है : (क) प्राचीन बनाम आधुनिक, (ख) फ्रांसीसी बनाम अंग्रेजी; और (ग) तुकांत बनाम अतुकांत छंद। इस योजना के अनुरूप ही छह पूर्व निर्धारित वक्तव्य हैं : क्रिटेस प्राचीन यूनानी-रोमी लेखकों का पक्ष लेता है और यूजेनियस आधुनिक पुनःस्थापनकालीन लेखकों का, लिसिडीयस सत्रहवीं सदी के फ्रेंच नव्यशास्त्रीय नाटकों का पक्ष ग्रहण करता है और निएण्डर 'पिछले युग' शेक्सपियर के युग के अंग्रेजी नाट्य साहित्य का, क्रिटेस अतुकांत छंद ब्लैंक वर्स का समर्थन करता है और निएण्डर तुकांत छंद का क्योंकि पुन:स्थापनकालीन नाटक तुकांत छंद में ही रचे जा रहे थे। पूरे निबंध के विधान से ही अंग्रेजी नाट्य साहित्य की केंद्रीयता प्रकट होती है। जहाँ यूनानी-रोमी नाट्य साहित्य पर मुख्यतः दूसरे भाग में विचार किया गया है वहाँ अंग्रेजी नाट्य साहित्य तीनों भागों में विवेचन के केंद्र में रहता है।

क्रिटेस, यूजेनियस और लिसिडीयस के माध्यम से ड्राइडन तीन तरह के यूनानी-रोमी, फ्रांसीसी और पुनःस्थापनकालीन आभिजात्यवादी प्रतिमानों को अभिव्यक्ति का खुला अवसर देते हैं। चर्चा का मूल बिंदु तब प्रकट होता है जब निएण्डर अर्थात् नया आदमी, स्वयं ड्राइडन प्रकट होता है। नाटक की एक काम

चलाऊ परिभाषा लिसिडीयस ने आरंभ में वार्तालाप का क्रम शुरु होने से पहले दी थी जिसे सभी वक्ता बिना विशेष ना-नुकुर के स्वीकार कर लेते हैं। इससे यह ज़ाहिर होता है कि सैद्धांतिक प्रश्नों के प्रति ड्राइडन की दिलचस्पी कितनी कम थी। परिभाषा इस प्रकार है : 'नाटक मानव-जाति के आनंद और शिक्षा के लिए उसके भावों, मनोदशाओं और भाग्य के उतार-चढ़ाव का चित्रण किया जाता है।' (वही, पृ.126) तीनों वक्ताओं के तर्क यथातथ्यता जीवनगत सत्य और यथार्थ को केंद्र में रखकर चले हैं जिनमें शास्त्रीय नियमनिष्ठता पर बल है। निएण्डर, जो शेक्सपियरयुगीन अंग्रेजी नाटक का पक्षधर है, की रणनीति यह है कि वह चर्चा को यथातथ्यता से जीवंतता की ओर मोड़ देता है जिसमें यथार्थ के बजाय कल्पनाशीलता पर और मनोवेगों तथा मनोदशाओं के चित्रण पर, बल रहता है। उसके अनुसार अतिशय नियमनिष्ठता और औपचारिकता से जीवंतता जाती रहती है। वह अपने तर्क को इस रूप में रखता है कि यथातथ्यता और ज़ीवंतता में संबंध क्या है? उसके अनुसार यथातथ्यता और जीवंतता परस्पर विरोधी नहीं, एक-दूसरे के पूरक हैं। अच्छी रचना में दोनों एक-दूसरे से द्वंद्वात्मक रिश्ते में जुड़े रहते हैं। सच्ची कला दोनों के उचित संतुलन पर निर्भर है।

13.4 आलोचना सिद्धांत

13.4.1 नाट्य (काव्य) का स्वरूप

ड्राइडन ने नाटक की जो परिभाषा दी है वह व्याख्या-सापेक्ष है। परिभाषा के दो भाग हैं। पहले भाग में नाटक के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है : 'नाटक मानव-प्रकृति का यथातथ्य और जीवंत प्रतिबिंब है।' (**A just and lively image of human nature**)। यह परिभाषा नाटक के अलावा सर्जनात्मक साहित्य के अन्य रूपों पर भी लागू होती है। इसमें चार शब्द हैं जो महत्वपूर्ण हैं - प्रतिबिंब (image), यथातथ्य (just), जीवंत (lively) और मानव-प्रकृति (human nature)। 'प्रतिबिंब' शब्द के द्वारा ड्राइडन जीवन के आभासी स्वरूप पर बल देते दिखाई देते हैं। वस्तुतः वे मानव-प्रकृति के प्रतिबिंब और मानव-प्रकृति के सत्य में कोई अंतर नहीं मानते। प्रतिबंब यदि यथातथ्य हुआ, उसमें यदि यथार्थ का आधार हुआ, तो वह सच्चा भी होगा। किंतु इस प्रतिबिंब में मात्र यथातथ्यता ही न हो, जीवंतता भी हो। जीवंतता के लिए प्रतिभा या कल्पना अपेक्षित होगी। मानव-प्रकृति का यथातथ्य विवरण कोई मनोवैज्ञानिक भी दे सकता है, किंतु वह न तो जीवंत होगा, न प्रतिबिंब। इसी प्रकार यह भी संभव है कि कोई प्रतिबिंब जीवंत तो हो पर यथातथ्य न हो। इसके विपरीत मानव-प्रकृति का यथातथ्य प्रतिबिंब जीवंत होने के बजाय निर्जीव भी हो सकता है। ये सभी विशेषताएँ एक-साथ नाटक या सर्जनात्मक साहित्य में ही मिल सकती हैं, ज्ञान के अन्य रूपों में नहीं।

नाटक की प्रतिबद्धता मानव-प्रकृति के प्रति है। उसमें मानव-प्रकृति का अनुकरण या चित्रण रहता है। और यह मानव-प्रकृति कोई स्थिर या जड़ इकाई नहीं है। यह सतत परिवर्तनशील है। मानव-प्रकृति के निर्धारक तत्व हैं भाव (passions) और मनोदशाएँ (humours)। मनोदशाओ का संबंध बुद्धि से है और भावों का हृदय से। दोनों मिलकर, मानव-प्रकृति की बौद्धिक और संवेदनात्मक प्रतिक्रिया का अर्थ व्यक्त करते हैं। ऐतिहासिक विकास-क्रम में जैसे-जैसे हमारे ज्ञान का विस्तार होता गया है, वैसे-वैसे हमारे भावों में संश्लिष्टता और जटिलता बढ़ती गई है। अतः साहित्य किन्हीं पूर्व-निर्धारित नियमों को शाश्वत मानकर नहीं चल सकता। साहित्य की मूल प्रतिबद्धता इस सतत, परिवर्तनशील मानव-प्रकृति के प्रति है। इसलिए देश-काल के भेद के अनुसार साहित्य के स्वरूप में भी कुछ-न-कुछ परिवर्तन अवश्यंभावी है। अत: ड्राइडन की मान्यता है कि नए साहित्य के मूल्यांकन में पुराने निकष ज्यों-के-त्यों उपयोगी नहीं हो सकते। उनमें नई परिस्थितियों के अनुरूप संशोधन-परिवर्तन जरूरी है। इसके लिए जरूरी होगा कि या तो हम परंपरागत शास्त्र की नवीन व्याख्या करें, या फिर दूसरा विकल्प यह हो सकता है कि हम पुराने शास्त्र में आवश्यकतानुसार नया जोड़ते चलें। **अतः नाटक या साहित्य की वास्तविक नियामक मानव-प्रकृति है, शास्त्र नहीं। जहाँ दोनों में द्वंद्व हो वहाँ प्राथमिकता मानव-प्रकृति को ही देनी होगी, ऐसा ड्राइडन मानते हैं।** उन्होंने यह दिखाया है कि यदि मानव-प्रकृति के अनुकरण को निकष माना जाए तो यूनानी और फ्रांसीसी नाट्य साहित्य के समान अंग्रेजी नाटक भी पूरी तरह नियमानुवर्ती दिखाई देंगे - हालाँकि उनमें त्रासदी और कामदी के तत्वों का मिश्रण है, रंगमंच पर ऐसे दृश्यों को दिखाया गया है जिन्हें यूनानी-रोमी अथवा फ्रांसीसी नाट्य साहित्य में सूच्य की श्रेणी के अंतर्गत रखा जाता और अन्वितियों का सामान्यतः पालन नहीं किया गया है। इसका कारण यही है कि अंग्रेज़ी नाटक में शास्त्र के बजाय मानव-प्रकृति के अनुकरण को आधार माना गया है - उस मानव-प्रकृति के अनुकरण को जो सतत परिवर्तनशील है और ऐतिहासिक विकास के साथ-साथ जिसमें संश्लिष्टता और जटिलता की मात्रा उत्तरोत्तर बढ़ती गई है।

13.4.2 प्रयोजन : आनंद और शिक्षा

परिभाषा के दूसरे भाग में नाटक या काव्य के प्रयोजन को स्पष्ट किया गया है : 'उसमें मानव-जाति के आनंद और शिक्षा के लिए उसके भावों, मनोदशाओं और भाग्य के उतार-चढ़ाव का चित्रण किया जाता है।' ('........representing its passions and humours and the changes of fortune of which it is subject, for the delight and instruction of mankind.')

परिभाषा के इस अंश के आधार पर नाटक साहित्य का उद्देश्य है आनंद और शिक्षा : पहले स्थान पर आनंद, फिर शिक्षा। प्लेटो ने काव्य में शिक्षा को महत्व दिया था, अरस्तू ने आनंद को, होरेस ने आनंद और शिक्षा दोनों को और लांजाइनस ने भावोद्रेक को। ड्राइडन ने लिखा : 'कविता का प्रमुख उद्देश्य है आनंद, भले ही वह एकमात्र उद्देश्य न हो। शिक्षा को स्वीकार तो किया जा सकता है लेकिन दूसरे स्थान पर, क्योंकि कविता आनंद प्रदान करने की प्रक्रिया में ही शिक्षा देती है।' ('Delight is the chief if not the only end of poesy; instruction can be admitted but in the second place, for poesy only instructs as it delights.') (जॉर्ज वाटसन (संपा), 'ऑफ ड्रामेटिक पोइज़ि एंड अदर क्रिटिकल एसेज़', खड 1 और 2; 1962)

इस तथ्य को उन्होंने बार-बार रेखांकित किया है कि 'कवि का कार्य निश्चय ही अपने श्रोताओं को आनंद प्रदान करना है।' (वाटसन, खंड 1, पृ.214) पुनः 'लोगों को आनंद प्रदान करना कवि का उद्देश्य होना चाहिए क्योंकि नाटक उनके आनंद के लिए ही रचे जाते हैं।' (वही, पृ.120) अन्यत्र उन्होंने आनंद को कवि के उद्देश्य के साथ और शिक्षा को कविता के उद्देश्य के साथ संबद्ध किया है : 'कवि का मुख्य उद्देश्य है आनंद प्रदान करना : उसकी तात्कालिक प्रतिष्ठा इसी पर निर्भर है। कविता का महान उद्देश्य है शिक्षा जो आनंद को उस शिक्षा का माध्यम बनाने से संपन्न होता है क्योंकि कविता एक कला है और सभी कलाएँ किसी-न-किसी तरह का लाभ पहुँचाने के लिए हैं।' (वही, पृ. 219) जो लोग 'शिक्षा को काव्य का एकमात्र उद्देश्य मानते हैं, वे भी यह मानेंगे कि इस साधन के बिना शिक्षा शुष्क और नीरस दर्शन का रूप ग्रहण कर लेगी।' (डब्ल्यू.पी.कर., 'एसेज़ ऑफ जॉन ड्राइडन', खंड 1 और 2; 1900)

यदि यह मान लिया जाए कि कवि का मुख्य कार्य अपने श्रोताओं या पाठकों को आनंद प्रदान करना है तो इससे यह संकेत मिलता है कि हर युग में लोगों की जैसी प्रवृत्ति हो, जैसा फैशन हो, कवि वैसा ही लिखे। किंतु ड्राइडन इस मान्यता को पूरा समर्थन नहीं देते। कारण, आनंद का संबंध पाठक या दर्शक वर्ग की अभिरुचि से भी है। किंतु जरूरी नहीं कि दर्शक हमेशा अच्छे नाटकों को देखकर ही खुश होते हों, या जिन नाटकों को देखकर वे आनंद-लाभ करते हैं वे हमेशा अच्छे ही हों। इसका कारण यह है कि पाठकीय अभिरुचि विकृत भी हो सकती है और विकृत रुचि वाले पाठक स्वस्थ साहित्य के बजाय, सस्ते और सनसनीखेज साहित्य में रस ले सकते हैं। अतः उन्होंने लिखा : 'लोगों की पसंद या नापसंद के आधार पर ही किसी नाटक को अच्छा या बुरा कहा जाता है, किंतु यह अभिरुचि उसकी अच्छाई या बुराई को निर्धारित करने वाला तत्व नहीं है।' (वाटसन, खंड 1, पृ.120) प्रतिक्रिया के लिए पाठकीय अभिरुचि में सुधार - परिष्कार भी जरूरी है : 'हमें यह स्वीकार करना होगा कि लेखक को प्रवाह के साथ नहीं बहना चाहिए या लोगों का उनकी सामान्य रुझानों के आधार पर मनोरंजन नहीं करना चाहिए, वरन् उनके मूल्य-निर्णय में सुधार भी लाना चाहिए। .....हमारे रंगमंच में इस तरह के आमूल सुधार की जरूरत है।' (वही, पृ.214-215)

ऐतिहासिक विकास-क्रम में मानव-प्रकृति में संश्लिष्टता और जटिलता की मात्रा उत्तरोत्तर बढ़ती गई है। अत: जिस साहित्य में इस संश्लिष्टता या विविधता का चित्रण जितना ज्यादा होगा वह मानव-प्रकृति का उतना ही वास्तविक प्रतिबिंब होगा और उसी अनुपात में उसमें आनंद प्रदान करने की क्षमता भी ज्यादा होगी - शर्त यही है कि इस विविधता में व्यवस्था या अन्विति रहे। सापेक्षिक दृष्टि से आधुनिक साहित्य में इस संश्लिष्टता की संभावना ज्यादा रहती है क्योंकि उसे परंपरा के संपूर्ण ज्ञान-प्रसार और भाव-प्रसार का आधार मिला होता है। ड्राइडन ने देखा कि यूनानी-रोमी या फ्रांसीसी नाटकों की तुलना में शेक्सपियर आदि एलिजाबेथ युगीन नाटकों में यह विविधता और संश्लिष्टता कहीं ज्यादा है, इसीलिए उनमें आनंद प्रदान करने की क्षमता भी अधिक है। इस विविधता के अभाव में यूनानी नाटकों के कथानक एकरस, अतः नीरस दिखाई देते हैं। इसीलिए वे समुचित आनंद प्रदान करने में असमर्थ हैं - 'यूनानियों के कथानक में एक तरह की एकरसता दिखाई देती है। जैसे एक ही चीज खाते-खाते हमारा मन भर जाता है, कुछ-कुछ वैसा ही उनके कथानकों के साथ होता था : नवीनता न रहने से आनंद लुप्त हो जाता था। इसका परिणाम यह होता था कि त्रासदी अपने एक महत्वपूर्ण उद्देश्य को पूरा करने में असमर्थ रहती थी। परिभाषा के अनुसार यह उद्देश्य है - आनंद प्रदान करना।' (डॉ.कृष्ण दत्त

शर्मा, 'नाट्य काव्य निबंध', ड्राइडन के आलोचना सिद्धांत, पृ.136) यह दोष रोमी नाटकों में भी है। उनमें विविधता नहीं है। विविधता के अभाव में उनके कथानक एकदम सीधे-सपाट दिखाई देते हैं। उनमें प्रकृति के व्यापक अनुकरण का प्रयास नहीं दिखाई देता। सब कुछ जैसे खुलकर सतह पर आ रहता है - 'ये कथानक इतालवी मकानों की पद्धति पर बने हैं जिनमें सब-कुछ एक नजर में ही दिखाई दे जाता है। इनके पात्र भी निश्चय ही प्रकृति का अनुकरण तो हैं लेकिन इतने संकीर्ण मानो उन्होंने एक आँख या एक हाथ का ही अनुकरण किया हो और नाक-नक्श या शरीर के अनुपात को रेखाओं में बाँधने की हिम्मत ही न की हो।' (वही) इसी प्रकार फ्रांसीसी नाटकों में एक ओर शास्त्र-जड़ता है, दूसरी ओर रचना-विधान (कथानक) और पात्रों में विविधता नहीं है। अत: फ्रांसीसी नाटकों की तुलना में भी अंग्रेजी नाटक हर तरह से आगे हैं : 'यदि आप कथानक पर विचार करें तो देखेंगे कि हमारे कथानकों में विविधता कहीं ज्यादा है, यदि लेखन को लें तो हमारे नाटक गति और जीवंतता से कहीं ज्यादा स्पंदित हैं।' (वही, पृ.165) 'गति और जीवंतता' अर्थात् आनंद प्रदान करने की क्षमता। जहाँ तक पात्रों का सवाल है, यूनानी नाटकों में न तो उनकी संख्या इतनी ज्यादा है, न उनमें इतनी विविधता है जितनी शेक्सपियर आदि अंग्रेजी नाटककारों में है। फ्रांसीसी और इतालवी नाटक भी इसके अपवाद नहीं हैं।

अतः अंग्रेजी नाटकों को यूनानी-इतालवी-फ्रांसीसी नाटकों के सामने रखकर ड्राइडन ने पूरे आत्म विश्वास के स्वर में कहा : 'फ्रांसीसियों और इटलीवासियों को अपनी शास्त्रनिष्ठता को महत्व देने दो। शक्ति और औदात्य हमारे प्रतिमान हैं।' (वाटसन, खंड 1, पृ.216)

ड्राइडन ने अरस्तू के साक्ष्य पर यह कहना चाहा है कि स्वयं अनुकरण की प्रक्रिया ही आनंदमय है। जैसे प्रकृति का सच्चा ज्ञान हमें आनंद देता है उसी प्रकार उसका जीवंत अनुकरण भी - चाहे वह कविता में हो या चित्र में - और ज्यादा आनंदमय होगा क्योंकि ये दोनों कलाएँ प्रकृति का अनुकरण हैं। नाटक या सर्जनात्मक साहित्य में भावों और मनोदशाओं का चित्रण होता है। 'वह हमारे ऐसे भावों या मनोवेगों का अनुकरण है जो सतत गतिशील रहते हैं और इसीलिए आनंददायक होते हैं क्योंकि बिना गति के आनंद की प्राप्ति नहीं हो सकती और आनंद गतिशील आवेग के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। (डब्ल्यू.पी.कर, पृ.137)

कोई कविता आनंद प्रदान तो करे किंतु उसमें नियमों का पालन न किया गया हो, दूसरी ओर कोई कविता नियमों के अनुसार तो हो किंतु आनंद प्रदान न करे - इन दोनों संभावनाओं को मान्यता देने से ड्राइडन इन्कार करते हैं। उनकी मान्यता है कि यदि कोई रचना आनंद प्रदान करती है तो उसमें नियमों का पालन भी अवश्य किया गया होगा क्योंकि नियम भी अंतत: मानव-प्रकृति को आधार मानकर चलते हैं। इसी प्रकार यदि किसी रचना में सही मायनों में नियमों का अनुपालन हुआ है तो वह आनंद प्रदान करेगी-ही-करेगी। यदि ऐसा नहीं होता तो इसके दो ही कारण हो सकते हैं : या तो हमारी अभिरुचि विकृत है, या फिर हम ऐसे यांत्रिक रीतिबद्ध नियमों को ही भ्रमवश वास्तविक नियम समझ बैठे हैं जो 'कतई आधारभूत नहीं' है। सचाई यह है कि यदि रचना आनंद प्रदान करती है, यदि वह एक इकाई है अर्थात् उसमें संरचनात्मक अन्विति है, यदि उसमें आरंभ मध्य और अंत अपने-अपने स्थान पर हैं और कलात्मक ढंग से परस्पर संबद्ध हैं, तो उसे अपेक्षित सफलता अवश्य मिलेगी। वस्तुत: नियम अपने-आप में साध्य नहीं हैं। वे सद्‌विवेक और तर्क की चट्टान पर अधिष्ठित हैं आप्तवचन पर नहीं। साथ ही वे अतीत के काव्य में आनंद-लाभ करने के हमारे व्यावहारिक अनुभव पर आधारित हैं। अतः परंपरासिद्ध नियम और मूर्त या विशिष्ट अनुभव दोनों ही अपनी-अपनी जगह महत्वपूर्ण हैं। नियमों की जानकारी के साथ-साथ श्रेष्ठ रचनाओं से लंबा संवाद भी जरूरी है।

13.4.3 अनुकरण : प्रतिभा और कल्पना

'प्रकृति का अनुकरण' ड्राइडन के सैद्धान्तिक विवेचन की आधारशिला है। इसी को आधार लेकर वे सैद्धान्तिक जड़ता को तोड़ते हैं और नवीनता का उन्मेष करते हैं। 'अनुकरण' शब्द का उन्हें अरस्तू द्वारा निर्दिष्ट अर्थ मान्य है। प्लेटो (जिनके अनुसार कला नकल की नकल है) के विपरीत, अरस्तू ने 'अनुकरण' शब्द का प्रयोग पुनर्रचना या पुनःसृजन के अर्थ में किया है जिसे हम और स्पष्ट शब्दावली में 'यथार्थ का कल्पनात्मक पुनःसृजन' कह सकते हैं। यही अर्थ ड्राइडन को भी ग्राह्य है। कलाकार प्रकृति का यथावत प्रत्यंकन नहीं करता। वह प्रकृति से केवल उतनी सामग्री लेता है जिसके माध्यम से संपूर्णता का सुंदर सादृश्य प्रस्तुत किया जा सके। वह अपनी आधार-सामग्री तो प्रकृति से लेता है किंतु कवि-प्रतिभा या कल्पना की सहायता से उसे ऐसा रूप दे देता है जिससे उसमें नवीन परिचय की दीप्ति आ जाती है। ड्राइडन के अनुसार किसी कलाकृति में आधार-सामग्री का मूल्य नगण्य होता है। प्राकृतिक उपादानों की तुलना में कला द्वारा निर्मित रूप बेहतर होते हैं। कविकर्म में कवि-कौशल की निर्णायक भूमिका होती है : 'सामान्य तौर पर कवि का कार्य किसी बंदूक बनाने वाले या घड़ीसाज़ के

काम की तरह है। इस्पात या चाँदी उसकी अपनी नहीं होती। किंतु जो तत्त्व उन्हें मूल्यवत्ता प्रदान करता है वह इन धातुओं में निहित नहीं होता। उसका मूल्य पूरी तरह उसकी कारीगरी में निहित होता है।' (वाटसन, खंड 1, पृ.155)

वस्तुतः कवि में जो गुण सबसे ज्यादा जरूरी है वह है प्रतिभा या कल्पना। कवि-कल्पना या प्रतिभा कवि की वह शक्ति-विशेष है जो अनुकरण को सृजन में रूपान्तरित करती है। अनुकरण द्वारा कवि केवल उन चीजों को चित्रित कर सकता है जिन्हें उसने देखा है जबकि कल्पना अदृष्टपूर्व वस्तुओं का विधान करने में सक्षम है। (डब्ल्यू.पी.कर, खंड 2, पृ.120) चित्रकला और कविता दोनों में जो सामान्य तत्त्व क्रियाशील रहता है वह कल्पना ही है। कल्पना ही कविता और चित्र को जीवंतता से अनुप्राणित करती है। (वही, पृ.118)

प्रतिभा और कल्पना के संदर्भ में ड्राइडन ने तीन शब्दों का प्रयोग किया है - विट (wit), इमेजिनेशन (imagination) और फैंसी (fancy)। आज हम इन्हें क्रमशः विदग्धता, कल्पना और ललित कल्पना कहेंगे। किंतु ड्राइडन के समय में इनकी अर्थ-रेखाएँ इतनी स्पष्ट न थीं। ये तीनों शब्द, थोड़े-बहुत अंतर के साथ, प्रतिभा और कल्पना के सूचक थे। उनके अर्थ परस्पर समावेशी थे, हालाँकि मोटे तौर पर उनमें अर्थभेद भी था।

तीनों में सबसे अधिक व्यापक है 'विट'। ड्राइडन में इसका प्रयोग भी सबसे ज्यादा हुआ है - अन्य दोनों शब्दों फैंसी और इमेजिनेशन के सम्मिलित प्रयोग से भी ज्यादा। यह मूलत: कवि-प्रतिभा का सूचक था। यों अर्थ के स्तर पर इसके तीन घटक हैं - विदग्धता, अलंकरण और कवि-कल्पना या प्रतिभा। आज इस शब्द का विदग्धता-वाला अर्थ इतना प्रधान हो उठा है कि इसने शेष दोनों अर्थों को काफी हद तक विस्थापित कर दिया है। ड्राइडन के युग में कवि-कल्पना वाला अर्थ प्रधान था। वास्तविक प्रतिभा का सूचक यही शब्द था। इसीलिए ड्राइडन ने इसे 'कल्पना की शक्ति' कहा है। 'इसका वास्तविक रहस्य न तो मार्मिक सूक्ति की तीक्ष्ण धार में निहित है, न अर्थ-वैषम्य में निहित विरोधाभास में न किसी भद्दे श्लिष्ट प्रयोग की अर्थ-ध्वनि में।' (वाटसन, खंड 1, पृ.98) यह तो अलंकृत भाषा की सहायता से ऐसे सटीक चित्रण में निहित है जो अप्रस्तुत वस्तुओं को इस रूप में प्रस्तुत कर दे जैसे कि वे प्रस्तुत हों। कल्पना द्वारा प्रस्तुत ये रूप प्राकृतिक रूपों जितने ही पूर्ण होते हैं किंतु इनमें आनंद प्रदान करने की क्षमता प्राकृतिक रूपों से अधिक होती है।

ड्राइडन के अनुसार कल्पना पर अंकुश रखना भी बहुत जरूरी है क्योंकि 'कवि में कल्पना इतनी उद्धत और उच्छृंखल शक्ति है कि भारी-भरकम शिकारी कुत्ते की तरह यदि उसे जंजीर में बाँधकर नियंत्रण में न रखा जाए तो वह विवेक की सीमाओं को अतिक्रांत कर सकती है।' (वही, पृ.8) ड्राइडन ने बार-बार कवि की इस दुहरी प्रतिभा पर जोर दिया है जिसमें विवेक कल्पना को नियंत्रण में रखता है। ड्राइडन के काव्य-चिंतन की यह एक महत्वपूर्ण अवधारणा है। विवेक और कल्पना दोनों अलग-अलग क्षुद्रता का आभास देते हैं। काव्य-प्रतिभा के निर्देशक ये तभी बनते हैं जब ये परस्पर सहयोग करते हुए गतिशील हों और एक-दूसरे को बल प्रदान करें - जब ज्ञान विवेक संवेदनात्मक रूप रखकर आए और संवेदना कल्पना ज्ञानात्मक रूप रखकर। दूसरे शब्दों में सच्ची प्रतिभा विवेक और कल्पना के उचित संतुलन पर निर्भर है।

अन्य नव्यशास्त्रीय आलोचकों की तरह ड्राइडन ने 'फैंसी' और 'इमेजिनेशन' शब्दों का प्रयोग पर्यायवत् किया है। इनमें 'फैंसी' का प्रयोग ज्यादा आम है, किंतु इस काल के समीक्षकों की अपेक्षा ड्राइडन में 'इमेजिनेशन' शब्द का प्रयोग भी असाधारण रूप से अधिक है - 'फैंसी' के पचास प्रतिशत से अधिक। किंतु एक संदर्भ में, जहाँ सृजन-प्रक्रिया की चर्चा है, ड्राइडन ने फैंसी को 'इमेजिनेशन' का एक भेद माना है जिससे यह संकेत मिलता है कि 'फैंसी' की तुलना में 'इमेजिनेशन' अधिक व्यापक है। इस प्रसंग में ड्राइडन ने कवि-कल्पना (poetic imagination) पदबंध का प्रयोग किया है जो काफी हद तक कवि-प्रतिभा का सूचक है। इसके तीन घटक हैं - उद्भावना, कल्पना (fancy) और अभिव्यक्ति (elocution) : 'कवि-कल्पना का पहला सौभाग्य है उद्भावना या संबद्ध विचार की खोज। दूसरा है कल्पना या उस विचार का रूपांतरण, उसे गढ़ना, या उसका संवेदनात्मक प्रत्यक्षीकरण जिस रूप में विवेक उसे विषयानुरूप चित्रित करता है। तीसरा है अभिव्यक्ति अर्थात् इस तरह से उपलब्ध और रूपांतरित विचार को सटीक अर्थपूर्ण और ध्वन्यात्मक शब्दावली से विभूषित करना। उद्भावना में कवि-कल्पना की तीव्रता दिखाई देती है, कल्पना में नवनवोन्मेष और अभिव्यक्ति में सटीकता।' (वही, पृ.98) इस प्रकार सृजन-प्रक्रिया का पहला चरण है उद्भावना या वस्तु का संधान। इसमें किसी नवीन रचना

के 'आकस्मिक अंकुरण' का भाव निहित है। दूसरा चरण है संरचना में ढालना। यह अंशतः बुद्धि का काम है, अंशतः कल्पना का। विवेक संरचना को आकार देता है, कल्पना उसमें जीवंतता का संचार करती है। कल्पना का काम जब संपन्न हो जाता है तभी उसे शब्दबद्ध करने - उस विचार को विभूषित और अलंकृत करने का चरण आता है। 'ध्वन्यात्मक' विशेषण में यह संकेत निहित है कि ऐसे शब्दो का संधान किया जाए और उनका संयोजन इस रूप में हो कि वे उद्‌भावित वस्तु की मनोदशा को व्यंजित करने में समर्थ हों।

सृजन-प्रक्रिया के इन तीनों चरणों में उद्‌भावना (वस्तु) का प्राथमिक महत्व है। इसीलिए कविता और चित्रकला में उद्‌भावना पहली चीज है और यह दोनों के लिए नितांत जरूरी है। 'उद्‌भावना के बिना चित्रकार महज अनुकर्ता बनकर रह जाता है और कवि साहित्यिक चोर।' (डब्ल्यू.पी. कर, खंड 2, पृ.138) दूसरे चरण अर्थात् संरचना-निर्मिति के दौरान मूल सामग्री का स्वरूप एकदम बदल जाता है : उसमें नए परिचय की दीप्ति आ जाती है। इसीलिए ड्राइडन की मान्यता है कि कथाभाग किसी भी नाट्य रचना का सबसे कम महत्वपूर्ण घटक होता है। मुख्य चीज है कवि-प्रतिभा। कोई भी कथा ऐसी नहीं हो सकती जिसमें वर्तमान युग की विविधता को ज्यों-का-त्यों समाहित किया जा सके। परंपरागत कथा को नए युग के अनुरूप ढालने में मूलकथा का कायाकल्प हो जाता है, वह इतनी बदल जाती है कि पहचान में नहीं आती। अंतिम स्थान है अभिव्यक्ति का। अभिव्यक्ति रचना विधान को सौंदर्य से मंडित करती है। किंतु साथ ही रचना-विधान भी अच्छा होना चाहिए। वस्तु और शिल्प में ड्राइडन वस्तु को ही अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं। उद्‌भावना और संरचना का संबंध वस्तु से है जबकि अभिव्यक्ति का शिल्प से। वस्तुतः उन्हें दोनों की द्वंद्वात्मक स्थिति मान्य है, किंतु फिर भी सापेक्षिक दृष्टि से वस्तु का महत्व अधिक है।

ड्राइडन ने कवि-कल्पना की इस दुहरी भूमिका पर काफी जोर दिया है - एक तो संरचना-निर्मिति, दूसरे कल्पना पर अंकुश रखना। उनके इन विचारों के सूत्र हॉब्स (1588-1679) के मनोविज्ञान में हैं। हॉब्स के अनुसार बुद्धि (विवेक) और कल्पना दोनों सगी बहनें हैं और उनकी जननी है स्मृति। दोनों बहनों मं बुद्धि अधिक सख्त और अनुशासनप्रिय है। उसका काम है संरचना-निर्मिति। यह अधिक समय-साध्य कार्य है क्योंकि इसमें क्रम-विन्यास, कार्य-करण-संबंध आदि निर्धारित करना होता है। संरचना-निर्मिति के बाद कल्पना का काम इतना भर रह जाता है कि वह पूरे रचना-विधान में जीवंतता का संचार कर दे। संरचना-निर्मिति के संदर्भ में ड्राइडन ने शिकारी कुत्ते की जो उपमा दी है उसका स्रोत भी हॉब्स ही हैं। हॉब्स ने यह संकेत किया है कि जैसे कोई शिकारी कुत्ता गंध की तलाश में मैदान के चक्कर लगाता है और जब तक वह स्रोत उसे मिल नहीं जाता, वह शांत नहीं बैठता, उसी प्रकार बुद्धि स्मृति के संसार में चक्कर लगाकर रचना के केंद्र की तलाश करती है। यह केंद्र मिल जाने पर वह उसके विभिन्न अंग्रों को उस केंद्र से जोड़ देती है। इस प्रकार उसके विभिन्न अंगों में संबद्धता का गुण आ जाता है : हर अंग परस्पर और पूरी रचना के साथ जुड़ जाता है जिससे रचना में एक प्रकार की संपूर्णता, अन्विति या एकसूत्रता आ जाती है। एक अन्य संदर्भ में हॉब्स ने यह बताया है कि कल्पना असमान चीजों में अप्रत्याशित समानता की खोज करती है जिससे उपमा, रूपक तथा अन्य अलंकारों का उदय होता है। इसके विपरीत बुद्धि समान दिखाई देने वाली चीजों में असमानता का संधान करती है। यह मानव-मन की ऐसी विशेषता है जिसके द्वारा वह पूर्ण और सटीक ज्ञान प्राप्त करता है। असमानता में समानता और समानता में असमानता की खोज से संबंधित कल्पना की यह विशेषता ही विविधता में एकता और एकता में विविधता का संधान करने को प्रेरित करती है। आगे चलकर कोलरिज ने अपने कल्पना-संबंधी विवेचन में हॉब्स की इस अंतर्दृष्टि का उपयोग किया है।

कल्पना के संदर्भ में ड्राइडन ने बुद्धि तत्व पर काफी जोर दिया है क्योंकि संरचना-निर्मिति में मुख्य भूमिका इसी की रहती है। विवेक को अपने आंतरिक स्रोतों के अलावा अन्य ज्ञान स्रोतों की भी जरूरत पड़ती है। विशाल प्रतिभा, प्रौढ़ विवेक और तीव्र स्मरण-शक्ति के साथ-साथ आज कला और विज्ञान - विशेष रूप से नैतिक दर्शन, गणित, भूगोल और इतिहास की जानकारी भी मिल गई है। (वही, पृ.36) वस्तुतः ज्ञान-विज्ञान का कोई क्षेत्र ऐसा नहीं है जिसका संबंध साहित्य से न हो। विवेक के परिष्कार के लिए अंतर्विषयक जानकारी वांछनीय है। इसी जानकारी के आधार पर युग-चेतना उत्तरोत्तर परिष्कृत होती चली जाती है।

विवेक को पर्याप्त महत्व देने के बावजूद ड्राइडन कवि-प्रतिभा को ईश्वर-प्रदत्त ही मानते हैं। कवि के लिए नितांत वांछनीय होने के बावजूद इसे कैसे प्राप्त करें, इस बारे में न तो कोई नियम हैं, न निर्धारित ही किए जा सकते हैं : 'उचित प्रतिभा प्रकृति का वरदान है। यह ग्रहों के प्रभाव पर निर्भर है

ऐसा प्रकृतिविज्ञानी कहते हैं, यह ईश्वरीय वरदान है ऐसा धर्मतत्त्वज्ञ मानते हैं। इसमें परिष्कार कैसे किया जाए यह अनेक ग्रंथ बता सकते हैं। किंतु इसे प्राप्त कैसे करें, यह बताने वाला कोई ग्रंथ नहीं है।' (वही, पृ.138)

कल्पना चाहे जितनी बढ़ी-चढ़ी हो और शब्द चाहे जितने प्रवाह के साथ आएँ, यदि उनके पीछे सत्य का आधार नहीं है तो आत्मा को पूरा संतोष नहीं होता। (वाटसन, खंड 1, पृ.121) किंतु कल्पना जब सत्य का आधार लेकर गतिशील होती है तो इसका चित्त पर बड़ा ही आनंददायक असर पड़ता है। इसीलिए महान रचनाकारों में इस सत्य का आधार शायद ही कभी उपेक्षित होता हो। कल्पना तर्क के आधार को नष्ट नहीं करती वरन् एक प्रकार का कुहरा-सा डाल देती है। दोनों एक प्रकार के द्वन्द्वात्मक संबंध में बंधकर गतिशील होते हैं : 'कल्पना और तर्क दोनों साथ-साथ चलते हैं, पहला दूसरे को पीछे नहीं छोड़ सकता। यद्यपि कल्पना गहरी खाई के बावजूद गतिशील हो सकती है किंतु ऐसे अवसर पर तर्क उसे रोक देता है। यदि उन दोनों के बीच खाई बहुत गहरी हुई तो विवेक छलांग लगाने से इनकार कर देता है।' (वही, पृ.126) अतः ड्राइडन नें यह मान्यता व्यक्त की है कि 'जिन्हें अपनी बात को तर्कसंगत ढंग से कहने की आदत नहीं है वे अच्छे कवि नहीं हो सकते।' (वही, पृ.120) अपने मत के समर्थन में उन्होंने होरेस को उद्धृत किया है जिसके अनुसार 'आनंद के लिए जो साहित्य रचा जाए उसे सत्य के नज़दीक होना चाहिए।' (वही, पृ.121) पुनः 'जो अपनी कल्पना को विवेक द्वारा संयमित नहीं कर सकता उसे लिखने का स्वांग नहीं करना चाहिए।' (वही, पृ.255)

13.5 तुलनात्मक और व्यावहारिक आलोचना

ड्राइडन की आलोचना की एक महत्वपूर्ण तकनीक है तुलना। वे एक तरह के साहित्यिक मूल्यों को हमेशा दूसरी तरह के साहित्यिक मूल्यों के संदर्भ में रखकर देखते हैं। लेखकों के अलावा वे विधाओं (नाटक और महाकाव्य), काव्य-शक्तियों (प्रतिभा के विभिन्न पक्षों - जैसे उद्भावना, कल्पना और विवेक), काव्य के उद्देश्य (शिक्षा और आनंद) और साहित्यिक इतिहास के विभिन्न युगों की तुलना करते हैं। लेखकों में बेन जॉनसन और शेक्सपियर की तुलना अधिक प्रसिद्ध हैं : 'बेन जॉनसन जितना विद्वान और विवेकपूर्ण लेखक किसी भी नाट्य परंपरा में मिलना मुश्किल है। ...यदि उनकी तुलना शेक्सपियर से की जाए तो यह मानना पड़ेगा कि उसमें परिशुद्धता की मात्रा अधिक थी। किंतु शेक्सपियर की प्रतिभा बड़ी थी। शेक्सपियर नाट्य कवियों के होमर या जनक थे जबकि जॉनसन वर्जिल। जॉनसन के प्रति मेरे मन में सराहना का भाव है जबकि शेक्सपियर को मैं प्यार करता हूँ।' (डॉ. कृष्ण दत्त शर्मा, 'नाट्य काव्य निबंध', ड्राइडन के आलोचना सिद्धांत, पृ.168) अन्यत्र उन्होंने शेक्सपियर और फ्लेचर की विस्तार से तुलना की है। इस तरह की तुलना में ड्राइडन का बल विश्लेषण पर रहता है जिससे दोनों रचनाकारों की मूल संवेदना को समझने में मदद मिलती है।

विधाओं की तुलना के अंतर्गत हम नाटक और महाकाव्य की तुलना को ले सकते हैं। ड्राइडन के अनुसार इन दोनों विधाओं में सापेक्षित दृष्टि से महाकाव्य अधिक महत्वपूर्ण है। कालक्रमिक दृष्टि से वर्णन का स्थान निश्चय ही अभिनय से पहले है। जो कुछ पहले कलात्मक ढंग से कहा गया वही कालांतर में दृश्य-श्रव्य रूप में प्रस्तुत किया गया। महाकाव्य के अंगों से ही नाटक के शरीर का निर्माण हुआ। अरस्तू ने त्रासदी के नियम मूलतः 'इलियद' और 'ओदिसी' से ही ग्रहण किए थे, फिर उन्हीं नियमों को उसने नाटक पर लागू कर दिया। महाकाव्य पर नाटक की इस निर्भरता को देखते हुए ही ड्राइडन ने त्रासदी की अपेक्षा महाकाव्य को अधिक महत्वपूर्ण माना। किंतु अरस्तू ने त्रासदी को अधिक महत्वपूर्ण माना था। अत: विस्तृत तुलना जरूरी हो उठी : 'त्रासदी मानव-जीवन का लघु रूप है, महाकाव्य उसका विस्तृत प्रारूप है। महाकाव्य में विशेष त्वरा नहीं रहती, उसमें घटनाओं की गति मंद-मंथर रहती है। जो परिवर्तन आते हैं वे धीरे-धीरे, किंतु उसमें उपचार अधिक पूर्ण होता है। त्रासदी का प्रभाव इतना उग्र होता है कि वह स्थायी नहीं हो सकता।......महाकाव्य का संबंध हमारे आचरण से है, नाटक का मनोवेगों से। दोनों तरह की कविताओं का अपना-अपना महत्व है।' (डब्ल्यू.पी.कर, खंड 2, पृ. 161)

सामान्यतः तुलना में हमारा ध्यान मूल्यांकन पर रहता है : एक चीज को मूल्यवान मानना, दूसरी का मूल्य कम करके आँकना या उसे अस्वीकृत करना। किंतु तुलना करते समय ड्राइडन का बल मूल्यांकन के बजाय विश्लेषण पर रहता है। महाकाव्य के बारे में अपनी पसंद के बावजूद वे नाटक और महाकाव्य दोनों के सापेक्षिक महत्व को स्वीकार करते हैं। नाटक और महाकाव्य दो भिन्न विधाएँ हैं, दोनों के

अपने-अपने उद्देश्य हैं। उनकी दृष्टि समावेशी है, अपवर्जी नहीं। 'वर्जिल के महाकाव्य का अपने युग के ग्रामवासियों के लिए वैसा ही महत्त्व है जैसा कि होमर के महाकाव्य का अपने युग के यूनानियों के लिए था।' (वाटसन, खंड 1, पृ.167) नाटक और महाकाव्य की तुलना में विधागत सापेक्षता थी, यहाँ सांस्कृतिक सापेक्षता है। दोनों ही उदाहरणों में प्रभाव एक-जैसा है - मूल्यांकन के बजाय विश्लेषण।

बेन जॉनसन के एक नाटक 'दि साइलेंट वूमन' का मूल्यांकन प्रस्तुत करके ड्राइडन ने अंग्रेजी में व्यावहारिक समीक्षा का सूत्रपात किया। अंग्रेजी में इस तरह का यह पहला प्रयास है और अन्य आधुनिक यूरोपीय भाषाओं के अंतर्गत भी यह आरंभिक प्रयासों में से है। यहाँ ड्राइडन ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि यदि फ्रांसीसी प्रतिमानों को आधार मानकर समीक्षा की जाए तो भी अंग्रेजी में ऐसे नाटक मिल जाएँगे जो उन प्रतिमानों पर पूरी तरह खरे उतरेंगे। उनका यह मूल्यांकन तकनीकी विश्लेषण का उदाहरण है, इसमें संदेह नहीं। ड्राइडन ने यह दिखाने की कोशिश की है कि इसका कथानक सुगठित है, दृश्य-संयोजन में काल और स्थान की अन्वितियों का पालन किया गया है, इसमें मानव-प्रकृति की विविधता का प्रतिफलन है और कथानक का गठन इस रूप में है कि अंतिम निर्वहण तक हमारी रुचि उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। इसकी तकनीकी युक्तियो पर आक्षेप करते समय हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि उनके युग का लक्ष्य तकनीकी अनुशासन था, प्रेरणाप्रसूत आवेग नहीं। इस नाटक की आलोचना करते समय ड्राइडन की दिलचस्पी का केंद्र कथानक की बुनावट है। उन्होने कुछ विस्तारसे यह दिखाने का प्रयास किया है कि किस तरह नाटककार को हमारी रुचि बनाए रखने में सफलता मिली है। उनकी दृष्टि में कथानक है 'कूटयोजना' - कार्यव्यापार का उत्तरोत्तर जटिल होते जाना और अंततः उसका निर्वहण या रहस्योद्‌घाटन : 'इ 'के प्रशंसनीय कथानक के बारे में मैं एक बात और कहूँगा और वह यह कि इसके कार्यव्यापार में हर अंक में उत्तरोत्तर विस्तार होता जाता है। दूसरा अंक पहले की अपेक्षा बड़ा है, तीसरा दूसरे की अपेक्षा और इसी प्रकार आगे पाँचवें अंक तक। वहाँ भी हम यह देखते हैं कि ठीक अंतिम दृश्य तक नाटकीय कार्यव्यापार में बाधा डालने के लिए नई-नई कठिनाइयाँ उभरती रहती हैं। और जब दर्शक वर्ग इतना निराशा हो उठता है कि उससे कार्यव्यापार प्रभावित हो सकता है तभी रहस्य का उद्‌घाटन होता है, इससे पहले नहीं।' (डॉ. कृष्णदत्त शर्मा, 'नाट्य काव्य निबंध', ड्राइडन के आलोचना सिद्धांत, पृ. 174)

ऐतिहासिक चेतना की वजह से ड्राइडन को पूरा बोध है कि एक एलिजाबेथयुगीन नाटक और एक पुनःस्थापनकालीन नाटक के मूल्यांकन के लिए अलग-अलग प्रतिमानों की जरूरत होगी क्योंकि वे जिन नाट्य रुढ़ियों पर आधारित हैं वे अलग-अलग हैं। समीक्षाधीन रचना के अनुरूप ही उनकी आलोचना-पद्धति बदल जाती है। जिस पद्धति से उन्होंने जॉनसन का विश्लेषण किया उसी से शेक्सपियनका विश्लेषण कतई न करते क्योंकि उन्हें पता था कि वे अलग-अलग तरह का काम कर रहे थे। अपनी एक टिप्पणी में ड्राइडन ने स्वयं इस तथ्य को प्रभावपूर्ण और स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया - अरस्तू ने ऐसा कहा है, इतना ही काफी नहीं है क्योंकि अरस्तू ने अपने त्रासदी के आदर्श सोफोक्लेस और यूरिपिदेस से ग्रहण किए थे और यदि उन्होंने हमारे नाट्य आदर्शों को देखा होता तो अपनी राय बदल देते।' (वाटसन, खंड 1, पृ.218)

व्यवहारिक आलोचना के क्षेत्र में ड्राइडन के इस मूल्यांकन की मुख्य विशेषता यह है कि इसमें भी तलनात्मक आलोचना का प्रयास दिखाई देता है। इसमें फ्रांसीसी नाटकों के गुणों के सामने अंग्रेजी नाटकों के गुणों को रखकर दोनों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। यह ठीक है कि यह प्रयास सांस्कृतिक राष्ट्रीयता की भावना से ग्रस्त है। ड्राइडन यह सिद्ध करने पर जैसे तुले हुए हैं कि अंग्रेजी नाटक फ्रांसीसी नाटकों से बेहतर हैं : 'यदि आप कथानक पर विचार करें तो हमारे कथानकों में विविधता कहीं ज्यादा है, यदि लेखन को लें तो हमारे नाटक गति और जीवंतता से कहीं ज्यादा स्पंदित हैं।' (नाट्य काव्य निबंध', ड्राइडन के आलोचना सिद्धांत, पृ. 174) वे इस बात से इन्कार कर देते हैं कि फ्रांसीसी नाटककारों का अंग्रेजी नाटक पर किंचित भी प्रभाव है : 'हमने उनसे कुछ भी नहीं लिया है : हमारे कथानक अंग्रेजी करघों पर ही बुने गए हैं।' (वही) श्रेष्ठता की दृष्टि से अंग्रेजी नाटक यूनानी नाटकों को भी अतिक्रांत कर जाता है 'यूनानी लेखकों ने हमें रंगमंच की आरंभिक जानकारी दी थी जिसे परिष्कार द्वारा वे परिपूर्णता के स्तर पर नहीं पहुँचा सके थे। पिछले युग की हमारी अनेक त्रासदियाँ अप्रतिम हैं और श्रेष्ठता की दृष्टि से सोफोक्लेस तथा यूरिपिदेस की त्रासदियों को अतिक्रांत कर जाती हैं।' (वाटसन, खंड 2, पृ.160)

ड्राइडन ने अंग्रेजी त्रासदियों को एक ओर यूनानी-रोमी और दूसरी ओर फ्रांसीसी-इतालवी-स्पेनी त्रासदियों की तुलना में रखकर देखा और इन्हें अन्य सभी से बेहतर घोषित किया। उन्होंने बताया कि विकास की दृष्टि से अंग्रेजी नाटक यूनानी नाटकों से बहुत आगे हैं। जहाँ तक फ्रांसीसी नाटकों का प्रश्न है, तलनात्मक दृष्टि से 'यदि हम लोग कार्यव्यापार के अतिरेक के दोषी हैं, तो फ्रांसीसी

नाटककारों का दोष यह है कि वे बहुत कम कार्यव्यापार प्रस्तुत कर पाते हैं।' (नाट्य काव्य निबंध', ड्राइडन के आलोचना सिद्धांत, पृ. 174) कुल मिलाकर यही लगता है कि जैसे वे अंग्रेजी नाटकों की प्रशंसा पर आमादा हैं। नियमपालन के लिए भी अंग्रेजी नाटकों की प्रशंसा और नियम-पालन न करने के लिए भी उनकी प्रशंसा : 'पहले तो हमारे अनेक नाटक ऐसे हैं जो उनके नाटकों की तरह ही नियमानुसार हैं, इसके अलावा उनमें कथानक और पात्रों की विविधता कहीं अधिक है। और दूसरे, शेक्सपियर या फ्लेचर (क्योंकि बेन जॉनसन के नाटक तो नियमानुवर्ती हैं ही) के जिन नाटकों में नियमों का उल्लंघन दिखाई देता है उनके लेखन में भी किसी भी फ्रांसीसी नाटक की अपेक्षा पुरुषोचित कल्पना और जीवंतता की मात्रा कहीं ज्यादा है।' (वही, पृ.165)

यह सांस्कृतिक राष्ट्रीयता का अतिरंजित रूप है। किंतु सांस्कृतिक राष्ट्रीयता का यह स्वर ड्राइडन के संपूर्ण लेखन में व्याप्त है। 'नाट्य काव्य' निबंध में तो वे इस धारणा को प्रमुख लक्ष्य के रूप में सामने रखकर चले थे। उन्होंने जगह-जगह अपनी इस भावना को व्यक्त किया है : 'मैं इस बात से काफी खुश हूँ कि मैंने एक अंग्रेज के रूप में जन्म लिया है।' (डब्ल्यू.पी.कर, खंड 2, पृ.171) इस संदर्भ में उन्होंने कवि को कुछ पक्षपात का भी अधिकार दिया : 'अपने देश को प्यार करना और उसकी भलाई तथा गौरव के बारे में सोचना वस्तुत: हमारा सामान्य दायित्व है। कवि और आगे जाता है। उसे आदर देने की कोशिश में उसे पक्षपात करने की अनुमति दी जा सकती है क्योंकि वह सत्य से बँधा हुआ नहीं है, न वह इतिहास के नियमों से आबद्ध है।' (वही, पृ.191) यह सांस्कृतिक राष्ट्रीयता युग की माँग थी - हालाँकि आज हम इस सीमा तक इसका समर्थन नहीं कर सकते।

13.6 ड्राइडन और नव्यशास्त्रवाद

अपने सैद्धांतिक निबंध 'नाट्य-काव्य' में ड्राइडन ने अपने-आपको एक ऐसे व्यक्ति निएण्डर के रूप में प्रस्तुत किया है जो नए मूल्यों का वाहक है। केवल इस निबंध में ही वे एक आधुनिकतावादी के रूप मे सामने नहीं आते, वरन् अपने संपूर्ण आलोचनात्मक कृतित्व में वे कमोवेश इस भूमिका का निर्वाह करते दिखाई देते हैं। ड्राइडन की चेतना में 'पिछला युग' पुनर्जागरण या शेक्सपियर का युग बार-बार आता है। उनके अनुसार उस युग की उपलब्धियाँ ऐसी हैं जिसकी ऊँचाई तक स्वयं वे या उनके युग का कोई लेखक पहुँच नही सकता। किंतु कई बार उन्होंने यह संकेत भी किया है कि इस युग में संस्कार की कमी थी और उसकी आत्मा की संपूर्ण ऊर्जा के बावजूद 'वर्तमान युग की परिष्कृत कला से उसकी तुलना नहीं की जा सकती।' वस्तुतः यह द्वंद्व केवल ड्राइडन के युग की ही विशेषता नहीं है, वरन् यह हर युग में पैदा होता है। हर प्रासंगिक लेखक यह मानता है कि वह कुछ नया कर रहा है, परंपरा के विकास के साथ-साथ उसमें कुछ नया जोड़ रहा है। ड्राइडन में यह आत्मचेतना बराबर क्रियाशील दिखाई देती है।

नवीनता के उन्मेष के लिए यह जरूरी था कि आभिजात्यवादी नियमों की जकड़बंदी में दरार डाली जाए। उन पर चोट किए बिना नई भूमिका का निर्वाह संभव न था। किंतु पुन:स्थापन युग में उन नियमों के प्रति जो श्रद्धाभाव था उसके चलते उस जकड़न को तोड़ा नहीं जा सकता था, बल्कि सीधे-सीधे उस पर प्रहार भी नहीं किया जा सकता था। अरस्तू और होरेस के नियमों के खिलाफ कुछ कहना लगभग ईशनिंदा - जैसा था। साथ ही इस विरोध के बिना, आधुनिकता में रूपांतरण का जो नया दायित्व इतिहास ने उन्हें सौंपा था उसका निर्वाह नहीं किया जा सकता था। अरस्तू-होरेस के प्रभाव से मुक्त होने के बाद ही शेक्सपियर तथा अन्य अंग्रेजी साहित्यकारों का मूल्यांकन संभव हो सकता था। शास्त्र और नवीनता के इस द्वंद्व में उन्होंने शास्त्र का आधार रखते हुए नवीन मूल्यों के प्रति अपनी सहानुभूति व्यक्त की और इस प्रकार इतिहास के एक कठिन दौर में महान आलोचक की भूमिका का सफलतापूर्वक निर्वाह किया।

पुनःस्थापन युग या उसके काफी बाद तक इंग्लैंड में किसी भी तरह के आलोचक के रूप में स्थान बना पाना सामान्य प्रवाह के विरुद्ध जाना था। उस समय एक विश्लेषणात्मक आलोचक के रूप में उभरना युग की दो अत्यंत सशक्त बौद्धिक प्रवृत्तियों के विरोध में पड़ता था। इनमें पहली थी नव्यशास्त्रवाद की प्रवृत्ति। समसामयिक फ्रांस में रचनात्मक स्तर पर नव्यशास्त्रीय सिद्धांतों को वैधता प्रदान की जा रही थी। इसका असर इंग्लैंड में भी पड़ रहा था - हालाँकि यहाँ शेक्सपियर और एलिजाबेथ युग के अन्य नाटककारों ने इन सिद्धांतों की अवहेलना कर दी थी। प्राचीन यूनान और समसामयिक फ्रांस में आभिजात्यवादी नियमों को आधार मानकर श्रेष्ठ नाटकों की रचना की गई थी। इसके विपरीत इंगलैंड में वे नाटक (जैसे शेक्सपियर के) श्रेष्ठ थे जिनमें इन नियमों की घोर अवहेलना

थी। यहाँ आभिजात्यवादी नियमों को आधार मानकर जो नाटक रचे गए थे वे घटिया स्तर के थे। ड्राइडन इस मायने में सौभाग्यशाली रहे कि उन्होंने आभिजात्यवादी यूनानी-रोमी प्रतिमानों को फ्रांस के प्रसिद्ध नाटककार कार्नेई (1606-1684) के माध्यम से आत्मसात किया जिन्हें इनकी व्यावहारिक कठिनाइयों का बोध था और उन्होंने इनका उपयोग रचनात्मक स्तर पर किया था। अत: ड्राइडन ने शास्त्रवाद का जो रूप आत्मसात किया वह काफी हलका और बुद्धिसंगत था। जब तक फ्रांसीसी नव्यशास्त्रवाद का पूरा प्रभाव इंगलैंड में आया, ड्राइडन में उसका प्रतिरोध करने का साहस आ गया था और वे अपने रास्ते पर जा सकते थे। वस्तुतः नव्यशास्त्रवाद और विश्लेषणात्मक आलोचना दोनों साथ-साथ नहीं चल सकते थे। ऐसे रीतिवाद और विश्लेषणात्मक आलोचना में किसी तरह का तालमेल संभव न था।

दूसरी प्रवृत्ति जो ड्राइडन के आलोचक रूप के लिए बाधक हो सकती थी वह थी प्रायोगिक विज्ञान की प्रवृत्ति जिसका विकास बेकन, देकार्त और हॉब्स के प्रभाव के तहत हुआ था। वे स्वयं रॉयल सोसाइटी के सदस्यों में से थे। उनके गद्य में वैज्ञानिक उपमाएँ भरी पड़ी हैं और परोक्ष रूप से हॉब्स की नानाविध प्रतिध्वनियाँ हैं। वे हॉब्स के बहुत बड़े प्रशंसक भी थे। इस दौर की कविता में बिंब विधान की जो दरिद्रता दिखाई देती है और तत्ववादी कविता* (मैटाफिज़िकल पोइट्री) का जो अचानक अवसान हुआ उसका बहुत-कुछ श्रेय इस समय के वैज्ञानिकों को है। इन वैज्ञानिकों ने इस बात पर जोर दिया कि सटीकता का गुण लाने के लिए स्वयं भाषा को अनुशासित होना चाहिए। यह नव्य दर्शन भी वैसा ही इतिहास-विरोधी था जैसा नव्यशास्त्रवाद। आरंभ में अतीत के इस तिरस्कार का दबाव ड्राइडन पर भी था किंतु इन नवीन विचारों की कठोरता उनके स्वभाव का आनंददायक मनोरंजन रहा है। इतिहासकार हमें बुद्धिमान बनाने में मदद देत हैं। ऐतिहासिक चेतना बड़ी चीज है और इस चेतना के बिना काव्य-रचना निरर्थक है। (वाटसन, खंड 1, पृ.85-86) विज्ञान और नव्यशास्त्रवाद उन्हें महत्वपूर्ण बातें कहने से रोक नहीं सके, किंतु इनके प्रभाववश उन्हें उन बातों को कहने में देर लगी और वे उन्हें उतने व्यवस्थित रूप में नहीं कह सके।

ड्राइडन ने आभिजात्यवादी या यूनानी-रोमी काव्य-सिद्धांतों का विरोध करने में युक्ति से काम लिया। उन पर प्रत्यक्ष प्रहार खतरनाक सिद्ध हो सकता था। अत: उन्होंने प्रत्यक्ष रूप से समसामयिक फ्रांसीसी काव्य-प्रतिमानों को विरोध का लक्ष्य बनाया और यूनानी-रोमी प्रतिमानों का विरोध करने में परोक्ष पद्धति अपनाई। यों भी यूनान और रोम का साहित्य मृत भाषाओं का साहित्य था। वह सुदूर अतीत की वस्तु था, अत: उसके प्रति आदर-भाव बने रहने में कोई नुकसान नहीं था। उसके प्रति स्पर्धा का भाव नहीं हो सकता था। इसके विपरीत फ्रांसीसी साहित्य समसामयिक था। सांस्कृतिक क्षेत्र में पूरे यूरोप में इसका वर्चस्व था। इंग्लैंड के संदर्भ में यह वर्चस्व और भी महत्वपूर्ण था क्योंकि यहाँ के सांस्कृतिक क्षेत्रों में इसे बड़े आग्रह के साथ ग्रहण किया जा रहा था। इससे इंग्लैंड की सांस्कृतिक अस्मिता के लिए खतरा भी पैदा हो गया था। इसलिए फ्रांस को विरोध का लक्ष्य बनाने में दुहरा लाभ था : अपनी सांस्कृतिक अस्मिता की रक्षा और आभिजात्यवादी कला-प्रतिमानों पर प्रहार।

ड्राइडन ने अरस्तू-होरेस को आधार एक में ग्रहण करके ही उनका विरोध किया। उन्होंने शास्त्रीय नियमों के अनुकरण के बजाय 'प्रकृति के अनुकरण' पर बल दिया। यह बल अरस्तू की मान्यता के अनुरूप ही था। फिर 'प्रकृति के अनुकरण' के इस सूत्र में उन्होंने ऐतिहासिक आयाम का संयोग किया। यह प्रकृति शाश्वत या चिरंतन नहीं है वरन् सतत परिवर्तनशील है और ऐतिहासिक विकास क्रम में इसमें संश्लिष्टता और विविधता की मात्रा बढ़ती गई है। इस प्रकार संश्लिष्टता और विविधता को उन्होंने विकासशील मानव-प्रकृति के निकष के रूप में ग्रहण किया। जिस साहित्य में जितनी ज्यादा विविधता होगी वह मानव-प्रकृति के उतना ही अनुरूप होगा और उसी अनुपात में उसमें आनंद प्रदान करने की क्षमता भी अधिक होगी। क्या कथानक, क्या पात्र, सभी क्षेत्रों में विकास की दिशा सरलता से विविधता की ओर है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि यूनानी और फ्रांसीसी नाटकों की तुलना में अंग्रेजी नाटकों में यह विविधता कहीं ज्यादा थी। उनमें कथानक के साथ-साथ उपकथानक भी थे और फिर कथानक का अनेक अंकों और दृश्यों में विभाजन किया गया था। उनमें पात्रों की संख्या भी अधिक थी। तात्पर्य यह कि उनमें कथानक के स्तर पर भी विविधता थी और पात्रों के स्तर पर भी। ऐतिहासिक विकास की

---

* ड्राइडन के युग के ठीक पहले और शेक्सपियर के युग के ठीक बाद तत्ववादी कविता का युग था। बौद्धिकता, दूरारूढ कल्पना, विरोधाभास, चमत्कार आदि इस काव्य की प्रमुख विशेषताएँ हैं। डन और काउले इसके प्रसिद्ध कवियों में हैं। आधुनिक युग में इलियट ने इस काव्य को केंद्रस्थ किया।

दृष्टि से चूँकि यह विविधता अधिक विकसित चरण की सूचक है, अतः जिन नाटकों में विविधता ज्यादा होगी वे श्रेष्ठ माने जाएँगे - शर्त यही है कि नाटककार उस विविधता का निर्वाह कर सके, उसमें संरचनात्मक अन्विति ला सके। विविधता के अभाव से एकरसता आती है, इसीलिए शेक्सपियर के नाटकों की तुलना में यूनानी तथा फ्रांसीसी नाटक नीरस और निर्जीव दिखाई देते हैं। प्राचीन नाटकों में कमी क्या है, यह प्रश्न ड्राइडन पूछते हैं और फिर उसका उत्तर भी देते हैं : 'उनके कथानक संकीर्ण हैं और पात्रों की संख्या बहुत सीमित है। जब उनमें विविधता की इतनी कमी है तो क्या उनकी श्रेष्ठता इतनी उच्च कोटि की हो सकती है? या जो कुछ उन्होंने किया उसे करना क्या काफी आसान नहीं था?' (वाटसन, खंड 1, पृ.218) इस प्रकार फ्रांसीसी नाटकों की तुलना में अंग्रेजी नाट्य साहित्य तुतला उपक्रम नहीं है। विविधता, संश्लिष्टता और गहराई अंग्रेजी नाट्य साहित्य में ज्यादा है। नियमपालन में यह भेद श्रोताओं के रुचिभेद की वजह से है। यदि अंग्रेजी दर्शकों की अभिरुचि फ्रांसीसी दर्शकों की अभिरुचि-जैसी होती तो वे नियमपालन में भी उनसे कहीं आगे होते : 'यदि हमारे दर्शक वर्ग की अभिरुचि उनकी जैसी होती तो हमारे कवि जितनी आसानी से उन नियमों का पालन कर सकते थे उतनी आसानी से फ्रांसीसी लेखक हमारे विचारों की भव्यता अथवा हमारे रचनाविधान की दुस्साध्य विविधता के स्तर तक नहीं उठ सकते थे।' (वही, खंड 2, पृ.161) अंग्रेजी नाटक इसलिए श्रेष्ठ हैं कि वे ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से आगे के चीज हैं - उनमें विविधता, संश्लिष्टता और गहराई ज्यादा है। इस विविधता के अभाव में फ्रांसीसी काव्य के :'सौंदर्यगत गुण पाषणमूर्ति के हैं, मानव के नहीं क्योंकि वे काव्य की आत्मा से स्पंदित नहीं हैं जिसका संबंध मनोदशाओं और मनोवेगों के चित्रण से है।' (डॉ.कृष्णदत्त शर्मा, 'नाट्य काव्य निबंध' : ड्राइडन के आलोचना सिद्धांत, पृ. 156) इस तर्क-सरणि पर चलकर ड्राइडन ने यूनानी-रोमी तथा फ्रांसीसी काव्य-प्रतिमानों का विरोध किया और सांस्कृतिक क्षेत्र में अपनी राष्ट्रीय अस्मिता को रेखांकित किया। ऐतिहासिक दृष्टि से यह बड़ा ही समयोचित कार्य था।

इसमें संदेह नहीं कि ड्राइडन ने फ्रांसीसी नव्यशास्त्रवाद को अपने प्रत्यक्ष विरोध का लक्ष्य बनाया, फिर भी विरोध का वास्तविक लक्ष्य यूनानी-रोमी प्रतिमान ही थे। ऐतिहासिक चेतना का आधार लेकर उन्होंने इस विरोध को अधिक तर्कसंगत रूप दिया। किसी रचना को आकार देने में पाठकीय अभिरुचि की निश्चित भूमिका होती है और यह अभिरुचि युग और राष्ट्रीय चेतना से निर्धारित होती है : 'शेक्सपियर और फ्लेचर ने अपने युग और राष्ट्रीय चेतना को संबोधित करके लिखा था। हालाँकि मानव-प्रकृति सर्वत्र एक - जैसी है और साथ ही मानव-विवेक भी, फिर भी जलवायु, युग और जिन लोगों को संबोधित करके कवि लिखता है उनके रूप-रंग इतने भिन्न हो सकते हैं कि जो चीज यूनानियों के लिए आनंदप्रद थी वह जरूरी नहीं कि अंग्रेजी श्रोताओं को भी परितुष्ट करें।' (वाटसन, खंड 1, पृ.214) इस रुचिभेद का संबंध उन्होंने नाट्य रुढ़ियों से जोड़ा। जो नाट्य वर्जनाएँ यूनानी और फ्रांस के संदर्भ में मान्य हैं, जरूरी नहीं वे अंग्रेजी दर्शकों के संदर्भ में भी मान्य हों। इसीलिए 'मल्लयुद्ध या इसी तरह के भयावह क्रियाकलाप' फ्रांसीसी दर्शकों के लिए अप्रीतिकर, अतः रंगमंच पर अनभिनेय हो सकते हैं, अंग्रेज दर्शकों के लिए नहीं। राइमर की पुस्तक का जवाब देने के लिए ड्राइडन ने जो टिप्पणियाँ* लिखी उनमें अरस्तू के विरोध का स्वर अधिक मुखर है : 'अरस्तू ने ऐसा कहा है, इतना ही काफी नहीं है क्योंकि अरस्तू ने अपने त्रासदी विषयक आदर्श सोफोक्लेस और यूरिपिदेस से ग्रहण किए थे और यदि उन्होंने हमारे नाट्य आदर्शों को देखा होता तो अपनी राय बदल देते।' (वाटसन, खंड 1, पृ.218) महाकाव्य और त्रासदी में अरस्तू ने त्रासदी को अधिक महत्वपूर्ण माना था। ड्राइडन ने सापेक्षिक दृष्टि से महाकाव्य को अधिक महत्व दिया। अपने तर्क को व्यंग्य की धार से और पैना बनाते हुए ड्राइडन ने लिखा : 'अरस्तू ने त्रासदी को श्रेष्ठ मानने का एक कारण यह दिया है कि इसमें विस्तार कम होता है : पूरा कार्य-व्यापार चौबीस घंटे की अवधि में सिमटा रहता है। वह यह भी सिद्ध कर सकते हैं कि आडू की तुलना में कुकुरमुत्ता बेहतर होता है क्योंकि यह रातोंरात बढ़ जाता है।' (डब्ल्यू.पी.कर, खंड 2, पृ.158)

काव्य और इतिहास में गहरा संबंध है, ड्राइडन का यह बोध उत्तरोत्तर बढ़ता गया किंतु वे इस संबंध की व्यवस्थित रूप से जाँच-पड़ताल नहीं कर सके। यत्र-तत्र उसके संकेत मिल जाते हैं। उदाहरण के लिए 'फेबल्स' (1700) के आमुख में उन्होंने लिखा है : 'मिल्टन स्पेंसर के काव्य-पुत्र थे ..... अन्य

---

* ये टिप्पणियाँ ड्राइडन ने राइमर (1641-1713) की पुस्तक "ट्रेजडीज़ ऑफ द लास्ट एज" (1677) का जवाब देने के लिए लिखी थीं। इनसे यह पता चलता है कि नव्यशास्त्रीय सिद्धांत-जड़ता के वे कितने खिलाफ थे। किंतु शायद इनके अरस्तू-विरोधी तेवर की वजह से ड्राइडन अपने जीवनकाल में इन्हें प्रकाशित कराने का साहस नहीं जुटा सके। ये टिप्पणियाँ उनकी मृत्यु के ग्यारह वर्ष बाद 1711 में पहले-पहल प्रकाशित हुई।

परिवारों के साथ-साथ हमारी वंश-परंपराएँ और कबीले भी हैं। स्पेंसर ने एकाधिक बार यह संकेत किया है कि उसके शरीर में चॉसर की आत्मा संचरित हो गई है और उसने मुझे अपनी मृत्यु के दो सौ वर्ष बाद जन्म दिया है। मिल्टन ने मेरे सामने यह स्वीकार किया है कि उसका मूल रूप स्पेंसर था।' (वही, पृ. 247) इसी आमुख में जो चॉसर का संवेदनशील अध्ययन आया है वह भी इसी प्रकार की ऐतिहासिक दृष्टि से सम्पन्न है : 'वह हमारी कविता के बाल्यकाल में रहा और ... कोई भी चीज़ अपने आरंभिक चरण में परिपूर्णता नहीं प्राप्त कर सकती। मनुष्य के रूप में विकसित होने से पहले हमें बाल्यावस्था से होकर गुज़रना होगा।' (वही, पृ.259) ऐसी पंक्तियों में साहित्येतिहास की की पूरी परंपरा जन्म लेती हुई प्रतीत होती है। किंतु आलोचना के क्षेत्र में ऐतिहासिक चेतना को जड़ जमाने में अभी एक सदी का समय और लगता है।

13.7 मूल्यांकन

ड्राइडन ने शास्त्र-जड़ अंग्रेजी आलोचना को आधुनिक बनाया और उसे व्यापक आधार प्रदान किया। शास्त्र को उन्होंने केवल प्रस्थान-बिंदु माना जो बहुत दूर तक उनकी मदद नहीं करता। इसीलिए अपनी आलोचना-यात्रा पूरी करके जब वे गंतव्य स्थान पर पहुँचते हैं तो एक नया सिद्धांत अर्जित कर चुके होते हैं। आलोचना को आधुनिक रूप देने के सिलसिले में उन्होंने कई क्षेत्रों में पहल की। युग-चेतना और ऐतिहासिक चेतना के आधार पर उन्होंने आभिजात्यवादी काव्य-सिद्धांतों अपेक्षित संशोधन-परिवर्तन की बात कही। होमर और चौसर, शेक्सपियर और बेन जॉनसन की तुलना करके तुलनात्मक आलोचना का मार्ग प्रशस्त किया। इसके अलावा बेन जॉनसन के एक नाटक 'द साइलेंट वूमन' का मूल्यांकन प्रस्तुत करके व्यावहारिक समीक्षा का सूत्रपात किया। अंग्रेजी आलोचना के लिए ये नई चीजें थीं और कुल मिलाकर आलोचना मात्र के संदर्भ में ये स्थायी महत्व की सिद्ध हुई। प्राचीन के प्रति निष्ठावान रहते हुए भी नवीन के प्रति ड्राइडन का आकर्षण कम नहीं है। परंपरा उन्हें मान्य है किंतु युग के अनुरोध से वे बराबर उसमें संशोधन-परिवर्तन करते रहने के पक्ष में हैं। शायद इन्हीं विशेषताओं की वजह से डॉ. जॉनसन ने उन्हें 'आधुनिक अंग्रेजी आलोचना का जनक' कहा है।

13.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

डॉ.कृष्ण दत्त शर्मा, **ड्राइडन के आलोचना सिद्धांत**, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा, **पाश्चात्य काव्यशास्त्र**, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।

डॉ. जगदीश चन्द्र जैन, **पाश्चात्य समीक्षा दर्शन**, हिंदी प्रचारक संस्थान, वाराणसी।

13.9 अभ्यास के लिए प्रश्न

1. ड्राइडन के आलोचना सिद्धांतों का विवेचन कीजिए।
2. ड्राइडन के युग और परिवेश पर संक्षेप में विचार कीजिए।
3. 'नाट्य-काव्य' नामक ड्राइडन के निबंध के मूल कथ्य पर प्रकाश डालिए।
4. ड्राइडन और नव्यशास्त्रवाद के संबंध का निर्धारण कीजिए।
5. ड्राइडन द्वारा प्रतिपादित तुलनात्मक और व्यावहारिक आलोचना पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

इकाई 14 स्वच्छंदतावादी काव्य चिंतन : वर्डसवर्थ और कॉलरिज

इकाई की रूपरेखा

14.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप :

- स्वच्छंदतावादी काव्य सिद्धांतों की चर्चा कर सकेंगे;
- कविता की भाषा के संबंध में वर्डसवर्थ और कॉलरिज के मतों का उल्लेख कर सकेंगे;
- उनके द्वारा दी गई काव्य की परिभाषा के विषय में बता सकेंगे; और
- कॉलरिज के कल्पना सिद्धांत का विवेचन कर सकेंगे।

14.1 प्रस्तावना

पिछली इकाई में आप ड्राइडन के आलोचना-सिद्धांतों के बारे में पढ़ चुके हैं। प्रस्तुत इकाई में आप दो स्वच्छंदतावादी आलोचकों - वर्डसवर्थ और कॉलरिज के विषय में पढ़ेंगे। अंग्रेज़ी में स्वच्छंदतावाद के प्रवर्तकों में इनकी गणना की जाती है। आलोचकों की मान्यता है कि इन दोनों के प्रसिद्ध कविता-संग्रह 'लिरिकल बैलेड्स' (1798) के प्रकाशन-काल से अंग्रेज़ी में स्वच्छंदतावाद का आरंभ हुआ। आगे वर्डसवर्थ के प्रसंग में इस संग्रह के बारे में विस्तार से चर्चा की जाएगी।

14.2 स्वच्छंदतावाद की पूर्वपीठिका

ड्राइडन ने अपने अंतिम वर्षों में आगामी साहित्यिक विकास की दिशा निर्धारित कर दी थी। यह दिशा नव्य-शास्त्रवाद या नव-आभिजात्यवाद की ओर थी। फ्रांस में तो सत्रहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में ही नव्य-शास्त्रवाद अपने पूरे उभार पर था। किंतु इंगलैंड में इसका विकास अठारहवीं सदी में हुआ। ड्राइडन की मृत्यु (1700) और 'लिरिकल बैलेड्स' (1798) के प्रकाशन के बीच जो लगभग सौ वर्ष का अंतराल है उसमें नव्यशास्त्रवाद का वर्चस्व दिखाई देता है। इस युग के प्रतिनिधि आलोचक हैं - डॉ. जानसन। इस युग के आलोचक अरस्तू-होरेस का नाम लिए बिना एक क़दम भी आगे नहीं बढ़ पाते। वर्डसवर्थ और कॉलरिज ने अरस्तू-होरेस के इस वर्चस्व को तोड़ा और युग की नई शक्तियों से प्रेरित नवीन रचनाशीलता को केंद्र में रखकर काव्य और आलोचना का नई दिशाओं में विकास किया। वर्डसवर्थ और कॉलरिज के सहयोगी प्रयास 'लिरिकल बैलेड्स' में नए भावबोध की कविताएँ थीं। कालांतर में इन कविताओं ने पुराने नव्यशास्त्रवादी बोध को विस्थापित कर नए स्वच्छंदतावाबी बोध को प्रतिष्ठित किया। साहित्य के क्षेत्र में इस नवीन परिवर्तन को 'स्वच्छंदतावाद' (1798) की संज्ञा दी गई।

14.3 आभिजात्यवाद और स्वच्छंदतावाद

ऊपर हमने 'आभिजात्यवाद' और 'स्वच्छंदतावाद' जैसे शब्दों का प्रयोग किया है। 'नवआभिजात्यवाद' अथवा 'नव्यशास्त्रवाद' का संबंध भी 'आभिजात्यवाद' से है। यहाँ हमारे सामने यह प्रश्न उठता है कि आभिजात्यवाद का अर्थ क्या है और आभिजात्यवाद तथा स्वच्छंदतावाद में क्या अंतर है?

अंग्रेज़ी में 'आभिजात्यवाद' शब्द का प्रयोग कई अर्थों में होता है। यूरोप में तीन ऐसे युग हुए हैं जिनका उल्लेख आभिजात्यवादी युग के रूप में किया जाता है। सबसे पहले तो यूनान में पेरिक्लेस का युग है। साहित्य में इसका प्रतिनिधित्व इस्काइलस और सोफोक्लेस करते हैं। इसके प्रमुख सिद्धांतकार हैं - अरस्तू। दूसरे, सिसरो और वर्जिल के युग का उल्लेख आभिजात्यवादी युग के रूप में किया जाता है। यह रोमी साहित्य का आभिजात्यवादी युग है। इसके प्रमुख सिद्धांतकार हैं - होरेस। मूल आभिजात्यवादी युग ये दोनों प्राचीन युग ही हैं। तीसरे, फ्रांस में सेंट लुई के युग (17वीं सदी का उत्तरार्द्ध) और इंगलैंड में अठारहवीं सदी के साहित्य को आभिजात्यवाद से सम्बद्ध माना गया है। फ्रांस में इसका साहित्यिक प्रतिनिधित्व कार्नेई और रासीन करते हैं और इंगलैंड में पोप, एडिसन और डॉ.जॉनसन जैसे लेखक। इस दौर में फ्रांस और इंगलैंड में यह प्रतिपादित किया गया कि साहित्य और कला के क्षेत्र में जो ऊँचाइयाँ हासिल की जा सकती थीं वे प्राचीन यूनान ओर रोम में हासिल कर ली गई थीं। अब हमारे सामने साहित्यिक विकास का एकमात्र रास्ता यही है कि हम यूनानी-रोमी काव्य-प्रतिमानों का अनुकरण करें। इस प्रकार, 'क्लासिक' शब्द श्रेष्ठता का प्रतिमान बन गया और इस दौरान (17वीं सदी के उत्तरार्द्ध में फ्रांस में तथा 18वीं सदी में इंगलैंड में) यूनानी-रोमी काव्य-प्रतिमानों का बड़े आग्रह के साथ अनुकरण किया गया। चूँकि इस युग में आभिजात्यवादी - यूनानी-रोमी, विशेष रूप से रोमी - काव्य-प्रतिमानों का नए सिरे से अनुकरण किया गया इसलिए इसे 'नव-आभिजात्यवाद' अथवा 'नव्यशास्त्रवाद' की संज्ञा दी गई।

यहाँ यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि फ्रांस और इंगलैंड के नव्यशास्त्रवाद में मुख्य रूप से रोमी आभिजात्यवाद का अनुकरण किया गया था। यूनानी संस्कृति दरबारी संस्कृति नहीं थी। इसीलिए उसमें एक खास तरह की भव्यता और कल्पनाशीलता है। इसके विपरीत, रोमी संस्कृति सामंती संस्कारों में जकड़ी हुई दरबारी संस्कृति थी। साथ ही, यह यूनानी संस्कृति के सायास अनुकरण के आधार पर निर्मित हुई थी। इसमें उस साहस और कल्पनाशीलता का अभाव दिखाई देता है जो यूनानियों की ख़ास विशेषता थी। इसमें रूपगत भव्यता, परिष्कार और विदग्धता पर जितना बल है उतना कल्पनाशीलता पर नहीं। फ्रांस और इंगलैंड के कवियों ने मुख्य रूप से इस रोमी आभिजात्यवाद का अनुकरण किया था, इस्काइलस और सोफ़ोक्लेस के आभिजात्यवाद का नहीं। इंगलैंड में यह प्रायः देखने में आया है कि सर्जनात्मक गतिविधियों के महान युगों में इसने यूनानी साहित्य से प्रेरणा ली और पतन के युगों में रोमी संस्कृति के प्रति दिलचस्पी दिखाई।

नव्यशास्त्रवाद साहित्यिक अनुभव की संकीर्णता पर आधारित था। पुनर्जागरणकालीन इटली और सत्रहवीं सदी के फ्रांस में एक से एक जड़ अरस्तूवादी हुए थे जो प्राचीन साहित्य चिंतकों द्वारा बताए गए नियमों को अटल मानते थे। यही वजह हि कि उन्होंने अन्वितियों के पालन पर इतना बल दिया। मानव-स्वभाव की विविधता की उपेक्षा करके उन्होंने यह मान्यता व्यक्त की कि मानव-प्रकृति सर्वत्र एक जैसी हैं। वे यह नहीं समझ सके कि उनका सार्वभौम मानव एक विशिष्ट सामाजिक-ऐतिहासिक स्थिति से जुड़ा हुआ है।

इस युग में कविता अभिजात वर्ग के मनोरंजन को ध्यान में रखकर लिखी जाती थी। इसीलिए इसमें विदग्धता और अभिव्यक्ति-कौशल पर अधिक बल दिया गया। भाषा का अभिजात स्वरूप बनाए रखने के लिए उसे बोलचाल की भाषा से यथासंभव दूर रखा जाता था। परिणामस्वरूप ऐसी रूढ़, कृत्रिम और आडम्बरपूर्ण काव्यभाषा विकसित हो गई थी जो न तो बोधगम्य थी, न भावोद्दीपन में समर्थ। उसका विकास कवि-परंपरा में हुआ था, जन-जीवन से उसे कुछ लेना-देना नहीं था। वर्डसवर्थ जैसे स्वच्छंदतावादी कवियों ने इसी रूढ़ और कृत्रिम काव्यभाषा का विरोध किया था। यह वास्तव में अभिजात वर्ग और अभिजातवर्गीय संस्कृति का विरोध था।

अठारहवीं सदी को तर्क या विवेक का युग कहा जाता है। इस युग में एक तो हॉब्स और लॉक जैसे अनुभववादी दार्शनिकों का विवेक था जिसका क्रांतिकारी महत्व है। दूसरा एडिसन और डॉ.जॉनसन जैसे

आलोचकों और पोप जैसे कवियों का विवेक था जिसने सामंती अभिजात वर्ग और उसके मूल्यों को बनाए रखने में मदद दी। इन्होंने जिसे विवेक कहा है, वह वास्तव में अभिजात वर्ग का सीमित सौंदर्य-बोध है। जो कुछ अभिजात वर्ग को रुचिकर लगता है वह उचित है, विवेकपूर्ण है। इसके अलावा, जो कुछ है वह अनुचित है, अविवेकपूर्ण है, अशास्त्रीय है। इसी संकीर्ण और जड़ीभूत सौंदर्याभिरुचि की वजह से अठारहवीं सदी में शेक्सपियर और मिल्टन जैसे पुनर्जागरणकालीन साहित्यकारों की उपलब्धियों को नकारा गया। विदग्धता, शब्दाडम्बर आदि जो उसके सतही रूप थे उन्हें अधिक महत्त्व दिया गया, किंतु उसके वास्तविक मानवतावाद की उपेक्षा कर दी गई। स्वच्छंदतावाद के सूत्रधारों ने इस विरासत को फिर से पहचाना और विभिन्न संदर्भों में शेक्सपियर और विशेष रूप से मिल्टन को याद किया।

अठारहवीं सदी एकरूप शताब्दी नहीं थी। इस युग में लॉक जैसे अनुभववादी गॉडविन जैसे सामाजिक विचारकों के अलावा बर्न्स, ब्लेक, टॉमसन, काउपर जैसे कवि पैदा हुए थे जिन्होंने सामंती या अर्ध-सामंती संस्कृति के खिलाफ़ विद्रोह किया। औद्योगिक क्रांति ने धीरे-धीरे अभिजात वर्ग की संस्कृति के सामाजिक आधार को कमज़ोर किया। राजनीतिक क्षेत्र में यही काम फ्रांस की राज्यक्रांति ने किया। ऐसी सामाजिक स्थिति में एडिसन, जॉनसन, पोप जैसे लोगों की संस्कृति, उनकी कविता और आलोचना-प्रतिमान पुराने पड़ गए और एक नई संस्कृति सामने आई जिसमें जनता के बड़े वर्ग - विशेष रूप से मध्य वर्ग - के हितों का प्रतिनिधित्व था। स्वच्छंदतावादी आंदोलन ने इस ऐतिहासिक आवश्यकता की पूर्ति की।

स्वच्छंदतावादी कविता में ऐंद्रिय बोध, भाव, आवेग, कल्पनाशीलता, स्वतःस्फूर्त प्रेरणा, यथार्थ के बजाय स्वप्न, पलायन आदि विशेषताएँ देखने में आती हैं। इस युग में गहराई से अनुभूत भावों की अभिव्यक्ति के अधिकार को स्थापित किया गया। वर्डसवर्थ, कॉलरिज, बायरन, शेली, कीट्स जैसे सभी प्रमुख स्वच्छंदतावादी कवियों ने भाव के चित्रण पर बल दिया। नव्यशास्त्रवादी कविता में भी भाव होते थे, किंतु वे सामान्य भाव होते थे। अधिक बल शिल्प और अभिव्यक्ति-कौशल पर रहता था। वर्डसवर्थ ने कविता को 'भाव का सहज उच्छलन' कहा। कॉलरिज के अनुसार महान कवियों की रचनाओं में 'भाव का सतत अंतःप्रवाह' रहता है। भावुकता है भी साहित्यकार का सबसे बड़ा गुण। साहित्य की सारी पूँजी भावों को लेकर है। किंतु अमर्यादित होने पर यह भावुकता अर्थहीन हो जाती है। जिसे हम संस्कार या संस्कृति कहते हैं वह भावों के परिष्कार या नियंत्रण से उत्पन्न होती है। भावावेग यदि प्रकृति है तो बुद्धि द्वारा उसे मर्यादा में रखना संस्कृति का लक्षण है। अतः भाव के साथ बुद्धि या विचार का सहयोग चाहिए। स्वच्छंदतावादी कवियों ने भाव को विचार और दर्शन से संयुक्त किया। भाव और ज्ञान इन कवियों के लिए परस्पर विरोधी नहीं हैं वरन् एक-दूसरे के पूरक हैं। जैसे केवल भाव काफी नहीं है वैसे ही केवल विचार भी काफी नहीं हैं। कॉलरिज के अनुसार 'मात्र विचारात्मक शक्ति से जो चीज़ें जन्म लेती हैं उनमें मृत्यु की गंध होती है।' ('बायोग्राफिया लिटरेरिया', अध्याय 9) निरी बुद्धि से कविता नहीं बनती किंतु कोरी भावुकता भी कविता के लिए अपर्याप्त है। केवल ज्ञान काफी नहीं है, ज्ञान का संवेदनात्मक होना भी जरूरी है।

स्वच्छंदतावाद की एक महत्वपूर्ण देन यह है कि उसने मनुष्य की कल्पना को स्वाधीन किया। नव्यशास्त्रीय कवियों के सीमित सौंदर्य-बोध ने काव्य-वस्तु को बहुत संकुचित कर दिया था। स्वच्छंदतावादी कवियों ने काव्य-वस्तु के क्षेत्र का विस्तार किया। उनमें यथार्थ के नए क्षितिजों को देखने की जिज्ञासा थी, वस्तुओं के अंतरतम में पैठ-डूबकर उनके सूक्ष्म रहस्यों को समझने का कुतूहल था। जिज्ञासा और कुतूहल की इस भावना से उनके काव्य में एक प्रकार के विस्मय का तत्व मिलता है। विस्मय ऐसी अनुभूति है जो यथार्थ का अनुभव करने और उसका अंकन करने में सहायता पहुँचाती है। शायद इसी विशेषता को ध्यान में रखकर पैटर ने स्वच्छंदतावाद को 'सौंदर्य में अद्भुत का योग' (an addition of strangeness to beauty) कहकर परिभाषित किया है। सौंदर्य तो सामान्य तत्व है जो आभिजात्यवाद और स्वच्छंदतावाद दोनों में मिलता है। स्वच्छंदतावादी इस सौंदर्य में अद्भुत का संयोग कर देता है जिससे जानी-पहचानी और परिचित चीज़ों में नवीन परिचय की दीप्ति आ जाती है।

जिज्ञासा और कुतूहल की उक्त वृत्ति ने ही स्वच्छंदतावादी कवियों की कल्पना-शक्ति का प्रसार किया। पूर्ववर्ती नव्यशास्त्रवादी युग में कल्पना के पर जैसे बाँध दिए गए थे। स्वच्छंदतावाद की एक बहुत बड़ी देन यह है कि उसने मनुष्य की कल्पना को मुक्त या स्वाधीन किया। यह मुक्ति वस्तु के स्तर पर भी दिखाई देती है और शिल्प के स्तर पर भी। 18वीं सदी में छंद एकदम साँचेबद्ध होते थे। पाठक को यह पता रहता था कि कब यति आने वाली है और कब अंत्यानुप्रास आने वाला है। छंद की मुक्ति के लिए

स्वच्छंदतावादी कवियों ने लोक-साहित्य का गंभीर अध्ययन किया और शेक्सपियर तथा उसके पूर्ववर्ती युग की छंद-शैलियों को फिर से प्रचारित किया। बैलेड काव्य-रूप में छंद इतना मुक्त है कि पुनर्जागरण काल के बाद उतना मुक्त कभी नहीं देखा गया। कल्पना के ऐश्वर्य का जो साक्ष्य वर्डसवर्थ में रचनात्मक स्तर पर मिलता है वही कॉलरिज में विवेचन के स्तर पर। कॉलरिज ने अत्यंत कल्पनाशील कविताएँ रचीं और 'कल्पना' को स्वच्छंदतावादी समीक्षा के बीज शब्द के रूप में प्रतिष्ठित किया।

आम तौर पर यह माना जाता है कि स्वच्छंदतावादी युग का मुख्य काव्यरूप प्रगीत है। वर्डसवर्थ और शेली ने कुछ अद्भुत प्रगीत लिखे जो अपनी ज्योतिर्मयता के कारण विश्व-साहित्य की अमूल्य निधि हैं। प्रगीत स्वच्छंदतावादी युग की देन है, इसमें संदेह नहीं। किंतु कुल मिलाकर इस युग की अधिकांश कविताएँ वर्णनात्मक हैं, नाटकीय हैं। प्रगीत को भी इन कवियों ने अपने व्यक्तिगत सुख-दुख के चित्रण तक सीमित नहीं रखा वरन् उसमें वस्तुगत स्थितियों का चित्रण किया।

स्वच्छंदतावादी काव्य में एक ओर क्रांतिकारी चेतना दिखाई देती है तो दूसरी ओर दुख, निराशा और पलायनवादी रुझानें भी हैं। सामाजिक प्रगति के लिए जनता जो संघर्ष कर रही थी, स्वच्छंदतावादी कवि उसके साथ थे। किंतु राजनीतिक स्तर पर इस समय ऐसा कोई संगठन नहीं था जो इस संघर्ष को वाणी देता। दुख, निराशा, पलायन आदि का यही कारण है। बाहर की दुनिया से बचने के लिए वे सपने की दुनिया रचते हैं जहाँ उनके तनाव को शांति मिले। कीट्स में यह प्रवृत्ति अधिक मुखर है। ये कवि सामाजिक परिवेश के साथ सामंजस्य स्थापित नहीं कर पाते और अपने आपको अकेला महसूस करते हैं। इसीलिए उनमें एक प्रकार के आदर्शीकरण की प्रवृत्ति देखाई देती है। प्राचीन यूनान का आदर्शी-करण किया गया और ऐसा करते समय दास-प्रथा और स्त्रियों की निम्न स्थिति को नज़रंदाज़ कर दिया गया। इसी प्रकार मध्यकाल का आदर्शीकरण किया गया और उसकी क्रूरता एवं बर्बरता की उपेक्षा कर दी गई। कॉलरिज अपनी कवितओं में मध्यकाल का वातावरण रचते हुए दिखाई देते हैं जबकि कीट्स यूनान के आदर्शीकरण में अधिक रुचि लेते हैं।

स्वच्छंदतावादी कवियों ने निराशा और पलायनवादी प्रवृत्तियों के ख़िलाफ़ संघर्ष भी किया। आभिजात्यवादी मूल्यों पर आधारित अपने युग की समाज-व्यवस्था की उन्होंने कटु आलोचना की। वर्डसवर्थ ने अपनी कविताओं में आम आदमी के दुख-दर्द का चित्रण किया। सभी स्वच्छंदतावादी कवियों की अपने युग के सामाजिक प्रश्नों में गहरी दिलचस्पी थी। अधिकांश कवियों ने अपनी रचनाओं में सामाजिक प्रगति की धारणा का समर्थन किया। कॉलरिज और शेली पहले यूरोपीय विचारक थे जिन्होंने माल्थस की आलोचना की। स्वच्छंदतावादी कवि अपने युग के वैज्ञानिक चिंतन से गहरे जुड़े हुए थे। अपने सर्जनात्मक दौर में वर्डसवर्थ और कॉलरिज पर बेकन-लॉक-हार्टली की वैज्ञानिक परंपरा का गहरा असर था।

इस प्रकार स्वच्छंदतावादी रचनाकारों ने अपने काव्य में एक नवीन यथार्थवाद का विकास किया। इन कवियों के कृतित्व को जब हम एक ऐसी नवीन संस्कृति के रूप में देखते हैं जो पुरानी नव्यशास्त्रीय संस्कृति के विरोध में विकसित हो रही थी तो उनका ऋण हमारे सामने और भी स्पष्ट हो जाता है। पुनर्जागरण युग के बाद यह निश्चय ही अंग्रेज़ी कविता का सबसे समृद्ध युग था।

14.4 विलियम वर्डसवर्थ (1770-1850)

अंग्रेज़ी के स्वच्छंदतावादी कवियों में वर्डसवर्थ का नाम बहुत आदर से लिया जाता है। वे मूलतः कवि थे, आलोचक नहीं। शेक्सपियर और मिल्टन के बाद वे अंग्रेज़ी के तीसरे सबसे बड़े कवि हैं। उनकी कुछ कविताएँ, विशेष रूप से प्रगीत, विश्व साहित्य की अमूल्य निधि हैं। सामंतवाद के दमन और उत्पीड़न के प्रति विद्रोही होकर वे ग्राम्य जीवन और प्राकृतिक सौंदर्य की ओर उन्मुख हुए थे। इस अवस्था में मनुष्य स्वाधीन था। रूसो ने इन विचारों को अविस्मरणीय शब्दावली मे व्यक्त किया है - 'मनुष्य जन्म से स्वाधीन है किंतु सभी जगह वह अपने-आपको श्रृंखलाओं में जकड़ा हुआ पाता है।'

आज हम वर्डसवर्थ को कवि के साथ-साथ आलोचक के रूप में भी पढ़ते हैं किंतु सच्चाई यह है कि आलोचना में, विशेष रूप से सैद्धांतिक आलोचना में, वर्डसवर्थ की कोई दिलचस्पी नहीं थी। ऐतिहासिक परिस्थितियों के दबाव से वे एक नए आंदोलन के सिद्धांतकार बने। 1798 में अपने मित्र कॉलरिज के सहयोग से उन्होंने एक युगांतरकारी पुस्तक निकाली थी जिसका नाम था - 'लिरिकल बैलेड्स'। (इस

संग्रह में कुल तेईस कविताएँ थीं जिनमें उन्नीस कविताएँ वर्डसवर्थ की थीं और चार कॉलरिज की।) लिरिक या प्रगीत का संबंध स्वच्छंदतावाद से है। बैलेड (गाथागीत) शेक्सपियर और उससे पहले के युग का लोकप्रिय काव्यरूप था जो लोक-परंपरा में विकसित हुआ था। बैलेड साहित्य की सहज-सरल भाषा नव्यशास्त्रीय काव्यभाषा से पर्याप्त भिन्न थी। इस प्रकार 'लिरिकल बैलेड्स' शीर्षक में ही यह व्यंजना है कि इस संग्रह के माध्यम से वर्डसवर्थ और कॉलरिज एक ओर लिरिक कविता का विकास कर रहे थे और दूसरी ओर उसका संबंध प्राचीन लोक साहित्य से जोड़ रहे थे।

'लिरिकल बैलेड्स' (1798) में नए भावबोध की कविताएँ थीं। संग्रह के आरंभ में 'एडवर्टिज़मेंट' शीर्षक से एक संक्षिप्त भूमिका थी। भूमिका में यह उल्लेख किया गया था कि ये कविताएँ प्रयोग के रूप में हैं। इनका उद्देश्य यह जानना था कि समाज के 'मध्य तथा निम्न वर्ग में प्रचलित बोलचाल की भाषा' में कविता रची जा सकती है या नहीं। इस तरह की भाषा में निश्चय ही कविता रची गई थी किंतु वह परिमाण में काफी कम थी। विषय-वस्तु और भाषा, दोनों दृष्टियों से ये कविताएँ पूर्ववर्ती नव्यशास्त्रीय काव्याभिरुचि से स्पष्ट अलगाव की सूचक थीं। अतः पाठक वर्ग में इनकी मिली-जुली प्रतिक्रिया हुई। नई पीढ़ी के लोगों ने इसका बड़े उत्साह से स्वागत किया जबकि नव-आभिजात्यवादी काव्याभिरुचि से जुड़े समीक्षकों ने इसकी कटु आलोचना की। इन कविताओं और इनमें भी वर्डसवर्थ की कविताओं की भाषा को विशेष रूप से आलोचना का लक्ष्य बनाया गया था। 1800 में 'लिरिकल बैलेड्स' का दूसरा संस्करण आया। इसमें वर्डसवर्थ ने अड़तीस नई कविताएँ जोड़ीं। ये सभी कविताएँ 1799-1800 के दौरान रची गई थीं। पहले संस्मरण की संक्षिप्त भूमिका 'एडवर्टिज़मेंट' के स्थान पर उन्होंने एक लंबी भूमिका लिखी। इस भूमिका में वर्डसवर्थ ने नव-आभिजात्यवादी काव्य-भाषा की आलोचना की और संगृहीत कविताओं की भाषा और विषय-वस्तु के बारे में आलोचकों के आक्षेपों का जवाब दिया। साहित्य जगत में यह भूमिका 'प्रिफेस टु लिरिकल बैलेड्स' (लिरिकल बैलेड्स का आमुख) नाम से विख्यात है। आलोचक के रूप में वर्डसवर्थ की कीर्ति का आधार यह भूमिका ही है।

1802 में "लिरिकल बैलेड्स' का तीसरा संस्करण प्रकाशित हुआ। इसमें वर्डसवर्थ ने एक परिशिष्ट के अलावा कवि के स्वरूप और कविता तथा विज्ञान के संबंध के बारे में लगभग दस पैराग्राफ की नई सामग्री जोड़ी। 1800 के आमुख में पर्यवेक्षण और यथार्थ-चित्रण पर बल था। 'कल्पना' शब्द वहाँ केवल दो बार आया है। किंतु 1802 के संस्करण में जो सामग्री जोड़ी गई उसमें कल्पनाशीलता पर अधिक बल है और इसकी भाषा का स्वर अत्यंत उदात्त है। द्वितीय संस्करण के आमुख में कल्पना तत्त्व की जो कमी रह गई थी उसे यहाँ पूरा कर लिया गया है। इसपर कॉलरिज का प्रभाव प्रत्यक्ष है। 1815 के चौथे संस्करण के लिए वर्डसवर्थ ने नया आमुख लिखा और तीसरे संस्करण के आमुख की पूरी सामग्री परिशिष्ट में चली गई। इस नए आमुख में उन्होंने 'एस्से सप्लीमेंट्री' (अनुपूरक निबंध) शीर्षक से कुछ अतिरिक्त सामग्री जोड़ी। इस प्रकार, 'लिरिकल बैलेड्स' के चार संस्करण (1798, 1800, 1802, 1815) प्रकाशित हुए। इसकी भूमिका में वर्डसवर्थ बराबर संशोधन-परिवर्धन करते रहे। बार-बार सुधार करने से भूमिका में अंतर्विरोध भी आए। इन अंतर्विरोधों का स्वयं वर्डसवर्थ को अहसास था।

आमुख में दो परस्पर सम्बद्ध प्रश्न उठाए गए हैं और इनका उत्तर देने का प्रयास किया गया है। पहला यह कि कविता की भाषा का साधारण जीवन की भाषा से क्या संबंध होना चाहिए? दूसरे, कविता की विषय-वस्तु का स्वयं जीवन से क्या संबंध है? इन प्रश्नों का क्रम कुछ असंगत लगता है किंतु वर्डसवर्थ ने इन्हें इसी क्रम में रखा है। आमुख में इनका उत्तर है - 'भावदीप्त दशा में मानव की यथार्थ भाषा' और 'सामान्य जीवन की घटनाएँ'। दूसरे शब्दों में, कविता में ऐसी भाषा का व्यवहार करना चाहिए जिसका प्रयोग सामान्य जन अपने यथार्थ जीवन में करते हैं। अभिजातवर्गीय भाषा सामान्य जनों की भाषा नहीं है, अतः उसे कविता की भाषा बनाए रखना उचित नहीं है। कविता की विषय-वस्तु को भी वे सामान्य जनों तक, विशेष रूप से गाँव के किसानों तक ले जाना चाहते थे। 'जो कविता, कुछ सीमित उदाहरण को छोड़कर, अभिजात वर्ग तक सीमित थी उसे वे एक नए धरातल पर विकसित करना चाहते थे।'

कहने की आवश्यकता नहीं कि वर्डसवर्थ का यह आमुख ऐतिहासिक महत्व का स्थायी दस्तावेज़ है। इसे उचित ही 'स्वच्छंदतावादी आंदोलन का घोषण-पत्र' कहा जाता है। इसके महत्व का एक प्रमाण तो यही है कि यह अब भी अपनी प्रासंगिकता बनाए हुए है। किंतु साहित्यिक क्षेत्रों मे इसकी आलोचना भी हुई। वर्डसवर्थ के मित्र और प्रसिद्ध आलोचक कॉलरिज ने इसकी कटु आलोचना की। आमुख के प्रकाशन के कई साल बाद उन्होंने यह राय ज़ाहिर की कि वर्डसवर्थ के कवि-कर्म के मूल्यांकन में आमुख की नकारात्मक भूमिका रही है। 1815 के आमुख में स्वयं वर्डसवर्थ ने यह स्वीकार किया कि

इसे लिखने में उनकी कोई दिलचस्पी नहीं थी, न इन विचारों को प्रकट करना कोई बुद्धिमानी का क़दम ही था। इस सबके बावजूद, तत्कालीन पाठकीय अभिरुचि को आमुख ने प्रभावित किया, इसमें संदेह नहीं। 'लिरिकल बैलेड्स' का पहला संस्करण, जिसमें यह आमुख नहीं था; पाठकों का विशेष ध्यान आकर्षित नहीं कर सका था। दूसरे संस्करण के आमुख से इन कविताओं के बारे में पाठक वर्ग की राय बदलने में निश्चय ही मदद मिली। आमुख के प्रकाशन से पहले जो काव्याभिरुचि हावी थी उसका निर्माण प्रसिद्ध नव-आभिजात्यवादी आलोचक डॉ.जॉनसन कृत 'लाइव्ज़ ऑफ द पोइट्स' (1781) के आधार पर हुआ था। उस समय ऐसा लगता था कि यह अभिरुचि स्थायी है और इसमें किसी तरह का बदलाव संभव नहीं है। किंतु दस साल के अंदर ही इसका स्थान एक नई काव्याभिरुचि ने ले लिया जिसका बहुत-कुछ श्रेय 'लिरिकल बैलेड्स' के इस आमुख को है।

युग की दो महत्वपूर्ण घटनाओं ने स्वच्छंदतावादी आंदोलन और स्वयं वर्डसवर्थ के चिंतन को गंभीर रूप से प्रभावित किया। इनमें पहली घटना है - फ्रांस की राज्यक्रांति। यह क्रांति 1789 में हुई थी। 1790 की गर्मियों में वर्डसवर्थ कुछ समय के लिए फ्रांस गए और वहाँ के वैचारिक आलोड़न से प्रभावित हुए। उस समय वे कैम्ब्रिज में पढ़ रहे थे। कैम्ब्रिज में तीन साल का अध्ययन पूरा करके नवम्बर, 1791 में वे पुनः फ्रांस गए और अगले साल दिसम्बर, 1792 तक वहीं रहे। क्रांति की ऊष्मा अब भी वातावरण में विद्यमान थी। फ्रांसीसी क्रांति के आदर्शों से प्रेरणा ग्रहण कर वे पूरे मन-प्राण से क्रांति के समर्थक बन गए। अपनी पहली कविता-पुस्तक 'पोइटिकल स्केचेज़' (1793) उन्होंने फ्रांस में रहते हुए ही पूरी की थी। यह रचना उनके फ्रांस प्रवास का काव्यात्मक आलेख है। इस पर फ्रांसीसी क्रांति का प्रभाव प्रत्यक्ष है। क्रांति का स्वागत करते हुए उन्होंने लिखा - 'उस प्रभात में जीवित रहना ही सुखद था और तरुण होना तो स्वर्ग के समान था।' -

Bliss was it is that dawn to be alive,
But to be young was very heaven!

क्रांति के दौरान फ्रांस में राजशाही की सत्ता बलपूर्वक समाप्त कर दी गई। राजशाही का समर्थक वहाँ का पादरी समुदाय था। उसक प्रभुत्व को भी समाप्त किया गया। यूरोप के सभी देशों में अभिजात वर्ग और चर्च का यह गठबंधन कायम था। इंगलैंड में यह दौर औद्योगिक क्रांति का था। औद्योगिक क्रांति के बावजूद वहाँ फौज और नौकरशाही में अभिजात वर्ग का वर्चस्व था। इंगलैंड के बुद्धिजीवी यह महसूस करते थे कि जब तक इस वर्ग को सत्ता से नहीं हटाया जाता तब तक देश प्रगति नहीं कर सकता। इन बुद्धिजीवियों में वर्डसवर्थ का स्थान प्रमुख था।

फ्रांसीसी राज्य-क्रांति ने मानव-मात्र की समानता की घोषणा की थी। स्वतंत्रता, समानता और भाईचारा - ये तीन उसके प्रमुख नारे थे। वर्डसवर्थ ने भाषा और भाव, दोनों स्तरों पर सामान्य जन को महत्व दिया। सामान्य-जन का यह महत्व फ्रांसीसी क्रांति ने उद्घाटित किया था। जिस समय वर्डसवर्थ पर फ्रांसीसी क्रांति का प्रभाव ताज़ा था वे इस सामान्य जन पर अपना ध्यान केंद्रित किए हुए थे। इस संदर्भ में आमुख का एक वाक्य पर्याप्त शिक्षाप्रद है - 'किंतु कवि केवल कवियों के लिए ही नहीं लिखते, मानव-मात्र के लिए लिखते हैं।' (But poets do not write for poets alone, but for men.) नव-आभिजात्यवादी युग में कवियों का ध्यान प्रायः दूसरे कवियों पर रहता था। कवियों का एक गुट रचना कर रहा है, दूसरा उसकी प्रशंसा या निंदा। सामान्य जन से उसे कुछ लेना-देना नहीं था। प्रश्न है कि कवि आखिर किसके लिए लिखता है? वर्डसवर्थ का उत्तर है - मनुष्यों के लिए, केवल कवियों के लिए या अभिजात वर्ग के मनोरंजन के लिए नहीं। संपूर्ण मानवता उसका क्षेत्र है - 'कवि समूची पृथ्वी पर फैली हुई और हमेशा रहने वाली मानव-जाति के विशाल साम्राज्य को संवेदना और ज्ञान द्वारा एक ही सूत्र में बाँधता है।' ('The poet binds together by passion and knowledge the vast empire of human society, as it is spread over the whole earth, and over all time.') मानव-जाति पूरी पृथ्वी पर फैली हुई है। समस्त काल में इसका प्रसार है। संपूर्ण देश-काल में व्याप्त इस मानव-जाति को एकता के सूत्र में बाँधने वाला कौन है? यह काम कवि करता है। इस काम में कवि के साधन हैं - संवेदना और ज्ञान। यों तो स्वच्छंदतावादी काव्य में भाव या संवेदना की विशेष महिमा है; किंतु वर्डसवर्थ के यहाँ भाव और विचार अथवा संवेदना और ज्ञान परस्पर विरोधी नहीं हैं, वरन् एक-दूसरे के पूरक हैं। श्रेष्ठ काव्य के लिए भाव और ज्ञान का सामंजस्य ज़रूरी है। फ्रांसीसी क्रांति ने स्वतंत्रता, समानता और भाईचारे का जो नारा दिया था उसे हम वर्डसवर्थ को अंग्रेज़ी कविता पर लागू करते हुए देखते हैं।

युग की दूसरी प्रमुख घटना है - औद्योगिक क्रांति। यूरोप में यह क्रांति अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में हुई थी। अन्य यूरोपीय देशों की तुलना में इंगलैंड में यह क्रांति कुछ पहले हुई क्योंकि उसके पास उपनिवेशों के रूप में एक बहुत बड़ा बाज़ार भी था। अठारहवीं सदी के अंत तक अंग्रेज़ी जीवन की

बुनियाद ग्रामीण जीवन ही था। जनसंख्या का अधिकांश गाँव में ही रहता था, वहीं काम करता था और शासक वर्ग का अधिकांश ज़मींदार वर्ग से सम्बद्ध था। ग्रामीण जीवन को ईमानदारी, वफ़ादारी, साफ़गोई - जैसे मानव-मूल्यों का पालना - माना जाता था। आम धारणा यह थी कि ग्रामीण समाज के आधारभूत मूल्य ही समाज को स्थिरता और निरंतरता प्रदान करते हैं।

औद्योगिक क्रांति के प्रभाव से कृषि और उद्योग का पुराना संबंध तेज़ी से टूटने लगा। इस संबंध के टूटने से छोटे किसानों के लिए कृषि लाभकर पेशा नहीं रह गया और वे अपनी ज़मीन बेचने को बाध्य हुए। ग्रामीण, दर्जी, बढ़ई, लुहार, बुनकर जैसे कारीगरों का पेशा भी चौपट हो गया और वे गाँव छोड़ कर शहरों की ओर उन्मुख हुए। 1770 के बाद 'बाड़बंदी आंदोलन' में उत्तरोत्तर तेज़ी आई जिससे छोटे किसान तबाह हो गए। वे या तो अन्य अनुकूल क्षेत्रों में जाकर कृषि-मज़दूर बन गए या फिर शहरों में फैक्टरी मज़दूर। औद्योगिक क्रांति से जुड़ी हुई इन गतिविधियों से गाँवों की जनसंख्या में भारी कमी आई जिससे उन्होंने 'मुतहे गाँवो' का रूप ले लिया। स्वच्छंदतावादी कवियों ने गाँवों के इस एकाकीपन का बड़ी संवेदनशीलता से चित्रण किया। इस चित्रण का स्वर गहन मानवीय करुणा से ओत-प्रोत है। ग्राम्य जीवन के प्रति वर्डसवर्थ की सहानुभूति का यही कारण है।

औद्योगिक और वाणिज्यिक गतिविधियों से ग़रीब लोगों का पारिवारिक जीवन भी प्रभावित हुआ। अब पारिवारिक संबंधों में वैसी ऊष्मा और घनिष्ठता न रही जैसे पहले थी। वे शिथिल होकर टूटने-बिखरने लगे। जनवरी, 1801 में तत्कालीन राजनीतिज्ञ चार्ल्स फॉक्स को अपनी दो कविताएँ भेजते हुए वर्डसवर्थ ने लिखा - 'अभी हाल में देश के हर हिस्से में कारखानों में बनी चीज़ों के बड़े पैमाने पर विस्तार से, डाक पर भारी महसूल से, कारखानों से, औद्योगिक संघों से और सूप की दुकानों आदि के चलन से, साथ ही श्रम की क़ीमत और जीवनगत आवश्यकताओं की कीमत के बीच बढते हुए अंतराल से ग़रीब लोगों में, जहाँ तक इन चीज़ों का प्रभाव फैला है, पारिवारिक भावना में कमी आई है और असंख्य उदाहरणों में तो यह पूरी तरह नष्ट हो गई है।' इस पृष्ठभूमि के बिना चार्ल्स फॉक्स को उन कविताओं में कोई सिर-पैर नज़र न आता। वर्डसवर्थ की आलोचना के सही आकलन के लिए भी यह पृष्ठभूमि ज़रूरी है।

औद्योगिक क्रांति ने तत्कालीन साहित्यिक अभिरुचि को भी प्रभावित किया। इस दौर में एक बहुत बड़ा नव-धनाढ्य वर्ग उभर कर सामने आया जो रातोंरात अमीर बन गया था। उसके पास पैसा तो था लेकिन शिक्षा और संस्कार नहीं था। यह वर्ग किताबों पर पैसा तो खर्च कर सकता था लेकिन स्वस्थ साहित्य को पढ़ना-समझना उसके वश के बाहर की बात थी। अतः उसकी रुचि को परितुष्ट करने के लिए भारी मात्रा में सनसनीखेज किस्म का साहित्य प्रकाशित हो रहा था। वर्डसवर्थ ने अपने आमुख में इस तरह के साहित्य के प्रति भारी चिंता व्यक्त की है क्योंकि इससे जनता की अभिरुचि विकृत हो रही थी - 'आज अनेक ऐसे कारण जो पिछले दिनों के लिए अज्ञात थे, समवेत होकर मानव की विवेक-क्षमता को कुंठित करने में लगे हुए हैं जिससे वह स्वेच्छा से श्रम करने की स्थिति में नहीं रह गया है और बर्बर जड़ता की स्थिति में आ गया है। इनमें सबसे महत्वपूर्ण कारण हैं - आए दिन होने वाली बड़ी-बड़ी राष्ट्रीय घटनाएँ, लोगों का उत्तरोत्तर शहरों में इकट्ठे होते जाना जहाँ उनके व्यवसाय की एकरूपता असाधारण घटनाओं की तीव्र चाहत को जन्म देती है और तेज़ी से बढ़ते हुए संचार-माध्यम इस चाहत को बड़ी तेज़ी से अनुक्षण पूरा कर रहे हैं। साहित्य और रंगमंच ने भी अपने-आपको इसी अभिरुचि के अनुरूप ढाल लिया है। फलतः तरह-तरह के मर्यादाहीन उपन्यासों, रुग्ण मानसिकता वाली नितांत ऊल-जलूल जर्मन त्रासदियों और पद्य में रचित निरर्थक तथा अतिरंजित कहानियों की बाढ़ ने शेक्सपियर और मिल्टन जैसे हमारे वरिष्ठ लेखकों की महान रचनाओं को पृष्ठभूमि में ठेल दिया है।' इस साहित्य में संस्कार की कमी थी। 'स्थूल उत्तेजनाओं' पर आधारित होने के कारण इसका सौंदर्य-बोध बहुत हल्के किस्म का था, अतः यह मानव-मन की मूल विशेषता का सूचक नहीं था - 'मानव-मन की यह विशेषता होती है कि वह स्थूल उत्तेजनाओं के बिना भी उत्तेजित हो सकता है। किसी प्राणी में यह क्षमता जितनी ज्यादा होगी, उतना ही वह अन्य प्राणियों से ऊपर होगा। जो इस तथ्य को नहीं जानता उसका सौंदर्य-बोध बहुत हल्के क़िस्म का समझना चाहिए।' (आमुख) इस तरह के विकृत साहित्य और विकृत अभिरुचि के प्रतिकार के लिए ही वर्डसवर्थ ने 'लिरिकल बैलेड्स' की कविताओं की रचना की थी हालाँकि अपने इस प्रयास को वे एकदम नाकाफ़ी मानते हैं - 'घोर उत्तेजना के प्रति इस अपमानजनक पिपासा के बारे में जब मैं सोचता हूँ तो इसके प्रतिकार के लिए इन कविताओं में किए गए क्षीण प्रयास को देखकर मेरा सिर शर्म से झुक जाता है।' संकेत यह कि इस तरह के अनेकानेक प्रयास होने चाहिए। फिर भी वर्डसवर्थ को विश्वास है कि 'जल्दी ही ऐसा

समय आएगा जब प्रतिभावान लोग इस बुराई का योजनाबद्ध तरीक़े से विरोध करेंगे और उन्हें इसमें सफलता मिलेगी।'

वर्डसवर्थ ने उच्च वर्ग की औद्योगिक सभ्यता की कटु आलोचना की है। उनकी दृष्टि में इस सभ्यता से जुड़े हुए माहौल में सृजन संभव नहीं है। तेज़ संचार-माध्यमों के परिवेश में लोगों के पास 'दूसरी बार नज़र डालने' का अवकाश ही नहीं है जबकि सृजन या पुनर्रचना की अनिवार्य शर्त ही यह है कि आप चीज़ों को दुबारा देखें, उनपर बार-बार विचार करें। श्रम-विभाजन की वजह से कारखाना-श्रमिक का काम भी एकरस, अतः नीरस हो जाता है। वह उस आनंद के स्रोत से कट जाता है जो उस नीरसता की क्षतिपूर्ति कर सकता था। विभाजित समाज के उत्पाद तो अंततः विभाजित व्यक्तित्व को ही जन्म देंगे। इस औद्योगिक समाज में मनुष्य अपनी संपूर्णता का बोध खो बैठता है। यही वजह है कि वर्डसवर्थ रचनात्मक स्तर पर इस संपूर्णता की तलाश में संघर्षरत दिखाई देते हैं। कॉलरिज ने भी इसीलिए 'कल्पना' में आवयविकता के गुण पर इतना बल दिया गया है।

अपने प्रसिद्ध आमुख में वर्डसवर्थ ने मुख्य रूप से दो विषयों पर विचार किया है - **काव्यभाषा** और **कविता की परिभाषा**। हम पहले **कविता की परिभाषा** को लेते हैं। इस संदर्भ में वर्डसवर्थ ने कविता के उद्भव, स्वरूप और प्रयोजन पर विचार किया। साथ ही उन्होंने कविता और छंद, कवि का स्वरूप, कविता और विज्ञान जैसे विषयों पर भी संक्षेप में अपनी मान्यताएँ व्यक्त कीं। इन मान्यताओं से भी परोक्ष रूप से कविता का स्वरूप स्पष्ट होने में मदद मिली।

14.4.1 काव्य की परिभाषा

आभिजात्यवादी और नव-आभिजात्यवादी युग में काव्य पर विचार करते समय घटनाओं और स्थितियों (अर्थात् कथानक) पर विशेष बल दिया गया था। अरस्तू ने कहा ही था कि कथानक त्रासदी की आत्मा है। कथानक का संबंध संरचना से है और संरचना का वैचारिकता से। नवआभिजात्यवादी युग में तर्क और नियमों को विशेष महत्व दिया गया था। कविता को 'तीव्र मनोवेगों का सहज उच्छलन' कहकर वर्डसवर्थ ने भाव और स्वतःस्फूर्त सर्जनात्मकता पर बल दिया। लिरिकल बैलेड्स में संगृहीत कविताओं का वैशिष्ट्य रेखांकित करते हुए उन्होंने लिखा - 'एक अन्य कारण भी है जो इन कविताओं को आज की लोकप्रिय कविताओं से अलग करता है और वह यह कि उनमें जो भाव व्यक्त किए गए हैं वे स्थिति और कार्य-व्यापार को महत्ता प्रदान करते हैं, स्थिति और कार्य-व्यापार भाव को नहीं।'

आमुख में वर्डसवर्थ ने दो जगह कविता को परिभाषित करने का प्रयास किया है। आरंभ में उन्होंने इतना भर कहा है कि 'संपूर्ण श्रेष्ठ कविता तीव्र मनोवेगों का सहज उच्छलन है।' नव्यशास्त्रवादी युग में मानव के भावों और मनोविकारों की उपेक्षा की गई थी। अतः यह स्वाभाविक ही था कि वर्डसवर्थ गहराई से अनुभूत वैयक्तिक भावों का पक्ष ग्रहण करें। किंतु साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि जिन कविताओं को थोड़ा-बहुत भी महत्व दिया जाता है वे ऐसे व्यक्ति की रचनाएँ होती हैं जिसने 'लंबे समय तक और गहराई से चिंतन-मनन किया है।' वर्डसवर्थ यहाँ भाव और विचार में कोई अंतर्विरोध नहीं देखते - वे द्वंद्वात्मक रूप में एक-दूसरे की सीमा को अतिक्रांत करते हुए परस्पर प्रभावित करते रहते हैं। उनका यह कहना एकदम ठीक है कि 'हमारे भावों का सतत अंतःप्रवाह हमारे विचारों से संशोधित और निर्देशित होता रहता है और ये विचार भी वस्तुतः अतीत की हमारी संपूर्ण भावनाओं के प्रतिनिधि हैं।' काव्य में भाव और विचार के इसी सामंजस्य को रेखांकित करते हुए उन्होंने आगे चलकर कविता को इन शब्दों में परिभाषित किया -

> **कविता तीव्र मनोवेगों का सहज उच्छल है। शांति के क्षणों में भाव के पुनःस्मरण से इसका उदय होता है। भाव के अनुचिंतन के क्रम में, एक विशेष प्रकार की अभिक्रिया द्वारा, प्रशांततता धीरे-धीरे तिरोहित हो जाती है और पुनः वैसे ही भावदीप्त मनोदशा उत्पन्न हो जाती है जैसी कि आरंभ में हुई थी। यह मनःस्थिति कुछ देर तक बनी रहती है। इसी मनोदेशा में सामान्यतः सफल रचना की शुरुआत होती है और ऐसी ही मनोदशा में यह प्रक्रिया जारी रहती है। किंतु भाव चाहे जिस प्रकार के हों और चाहे जिन कारणों से उत्पन्न हों, वे आनंद के विभिन्न रूपों से संवलित रहते हैं और उनका वर्णन करते समय मन भी कुल मिलाकर आनंदानुभूति की स्थिति में रहता है।**

उक्त परिभाषा में वर्डसवर्थ ने कविता के स्वरूप पर विचार करने के साथ-साथ अपनी काव्य रचना-प्रक्रिया का भी उल्लेख किया है। इस प्रक्रिया के तीन चरण हैं - पहला भावों का सहज उच्छलन, दूसरा शांति के क्षणों में उनका पुनःस्मरण, और अंत में कविता में उनकी अभिव्यक्ति। स्वयं वर्डसवर्थ

की रचना-पद्धति यही थी : कोई मार्मिक दृश्य देखा, उसे स्मृति के कोषागार में सँजोकर रख लिया, फिर शांति के क्षणों में उसका पुनः स्मरण किया और अंत में उसे कविता में ढाल दिय।। उनकी अनक कविताओं में इस पद्धति का साक्ष्य मिलता है।

कविता को भावों का सहज उच्छलन कहकर वर्डसवर्थ काव्य में भाव को प्राथमिक महत्व देना चाहते हैं। इसमें नव्यशास्त्रवादी सिद्धांत का खंडन भी है। नव्यशास्त्रवाद में तर्क और शास्त्रीय नियमों को ही' सब कुछ मान लिया गया था। वर्डसवर्थ ने इनके स्थान पर स्वतःस्फूर्त सर्जनात्मकता को प्रतिष्ठित किया। उत्कट भावानुभूति के लिए साहित्यकार में भावुकता का गुण चाहिए। इस गुण के बिना कोई भी व्यक्ति कवि नहीं हो सकता। परिभाषा में रचना-प्रक्रिया के जिन तीन सोपानों का उल्लेख किया गया है उनमें सबसे आधारभूत सोपान भावानुभूति का ही है। यदि आरंभ में कवि के मन में भाव का उदय नहीं होगा तो शांति के क्षणों में न तो उसका पुनःस्मरण संभव है, न कविता के रूप में उसकी अभिव्यक्ति।

कविता का जन्म भावानुभूति सें होता है इसमें संदेह नहीं। किंतु अच्छी कविता केवल जन्म ही नहीं लेती, वह कवि से अलग होकर सहृदय समाज में सम्प्रेषित भी होती है। जो कुछ सर्वथा विशिष्ट है वह सम्प्रेषणीय नहीं है। इसके विपरीत, सामान्यता सम्प्रेषण की अनिवार्य शर्त है। भाव विशिष्ट होता है और विचार सामान्य। अतः भाव के साथ विचार का संश्लेष आवश्यक है। इसीलिए वर्डसवर्थ ने यह मान्यता व्यक्त की है कि रचना-प्रक्रिया के पहले (**'मनोवेगों के सहज उच्छलन'**) और दूसरे (**'शांति के क्षणों में भावों के पुनः स्मरण'**) चरणों के बीच एक अंतराल रहना चाहिए। भावानुभूति के तत्काल बाद यदि कोई कविता रची जाएगी तो वह घटिया स्तर की होगी क्योंकि उसमें अपेक्षित मात्रा में सम्प्रेषणीयता का गुण नहीं होगा। यह अंतराल भी एक प्रकार से रचना-प्रक्रिया का ही अंग है और इसकी अवधि पर्याप्त दीर्घ होती है। स्वयं वर्डसवर्थ आरंभिक भावानुभूति और काव्य-रचना के बीच लंबा अंतराल छोड़ते थे और कई बार तो इस अंतराल की अवधि दस वर्ष से भी अधिक होती थी। इस दौरान कवि एक प्रकार के चयन या संग्रह-त्याग की प्रक्रिया से होकर गुज़रता है। चयन की दिशा सामान्यतया या सार्वभौमिकता की ओर होती है। इस अवधि में कवि चिंतन-मनन द्वारा अपनी वैयक्तिक भावानुभूति को निर्वैयक्तिक बनाता है। इस प्रक्रिया में अनुभूति के नितांत वैयक्तिक, अंतःअसंगत अंश काट-तराश दिए जाते हैं। अपने-आप में अत्यंत महत्वपूर्ण होने के बावजूद यह अंतराल काव्य का क्षण नहीं है।

आरंभिक मनोवेग (feelings) विचार से संयुक्त होकर भाव (emotion) का रूप ग्रहण करते हैं। कवि शांति के क्षणों में इन्हीं 'भावों का पुनः स्मरण' करता है। प्राथमिक अनुभूति में विवरण बहुत रहते हैं। किंतु इस पुनःस्मृत अनुभूति में सम्बद्ध दृश्य के केवल वे अंश रहते हैं जो पूरी जीवंतता से कवि की स्मृति में सुरक्षित रह गए हैं। इसमें कवि मूल अनुभूति की आत्मा को प्रस्तुत कर सकता है, केवल उसके ऐंद्रिय बोध को नहीं। यह 'ऐसी संतुलित मनोदशा है जो विचार से उत्पन्न होती है।' ('That same state of feelings which arises out of thoughts.') एक अन्य अंतर यह है कि जहाँ आरंभिक मनोवेग सहज और अचेतन होते हैं वहाँ पुनःस्मृत भाव प्रयास-साधित और सचेतन। 'मनोवेगों का सहज उच्छलन' एक अचेतन प्रक्रिया है जबकि 'शांति के क्षणों में भावों का पुनः स्मरण' सचेतन।

ऊपर-ऊपर से देखने पर उक्त दोनों कथनों में अंतर्विरोध दिखाई देता है - पहले कविता को एक अचेतन प्रक्रिया कहा गया, फिर सचेतन। किंतु यह अंतर्विरोध प्रतीयमान है, वास्तविक नहीं। सच्चाई यह है कि ये दोनों कथन एक-दूसरे के पूरक हैं। वर्डसवर्थ दूसरे कथन से अपने पहले कथन को संशोधित करना चाहते हैं। विचार द्वारा संशोधित मनोवेगों का सहज उच्छलन कविता है। श्रेष्ठ कविता में भाव और विचार दोनों का सहयोग दरकार है। अनुभूति के समय भावुकता किंतु रचना के समय विचार या बुद्धि का सहयोग - यही वह मार्ग है जिसपर चलकर उच्च्य कोटि के काव्य का सृजन हो सकता है।

भाव के पुनः स्मरण और उसके अनुचिंतन की प्रक्रिया में पुनः वैसी ही भावदीप्त मनोदशा उत्पन्न जाती है जैसी आरंभ में हुई थी। वैसी ही मनोदशा, वही मनोदशा नहीं। मूल मनोदशा और इस मनोदशा में अंतर यह है कि इसमें भावानुभूति के नितांत वैयक्तिक और असंगत पहलू काट-तराश दिए जाते हैं। यह मनोदशा कुछ देर तक जारी रहती है। इसी मनोदशा में सफल रचना का निर्माण होता है। सृजन का वास्तविक क्षण यही है। सृजन के इस क्षण में रचनाकार का मन आनंदानुभूति की स्थिति में रहता है और इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ता कि चित्रित भाव सुखात्मक हैं या दुखात्मक।

1. काव्य का प्रयोजन

कवि और सहृदय दोनों की दृष्टि से वर्डसवर्थ ने कविता में आनंद को पर्याप्त महत्व दिया है। पीछे परिभाषा में यह बताया गया है कि भाव चाहे सुखात्मक हों या दुखात्मक, 'वे आनंद के विभिन्न रूपों से

संवलित रहते हैं और उनका वर्णन करते समय मन भी कुल मिलाकर आनदानुभूति की स्थिति में रहता है।' अपने तर्क को आगे बढ़ाते हुए वर्डसवर्थ ने कहा कि जब प्रकृति इतनी सजग है कि वह काव्य-रचना में निमग्न व्यक्ति को आनंद की अवस्था में रखती है तो कवि को भी इससे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। 'उसे इस बारे में बहुत सावधान रहना चाहिए कि वह अपने पाठकों को जो भी मनोवेग संप्रेषित करे उनके प्रस्तुतीकरण में हमेशा आनंद की प्रधानता रहे।' किंतु पाठक इस आनंद को ग्रहण तभी कर पाएगा जब उसका मन 'स्वस्थ और जीवंत' होगा - वह अनुभूतिप्रवण और सहृदय होगा। आनंद ही ऐसा तत्व है जो इतिहासकार या जीवनीकार की तुलना में कवि के वैशिष्ट्य को रेखांकित करता है - 'कवि केवल एक प्रतिबंध के तहत लिखता है। वह प्रतिबंध है मनुष्य को तात्कालिक आनंद प्रदान करना। ...इस एक प्रतिबंध के अलावा कवि और वस्तुओं के बिंब के बीच में कोई बाधा नहीं होती जबकि उसके और जीवनीकार तथा इतिहासकार के बीच में हज़ारों बाधाएँ हैं।' पुनः 'जो कुछ आनंद से प्रसारित किया जाता है उसके अलावा हमारी किसी में कोई दिलचस्पी नहीं है।.....जहाँ कहीं हम दुख से सहानुभूति करते हैं वहाँ यह पता चलेगा कि सहानुभूति की यह भावना आनंद के सूक्ष्म समन्वय के साथ उत्पन्न और गतिशील होती है।' और इन भावनाओं में, कवि की स्वभावगत आवश्यकताओं के कारण, 'हर्ष का पलड़ा ही भारी रहता है।'

नव्यशास्त्रवादी कला-चिंतन में शिक्षा को काव्य के प्रमुख प्रयोजन के रूप में मान्यता दी गई थी और आनंद को प्रमुख प्रयोजन मानने वाले रचनाकारों को काव्य-कला के अपकर्षीकरण का दोषी माना जाता था। किंतु वर्डसवर्थ की दृढ़ धारणा है कि 'तात्कालिक आनंद प्रदान करने की इस आवश्यकता को काव्य-कला का अपकर्ष नहीं माना जाना चाहिए।' बात इससे ठीक उलटी है - 'यह तो विश्व के सौंदर्य की स्वीकृति है। यह स्वीकृति और भी ज्यादा सच्ची इसलिए है कि यह प्रत्यक्ष न होकर परोक्ष है।.....इसके अतिरिक्त यह मानव की नैसर्गिक और निरावृत्त गरिमा के प्रति श्रद्धांजलि है।'

किंतु काव्य के प्रयोजन को लेकर वर्डसवर्थ के चिंतन में एक नैतिक धारा भी थी। 'लिरिकल बैलेड्स' की एक प्रति भेजते हुए उन्होंने चार्ल्स जेम्स फॉक्स को जो पत्र लिखा उसे अधिक गंभीरता से ग्रहण किया जाना चाहिए। उनका विश्वास था कि उद्योगीकरण और शहरीकरण के प्रभाववश 'समाज के निम्न वर्गों के पारिवारिक संबंधें का जो तेजी से क्षरण हो रहा है' उसके प्रतिकार में उनकी कविताएँ सहायक सिद्ध हो सकती हैं। आनंद तो काव्य का प्रमुख प्रयोजन है ही, किंतु यह आनद ऐसा होना चाहिए जो लोकमंगल का साधक हो। काव्य के महत्व का निर्धारण इस आधार पर होना चाहिए कि पाठक के ऊपर उसका क्या असर पड़ता है। अतः कवि को ऐसे भावों का चित्रण करना चाहिए जिनके साथ सभी लोगों की सहानुभूति हो और जिनके बारे में हमें विश्वास हो कि यदि यह सहानुभूति हुई तो वे बेहतर और अधिक नैतिक व्यक्ति बन सकेंगे। कविता के लिए यह ज़रूरी है कि वह हमें उचित भावों और सही किस्म की जागरूकता की दिशा में प्रेरित करे। 'सनसनीखेज उपन्यास' और 'जर्मन त्रासदियाँ' हमें गलत तरीके से उत्तेजित करते हैं। समय बीतने के साथ-साथ वर्डसवर्थ का दृष्टिकोण अधिकाधिक इतिवृत्तात्मक और उपदेशात्मक होता गया। 1808 में अपने एक पत्र में उन्होंने लिखा - 'हर महान कवि एक शिक्षक होता है। मेरी इच्छा है कि या तो मुझे एक शिक्षक माना जाए, या फिर कुछ भी नहीं।'

2. कविता और छंद

कविता में आनंद पर बल देते हुए वर्डसवर्थ ने लिखा था - 'जो कुछ आनंद से प्रसारित किया जाता है उसके अलावा हमारी किसी में कोई दिलचस्पी नहीं है।' (We have no sympathy but what is propagated with pleasure.) छंद भी आनंद में वृद्धि का एक साधन है। छंद को वर्डसवर्थ ने ऐसा आकर्षण बताया जो ऊपर से आरोपित किया जाता है अर्थात् वह कविता का अनिवार्य घटक नहीं है। उनकी इस मान्यता की वजह से छंद के बारे में उनके विचारों के महत्व को काफ़ी हद तक कम दिया है। छंद के बारे में उक्त मान्यता संभवतः उन्होंने इस तर्क के खिलाफ पेशबंदी के रूप में व्यक्त की कि छंद काव्यभाषा (diction) या वाक्य-विन्यास जैसे 'अन्य कृत्रिम भेदों का पथ प्रशस्त करेगा।'

वर्डसवर्थ के अनुसार 'छंद मन को जैसे चेतना के एक नए धरातल पर उठा ले जाता है' और एक प्रकार की 'सौंदर्यपरक दूरी' (aesthetic distance) में वृद्धि करता है। 'यह भावावेग को संयमित और नियंत्रित करता है।' इसमें यह प्रवृत्ति होती है कि 'यह भाषा को एक हद तक उसकी यथार्थता से वंचित कर देता है और इस प्रकार संपूर्ण रचना पर एक प्रकार की कुहरिल-अमूर्त अर्धचेतना का आवरण-सा डाल देता है।' अतः अपेक्षाकृत अधिक करुण भाव और स्थितियाँ, अर्थात् ऐसे भाव और स्थितियाँ जिनमें दुख की मात्रा अधिक होती है, 'छंदोबद्ध रचना में जितनी बर्दाश्त की जा सकती हैं

उतनी गद्य में नहीं।' यही वजह है कि रिचर्डसन के 1748 में प्रकाशित उपन्यास 'क्लैरिसा' के दुखद अंशों को 'एक बार पढ़ने के बाद दुबारा पढ़ने की इच्छा नहीं होती। इसके विपरीत शेक्सपियर की रचनाओं के सर्वाधिक करुण दृश्य हमें आनंद की मर्यादा को अतिक्रांत करके करुणा का बोध नहीं कराते।' इसका प्रमुख कारण है - 'छंदमयी भाषा जो बराबर और नियमित रूप से विस्मययुक्त आनंद प्रदान करती रहती है, भले ही यह आनंद थोड़ी मात्रा में हो।' दूसरी ओर, यदि कवि के शब्द भाव के अनुरूप नहीं हुए और पाठक को अपेक्षित मात्रा में उत्तेजित नहीं कर सके तो भी छंद के माध्यम से कवि मनोवांछित प्रभाव उत्पन्न कर सकेगा (बशर्ते कि कवि का छंद का चुनाव एकदम अनुपयुक्त न रहा हो) क्योंकि पाठक सामान्यतः छंद के साथ आनंद की भावनाओं के संयोग से परिचित होते हैं और उन्हें यह भी पता होता है कि छंद की कौन-सी गति आनंद अथवा शोक की अभिव्यंजना के लिए उपयुक्त है। छंदोबद्ध भाषा में ऐसा गुण होता है जो साधारण शब्दों में भावावेश का संचार करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है और कवि जो लक्ष्य अपने सामने रखता है उसे पूरा करने में योग देता है।[1]

आमुख में जहाँ रूढ़ और कृत्रिम काव्यभाषा (poetic diction) के प्रयोग का विरोध किया गया है वहीं छंद के प्रयोग की वकालत की गई है। जिस आधार पर पोइटिक डिक्शन का विरोध किया गया है उसी पर छंद का विरोध भी किया जाना चाहिए था - इस प्रतीयमान आपत्ति के निराकरण के लिए वर्डसवर्थ ने यह स्पष्ट किया है कि काव्यभाषा के अलंकरण का विरोध करने के बावजूद उन्होंने छंद के अलंकरण का समर्थन क्यों किया। वर्डसवर्थ के अनुसार इसका पहला कारण तो यह है कि छंद में रूढ़ कृत्रिम काव्यभाषा जैसी निरंकुशता नहीं होती वरन् नियमों का पालन किया जाता है। दूसरे, छंद में अपने आप में एक प्रकार का आकर्षण होता है जिसे सभी जातियों का समर्थन प्राप्त है। तीसरे, छंद भावावेग - विशेष रूप से दुखद भावावेगों को 'संयमित और नियंत्रित करता है।' चौथे, छंद का आनंद युग-युगों से मान्य सिद्धांत पर आधारित है। 'यह सिद्धांत है असमानता में समानता के प्रत्यक्षीकरण से प्राप्त मानसिक आनंद।' इस सिद्धांत का क्षेत्र बहुत व्यापक है - 'इसी सिद्धांत के आधार पर काम-वासना और उससे जुड़ी हुई सभी वासनाएँ दिशा ग्रहण करती हैं : यही हमारी साधारण बातचीत का प्राण है। जितनी सूक्ष्मता से हम असमानता में समानता और समानता में असमानता के दर्शन कर सकते हैं उसी पर हमारी अभिरुचि और हमारा नैतिक बोध निर्भर है।'

3. कवि किसे कहते हैं?

कवि के चरित्र के बारे में वर्डसवर्थ की धारणा बहुत ऊँची थी, इसमें संदेह नहीं। किंतु स्वतंत्रता, समानता और भाईचारे के आदर्श से अनुप्राणित होने के कारण कवि को कोई विशेष स्थान देने के पक्ष में वे नहीं हैं। फिर भी, भाषा के उदात्त स्वर से यह पता चल जाता है कि कवि की कितनी उदात्त परिकल्पना उनके दिमाग में है :

> सामान्य रूप से विषय का विवेचन करते हुए मैं यह पूछना चाहूँगा 'कवि' शब्द का अर्थ क्या है? कवि किसे कहते हैं? वह किसे सम्बोधित करके अपनी बात कहता है? और उससे किस तरह की भाषा की अपेक्षा की जानी चाहिए? - वह एक मनुष्य है और अन्य मनुष्यों से अपनी बात कहता है : हाँ, ऐसा मनुष्य जो अन्य लोगों की तुलना में अधिक संवेदनशील है, जिसमें उमंग और कोमलता की मात्रा अन्य लोगों से ज़्यादा होती है; मानव प्रकृति की उसकी जानकारी अधिक गंभीर होती है और उसकी आत्मा अधिक विशाल होती है - सामान्य मानव में ये तत्व इतनी मात्रा में नहीं होते। वह अपने ही भावों और विचारों में प्रफुल्लित रहता है और अपने अंतस में विद्यमान जीवन-रस में वह अन्य लोगों की अपेक्षा ज़्यादा आनंद का अनुभव करता है। सृष्टि के क्रियाकलाप में जहाँ इसी प्रकार के विचार और भाव दिखाई देते हैं उनका मनन करके वह हर्षित होता है और जहाँ वह उन्हें नहीं पाता वहाँ भी अभ्यासवश उनका सृजन करने की ओर प्रेरित करता है। इन विशेषताओं के साथ ही, अन्य लोगों की तुलना में, उसमें एक अतिरिक्त विशेषता यह होती है कि वह अप्रस्तुत वस्तुओं से ऐसे प्रभावित होता है जैसे कि वे प्रस्तुत हों। उसमें अपने भीतर ऐसे भावों के उन्मेष की योग्यता होती है जो यथार्थ से उत्पन्न भावों से पर्याप्त भिन्न होते हुए भी इनसे काफी मिलते-जुलते होते हैं।.... इन कारणों से और साथ ही अभ्यासवश वह अपने भीतर ऐसी शक्ति और

---

[1] गेटे जब 'फ़ॉस्ट' की रचना कर रहे थे तो उन्हें भी छंद की इस शक्ति का अहसास हुआ था। 5 मई, 1798 को शिलर के नाम अपने एक पत्र में उन्हें लिखा - 'कुछ त्रासद दृश्यों की रचना गद्य में की गई थी, किंतु अपनी स्वाभाविकता और प्रभाव-क्षमता की वजह से वे अन्य दृश्यों की तुलना में असहनीय हो उठे। इसलिए मैं उन्हें लयबद्ध करने का प्रयास कर रहा हूँ क्योंकि तब हम सम्बद्ध भाव को मानो एक झीने आवरण के माध्यम से देखते हैं और परिणामस्वरूप दुर्दम्य विषय-वस्तु का सीधा प्रभाव सौम्य-कोमल हो जाता है।'

तत्परता विकसित कर लेता है कि वह जो कुछ सोचता और अनुभव करता है उसे बखूबी व्यक्त कर देता है. ।

उक्त उद्धरण के आधार पर हम कवि की कुछ ऐसी विशेषताओं को सहज ही पहचान सकते हैं जो उसे अन्य मनुष्यों से अलग करती हैं। ये हैं -

1. कवि अन्य लोगों की तुलना में अधिक संवेदनशील होता है;
2. मानव-प्रकृति की उसकी जानकारी अधिक गंभीर होती है और उसकी आत्मा अधिक विशाल होती है;
3. अपने अंतस में विद्यमान जीवन-रस में वह अन्य लोगों की अपेक्षा अधक आनंद का अनुभव करता है;
4. वह अप्रस्तुत वस्तुओं से ऐसे प्रभावित होता है जैसे कि वे प्रस्तुत हों; और
5. उसका भाषा पर ऐसा अधिकार होता है कि वह जो कुछ सोचता और अनुभव करता है उसे बखूबी व्यक्त भी कर सकता है।

वर्डसवर्थ के उक्त उद्धरण के उदात्त स्वर उसमें व्यक्त कवि की विशेषताओं से यह संकेत मिलता है कि सामान्य मनुष्य और कवि में गुणात्मक अंतर है हालाँकि वर्डसवर्थ ने यही कहा है कि उनमें जो भेद है वह मात्रा का है, प्रकार का नहीं। समाज में कवि की भूमिका को लेकर वर्डसवर्थ काफ़ी उत्साहित हैं और इस भूमिका का उन्होंने बड़े ही ऊर्जस्थित स्वर में आख्यान किया है। वे उन लोगों से सहमत नहीं हैं 'जो कविता को मनोरंजन और उत्साहहीन आनंद का विषय समझते हैं, जो काव्याभिरुचि के बारे में ऐसे हलकेपन से बात करते हैं जैसे वह शराब आदि तैयार करने की अथवा नट के खेल-तमाशे की कला हो।' वर्डसवर्थ का मानना है कि 'कवि के भाव और विचार मानव के सामान्य भाव और विचार होते हैं।' कविता मानव और प्रकृति का प्रतिबिंब होती है और इसमें दार्शनिकता का गुण सबसे ज़्यादा होता है - 'अरस्तू ने कहीं पर लिखा है कि अन्य सभी प्रकार की रचनाओं की अपेक्षा कविता में दार्शनिकता का गुण सबसे ज्यादा होता है। यह ठीक ही है। इसका लक्ष्य सत्य है - वैयक्तिक और स्थानीय सत्य नहीं वरन् सामान्य और व्यावहारिक सत्य। वह किसी बाहरी साक्ष्य पर आधारित नहीं होता वरन् भाव के माध्यम से सीधे ह्रदय में प्रवेश करता है।' वर्डसवर्थ चाहते हैं कि समस्त मानव-जाति भाइचारे की भावना में बँधकर नया जीवन बिताए - 'कवि समस्त देश-काल में फैली हुई मानव-जाति को संवेदना और ज्ञान द्वारा एकता के बंधन में बाँधता है।' (The poet binds together by passion and knowle: : the vast empire of human society, as it is spread over the whole earth and over all time.) फ्रान्सीसी क्रांति ने स्वतन्त्रता, समानता और भाईचारे का जो नारा दिया था उसे हम वर्डसवर्थ को अंग्रेजी कविता पर लागू करते हुए देखते हैं।

4. कविता और विज्ञान

'कवि केवल कवियो के लिए ही नहीं लिखते, वरन् मानव-मात्र के लिए लिखते हैं।' (Poets do not write for poets alone but for men) वर्डसवर्थ के अनुसार कविता का यह सार्वभौम आकर्षण ही वह तत्व है जो उसे विज्ञान से अलग करता है। कवि और वैज्ञानिक दोनों का ही लक्ष्य ज्ञान है और दोनों का ही ज्ञान आनंद रूप है। 'किंतु एक का ज्ञान जहाँ हमारे अस्तित्व का अनिवार्य अंग है और हमारी स्वाभाविक विरासत प्रतीत होता है जिसे हमसे कोई छीन नहीं सकता वहाँ दूसरे का ज्ञान वैयक्तिक उपलब्धि है।' 1800 में इंगलैंड मे विज्ञान की जो हालत थी उसे देखते हुए वर्डसवर्थ को उसकी इस मान्यता के लिए दोषी नहीं ठहराया जा सकता। दुनिया मे आज भी अनेक ऐसे देश हैं जिनमे विज्ञान का लाभ केवल सम्पत्तिशाली लोग ही उठा सकते हैं। वर्डसवर्थ सामान्य तौर पर विज्ञान के ख़िलाफ़ नही थे। यदि वह वैयक्तिक लाभ की चीज़ न रहे और मानवता की सेवा करे तो वे उसके पक्षधर हैं। इसलिए उन्होंने लिखा - 'कविता संपूर्ण ज्ञान का प्राण है, उसकी सूक्ष्म आत्मा है। वह ऐसी रागदीप्त अभिव्यक्ति है जो विज्ञान-मात्र को प्रेरक है।' यह विज्ञान मनुष्य को अंध-राष्ट्रीय अंहकार की शिक्षा न देकर मानव-प्रम का संदेश देता है। 'शेक्सपियर ने जो कुछ मानव के बारे में कहा है वही कवि के बारे में और भी दृढता से कहा जा सकता कि 'कि वह पीछे भी देखता है आर आग भी।' वह मानव-प्रकृति की रक्षा के लिए अजेय चट्टान की तरह है। वह मानव-स्वभाव का पोषक और रक्षक है। जहाँ-जहाँ वह जाता है, स्नेह-संबंध और प्रेम अपने साथ लेता जाता है।' फिर यूरोप की तनावपूर्ण स्थिति की ओर सीधे संकेत करते हुए वर्डसवर्थ ने लिखा - 'इस संसार में देश-काल और जलवायु, भाषा और आचार-विचार, क़ानून और रीति-रिवाज के अनंत भेदों के बावजूद, साथ ही लोगों और वस्तुओं के भीषण

विनाश के बावजूद कवि समस्त देश-काल में फैली हुई मानव-जाति को संवेदना और ज्ञान द्वारा एकता के बंधन में बाँधता है।' वर्डसवर्थ के युग में यदि मानव-जाति के विशाल साम्राज्य को संवेदना और ज्ञान द्वारा एकता के बंधन में बाँधना ज़रूरी था तो आज के युग में तो यह और भी ज्यादा ज़रूरी है।

वर्डसवर्थ ने कहा - 'कविता संपूर्ण ज्ञान का आदि और अंत है - यह मानव-मन के समान ही अमर है। कविता संपूर्ण ज्ञान का आदि इसलिए है कि यह कल्पना की देन है। वैज्ञानिक भी पहले एक प्राक्कल्पना (hypothesis) करता है। यहीं वह कवि की तरह ज्ञान के आदि का दर्शन करता है। फिर प्रयोग और अनुभव से सत्यापन द्वारा उसे यह बोध होता है कि यह ज्ञान का अंत है या नहीं। सत्य के सहज बोध के लिए एक महान वैज्ञानिक को कवि-हृदय होना चाहिए और एक महान कवि को वैज्ञानिक का सहज बंधु क्योंकि दोनों जिस सत्य का अनुसंधान करते हैं वह एक ही है। वर्डसवर्थ एक ऐसे युग की परिकल्पना करते हैं जब विज्ञान सामान्यतः मानव-जीवन को प्रभावित करेगा और तब ज्ञान की इस शाखा के प्रति कवि की उदासीनता अक्षम्य होगी। सूक्ष्म अंतर्दृष्टि का परिचय देते हुए उन्होंने लिखा -

> **'यदि कभी ऐसा समय आया कि वैज्ञानिक अपने प्रयत्न से हमारी स्थिति में, और जो संस्कार हम ग्रहण करते हैं उनमें, प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से, कोई भौतिक क्रांति घटित कर दे तो आज की तरह ही कवि चुपचाप नहीं बैठा रहेगा। वह उनके पद-चिह्नों का अनुसरण करने के लिए तैयार रहेगा और अपनी गतिविधि को उन सामान्य प्रभावों तक ही सीमित नहीं रखेगा, वरन् स्वयं वैज्ञानिक वस्तुओं को संवेदनात्मक रूप में प्रस्तुत करने में वैज्ञानिक का सहयोग करेगा। यदि कभी ऐसा समय आया जब रसायनविज्ञान, वनस्पतिविज्ञान और खनिजविज्ञान की गवेषणाएँ हमारे लिए परिचित वस्तुएँ बन जाएँ और इन वैज्ञानिकों के अपने अनुभव सुख-दुख के द्वंद्व से ग्रस्त मानव के रूप में हमारे लिए स्पष्ट और प्रकट महत्व के हों तो उनके गूढ़-से-गूढ़ अनुसंधान भी कवि कला के वैसे ही उपयुक्त विषय बन जाएँगे जैसे कोई अन्य विषय। यदि कभी ऐसा समय आया कि आज हम जिसे विज्ञान कहते हैं वह मानव से इस रूप में परिचित हो जाए कि वह माँस-मज्जा-युक्त जीवंत रूप धारण करने को प्रस्तुत हो तो कवि इस रूपांतर की सफलता के लिए अपनी दिव्यात्मा की शक्ति का प्रयोग करेगा और इसके परिणामस्वरूप जो नया प्राणी अस्तित्व में आएगा उसका मानव-परिवार के प्रिय तथा नैसर्गिक सदस्य के रूप में स्वागत करेगा।'**

14.4.2 काव्यभाषा : अर्थ और विकास

यहाँ 'काव्यभाषा' शब्द का प्रयोग अंग्रेज़ी पदबंध 'पोइटिक डिक्शन' (Poetic Diction) के पर्याय रूप में किया जा रहा है। अतः यह शब्द सामान्य रूप से कविता की भाषा का सूचक नहीं है। यह नव्यशास्त्रवादी युग की उस रूढ़, कृत्रिम और आडम्बरपूर्ण भाषा का सूचक है जो न तो बोधगम्य थी, न भावोद्दीपन में समर्थ। वर्डसवर्थ के प्रसिद्ध आमुख में पिछली पीढ़ी की इसी अस्वाभाविक और कृत्रिम काव्यभाषा के ख़िलाफ़ जेहाद बोला गया था।

इस रूढ़ काव्यभाषा का विकास सत्रहवीं सदी के उत्तरार्ध और मुख्य रूप से अठारहवीं सदी के दौरान हुआ। आरंभ में यह मान्यता व्यक्त की गई कि हर भाषा में कुछ शब्द ऐसे होते हैं जो कविता के लिए उपयुक्त नहीं होते। इस श्रेणी में विशेष रूप से एसे शब्द आते हैं जिनसे कविता के पाठक अपेक्षित मात्रा में परिचित नहीं हैं। हॉब्स ने ऐसे शब्दों में तीन तरह के शब्दों को परिगणित किया है -

1. ऐसे शब्द जिनकी हमें समुचित जानकारी नहीं है
2. ऐसे विदेशी शब्द जो पाठक वर्ग के लिए बोधगम्य नहीं होते - बशर्ते कि वे लंबे प्रयोग के बाद एकदम आम न हो गए हो गए हों; और
3. शिल्पियों और कारीगरों के औज़ारों से संबंधित शब्द।

यहाँ काव्योपयोगिता का निकष है - बोधगम्यता। आगे चलकर, नव्यशास्त्रवादी दौर में, इसमें ऐसे शब्दो को भी शामिल कर लिया गया जो अति-परिचित हों। अभिजातवर्गीय काव्याभिरुचि को जन-भाषा के ऐसे शब्द स्वीकार्य नहीं थे क्योंकि उनके अनुसार आम बोलचाल का अंग होने के कारण वे हमारे मन में क्षुद्रता का भाव जगाते हैं। प्रसिद्ध नव्यशास्त्रवादी आलोचक डॉ.जॉनसन ने लिखा - 'अतिपरिचित और दूरारूढ़ शब्द कवि के प्रयोजन को ही निष्फल कर देते हैं। अतिपरिचित शब्द हमारे मन पर कोई गहरा असर नहीं छोड़ते, न उनसे कोई आनंददायक बिम्ब ही बनता है; और जिन शब्दों से हम परिचित नहीं हैं वे जहाँ भी आते हैं, हमारा ध्यान अपनी ओर आकर्षित करते हैं, जबकि होना यह चाहिए कि वे

हमारा ध्यान उन वस्तुओं की ओर ले जाएँ जिन्हें वे सूचित करते हैं।' (जॉनसन, 'ड्राइडन', 'लाइव्ज़ ऑफ़ द पोइट्स') अतिपरिचित के निकष पर उन्होंने शेक्सपियर के शब्द-प्रयोग पर भी आपत्ति की। 'मैकबेथ' की कुछ पंक्तियों¹ पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने लिखा कि 'डनेस्ट (= अत्यंत काला) ऐसा शब्द है जो अस्तबल के सिवा शायद ही कहीं सुनने में आता हो' और 'नाइफ़' (= चाकू) 'ऐसा उपकरण है जिसका कसाई और रसोइए अधम-से-अधम कामों में उपयोग करते हैं।' ('The Rambler', 26 October, 1751) 'एनीस' में वर्जिल के शब्द-प्रयोग पर आपत्ति करते हुए ड्राइडन ने लिखा इसमें प्रयुक्त 'ग्रामीण शब्द सम्बद्ध वस्तु की क्षुद्र धारणा हमारे सामने लाते हैं।' इसी प्रकार, एडिसन ने यह मान्यता व्यक्त की कि 'जो पदबंध एकदम लोगों की जबान पर रहते हैं और जिनका प्रयोग आम बोलचाल में किया जाता है वे कानों को अतिपरिचित लगते हैं और गँवारों की ज़बान पर चढ़कर उनमें एक प्रकार की क्षुद्रता का समावेश हो जाता है। अतः कवि को इस बारे में सावधान रहना चाहिए कि वह बोलचाल के मुहावरेदार रूपों से बचे।' पुनः, 'किसी उदात्त तथा मार्मिक कार्य-व्यापार का वर्णन यदि ग्रामीण भाषा में किया जाए तो वह अपनी सारी भव्यता और जीवंतता खो बैठता है।' इसी बात को एक उपमा के माध्यम से समझाते हुए डॉ. जॉनसन ने लिखा - 'सोना खोट में इस प्रकार छिप सकता है कि कोई रसायनज्ञ ही उसे निकाल सके : इसी प्रकार असंस्कृत और गँवारू शब्दों में अर्थ इतना निगूढ रह सकता है कि उसपर दार्शनिकों की ही नज़र जा सके।' काव्यभाषा (Poetic diction) की शुरूआत का श्रेय ड्राइडन को देते हुए उन्होंने लिखा कि उन्होंने ऐसी शब्दावली का व्यवहार किया जिसमें एक ओर 'घरेलू प्रयोगों की अनगढ़ता' का परिष्कार कर दिया गया था, दूसरी ओर वह 'विशेष शिल्पों के लिए उपयुक्त शब्दों की कठोरता' से भी मुक्त थी। ये विचार युग-चेतना में इतने व्याप्त थे कि कई प्राक्-स्वच्छंदतावादी कवि भी इनके प्रभाव से बच नहीं सके : 'हर भाषा में कुछ ऐसे शब्द होते हैं जिनका अपढ़ लोगों को छोड़ और कोई प्रयोग नहीं करता और यदि करता भी है तो अतिपरिचित माहौल में या फिर ऐसे भावों को व्यक्त करने के लिए जिन्हें सभ्य समाज में व्यक्त करना भी हम पसंद न करें।'²

अतिपरिचित और अपरिचित शब्दों की उपेक्षा का एक अन्य कारण भी था : अतिपरिचित शब्दों में अर्थच्छायाएँ इतनी ज्यादा होती हैं कि उनपर काबू पाना बहुत मुश्किल है जबकि अपरिचित शब्दों में अर्थच्छायाएँ बिल्कुल होती ही नहीं। अतः आगे चलकर, अठारहवीं सदी के उत्तरार्ध में, एडिसन, डॉ.जॉनसन, ग्रे जैसे लोगों ने यह अभियान चलाया कि कविता की भाषा विशिष्ट होनी चाहिए। उन्होंने यह मान्यता व्यक्त की कि कुछ शब्द ऐसे होते हैं जिनका केवल या विशेष रूप से कविता में प्रयोग किया जाता है। सही मायनों में काव्यभाषा (पोइटिक डिक्शन) का विकास इसी प्रवृत्ति के फलस्वरूप हुआ। इस प्रवृत्ति के अंतर्गत कुछ शब्दों को ही काव्यात्मक मान लिया गया और यह मान्यता व्यक्त की गई कि कवि-परंपरा से ऐसे शब्दों को चुन-चुनकर उनका प्रयोग किया जाना चाहिए। 'हर भाषा में कुछ शब्द ऐसे होते हैं जो काव्याभिव्यक्ति में विशेष रूप से काम में आते हैं : इनमें से कुछ तो कल्पना के सम्मुख प्रस्तुत बिम्ब या विचार की वजह से पसंद किए जाते हैं, कुछ कानों के लिए सुखद ध्वनियों की वजह से।' (गोल्डस्मिथ) ऐसे जादुई शब्दों का एक पूरा वर्ग बन गया था। इनका प्रयोग करने पर रसात्मक प्रभाव की गारंटी थी। 'काव्य-भाषा' (पोइटिक डिक्शन) पदबंध का पहले-पहल प्रयोग करते हुए प्रसिद्ध कवि पोप ने 'इलियड' के आमुख में लिखा - 'हम उसे (होमर को) काव्यभाषा का जनक मानते हैं। वह पहला व्यक्ति था जिसने मनुष्यों को देवों की भाषा का ज्ञान कराया।' आशय यह कि यह काव्यभाषा दिव्य थी। जहाँ भी इसका योग कर दिया जाएगा वह कविता अमर हो जाएगी। इन लेखकों ने इस बात पर बल दिया कि कविता की भाषा और गद्य की भाषा में स्पष्ट भेद होना चाहिए और यह भेद जितना ज्यादा हो उतना अच्छा। गद्य तो समसामयिक भाषा का आधार ग्रहण कर सकती है लेकिन कविता नहीं। अपने एक पत्र (1742) में ग्रे ने साफ कहा 'समसामयिक युग की भाषा कभी कविता की भाषा नहीं होती। (The language of the age is never the language of poetry.) इस युग की कविता पढते हुए हमें स्पष्ट प्रतीत होता है कि इसमें विचार और भाषा के बीच एक स्पष्ट समयगत अंतराल है।

अठारहवीं सदी में विज्ञान और सामाजिक विज्ञानों का तेज़ी से विकास हो रहा था। इस विकास के परिणामस्वरूप भाषा में विज्ञान, दर्शन, राजनीति आदि के क्षेत्र में भारी संख्या में तकनीकी शब्द आ रहे थे। भाषा के क्षेत्र में 'स्पष्टता' की माँग की वजह से इस युग में यह विचार सामने रखा गया कि हर

---

¹ Come, thick night,
And pall thee in the dunnest smoke of hell,
That my keen knife see not the wound it makes.

² James Beattie, 'Dissertations Moral and Critical' (1783), pp.748-49.

शब्द का सामान्य रूप से स्वीकृत एक ही अर्थ होना चाहिए। किंतु इस आदर्श को प्राप्त करना सभव नहीं था। शब्द भिन्न-भिन्न संदर्भों में प्रयुक्त होते हैं। जैसे ही उनका संदर्भ बदलेगा उसी के साथ उनकी अर्थच्छायाएँ भी बदल जाएँगी। विशेष शब्दावलियों या तकनीकी शब्दों का विकास इस कठिनाई पर विजय पाने का एक रास्ता था। विशिष्ट काव्यभाषा का विकास भी तकनीकी या विशिष्ट अर्थ के सूचक शब्दों के विकास की उस सामान्य प्रवृत्ति के मेल में था। यही वजह है कि नव-आभिजात्यवादी युग में इस काव्यभाषा का वैसा विरोध नहीं हुआ।

पिछले युग की कविता की भाषा का स्वरूप आंतरिक और संरचनात्मक था जबकि इस काव्यभाषा (पोइटिक डिक्शन) का बल आलंकारिकता और अभिव्यक्ति-कौशल पर था। इसमें कविता का बाह्य पक्ष जितना महत्वपूर्ण था उतना आभ्यंतर पक्ष नहीं - कविता के पिछले और वर्तमान युग में मुख्य अंतर यह है कि पिछले युग में जहाँ लेखक काव्यात्मक रीति से अभिव्यक्त भर करते हैं। आधुनिक लेखकों का 'कैसे लिखना है' पर जितना बल है उतना 'क्या लिखना है' पर नहीं। एक अन्य समसामयिक लेखक ने इसी विचार को व्यक्त करते हुए कहा - 'हमारी कविता का सबसे स्पष्ट दोष यह है......कि हम रूप का अध्ययन करते हैं और वस्तु की उपेक्षा कर देते हैं।'

14.4.3 वर्ड्सवर्थ की काव्यभाषा विषयक अवधारणा

नव्यशास्त्रवादी दौर की उक्त कृत्रिम और आडम्बरपूर्ण काव्यभाषा का वर्ड्सवर्थ ने विरोध किया। उनका मानना था कि कविता में ऐसी भाषा का व्यवहार करना चाहिए जो आम जनता की भाषा से ग्रहण की गई हो। अभिजात वर्ग की भाषा आज आम जनता की भाषा नहीं है, अतः उसे कविता की भाषा बनाए रखना उचित नहीं है। उनकी मान्यता थी कि 'अभिजात वर्ग के भाव बहुत छिछले होते हैं। गहराई से चीज़ों को देखने, उनका अनुभव करने, उनके प्रति अपने संवेदनाएँ प्रकट करने की क्षमता जितनी आम जनता में होती है, उतनी उच्च्य वर्गों में नहीं।' (रामविलास शर्मा, 'आस्था और सौंदर्य' शीर्षक कृति में 'फ्रांसीसी राज्यक्रांति और मानव-जाति के सांस्कृतिक विकास की समस्या' शीर्षक आलेख (1990), पृ.197)वे कविता की भाषा ही नहीं कविता की विषय-वस्तु को भी सामान्य जनों तक, विशेष रूप से गाँव के किसानों तक ले जाना चाहते थे। 'जो कविता कुछ अपवादों को छोड़कर, अभिजात वर्ग तक सीमित थी, उसे वे एक नए धरातल पर विकसित करना चाहते थे।' (वही)

'लिरिकल बैलेड्स' (1798) में वर्ड्सवर्थ बोलचाल की भाषा के आधार पर महान काव्य की रचना करना चाहते थे। यह संग्रह एक प्रयोग के रूप में था और इस प्रयोग द्वारा वर्ड्सवर्थ यह पता लगाना चाहते थे कि 'मानव की यथार्थ भाषा को यदि तीव्र अनुभूति की दशा में छंद में ढाला जाए तो उससे क्या वैसा और उतना ही आनंद प्राप्त हो सकता है जैसा और जितना कोई कवि सोच-समझकर प्रदान करने की कोशिश करता है।' किंतु परंपरावादी आलोचकों ने इन कविताओं की, भाव और भाषा दोनों दृष्टियों से, कटु आलोचना की। इनकी भाषा को विशेष रूप से आलोचना का लक्ष्य बनाया गया। अतः जो मान्यताएँ प्रथम संस्करण (1798) में प्रयोग के रूप में थीं उन्होंने द्वितीय संस्करण (1800) तक आते-आते सुनिश्चित अवधारणाओं का रूप ग्रहण कर लिया। इस संस्करण के आमुख में उन्होंने इन कविताओं के सैद्धांतिक आधार के समर्थन में अपने विचार प्रकट किए। इन कविताओं में प्रस्तावित प्रमुख लक्ष्य यह था कि 'साधारण जीवन से घटनाओं और स्थितियों का चयन किया जाए और फिर आद्योपांत उनका वर्णन ऐसी भाषा में रहे जिसका प्रयोग हम यथार्थ जीवन में करते हैं; साथ ही उनपर कल्पना का ऐसा रंग चढ़ाया जाए जिससे साधारण चीज़ें मन में असाधारण रूप लेकर उतरें।' वर्ड्सवर्थ की मान्यता है कि कविता में ऐसी भाषा का व्यवहार करना चाहिए जो आम जनता की भाषा हो। अभिजातवर्गीय भाषा को आज कविता की भाषा बनाए रखना उपयुक्त नहीं है। कविता की भाषा को ही नहीं, कविता की विषय-वस्तु को भी वे साधारण जनों तक, विशेष रूप से गाँव के किसानों तक ले जाना चाहते थे। साधारण और ग्रामीण जीवन को इन कविताओं का विषय क्यों बनाया गया, यह स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा - 'साधारण और देहात का जीवन आम तौर पर इसलिए चुना गया कि उस स्थिति में मानव-हृदय के मूल भावों को परिपक्व होने के लिए अधिक अच्छी जमीन मिलती है, वहाँ उनके ऊपर उतना प्रतिबंध नहीं होता और वे (ग्रामीण जन) अधिक ज़ोरदार और अधिक साफ़ भाषा बोल सकते हैं; जीवन की उस दशा में हमारे मूल भाव एकदम साधारण या प्रकृत स्थिति में रहते हैं, अतः उनका ठीक-ठीक चिंतन-मनन संभव है और उन्हें ज़्यादा कारगर ढंग से सम्प्रेषित किया जा सकता है; ग्रामीण जीवन के आचार-व्यवहार ऐसे मूल भावों से और ग्रामीण पेशों की ऐसी आधारभूत विशेषताओं से उत्पन्न होते हैं जो सहज संवेद्य बन सकते हैं और स्थायी रूप ग्रहण कर सकते हैं; और अंत में उस दशा में मानवीय भावों का प्रकृति के रमणीय और स्थायी रूपों के साथ सामंजस्य हो

सकता है। वर्डसवर्थ की मान्यता थी कि ग्रामीण जन अपने अनुभूति के आधार पर बोलते हैं, अतः उनकी ऐसी भाषा 'बार-बार के अनुभव और नियमित भावदशाओं से उत्पन्न होती है, अतः यह अधिक स्थायी और कहीं अधिक दार्शनिक गंभीरता लिए हुए होती है : इसलिए उनकी वाणी में जो सच्चाई, जो ईमानदारी और जो स्वाभाविकता होती है वह उन कवियों की कृत्रिम भाषा में कहाँ जो यह सोचते हैं कि जिस अनुपात में वे मानवीय सहानुभूति से अपने-आपको दूर रखेंगे और अभिव्यक्ति की मनमानी पद्धति का अनुसरण करेंगे उतना ही अपने-आपको और अपनी कला को महिमान्वित करेंगे।'

ज़ाहिर है कि द्वितीय संस्करण के आमुख का केंद्रीय विषय काव्य-भाषा ही है। कविता के स्वरूप और कवि के चरित्र पर जो विचार व्यक्त किए गए हैं ये प्रासंगिक रूप में। कवि के चरित्र के बारे में संपूर्ण सामग्री (लगभग दस पैराग्राफ़) 1802 के संस्करण में जोड़ी गई थी। छंद के बारे में जहाँ विचार किया गया है वहाँ भी संदर्भ काव्यभाषा का ही है। वहाँ यह बताने का प्रयास किया गया है कि जब एक कृत्रिमता (काव्यभाषा) का विरोध किया गया है तो दूसरी कृत्रिमता (छंद) का पक्षपोषण क्यों किया जा रहा है।

वर्डसवर्थ की धारणा थी कि शब्द अपने आप में काव्यात्मक या अकाव्यात्मक नहीं होते, भाषा में प्रयोग के आधार पर वे अपना स्वरूप अर्जित करते हैं। अपने युग की 'तड़क-भड़कपूर्ण निर्जीव शब्दावली' के बरक्स 'लिरिकल बैलेड्स' की कविताओं का वैशिष्ट्य रेखांकित करते हुए उन्होंने लिखा - 'पाठक यह देखेंगे कि इन कविताओं में अमूर्त विचारों का मानवीकरण कभी-कभार ही किया गया है - और शैली को भव्य बनाने तथा उसे गद्य के स्तर से ऊँचा उठाने की एक सामान्य युक्ति के रूप में तो इसका प्रयोग एकदम नहीं मिलेगा। मेरा उद्देश्य तो मानव की यथार्थ भाषा का अनुकरण करना और यथासंभव उसे प्रयोग में लाना था; और निश्चय ही ऐसे मानवीकरण को उस भाषा का स्वाभाविक अंग नहीं माना जा सकता।' वास्तव में 'शैली की यांत्रिक युक्ति' के रूप में जो मानवीकरण आया है वह उन्हें ग्राह्य नहीं है किंतु यही यदि भाषा का स्वाभाविक अंग बनकर आए तो वह उन्हें सहज-ग्राह्य है - 'वह (मानवीकरण) तो वस्तुतः ऐसा अलंकार है जो आवेग की दशा में आप-से-आप रूप ग्रहण कर लेता है और इसी रूप में मैंने इनका उपयोग किया है। किंतु शैली की एक यांत्रिक युक्ति के रूप में, या फिर ऐसी पारिवारिक भाषा के रूप में जिसे छंदोबद्ध रचना के लेखक अपनाने का दावा करते हैं, मैंने इसका पूर्ण बहिष्कार किया है।' इसी प्रकार, काव्यभाषा (पोइटिक डिक्शन) का परंपरागत रूप भी इन कविताओं में नहीं है - 'सामान्यतः जो कुछ काव्यभाषा के रूप में जाना-समझा जाता है वह भी इन कविताओं में नहीं मिलेगा। आम तौर पर इसे आकार देने के लिए जितना प्रयास किया जाता है उतना ही प्रयास मैंने उसे बचाने के लिए किया है।.......ऐसा इसलिए किया गया है कि मैं अपनी भाषा को मानवीय भाषा के नज़दीक लाना चाहता हूँ।' काव्यभाषा के अंतर्गत वर्डसवर्थ रूपक के ऐसे 'पदबंधों और अलंकारों' को शामिल करते हैं 'जो पिता से लेकर पुत्र तक कवियों की सामान्य सम्पत्ति माने जाते रहे हैं।' अतः उन्होंने अपने-आपको ऐसी अनेक अभिव्यक्तियों के प्रयोग से दूर रखा 'जो अपने आप में उचित और सुंदर हैं किंतु घटिया कवि जिन्हें बड़े मूर्खतापूर्ण ढंग से दुहराते चले आ रहे हैं। इसीलिए उनके साथ ऐसी घृणा की भावना बद्धमूल हो गई है कि किसी भी कला की मदद से उसपर काबू नहीं पाया जा सकता।'

काव्यभाषा के बारे में अपने उक्त विचारों के आधार पर वर्डसवर्थ ने यह निष्कर्ष निकाला कि गद्य और कविता की भाषा में कोई अंतर नहीं है। नव्यशास्त्रीय दौर मे इन दोनों के अंतर को मान्यता दी गई थी और इसी अंतर के आधार पर कृत्रिम आडम्बरपूर्ण काव्यभाषा को उचित ठहराया गया था। लेकिन वर्डसवर्थ ने लिखा - 'हर अच्छी कविता के अधिकांश की भाषा, चाहे उसका स्वर कितना भी उदात्त क्यों न हो, अच्छे गद्य की भाषा से भिन्न नहीं होती। यही नहीं, सबसे अच्छी कविताओं के सबसे मार्मिक अंश गद्य की भाषा के एकदम समरूप होंगे - ऐसे गद्य की जो सुरक्षित हो।' वर्डसवर्थ के अनुसार, संपूर्ण काव्य से 'अनगिनत उदाहरण देकर' इस दावे को सिद्ध किया जा सकता है। उन्होंने ग्रे की एक सॉनेट ('ऑन दी डेथ ऑफ़ रिचर्ड वेस्ट') को उदाहरणस्वरूप उद्धृत करके यह दिखाया कि उसमें जहाँ-जहाँ मार्मिकता या कवित्व है उन अंशों की भाषा अच्छे गद्य की भाषा से भिन्न नहीं है जबकि ग्रे का ऐसे कवियों में प्रमुख स्थान है 'जिन्होंने गद्य और छंदोबद्ध रचना में अंतर की दूरी को और अधिक बढ़ाने की कोशिश की है।' अतः उन्होंने घोषणा की - 'गद्य और छंदोबद्ध रचना की भाषा में मूलतः न तो कोई अंतर है और न हो सकता है।' (There neither is nor can be any essential difference between the language of prose and metrical composition.) सामान्य बुद्धि के स्तर पर उतरकर उन्होंने कहा - 'उनके बोलने और सुनने के अंग एक ही हैं। उन दोनों के परिधान एक ही तत्व के बने होते हैं।...दोनों की शिराओं में एक ही मानवीय रक्त प्रवाहित होता है।'

गद्य और कविता में प्रायः छंद के आधार पर भेद किया जाता है और इस आधार पर काव्यभाषा - जैसे अन्य भेदों की भी मान्यता मिलनी चाहिए - इस संभावना के निराकरण के लिए वर्डसवर्थ ने कहा - 'जिस काव्यभाषा की यहाँ सिफ़ारिश की गई है उसका चयन यथासंभव ऐसी भाषा से किया जाता है जिसका हम वस्तुतः बोलचाल में प्रयोग करते हैं। यह चयन यदि सच्ची अभिरुचि और भावना के आधार पर किया गया तो जितना हम सोचते हैं उससे कहीं ज़्यादा अंतर आप-से-आप उत्पन्न हो जाएगा और साथ ही वह रचना साधारण जीवन की तुच्छता और अश्लीलता से भी मुक्त हो जाएगी। यदि इसमें ऊपर से छंद का समावेश और कर दिया गया तो मैं समझता हूँ कि ऐसा अंतर पैदा हो जाएगा जो एक विवेकशील व्यक्ति को सहज स्वीकार्य होगा।' यदि विषय का चुनाव ठीक हुआ तो भाषा अपने-आप ही अवसर के अनुरूप आकार ग्रहण कर लेगी - 'यदि कवि ने अपने विषय का चुनाव समझदारी से किया है तो उपयुक्त अवसर आने पर....भाषा अनिवार्य रूप से भव्य या चित्र-विचित्र हो जाएगी और रूपक तथा अलंकारों से जीवंत हो उठेगी। भाव की स्वाभाविक माँग के प्रतिकूल कवि ने यदि अपनी ओर से भव्यता का संयोग करने की कोशिश की तो उसमें एक प्रकार की असंगति आ जाएगी।' हर हालत में भव्यता या अलंकरण का अलग से संयोग करने की ज़रूरत नहीं है - 'जिन अंशों में रूपक और अलंकार उचित रीति से आए हैं उनका पाठक के मन पर अपेक्षित असर पड़ेगा। अन्यत्र जहाँ भाव हल्के किस्म के हुए वहाँ शैली भी मंद-मंथर हो जाएगी।'

काव्यभाषा में कृत्रिमता का समावेश कैसे हुआ, मनुष्य की यथार्थ भाषा से उसके अलगाव की क्या प्रक्रिया रही, इस बारे में भी वर्डसवर्थ ने अपने विचार व्यक्त किए हैं। 'लिरिकल बैलेड्स' के तृतीय संस्करण (1802) में काव्यभाषा के बारे में जोड़े गए 'परिशिष्ट' में वर्डसवर्थ ने लिखा - 'सभी देशों के आरंभिक कवियों ने सामान्यतः यथार्थ घटनाओं से प्रेरित होकर काव्य-रचना की थी। उन्होंने जो कुछ लिखा वह साधारण मनुष्यों के रूप में और एकदम स्वाभाविक ढंग से। चूँकि उनकी अनुभूति और भाव प्रबल थे, अतः उनकी भाषा भी प्रभावपूर्ण और अलंकृत हो गई। इस भाषा का प्रभाव देखकर परवर्ती कवियों और यशलोलुप जनों ने, वैसे भाव से अनुप्राणित हुए बिना ही, वही प्रभाव उत्पन्न करना चाहा। फल यह हुआ कि उन अलंकारों का यांत्रिक प्रयोग ही हो पाया। कभी-कभी तो यह प्रयोग उचित भी हुआ किंतु प्रायः ऐसे भावों और विचारों के लिए उनका प्रयोग किया गया जिनसे उनका कोई सहज संबंध नहीं था। इस प्रकार अनजाने ही एक ऐसी भाषा निर्मित हो गई जो हर हालत में मनुष्यों की यथार्थ भाषा से तत्वतः भिन्न थी।' इस प्रकार पीढ़ी-दर-पीढ़ी यह कृत्रिम काव्यभाषा बोझिल और आडम्बरपूर्ण होती गई। वह सहज-सरल न रही और उसकी भावोद्दीपन-क्षमता एकदम समाप्त हो गई। वर्डसवर्थ इस नव-आभिजात्यवादी काव्यभाषा का त्याग कर प्राचीन कवियों की भाषायी परंपरा को फिर से अपनाने का आग्रह करते हैं।

कुल मिलाकर, वर्डसवर्थ ने अपने काव्यभाषा-विषयक विचारों में तीन बातों पर बल दिया -

1. काव्य में ग्रामीण जनों की दैनिक बोलचाल की भाषा को आधार बनाना चाहिए;
2. गद्य और कविता की भाषा में मूलतः कोई अंतर नहीं है, और
3. प्राचीन कवियों की काव्यभाषा एकदम सहज-सरल थी, यांत्रिकता और आडम्बर परवर्ती (नव्यशास्त्रवादी) कवियों की देन है। अन्यथा यदि कवि के हृदय में यदि भाव का उन्मेष है और विषय का चयन ठीक हुआ है तो भाषा स्वयं ही अवसर के अनुरूप आकार ग्रहण कर लेगी।

14.4.4 वर्डसवर्थ की काव्यभाषा विषयक मान्यताओं की आलोचना

आमुख के प्रकाशन (1800) के बाद वर्डसवर्थ की काव्यभाषा-विषयक मान्यताओं के ख़िलाफ़ तीखी प्रतिक्रिया हुई। नव्यशास्त्रवादी आलोचकों के साथ-साथ प्रसिद्ध स्वच्छंदतावादी आलोचक और वर्डसवर्थ के अभिन्न मित्र कॉलरिज ने भी इन विचारों की कटु आलोचना की। 'बायोग्राफिया लिटरारिया' के चार अध्यायों (अध्याय 17 से 20) में उन्होंने एक-एक मान्यता पर अत्यंत सूक्ष्मता और गहराई से विचार किया। कॉलरिज के इन विचारों में चूँकि वर्डसवर्थ की काव्यभाषा-विषयक मान्यताओं की आलोचना के अधिकांश पहलू आ जाते हैं, अतः यहाँ संक्षेप में उनपर विचार किया जा सकता है।

1. वर्डसवर्थ ने कविता में ग्रामीण जनों की भाषा अपनाने पर बल दिया था। कॉलरिज का तर्क है कि मूल प्रश्न यह नहीं है कि काव्य-भाषा का स्वरूप क्या हो, वरन् यह है कि भावों और अनुभूतियों को व्यक्त करने में वह कहाँ तक समर्थ है। ग्रामीण भाषा के साथ एक अन्य कठिनाई यह है कि उसकी शब्दावली इतनी सीमित और कामचलाऊ होती है कि उसके

आधार पर सूक्ष्म-गहन और वैविध्यपूर्ण अनुभूतियों को अभिव्यक्त कर पाना संभव नहीं है। उसके बल पर तो उनकी शरीर–यात्रा के लिए ज़रूरी कुछ थोड़ी-सी गतिविधियों को व्यक्त किया जा सकता है। स्वयं वर्डसवर्थ की जो कविताएँ दिलचस्प और नाटकीय हैं (जैसे 'ब्रदर्स', 'माइकल', 'मैड मदर') उनके पात्रों का संबंध ग्रामीण जीवन से नहीं है, न उनकी भाषा पर ग्रामीण जीवन की छाप है।

कविता और कविता की भाषा पर विचार करते हुए वर्डसवर्थ ने लिखा था - 'साधारण और गाँव का जीवन आम तौर पर इसलिए चुना गया कि उस परिस्थिति में मानव-हृदय के मूल भावों को परिपक्व होने के लिए ज़्यादा अच्छी ज़मीन मिलती है, वहाँ इनके ऊपर उतना प्रतिबंध नहीं होता और वे (ग्रामोण जन) अधिक ज़ोरदार और अधिक साफ़ भाषा बोल सकते हैं।' कॉलरिज की दृष्टि में कवित्व का आधार है शिक्षा, उसकी कमी नहीं। यदि कंबरलैंड के किसान 'अधिक ज़ोरदार और अधिक साफ़ भाषा' बोलते थे तो इसका कारण यह नहीं है कि वे प्रकृति के साहचर्य में रहते थे। इसका मूल कारण यह है कि उनमें स्वतंत्रता की चेतना थी और ठोस धार्मिक शिक्षा का आधार था। ग्रामीण जीवन में, प्रगति के लिए, कुछ पूर्वापेक्षाएँ वांछनीय हैं - जैसे कि सम्बद्ध व्यक्ति में शिक्षा या संवेदना या फिर दोनों पहले से विद्यमान हों। तभी वह प्रगति कर सकता है। अगर व्यक्ति में ये गुण अपेक्षित मात्रा में नहीं हैं तो गाँव के श्रमनिष्ठ जीवन में 'उसका मस्तिष्क, अपेक्षित प्रेरणा के अभाव में सिकुड़कर कठोर हो जाता है और वह व्यक्ति स्वार्थी, इंद्रियलोलुप, गँवार और क्रूर-हृदय हो जाता है।' (बायोग्राफिया लिटरारिया', अध्याय 17) अशिक्षित व्यक्ति जो कुछ व्यक्त करता है उसके निर्माणक घटक असम्बद्ध और खण्डित होते हैं। उसमें परिप्रेक्ष्य की कमी होती है। परिप्रेक्ष्य के आधार पर व्यक्ति में यह योग्यता आती है कि वह जो कुछ कहने जा रहा है उसे अपनी संपूर्ण में पहले से देख सके ताकि वह अपने कथन के विभिन्न हिस्सों को, उनके सापेक्षित महत्व के अनुसार इस प्रकार नियोजित कर सके कि वह उसे तत्काल और एक व्यवस्थित इकाई के रूप में व्यक्त कर दे।' (वही, अध्याय 18) इंगलैंड के ऊपर भाग के जिन निवासियों के आचार-व्यवहार की वर्डसवर्थ ने प्रशंसा की है उन्हें अच्छी शिक्षा मिली थी और इसी स्तर के अन्य लोगों की तुलना में वे अधिक अच्छे पाठक थे।

आमुख में वर्डसवर्थ ने यह विचार व्यक्त किया था कि 'लिरिकल बैलेड्स' की कविताओं में 'ग्रामीण जनों की भाषा को भी अपनाया गया है (निश्चय ही उन दोषों को दूर करके जो अरुचि तथा जुगुप्सा उत्पन्न करते हैं और ये ही वस्तुतः उनके वास्तविक दोष प्रतीत होते हैं) क्योंकि ऐसे लोग हर घड़ी प्रकृति की सर्वोत्तम वस्तुओं के संपर्क में रहते हैं और भाषा का उत्तमांश उनसे ही प्रसूत है।' वर्डसवर्थ के इस कथन पर आपत्ति करते हुए कॉलरिज ने लिखा कि ग्रामीण भाषा को यदि क्षेत्रीयता, ग्राम्यता आदि दोषों से मुक्त करके संस्कारित कर दिया गया तो वह ग्रामीण भाषा रही कहाँ - 'किसी ग्रामीण की भाषा को क्षेत्रीयता, ग्राम्यता आदि सभी तरह के दोषों से मुक्त करके यदि उसका परिष्कार कर दिया गया और उसका पुनर्गठन करके उसे व्याकरणिक नियमों.....के अनुरूप ढाल लिया गया तो वह किसी सामान्य व्यक्ति की भाषा से भिन्न नहीं होगी चाहे वह कितना भी पढ़ा-लिखा और संस्कारवान क्यों न हो - सिवाय इसके कि ग्रामीण जो विचार व्यक्त करता है वे अपेक्षाकृत सीमित और गड्ड-मड्ड होते हैं।' (वही, अध्याय 17) पुनः, 'ग्रामीण व्यक्ति अपने सीमित अनुभव और परंपरागत आस्था से जुडे कुछ खंडित तथ्यों को व्यक्त करता है जबकि शिक्षित व्यक्ति वस्तुओं के ऐसे संबंध-सूत्रों को खोजकर व्यक्त करता है जिनके आधार पर कमोबेश किसी सामान्य नियम का निगमन किया जा सकता है।' (वही) दूसरे, कॉलरिज यह भी नहीं मानते कि ग्रामीण व्यक्ति जिन वस्तुओं से परिचित होता है और उनसे जो शब्द और मुहावरे ग्रहण किए जाते हैं वे भाषा के सर्वोत्तम अंश का निर्माण करते हैं। कॉलरिज के शब्दों में, 'जो सही मायनों में मानव-भाषा का सर्वोत्तम अंश कहलाता है वह स्वयं मानसिक क्रियाकलाप के अनुचिंतन से उद्भूत होता है!' ('The best part of human language, properly so called, is derived from reflections on the acts of the mind itself.')

वर्डसवर्थ ने 'मनुष्यों की यथार्थ भाषा के चयन' (a selection of the real language of men), 'स्वयं मानवीय भाषा' (the very language of men), 'मनुष्यों द्वारा वास्तव में व्यवहृत भाषा का चयन' (a selection of language really used by men) जैसे पदबंधों में 'real' (यथार्थ) शब्द का बार-बार प्रयोग किया है। इस शब्द पर आपत्ति करते हुए कॉलरिज ने पूछा कि 'रियल' शब्द से वर्डसवर्थ का आखिर आशय क्या है? प्रत्येक व्यक्ति की भाषा 'उसके ज्ञान

के विस्तार, क्षमताओं की क्रियाशीलता और संवेदनाओं की गहराई या तीव्रता के अनुसार अलग-अलग होती है।' (वही) एक शिक्षित मनुष्य की भाषा अशिक्षित ग्रामीण की भाषा से भिन्न होगी किंतु इसका यह अर्थ नहीं कि उसकी भाषा यथार्थ नहीं है। शिक्षित मनुष्य की भाषा वैसी ही यथार्थ है जैसी एक अशिक्षित ग्रामीण की भाषा। कॉलरिज के अनुसार हर मनुष्य की भाषा का स्वरूप तीन कारणों से निर्धारित होता है - (क) मनुष्य की वैयक्तिक विशेषताएँ, (2) उसकी वर्गीय विशेषताएँ; और (ग) सामान्य शब्दों और मुहावरों की अंतर्निहित विशेषताएँ। इन्हीं तीन कारकों के आधार पर लोगों की भाषा परस्पर भिन्न होती है। कॉलरिज का कहना है कि 'यथार्थ' (real) के स्थान पर वर्डसवर्थ को 'साधारण' (ordinary) या 'सामान्य' शब्द का इस्तेमाल करना चाहिए। विभिन्न भाषायी रूपों से उनकी विलक्षणताएँ हटा दीजिए, फिर जो भाषा बचेगी वह सभी के लिए सामान्य होगी। जैसा कि दाँते ने कहा है कि अपने विकास से पहले हर देश की 'सामान्य भाषा' अंशों में सभी जगह मौजूद रहती है, किंतु संपूर्ण में कहीं भी नहीं। (वही)

5. 'मनुष्यों की यथार्थ भाषा' और 'निम्न तथा ग्रामीण जनों' को महत्व देने के बावजूद आमुख में कुछ ऐसे कथन आते हैं जो वर्डसवर्थ की मूल धारणाओं को परिसीमित या संशोधित करते दिखाई देते हैं। 'मनुष्यों की यथार्थ भाषा' के साथ-साथ कवि जब यह चयन करता है उस समय वह 'तीव्र अनुभूति की दशा में' (in a state of vivid sensation) होता है। कॉलरिज ने 'तीव्र अनुभूति की दशा में' पदबंध के योग से 'मनुष्यों की यथार्थ भाषा' पर कोई खास असर नहीं पड़ता। तीव्र अनुभूति की दशा में मनुष्य कोई नवीन शब्दावली की उद्भावना नहीं कर लेता। वे शब्द बोलचाल की भाषा में पहले से विद्यमान रहते हैं। होता सिर्फ यह है कि भाव का आवेग उस शब्दावली को अधिक गतिशील कर देता है - 'भाव की ऊष्मा विचारों या बिम्बों के बीच जो भी नवीन संबंध स्थापित करे, सत्य या अनुभूति का जो भी साधारणीकरण करे, उनके सम्प्रेषक शब्द तो बोलचाल में पहले से विद्यमान रहते हैं। असाधारण उत्तेजना से वे केवल एक-साथ एकत्र होकर सघन हो जाते हैं।'

6. वर्डसवर्थ के इस कथन को कॉलरिज ने अपनी विशेष आलोचना का लक्ष्य बनाया कि 'कविता और छंदोबद्ध रचना की भाषा में तत्वतः न तो कोई अंतर है और न हो सकता है।' (There neither is, nor can be, any essential difference between the language of prose and metrical composition) इस धारणा पर कुछ विस्तार से विचार करने से पहले वर्डसवर्थ ने 'essential' शब्द का निहितार्थ स्पष्ट करने का प्रयास किया। उसके अनुसार, 'essence' (तत्व) शब्द के दो अर्थ हैं। इसका पहला या मूल अर्थ है - वैयक्तिकता (individualation) का सिद्धांत - अर्थात् किसी वस्तु की, उस वस्तु-विशेष के रूप में, संभावना का अंतरतम सिद्धांत। इस शब्द का कमोबेश वही अर्थ है जो दर्शनशास्त्र में विचार या प्रत्यय (idea) का। इसके अलावा, इसका एक गौण अर्थ भी है - 'एक ही पदार्थ या विषय के दो रूपांतरों में विभेद।' कॉलरिज के अनुसार इस दूसरे या गौण अर्थ में ही कविता और गद्य की भाषा में अंतर को नकारा जा सकता है। किंतु यदि हम इस शब्द को उसके प्रमुख अर्थ में ग्रहण करें, जैसा कि वर्डसवर्थ ने किया है, तो हम पाएँगे कि भाषा के इन दोनों प्रयोगों में तात्विक अंतर है। कॉलरिज के अनुसार प्रश्न यह नहीं है कि क्या गद्य में ऐसा शब्द-विन्यास नहीं हो सकता जो कविता में भी उतना ही उपयुक्त हो, या फिर क्या अच्छी कविताओं में ऐसी सुंदर पंक्तियाँ या फिर ऐसे वाक्य नहीं मिलते जो गद्य में भी वैसे ही सुंदर लगें। इनमें से किसी भी संभावना से कभी किसी ने असहमति नहीं व्यक्त की और न कभी उसे आशंका की दृष्टि से देखा गया। सही प्रश्न यह होगा कि क्या कभी ऐसी अभिव्यक्ति-पद्धतियाँ, वाक्य-रचना या वाक्य-विन्यास के ऐसे ढंग नहीं होते जो गद्य में तो एकदम उपयुक्त हों किंतु छंदोबद्ध रचना में एकदम बेढंगे और विजातीय माने जाएँ। दूसरी ओर, किसी गंभीर कविता में क्या ऐसा शब्द-क्रम, वाक्य-विन्यास या अलंकार-विधान नहीं हो सकता जो कविता में तो एकदम उपयुक्त हो किंतु गद्य में दोषपूर्ण और विजातीय हो। इन दोनों उदाहरणों में एक के स्थान पर दूसरा प्रायः अनुपयुक्त होगा और होना चाहिए। अतः कॉलरिज ने ज़ोर देकर कहा कि 'तत्वतः' का जो भी अर्थ लिया जाए, 'गद्य और छंदोबद्ध रचना की भाषा में अंतर हो सकता है, है और होना चाहिए।

कॉलरिज ने वर्डसवर्थ के काव्य-भाषा संबंधी विचारों की जो आलोचना की है उसमें सूक्ष्मता एवं गहराई है, इसमें संदेह नहीं। किंतु यदि हम पूरे संदर्भ को ध्यान में रखें तो कुल मिलाकर कॉलरिज की इस आलोचना को बहुत उचित नहीं माना जा सकता - विशेष रूप से इसलिए कि आमुख में व्यक्त

वर्डसवर्थ के विचारों में स्वयं कॉलरिज की हिस्सेदारी थी। आमुख प्रकाशित होने के कुछ समय बाद साउदे के नाम अपने एक पत्र (29 जुलाई, 1802) में वर्डसवर्थ ने यह स्वीकार भी किया था कि आमुख 'एक हद तक मेरा ही मानस-पुत्र' ('half a child of my own brain') था। आमुख में कविता का स्वरूप और काव्य-भाषा के बारे में जो विचार व्यक्त किए गए हैं उनका एक सीमित संदर्भ है। यह संदर्भ है - 'लिरिकल बैलेड्स' में संग्रहीत कविताएँ। ये कविताएँ भी प्रयोग के रूप में थीं। आमुख के आरंभ में ही उन्होंने इस तथ्य को रेखांकित किया है - 'इसे प्रयोग के रूप में प्रकाशित किया गया था। मुझे आशा थी कि इस प्रयोग से यह पता लगाने में कुछ मदद मिल सकेगी कि मानव की यथार्थ भाषा को यदि तीव्र अनुभूति की दशा में छंद में ढाला जाए तो उससे क्या वैसा और उतना ही आनंद प्राप्त हो सकता है जितना कोई कवि सोच-समझकर प्रदान करने की कोशिश करता है।' अतः वर्डसवर्थ ने काव्य-भाषा के बारे में जो विचार व्यक्त किए हैं वे मुख्य रूप में 'लिरिकल बैलेड्स' में संग्रहीत कविताओं के संदर्भ में हैं। 1815 के संस्करण की भूमिका में वर्डसवर्थ ने स्पष्ट लिखा था कि इस परिवर्धित संस्करण की कविताओं में इतनी विविधता है कि आमुख में व्यक्त विचार इनपर लागू नहीं होते और इनकी भूमिका के रूप में इन विचारों को उचित नहीं माना जा सकता। कॉलरिज ने जान-बूझकर इस संदर्भ की उपेक्षा कर दी है और वर्डसवर्थ के काव्य-भाषा संबंधी विचारों को हर तरह की कविता पर लागू करने का प्रयास किया है जो उचित नहीं है। यदि इस संदर्भ को ध्यान में रखा जाए तो कॉलरिज के अधिकांश आरोपों का निराकरण हो जाता है। दूसरे, वर्डसवर्थ भी यह मानते हैं कि मुख्य चीज़ कवि की अनुभूति है, भाषा का स्थान बाद को आता है। आमुख में उन्होंने अनुभूति और अभिव्यक्ति की परस्पर अनुरूपता पर बार-बार ज़ोर दिया है - 'मैं समझता हूँ कि इन कविताओं में मिथ्या-चित्रण का दोष शायद ही कहीं हो। मैंने अपने विचार अवसरानुरूप भाषा में व्यक्त किए हैं।' यहाँ जिस तरह की भाषा का पक्ष ग्रहण किया गया है वह 'लिरिकल बैलेड्स' की कविताओं के लिए एकदम उपयुक्त है। आमुख में 'as far as possible' (यथासंभव) पदबंध का प्रयोग बार-बार आया है जिससे यह संकेत मिलता है कि ज़रूरत पड़ने पर ग्रामीण भाषा से बाहर भी जाया जा सकता है। तीसरे, 'यथार्थ' भाषा से वर्डसवर्थ का आशय 'ग्रामीण जनों की भाषा' से है और ग्रामीण जनों की भाषा पर वर्डसवर्थ का ज़ोर इसलिए है कि 'लिरिकल बैलेड्स' की कविताओं के संदर्भ में यही भाषा यथार्थ है। चौथे, वर्डसवर्थ ने जहाँ ग्रामीण भाषा के क्षेत्रीयता, ग्राम्यता आदि दोषों से मुक्त होने की बात कही है वहाँ उनका संकेत शब्दावली की तरफ़ है, व्याकरणिक संरचना की तरफ़ नहीं - जैसा कि कॉलरिज ने प्रतिपादित किया है। एक शहरी पढ़े-लिखे मनुष्य की तुलना में ग्रामीण व्यक्ति की शब्दावली निश्चय ही सीमित होती है। पाँचवे, वर्डसवर्थ भी यह नहीं मानते कि 'तीव्र अनुभूति की दशा में' भाषा का स्वरूप बदल जाता है। उनका आशय केवल यह है कि इस स्थिति में भाषा कविता की भाषा के अधिक नज़दीक होती है क्योंकि उसकी शक्ति और जीवंतता में वृद्धि हो जाती है। छठे, गद्य और कविता की भाषा का अंतर रेखांकित करते समय भी कॉलरिज ने प्रसंग को ध्यान में नहीं रखा है। वर्डसवर्थ भी यह मानते थे कि गद्य और कविता की शब्दावली यद्यपि एक होती है किंतु उनका संयोजन भिन्न होता है। वास्तव में वर्डसवर्थ काव्यात्मक शब्दों के प्रयोग (use of poetic words) के खिलाफ थे, शब्दों के काव्यात्मक प्रयोग (poetic use of words) के नहीं।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि काव्य-भाषा के बारे में कॉलरिज के विचारों में यद्यपि पर्याप्त गहराई है किंतु वर्डसवर्थ की काव्य-भाषा संबंधी अवधारणा को लेकर उनकी टिप्पणियाँ उतनी संतोषजनक नहीं हैं। इसका मूल कारण यह है कि इन टिप्पणियों के दौरान उन्होंने संदर्भ को ध्यान में नहीं रखा है। कॉलरिज ने सामान्य रूप से काव्य-भाषा पर विचार किया है जबकि वर्डसवर्थ ने 'लिरिकल बैलेड्स' में संगृहीत कविताओं के विशेष संदर्भ में अपने विचार व्यक्त किए हैं। वर्डसवर्थ का आलोचना-साहित्य परिमाण में अधिक नहीं है, फिर भी इसमें रचनात्मक अंतर्दृष्टि का उन्मेष देखा जा सकता है।

14.5 सेमुअल टेलर कॉलरिज़ (1772-1834)

स्वच्छंदतावाद के प्रवर्तकों में वर्डसवर्थ के साथ कॉलरिज का नाम भी बहुत आदर से लिया जाता है। उन्होंने अपना जीवन कवि के रूप में आरंभ किया, किंतु शीघ्र ही वे काव्य-रचना से विरत होकर दर्शन, मनोविज्ञान और साहित्य-समीक्षा की ओर उन्मुख हो गए। उन्होंने आलोचना को दर्शन और मनोविज्ञान से सम्बद्ध किया। उनका अध्ययन व्यापक और गंभीर था। उस समय तक विकसित ज्ञान-विज्ञान का शायद ही कोई ऐसा क्षेत्र हो जिस तक उनकी पहुँच न हो। **'बायोग्राफिया लिटरेरिया'** (1817) उनकी प्रमुख आलोचना-कृति है जिसमें **दर्शन और साहित्य-समीक्षा का संयोग स्पष्ट दिखाई देता है।** शेक्सपियर, मिल्टन और वर्डसवर्थ उनके प्रिय कवि थे और उनकी रचनाओं के गंभीर अनुशीलन के

आधार पर उन्होंने अपने आलोचना-प्रतिमानों का विकास किया था। अपने आलोचना-कर्म द्वारा वे रचना के सिद्धांतों का प्रतिपादन करना चाहते थे। इसी संदर्भ में उन्होंने सृजन-प्रक्रिया तथा कवि-प्रतिभा की तलस्पर्शी व्याख्या की और कल्पना को स्वच्छंदतावादी साहित्य के बीज शब्द के रूप में प्रतिष्ठित किया। ऊपरी तौर पर अव्यवस्थित दिखाई देते हुए भी उनके आलोचना-साहित्य में जगह-जगह सूक्ष्म अंतर्दृष्टि के संकेत हैं। इन्हीं अंतर्दृष्टियों की वजह से उन्हें अरस्तू और लांजाइनस के बाद तीसरा सबसे महत्वपूर्ण आलोचक माना जाता है और उनकी आलोचना-कृति 'बायोग्राफिया लिटरेरिया' (1817) को अंग्रेज़ी में 'आलोचना की सबसे महान पुस्तक' की संज्ञा दी गई है।

वर्डसवर्थ और कॉलरिज चूँकि समसामयिक थे, मित्र थे और उनकी काव्य-चेतना का विकास साथ-साथ हुआ था, अतः उनका युग और परिवेश प्रायः एक-जैसा था। परिवेश की इस समानता की वजह से उनके विचारों में समानता होना स्वाभाविक था। दोनों ने फ्रांसीसी क्रांति और मानव-प्रगति के दृढ़ समर्थक के रूप में अपने साहित्यिक जीवन की शुरूआत की थी। आगे चलकर, कदाचित् उत्पीड़न की आशंका से, उन्होंने फ्रांसीसी क्रांति को यद्यपि खुला समर्थन देना बंद कर दिया, किंतु अपने सबसे सर्जनात्मक दौर में उनकी मानव-प्रगति और लोकतंत्रवादियों में अविचल आस्था रही। दोनों राजतंत्र और अभिजात वर्ग के विरोधी थे और उच्च वर्ग की व्यापारिक सभ्यता को घृणा की दृष्टि से देखते थे। अपने कृतित्व के सबसे सर्जनात्मक चरण में दोनों बेकन, लॉक, ह्यूम, हार्टले और गॉडविन की भौतिकवादी उग्र-सुधारवादी परंपरा से प्रभावित थे। इन दार्शनिकों के विचार एक-जैसे नहीं थे किंतु ये सभी एक सामान्य परंपरा के अंग थे और इस परंपरा में वर्डसवर्थ और कॉलरिज दोनों की आस्था थी। ज़मींदार-अभिजात वर्ग के विरोध ने उन्हें शासक वर्ग की संस्कृति का विरोधी बना दिया था। नव्यशास्त्रवादी काव्य-भाषा और काव्य-सिद्धांतों की दोनों ने ही कटु आलोचना की थी और यह प्रकारांतर से अभिजातवर्गीय संस्कृति का विरोध था। अपने बौद्धिक विकास के एक चरण में दोनों के विचारों में काफी हद तक समानता थी। दोनों में मुख्य अंतर यह था कि वर्डसवर्थ कवि बड़े थे जबकि कॉलरिज की विश्लेषण-प्रतिभा अधिक प्रखर थी।

अपनी साहित्यिक चेतना के विकास के आरंभिक चरण में वर्डसवर्थ की भाँति कॉलरिज पर भी सबसे महत्वपूर्ण प्रभाव फ्रांसीसी क्रांति का था। 1798 में कॉलरिज ने एक कविता लिखी - 'फ्रांस ऐन ओड'। इसमें उन्होंने फ्रांसीसी क्रांति का खुला समर्थन किया हालाँकि उन दिनों इंगलैंड और फ्रांस के बीच युद्ध चल रहा था। फ्रांसीसी राज्य-क्रांति ने स्वतंत्रता, समानता और भाईचारे का संदेश दिया था। किंतु फ्रांस अपने उपनिवेश बना रहा था और इंगलैंड भी पूरे ज़ोर-शोर से साम्राज्यवाद के प्रचार-प्रसार में लगा हुआ था। अन्य स्वच्छंदतावादी कवियों की तरह कॉलरिज ने भी उपनिवेशवाद की कटु आलोचना की। 1798 में ही अपनी एक अन्य कविता 'फियर्स इन सॉलिच्यूड' में उन्होंने ब्रिटेन की साम्राज्यवादी नीतियों का विरोध किया। 1799 में उन्होंने वर्डसवर्थ को यह सुझाव दिया कि वे फ्रांसीसी क्रांति के बारे में अतुकांत छंद (ब्लैंक वर्स) में एक कविता लिखें। इस कविता में क्रांति के बाद जो मोहभंग का वातावरण व्याप्त हो गया है उसके खिलाफ संघर्ष का संदेश रहे। साथ ही, उनका प्रयास था कि रूसो आदि स्वप्नदर्शी दार्शनिकों के प्रति जो एक प्रकार की घृणा की भावना पैदा हो गई है वह दूर हो। धीरे-धीरे वर्डसवर्थ और कॉलरिज दोनों का, संभवतः उत्पीड़न की आशंका से, फ्रांसीसी क्रांति के प्रति उत्साह कम होता गया। प्रतिक्रियावादी शक्तियों ने बुद्धिजीवियों के खिलाफ यह माहौल बनाया कि जो लोग फ्रांस के खिलाफ युद्ध के समर्थक नहीं हैं, वे देशद्रोही हैं। अभिजात वर्ग के लोग वर्डसवर्थ को विशेष रूप से शक की निगाह से देखते थे क्योंकि वे फ्रांस के प्रति सहानुभूति रखने के साथ-साथ गणतंत्रवादी थे, गॉडविन के शिष्य थे और नास्तिक थे। उनके पीछे जासूस लगा दिए गए थे। इसीलिए वर्डसवर्थ लोगों से चर्चा करते समय हर विषय पर बात करते थे लेकिन राजनीति के बारे में भूलकर भी चर्चा नहीं करते थे। एक बार कॉलरिज ने पड़ोस के एक जासूस-चाटुकार को किसी से कहते सुना - 'जहाँ तक कॉलरिज का संबंध है, उससे कोई विशेष हानि नहीं है। वह ऐसा घनचक्कर है कि उसके मन में जो कुछ आए बक देता है। किंतु यह - ! (अर्थात् वर्डसवर्थ) यह तो छिपा हुआ गद्दार है। यह तो इस विषय में कोई बात ही नहीं करता।' ('बायोग्राफिया लिटरेरिया 4, पृ.102-103) कॉलरिज के एक मित्र थे - थेलवाल। 19 अगस्त, 1797 के एक पत्र में कॉलरिज ने उन्हें सूचित किया कि 'अभिजात वर्ग के लोग वर्डसवर्थ तक को उत्पीड़ित करने के लिए कृतसंकल्प हैं।'

औद्योगिक क्रांति के बाद इंगलैंड में वाणिज्यिक गतिविधियों की वजह से जो नैतिक पतन फैल रहा था उसके प्रति कॉलरिज ने गहरी चिंता व्यक्त की थी। वर्डसवर्थ भी साहित्यिक अभिरुचि भ्रष्ट होने का मूल कारण इन वाणिज्यिक गतिविधियों को ही मानते थे और अपने प्रसिद्ध आमुख में उन्होंने इसका उल्लेख भी किया था। कॉलरिज लोगों के बड़े शहरों में इकट्ठे होते जाने के खिलाफ थे। उनका

सपना अमरीका जाकर एक ऐसी बस्ती बसाने का था जिसमें असमान आर्थिक संबधों का कोई स्थान न हो क्योंकि सभी बुराइयों का स्रोत सम्पत्ति है - 'अस्थिरता, भ्रष्टाचार, वेश्यावृत्ति का यथार्थ स्रोत है - सम्पत्ति। हर अच्छी चीज़ के साथ मिलकर यह उसे विषाक्त कर देती है। निस्संदेह यह सभी बुराइयों की जड़ है।' (थेलवाल के नाम 13 मई, 1796 का पत्र)

कॉलरिज धर्म के मामले में पर्याप्त सहिष्णु थे। उनके भाई पादरी थे और उनके पिता पादरी रहे थे। स्वयं उन्होंने भी थोड़े-बहुत धर्मोपदेश दिए थे। किंतु वे पादरी वर्ग से घृणा करते थे। उनके अनेक ऐसे मित्र थे जो नास्तिक थे। ऐसे ही एक मित्र थे - थेलवाल। अपने अनेक पत्रों में उन्होंने अपने-आपको 'निष्ठावान मसीही' कहा है। किंतु वे कैसे मसीही थे, इसका पता थेलवाल के नाम उनके एक पत्र (जनवरी, 1801) से चलता है - 'धर्म के मामले में आपने मुझे पूरी तरह गलत समझा है। आप अपनी पत्नी को, बच्चों को, दोस्तों को प्यार करते हैं, आप प्रकृति को प्यार करते हैं और मानव-जाति की प्रगति में आपको आशा ही नहीं बल्कि विश्वास है। यही सच्चा धर्म है। पवित्र पुस्तक (बाइबिल) की ऐतिहासिक विश्वसनीयता या अविश्वसनीयता के बारे में आपके क्या विचार हैं, आप अलौकिक ईश्वर या व्यक्तिगत ईश्वर के अस्तित्व को मानते हैं या नहीं, इस बात से मुझे कोई मतलब नहीं है - ये सब जादुई लालटेनों के चित्र भर हैं। मैं अपना धर्म निभाता हूँ, आप अपना।'

कॉलरिज की आरंभिक शिक्षा 'क्राइस्ट्स हॉस्पिटल' स्कूल में हुई। इस स्कूल के प्रधानाध्यापक थे - जेम्स बोएर जो उन्हें अंग्रेज़ी पढ़ाते थे। उनकी यह मान्यता थी कि कविता का भी अपना एक तर्क होता है जो विज्ञान की तरह ही सुनिश्चित किंतु विज्ञान की अपेक्षा अधिक कठिन होता है। बोएर ने उन्हें यह सिखाया कि 'जो कवि सही मायनों में महान हैं उनमें हर शब्द ही नहीं, हर शब्द की स्थिति का भी कोई न कोई कारण होता है। ..... यदि किसी बात को, पूरी गरिमा और शक्ति के साथ, सीधे-सादे शब्दों में व्यक्त किया जा सके तो रूपक के प्रयोग से यथासंभव बचना चाहिए।' ('बायोग्राफिया लिटरेरिया', अध्याय 1) बोएर की शिक्षा आगे चलकर काव्य-रचना और आलोचना-प्रतिमानों के निर्माण में बहुत सहायक सिद्ध हुई।

जब कॉलरिज पन्द्रह वर्ष के भी न थे तो उन्हें तत्वमीमांसा और धर्मशास्त्रीय विवाद का चस्का लग गया। और कुछ अच्छा ही न लगता था। इतिहास ही नहीं, कविता और उपन्यास से भी अरुचि होने लगी। इस प्रवृत्ति से उनकी प्रतिभा और शैक्षिक प्रगति को काफी आघात पहुँचा। इन्हीं दिनों बाउल्स[1] की कविताओं का एक संग्रह उनके हाथ लगा। इन कविताओं ने उनकी सौंदर्य-चेतना को फिर से जाग्रत किया। कल्पना, प्रकृति और रूप तथा ध्वनियों के संसार में उन्हें फिर से आकर्षण दिखाई देने लगा। बाउल्स में पहली बार उन्हें हृदय (भाव) और बुद्धि (विचार) का वह सामंजस्य दिखाई दिया जो मौलिक प्रतिभा की महत्वपूर्ण विशेषता है। कॉलरिज के अनुसार 18वीं सदी की काव्य-परंपरा में वह पहला कवि है जिसने सहज-स्वाभाविक विचारों को सहज-स्वाभाविक भाषा में व्यक्त किया है।

अक्तूबर, 1791 में कॉलरिज ने जेसस कॉलेज कैम्ब्रिज में प्रवेश लिया। अगले साल जुलाई में उन्होंने यूनानी भाषा में एक कविता लिखी जिसे एक प्रतियोगिता में ब्राउन स्वर्ण पदक से सम्मानित किया गया। इस कविता में दास-व्यापार पर प्रहार किया गया था। 1790 का दशक ब्रिटिश सुधारवादियों और क्रांति के समर्थकों के लिए बड़ा कठिन समय था। पिट की टोरी सरकार ने उनके उत्पीड़न का कोई मौका हाथ से जाने नहीं दिया। जुलाई, 1791 में चर्च और राजतंत्र की समर्थक हिंसक भीड़ ने प्रसिद्ध वैज्ञानिक जोसेफ प्रीसले[2] के मकान, पूजाघर और प्रयोगशाला को जला दिया। 1792 में टॉम पेन की प्रसिद्ध रचना 'राइट्स ऑफ मैन' (मानव के अधिकार) को ग़ैर-कानूनी घोषित कर दिया गया। इसी वर्ष जैसस कॉलेज के एक फैलो विलियम फ्रेंड को विश्वविद्यालय से निकाल दिया गया। 1793 में वर्डसवर्थ का पहला कविता-संग्रह 'डिस्क्रिप्टिव स्केचेज' प्रकाशित हुआ जिसे देखकर कॉलरिज ने कहा कि 'साहित्य क्षितिज पर एक मौलिक काव्य-प्रतिभा का उदय हुआ है।' ('बायोग्राफिया लिटरेरिया', अध्याय 4) जून, 1794 में कॉलरिज की भेंट साउदे से हुई जो तत्काल ही मित्रता में परिणत हो गई। गॉडविन की पुस्तक 'पॉलिटिकल जस्टिस' (1793) कुछ समय पहले ही प्रकाशित हुई थी। इसे पढ़कर साउदे गॉडविन के अनुयायी हो गए। गॉडविन ने मूल पाप (मनुष्य मूलतः पापी है) की मसीही धारणा के प्रति अपनी असहमति व्यक्त करते हुए लिखा था - 'यह एकदम मिथ्या है। यह सरकार और सम्पत्ति

[1] विलियम बाउल्स (1762-1850) - प्रसिद्ध पूर्व-स्वच्छंदतावादी कवि। कॉलरिज के एक वरिष्ठ साथी ने 'फोर्टीन सॉनेट्स' (1789) नामक संग्रह भेंट किया था जो अभी ताज़ा-ताज़ा प्रकाशित हुआ है।

[2] जोसेफ प्रीसले (1703-1804), जिन्होंने ऑक्सीज़न और कार्बन मोनोक्साइड की खोज की थी।

की राक्षसी संतान है। इन दोनों का स्रोत अन्याय में निहित है।' साउदे से संपर्क के बाद कॉलरिज भी अपने उग्र-सुधारवादी राजनीतिक विचारों को व्यक्त करने लगे। भेंट के कुछ सप्ताह बाद ही लोकतंत्र, गणतंत्रवाद, मानव-प्रेम, समतामूलक राज्य-व्यवस्था और भाईचारे के बारे में उन्होंने अपने विचारों को खुले तौर पर व्यक्त करना आरंभ कर दिया। 1794 में ही उन्होंने स्नातक उपाधि लिए बिना विश्वविद्यालय छोड़ दिया।

राजनीति, दर्शन आदि के बारे में कॉलरिज के विचारों में बदलाव धीरे-धीरे आया। पहले वे न्यूटन, बेकन, लॉक, हार्टले आदि के भौतिकवादी-अनुभववादी दर्शन से प्रभावित हुए - विशेष रूप से हार्टले के साहचर्यवादी सिद्धांत से। इस सिद्धांत की मान्यता यह है कि विचारों के साथ-साथ रहने से उनमें एक-दूसरे के पुनःस्मरण की शक्ति आ जाती है। दूसरे शब्दों में हर आंशिक चित्रण उस पूरे चित्र का बिंब जगा देता है जिसका वह अंग रहा है। 1794 में अपने एक पत्र में उन्होंने लिखा - 'बड़े परिश्रम से और पूरी गहराई से लॉक, हार्टले आदि का अध्ययन करने के बाद मुझे स्वयं यह लगने लगा है कि, मानव-जाति कमोबेश पूर्णता के बिंदु को हासिल कर सकती है।' (अपने भाई जॉर्ज के नाम 6 नवम्बर, 1794 का पत्र।) इस परंपरा के अध्ययन से कॉलरिज की यह धारणा बनी कि हम इंद्रियों के माध्यम से ही ज्ञान प्राप्त करते हैं - 'स्वयं बुद्धि के सिवा बुद्धि में कोई ऐसी चीज़ नहीं है जो पहले इंद्रियों में न रही हो।' ('बायोग्राफिया लिटरेरिया', अध्याय 9) साथ ही, मानव जाति उत्तरोत्तर प्रगति की दिशा में आगे बढ़ती जाती है।

इन्हीं दिनों कॉलरिज बर्कले की रचना 'प्रिंसिपल्स ऑफ ह्यूमन नॉलेज' (मानव ज्ञान के सिद्धांत) से प्रभावित हुए। इन सभी दार्शनिकों के सामने हमेशा एक समस्या थी जिसे उन्हें हल करना था और वह यह कि हमारे विचारों (जो मानसिक हैं) और वस्तुओं (जो बाहरी दुनिया में हैं) के बीच संबंध का स्वरूप क्या है। बर्कले ने विचारों को अधिक महत्व देते हुए कहा कि बाह्य जगत में हम जो चीज़ें देखते हैं वे वास्तव में मानसिक वस्तुएँ हैं। हमें लगता है कि हम वस्तुओं को देख रहे हैं किंतु वास्तव में जो चीज़ हम देखते हैं वे हमारे अपने विचार ही हैं। 1796 में कॉलरिज ने अपने एक पुत्र का नाम हार्टले रखा और 1798 में दूसरे पुत्र का नाम बर्कले। इस प्रकार उन्हें लॉक और बर्कले दोनों परंपराओं के प्रति अपना आदर व्यक्त किया। साहचर्य सिद्धांत के बारे में उनकी जिज्ञासा थी कि किन स्थितियों से साहचर्य शक्ति स्मृति या ललित कल्पना का रूप ग्रहण कर लेती है और ललित कल्पना और स्मृति के बाद मानव-मस्तिष्क के जो काम बच रहते हैं उनका संबंध किससे है। शीघ्र ही उन्हें लगने लगा कि साहचर्य सिद्धांत यांत्रिक है। इसमें इच्छा-शक्ति, तर्क, निर्णय और विवेक को साहचर्य का निर्धारक न मानकर उसका यांत्रिक प्रभाव मान लिया गया है। यदि ऐसा होता तो हमारा सारा जीवन बाह्य जीवन के यांत्रिक बिंबों और निरर्थक-निष्क्रिय स्मृति की निरंकुशता में बँट गया होता। दार्शनिक दृष्टि से व्यवहार में इसका अर्थ होता पूर्ण अव्यवस्था। सच पूछा जाए तो हर स्थिति में और हर समय इच्छा-शक्ति और विवेक सक्रिय रहते हैं। 'वे पूरी तरह निलंबित कभी नहीं होते।'

सितम्बर, 1798 में कॉलरिज जर्मनी गए और वहाँ लगभग नौ महीने रहकर जुलाई, 1799 में वापस आए। वहाँ उन्होंने कांट, शैलिंग, फिक्टे आदि जर्मन दार्शनिकों का गहराई से अध्ययन किया। जर्मनी के भाववादी दर्शन ने उन्हें गंभीर रूप से प्रभावित किया। 1795 में उनकी पहली बार वर्ड्सवर्थ से भेंट हुई थी। तभी उनके मुख से एक कविता सुनकर उनके सामने कल्पना का स्वरूप स्पष्ट हुआ था। कांट और शेलिंग के विचारों में उन्हें कल्पना के बारे में अपने मत की पुष्टि होती दिखाई दी। जर्मन दर्शन के प्रभाव से उनकी यह धारणा बनी कि बाह्य जगत के बारे में हमारी जानकारी न तो पूरी तरह सर्जनात्मक है और न पूरी तरह ऐंद्रिय बोध पर आधारित। यह दोनों का मिश्रण है। कल्पना वह शक्ति है जो हमें मात्र ऐंद्रिय बोध से आगे जाने में सक्षम बनाती है और संवेदन (sensation) तथा विचार की खाई को पाटती है। इस प्रभाव को, जैसा कि रेने वेलेक जैसे कुछ विद्वानों ने दिखाया है, बहुत बढ़ा-चढ़ाकर दिखाना उचित नहीं होगा। उन्होंने प्रभाव प्रायः वहीं ग्रहण किए जहाँ उन्हें अपने चिंतन की पुष्टि होती दिखाई दी। निर्णायक प्रभाव उनके अपने चिंतन और अंग्रेज़ी काव्य-परंपरा का ही रहा। अपने मित्र थेलवाल के नाम अपने एक पत्र (दिसम्बर, 1796) में उन्होंने लिखा भी - 'मेरे दार्शनिक विचार मेरी संवेदनाओं से समन्वित हैं या उनकी देन हैं और इससे मेरी लेखन-शैली में भी एक विलक्षणता आ जाती है।'

14.5.1 कविता की परिभाषा

कॉलरिज के अनुसार गद्य और कविता दोनों का माध्यम एक ही है। दोनों ही माध्यम रूप में शब्दों का प्रयोग करते हैं। किंतु दोनों में अंतर यह है कि दोनों अपने-अपने प्रयोजन के अनुरूप शब्दों का प्रयोग अलग ढंग से करते हैं। इसी प्रयोजन के आधार पर कविता को परिभाषित करते हुए कॉलरिज ने लिखा

'कविता रचना का वह प्रकार है जो वैज्ञानिक कृतियों से इस अर्थ में भिन्न है कि उसका तात्कालिक प्रयोजन आनंद है, सत्य नहीं; और रचना के अन्य सभी प्रकारों से इसका अंतर यह है कि इसमें संपूर्ण से वही आनंद प्राप्त होना चाहिए जो उसके प्रत्येक खंड (घटक) से प्राप्त होने वाले परितोष के अनुरूप हो।' (A poem is that species of composition, which is opposed to works of science, by proposing for its immediate object pleasure, not truth; and from all other species.....it is discriminated by proposing to itself such delight from the whole, as is compatible with a distinct gratification from each component part.)। ('बायोग्राफिया लिटरेरिया', अध्याय 14) इस परिभाषा में कई बातें ध्यान देने योग्य हैं। परिभाषा के पहले भाग में कॉलरिज ने रचनात्मक साहित्य और ज्ञान के साहित्य के बीच भारतीय काव्यशास्त्र की शब्दावली में 'काव्य' और 'शास्त्र' के बीच अंतर किया है। प्रत्येक का एक तात्कालिक प्रयोजन है, दूसरा आत्यंतिक। काव्य का तात्कालिक प्रयोजन है आनंद और शास्त्र (या वैज्ञानिक कृति) का आत्यंतिक प्रयोजन है सत्य। यों काव्य में कोई गंभीर सत्य निहित हो सकता है और कोई वैज्ञानिक रचना अपने पाठक को आनंद प्रदान कर सकती है। ये उनकें आत्यंतिक प्रयोजन हैं। परिभाषा के दूसरे भाग में कॉलरिज ने कविता और रचनात्मक साहित्य के अन्य प्रकारों (उपन्यास, नाटक आदि) में अंतर स्पष्ट करते हुए कविता का वैशिष्ट्य रेखांकित किया है। आनंद तो दोनों में सामान्य है। किंतु कविता मे उसके हर घटक से भी स्पष्ट आनंद की अनुभूति होगी और यह आनंद कुल मिलाकर पूरी कविता के आनंद के अनुरूप होगा। यहाँ स्पष्ट ही बल गठन की पूर्णता और आवश्यकता पर है। साहित्य की अन्य विधाएँ इतनी सुगठित नहीं होतीं। अन्यत्र उन्होंने गद्य और कविता का अंतर बताते हुए लिखा - 'गद्य शब्दों का उत्तम क्रम-विधान है; - कविता उत्तमोत्तम शब्दों का उत्तमोत्तम क्रम-विधान है।' (Prose is words in their best order; - poetry in the best words in the best order)।

कॉलरिज ने कविता में प्रगीत तत्व पर बल दिया है और कई बार प्रगीतात्मकता को कवित्व का पर्याय माना है। इसी आधार पर वे लंबी कविता का अस्तित्व नहीं मानते - 'लंबी कविता पूरी की पूरी न तो कवित्वपूर्ण हो सकती है और न होनी चाहिए।' (A poem of any length neither can be, nor ought to be, all poetry.) ('बायोग्राफिया लिटरेरिया', अध्याय 14) अमरीकी कवि एडगर एलन पो ने कुछ समय बाद एक कदम और आगे बढ़कर कहा कि 'लंबी कविता का अस्तित्व ही नहीं है क्योंकि भावावेग की जितनी मात्रा उसे कविता कहलाने का अधिकारी बनाएगी उसे लंबी रचना में कायम नहीं रखा जा सकता।' पो, कॉलरिज से बहुत प्रभावित भी थे। किंतु दोनों के बलाबल में अंतर है। जहाँ कॉलरिज को लंबी कविताओं के रचे जाने के प्रति कोई आपत्ति नहीं है वहाँ पो लंबी कविता के अस्तित्व से ही इनकार करते हैं। कॉलरिज का मानना था कि जिन अंशों में काव्यात्मकता नहीं है उनमें छंद की सहायता से काव्यात्मकता का संचार हो जाएगा। कॉलरिज ने आधुनिक बोध को प्रभावित करने वाली एक बात यह कही कि 'काव्य सर्वाधिक आनंद तभी देता है जब उसे सामान्य तौर पर समझा जाए, पूरी तरह नहीं।' (Poetry gives most pleasure when only generally understood and not perfectly) (वही) इसका निहितार्थ कवि-कर्म के संदर्भ में कॉलरिज ने संश्लिष्टता और संपूर्णता पर बहुत बल दिया है। उनका आदर्श कवि कल्पनादर्शी न होकर संश्लिष्ट व्यक्तित्व का धनी है - 'अपने आदर्श रूप में कवि मानव की संपूर्ण आत्मा को गतिशील करता है और ऐसा करते समय वह उसकी शक्तियों को, उनके सापेक्षित मूल्य और गरिमा के अनुरूप, एक-दूसरे के अधीन रखता है।' (वही) आत्म-केंद्रित व्यक्ति इस संपूर्णता को हासिल नहीं कर सकता। संपूर्णता की यह चेतना व्यक्ति के इस बोध पर आधारित है कि संपूर्ण विश्व में एक ही शक्ति व्याप्त है। 1803 में उन्होंने लिखा - 'धूमिल विवेक पूर्ण एकता देखता है, शुद्ध विवेक सचेत रूप में इस शक्ति का दर्शन करता है। भेद और अनेकता तो मध्यवर्ती स्थिति है।' इस समग्रता के अभाव में सभी चीज़ें अमूर्त और विच्छिन्न दिखाई देंगी। यथार्थ चित्रण के लिए यह समग्र दृष्टि आवश्यक है - 'सब कुछ एक अनंत गतिशील अमूर्तता है। संपूर्णता ही यथार्थ है।' कवि-कर्म की आधारभूत शक्ति कल्पना उत्तरोत्तर यही समग्र दृष्टि हासिल करने के लिए संघर्ष करती रहती है।

इस संपूर्णता पर बल देने के पीछे कुछ सामाजिक कारण भी हैं। नव्यशास्त्रवादी युग में एक आदर्श पाठक की कल्पना की गई थी। डॉ. जॉनसन बराबर इस 'सामान्य पाठक' की अभिरुचि को संबोधित करने की बात कहते हैं। कॉलरिज के सामने कोई सामान्य या आदर्श पाठक नहीं है। औद्योगिक क्रांति के प्रभाव से एक बहुत बड़ा पाठक वर्ग सामने आ रहा था जिसमें पर्याप्त विविधता थी। व्यापक उथल-पुथल या कॉलरिज के शब्दों में 'दुश्चिंताओं के युग में' ऐसे भाव नहीं हो सकते थे 'जिनकी प्रतिध्वनि हर हृदय' में सुनाई दे। जो साहित्य इस नए पाठक वर्ग को संबोधित हो उसमें पर्याप्त विविधता चाहिए। तभी वह औद्योगिक क्रांति के बाद आने वाले नवीन पाठक वर्ग को चालित कर सकता था। संपूर्णता पर बल के पीछे इसी विविधता की आकांक्षा है। यह कॉलरिज का व्यक्तिगत आदर्श भी है।

विविधता के साथ-साथ कॉलरिज ने एकता या अन्विति पर भी पर्याप्त बल दिया है। एकता के अभाव में विविधता कोई समग्र प्रभाव नहीं छोड़ सकती। उन्होंने ज़ोर देकर कहा है कि 'संपूर्ण विवेक का लक्ष्य और प्रयोजन एकता और व्यवस्था है', बल्कि 'मानवीय विचार और मानवीय संवेदना का अंतिम लक्ष्य एकता है।' हमें ऐसे 'सुनिश्चित प्रतिमानों' का लक्ष्य सामने रखना चाहिए जो 'मानव-प्रकृति' पर आधारित हों - अर्थात् मानव मन का विश्लेषण करके निकाले गए हों। 'पद्धति' (method) कॉलरिज का प्रिय शब्द है जो उनकी आलोचना-दृष्टि को स्पष्ट करने में सहायक सिद्ध होता है। 'पद्धति' का अर्थ है - 'एकता और अग्रगति' (unity and progression)। यह ऐसी शक्ति है जो 'परस्पर मिलाकर एक करती है और मानव-मन में अनेक चीज़ों को एक इकाई में ढालती है।' कॉलरिज ने बार-बार इस बात पर बल दिया है कि 'कविता का सारा आकर्षण, उसका सारा सौंदर्य और उसकी सारी शक्ति पद्धति के दार्शनिक सिद्धांतों पर आधारित है।' इसी प्रकार, औदात्य 'न तो अंगी है और न अंग वरन् ऐसी एकता है जिसमें असीम और अनंत की समग्रता का अंतर्भाव रहता है।'

कॉलरिज के अनुसार श्रेष्ठ काव्य में जो एकता होती है वह आवयविक या जैविक एकता होती है, यांत्रिक नहीं। कविता कोई मशीन नहीं है जिसके हिस्सों को आप जब चाहें तब अलग-अलग कर दें और फिर उन्हें जोड़ दें। कविता एक जैविक इकाई जैसी चीज़ है। उसके विभिन्न अंगों में अंगांगिभाव या आवयविक संबंध रहता है। इसके किसी अंग को निकाल देने पर विभिन्न अंगों का पारस्परिक संबंध तो प्रभावित होगा ही, समग्र रचना पर भी इसका घातक असर पड़ेगा। अतः श्रेष्ठ कविता के किसी अंश को आप मनमाने ढंग से निकाल नहीं सकते। छंद भाव को निरंतरता प्रदान कर इस आवयविकता को पुष्ट करता है। शेक्सपियर जैसे बड़े रचनाकारों के समग्र रचना-संसार में आवयविकता का यह गुण देखने को मिलता है। इस गुण की वजह से आप उसकी रचना के किसी अंश को पूरी रचना को ध्यान में रखे बिना, और किसी एक रचना को उसके समग्र रचना-संसार को ध्यान में रखे बिना समझ नहीं सकते। 'मेरे गीत और कला' में निराला ने अपनी रचनाओं के इसी काव्य-गुण (आवयविकता) की ओर संकेत किया है और पंत जी की कविताओं में इस गुण का अभाव बताया है। आलोचना के संदर्भ में इस आवयविकता का निहितार्थ यह है कि रचना के नियम स्वयं उसी रचना से निकलने चाहिए - 'कल्पना के नियम स्वयं उद्भव और विकास की शक्तियाँ ही हैं।' (The rules of imagination are themselves the very powers of growth and production.) यदि कविता के नियम बाहर से लिए गए (जैसे कि नव्यशास्त्रवादी युग में लिए गए थे) तो कविता कविता न रहकर एक यांत्रिक कला भर बनकर रह जाएगी। आवयविक कला और यांत्रिक कला में अंतर बताते हुए कॉलरिज ने लिखा - 'जब हम किसी दी हुई सामग्री पर ऐसा पूर्व-निर्धारित रूप आरोपित कर देते हैं जो अनिवार्य रूप से उस सामग्री के मूल गुणों से न उपजा हो तो वह यांत्रिक रूप कहलाएगा। इसके विपरीत जैविक रूप अंतर्जात या सहज होता है। जैसे-जैसे अंदर से इसका विकास होता है, वह आकार ग्रहण करता जाता है और उसके विकास की पूर्णता बाह्य रूप की पूर्णता के समरूप होगी।' इसलिए जिस रचना में आवयविकता का यह गुण है उसके विभिन्न अंशों का पूरी रचना के संदर्भ को ध्यान में रखे बिना आनंद नहीं लिया जा सकता।

कॉलरिज के अनुसार **'कविता क्या है?'** यह प्रश्न काफी हद तक इस प्रश्न से जुड़ा हुआ है कि **'कवि किसे कहते हैं?'** एक के उत्तर में दूसरे का उत्तर निहित है क्योंकि कविता का संबंध कवि-प्रतिभा से है। अतः कवि-प्रतिभा की जो मूलभूत विशेषताएँ होंगी वे कविता की मूलभूत विशेषताएँ भी मानी जाएँगी। उन्होंने शेक्सपियर की आरंभिक कविता से दो पंक्तियाँ लेकर उनका विश्लेषण किया और उसके आधार पर मौलिक प्रतिभा के निम्नलिखित चार लक्षण निकाले -

1. इनमें पहला है - **पद्य-रचना का उत्कृष्ट माधुर्य**। कविता का शिल्प तो निरंतर प्रयास और अभ्यास से सीखा जा सकता है किंतु संगीतात्मक आनंद की चेतना, जो वैसा ही आनंद उत्पन्न भी कर सकें, प्रतिभा या कल्पना की देन है। 'जिस मनुष्य की आत्मा में संगीत नहीं है वह कभी सच्चा कवि नहीं हो सकता।' (The man that had not music in his soul can indeed never be a genuine poet.) संगीतात्मक आनंद के साथ ही 'अनेकता को एक समन्वित प्रभाव में ढालने, अनेक विचार-श्रृंखलाओं को संशोधित करके एक मूल विचार या अनुभूति का अंग बनाने की प्रतिभा में सुधार-परिष्कार तो संभव है किंतु इसे सीखा नहीं जा सकता।'

2. कवि-प्रतिभा का दूसरा लक्षण है - लेखक की निजी रुचियों तथा परिस्थितियों से सर्वथा दूरवर्ती विषयों का चयन। 'कवि की एकदम निजी अनुभूतियों से तटस्थता' (utter aloofness of the poet's own feelings) साधारणीकरण की दिशा में प्रेरित करती है और कवि सहज ही पाठक की सहानुभूति अर्जित कर सकता है।

3. बिंब अपने-आप में चाहे कितने भी सुंदर हों और उनका अनुकरण तथा चित्रण कितनी भी ईमानदारी और सटीकता से किया गया हो, प्रतिभा के निदर्शक वे तभी बनते हैं जब वे किसी प्रबल भाव के अंग बनकर आएँ, अथवा जब उनमें 'अनेकता में एकता' या 'अनुक्रम को क्षण' में बदलने की शक्ति हो।

4. मौलिक प्रतिभा का अंतिम लक्षण है - वैचारिक गंभीरता और ऊर्जस्विता (depth and energy of thought)। कोई भी व्यक्ति गंभीर दार्शनिक हुए बिना महान कवि नहीं हुआ क्योंकि कविता मानव के समस्त ज्ञान, भाव, विचार, मनोवेग और भाषा की सुगंध है। शेक्सपियर में सृजन-शक्ति और बौद्धिक ऊर्जा का अद्भुत सामंजस्य मिलता है। कॉलरिज के अनुसार ऐसा इसलिए नहीं था कि शेक्सपियर किसी अलौकिक शक्ति से प्रेरित थे। इसका सीधा-सादा कारण यह था कि उन्होंने 'पहले पूरे धैर्य के साथ अध्ययन किया, गहराई से चिंतन-मनन किया, रेशे-रेशे को समझा जब तक कि वह ज्ञान की आदत और अंतर्ज्ञान का सहज अंग नहीं बन गया।' (first he studied patiently, meditated deeply, understood minuteiy till knowledge become habitual and intuitive.....)।

1. कविता और छंद

वर्डसवर्थ ने छंद को कविता के आभ्यंतर स्वरूप का अंग नहीं माना था। उनके अनुसार छंद का आकर्षण ऊपर चीज़ है (a superadded charm) : यह अनिवार्य नहीं है। कॉलरिज ने वर्डसवर्थ की इस मान्यता का विरोध करते हुए छंद की उत्पत्ति और प्रभाव पर विचार किया। कॉलरिज के अनुसार, 'भाव की गतिविधियों को नियंत्रण में रखने के सहज प्रयास के प्रभावस्वरूप जो मानसिक संतुलन आता है उसी से छंद की उत्पत्ति होती है।' ('बायोग्राफिया लिटेरेरिया', अध्याय 18) आगे चलकर वे छंद का संबंध मन की उत्तेजित अवस्था से जोड़ते हैं। इन दोनों स्थितियों में परस्पर विरोध है किंतु यह कॉलरिज की विवेचन-पद्धति के अनुरूप है। काव्य-प्रक्रिया की तरह छंद में भी वे दो पक्ष देखते हैं। एक, उसका स्वतःस्फूर्त पक्ष है, दूसरा विवेक-नियंत्रित। छंद का संबंध - चूँकि भावदीप्त मनोदशा से है, अतः उसमें एक प्रकार की सहजता होती है। दूसरे, कविता में विभिन्न तत्व कृत्रिम रूप से चेतन क्रिया द्वारा छंद में ढलते हैं जो संज्ञान और इच्छा-शक्ति के अधीन है। इसलिए छंद चेतन भी है और अचेतन भी। इन दोनों की सहभागिता ही काफी नहीं है, सामंजस्य भी ज़रूरी है। ('There must be not only a partnership, but a union, an interpenetration of passion and of will, of spontaneous impulse and of voluntary purpose.'–'बायोग्राफिया लिटरेरिया' अध्याय 18) यहाँ भी बल विरुद्धों के सामंजस्य पर है, छंद के प्रभाव के विषय में कॉलरिज ने लिखा है कि छंद सामान्य भावों की संवेदनशीलता में वृद्धि के साथ-साथ पाठक के अवधान को प्रेरित करता है - उसके ध्यान को बाँधे रखता है। उसका प्रभाव कुछ-कुछ वैसा ही है जैसे बातचीत के दौरान मदिरा का। (वही) मदिरा के प्रभाववश वार्तालाप में जीवंतता का संचार हो जाता है किंतु मदिरा स्वयं अलक्षित रहती है। यही स्थिति छंद की है। छंद हमारी अनुभूति में उत्कर्ष लाता है और परिचित मनोभावों को सामान्यता के स्तर से ऊँचा उठा देता है।

छंद को कविता की वस्तु और भाषा के अनुरूप होना चाहिए, स्मृति की सुविधा के लिए ऊपर से जोड़ा गया अलंकरण भर नहीं। जब छंद भाषा और वस्तु के अनुरूप होता है तो कविता के हर घटक की ओर निरंतर और स्पष्ट रूप से पाठक का ध्यान आकर्षित करता चलता है। वह पाठकीय उत्सुकता को तेज़ी से परिशांत और पुनः उद्बुद्ध करता हुआ एक प्रकार की आनंदपूर्ण मनोदशा में अंत तक आगे बढ़ता जाता है। काव्यास्वाद की इस यात्रा में वह न तो विभिन्न घटकों के सौंदर्य से आकर्षित होकर वहाँ ठहरता है, न इन घटकों से तटस्थ रहकर अंत की ओर पहुँचने की उसे कोई जल्दी रहती है।'यह घटकों से संपूर्णता की ओर एक प्रकार की आमोद-यात्रा जैसी है जिसमें सर्प की गति की तरह बराबर तेज़ी से आगे-पीछे जाना होता है - सर्प चलते समय हर कदम पर रुकता है, आधा पीछे की ओर लौटता है, इस पश्चगति से शक्ति-संचय करता है जो पुनः उसे आगे की ओर ले जाती है।' (वही) कुछ-कुछ ऐसी ही स्थिति काव्य-रचना के समय कवि और रचना का आस्वाद लेते समय संवेदनशील पाठक की होती है। छंद को अर्थानुगामी, साथ ही काव्य-वस्तु को छंद के अनुरूप होना चाहिए। यदि काव्य-वस्तु छंद के अनुरूप नहीं हुई तो एक प्रकार का झटका-सा लगता है। यह झटका ऐसा ही है जैसे कि हम अँधेरे में किसी जीने की अंतिम सीढ़ी से कूदे हों जबकि हमने अपनी माँसपेशियों को तीन-चार सीढ़ियाँ कूदने के लिए तैयार कर लिया हो। (वही)

2. काव्य-शैली और शब्द-चयन

कॉलरिज ने काव्य-भाषा, शैली और शब्द-प्रयोग के विषय में महत्वपूर्ण बातें कही हैं। काव्य-भाषा के बारे में उनके विचार तो हम वर्डसवर्थ की काव्य-भाषा पर विचार करते समय पढ़ चुके हैं। अपने अध्ययन और चिंतन-मनन से उन्होंने दो आलोचनात्मक सूत्र निकाले थे जिन्हें वे काव्य-शैली का

प्रतिमान मानते थे। पहला यह कि 'जो कविता हमने केवल पढ़ी भर नहीं है वरन् जिसे हम अधिकतम आनंद के साथ बार-बार पढ़ना चाहते हैं उसी में सच्ची प्रभाव-क्षमता है और वही सही मायनों में कविता कहलाने के योग्य है।' दूसरा यह कि 'जिन पंक्तियों को, उनके साहचर्यगत अर्थ या भावात्मक अर्थ में कोई कमी लाए बिना, उसी भाषा के दूसरे शब्दों में अनूदित किया जा सके वहाँ तक वे काव्य-भाषा की दृष्टि से सदोष हैं।' दूसरे सूत्र में उनके गुरु (जेम्स बोयर) की शिक्षा की प्रतिध्वनि है जिसमें बताया गया था कि सच्चे महाकवियों में 'हर शब्द का ही नहीं, हर शब्द की स्थिति का भी कोई न कोई कारण होता है।' काव्य में ऐसे शब्दों का चुनाव करना चाहिए जो अर्थ को व्यक्त करने में पूरी तरह उपयुक्त हों। वर्डसवर्थ की काव्य-भाषा पर विचार करते समय उन्होंने पुनः कहा कि 'निर्दोष शैली का अचूक निकष है उसी भाषा के दूसरे शब्दों में उसकी अननुवाद्यता।' और अर्थ क्या है? : 'किसी शब्द के अर्थ के अंतर्गत मैं उसकी सूचक वस्तु को ही नहीं वरन् उससे जुड़ी हुई समस्त अर्थच्छायाओं को भी शामिल करता हूँ। कारण, केवल वस्तु का बोध कराने के लिए ही भाषा की रचना नहीं की जाती वरन् इसके अलावा उसके द्वारा उस व्यक्ति के चरित्र, मनोदशा और अभिप्रायों को भी व्यक्त किया जाता है जो उसे प्रस्तुत कर रहा है।' कवि का दायित्व है कि वह मातृभाषा की शुद्धता की रक्षा करे क्योंकि 'भाषा मानव-मन का शस्त्रागार है और उसमें अतीत के विजय-स्मारक तथा भावी विजय के शस्त्र एक-साथ छिपे रहते हैं।' (वही) अर्थात् अतीत के प्रयोगों के आधार पर भाषा की शक्तियों का ज्ञान होता है और नए-नए संदर्भों में प्रयोग करके उसके अर्थ का विस्तार किया जा सकता है। शब्द और अर्थ का संबंध इतना अन्योन्याश्रित है कि यदि 'कोई शब्द को जानता है तो वह वस्तु को भी जानता है।' (प्लेटो) इसलिए 'यदि हम शब्द-प्रयोग में गलती करेंगे तो वस्तु के बारे में भी गलत कर बैठेंगे।' (हॉब्स) अतः 'शब्दों का अध्ययन शिक्षा की शुरूआत है।' अरस्तू के टीकाकार स्कैलाइजर ने लिखा है - 'बुद्धिमान व्यक्ति का पहला कर्तव्य यह है कि वह अच्छी तरह सोचे ताकि वह अपने लिए रह सके, दूसरा यह कि वह अच्छी तरह बोले ताकि वह अपने देश के लिए रह सके।'[1] व्यक्ति, सामाजिक वर्ग और सम्बद्ध भाषा के शब्द तथा मुहावरे - इन तीनों की विशेषताओं से मिलकर किसी व्यक्ति की भाषा का स्वरूप निर्धारित होता है।

14.5.2 कल्पना सिद्धांत

कॉलरिज ने दार्शनिक सिद्धांतों को अपनी साहित्य-समीक्षा का आधार बनाया। वे आलोचना को एक व्यवस्थित प्रणाली का रूप देना चाहते थे। रचना के गुण-दोष विवेचन में उनकी उतनी दिलचस्पी नहीं थी। उन्होंने इस मूल प्रश्न पर अपनी निगाह जमाई कि सम्बद्ध रचना रची कैसे गई। कॉलरिज के अनुसार, 'आलोचना का उद्देश्य साहित्य-रचना के नियमों का पता लगाना है, दूसरों के लिखे हुए पर निर्णय देना नहीं।' (वही) इन सिद्धांतों को उन्होंने 'मानव-प्रकृति' में खोजने की कोशिश की क्योंकि मानव-आत्मा की सर्जनात्मक शक्तियाँ ही उसे जन्म देती हैं। उनके चिंतन का केंद्र वह सृजन-प्रक्रिया है जिसके माध्यम से कविता रूप ग्रहण करती है। यही वजह है कि कविता की व्याख्या पर उनका उतना बल नहीं रहता जितना उसकी सृजन-प्रक्रिया पर। उन्होंने ज्यादा बल इस बात पर दिया कि कलाकृति का मूल्यांकन उसी भावना से किया जाना चाहिए जिससे उसकी रचना की गई थी। इस संदर्भ में सृजन-प्रक्रिया, कवि-प्रतिमा, और विशेष रूप से कल्पना का विवेचन-विश्लेषण ज़रूरी हो उठा। आलोचना के संदर्भ में यह एक क्रांतिकारी महत्व की चीज़ थी। ड्राइडन के बाद किसी आलोचक ने इस समस्या पर विचार नहीं किया था और ड्राइडन ने भी इसपर बहुत चलते ढंग से विचार किया है। कॉलरिज में इसका केंद्रीय महत्व है। इसीलिए अपने आलोचनात्मक लेखन में उन्होंने जगह-जगह कल्पना का स्वरूप स्पष्ट करने की कोशिश की और 'बायोग्राफिया लिटरेरिया' के तेरहवें अध्याय में इसपर स्वतंत्र रूप से विचार किया।

कॉलरिज के पहले कल्पना के स्वरूप को लेकर कई तरह की संगत-असंगत धारणाएँ प्रचलित थीं। एक धारणा तो यह थी कि कल्पना एक दिव्या रहस्यमय शक्ति है, अतः इसकी तर्कसंगत व्याख्या संभव नहीं है, यह अव्याख्येय है। ड्राइडन ने लिखा - 'उचित प्रतिभा प्रकृति का वरदान है।....इसमें परिष्कार कैसे किया जाए यह अनेक ग्रंथ बता सकते हैं, किंतु इसे प्राप्त कैसे करें यह बताने वाला कोई भी ग्रंथ नहीं है।' वर्डसवर्थ ने एक खास तरह की 'दिव्य-दृष्टि' के रूप में इसका बार-बार उल्लेख किया है।[2] दूसरे, कवि-प्रतिभा का संबंध उन्माद से जोड़ा गया था। यह धारणा काफी पुरानी थी और इसे कई प्रतिष्ठित दार्शनिकों और रचनाकारों का समर्थन प्राप्त था। प्लेटो ने कहा ही था कि कवि जिस समय रचना करता है वह एक प्रकार के उन्माद की स्थिति में होता है। शेक्सपियर ने पागल, प्रेमी और कवि

---

[1] प्लेटो, स्कैलाइजर व हॉब्स के उद्धरण स्वयं कॉलरिज ने 'बायोग्राफिया लिटरेरिया', 16वें अध्याय में ही दिए हैं।

[2] The vision and faculty divine

को एक स्तर पर रखा है क्योंकि इन तीनों में कल्पना का अतिरेक होता है।[1] ड्राइडन ने यह मान्यता व्यक्त की थी कि 'बड़ी प्रतिभाओं और पागलपन में निश्चय ही नज़दीकी रिश्ता होता है।'[2] स्वयं स्वच्छंदतावादी युग में सामान्य वेशभूषा, मद में झूमते हुए चलने और विशेष रूप से तुनकमिजाजी को कवि या प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति का लक्षण माना जा रहा था और कई कवि अपने-आपको प्रतिभावान सिद्ध करने के लिए इस तरह का आचरण करते हुए दिखाई देते थे। एक अन्य धारणा हॉब्स, लॉक, ह्यूम, हार्टले आदि अनुभववादी-साहचर्यवादी दार्शनिकों के माध्यम से सामने आई थी जिसके अनुसार कल्पना एक बिंब-विधायिनी शक्ति है। इसका मुख्य काम है - इंद्रियबोध को मनश्चित्रों में रूपांतरित करना। इस धारणा के अंतर्गत कल्पना, स्मृति की तरह, एक यांत्रिक शक्ति भर बनकर रह गई थी जिसमें सृजन या नवोन्मेष के लिए कोई स्थान नहीं था।

ज़ाहिर है कि कल्पना के बारे में उक्त धारणाएँ कॉलरिज को मान्य नहीं थीं। कल्पना को एक दिव्य शक्ति मानते हुए भी वे उसे रहस्यमय नहीं मानते थे। कारण, उसे रहस्यमय मानने का अर्थ होगा अपनी अक्षमता पर परदा डलना। उनके अनुसार, कवि-प्रतिमा की व्याख्या न केवल सहज संभव है, बल्कि यह व्याख्या ऐसी होनी चाहिए जो सामान्य बुद्धि और विवेक को सहज-ग्राह्य हो। जहाँ तक कवि-प्रतिभा के उन्माद से संबंध का प्रश्न है, कॉलरिज का मानना है कि यह धारणा अर्धसत्य है - कल्पना के केवल एक पक्ष पर बल देने का परिणाम। सामान्य जनों की संवेदना की अपेक्षा कवि की संवेदना अधिक तीव्र और प्रखर होती है। यह संवेदनशीलता प्रतिभा की विशेषता ही नहीं, वरन् उसका अविभाज्य अंग है। यदि केवल इस गहरी संवेदना पर - जो निश्चय ही कवि-प्रतिभा का एक घटक है,- विचार करें तो इससे यह संभावना बनती है कि व्यक्ति 'मानसिक असंतुलन की दिशा में' चला जाए। किंतु यह तो कवि-प्रतिभा का एक घटक है। इसके साथ ही कवि में 'सामान्य से अधिक गति से वस्तुओं में संबंध-स्थापन की क्षमता होती है - एक विचार से दूसरे विचार तक और एक बिंब से दूसरे बिंब तक जाने की सामान्य से अधिक क्षमता। यह घटक भी उतना ही ज़रूरी है। सच्ची प्रतिभा इन दोनों घटकों के परस्पर संशोधन-संतुलन में निहित है।' ('बायोग्राफिया लिटरेरिया', अध्याय 2) चिड़चिड़ापन और तुनकमिजाजी भी, कॉलरिज के अनुसार, छोटी या छद्म-प्रतिभाओं में देखने में आती है। जो वास्तव में प्रतिभा-सम्पन्न है उनकी तुलना में ऐसे लोगों की संख्या बहुत होती है जो प्रतिभा-सम्पन्न समझते जाते हैं। तुनकमिजाज़ी का नाटक ऐसे ही छद्म-प्रतिभावान करते हैं। बड़ा रचनाकार दूसरों के दुख या पीड़ा से तो तत्काल द्रवीभूत हो उठता है किंतु अपने बारे में प्रायः शांत-संयत रहता है। महान रचनाकारों के बारे में समसामयिकों के विवरण और अंतःसाक्ष्य के आधार पर कम से कम यही धारणी बनती है। चॉसर की 'हर पंक्ति से बहुत खुशदिल इनसान की तस्वीर' उभरती है। स्पेंसर की रचनाएँ पढ़ने पर 'अत्यंत सौम्य-कोमल व्यक्तित्व की छाप' मन पर पड़ती है। शेक्सपियर का 'शांत-संचय-मद स्वभाव कहावत की तरह लोगों की ज़बान पर था।' चरम संघर्ष के क्षणों में मिल्टन बहुत शांत-सयत रहे। ('बायोग्राफिया लिटरेरिया', अध्याय 2) हमारे छायावादी कवियों में अपने वैयक्तिक दुख को लेकर निराला में यह आत्म-संयम सबसे ज्यादा है जबकि किसी दूसरे के दुख की छाया भर से वे द्रवीभूत हो उठते हैं -

देखा दुखी एक निज भाई
दुख की छाया पड़ी हृदय में
झट उमड़ वेदना आई।

अनुभववादी और साहचर्यवादी दार्शनिकों से कॉलरिज एकदम असहमत थे। कॉलरिज के अनुसार मन की जो शक्ति साहचर्य सिद्धांत पर आधारित है और जो बिंब-विधान में सक्रिय रहती है वह यांत्रिक है। उसका संबंध ललित कल्पना (फँसी) और स्मृति से है। ललित कल्पना और स्मृति के बाद मानव-मस्तिष्क के जो काम बच रहते हैं उनका संबंध विवेक और कल्पना से है। यही नहीं, इंद्रियबोध, प्रत्यक्षण आदि सभी स्तरों पर इच्छा-शक्ति और विवेक की निर्णायक भूमिका रहती है। हम वही देखते हैं जो हम देखना चाहते हैं। हर स्थिति में और हर समय इच्छा-शक्ति और विवेक सक्रिय रहते हैं, वे पूरी तरह निलम्बित कभी नहीं होते।

कल्पना की परंपरागत धारणाओं से संतोष न होने पर कॉलरिज ने अठारहवीं सदी की काव्य-परंपरा में कल्पना का साक्ष्य खोजने की कोशिश की। पोप और उनके अनुयायियों अथवा फ्रांसीसी काव्य-परंपरा से उन्हें कोई सहानुभूति नहीं थी। उनके काव्य में कृत्रिमता थी और जहाँ-तहाँ 'महज़ नवीनता' की आकांक्षा थी। जीवित कवियों में केवल काउपर और बाउल्स ही पहले ऐसे कवि मिले जिनमें स्वाभाविक

[1] The lunatic, the lover, and the poet
Are of imagination all compact.

[2] Great wits are sure to madness near allied.

भावों को स्वाभाविक भाषा में व्यक्त किया गया था। वे पहले ऐसे कवि थे जिनमें उन्हें 'हृदय और बुद्धि का यह सामंजस्य' दिखाई दिया जिसे वे कल्पना की एक महत्वपूर्ण विशेषता मानते थे। कल्पना को लेकर इसी ऊहापोह के दौर में उनकी पहली बार वर्ड्सवर्थ से भेंट हुई।[1] वर्ड्सवर्थ ने अपनी पाण्डुलिपि से एक कविता पढ़कर कॉलरिज को सुनाई। कविता सुनकर उनके मन पर बिजली जैसा असर हुआ और उनके सामने कल्पना का स्वरूप स्पष्ट हो गया। 'बायोग्राफिया लिटरेरिया' के चौथे अध्याय में इस घटना का बड़ा ही जीवंत विवरण कॉलरिज ने दिया है। पूरी कविता में 'विचार सहज, भाषा सहज। बिंबों का कोई अतिरंजित जमाव नहीं।.....यह गहन भावों का गंभीर विचारों के सामंजस्य था...।' (It was the union of deep feeling with profound thought...)। कॉलरिज के पहले कल्पना (इमेजिनेशन) और ललित कल्पना (फैंसी) में कोई भेद नहीं था। उन्हें या तो एक-दूसरे का पर्याय माना जाता था या फिर एक ही शक्ति का उच्च और निम्न स्तर। वर्ड्सवर्थ के मुख से कविता सुनते-सुनते अचानक उन्हें यह लगा कि कल्पना और ललित कल्पना दो अलग-अलग और एक-दूसरे से नितांत भिन्न शक्तियाँ हैं। बाद में चिंतन-मनन से उनकी यह धारणा पुष्ट भी हुई। यहाँ महत्वपूर्ण बात यह है कि कॉलरिज को कल्पना के बारे में सबसे महत्वपूर्ण सूत्र समसामयिक रचनाशीलता से मिला।

कल्पना को परिभाषित करते समय कई समस्याएँ कॉलरिज के दिमाग में थीं। कल्पना का एक स्तर ऐसा है जिसपर कवि और अन्य लोगों में कोई अंतर नहीं होता। यह कल्पना का व्यापक स्तर है। इस स्तर पर कवि और अन्य लोग समान हैं। दूसरे, कल्पना की संपूर्ण प्रक्रिया में कुछ अंश यांत्रिक भी होता है जिसमें मानव-मन कोई सर्जनात्मक भूमिका नहीं निभाता। यह यांत्रिक या निष्क्रिय भूमिका किसे सौंपी जाए? तीसरे, यांत्रिक कार्य के बाद जो अन्य क्रियाकलाप बचे रहते हैं वे किसके हिस्से में आएँ? सामान्य जन की कल्पना से भिन्न कवि-कल्पना के स्वरूप और प्रकार्य को कैसे स्पष्ट किया जाए? कवि-कल्पना करती क्या है, इस बारे में कवि के रूप में उनका अनुभव और अपनी अंतर्दृष्टियाँ भी थीं जिनका सन्निवेश वे कल्पना के स्वरूप-विवेचन में करना चाहते थे। बल्कि कहना चाहिए कि इनपर उनका विशेष बल था। फिर, कल्पना से मिलती-जुलती जो अन्य अवधारणाएँ हैं (जैसे प्रज्ञा एवं प्रतिभा) उन्हें कहाँ रखा जाए? इन सारी समस्याओं को दृष्टिपथ में रखते हुए 'बायोग्राफिया लिटरेरिया' के तेरहवें अध्याय के अंत में कॉलरिज ने कल्पना को इस प्रकार परिभाषित किया -

> **मेरे विचार से कल्पना या तो मुख्य होती है या गौण। मुख्य कल्पना एक जीवंत शक्ति है और यह मानव के संपूर्ण इंद्रिय ज्ञान का प्रमुख साधन है। यह सीमित मन में असीम सत्ता की आवृत्ति है। गौण कल्पना को मैं इसी मुख्य कल्पना की प्रतिध्वनि मानता हूँ। इसका अस्तित्व सचेतन इच्छा-शक्ति के साथ है। इन दोनों में भेद मात्रा और कार्य-पद्धति का है, साधन के प्रकार का नहीं। यह पुनःसृजन के उद्देश्य से (मुख्य कल्पना की दुनिया का) विलयन करती रहती है, उसे गलाती-पिघलाती रहती है अथवा जहाँ यह प्रक्रिया संभव नहीं हो पाती वहाँ भी हर हालत में यह आदर्शीकरण और एकीकरण के लिए संघर्ष करती है। यह अनिवार्य रूप से जीवंत होती है जबकि सभी वस्तुएँ (वस्तु रूप में) अनिवार्यतः स्थिर और निर्जीव होती हैं।**
>
> **इसके विपरीत, ललित कल्पना के, स्थिरता और सुनिश्चतता के अतिरिक्त, अन्य कोई साधन नहीं होते जिनको लेकर वह व्यस्त रहे। ललित कल्पना मुख्यतः देश-काल के बंधन से मुक्त स्मृति का ही एक प्रकार है। यह चयन की अनुभवमूलक क्रिया से मिश्रित और संशोधित होती है। किंतु सामान्य स्मृति के साथ ही यह अपनी संपूर्ण सामग्री, जो पहले से बनी-बनाई होती है, बराबर साहचर्य-नियम के द्वारा ग्रहण करती है।**

उपर्युक्त परिभाषा के पहले अनुच्छेद में कॉलरिज ने कल्पना के दो भेद बताए हैं और इन दोनों भेदों को स्वरूप तथा कार्यों का निर्देश किया है। अर्थात् बताया है कि कल्पना है क्या और वह करती क्या है। दूसरे अनुच्छेद में ललित कल्पना का निरूपण है।

कॉलरिज के अनुसार, कल्पना के दो भेद हैं - **प्रमुख** और **गौण**। **प्रमुख कल्पना** हमारे संपूर्ण इंद्रियज्ञान का आधार है। प्रमुख कल्पना के सहयोग के बिना हमें इंद्रियों से जो कुछ प्राप्त होगा वह एकदम अव्यवस्थित, खंडित और गड्ड-मड्ड होगा। इंद्रियों के साथ प्रमुख कल्पना का सन्निकर्ष होने पर ही हमें दृश्य जगत का व्यवस्थित ज्ञान प्राप्त होता है। मुख्य कल्पना की दूसरी विशेषता है - जीवंतता। यह एक 'जीवंत शक्ति' है। 'जीवंत' से कॉलरिज का आशय है - सक्रिय (active) और जैविक (organic), निष्क्रिय (passive) और यांत्रिक (mechanical) नहीं। प्रमुख कल्पना के माध्यम से हमें जो ज्ञान प्राप्त होता है उसका रूप-विधान जैविक होता है, यांत्रिक नहीं। यांत्रिक और जैविक में अंतर स्पष्ट करते हुए कॉलरिज ने लिखा है - 'हम भ्रमवश यांत्रिक व्यवस्था को ही जैविक रूप (organic

---

[1]यह भेंट संभवतः सितम्बर, 1795 में ब्रिस्टल में हुई थी। उस समय कॉलरिज अपनी आयु के 23वें वर्ष में थे।

form) समझ बैठते हैं। जब हम किसी दी हुई सामग्री पर पूर्व-निर्धारित रूप आरोपित करना चाहते हैं तो वह यांत्रिक रूप कहलाएगा। ज़रूरी नहीं कि सामग्री के मूल गुणों से इसका उदय हो। इसके विपरीत, जैविक या आवयविक रूप नैसर्गिक होता है। जैसे-जैसे इसका विकास होता है वैसे-वैसे यह अंदर से अपना आकार ग्रहण करता जाता है और इसके विकास की पूर्णता बाहरी रूप की पूर्णता का पर्याय होगी। जैसा जीवन है वैसा ही रूप है।' मुख्य कल्पना इंद्रियों से प्राप्त सामग्री में जीवंतता का संचार करती है और उसे जैविक अन्विति में ढालती है। इंद्रियज्ञान का आधार होने की वजह से मुख्य कल्पना का संबंध सभी चिंतनशील प्राणियों से है। चूँकि इसका संबंध मानव-मात्र से है अर्थात् इसका क्षेत्र अत्यंत व्यापक और आधारभूत है अतः इसे 'मुख्य कल्पना' कहना उचित ही है। इसके अतिरिक्त, प्रमुख कल्पना 'सीमित मन में असीम सत्ता की आवृत्ति है।' इस कथन से कॉलरिज यह कहना चाहते हैं कि प्रमुख कल्पना इस संसार में ईश्वर की प्रतिनिधि है। कॉलरिज ईश्वर, मानव-मन और कल्पना को एक ही स्तर पर रखते हैं, अतः जो विशेषताएँ ईश्वर में हैं वे मानव-मन और कल्पना में भी दिखाई देंगी। बल्कि कल्पना को तो वे ईश्वर का अत्यंत विराट प्रतिरूप मानते थे। जैसे ईश्वर संसार में सर्वत्र व्याप्त रहता है, किंतु कहीं दिखाई नहीं देता, उसी प्रकार शेक्सपियर जैसे महान रचनाकार अपनी रचनाओं में सर्वत्र व्याप्त रहते हुए भी अलक्षित रहते हैं - अपने निजी व्यक्तित्व को कहीं आरोपित नहीं करते। **गौण (या विधायक) कल्पना** 'मुख्य कल्पना की प्रतिध्वनि' है। 'प्रतिध्वनि' शब्द से ही संकेत मिलता है कि मुख्य कल्पना का पूर्व-अस्तित्व गौण या विधायक कल्पना के अस्तित्व की अनिवार्य शर्त है। कॉलरिज इन दोनों में कोई गुणात्मक अंतर नहीं मानते। दोनों में जो अंतर है वह 'मात्रा और कार्य-पद्धति' का है, प्रकार का नहीं। विधायक कल्पना के लिए संवेदनशीलता अधिक चाहिए, आवयविक इकाई में ढालने की योग्यता अधिक चाहिए। दोनों की कार्य-पद्धति में अंतर यह है कि प्रमुख कल्पना जहाँ केवल निर्माण करती है वहाँ गौण कल्पना नाश और निर्माण दोनों। यह अंतर आगे के विवेचन से और स्पष्ट होगा।

कल्पना के बारे में कॉलरिज के उपर्युक्त विचारों में दार्शनिकता का पुट है - मुख्य कल्पना सीमित मन में असीम सत्ता की आवृत्ति और गौण या विधायक कल्पना उस आवृत्ति की प्रतिध्वनि। इससे हमें अद्वैतवादियों के ब्रह्म और आत्मा का स्मरण हो आता है। कांट, शेलिंग जैसे भाववादी दार्शनिकों का प्रभाव यहाँ प्रत्यक्ष है। वस्तुतः कॉलरिज की प्रतिभा का निदर्शन कल्पना के स्वरूप विवेचन में उतना नहीं दिखाई देता जितना विधायक (गौण) कल्पना की कार्यविधि को निरूपित करने में - अर्थात काव्य-सर्जना के दौरान यह कैसे क्रियाशील होती है। स्वच्छंदतावादी कवि के रूप में स्वानुभव से भी उन्हें इसके विश्लेषण में मदद मिली होगी। प्रमुख कल्पना का संबंध जहाँ मनुष्य-मात्र से है वहाँ गौण या विधायक कल्पना कवि-कलाकार का विशेष वरदान है। प्रमुख कल्पना की तुलना में सूक्ष्मता और गहराई होने के बावजूद इसका आधारफलक अपेक्षाकृत सीमित होता है। इसका सीधा संबंध कवि-रचनाकारों से है, व्यापक जन-समुदाय से नहीं। शायद इसीलिए कॉलरिज ने इसे 'गौण कल्पना' की संज्ञा दी है।

विधायक कल्पना पुनःसृजन के उद्देश्य से संपूर्ण सामग्री का विलयन करती रहती है, उसे गलाती-पिघलाती रहती है (It dissolves, diffuses and dissipates in order to recreate)। नाश और निर्माण (पुनःसृजन) दोनों करती है। नाश पुनःसृजन के उद्देश्य से प्रेरित होता है। किसका नाश? स्पष्ट ही प्रमुख कल्पना से प्राप्त सामग्री का। गौण कल्पना नाश भी करती है और निर्माण भी। कविता की दुनिया की रचना के लिए यह मुख्य कल्पना की दुनिया का नाश करती है। नाश और निर्माण की इस द्वंद्वात्मक क्रिया में कॉलरिज ने नाश पर पर्याप्त बल दिया है। नाश के लिए मिलते-जुलते अर्थों की सूचक तीन क्रियाओं का प्रयोग किया गया है -'dissolves', 'diffuses' और 'dissipates'। इन तीनों क्रियाओं में 'डि' की आवृत्ति से इसका जो ध्वनि-बिंब बनता है वह नाश के अर्थ को पुष्ट करता है, उसे और गहराता है। नाश की यह क्रिया अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण हैं और शायद अधिक कठिन भी। मुख्य कल्पना की दुनिया का रचनात्मक उपयोग तभी संभव है जब पहले उसे अच्छी तरह तोड़ा जाए। अतः कहना चाहिए कि यह नाश पुनर्निर्माण की अनिवार्य शर्त है। पुनःसृजन का अर्थ तो स्पष्ट ही है, किंतु रचनाशीलता के संदर्भ में नाश का - 'विलयन' का और 'गलाने-पिघलाने' का क्या अर्थ हो सकता है? बराबर अध्ययन-चिंतन-मनन से प्रमुख कल्पना की इस दुनिया को तोड़ा जा सकता है। शेक्सपियर की रचना-पद्धति का विश्लेषण करते समय उन्होंने उक्त धारणा का व्यावहारिक उपयोग भी किया। शेक्सपियर की रचना-पद्धति क्या थी? क्या वह किसी प्रेतात्मा से आविष्ट थे? - वे यह प्रश्न पूछते हैं और फिर उसका उत्तर भी देते हैं : 'शेक्सपियर ने ....पहले धैर्य से अध्ययन किया, गहराई से चिंतन-मनन किया, रेशे-रेशे को समझा जब तक कि ज्ञान उनके व्यक्तित्व का सहज अंग नहीं बन गया...।' (Shakespeare...first studied patiently, meditated deeply, understood minutely, till knowledge become habitual and intuitive...) व्यक्तित्व का सहज अंग बन जाने पर ही ज्ञान को

रचनात्मक रूप दिया जा सकता है। विधायक कल्पना का सबसे प्रमुख कार्य यही है। जहाँ यह प्रक्रिया संभव नहीं हो पाती वहाँ वह आदर्शीकरण और एकीकरण के लिए संघर्ष करती है - विविधता में एकता या एकसूत्रता लाने का प्रयास करती है (struggles to idealize and to unify)। इस प्रकार असम्बद्ध चीज़ों में सम्बद्धता की तलाश, बिखरी हुई चीज़ों में अन्विति की खोज - यह भी कल्पना का एक प्रमुख कार्य है। इस प्रकार विधायक कल्पना बाह्य जगत से प्राप्त ऐंद्रिय संवेदनों और अनुभवों को गला-पिघलाकर नया आकार देती है जिसमें उनमें नए परिचय की दीप्ति आ जाती है। मुख्य कल्पना की तरह वह यह कार्य अनजाने ही नहीं करती, वरन् इच्छा और ज्ञान से परिचालित होती है। इस प्रकार दृश्य जगत की सामान्य और असम्बद्ध वस्तुएँ विधायक कल्पना से विशिष्ट और रमणीय बन जाती हैं, साथ ही वे परस्पर सम्बद्ध दिखाई देने लगती हैं।

विधायक कल्पना की यह शक्ति 'विरुद्धों के सामंजस्य' में व्यक्त होती है। 'कल्पना की संश्लेषणात्मक और जादुई शक्ति' का निदर्शन करते हुए कॉलरिज ने लिखा -

> **यह शक्ति विरोधी या विसंवादी तत्वों के संतुलन या सामंजस्य में व्यक्त होती है : जैसे साम्य का वैषम्य के साथ; सामान्य का विशेष के साथ; प्रत्यय का बिंब के साथ; वैयक्तिक का प्रतिनिधिक के साथ; नवीनता और ताज़गी की चेतना का पुराने-परिचित पदार्थों के साथ; भावावेश का सामान्य से अधिक संयम के साथ; चिर जाग्रत विवेक और मनस्विता का उत्कट उमंग और गहन भावानुभूति के साथ। यह प्राकृतिक और कृत्रिम तत्वों के बीच समन्वय और सामंजस्य स्थापित करते समय यह कला को प्रकृति के, रूप को वस्तु के और कवि के प्रति हमारे आदर-भाव को काव्य के प्रति हमारी सहानुभूति के अधीन रखती है।**

विलियम के.विमसैट और क्लीन्थ ब्रुक्स ने इन विरोधी युग्मों को तालिकाबद्ध करके रखा है जिससे समझने में आसानी हो सकती है।

कल्पना निम्नलिखित विरोधी तत्वों (क - ख) के बीच सामंजस्य (संतुलन या संगति) स्थापित करती है-

	क	ख
1.	साम्य (sameness)	वैषम्य (difference)
2.	सामान्य (general)	विशेष (concrete)
3.	प्रत्यय (idea)	बिंब (image)
4.	प्रातिनिधिक (representative)	वैयक्तिक (individual)
5.	परिचय (familiarity)	नवीनता (novelty)
6.	संयम (order)	भावावेश (emotion)
7.	विवेक (judgement	उमंग (enthusiasm)
8.	कृत्रिम (artificial)	प्राकृतिक (natural)

कल्पना नीचे दिए गए 'ख' वर्ग की तुलना में 'क' वर्ग को गौण मानती है -

	क	ख
1.	कला	प्रकृति
2.	रूप/शैली	वस्तु
3.	कवि के प्रति हमारा आदर-भाव	कविता के प्रति हमारी सहानुभूति

कॉलरिज के उद्धरण में विरोधी तत्वों के जो युग्म गिनाए गए हैं वे उपलक्षण मात्र हैं। ऐसे युग्म और भी हो सकते हैं। कॉलरिज ने यहाँ विधायक कल्पना को जो भूमिका प्रदान की है वह साहित्य तक सीमित नहीं है, वरन् कला-मात्र पर लागू होती है। विभिन्न विरोधी तत्वों में सामंजस्य स्थापित करते समय कल्पना 'कला को प्रकृति के, रूप को वस्तु के और कवि के प्रति हमारे आदर-भाव को कविता के प्रति हमारी सहानुभूति के अधीन रखती है।' दूसरे शब्दों में, कला की तुलना में प्रकृति का, रूप की तुलना में वस्तु का और कवि की तुलना में काव्य का महत्व कहीं ज्यादा है। प्रकृति और कला में सामंजस्य करते समय कवि प्रकृति की तुलना में कला को गौण स्थान देता है। यहाँ 'कला' से आशय है पद्धति, रीति या तकनीक। कवि की अपेक्षा कविता को अधिक महत्व देना आधुनिक आलोचना-दृष्टि के अनुकूल है।

कॉलरिज से पहले ललित कल्पना (फैंसी) और कल्पना (इमेजिनेशन) में कोई अंतर नहीं था। वे या तो परस्पर पर्याय थे या फिर एक ही शक्ति के निम्न और उच्च स्तर। कॉलरिज ने इनमें गुणात्मक अंतर माना। मन की जो शक्ति बिंब-विधान में सक्रिय रहती है और जो नियत-निश्चित तथा यांत्रिक है उसे उन्होंने ललित कल्पना कहा और मानव-मन के सर्जनात्मक पक्ष को कल्पना नाम दिया। कल्पना और

ललित कल्पना जिस सामग्री को आधार रूप में ग्रहण करती है उसकी प्रकृति एक-जैसे (स्थिर और निर्जीव) होती है। किंतु जहाँ कल्पना जिन पदार्थों का स्पर्श करती है उनमें जीवंतता का संचार कर देती है वहाँ ललित कल्पना उनका यांत्रिक रूप में संयोजन भर करती है। कॉलरिज के अनुसार, ललित कल्पना स्मृति का ही एक रूप है - ललित कल्पना ऐसी स्मृति है जो देश-काल के बंधन से मुक्त हो। कल्पना और ललित कल्पना दोनों में स्मृति की भूमिका रहती है। इस आधार पर कुछ आलोचकों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि इन दोनों शक्तियों में कोई गुणात्मक अंतर नहीं है - वे एक ही शक्ति के उच्च और निम्न स्तर हैं। कल्पना और ललित कल्पना दोनों को ही आधार-सामग्री स्मृति से मिलती है किंतु दोनों के परिणाम में अंतर है - कल्पना जहाँ उस सामग्री का कायाकल्प कर देती है, उसमें गुणात्मक अंतर ला देती है वहाँ ललित कल्पना उनका संयोजन भर करती है। कॉलरिज के शब्दों में, 'यह अपनी संपूर्ण सामग्री, जो पहले से बनी-बनाई होती है, बराबर साहचर्य निगम द्वारा ग्रहण करती है।' कहने की आवश्यकता नहीं कि ललित कल्पना का स्वरूप-निर्देश करते समय कॉलरिज के दिमाग में नव्य-शास्त्रवादी काव्य है जबकि कल्पना का विवेचन करते समय उनके मन में समसामयिक स्वच्छंदतावादी काव्य का बिंब रहता है।

इस विवेचन के बाद मुख्य कल्पना और गौण कल्पना का अंतर समझना कठिन नहीं होगा। यह ध्यान रखना चाहिए कि इनमें भेद मात्रा और कार्य-पद्धति का है। उनमें गुणात्मक अंतर नहीं है। मुख्य कल्पना का स्थान पहले है, गौण कल्पना का बाद में - क्योंकि यह मुख्य कल्पना की प्रतिध्वनि है। मुख्य कल्पना अचेतन और अनैच्छिक होती है जबकि गौण कल्पना चेतन और ऐच्छिक। मुख्य कल्पना मानव-मात्र में पाई जाती है जबकि गौण या विधायक कल्पना कवि का विशेष वरदान है। मुख्य कल्पना केवल निर्माण करती है जबकि गौण कल्पना नाश और निर्माण दोनों।

कल्पना और ललित कल्पना में तो गुणात्मक अंतर है। कॉलरिज ने ललित कल्पना को 'देश-काल के बंधन से मुक्त स्मृति का एक प्रकार माना है। ललित कल्पना प्रत्यक्ष-बोध और स्मृति से उच्चतर है लेकिन कल्पना से निम्नतर। यह स्थिर वस्तुओं का संयोजन मात्र करती है। किंतु कल्पना एक सर्जनात्मक और रूपायन करने वाली शक्ति है जो अनेक का एक में तथा एक का अनेक में साक्षात्कार करती है। कॉलरिज के शब्दों में, 'बुद्धि काव्य-आत्मा का शरीर है, ललित कल्पना उसका प्रसाधन है, किंतु विधायक कल्पना उसकी आत्मा है जो सर्वत्र व्याप्त रहते हुए प्रत्येक अंग को अनुप्राणित करती है।'

प्रतिभा (genius) और प्रज्ञा (talent) में भी कॉलरिज ने अंतर माना है। प्रतिभा जन्मजात होती है जबकि प्रज्ञा अर्जित। प्रतिभा कल्पना के समान जबकि प्रज्ञा ललित कल्पना के। प्रतिभा में सर्जनशीलता है, नवनिर्माण की क्षमता है जबकि प्रज्ञा वस्तुओं का संयोजन अर्थात् उन्हें एक-साथ प्रस्तुत भर करती है। प्रतिभा आत्म-निर्भर या मौलिक होती है जबकि प्रज्ञा पराश्रित।

आलोचना के क्षेत्र में कॉलरिज के योगदान को लेकर आलोचक एकमत नहीं हैं। रेने वेलेक ने काफ़ी साक्ष्य जुटाकर यह स्थापित करने की कोशिश की है कि जिन दार्शनिक सिद्धांतों पर उनकी कॉलिरज की आलोचनात्मक मान्यताएँ आधारित हैं उनमें मौलिकता शायद ही कहीं हो। अधिक से अधिक उन्होंने जर्मनी और इंगलैंड के बीच एक माध्यम का काम किया। जो एकमात्र आलोचनात्मक कृति (बायोग्राफिया लिटरेरिया) उनके जीवनकाल में प्रकाशित हुई उसे जीवनीपरक रेखाचित्र कहना ही अधिक उपयुक्त होगा। उनकी टिप्पणियों में अनेकानेक भ्रांतियाँ भरी पड़ी हैं जैसी कि सामान्यतः टिप्पणियों में देखने में आती हैं। कॉलरिज की दार्शनिक उपपत्तियों में किसी दार्शनिक की शायद ही कोई दिलचस्पी हो। और चूँकि उनकी आलोचना का मूल स्वर दार्शनिकता लिए हुए है, अतः आलोचक उसपर उतना ध्यान क्यों दें। मैथ्यू आर्नल्ड की तुलना में वे कहीं ज्यादा प्रतिभा-सम्पन्न थे, फिर भी आर्नल्ड की श्रेष्ठ कृतियों का आलोचना साहित्य में जो स्थान है, उनकी रचनाओं को शायद ही उसका अधिकारी माना जाए।' {'Scrutiny', IX (1941)} इस प्रकार, कॉलरिज के आलोचनात्मक योगदान के बारे में आलोचक एकमत नहीं हैं। इसके बावजूद उनके लेखक के महत्व को लेकर किसी के मन में कोई आशंका नहीं है।

कॉलरिज के दार्शनिक विचारों का स्रोत चाहे जो हो, उनकी आलोचना के मूल प्रतिमान अंग्रेज़ी काव्य-परंपरा से ही अनुप्राणित थे। स्वयं कल्पना-सिद्धांत का मूल स्वरूप समसामयिक रचनाशीलता के आधार पर - वर्डसवर्थ की एक कविता सुनकर - स्पष्ट हुआ था। उन्होंने यदि कोई प्रभाव ग्रहण भी किया तो अपनी शर्तों पर। फिर उनकी संवेदनाओं से समन्वित होकर उन विचारों में भी एक विलक्षणता आ गई 'मेरे दार्शनिक विचार मेरी संवेदनाओं से समन्वित हैं या उनसे निकले हैं और....इससे मेरी लेखन-शैली में भी एक विलक्षणता आ जाती है।

कॉलरिज ने अंग्रेज़ी आलोचना को दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक भूमिका पर प्रतिष्ठित किया। सृजन-प्रक्रिया को केंद्र में रखकर विभिन्न आलोचनात्मक प्रश्नों पर गहराई से विचार करने वाले वे पहले समीक्षक हैं। भारतीय काव्यशास्त्र में प्रतिभा को 'अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा' और 'नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा' कहा गया है। कॉलरिज के कल्पना संबंधी विचारों को पढ़ते समय भारतीय काव्यशास्त्र के प्रतिभा-संबंधी विवेचन की याद ताज़ा हो जाती है।

14.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

देवेन्द्रनाथ शर्मा, **पाश्चात्य काव्यशास्त्र**, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।

डॉ. नगेन्द्र और सावित्री सिन्हा (संपा.), **पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परंपरा**, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

George Watson, **The Literary Critics**, Penguin Books, London.

14.7 अभ्यास के लिए प्रश्न

1. वर्ड्सवर्थ की काव्यभाषा विषयक मान्यताओं पर प्रकाश डालिए।
2. वर्ड्सवर्थ की काव्य-परिभाषा की विशेषताओं का निरूपण कीजिए।
3. कॉलरिज के कल्पना सिद्धांत का विवेचन कीजिए।
4. नवआभिजात्यवाद और स्वच्छंदतावाद के साम्य-वैषम्य पर प्रकाश डालिए।

इकाई 15 मैथ्यू आर्नल्ड : कला और नैतिकता

इकाई की रूपरेखा

15.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- बता सकेंगे कि मैथ्यू आर्नल्ड ने किस प्रकार संस्कृति और नैतिकता के सवाल का महत्व स्थापित किया;
- काव्य और आलोचना के संबंध के बारे में आर्नल्ड के विचारों की जानकारी दे सकेंगे; और
- मैथ्यू आर्नल्ड के अवदान का उल्लेख कर सकेंगे।

15.1 प्रस्तावना

पिछली इकाई में आप स्वच्छंदतावादी आलोचना दृष्टि के केंद्रीय आधार वर्ड्सवर्थ और कॉलरिज के आलोचना सिद्धांतों के विषय में पढ चुके हैं। उन्नीसवीं शताब्दी स्वच्छंदतावाद का मध्याह्न काल था। इस सदी के उत्तरार्द्ध तक पहुँचते-पहुँचते स्वच्छंदतावाद से मोहभंग शुरू हो गया। जीवन मूल्यों के विघटन के बीच फँसे मनुष्य को उबारने के लिए कवि कर्म और आलोचना को पुनर्व्याख्यायित करना अपेक्षित था' ऐसे समय मैथ्यू आर्नल्ड का साहित्य और आलोचना के क्षेत्र में पर्दापण हुआ।

आधुनिक अंग्रेज़ी आलोचना मैथ्यू आर्नल्ड से आरंभ होती है। उन्होंने अपनी बौद्धिकता एवं गंभीर अध्ययन के बल पर पाश्चात्य साहित्यालोचन के क्षेत्र में ऐसी स्थापनाएँ कीं जिनका प्रभाव युगांतकारी हुआ। रोमांटिक कविता के वैयक्तिक स्वर के बाद, मैथ्यू आर्नल्ड ने कविता की सक्रिय सामाजिक भूमिका का आग्रह किया। 'साहित्य को जीवन की आलोचना' मानने वाले, मैथ्यू आर्नल्ड उसी साहित्य को प्राथमिकता देते हैं जो जीवन और समाज से संबद्ध हो। इन दोनों से निरपेक्ष साहित्यिक सौंदर्य का उनकी दृष्टि में कोई मोल नहीं। उनके लिए कविता का प्रमुख उद्देश्य सामाजिक, नैतिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों की स्थापना ही है।

15.2 व्यक्तित्व

मैथ्यू आर्नल्ड स्वयं एक कवि, निबंधकार एवं आलोचक हैं। किंतु उनका महत्व उनके साहित्य संबंधी चिंतन के कारण ही अधिक है। कवि की अपेक्षा उनका आलोचक रूप ही उनकी ख्याति का मुख्य आधार है।

24 दिसंबर सन् 1822 को जन्मे मैथ्यू आर्नल्ड रग्बी स्कूल के हेडमास्टर डॉ.टॉमस आर्नल्ड के पुत्र थे। उनकी शिक्षा क्रमशः लेलेहैम, रग्बी तथ ऑक्सफोर्ड में हुई। सन् 1857 में उनकी नियुक्ति ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी में कविता के प्रोफेसर पद पर हुई। इस नियुक्ति के साथ ही साहित्यालोचना के क्षेत्र में उनका पदार्पण हुआ।

इससे पूर्व उनकी रुचि काव्य सृजन की ओर अधिक रही। 1843 ने उनकी कविता 'क्रॉमवेल' को पुरस्कृत किया गया। उनकी प्रमुख काव्य कृतियाँ इस प्रकार हैं - 'द स्ट्रेंड रेवेलर (1849)', 'एम्पेडोक्लस

ऑन एटना 1852)', 'पोयम्स बाई मैथ्यू आर्नल्ड (1853)', 'पोयम्स (सेकेण्ड सीरीज़ 1855)', मेरोप (1855)', 'न्यू पोयम्स 1857)'। इन काव्य संग्रहों में संकलित 'सोहराब एंड रुस्तम', 'स्कॉलर जिप्सी', 'थाइरसिस' तथा 'डोवर बीच', जैसी प्रसिद्ध रचनाएँ उनकी काव्यात्मक प्रतिभा का प्रमाण हैं।

समय के साथ उनका आलोचक रूप उनके कवि रूप पर हावी होता गया। गंभीर गद्य की ओर उनकी रुचि बढ़ती गई। 1857 के बाद उन्होंने अपना पूरा ध्यान आलोचना पर ही केंद्रित कर दिया। एक प्रबुद्ध आलोचक के रूप में आर्नल्ड का परिचय उन तीन व्याख्यानों - 1857 में 'ऑन द मॉडर्न एलिमेंट इन लिटरेचर', 1861 में 'ऑन ट्रांसलेटिंग होमर', 1867 में 'ऑन द स्टडी ऑफ सेल्टिक लिटरेचर' - में भी प्राप्त होता है जो बाद में आलोचनात्मक निबंधों के रूप में छपे और जिनका उनके साहित्य में स्थायी महत्व है।

1865 में उनके आलोचनात्मक निबंधों का संग्रह 'एसेज इन क्रिटिसिज्म' का पहला भाग प्रकाशित हुआ जिसमें उनका महत्वपूर्ण निबंध है 'द फंक्शन्स ऑफ क्रिटिसिज्म एट द प्रेजेंट टाइम'। आर्नल्ड ने आलोचना के कार्यक्षेत्र को अत्यंत विस्तृत कर दिया। उन्होंने आलोचना को वह महत्व दिया जिसकी पहले कभी कल्पना भी नहीं की गई थी। आर्नल्ड ने आलोचना को विश्व के सर्वोत्तम ज्ञान को संप्रेषित करने वाली शाखा के रूप में देखा।

'एसेज़ इन क्रिटिसिज्म' का दूसरा भाग (दो सीरीज़) 1888 में प्रकाशित हुआ। इसमें मिल्टन, कीट्स, वर्ड्सवर्थ, बॉयरन, शैली आदि कवियों पर लिखे गए उनके निबंधों के साथ कविता विषयक उनका सबसे महत्वपूर्ण निबंध 'द स्टडी ऑफ पोएट्री' भी संकलित है।

1869 में उनके समस्त कृतित्व की केंद्रीय रचना 'कल्चर एंड अनार्की' प्रकाशित हुई। इस रचना में आर्नल्ड ने विक्टोरियन समाज का झकझोरने वाला विश्लेषण किया उन्होंने आदर्शों से रहित, दिशाहीन लोकतंत्र में फैली अराजकता के विरुद्ध संस्कृति को पूर्णता का अध्ययन स्वीकार किया। अपनी इस कृति में आर्नल्ड संस्कृति के प्रचारक दिखाई पड़ते हैं। फिर भी, उनकी यह रचना उत्कृष्ट साहित्य का एक ऐसा उदारहण है जो स्वयं में अनूठा है और उसकी कोई भी व्याख्या उसके प्रति पूर्ण न्याय नहीं कर सकती।

1873 में 'लिटरेचर एंड डोग्मा', 1875 मे 'गॉड एंड द बाइबल', 1877 में 'एसेज़ ऑन चर्च एंड स्टेट' आदि पुस्तकों में आर्नल्ड ने धर्म की हठधर्मिता का विरोध किया तथा धर्म की उदार एवं काव्यपरक व्याख्या की। आर्नल्ड के लिए कुछ भी साहित्य की परिधि से बाहर नहीं है। उनका मानना है कि साहित्य के प्रति लोगों की जो प्रतिक्रिया है उसका उनकी जीवन शैली, उनके विचार और अनुभव से गहरा संबंध है। इसलिए सही साहित्यिक आदर्श अर्जित करने का अर्थ है जीवन के सही ढंग को पाना।

मैथ्यू आर्नल्ड काव्य को संस्कृति और मूल्यों के अधिष्ठाता के रूप में स्वीकार करते हैं। उनका समस्त कृतित्व जीवन और साहित्य की दूरी को पाटने का एक अथक प्रयास है। नैतिकता और आदर्श में उनकी गहरी निष्ठा है उसी को संबल बनाकर मैथ्यू आर्नल्ड ने, कविता और जीवन के प्रतिमान निर्धारित किए जो आज भी साहित्य जगत में उनकी रचनात्मक प्रतिभा और विलक्षण बौद्धिकता के प्रमाण हैं।

15.3 संस्कृति और नैतिकता की प्रतिष्ठा

अंग्रेज़ी साहित्यिक जगत में मैथ्यू आर्नल्ड का आविर्भाव उस समय हुआ जब रोमांटिक युग समाप्त हो चुका था और विक्टोरियन युग अपनी पूरी पराकाष्ठा पर था। औद्योगीकरण की तीव्र प्रगति अंग्रेज़ी साम्राज्य के लिए आर्थिक संपन्नता और वैभव के चरमोत्कर्ष का प्रतीक थी लेकिन भौतिक उपलब्धियों के साथ-साथ नैतिक खोखलापन मूल्यांधता और सांस्कृतिक पतन भी बढ़ता जा रहा था। आर्नल्ड के लिए यह चिंता का विषय था। वैज्ञानिक विकास के परिणामस्वरूप भौतिकता से आक्रांत उस युग में कविता और साहित्य के अस्तित्व पर प्रश्न चिह्न लग रहे थे। उपयोगितावादी दृष्टि के फलस्वरूप टॉमस लव पीकॉक जैसे आलोचक तो उस युग में कविता के अस्तित्व को पूरी तरह नकार चुके थे। उनके अनुसार ज्ञान और तर्क के उस युग में कविता के लिए कोई स्थान नहीं था। इसके विपरीत मैथ्यू आर्नल्ड ने इस सारी अराजकता और असंतुलन के बीच काव्य को ही जीवन में नैतिक आदर्शों का

प्रेरक और संस्कृति का साधन बताया। विज्ञान और काव्य के द्वंद्व को आर्नल्ड ने नई दृष्टि से देखा। उनके अनुसार विज्ञान और काव्य दो प्रतिरोधी शक्तियाँ नहीं बल्कि एक दूसरे की पूरक हैं। आर्नल्ड ने यह घोषणा की कि कविता जीवन की व्याख्या, जीवन में सहानुभूति और उसे संबल प्रदान करने के लिए अधिकांश मानव जाति काव्य की ओर ही उन्मुख होगी। काव्य के बिना हमारा विज्ञान अधूरा लगेगा और हमारे जीवन में धर्म एवं दर्शन का स्थानापन्न भी कविता द्वारा होगा। ('More and more mankind will discover that we have to turn to poetry to interpret life for us, to console us, to sustain us. Without poetry our science will appear incomplete and most of what now passes with us for religion and philosophy will be replaced by poetry.' – Selected Essays; The Study of Poetry, p. 47)

वैज्ञानिक विकास के साथ तत्कालीन समाज में जीवन के प्रति जो एकांगी दृष्टिकोण पैदा हुआ आर्नल्ड ने उसके विरोध में जीवन की समग्रता पर बल दिया। भौतिक संपन्नता के उस युग में वे दृढ़ता से नैतिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों के हामी बनकर अपने विचारों का प्रतिपादन करते रहे और उन्होंने कविता को इस सारे विघटन व संत्रास से मुक्ति का माध्यम माना।

युगीन जीवन से संबंधित आर्नल्ड के विचारों में अपने युग का विश्लेषण प्रतिध्वनित होता है। वे तत्कालीन जन-समाज की वृत्तियों से विक्षुब्ध हैं और यह कहने में भी नहीं हिचकते कि अभिजात वर्ग बर्बर हो गया है, मध्यवर्ग भोगलीन है तथा निम्नवर्ग सुप्तावस्था में है। अभिजात वर्ग तथा निम्न वर्ग से उन्हें कोई आशा नहीं है लेकिन मध्यवर्ग की जड़ता को तोड़ने के लिए वह साहित्य और आलोचना से यह अपेक्षा करते हैं कि वह उसका रुचि-परिष्कार करे। आर्नल्ड जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पूर्णता एवं समन्वयपरक दृष्टि का विकास करना चाहते हैं और उनके लिए संस्कृति की पूर्णता का दूसरा नाम है। अपनी पुस्तक 'कल्चर एंड एनार्की' के प्रथम अध्याय में वे संस्कृति को परिभाषित करते हुएं लिखते हैं - संस्कृति पूर्णता का अध्ययन है और उसका उद्देश्य हैं बुद्धि और ईश्वर की इच्छा को सफल बनाना। माधुर्य और आलोक उसके विशिष्ट गुण हैं। मानवमात्र के प्रति प्रेम और उसकी समस्याओं को समझना संस्कृति के मुख्य अंग हैं। संस्कृति का उद्देश्य है जीवन में उदात्त मूल्यों तथा उद्देश्यों की सम्यक् प्रतिष्ठा करना। जीवन में साध्य और साधन, स्थायी और अस्थायी, पूर्ण और अपूर्ण के भेद की व्याख्या संस्कृति का मुख्य प्रयोजन है। (पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परंपरा, पृ. 191 से साभार)

आर्नल्ड के अनुसार संस्कृति पूर्णता की प्रतिष्ठापक है और काव्य संस्कृति का अन्यतम साधन है। आर्नल्ड को विश्वास है कि तत्कालीन अजराकतापूर्ण स्थितियों में काव्य ही जीवन को नैतिक आदर्शों की ओर प्रेरित करता है और उसे सांस्कृतिक पूर्णता की ओर ले जा सकता है। अपनी इन्हीं धारणाओं के कारण आर्नल्ड स्वच्छंदतावादी मान्यताओं का खंडन करते हैं और उसे काव्य के सांस्कृतिक लक्ष्य में बाधक मानते हैं।

आर्नल्ड के लिए काव्य का लक्ष्य मात्र मनोरंजन या आनंद नहीं,वह सांस्कृतिक उन्नयन एवं परिष्करण का साधन है। अतः जिस कविता में आदर्श या उपदेश नहीं वह उन्हें काम्य नहीं है अतिशय गंभीरता (high seriousness) को उन्होंने काव्य का बहुत बड़ा गुण माना और उसी के लिए उन्होंने प्राचीन आभिजात्यवादी सिद्धांतों की पुनः स्थापना की। प्राचीन काव्यशास्त्रियों मे अरस्तू उनके आदर्श थे। उन्होंने भी कामदी की अपेक्षा त्रासदी को अधिक महत्व दिया। रोमांटिक कवियों की भावप्रवण एवं संगीतमय लालित्य से युक्त कविताएँ आर्नल्ड द्वारा प्रतिपादित 'उत्तम कविता' की कसौटी पर खरी नहीं उतरती। इसीलिए उन्होंने शैली, बॉयरन, कीट्स, कालेरिज आदि कवियों की निंदा ही की। उनके लिए तो सोफोक्लीस, होमर, दांते, गेटे, मिल्टन जैसे कवियों का काव्य ही उत्तम है जो युग चेतना से संपन्न है। प्राचीन काव्य का आग्रह उनके चिंतन में इस सीमा तक है कि उनके अनुसार कवियों को अपने विषय चयन के लिए भी प्राचीन कवियों से प्रेरणा लेनी चाहिए क्योंकि आर्नल्ड को संदेह है कि तत्कालीन युग से, जिसमें नैतिक भव्यता नहीं है, काव्य के लिए उपयुक्त विषय मिल सकते हैं।

आर्नल्ड ने अपने आदर्श और साहित्यिक प्रतिमान प्राचीन साहित्य से ही ग्रहण किए। इसीलिए उन्हें यूनानी साहित्यिक आदर्शों का उद्धारक भी कहा जाता है। प्राचीन आदर्शों को ग्रहण कर आर्नल्ड ने एक नवीन आलोचना पद्धति का विकास किया जो बाद के अलोचकों के लिए अनुकरणीय बनी। उन्होंने काव्य या साहित्य को अपने परिवेश और युग से अभिन्न रूप मे देखा। इस तरह, आर्नल्ड परंपरा और आधुनिकता के मिलन-बिंदु पर खड़े दिखाई देते हैं। किंतु विडंबना यह रही कि आलोचक के रूप में उन्होंने जिस गंभीरता या उपदेशात्मकता की वकालत की उनकी अपनी सभी कविताएँ भी उसकी

साक्ष्य नहीं देती। वे वैचारिकता और भावना के द्वंद्व में फँसे रहे। इसीलिए उनका मूल्यांकन करते हुए डॉ. निर्मला जैन कहती हैं - 'आर्नल्ड को अंग्रेज़ी के उस परवर्ती रोमांटिक आलोचक के रूप में देखा गया जिसमें अर्ध-क्लासिकी और अर्ध-रोमानी चेतना का संगम मिलता है वे क्लासिकी तेवर और रोमांटिक मिज़ाज़ से लेस ठेठ विक्टोरियन थे।' (पाश्चात्य साहित्य चिंतन, पृ. 108)

वस्तुतः आर्नल्ड के सम्मुख विज्ञान के प्रभुत्व और भौतिकता के वर्चस्व की जो चुनौती थी उसका उत्तर वे सामाजिक आदर्शों और नैतिक मूल्यों के प्रतिस्थापन द्वारा ही दे सकते थे। आर्नल्ड ने काव्य मे नैतिक मूल्यों के प्रतिस्थापन पर विशेष बल दिया। उन्होंने यहाँ तक कहा कि नैतिक विचारों के विरुद्ध लिखी गई कविता जीवन के प्रति विद्रोह की कविता है और नैतिकता के प्रति उदासीन कविता जीवन के प्रति उदासीन कविता है। ('A poetry of revolt against moral ideas is a poetry of revolt against life; a poetry of indifference towards moral ideas is a poetry of indifference towards life.) विज्ञान ने धर्म की जड़ों को हिला दिया था। यो भी धार्मिक रूढ़िवादिता और हठधर्मिता की जकड़न का अनुभव अंग्रेज़ समाज पहले ही कर चुका था। इसीलिए आर्नल्ड ने काव्य को मानवमात्र को सांत्वना देने वाले, संस्कृति के अन्यतम साधन व नैतिक मूल्यों के प्रतिष्ठापक के रूप में प्रस्तावित किया लेकिन उनकी कविता का आदर्श तत्कालीन समाज न होकर ऐसा प्राचीन काव्य ही था जिसमें जीवन की महानता और भव्यता पर बल हो।

15.4 काव्य के संबंध में मैथ्यू आर्नल्ड की धारणा

आर्नल्ड के काव्य में रोमाण्टिक (स्वच्छंदतावादी) मान्यताओं का खण्डन किया और प्राचीन क्लासिकल (आभिजात्यवादी) सिद्धांतों की पुनःस्थापना का प्रयत्न किया। उनके विचार से क्लासिकल यूनानी चिंतन और सिद्धांत अनुकरणीय हैं, विशेष रूप से अरस्तू तथा होमर के विचार। इस दृष्टि से आर्नल्ड प्राचीन और नवीन परम्परा और आधुनिकता के मिलन-बिंदु पर खड़े दिखाई देते हैं। काव्य में स्वाभाविकता, सरलता और क्लासिकल गुणों के साथ उन्होंने आलोचना की स्वायत्त सत्ता पर बल दिया। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि महान काव्य के लिए उसकी विषय-वस्तु (content) उदात्त होनी चाहिए और शैली भव्य। उनकी धारणा थी कि सामयिक विषयों पर लिखा गया काव्य चिर-स्थायी नहीं हो सकता। ऐसा कहने के पीछे उनके सामने चल रहा 'स्पैजमोटिक' नामक काव्यांदोलन था जो समसामयिक विषयों पर केंद्रित था। इस काव्यांदोलन से वे पूरी तरह असहमत थे। उनका कहना था कि सामाजिक विषयों की उपादेयता समाप्त हो जाने के बाद उनका महत्व भी समाप्त हो जाता है जैसे हिंदी के रीतिकाल की दरबारी कविता - आज अपना महत्व खो चुकी है या स्वाधीनता आंदोलन के दौरान लिखा गया तमाम भावावेशी काव्य। अतः काव्य वही स्थायी होता है जिसमें स्थायी भावों-संवेदनाओं की प्राण-प्रतिष्ठा हो। आर्नल्ड ने प्राचीन यूनानी काव्यों की सफलता के तीन कारण बताए हैं -

1. काव्य व्यापार की महानता
2. चरित्रों की उदात्तता
3. स्थितियों की तीव्रता।

इनके अभाव में कोई काव्य चिरस्थायित्व प्राप्त नहीं कर सकता। इस प्रकार, उन्होंने काव्य-कर्म में चार बातों पर विशेष ध्यान दिया -

1. काव्य की विषय-वस्तु महत्वपूर्ण हो
2. रचना-प्रक्रिया के क्रम में संरचनात्मक अन्विति, अनुपात तथा सामंजस्य पर ध्यान देना चाहिए
3. वर्णन में भव्य शैली (grand style) का प्रयोग आवश्यक है
4. आनंद प्रदान करने के साथ कविता नैतिक उन्नयन भी करे।

उन्होंने बार-बार रचना में वस्तु और रूप के सामंजस्य पर बल दिया। मूल बात यह है कि वे काव्य का प्रयोजन सांस्कृतिक उन्नयन और भाव-परिष्कार मानते हैं। काव्य का मूल्यांकन बाह्य मानदंडों से नहीं करना चाहिए। आलोचना कृति केंद्रित हो और कृति-केंद्रित आलोचना के मानदंड कृति के भीतर से ही आने चाहिए।

मैथ्यू आर्नल्ड की सबसे महत्वपूर्ण स्थापना यही है कि 'कविता जीवन की आलोचना है।' उनके अनुसार कवि की महत्ता इसी बात में है कि वह अपने जीवन संबंधी विचारों को इस प्रश्न से कि 'जीवन कैसे जीना चाहिए' - कितने सशक्त एवं सुंदर ढंग से जोड़ पाता है। ("...poetry is at bottom

a criticism of life; that the greatness of a poet lies in his powerful and beautiful application of ideas to life, - to the question : How to live" – Selected Essays. p.129) आर्नल्ड के सरोकार सांस्कृतिक एवं नैतिक है। इसीलिए डॉ.निर्मला जैन के शब्दों में कहें तो उनकी दिलचस्पी कविता क्या है की अपेक्षा 'कविता क्या करती है?' में अधिक थी।' (पाश्चात्य साहित्य चिंतन पृ.107) आर्नल्ड का आग्रह समाज में कविता की सक्रिय भूमिका पर है। उनके अनुसार कविता ही जीवन को समझने की दृष्टि देती है और उसे व्याख्यायित करती है। काव्य से संबद्ध सभी प्रश्न अनिवार्यतः जीवन से जुड़े हैं।

आर्नल्ड की यह दृष्टि काव्यशास्त्रीय नहीं थी और उस समय साहित्य और कला की जो व्याख्याएँ हो रही थीं उनके भी प्रतिकूल थी। इसीलिए इस उक्ति को लेकर बहुत विवाद हुआ। लेकिन आर्नल्ड अपनी दृष्टि में बिल्कुल स्पष्ट थे। जिस समय आर्नल्ड ने यह स्थापना की उस समय का साहित्यिक जगत स्वच्छंदतावाद, सौन्दर्यशास्त्र तथा कला - कला के लिए जैसे सिद्धांतों से लेस था। कविता कवि की व्यक्तिगत अनुभूतियों के दायरों में सिमटती जा रही थी। आर्नल्ड को यह स्वीकार नहीं था। उन्होंने ऐसी कविता की निंदा की और ऐसी कविता को कविता की परिधि से ही बाहर कर दिया जो जीवन विमुख है, जिसमें युगबोध नहीं है। उनके अनुसार कवि की महत्ता इसी बात में है कि उसके साहित्य ने युग की साहित्यिक-सामाजिक आवश्यकताओं को किस सीमा तक पूरा किया।

कविता द्वारा सामाजिक-सांस्कृतिक आदर्श की प्रतिष्ठा के लिए आर्नल्ड ने विषय चयन की महत्ता पर बहुत बल दिया। जैसी कि ऊपर चर्चा की जा चुकी है उनके अनुसार सब कुछ विषय पर निर्भर है। उपयुक्त विषय का चयन कर लो, उसकी स्थितियों के मूल में निहित भावना से तादात्म्य स्थापित कर लो, यदि यह हो गया, तो फिर सब अपने आप हो जायेगा। उन्होंने वस्तु और रूप के सामंजस्य पर बल दिया। उनका मानना है कि यदि काव्य का विषय उत्कृष्ट है, उसमें सत्य एवं गांभीर्य है तो उसमें शैली का उत्कर्ष स्वयं समाविष्ट हो जाएगा।

प्रश्न यह है कि उत्कृष्ट विषय कौन से हैं? आर्नल्ड का उत्तर है, 'मानव के कार्य-व्यापार'। उनके अनुसार मानव के कार्य व्यापार समस्त राष्ट्रों में, सदा ही काव्य के शाश्वत विषय रहे हैं। उन्होंने उन कार्य व्यापारों को शाश्वत महत्व का माना जो मानव के सहज संस्कारों, उन मूलवर्ती भावनाओं को आंदोलित करें जिनका जातीय मानस में स्थायी वास होता है और जो काल-निरपेक्ष यानी कालातीत होते हैं। ये भावनाएँ स्थायी और अपरिवर्तनीय हैं।

आर्नल्ड ने समकालीन जीवन की अपेक्षा प्राचीन कार्य-व्यापारों के महत्व की प्रतिष्ठा की। उनके अनुसार काव्य विषय का महत्त्व उसकी समकालीनता पर नहीं, उसकी महानता पर निर्भर है और तत्कालीन मूल्य विहीन जीवन को उन्होंने उत्कृष्ट काव्य के प्रेरक रूप में नहीं देखा। उनके लिए उत्तम काव्य वही है जो जीवन के उदात्त एवं व्यापक विचारों को प्रस्तुत करने में सक्षम है।

आर्नल्ड ने जिस तरह कविता के सांस्कृतिक, सामाजिक एवं नैतिक उद्देश्यों पर बल दिया है उससे वे कविता के शिक्षक और उपदेशक अधिक दिखाई पड़ते हैं। उनके अनुसार कविता का कार्य एवं लक्ष्य अत्यंत भव्य है। आर्नल्ड की इन सारी स्थापनाओं में इस बात का अपना महत्व है कि उन्होंने विषयवस्तु पर इतना बल देते हुए भी उसके विशिष्ट शिल्प की अवहेलना नहीं की। विषय वस्तु की महत्ता के साथ-साथ उन्होंने उसकी संरचनात्मक अन्विति, उसमें अनुपात तथा सुसंगति को अनिवार्य माना। साथ ही वर्णन की भव्य शैली पर बल दिया। उन्होंने वस्तु और रूप, विषय और अभिव्यंजना के सामंजस्य पर बल दिया।

आर्नल्ड 'काव्य सत्य' एवं 'काव्य सौंदर्य' के निर्धारित नियमों के अधीन ही कविता को जीवन की आलोचना स्वीकार करते हैं। ('In poetry, as a criticism of life under the conditions fixed for such a criticism by the laws of poetic truth and poetic beauty.' – Selected Essays, p.48) इस तरह वे काव्य सत्य और काव्य सौंदर्य को कविता का मुख्य लक्ष्य स्वीकार करते हैं। 'काव्य सत्य' से उनका अभिप्राय विषय-वस्तु की मूल्यवत्ता से है और 'कावा सौंदर्य' अभिव्यंजना सौंदर्य एवं लालित्य का पर्याय है। इस तरह, मैथ्यू आर्नल्ड के लिए उत्तम काव्य वही है जिसमें महान् कार्य तथा उत्कृष्ट शैली - दोनों हों। शैली की उत्कृष्टता केवल कुछ वाक्यांशों तक ही सीमित नहीं हो सकती अपितु संपूर्ण काव्य विधान में उत्कृष्ट शैली का प्रयोग होना चाहिए। आर्नल्ड शैली में सरलता एवं स्वच्छता के आग्रही हैं।

सारतः मैथ्यू आर्नल्ड की दृष्टि में उत्तम काव्य वही है जिसकी विषय-वस्तु संस्कृति और नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठापक हो, जो मनुष्य के संस्कारों को आंदोलित करे तथा जिसकी शैली भी भव्य हो।

15.5 आलोचक और आलोचना

मैथ्यू आर्नल्ड ने जहाँ कविता को जीवन की आलोचना माना, वहीं साहित्यिक आलोचना पर भी बहुत बड़ा दायित्व सौंपा। उनकी दृष्टि में आलोचक की भूमिका केवल कविता के मूल्यांकन तक ही सीमित नहीं है, वह एक चिंतक होता है जिस पर सांस्कृतिक विकास की जिम्मेदारी होती है। उसका लक्ष्य अपने युग के समक्ष सही एवं उच्च आदर्श प्रस्तुत करना है कविता और आलोचना के सापेक्षिक महत्व की बात करते हुए आर्नल्ड ने आलोचना को किसी भी तरह काव्य रचना से निम्नतर दर्ज़ा नहीं दिया। उनके लिए तो आलोचना काव्य से भी अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि आलोचना ही महान विचारों के संप्रेषण द्वारा उत्कृष्ट साहित्य सृजन के लिए उर्वर भूमि तैयार करती है। आर्नल्ड के अनुसार आलोचना को तीन कार्य करने होंगे - जीवन और काव्य की महान् उपलब्धियों को समझना, इन उपलब्धियों के विचारों को सशक्त अभिव्यक्ति देना तथा जीवन में उत्कृष्ट विचारों का संचार कर ऐसे वातावरण का निर्माण करना जो महान साहित्य को प्रेरणा दे सके। मैथ्यू आर्नल्ड ने आलोचना को काव्य की सीमाओं में नहीं, उसे जीवन के व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखा जिससे वह सांस्कृतिक नव-निर्माण का गुरुभार वहन कर सके। आलोचना में अतिरिक्त दार्शनिकता का भी आर्नल्ड ने विरोध किया क्योंकि उससे आलोचना में अमूर्तता आ जाती है और वह अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो पाती। उन्होंने आग्रहपूर्वक कहा कि आलोचना का लक्ष्य व्यक्ति को उसकी संकीर्णताओं, तुच्छताओं से मुक्त कर निरपेक्ष सौंदर्य की ओर आकृष्ट करना और उसे पूर्णता की ओर उन्मुख करना है।

आर्नल्ड ने आलोचना को जो दायित्व सौंपा उसका निर्वाह करने के लिए उनके अपने कुछ मानदंड भी हैं जैसे उनके लिए यह बहुत महत्वपूर्ण है कि श्रेष्ठ काव्य या उत्कृष्ट काव्य (best poetry) का आदर्श आलोचक के समक्ष हो और वही किसी भी रचना के मूल्यांकन की कसौटी बने। अंग्रेज़ी साहित्य में इसे touch stone theory कहा गया। आर्नल्ड यूनानी आभिजात साहित्य के बड़े प्रशंसक थे। जो काव्य उन आदर्शों की कसौटी पर खरा उतरता है उनकी नज़र में वही उत्कृष्ट काव्य है। उन्होंने यह सुझाव दिया कि प्राचीन काव्य की महान् रचनाओं के अंश - चाहे वे छंद या एक पंक्ति ही हों - जो उत्कृष्ट काव्य के सर्वमान्य उदाहरण है उनका चयन कर उन्हें संकलित करना चाहिए। इन अंशों से तुलना करके ही काव्य की उत्कृष्टता का निर्णय लिया जा सकता है।[1] ('Indeed there can be no more help for discovering what poetry belongs to the class of the truly excellent and can, therefore, do us most good, than to have always in mind lines and expressions of the great masters and to apply them as a touch stone to other poetry.........short passages, even single lines, will serve our turn quite sufficiently.' -- Selected Essays, p. 54-55)

आर्नल्ड ने स्वयं ऐसा संकलन तैयार भी किया किंतु इस चयन में उनके वैचारिक अंतर्विरोध स्पष्ट दिखाई देते हैं। आर्नल्ड ने जो पंक्तियाँ चुनीं वह उसी भावोच्छवास का प्रतिनिधित्व करती हैं जिसके कि वे विरोधी हैं। इसी तरह, आर्नल्ड ने उन रचनाओं को कभी उत्कृष्ट काव्य नहीं माना जो केवल एक पंक्ति या छह छंदों के कारण महत्वपूर्ण हों। आर्नल्ड स्वयं कविता में रचनात्मक अन्विति के समर्थक हैं। कविता का कोई भी अंश पूरी कविता के संदर्भ में ही महत्वपूर्ण होता है। साथ ही, किन्हीं सनातन मूल्यों के आधार पर काव्य की श्रेष्ठता का निर्णय नहीं लिया जा सकता क्योंकि परिवेश के बदलने के साथ सनातन की परिभाषा भी बदल जाती है।

कविता के मूल्यांकन या आलोचना के संबंध में आर्नल्ड का कहना है कि आलोचना की तीन पद्धतियाँ हैं - वैयक्तिक (personal), ऐतिहासिक (historical) तथा वास्तविक (real)। इनमें से प्रथम दोनो को ये आलोचना मानते ही नहीं। उनके लिए आलोचना का तीसरा वास्तविक रूप ही ग्राह्य है।

आर्नल्ड के अनुसार वैयक्तिक आलोचना द्वारा रचना का शुद्ध एवं सार्थक मूल्यांकन नहीं हो सकता। उसमें आलोचक की व्यक्तिगत रुचि तथा निजी प्रतिक्रिया महत्वपूर्ण हो जाती है। इससे आलोचना प्रभाववादी बन जाती है। आर्नल्ड ने इसे हेय माना और अस्वीकार किया।

ऐतिहासिक आलोचना के संबंध में भी आर्नल्ड का विचार है कि साहित्य के इतिहास और साहित्य की आलोचना में अंतर होता है। साहित्यिक प्रवृत्तियों व उसके विकास क्रम के सोपानों का विवेचन साहित्येतिहास का विषय है जबकि आलोचना रचना के गुण-दोषों का विवेचन करती है। अतः कृति की आलोचना और इतिहास का अंतर स्पष्ट है। आर्नल्ड के अनुसार ऐतिहासिक आलोचना काव्य के अंतर्निहित वैशिष्ट्य को उद्घाटित करने में असमर्थ होने के कारण काम्य नहीं है।

आर्नल्ड वास्तविक आलोचना को ही सच्ची आलोचना मानते हैं। कृति की वास्तविक आलोचना के लिए आर्नल्ड आलोचक से निस्संगता (disinterestedness) की माँग करते हैं जो साहित्य के अध्येता को तात्कालिक उपयोगितावादी या पूर्वाग्रहपूर्ण दृष्टि से मुक्त कर पूर्णता, समग्रता एवं समन्वय की ओर उन्मुख करे।

आर्नल्ड ने आलोचक की तटस्थता, निस्संगता व निष्पक्षता पर बहुत बल दिया किंतु उनके द्वारा प्रतिपादित निष्पक्षता का एक विशिष्ट अर्थ है। उनके यहाँ निष्पक्षता युग निरपेक्ष नहीं। वस्तुतः तत्कालीन अराजकता से जो विषमता समाज में आ गई थी उन्होंने उसके विरोध में जिस सांस्कृतिक पूर्णता का आदर्श रखा, उसको आत्मसात करने वाली आलोचना ही निष्पक्ष आलोचना है।

मैथ्यू आर्नल्ड उस समय के इंगलैंड में प्रचलित पूर्वाग्रहपूर्ण, पृथकतावादी संकीर्ण विचारधाराओं में बद्ध आलोचना के विरोधी हैं जिनका उद्देश्य मानव मात्र की सांस्कृतिक पूर्णता न होकर अपने व्यावहारिक एवं लौकिक स्वार्थों की सिद्धि होती है। आर्नल्ड ने अंग्रेज़ी आलोचना को इस संकीर्ण दृष्टिकोण को छोड़ने का सुझाव दिया। उसके लिए उन्होंने प्राचीन साहित्य में ग्रीक, लैटिन आदि तथा समकालीन साहित्य में फ्रांसीसी, जर्मन आदि आधुनिक साहित्य के अध्ययन-मनन को अनिवार्य बताया। इस तरह प्रकारांतर से आर्नल्ड ने ही आलोचना की तुलनात्मक पद्धति का सूत्रपात भी किया।

आर्नल्ड ने जहाँ आलोचक को साहित्य के प्रेरक के रूप में देखा वहीं दूसरी ओर उनका कहना है 'the critical faculty is lower than the inventive' कवि की सृजनात्मक शक्ति को आलोचना की शक्ति से श्रेष्ठ बताते हुए आर्नल्ड ने आलोचक से यह अपेक्षा भी की कि कविता को समझने के लिए वह रचनाकार के युग, परिवेश और कवि की जीवनी से भलीभाँति परिचित हो, क्योंकि कवि के व्यक्तित्व को समझने से ही रचना का उचित मूल्यांकन हो सकता है। आर्नल्ड मानते हैं कि श्रेष्ठ सृजनात्मक प्रतिभा को भी श्रेष्ठ सृजन के लिये उपयुक्त सृजन-काल की अपेक्षा होती है। यह कर्त्तव्य आलोचक का है कि वह सृजन-प्रतिभा और सृजन-क्षण के परस्पर संबंध को पहचाने। आर्नल्ड की यह धारणा, आलोचक की निष्पक्षता के विचार के प्रतिकूल पड़ती है।

15.6 मैथ्यू आर्नल्ड का अवदान

1. आर्नल्ड को 'प्रथम आधुनिक आलोचक' कहा गया है। उल्लेखनीय तथ्य यह भी है कि उनसे अंग्रेज़ी की आधुनिक आलोचना का एक प्रकार से सूत्रपात होता है। उनसे पहले एक ही महिमाशाली नाम मिलता है - कॉलरिज का। किंतु कॉलरिज की दृष्टि मूलतः सैद्धांतिक थी और वे काव्य के तत्वों के अन्वेषक थे। किंतु आर्नल्ड की दृष्टि एकदम व्यावहारिक थी - वे आलोचना को दर्शन की शाखा स्वीकार करने को तैयार नहीं थे और न रोमाण्टिक-क्लासिकल के भेदों में सिर खपाना चाहते थे। मूल बात यह कि वे आलोचना की स्वायत्ता के पक्षधर थे और पाठक वर्ग की रुचि-परिष्कार के प्रबल समर्थक थे।

2. आर्नल्ड काव्य को नैतिक-सांस्कृतिक उन्नयन का साधन मानते हैं। उनकी दृष्टि में काव्य एक सांस्कृतिक प्रक्रिया है जिसका उद्देश्य है - समाज एवं संस्कृति का उत्कर्ष।

3. आर्नल्ड ने उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण के रोमाण्टिक सिद्धांतों का खण्डन करते हुए प्राचीन यूनानी क्लासिक सिद्धांतो को अपनाने की ज़ोरदार वकालत की। उनका विश्वास है कि यूनानी सिद्धांतों के प्रकाश में ही नवीन काव्य सिद्धांतों का निर्माण किया जा सकता है। प्राचीन और नवीन के बीच सेतु बनाने वाली इसी आर्नल्डीय-दृष्टि को टी.एस.एलियट ने अपने विचारों-तर्कों से आगे बढाया।

4. काव्य को 'जीवन की आलोचना' कहने से तात्पर्य है 'जीवन की पुनर्निमिति', 'जीवन की पुनर्व्याख्या', 'जीवन का समग्रता में निरीक्षण-परीक्षण'। काव्य में कवि जीवन की गहराई और व्यापकता दोनों को विस्तार से स्थान देता है - वह उसके किसी भी पक्ष की उपेक्षा नहीं कर सकता। काव्य की सीमा का विस्तार धर्म, संस्कृति, शिक्षा आदि सभी तक है। काव्य, विज्ञान का विरोधी नहीं, उसका पूरक है। कविता ही मानव के कोमल भावों को भीतर से सहलाने का काम कर सकती है - विज्ञान नहीं। अतः जैसे-जैसे विज्ञान की उन्नति होती जाएगी वैसे-वैसे कविता की भूमिका का महत्व भी बढ़ता जाएगा। काव्य का प्रयोजन मात्र आनंद प्रदान करना नहीं है - मानव की नैतिक-सांस्कृतिक भावनाओं का उन्नयन और परिष्कार है।

5. आर्नल्ड ने ही प्रथम बार समस्त यूरोप को एक बौद्धिक-साहित्यिक संघ के रूप में देखने के विचार का प्रस्ताव किया। उन्होंने देखा कि आलोचना के क्षेत्र में फ्रांस-जर्मनी आगे हैं। इस परिप्रेक्ष्य के भीतर से उन्हें यह वैचारिक प्रकाश मिला है कि आलोचना को राष्ट्रीय सीमाओं में बाँधना अनुचित है। उन्होंने अंग्रेज़ी आलोचना को संकीर्णतावादी-अलगाववादी नीति छोड़ने का आग्रह किया और जर्मनी, फ्रांसीसी, ग्रीक, लैटिन के साथ अन्य भाषाओं के आधुनिक साहित्य को अध्ययन-मनन के केंद्र में लाने का सुझाव दिया। फलतः उन्होंने उस आलोचना पद्धति की नींव डाली जिसे आज तुलनात्मक आलोचना कहा जाता है।

6. आर्नल्ड ने बहुत विस्तार से इस तथ्य का प्रतिपादन किया कि साहित्येतर मानदंड साहित्य के विवेचन-मूल्यांकन में बाधक हैं। अतः उनसे मुक्ति आवश्यक है। राजनीतिक-ऐतिहासिक पूर्वाग्रहों से ग्रस्त आलोचना साहित्य के साथ न्याय नहीं कर सकती। आलोचक को निस्संग होना चाहिए। आर्नल्ड के निस्संगता वाले इस विचार को बाद में एलियट ने व्यापक समर्थन दिया।

7. सेंट व्यूव (व्यव) के चिंतन से प्रभावित होकर आर्नल्ड ने यह मत व्यक्त किया है कि रचना या कृति को ठीक से समझने के लिए रचनाकार के युग-परिवेश, वैयक्तिक जीवन की गहन जानकारी आवश्यक है। किंतु उनका यह विचार कई व्यावहारिक कठिनाइयाँ उत्पन्न करता है। इसीलिए यह कहा गया कि आलोचना में कृति पर ध्यान केंद्रित करना चाहिए कृतिकार पर नहीं। आलोचना का लक्ष्य रचना होनी चाहिए और रचना को पाठ-विश्लेषण में आलोचक को भारी श्रम करना चाहिए।

8. आर्नल्ड की दृष्टि में संस्कृति तथा आलोचना अभिन्न हैं। संस्कृति और आलोचना, दोनों का लक्ष्य पूर्णता की ओर बढ़ना है।

9. आर्नल्ड का मत है कि महान काव्य के लिए विषय-वस्तु उदात्त होनी चाहिए और शैली भव्य। साथ ही उनकी धारणा है कि सामयिक विषयों पर लिखा गया काव्य चिर-स्थायी नहीं हो सकता। अतः काव्य का विषय ऐसा होना चाहिए जो मनुष्य के स्थायी भावों और संवेदनाओं से सम्बद्ध हो। उनकी दृष्टि में प्राचीन काव्य (क्लासिकल,यूनानी काव्य) की स्थायी सफलता के मूल में तीन कारण थे - (क) कार्य-व्यापार की महत्ता (ख) चरित्रों की उदात्तता (ग) स्थितियों की तीव्रता। विषय-वस्तु महान होने पर भी कवि को काव्य-सृजन प्रक्रिया के दौरान यह ध्यान रखना चाहिए कि रचना में सामंजस्य, अनुपात तथा संरचनात्मक अन्विति हो। काव्य-प्रयोजन आनंद के साथ नैतिक उन्नयन हो।

10. आर्नल्ड का पूरा ध्यान वस्तु और रूप, विषय और अभिव्यंजना के सामंजस्य पर रहा है। रचना में सरलता, संयम और परिष्कार पर बल देने का कारण है कि वे काव्य को सांस्कृतिक उन्नयन और परिष्कार का साधन मानते हैं। आलोचना का उद्देश्य है - पाठक की रुचि का परिष्कार और ज्ञान-संवेदना का विस्तार। काव्य-सौंदर्य और काव्य-सत्य के निर्धारित नियमों में उसे जीवन की आलोचना (व्याख्या-पुनर्व्याख्या) होना चाहिए। उल्लेखनीय तथ्य यह है कि उन्होंने काव्य और नैतिकता की पूरी ताकत के साथ वकालत की है। शायद ही किसी आलोचक ने इतने जोरदार ढंग से काव्य और नैतिकता के पक्ष को सामने रखा हो।

11. काव्य की श्रेष्ठता के निर्धारण का प्रश्न उन्हें जीवन-भर मथता रहा है। इसीलिए उनका विचार है कि काव्य की परख के लिए निकष-पद्धति (Touch-Stone Method) अपनाना चाहिए। जैसे किसी वस्तु को तौलने के लिए बाट काम में लाए जाते हैं, वैसे ही काव्य के महत्व और सौंदर्य को आँकने के लिए महान कवियों की कृतियों के भीतर मौजूद श्रेष्ठतम काव्य-पंक्तियाँ स्मरण रखनी चाहिए और किसी काव्य की उन्नमता की परख के लिए उन्हें ही प्रतिमान या निकष बनाना चाहिए। अपने निबंध 'दि स्टडी ऑफ पोयट्री' में उन्होंने होमर, शेक्सपियर, दांते और मिल्टन की श्रेष्ठ काव्य पंक्तियाँ 'निकष पद्धति' को व्यावहारिक रूप देने के लिए प्रस्तुत की हैं।

12. आर्नल्ड काव्य को जीवन-आलोचना माना है। उनके ज्यादातर निबंधों में घूम-फिरकर यह धारणा बराबर आती रही है कि जीवन के व्यापक सौंदर्य से युक्त, मानव के अनुभव-सत्यों से सम्पन्न काव्य जीवन की आलोचना या व्याख्या है। जीवन की आलोचना का अर्थ है - जीवनानुभवों की पुनर्रचना या जीवन की पुनर्निर्मिति। 'जीवन की आलोचना' से विद्वानों ने अनेक अर्थ-ध्वनियाँ ग्रहण कीं और इसके अनेक भाष्य होते रहे हैं। यह भी कहा गया कि 'काव्य-सत्य' से आर्नल्ड का तात्पर्य 'विषय-वस्तु की मूल्यवत्ता से रहा है और 'काव्य-सौंदर्य' से तात्पर्य अभिव्यंजना की भव्यता और उदात्तता से। दरअसल आर्नल्ड 'काव्य को जीवन की आलोचना कहकर कलावाद-रूपवाद का खण्डन करना चाहते थे और उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण के स्वच्छंदतावादी

आंदोलन की वैयक्तिकता का खण्डन। उनके मत का सार-संक्षेप यह कि काव्य में जीवन-समस्याओं, जीवन-वास्तविकताओं का चित्रण होना चाहिए। रचनाकार का काम युग-परिवेश में व्याप्त विचारों का संश्लेषण और उद्घाटन है - विश्लेषण और अन्वेषण नहीं। विश्लेषण तथा अन्वेषण तो दर्शन और विज्ञान का क्षेत्र है।

13. भावातिरेक और वैयक्तिकता से ग्रस्त होने के कारण आर्नल्ड ने प्रगीत काव्य का अपने ढंग से तिरस्कार किया है। वे प्रबंध काव्य को ही महान काव्य मानते हैं। आर्नल्ड का ध्यान आते ही हमें आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का ध्यान आना स्वाभाविक है क्योंकि दोनों ही आलोचक दार्शनिक गूढ़ता अमूर्तता और अस्पष्टता से बचने की सलाह देते हैं।

14. आज आर्नल्ड की मान्यताओं-मानदंडों की प्रासंगिकता पर प्रश्न-चिह्न लग गए हैं। फिर भी आलोचना के विकास-पथ में उन्हें भुलाया नहीं जा सकता है।

15.7 मैथ्यू आर्नल्ड की आलोचना दृष्टि का मूल्यांकन

अंग्रेज़ी आलोचना में आर्नल्ड का महत्व असंदिग्ध होते हुए भी उनके योगदान को लेकर बहुत विरोधी बातें कही गईं। एलियट के अनुसार वे उस युग के कवि एवं समीक्षक हैं जो भ्रामक स्थिरता का युग है। ('He is the poet and critic of a period of false stability.' - Mathew Arnold : A collection of critical Essays, p.17) ऐसे समय में, एलियट की दृष्टि में आर्नल्ड न तो प्रतिक्रियावादी हैं, न ही क्रांतिकारी। वे एक युग के सूचक हैं वैसे ही, जैसे कि उनसे पूर्व ड्राइडन और जॉनसन थे। ('Arnold is neither a reactionary nor a revolutionary, he marks a period of time, as do Dryden and Johnson before him.' - Mathew Arnold : A collection of critical Essays, p.15) एलियट ने उन्हें प्रमुखतया एक शिक्षक, आलोचक की अपेक्षा आलोचना का प्रचारक कहा। उन्होंने सदा कविता की महानता (greatness of poetry) के विषय में ही सोचा उसके खरेपन (genuineness) के बारे में नहीं।

एलियट के ये सभी आक्षेप अपनी जगह सही हो सकते हैं लेकिन आर्नल्ड इतिहास के जिस बिंदु पर खड़े हैं वहाँ कविता और नैतिकता, संस्कृति और शाश्वतता जैसे विषयों को लेकर उनके मताग्रह इतने सशक्त हैं कि आर्नल्ड के लिए उनसे इतर कुछ भी देख पाना संभव नहीं था। फिर भी, मैथ्यू आर्नल्ड के योगदान पर विचार करते हुए हमें यह स्मरण रखना होगा कि उनका महत्व उनके कविता संबंधी विचारों के कारण उतना नहीं है जितना कि उस युग में कविता के सम्मुख जो चुनौतियाँ थीं उनका सामना कर, मानवमात्र के लिए काव्य की अक्षय संभावनाओं को उजागर करने के कारण हैं। इसीलिए एलियट द्वारा उनका मूल्यांकन उनके प्रति पूर्ण न्याय नहीं कर पाता। दूसरी ओर, विन्सेंट बॅकले तथा स्कॉट जैम्स जैसे विद्वानों ने उनकी इसी विशेषता को रेखांकित करते हुए उन्हें विक्टोरियन युग का सबसे बड़ा आलोचक माना है। विंसेंट बॅकले ने उन्हें विक्टोरियन युग के महान् साहित्यकारों में सबसे अधिक संवेदनशील बताया। ('Arnold is the most sensitive,…………of the great victorian literary men' – Mathew Arnold : A collection of critical Essays, p.150)

अंग्रेजी साहित्य में आर्नल्ड का महत्व ऐतिहासिक है। उन्होंने कविता और आलोचना दोनों के सीमित दायरों को तोड़कर उन्हें एक विस्तृत क्षितिज प्रदान किया। रोमांटिक काव्य की सीमाओं को भली भाँति पहचानकर आर्नल्ड ने कविता को व्यक्तिगत अनुभूति और भावना, कवि के अपने रागतत्व की सीमाओं का अतिक्रमण कर उसे जीवन की समग्रता तक फैलाया। आर्नल्ड कविता के सामाजिक उद्देश्यों को कभी नहीं भूलते। इसलिए कविता जो भी हो, जैसी भी हो यह अपने मूल में (at the bottom) जीवन की आलोचना ही है। जब आर्नल्ड जीवन की आलोचना की बात करते हैं तब भी उनके सम्मुख नैतिकता और सांस्कृतिक उत्थान के सरोकार बराबर बने रहते हैं। आर्नल्ड की दृष्टि में काव्य की श्रेष्ठता के लिए इन मूल्यों की प्रतिष्ठा अनिवार्य शर्त है। उनके ये विचार एक पूर्वाग्रह की तरह उनके समस्त आलोचना साहित्य में व्याप्त रहते हैं।

कविता के लिए उपयुक्त विषय चयन की चर्चा करते हुए वे 'पुरातन', 'शाश्वत' या 'सनातन' पर इतना बल देते हैं कि नवीन विषयों की शक्ति या संभावनाओं को बिल्कुल अनदेखा कर देते हैं। इस दृष्टि से आलोचकों ने यह आक्षेप किया कि उनके चिंतन में अपने युग विशेष के जीवन और उसकी समस्याओं की अवहेलना हुई है। वस्तुतः लोकमंगल और नैतिकता के उत्साह में वे अपने वर्तमान से इतने असंतुष्ट थे कि उन्होंने आधुनिकता के नाम पर यूनानी आभिजात्यवादी साहित्य के गुणों को ही

पुनर्जीवित करने का प्रयत्न किया। आर्नल्ड के लिए कविता धर्म और दर्शन का प्रतिस्थापन है। मानव सभ्यता के विकास में धर्म और दर्शन जो भूमिका निभाते रहे हैं, मनुष्य को जो सांत्वना देते रहे हैं या जो भावनात्मक तुष्टि प्रदान करते रहे हैं आर्नल्ड कविता से उन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति की अपेक्षा रखते हैं।

मैथ्यू आर्नल्ड एक सांस्कृतिक चिंतक हैं। उन्होंने संस्कृति के साधन के रूप में ही कविता पर विचार किया। विज्ञान और भौतिकता की जिस लहर ने उस युग जीवन पर तीव्र आघात किए थे आर्नल्ड ने उनके प्रत्युत्तर स्वरूप ही संस्कृति को, 'पूर्णता के अध्ययन' के रूप में प्रस्तुत किया। 'माधुर्य और आलोक' जैसे गुणों से समन्वित संस्कृति जीवन में संतुलन लाने वाली दृष्टि के रूप में प्रस्तावित हुई। संस्कृति के व्यापक उद्देश्यों की प्रतिष्ठा आर्नल्ड के विचार में कविता द्वारा ही संभव हो सकती थी। इसीलिए उन्होंने कविता को इतना महत्वपूर्ण स्थान दिया।

आर्नल्ड के साहित्यिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं नैतिक सरोकारों ने कविता के उद्देश्यों को ही विस्तृत नहीं किया अपितु आलोचना पर भी नए दायित्व डाले। आलोचना केवल काव्य तक ही सीमित नहीं रही वह जीवन सापेक्ष, युग सापेक्ष हो गई। संस्कृति, धर्म, दर्शन सभी कुछ उसकी परिधि में आ गया। उनकी दृष्टि में आलोचक का कर्त्तव्य कर्म था कि श्रेष्ठ साहित्य सृजन के लिए उपयुक्त वातावरण का निर्माण करे। उसके लिए आर्नल्ड आलोचक से यह अपेक्षा करते हैं कि वह वस्तुओं के वास्तविक रूप को देख-समझकर, सर्वोत्तम विचारों का प्रसार करे। श्रेष्ठ साहित्य के निर्माण के लिए आर्नल्ड महान् काव्य पंक्तियों को निकष की तरह प्रयोग करने के भी पक्षधर हैं। आलोचना के लिए उन्होंने तीन प्रणालियों वैयक्तिक, ऐतिहासिक तथा वास्तविक की चर्चा करते हुए वास्तविक आलोचना को ही सच्ची आलोचना माना। साथ ही, आलोचक की निस्संगता पर बहुत बल दिया। आर्नल्ड ने श्रेष्ठ कविता के प्रतिपादन में कवियों की जो तुलना की, उससे भविष्य में तुलनात्मक आलोचना का भी पथ प्रशस्त किया।

वस्तुतः आर्नल्ड की उपलब्धियों पर विचार करते हुए एक और तथ्य रेखांकित करना भी ज़रूरी हो जाता है कि नैतिकता और संस्कृति के आग्रहों के कारण कविता को जीवन की आलोचना स्वीकार करते हुए भी उन्होंने काव्य-सत्य और काव्य-सौंदर्य के निर्धारित नियमों की अवहेलना नहीं की। एक आलोचक के रूप में यद्यपि आर्नल्ड के लिए, कृतियों के मूल्यांकन की कसौटी उनके निजी आदर्श हैं। फिर भी उनकी आलोचना में दृढ़ता और प्रौढ़ता के दर्शन होते हैं।

15.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

डॉ. देवेन्द्र नाथ शर्मा, **पाश्चात्य काव्यशास्त्र**, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।

राम सेवक सिंह, **मैथ्यू आर्नल्ड**, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना।

डॉ. नगेन्द्र एवं डॉ. सावित्री सिन्हा, **पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परंपरा**, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

15.9 अभ्यास के लिए प्रश्न

1. मैथ्यू आर्नल्ड की काव्य संबंधी मान्यताओं पर विचार कीजिए।
2. 'कविता जीवन की आलोचना है'। आर्नल्ड की इस परिभाषा का विवेचन कीजिए।
3. काव्य-चिंतन से संबंधित मैथ्यू आर्नल्ड के योगदान का निरूपण कीजिए।



उत्तर प्रदेश
राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

MAHI-08

साहित्य सिद्धांत और समालोचना

खंड

5

पाश्चात्य काव्यशास्त्र-II

पाठ्यक्रम विशेषज्ञ समिति

पाठ्यक्रम निर्माण

इकाई लेखक
डॉ. कुसुम बाँठिया (इकाई 16)
देशबंधु कॉलेज,
दिल्ली
डॉ. कृष्णदत्त पालीवाल (इकाई 17-19)
हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली

पाठ्यक्रम संपादक
प्रो. निर्मला जैन
पाठ्यक्रम संयोजक
डॉ. रीतारानी पालीवाल

सामग्री निर्माण

प्रो. वी.रा.जगन्नाथन
निदेशक, मानविकी विद्यापीठ
इग्नू, नई दिल्ली

श्री कुलवंत सिंह
अनुभाग अधिकारी (प्रकाशन)
मानविकी विद्यापीठ, इग्नू

कैमरा रेडी कॉपी निर्माण एवं सचिवालयिक सहयोग
श्री हरीश कुमार सेठी

फरवरी 2004 (पुनः मुद्रित)

ISBN-81-266-0173-6

खंड 5 का परिचय

'साहित्य सिद्धांत और समालोचना' (एम.एच.डी.05) पाठ्यक्रम का पाँचवाँ खंड है - 'पाश्चात्य काव्यशास्त्र-II'। इस खंड में क्रोचे एलियट और रिचर्डस के प्रमुख समीक्षा सिद्धांतों को प्रस्तुत किया गया है। साथ ही, 'नयी समीक्षा' की जानकारी भी दी गई है। उपर्युक्त तीनों विचारक बीसवीं शताब्दी की पश्चिमी समीक्षा के महत्वपूर्ण आधार-स्तम्भ हैं। इनके साहित्य-कला चिंतन का गहरा प्रभाव विश्व समीक्षा पर दिखाई देता है। साथ ही, साहित्य चिंतन की नवीन पद्धतियों-प्रवृत्तियों के बीज-भाव भी इनके चिंतन साहित्य में मिलते हैं।

पश्चिमी जगत में उठने वाले कलावादी आंदोलन का नाम है - अभिव्यंजनावाद जिसमें आदर्शवादी सौंदर्य दर्शन की चरम परिणति हुई है। क्रोचे ने मार्क्स द्वारा प्रतिपादित द्वंद्वात्मक भौतिकवाद को अस्वीकार करके मन और उसकी मानसिक क्रियाओं के व्यापार से संबंधित अंतर्मुखी चेतना के दर्शन की महत्व-प्रतिष्ठा की। उनके इस अभिव्यंजनावाद सिद्धांत का समीक्षा और कला दर्शन पर गहरा प्रभाव पड़ा है।

टी.एस.एलियट ने स्वच्छंदतावाद के आधिपत्य को अस्वीकार करते हुए क्लासिकल मत का प्रतिपादन किया। उनके चिंतन के आधारभूत तत्व हैं - वैयक्तिक और विशिष्ट से ऊपर उठकर निर्वैयक्तिक और सामान्य की स्थापना तथा मूर्त-विधान। एलियट में नयी समीक्षा के बीज विद्यमान हैं। वे रचनाकार पर नहीं रचना पर ध्यान देने का आग्रह करते हैं।

आधुनिक युग के मौलिक चिंतकों में आई.ए.रिचर्डस का स्थान इसलिए महत्वपूर्ण है कि उन्होंने काव्य की उपयोगिता संबंधी उस संशय को मिटाने के लिए, जो भौतिकवादी दर्शन और विज्ञान की प्रगति के साथ उत्पन्न हो गया था, नवीन और सर्वांगीण काव्यशास्त्र का निर्माण किया।

कलाकृति के पाठ को आधार मानकर चलने वाली 'नयी समीक्षा' (न्यू क्रिटिसिज़्म) का विकास अमरीका में हुआ है किंतु इसे प्रेरणा इंगलैंड के कैम्ब्रिज स्कूल से प्राप्त हुई जिसमें प्रमुख हैं - आई.ए. रिचर्डस। विश्लेषणात्मक आलोचना को साधन-सम्पन्न बनाने में नयी समीक्षा का बहुत बड़ा योगदान है। इसलिए यह आज दुनिया भर में महत्वपूर्ण मानी जाती है।

खंड में कुल चार इकाइयाँ (इकाई 16-19) हैं।

इकाई 16 **'क्रोचे का अभिव्यंजनावाद'** में क्रोचे के अभिव्यंजना सिद्धांत और अभिव्यंजनावादी समीक्षा पद्धति का विवेचन करते हुए भारतीय वक्रोक्ति सिद्धांत से उसका साम्य-वैषम्य प्रस्तुत किया गया है।

इकाई 17 **'टी.एस.एलियट का साहित्य चिंतन'** में एलियट के साहित्य चिंतन को उनकी रोमांटिक काव्य-विरोधी दृष्टि, परंपरा और व्यक्तिगत प्रज्ञा संबंधी उनकी अवधारणा तथा निर्वैयक्तिकता सिद्धांत, मूर्त विधान आदि की चर्चा के माध्यम से समझाया गया है।

इकाई 18 **'आई.ए.रिचर्डस का साहित्य चिंतन'** में रिचर्डस द्वारा प्रतिपादित मूल्य सिद्धांत भाषा या संप्रेषण सिद्धांत, अर्थ मीमांसा चिंतन आदि को प्रस्तुत किया गया है।

इकाई 19 **नयी समीक्षा (न्यू क्रिटिसिज्म) के प्रमुख सिद्धांत** में नयी समीक्षा के प्रमुख स्रोतों, समीक्षकों, प्रवृत्तियों आदि से विद्यार्थियों को अवगत कराया गया है।

इकाई 16 क्रोचे का अभिव्यंजनावाद

इकाई की रूपरेखा

16.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढने के बाद आप :

- बता सकेंगे कि क्रोचे का अभिव्यंजना से क्या तात्पर्य है
- क्रोचे की चेतना संबंधी अवधारणा का उल्लेख कर सकेंगे
- अभिव्यंजना सिद्धांत का परिचय दे सकेंगे
- अभिव्यंजनावादी समीक्षा पद्धति के विषय में बता सकेंगे; और
- अभिव्यंजनावाद और भारतीय वक्रोक्तिवाद सिद्धांत की तुलना कर सकेंगे।

16.1 प्रस्तावना

आपने पिछले खंड में पाश्चात्य साहित्यशास्त्र के अध्ययन के क्रम में कई सिद्धांतकारों और उनके सिद्धांतों का अध्ययन किया है। आपने यह भी देखा है कि सामान्यतः एक सिद्धांत से कई सिद्धांतकार और विचारक जुड़े होते हैं। किंतु इस इकाई में आप देखेंगे कि यह अभिव्यंजनावाद सिद्धांत एक ही विचारक - क्रोचे - से जुड़ा है।

अब तक के अध्ययन में आप यह भी देख चुके हैं कि कुछ साहित्य सिद्धांत वस्तुवादी, अर्थात् बाह्य जगत के प्रतिमानों पर बल देते हैं। अर्थात् उनके अनुसार काव्य का विषय भी बाह्य जगत से चुना जाना चाहिए और काव्य को परखने की कसौटियाँ भी वस्तुपरक होनी चाहिए। इसके विपरीत, आत्मपरकता पर ज़ोर देने वाले सौंदर्यशास्त्रीय सिद्धांतकार कलाकार की चेतना को केंद्र में रखते हैं और कला को मूलतः आत्माभिव्यक्ति मानते हैं। वे वस्तुवादी नियमों और कसौटियों को कला की स्वतंत्रता के लिए बाधक मानते हैं। स्वच्छंदतावाद, कलावाद आदि सिद्धांत इसी श्रेणी में आते हैं। क्रोचे द्वारा प्रतिपादित अभिव्यंजना सिद्धांत (Expressionism) को आत्मपरक काव्य-सिद्धांतों की चरम सीमा पर रखा जा सकता है। क्रोचे काव्य और कला के सृजन में बाह्य जगत की भूमिका को लगभग नकार ही देते हैं। यहाँ तक कि वे कलाकृति की बाह्य अभिव्यक्ति ी आवश्यक नहीं मानते। ऐसे में आलोचक के कर्म अथवा आलोचना की वस्तुपरक कसौटियों का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

इस इकाई में हम बेनेदितो क्रोचे (1866-1952) के विचारों की पृष्ठभूमि पर दृष्टि डालते हुए अभिव्यंजना सिद्धांत से जुड़ी मूल अवधारणाओं को समझने की कोशिश करेंगे। इसके बाद हम देखेंगे कि इस सिद्धांत के आलोक में क्रोचे कुछ अन्य विषयों को किस प्रकार देखते हैं। अभिव्यंजना सिद्धात के विषय में इस प्रकार जानकारी हासिल करने के बाद हम इस सिद्धांत की शक्ति तथा सीमाओं पर दृष्टिपात करेंगे। और अंत में हम यह देखेंगे कि अभिव्यंजना सिद्धांत और भारतीय काव्यशास्त्र के वक्रोक्ति सिद्धांत के बीच विद्वानों ने जो तुलना की है वह कहाँ तक संगत है।

इस सिद्धांत को ठीक से समझ पाने के लिए आपको पहले इसकी वैचारिक पृष्ठभूमि पर एक दृष्टि डाल लेनी चाहिए।

16.2 वैचारिक पृष्ठभूमि

पाश्चात्य साहित्यशास्त्र का अध्ययन करते हुए यह बात आपके सामने स्पष्ट हुई होगी कि अधिकतर साहित्य-सिद्धांत मूलतः तत्वदर्शन (फ़िलॉसफ़ी) के विभिन्न सिद्धांतों से प्रेरित हुए हैं। इनमें दो दृष्टियाँ ऐसी हैं जिन्होंने पाश्चात्य साहित्य-चिंतन को बड़ी गहराई से प्रभावित किया है। इनमें एक है **आत्मवादी दृष्टि** जो जगत में चेतना को सर्वप्रमुख तत्व मानती है और दूसरी है **वस्तुतवादी** दृष्टि जो वस्तु जगत को ही सत्य का आधार मानती है। सौंदर्यशास्त्र के इतिहास पर एक विहंगम दृष्टि डालने से यह बात स्पष्ट हो जाएगी।

पाश्चात्य सौंदर्यशास्त्र की परंपरा

पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में **प्लेटो** का नाम सबसे पहले लिया जाता है। वे एक आत्मवादी, प्रत्ययवादी (Idealist) दार्शनिक थे जिन्होंने एक विराट चेतना को ही विश्व का मूल तत्व मानते हुए यह भी माना कि यह संपूर्ण विश्व एक अमूर्त प्रत्यय के रूप में इस चेतना में ही स्थित है। बाह्य जगत की वस्तुएँ उस अमूर्त प्रत्यय (Idea) का मूर्त अनुकरण मात्र है।

इसके विपरीत, प्लेटो के शिष्य **अरस्तू** वस्तुवादी प्रतिमानों के पक्षधर थे। वे वस्तु जगत की स्वतंत्र सत्ता को स्वीकार करते थे। प्लेटो जहाँ मानवीय ज्ञान का उत्स मानव की चेतना में मानते थे, अरस्तू उसे मूर्त वस्तु जगत के अनुभवों से उत्पन्न मानते थे। कृति के सृजन तथा समालोचना, दोनों के लिए ही, वे वस्तुगत नियमों और कसौटियों के पक्ष में थे। अरस्तू के बाद पहली सदी ई.पू. में **होरेस** ने भी इसी वस्तुवादी दृष्टि का प्रतिपादन किया और आगे चलकर नव्य-शास्त्रवाद ने भी इसी मत का समर्थन किया। ईसा की 14वीं-15वीं शताब्दी में यूरोपीय पुनर्जागरण के प्रभाव से साहित्य तथा कला में आत्मवाद तथा व्यक्तिवाद की प्रधानता होने लगी। रचना के लिए रचनाकार की निजी चेतना को सबसे ऊँचा स्थान दिया जाने लगा और मूर्त तथा वस्तुवादी प्रतिमानों की उपेक्षा होने लगी। व्यक्तिवादी मूल्यों की प्रबलता के कारण साहित्य तथा कला के क्षेत्र में किसी प्रकार का बाहरी नियंत्रण या अनुशासन नहीं रह गया और एक अराजकता-सी फैलने लगी। इसकी प्रतिक्रिया यह हुई कि आभिजात्यवाद फिर से सिर उठाने लगा और सौंदर्यशास्त्र में वस्तुपरक प्रतिमानों की स्थापना पर फिर से बल दिया जाने लगा।

इस दृष्टि का सबसे अधिक प्रभाव हमें इंगलैंड में दिखाई देता है। वहाँ 16वीं सदी में क्लासिकी भाषाओं (लैटिन, ग्रीक आदि), क्लासिकों (अर्थात् कालजयी रचनाओं), और क्लासिकी (अर्थात शास्त्रीय नियमों के अध्ययन तथा अनुकरण) पर बहुत बल दिया जाने लगा था। अठारहवीं सदी में पोप तथा ड्राइडन उन्नीसवीं सदी में मैथ्यू आर्नल्ड तथा जॉन रस्किन और बीसवीं सदी में टी.एस.एलियट जैसे रचनाकारों-विचारकों ने रचना में क्लासिकी संयम, अनुशासन तथा मूल्यों की वस्तुनिष्ठता पर बल दिया। बीसवीं सदी में ही मार्क्सवादी समीक्षा-दृष्टि ने भी कला के लिए बाह्य जगत के - सामाजिक - प्रतिमानों को आवश्यक माना था।

इन सब बातों का यह अर्थ नहीं है कि सौंदर्यशास्त्र के क्षेत्र से आत्मपरक दृष्टिकोण का सर्वथा विलोप हो चुका था। यह कहा ही जा चुका है कि यूरोपीय पुनर्जागरण के दौर में कलाकार की स्वतंत्र सत्ता, सर्जनशीलता तथा आत्माभिव्यक्ति के अधिकार को मान्यता दी गई थी और वस्तुपरक मूल्यों की जकड से मुक्ति का नारा लगाया गया था। आत्मवादी दृष्टि का प्रमुख परिपाक हम 18वीं सदी में मुख्यतः जर्मनी के दार्शनिकों — कांट, हीगेल, शिलर आदि — में देखते हैं जिन्होंने मानव-चेतना को ही

सौंदर्यानुभूति का मूल तत्व माना था। कला का आरंभ चाहे बाह्य जगत से गृहीत संवेदनों से हो किंतु उसकी परिणति ये मानव-चेतना में ही मानते थे। इस दृष्टि का प्रभाव इंगलैंड के स्वच्छंदतावादी आंदोलन पर भी पड़ा, यह आप स्वच्छंदतावाद के अध्ययन के क्रम में देख सकते हैं। आगे चलकर कलावादी आंदोलन में इस विचारधारा का और प्रबल रूप दिखाई देता है। कलावाद ने कला पर किसी भी प्रकार के बाहरी दबाव का निषेध किया - वह शास्त्र का दबाव हो, वस्तु जगत के पैमानों का दबाव हो, या रूढ़ नैतिकता का। बाह्य तत्वों के नकार पर उसका इतना बल रहा कि भाषा तथा रचना के सिद्धांतों को भी उसने नकार दिया और कलाकार की निजी दृष्टि, मानसिक प्रक्रिया और मौलिकता को सबसे अधिक महत्व दिया। केवल सौंदर्य की खोज तथा निरूपण को ही इन्होंने कला का उद्देश्य माना। कला इनके लिए केवल आत्माभिव्यक्ति थी - सभी प्रकार के शास्त्रीय तथा सामाजिक सरोकारों से मुक्त। इस कलावादी-व्यक्तिवादी दृष्टि का ही चरम विकास हमें क्रोचे में दिखलाई पड़ता है। आइए, क्रोचे के जीवन तथा कृतित्व पर हम एक दृष्टि डालें।

16.3 बेनेदितो क्रोचे का व्यक्तित्व

साहित्यालोचन में अभिव्यंजनावाद की बहुत चर्चा होती है किंतु इसके प्रवर्तक बेनेदितो क्रोचे साहित्यशास्त्री नहीं थे। उनका मुख्य सरोकार दर्शन तथा सौंदर्यशास्त्र से था। उनका जन्म सन 1866 में इटली के नेपल्स शहर में हुआ। बचपन में धर्म से इनकी आस्था उठ गई थी किंतु अपनी आत्मकथा में इन्होंने दिखलाया है कि रोम विश्वविद्यालय में राजनीति, अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र और दर्शन का अध्ययन करते हुए इनकी आस्था किस प्रकार लौटी और किस प्रकार इनके विचार क्रमशः अमूर्तता और आत्मपरकता की ओर बढ़ते गए। यहाँ तक कि अंत में जाकर ये बाह्य जगत को पूर्ण निरर्थक मानते हुए चेतना को ही परम सत्य मानने लगे। वह मार्क्सवाद के उत्थान का समय था। क्रोचे ने मार्क्स की वस्तुवादी दृष्टि का भी विरोध किया। इनके अनुसार मानव जीवन की सारी क्रियाएँ मूलतः चेतना के स्तर पर ही होती हैं। कला का सर्जन भी चेतना के स्तर पर ही आरंभ होकर समाप्त हो जाता है। इस प्रक्रिया को ही इन्होंने 'अभिव्यंजना' का नाम दिया।

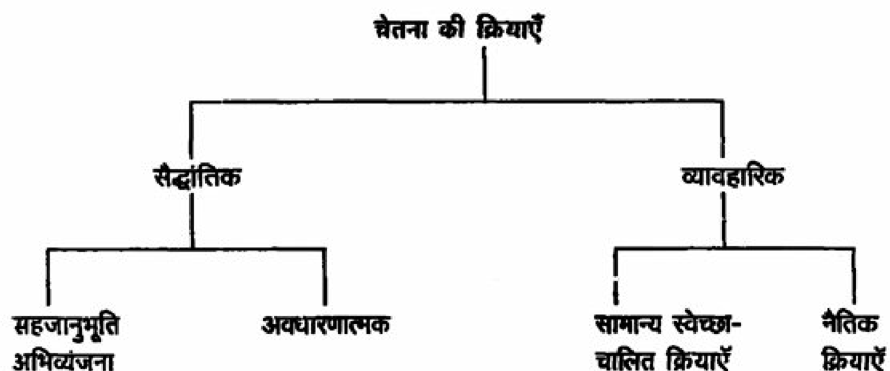
क्रोचे के चेतना तथा अभिव्यंजना संबंधी विचारों पर हम आगे विस्तार से बात करेंगे। यहाँ आप यह ध्यान रखें कि समय-समय पर मान्यताओं में कुछ परिवर्तनों के बावजूद क्रोचे की यह प्रत्ययवादी दृष्टि अंत तक बनी रही। सन 1952 में अपनी मृत्यु तक क्रोचे बराबर गहन अध्ययन तथा लेखन में लीन रहे। दर्शन तथा सौंदर्यशास्त्र के अतिरिक्त ये इतिहास, तर्कशास्त्र आदि विषयों पर भी लिखते रहे। सन 1902 में इन्होंने **'ला क्रितीका'** नामक पत्रिका भी निकाली। सन 1900 में इन्होंने **'एस्थेटिक ऐज़ द साइंस ऑफ़ एक्सप्रेशन एंड जनरल लिंग्विस्टिक्स'** नामक लेख लिखा था। सन 1902 में यह लेख भी 'एस्थेटिक' शीर्षक पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुआ। उनके अभिव्यंजना सिद्धांत (Expressionism) का प्रतिपादन पहले-पहल इसी निबंध तथा पुस्तक में हुआ। क्रोचे का सौंदर्यशास्त्र संबंधी चिंतन निरंतर चलता रहा। सन 1912 में इन्होंने इसी विषय पर **'एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका'** के लिए एक लेख लिखा और कई भाषण भी दिए। सन 1920 में **'न्यू एस्सेज़ ऑन एस्थेटिक'** शीर्षक से इनके सौंदर्यशास्त्रीय निबंधों का संग्रह प्रकाशित हुआ। अन्य विषयों के साथ ही सौंदर्यशास्त्र तथा साहित्य से जुड़े लेखन और भाषणों का क्रम इनके दीर्घ जीवन के अंत तक चलता रहा। सौंदर्यशास्त्र में अभिव्यंजनावाद को इनका सबसे बड़ा अवदान माना जाता है। किंतु अभिव्यंजनावाद को समझने के लिए हमें पहले इनकी चेतना संबंधी अवधारण को समझना होगा।

16.4 चेतना तथा उसकी क्रियाएँ

इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि क्रोचे बाह्य जगत की घटनाओं को महत्वहीन मानते हैं और उनके अनुसार मानव जीवन की तमाम क्रियाएँ चेतना के स्तर पर ही होती हैं। उनके समय में मार्क्सवादी विचारधारा भौतिकवाद की वकालत करते हुए बाह्य जगत और इसकी स्थितियों के सत्य को स्वीकारने पर ज़ोर दे रही थी। क्रोचे के पहले के कई प्रत्ययवादी विचारकों ने भी बाहरी जगत की सत्ता पूरी तरह नकारी नहीं थी, किंतु क्रोचे सत्य की स्थिति दो स्तरों पर मानने को तैयार नहीं थे। उनके मत में सत्य या तथ्य का अस्तित्व केवल मन या चेतना के स्तर पर होता है। बाह्य जगत के स्तर पर किसी तथ्य की स्थिति नहीं होती, उसकी ऐसी स्थिति की कल्पना मात्र हो सकती है। यह कल्पना भी मानस के स्तर पर ही होती है।

चेतना को इस प्रकार चरम सत्य मानते हुए क्रोचे ने जीवन-व्यवहार में इसकी चार मूलभूत क्रियाओं का उल्लेख किया है। इनमें से दो क्रियाएँ सैद्धांतिक या ज्ञानपरक होती है और दो क्रियाएँ व्यावहारिक या स्वेच्छा-चालित होती हैं। अर्थात् चेतना की क्रियाओं को प्रारंभिक स्तर पर सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक क्रियाओं के रूप में विभाजित किया जा सकता है। सैद्धांतिक क्रिया के दो उप-विभाग हैं - (1) सहजानुभूति-अभिव्यंजना; तथा (2) अवधारणाकरण। और व्यावहारिक क्रियाओं के दो उप-विभाग हैं - (1) सामान्य स्वेच्छा-चालित क्रियाएँ; तथा (2) नैतिक क्रियाएँ। इस विभाजन को एक आरेख के माध्यम से समझें :

आरेख-I



आइए अब हम देखें कि इन विभिन्न क्रियाओं से क्रोचे का तात्पर्य क्या था और इनके अंतर्गत कौन-से जीवन-व्यवहार आते हैं। परंतु पहले इस बात को जान लें कि क्रोचे इन सभी क्रियाओं को समान रूप से महत्वपूर्ण नहीं मानते थे। सहजानुभूति-अभिव्यंजना इनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण है और इसी क्रम से नैतिक क्रियाएँ सबसे कम महत्वपूर्ण। आइए, अब इन क्रियाओं पर अलग-अलग विचार करें।

1. सहजानुभूति अभिव्यंजना (Intuition-Expression)

यह चेतना की सबसे पहली और महत्वपूर्ण क्रिया है। मानव जीवन के सभी प्राथमिक अनुभव इसी क्रिया के अंतर्गत आते हैं। वास्तव में मानव का जो भी सहज अनुभव है, वह चेतना के माध्यम से ही आता है। इस स्तर पर इसमे न तर्क का समावेश होता है, न बुद्धि का। क्रोचे ने उदाहरण देते हुए समझाया है कि किसी चित्र के रंग तथा रेखाएँ या किसी गीत के स्वर हमारे मन में अनायास ही एक अनुभूति जगाते हैं। इस स्तर पर हम उन रंगों या रेखाओं या स्वरों का विश्लेषण नहीं करते, न इन कलाकृतियों की विषय-वस्तु पर विचार करके उन्हें समझने की चेष्टा करते हैं। वह सब तो अवधारणाकरण की प्रक्रिया के अंतर्गत आता है। यह सहजानुभूति ही कला का मूल तत्व है। कला इसी स्तर पर पूर्ण भी हो जाती है, जैसा हम अभिव्यंजना सिद्धांत की चर्चा के क्रम में देखेंगे। इस अनुभूति में किसी प्रकार के आयास या प्रयास की आवश्यकता नहीं होती। इसलिए इसपर किसी बाहरी प्रभाव का रंग भी नहीं चढता और इसलिए यह पूर्णतः यथार्थ होती है।

क्रोचे के अनुसार सहजानुभूति सभी चेतन प्राणियों में होती है। इसकी सघनता अवश्य सभी मे भिन्न-भिन्न हो सकती है। आप कॉलरिज की मुख्य कल्पना संबंधी अवधारणा से इस अवधारणा का साम्य देख सकते हैं।

एक और बात पर ध्यान दें। इस क्रिया को क्रोचे ने सहजानुभूति-अभिव्यंजना कहा है, अर्थात सहजानुभूति तथा अभिव्यंजना को उन्होंने एक माना है। सामान्य भाषा में ये दोनों शब्द अलग-अलग अर्थों में प्रयुक्त होते हैं, किंतु क्रोचे कई शब्दों का सामान्य अर्थों में प्रयोग न करके अपने ही तरीके-से उन्हें सामान्य से भिन्न अर्थ देते हैं। इस विषय में आगे और विस्तार से चर्चा होगी।

2. अवधारणाकरण (Conceptualization)

चेतना की यह क्रिया पहली क्रिया के बाद ही संभव है। सहजानुभूति-अभिव्यंजना अपने आप होने वाली निरायास क्रिया होती है किंतु अवधारणाकरण सोची-समझी और सायास क्रिया है। यह तर्क पर आधारित होती है। चेतना तर्क के सहारे सहजानुभूतियों का विश्लेषण करती है, उनके आपसी संबधो को समझती है। इस क्रिया के माध्यम से हम सहजानुभूति के स्तर से उठकर तर्क तथा बुद्धि के क्षेत्र में

पहुँचते हैं और बाह्य जगत का ज्ञान प्राप्त करते हैं। अब तक यह जगत केवल हमारी अनुभूति का विषय रहा था, अवधारणाकरण के माध्यम से हम इसे समझने और विश्लेषित भी करने लगते हैं।

3. सामान्य स्वेच्छा-चालित क्रियाएँ

चेतना की क्रियाओं में यह स्तर पहले दो स्तरों के बाद ही आ सकता है। ये क्रियाएँ व्यावहारिक क्रियाओं के अंतर्गत आती हैं जो जीवन के मूलतः व्यावहारिक तथा उपयोगिता-प्रधान पक्ष से जुड़ी होती हैं। आर्थिक क्रियाओं - व्यापार, व्यवसाय, जीविकोपार्जन आदि – से सम्बद्ध गतिविधियों में जीवन का यही पक्ष सक्रिय रहता है।

4. नैतिक क्रियाएँ

ये चेतना की सबसे अंतिम क्रियाएँ होती हैं जिनमें सामान्य जीवन-व्यवहार से उठकर विवेक, आदर्श और नैतिकता के भाव सक्रिय होते हैं। इन क्रियाओं का लक्ष्य चेतना के सच्चे स्वरूप का उद्घाटन होता है और ये चेतना के आध्यात्मिक स्तर से जुड़ी होती हैं। दर्शन, नीतिशास्त्र तथा अध्यात्म से गहराई से सम्पृक्त होने के नाते क्रोचे इन क्रियाओं की उपेक्षा नहीं कर सकते थे।

क्रोचे ने इन क्रियाओं में एक वरीयता-क्रम देखा है जो ऊपर दिए क्रम के अनुसार ही है। सहजानुभूति-अभिव्यंजना सबसे मूलभूत तथा सबसे प्रथम क्रिया है। इसके बाद ही अवधारणाकरण या तर्क का स्थान आता है। तीसरी, अर्थात् सामान्य स्वेच्छा-चालित क्रियाएँ इन दो क्रियाओं के बाद ही संभव है। व्यक्ति को पहले अनुभूति होती है, फिर वह तर्क के माध्यम से उस अनुभूति का विश्लेषण करता है। इस विश्लेषण में सक्षम होने के बाद ही वह आर्थिक क्रियाएँ निष्पन्न करने में सफल होता है। इन सबके बाद ही उसकी चेतना एक उच्च स्तर पर पहुँचकर जीवन के नैतिक पक्ष का विवेचन करने में समर्थ होती है।

इन चारों क्रियाओं का वरीयता-क्रम केवल इनके सापेक्षिक महत्व को ही नहीं दर्शाता, बल्कि चेतना में इनकी सक्रियता का क्रम भी इसी प्रकार है। अर्थात् दूसरी क्रिया पहली के बाद ही हो सकती है, तीसरी क्रिया दूसरी के बाद ही, और चौथी क्रिया तीसरी के बाद ही।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, क्रोचे ने इन चारों क्रियाओं में सहजानुभूति-अभिव्यंजना को मूलभूत ही नहीं, सबसे अधिक महत्वपूर्ण भी माना है। सौंदर्यशास्त्रीय प्रसंग के लिए यही क्रिया अनिवार्य भी है और पर्याप्त भी। कला के लिए न तर्क की ज़रूरत होती है, न आर्थिक क्रियाकलाप की, न नैतिक प्रतिगान की।

16.5 अभिव्यंजना सिद्धांत

क्रोचे का अभिव्यंजना सिद्धांत चेतना की सबसे पहली और सबसे महत्वपूर्ण क्रिया - सहजानुभूति-अभिव्यंजना पर आधारित है। उनके अनुसार रचनाकार की सहजानुभूति ही अभिव्यंजना है और अभिव्यंजना ही रचना (साहित्य, संगीत, चित्र, मूर्ति आदि)। यह सहजानुभूति संवेदनों के माध्यम से होती है। अतः इस संकल्पना को पूरी तरह समझने के लिए आपके आगे संवेदन, सहजानुभूति, और अभिव्यंजना का अर्थ स्पष्ट होना ज़रूरी है।

इस विषय पर विचार करने के पहले आपको फिर से इस बात का ध्यान दिला देना ज़रूरी है कि क्रोचे कई प्रचलित शब्दों का अपने अलग ही अर्थ में प्रयोग करते हैं और उनकी संकल्पनाओं को विवेचन में प्रयुक्त शब्दों के केवल कोशार्थ के आधार पर नहीं समझा जा सकता। आइए, अब हम संवेदन तथा सहजानुभूति की संकल्पना को समझने की कोशिश करें।

16.5.1 संवेदन और सहजानुभूति

आम बोलचाल में कई बार 'संवेदन' तथा 'अनुभूति' को एक ही अर्थ में ले लिया जाता है अर्थात् बाह्य उत्प्रेरक के प्रभाव से नेत्र, कान, त्वचा आदि इंद्रियों या मन में होने वाला अनुभव। क्रोचे ने भी इस शब्द को कमोबेश इसी अर्थ में लिया है। किंतु अनुभूति का संबंध जहाँ अनुभव या चेतना से होता है वहाँ संवेदन को क्रोचे ने चेतना से अलग माना है। बल्कि इसे चेतना से पूर्व की क्रिया कहा है। संवेदन अरूप होते हैं, जिनको रूप तब मिलता है जब चेतना इन्हें पहचानती है। इसको इस प्रकार

समझें। खिड़की से ठंडी हवा आकर आपकी त्वचा को छू रही है। खिड़की से बाहर के पेड़-पौधों की हरियाली की छाप भी आपकी आँखो पर पड़ रही है। कहीं बजते संगीत की धुन भी आपके कानों में जा रही है। ये तमाम संवेदन हैं जिन्हें आपकी इंद्रियाँ - त्वचा, नेत्र, कान आदि - ग्रहण कर रही हैं। किंतु आप न इनके बारे में सोच रहे हैं, न इन्हें अनुभव ही कर रहे हैं क्योंकि आपका ध्यान इनकी ओर है ही नहीं। दूसरे शब्दों में आप इन संवेदनों को पहचान ही नहीं रहे हैं, इनके प्रति अचेत हैं। आपसे कोई इनके बारे में पूछे तो आप कुछ बता भी नहीं पाएँगे क्योंकि इनके संदर्भ में आपका मन निष्क्रिय है। किंतु जब आपकी चेतना इनकी दिशा में सक्रिय होती है तो आपको इन संवेदनों को उत्प्रेरित करने वाली वस्तुओं का -- हवा के शीतल स्पर्श का, पेड़-पौधों की हरियाली का संगीत का -- बोध होने लगता है। क्रोचे के अनुसार सहजानुभूति इस बोध से ही जुड़ी है। अर्थात् चेतना के सक्रिय होने पर ही सहजानुभूति हो सकती है। इस प्रकार, संवेदन जिस यथार्थ का संकेत करते हैं उसी का बोध हमें सहजानुभूति के रूप में होता है। यह बोध चेतना के माध्यम से होता है और कल्पना वह शक्ति है जो चेतना को इस दिशा में उद्बुद्ध करती है।

यहाँ ध्यान दें, क्रोचे ने 'बोध' को बहुत महत्व दिया है। इसे उन्होंने वैज्ञानिक विश्लेषण की शक्ति अथवा तथ्यपरकता से नहीं, बल्कि विशुद्ध सहजानुभूति से जोड़ा है। कला के सृजन में यह शक्ति बेहद महत्वपूर्ण है। बोध भावपरक होता है और संवेदनों को सहजानुभूति में बदलता है। यह मानस पर संवेदनों के बिंब के रूप में आता है व इस प्रकार के बिंबों के संश्लेषण से ही कला का जन्म होता है।

सहजानुभूति या अभिव्यंजना के अंतर्गत व्यक्ति को बाह्य जगत के रूप-रंग-रेखाओं ध्वनियों आदि की प्रतीति होती है। किंतु यह उन संवेदनों की प्रतीति मात्र होती है, उनका विश्लेषण या तार्किक ज्ञान नहीं। विश्लेषण, वर्गीकरण आदि बुद्धि तथा तर्क के स्तर पर होते हैं जो सहजानुभूति से भिन्न स्तर है। सहजानुभूति चेतना की प्राथमिक क्रिया है और यह क्रिया सभी प्राणियों में होती है। इसलिए इसका महत्व भी सबसे अधिक है।

आइए, यहाँ एक बार रुककर इस मान्यता को सार-रूप में समझें :

- बाह्य जगत की छाप इंद्रियों पर संवेदनों के रूप में पड़ती है।
- इस स्थिति में चेतना निष्क्रिय रहती है। अतः मानव में इन संवेदनों का कोई बोध नहीं जागता।
- कल्पना-शक्ति के माध्यम से चेतना सक्रिय होती है और संवेदनों की पहचान करती है।
- यह पहचान या बोध ही सहजानुभूति है।
- सहजानुभूति केवल अनुभूति या प्रतीति है। इसमें बुद्धि तथा तर्क की शक्तियो और विश्लेषण या वर्गीकरण की क्रियाओं का कोई स्थान नहीं होता।
- रूप-रंग-रेखामय बाह्य जगत व्यक्ति को चेतना के माध्यम से ही अपनी प्रतीति कराता है। अतः चेतना ही अंतिम सत्य है। बाह्य जगत के तथ्य इसके आगे गौण हैं।

16.5.2 सहजानुभूति, अभिव्यंजना तथा अभिव्यक्ति

सामान्य बोलचाल में अभिव्यंजना को बाह्य स्तर की अभिव्यक्ति से जोड़ा जाता है। अर्थात् अपनी अनुभूति को कलाकार कविता, चित्र, मूर्ति, वार्ता आदि के रूप में बाह्य जगत में जिस प्रकार मूर्त करता है उसे ही अभिव्यंजना माना जाता है। अर्थात् सहजानुभूति मन की अमूर्त प्रतीति होती है और अभिव्यंजना उसकी बाह्य जगत में मूर्त अभिव्यक्ति।

इसके विपरीत, जैसा कि पहले भी उल्लेख किया जा चुका है, **क्रोचे सहजानुभूति तथा अभिव्यंजना को अभिन्न मानते हैं और ये उनके अनुसार मानसिक स्तर की ही क्रियाएँ हैं। बाह्य जगत में इनका मूर्त होना आवश्यक नहीं है। इससे भी आगे जाकर क्रोचे कला को भी अभिव्यंजना के स्तर पर ही पूर्ण मान लेते हैं।** अर्थात् कल्पना के माध्यम से जब संवेदन चेतना में सहजानुभूति-अभिव्यंजना के रूप में उभरते हैं तो इस प्रक्रिया में ही कला भी पूर्ण हो जाती है। कलाकार के मानस में संवेदनों के जो बिंब उभरते हैं वे ही सहजानुभूति-अभिव्यंजना हैं और वे ही कलाकृति। इस प्रकार कला सहजानुभूति-अभिव्यंजना से अभिन्न है। अर्थात् सूत्र रूप में - सहजानुभूति ही अभिव्यंजना अर्थात् कला है (सहजानुभूति = अभिव्यंजना = कला)। यह पूरी प्रक्रिया मानसिक या आभ्यंतर स्तर पर घटित होती है और वहीं पूर्ण भी हो जाती है। बाह्य जगत के स्तर पर शब्दों, आकारों, रंगों या रेखाओं में इसकी

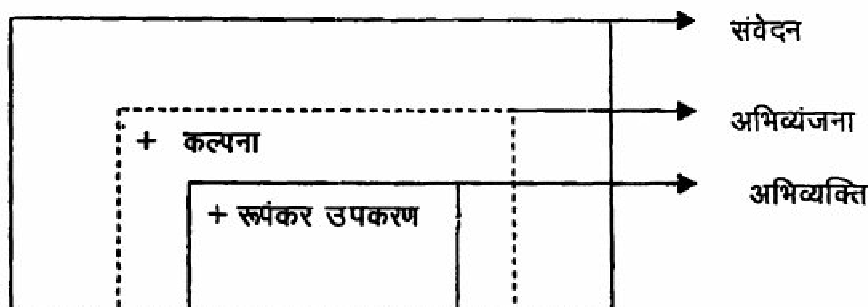
अभिव्यक्ति बिल्कुल भी आवश्यक नहीं है। यदि कलाकार उसे बाह्य जगत में कविता, चित्र, मूर्ति आदि के रूप में व्यक्त करता भी है, तो वह एक अतिरिक्त क्रिया है और वह आर्थिक क्रियाओं की भाँति व्यावहारिक क्रियाओं के क्षेत्र में आती है। इसका अर्थ यह हुआ कि :

- क्रोचे अभिव्यंजना और अभिव्यक्ति को भिन्न मानते हैं; और
- कला को वे अभिव्यंजना के स्तर पर ही पूर्ण मान लेते हैं। बाह्य जगत में कला-वस्तु के रूप में उसकी अभिव्यक्ति को वे अतिरिक्त और अनावश्यक क्रिया मानते हैं।

क्रोचे के विचारों के अध्ययन से इस मान्यता के दो प्रमुख कारण उभरते हैं। एक कारण तो यह है कि कला के लिए सहजानुभूति-अभिव्यंजना अनिवार्य है। इसके बिना कला का सूत्रपात ही नहीं हो सकता। अतः इसका महत्त्व और अपरिहार्यता अपने आप में ही सिद्ध है। दूसरा कारण यह है कि कला जब बाह्य जगत मे अभिव्यक्त होती है तो कलाकार की स्वतंत्रता समाप्त हो जाती है। उस पर सामाजिक, नैतिक उपयोगिता संबंधी, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक आदि अनेक क्षेत्रों के नियमों का दबाव पड़ने लगता है। इस दबाव के तहत वह मुक्त सृजन नहीं कर सकता। उसे विभिन्न अनुशासनों तथा वर्जनाओं के अंतर्गत अपनी कला को सचेत भाव से सँवारना पड़ता है। उस दशा में कला सहज सौंदर्य-सृष्टि न रहकर सामाजिक के उपभोग के लिए एक उपयोगी वस्तु मात्र बनकर रह जाती है। वह सौंदर्यशास्त्र से हटकर समाजशास्त्र के क्षेत्र में आ जाती है। वह समाज के सदस्यों को आनंद देती है और/अथवा उनका नैतिक परिष्कार भी करती है। सौंदर्यशास्त्र से उस कृति का संबंध इतना ही होता है कि कृतिकार के मन की सहजानुभूतियों को वह भौतिक रूप से संरक्षित करके रखती है और उन्हें फिर से उभारने में स्मृति की सहायता करती है। वह इस प्रकार 'स्मृति की उद्दीपक' होती है।

इन विचारों के आलोक में हम संवेदन, अभिव्यंजना और अभिव्यक्ति के संबंधों को एक आरेख के रूप मे देख सकते हैं।

आरेख-2



अर्थात् कला के लिए सबसे पहली और व्यापक शर्त है संवेदन। संवेदनों में जब चेतना की क्रिया या कल्पना का योग होता है तो वे सहजानुभूति-अभिव्यंजना में परिवर्तित हो जाते हैं। ध्यान दें, दैनिक जीवन के हर पल में संवेदन हमारी इंद्रियों से टकराते रहते हैं किंतु हमारी चेतना उनमें से बहुत कम संवेदनों को ग्रहण करती है। कल्पना की सक्रियता के माध्यम से इन संवेदनों में से कुछ ही सहजानुभूति-अभिव्यंजना में बदल पाते हैं। अतः सहजानुभूति-अभिव्यंजना का क्षेत्र संवेदनों की अपेक्षा बहुत कम है। क्रोचे कला की प्रक्रिया को इसी स्तर पर पूर्ण मान लेते हैं। रचनाकार शब्द, रंग, कूची, छेनी, वाद्य-यंत्र आदि रूपंकर उपकरणों के माध्यम से इनमें से कुछ सहजानुभूतियों को बाह्य जगत में काव्य, चित्र, मूर्ति आदि के रूप में अभिव्यक्त भी कर सकता है। किंतु कुल सहजानुभूतियों की अपेक्षा इस प्रकार मूर्त रूप में व्यक्त होने वाली अनुभूतियों की संख्या बहुत कम होती है।

16.5.3 कला सृजन की प्रक्रिया

अब तक संवेदना, सहजानुभूति-अभिव्यंजना, तथा अभिव्यक्ति के संबंध मे जो चर्चा हुई है, उसके आधार पर आप समझ सकते हैं कि क्रोचे की दृष्टि में कला की सृजन प्रक्रिया क्या है। इसे स्पष्ट रूप से समझने के लिए हम इसपर एक और बार नज़र डालेंगे।

क्रोचे कला की सृजन प्रक्रिया के चार चरणों का उल्लेख करते हैं –

i) पहले चरण का संबंध अमूर्त संवेदनों के स्तर से है। इस चरण में बाह्य जगत के उद्दीपन व्यक्ति की संवेदना को छूते हैं किंतु उसे उनका बोध नहीं होता।

ii) दूसरे चरण में कल्पना के माध्यम से उसकी चेतना सक्रिय होती है और उसे उन संवेदनों का (कहना चाहिए कि उनमें से कुछ संवेदनों का) बोध होने लगता है। इस बोध के साथ ही उन संवेदनों के संश्लेषण तथा अन्वय की क्रिया भी जुड़ी है। यह सहजानुभूति-अभिव्यंजना का स्तर है।

iii) तीसरे चरण में दूसरे चरण वाले संश्लेषण और अन्वय के माध्यम से व्यक्ति के मानस में उन संवेदनों के बिंब बन जाते हैं और मन ही मन में वह शब्द-योजना, रेखाओं या आकार की परिकल्पना या संगीत की स्वर-संगतियों के माध्यम से कलाकृति रच लेता है। इस स्थिति को क्रोचे ने 'प्रगीतात्मक सहजानुभूति' का नाम दिया है। कला इसी स्तर पर पूर्ण हो जाती है।

iv) चौथा चरण इसीलिए वैकल्पिक है, अर्थात् इसके होने न होने से कला के सर्जन में कोई अंतर नहीं पड़ता। इस चरण में मानसिक स्तर पर पूर्ण कला काव्य, चित्र, मूर्ति आदि के रूप में बाह्य जगत में अभिव्यक्ति होती है।

ध्यान दें आपके पाठ्यक्रम में कलावाद का विवेचन भी अगले खंड में सम्मिलित है जिसमें कला को समाज, इतिहास आदि से पूर्ण निरपेक्ष स्वतंत्र सत्ता के रूप में देखा गया है। कला का उद्देश्य केवल कला का सृजन मानते हुए उन्होंने 'कला कला के लिए' को अपना आदर्श वाक्य माना है। इतने पर भी कलावाद ने बाह्य जगत में कला की स्थिति को नहीं नकारा था। क्रोचे इस सीमा से भी आगे बढ़कर कला को अमूर्त मानसिक स्तर ही पूर्ण मान लेते हैं।

अभिव्यंजना सिद्धांत का सार

पिछले भाग में चेतना की चार प्रक्रियाओं का उल्लेख हुआ था। इस भाग में हमने देखा कि अभिव्यंजना सिद्धांत का आधार उनमें से पहली क्रिया अर्थात सहजानुभूति-अभिव्यंजना है। इस संदर्भ में हमने संवेदन तथा सहजानुभूति के अंतर पर विचार करते हुए देखा कि बाह्य जगत की जो छाप हमारी इंद्रियों पर पड़ती है वह 'संवेदन' होती है। इस चरण पर हमारी चेतना निष्क्रिय होती है। अतः हमें उन वस्तुओं तथा स्थितियों का बोध नहीं होता। कल्पना-शक्ति की सहायता से जब हमारी चेतना सक्रिय होती है तब हमें इन संवेदनों का बोध होता है और यही बोध सहजानुभूति है। यह बोध या सहजानुभूति केवल अनुभूति या प्रतीति है। इसमें बुद्धि, तर्क या विश्लेषण का कोई स्थान नहीं होता जो चेतना की एक भिन्न क्रिया के अंतर्गत आते हैं।

इसके बाद हमने देखा कि क्रोचे सहजानुभूति तथा अभिव्यंजना को अभिन्न मानते हैं और अभिव्यक्ति को इससे भिन्न। सहजानुभूति-अभिव्यंजना मानसिक स्तर की क्रियाएँ हैं और अभिव्यक्ति बाह्य जगत में इनका मूर्त प्रस्तुतीकरण। क्रोचे के अनुसार, कला-सृजन की प्रक्रिया मानसीक स्तर पर ही बिंब-विधान के माध्यम से पूर्ण हो जाती है! बाह्य जगत में काव्य, चित्र, संगीत, मूर्ति आदि के रूप में उसकी अभिव्यक्ति एक अतिरिक्त और अनावश्यक क्रिया है। इसे क्रोचे अवांछनीय भी मानते हैं क्योंकि बाह्य जगत में अभिव्यक्त होने पर कला पर अनेक सामाजिक, नैतिक, राजनीतिक आदि अनुशासनों के नियंत्रण लागू होने लगते हैं और उसका स्वतंत्र स्वरूप तथा स्वायत्तता नष्ट हो जाती है। वह कला न रहकर उपयोगिता की एक वस्तु बनकर रह जाती है।

हमने यह भी देखा कि मानव जीवन में संवेदनों का क्षेत्र सबसे अधिक विस्तृत होता है, सहजानुभूति-अभिव्यंजना का उससे कम और बाह्य जगत में अभिव्यक्ति का उससे भी कम।

अंत में हमने सार रूप में कला की सृजन प्रक्रिया के चार चरणों पर दृष्टिपात किया। पहला चरण अमूर्त संवेदनों का है। दूसरे चरण में कल्पना के प्रभाव से चेतना सक्रिय होती है और अमूर्त संवेदन अनुभूति प्रतीतियों या सहजानुभूति-अभिव्यंजना में बदल जाते हैं। तीसरे चरण में बिंब-विधान के माध्यम से मानसिक स्तर पर कला सृजन की प्रक्रिया पूर्ण हो जाती है। चौथे चरण में कलाकृति बाह्य जगत में मूर्त रूप से अभिव्यक्त होती है। यह चरण वैकल्पिक है, अर्थात् इसके बिना भी कलाकृति अपने आपमें पूर्ण हो जाती है।

16.6 अभिव्यंजना सिद्धांत : कुछ सम्बद्ध मान्यताएँ

कोई भी सौंदर्यशास्त्रीय (या अन्य) सिद्धांत शून्य में स्थित नहीं होता। विचार तथा जीवन-व्यवहार के अन्य क्षेत्रों का उस सिद्धांत पर प्रभाव पड़ता है और वह सिद्धांत इन क्षेत्रों से संबंधित सोच को भी

प्रभावित करता है। आइए, हम देखें कि अभिव्यंजना सिद्धांत के आलोक में विभिन्न विषयों के बारे में क्रोचे की क्या मान्यताएँ हैं।

16.6.1 सहजानुभूति और कला

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, क्रोचे कला को सहजानुभूति से अभिन्न मानते हैं। आम तौर पर यह माना जाता है कि रचनाकार के मन में पहले अनुभूति जन्म लेती है। इस अनुभूति को विश्लेषित करके सँवारकर कलाकृति का रूप दिया जाता है। इस प्रकार, अनुभूति वह सामग्री प्रस्तुत करती है जिसकी निष्पत्ति कला के रूप में होती है। किंतु क्रोचे इस क्रम को स्वीकार न करके सहजानुभूति के स्तर पर ही कला को निष्पन्न मान लेते हैं।

इसी प्रकार, यह भी माना जाता है कि सहजानुभूतियों के विश्लेषण-समायोजन के लिए तर्क-बुद्धि की आवश्यकता होती है। क्रोचे के अनुसार तर्क-बुद्धि और विश्लेषण की क्षमता अवधारणा के लिए अथवा बाहरी जगत को समझने के लिए जरूरी होती है कला के लिए नहीं। कला विशुद्ध अनुभूति है, तर्कपरक प्रस्तुति नहीं।

क्रोचे इस सामान्य मान्यता का भी विरोध करते हैं कि कलाकार सामान्य जन से अधिक संवेदनशील होता है और उसकी अनुभूतियाँ सामान्य मानव की अनुभूतियों से अधिक विशिष्ट होती हैं। उनके अनुसार कलाकार की सहजानुभूति तथा अन्य जनों की सहजानुभूति के सौंदर्यपरक मूल्य में अगर कोई अंतर होता है तो मात्र परिमाण का। उनमें गुण का कोई अंतर नहीं होता। जिस प्रकार एक विराट पर्वत के एवं उसके अंश - एक छोटे-से पत्थर - के रासायनिक तत्व समान होते हैं, उसी प्रकार कलानुभूति और सामान्य अनुभूति तत्वतः एक ही होती है। जहाँ भी कल्पना के योग से संवेदन सहजानुभूति और बिंबों में परिवर्तित हो जाते हैं, वहीं सौंदर्य की सृष्टि हो जाती है जो कला का मूल तत्व है। इस बात से कोई भी अंतर नहीं पड़ता कि यह प्रक्रिया कलाकार के मानस में हो रही है या किसी अन्य व्यक्ति के मानस में - वह व्यक्ति चाहे सुशिक्षित-सुसंस्कृत हो या असभ्य और बर्बर। इस दृष्टि से क्रोचे होमर या मिल्टन के महाकाव्यों और अनपढ़ ग्राम्य कवि की तुकबंदी के बीच या लिओनार्दो दा विंची के भव्य चित्रों और आदिम गुहा-मानव के टूटे-फूटे रेखांकनों के बीच उनकी सौंदर्यपरक गुणवत्ता के आधार पर कोई अंतर नहीं करते।

16.6.2 विषय-वस्तु

क्रोचे यह मानते हैं कि कला की प्रक्रिया अनायास या बिना सोची-समझी होती है। अर्थात् व्यक्ति सोच-समझकर या चुनाव करके सजग-सचेत भाव से कला-बिंबों की रचना नहीं करता बल्कि वे कल्पना के प्रभाव से अनायास ही उत्पन्न हो जाते हैं। इसलिए कलाकृति के विषय का चुनाव भी कलाकार के हाथों में नहीं होता। विषय का चुनाव चूँकि कलाकार नहीं कर सकता, इसलिए विषय-वस्तु के अच्छा या बुरा होने का, सोद्देश्य या निरुद्देश्य होने का फैसला भी नहीं किया जा सकता। जो भी विषय-वस्तु भली प्रकार अभिव्यंजित हो जाती है, वही श्रेष्ठ होती है।

विषय-वस्तु की उपयुक्तता-अनुपयुक्तता का प्रश्न इसलिए भी नहीं उठता कि इसके लिए कलाकार से सोच-समझकर सायास चयन की अपेक्षा की जाती है। कला सायास नहीं होती। इसके अतिरिक्त, कलाकार कोई विषय चुनता है तो उसका चयन सामाजिक-नैतिक मूल्य, आर्थिक परिप्रेक्ष्य आदि जैसे किसी कला बाह्य तत्व पर ही आधारित होगा। इससे कला की स्वायत्तता बाधित होगी।

वैसे भी ऐसे निर्णय तभी संभव हैं जब अभिव्यंजना अभिव्यक्ति बने, अर्थात् बाह्य जगत में प्रकट हो। और अभिव्यक्त होने पर भी कलाकृति को श्रेष्ठ या हीन नहीं ठहराया जा सकता, न उसकी प्रकृति के लिए कलाकार को ही उत्तरदायी माना जा सकता है क्योंकि रचना के विषय या रूप का निर्धारण उसके हाथ मे है ही नहीं। कृति की श्रेष्ठता का अगर निर्णय हो सकता है तो इसी आधार पर कि उसकी अभिव्यंजना स्पष्ट है या नहीं।

16.6.3 अभिव्यंजना की अखंडता

क्रोचे के अनुसार, अभिव्यंजना को विभिन्न खंडों या पक्षों में बाँटकर नहीं देखा जा सकता क्योंकि यह एक संपूर्ण, संश्लिष्ट, अखंड इकाई है। कविता को भाषा, भाव, बिंब-विधान, अलंकार आदि में बाँटकर देखना या चित्र को पृष्ठभूमि, अग्रभूमि, रंग, आकृतियों आदि की दृष्टि से विश्लेषित करके देखना

कलाकृति के रूप में उसकी समग्रता को खंडित कर देता है। कला इस प्रकार टुकड़ों-टुकड़ों में बँटी हुई नहीं बल्कि एक संपूर्ण इकाई होती है। वैसे भी इस प्रकार का विश्लेषण तभी हो सकता है जब कला बाह्य जगत में अभिव्यक्त हो। वास्तव में तो कला मन में सहजानुभूति के स्तर पर ही पूर्ण हो जाती है व सहजानुभूति खंडों में बँटी हुई नहीं बल्कि मन में एक समग्र प्रभाव के रूप में ही उभरती है।

16.7 अभिव्यंजनावादी समीक्षा पद्धति

क्रोचे के सौंदर्यशास्त्रीय विवेचन में उनकी समीक्षा संबंधी दृष्टि भी समाहित है। कृति के उद्‌भव और समीक्षा-कर्म के संदर्भ में क्रोचे की क्या मान्यताएँ हो सकती हैं - इनका कुछ संकेत आपको पिछले भाग में मिल ही चुका होगा। यहाँ हम उनपर स्वतंत्र रूप से दृष्टि डालेंगे।

पहले आप इस बात को फिर से याद करें कि क्रोचे साहित्यशास्त्री नहीं वरन् दार्शनिक व सौंदर्यशास्त्री थे और उनकी समीक्षा संबंधी मान्यताएँ मात्र साहित्य नहीं बल्कि संपूर्ण कला-संसार से जुड़ी हुई हैं जिसके अंतर्गत साहित्य के अतिरिक्त संगीत, चित्रकला, मूर्तिकला तथा विभिन्न अन्य शिल्प भी आ जाते हैं। इसके अतिरिक्त, आप देख चुके हैं कि क्रोचे सामान्य मानव के मन में उठने वाली सामान्य जीवनानुभूतियों तथा कलाकार के मन में उठने वाली सहजानुभूतियों में कोई गुणात्मक अंतर नहीं मानते और उनके अनुसार सहजानुभूति ही अभिव्यंजना है और अभिव्यंजना ही कला। इस प्रकार, सौंदर्यशास्त्रीय समीक्षा का क्षेत्र भी गिने-चुने कलाकार तक सीमित न रहकर अनंत विस्तार पा जाता है। चूँकि हर मानव की सहजानुभूति कला है इसलिए समीक्षा का क्षेत्र भी मानव मात्र तक फैल जाता है। आइए, अब हम इस समीक्षा-पद्धति की कुछ विशेष मान्यताओं पर दृष्टि डालें।

समीक्षक के लिए पहले कृति की प्रकृति का ज्ञान आवश्यक है। हम देख चुके हैं कि क्रोचे कलाकृति को एक संश्लिष्ट इकाई मानते हैं। इस संश्लेषण की प्रक्रिया को क्रोचे मूर्ति निर्माण की पद्धति के माध्यम से समझाते हैं। उनके अनुसार, कविता में रचनाकार की वर्तमान सहजानुभूतियों के साथ ही पुरानी अनुभूतियों का भी योग होता है। किंतु ये भिन्न-भिन्न अनुभव-खंड अलग-अलग रूप में नहीं आते। पहले ये निर्विशेष तथा अरूप होकर आपस में घुल-मिल जाते हैं, फिर इस संश्लिष्ट रूप में ही ये बिंबों में परिवर्तित होकर कला-वस्तु का सृजन करते हैं। इस कलाकृति में उन भिन्न अनुभूतियों या संवेदन के भिन्न रूपों की अलग से कोई पहचान नहीं रहती। यह प्रक्रिया वैसी ही है जैसी कोई मूर्तिकार मूर्ति की ढलाई में अपनाता है। काँस्य मूर्ति तैयार करने के लिए वह धातु के अनेक अलग-अलग टुकड़े भट्टी में डालकर पिघलाता है। इनमें कोई पुरानी टूटी-फूटी मूर्ति भी हो सकती है, किसी अन्य मूर्ति या अन्य वस्तु के टुकड़े भी और धातु के पिंड भी। भट्टी की आँच में गलकर ये सभी एकाकार हो जाते हैं, इनकी अलग-अलग पहचान मिट जाती है और गलकर एक बन चुकी उस सामग्री को ढालकर मूर्ति बनाई जाती है। उस मूर्ति में धातु के अलग-अलग टुकड़ों की अपनी कोई पहचान बाकी नहीं रहती। समीक्षक को यह तथ्य हमेशा ध्यान में रखना चाहिए और प्रस्तुत अखंड इकाई पर ही अपनी दृष्टि केंद्रित रखनी चाहिए। उसकी सामग्री की विविधता पर या उसके विभिन्न अंगों पर नहीं। उसका ध्यान कृति के समग्र प्रभाव पर होना चाहिए। कृति का सौंदर्य उसमें सभी तत्वों के सुसंगत समंजन पर निर्भर होता है। उसके तत्वों (उदाहरण के लिए कविता में भाव, भाषा, छंद, अलंकार आदि चित्र में रंग रेखाएँ पृष्ठभूमि आदि) को अलग-अलग करके देखना उसके समग्र प्रभाव को बिखरा देगा और सौंदर्यानुभूति खंडित हो जाएगी।

एक और कारण से भी क्रोचे विश्लेषणात्मक समीक्षा का विरोध करते हैं। स्वयं कला की प्रक्रिया में ही विश्लेषण का कोई स्थान नहीं होता क्योंकि विश्लेषण के लिए तर्क क्षमता की ज़रूरत होती है और कला अनुभूति के स्तर पर ही पूर्ण हो जाती है। इस बात का उल्लेख पहले हो चुका है। इसलिए जब कला के सृजन तर्क-बुद्धि का सहारा नहीं लिया जाता तो तर्क-बुद्धि को उसके मूल्यांकन की कसौटी बनाना भी उचित नहीं है।

साहित्य तथा कला की समक्षी में कथ्य या अंतर्वस्तु (Content) तथा रूप (Form) को कृति के दो पक्ष मानकर समीक्षा करने की जो प्रवृत्ति आदिकाल से चली आ रही थी, उसका भी क्रोचे ने विरोध किया क्योंकि कृति में ये अलग-अलग नहीं होते। इनका संश्लिष्ट रूप ही कृति होती है और इस संश्लेषण में वह इन तत्वों का सम्मिश्रण मात्र न रहकर उनका अतिक्रमण कर जाती है, उनसे कहीं आगे बढ़ जाती है। इस दशा में वह प्रगीतात्मक सहजानुभूति कहलाने लगती है।

क्रोचे कला को सहजानुभूति मानते थे और उसमें सहजता पर ही उनका बल रहा है। कृति में -- विशेषकर साहित्यिक कृति में उन्होंने भाषा और भाव के आडम्बर का विरोध किया है। यहाँ फिर उनकी मूल धारणा को याद कीजिए। कला सहजानुभुति है जिसमें मन तर्कबुद्धि के पूर्व की अवस्था में रहता है। कृति में आडम्बरपूर्ण तड़क-भड़कर लाने के लिए कृतिकार को सोच-विचारकर शिल्प का प्रयोग करना पड़ता है। यह कला का अनिवार्य हिस्सा तो है ही नहीं, वास्तव में उससे इतर अवस्था है। इसलिए काव्य-कृति में भावनाओं का अतिरिक्त और बढ़ा-चढ़ा प्रदर्शन नहीं होना चाहिए। इसी को ध्यान में रखते हुए क्रोचे ने कविता के अतिरिक्त अलंकरण का भी विरोध किया। बिंब-निर्माण की प्रक्रिया में जो अलंकार कविता में सहज रूप से आ जाते हैं उन्हें क्रोचे ने कविता का सहज अंग माना किंतु जो अलंकार केवल सजावट के लिए कविता में जड़े जाते हैं उन्हें क्रोचे ने अनावश्यक और अवांछनीय माना है। साथ ही, छंद को भी उन्होंने कविता के लिए आवश्यक नहीं माना।

सारांश यह, कि कलाकृति - या कविता - एक समग्र, अखंड इकाई होती है जिसका सर्वप्रमुख गुण सहजता है। भाषा या भाव का आडम्बर, जबरदस्ती लादा हुआ अलंकरण और छंद-योजना उसके लिए अनावश्यक होते हैं और उस पर अतिरिक्त बोझ होते हैं। उनके बिना भी कृति पूर्ण होती है और अधिक सहज भी। कृति की समीक्षा में भी यह बात समीक्षक के आगे स्पष्ट होनी चाहिए।

क्रोचे साहित्यिक कृति में भाषा को भी महत्व हैं। भाषा को वे स्थिर नहीं बल्कि गतिशील तत्व मानते हैं। इसका अर्थ यह है कि भाषा का स्वरूप, अर्थ और प्रभाव बराबर बदलता रहता है। उसे एक मानक के बीच स्थिर करके उस मानक के ही आधार पर समीक्षा नहीं की जा सकती। भाषा के शब्द और प्रतीक जिन आशयों का वहन करते हैं, वे समय के साथ, और बहुत ज्यादा प्रयुक्त होने पर अपनी वह अर्थवत्ता खो देते हैं। उन घिसे-पिटे प्रयोगों से आगे बढ़कर भाषा नए प्रयोग अपनाती है, पुराने शब्दों में नए अर्थ भरती है और पुराने अर्थों को ख़ारिज करती चलती है। आप हिंदी में ही देखिए, 'नेता' शब्द की व्यंजना पिछले पचास वर्षों में कितनी बदल गई है। साहित्य की बात करें तो अज्ञेय की वह कविता आपने पढ़ी हागी जिसमें आज पुराने उपमानों के 'मैले' होने और प्रतीकों के 'देवता' के 'कूच' करने की बात करते हुए उन्होंने कहा है कि कभी बासन अधिक घिसने से 'मुलम्मा छूट जाता है'। मुलम्मा छूटने का अर्थ यही है कि निरंतर काम में आते जाने के कारण कुछ भाषा-प्रयोग अपनी ताज़गी और अर्थवत्ता खो बैठते हैं। उन अर्थों को व्यक्त करने के लिए गए भाषा-प्रयोगों की ज़रूरत होती है। इसीलिए भाषा की गतिशीलता बनी रहती है।

भाषा की इस गतिशीलता पर समीक्षक की निगाह होनी चाहिए। क्रोचे मानते थे कि इसीलिए समीक्षा-दृष्टि भी गतिशील होनी चाहिए। समीक्षक के लिए भाषा के प्रति सचेत रहना आवश्यक है ताकि वह समझ सके कि :

- कृति में प्रयुक्त शब्दावली ठीक-ठीक कौन-सा अर्थ दे रही है; और
- यह समीक्षा में जिस भाषा/शब्दावली का प्रयोग कर रहा है, वह पाठक तक उसके अभिप्रेत अर्थ सम्प्रेषण कर रही है या नहीं।

इसलिए क्रोचे मानते थे कि काव्य-भाषा की ही भाँति समीक्षा की भाषा - उसकी शब्दावली, मुहावरे आदि - भी जीवंत तथा गतिशील होने चाहिए।

एक और बात का उल्लेख यहाँ प्रासंगिक होगा। क्रोचे के मत में रचनाकार की भाषा उसकी निजी संवेदना और मानसिकता से जुड़ी होती है। कोई अन्य व्यक्ति कितना भी चाहे, उस संवेदना में पूरी तरह पैठ नहीं सकता। उस संवेदना को ज्यों का त्यों प्रस्तुत करना भी उसके लिए संभव नहीं है। इसीलिए क्रोचे किसी कृति के अनुवाद को भी संभव नहीं मानते। और इसीलिए उनके मत में सर्वांगपूर्ण समीक्षा भी संभव नहीं है।

इस बात का भी आप ध्यान रखें कि जैसी भी हो, समीक्षा भी तभी संभव हो सकती है जब कलाकृति चौथे चरण में पहुँचे, अर्थात् बाह्य जगत में अभिव्यक्त हो। यह आप देख चुके हैं कि क्रोचे के मत में यह चरण वैकल्पिक है। इसके बिना भी, कलाकार के मानसिक स्तर पर ही कृति पूर्ण हो जाती है। उस दशा में कोई बाहरी व्यक्ति उस कृति की समीक्षा नहीं कर सकता।

अंत में, एक बात पर दृष्टि डालकर हम इस प्रसंग को यहीं समाप्त करेंगे। क्रोचे जिस प्रकार कविता मे बाहरी तड़क-भड़क, अलंकार-बोझिलता और बनावटी छंद-विधान को अनुपयुक्त मानते थे, उसी प्रकार समीक्षा में भी वे भारी-भरकम शब्दावली तथा शास्त्रीयता की दुहाई के खिलाफ थे। स्वच्छंदतावाद और कलावाद की चरम सीमा पर स्थित होने के कारण यह स्वाभाविक ही था कि वे समीक्षा में रूढ़

शास्त्रबद्धता का विरोध करते। किंतु स्वच्छंदतावादी और कलावादी समीक्षा भी आगे चलकर रूढ़ हो चली थी, जबकि क्रोचे समीक्षा में किसी भी प्रकार की रूढ़ता तथा वागाडंबर को अनुपयुक्त मानते थे। क्रोचे की अभिव्यंजनावादी समीक्षा पद्धति का सार इस प्रकार है :

- कृति चूँकि एक संश्लिष्ट, समग्र इकाई होती है अतः समीक्षक को उसे समग्र रूप में ही देखना-परखना चाहिए, उसका विश्लेषण करके नहीं। विश्लेषण करने से सौंदर्यानुभूति खंडित हो जाती है।
- कला को सहजानुभूति से अभिन्न मानते हुए क्रोचे ने उसमें सहजता के गुण को ही सबसे अधिक महत्वपूर्ण माना है और उसमें भाषा तथा भाव के आडम्बर, अलंकार-बोझिलता आदि का विरोध किया है।
- भाषा को भी उन्होंने बहुत महत्व दिया है और इस बात पर बल दिया है कि भाषा निरंतर गतिशील रहती है। इसके शब्दों, प्रतीकों आदि के आशय बदलते रहते हैं और समीक्षक को इस गतिशीलता के प्रति सचेत रहना चाहिए। स्वयं उसके अपने भाषा-प्रयोग भी सजग और सम्प्रेषणीय होने चाहिए।
- कृतिकार की ही भाँति समीक्षक को भी वागाडंबर तथा शास्त्रीय तामझाम से बचना चाहिए।

16.8 मूल्यांकन

सामान्यतः कलावाद - 'कला कला के लिए - को साहित्य समीक्षा की आत्मपरक दृष्टियों में भी सबसे अतिवादी माना जाता है क्योंकि यह कलाकृति को बाहरी समाज से काटकर केवल कला के मूल्यों से जोड़ती है। अभिव्यंजनावाद का अध्ययन करते हुए हम देखते हैं कि यह कलावाद से भी आगे बढ़ जाता है। कलावाद में किसी स्तर पर बाहरी संसार की स्वीकृति तो मिलती है, अभिव्यंजनावाद में बाहरी अभिव्यक्ति को पूरी तरह अनावश्यक मानते हुए मानसिक स्तर पर ही कला को संपूर्ण रूप से सिद्ध मान लिया जाता है। अभिव्यंजना सिद्धांत की सबसे अधिक आलोचना इस घोर आत्मपरकता तथा इससे जुड़ी हुई स्थापनाओं के कारण ही हुई है।

- सबसे पहला सवाल उठता है रचना का उद्देश्य को लेकर। पाश्चात्य परंपरा में काव्य रचना के दो प्रमुख उद्देश्य माने जाते हैं - उपदेश और मनोरंजन। उपदेश के अंतर्गत ही सामाजिक प्रतिबद्धता और लोक-कल्याण की भावना भी आ जाती है। ये दोनों ही उद्देश्य तभी पूरे हो सकते हैं जब रचना समाज और सामाजिक तक पहुँचे। अभिव्यंजनावाद में रचना का समाज तक पहुँचना अनिवार्य है ही नहीं। यदि रचनाकार केवल स्वांतः सुखाय रचना करता है तो समाज से उसका या रचना का क्या कोई संबंध नहीं होता या होना चाहिए? इस प्रश्न को छोड़ भी दिया जाए तो भी अगला प्रश्न तो रह ही जाता है कि पाठक/भावक उस रचना का रस कैसे ग्रहण कर सकते हैं और समालोचक उस रचना तक कैसे पहुँच सकते हैं? यदि क्रोचे पाठक और समालोचक तक रचना का पहुँचना ज़रूरी नहीं मानते तो वे रचना और समाज के संबंध को पूरी तरह नकार रहे हैं। इस संबंध का इस सीमा तक नकार कलावाद में भी नहीं किया गया था।

  इसके अतिरिक्त, कला को अपनी पहचान समाज में ही मिलती है। अर्थात् बाह्य जगत में अभिव्यक्त होने पर ही उसे सौंदर्य-वस्तु — काव्य, चित्र, मूर्ति आदि — के रूप में पहचाना जाता है। यदि वह अभिव्यक्त ही नहीं होती तो कौन पहचानेगा कि वह है भी या नहीं? समाज ही एक विशिष्ट कृति को कला का नाम देता है। यदि वह रचनाकार के मन में ही रह गई तो उसे पहचाना कैसे जाएगा और उसे अन्य विचारों तथा अनुभूतियों से अलग कैसे किया जाएगा?
- इसी बात को लेकर अभिव्यंजनावाद की सबसे कटु आलोचना भी हुई है। कला यदि इस प्रकार बिल्कुल ही: समाज-निरपेक्ष हो जाती है तो उसके ऊपर किसी भी तरह का अनुशासन नहीं रह जाता। किसी भी क्षेत्र में अनुशासनहीनता आगे चलकर अराजकता को जन्म देती है। साथ ही, अभिव्यंजनावाद में कला को जिस प्रकार समाज से बिल्कुल तटस्थ माना गया है वह दृष्टि अनियंत्रित रहने पर समाज-विमुखता और समाज-विरोधिता में भी बदल सकती है। यह सही है कि बाहरी मूल्यों का नियंत्रण और अनुशासन कला को रूढ़ बनाता है किंतु पूर्ण अनुशासनहीता भी ऐसी स्थिति ला सकती है जो समाज के लिए हानिकर हो। सामाजिक प्राणी होने के नाते कलाकार समाज से पूरी तरह विमुख नहीं रह सकता।
- क्रोचे जब विषय-वस्तु की गुणवत्ता या कृति की उपयुक्तता का प्रश्न बिल्कुल ख़ारिज कर देते हैं तो उससे भी इसी प्रकार का ख़तरा उत्पन्न होता है। साथ ही, वे जब हर सहजानुभूति को कला

का दर्जा दे देते हैं तो कोई भी व्यक्ति अपनी बहक को भी कला के खाते में दर्ज कराने पर तुल जाएगा। बाह्य अभिव्यक्ति के अभाव में उसका मूल्यांकन संभव नहीं होगा और इससे भी कला के क्षेत्र में अराजकता फैल जाएगी।

- बाह्यं स्तर पर कला की अभिव्यक्ति को क्रोचे ने 'स्मृति की सहायक' मात्र माना है। परंतु यहाँ उन्होंने यह स्पष्ट नहीं किया है कि वे किसकी स्मृति की बात कर रहे हैं। यदि यह स्वयं रचनाकार की 'स्मृति' है, अर्थात् यदि बाह्य जगत में अभिव्यक्त कृति को देखकर रचनाकार के मन में फिर से उन्हीं अनुभूतियों की स्मृति जागती है जो इस सौंदर्य-सृष्टि की कारक थीं तो इसका भावकों या समालोचकों से कोई संबंध नहीं है। इसके अतिरिक्त, क्रोचे ने सहजानुभूति को अत्यंत विशिष्ट माना था जिसकी पुनरावृत्ति नहीं हो सकती। इसलिए बाह्य जगत में अभिव्यक्त कृति रचनाकार की स्मृति को उद्दीप्त करती है तो भी उसके मन में वही सहजानुभूति फिर से नहीं जागेगी जिसने इस कृति-विशेष को जन्म दिया था।

यदि क्रोचे का आशय/समालोचक की स्मृति के उद्दीपन से है तो यह बात भी कई कारणों से संगत नहीं है -

i) किसी (भावक/आलोचक) के मन में किसी अन्य व्यक्ति (कृतिकार) की सहजानुभूति की स्मृति कैसे जाग सकती है? व्यक्ति के मन में अपनी ही भावनाओं की 'स्मृति' जाग सकती है, किसी अन्य व्यक्ति की भावनाओं की नहीं।

ii) हम देखते हैं कि एक ही उद्दीपक पर भिन्न-भिन्न लोगों की प्रतिक्रिया भिन्न-भिन्न होती है। इसलिए कोई कृति भी सब लोगों के मन में एक-सी अनुभूति नहीं जगा पाती। यदि एक कृति के भावन से सब लोगों के मन में एक-सी अनुभूति का जागना संभव होता, तब तो कहा जा सकता था कि वे कृतिकार की सहजानुभूति के सहभागी है। किंतु जब अलग-अलग लोगों में एक ही कृति से भिन्न-भिन्न अनुभूतियाँ उभरती हैं तो यह कैसे समझा जाए कि उनमें से कौन-सी अनुभूति कृतिकार की अनुभूति के समान है? या, उनमें से कोई भी अनुभूति कृतिकार की अनुभूति के समान है भी या नहीं। ऐसे में स्मृति के उद्दीपन का सवाल उठता ही नहीं।

iii) क्रोचे के आत्मपरकता-प्रधान मत के आलोक में देखें तो हर व्यक्ति की अनुभूति अपने आपमें विशिष्ट होती है। इसलिए कोई कृति भावक या आलोचक में ठीक वे ही अनुभूतियाँ नहीं जगाएगी जो उसने कृतिकार के मन में जगाई थीं। इसलिए कृति पर भावक या समालोचक की जो भी प्रतिक्रिया होगी वह उसकी अपनी अनुभूति पर आधारित होगी, कृतिकार की सहजानुभूति का उससे कुछ भी लेना-देना नहीं होगा। इस प्रकार, समालोचना प्रभाववादी ही हो सकती है और उसका संबंध कृतिकार के कथ्य या कृति की अपनी किसी वस्तुपरक विशेषता से नहीं हो सकता।

iv) यदि मान भी लिया जाए कि कृतिकार की सहजानुभूति भावक/समालोचक के मन में प्रतिबिंबित भी हो सकती है तो यह संभव नहीं लगता। इसका मुख्य कारण तो यही है कि कृतिकार की सहजानुभूति के उद्दीपक कुछ विशेष संवेदन थे और हम यह अपेक्षा करते हैं कि एक उद्दीपक कृति — भिन्न-भिन्न भावकों/आलोचकों में ठीक वही सहजानुभूतियाँ उत्पन्न करे। क्रोचे के अनुसार उचित प्रशिक्षण और परिष्कृत अभिरुचि के माध्यम से आलोचक कृतिकार की भावनाओं से तादात्म्य स्थापित कर सकता है। किंतु फिर भी भिन्न स्रोतों से जागने वाली अनुभूति समान कैसे हो सकती है, इसे वे नहीं समझा पाए हैं।

- क्रोचे ने सौंदर्यशास्त्र की चर्चा में समीक्षा-कर्म पर भी विचार किया था, किंतु किसी कृति की समीक्षा तभी संभव होती है जब वह बाह्य जगत में अभिव्यक्त हो। ऐसी अभिव्यक्ति को क्रोचे कलाकृति से अतिरिक्त, और प्रासंगिक मात्र मानते हैं। ऐसी स्थिति में उस कृति की समीक्षा कला की समीक्षा कैसे कहला सकती है? दूसरे शब्दों में, समीक्षा-कर्म की चर्चा करते हुए क्रोचे प्रकारांतर से उसे सौंदर्यशास्त्र का एक महत्वहीन और अनावश्यक प्रसंग मात्र मानते हैं।

  क्रोचे जब कला को केवल मानसिक सहजानुभूति के स्तर पर सिद्ध मान लेते हैं तो कला की विविध विधाओं की पहचान कैसे बनेगी? हो सकता है कृतिकार के मन में शब्दों के बिंब बनें जो कविता का क्षेत्र है, या रंग और रेखाओं के बिंब बनें जो चित्रकला का क्षेत्र है। किंतु जब तक यह सहजानुभूति बाह्य जगत में कविता या चित्र के रूप में व्यक्त नहीं होती तब तक उसे विशिष्ट कला-रूप में कैसे पहचाना जाएगा? अर्थात् क्रोचे जगत में विभिन्न कला-विधाओं के अंतर को ही नहीं, उनके अस्तित्व को भी एक प्रकार से नकार देते हैं।

- क्रोचे के सिद्धांत को समझने में एक बड़ी बाधा यह रही है कि उन्होंने अनेक बहु-प्रचलित शब्दों को अपनी तरफ से मनमाने अर्थ दे दिए हैं। जब तक यह पता न हो कि शब्द-विशेष से उनका आशय क्या है तब तक उनकी बात को समझना भी बहुत मुश्किल है। पीछे हम देख चुके है कि वे अभिव्यंजना' का प्रयोग 'बाह्य जंगत में अनुभूति की अभिव्यक्ति' वाले सामान्य अर्थ में न करके मानसिक स्तर पर बिंब-निर्माण' के अर्थ में करते हैं। इसी प्रकार, 'कलाकृति' भी उनके लिए कोई मूर्त वस्तु नहीं, बल्कि ऐसी वस्तु की मानसिक परिकल्पना भर है। वे 'सहजानुभूति', 'अभिव्यंजना', 'कला', 'सौंदर्य-सृष्टि' - सभी को अभिन्न मानते हुए इन शब्दों का एक ही अर्थ में प्रयोग करते है - और वह अर्थ है, मानसिक स्तर पर बिंब-निर्माण का। हम जानते हैं कि सामान्य भाषा व्यवहार में ये सभी शब्द बिल्कुल अलग-अलग अर्थ देते हैं।

- इन बातों के अतिरिक्त, क्रोचे की अवधारणाओं की अतिरिक्त अमूर्तता भी उन्हें समझने की राह में बाधा उत्पन्न करती है।

क्रोचे के विचारों की इतनी विस्तृत आलोचना से आपकी यह धारण बन सकती है कि उनका सिद्धांत किसी भी रूप में ग्रहण करने योग्य नहीं है। किंतु ऐसा नहीं है। पाश्चात्य सौंदर्यशास्त्रीय विवेचन में क्रोचे के योगदान की उपेक्षा नहीं की जा सकती। यह सही है कि उनके मत को व्यापक स्वीकृति प्राप्त नहीं हुई, परंतु इस बात से भी इनकार नहीं किया जा सकता कि उनकी समकालीन तथा परवर्ती विचारधाराओं पर उनकी मान्यताओं का यथेष्ट प्रभाव पड़ा। क्रोचे ने अनेक टिप्पणियों लेखों तथा पुस्तकों के माध्यम से अपने विचारों को वाणी दी थी और उनके लेखन पर सौंदर्यशास्त्रियों तथा साहित्यशास्त्रियों ने बड़े विस्तार से विचार-विमर्श भी किया। एक यही तथ्य क्रोचे के मत के महत्व को प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त है। 'नयी समीक्षा' जैसे आंदोलन क्रोचे के विचारों से बहुत प्रभावित रहे हैं। कई महत्वपूर्ण रचनाकारों/कलाकारों पर भी क्रोचे की विचारधारा की छाप दिखाई देती है। **आइए, हम देखें कि साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में क्रोचे की मान्यताएँ किस रूप में उपयोगी सिद्ध हुई हैं।**

- सबसे पहली बात वही है जिसका पहले उल्लेख किया जा चुका है। आत्मपरक दृष्टि पर अतिरिक्त बल देकर क्रोचे साहित्य (और कला) को घोर वस्तुपरकता के घेरे से निकालने में बड़ी सीमा तक सफल हुए। कम से कम वे उस दृष्टि की एकांगिता को तो सफलतापूर्वक रेखांकित कर सके जो साहित्य तथा कला को पूरी तरह सौंदर्यशास्त्र से इतर कसौटियों पर परखने लगी थी। किसी भी साहित्यिक कृति की जाँच उसकी सामाजिक उपयोगिता या ऐसे ही अन्य प्रतिमानों से होने लगी थी। जहाँ साहित्यिक प्रतिमान अपनाए जाते थे वहाँ भी वे पूरी तरह वस्तुपरक रूढ़, शास्त्रीय प्रतिमान थे। उनमें कलाकार की अपनी मौलिकता, संवेदनशीलता और कृति की सूक्ष्मता तथा सांकेतिकता के लिए गुंजाइश ही नहीं छोड़ी गई थी क्योंकि ये मूल्य आत्मपरक थे। इन कारणों से साहित्य के सौंदर्यपरक मूल्य उपेक्षित हो गए थे। बिल्कुल विपरीत ध्रुव पर ले जाने के सहारे ही सही, क्रोचे ने साहित्य और कला को इस अतिवाद से उबारा। उन्होंने बाह्य तथ्यों की तुलना में कृति की केंद्रिकता पर बल दिया।

- क्रोचे के समय में समीक्षा में विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति बहुत बढ़ गई थी जिससे कृति का समग्र सौंदर्य उपेक्षित रह जाता था। क्रोचे ने एक सौंदर्य-वस्तु के रूप में कृति की समग्रता और संश्लिष्टता के महत्व को रेखांकित किया।

- जब कृति की आत्मा की उपेक्षा होने लगती है तो उसमें बाहरी तकनीकों तथा अलंकरण को अतिरिक्त महत्व मिलने लगता है। क्रोचे ने इस बात की ओर ध्यान आकर्षित किया कि ये सब अनावश्यक ताम-झाम हैं। कृति की अंतर्वस्तु ही वह आत्मा है जिसकी पहचान जरूरी होती है। बाहरी साज-शृंगार उस आत्मा को व्यक्त् करने के माध्यम मात्र होते हैं और उन्हें इतना भारी नहीं होना चाहिए कि कृति का कथ्य ही उनके नीचे दबकर दम तोड़ दे।

- रचना तथा आलोचना की भाषा की जीवंतता तथा गतिशीलता की ओर ध्यान आकर्षित करके क्रोचे ने भाषा को रूढ़ि-मुक्त करने के साथ ही उसकी शक्ति तथा संभावनाओं को भी उजागर किया।

इन तमाम बातों को ध्यान में रखते हुए हम समझ सकते हैं कि क्रोचे की मान्यताओं को सौंदर्यशास्त्र के क्षेत्र में इतना महत्व क्यों दिया जाता है।

16.9 अभिव्यंजनावाद तथा वक्रोक्ति सिद्धांत

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भारतीय तथा पाश्चात्य साहित्यशास्त्र के अध्ययन के क्रम में अभिव्यंजना सिद्धांत को कई बिंदुओं पर कुंतक के वक्रोक्ति सिद्धांत के निकट पाया था। उनकी दृष्टि में इनका साम्य इतना प्रबल था कि उन्होंने अभिव्यंजना सिद्धांत को 'भारतीय वक्रोक्तिवाद का विलायती उत्थान' तक कह दिया। परवर्ती अध्ययन से यह बात स्पष्ट हुई है कि दोनों में साम्य के कुछ बिंदु हैं अवश्य, किंतु मूलतः यह सतही स्तर का साम्य है, आंतरिक या अवधारणात्मक स्तर का नहीं। सतही साम्य भी कई बार इसलिए नज़र आता है कि हम इनकी स्थापनाओं को अभिव्यक्त करने वाली शब्दावली के साम्य में अटक जाते हैं। इस बात को हम नज़रअंदाज़ कर जाते हैं कि एक ही अभिव्यक्ति (शब्द) का प्रयोग कुंतक तथा क्रोचे अलग-अलग अर्थ में करते हैं। इस संदर्भ में बीज शब्द Expression (अभिव्यंजना) को ही लीजिए। Expression का हिंदी/संस्कृत प्रति-शब्द 'अभिव्यंजना' है किंतु हम जानते हैं कि इस शब्द का सामान्य अर्थ 'मानसिक स्तर पर बनी संकल्पना या अवधारणा की बाह्य जगत में अभिव्यक्ति' है। कुंतक की वक्रोक्ति भी बाह्य जगत में ही सिद्ध होती है। किंतु क्रोचे अभिव्यंजना को मानसिक स्तर पर ही सिद्ध मान लेते हैं।

आइए, इस विषय पर कुछ विस्तार से विचार करते हुए हम पहले इन दोनों सिद्धांतों के साम्य तथा वैषम्य पर नज़र डालें।

16.9.1 साम्य

- सबसे पहली और महत्वपूर्ण बात तो यह है कि अपने-अपने तरीके से ये दोनों ही दृष्टियाँ कलावादी हैं, अर्थात् साहित्य को ये साहित्यशास्त्र/सौंदर्यशास्त्र की कसौटी पर ही जाँचने पर बल देती हैं, साहित्येतर कसौटियो पर नहीं।

- दोनों ही दृष्टियों में कल्पना को प्रधानता दी गई है। कुंतक वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा मानते हुए उसके लिए कल्पना की आवश्यकता पर बल देते हैं। इस इकाई में आप देख चुके हैं कि क्रोचे भी संवेदनों के सहजानुभूति-अभिव्यंजना में बदलने के लिए कल्पना की भूमिका आवश्यक मानते हैं।

- क्रोचे तथा कुंतक, दोनों ही वक्रोक्ति/अभिव्यंजना को एक समग्र, संपूर्ण इकाई के रूप में देखते हैं और उसके वर्गीकरण के विरुद्ध हैं।

समानता के इन बिंदुओं को गौर से देखो तो आपको इनमें भी कई स्थानों पर वैषम्य नज़र आएगा।

16.9.2 वैषम्य

- यह सही है कि इन दोनों दृष्टियों में कला-तत्व को ही परम माना गया है, किंतु दोनों की कला संबंधी संकल्पना भिन्न है। क्रोचे कला को अपने आप में संपूर्ण तथा स्वयं अपना लक्ष्य मानते थे। उसके सामाजिक संदर्भ तथा सरोकार को वे पूरी तरह नकारते थे। इसके विपरीत, कुंतक के लिए कला साध्य नहीं, साधन थी। क्रोचे कला को बाह्य जगत के प्रयोजनों से मुक्त मानते थे किंतु कुंतक कला को सप्रयोजन मानते हुए समाज में नैतिकता के उन्नयन को उसका लक्ष्य मानते हैं। उनके लिए कला नैतिकता और उपयोगिता से जुड़ी है। इस प्रकार, कलावादी होते हुए भी कुंतक और क्रोचे की कला-दृष्टि तत्वतः भिन्न है।

- कला तथा आनंद के संबंध को दोनों ही स्वीकार करते हैं किंतु इस संबंध का स्वरूप दोनों की दृष्टि में भिन्न है। क्रोचे के अनुसार, आनंद कला का अनिवार्य सहचर है अर्थात् जहाँ कला होती है, उसके साथ आनंद भी अनिवार्य रूप से होता ही है। दूसरी ओर, कुंतक आनंद को कला का प्रयोजन मानते थे। अर्थात् यह कला के साथ निर्विकल्प रूप से नहीं आता, कला को उस तक पहुँचने के लिए प्रयास करना पड़ता है।

- इन बातों से स्पष्ट है कि कुंतक कला को सोद्देश्य मानते थे जबकि क्रोचे का मत था कि उद्देश्य को दृष्टि में रखकर चलने से रचना में सहजता नहीं रह जाती। इसके अतिरिक्त, उद्देश्याभिमुख होने से कला पर कला से अतिरिक्त अन्य मूल्य हावी होने लगते हैं।

- क्रोचे के अनुसार अभिव्यंजना या कला मानसिक स्तर पर ही पूर्ण हो जाती है। उसकी बाह्य अभिव्यक्ति अतिरिक्त और अनावश्यक क्रिया होती है। कुंतक के लिए अभिव्यंजना का अर्थ ही अभिव्यक्ति, अर्थात् मानसिक स्तर पर रची हुई उक्ति का बाह्य जगत में प्रकटीकरण है।

- कला को मानसिक या सामाजिक मानने के इस अंतर से ही बहुत-सी और बातें भी जुड़ी हुई हैं। क्रोचे के लिए कला सहज है, इसलिए वे इसे सहजानुभूति कहते हैं। यदि इसे सोच-विचार कर रचा या गढ़ा जाए तो वह तर्क-बुद्धि का क्षेत्र होगा कला का नहीं। इसके विपरीत, कुंतक ने कला को आयास-साध्य माना था। उक्ति में विदग्धता, विचित्रता तथा चमत्कार उत्पन्न करने के लिए रचनाकार को चेष्टा करनी ही पड़ती है।

- रचनाकार उक्ति वैचित्र्य तथा वाग्विदग्धता की ख़ातिर जो प्रयास करता है, वह सफल भी हो सकता है असफल भी। किंतु क्रोचे के अनुसार अभिव्यंजना कभी असफल नहीं होती। मानस में बिंब-निर्माण के साथ ही कला पूर्ण तथा सफल हो जाती है। इसीलिए क्रोचे श्रेष्ठता के आधार पर कृतियों का वर्गीकरण-विभाजन भी नहीं करते जबकि कुंतक स्वीकार करते हैं कि विभिन्न कृतियों की गुणवत्ता में अंतर होता है।

- क्रोचे कला में बाहरी अलंकरण, उक्ति-वैचित्र्य आदि के बिल्कुल खिलाफ थे यह आप देख ही चुके हैं। इसके विपरीत, कुंतक श्रेष्ठ रचना में चमत्कार, वैचित्र्य तथा विदग्धता के पक्षधर थे और इसके लिए उन्होंने अलंकार, वाग्वैचित्र्य, शब्द-शक्तियों आदि युक्तियों के प्रयोग को काम्य माना है।

इन आधारों पर हम देख सकते हैं कि कुंतक तथा क्रोचे की जीवन-दृष्टि तथा कला-दृष्टि भिन्न थी और उनके विवेचन में कहीं-कहीं शब्दावली का साम्य होते हुए भी उस शब्दावली से दोनों का अभिहित अर्थ समान नहीं था। दोनों के दृष्टिकोण में साम्य के बिंदु अपेक्षाकृत सतही और कम महत्वपूर्ण हैं और वैषम्य के बिंदु अधिक महत्वपूर्ण तथा मूलगामी हैं। इसलिए इन दोनों मतों को एक ही कोटि में रखना संगत नहीं होगा।

16.10 सारांश

- इस इकाई में आपने क्रोचे के अभिव्यंजना सिद्धांत का परिचय प्राप्त किया। इस सिद्धांत की सामान्य वैचारिक पृष्ठभूमि के परिचय के बाद आपको क्रोचे के जीवन तथा रचना-कर्म संबंधी संक्षिप्त जानकारी दी गई। उनकी विचार-यात्रा पर दृष्टि डालते हुए आपने देखा कि क्रोचे मूलतः दार्शनिक तथा सौंदर्यशास्त्री थे। उनके सिद्धांत की प्रकृति से भी यह बात स्पष्ट होती है।

- क्रोचे में हम कलावादी चिंतन तथा अमूर्त आत्मपरकता की चरम सीमा पाते हैं क्योंकि इसमें कलाकृति की बाह्य जगत में मूर्त अभिव्यक्ति आवश्यक मानी ही नहीं गई है। क्रोचे ने चेतना को ही परम तत्व माना और चेतना के स्तर पर ही कला को भी संपूर्ण मान लिया। उन्होंने चेतना की चार मूलभूत क्रियाएँ मानी जिनमें एक निश्चित वरीयता-क्रम है। इनमें सबसे प्रारंभिक तथा सबसे महत्वपूर्ण है सहजानुभूति-अभिव्यंजना जो सभी चेतन प्राणियों में होती है और प्राणी के सभी अनुभव इसी स्तर पर होते हैं। कला भी इसी स्तर पर पूर्ण हो जाती है। इसके बाद वरीयता-क्रम में चेतना की अगली तीन क्रियाएँ हैं - अवधारणाकरण, सामान्य स्वेच्छा-चालित क्रियाएँ; तथा नैतिक क्रियाएँ।

- इसके बाद अभिव्यंजना सिद्धांत पर बात करते हुए हमने सबसे पहले क्रोचे की संवेदन, सहजानुभूति तथा अभिव्यंजना संबंधी अवधारणाओं को समझा और देखा कि उनके अनुसार सहजानुभूति ही अभिव्यंजना है और अभिव्यंजना ही कला। इन शब्दों का प्रयोग क्रोचे ने सामान्य अर्थ में न करके अपने अलग ही अर्थ में किया है। अभिव्यंजना को भी उन्होंने 'बाह्य अभिव्यक्ति' वाले सामान्य अर्थ में न लेकर 'चेतना के स्तर पर सहजानुभूति' के ही अर्थ में लिया है। इस संदर्भ में क्रोचे ने बोध-शक्ति को भी बड़ा महत्व दिया है जो संवेदनों को सहजानुभूति में बदलती है। कल्पना के माध्यम से चेतना में संवेदनों के बिंब बनते हैं और इस बिंब-निर्माण के साथ ही सहजानुभूति-अभिव्यंजना/कला की प्रक्रिया पूर्ण हो जाती है। हमने देखा कि क्रोचे ने कला की सृजन प्रक्रिया को चार चरणों में विभाजित किया है - अमूर्त संवेदन उन संवेदनों का बोध, संश्लेषण तथा अन्वयन : कल्पना के माध्यम से मानस में उन संवेदना के बिंबों का निर्माण और कलाकृति की परिकल्पना; और बाह्य जगत में रूपंकर उपकरणों के माध्यम से उस कलाकृति की अभिव्यक्ति। चौथे चरण को क्रोचे ने वैकल्पिक माना है। इसके बिना, तीसरे चरण पर भी कला पूर्ण हो जाती है।

- अभिव्यंजना सिद्धांत से सम्बद्ध कुछ अन्य मान्यताओं पर विचार करते हुए हमने देखा कि सहजानुभूति और कला को अभिन्न मानते हुए क्रोचे सामान्य अनुभूति और कलानुभूति में भी कोई अंतर नहीं करते। वे सहजानुभूति को स्वतःस्फूर्त और निरायास मानते थे और इसलिए कृति की

विषय-वस्तु का चुनाव भी उनके अनुसार कलाकार के हाथों में नहीं होता। इसीलिए वे किसी रचना की विषय-वस्तु को भी अच्छी या बुरी की श्रेणी में रखने के विरुद्ध हैं। उन्होंने अभिव्यंजना की प्रकृति को भी समग्र और संश्लिष्ट माना, खंडों या पक्षों में विभाजित नहीं।

- इसके बाद अभिव्यंजनावादी समीक्षा पद्धति पर विचार करते हुए हमने देखा कि क्रोचे ने कृति की प्रकृति के अनुरूप ही अपेक्षाएँ समीक्षक से भी की हैं। समीक्षक को कला की प्रकृति का सम्यक् ज्ञान होना चाहिए। उन्होंने कला में आडम्बर का विरोध किया है और भाषा पर विशेष बल देते हुए उसकी गतिशीलता की ओर विशेष रूप से ध्यान आकर्षित किया है।

- क्रोचे के सिद्धांत का मूल्यांकन करते हुए हमने पहले उसकी सीमाओं पर विचार किया और देखा कि इसकी सबसे अधिक आलोचना इसकी अमूर्तता - अर्थात् कला को मानसिक स्तर पर ही पूर्ण मान लेने के कारण हुई है। इसकी अतीव वैयक्तिकता या समाज-निरपेक्षता की भी आलोचना हुई है। क्रोचे ने सामान्य प्रचलित शब्दावली का अपने अलग अर्थ देकर प्रयोग किया है, इससे भी इनके सिद्धांत को समझने में बाधा होती है। किंतु फिर भी इनके सिद्धांत का सौंदर्यशास्त्र में महत्व है क्योंकि इन्होंने कला पर कला से इतर मूल्यों के दबाव का तथा अनावश्यक अलंकरण का विरोध किया, और भाषा की गतिशीलता तथा शक्ति को रेखांकित किया।

- इकाई के अंत में हमने क्रोचे के अभिव्यंजनावाद तथा भारतीय आचार्य कुंतक के वक्रोक्ति सिद्धांत के साम्य-वैषम्य पर दृष्टिपात करते हुए देखा कि दोनों सिद्धांतों में ऊपरी स्तर पर कुछ साम्य अवश्य नज़र आता है, किंतु दोनों में तात्विक अंतर है क्योंकि दोनों की जीवन-दृष्टि भिन्न है। क्रोचे के विपरीत, कुंतक ने साहित्य के सामाजिक सरोकार को महत्व दिया था और उक्ति के चमत्कार तथा अलंकरण को भी।

16.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें

डॉ. लक्ष्मी नारायण सुधांशु, **काव्य में अभिव्यंजनावाद**, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना।

डॉ. रामअवध द्विवेदी, **साहित्य सिद्धांत**, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना।

डॉ. देवेन्द्रनाथ शर्मा, **पाश्चात्य काव्यशास्त्र**, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली

डॉ. नगेन्द्र तथा राजकुमार कोहली, **पाश्चात्य काव्यशास्त्र : सिद्धांत और वाद**, हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

प्रो. निर्मला जैन तथा डॉ. कुसुम बांठिया, **पाश्चात्य साहित्य चिंतन**, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली।

डॉ. कुसुम बांठिया (1977), **क्रोचे का अभिव्यंजनावाद**, हरियाणा साहित्य अकादमी, चंडीगढ़ से प्रकाशित डॉ. विद्यानिवास मिश्र द्वारा संपादित पुस्तक **साहित्य का सौंदर्यशास्त्र** में संकलित।

16.12 अभ्यास के लिए प्रश्न

1. क्रोचे के अभिव्यंजनावाद की मूल स्थापनाओं पर प्रकाश डालिए।
2. क्रोचे के अभिव्यंजना सिद्धांत की शक्ति और सीमाओं का विवेचन कीजिए।
3. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए :
   क) अभिव्यंजनावाद और वक्रोक्तिवाद का साम्य-वैषम्य
   ख) अभिव्यंजनावादी समीक्षा पद्धति

इकाई 17 टी.एस.एलियट का साहित्य चिंतन

इकाई की रूपरेखा

17.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- बता सकेंगे कि एलियट ने रोमांटिक काव्य-मूल्यों का विरोध किस प्रकार किया
- एलियट की परंपरा और व्यक्तिगत प्रज्ञा संबंधी अवधारणा को समझ-समझा सकेंगे
- उनके निर्वैयक्तिकता सिद्धांत और मूर्त विधान संबंधी अवधारणा पर प्रकाश डाल सकेंगे; और
- एलियट के चिंतन के विभिन्न महत्वपूर्ण पक्षों का विवेचन कर सकेंगे।

17.1 प्रस्तावना

पिछली इकाई में आपने क्रोचे के अभिव्यंजनावाद सिद्धांत के विषय में पढ़ा है तथा यह भी जानकारी प्राप्त की है कि इस सिद्धांत और भारतीय वक्रोक्ति सिद्धांत में कितनी समानता-असमानता है। प्रस्तुत इकाई बीसवीं सदी के अत्यंत महत्वपूर्ण आलोचक टी.एस.एलियट से संबंधित है। रचनाकार और आलोचक दोनों के रूप में एलियट आधुनिक पश्चिम जगत में एक युगांतरकारी व्यक्तित्व के रूप में उभरे हैं। बीसवीं सदी की भयंकर मानवीय त्रासदी - दो विश्व युद्धों के बीच सृजन और चिंतन में सक्रिय एलियट परंपरा और आधुनिकता के संबंध को नए अर्थ-संदर्भ प्रदान करते हैं।

17.2 व्यक्तित्व और युग परिवेश

प्रसिद्ध कवि, नाटककार तथा आलोचक टॉमस स्टर्न्स एलियट (Thomas Stearns Eliot) का जन्म 26 सितंबर 1888 को सेंट लुई अमरीका के एक प्रतिष्ठित परिवार में हुआ। उन्होंने हार्वर्ड विश्वविद्यालय से 1910 में एम.ए. किया। सौभाग्यवश उनके शिक्षकों में आयरविंग बैबिट जैसे आलोचक तथा जॉर्ज सांतायना जैसे चिंतक थे। इन दोनों विख्यात शिक्षकों का प्रभाव एलियट पर पड़ा। हार्वर्ड विश्वविद्यालय के साहित्यिक परिवेश में उन्होंने काव्य-सृजन शुरु किया। 1907-1910 तक वे 'हार्वर्ड एडवोकेट' में अपनी कविताएँ प्रकाशित करते रहे और दो वर्ष तक इस पत्रिका का सम्पादन भी किया। इसके बाद तर्कशास्त्र, तत्वज्ञान, संस्कृत और पालि चारों विषयों को मिलाकर दर्शनशास्त्र में पी-एच.डी. की उपाधि प्राप्त की। एफ.एच.ब्रेडले पर उनका शोध-प्रबंध उनकी मृत्यु के पश्चात 'नॉलिज एंड एक्सपीरिएंस'

शीर्षक से प्रकाशित हुआ। हार्वर्ड विश्वविद्यालय के अतिरिक्त उन्होंने ऑक्सफोर्ड, सॉबोर्न (फ्रांस) फिलिप्स (जर्मनी) के विश्वविद्यालयों में भी कुछ समय अध्ययन किया। 1915 में एलियट लंदन पहुँचे और वहीं बस गए। वहीं उन्होंने ब्रिटिश साहित्यिक पत्रिका 'ईगोइस्ट' के सहकारी सम्पादक का दायित्व सँभाला। लंदन के पास ही थोड़े दिन तक एक स्कूल में पढ़ायाः फिर लॉयडस बैंक में नौकरी की। सन 1922 में त्रैमासिक पत्रिका **'क्राइटेरियन'** की स्थापना की और सम्पादन किया। **एलियट के साहित्यिक यश-विस्तार में इस पत्रिका की भूमिका अविस्मरणीय है।** 'दि वेस्टलैंड' नामक उनकी विश्व-प्रसिद्ध कविता पहले-पहल 1922 में 'क्राइटेरियन' में ही प्रकाशित हुई। 1927 में इंग्लैण्ड की नागरिकता और 'चर्च ऑफ इंग्लैण्ड' की सदस्यता स्वीकार कर वे इंग्लैण्ड के स्थायी निवासी बन गए। उन्हें नोबेल पुरस्कार 1948 ई. में मिला। जीवन के अंत (4 जनवरी, 1965) तक वे निरंतर सृजन करते रहे।

टी.एस. एलियट की काव्य-कृतियों में 'दि लव सांग ऑफ एल्फर्ड प्रूफ्रॉक' (1915), 'दि वेस्टलैंड' (1922), 'फॉर क्वार्टर्स' (1943), और नाटकों में 'मर्डर इन द कैथिड्रल' (1935), 'दि फैमिली रियूनियन' (1939) तथा 'दि कॉकटेल पार्टी' (1950) को विशेष ख्याति प्राप्त हुई। आलोचना के क्षेत्र में 'दि सेक्रेड वुड' (1920), 'होमेज टु जॉन ड्राइडन' (1924), 'एलिजबेथेन एसेज़' (1932), 'दि यूज़ ऑफ पोएट्री एंड दि यूज़ ऑफ क्रिटिसिज्म' (1933), 'सेलेक्टेड एसेज़' (1934) और 'एसेज़ एन्शेंट एण्ड मॉडर्न' (1936) काफी प्रसिद्ध हुए।

दो विश्व-युद्धों के बीच सृजन-कर्म में सक्रिय एलियट के विचारों में परंपरा और आधुनिकता का अद्भुत ढंग से मेल हुआ। कविता में आत्मनिवार्सन-अजनबीपन का गहरा अहसास और व्यक्ति की अस्मिता का संकट खुलकर सामने आया। किंतु आगे चलकर नाटकों में वे अध्यात्म की ओर झुकते चले गए। उनपर एक ओर तो दांते, एलिजाबेथेन तथा जेकोबियन नाटक का प्रभाव था तथा दूसरी ओर उन्नीसवीं शताब्दी के फ्रांसीसी प्रतीकवादियों की छाप - खासकर शैली पर - दिखाई देती है। आलोचक के रूप में एलियट एक ऐसे विचारक हैं जिन्होंने अपनी पीढ़ी की रुचि और विचार-चेतना को बहुत दूर तक प्रेरित-प्रभावित किया है। उन्होंने अपनी आलोचना को 'काव्य-कर्मशाला' (Poetry Workshop) का उपजात (by-product) या 'काव्य-सृजन के प्रसंग में अपने चिंतन का विस्तार' घोषित किया है। इस कथन से ज़ाहिर है कि काव्य-निर्माण के प्रसंग में उन्होंने जो चिंतन-मनन किया है - उसी से उनकी आलोचना को आधार मिला है। एलियट अपने सृजन अनुभव से इस निश्चय पर पहुँचे हैं कि कारयित्री (creative) और भावयित्री (critical) प्रतिभाएँ परस्पर पूरक हैं; अतः सर्जक और आलोचक एक ही व्यक्ति को होना चाहिए। इस कथन का अर्थ है कि अच्छा सर्जक ही अच्छा आलोचक हो सकता है। एलियट के काव्य-चिंतन पर विचार करने वाले अधिकांश आलोचकों ने कहा है कि एक अर्थ में तो एलियट का कथन ठीक है पर इसे नियम के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता है। अच्छा रचनाकार अच्छा आलोचक भी हो यह आवश्यक नहीं है। ध्यान देने की बात यह है कि एलियट की आलोचना मुख्यतः सर्जक की दृष्टि से लिखी गई हैं जिसमें पाठक की दृष्टि गौण रही है।

पश्चिम में आंग्ल-अमरीकी नयी आलोचना के जनक के रूप में एलियट का नाम महत्वपूर्ण है एवं 'नयी कविता' को प्रेरित करने वाले रचनाकारों में वे 'अग्रगण्य' हैं। दिलचस्प तथ्य यह है कि एक सिद्धांतकार की तरह न तो उन्होंने सिद्धांत निर्मित किए, न नियम बनाए, न वे किसी वाद या सम्प्रदाय से जुड़े। सर्जक की दृष्टि से उन्हें जो काव्य-चिंतन ग्राह्य प्रतीत हुआ है उन्होंने ही ग्रहण किया। ऐसा करने के कारण उनके चिंतन पर प्रभाव तो बहुतों का है पर अनुकरण या अनुगमन किसी का नहीं।

17.3 रोमांटिक काव्य-मूल्यों का विरोध

एलियट ने रोमाण्टिक, व्यक्तिबद्ध काव्य-मूल्यों का खण्डन किया। रोमाण्टिक कवियों ने कविता को सहज अंतःस्फूर्त सृष्टि स्वीकार कर लिया था। एलियट की चर्चा विशेष रूप से इस सिद्धांत के विरोधी के रूप में हुई। उन्होंने ज़ोर देकर कहा कि कवि के व्यक्तित्व और जीवनगत राग-द्वेष का विवेचन-विश्लेषण उसके काव्य के विवेचन के लिए अप्रासंगिक है - काव्य की रचना एक निर्वैयक्तिक साधना है जिसमें कवि को कलात्मक उद्देश्य के प्रति पूर्णतः आत्म-समर्पण करना पड़ता है। 'परंपरा और व्यक्तिगत प्रज्ञा' (Tradition and the Individual Talent) नामक निबंध में उन्होंने रोमाण्टिक सिद्धांत का विरोध करते हुए साफ कहा कि 'कविता कवि व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति या आत्माभिव्यक्ति नहीं है वरन व्यक्तित्व से पलायन है - व्यक्तित्व का अनवरत निषेध है।' इस कथन के मूल में वर्डसवर्थ के

'सहज भावोच्छ्वास सिद्धांत' के विरोध की ध्वनि है जिसके अनुसार कविता को घोषित तौर पर तीव्रतम भावों की प्रबल अंत:स्फूर्त अभिव्यक्ति (Spontaneous over flow of powerful emotions) कहा गया था। इस रोमाण्टिक काव्य-सिद्धांत के अनुसार कविता, कवि के मनोवेगों का उद्गार है। कवि की सत्ता, काव्य-सत्ता के साथ एकाकार है।

17.3.1 प्रभाववादी समीक्षा का विरोध

एलियट ने प्रभाववादी समीक्षा के प्रति घोर असंतोष व्यक्त किया। प्रभाववादी समीक्षा पद्धति पर तीव्र प्रहार करते हुए उन्होंने कहा कि इसपर अधिक विचार नहीं किया जाना चाहिए क्योंकि यह उन मानसों को प्रभावित करती है जो इतने दुर्बल और आलसी हैं कि मूल कलाकृति का सामना करने से कतराते हैं।' अंग्रेज़ी आलोचना से उन्हें शिकायत है कि आलोचक 'अपनी व्यक्तिगत अभिरुचि का संस्कार' मात्र ढोते रहते हैं। एलियट के विचार में गेटे तथा कॉलरिज जैसे आलोचनात्मक अंतर्दृष्टि सम्पन्न आलोचक भी इस दोष से मुक्त नहीं है। उन्होंने 'दि सेक्रेड वुड' नामक अपनी पुस्तक में बार-बार इस बात पर बल दिया है कि **आलोचक को व्यक्तिगत भावों से मुक्त होकर मूल रचना या कलाकृति पर ही ध्यान केंद्रित करना चाहिए।** उदाहरण के तौर पर, एलियट का कथन है - 'आलोचना मूल संवेदना का विकास है - निकृष्ट आलोचना मात्र भावांभिव्यक्ति।' कहना न होगा कि एलियट कवि से ध्यान हटाकर कविता पर ही केंद्रित होने की बात करते हैं। 'कविता का अस्तित्व मात्र वही नहीं है जो कवि ने सोचा था अथवा जो पाठक सोचता है और न इसके अस्तित्व की यही सीमा बाँधी जा सकती है कि लेखक का इसके विषय में क्या' मन्तव्य था या पाठक के ऊपर वह क्या प्रभाव डालती है।' इस बात को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं 'यदि हम कवि द्वारा बताई गई सामग्री के आधार पर अथवा कवि के जीवनीपरक अध्ययन के द्वारा कविता की व्याख्या करने की कोशिश करेंगे तो कविता से निरंतर दूर और दूर होते जाएँगे और साथ ही किसी गंतव्य पर भी नहीं पहुँचेंगे। कविता के स्रोतों की छानबीन द्वारा कविता की व्याख्या करने का प्रयास मूल कविता से ध्यान हटाकर किसी ऐसी वस्तु की ओर मोड़ देगा जिसका कविता से कोई संबंध नहीं है और जो उसपर कोई प्रकाश नहीं डालती।' वास्तव में कविता का अपना स्वतंत्र स्वायत्त अस्तित्व होता है जिसका कवि के व्यक्तिगत भावों तथा जीवन-प्रसंग से जुड़ी घटनाओं से कोई सीधा रिश्ता नहीं होता है। एलियट ने स्पष्ट कहा है कि 'हम केवल यही कह सकते हैं कि कुछ मायनों में कविता का अपना स्वतंत्र जीवन होता है। उसके कुछ हिस्से मिलकर ऐसा रूप ग्रहण कर लेते हैं जो एक निश्चित क्रम में व्यवस्थित जीवनीपरक आँकड़ों से भिन्न होते हैं और जो अनुभूति या विचार या जीवन दृष्टि कविता के माध्यम से प्रतिफलित होती है वह कवि के मानस में विद्यमान अनुभूति या भाव या जीवन दृष्टि से भिन्न होती है।' एलियट ने यहाँ तक कहा है कि जो आलोचक इतिहास या दर्शन को आलोचना का आधार बनाना चाहते हैं वे आलोचक नाम के अधिकारी नहीं हैं। वे अरस्तू की तारीफ करते हैं। कारण, उनकी दृष्टि पूरी तरह तथा पूरी दृढ़ता के साथ वस्तु पर ही केंद्रित रही।' डॉ. जॉनसन की प्रशंसा इसलिए करते हैं कि 'उन्होंने अपनी दृष्टि को साहित्येतर मूल्यों से धूमिल नहीं होने दिया।' एलियट का 'आलोचना' से तात्पर्य है लिखित शब्दों के माध्यम से कलाकृतियों का भाष्य और निरूपण ' साथ ही 'कलाकृतियों का स्पष्टीकरण और अभिरुचि का परिष्कार'। इसी को संशोधित-सम्पादित करने के बाद उन्होंने कहा कि आलोचना का काम है - 'साहित्य की समझ तथा आस्वाद चेतना में अभिवृद्धि करना।'

17.3.2 आलोचना का मूल प्रयोजन : रुचि-परिष्कार

एलियट के मत में आलोचक का सबसे बड़ा गुण होना चाहिए - 'यथार्थबोध अधिक से अधिक विकसित हो'। यथार्थबोध धीरे-धीरे विकसित होता है और उसका विकास 'सभ्यता के चरमोत्कर्ष का ही बोधक होगा। आलोचक के प्रमुख उपकरण हैं - तुलना और विश्लेषण जो सच्चे सौंदर्य-बोध को सामने लाने में सक्षम हो सकते हैं। आलोचना का प्रधान उद्देश्य है - कलाकृति की समझ (understanding) आस्वाद (enjoyment); और परिशंसन (appreciation) के लिए भूमि तैयार करना। इसके साथ ही आलोचना का मूल प्रयोजन है - रुचि-परिष्कार (correction of Taste)। रुचि परिष्कार से अभिप्रेत हैं - ऐसे काव्य के लिए उसे तैयार करना जिससे वह परिचित नहीं है और यदि परिचित है तो उस काव्य को नयी दृष्टि से देखने-समझने की स्थिति या आवश्यकता पर ध्यान केंद्रित कराना। यह कार्य इसलिए विशेष है कि काव्य-सृजन की जब कभी कोई नयी प्रवृत्ति या धारा फूटती है तो उसे स्वीकृति प्राप्त करने में तमाम अवरोधों का सामना करना पड़ता है। इसका कारण यह है कि सामान्य पाठक अभ्यस्त लीकों या संस्कारों को छोड़कर सर्वथा अपरिचित और अनभ्यस्त को अपनाना नहीं चाहता। हिंदी में 'छायावाद' और 'नयी कविता' को ऐसे ही विरोधों का सामना करना पड़ा था।

17.3.3 आलोचना रचना केंद्रित होनी चाहिए रचनाकार केंद्रित नहीं

दरअसल, एलियट जिस समय सृजन और आलोचना के क्षेत्र में आए उस समय अंग्रेज़ी कविता ह्रासोन्मुख और आलोचना दिशाहीन थी। उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में वर्डसवर्थ, कॉलरिज, शेली आदि ने जिस आलोचना का सूत्रपात किया था उसमें कवि व्यक्तित्व, भावना, कल्पना की प्रधानता थी। मैथ्यू आर्नल्ड ने एक हल्का-सा प्रयास रोमाण्टिक आलोचना को सुधारने का किया किंतु वे साहित्य से अधिक संस्कृति की ओर, और काव्य से अधिक धर्म की ओर झुकते गए। इस कारण उन्हें अपेक्षित सफलता नहीं मिली। 19वीं शताब्दी के अंतिम चरण में कला कला के लिए (वाल्टर पेटर, आस्कर वाइल्ड आदि) साहित्यिक मंच पर उभरे और उन्होंने एक अतिवाद को जन्म दिया। इसी बीच सैन्ट्सबरी की ऐतिहासिक और जीवनीमूलक आलोचना सामने आई। सार-संक्षेप यह कि आलोचना की प्रचलित पद्धतियों में कृतिकार की प्रधानता और कलाकृति गौण थी। इसलिए एलियट को घोषणा करनी पड़ी कि **'सच्ची आलोचना का लक्ष्य कवि नहीं, बल्कि काव्य है।'** एलियट के इसी संकल्प ने पूरी शताब्दी की व्यक्तिवादी आलोचना पद्धति को चुनौती देकर नयी दिशा की ओर मोड़ दिया। उन्होंने पूरा ध्यान कविता या कृति की स्वायत्त वस्तुसत्ता पर केंद्रित किया। ध्यान का यही केंद्रण 'ट्रेडिशन एण्ड द इंडिविजुअल टैलेन्ट' नामक निबंध में दिखाई देता है जिसमें रोमाण्टिक विचार-दृष्टि (cult) की व्यक्तिवादिता का निषेध करते हुए परंपरा की महत्व-प्रतिष्ठा की गई है और परंपरा के अंतर्गत 'व्यक्तिगत प्रज्ञा' की अर्थवत्ता को सामने लाया गया है। परंपरा पर विचार करते हुए एलियट ने 'संस्कृति' की ओर भी ध्यान दिया और कहा कि उसका संबंध धर्म से है। संस्कृति की इसी अवधारणा को दृष्टि में रखकर उन्होंने सारे यूरोप को एक सांस्कृतिक इकाई के रूप मे देखा जिसके दो साधक तत्व हैं - ईसाई धर्म तथा यूनान और रोम का दाय। ये दोनों ही यूरोप की 'सेक्रेड ट्रेडिशन' की सम्मिलित परंपरा के प्रधान आधार हैं। परंपरा की बात करते हुए एलियट कवि भूमिका की व्याख्या सर्जक के रूप में नहीं करते - मात्र माध्यम के रूप में करते हैं। प्रश्न उठता है कि व्यक्तित्व या भावों से 'पलायन' का क्या अर्थ है? एलियट का स्पष्टीकरण है कि 'कविता भावों का उच्छलन नहीं बल्कि भावों सें पलायन है। परंतु इसमें संदेह नहीं कि जिनके पासं व्यक्तित्व और भाव होते हैं, केवल वे ही जानते हैं कि इनसे पलायन चाहने का अर्थ क्या होता है।' वास्तव में एलियट का विरोध व्यक्तित्व से नहीं 'व्यक्ति तत्व' की अनियंत्रित अभिव्यक्ति से प्रतीत होता है।

17.4 परम्परा और व्यक्तिगत प्रज्ञा

टी.एस.एलियट की समस्त आलोचना दृष्टि का आधार है उनका निबंध **'परम्परा और व्यक्तिगत प्रज्ञा' (ट्रेडिशन एंड दि इंडिविजुअल टैलेन्ट)**। आधुनिक आलोचना में परंपरा और व्यक्तिगत प्रज्ञा के रचनात्मक संबंध का यह प्रभावशाली चिंतन यूरोप के बौद्धिक परिवेश की चुनौती से जन्मा। एलियट को एक गहरी जड़ों वाली परंपरा में रुढ़ि और मौलिकता के स्पष्ट भेद की चिंता थी ताकि वह सभ्यता के संकट को उसके मूलभूत दायरे में समझकर व्याख्यायित कर सकें। 'आफ्टर स्ट्रेन्ज गॉड्स' में एलियट ने कहा, 'किन्हीं मताग्रही विश्वासों को पूर्ण रूप से या प्रधान रूप से बनाए रखना ही परंपरा नहीं है; ये विश्वास तो परंपरा के निर्माणक्रम में रूप ग्रहण करते हैं। परम्परा से जो मेरा अभिप्राय है उसमें बहुत कुछ शामिल है। उसमें वे अभ्यासजन्य क्रियाकलाप, आदतें और रीति-रिवाज़, अत्यंत महत्वपूर्ण धार्मिक कर्मकांडों से लेकर किसी अजनबी को अभिवादन करने के हमारे परम्परागत तरीके भी शामिल हैं जो एक ही स्थान पर बसे जन-समुदाय के बीच रक्त-संबंधों को प्रकट करते हैं।' (Tradition is not solely. or even primarily the maintenance of certain dogmatic beliefs. These beliefs have come to take their living form in the course of the formation of a tradition- What I mean by Tradition involves all those habitual actions. habits and customs. from the most significant religious rites to our conventional way of greeting a stranger which represent the blood kinship of the same people living in a same place'). एलियट के लिए 'परंपरा' के व्यापक अर्थ के साथ एक संकुचित अर्थ भी था। संकुचित अर्थ था यूरोपीय परंपरा के अंतर्गत ईसाई धर्म परंपरा के विश्वास। संक्षेप में, एलियट की परंपरा और वैयक्तिक प्रज्ञा संबंधी मान्यताओं को इस प्रकार रखा जा सकता है -

1. यूरोपीय परंपरा पर विचार करते हुए एलियट का यह मत बना कि 'प्रत्येक राष्ट्र, प्रत्येक प्रजाति की अपनी सर्जनात्मक ही नहीं, आलोचनात्मक मानसिकता भी हुआ करती है।' (Every nation, every race has not only its own creative, but its own critical turn of mind)
2. किसी रचनाकार की महत्व-प्रतिष्ठा करते समय हम प्राय: उसकी वैयक्तिक विशिष्टताएँ खोजकर दिखाने का प्रयत्न करते हैं। उसके पूर्ववर्ती कवियों से उसकी भिन्नता को पहचानने में ही हमें प्रसन्नता होती है। किंतु यदि हम ठीक से खोज-बीन करें तो पाएँगे कि किसी कवि की रचना के

श्रेष्ठ ही नहीं, सर्वथा वैयक्तिक पक्ष भी वही होते हैं जिनमें उसके पूर्ववर्ती रचनाकारों का प्रभाव प्रभावशाली ढंग से व्यक्त हुआ होता है। जाहिर है कि 'व्यक्तिगत प्रज्ञा' परंपरा से विच्छिन्न, निरपेक्ष या असम्बद्ध वस्तु नहीं है। परंपरा से गहरे अर्थों में जुड़कर ही कवि अपनी वैयक्तिक सामर्थ्य को अधिक प्रभावी रूप में उजागर कर सकता है। हिंदी में तुलसीदास और निराला इसके अच्छे उदाहरण हैं कि कैसे रामकाव्य परंपरा से जुड़कर इन कवियों ने 'रामचरितमानस' और 'राम की शक्ति पूजा' को नूतन काव्योत्कर्ष में ढाल दिया। इन कृतियों में 'वैयक्तिक प्रज्ञा' के प्रस्फुटन में परंपरा बाधक न बनकर सहायक सिद्ध हुई है।

3. रचनाकार के लिए परंपरा साँस की तरह सहज, स्वाभाविक, अनिवार्य और नैसर्गिक क्रिया है। कुछ भी सोचते-सुनते-पढ़ते समय उसके गुण-दोषों का अहसास मानव विवेक स्वयं करता चलता है। अभिव्यक्ति या रचना प्रक्रिया में कभी परंपरा मौन होती है, कभी मुखर। कभी टकराहट संघर्ष की मुद्रा में होती है, कभी विपरीत दिशा में। लेकिन परंपरा का रचनाकार के साथ एक संघर्ष-संवाद बराबर चलता रहता है।

4. परंपरा के प्रति गहरे लगाव का अर्थ हठधर्मिता या अंधानुकरण एकदम नहीं है। अंधानुकण से मौलिकता नष्ट हो जाती है। परंपरा की व्यापक अर्थवत्ता तो सृजन कर्म की नवीनता-मौलिकता में ही प्रतिफलित होती है। एलियट ने जोर देकर कहा कि 'परंपरा को दाय या विरासत के रूप में प्राप्त नहीं किया जा सकता, उसकी प्राप्ति के लिए कठोर तप-साधना या श्रम आवश्यक है।' (Tradition is a matter of much wider significance, It can not be inherited, and if you want you must obtain it by great labour' – The Sacred Wood, p.49)

5. परंपरा का अर्थ है - इतिहास बोध (historical sense)। कवि में 'इतिहास बोध' होना चाहिए। इतिहास-बोध का तात्पर्य अतीत के अतीतत्व का ही नहीं है, अपितु उसकी वर्तमानता का अनुभव भी है। (Perception, not only of the pastness of the past, but of its presence) 'इतिहास-बोध' अपनी पीढ़ी के रचना-कर्म को ध्यान मे रखकर लिखना नहीं है, बल्कि उसमें होमर-वर्जिल से लेकर पूरे यूरोप के साहित्य, साथ ही अपने देश के समग्र साहित्य, दोनों का अस्तित्व हुआ करता है। हिंदी में ऐसा ही परंपरा को कमाने का परिश्रम जयशंकर प्रसाद और अज्ञेय के सृजन-कर्म में दिखाई देता है। एलियट यदि अपने सृजन में अपने पुरखों - होमर आदि को बोलते पाते हैं तो हम प्रसाद जी के सृजन में अपने वैदिक ऋषियों की वाणी की अनुगूँज सुनते हैं। यह भी ध्यान देने की बात है कि कवि-आलोचक अज्ञेय को जब टी.एल. एलियट के निबंध 'ट्रेडिशन एंड दि इंडिविजुअल टैलेन्ट' का अनुवाद 'रुढ़ि और मौलिकता' नाम से करने की प्रेरणा मिली तो इस प्रेरणा के मूल में अपनी परंपरा की रुढ़ि या बासीपन को झाड़कर मौलिकता को ग्रहण करने की समस्या थी। उसे रचनात्मक अनुभूति के स्तर पर एक जीवंत परंपरा के रूप में आत्मसात करने की समस्या थी। यूरोप में इतिहास के बोझ से त्रस्त एलियट को भी परंपरा बोध से एक ऐसा तर्क मिला जो उन्हें अनैतिहासिक करार दिए बिना 'इतिहास बोध' दे। यही उनकी 'इतिहास-मुक्ति' भी कहा जा सकती है। यही कारण है कि परंपरा की एलियटीय समझ ने भारतीय रचनाकार के मन को भी दूर तक छुआ है। कारण यह इतिहास बोध ही है जो कालातीत (Timeless) तथा कालिक (Temporal) का पृथक-पृथक और कालातीत तथा कालिक का युगपद बोध कहा जा सकता है। यही लेखक को परम्परा-सम्मत बनाता है।

6. एलियट का मानना है कि 'परंपरा' कोई मृत वस्तु नहीं है। जो मृत या निरर्थक है उसे 'परंपरा' की संज्ञा देना ही समीचीन नहीं है। वस्तुत: परंपरा एक सातत्य है, निरंतरता है, अविच्छिन्न प्रवाह है जो अतीत के साहित्यिक-सांस्कृतिक दाय अथवा धरोहर या विरासत के उत्तमांश से वर्तमान को सम्पन्न और सार्थक बनाती है तथा भविष्य के लिए मार्ग प्रशस्त करने का महत्वपूर्ण कार्य करती है। इस दृष्टि से परंपरा का विस्तार देश और काल दोनों में होता है।

7. परंपरा के संदर्भ में विशेष बात यह है कि किसी भी कवि या कलाकार की अर्थवत्ता केवल अपने-आप अकेलेपन में नहीं होती। उसकी सही अर्थवत्ता, उसकी प्रशंसा दिवंगत या पूर्ववर्ती कवियों-कलाकारों की सापेक्षता में ही होती है। (No poet, no artist of any art, has his complete meaning alone. His significance, his appreciation is the appreciation of his relation to the dead poets and artists.) उसका अकेलेपन में मूल्यांकन नहीं किया जा सकता, साम्य-वैषम्य के लिए उसे पूर्ववर्ती रचनाकारों के साथ रखकर देखना आवश्यक है। इसके पीछे तर्क यह है कि किसी नयी कलाकृति की रचना होती है तो पूर्ववर्ती सभी कृतियों का थोड़ा-बहुत तालमेल बैठाना (Adjustment) अनिवार्य हो जाता है। नवीन कृति के आविर्भाव के पूर्व विद्यमान कलाकृतियों की

एक स्थिर व्यवस्था होती है जो नवीन कृति के आने से कुछ न कुछ परिवर्तित हो जाती है। नयी कृति पुरानी कृतियों को अपनी जगह से ठेलकर अपने लिए जगह बनाती है - साम्य-वैषम्य के निर्धारण में किसी कृति का महत्व बढ़ जाता है, किसी का घट जाता है। 'अतीत को वर्तमान से उसी तरह परिवर्तित होना चाहिए जिस तरह वर्तमान अतीत से नियंत्रित-निर्देशित होता है।' (The past should be altered by the present as much as the present is directed by the past.)

3. ध्यातव्य है कि कवि को अतीत या परंपरा का ज्ञान तो होना चाहिए किंतु यह ज्ञान इतना भारी न पड़े कि कवि चेतना को आक्रान्त कर ले। प्राय: बहुत बार अतिशय अतीत ज्ञान के बोझ से काव्य-संवेदना (Poetic sensibility) या तो निर्जीव हो जाती है या प्रभावहीन होकर बिखर जाती है। कवि के लिए अतीत की चेतना को विकसित करते रहना जरूरी हैं और उसे आजीवन विकसित करना है। 'कलाकार की प्रगति सतत आत्म-बलिदान (Self-sacrifice) में है, व्यक्तित्व के सतत आत्म-समर्पण (Extinction) में है। व्यक्तित्व के इस निर्वैयक्तीकरण (Depersonalization) से ही कला विज्ञान की स्थिति को प्राप्त कर सकती है।' **(The progress of an artist is a continual self sacrifice, a continual extinction of personality.xxx It is in this depersonalization that art may be said to approach the condition of the science.)**

17.5 निर्वैयक्तिकता सिद्धांत की व्याख्या

हिंदी के कुछ विद्वानों ने एलियट की 'निर्वैयक्तिकता' को 'काव्यगत अव्यक्तिवाद' का नाम दिया है। टी एस.एलियट की निर्वैयक्तिकता (Depersonalization) से संबंधित धारणा भारतीय काव्यशास्त्र में रस-सिद्धांत के अंतर्गत मिलने वाले सृजन प्रक्रिया के सिद्धांत 'साधारणीकरण' के बहुत नज़दीक है किंतु एलियटीय निर्वैयक्तिकता को साधारणीकरण का पर्याय नहीं माना जा सकता है। 'साधारणीकरण' भारतीय दर्शन की लंबी चिंतन परंपरा का प्रतिफल है जिसकी तुलना में 'निर्वैयक्तिकता सिद्धांत' दृष्टि काफी हल्का पड़ती है। एलियट ने काव्य सृजन में कवि व्यक्तित्व की तात्विक उपस्थिति से अपना विरोध बराबर दर्ज किया है। ये सृजन प्रक्रिया में प्रातिभ अभिव्यक्ति का समर्थन नहीं कर सके। 'मेरा तात्पर्य यह है कि कवि के पास अभिव्यक्त करने के लिए 'व्यक्तित्व' नहीं, बल्कि एक विशेष माध्यम होता है, जो केवल माध्यम मात्र ही होता है - व्यक्तित्व नहीं जिसमें विभिन्न् प्रभाव और अनुभव विशिष्ट और अप्रत्याशित रूपों में संयुक्त हो जाते हैं। यह संभव है कि उन प्रभावों और अनुभवों का जो व्यक्ति के लिए बहुत महत्वपूर्ण हैं, कविता में कोई स्थान न हो और जो कविता में महत्वपूर्ण हों, उनकी भूमिका व्यक्ति में, व्यक्तित्व में, व्यक्तित्व विशेष में सर्वथा नगण्य हो।' इस कथन से जाहिर है कि एलियट भारतीय काव्यशास्त्र की शब्दावली में कहे तो 'कारयित्री' और 'भावयित्री' क्षमताओं (एलियट के संदर्भ में भारतीय शब्द ''प्रतिभा'' का प्रयोग अनुचित कहा जाएगा) में कारण-कार्य संबंध नहीं स्वीकार करते। वे इन क्षमताओं के बीच दूरी का संबंध कृति की वस्तुनिष्ठ स्वायत्त सत्ता के लिए अधिक श्रेयस्कर मानते हैं। (दे पाश्चात्य साहित्य-चिंतन, डॉ.निर्मला जैन, डॉ. कुसुम बाँठिया, पृ. 123)

एलियट के विचार से कविगत भाव और काव्यगत भाव की प्रकृति में मूलभूत अंतर होता है। कविगत अनुभूत भाव की प्रकृति प्रेरक घटना प्रसंगों से निर्धारित होती है जबकि काव्यगत भावों का चरित्र सृजन प्रक्रिया के दौरान सामान्य भावों के विशिष्ट उपयोग से निर्मित-सृजित होता है। कवि के द्वारा रचना में ऐसे भावों की सृष्टि भी संभव है जिनका वास्तविक जीवन में अनुभव ही न किया गया हो, कवि के निजगत भावों-अनुभवों की विशिष्टता या असाधारणता कविता में व्यक्त भावों की जटिलता या असाधारणता के लिए एकदम महत्वहीन हो। एलियट ने निर्भ्रान्त शब्दों में कहा है कि कवि अपने व्यक्तिगत भावों के कारण उन भावों के कारण, जो उसके जीवन में विशिष्ट घटनाओं या स्थिति-परिस्थिति से उद्दीपन प्राप्त करते हैं, किसी भी रूप में न असाधारण होता है न दिलचस्प। कवि-विशेष के भाव सपाट-सरल हो सकते हैं अनगढ़ हो सकते हैं। उसका काव्य-भाव बहुत संश्लिष्ट या जटिल होगा, किंतु यह जटिलता उन लोगों के भावों की सी नहीं होगी, जिनके भाव जीवन में बहुत जटिल या असाधारण होते हैं। कवि कर्म का क्षेत्र नए भावों की तलाश का क्षेत्र नहीं है बल्कि सामान्य भावों का उपयोग करना और उन्हें कविता का रूप देकर ऐसी अनुभूतियों को प्रगट करना है जो वास्तविक भाव में विद्यमान ही नहीं हैं। जिन भावों का उसने कभी अनुभव किया ही नहीं, वे समय पर उसके वैसे ही काम आते हैं जैसे उसके परिचित भाव। एलियट के मत से काव्य में स्थान पाने के लिए भावों का कवि के अनुभव की राह से आना जरूरी नहीं है। एलियट के अनुसार 'ईमानदार आलोचना और संवेदनात्मक परिशंसा का लक्ष्य कवि नहीं है बल्कि कविता है।'

काव्य-सृजन प्रक्रिया में निजी और व्यक्तिगत अनुभवों के हस्तक्षेप को अमान्य ठहराने के बाद एलियट जब व्यक्तित्व के पलायन से अपना मन्तव्य स्पष्ट करते हैं तो उसका अर्थ होता है व्यक्ति तत्व का निषेध और तिरस्कार - अर्थात् निर्वैयक्तीकरण। वे विज्ञान की वस्तुपरकता की प्रतिष्ठा करते हैं और रोमाण्टिक भाव बोध की आवेशी विषयिपरकता से सीधा इन्कार करते हैं। इस अर्थ में कवि कर्म कलाकार का आत्म् बलिदान है व्यक्तित्व का सतत समर्पण। अपने निजी व्यक्तित्व को एक बृहत्तर व्यक्तित्व के लिए मिटाना व्यक्ति से वस्तु होते जाने की प्रक्रिया है - व्यक्ति तत्व को हटाकर वस्तु के प्रति पूर्ण समर्पण, पूर्ण आत्मदान। एलियट का यह कथन सहसा ही हमारे ध्यान में कौंध जाता है कि **कविता भावों का उन्मोचन नहीं है - बल्कि भावों से मुक्ति है, वह व्यक्तित्व की अभिव्यंजना नहीं है बल्कि व्यक्तित्व से पलायन है।**

निर्वैयक्तीकरण की यह प्रक्रिया कला को विज्ञान की स्थिति के आसपास पहुँचाती दिखाई देती है। अपने मन्तव्य को स्पष्ट करने के लिए एलियट ने एक उत्प्रेरक का (catalytic) का बेजोड़ दृष्टांत दिया है कि जब ऑक्सीज़न और सल्फर डाइ-ऑक्साइड से युक्त कक्ष या प्रकोष्ठ में प्लेटिनम के बारीक तार का प्रवेश कराया जाता है तो क्या घटित होता है। ऑक्सीज़न और सल्फर डाइ ऑक्साइड मिलकर सल्फ्यूरस एसिड (sulphureus acid) बन जाते हैं। प्लेटिनम के तार की मौजूदगी में (ऑक्सीज़न और सल्फर डाइ ऑक्साइड) दोनों को मिलाया जाता है तो उनसे सल्फ्यूरस एसिड बन जाता है। यह संयोजन तभी घटित होता है जब प्लेटिनम मौजूद हो, फिर भी इस नव-निर्मित गैस में प्लेटिनम का कोई चिह्न नहीं बचता और स्वयं प्लेटिनम पर भी कोई प्रभाव नहीं पड़ता, वह निष्क्रिय, तटस्थ और अपरिवर्तित रहता है। कवि का मानस प्लेटिनम का तार है। हो सकता है वह स्वयं व्यक्ति के अनुभव से अंशत: या पूर्णतया परिचालित हो, परंतु कलाकार जितना पूर्ण या सिद्ध होगा उतना ही उसके भीतर के भोक्ता मानव और सृष्टा मानव के बीच का पार्थक्य स्पष्ट होगा। (The more perfect the artist, the more completely separate in him will be the man who suffers and the mind which creates) अर्थात उसके अनुभूत संवेदनों और भावों से काव्य में व्यक्त संवेदन और भाव सर्वथा भिन्न होंगे। क्योंकि यह अनुभूत भावों को पूर्णत: आत्मसात करके उन्हें नए रूपों में ढाल देता है। इसके विपरीत, कमज़ोर कवि अपने ही भावों को अभिव्यक्त करने का प्रयास करता है। नतीजा यह होता है कि उसका काव्य अप्रौढ़ता को प्राप्त हो जाता है।

एलियट के अनुसार कलाकृति के आस्वादन से उत्पन्न अनुभूति किसी भी अन्य साधन से उत्पन्न अनुभूति से भिन्न होती है। रचना के लिए तो कवि का होना आवश्यक है, रचना मे नहीं। रिचर्डस काव्यानुभूति और अन्य अनुभूतियों में कोई भेद स्वीकार नहीं करते जबकि एलियट स्वीकार करते हैं। फलस्वरूप दोनों के दृष्टिकोण एक-दूसरे से एकदम विपरीत हैं। एलियट मानते हैं कि कवि का मन एक ऐसा पात्र है जिसमें अनंत संवेदन, वाक्यांश, बिंब आदि संचित रहते हैं और वे तब तक उसमें वैसे ही पड़े रहते हैं जब तक सर्जन का क्षण नहीं आता। (The poet's mind is in fact a receptacle for seizing and storing up numberless feelings, phrases, images which remain there untill all the particles which can unite to form a new compound are present together.) सर्जन के क्षण में वे अपना-अपना स्वरूप त्याग कर और नए रूपों में संयोजित होकर कला का विग्रह धारण कर लेते हैं। श्रेष्ठतम काव्य के प्रतिनिधि उद्धरणों की यदि हम तुलना करते हैं तो न जाने संयोजन के कितने प्रकार उनमें पाते हैं। किंतु इसमें महत्व भावों या घटकों की महत्ता या तीव्रता का नहीं है - वरन् कलात्मक प्रक्रिया की तीव्रता का है अर्थात उस प्रेशर पर दबाव का है जिसमें विभिन्न भावों का संयोजन या विलयन (Fusion) होता है तथा वे घुल-मिलकर एक हो जाते हैं। मूल अर्थ यह कि रचना में वैयक्तिक भाव पूरी तरह निर्वैयक्तिक रूप को प्राप्त कर अभिव्यक्त होता है। वे कहते भी हैं कि 'कविता का भाव निर्वैयक्तिक होता है। और कवि इस निर्वैयक्तिकता को तब तक प्राप्त नहीं कर सकता जब तक वह करणीय कर्म के प्रति अपने-आप को पूरी तरह समर्पित नहीं कर देता है।'

एलियट पूरे विश्वास से कहते हैं कि कवि के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति का प्रश्न ही निरर्थक है। कवि को व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति करनी ही नहीं है वह तो माध्यम मात्र है - केवल माध्यम। पर इस (कवि) माध्यम में संस्कार और अनुभूतियाँ अद्भुत रूप से संयोजित रहती हैं। बहुत बार ऐसा देखने में आता है कि कवि के लिए जो अनुभूतियाँ और संस्कार महत्वपूर्ण हों उनका काव्य में कोई महत्वपूर्ण स्थान न हो और जो काव्य के लिए महत्वपूर्ण हों वे कवि के जीवन में नगण्य स्थान रखते हों। ज़ाहिर है कि कवि भावों की विलक्षणता और विशिष्टता उसके निजी अनुभव अथवा निजी जीवन की घटनाओं से उद्दीप्त भावों पर आधारित ही न हों। इसी विचार से यह तर्क पैदा होता है कि कविता को कविता रूप में ही देखिए।

एलियट लंबे समय तक इस धारणा पर डटे रहे कि कविता को कविता के रूप में ही देखना-परखना चाहिए। 1920 में 'दि सेक्रेड वुड' तथा 1956 में 'आलोचना के सीमांत' (फ्रंटियर्स ऑफ क्रिटिसिज्म) निबंध तक में इसी धारणा की पुष्टि होती है। एलियट ने रचना को स्वायत्त और निर्वैयक्तिक रूप में ग्रहण करने की माँग कवि और आलोचक दोनों से की। रचना के आस्वाद को लेकर एलियट ने कहा कि साहित्य के ईमानदार आलोचक में कलाकृति के द्वारा सम्प्रेषित संवेगों के अतिरिक्त किसी और संवेग की उपस्थिति नहीं होनी चाहिए। उनका मत साफ है कि जैसे कवि पक्ष में सृजन के लिए निर्वैयक्तिकता आवश्यक है वैसे ही वह आलोचक में आस्वाद और विश्लेषण परख के लिए आवश्यक है। कलाकृति पर विचार करते समय आलोचक को हर तरह के दुराग्रह और आग्रहों से मुक्त निर्मल मानस का 'सहृदय' होना चाहिए। एलियट की यह धारणा भारतीय काव्यशास्त्र में 'सहृदय' की अवधारणा के बहुत नज़दीक है।

जीवन के अंतिम दिनों में एलियट 'कवि व्यक्तित्व के पूर्ण निषेध' वाली धारणा को लेकर डगमगाने लगे और कह उठे कि अपने व्यक्तित्व का अतिक्रमण न कवि के लिए संभव है न आलोचक के लिए। 'दि यूज ऑफ पोयट्री' में एलियट के इस बदलाव को देखकर आश्चर्य होता है। ऐसा लगता है कि जीवन भर रोमाण्टिक मिजाज का विरोध करते-करते वे जीवन के दुर्बल क्षणों में 'रोमाण्टिसिज्म' और 'क्लासिसिज्म' से अनजाने ही समझौता करने को तैयार हो गए। अपने प्रसिद्ध निबंध कविता के तीन स्वर' (थ्री वायसेज़ ऑफ पोयट्री) में कहने लगे कविता का प्रथम स्वर वह है जिसमें कवि अपने को संबोधित करता है या फिर न अपने को न किसी अन्य को ही संबोधित करता है। दूसरे स्वर में, कवि किसी न किसी पाठक समुदाय को संबोधित करता है। तीसरे स्वर में कवि कोई ऐसी विशिष्ट बात कहता है जिसे स्वयं अपने व्यक्ति रूप में नहीं कह सकता। एलियट नाटकीय, अर्ध-नाटकीय, अनाटकीय स्वरों की बात कहते हैं और अनाटकीय स्वर 'मैं और तुम' से मुक्त शुद्ध निर्वैयक्तिकता की स्थिति है जिसमें निजता गल जाती है। ध्यान में रखने की बात यह है कि एलियट की निर्वैयक्तिकता संबंधी अवधारणा एकदम सरल सीधी रेखा नहीं है, उसमें जटिल वक्र रेखा के कारण द्वंद्वात्मक सह-अस्तित्व की स्थिति प्रकट और प्रच्छन्न दोनों रूपों में विद्यमान है। उदाहरण के लिए उनकी 'मूर्त विधान' (Objective correlative) अवधारणा की व्याख्या में भी वैयक्तिक भावों के निर्वैयक्तिकता में रूपांतरण होने की प्रक्रिया निहित है। इस मूल दृष्टि को समझने के लिए 'मूर्त-विधान' संबंधी व्याख्या को जानना-समझना अपेक्षित है।

17.6 मूर्त विधान

एलियट ने अपने बहुचर्चित निबंध 'हेमलेट एंड हिज प्रॉब्लम्स' (हेमलेट और उसकी समस्याएँ) में 'मूर्त विधान' (Objective Correlative) की व्याख्या एवं प्रतिपादन किया है। उनकी 'ऑब्जेक्टिव कोरिलेटिव' की अवधारणा को भारतीय काव्यशास्त्र की 'विभावन व्यापार' से संबंधित अवधारणा के एकदम निकट माना जाता है। मूलत: यह प्रक्रिया अमूर्त के मूर्त अथवा वैयक्तिक के निर्वैयक्तिक में रूपांतरण की प्रक्रिया है।

रचनाकार जब सृजन कर्म में प्रवृत्त होता है तो उसके मूल में कोई न कोई प्रेरक भाव रहता है किंतु सृजन के दौरान अनेक सूक्ष्म जटिल भाव संवेदन और विचार परस्पर घुलने-मिलने लगते हैं और सृजन कर्म की अंतिम परिणति तक पहुँचते-पहुँचते न जाने कितने भावों-संवेदनों-विचारों का मिश्रण और विलयन हो चुका होता है। मानव अनुभव साक्षी है कि मानव के भाव, संवेदन, विचार ये सभी अमूर्त हैं। अमूर्त को मूर्त या प्रत्यक्ष करना सरल कार्य नहीं है। अमूर्त होने के कारण भावों-संवेदनों आदि की पाठक या प्रेक्षक को प्रत्यक्ष प्रतीति नहीं हो सकती। इसलिए रचना-कर्म में बराबर यह प्रश्न उपस्थित रहता है कि अप्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष कैसे बनाया जाए। कवि मन के भाव-विचार-संवेदन को पाठक तक सम्प्रेषित कैसे किया जाए। इसी बुनियादी प्रश्न को एलियट ने स्वयं झेला और एक समाधान रूप में 'ऑब्जेक्टिव कोरिलेटिव' सिद्धांत की प्रतिष्ठा की। कवि के रूप में एलियट का अनुभव था कि अमूर्त का सम्प्रेषण चुनौती भरा कार्य है। ऐसी चुनौती को झेलने वाले कवि के सामने एक ही तरीका है कि वह किसी मूर्त वस्तु की सहायता लेकर अमूर्त को सम्प्रेषित करने का प्रयास करे। एलियट का कथन है कि कला के रूप में भाव को अभिव्यक्त करने का एक ही तरीका है और वह तरीका यह है कि ऐसे सह-संबंधी वस्तु या व्यापार (Objective correlative) जैसे वस्तु समुदाय, परिस्थिति, घटना श्रृंखला को टटोलकर ढूँढ निकाला जाए जो उस विशिष्ट भाव का मूल सूत्र हो। एक ऐसा मूल सूत्र कि जब ये बाहरी तथ्य प्रस्तुत हों तो ये भाव को तत्काल उदबुद्ध कर दें पर भाव के उदबुद्ध होते ही उससे सम्बद्ध

वस्तु-व्यापार की उपस्थिति का अहसास अनिवार्यतः समाप्त हो जाए।' ('The only way of expressing emotion in the form of art is by finding an 'Objective correlative'. in other words a set of objects, a situation, a chain of events which shall be the formula of that particular emotion, such that when the external facts, which must terminate in sensory experience, are given, the emotion is immediately evoked.' -- Selected Essays, p.145) इस कथन पर विचार करने पर हम पाते हैं कि

1. भाव मूलतः अमूर्त होता है। इसलिए उसकी अभिव्यक्ति किसी मूर्त वस्तु या स्थिति की सहायता से ही संभव है।
2. जिस भाव की अभिव्यक्ति की जानी है और जिस वस्तु/व्यापार के माध्यम से यह अभिव्यक्ति की जाती है उनके बीच ऐसा संबंध होना चाहिए कि उस वस्तु के उपस्थित होने पर तत्काल वह भाव अभिव्यक्त हो सके।
3. भाव के प्रकृत रूप से सम्बद्ध कोई वस्तु, समुदाय, कोई परिस्थिति या कोई घटना श्रृंखला हो सकती है जिससे उस अमूर्त भाव को मूर्त रूप में अभिव्यक्त और सम्प्रेषित किया जा सके।
4. वास्तव में, बाह्य वस्तुएँ ही कवि और आस्वादक या पाठक के बीच सूत्र — भाव-तादात्म्य — स्थापित करने में माध्यम की भूमिका का निर्वाह करती हैं, उन्हीं के द्वारा कवि और पाठक एक भावभूमि पर मिलते हैं।
5. एक बार भाव के उदबुद्ध होते ही, उससे सम्बद्ध वस्तु-व्यापार की ऐन्द्रिय-अनुभूति समाप्त हो जाती है।

विद्वानों का मानना है कि मूर्त विधान का सिद्धांत एलियट की मौलिक उद्‌भावना का प्रतिफल नहीं है। इसका सबसे पुराना संकेत प्रथम बार अरस्तू के चिंतन में मिलता है। तत्पश्चात फ्रांस के प्रतीकवादी भी अपने काव्य में इसी पद्धति का सहारा लेते हैं। यह भी संभव है कि प्रतीकवादियों से ही एलियट ने इस मूर्त विधान की अवधारणा को ग्रहण किया हो। क्योंकि दोनों में थोड़ा ही अंतर है। एलियट वस्तु की व्यंजकता से ज्यादा भाव के साथ उसके सटीक संबंध को महत्व देते हैं जबकि फ्रांस के प्रतीकवादी चिंतक प्रतीक की सटीकता से ज्यादा उसकी व्यंजकता के कायल रहे हैं। आरंभ में कहा जा चुका है कि एलियट का मूर्त विधान सिद्धांत भारतीय रस सिद्धांत का विभावन व्यापार ही प्रतीत होता है। विभावन व्यापार में किसी भाव को उदबुद्ध करने में आलम्बन और उद्दीपन विभावों की समान रूप से सार्थकता है। एलियट ने इस अवधारणा के आधार पर शेक्सपियर के नाटक हेमलेट को एक असफल नाटक माना है। उनका तर्क है कि उसमें नियोजित बाह्य वस्तु-व्यापार, भाव-संवेदन को उदबुद्ध करने की के लिए अपर्याप्त है। (The Artistic 'Inevitability' lies in this complete adequacy of the external to the emotion; and this is precisely what is deficient in Hamlet", S.E., p.145) अर्थात् हेमलेट के भावों-संवेदनाओं के सम्प्रेषण जैसे विभावन-व्यापार या मूर्त विधान की योजना होनी चाहिए थी वैसी नहीं हो पायी। भावाभिव्यक्ति में जो मूर्त विधान अपेक्षित है उसकी कमी रचना को कमज़ोर बना देती है। हिंदी में तुलसीदास का 'रामचरितमानस' और निराला की 'राम की शक्ति पूजा' मूर्त विधान के आदर्श हैं जिनमें अमूर्त भावों को मूर्त करने में कवियों को अद्‌भुत सफलता मिली है।

17.7 एलियटीय चिंतन के अन्य महत्वपूर्ण पक्ष

17.7.1 संवेदनशीलता का असाहचर्य (Dissociation of Sensibility)

एलियट की बहुचर्चित अवधारणा है - संवेदनशीलता का असाहचर्य। वे घोषित तौर पर मानते रहे हैं कि महान कवि और महान काव्य में वैयक्तिकता और परंपरा, समकालिकता और चिरंतनता, भावुकता और बौद्धिकता, भाव और विचार, कथ्य और रूप का गहन सामंजस्य रहता है। इनमें से किसी एक पक्ष के दुर्बल, विकलांग, खण्डित होते ही काव्य उत्कर्ष बाधित हो जाता है। महान काव्य की महानता और व्यापकता 'दृष्टि' (vision) या काव्य की अंतर्दृष्टि पर आश्रित रहती है। एलियट से पहले कॉलरिज ने काव्य में 'विरुद्धों के सामंजस्य'(Reconcilation of opposites) के महत्व की प्रतिष्ठा की थी। कॉलरिज के मत से विरुद्धों में सामंजस्य स्थापन का कार्य कल्पना करती है। एलियट ने 'कल्पना' के स्थान पर 'संश्लिष्ट संवेदनशीलता' (unified sensibility) को महत्व दिया। एलियट काव्य सृजन की प्रक्रिया में संश्लिष्ट संवेदनशीलता को प्रधानता देते हैं जहाँ कवि की संवेदना में हृदय और बुद्धि एकीकृत हो जाते हैं। कवि व्यक्तित्व में मन, इन्द्रियाँ, भाव, विचार, बुद्धि और हृदय परस्पर अभिन्न हो जाते हैं। भाव या विचार के इसी साहचर्य को एलियट 'विचार का प्रत्यक्ष ऐन्द्रिय बोध अथवा संवेदन में विचार का

रूपांतरण नाम देते हैं। संवेदना न तो मात्र भाव है न मात्र विचार। वह दोनों के रासायनिक योग से निर्मित होती है। कमज़ोर या दुर्बल काव्य में भाव और विचार की एकरूपता विघटित हो जाती है या होती है। इससे काव्योत्कर्ष की क्षति होती है। एलियट इसी को 'संवेदनशीलता का असाहचर्य' कहते हैं।

एलियट के मत से भाव और विचार का गहरा साहचर्य शेक्सपियर में देखा जा सकता है। किंतु शेक्सपियर के बाद के कवियों की संवेदनशीलता में दरार पड़ जाती है - वह खण्डित हो जाती है। नव्य आभिजात्यवादी कवियों में बुद्धिवाद की मार के कारण विचार का अतिरेक हो जाता है और स्वच्छंदतावादी कवियों में भावातिरेक उनकी कविता को कमज़ोर कर देता है। वर्डसवर्थ तो इतने भावाविष्ट हैं कि विचार को अनावश्यक मान लेते हैं। वर्डसवर्थ यहाँ तक कह देते हैं कि बुद्धि के हाथों काव्य की हत्या हो जाती है। हिंदी साहित्य में तुलसी-कबीर-जायसी-सूर की श्रेष्ठता और महिमा का सबसे बड़ा कारण है - संघटित संवेदनशीलता। लेकिन रीतिकाल की कविता 'संवेदनशीलता के असाहचर्य' के कारण असफलता का अद्भुत नमूना बनकर सामने आती है। रीतिकाल हृदय पक्ष की प्रधानता और विचार-पक्ष की गौणता का काल है।

यह माना जाता है कि 'संवेदनशीलता के असाहचर्य सिद्धांत' के लिए एलियट फ्रांस के कवि-आलोचक रेमी द गुर्मो (1858-1915) के ऋणी हैं।

17.7.2 काव्य-भाषा

एलियट के अनुसार प्रत्येक देश का अपना काव्य और काव्य चरित्र होना चाहिए जिसमें उस समाज की संवेदनशीलता के परिष्करण को, चेतना के विस्तार को समझा जा सके। सभी अन्य कलाओं से काव्य इस अर्थ में भिन्न होता है कि जिस भाषा में उसकी रचना हो रही है उस भाषा के लोगों के लिए उसका जो मूल्य है वह दूसरों के लिए नहीं हो सकता। गहन संश्लिष्ट भाव की अभिव्यंजना काव्य में ही संभव है जबकि विचार की अभिव्यंजना गद्य में भी हो सकती है। गद्य की तुलना में काव्य अपने मूल चरित्र में अधिक स्थानीय (Local) होता है। यही कारण है कि सभी कलाओं में काव्य राष्ट्रीय अस्मिता का सर्वाधिक वहन करता है। अनुभूतियों और संवेदनों की सर्वाधिक समर्थ अभिव्यक्ति जनता की सामान्य व्यवहार की भाषा में होती है। वह भाषा जिसका उपयोग समाज के सभी वर्ग समान रूप से करते हैं। वस्तुतः भाषा की संरचना, लय, ध्वनि, मुहावरेदानी - सभी उस भाषा में बोलने वालों के प्रजातिगत या वंशानुगत (Racial) चरित्र को सामने लाते हैं। ('Poetry differs from every other Art in having a value for the people of the poet)s Race and Language which it can have for no other. ……Emotions and feelings, then, are best expressed in the common language of the people - that is, in the language common to all the classes. The structure, the rhythm, the sound, the idom of a language, express the personality of the people which speaks it.' – On Poetry and Poets, p.18-19)

एक कवि के रूप में कवि का पहला दायित्व अपनी प्रजाति (Race) की भाषा के प्रति है उसके विस्तार-संस्कार-परिष्कार के प्रति है। अच्छा कवि भावों-संवेदनाओं का खोजी होता है और वह इस कार्य के द्वारा भाषा को विकसित और सम्पन्न बनाता है। यदि किसी भाषा में महान कवियों के उत्पन्न होने की परंपरा में निरंतरता नहीं हैं - तो उस भाषा और संस्कृति का नाश हो जाता है। यह भी संभव है कि वह संस्कृति अपना अस्तित्व खोकर विलीन ही हो जाए। इतना ही नहीं यदि हमारा कोई जीवित साहित्य नहीं है तो हम अपने अतीत से कटते जाएँगे और एक दिन उससे इतने कट जाएँगे कि वह हमें विदेशी और अपरिचित लगने लगेगा। भौतिक परिवर्तनों से हमारी जीवन पद्धति बदलती है तो हमारी भाषा भी बदलती है। यदि ऐसे समर्थ प्रज्ञा वाले थोड़े से भी रचनाकार उस भाषा में नहीं हैं (ऐसे रचनाकार जो असाधारण संवेदनशीलता के साथ भाषा पर असाधारण अधिकार रखते हों) तो हमारी अभिव्यक्ति की ही नहीं अनुभूति की क्षमता का भी ह्रास होता जाएगा और हालत इतनी बदतर हो सकती है कि स्थूल भावों की अनुभूति में भी हम असमर्थ साबित हों।

काव्य-भाषा बहुत कुछ जन-साधारण द्वारा प्रयुक्त भाषा पर निर्भर होती है क्योंकि कवि वहीं से शब्द ग्रहण करता है। काव्य का दायित्व है कि वह भाषा को इस हद तक विकसित करे कि वह जटिल से जटिलतर आधिनुक भावों को व्यक्त करने में सक्षम हो। काव्य-विषयक क्रांति का एक ही अर्थ है - सामान्य भाषा की ओर लौटना या प्रत्यावर्तन। भाषा पढ़ने और बोलने की भाषा के विकास का अर्थ है - उक्त भाषा में अनुभूतियों का विकास। काव्य-भाषा के ज्यादातर मुद्दों पर एलियट ने वर्डसवर्थ से सहमति जाहिद की है। ('This is the Revolution which Wordsworth announced in his prefaces

and he was right) भाषा की क्षमता भावों-विचारों-अनुभूतियों के सम्प्रेषण करने की शक्ति से आंकी जानी चाहिए। चूँकि काव्यगत संवेदनशीलता ही मानव जीवन के अनेक पक्षों की जटिलता को ठीक से जज्ब कर पाती है अत: काव्य भाषा ही किसी भाषा की व्यंजकता-प्रौढ़ता-सम्प्रेषण क्षमता का प्रमाण हो सकती है। यह सच बात है कि एलियट की भाषा संबंधी धारणाओं पर दांते और वर्डसवर्थ के प्रभाव की गहरी छाप है। दांते से ही एलियट ने सीखा है - शब्द का सार्थक प्रयोग, भाषा-समृद्धि तथा भाषा की रक्षा। इस प्रकार निष्कर्ष रूप में एलियट ने माना है कि (1) प्राचीन-नवीन का सहज साहचर्य (2) ग्रामीणों की साधारण, सार्थक, सटीक भाषा के शब्दों-लयों का नया प्रयोग (3) आडम्बररहित, स्वच्छ शब्द-सम्पदा का विकास (4) शब्दों एवं भावों का पूर्ण सामंजस्य (5) काव्य-भाषा का संगीत से निकट का संबंध है क्योंकि काव्य का संगीत उसके अर्थ से पृथक नहीं है (6) शब्द-माधुर्य ही काव्य का संगीत है। संगीत से श्रोता तत्काल प्रभावित होते हैं और अर्थ का विचार बाद में करते हैं। (7) काव्यार्थ कोई पहले ही नियत-निर्धारित वस्तु नहीं है। कवि ने जो सोचा है, वह उससे भिन्न और उसने अधिक हो सकता है। (8) विभिन्न पाठकों के लिए एक ही कविता के अर्थ भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। ये सभी अर्थ उस अर्थ से भी भिन्न हो सकते हैं जो लेखक के मन में मौजूद अर्थ था। (9) काव्य-भाषा में अनेकार्थकता (Ambiguity) का कारण है - साधारण भाषा की अपेक्षा कविता में अर्थ का विशिष्ट संदर्भ निहित रहता है। (10) काव्य में सुंदर शब्दों का रहना आवश्यक नहीं है केवल ध्वनि ही शब्द की सुंदरता का निर्धारण नहीं कर सकती। (11) शब्दों के संगीत का निर्धारण उनके साहचर्य से होता है। इस प्रकार एलियट तथा रिचर्डस काव्य-भाषा संबंधी चिंतन में काफी निकट आ जाते हैं। दोनों कहते हैं कि प्रकरण (Context) और अर्थ (Meaning) का प्रभाव काव्य-संगीत (Music of poetry) पर पड़ता है।

17.7.3 काव्य की स्वायत्तता और साहित्यिक प्रतिमान

एलियट काव्य को काव्य के रूप में देखने के पक्षधर हैं, किसी अन्य रूप में नहीं। उनका मत है कि काव्य मनोरंजन का उत्कृष्ट रूप है - Poetry is a superior amusement। उसे न तो हम वर्डसवर्थ की भाँति 'प्रशांत क्षणों में भावों का अनुस्मरण' कह सकते हैं न आर्नल्ड की भाँति 'जीवन की आलोचना'। सच्ची बात यह है कि काव्य न तो राजनीति का निर्देश होता है न नैतिकता का उपदेश। वह न तो धर्म है न धर्म का समानार्थी। उसमें किसी युग का इतिहास या कवियों के मन के मनोवैज्ञानिक तथ्यों को ढूँढना भी समीचीन नहीं है। काव्य इन सभी से ऊपर भी है और पृथक भी। काव्य तो उत्तम छंदों में उत्तम शब्दों का उत्तम विन्यास है। (Excellent words in excellent arrangements and excellent metre) एक स्थल पर वे यह भी कहते हैं कि काव्य का कुछ न कुछ संबंध नैतिकता से धर्म से और राजनीति से है किंतु वह संबंध क्या है, कैसा है हम नहीं कह सकते। एलियट के ऐसे कथन बहुत से हैं जो अंतर्विरोधों से भरे हैं। एलियट के इस तरह के कथनों से बड़ा भ्रम फैला कि साहित्यिक आलोचना निश्चित रूप से धार्मिक और नैतिक दृष्टिकोण से होनी चाहिए। क्यों होनी चाहिए इस प्रश्न का तार्किक उत्तर वे नहीं देते। यह कथन देखिए - 'साहित्य की महत्ता केवल साहित्यिक प्रतिमानों से निर्धारित नहीं हो सकती, फिर भी हमें यह न भूलना चाहिए कि वह साहित्य है अथवा नहीं इसका निर्धारण केवल साहित्यिक प्रतिमानों से ही हो सकता है।' प्रश्न उठता है कि यदि कलाकृति की महत्ता के निर्धारक तत्वों में धार्मिक सांस्कृतिक राजनीतिक तत्व भी हैं तो कलाकृति की स्वायत्तता और साहित्यिक प्रतिमानों की शुद्धता का क्या अर्थ? या फिर काव्यगत नैतिकता और उसके उपादान क्या हैं - क्यों हैं? इस प्रश्न का उत्तर एलियट इस प्रकार देते हैं कि साहित्यिक कृतियों की नैतिकता का निर्णय प्रत्येक पीढ़ी की अपनी नैतिक संहिता से होता है। कोई और पीढ़ी उस नैतिक संहिता का पालन करे न करे, साहित्यिक कृतियों की नैतिकता-अनैतिकता का निर्णय उसी से होता है। यदि साहित्यिक कृति में कोई चीज़ आपत्तिजनक (objectionable) है तो उसका अर्थ मात्र इतना ही है कि वर्तमान पीढ़ी के संस्कार उसके अभ्यस्त नहीं हैं। होता यह है कि जिन चीजों को एक पीढ़ी आपत्तिजनक कहकर शोर मचाती है दूसरी पीढ़ी उसी को शांत भाव से स्वीकार कर लेती है। कहना न होगा कि नैतिकता के अर्थ में देश और काल के अनुसार बदलाव आता रहता है।

एलियट अपने काव्य-चिंतन के प्रथम चरण में रूपवादी आग्रह तथा आलोचना कर्म में साहित्येतर प्रतिमानों का निषेध करते दिखाई देते हैं किंतु बाद में उनका यह स्वर धीमा होता जाता है। वे धार्मिक-नैतिक आग्रहों के सामने घुटने टेक देते हैं - 'धर्म और साहित्य' (1935) शीर्षक निबंध इसी बात की पुष्टि करता है। 'आलोचना के सीमांत' (1956) निबंध में वे कहते हैं कि 'मेरे विचार से विशुद्ध कलात्मक मूल्यांकन मात्र एक आदर्श हैxxxहर युग में हर कलाकार के लिए, एक प्रकार के सम्मिश्रण (एलॉय) की जरूरत पड़ती है ताकि वह अपनी अपनी धातु को कला में प्रयुक्त होने लायक बना सके।' इसीलिए प्रत्येक युग में कला की उपयोगिता का स्वरूप भी बदल जाता है और प्रत्येक युग कलात्मक

चिंतन में मूल्यांकन के विशिष्ट मानदंडों का स्थान देता है। एलियट जीवन के अंतिम चरण मे इतने बदलते हैं कि उनके नैतिक प्रतिमानों पर परंपरागत मसीही चिंतन का जादू सिर चढ़कर बोलने लगता है। आरंभ में एलियट ने अपने को 'धर्म में ऐंग्लो कैथलिक, राजनीति में राजतंत्रवादी तथा साहित्य में आभिजात्यवादी' घोषित कर दिया था। ध्यान में रखना होगा कि एलियट का 'आभिजात्यवाद' यूनान-रोम वाला आभिजात्यवाद नहीं है - उनके प्रेरणा स्रोत चैपमैन, वेब्सटर, डन, काउले, बादलेयर, लेफोर्ग और परवर्ती एलिजाबेथ युगीन नाटककार हैं। डन और काउले की प्रशंसा एलियट मुक्त कंठ से करते हैं और इन्हीं कवियों के सृजन के भीतर से गुज़र वे संवेदना के असाहचर्य सिद्धांत की स्थापना करते हैं।

17.8 मूल्यांकन

बीसवीं शताब्दी की अंग्रेजी कविता की तरह अंग्रेज़ी आलोचना में एक महत्वपूर्ण मोड़ लाने का श्रेय टी.एस.एलियट को ही दिया जाता है। उनकी आलोचना सर्जनात्मक इसलिए हैं कि वे मूलत: सर्जक थे और सर्जक की भाँति ही उन्होंने काव्य-सर्जना के बाधक तत्वों पर कड़े प्रहार किए। अपने प्रिय रचनाकारों पर उन्होंने निरंतर लेख लिखे परंतु आलोचना पर न तो कोई स्वतंत्र पुस्तक लिखी न एक सिद्धांतशास्त्री की तरह नियमों-सिद्धांतों का निरूपण किया। न उन्होंने कोई अपना आलोचना-मठ ही बनाया जिसके वे मठाधीश बन सकें। केवल कवि और काव्य-चिंतन से जूझते रहे और इसी संघर्ष ने अंग्रेजी आलोचना की दिशा-दृष्टि में परिवर्तन उपस्थित कर दिया। उनपर प्रभाव अनेक कवियों-आलोचकों का है पर वे किसी की छाया नहीं है - न अनुकरणकर्ता। दो विश्व युद्धों की काली छायाएँ उनके स्वर में घोर निराशा पैदा करती हैं किंतु वे 'वेस्टलैण्ड' में बृहदारण्य उपनिषद के उद्धरण से पूरी यूरोपीय सभ्यता की पोल खोल देते हैं कि यूरोप के पास 'दत्त/दयध्वम/दमपत' अर्थात दान, दया, दमन (इंद्रियों का दमन या योग जैसे भाव) नहीं हैं - यही अशांति का मूल है।

एलियट को इस बात का भी श्रेय है कि उन्होंने अपने युग की साहित्याभिरुचि का संस्कार-परिष्कार किया। साथ ही दरबारी काव्य परंपरा के घटिया रीतिवादी संस्कारों से काव्य को मुक्ति दिलाने में पहल की। 'परंपरा' का सार्थक और गहरा अर्थ स्पष्ट करने के लिए महत्वपूर्ण रचनाकारों के रचना-कर्म पर पुनर्विचार, उसका, पुनर्भाष्य करते हुए पुनर्मूल्यांकन किया। रोमाण्टिक काव्य दृष्टि से विद्रोह किया और गैर-रोमाण्टिक काव्य-दृष्टि की संयम-संतुलन से स्थापना की। यह उनका कमाया हुआ अनुभव है कि साहित्य में पूर्ण मौलिकता जैसी कोई चीज़ नहीं होती। परंपरा के प्रति आस्थावान रहकर ही व्यक्तिगत प्रज्ञा का विकास-परिष्कार किया जा सकता है। जीवत लेखकों के माध्यम से ही मृत लेखक जीवित हो जाते हैं। कविता की जातीय स्मृति में हमारे पुरखे बोलते हैं - अतीत से वर्तमान का यह संवाद महान-सृजन के द्वार खोलता है। यदि हमें अपनी साहित्यिक विरासत की गहरी जानकारी है तो समकालीन सृजन को हम ज्यादा अच्छी तरह समझ सकेंगे।

'नयी आलोचना' और 'नयी कविता' के जनक टी.एस.एलियट की आलोचनात्मक उपलब्धियों पर प्रश्न चिह्न भी कम नहीं लगाए गए हैं। मूल आक्षेप यह लगाया गया है कि उनकी जिन अवधारणाओं को इतनी प्रसिद्धि मिली है वे उन्होंने किसी न किसी पिछले स्रोत से ग्रहण की हैं और अपनी तर्क-शक्ति से तराशकर मौलिकता का भ्रम पैदा कर दिया है। कुछ भी कहा जाए यह निर्विवाद है कि एलियट ने अंग्रेज़ी आलोचना को रचनाकार से रचना की ओर उन्मुख किया और परंपरा का पुनर्विश्लेषण कर उसे नया अर्थ दिया है।

17.9 शब्दावली

प्रातिभ अभिव्यक्ति	-	प्रतिभा सम्पन्न अभिव्यक्ति
उन्मोचन	-	मुक्त करना, छोड़ना
विग्रह	-	आकृति, विशेष बनावट
परिशंसा	-	आंतरिक गुणों की प्रशंसा
युगपद बोध	-	दोनों का संश्लिष्ट बोध
भावाविष्ट	-	भाव के आवेग में बह जाना
बलाबल	-	यह समझ कि किस बात पर कम जोर देना है किसपर ज्यादा

17.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

प्रो. निर्मला जैन, कुसुम बाँठिया, **पाश्चात्य साहित्य-चिंतन**, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं.1990.

प्रो. सावित्री सिन्हा (सम्पा.), **पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परंपरा**, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय', **त्रिशंकु**, सरस्वती प्रेस, वाराणसी।

प्रो.देवेन्द्रनाथ शर्मा, **पाश्चात्य काव्यशास्त्र**, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली-110 002।

डॉ. राम अवध द्विवेदी, **साहित्य सिद्धांत**, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना।

Eliot T.S, **The Sacred Wood**, Second Edition, Faber and Faber, London, 1928.

Eliot T.S, **Selected Essays**, Third Enlarged Edition : Faber and Faber, London, 1951.

Eliot T.S, **On Poetry and Poets**, Faber and Faber, London, 1957.

17.11 अभ्यास के लिए प्रश्न

1. टी.एस.एलियट के रोमांटिक काव्य-मूल्यों के विरोध संबंधी विचारों पर प्रकाश डालिए।
2. एलियट की परम्परा और प्रज्ञा संबंधी अवधारणा पर प्रकाश डालिए।
3. एलियट के निर्वैयक्तिकता सिद्धांत का विवेचन कीजिए।
4. एलियट की मूर्त-विधान संबंधी अवधारणा पर प्रकाश डालिए।
5. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए :
   - क) संवेदनशीलता का असाहचर्य
   - ख) काव्य-भाषा
   - ग) काव्य की स्वायत्तता और साहित्यिक प्रतिमान

इकाई 18 आई.ए.रिचर्डस का साहित्य चिंतन

इकाई की रूपरेखा

18.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के बाद आप

- आई.ए.रिचर्डस के आलोचक व्यक्तित्व का परिचय दे सकेंगे
- उनके मूल्य सिद्धांत और भाषा सिद्धांत को समझ सकेंगे
- आई.ए.रिचर्डस के अर्थ-मीमांसा चिंतन के विषय में बता सकेंगे; और
- आलोचक के रूप में रिचर्डस के योगदान का मूल्यांकन कर सकेंगे।

18.1 प्रस्तावना

इस खंड की पिछली इकाइयों में आप पाश्चात्य काव्यशास्त्र के दो प्रमुख और महत्वपूर्ण आलोचकों बेनेदेतो क्रोचे और टी.एस.एलियट - के आलोचना सिद्धांतों की जानकारी प्राप्त कर चुके हैं। प्रस्तुत इकाई बीसवीं सदी के एक अन्य प्रमुख साहित्य सिद्धांतकार आई.ए.रिचर्डस से संबंधित है।

आधुनिक युग के मौलिक चिन्तकों और सिद्धांतकारों में आई.ए.रिचर्डस का महत्वपूर्ण स्थान है। 'नयी समीक्षा' (न्यू क्रिटिसिज्म) को सैद्धांतिक आधार प्रदान करने वाले आलोचकों में वे अग्रणी माने जाते हैं। उन्होंने साहित्यिक चिंतन को नवीन आधार प्रदान करते हुए विज्ञान तथा मनोविज्ञान की सहायता से कविता की सार्थकता एवं महत्ता की महत्व-प्रतिष्ठा की है।

18.2 व्यक्तित्व तथा युग परिवेश

ईवर आर्मस्ट्रांग रिचर्डस का जन्म 26 फरवरी, 1893 में हुआ तथा मृत्यु 7 सितम्बर, 1979 में हुई। वे जीवन-भर आलोचना-शास्त्र को व्यवस्थित रूप देने में प्रयासरत रहे। कॉलरिज के बाद वे ही ऐसे समीक्षक हैं जिन्होंने आलोचना-दृष्टि में बहुत कुछ नया जोड़ा है। सी.के.आग्डेन और जेम्स वुड के साथ सहयोगी लेखन के रूप में उनकी पहली कृति 'दि फाउंडेशन्स ऑफ़ एस्थेटिक्स' शीर्षक से 1922 में प्रकाशित हुई। उनका एक काव्य-संग्रह भी प्रकाशित हुआ। किंतु वे शीघ्र ही काव्य-सृजन की भूमि को छोड़कर आलोचना की ओर मुड़ गए और पूरी आधी शताब्दी तक उसी भूमि पर सक्रिय रहे। उन्होंने लगभग बारह ग्रंथ लिखे - जिनमें अंतिम ग्रंथ 'बियोंड' 1974 में आया। रिचर्डस की प्रसिद्धि का आधार ग्रंथ **'प्रिंसिपल्स ऑफ़ लिटरेरी क्रिटिसिज्म'** को कहा जा सकता है। उनकी जो पुस्तक विद्वानों के बीच बहुचर्चित रही, वह है - **'कॉलरिज ऑन इमैजिनेशन'** (1934)। रिचर्डस को लेकर विशेष बात यह भी रही है कि उनकी आलोचना का क्षेत्र विषय-वैविध्य की दृष्टि से व्यापक रहा है : जैसे 'मेन्सियस ऑफ द माइंड' (1931), 'एक्सपेरिमेंट्स इन मल्टिपिल डेफ़िनीशन' (1932), 'बेसिक रूल्ज़ ऑफ़ रीजन' (1933), 'दि फिलासफ़ी ऑफ रेटरिक' (1936), 'इंटरप्रटेशन इन टीचिंग' (1938), 'दि स्पेक्युलेटिव इंस्ट्रूमेंट्स' (1955), 'पोएट्रीज : देयर मीडिया एंड एंड्स' (1973), 'हाउ टु रीड ए पेज', 'प्रैक्टिकल क्रिटिसिज्म', 'साइंस एंड पोएट्री' आदि।

आई.ए. रिचर्डस के समय में विज्ञान के बढ़ते हुए महत्व के कारण यह संदेह ज़ोर-शोर से व्यक्त किया गया था कि कविता के लिए मानव-सभ्यता के अंतर्गत अब स्थान शेष नहीं रहा है। टामस लव पीकॉक

ने उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ मे यह प्रश्न उठाया था कि 'क्या कवि इस सभ्य समाज में अर्ध बर्बर नहीं प्रतीत होता है'? पीकॉक को कवि निहायत पिछड़ा प्राणी लगता रहा। शेली ने अपने विचारपरक निबंध 'दि डिफेन्स ऑफ़ पोएट्री' में पीकॉक के मत का खण्डन किया। किंतु सच यही था कि भौतिकवादी दर्शन और विज्ञान की अद्‌भुत प्रगति के साथ कविता की सार्थकता और उपयोगिता को लेकर संशय बढ़ता ही जा रहा था। कहना न होगा कि रिचर्डस ने इसी संशय को मिटाने के लिए अपने आलोचना-शास्त्र का निर्माण किया। जैसे बहुत पहले प्लेटो के कविता के विरुद्ध आरोपों का उत्तर अरस्तू ने दिया था, फिर प्यूरिटन पादरियों के अंधे मताग्रहों का खण्डन सर फिलिप सिडनी को करना पड़ा; वैसे ही विज्ञान के पक्ष को लेकर कविता के विरुद्ध आरोप लगाने वालों के तर्कों का खण्डन शेली, मैथ्यू आर्नल्ड तथा आई.ए.रिचर्डस को करना पड़ा। रिचर्डस से पहले मैथ्यू आर्नल्ड काव्य की उपयोगिता को मूल्यों से सम्बद्ध करके सिद्ध कर चुके थे। 'कल्चर एण्ड अनार्की' (1869) तथा 'एसेज़ इन क्रिटिसिज्म' (1888 - मरणोपरांत प्रकाशित) से पता चलता है कि उनकी बुनियादी चिंता 'कविता क्या है' को लेकर न होकर 'कविता क्या करती है' को लेकर है। उनकी दृष्टि में कविता का कार्य है - नैतिक-सांस्कृतिक संवेदना का प्रसार और परिष्कार। आर्नल्ड के इस विचार को रिचर्डस ने अपने ढंग से आगे बढ़ाया। आई.ए.रिचर्डस की विशेषता यह है कि उन्होंने विज्ञान के बढ़ते आतंक को मिटाने के लिए विज्ञान की पद्धति और मनोविज्ञान का सहारा लिया। नतीजा यह हुआ कि उनके द्वारा कविता का जो समर्थन हुआ - उसे तर्कों से सिद्ध करने के कारण अधिक आदर मिला।

यह मात्र संयोग नहीं है कि मैथ्यू आर्नल्ड और आई.ए.रिचर्डस के काव्य-संबंधी सामान्य दृष्टिकोणों में समानता के पर्याप्त बिंदु मिलते हैं। जबकि मैथ्यू आर्नल्ड से प्रभावित होने पर भी टी.एस.एलियट ने आर्नल्ड की कटु आलोचना करने में कोई कसर नहीं छोड़ी है। दरअस्ल, आर्नल्ड और रिचर्डस के सामने एक ही चुनौती भरी समस्या थी कि भौतिक प्रगति और विज्ञान के प्रसार के कारण मानव-समाज का जो नवीन रूप निर्मित हो रहा है उसमें कविता का स्थान क्या है। आर्नल्ड ने सामान्य तर्कों से यह सिद्ध किया था कि कविता से ही मानव-सभ्यता का त्राण संभव है क्योंकि भौतिकवादी दर्शन ने धर्म को ध्वस्त कर दिया है। ऐसी स्थिति में कविता को बचाकर मानव-सभ्यता की रक्षा की जा सकती है। आई.ए.रिचर्डस ने आर्नल्ड के मत को नए ढंग से प्रस्तुत करते हुए कहा कि काव्य से व्यक्ति, समाज और जाति में मानसिक संतुलन पैदा होता है। भौतिकवादी दर्शन और विज्ञान की चुनौती से आधुनिक युग में जब परम्पराएँ, आस्थाएँ, मूल्य-व्यवस्थाएँ नष्ट हो रही हैं, सभी मूल्य विघटित हो रहे हैं तब सभ्य समाज कविता का आश्रय लेकर ही मानसिक संतुलन बनाए रख सकता है। रिचर्डस के बहुत से विचार कॉलरिज से भी निकटता रखते हैं। कॉलरिज ने आध्यात्मिक तत्त्वों और मनोविज्ञान को मिलाकर मौलिक चिंतन किया। कॉलरिज की इस मौलिक चिंतन परम्परा को टी.एस.एलियट ने नहीं, रिचर्डस ने ही आगे बढ़ाया है। एलियट ने अनेक नई बातें कहीं किंतु उन्होंने व्यवस्थित रूप से किसी भी सिद्धांत का प्रतिपादन नहीं किया। रिचर्डस ने भाषा, विज्ञान, मनोविज्ञान, आध्यात्म दर्शन आदि को मिलाकर नवीन काव्य-सिद्धांतों की महत्व-प्रतिष्ठा की है।

18.2 मूल्य सिद्धांत

दरअस्ल, रिचर्डस ने अपने सिद्धांतों की स्थापना से पूर्व अनेक प्रचलित मतों, विश्वासों, मान्यताओं का तर्कपूर्ण खण्डन किया। उनके इस प्रकार के तर्कों का सिलसिला **'फाउन्डेशन्स ऑफ एस्थेटिक्स'**, **'प्रिंसिपल्स ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म'**, **'साइंस एंड पोएट्री'** आदि में देखते ही बनता है। कांट ने कहा था कि सौंदर्य मानव की किसी विशिष्ट भावना का परितोष करता है। इस प्रकार के अनेक प्रभाववादी और आनंदवादी मतों की एक तालिका रिचर्डस ने 'फाउन्डेशन्स ऑफ एस्थेटिक्स' में दी है। प्रभाववाद का अर्थ केवल इतना ही है कि वह सौंदर्य से भावनाओं के जाग्रत होने को मानता है। जार्ज संतायना ने अपने आनंदवादी दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हुए सौंदर्य और आनंद के अनिवार्य संबंध का निरूपण किया है। वे स्पष्ट कहते हैं कि सौंदर्य से आनंद की अनुभूति होती है। संतायना के इस मत का खण्डन करते हुए रिचर्डस ने कहा कि सभी आनंदमूलक भावनाओं का संबंध सौंदर्य से नहीं होता है। फिर एक विशेष प्रकार के आनंद का रूप-स्वरूप और स्वभाव न तो अभी तक निर्धारित किया जा सका है न उसके निर्धारण की कोई उम्मीद ही नजर आती है। क्लाइव बेल और रोजर फ्राई आदि सौंदर्य से जिस आनंदानुभूति की बात करते थे, रिचर्डस उससे सहमत नहीं हो सके। वर्नन ली जैसे चिंतकों ने सौंदर्यानुभूति के प्रसंग में 'समानुभूति' या तादात्म्य-सिद्धांत (थियरी ऑफ एम्पैथी) का प्रतिपादन किया था तथा कहा था कि सुंदर पदार्थ के साथ हमारा तादात्म्य स्थापित होता है और यह तादात्म्य हमें आनंद देता है। इस तरह के सभी आनंदवादी सिद्धांतों को रिचर्डस ने ज़ोरदार तर्कों के साथ अस्वीकार

कर दिया। उन्होंने 'दि प्रिंसिपल्स ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म' में इस धारणा का विस्तार से खण्डन किया कि मानव-मन में कोई विशेष सौंदर्य भावना होती है एवं यह सौंदर्य हमें आनंद देता है। आनंद भावना को अस्वीकार करते हुए रिचर्डस ने इसे छायाभास (Phantom Aesthetic State) की संज्ञा दी है। उनका तर्क है कि मनोविज्ञान द्वारा किसी स्वतंत्र सौंदर्य भावना का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता है। सौंदर्यानुभूति का संबंध उन्हीं सामान्य भावनाओं से है जिनका प्रकाशन और कार्य, जीवन के सभी क्षेत्रों में दिखाई देता है।

कविता और पाठक के संबंध पर विचार करते हुए उन्होंने काव्य-सम्प्रेषण, काव्य-प्रभाव की प्रकृति की व्याख्या और विश्लेषण का कार्य बहुत गंभीरता से किया। वास्तविकता तो यह है कि काव्य-प्रभाव-विश्लेषण के आधार पर ही कविता का मूल्य-निर्णय किया जा सकता है। सौंदर्यानुभूति या काव्यानुभूति की प्रकृति पर विचार करते हुए वे इस मूल स्थापना पर पहुँचे थे कि काव्यानुभूति और जीवनानुभूति में प्रकृति का भेद नहीं होता। तत्वतः वे एक सी हैं। इनमें अधिक से अधिक इस बात का अंतर होता है कि काव्यानुभूति या कलानुभूति में सामान्य अनुभवों की सूक्ष्मतर व्यवस्था होती है। किंतु यह व्यवस्था न तो तत्वतः भिन्न होती है न मौलिक। रिचर्डस ने दृष्टांत देकर कहा कि जब हम कविता पढ़ते हैं या चित्र देखते हैं या मधुर संगीत सुनते हैं तो यह जो अनुभव सुबह हम तैयार होते हुए, गैलरी में चलते हुए करते हैं उससे अपनी प्रकृति में भिन्न नहीं होता। कांट के पूर्ववर्ती और परवर्ती-लेखकों का हवाला देते हुए उन्होंने कहा कि जो लोग कलाओं के संदर्भ में विशिष्ट, अद्वितीय, असाधारण कलानुभव की सत्ता स्वीकार करते थे या उसके पक्ष में चुन-चुनकर दलीलें पेश करते थे, वे दलीलें आज भ्रामक सिद्ध हो गई हैं। मनोविज्ञान में इस प्रकार के किसी भी अनुभव के लिए स्थान ही नहीं है।

यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि रोज़मर्रा के अनुभवों से तत्वतः अभिन्न इस सौंदर्यानुभूति की अपनी अलग विशिष्ट पहचान क्या है? रिचर्डस का इस प्रश्न को लेकर उत्तर है कि यह अनुभव हमारे भीतर कुछ अलग ढंग से घटित होता है, अधिक जटिल होता है। प्रायः अन्य अनुभवों की तुलना मे अधिक एकाग्र और संगठित होता है। किंतु यह जीवन के अन्य क्रियाकलापों से तत्वतः भिन्न नहीं होता। हाँ, सौंदर्य में, सौंदर्यानुभूति में मूल्य का समावेश अवश्य रहता है, सुंदर वही है जो मूल्यवान है। मतभेद की गुंजाइश तब पैदा होती है जब मूल्य की व्याख्या होती है। आनंदवादी विचारक मानते रहे हैं कि सौंदर्य एक विशिष्ट प्रकार का मूल्य है। लेकिन इसकी न व्याख्या हो सकती है न परिभाषा दी जा सकती है। उसे हम निरपेक्ष मूल्य (Absolute Value) मान लें यही बहुत है। रिचर्डस ने सौंदर्य में जो मूल्य निहित हैं उनकी मनोवैज्ञानिक व्याख्या करते हुए अपने सिद्धांत के सार-संक्षेप में 'व्यवस्था और संतुलन' को स्थान दिया है। मानव-मन में निरंतर आवेग उत्पन्न होते रहते हैं - इनमें से कुछ तो परस्पर सम्बद्ध और अनुकूल होते हैं किंतु कुछ प्रतिकूल और विरोधी कोटि के मनोवेग होते हैं। काव्यानुभूति या सौंदर्यानुभूति के प्रभाव से इन सभी प्रकार के मनोवेगों में पारस्परिक सामंजस्य संभव होता है। रिचर्डस ने मनोवेगों की संतुलित और व्यवस्थित अवस्था को 'साइनेस्थेसिस' (Synaesthesis) की संज्ञा दी और उसके आधार पर सौंदर्य की परिभाषा भी की है।

कांट ने 'सौंदर्य' का पहला वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया था। उसके बाद सौंदर्यशास्त्र के अंतर्गत 'सौंदर्य' पर विचार-विवेचन का सिलसिला शुरू हुआ। यह सलाह भी बराबर दी जाती रही कि सौंदर्यानुभूति को सामान्य इन्द्रियानुभव या संवेगों से नहीं उलझाना चाहिए क्योंकि दोनों में बारीक अंतर है। चिंतकों का एक वर्ग 'कलानुभव' से उत्पन्न आनंद को 'सार्वभौमिक' तथा 'अबौद्धिक' जैसे विशेषणों से समझाता रहा। नतीजा यह हुआ कि कलानुभूति या सौंदर्यानुभूति को 'विशिष्ट' और 'अद्वितीय' भावदशा मानने की परम्परा ही चल पड़ी। पूरी शक्ति से रिचर्डस ने इस 'अद्वितीयतावादी परम्परा' का खण्डन किया। सौंदर्यानुभूति को सामान्य जीवनानुभूति की कोटि में रखते हुए रिचर्डस ने उसकी मनोवैज्ञानिक व्याख्या करते हुए कहा कि 'साइनेस्थीसिस' अर्थात् हमारे मनोवेगों के संतुलन और सामंजस्य में विशेष बात यह है कि हमारे सभी आवेग अपनी प्रकृति से सामंजस्यपूर्ण नहीं होते, विरोधी आवेगों में टकराहट या संघर्ष होता ही रहता है। 'साइनेस्थीसिस' की शक्ति से संचालित इस निर्वैयक्तिकता या निस्संगता के अनुभव में पाठक की अधिकाधिक अभिरुचियाँ एकाग्र भाव से शामिल रहती हैं और संपूर्ण व्यक्तित्व में सक्रियता आ जाती है। 'प्रिंसिपल्स ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म' में रिचर्डस ने 'साइनेस्थीसिस' के स्थान पर 'सिंथेसिस' शब्द का प्रयोग किया तथा इस पूरे व्यापार को पाठकीय प्रक्रिया का संदर्भ दिया। उन्होंने यह सिद्धांत विकसित किया कि कविता का उद्देश्य है - मानव की अधिकाधिक वृत्तियों को परितोष प्रदान करते हुए उनमें संतुलन तथा सामंजस्य (सामरस्य) स्थापित करना। उन्होंने वृत्तियों को समझने-समझाने की सुविधा के लिए दो वर्गों में बाँट दिया - (1) अनुकूल एषणा (Appetency); और (2) प्रतिकूल एषणा (Aversions)। ऐसी कोई भी वस्तु या व्यापार जो किसी

वृत्ति को परितोष या संतोष प्रदान करती है, मूल्यवान होता है। लेकिन उसकी मूल्यवत्ता के मूल्याकन का आधार यह होता है कि वह अपने समान या अपने से महत्वपूर्ण किसी वृत्ति में विक्षोभ पैदा न करे। चूँकि वृत्तियों की परितोष प्रक्रिया में कुछ को तोष और कुछ में क्षोभ उत्पन्न होता ही है। इसलिए उत्तमोत्तम संतुलन वही है जो मानवीय संभावनाओं की कम से कम क्षति करे।

वास्तव में, यह संतुलन और सामरस्य भी दो रूपों में घटित होता है - (1) अपवर्जन (exclusion); और (2) समावेशन (inclusion) के द्वारा। इसी को आधार बनाकर उन्होंने कविता के दो रूप किए - (1) अपवर्जी या बहिर्वेशी कविता; और (2) समावेशी या अंतर्वेशी कविता। अपवर्जी कविता में घटित होने वाले सामरस्य या सामंजस्य में परस्पर विरोधी भावों के निषेध से सामरस्य सीधा-सरल होता है। समावेशी काव्य में सामंजस्य का प्रभाव सघन, एकाग्र किंतु जटिल होता है क्योंकि उसमें अधिकाधिक विरोधी भावों के स्वीकार और द्वंद्वात्मक भावों के परिहार की सामर्थ्य होती है। अपवर्जी को रिचर्डस कला में ऊँचा स्थान नहीं देते हैं किंतु समावेशी काव्य की महत्ता को वे बार-बार स्वीकार करते हैं। फिर रिचर्डस कभी भी जार्ज सण्तायता की भाँति उदात्त और सुन्दर के भेद-प्रभेद को नहीं मानते हैं। नयी समीक्षा के सिद्धांतकार जान क्रो रैन्सम ने रिचर्डस के 'संतुलन-सामंजस्य सिद्धांत' का विरोध करते हुए कहा है कि यदि 'संतुलन-सामंजस्य सिद्धांत' को स्वीकार कर लिया जाए तो आलोचना-कर्म के सभी प्रयास अपना अर्थ खोते दिखाई देते हैं।

रिचर्डस ने समावेशी काव्य की महिमा को प्रतिपादित करने में विषय-वस्तु और शैली, दोनों की ओर पाठक का ध्यान आकृष्ट करते हुए कहा कि समावेशी काव्य की कसौटी है - उसमें अंतर्निहित विडम्बना का तत्त्व। अपने मूल्य-सिद्धांत चिंतन में रिचर्डस बार-बार यह कहते रहे कि कविता के श्रेष्ठतम रूप का लक्षण 'विडम्बना' ही है। रचना में परस्पर विरोधी आवेगों-संवेगों-भावों को एकत्र करते हुए एकाग्र करने का कार्य भी 'विडम्बना' के द्वारा ही होता है। रिचर्डस जिसे 'विडम्बना' कहते है उसे ही टी.एस.एलियट ने 'विदग्ध' या 'वैदग्ध्य' कहा है। 'वैदग्ध्य' का कार्य भी रचना-कर्म में 'आंतरिक संतुलन' स्थापित करना ही है। किंतु एलियट से रिचर्डस के विचार की भिन्नता इस बात में है कि वे आंतरिक संतुलन को कविता की पूरी संरचना में व्याप्त न मानकर कविता के प्रभाव में मानते हैं।

रिचर्डस के मत से कविता में 'सिंथिसेस' की यह मनोदशा इस निष्क्रिय मनोदशा से भिन्न है जिसमें हम समान विरोधी भावों के आकर्षण के कारण स्तब्ध रह जाते हैं। अतः क्रोध, उत्साह, घृणा, आदि के प्रबल आवेग के कारण मन में जो दृढ़ता और एकरूपता आ जाती है, वह 'सिंथिसिस' से भिन्न होती है। कारण, उसमें अनेक परस्पर-विरोधी आवेग सामंजस्य-संतुलन स्थापित नहीं कर पाते हैं - प्रायः होता यह है कि एक ही प्रबल आवेग सभी अन्य मानसिक शक्तियों, क्रियाओं, स्थितियों पर छा जाता है उन्हें अपने में लीन कर लेता है। इसीलिए विशेष ध्यान के बाद रिचर्डस ने 'दि प्रिंसिपल्स ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म' के सातवें अध्याय में सौंदर्य के मनोवैज्ञानिक मूल्य की और विस्तार से सूक्ष्म गहन विवेचना की है। उन्होंने कहा कि जीवन में संतुलन और व्यवस्था के बिना हम जीवित नहीं रह सकते। प्रति क्षण हमारे आवेग या मनोवेग स्वतः व्यवस्थित होते रहते हैं। व्यवस्था उत्पन्न करने में साहित्य और कला से विशेष सहायता मिलती है। उदाहरण के लिए, 'रामचरितमानस' को पढ़कर पाठक धार्मिक ही नहीं बनता, वह एक खास तरह का सौंदर्य-मूल्य भी वहाँ पाता है। यह सौंदर्य-मूल्य सामान्य जीवन-मूल्य से भिन्न नहीं होता।

रोजमर्रा की सामान्य मानसिक अवस्था तथा काव्य में विद्यमान मानसिक दशा में विशेष अंतर यह है कि काव्यात्मक अभिव्यक्ति में हमारे मनोवेग और उनकी शाखाएँ-प्रशाखाएँ जटिल-संश्लिष्ट रूप में सामने आती हैं और उनकी व्यवस्था (organisation and systematization) अधिक संतोषप्रद होती है। यह भूलने की बात नहीं है कि जीवन और काव्य, दोनों में मानसिक क्रियाओं के क्रमशः अधिकाधिक सघन-जटिल-संश्लिष्ट होने को रिचर्डस प्रगति का एक प्रमुख लक्षण मानते हैं। काव्य का तो वैशिष्ट्य यही है कि साधारण जीवन की सरल मनोदशा या मनोभूमिका की तुलना में उसमें कहीं अधिक मानसिक जटिलता (complexity) होती है। अतः हम कह सकते हैं कि काव्य-प्रभाव और काव्य-प्रयोजन पर आधारित रिचर्डस के मनोवैज्ञानिक मूल्य-सिद्धांत का सार-संक्षेप इस प्रकार है -

1. कला तथा कलानुभूति जीवन के मानव-व्यापारों से सम्बद्ध है, उससे भिन्न अथवा पृथक नहीं है। काव्यानुभूति या कलानुभूति जीवनानुभूति का पर्याय है।
2. मानव-क्रियाओं में कला सर्वाधिक मूल्यवान क्रिया है।
3. किसी भी मानव-क्रिया का मूल्य इस बात से निर्धारित होता है कि उसमें मनोवेगों में संतुलन और व्यवस्था उत्पन्न करने का सामर्थ्य कहाँ तक है।

4. आलोचना के दो आधार हैं - मूल्य-व्यवस्था और सम्प्रेषण। यहाँ कहना चाहिए कि रिचर्डस की मूल चिंता कविता या कला के सम्प्रेषण की रही है। काव्य-सम्प्रेषण से उत्पन्न काव्य-प्रभाव और उसके आधार पर मूल्य-निर्धारण।

अपने पूरे चिंतन में रिचर्डस कलाओं को सम्प्रेषण-क्रिया का सर्वोत्तम माध्यम या रूप मानते रहे हैं। इस सम्प्रेषण-क्रिया का मूल्य है पाठक के मन में निष्पन्न वृत्तियों का संतुलन और सामंजस्य या सामरस्य। यह सामरस्य और संतुलन ही मूल्य है। इस मूल्य को रिचर्डस ने सदैव आनंद और उपदेश के मूल्यों से ऊपर रखा है। कलानुभव अपने में मूल्यवान है और लौकिक अनुभव से अपनी प्रकृति में भिन्न नहीं है। आलोचक इसी कलानुभव का विवेचन-विश्लेषण करता है। इसलिए उसे वे 'मूल्यों के न्यायाधीश' का दर्ज़ा देते हैं (To set up as a critic is to set up as a judge of values)।

आलोचकों का एक वर्ग मानता रहा है कि परम्परागत आनंद-सिद्धांत को अस्वीकार कर देने का अर्थ रिचर्डस के मूल्य-सिद्धांत में यह कतई नहीं है कि वे बैंथम और मिल के सुख-कामना सिद्धांत से प्रभावित नहीं है। यदि ऐसा न होता तो वे पाठक के सुख की चर्चा न करते। हाँ, यह ठीक बात है कि किसी भी हालत में रिचर्डस को सुखवादी (हिडोनिस्ट) नहीं कहा जा सकता है। कारण स्पष्ट है कि वृत्तियों के जिस संतुलन और सामरस्य को रिचर्डस मूल्य मानते हैं उसमें आनंद की कोई प्रत्यक्ष भूमिका नहीं है। वे काव्यानुभूति को आनंदानुभूति नहीं मानते हैं। हिंदी आलोचना में रिचर्डस के इस मत को सीधा समर्थन आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'रस-मीमांसा' के निबंधों में दिया है। वे रसानुभूति या काव्यानुभूति को आनंदानुभूति का पर्याय नहीं मानते हैं।

रिचर्डस के समकालीन कवि-आलोचक टी.एस.एलियट ने उनके मूल्य-सिद्धांत का विरोध 'दि यूज़ ऑफ पोएट्री एंड दि यूज़ ऑफ क्रिटिसिज्म' तथा 'मॉडर्न माइंड' में किया। एलियट ने स्पष्ट कहा - 'मैं इस प्रकार के किसी सिद्धांत को स्वीकार नहीं कर सकता जो शुद्ध वैयक्तिक मनोविज्ञान की नींव पर टिका हो। उनके काव्यानुभव का मनोविज्ञान जिस प्रकार खुद उन्हीं के काव्यानुभव पर आधारित है, उसी प्रकार उनका मूल्य-सिद्धांत उनके अपने मनोविज्ञान पर केंद्रित है।' इतना ही नहीं, स्वयं एलियट का 'निर्वैयक्तिकता का सिद्धांत' रिचर्डस के 'मूल्य-सिद्धांत' के विरोध में दिखाई देता है। एलियट के दिमाग में यह विचार एकदम साफ है कि वैयक्तिक मनोविज्ञान की सबसे बड़ी सीमा यह है कि वह साहित्य की वस्तुनिष्ठ व्याख्या नहीं कर सकता। रिचर्डस यह तो मानते हैं कि समावेशी काव्य का अनुभव ही अंतवृर्त्तियों में संतुलन और सामंजस्य स्थापित करता है किंतु यह सामंजस्य कैसे स्थापित होता है उस जटिल प्रक्रिया का विश्लेषण नहीं कर पाते हैं। दार्शनिकों और साहित्यशास्त्रियों ने 'मूल्य-सिद्धांत' का विरोध करते हुए यहाँ तक कहा कि स्नायुमंडल और मस्तिष्क की क्रियाओं का जो चित्र उन्होंने खींचा है, वह अभी तक स्वीकृति प्राप्त नहीं कर सका है क्योंकि स्नायुमंडल की क्रियाओं के बारे में भी अभी जानकारी कम है। रिचर्डस ने जिस गेस्टाल्ट मनोविज्ञान का सहारा लिया है, वह भी अभी प्रयोगात्मक अवस्था में है। इसलिए विद्वानों ने रिचर्डस के मूल्य-सिद्धांत को 'प्रभाववादी मूल्य-सिद्धांत' कहकर व्यंग किया और कहा कि 'वस्तु' (ऑब्जेक्ट) की सत्ता को पर्याप्त महत्व न देने के कारण मूल्य-सिद्धांत की व्यावहारिक उपयोगिता ही खतरे में पड़ गई है। मूल्य-सिद्धांत को काव्य के अतिरिक्त अन्य कलाओं पर लागू करते हैं तो हमें संतोषजनक परिणाम नहीं मिलते। इसका एक कारण तो यह है कि रिचर्डस मनोवेगों (Impulse) का अर्थ-संदर्भ निश्चित करने में असमर्थ रहे हैं। यही कारण है कि देश-विदेश के अधिकांश विद्वान 'मूल्य-सिद्धांत' से ज्यादा सम्प्रेषण से संबंधित रिचर्डस के चिंतन को महत्व देते हैं। कवि चाहे केवल अपने सुख के लिए लिखता हो अथवा लोक-मंगल भावना से भरकर सबके हित के लिए लिखता हो - उसकी भावनाओं और विचारों का स्वरूप सम्प्रेषण-शक्ति से निर्धारित और संचालित होता है।

18.4 भाषा सिद्धांत

कविता में सम्प्रेषणीयता के बिना उद्देश्य सिद्ध नहीं होता। भाषा ही प्रेषण का साधन और माध्यम है। इस सच को समझते हुए रिचर्डस ने काव्य-भाषा सिद्धांत की स्थापना की और उनका भाषा संबंधी चिंतन चर्चा के केंद्र में भी रहा। इस काव्य-भाषा चिंतन को 'काव्य-भाषा का संवेगात्मक सिद्धांत' (Emotive Theory of Language) नाम दिया गया है। रिचर्डस ने अपने शिष्य सी.के.आग्डेन के साथ 'मीनिंग ऑफ मीनिंग' नामक पुस्तक में तथ्यपरक भाषा (Referential Language) का विवेचन किया था और 'प्रिंसिपल्स ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म' नामक पुस्तक में रागात्मक भाषा या भावपरक भाषा (Emotive Language) का। इस प्रकार, भाषा के प्रयोग में उन्होंने मुख्यतः दो भेद किए -

1. तथ्यपरक भाषा का प्रयोग; और
2. रागात्मक भाषा का प्रयोग।

तथ्यपरक भाषा का प्रयोग तार्किकों, दार्शनिकों और वैज्ञानिकों की भाषा में मिलता है। वहाँ पर शब्द द्वारा हमें किसी तथ्य की सूचना मिलती है उसका यथार्थ-बोध होता है और ऐसे कथन की सत्यता की परीक्षा भी की जा सकती है। तथ्यात्मक कथनों में दो बातों को महत्व मिलता है - तथ्य और उनके पारस्परिक संबंध को। विज्ञान तथा तर्क में भावनाओं को प्रयासपूर्वक अलग रखते हुए इसी प्रकार की तथ्यपरक भाषा का प्रयोग किया जाता है। 'रागात्मक भाषा' में भावपरक तत्वों की प्रधानता रहती है यहाँ प्रायः तथ्य (रिफरेंस) की सूचना नगण्य बनकर रह जाती है जैसा कि संगीतमय काव्य (Musical and lyrical poetry) में हम पाते हैं जहाँ तथ्य अंतर्निहित भी रहते हैं वहाँ भी उनका प्रभाव गौण हो जाता है। कविता हमारे भावों को उन्बुद्ध करती है, हमारी चित्तवृत्तियों को झकझोर देती है। सार-संक्षेप यह कि विज्ञान की भाषा तथ्यपरक होती है और कविता की रागात्मक या भावपरक।

रिचर्डस ने अपने ग्रंथों में इस बात पर बराबर बल दिया कि कवि-कलाकार किसी वैज्ञानिक की भाँति तथ्य अथवा सत्य की खोज नहीं करता, वह तो विभिन्न रागात्मक अवस्थाओं, मनोभूमिकाओं और चितवृत्तियों का सर्जन करता है। लेकिन इस विचार का बहुत से चिंतकों ने यह कहकर खण्डन किया है कि तथ्य और भावना का पृथक्करण सैद्धांतिक स्तर पर तो संभव है लेकिन व्यवहार के स्तर पर नहीं। रिचर्डस इस भेद के प्रति कम सतर्क नहीं थे - इसका प्रमाण यह है कि उन्होंने 'स्पेकुलेटिव इंस्ट्रूमेंट्स' नामक अपनी पुस्तक में रागात्मक अर्थ के आग्रह पर बल देकर मैक्स ब्लैक के आक्षेपों का खण्डन किया है। लेकिन रिचर्डस के इस काव्य-भाषा सिद्धांत को लेकर वाद-विवाद इतना ज़ोर पकड़ता गया कि उन्होंने 'दि फिलासफ़ी ऑफ रेटरिक' पुस्तक में अपनी मान्यता का संशोधन प्रस्तुत किया और कविता की भाषा में भावात्मकता के साथ विचारात्मकता को संश्लिष्ट रूप में स्वीकार किया। इतना ही नहीं, एक कदम और आगे बढ़कर उन्होंने काव्य-ग्रहण को लेकर मनोवेगों पर विवेक के अंकुश की अनिवार्यता का प्रतिपादन किया। रिचर्डस के विचारों में आने वाले इन परिवर्तनों पर उनके शिष्य विलियम एम्पसन का ध्यान गया और उन्होंने कहा कि अर्थ-संबंधी संदर्भ-सिद्धांत (Context Theory of Meaning) विकसित करने का श्रेय रिचर्डस को ही जाता है। इसी संदर्भ सिद्धांत से काव्य-भाषा में लाक्षणिकता और अनेकार्थकता (Metaphor and Ambiguity) को समुचित आदर मिला है।

18.5 अर्थ-मीमांसा-चिंतन

रिचर्डस ने भाषा के स्वभाव और कार्य का गंभीर विवेचन करते हुए यह प्रश्न बहुत गहरे स्तर पर उठाया कि अर्थ से तात्पर्य क्या है। भाषा ही भाव-सम्प्रेषण का माध्यम है और इस माध्यम का उपयोग हर रचनाकार अपने-अपने ढंग से करता है। भाषा प्रतीक-व्यवस्था है और यह प्रतीक-व्यवस्था ही रचनाकार और पाठक के बीच एक मानसिक-सेतु का निर्माण करती है। भाषा-प्रतीकों में मानसिक वृत्तियों के अर्थ-गुच्छ निहित होते हैं। इस दृष्टि से अर्थ-ग्रहण के अनेक स्तर हैं। सभी पाठकों की मानसिक भूमिका एक-सी नहीं होती। इसलिए वे रचना का एक-सा अर्थ-ग्रहण और बिम्ब-ग्रहण भी नहीं करते हैं। फिर देश और काल का संदर्भ भी अर्थ को बदलता है - एक ही शब्द में कभी अर्थ-संकोच होता है, कभी अर्थ-विस्तार, कभी अर्थादेश।.एक स्तर पर पाठक केवल नाद से परिचित होता है और उसी का प्रभाव उसके मानस पर पड़ता है। ध्वनि-भेद से अर्थ-भेद की परख करने की क्षमता आते ही पाठक अर्थ-व्यंजना की भीतरी बारीकियों को पकड़ने लगता है। अर्थ की जटिलताओं में धँसकर समझने लगता है। फिर उसे भाषा के जटिल प्रतीकों के अर्थ-संधान में मज़ा आने लगता है। रिचर्डस का यह भी मानना था कि भाषा के अभिप्रायों को समझने में व्याकरण सहायक होता है, किंतु उससे भी अधिक सहायता मनोविज्ञान से मिल सकती है क्योंकि मन में उत्पन्न होने वाले द्वंद्व-तनाव-संघर्ष, विरोध के भावों का परस्पर संबंध भाषा में बराबर परिलक्षित होता है। भाषा का एक स्तर यह भी है जिसमें 'रूपकों' का प्रयोग किया जाता है। रूपकात्मक भाषा या व्यंजना-गर्भी भाषा से हम अर्थ के अनेक स्तरों तक पहुँच सकते हैं। भाषागत प्रतीकों में तथ्यों की सूचना के साथ-साथ भाव, विचार, वृत्ति, संकेत, चेष्टाएँ, अभिप्राय, रूपक इत्यादि का भंडार रहता है - समर्थ रचनाकार इस भंडार का अपने ढंग से उपयोग करता है, वह पुराने शब्दों में नया अर्थ भरता है और बहुतायत से प्रयोग होने के कारण घिस गए शब्दों पर नए अर्थ की पॉलिश करता है। एक प्रकार से नये वागर्थ की प्रतिपत्ति' करता है। भाषा का कार्य सफल तभी माना जाता है जब कवि शब्द-प्रतीकों की इन विशेषताओं को लक्षित करा सके।

भाषा का कार्य है - सरल और जटिल अर्थ को सम्प्रेषित करना। जीवन में भाषा सामान्य रूप से और साहित्य में विशेष रूप से अर्थ वहन का कार्य करती है। प्रश्न उठता है कि अर्थ-ग्रहण से क्या अभिप्राय

है और अर्थ-व्यापार किस तरह से संचालित होता है? स्थूल रूप में रिचर्डस ने 'प्रैक्टिकल क्रिटिसिज्म' नामक अपनी पुस्तक में अर्थ-विचार करते हुए चार प्रकार के अर्थों का निर्देश किया है। ये हैं -

1. वाच्यार्थ (Sense) - वस्तुस्थिति को सामने लाने वाली प्रमुख शब्द-शक्ति।
2. भाव (Feeling) - भाव अर्थात् विषय के प्रति लेखक अथवा वक्ता की चेष्टा।
3. ध्वनि या लहजा (Tone) - ध्वनि या लहजा अर्थात् पाठक के प्रति लेखक की चेष्टा।
4. अभिप्राय (Intention) - लेखक अथवा वक्ता का अभिप्राय।

भाषा के इन चारों उपकरणों को लेकर चलने या इनके मेल से ही भाषा का समग्र अर्थ-व्यंजित होता है। किसी एक ही अंग को लेकर चलने पर अनर्थ की आशंका रहती है। प्रयोजन के अनुसार ही किसी प्रकार-विशेष के अर्थ पर ज़ोर रहता है, जैसे वैज्ञानिक भाषा में यथा-तथ्यता का आग्रह लेकर चलता है जबकि रचनाकार भाषा को कल्पना के प्रयोग से रंग-रंजित कर भावमूलक रूप देता है। रचनाकार भाव और टोन को बहुत महत्व देगा - जबकि वैज्ञानिक केवल तथ्य का निरूपण करेगा। रचना-कर्म का आस्वाद करने वाले पाठक या आलोचक का यह दायित्व होगा कि वह भाषा की शब्द-शक्तियों को पहचान कर रचना के समग्र अर्थ तक पहुँचने का प्रयत्न करे। शब्द और अर्थ के अभिन्न संयोग से भाषा में सृजन की शक्ति आती है। आधुनिक युग में सैद्धांतिक और व्यावहारिक समीक्षा, दोनों के ही क्षेत्र में विश्लेषणात्मक पद्धति की उपयोगिता पर ध्यान केंद्रित किया गया है। स्वयं रिचर्डस ने 'न्यू क्रिटिसिज्म के समर्थ प्रतिष्ठापक के रूप में शब्द-शक्तियों तथा प्रकरणगत अर्थ-संदर्भों पर ध्यान दिया। अपने आरंभिक ग्रंथ 'मीनिंग ऑफ मीनिंग' में आग्डेन के साथ रिचर्डस ने शब्दों के 'रेफरेन्शियल मीनिंग अर्थात संदर्भ के निहितार्थ या अन्वितार्थ पर ही विचार किया। आगे चलकर 'दि प्रिंसिपल्स ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म में उन्होंने 'इमोटिव मीनिंग' या भावात्मक अर्थ पर विशेष बल दिया और कहा कि काव्य के लिए अन्वितार्थ अर्थ की अपेक्षा भावात्मक अर्थ उपयोगी और अपेक्षित होता है। कवि केवल सूचना, तथ्य-ज्ञान वृद्धि के लिए नहीं लिखता है, वह तो अनुभूति, प्रेरणा तथा भाव-मर्म का सौंदर्य दूसरों तक भाषा से सम्प्रेषित करने के लिए लिखता है। किंतु 'प्रैक्टिकल क्रिटिसिज्म' में रिचर्डस ने भाषा के चार अर्थ-व्यापारों की विस्तार से चर्चा की और कहा कि 'सेन्स' (Sense) से तात्पर्य है - अभिधेयार्थ ग्रहण का और 'फीलिंग' से इमोटिव मीनिंग अर्थात् भावात्मक अर्थ का ग्रहण। वक्ता अथवा लेखक का श्रोता के प्रति क्या दृष्टिकोण होता है इससे टोन का निर्धारण होता है और इंटेंशन लेखक या वक्ता के अर्थ का निर्धारण करता है। इन चारों का संबंध अर्थ लय से निर्धारित हुआ करता है। इस प्रकार, रिचर्डस ने अर्थ की स्थिति 'लय' में ही मानी है। 'अर्थ-लय' केवल ध्वनियों की नियोजना-मात्र नहीं हैं अपितु भाषा की तह में रहने वाला सारभूत तत्व है। अर्थ-प्रकाशन और अर्थ-बोध दोनों में लय की बड़ी भारी भूमिका रहती है।

रिचर्डस की भाषा और अर्थ संबंधी मान्यताओं पर उनके सामने ही उनके शिष्यों ने अनेक आपत्तियाँ उठाईं। एम्पसन ने कहा कि प्रयास करने पर भी हम 'सेन्स' और 'फीलिंग' को पृथक नहीं कर सकते; क्योंकि वे एक-दूसरे के विरोधी न होकर पूरक हैं। आखिरकार रिचर्डस ने अपने इमोटिव मीनिंग संबंधी मत को ही बाद के ग्रंथों में दोहराया है और काव्य के मूल्यांकन में 'प्रसंग' अर्थात् Context के महत्व पर विस्तार से प्रकाश डाला है। कारण, शब्द का अर्थ वाक्य के पूरे अर्थ-प्रसंग में ही प्रकट होता है। ऐसी स्थिति के कारण हम शब्दों को बिल्कुल अलग नहीं ले सकते। फिर शब्द का अर्थ परम्परागत प्रयोग से भी निर्धारित रहता है - शब्द पाठक के मन में स्मृतियाँ जाग्रत करता है। भारतीय आचार्यों ने भी भाषा-शब्द में प्रकरण अथवा प्रसंग के महत्व को विस्मृत नहीं किया। भर्तृहरि ने 'वाक्य-पदीय' में शब्द से अर्थ का बोध कराने वाले पन्द्रह उपकरणों की चर्चा की है। ऐसे ही व्यंजनावादियों ने अपने निरूपण में 'प्रकरण' को विशेष महत्व दिया है। वक्रोक्तिवादी कुन्तक ने भी प्रकरण-वक्रता तथा प्रबंध-वक्रता को विशेष सम्मान दिया।

वास्तव में, रिचर्डस के कॉन्टेक्स्ट-संबंधी विचारों का मूल स्रोत मनोविज्ञान ही है। रिचर्डस ने 'फिलासफी ऑफ रेटरिक' में शब्दों के स्वभाव, उनके साहचर्य के नियम, शब्द-संगति तथा वाक्य-व्यवस्था पर विशेष ध्यान दिया है। रूपक अथवा मेटाफर की चर्चा देश-विदेश के चिंतन में बराबर होती रही है। रिचर्डस ने रूपक के विश्लेषण में कहा है कि जटिल रूपकों में कभी-कभी तो अर्थ के सात-आठ स्तर मिलते हैं और आधुनिक कविता की दुरूहता बहुत कुछ रूपकों की जटिलता के कारण ही है। रिचर्डस और एम्पसन के 'एम्बिग्युटी' अर्थात् अनेकार्थता संबंधी विचार भी काफी मिलते-जुलते हैं। 'एम्बिग्युटी' का सीधा अर्थ है - किसी कथन का दुहरापन या अनिश्चित अर्थ। एम्पसन ने सात प्रकार की अनेकार्थताओं का विवेचन किया भी है। भारतीय चिंतन में अभिधा, लक्षणा, व्यंजना के साथ तात्पर्यवृत्ति की जैसे चर्चा हुई है उसी तरह से रिचर्डस-एम्पसन विचार तो नहीं कर सके लेकिन

'इमोटिव मीनिंग' और 'कॉन्टेक्स्चुअल मीनिंग' में लक्षणा-व्यंजना-व्यापार को रिचर्डस-आग्डेन-एम्पसन ने ग्रहण अवश्य किया है। लीविस तथा टिलयार्ड ने 'आब्लीक मीनिंग' की बात कही है जो व्यंग्यार्थ का पर्यायवाची है। कहना न होगा कि भारत का ध्वनि-सिद्धांत अथवा व्यंजना-व्यापार पश्चिम में अनेक प्रकार से दिखाई देता है।

18.6 लय और छंद

संमावेशी काव्य या उत्तम काव्य में रिचर्डस के द्वारा संकेतित चार प्रकार के अर्थों का विवेकपूर्ण सामंजस्य मिलता है। रिचर्डस, एलियट तथा लीविस जैसे आलोचकों ने सत्रहवीं शती के अंग्रेजी अध्यात्मवादी कवियों की प्रशंसा इसलिए की है कि उनके काव्य में भाव-विचार, बुद्धि, ध्वनि इत्यादि की सम्यक् व्यवस्था मिलती है। जबकि स्वच्छंदतावादियों में भावातिरेक के कारण बुद्धि-पक्ष का नियंत्रण डगमगा गया। यह स्वच्छदतावादी काव्य की बुनियादी खोट है।

रिचर्डस ने कविता की बाह्य-व्यवस्था को लेकर भी नए ढंग के विचार दिए हैं। उनका मत है कि परम्परागत नपे-तुले छंदों में लिखी हुई कविता ढर्रेदार होती है और नियम की बेड़ियों में बँधी होने के कारण एक लीक पर पड़ी दिखाई देती है। लैटिन कविता छंदों के कड़े अनुशासन के कारण ही उच्च महत्ता को प्राप्त नहीं कर सकी। कविता के लिए 'लय' अनिवार्य है किंतु इस लय का स्वरूप भी स्वीकृत छंदों की लय में बँधकर इतना सतही हो जाता है कि चिढ़ होने लगती है। वास्तविकता यह है कि लय की स्थिति काव्यार्थ की गहराई में है। इस प्रकार, लय और छंद के बारे में रिचर्डस की नवीन उद्भावनाएँ विशेष महत्व की हैं। परम्परागत विचारों में लय तथा छंद की कल्पना बहुत कुछ ढर्रेदार ढंग से की जा रही थी किंतु रिचर्डस ने उसकी मनोवैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की। लय का आधार है - प्रत्याशा (एक्सपेक्टैन्सी)। काव्य अथवा संगीत में लय इस प्रकार नियोजित की जाती है कि अर्थ की भावी संभावनाओं का प्रकाश मन में छाया रहता है।

लय केवल ध्वनि-व्यवस्था मात्र नहीं है। गहरे स्तर पर वह अर्थ-व्यवस्था है। लय तो मन की गहराई से उठकर भाषा में पैठ जाती है। (The sound of words comes to its full power only through rythm) छंद का काम है - लय को नियमित करना। किंतु छंद का यांत्रिक-प्रयोग रिचर्डस को स्वीकार्य नहीं है। रिचर्डस ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'प्रैक्टिकल क्रिटिसिज्म' में अपने अध्यापक को सामने कर दिया है - तेरह काव्यांश (जिनमें प्रत्येक अपना निजी वैशिष्ट्य रखता है) प्रोटोकोल के रूप में छात्रों को दिए गए और उन काव्यांशों पर उनकी प्रतिक्रियाएँ प्राप्त की गईं। इन उत्तरों (विद्यार्थियों की प्रतिक्रियाओं) को लेकर रिचर्डस ने काव्य से संबंधित विभिन्न प्रश्नों पर विचार किया है। व्यावहारिक समीक्षा में उन्होंने विश्लेषण (एनालिसिस) और व्याख्या (इंटरप्रेटेशन) की पद्धति को अपनाया। शब्द, अर्थ, वाक्य-संरचना, प्रकरण या प्रसंग, रूपक, वस्तु-रूप, लय आदि सभी पर उनका ध्यान केंद्रित हुआ। 'हाउ टू रीड ए पेज' नामक पुस्तक में काव्यांश-विश्लेषण का रिचर्ड्सीय-कमाल देखते ही बनता है। विश्लेषण और व्याख्या से ही काव्यार्थ का प्रकाश दिखाई देता है। पाठक इस विश्लेषण तथा व्याख्या कर्म से ही कृति के मर्म (सम्प्रेषण) को पाता है। प्रत्येक पाठक को कविता पढ़ने की तमीज़ सीखनी पड़ती है।

रिचर्डस ने बौद्धिक-सत्य और काव्यात्मक-सत्य के भेद को कभी भी अपने चिंतन में विस्मृत नहीं किया है। अर्थ दो प्रकार के होते हैं - तथ्यात्मक और रागात्मक। वैज्ञानिक तथ्यात्मक सत्य की खोज निरीक्षण और प्रयोग से करता है, दार्शनिक तर्क और विचार द्वारा। वैज्ञानिक तथा दार्शनिक की खोज बौद्धिक स्तर पर चलती है। कविता का सरोकार कोरे बौद्धिक-सत्य से न होकर रागात्मक या भावात्मक-सत्य से होता है। ऐसा नहीं है कि काव्य-सत्य में बौद्धिक-सत्य के उपकरण नहीं होते हैं - वे प्रच्छन्न रूप में रहते हैं। विज्ञान तो 'स्टेटमेंट' का आश्रय लेता है कविता 'सूडो स्टेटमेंट्स' (PSUEDO-STATEMENTS) छद्म कथनों का। रिचर्डस स्वयं 'प्रैक्टिकल क्रिटिसिज्म' में कविता के साथ 'आस्था' का प्रश्न उठाते हुए कहते हैं कि हम 'डिवाइन कमेडी' या 'पैराडाइज़ लास्ट' में आस्था न रखते हो तब भी पढ़ते हैं। यही बात 'रामचरितमानस' और 'सूरसागर' को लेकर कही जा सकती है - केवल इन्हें हिंदू ही नहीं सभी अपने-अपने ढंग से पढ़ते हैं। काव्य में आस्था का प्रश्न रागात्मक प्रतिक्रियाओं से सम्बद्ध है, तथ्य-निरूपण अथवा परीक्षण से नहीं।

18.7 मूल्यांकन

पाश्चात्य-साहित्य चिंतन में आई.ए.रिचर्डस ने प्रथम बार में कविता के अर्थ-सम्प्रेषण व्यापार और पाठक पर पड़ने वाले काव्य-प्रभाव के आधार पर 'प्रयोगशाला-पद्धति' से नयी आलोचना के मार्ग का श्रीगणेश किया। यही कारण है कि 'न्यू क्रिटिसिज्म' के प्रवर्त्तकों में रिचर्डस की चर्चा बड़े आदर से की जाती है।

उनके सभी निष्कर्ष तो स्वीकार्य नहीं हुए परंतु अर्थ और सम्प्रेषण से संबंधित उनके विचारों को पर्याप्त आदर प्राप्त हुआ। कवि की आस्था, पाठकीय प्रतिक्रिया से संबंधित उनके विचार भी बराबर चर्चा के केंद्र में रहे। सबसे बड़ी बात यह है कि रिचर्डस ने विज्ञान के युग में विज्ञान के आतंक से मुक्त होकर न केवल कविता की महत्व-प्रतिष्ठा की बल्कि साहित्यालोचन को वैज्ञानिक वस्तुनिष्ठता (Scientific accuracy and objectivity) प्रदान करने की दिशा में सार्थक कदम उठाया। उन्होंने 'रोमांटिसिज्म' का विरोध करते हुए चिंतन की क्लासिकल-परम्परा में प्राण डालने का प्रयास किया। साथ ही, 'कलावाद' का पूरी तार्किकता से खण्डन किया। उनके तर्क की टक्कर से ही क्रोचे के अभिव्यंजनावाद का माया-महल ढह गया। कलानुभव की अलौकिकता और सौंदयानुभूति की अतीन्द्रियता के भ्रम-जाल को छिन्न-भिन्न करते हुए रिचर्डस ने काव्यानुभव को जीवनानुभव की ठोस ज़मीन पर स्थापित किया। कहना न होगा कि उन्होंने 'न्यू क्रिटिसिज्म' को नवीन दिशा दी और नए शब्दों से उसे सम्पन्न किया।

आधुनिक अंग्रेज़ आलोचकों में रिचर्डस का साहित्यालोचन से संबंधित चिंतन क्रमबद्ध एवं विस्तृत है जिसमें हमें एक सर्वांगपूर्ण काव्यशास्त्र का बिम्ब झाँकता मिलता है। उनका मूल्य-सिद्धांत गहरे स्तर पर कलाशास्त्र और मनोविज्ञान के गहन-चिंतन पर केंद्रित है। भाषा और अर्थ-मीमांसा के क्षेत्र की उनकी पकड़ भी कम गहरी नहीं है। उन्होंने गंभीर विषयों की सरल और स्पष्ट व्याख्या की। इस तरह कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में सन 1930 ई.के लगभग रिचर्डस और उसके सहयोगियों ने आलोचना की एक नवीन प्रयोगात्मक पद्धति का वैज्ञानिक ढंग से विकास किया है। रिचर्डस का प्रभाव एम्पसन तथा एफ.आर. लीविस जैसे आलोचकों पर पड़ा और इन विद्वानों ने अपने क्षेत्रों में उल्लेखनीय कार्य किया। पूरी अमरीकी 'न्यू क्रिटिसिज्म' की पीढ़ी पर रिचर्डस का प्रभाव परिलक्षित होता है। हिंदी में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने प्रथम बार आई.ए.रिचर्डस की चर्चा की है और तब से लेकर आज तक हिंदी समीक्षा में रिचर्डस के चिंतन को बार-बार महत्व देते हुए याद किया जाता रहा है। हिंदी के मार्क्सवादी आलोचक, रिचर्डस के काव्य-चिंतन से असहमत होते हुए भी उनके महत्व से बेखबर नहीं है।

18.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

देवेन्द्र नाथ शर्मा; **पाश्चात्य काव्यशास्त्र**, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरिया गंज, नई दिल्ली।

निर्मला जैन और कुसुम बाँठिया, **पाश्चात्य साहित्य-चिंतन**, राधाकृष्ण प्रकाशन, दरिया गंज, नई दिल्ली।

राम अवध द्विवेदी, **साहित्य सिद्धांत**, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना।

शम्भुदत्त झा, **आई.ए.रिचर्डस के काव्य सिद्धांत**, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना।

डॉ. नगेन्द्र और सावित्री सिन्हा, **पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा**, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

निर्मला जैन, **रस-सिद्धांत और सौंदर्यशास्त्र**, वाणी प्रकाशन, दरिया गंज, नई दिल्ली।

18.9 अभ्यास के लिए प्रश्न

1. आई.ए. रिचर्डस के मूल्य-सिद्धांत पर प्रकाश डालिए।
2. रिचर्डस के भाषा-सिद्धांत की उपयोगिता पर विचार कीजिए।
3. रिचर्डस के लय और छंद संबंधी चिंतन के महत्व को स्पष्ट कीजिए।
4. रिचर्डस के मूल्य-सिद्धांत तथा भाषा सिद्धांत चिंतन पर विचार करते हुए उनकी सार्थकता पर प्रकाश डालिए।
5. रिचर्डस के अर्थ-मीमांसा-चिंतन का मूल्यांकन कीजिए।

इकाई 19 नयी समीक्षा (न्यू क्रिटिसिज्म) के प्रमुख सिद्धांत

इकाई की रूपरेखा

19.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- बता सकेंगे कि नयी समीक्षा क्या है और इसका प्रारंभ कब और कैसे हुआ
- नयी समीक्षा के प्रमुख स्रोतों और समीक्षकों के विषय में जानकारी दे सकेंगे
- नयी समीक्षा से जुड़े पारिभाषिक शब्दों तथा उनके माध्यम से प्रतिपादित सिद्धांतों की चर्चा कर सकेंगें
- नयी समीक्षा की प्रमुख प्रवृत्तियों का उल्लेख कर सकेंगे

19.1 प्रस्तावना

बीसवीं शताब्दी के सर्वाधिक महत्वपूर्ण और समृद्ध आलोचनात्मक आंदोलन का नाम 'नयी समीक्षा' अथवा 'नयी आलोचना' (न्यू क्रिटिसिज्म) है। मूलत: इस आलोचनात्मक आंदोलन का उद्भव 'आंग्ल-अमरीकी' आलोचनात्मक प्रवृत्ति के रूप में हुआ। पाश्चात्य आलोचना के क्षेत्र में जब आलोचक की दृष्टि काव्य-कृति की अपेक्षा कृतिकार पर अधिकाधिक केंद्रित होने लगी तब इस रोमाण्टिक दृष्टिकोण के विरुद्ध विद्रोह का स्वर फूटने लगा। वहाँ ऐसे विद्रोही आलोचकों का ऐसा वर्ग उठ खड़ा हुआ जिसने कृतिकार का निषेध कर अपनी समीक्षा का केंद्र कलाकृति या रचना को बनाने का आग्रह किया। इस वर्ग के आलोचकों के मतानुसार समीक्षा की सार्थकता कृति के केंद्र के आलोकन में ही निहित है। यह विचार कई तरह से व्यक्त किया गया कि आलोचक को कृति की सृजन-प्रक्रिया, कृतिकार के सृजन-परिवेश, मनोभूमि आदि से लेना-देना नहीं है। फलतः इस वर्ग के आलोचक रचना (कलाकृति) को एक अखण्ड इकाई मानकर समीक्षा कर्म में प्रवृत्त होते हैं। इन्होंने इस धारणा पर भी पर्याप्त बल दिया कि कलाकृति के कथ्य (content) तथा रूप (form) को खण्ड-खण्ड करके देखते ही उसका समग्र सौंदर्यपरक प्रभाव नष्ट हो जाता है। अत: किसी भी रचना का विवेचन-विश्लेषण उसकी समग्रता या सम्पूर्णता में ही करना चाहिए।

19.2 नयी समीक्षा का प्रारंभ

पश्चिम में रचना या कृति की इस समीक्षा पद्धति को 'नयी समीक्षा' नाम दिया गया। इस शब्द-बंध का सर्वप्रथम प्रयोग कोलंबिया विश्वविद्यालय में तुलनात्मक साहित्य के प्रोफेसर जे.ई.स्पिनगार्न ने 1910ई. में 'दि न्यू क्रिटिसिज्म' शीर्षक अपने लेख में किया। यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्या जिस अर्थ में उन्होंने इस शब्द-बंध का प्रयोग किया था उसी अर्थ में यह शब्द-बंध 'नयी समीक्षा' नामक आंदोलन में भी विकसित हुआ? इसका उत्तर स्पिनगार्न की दृष्टि में ही मिल जाता है। जब वे कहते हैं

कि नयी समीक्षा को कलाकृति के प्रतिपाद्य विषय तक ही ध्यान केंद्रित करना चाहिए उसे सामाजिक और ऐतिहासिक कारणों के पचड़े में क्या लाभ। अभिप्राय यह कि स्वयं स्पिनगार्न कलाकृति को ऐतिहासिक अध्ययन के दबाव और सामाजिक विज्ञानों से मुक्त रखने के पक्षधर रहे हैं। किंतु नयी समीक्षा को एक पद्धति-विशेष के रूप में अपनाने की शुरूआत जान क्रो रैन्सम की पुस्तक से होती है। रैन्सम की इस पुस्तक का नाम है - **'दि न्यू क्रिटिसिज्म'** जिसका प्रकाशन न्यू डायरेक्शंस, न्यूयार्क से 1941 ई. में हुआ। रैन्सम (1889-1974) नयी समीक्षा के उन्नायकों में अग्रगण्य हैं। इन्होंने ही एलेन टेट के साथ 1922 ई. में **'दि फ्युजिटिव'** पत्रिका की शुरुआत की जिसमें प्रथम बार नयी समीक्षा की प्रवृत्तियों के संकल्प-बीज उभर कर सामने आए। हालाँकि यह पत्रिका तीन वर्ष ही चली और रैन्सम को **'केन्यन रिव्यू'** जैसी पत्रिका की स्थापना करनी पड़ी। यह पत्रिका 1939 ई. में प्रकाशित हुई और बहुचर्चित भी रही। रैन्सम की पुस्तक **'द कीनियन क्रिटिसिज्म'** (1951) इसी पत्रिका के लेखों का संग्रह है। आलोचना के क्षेत्र में रैन्सम जिन दो समीक्षात्मक कृतियों के कारण चर्चित हुए उनके नाम हैं - **'दि वर्ल्डस बॉडी'** (1938) और **'दि न्यू क्रिटिसिज्म'** (1941)। **'दि वर्ल्डस बॉडी'** का लक्ष्य काव्य-सिद्धांत का निरुपण और कविता की आलोचना के लिए नया मार्ग निर्मित करना है। रैन्सम के आधारभूत सिद्धांत **'शब्द-विधान'** (टेक्सचर) का रूपभी इसी के भीतर से उभरा और यह धारणा भी कि **अर्थ-विधान** (स्ट्रक्चर) और 'शब्द-विधान' (टैक्सचर) के संघटन से कविता निर्मित होती है।

रैन्सम ने अपनी दूसरी महत्वपूर्ण आलोचनात्मक पुस्तक 'दि न्यू क्रिटिसिज्म' में समकालीन चार महत्वपूर्ण आलोचकों के अध्ययन के उपरांत 'तत्वमीमांसीय आलोचक' (ऑन्टोलॉजिकल क्रिटिक) की महत्व-प्रतिष्ठा की। इन चार लेखों के नाम हैं - आई.ए.रिचर्डस : द साइकॉलॉजिकल क्रिटिक, टी.एस.एलियट : द हिस्टॉरिकल क्रिटिक, ईवोर विटंर्स : द लॉजिकल क्रिटिक तथा वांटेड : एन ऑन्टोलॉजिकल क्रिटिक। प्रथम लेख में रैन्सम ने आई.ए.रिचर्डस को नयी समीक्षा का जनक मानते हुए उनकी समीक्षा-पद्धति का वैशिष्ट्य निरुपित किया। टी.एस.एलियट को 'ऐतिहासिक समीक्षक' नाम इसलिए दिया कि वह कविता को परम्परा के संदर्भ में देखते हैं। इवोर विंटर्स को उन्होंने नैतिकता के बोझ से लड़खड़ाते गद्य का समीक्षक कहा, जिसके वश की बात ही नहीं है कि वह कविता के पाठ का विश्लेषण कर सके। चौथे लेख में रैन्सम ने कविता को 'तत्वमीमांसीय' (ऑन्टोलॉजिकल) माना और कहा कि विज्ञान से निरपेक्ष कविता की स्वतंत्र सत्ता है। कविता का ध्येय उस 'अपूर्व जगत' की खोज करना है जो दृश्यमान संसार की तुलना में ज्यादा सघन और एकदम अगम्य है। ध्यान देने की बात यह है कि यहाँ रैन्सम कविता पर विचार-केंद्रित करते हैं, कवि पर नहीं।

नयी समीक्षा का आरंभ किस समीक्षक से किस समय हुआ यह बात निश्चित तौर पर कहना तो कठिन है किंतु इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता है कि नयी समीक्षा की प्रमुख प्रवृत्तियाँ एलियट और **रिचर्डस** की कृतियों में मिलने लगती हैं। एफ.आर.लीविस ने अपनी पुस्तक 'रिवेल्युएशंस'(1936) में ठीक ही कहा है कि वे उस नए दृष्टिकोण को सामने ला रहे थे जिसकी नींव **एजरा पाउण्ड, टी.एस.एलियट और आई.ए.रिचर्डस** ने रख दी थी।

19.3 नामकरण की उपयुक्तता

प्रश्न उठता है कि इस नए आंदोलन के लिए 'न्यू क्रिटिसिज्म' संज्ञा उपयुक्त है या नहीं। अधिकांश नए आलोचकों के मत का सार यह है कि आलोचना के इस आंदोलन के लिए 'न्यू क्रिटिसिज्म' संज्ञा न तो उपयुक्त है न अर्थपूर्ण। इसका प्रधान कारण यह है कि सभी नए आलोचकों की न तो आलोचनात्मक प्रवृत्तियाँ एक जैसी हैं न धारणाएँ और आस्थाएँ एक जैसी हैं। इनमें तीव्र मतभेद साफ दिखाई देता है। **यह भ्रम भी नहीं होना चाहिए कि 'नयी समीक्षा' ने किन्हीं नए सिद्धांतों अथवा विचारों का प्रतिपादन किया है। हाँ, इतना अवश्य है कि इन नए आलोचकों ने सभी परम्परागत ऐतिहासिक आलोचना-पद्धतियों को अस्वीकार किया है तथा कृतिकार को केंद्र से हटाकर कृति या कलाकृति को विवेचन-विश्लेषण के केंद्र में स्थापित किया है। इतना ही नहीं, कृति के शब्द-विधान (टैक्सचर) पर नए ढंग की प्रविधि या तकनीकी दृष्टि से विचार किया है।**

दरअसल, बहुत से विद्वानों ने 'न्यू क्रिटिसिज्म' संज्ञा में अर्थगत अनिश्चय, संदर्भगत भटकाव और अतिव्याप्ति की शिकायत मुखर-मौन दोनों रुपों में की है। इन विद्वानों ने 'न्यू क्रिटिसिज्म' संज्ञा के स्थान पर 'सौंदर्यपरक रूपवाद' (एस्थेटिक फारमेलिज्म) या फिर 'विश्लेषणात्मक आलोचना' (एनालिटिकल क्रिटिसिज्म) जैसी संज्ञा को प्रयुक्त करने का सुझाव दिया है। क्लीन्थ ब्रुक्स का कथन है कि रैन्सम ने आधुनिक अथवा समसामयिक आलोचना को यह सरल-सीधा और तटस्थ नाम दे दिया है (दे रॉबर्ट बस्टर स्टालमैन द्वारा संकलित ग्रंथ 'क्रिटीक्स एंड एसेज इन क्रिटिसिज्म' के क्लीन्थ ब्रुक्स

द्वारा लिखित 'फोरवर्ड' के अंश, पृ. 16) इसलिए क्लीन्थ ब्रुक्स ने 'न्यू क्रिटिसिज्म' नाम को अर्थहीन घोषित किया है। नयी समीक्षा पर कवि-आलोचक कॉलरिज का प्रभाव-दबाव मानकर प्रो. आर.एस.क्रेन ने ज्यादातर नए समीक्षकों को 'कॉलरिजिअन' नाम दिया है। यह आवाज़ भी खुलकर उठी है कि 'न्यू क्रिटिसिज्म' एक तरह का रूपवाद (नियो फॉर्मेलिज्म) है। किंतु इस आवाज़ का खण्डन यह कह कर किया गया कि 'नयी समीक्षा' मात्र रूपवाद या सौंदर्यपरक रूपवाद नहीं है। रूपवाद की कुछ भाषावादी धारणाओं से मेल खाने पर भी सर्वथा अलग ढंग की आलोचनात्मक प्रवृत्ति है। 'न्यू क्रिटिसिज्म' संज्ञा की अर्थगत अनिश्चितता पर टी.एस.एलियट का ध्यान गया और उन्होंने अपने निबंध 'आलोचना के सीमांत' ('दि फ्रन्टियर्स ऑफ क्रिटिसिज्म', 1956) में लिखा 'लोग नयी समीक्षा शब्द का प्रयोग अक्सर यह समझे बिना करते हैं कि इस शब्द में कितनी अर्थगत विविधता का समावेश है। परंतु इसका प्रचलन इस तथ्य को प्रामाणित करता है कि इस युग के नामी-गरामी आलोचकों में परस्पर कितनी ही भिन्नता क्यों न हो, वे सभी अपने से पहले की पीढ़ी के आलोचकों से किसी-न-किसी महत्वपूर्ण बात में भिन्नता रखते हैं।' इस तरह की शंकाओं-विवादों के उठने पर भी आलोचना के क्षेत्र में न्यू क्रिटिसिज्म' शब्द ही इस व्यापक आलोचनात्मक आंदोलन के रूप में रूढ़ हो गया।

19.4 नयी समीक्षा : प्रमुख स्रोत

बीसवीं शताब्दी में आंग्ल-अमेरिकी आलोचना ने ऐसा विद्रोही तेवर अपनाया कि इस युग को 'साहित्यिक आलोचना में क्रान्ति का युग' घोषित किया गया है। 'नयी समीक्षा' ने एक ओर तो

1. उस स्वच्छंदतावादी दृष्टिकोण के विरुद्ध बगावत की जो कृतिकार को केंद्र में रखकर 'भावावेग के सहज उच्छलन' को महत्व देता था।
2. दूसरी ओर 'कलावाद और सौंदर्यवाद' जिसमें कला को निरपेक्ष सत्ता प्राप्त थी, उसे स्वीकार नहीं किया।

साहित्य में बाहरी विचारधाराओं के प्रभाव से दो अत्यंत शक्तिशाली दृष्टियाँ सक्रिय थीं - (1) मार्क्स की समाजवादी विचारधारा से पोषित मूल्य दृष्टि (2) मनोविश्लेषणवादी प्रभाव से प्रेरित अवचेतन-सिद्धांती विचार-पद्धति। मार्क्स और फ्रायड से प्रेरित-प्रभावित इन दोनों आलोचनात्मक पद्धतियों का बल कर्ता और भोक्ता पर था। इन दोनों के विरोध में खड़े नए आलोचक कलाकृति के पाठ-विश्लेषण की अनिवार्यता को रेखांकित कर रहे थे। इधर ब्लूम्सबरी स्कूल के आलोचक ई.एम.फॉर्स्टर, लिटनस्ट्रैची, रोजर फ्राइ, क्लाइव बैल आदि प्रबल आवेगों से युक्त कृतिकार की अपेक्षा कलाकृति के रूप को महत्वपूर्ण मान रहे थे। इन सभी का कुछ-कुछ विरोध कलावादी-सौंदर्यवादी चिंतकों से था, पर स्वच्छंदतावादियों से इनका सीधा विरोध था। विद्वानों का विचार है कि 'नयी समीक्षा' 1920 के आसपास इंग्लैण्ड में फूटकर 1930 ई. के करीब अमेरिका में तथा इंग्लैण्ड में पनपने लगी। इस समीक्षा के बीज संवेद्य और रुप-तत्वों की अखण्डता विषयक अवधारणा के रूप में अरस्तू में ही मौजूद थे। लेकिन इन बीजों के अंकुरित-पल्लवित होने में फ्रांसीसी बिंबवादियों-प्रतीकवादियों मैथ्यू आर्नल्ड, एजरा पाउण्ड आदि ने अपने ढंग से योगदान किया। इस दिशा में अविस्मरणीय भूमिका अदा करने के लिए एस.टी.कॉलरिज, टी.ई.ह्यूम, जे.ई.स्पिनगार्न, टी.एस. एलियट तथा आई.ए.रिचर्डस का महत्व विशेष रूप से है। कॉलरिज (1772-1834) की 'बायोग्राफिया लिटरेरिया' को 'आधुनिक आलोचना की बाइबिल' कहा ही इसलिए गया है कि उसमें वर्तमान समीक्षा के मूल्यवान संकेत मिलते हैं। ध्यातव्य है कि आई.ए. रिचर्डस तथा एलेन टेट दोनों स्वच्छंदतावाद का विरोध करते हुए भी कॉलरिज की 'बायोग्राफिया' के प्रति आदर भाव से आकृष्ट हैं। वर्तमान समीक्षा पर कॉलरिज के इस प्रभाव को देखकर एस.एन.ग्रेब्सटाइन ने 'पर्सपेक्टिव इन कॉन्टेपोरेरी क्रिटिसिज्म' नामक अपनी समीक्षात्मक कृति में कहा है कि 'नयी समीक्षा' की पद्धति पर तो कॉलरिज की विचारधारा की अमिट छाप है। कॉलरिज ने कल्पना सिद्धांत में माना है कि 'कल्पना' ही वह तत्व है जो दो विरोधी गुणों के बीच सामंजस्य-संतुलन स्थापित करता है। सामान्य-विशेष, नए-पुराने, सम-विषम जैसे विरोधी विपरीतों के बीच सामंजस्य स्थापना का कार्य कल्पना ही करती है। कहना न होगा कि कॉलरिज की इसी विचार से प्रेरणा-संकेत ग्रहण करते हुए अनेक नये समीक्षक अपने-अपने पृथक समीक्षा-प्रतिमान निर्मित करने लगे। कॉलरिज को महत्व देते हुए यहाँ तक माना गया कि रैन्सम के **'अर्थ-विधान' (स्ट्रक्चर), 'शब्द-विधान' (टैक्स्चर)**, एलेन टेट के 'तनाव' (टेंशन), ब्रुक्स के 'विरोधाभास' (पैराडॉक्स) तथा एम्पसन के **'अनेकार्थकता' (ऐम्बिगुइटी)** की सिद्धांत-दृष्टि पर गहरा प्रभाव यदि किसी का है तो वह कॉलरिज ही का है। साथ ही यह भी कहा गया कि 'कल्पना सिद्धांत' में कविता को एक इकाई

(जीवधारी की तरह जीवित आवयविक सत्ता) माना गया है और इस दृष्टि को 'नयी समीक्षा' स्वीकार करती है। नया आलोचक काव्य-भाषा की जिस विचार-संवाद-मुद्रा को ग्रहण किए हुए है वह प्रदेय भी कॉलरिज का ही है।

नयी समीक्षा के एक स्रोत के रूप में जे.ई.स्पिनगार्न (1875-1939 ई.) का महत्व तो है ही, टी.ए.ह्यूम (1883-1917 ई.) को भी भुलाना असंभव है। ह्यूम ने अपने निबंधों में स्वच्छंदतावाद की 'हँसने-हिनहिनाने' और 'रोने-बिलखने' की प्रवृत्ति पर आक्रोश व्यक्त करते हुए कविता में 'भावावेग-विहीन तथा ठोस' बिंबों के निर्माण के लिए जोरदार तर्क दिए। उन्होंने कहा कि समय आ गया है कि हमें रोमानी परम्परा से मुक्त होकर किसी नूतन परम्परा को खोजकर अपना लेना चाहिए। ह्यूम का यही विद्रोही स्वर नयी समीक्षा में निरंतर गूँजता मिलता है। यह कहना अनुचित न होगा कि टी.एस.एलियट के निर्वैयक्तिकता सिद्धांत का आधार ह्यूम के निबंधों में दिखाई दे जाता है जबकि **सच्चे अर्थों में नयी समीक्षा का जन्म टी.एस.एलियट (1888-1965) के चिंतन से ही होता है।** कुछ विद्वानों ने तो **एलियट को ही ' नयी समीक्षा का जनक' स्वीकार किया है।** एलियट की समीक्षात्मक कृतियों में नयी समीक्षा की दृष्टि से 'एजरा पाण्ड : हिज मीट्रिक एंड पोयट्री' (1917) 'दि सेक्रेड वुड : एसेज ऑन पोयट्री एंड क्रिटिसिज्म' (1920), 'होमेज टू जान ड्राइडन : थ्री एसेज आन पोयट्री इन द सवेनटीन्थ सेंचुरी' (1924), 'दांते' (1929), 'सेलेक्टेड एसेज' (1917-1932), 'दि म्यूजिक ऑफ पोयट्री' (1942), 'व्हाट इज़ ए क्लासिक' (1945), 'ऑन पोयट्री' (1947), 'मिल्टन' (1947), 'दि थ्री वाइसेस ऑफ पोयट्री' (1953), 'दि फ्रंटियर्स ऑफ क्रिटिसिज्म' (1956) आदि का नाम उल्लेखनीय है। 'नयी समीक्षा' को दिशा एवं दृष्टि देने के विचार से 'ट्रेडिशन एंड इंडिवुजुअल टेलेन्ट' (1919) का नाम विशेष महत्व रखता है। इसी निबंध में निर्वैयक्तिक सिद्धांत की स्थापना में कविता और कवि के अंतर को स्पष्टता से सामने रख दिया गया है। इसी निबंध ने लगभग सभी नए समीक्षकों को किसी न किसी स्तर पर प्रभावित किया। एलेन् टेट पर तो इस निबंध का जादू सिर चढ़कर बोला। भले ही दबे कंठ से ही सही एलियट ने कहा कि एक सिद्ध कवि की कविता में भाव पक्ष और कला पक्ष एकाकार हो जाते हैं अर्थात कविता एक अखण्ड इकाई है जिसके काव्य सौंदर्य पर समग्रता में विचार होना चाहिए। इतना ही नहीं ज्यादातर नए समीक्षकों ने काव्य-भाषा, बिंब, प्रतीक, रूपक, लय और संगीत के आधार पर जिन कविताओं का पाठ-विश्लेषण किया है उस विश्लेषण-पद्धति पर एलियट का प्रभाव साफ दिखाई देता है। सच बात तो यह भी है कि एलेन टेट, क्लीन्थ ब्रुक्स, एफ.आर.लीविस, ब्लैकमर, एम्पसन आदि परम्परा के प्रति जिस ढंग से अपना रुझान व्यक्त करते हैं उसपर एलियट की पूरी छाया और छाप है। स्वयं जे.सी.रैन्सम ने 'दि न्यू क्रिटिसिज्म' में कृतज्ञ भाव से कहा है कि एलियट ही 'नयी समीक्षा' के सर्वाधिक प्रेरणादायी स्रोतों में से एक हैं।

'नयी समीक्षा' एक महान प्रेरक स्रोत के रूप में सभी नए आलोचक आई.ए.रिचर्डस (1893-1980) को गहन श्रद्धा के साथ स्मरण करते हैं। रिचर्डस अर्थ-विज्ञान के माध्यम से 'नयी समीक्षा' के क्षेत्र में आए। **उन्होंने भाषिक विश्लेषण की जिस पद्धति को** जन्म दिया उसे लगभग सभी नए आलोचकों ने आधार-भूमि के रूप में अपनाया। रैन्सम ने घोषित तौर पर कहा कि 'नयी समीक्षा बहुत कुछ उन्हीं से आरंभ हुई' (दि न्यू क्रिटिसिज्म, पृ.3)। वास्तव में, रिचर्डस के काव्य-चिंतन के दो प्रमुख आधार हैं - (1) काव्य की दृढ़ मनोवैज्ञानिक पीठिका; और (2) काव्य का शब्दार्थ प्रधान रूपात्मक विश्लेषण और मूल्यांकन। रिचर्डस को अच्छी तरह समझने के पश्चात ही क्लीन्थ ब्रुक्स ने रिचर्डस के काव्य-चिंतन को तनाव या अंतर्द्वंद्व का सिद्धांत कहा है। सच्चाई यही है कि रिचर्डस की काव्य-मूल्य विषयक धारणा का आधार पाठक या आस्वादक के चित्त में उत्पन्न तनाव या अंतर्द्वंद्व की समाहिति ही है। जो काव्य अथवा कृति पाठक के चित्त में विरोधी भावों के सामंजस्य में जितनी सफल होती है उतना ही अधिक उसका 'मूल्य' होता है। 'मूल्य' का अर्थ है पाठक के चित्त में विद्यमान विविध प्रकार की विरोधी चित्तवृत्तियों में संतुलन या समीकरण की क्षमता। कलाकृति यह कार्य कथ्य और रुप, दोनों के द्वारा करती है। काव्य का 'मूल्य' है - अंतर्वृत्तियों के संतुलन या सामंजस्य से उत्पन्न (निष्पन्न) परितोष। यही मूलत: काव्य का नैतिक मूल्य है। सफल-सार्थक कृति या काव्य अंतर्वृत्तियों में तनाव उत्पन्न करने के बाद अंत में उनमें सामंजस्य स्थापित करता है। कृति के रूप-विधान, शब्दार्थ-लय-छंद विधान अर्थात पाठ के रूपात्मक विश्लेषण के साथ सम्प्रेषण व्यापार की क्षमता से युक्त रागात्मक भाषा (इमोटिव यूज ऑफ लैंग्वेज), प्रयोग की सामर्थ्य के द्वारा रिचर्डस ने अर्थ-विज्ञान के नए आयामों का उद्‌घाटन किया। एक प्रकार से काव्य की निर्मिति में लक्षणा-व्यंजना, वक्रता, विरोधाभास, विडम्बना आदि पर ध्यान केंद्रित करते हुए रिचर्डस ने 'दि मीनिंग ऑफ मीनिंग' (1923) पुस्तक में 'नयी समीक्षा' के लिए आधारभूमि तैयार कर दी। इस पुस्तक से सूत्र संकेत ग्रहण करते हुए नए समीक्षकों ने अर्थ के स्वरूप-विवेचन की

अनेक विधियों का नए ढंग से विकास किया। भाषा के विविध रुपों की जो गहन विश्लेषण-पद्धति उनकी पुस्तक 'दि प्रैक्टिकल क्रिटिसिज्म' (1929) में दृष्टिगत होती है वह 'दि मीनिंग ऑफ मीनिंग' से ही आरंभ हो जाती है। यहीं से अलग-अलग कविताओं के गंभीर पाठ-विश्लेषण की परम्परा का सूत्रपात होता है जिसे 'नयी समीक्षा' ने पूरे मनोयोग से ग्रहण किया है। 'प्रिंसिपल्स ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म' (1924) में रिचर्डस ने भाषिक विश्लेषण की पद्धति में भाषा के वैज्ञानिक प्रयोग तथा काव्यात्मक प्रयोग के अंतर को स्पष्ट किया। यह बात अलग है कि उनके इस मत के बारे में बाद में विद्वानों में मतभेद हुआ। सार संक्षेप यह कि रिचर्डस ने अपनी आलोचनात्मक कृतियों से नए आलोचकों को साहित्यिक कृतियों के सूक्ष्म गहन विवेचन-विश्लेषण और मूल्यांकन की प्रेरणा दी है।

19.5 नयी समीक्षा के आरंभ में युग परिवेश की भूमिका

नयी समीक्षा का उद्‌भव और विकास **दो विश्व-युद्धों की ध्वंसात्मक चेतना के बीच** हुआ। स्वभावतः इस समीक्षा-पद्धति पर अस्तित्ववादी विचारधारा का प्रभाव पड़ा। ज्याँ पाल सार्त्र ने अस्तित्ववाद का मूल सूत्र देते हुए कहा है कि पहले अस्तित्व होता है बाद में तत्त्व या सार (एग्ज़िस्टेन्स प्रिसीड्स एसेन्स)। अस्तित्वादी विचारधारा की भाँति ही नयी समीक्षा यह मानती है कि कविता या नाटक एक कलाकृति है - मात्र भाव या विचार नही। कविता में जितना महत्व 'टेक्स्चर' (शब्द-विधान अथवा रुप-विधान) का है, अर्थ-विधान (स्ट्रक्चर) का उतना नहीं। जान क्रो रैन्सम कविता में शब्द-विधान या रुप-विधान को प्रधानता देते हैं। इस प्रकार की दृष्टि पर अस्तित्ववाद की विचारपरक छाया है। अस्तित्ववाद के अनुसार जीवन का अस्तित्व वर्तमान में ही है। इसी सूत्र को पकड़कर नयी समीक्षा सभी पुरानी ऐतिहासिक समीक्षा पद्धतियों का निषेध करती है। अस्तित्ववाद अपनी पूरी ताकत से दर्शन और विज्ञान का विरोध करता है - और ठीक यही स्थिति नयी समीक्षा में मिलती है। दर्शन से पल्ला झाड़कर ही नयी समीक्षा आधुनिक भाषाशास्त्र और बिंबवाद का सहारा लेती है। काव्य की अर्थ-मीमांसा के पीछे मूर्त्त-गोचर यथार्थ अनुभव और कृति में अनुभूति की ईमानदारी और प्रामाणिकता का आग्रह है।

बीसवीं शताब्दी के आधुनिकतावादी चिंतन की व्यक्तिवादिता के मूल में औद्योगीकरण और वैज्ञानिक अनुसंधान से प्राप्त 'प्रगति' और 'विकास' का मॉडल ही सक्रिय है। आत्म-निर्वासन, श्रम के परायेपन से उत्पन्न पीड़ा, यंत्रणा, कुंठा, अकेलापन के कारणों में पूँजीवाद-साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद का कसता हुआ पंजा है। आधुनिक विज्ञान, संचार क्रान्ति और उद्योग तीनों ने मिलकर काव्य की सार्थकता पर ही प्रश्न-चिह्न लगा दिया। आधुनिक प्रगति ने मानव को भीतर से छीलकर एक सांस्कृतिक संकट के सामने खड़ा कर दिया, जिसमें एक मूल्य-विहीन समाज का जन्म हुआ। प्रथम विश्व-युद्ध ने एक ऐसी मूल्यांधता की स्थिति को जन्म दिया कि विश्व की सांस्कृतिक शक्तियाँ चकराकर निराशा-अनास्था में गर्क होती दिखलाई पड़ने लगीं। जे.वी.क्रच ने 'दि मॉडर्न टेम्पर' शीर्षक पुस्तक में मॉडर्न टेम्पर के मूल में निषेध और नकारवादी मानसिकता की एक ऐसी तस्वीर पेश की है जिसका साम्य टी.एस.एलियट के 'हॉलोमैन' या खोखला आदमी में मिलता है। आत्मघाती मूल्यांधता के इसी अंधकार को **लायइन ट्रिलिंग** ने **'दि मॉडर्न एलिमेंट इन मॉडर्न लिटरेचर'** में मानसिक विक्षिप्तता, अजनबीपन, बौद्धिक-नैतिक-आध्यात्मिक-सांस्कृतिक पतन से जोड़कर 'जीवन के आधुनिक अभिशापों' का बखिया उधेड़कर सामने रख दिया है। **'अमानवीकरण'** (डि-ह्यूमेनाइजेशन) और **'आत्म-निर्वासन'** (सेल्फ-एलीनिएशन) की इस प्रक्रिया के मूल में विश्व पर आघात करते सांस्कृतिक साम्राज्यवाद की चोट के रिसते घाव हैं। **टी.एस.एलियट** इन्हीं घावों की पीड़ाओं से बेचैन होकर **'वेस्टलैण्ड'** जैसी लम्बी कविता में मानवीय संवेदना के बंजरपन की कहानी कहते हैं। एलियट से पहले स्वयं मैथ्यू आर्नल्ड **'कल्चर एण्ड एनार्की'** में नाशोन्मुख यूरोपीय समाज के दु:स्वप्न देखते हैं। दु:स्वप्न क्यों देखते हैं? उन्हें पता है कि डार्विन, मिल, स्पेंसर के युग ने धर्म का विनाश कर दिया है। ऐसी स्थिति में धर्म का स्थान कविता ही ले सकती है। नयी समीक्षा के जनक एलियट और नयी समीक्षा के प्रवर्तक जान क्रो रैन्सम का झुकाव यों ही मैथ्यू आर्नल्ड की ओर नहीं है - उसके गहरे ऐतिहासिक-सांस्कृतिक कारण हैं। इन्हीं कारणों को तार्किक ढंग से **एफ.आर.लीविस** अपनी पुस्तक **'मास सिविलाइजेशन एंड माइनॉरिटी कल्चर'** में प्रस्तुत कर देते हैं कि कैसे यूरोपीय संस्कृति का पतन और यांत्रिक मानव के विवेक का क्षरण हुआ है। इस अंधे युग में यदि थोड़ी से रोशनी की किसी से या कहीं से उम्मीद की जा सकती है तो थोड़े से विवेक वयस्क चिंतकों-बौद्धिकों-रचनाकारों से ही। नए समीक्षकों को इस बात का श्रेय देना पड़ेगा कि अपनी बहुत सी कमज़ोरियों के बावजूद इन सभी ने इस अंधेरे में अपनी बौद्धिक मशाल जलाकर एक महत्वपूर्ण दायित्व के निर्वाह का प्रयत्न किया।

नए समीक्षकों ने अपने दायित्व को समझकर ही रोमानी प्रवृत्तियों के विरोध का बीड़ा उठाया और विक्टोरियन युग के साहित्य की नैतिक मर्यादावादी दृष्टि के ऊपर से पड़ी भ्रम की चादर उठा दी। मार्क्सवादी-यथार्थवादी चिंतकों के प्रचारवाद के झूठ को समझते हुए इस विचारधारा का विरोध किया और फ्रायड के अवचेतन सिद्धांतों के मनोरोगी मानव की उपेक्षा कर नये समीक्षक आगे बढ़े। नये समीक्षकों ने परम्परा का पुनर्मूल्यांकन किया और साहित्य पर पुनर्विचार के लिए कदम उठाया। रूसो के चिंतन पर प्रश्न-चिह्न लगाते हुए बैबिट और ह्यूम ने उन्नीसवीं शताब्दी के जीर्ण-शीर्ण सोच से मुक्ति पाने की जोरदार पहल की। नये-समीक्षको ने यह प्रयास किया कि सांस्कृतिक परम्परा को नए ढंग से पुनः परिभाषित और जीवित किया जा सकता है। आगे चलकर हम देखेंगे कि नयी समीक्षा की प्रमुख प्रवृत्तियाँ इसी सत्य से साक्षात्कार कराती हैं। यह बात भी ठीक-ठीक संदर्भो में समझनी जरूरी है कि नयी समीक्षा की महत्व प्रतिष्ठा के मूल में रोमानी काव्य मूल्यों का विरोध भर नही है। बीसवीं शताब्दी में ज्ञान-विज्ञान का नए ढंग से विस्फोट और ज्ञान के अनेक अनुशासनों के उदय के इस पूरे परिवेश ने कलाकृति की प्रकृति पर गहरा प्रभाव डाला। नए ज्ञान-विज्ञान की अनेक नयी शाखाओं से नये समीक्षकों को नयी अंतर्दृष्टि मिली। फलत: समीक्षा में विद्वता का नया अर्थ-संदर्भ भी जुड़ गया।

19.6 प्रमुख समीक्षक

बीसवीं शताब्दी के चौथे-पाँचवे दशकों में एलियट से परम्परा की दृष्टि और रिचर्डस से कृति के पाठ-विश्लेषण की गंभीर अध्यापन दृष्टि लेकर इंग्लैण्ड और अमेरिका में जो महत्वपूर्ण नए समीक्षक उभरे हैं उनमें जान क्रो रैन्समन, एफ.आर.लीविस, केनेथवर्क, एलेन टेट, ईवोर विन्टर्स आर.पी.ब्लैकमर, रॉबर्टपेन वारेन, क्लीन्थ ब्रुक्स तथा विलियम एम्पसन के नाम उल्लेखनीय हैं। यहाँ इन नए आलोचकों की संक्षिप्त चर्चा करना अपेक्षित है।

जान क्रो रैन्सम (1888-1974) नयी समीक्षा के सर्वाधिक महत्वपूर्ण व्यक्तित्व का नाम है - अमरीकावासी जान क्रो रैन्सम। नयी समीक्षा का नामकरण इनकी पुस्तक 'न्यू क्रिटिसिजम' (1941) के शीर्षक की स्वीकृति से हुआ। 1922 में इन्होंने नयी समीक्षा की प्रवृत्तियों को उजागर करने वाली पत्रिका 'दि फ्यूजिटिव' का सम्पादन एलेन टेट के साथ किया। नयी समीक्षा के क्षेत्र में अविस्मरणीय पत्रिका 'केन्यन रिव्यू' (1939 ई.) का सम्पादन भी रैन्सम ने लम्बे समय तक किया। आलोचना जगत में रैन्सम की तीन कृतियाँ बहुचर्चित हैं - 'दि वर्ल्ड्स बॉडी' (1938), 'दि न्यू क्रिटिसिजम' (1941), तथा 'दि केन्यन क्रिटिक्स' (1951)। उन्होंने देखा था कि ज्यादातर कवि अपनी रचना की स्वयं समीक्षा लिख देते हैं और इससे कृति के साथ न्याय नहीं हो पाता। जबकि यह बात दूसरी है कि अन्य कवियों की कविताओं की सबसे अच्छी समीक्षाएँ कवियों ने ही की हैं। रैन्सम विश्वविद्यालयों के प्रोफेसर-समीक्षकों से ही साहित्य-समीक्षा की विवेकवान प्रतिभा की उम्मीद करते हैं - कोरे पत्रकारों और दार्शनिकों से नहीं।

रैन्सम का आधारभूत सिद्धांत है - शब्द-विधान या रूपात्मकविश्लेषण (टैक्सचर)। वे शब्द-विधान और अर्थ-विधान (स्ट्रक्चर) के सहभाव संबंध से ही कविता का जन्म मानते हैं किंतु 'अर्थ-विधान' को सहायक और शब्द-विधान को प्रधान मानकर ही कविता के विश्लेषण में प्रवृत्त होते हैं।

एफ.आर. लीविस (1895-1978) : फ्रैंक रेमंड लीविस का जन्म इंग्लैण्ड में हुआ। सांस्कृतिक दृष्टि और विद्रोही स्वभाव के कारण बहुत से विद्वान इन्हें 'नयी समीक्षा' आंदोलन में रखने पर आपत्ति करते हैं। किंतु कृति के गहन विश्लेषण में आस्था के साथ प्रवृत्त होने के कारण इन्हें अनमने भाव से इस प्रवृत्ति में जगह दे दी जाती है। 1932 में लीविस ने एल.सी.नाइट्स के सहयोग से आलोचनात्मक पत्रिका 'स्क्रूटिनी' का प्रकाशन-सम्पादन किया। विशेष बात यह है कि नये समीक्षकों के बीच लीविस की आलोचनात्मक कृतियाँ बहुत सम्मानित रही हैं। इनमें से कुछ नाम इस प्रकार हैं - 'मास सेविलिज़ेशन एंड माइनॉरिटी कल्चर' (1930), 'न्यू बिअरिंग्स इन इंग्लिश पोयट्री : ए स्टडी ऑफ ए कॉन्टेम्पोरेरी सिचुएशन' (1932), 'फॉर कॉन्टीनुइटी' (1933), 'रिवैल्युएशन : ट्रेडिशन एंड डवलपमेंट इन इंग्लिश पोयट्री' (1936), 'एजूकेशन एंड द यूनिवर्सिटी : एन स्केच फार एन इंग्लिश स्कूल' 1943), 'दि ग्रेट ट्रेडिशन' (1948), 'दि कॉमन परस्यूट' (1952), 'इंग्लिश लिटरेचर इन अवर टाइम्स एंड द यूनिवर्सिटी' (1969), तथा 'थॉटस, वर्ड्स एण्ड क्रिएटिविटी : आर्ट एण्ड थॉट इन लॉरेंस' 1976) आदि। ध्यातव्य यह है कि उनकी पाठालोचन पद्धति पर एलियट और रिचर्डस का गहरा प्रभाव है। 'रिवैल्युएशन' में लीविस ने एलियट की भाँति उस सांस्कृतिक परम्परा को स्थापित किया जिसका आरम्भ सत्रहवीं शताब्दी में होता है। लीविस ने साफ कहा कि 'कवि जीवित ही परम्परा में रहते हैं और परम्परा उनमें जीवित रहती है।'

केनेथ बर्क (1897) : केनेथ बर्क 'नयी समीक्षा' में अपनी विशिष्ट आलोचनात्मक कृतियों के लिए प्रसिद्ध रहे हैं। उनकी प्रमुख कृतियों में 'काउंटर स्टेटमेंट' (1931), 'पर्मानेंस एंड चेंज : एन एनाटॉमी ऑफ परपज़' (1935), 'दि फिलासफी ऑफ लिटरेरी फॉर्म : स्टडीज़ इन सिम्बालिक ऐक्शन' (1941), 'ए ग्रामर ऑफ मोटिव्स' (1945), 'लैंग्वेज ऐज सिम्बॉलिक ऐक्शन : एसेज आन लाइफ, लिटरेचर एंड मेथड' (1966) आदि। 'नयी समीक्षा' में इन पुस्तकों के अतिरिक्त उनकी एक अन्य पुस्तक 'एटीट्यूड्स टुवर्ड्स हिस्ट्री' बहुत चर्चित रही हैं। 'काउंटर स्टेटमेंट' के निबंधों में बर्क ने जिस आलोचना दृष्टि की स्थापना की है आगे चलकर काव्य-विश्लेषण की पद्धति में उसका विकास हुआ। इसी कृति में बर्क ने रूप-तत्व पर गहन चिंतन प्रस्तुत किया तथा अपने प्रसिद्ध सिद्धांत 'प्रतीक व्यापार' (सिम्बॉलिक ऐक्शन) की नींव डाली है। उनके मत से प्रतीक 'अनुभूति व्यापार का शाब्दिक प्रतिरुप' है। उनकी पूरी आलोचना दृष्टि का आधार यह है कि कविता एक प्रतीक व्यापार है तथा कविता पर इसी रूप में कविता पर विचार होना चाहिए। बर्क की रुचि सिर्फ कविता में है, वे कवि के विषय में कुछ भी जानना नहीं चाहते। कविता के पदान्वय 'पैराफ्रेज' के माध्यम से काव्यार्थ संभव है। बर्क के साथ कठिनाई यह है कि वे मार्क्सवाद, फ्रायडवाद, भाषाशास्त्र का समाहार कर कविता के विवेचन को उलझा देते हैं।

एलेन टेट (1899-1979) : रैन्सम के प्रतिभाशाली शिष्य एलेन टेट कवि-आलोचक के रूप में प्रसिद्ध रहे हैं। अपने समय की ज्यादातर महत्वपूर्ण पत्रिकाओं के सम्पादन से वे जुड़े रहे हैं। जैसे, 'फ्यूजिटिव' (1922-25), 'हाउंड एंड हार्न' (1931-34), 'केन्यन रिव्यू' (1939-42), तथा 'सिवानी रिव्यू' (1944-46)। उनके महत्वपूर्ण ग्रंथ हैं - ''रिएक्शनरी एसेज ऑन पोयट्री एंड आइडियाज़' (1936), 'रीजन इन मैडनैस : क्रिटिकल एसेज : (1941), 'इनविटेशन टु लर्निंग' (1941), 'ऑन दि लिमिट्स आफ पोयट्री सेलेक्टेड एसेज' (1928-48), 'दि ट्रान्सलेशन ऑफ पोयट्री' (1972) आदि। एलेन टेट ने श्रेष्ठ काव्य का प्रतिमान 'तनाव' (टेंशन) माना है - एक्सटेंशन (बाहरी तनाव) तथा 'इंटेंशन' (भीतरी तनाव)। बाहरी तनाव का अर्थ है - कविता की गति और तर्कसंगति तथा भीतरी तनाव का अर्थ है - कविता में निहित भाव-विचार और उसका उक्तिमूलक विकास। टेट पर टी.एस. एलियट का प्रभाव है - वे विचार और बिंब के सामंजस्य को मानते हैं और मिल्टन के 'पैराडाइज लास्ट' की इस दृष्टि से सराहना करते हैं। परम्परा, निर्वैयक्तिकता को एलियटीय संदर्भ में ग्रहण करते हैं और कृति को एक अखण्ड इकाई मानकर उसके मूल्यांकन के पक्षधर हैं।

ईवोर विन्टर्स (1900-1968) : अमेरिका के इस प्रतिष्ठित आलोचक ने कविता के सूक्ष्म पाठ विश्लेषण पर बल देने के साथ ही नैतिकतावादी दृष्टिकोण अपनाया। इसीलिए रैन्सम इनकी नैतिकतावादी दृष्टि का विरोध करते हैं, पर कविता के पाठ-विश्लेषण के लिए इनकी सराहना भी करते हैं। मूलतः इनकी समीक्षा-पद्धति कविता के संगठनात्मक गुणों के सौंदर्य से साक्षात्कार कराती है। इनके कार्य के इस महत्व के कारण ही इन्हें 'नयी समीक्षा का पैगम्बर' तक कहा गया है। इन्होंने अमेरिकन प्रयोगात्मक कविता का अध्ययन किया। इनकी प्रथम आलोचनात्मक कृति 'प्रिमिटविज्म एंड डिकेडेंस' (1937) नाम से प्रकाशित हुई तथा 1943 में 'दि एनाटॉमी ऑफ नॉनसेन्स' लिखकर इन्होंने रोमानी आलोचना को मटियामेट कर दिया। इनकी पुस्तक 'इन डिफेंस आफ रीजन' (1947) का प्रकाशन बहुचर्चित हुआ। 'दि फंक्शन आफ क्रिटिसिज्म : प्राब्लम्स एंड एक्सरसाइज़ेज' (1957), 'ऑन मॉडर्न पोयट्स' (1959), 'फॉर्म्स आफ डिस्कवरी : क्रिटिकल एंड हिस्टॉरिकल एसेज आन द फॉर्म्स आफ द शॉर्ट पोयम इन इंगलिश' (1967) आदि कृतियों में काव्य और नैतिकता पर अनेक पक्षों से विचार किया। 'दि एक्सपेरिमेंटल स्कूल इन अमेरिकन पोयट्री' में इन्होंने कहा कि रूपात्मक पद्धतियाँ सात प्रकार की मानी जा सकती हैं - (1) पुनरावृत्ति की पद्धति (द मेथड आफ रिपीटीशन) (2) तार्किक पद्धति (लॉजिकल मेथड) (3) विवरणात्मक (नैरेटिव) (4) छद्म निर्देश (स्यूडो रिफरेन्स) (5) गुणात्मक प्रगति (क्वालिटेटिव प्रोग्रेशन) (6) पद्धति परिवर्तन (द आल्टरेशन आफ मेथड); और (7) दुहरी चित्तवृत्ति (द डबल मूड)। भाषा में ज्ञान (पर्सेप्ट) और धारणा (कॉन्सेप्ट) के बीच निष्पत्तिमूलक धारणा के लिए इन्हें ख्याति मिली। ये विश्वविद्यालयों में प्रचलित रोमानी आलोचना के घोर विरोधी हैं।

रिचर्ड पामर ब्लैकमर (1904-1965) : नयी समीक्षा पद्धति के विशिष्ट सिद्धांतों का प्रयोग करने वाले नये समीक्षकों में ब्लैकमर प्रसिद्ध रहे हैं। कलाकृति में, विचार, कल्पना, बिंब के संबंधों पर इन्होंने अपनी समीक्षात्मक कृतियों में विचार किया है। इस कवि-समीक्षक की प्रमुख कृतियाँ हैं - 'दि एक्सपेंस ऑफ़ ग्रेटनेस' (1940), 'लैंग्वेज ऐज जेस्चर : एसेज इन पोयट्री' (1952), 'द डबल एजेंट : एसेज इन क्राफ्ट एंड एजुसिडेशन' (1935) आदि। इन्होंने 'डबल एजेंट' में कविता के पाठ-विश्लेषण (रचना विधान और संगति) पर गम्भीरता से विचार किया है। 'लैंग्वेज ऐज जेस्चर' में भाषा पर सूक्ष्म गहन

अध्ययन प्रस्तुत किया है। उनके इसी भाषिक विश्लेषण से उनके 'भंगिमा सिद्धांत' का जन्म हुआ है। उनके अनुसार कविता को एक अखण्ड, तर्कसंगत रचना-विधान से मुक्त एक ऐसी इकाई होना चाहिए कि उसके सभी घटक मिलकर एक जान पड़ें। विशेष बात यह है कि इन्होंने कलाकृति को साहित्यिक मानदंडों के साथ साहित्येतर मानदंडों से भी परखने पर ज़ोर दिया है।

रार्बट पेन वारेन (1905) : क्लीन्थ ब्रुक्स के सहयोगी इस अमरीकी समीक्षक ने 'नयी समीक्षा' की पद्धति को नया मोड़ दिया। ये ब्रुक्स के साथ 'सदर्न रिव्यू' (1935-42) पत्रिका में रहे तथा 'केन्यन रिव्यू' के परामर्शदाता सम्पादक रहे। ब्रुक्स के साथ तीन आलोचना पुस्तकों का लेखन किया - (1) 'अंडरस्टैंडिंग पोयट्री' (1938) (2) 'एन एप्रोच टु लिटरेचर' (1941); तथा (3) 'अंडरस्टैंडिंग फिक्शन' (1943) इनके आलोचनात्मक लेखों का संग्रह ''सेलेक्टेड एसेज'' (1958) नाम से आया। इसी में 'प्योर एंड इम्प्योर पोयट्री' शीर्षक प्रसिद्ध निबंध को स्थान मिला। इनकी दो प्रसिद्ध आलोचना-पुस्तकें और हैं - (1) 'ए प्ली इन मिटिगेशन : मॉर्डर्न पोयट्री एंड द एंड ऑफ़ एन एरा' (1966); तथा (2) 'डेमोक्रेसी एंड पोयट्री' (1975)। इनकी शुद्ध काव्य विषयक धारणा पर मलार्मे, रेम्बू, बादलेयर का प्रभाव है - पर कहने का ढंग नया है कि कविता को शुद्ध होना चाहिए। कविता में ऐसी कोई मानव-अनुभूति नहीं है जो वर्जित हो।

क्लीन्थ ब्रुक्स (1906) : बहुत समय तक ब्रुक्स 'नये समीक्षक' कहलाने से बचते रहे। किंतु विचित्र संयोग यह घटित हुआ कि इनके भीतर की 'नयी समीक्षा' का आलोचनात्मक मुहावरा पूरी शक्ति से फूट-फट पड़ा। रेने वेलेक ने 'कांसेप्ट्स आफ क्रिटिसिज्म' शीर्षक पुस्तक में पूरी बहस उठाने के बाद कहा है अमरीका के आलोचकों में ब्रुक्स ही सच्चे अर्थों में रूपवादी समीक्षक हैं। नयी समीक्षा की महत्व-महिमा स्थापित करने में ब्रुक्स का साथ रार्बट पेन वारेन ने दिया तथा तीन पुस्तकें साथ-साथ लिखीं हैं। इन तीनों में 'अंडरस्टैंडिंग पोयट्री' (1938) नयी समीक्षा का व्यावहारिक रूप प्रस्तुत करती है - इसे नयी समीक्षा के क्षेत्र में 'कविता का अध्ययन' करने वाली 'सर्वश्रेष्ठ नियम व्यवहार पुस्तक' (बेस्ट मैनुअल) माना जाता है। ब्रुक्स ने 'दि वेल रॉट अर्न' नामक अपनी पुस्तक में कविता के अध्ययन में 'पदान्वय' का तीव्र विरोध किया। 'मॉर्डर्न पोयट्री एंड ट्रेडिशन' (1939) पुस्तक में उन्होंने रूपक और विदग्धता पर विचार करने के बाद 'मेटाफिजिकल' और 'सिम्बालिस्ट' कवियों पर विचार किया पर बार-बार इस बात पर ज़ोर दिया कि संवेद्य-तत्व और रूप-तत्व का विभाजन कविता में स्वीकार नहीं किया जाना चाहिए क्योंकि कविता एक अखण्ड इकाई है। 'दि शेपिंग ज्वॉइ' (1971) के लेखों में फिर कृतिकार की अपेक्षा कृति पर ध्यान दिलाया और विमसाट की दोनों अवधारणाओं - अभिप्रायपरक हेत्वाभास (इंटेंशनल फैलेसी - कवि की ओर से) तथा प्रभावपरक हेत्वाभास (एफेक्टिव फैलेसी - पाठक की ओर से) पर ध्यान दिलाकर दोनों को समीक्षा के क्षेत्र में भ्रामक सिद्ध किया। 'पोयट्री इन दि एज आफ एंगज़ाइटी' (1947), 'लिटरेरी क्रिटिसिज्म : ए शॉर्ट हिस्ट्री' (डब्ल्यू.के.विमसाट के साथ - 1957), 'दि हिडिन गॉड : स्टडीज इन हेमिंग्वे, फाकनर, यीट्स, एलियट एण्ड वारेन' (1963) और 'दि पोयट्री आफ टेंशन' (1971) आदि रचनाओं में प्रस्तुत उनके मत से कविता में अर्थों-अभिप्रायों-मूल्यांकनों की संरचना का बड़ा महत्व है।

कविता में अन्विति और सामंजस्य का महत्व बताते हुए उन्होंने कहा है कि कविता की संरचना में अनेकार्थता, विरोधाभास, जटिलता, और वक्रता का समावेश हो तो क्या कहना। कहना न होगा कि ब्रुक्स ने रूप-विधान के लिए ही 'संरचना' शब्द का प्रयोग किया है और कहा है कि समग्र सौंदर्य हरे-भरे पौधे की तरह होता है, कृत्रिम गुलदस्ते की तरह नहीं। उनकी इस धारणा ने बहुत आदर पाया है। ब्रुक्स का 'विरोधाभास का सिद्धांत' भारतीय काव्य-सिद्धांत - वक्रोक्ति से बहुत समानता रखता है। ब्रुक्स ने कविता को समझने के लिए साहित्यिक आलोचना में साहित्यिक वैदुष्य के योग को बहुत महत्व दिया है क्योंकि यह दोनों मिलकर ही काव्यार्थ की जटिलता खोल पाते हैं।

विलियम एंपसन (1906) : आई.ए.रिचर्डस के मेधावी शिष्य एम्पसन ने कविता के शाब्दिक विश्लेषण को एक नयी व्यवस्था प्रदान की है। वे काव्य में 'एम्बीगुइटी' (अनेकार्थता) के चतुर विश्लेषक हैं। रिचर्डस तथा जे.ब्रॉनॉस्की के साथ मिलकर एम्पसन ने ''एक्सपेरिमेंट'' (1928-29) का सम्पादन किया। उनकी महत्वपूर्ण आलोचनात्मक पुस्तक हैं - 'सेवेन टाइप्स आफ ऐंबिगुइटी : ए स्टडी ऑफ इट्स एफेक्ट्स आन इंग्लिश वर्स' (1930), 'सम वर्सेज़ ऑफ पैस्टोरल' (1935), 'दि स्ट्रक्चर ऑफ काम्प्लेक्स वर्ड्स' (1951) तथा 'मिल्टन्स गॉड' (1962)। इनमें लोकप्रियता की दृष्टि से 'सेवेन टाइप्स आफ ऐंबिगुइटी' का नाम अविस्मरणीय है। उनके 'अनेकार्थकता के सिद्धांत' को यही पुस्तक शाब्दिक विश्लेषण की कला से सामने लाती है। अनेकार्थता के वे सात भेद करते हैं - यह पूरा आग्रह कविता के शाब्दिक विश्लेषण पर टिका हुआ है।

19.7 नए समीक्षको के आलोचनात्मक अध्ययन से प्राप्त सार

नए आलोचकों के इस विवरण से स्पष्ट है कि 'नयी समीक्षा' के इन आलोचकों में अनेक भिन्नताओं के बावजूद कुछ समानताएँ हैं - (1) ये सभी समीक्षक ऐतिहासिक आलोचना पद्धतियों को अस्वीकार करते हैं (2) कलाकृति की अखण्डता पर सभी का आग्रह है (3) प्रभाववादी तथा रोमानी आलोचना पर सभी प्रहार करते हैं (4) सभी कविता की अपने ढंग से समीक्षा करते हैं - पर ये किसी वाद, गुट, सम्प्रदाय या विचारधारा-विशेष का समर्थन नहीं करते (5) इन सभी पर अस्तित्ववादी चिंतन का गहरा प्रभाव है (6) परम्परा के प्रति इन सभी में एलियटीय ढंग का आदर-भाव भी कम नहीं है।

वास्तव में इन सभी में कविता के प्रतिमान भी एक से नहीं हैं। एक समीक्षक 'तनाव सिद्धांत' पर बल देता है, दूसरा 'विरोधाभास के सिद्धांत' पर, तीसरा 'शब्द-विधान' पर चौथा 'अनेकार्थता' पर। निष्कर्ष यह है कि नयी समीक्षा का यह आलोचनात्मक आंदोलन मात्र रोमानी मूल्यों के विरोध तक सीमित नहीं है। इसमें अपने देश और काल की चिंताओं-चुनौतियों की भी गहरी अनुगूँज है।

19.8 विशेष पारिभाषिक शब्दों पर विचार

नयी समीक्षा के अंतःस्वरूप को समझने के लिए उसके कुछ मूलभूत पारिभाषिक शब्दों का ज्ञान अनिवार्य है। इन नए आंग्ल-अमरीकी समीक्षकों ने काव्य-कृति के विवेचन-विश्लेषण के लिए नयी शब्दावली और नयी शब्दावली में नए सिद्धांतों की उद्‌भावना की। इन सभी का पूरा बल भाषा-विश्लेषण के द्वारा कृति के केंद्र के आलोकन पर है किंतु इस आलोकन के लिए इन सभी ने अलग-अलग मार्ग अपनाए हैं। किसी एक ही सिद्धांत से न बँधने के कारण इनका चिंतन नयी आलोचनात्मक शब्दावली से व्यक्त हुआ है। आइए इस शब्दावली को देखें।

1. शब्द-विधान : रैन्सम के अनुसार शब्द-विधान (टैक्स्चर) और अर्थ-विधान (स्ट्रक्चर) की अन्विति का नाम कविता है। शब्द-विधान विशेषकर काव्य के शब्द-विधान - में असम्बद्ध स्थानिकता रहती है। अर्थात स्थान या क्षेत्र-विशेष में प्रचलित शब्द अन्य स्थान या क्षेत्र में अर्थ संदर्भ बदल देने के कारण कठिनाई उत्पन्न करता है और काव्यशास्त्र का कोई एक रूप निर्मित नहीं हो पाता है। रैन्सम ने विषय-वस्तु की दृष्टि से काव्य को वस्तु काव्य और विचार काव्य में विभाजित करने के बाद माना है कि वस्तु काव्य का उद्‌भव विचार के रूप में होता है - यह विचार ही बिंब रूप में उभरता है और सृजन-प्रक्रिया के दौरान विचार बिंब में बदल जाता है। इसी 'बिंब विधान' को रैन्सम 'शब्द-विधान' और बिंब के कारणभूत विचार को 'अर्थ-विधान' कहते हैं। रैन्सम का 'अर्थ-विधान' से अभिप्राय कथ्य से है और 'शब्द-विधान' से कविता को कलात्मक सौंदर्य प्रदान करने वाले सभी तत्त्वों से। इस दृष्टि से कह सकते हैं कि रैन्सम ने 'शब्द-विधान' को ही 'काव्य-सौंदर्य' का पर्याय माना है। ध्यान में रखने की बात है कि रैन्सम ने 'स्ट्रक्चर' और 'टैक्स्चर' इन दोनों शब्दों को वास्तुकला से ग्रहण अवश्य किया है पर इन्हें नया अर्थ दे दिया। यह अलग बात है कि पूर्व और पश्चिम के सभी बड़े आचार्य चाहे - भामह, कुन्तक मम्मट हों या अरस्तू से एलियट तक — सभी 'शब्दार्थ' सम्पृक्ति को काव्य मानते रहे हैं। भामह ने शब्द और अर्थ के सहभाव को काव्य माना है तथा पण्डितराज जगन्नाथ ने रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द को काव्य कहा है। स्वयं हिंदी में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा 'मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है उसे कविता कहते हैं।' अतः रैन्सम की इस स्थापना से किसी को विरोध नहीं है कि कविता शब्द और अर्थ की अन्विति का नाम है। समर्थ कवि द्वारा प्रयुक्त विशेष शब्द ही रैन्सम की दृष्टि में काव्य के सौंदर्य का जनक है।

2. प्रतीकात्मक व्यापार : भाषा के प्रतीक व्यापार को केनेथ बर्क ने इतना महत्व दिया है कि उनके द्वारा प्रयुक्त प्रतीकात्मक व्यापार ने एक विशेष अर्थ संदर्भ प्राप्त कर लिया है। उनके विचार से कविता शाब्दिक क्रिया है और शाब्दिक क्रिया प्रतीकात्मक व्यापार रूप(सिम्बॉलिक ऐक्शन) है। कवि किसी शब्द का कोशगत अर्थ में प्रयोग नहीं करता - वह शब्द का संदर्भगत प्रयोग करके नया अर्थ पैदा कर देता है। अपने कार्य से प्रतीक अर्थगत जटिलता को सरलता और व्यवस्था प्रदान करता है। प्रतीक अनेक रूपों में भाषा के भीतर सक्रिय रहता है - कभी सुप्त-अनुभूति के प्रेरक रूप में तो कभी परिस्थिति की व्याख्या रूप में । अत: प्रतीक एक ऐसा बिंब है जो संदर्भ के साथ जुड़कर काव्य-भाषा में नया अर्थ उत्पन्न कर देता है।

3. तनाव : एलेन टेट ने 'टेंशन इन पोयट्री' नामक अपने प्रसिद्ध निबंध में कहा है कि 'अनेक कविताओं में - जिन्हें हम सामान्य रूप में सत्काव्य समझते हैं और उसके अतिरिक्त कुछ ऐसी कविताओं में भी जिनकी हम उपेक्षा करते हैं - कुछ ऐसे सामान्य तत्त्व पाए जाते हैं जो हमें कविता को

बारीकी से समझने के लिए उस अकेले गुण के नाम-संधान के लिए प्रेरित करते हैं जिसे मैं तनाव कहूँगा।' तात्पर्य यह है कि तनाव एकमात्र ऐसा गुण है जिसमें काव्य सौंदर्य की गहराई को समझा जा सकता है। कारण, एक अच्छी कविता उन समस्त गुणों की अन्विति है जो अपने भीतरी तनाव और बाहरी तनाव दोनों से नया सौंदर्य पैदा करती है। टेट ने 'तनाव' शब्द तर्कशास्त्र से लिया है और काव्य-सृजन में उसका प्रयोग 'विशिष्ट रूपक के अर्थ' में किया है। तनाव के दो रूप हैं - बाहरी तनाव (एक्सटेंशन) तथा भीतरी तनाव (इंटेंशन)। बाहरी तनाव कविता की वह विचारमूलक गति है जो आरंभ से अंत तक देखने को मिलती है तथा **भीतरी तनाव का अर्थ है - कवि में भीतरी भाव-विचार-क्रिया की** अनवरत विकास स्थिति। **सीधे-सीधे कहें तो बाहरी तनाव कविता का वाच्यार्थ है और भीतरी तनाव उसका लक्ष्यार्थ।** एक सीमा में **बाहरी तनाव कविता का 'विचार' है और भीतरी तनाव कविता में सृजित बिंब।** नयी समीक्षा की शब्दावली में कहें तो **भीतरी तनाव - शब्द-विधान (टैक्स्चर) है** और **बाहरी तनाव अर्थ-विधान (स्ट्रक्चर)।**

टेट का विचार है कि काव्य भाव नहीं है - भाषा है - पाठक तो उसे भाषा से ही जानता है। काव्य-भाषा का मूल गुण है तनाव अर्थात् भीतरी शब्द-विधान और बाहरी अर्थ-विधान का संतुलन। काव्य-भाषा में यह तनाव या संतुलन जितना पूर्ण होगा काव्य उतना ही उत्कर्ष प्राप्त करेगा। विद्वानों ने टेट के 'तनाव सिद्धांत' का मूल कॉलरिज के कल्पना-सिद्धांत को माना है क्योंकि कल्पना ही ऐसा तत्त्व है जो विरोधी गुणों में सामंजस्य स्थापित करती है।

4. भंगिमा : आर.पी.ब्लैकमर की यह धारणा रही है कि कविता के रचना तंत्र में 'भंगिमा' की भूमिका प्रमुख होती है। उनका प्रसिद्ध निबंध 'लैंग्वेज ऐज ज़ेस्चर' इसी 'भंगिमा' के महत्व को स्थापित करता है। उनके अनुसार भाषा शब्द रूप है - भंगिमा रूप। 'शब्दों की भाषा से भंगिमा ऐसे जुड़ी हैं जैसे वृक्ष से जड़। यदि भाषा रूपी वृक्ष की जड़ों को काटते हैं तो आपको मरियल अशक्त मूलविहीन भाषा मिलेगी। भाषा का सर्जन में श्रेष्ठ प्रयोग भंगिमा पर ही निर्भर करता है। फिर यह भी सच है कि अर्थों के प्रकाशन में भंगिमा की महिमा अनंत है। ब्लैकमर ने स्थापत्य मूर्ति-चित्र-नृत्य-अभिनय-संगीत सभी ललित कलाओं में भंगिमा के महत्व की ओर ध्यान दिलाया। काव्य में भंगिमा (1) पुनरावृत्ति के रूप में - जैसे 'किंगलियर' नाटक में - नेवर, नेवर, नेवर, नेवर, नेवर (कभी नहीं, कभी नहीं, कभी नहीं; कभी नहीं, कभी नहीं) (2) प्रतीक रूप में जैसे धूमिल की कविता 'मोचीराम' का कथन 'मेरे लिए हर आदमी एक जोड़ी जूता है जो मरम्मत के लिए खड़ा है।' (3) श्लेष रूप में - ध्वनि तत्वों और अर्थ तत्वों के संश्लेष का काम भंगिमा करती है (4) कथा-वस्तु, छंद और टेक के रूप में भंगिमा अर्थ को गति प्रदान करती है। **ब्लैकमर ने भंगिमा को साहित्य के सभी उपकरणों की वाहक भाषा में अर्थ और गति माना है।**

5. विरोधाभास : क्लीन्थ ब्रुक्स का अनेक कविताओं के पाठ-विश्लेषण से यह विश्वास दृढ़ होता गया है कि कविता की भाषा विरोधाभास की भाषा है। अपने प्रसिद्ध निबंध 'दि लैंग्वेज ऑफ पैराडॉक्स' में उन्होंने कहा है कि कविता के लिए सबसे उपयुक्त भाषा विरोधाभास की भाषा है। विज्ञान के सत्य के लिए ऐसी भाषा आवश्यक है जिसमें विरोधाभास की रंच-मात्र छाया न हो, किंतु जीवन के जिस गहन सत्य का खुलासा कवि करता है उस सत्य तक विरोधाभास की भाषा के माध्यम से ही पहुँचा जा सकता है। सच्ची कविता की सृष्टि विरोधी प्रतीत होने वाली स्थिति-परिस्थिति की टकराहट से ही होती है। भाषा में विरोधी उक्तियाँ नैसर्गिक रूप में उपजती हैं और इनमें भाषा के लक्ष्यार्थ-व्यंग्यार्थ-व्यापार सक्रिय होते हैं। कवि के शब्द निरंतर अर्थ का संशोधन करते चलते हैं एवं कोशगत अर्थों के अतिक्रमण में ही उनकी शक्ति निखरती है। भाषा में विरोधाभास का गुण सटीकता और संक्षिप्तता लाता है जिसे किसी अन्य तरह से पाया ही नहीं जा सकता। इतना ही नहीं, विडम्बना और साहचर्य इस विरोधाभास के सहचर हैं अर्थात् विरोधाभास या तो आश्चर्य पर आधारित होगा या विडम्बना पर या फिर ये दोनों तत्त्व एक-साथ भी हो सकते हैं। क्लीन्थ ब्रुक्स ने कहा रोमानी कविता में विरोधाभास आश्चर्य पर आधारित है जबकि नव्यशास्त्रवादी कविता का आधार विडम्बना है। कॉलरिज की कविता 'एंशिएंट मैरिनर' में आश्चर्य और विडम्बना दोनों मिलकर विरोधाभास को उजागर करते हैं। ब्रुक्स ने यह भी कहा कि छोटे से छोटे कवि की कविता भी विरोधाभास से परहेज करके नहीं जीती। भारतीय काव्य-शास्त्र में अलंकार और वक्रोक्ति सम्प्रदायों में विरोधाभास की प्रतिष्ठा पुरानी है, किंतु इधर ब्रुक्स ने ही भाषा में विरोधाभास के सिद्धांत को जीवित किया है।

6. अनेकार्थता : इस सिद्धांत के प्रतिपादक हैं - विलियम एम्पसन - जिन्होंने अपनी पुस्तक 'सेविन टाइप्स ऑफ एम्बिगुइटी' अर्थात 'श्लेष के सात प्रकार' में अपने अनेकार्थता-सिद्धांत का प्रतिपादन किया है। 'एम्बिगुइटी' का मूल शब्दार्थ है - द्विअर्थकता और अर्थ-विस्तार से अर्थ है - अनेकार्थता और

अर्थ-विडम्बना। फिलिप व्हीलराइट ने 'एम्बिगुइटी' शब्द में अर्थगत उलझाव को लक्ष्य करते हुए इसके स्थान पर 'प्लुरिसिग्नेशन' (बहु-साकेतिकता) शब्द को अधिक संगत माना है। उनका तर्क है कि काव्य के चमत्कार या सौंदर्य के संदर्भ में संदेहवाचक शब्द के स्थान पर भावात्मक अर्थ के बोधक शब्द का प्रयोग ही उचित है। अनेकार्थता के बारे में एम्पसन का मत है 'बोलचाल की सामान्य भाषा में अनेकार्थता का आशय सर्वथा स्पष्ट है उसमें कुछ न कुछ विदग्धता या प्रवंचना का अर्थ अनिवार्यत: रहता है, किंतु यहाँ मैं इस शब्द का प्रयोग एक अर्थ-विस्तार के साथ कर रहा हूँ : इसकी परिधि में शब्द के ऐसे सभी सूक्ष्म से सूक्ष्म संकेतों का अंतर्भाव हो सकता है जिनके द्वारा शब्दावली विशेष से एक से अधिक अर्थों की व्यंजना होती है।' ('सेविन टाइप्स ऑफ एम्बिगुइटी', 1957, पृ.1) **कोई भी शब्द अनेकार्थक माना ही तब जायेगा जब उसमें अनेक अलग-अलग अर्थछायाएँ साफ-साफ फूटती हों।** शब्द में ऐसे भी अर्थ हो सकते हैं जो एक-दूसरे से सम्बद्ध हों। अनेकार्थता का अर्थ, अर्थ का अनिश्चय भी हो सकता है और एक ऐसी शाब्दिक अर्थच्छाया भी जिसमें एक ही कथन के अनेक अर्थ ध्वनित हो सकते हैं। अनेकार्थता की व्यापकता को समझते हुए एम्पसन ने उसके स्वरूप और वर्गीकरण पर पूरी पुस्तक ही लिख डाली। उन्होंने अनेकार्थता का सात प्रकारों में **वर्गीकरण** किया है -

(i) जहाँ कोई विवरण एक साथ ही अनेक रूपों में सक्रिय हो उठे - इस अनेकार्थकता के उन्होंने पाँच उपभाग किए - (क)समान धर्म की तुलना, (ख) विषमता का आभास, (ग) तुलनात्मक विश्लेषण, (घ) रूपक तथा (ङ) लय-प्रवर्तित अर्थ

(ii) जहाँ दो शब्द अथवा वाक्य के दो या दो से अधिक अर्थ एक में ही समाहित हो जाते हैं। एम्पसन ने इसके उदाहरण में शेक्सपियर की चतुर्दशपदियाँ (सॉनेट्स) प्रस्तुत की हैं क्योंकि उनकी अनेकार्थताओं के विश्लेषण और समझने की प्रक्रिया में आनंद आता है।

(iii) ऐसे दो विचारों को एक ही शब्द के द्वारा एक ही साथ व्यक्त कर दिया जाता है जो संदर्भगत संगति के कारण एक-दूसरे से जुड़े रहते हैं। मूलत: यह अनेकार्थता, भारतीय काव्यशास्त्र में 'श्लेष' है।

(iv) यह अनेकार्थता वहाँ होती है जहाँ दो या दो से अधिक अर्थ परस्पर मेल न खाते हों, किंतु वे सब मिलाकर रचनाकार की जटिल मन:स्थिति को अभिव्यक्त कर रहे हों।

(v) रचनाकार सृजन-प्रक्रिया में अपने विचार व्यक्त तो करता चलता है, पर उसके मस्तिष्क में वे विचार पहले से स्पष्ट रूपरेखा नहीं रखते हैं। वहाँ ऐसे सादृश्य की योजना होती है जो ठीक से किसी के साथ लागू नहीं होता। लेखक द्वारा एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ की ओर जाने की प्रक्रिया में दोनों के बीच झूलता जान पड़ता है।

(vi) जहाँ वक्तव्य स्वयं संकेत नहीं करता, वक्तव्य का चमत्कार पर्याय शब्दों, असम्बद्ध कथनों, विरोधी स्थितियों पर निर्भर करता है। उदाहरण के तौर पर, शेक्सपियर के नाटक 'ट्राइलस एंड क्रेसिडा' में क्रेसिड की उक्ति 'किंतु आप तो चतुर हैं अथवा यो कहें कि आप प्रेम नहीं करते, क्योंकि अगर आप चतुर हैं तो प्रेम नहीं कर सकते।' विरोधी स्थिति के कथन में अनेकार्थता है।

(vii) जहाँ शब्द-विशेष के दो अर्थ या अनेकार्थता दो मूल्य, संदर्भ के द्वारा निर्धारित दो परस्पर-विरोधी भावों की इस प्रकार व्यंजना करते हों कि समग्र प्रभाव लेखक के मानस में विद्यमान मूलभूत अंतर्विरोध को स्पष्ट करने में लग जाता है। अर्थात् इस प्रकार की अनेकार्शता में व्यक्ति का अवचेतन बोलता है।

क्लीन्थ ब्रुक्स और विमसाट दोनों का विचार एम्पसन के अनेकार्थता सिद्धांत को लेकर यह बना है कि इसके प्रेरणा स्रोत के रूप में रॉबर्ट गेब्स और लौरा द्वारा शेक्सपियर के 'सॉनेट्स' का विवेचन-विश्लेषण है - इस विश्लेषणात्मक कृति का नाम है - 'दि एक्सपेंस ऑफ स्पिरिट इन ए टैक्स्ट ऑफ शेम'। दूसरे, एम्पसन ने अपने गुरु रिचर्डस के साथ काम करते हुए भी 'अनेकार्थता' की चुनौती महसूस की। पर 'सेवन टाइप्स ऑफ एम्बिगुइटी' में एम्पसन का वर्गीकरण जटिल, अस्पष्ट और दुरूह हो गया है। अनेकार्थता के रूप-निर्धारण और वर्गीकरण के घपले के कारण एम्पसन से पाठक तोबा करता है। अलंकार-वक्रोक्ति-ध्वनि को यदि हम मिला दें तो भी एम्पसन का भाषा की अनेकार्थता का घपला सुलझता नहीं है।

निष्कर्ष यह है कि 'नयी समीक्षा' के इन चिन्तकों के इन पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या से इतनी ही बात निकलती है कि इन सभी ने भाषा को प्रतिमान के रूप में अपनाकर कृति के पाठ विश्लेषण की पद्धति को विकसित किया है।

19.9 नयी समीक्षा की प्रमुख प्रवृत्तियों का निर्धारण

'नयी समीक्षा' आंदोलन में सक्रिय नए समीक्षकों के बीच साम्य से ज्यादा वैषम्य है। किंतु इस वैषम्य के बावजूद इस समीक्षा-पद्धति की कुछेक सामान्य प्रवृत्तियाँ या विशेषताएँ उभरती-मिलती हैं, जिन्हें हम इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं :

1. कृति का पाठ विश्लेषण अथवा केंद्र का आलोकन

'नयी समीक्षा' ने आलोचना में कविता या कलाकृति पर पूरा ध्यान केंद्रित करते हुए कविता के सघन-विस्तृत विश्लेषण और घनिष्ठ पाठ की परम्परा को स्थापित किया। इस प्रयत्न के फलस्वरूप अनेक कविताओं की पाठ पर आधारित सूक्ष्म गहन व्याख्याएँ प्रस्तुत की गईं जिससे व्यावहारिक आलोचना के कई महत्वपूर्ण ग्रंथ सामने आए। इतना ही नहीं 'क्रिटीक', 'केन्यन रिव्यू', 'दि फ्युज़िटिव', 'सिवानी रिव्यू', 'एक्सप्लिकेटर' जैसी पत्रिकाओं में कविता-नाटक-उपन्यास का सूक्ष्म विश्लेषण किया गया। इस प्रकार के सूक्ष्म विश्लेषण का लक्ष्य यही था कि साहित्येतर मानदण्डों से निरपेक्ष रहकर कृति की आंतरिक शब्द-चेतना, अन्विति संहिति का विवेचन किया जाए। इसके लिए इन नए आलोचकों ने न केवल रचनाओं की पाठ-प्रक्रिया पर गंभीरता से विचार किया है अपितु पाठकों को इस विषय में नए संस्कारों में ढालने के लिए या इस विषय विशेष की शिक्षा देने के लिए अनेक उपयोगी पुस्तकें प्रस्तुत कीं। एजरा पाउण्ड ने 'ए बी सी ऑफ रीडिंग', एफ.आर. लीविस ने 'हाउ टु टीच रीडिंग', रिचर्डस ने 'हाउ टु रीड ए पेज' और 'इंटरप्रटेशन इन टीचिंग', एलेन टेट ने 'इनविटेशन टु लर्निंग' (हंटिंग्न केर्न्स और मार्क्स वान डोरेन के साथ) तथा 'दि ट्रांसलेशन ऑफ पोयट्री', इवोर विंटर्स ने 'इन डिफेंस ऑफ रीजन', ब्लैकमर ने 'दि डबल एजेंट', क्लीन्थ ब्रुक्स ने 'अंडरस्टैंडिंग पोयट्री' जैसी पुस्तकें लिखी हैं जिनसे यह बात साफ हो जाती है कि ये आलोचक कृति के पाठ को एक गंभीर अनुशासन के रूप में अपनाते रहे हैं। डॉ. निर्मला जैन ने इस पूरी स्थिति को समझते-समझाते हुए 'पाश्चात्य साहित्य-चिन्तन' में लिखा है, 'रचना के उपरान्त कविता को ये एक स्वायत्त निरपेक्ष इकाई या रूप मानते थे। कविता की वस्तुनिष्ठ निरपेक्ष समझ के लिए इन्होंने इस बात पर बल दिया कि पाठक और आलोचक को केवल कविता के भीतर प्रयुक्त अक्षरों, शब्दों, बलाघातों, बिंबों, प्रतीकों आदि के बीच उपलब्ध विविध सम्बन्धों का विश्लेषण और व्याख्या करनी चाहिए। इस प्रकार की आलोचना की पहली शर्त यही थी कि कविता को कविता के रूप में ग्रहण किया जाए न कि किसी दर्शन या विचारधारा के माध्यम रूप में।' (पृ.182)

नयी समीक्षा ने अपने जन्म के साथ ही ऐतिहासिक आलोचना पद्धतियों के विरोध में ज़ोर देकर कहा था कि महत्व कृति का है, कृतिकार का नहीं। ऐतिहासिक आलोचक के यहाँ कृतिकार का महत्व था, इसलिए नया समीक्षक कृतिकार को नकार कर कृति के सूक्ष्म-गहन पाठ-विश्लेषण में प्रवृत्त होता है। अर्थात् इस समीक्षा के अनुसार निराला का महत्व 'राम की शक्ति पूजा' के कारण है, 'राम की शक्ति पूजा' का महत्व निराला के कारण नहीं है। कृति का विश्लेषण अथवा केंद्र का आलोकन यहाँ साधन नहीं है, साध्य है। डेविड डैशिज ने इसी स्थिति के कारण नयी समीक्षा को 'गंभीर पाठालोचन का पर्याय' माना है। एलेन टेट तथा ब्रुक्स ने आलोचना का केंद्र तो कृति को ही माना है किंतु यह भी सुझाव दिया है कि कृति को समझने के लिए कुछ सीमा तक कृतिकार के विचारों और युग-परिवेश के अध्ययन से सहायता लेनी चाहिए। किंतु, यदि हम युग-परिवेश या कृतिकार के विचारों के गंभीर अध्ययन में पिल पड़ेंगे तो कृति के विश्लेषण में बाधा पड़ सकती है या पड़ेगी। आलोचक को चाहिए कि वह युग-परिवेश आदि पर उतना ही ध्यान दे जितना कि कृति को आलोकित करने में मदद करे।

नयी समीक्षा में पाठ-विश्लेषण का प्रयास तो महत्वपूर्ण है किंतु नया समीक्षक कृति के पूरे पर्यावरण से कटकर केवल 'कृति' में ही जुट गया। इस अतिवाद ने नयी समीक्षा को बहुत हानि पहुँचाई तथा एकांगी बना दिया। यह एकांगीपन ऐसा ही था जैसे कोई व्यक्ति पेड़ को तो देखे पर जंगल और उसके परिवेश को न देखे। स्वयं टी.एस.एलियट ने जब देखा कि नयी समीक्षा में पाठ-विश्लेषण की प्रवृत्ति हद से बढ़ गई है तो वे क्षुब्ध हो उठे और उन्होंने इन समीक्षकों को 'आलोचना का नींबू निचोड़ सम्प्रदाय' तक कह दिया।

2. कविता या कलाकृति को अखण्डता में देखने का प्रबल आग्रह

नए समीक्षकों ने अपने पहले की आलोचना-प्रवृत्ति को मुड़कर देखा तो यह बात अच्छी तरह उनकी समझ में आ गई कि सामान्य परिपाटी कृति के भाव पक्ष और कला पक्ष को अलगा कर देखने की रही है। फलतः इस पुरानी प्रवृत्ति का विरोध करते हुए उन्होंने कविता को अखण्ड रूप में देखने की

अनिवार्यता पर बल दिया। इन सभी नए समीक्षकों ने साफ कहा कि कविता में रूपायित कवि की अनुभूति का तदाकार रूप में ग्रहण कविता की पूर्ण अन्विति कराने में समर्थ है कविता को खण्ड-खण्ड करते ही उसकी अखण्डता का सौंदर्य बिखर जाता है। क्लीन्थ ब्रुक्स ने तो बिना किसी हिचक के कहा है कि कविता के सौंदर्य का आकलन-मूल्यांकन उसकी समग्रता में ही होना चाहिए। यही बात टी.एस.एलियट तथा आई.ए.रिचडर्स भी कहते रहे हैं कि कृति का सौंदर्य अंग-भंग करने में नहीं, सम्पूर्णता में ग्रहण करने में है। कविता का रूप-तत्त्व काव्य-सामग्री को ही समाहित नहीं करता, वह काव्य-सामग्री को व्यवस्थित करता है, रूपायित करता है और अर्थ को नए संदर्भ में खड़ा करके विशिष्ट सौंदर्य की सृष्टि करता है। फलतः कविता का रूप-तत्त्व सर्वाधिक महत्वपूर्ण मुद्दा है जिसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध कविता की अनुभूतिगत घनता, एकाग्रता और प्रभावान्विति से है। ब्रुक्स ने 'रूप तत्त्व' की संकुचित अर्थ-सीमा को पहचानते हए 'रूप-तत्त्व' के लिए 'स्ट्रक्चर' (संरचना) शब्द का प्रयोग किया और कहा 'संरचना से तात्पर्य अर्थों, व्याख्याओं एवं मूल्यांकनों की संरचना से है।' जाहिर है कि कविता में संवेद्य तत्त्व तथा रूप तत्व एकाकार-अखण्ड रूप मे निहित रहते हैं। कहना न होगा कि लगभग सभी नए समीक्षको की अवधारणाओं में कृति विषयक अखण्डता की दृष्टि का समावेश रहा है। भारतीय काव्य-चिंतन में कृति की अखण्डता की बात भी नयी नहीं है - 'गिरा अरथ जल-वीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न' की बात यहाँ बहुत पहले कही गई है। हिंदी में विजयदेवनारायण साही ने इसी अखण्डता की दृष्टि से जायसी के 'पद्मावत' की 'जायसी' नामक पुस्तक में समीक्षा की है।

3. काव्य-भाषा की सर्जनात्मकता और विश्लेषण

काव्य-भाषा विषयक चिंतन की परम्परा पश्चिम में अरस्तू से ही शुरु हो जाती है किंतु इस क्षेत्र में नए समीक्षको ने जिस ढंग से पहल की है उस ढंग से पहले कभी नहीं हुई थी। एलेन टेट ने स्पष्ट कहा 'कवि का चिंतन या दर्शन कुछ भी हो - आप उसे उसकी भाषा के माध्यम से ग्रहण कर सकेंगे - उसे जो कुछ कहना है - उसकी सही सीमा उसके द्वारा प्रयुक्त भाषा की अर्थवत्ता ही है।' प्रत्येक नया समीक्षक इस बात पर भरोसा करता है कि कविता एक विशिष्ट भाषिक संरचना है, शाब्दिक निर्मिति है। अनुभूति का भीतरी-बाहरी तनाव भाषा ही खास ढंग से झेलती और व्यक्त करती है। ब्लैकमर का 'भंगिमा सिद्धांत', एम्पसन का 'अनेकार्थता सिद्धांत', रैन्सम का 'शब्द-विधान' - सभी भाषा पर ही केंद्रित हैं। दुर्भाग्य यह घटित हुआ कि कविता की भाषा पर विचार करते हुए वे भाषाशास्त्र में प्रवेश कर गए। भाषाशास्त्र की जटिलताओं में फँसकर काव्य-भाषा अपनी पटरी से ही उतर गई।

4. काव्य में परम्परा के प्रति लगाव

नयी समीक्षा के जनक टी.एस.एलियट ने काव्य में परम्परा के महत्व पर प्रकाश डाला है और परम्परा के निर्वाह पर बहुत अधिक जोर दिया है। अपने सृजन में भी वे परम्परा के प्रति कम समर्पित नहीं रहे हैं। उन्होंने प्रयोग और परम्परा के द्वंद्वात्मक सिद्धांत की इस ढंग से महत्व प्रतिष्ठा की है कि सभी नए समीक्षक एलियट के प्रति कृतज्ञ भाव रखते हैं। परम्परा से तात्पर्य है - इतिहास-बोध, स्मृति, सातत्य आदि। परम्परा में अतीत की अतीतता नहीं, अतीत की वर्तमानता होती है। दिलचस्प बात यह है कि वर्तमान अतीत को प्रभावित करता है और अतीत वर्तमान को। पर कवि को परम्परा उत्तराधिकार में यों ही प्राप्त नहीं हो जाती, उसे श्रम से कमाना पड़ता है। कवि का महत्व परम्परा में ही निहित है - परम्परा के अभाव में उसका सही मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। एलियट से प्रभावित एफ.आर. लीविस ने कहा कि कवि परम्परा में और परम्परा कवियों में धड़क रही होती है। इस परम्परा प्रियता के कारण नए समीक्षकों को 'क्लासिकल' की ओर उन्मुख माना गया। ब्रुक्स ने कहा 'मृत या निर्जीव रुढ़ियों से चिपकने की कोई अर्थवत्ता नहीं है - किंतु एक स्वस्थ-जीवंत परम्परा में निरंतर संशोधन की सामर्थ्य रहती है। इस प्रकार नए समीक्षकों के विचार से रुढि का नाम परम्परा नहीं है - परम्परा एक गतिशील-निरंतर परिवर्द्धित-संशोधित होती प्रक्रिया है। काव्य में जातीय स्मृतियाँ धड़कती मिलती हैं - परम्परा एक ऐसा प्राचीन नमक (एंशेंट साल्ट) है जिसके पड़ते ही कृति में नया स्वाद पैदा हो जाता है।

'नयी समीक्षा में रूपवाद भी वस्तुत एक ऐसे "सत्तामूलक" (ऑनटोलाजिकल) सिद्धांत के विकास का प्रयत्न है जिसके आधार पर कविता की स्वायत्त प्रतिष्ठा, सत्य को ग्रहण करने की अद्वितीय विधि के रूप में की जा सके। जहाँ तक कलाकृति के स्तर के निर्धारण का प्रश्न है, नए समीक्षकों के लिए यह प्रश्न सर्वथा निरपेक्ष नहीं है। किसी कृति का मूल्यांकन करते समय वे निरंतर परम्परा का हवाला देते हैं, इस बात के परीक्षण के लिए कि उस कृति में समकालिक व्यवस्था का समावेश कहाँ तक हो सका है। उसने परम्परा को किस रूप में और किस हद तक आत्मसात किया है। परंतु आलोचक का प्रमुख दायित्व इनकी दृष्टि में कविता की व्याख्या करना था।' (पाश्चात साहित्य चिंतन डॉ.निर्मला जैन-डॉ.कुसुम बॉठिया, द्वि.सं. पृ. 182) हिंदी की नयी समीक्षा पर इस दृष्टि से निगाह डालें तो विजयदेव

नारायण साही के निबंध 'लघुमानव के बहाने हिंदी कविता पर एक बहस' में हमें साही कहते मिलते हैं कि आगे के आलोचक अज्ञेय जी को प्रसाद की परम्परा में ही पायेंगे। याद रखना होगा कि परम्परा का विकास केवल सीधी रेखा में ही नहीं होता, विपरीत दिशा में भी दिखाई देता है।

5. पैराफ्रेज़िंग या पदान्वय का विरोध

अधिकांश नये समीक्षक मैक्लीश की तरह विश्वास करते हैं कि कविता का पदान्वय (पैराफ्रेज़) संभव नहीं है। सृजन प्रक्रिया के दौरान अनुभूति विभिन्न उपकरणों (रूपक, वक्रता, प्रतीक, लय-छंद, विरोधाभास आदि) की मदद से रूपाकार पाती है। 'पदान्वय' अखण्ड रूपाकार और अखण्ड अनुभूति दोनों को ही अंग-भंग का शिकार बना लेता है। पदान्वय के द्वारा हमें जो मिलता है वह काव्यानुभूति का मर्म न होकर कुछ और ही चीज होती है। ब्रुक्स ने कहा भी है कि काव्य यदि प्रकृति है तो पदान्वय विकृति - एक ऐसी विकृति जो उसे अंग-भंग कर कुबड़ा-विकलांग बना देती है। ब्रुक्स ने चिन्ता के साथ 'पदान्वय के अपसिद्धांत' (हेरेसी ऑफ़ पैराफ्रेज) पर पूरा निबंध लिखा और 'पदान्वय' के प्रति खबरदार किया। मूल बात यह कि पदान्वय में कल्पना, रूपक, विदग्धता-विरोधाभास का काव्यात्मक प्रकार्य एकदम उपेक्षित रह जाता है।

6. कविता और विज्ञान की पृथकता पर दृष्टिपात

बीसवीं शताब्दी में विज्ञान ने ऐसी दस्तक दी है कि चारों ओर विचारों का कोलाहल सुनाई देता है, देखते-देखते पुरानी दुनिया के विश्वास और मिथक विज्ञान ने ढहा दिए तथा दो विश्व-युद्धों में विज्ञान ने अपनी विनाशकारी शक्ति से मानवता को थर्रा दिया। विज्ञानवाद और वैज्ञानिक भौतिकवाद के चिंतन ने ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी कि नए सर्जक, नए समीक्षकों के मन में यह भय उभरने लगा कि कहीं विज्ञान एक दिन कला और काव्य को विनष्ट ही न कर दे। इसी भय के कारण नए समीक्षक कविता-कला की रक्षा के प्रति चौकन्ने हो गए। इन सभी ने विज्ञान के सत्य और कला के सत्य के बीच स्पष्ट भेद घोषित किया और विज्ञान की अनुभूति तथा कला की अनुभूति के अंतर को स्पष्ट किया। आई.ए. रिचर्डस ने 'पोयट्री एंड बिलीफ शीर्षक अपने लेख में दोनों के पार्थक्य को स्पष्ट करते हुए कहा कि दोनों के कार्य (फंक्शन) अलग-अलग हैं। आगडेन के साथ रिचर्डस ने मिलकर विज्ञान की भाषा और काव्य की भाषा का अंतर भी स्पष्ट किया। रिचर्डस से प्रभावित जॉन क्रो रैन्सम ने कला-जगत् तथा विज्ञान-जगत् की भिन्नता पर प्रकाश डाला विशुद्ध विज्ञान का लक्ष्य है - ज्ञान-प्राप्ति, जबकि कला ज्ञान के साथ-साथ सर्जना (मानवीय रचनात्मकता) को लक्ष्य मानती है। इसीलिए कला, विज्ञान से श्रेष्ठ है। ब्रुक्स ने इसी बात को खोलते हुए कहा कि साहित्य हमें जो ज्ञान प्रदान करता है, वह उस संसार का ज्ञान है जो मानव-मूल्यों पर आधारित है। यह ज्ञान विज्ञान अथवा भौतिकी के ज्ञान से भिन्न है। कला का ज्ञान मानवीय संदर्भों में निहित है। विज्ञान में प्रतीकात्मक भाषा का प्रयोग होता है किंतु कविता में भाषा का संवेगात्मक प्रयोग (इमोटिव यूज़ ऑफ लैंग्वेज) होता है। फलतः कविता में मानवीयता का गुण है - इस क्षेत्र में विज्ञान बंजर दिखाई देता है।

7. सर्जक और आलोचक की बेजोड़ मिसाल

नयी समीक्षा के अधिकांश आलोचक सर्जक हैं। टी.एस.एलियट अपनी सर्जनात्मक प्रतिभा से एक नये युग को जन्म देते हैं। आई.ए. रिचर्डस का सर्जक उनके आलोचक व्यक्तित्व के नीचे दब अवश्य गया है किंतु वे कवि एवं नाटककार हैं। उनकी रचनाओं में 'गुडबाइ अर्थ एंड अदर पोयम्स' (1956) तथा नाटक 'टुमॉरो मॉर्निंग फास्टस : एन इन्फॉर्मल कॉमेडी' (1962) का नाम उल्लेखनीय है। जॉन क्रो रैन्सम की अमेरिका में कवि के रूप में विशेष ख्याति रही है - उनका बहुचर्चित काव्य संग्रह है - 'चिल्स एंड फीवर्स' (1924)। केनेथ बर्क ने कविता-कहानी-उपन्यास कई विधाओं में लिखा। एलेन टेट, कवि, नाटककार तथा उपन्यासकार हैं। उनके कई कविता संग्रह हैं पर 'पोयम्स' (1960) तथा उपन्यास 'दि फादर्स' काफी प्रसिद्ध हुए हैं। ईवोर विंटर्स, ब्लैकमर, वारेन एम्पसन आदि सभी सर्जक हैं। सृजन प्रक्रिया के अपने अनुभवों से गुज़रने के कारण इन आलोचकों की आलोचना में एक ताज़गी है। एलियट के समीक्षात्मक निबंधों की सर्जनात्मक आलोचना ने पश्चिम में जैसे विचारों का प्रकाश फैलाया है वैसे ही हिंदी आलोचना में अज्ञेय, ग.मा.मुक्तिबोध, लक्ष्मीकान्त वर्मा, विजयदेव नारायण साही आदि ने आलोचना और सृजन के योग से नयी उद्भावनाएँ की हैं।

8. आलोचना में विद्वता को गौरवान्वित करने का विचार

सभी नए समीक्षक इस बात पर एकमत हैं कि आलोचक के लिए वैदुष्य जरूरी है। अनेक विषयों का ज्ञान उसके आलोचनात्मक विवेक को विकसित करता है और नए ढंग से सोचने की प्रविधियाँ सुझाता है। आलोचक के लिए ज्ञान बोझ नहीं 'अंतर्दृष्टि' है। इस युग में यह तथ्य बार-बार रेखांकित किया गया कि कविता के लिए सर्जनात्मक प्रतिभा चाहिए पर आलोचक के लिए गंभीर वैदुष्य और निर्मल

विवेक। 'कामायनी' की आलोचना के लिए ग.मा.मुक्तिबोध जैसा आलोचक ही चाहिए जो उससे बीस वर्ष जूझता रहा और 'कामायनी : पुनर्विचार' में आलोचना की योग्यता का परिचय दिया। ब्लैकमर तथा ब्रुक्स दोनों ने साहित्यिक आलोचना के लिए 'साहित्यिक विद्वत्ता' को अनिवार्य माना है। वैदूष्य और विवेक दोनों एक दूसरे की न केवल मदद करते हैं बल्कि एक सीमा के बाद तो एकाकार हो जाते हैं। प्रश्न उठना ही था कि आलोचना के लिए किस सीमा तक वैदुष्य चाहिए और कहाँ पर पहुँचकर विद्वत्ता, आलोचना की सहजता को दबोच लेती है। इसका उत्तर दिया गया कि पाण्डित्य नमक की भाँति इतना पड़ना चाहिए जितना स्वाद उठाये, स्वाद बिगाड़े नहीं। अर्थात विद्वता तथा आलोचना में संतुलन अनिवार्य है।

9. शुद्ध कविता की वकालत

नयी समीक्षा का आंदोलन ज्ञान-विज्ञान के अतिशय विस्फोट के युग में उठा। फिर उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दशकों में प्रतीकवादियों-कलावादियों ने साफ कहा कि कविता का कोई अन्य प्रयोजन नहीं है - कविता का प्रयोजन कविता ही है। रैम्बू-मलार्मे-बादलेयर इस दल की अगुआई कर रहे थे। एलियट ने 'दि थ्री वाइसेज ऑफ पोयट्री' में यह विचार प्रस्तुत किया कि कवि कविता की रचना किसी उद्देश्य से प्रेरित होकर नहीं करता, रचना करना एक विवशता है। कविता में शुद्धता की वकालत रैन्समन ने शुरु की और कहा कि कविता में नीति-तत्त्व नहीं घुसेड़ना चाहिए - कविता का उद्देश्य मात्र कविता है। वॉरेन और ब्रुक्स दोनों ने काव्य में नैतिकता का विरोध करते हुए शुद्ध कविता का समर्थन किया है। नयी समीक्षा के ज्यादातर आलोचक शुद्ध कविता के पक्षधर हैं।

10. ऐतिहासिक समीक्षा का विरोध

नयी समीक्षा ने सर्वाधिक विरोध ऐतिहासिक आलोचना का किया। क्योंकि ऐतिहासिक आलोचना के आलाचक कृति के अध्ययन के लिए युग-परिवेश, रचनाकार की विचारधारा, मनोभूमिका का अध्ययन जरूरी मानते हैं, जबकि नयी समीक्षा इन सभी से मुक्त रहकर केवल कृति केंद्रित रहना चाहती है। रैन्सम तो ऐतिहासिक आलोचना से इतने निराश हैं कि उसमें उन्हें कुछ भी अच्छा दिखाई नहीं देता। 'जीवन चरितात्मक', आत्मकथात्मक तथा तुलनात्मक समीक्षा में उनके विचार से उथला अनुशीलन होता है। नयी समीक्षा के पक्ष में डटे ब्रुक्स ने झल्लाकर विश्वविद्यालय के प्रोफेसरों को कोसा है कि 'अंग्रेज़ी का ठेठ प्रोफेसर प्रकृति से और प्रवृत्ति से परिवर्तन के विरुद्ध होता है, लोकप्रिय समीक्षक भी जहाँ तक उसके आलोचनात्मक सिद्धांतों का प्रश्न है, इस माने में किसी भी तरह से कम नहीं हैं। निष्कर्ष यह कि इन दोनों का स्वार्थ साहित्य की ऐसी चर्चा में निहित है जो अधिक अनियत और कम श्रम-साध्य हो।' (नयी समीक्षा के प्रतिमान, पृ.23) अतः नये समीक्षक ने लोकप्रिय समीक्षक और जिद्दी प्रोफेसरों से दो-दो हाथ किए और ऐतिहासिक समीक्षा की जमी चूलें ढीली कर दीं। नये समीक्षक को साफ समझ में आ गया था कि विश्वविद्यालय ही ऐतिहासिक आलोचना के अड्डे हैं। विरोध का मूल कारण था पुराने प्रतिमानों या संस्कारों या सिद्धांतों के द्वारा नयी उद्भावनाओं के विरोध की आदत। नयी प्रवृत्ति के विरोध में डटे पुराने आचार्यों की ग.मा.मुक्तिबोध ने 'नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध' में जमकर आलोचना की है। नये समीक्षकों ने ही नहीं, शिकागो-स्कूल के समीक्षक रिचर्ड मैकिअल तथा आर.एस.क्रेन, नार्मन मैक्लीन तथा एल्टर आल्सन आदि सभी ने ऐतिहासिक आलोचना का विरोध किया है। शिकागो समीक्षकों की सिद्धांत दृष्टि तो अपनी है पर वे पद्धति में अरस्तू का अनुकरण करते हैं। नया समीक्षक कृति के पाठ-विश्लेषण को प्रमुखता देता है पर शिकागो समीक्षक कृति की कथा-वस्तु को। क्रेन को इसीलिए 'नव अरस्तूवादी' कहना उचित ही है।

19.10 नयी समीक्षा की शक्ति और सीमाएँ

चौथे-पाँचवें दशक के बाद धीरे-धीरे नयी समीक्षा आंदोलन का आलोचनात्मक मुहावरा अपनी चमक और धार खोने लगा। सन 1950 के बाद इस समीक्षा पद्धति की सीमाएँ साफ दिखाई देने लगी। इस प्रवृत्ति के वरिष्ठ आलोचकों को ही इसकी खामियाँ समझ में आने लगीं। एफ.आर.लीविस ने 'स्क्रूटिनी' पत्रिका का प्रकाशन बंद करते हुए यह घोषणा भी कर दी कि अब उनका काम पूरा हो गया है। ब्रुक्स तथा विम्साट ने 'लिटरेरी क्रिटिसिज्म : ए शॉर्ट हिस्ट्री' (1957) में मानो अपने कर्तव्य-कर्म की इतिश्री मान ली। नयी समीक्षा की शक्ति एवं सीमाओं को वे दोनों आँकने लगे। इतना ही नहीं, इंग्लैण्ड और अमेरिका में 'नयी समीक्षा' को लेकर विरोध का स्वर प्रबल हो गया। अमेरिका में ही शिकागो स्कूल के नव-अरस्तूवादी आलोचकों ने इस पूरे आंदोलन के खिलाफ खुला विद्रोह कर दिया। 'क्रिटिक्स और क्रिटिसिज्म' (1952-53) में साफ कहा गया कि कृति के लिए नयी समीक्षा की रूप-संरचनामूलक प्रवृत्ति एकदम अपर्याप्त है। यह कथन इसलिए सही था कि नयी समीक्षा लघु रचनाओं - विशेष कर

छोटी और लम्बी कविताओं के विश्लेषण को तो पार लगा देती थी पर महाकाव्य-नाटक-उपन्यास और दीर्घ संरचना वाली बहुत सी विधाओं के लिए एकदम अपर्याप्त सिद्ध हो रही थी।

नव-अरस्तूवादी आलोचकों तथा उनके साथ अन्य आलोचकों के प्रबल विरोध का प्रमुख कारण था - नयी समीक्षा के सैद्धांतिक-व्यावहारिक रूप में कथानक की संरचना के महत्व की उपेक्षा। इसी स्थिति ने एक बार फिर 'विधाओं के सिद्धांत' (थियरी ऑफ जेनर्स) के समर्थन की हवा बना दी और यह स्वीकार किया जाने लगा कि हर विधा के मूल्यांकन की पद्धति उस विधा की निजी अपेक्षाओं के आधार पर ही निर्मित की जा सकती हैं। हालत यहाँ तक पहुँच गई कि नयी समीक्षा के समर्थक मनरो के स्पिअर्स जैसे लोग भी 'डायोग्नीसस एंड द सिटी' (1970) में नयी समीक्षा की सीमाओं का संकेत देने लगे। माहौल ऐसा बनता गया कि नयी समीक्षा के विरोध में नॉर्थ्रॉप फ्राई जैसे धैर्यवान चिंतक को उठ खड़ा होना पड़ा। नयी समीक्षा से नाराज़ फ्रैंक कर्मोड ने एक नयी आलोचना प्रणाली की शुरुआत की अपेक्षा की तरफ ध्यान दिलाया तथा कहा कि समकालीन कविता के लिए 'इर्रेशनल' अनर्गल और विज्ञान विरोधी दृष्टिकोण नहीं अपनाया जा सकता। फ्राई तो मिथकवादी समीक्षा को लेकर ही मैदान में डट गए और 'नयी समीक्षा' को धकेल कर जगह बनाने लगे।

एक बड़ी बात यह भी हुई कि नयी समीक्षा के केंद्र में टी.एस.एलियट जैसे आधुनिकतावादी कवि थे। जब एलियट का स्थान डब्ल्यू.बी.येट्स ने ले लिया तो आलोचना का केंद्र पुन: बदलने लगा। नतीजा यह हुआ कि 'नयी समीक्षा' की प्रतिज्ञाएँ पुरानी पड़ने लगीं और उनका स्थान आलोचना के नए प्रतिमान-प्रतिज्ञाएँ लेने लगे। 'नयी समीक्षा' का आलोचनात्मक मुहावरा इतना घिसा हुआ दिखाई देने लगा कि उसे मात्र संकुचित अर्थ में 'रूपात्मक समीक्षा' कहने को विवश होना पड़ा। इधर, समीक्षा के ऊपर ज्ञान के अन्य अनुशासनों का दबाव भी बढ़ने लगा और लीविस के शिष्य रेमण्ड विलियम्स ने समाजशास्त्रीय अध्ययन की दिशा-दृष्टि को समीक्षा के केंद्र में लाने का प्रयास किया। समाजशास्त्रीय दृष्टि के आलोचकों ने 'नयी समीक्षा' को प्रतिगामी दृष्टि की समीक्षा घोषित कर दिया। नये समीक्षकों के सभी काव्य-प्रतिमानों के लिए कहा गया कि उन्होंने समीक्षा को फार्मूलों में बदल दिया है।

सीमाएँ

नयी समीक्षा की उपलब्धियों के साथ उसकी सीमाओं पर ध्यान देना भी अनिवार्य है। नयी समीक्षा की सीमाओं को इस प्रकार सूत्र रूप में रखा जा सकता है - (1) सबसे बड़ी सीमा इस समीक्षा-पद्धति की यही रही है कि वह समग्र साहित्य को अपने विवेचन क्षेत्र में आत्मसात कर आगे नहीं बढ़ सकी। फलत: विषय प्रतिपादन की दृष्टि से उसका क्षेत्र बहुत सीमित होता गया है। (2) कवियों की कृतियों का चयन प्राय: सत्रहवीं शताब्दी या बीसवीं शताब्दी से किया। नतीजा यह हुआ कि आधुनिक कविता तक पर वे समग्रता से विचार नहीं कर सके। (3) कविताओं को कवि की विकासमान चेतना से काटने के कारण पूरा विवेचन एकांगी तथा असंतोषप्रद हो गया। (4) यह समीक्षा पद्धति मूल्यांकन को एकदम नकार कर आगे बढी। मूल्यांकन के अभाव में इसे समीक्षा कहना ही कठिन लगता है। (5) इस समीक्षा पर वैदुष्य इतना हावी हो गया कि यह अपनी सहजता खोकर सामान्य पाठक से दूर जा पड़ी। (6) यह समीक्षा कृति को समझने की एक अधूरी प्रविधि मात्र बनकर रह गई। (7) यह समीक्षा लघु और लम्बी कविताओं के लिए तो उपयुक्त है, किंतु काव्य की अन्य प्रबंध-विधाओं के लिए एकदम असमर्थ सिद्ध हुई है।

उपलब्धियाँ

इन सीमाओं के बावजूद नयी समीक्षा की उपलब्धियाँ नगण्य नहीं हैं। इस समीक्षा की उपलब्धियाँ हैं - (1) नयी समीक्षा ने पाठक का ध्यान कृति पर केंद्रित किया (2) ऐतिहासिक आलोचना में कृतिकार को बहुत अधिक महत्व दिया जाने लगा था। उस प्रवृत्ति को जोरदार झटका दिया। (3) रोमानी-परम्परा के विपरीत एक नवीन काव्य-अभिरूचि का पोषण किया (4) पाठ-विश्लेषण की प्रविधि से यह सिद्ध किया कि भाषा काव्य में किस प्रकार अनेक कार्य करती है। (5) विज्ञान की मार से व्याकुल मानव को काव्य की मानवीयता का ध्यान दिलाया; (6) साहित्येतर मूल्यों के आक्रमण से काव्य की रक्षा कर उसकी स्वतंत्र सत्ता को प्रतिष्ठित किया। (7) परम्परा के महत्व पर ज़ोर देकर जातीय अस्मिता से काव्य का सम्बन्ध स्थापित किया।

19.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें

डॉ. निर्मला जैन (संपा.), **नयी समीक्षा के प्रतिमान**, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली

डॉ. निर्मला जैन एवं डॉ. कुसुम बाँठिया, **पाश्चात्य साहित्य चिंतन**, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली (द्वितीय संस्करण)

डॉ. नगेन्द्र, **नयी समीक्षा : नये संदर्भ**, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली

डॉ. नगेन्द्र (सपा.), **पाश्चात्य काव्यशास्त्र : सिद्धांत और वाद**, हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

कृष्णदत्त पालीवाल, **हिंदी आलोचना का सैद्धांतिक आधार**, सचिन प्रकाशन, दिल्ली

श्याम बिहारी लाल शर्मा. **पाश्चात्य नव्यालोचन**, देववाणी प्रकाशनम, आर.6, वाणी विहार, नई ली-110 059.

19.12 अभ्यास के लिए प्रश्न

नयी समीक्षा की प्रमुख विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

नयी समीक्षा के प्रमुख स्रोत, उसके युग-परिवेश और प्रमुख समीक्षकों के विचारों का सार लिखिए।

टिप्पणी लिखिए :

क) तनाव
ख) शब्द विधान (Texture)
ग) भंगिमा
घ) विरोधाभास
ङ) अनेकार्थता
च) नयी समीक्षा की शक्ति और सीमाएँ



उत्तर प्रदेश
राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

MAHI-10

साहित्य सिद्धांत और समालोचना

खंड

6

साहित्य सिद्धांत और विचारधाराएँ

पाठ्यक्रम विशेषज्ञ समिति

पाठ्यक्रम निर्माण

इकाई लेखक
प्रो. निर्मला जैन (इकाई 20)
पूर्व विभागाध्यक्ष, हिंदी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
डॉ. कृष्णदत्त पालीवाल (इकाई 21)
हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
श्री मुरली मनोहर प्रसाद सिंह (इकाई 22)
पत्राचार एवं अनुवर्ती शिक्षा महाविद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
डॉ. कुसुम बाँठिया (इकाई 23-24)
देशबंधु कॉलेज, दिल्ली
श्री देवेन्द्र इस्सर (इकाई 25)
नई दिल्ली

पाठ्यक्रम संपादक
प्रो. निर्मला जैन
पाठ्यक्रम संयोजक
डॉ. रीतारानी पालीवाल

सामग्री निर्माण

प्रो. वी.रा.जगन्नाथन
निदेशक, मानविकी विद्यापीठ
इग्नू, नई दिल्ली

श्री कुलवंत सिंह
अनुभाग अधिकारी (प्रकाशन)
मानविकी विद्यापीठ, इग्नू

कैमरा रेडी कॉपी निर्माण एवं सचिवालयिक सहयोग
श्री हरीश कुमार सेठी

फरवरी 2004 (पुनः मुद्रित)

ISBN-81-266-0174-4

खंड 6 का परिचय

प्रस्तुत खंड 'साहित्य सिद्धांत और समालोचना' (एम.एच.डी.05) पाठ्यक्रम का छठा खंड है।'साहित्य सिद्धांत और विचारधाराएँ' नामक इस खंड में पश्चिम की प्रमुख चिंतन पद्धतियों और विचारधाराओं का परिचय देते हुए साहित्य-सिद्धांत के विकास के रूप में उनकी चर्चा की गई है। विचारधारा से तात्पर्य है - विचार की दिशा अथवा सरणि, सोचने का दृष्टिकोण, जैसे कि प्लेटो का दृष्टिकोण प्रत्ययवादी था और अरस्तू का भौतिकवादी अथवा वस्तुवादी। कोई दृष्टिकोण जब मान्यता का रूप ले लेता है तो वह विचारधारा कहलाता है, जैसे मार्क्सवादी विचारधारा। समय और परिस्थितियों के अनुरूप समाज में विभिन्न प्रकार की विचारधाराएँ सक्रिय रहती हैं और जीवन-जगत को तरह-तरह से प्रभावित करती रहती हैं। कभी कोई विचारधारा सशक्त रूप में विद्यमान रहती है तो कभी दूसरी। विचारधारा से रहित न जीवन होता है न साहित्यिक समीक्षा। विचारधाराओं के आलोक में ही मूल्यांकन के प्रतिमान निर्मित होते हैं। अपनी उपयोगिता, प्रासंगिकता, प्रभाव-क्षमता एवं प्रसार के आधार पर विचारधारा या दृष्टिकोण चिंतन पद्धति का पर्याय बन जाता है। इस तरह विचारधाराओं के प्रकाश में चिंतन पद्धतियों का विकास होता है। समय-समय पर विचारधाराओं ने आंदोलन, प्रवृत्ति अथवा 'वाद' के रूप धारण किए हैं। इन वाद दृष्टियों से साहित्यिक अध्ययन की विभिन्न पद्धतियाँ विकसित हुई हैं, जैसे आभिजात्यवाद, स्वच्छंदतावाद, मार्क्सवादी आलोचना पद्धति, मनोविश्लेषणवादी आलोचना पद्धति आदि।

साहित्य सृजन और आलोचना, दोनों ही विचारधाराओं और चिंतन पद्धतियों से प्रभावित होते रहे हैं। ध्यान देने की बात है कि उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दी में आकर पश्चिम में विचारधाराओं का पक्ष विशेष रूपसे प्रबल हो उठा और उन्हीं के प्रभाव-दबाव में साहित्य और कला के नए आंदोलनों का जन्म हुआ। इन विचारधाराओं और समीक्षा पद्धतियों ने आधुनिक भारतीय साहित्य और समीक्षा को भी प्रभावित किया। अतः इनकी जानकारी साहित्यशास्त्र के विद्यार्थी के लिए आवश्यक है।

प्रस्तुत खंड में पाश्चात्य साहित्य चिंतन की प्रमुख सरणियों, आलोचना दृष्टियों, आंदोलनों, प्रवृत्तियों की जानकारी दी गई है। पूरे खंड में एक वैचारिक अंतर्योजना है जो प्राचीन समय से विद्यमान आभिजात्यवादी और स्वच्छंदतावादी प्रवृत्तियों से लेकर वर्तमान उत्तर-आधुनिकतावादी परिदृश्य तक को उद्घाटित करने का प्रयास करती है। समग्र खंड कुल छह इकाइयों (इकाई 20-25) में विभक्त है।

इकाई 20 **'आभिजात्यवाद एवं स्वच्छंदतावाद'** में इन दोनों दृष्टियों का अभिप्राय बताते हुए इनके इतिहास और प्रमुख प्रवृत्तियों की जानकारी दी गई है।

इकाई 21 **'मनोविश्लेषणवादी आलोचना'** में प्रमुख मनोविश्लेषणशास्त्रियों और उनके सिद्धांतों का विवेचन करते हुए साहित्य और आलोचना से मनोविश्लेषण का संबंध बताया गया है। साथ ही, मनो-विश्लेषणवादी आलोचना के महत्व और हिंदी आलोचना पर मनोविश्लेषण के प्रभाव की चर्चा की गई है।

इकाई 22 **'मार्क्सवादी आलोचना'** में मार्क्सवादी विचारधारा की प्रमुख अवधारणाओं को स्पष्टता से प्रस्तुत करते हुए आलोचना पद्धति के रूप में इनके स्वरूप की जानकारी दी गई है और हिंदी में इस आलोचना पद्धति के प्रभाव एवं प्रसार से विद्यार्थियों को अवगत कराया गया है।

इकाई 23 **'साहित्य चिंतन के विविध वाद'** के अंतर्गत सात प्रमुख वादों - यथार्थवाद, अतियथार्थवाद, आदर्शवाद, प्रतीकवाद, बिंबवाद, कलावाद, अस्तित्ववाद - की युग पृष्ठभूमि और स्वरूप की जानकारी देते हुए आंदोलन और प्रवृत्ति के रूप में इनकी चर्चा की गई है।

इकाई 24 **'साहित्य अध्ययन की प्रमुख पद्धतियाँ'** के अंतर्गत मिथकीय, रूपवादी, संरचनावादी, शैलीवैज्ञानिक और समाजशास्त्रीय समीक्षा पद्धति के उद्भव और विकास के विषय में बताते हुए इन समीक्षा पद्धतियों की प्रमुख प्रवृत्तियों और मान्यताओं पर प्रकाश डाला गया है। साथ ही, समीक्षा पद्धति के रूप में उनकी उपयोगिता एवं प्रासंगिकता पर भी चर्चा की गई है।

इकाई 25 **'अस्तित्ववाद, आधुनिकतावाद और उत्तर-आधुनिकता'** में बीसवीं सदी की इन तीन प्रमुख प्रवृत्तियों का स्वरूप स्पष्ट करते हुए इनके परिदृश्य से छात्रों को परिचित कराया गया है।

इकाई 20 आभिजात्यवाद एवं स्वच्छंदतावाद

इकाई की रूपरेखा

20.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के बाद आप

- आभिजात्यवाद से तात्पर्य स्पष्ट कर करेंगे
- उसकी प्रमुख प्रवृत्तियों की जानकारी दे सकेंगे
- बता सकेंगे कि स्वच्छंदतावाद से क्या आशय है
- स्वच्छंदतावाद की प्रमुख विशेषताओं का परिचय दे सकेंगे।

20.1 प्रस्तावना

पाश्चात्य साहित्य सिद्धांत के अध्ययन के क्रम में अब तक आप यूनानी आचार्यों से लेकर वतर्मान नयी समीक्षा से सम्बद्ध साहित्य चिंतकों के सिद्धांतों का अध्ययन कर चुके हैं। इस दौरान 'आभिजात्यवाद' और 'स्वच्छंदतावाद' शब्द कई बार आपकी निगाह से गुज़रे होंगे। इन शब्दों का थोड़ा-बहुत अर्थ भी आपकी समझ में आया होगा। ये पाश्चात्य साहित्य चिंतन के दो प्रमुख संकल्पनात्मक और प्रवृत्तिमूलक शब्द हैं जिनकी गहन जानकारी साहित्यशास्त्र के विद्यार्थी के लिए नितांत आवश्यक है।

आभिजात्यवाद और स्वच्छंदतावाद दोनों ही अत्यंत व्यापक, विवादास्पद और संश्लिष्ट अर्थ में प्रयुक्त होने वाली दृष्टियाँ अथवा अवधारणाएँ हैं जिनका इस्तेमाल शताब्दियों से होता चला आ रहा है किंतु जिनकी सुनिश्चित एवं पूर्ण परिभाषा अभी तक संभव नहीं हो सकी है। प्रस्तुत इकाई में आपको इन दोनों अवधारणाओं के बारे में विस्तृत जानकारी प्राप्त हो सकेगी। रोचक बात यह है कि परस्पर विरोधी दिखाई देते हुए भी आभिजात्यवादी और स्वच्छंदतावादी दृष्टियाँ एक-दूसरे की पूरक हैं। एक को भली-भाँति समझने के लिए दूसरी को जानना आवश्यक है। लगभग दो हज़ार वर्षों के ऐतिहासिक क्रम में ये प्रवृत्तियाँ एक-दूसरे के समानांतर चलती हुई आपस में टकराती और परस्पर अंतःप्रवेश करती रही हैं।

20.2 आभिजात्यवाद का अर्थ

हिंदी में आभिजात्यवाद शब्द का प्रयोग उस प्रवृत्ति के लिएं किया गया है जिसे अंग्रेजी में 'क्लासिसिज्म' (Classicism) कहा जाता है। आभिजात्यवाद के अतिरिक्त इसके लिए हिंदी में कुछ और नाम भी समय-समय पर प्रस्तावित किए गए हैं जैसे, शास्त्रवाद, श्रेण्यवाद आदि। ये नाम इस प्रवृत्ति की अलग-अलग विशेषताओं की ओर संकेत करते हैं, परंतु अंग्रेज़ी शब्द क्लासिसिज्म जिस अवधारणा के लिए रूढ़ होकर मान्य हो गया है ये समग्रता में उसका बोध कराने में असमर्थ हैं। 'शास्त्रवाद' से शास्त्रबद्धता की व्यंजना होती है और 'श्रेण्यवाद' से श्रेणीबद्धता की। पर क्लासिसिज्म न केवल शास्त्रवाद है, न श्रेणीवाद। ज्यादा से ज्यादा इन्हें उसकी विशेषताएँ माना जा सकता है।

दरअसल साहित्य और कलाओं के संदर्भ में प्रयुक्त होने वाले इस क्लासिसिज्म शब्द का मूल लैटिन भाषा में है। लैटिन शब्द 'क्लासिक्स' का प्रयोग रोम में करदाताओं के सर्वोच्च वर्ग के लिए किया जाता था। दूसरी शताब्दी के एक रोमन लेखक ने इसी आधार पर इसका प्रयोग साहित्य के संदर्भ में 'स्क्रिपतर प्रोलितेरियस' अर्थात् जनता के साहित्य से भिन्न 'स्क्रिपतर क्लासिक्स' अर्थात् अभिजात वर्ग के साहित्य के लिए किया था। परिणाम यह हुआ कि आरंभ में क्लासिसिज्म, क्लासिक और क्लासिकल (आभिजात्यवाद, अभिजात और आभिजात्य) श्रेष्ठता के वाचक हो गए। विशेषकर 'क्लासिक' शब्द का प्रयोग किसी ऐसी वस्तु, रचना अथवा युग के लिए होने लगा जो किसी भी सभ्यता की श्रेष्ठता या उत्कर्ष का बोध कराती हो। परंतु इस अर्थ में 'क्लासिसिज़्म का प्रयोग बहुत समय तक नहीं चला। जैसा शिप्ले ने संकेत किया है, 'उच्च वर्ग की कला या साहित्य के अर्थ में 'क्लासिसिज्म' शब्द का प्रयोग आरंभ के तत्काल बाद ही अप्रचलित हो गया। अतः वर्तमान युग में उसकी विशेष प्रासंगिकता नहीं है।' अब इस शब्द से किसी वर्ग-विशेष की कला अथवा साहित्य का बोध नहीं होता। किंतु कालक्रम में कुछ विशेष प्रकार की कलात्मक और साहित्यिक प्रवृत्तियों के लिए रूढ़ होकर यह शब्द 2000 वर्ष की क्रमशः विकसित अवधारणा का वाचक हो गया है।

व्युत्पत्तिपरक अर्थ की दृष्टि से देखा जाए तो क्लासिसिज्म के प्रति-शब्द के रूप में आभिजात्यवाद का प्रयोग भी बहुत उचित नहीं है क्योंकि न तो 'अभिजात' शब्द का प्रयोग कला या साहित्य के विशेषण के रूप में करना उचित है और न ही 'आभिजात्यवाद' किसी वर्ग-विशेष के साहित्य का वाचक है। अब यह भी लगातार प्रयोग और प्रचलन के कारण अंग्रेज़ी साहित्य में क्लासिसिज्म की 2000 वर्ष की क्रमशः विकसित अवधारणा के लिए हिंदी में रूढ़ होकर मान्य हो गया है।

क्लासिसिज़्म का एक प्रयोग ऐतिहासिक युग के अर्थ में भी किया गया। काफी समय तक यह धारणा बनी रही कि कालजयी कृतियों (क्लासिक्स) की रचना केवल ग्रीक और लैटिन में हुई। अतः आभिजात्यवाद' का प्रयोग ऐतिहासिक श्रेणी के रूप में एक ऐसे युग के लिए भी किया जाता रहा जिसमें श्रेष्ठ या कालजयी साहित्य की रचना हुई हो। आरंभ में प्राचीन ग्रीस और रोम की संस्कृति और इतिहास के अध्ययन की प्रवृत्ति को, तथा ग्रीक और लैटिन की रचनाओं और रचनाकारों के आदर्श का अनुकरण करने और उनकी टक्कर की कृतियों के रचने की प्रवृत्ति को भी श्रेण्यवाद या आभिजात्यवाद समझा गया।

कुछ-कुछ इसी अर्थ में, संस्कृत के साहित्य के लिए 'क्लासिकल लिटरेचर' पद का प्रयोग प्रचलित है। प्राचीन कालजयी साहित्य के लिए सीमित अर्थ में इस शब्द का प्रयोग सामान्य रूप से बराबर किया जाता रहा है। परंतु समय के साथ 'आभिजात्यवाद' पद का प्रयोग विशेष युग और उसके दौरान रचित साहित्य के अर्थ में सीमित न रहकर सार्वकालिक और सार्वभौमिक हो चला। उदाहरण के लिए, दांते की 'डिवाइन कॉमेडी',शैक्सपियर के नाटक, मिल्टन का 'पैराडाइज़ लास्ट' या एलियट का 'वेस्टलैंड' भी उसी प्रकार कालजयी रचनाएँ हैं जैसी होमर, सोफोक्लीज और वर्जिल की रचनाएँ। इसी तरह, वाल्मीकि 'रामायण', कालिदास का 'कुमारसम्भवम्' और 'अभिज्ञान शाकुंतलम्', तुलसीदास का 'रामचरितमानस', प्रसाद की 'कामायनी', निराला की 'राम की शक्ति-पूजा' और प्रेमचंद का 'गोदान' - विभिन्न युगों में रची जाने पर भी क्लासिक रचनाएँ मानी जाती हैं। इन तमाम रचनाओं में कोई सामान्य विशेषता खोजकर उसके आधार पर 'आभिजात्यवाद' का अर्थ तय करने का प्रयास किया जाएगा तो निराशा ही हाथ लगेगी। इनमें वैधता है तो केवल इस बात की कि इनमें किसी न किसी रूप में 'क्लासिक्स' के आदर्श का अनुसरण किया गया है और ये सभी काल का अतिक्रमण कर कालजयी रचनाएँ सिद्ध हुई हैं।

कहने के लिए रोमांटिक कवियों ने भी किसी हद तक ग्रीक रचनाओं के आदर्श का अनुकरण किया। परंतु उनकी रचना-प्रक्रिया में अनुकरणधर्मिता उतनी नहीं है कि जितनी प्रेरणापरकता। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि काल के प्रवाह में इस शब्द का संबंध न किसी वर्ग (सामाजिक श्रेणी) से रहा न ऐतिहासिक श्रेणी के रूप में किसी युग-विशेष की रचनाओं से, किंतु किसी न किसी रूप में कालजयी कृतियों के आदर्श के अनुकरण से यह संबंध बराबर बना रहा। बल्कि इसका विस्तार ऐसी कालजयी कृतियों तक हो गया है जिनके आदर्श रूप में अनुकरण की संभावना आगे आने वाले समय में भी प्रतीत होती हो। अर्थात् वे रचनाएँ जिनमें युग-प्रवर्तन की क्षमता निहित हो।

20.3 आभिजात्यवाद का इतिहास

एक स्पष्ट प्रवृत्ति के रूप में आभिजात्यवाद का आरंभ अरस्तू के व्याख्याकार विचारक होरेस (65 ई.पू.) से माना जा सकता है। यह बात अलग है कि ई.पू. चौथी शताब्दी में ही यह प्रवृत्ति अरस्तू के शास्त्रीय चिन्तन में ही रूप ग्रहण कर चुकी थी। बल्कि यह कहना ज्यादा सही होगा कि अरस्तू से ही पहले प्लेटो के काव्य-चिंतन में भी एक पक्ष ऐसा है जिसमें क्लासिकी चिंतन के सकेत मिलते हैं। कविता में भावोद्रेक के स्थान पर बुद्धि-विवेक पर बल देते हुए काव्य के द्वारा भावोद्वेलन की सामर्थ्य को मनुष्य की प्रकृति के लिए घातक मानना, आवेश के स्थान पर संयम का आग्रह करना, और भाषा में अलंकृति की तुलना में सादगी और सरलता का समर्थन करना - ऐसी बात हैं जो प्लेटो के क्लासिकी रुझान को सूचित करती हैं। प्लेटो की सत्यनिष्ठा और वाक्य-संयम को क्लासिकी आदर्श का आधार स्वीकार किया जाता है। इस प्रकार, आभिजात्यवाद की नीव आदि आचार्य प्लेटो के काव्य-चिंतन में पड़ चुकी थी। पर प्लेटो ने काव्यशास्त्र पर किसी स्वतंत्र ग्रंथ की रचना नहीं की।

पाश्चात्य साहित्यशास्त्र ने निश्चित रूप अरस्तू तक आते-आते ग्रहण किया। इसका प्रमाण है - अरस्तू के ग्रंथ का नामकरण - 'पोएटिक्स' (काव्यशास्त्र)। अरस्तू का जो पक्ष उन्हें आभिजात्यवाद के पुरस्कर्ता के रूप में प्रतिष्ठित करता है और प्लेटो से अलग करता है वह है मुख्य रूप से त्रासदी और उसके साथ महाकाव्य आदि अन्य काव्य-विधाओं का विवेचन और उन पर विस्तार से विचार-विमर्श। उन्होंने इन विधाओं के नियमों का निरूपण करते हुए उनके पालन पर जिस रूप में बल दिया उससे आगे चलकर शास्त्रवादी पद्धति का रूप स्थिर हुआ। अरस्तू ने नाटक और काव्य-रचना के जिन नियमों का विधान किया था उन्हीं को आधार बनाकर शास्त्रीय नियमबद्धता, रूप की स्थिरता और रचना में अनुशासन को अनिवार्य मानने वाली रचना-पद्धति का प्रचलन हुआ।

अरस्तू के बाद ग्रीस और रोम में साहित्य रचना का क्रम तो निरंतर चलता रहा और उसमें विश्व-साहित्य की कुछ महान कृतियाँ सामने आईं परंतु लगभग दो शताब्दियों तक साहित्य-चिंतन की दिशा में कोई उल्लेखनीय प्रगति नहीं हुई। किंतु ई.पू. पहली शताब्दी तक आते-आते सर्जनशीलता का ह्रास होने लगा। मंद प्रतिभा रचनाकारों से मौलिकता की आशा तो की ही नहीं जा सकती थी, सामान्य रचनाओं के स्तर में भी गिरावट आ गई थी। इन परिस्थितियों के अनुरोध से यदि होरेस (65 ई.पू.) जैसे कवि-विचारक ने अरस्तू के सिद्धांत की व्याख्या करने की आवश्यकता महसूस की तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। उन्होंने समसामयिक साहित्य की ह्रासशील स्थिति को देखते हुए रचना के प्राचीन सिद्धांतों के अनुसरण को ही नहीं, प्राचीन श्रेष्ठ कवियों के अनुकरण को भी आवश्यक ठहराया। इस प्रकार, पश्चिम में 'क्लासिसिज़्म' की पद्धति कालजयी श्रेष्ठ कृतियों के अनुकरण तथा शास्त्र-विहित सिद्धांतों के श्रद्धापूर्वक अनुसरण के आग्रह के साथ स्पष्ट रूप से सामने आई।

'आभिजात्यवादी' सिद्धांतों के संकेत प्लेटो में और विकास तथा विस्तार भले ही अरस्तू और होरेस के चिंतन में हुआ हो, परंतु 'आभिजात्यवादी' साहित्य रचना का संबंध मूलतः 'क्लास' या वर्ग-विभाजन के इतिहास से है। प्राचीन रोम में पाठक-वर्ग के सामाजिक-बौद्धिक स्तर को देखते हुए दो प्रकार के साहित्य की रचना की जा रही थी -

1. **स्क्रिपतर प्रोलेतेरियस** - जिसका लक्ष्य था लगभग अशिक्षित, कामकाजी, निम्न-वर्गीय जनता। इस साहित्य को जन-साहित्य या लोक-साहित्य का आरंभिक रूप कहा जा सकता है।
2. **स्क्रिपतर क्लासिक्स** - जिसकी रचना सुशिक्षित, उच्च-वर्गीय, सम्भ्रान्त समाज को दृष्टि में रखकर की जाती थी।

दूसरे प्रकार के साहित्य (अर्थात् स्क्रिपतर साहित्य) को उच्च वर्ग का संरक्षण प्राप्त होता था और यह साहित्य उच्च वर्ग की संस्कृति से सम्बद्ध, परिमार्जित और 'शास्त्रबद्ध' साहित्य होता था। ऐसे अभिजातवर्गीय साहित्य की मूल्यवत्ता को मान्यता देने तथा उसका अनुकरण करने की प्रवृत्ति के कारण ही इसका नाम आरंभ में आभिजात्यवाद पड़ा। एलेक्ज़ेंड्रा के लेखकों ने और रोम में - होरेस, बोकेशियो, सिसरो, डिमेट्रियस, पेट्रिआर्क आदि सभी लेखकों ने ग्रीक रचनाओं का अनुकरण किया और आभिजात्यवादी परपरा का विस्तार किया।

समाज की उच्च श्रेणी से सम्बद्ध होने के कारण आचार्य नलिनविलोचन शर्मा ने 'क्लासिसिज़्म' शब्द के लिए हिंदी में 'श्रेण्यवाद' शब्द प्रस्तावित किया जो विशेष प्रचलित नहीं हो पाया। इसकी तुलना में

क्लासिसिज़्म के लिए 'आभिजात्यवाद' के समानांतर 'शास्त्रवाद' शब्द का प्रचलन अपेक्षाकृत अधिक हुआ।

जैसा हम संकेत कर चुके हैं, आभिजात्यवाद का स्वरूप ईसा पूर्व पहली शताब्दी में एकदम स्पष्ट हो चुका था। ईसा की पाँचवीं सदी तक साहित्य-चिंतन में इसका कुछ न कुछ प्रभाव बना ही रहा। यहाँ तक कि साहित्य में 'उदात्त' तत्व का प्रतिपादन करने वाले आचार्य लांजाइनस/लोंगिनुस के उदात्त-विवेचन में भी आभिजात्यवादी तत्वों के संकेत मिलते हैं। मुख्यतः रोमाण्टिक कवियों और आलोचकों को प्रभावित तथा प्रेरित करने वाले एवं स्वयं प्रथम रोमाण्टिक क्रिटिक माने जाने वाले लोंगिनुस जब उदात्त की 'कला' पर बल देते हैं, वक्तृता और काव्य दोनों में यथार्थ का आग्रह करते हैं तथा प्रतिभा एवं अभ्यास के समुचित संतुलन में ही काव्य का चरमोत्कर्ष मानते हैं तो उनमें एक क्लासिकी अथवा शास्त्रवादी आलोचक की मर्यादा दिखाई पड़ती है। इसलिए यह आकस्मिक नहीं है कि 'नयी समीक्षा' के आलोचकों ने भी उन्हें अपने लिए प्रासंगिक माना है।

मध्यकालीन यानी पाँचवीं से पन्द्रहवीं शताब्दी का समय पूरे यूरोप में साहित्य तथा कला-विवेचन की दृष्टि से अंधकार-युग समझा जाता है। यह समय धार्मिक अंधविश्वास तथा नैतिक कट्टरता से युक्त साहित्य के वर्चस्व का समय माना जाता है। इस दौरान, ईसाई धर्म ने ऐसा जड़ नैतिकतावादी रूप धारण कर लिया था कि उससे साहित्य तथा कला के आनंदवादी स्वरूप और तत्वों की क्षति हुई। यह वस्तु-स्थिति साहित्य तथा कलाओं के विकास के लिए अनुकूल नहीं थी। इसीलिए 'मैडीवल एज' या 'मैडीलिज़्म' शब्द अंधविश्वासपूर्ण, जड़ और विज्ञान-विरोधी दृष्टि का पर्याय हो गया। हिंदी में भी 'मध्ययुगीन बोध' इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है।

यूरोप में यह जड़ता चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी में 'रेनेसाँ' अर्थात् पुनर्जागरण की शुरूआत के साथ टूटी। जन-जीवन में व्यक्ति-स्वातंत्र्य और मानववाद की प्रतिष्ठा करने वाली एक नई तथा मुक्त विचारधारा का आरंभ हुआ जिसके प्रभाव से साहित्य और कलाओं में भी मुक्ति एवं स्वच्छंदता की संभावना दिखाई पड़ी। यह बात अलग है कि जिन प्रवृत्तियों ने जागरण और परिवर्तन की उम्मीद जगायी थी, वे आगे चलकर अतिवाद का शिकार हो गईं।

फ्रांस में कला की बारोक शैली का प्रचलन हुआ। यह सही है कि इस शैली का प्रचलन साहित्य की अपेक्षा चित्रकला में अधिक हुआ। पुनर्जागरण के अंतिम छोर यानी सत्रहवीं शताब्दी के आरंभ में इसका वर्चस्व यूरोपीय कला, विशेष तौर पर फ्रांस की कला में स्थापित हो गया। इसमें व्यक्ति मन की व्याकुलता और आंतरिक तड़प की अभिव्यक्ति जिस घोर व्यक्तिवादी शैली में हुई वह एक सीमा तक स्वच्छंदतावाद के निकट मानी जा सकती है।

स्वतंत्रता और कल्पना क्रमशः जिस अराजकता में बदलने लगी थी उसकी प्रतिक्रिया शास्त्रवाद या आभिजात्यवाद के पुनरुत्थान के साथ हुई। चूँकि यह पुरानी प्रवृत्ति का पुनरावर्तन था, अतः शास्त्रवाद के इस नए उन्मेष को 'नियो क्लासिसिज़्म (Neo-Classicism)' अर्थात् 'नव्य-आभिजात्यवाद' कहा गया। इस प्रवृत्ति की शुरूआत लगभग पुनर्जागरण के समानांतर हो चुकी थी। पन्द्रहवीं शताब्दी के बीच अरक्षित विद्वान अपनी ग्रंथ सम्पदा के साथ इटली में आकर बस गए। इन ग्रंथों के अध्ययन, अनुवाद और पुनर्व्याख्या का सिलसिला वहीं शुरू हुआ। इससे वहाँ जो वातावरण बना उसमें इतालवी मानववादियों को साहित्य तथा कलाओं को धार्मिक श्रृंखलाओं से मुक्त कर स्वतंत्र साधना का अवसर मिला। किंतु यह मुक्ति भी जब उच्छृंखलता का रूप लेने लगी तो एक बार फिर आभिजात्यवादी मूल्यों की स्थापना की आवश्यकता महसूस हुई और उनकी प्रतिष्ठा का दौर आरंभ हुआ।

क्लासिकी साहित्य-सिद्धांतों की नींव मुख्य रूप से अरस्तू के काव्यशास्त्र पर लगातार होने वाले विवादों और व्याख्याओं से पड़ी। प्राचीन ग्रंथों के अध्ययन का सिलसिला यद्यपि इटली में ही शुरू हुआ लेकिन नव्य-आभिजात्यवाद का उन्मेष पहले फ्रांस में हुआ। शायद इसलिए कि पुनर्जागरण की प्रवृत्तियों का ह्रास भी सबसे पहले वहीं दिखाई पड़ रहा था। सोलहवीं शताब्दी में इंगलैंड में सर फिलिप सिडनी (1554-86) क्लसिकी मूल्यों को एक हद तक मान्य ठहरा चुके थे, किंतु उनकी दृष्टि मूलतः पुनर्जागरणवादी ही थी।

सही अर्थ में नव्य-शास्त्रवाद का विकास सत्रहवीं शताब्दी में फ्रांस में हुआ। फ्रांसीसी शास्त्रवाद का आरंभ 'बारोक' संस्कृति की गैर-शास्त्रीयता के विरोध में हुआ। रासीन, कार्नील और बुअलो जैसे

रचनाकार साहित्य में फैली अराजकता का विरोध करने लगे। सर्जन की स्वतंत्रता के नाम पर साहित्य में जो अशास्त्रीयता व्याप्त हो गई थी उसके विरुद्ध इन रचनाकारों ने शास्त्रीयता और संयम की प्रतिष्ठा का प्रयत्न किया। साहित्यिक रचनाओं के नियमों और सिद्धांतों के लिए इन लोगों ने अरस्तू और होरेस को आदर्श बनाया। संवेगों और भावनाओं की अनियंत्रित अभिव्यक्ति के विरुद्ध इन्होंने विवेक, स्पष्टता और व्यवस्था की वकालत की। प्राचीन साहित्य को उन्होंने श्रेष्ठ माना और अपने समय के लिए अनुकरणीय कहा। साहित्य में इस प्रवृत्ति का प्रतिफलन विशेष रूप से नाटकों में दिखाई पड़ा। मोलियर, कार्नील और रासीन आदि के शास्त्रानुमोदित परिपाटीबद्ध उच्च-कोटि के नाटकों में आभिजात्यवादी दृष्टि का चरम विकास हुआ।

यूरोप के देशों में नव्य-शास्त्रवाद का प्रतिफलन एक ही रूप में नहीं हुआ। फ्रांसीसी शास्त्रवाद अभिजात समाज-दृष्टि को प्रतिबिम्बित करता था। एक ऐसी दृष्टि जिसमें कला को सामान्य जनता की नहीं विशिष्ट जन-समुदाय की सम्पदा माना जाता था। परिणामतः ये रचनाएँ इसी विशिष्ट अभिजात वर्ग के दृष्टिकोण तथा अभिरुचि से निर्धारित होती थीं।

इंगलैंड में सत्रहवीं शताब्दी में ही नव्य-आभिजात्यवाद का प्रभाव दिखाई पड़ने लगा था। सत्रहवीं से अठारहवीं शताब्दी तक बेन जॉनसन (1573-1637), जान ड्राइडन (1631-1700), अलेक्जेंडर पोप (1688-1744), तथा सैमुअल जॉनसन (1740-95) आदि रचनाकारों ने इस प्रवृत्ति का पोषण किया। इस दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करने वाली रचना पोप का 'एस्से ऑन क्रिटिसिज़्म' (1711) है। अंग्रेज़ी आलोचना में बेन जॉनसन को पहला अंग्रेज़ विद्वान माना गया है, जिसकी रचनाओं में नव्य-आभिजात्यवादी प्रवृत्तियाँ अपने विकसित रूप में दिखाई पड़ती हैं। बेन जॉनसन ने सिद्धांत-विवेचन भी किया और होरेस के 'आर्स पोएटिका' का अनुवाद भी।

ड्राइडन ने भी वर्जिल, जुबेनल, ओविड आदि का अनुवाद भी किया और अपनी रचनाओं में परम्परा के श्रेष्ठ तत्वों के प्रति आस्था का भी परिचय दिया। उनकी रचना 'एन एस्से ऑन ड्रमैटिक पोएजी' (1668) से उनकी साहित्यिक मान्यताओं का परिचय मिलता है।

पोप के साहित्यिक सिद्धांतों का आधार भी प्राचीन विचारों की परम्परा थी। उनका विश्वास था कि इन सिद्धांतों का आधार लेने पर सफलता निश्चित होती है। उनका संबंध अपने युग के मध्य-वर्ग से था। उन्होंने फ्रांसीसी आभिजात्यवाद से विवेक, संयम तथा अनुशासन-प्रियता को तो ग्रहण कर लिया, परंतु उसके उच्च-वर्गीय या दरबारी चरित्र को नहीं। लेखक के सामाजिक दायित्व के प्रति उन्हें गहरी आस्था थी। उनका विचार था कि व्यक्तियों और उनके व्यवहार पर लेखक का प्रभाव पड़ता है। इसलिए यह ज़रूरी है कि वह ऊँचे नैतिक और सौंदर्यशास्त्रीय प्रतिमानों की प्रतिष्ठा करे तथा लोगों को व्यवहार की शिक्षा दे। शिक्षित मध्य वर्ग के उदय और छापेखाने के विकास के कारण साहित्य अब बहुत बड़े समुदाय को सुलभ होने लगा था। उनकी इस चिंता का एक महत्त्वपूर्ण कारण यही था। अपने युग की आवश्यकता के अनुरूप पोप की दृष्टि में खुलापन था, परंतु उनके रचना संबंधी आदर्श पुराने ही थे। वे रचना के शिल्प के लिए शास्त्रीय नियमों का पालन अनिवार्य मानते थे।

कुल मिलाकर सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दी के अंग्रेज़ी साहित्य-चिंतन में प्राचीन आभिजात्यवादी दृष्टि के अनुरूप साहित्य में तर्क और बुद्धि पक्ष को प्रधानता दी गई, शास्त्रीय नियमों के पालन की आवश्यकता पर बल दिया गया और संयम, संतुलन एवं आदर्शवाद का समर्थन किया गया। आभिजात्यवाद के इस नए संस्करण में आभिजात्यवाद से अंतर यह था कि इनकी दृष्टि अभिजात वर्ग तक सीमित न रहकर जन-सामान्य तक व्याप्त हो गई थी। यह अंतर मामूली अंतर नहीं था। नव्य-आभिजात्यवाद का यह दौर इंगलैंड में अठारहवीं शताब्दी के अंत तक समाप्त हो चला था।

नव्य-आभिजात्यवाद को दार्शनिक आधार अठारहवीं शताब्दी में जर्मनी में पहुँचकर मिला। गेटे, शिलर, ह्यूम आदि विचारकों के विवेचन में इसका स्पष्ट प्रभाव दिखाई पड़ा। ह्यूम (1711-46) के अनुसार मनुष्य की वृत्ति मूलतः पापोन्मुख होती है, इसलिए उसे स्वतंत्र छोड़ने की नहीं नैतिक नियमों में बाँधने की जरूरत है। रचना के मूल्य तभी प्रभावी हो सकते हैं जब उनके मानदंड निर्वैयक्तिक, वस्तुनिष्ठ और सामाजिक हों, आत्मपरक या आंतरिक नहीं।

सत्रहवीं शताब्दी के अंत में 'प्राचीनों' और 'आधुनिकों' के बीच गहन विवाद हुआ जो अठारहवीं शताब्दी तक जारी रहा। अठारहवीं शताब्दी में शास्त्रवाद का पक्ष-समर्थन कर रहे थे श्लेगल और उसे

जड़ तथा रूढ़िबद्ध करार देकर उसका विरोध कर रहीं थीं फ्रांसीसी विदुषी मदाम द स्ताल, जिन्होंने साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन की पद्धति के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया था। विजय अंत में स्वच्छंदतावाद की हुई।

आभिजात्यवादी दृष्टिकोण एक बार फिर उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तथा बीसवीं शताब्दी के आरंभ में उभरने लगा। यह प्रवृत्ति आरंभ में इंगलैंड तथा अमरीका में दिखाई पड़ी। फ्रांस में सेंट ब्यव (1804-69) ने क्लासिक रचनाओं का उल्लेख करते हुए नैतिकता, आदर्श, मानवीयता तथा मध्यम मार्ग को उनकी प्रमुख विशेषता माना। इसके साथ उन्होंने उसमें अभिकल्प की अन्विति (यूनिटी ऑफ डिज़ाइन) समुचित निष्पादन (एक्ज़ेक्यूशन) तथा व्यवस्था को आवश्यक ठहराया। इसके साथ ही उसमें सम्प्रेषणीयता और सार्वकालिकता की वकालत की। सेंट ब्यव ने आभिजात्यवादी रचनाकारों की विशेषताओं को भी रेखांकित किया।

इंगलैंड में मैथ्यू आर्नल्ड (1822-89) ने स्वच्छंदतावाद के पराभव के समय साहित्य को जीवन से जोड़ने की आवश्यकता को समझाया। यह ऐसा समय था जब समाज से साहित्य का संबंध घटता जा रहा था। आर्नल्ड ने सामाजिक और नैतिक प्रतिमानों पर बल देते हुए कविता को 'जीवन की आलोचना' कहा। उनके अनुसार, कविता का प्रयोजन है - लोक-कल्याण, मात्र मनोरंजन नहीं। इस लक्ष्य को सिद्ध करने के लिए उसे उस प्राचीन (अभिजात) साहित्य के आदर्श का अनुसरण करना अनिवार्य है जिसमें महान कृत्यों और मनुष्य के स्थायी मनोवेगों का वर्णन गरिमा, गंभीरता और संतुलन के साथ किया जाता था। आर्नल्ड ने काव्य में वस्तु और रूप के संतुलन की आवश्यकता पर भी बल दिया। उन्होंने रचना और आलोचना, दोनों के ही लिए गरिमा, संतुलन और नैतिक दृष्टि से प्रेरित आभिजात्यवादी मूल्यों पर बल दिया।

आर्नल्ड के बाद बीसवीं शताब्दी में जिन विचारकों ने नव्य-आभिजात्यवाद को नए सिरे से पुनः परिभाषित किया उनमें विशेष रूप से इर्विंग बैबिट, टी.एस.एलियट और टी.ई.ह्यूम की गणना की जाती है। इनमें सर्वाधिक महत्व टी.एस.एलियट (1882-1965) का है। उन्होंने सन 1928 में साहित्य के प्रति अपना दृष्टिकोण को औपचारिक रूप से 'आभिजात्यवादी' कहा। वे सन 1919 में ही अपने प्रसिद्ध निबंध 'ट्रेडिशन एण्ड इंडिविजुअल टैलेन्ट' में आभिजात्यवादी सिद्धांतों की स्थापना कर चुके थे। कला को उन्होंने वस्तुनिष्ठ माना। विषय में गरिमा और प्रौढ़ता पर बल दिया और नव्य-आभिजात्यवाद की परंपरा में कुछ नए बिंदु जोड़े। परम्परा को महत्व देने के साथ उन्होंने वैयक्तिक प्रतिभा के महत्व को भी स्वीकार किया। परम्परा के बारे में उनकी निजी अवधारणा थी। वे परम्परा को जड़ और निरपेक्ष नहीं मानते थे। उनके अनुसार हर रचना परम्परा का हिस्सा तो होती ही है, साथ ही वह उसमें (परंपरा में) कुछ जोड़ती और बदलती भी है। परंतु एलियट परंपरा और 'परंपरा' में अंतर करते थे। उन्होंने अंग्रेजी कविता के इतिहास में दरबारी कविता के प्रति रुचि का तिरस्कार किया और परंपरा के महत्वपूर्ण रचनाकारों और युगों का पुनर्मूल्यांकन किया। एलियट ने आर्नल्ड की ही तरह, आलोचना की भूमिका पर भी विचार किया और तटस्थता को उसका आवश्यक गुण माना।

ह्यूम ने **रोमाण्टिसिज़्म** की सापेक्षता में **क्लासिसिज़्म** की व्याख्या करते हुए उसके दार्शनिक आधार को स्पष्ट किया। उन्होंने कहा : 'रूसो के अनुसार रोमाण्टिसिज्म में मनुष्य को संभावनाओं का अनंत कोश माना गया, जबकि क्लासिकी दृष्टि के अनुसार मनुष्य वस्तुतः सीमाबद्ध प्राणी है। वह परम्परा तथा नियमों के अनुशासन से ही मूल्यवान उपलब्धि करता है।' ह्यूम की इस मान्यता के मूल में ईसाई मत की मनुष्य संबंधी अवधारणा, जिसके अनुसार मनुष्य प्रकृत्या पतनशील और पापी होता है, काम कर रही है।

बीसवीं शताब्दी में एलियट, ह्यूम और अन्य विचारकों ने नव्य-आभिजात्यवादी दृष्टि के माध्यम से वस्तुनिष्ठता को अनिवार्य कला-मूल्य के रूप में स्थापित किया। इसी युग में कुछ दूसरे आंदोलनों और अनुशासनों में भी वस्तुनिष्ठता की प्रवृत्ति का समर्थन किया गया। इनमें मुख्य थी - रूपवादी आलोचना, जिसमें कविता को मूलतः भाषिक रचना माना गया। परिणामतः उसके अध्ययन का आधार भी उसकी अंतर्वस्तु को नहीं रूपगत विधान को बनाया गया। इन आलोचकों ने अपनी आलोचनात्मक सामर्थ्य का उपयोग कृतियों के भाषिक-विश्लेषण में किया।

नव्य-आभिजात्यवाद की विशेषताओं पर ध्यान देने से यह स्पष्ट दिखाई पड़ता है कि ये विशेषताएँ आभिजात्यवाद में लक्षित होने वाली विशेषताओं से मूलतः भिन्न नहीं हैं। आभिजात्यवाद में प्राचीन ग्रीक

और रोमन साहित्य के साथ-साथ उस विचार-पद्धति के प्रति भी आस्था थी जिसके आधार पर उस साहित्य की रचना हुई थी। इस आस्था के मूल में परंपरा के प्रति श्रद्धा और आदर का भाव था। इनका मानना था कि प्राचीन परंपराओं को जन्म देने वाला समाज एक प्रकार से पूर्ण समाज है। यही कारण है कि उसने परंपरा की श्रेष्ठता के शिखर को पा लिया। आभिजात्यवादी विचारकों का विश्वास था कि प्राचीन युग के रचनाकारों ने अभिव्यक्ति के समुचित साधन पाकर सभी कला-रूपों को सिद्ध कर लिया है। इसलिए उनके द्वारा स्थापित नियमों को शाश्वत और सार्वकालिक मानकर, हर युग में उन्हें कला की रचना का आधार और मूल्यांकन की कसौटी बनाना चाहिए।

नव्य-आभिजात्यवाद में भी लम्बे समय तक इसी विचार का कट्टरता से समर्थन और अनुगमन किया गया। कार्नील, बुअलो, रासीन आदि ने सभी स्तरों पर प्राचीन साहित्य के अनुकरण को उचित माना तथा साहित्य-रूपों के अनिवार्य तत्वों का निर्धारण प्राचीन रचनाओं और सिद्धांतों के ही आधार पर किया।

इस दृष्टि में बदलाव अट्ठारहवीं शताब्दी में उस समय आया जब अलेक्जेंडर पोप ने इस बाह्य अनुकरण के बजाय आदर्शों के अनुकरण पर बल दिया।

आभिजात्यवाद और नव्य-आभिजात्यवाद में प्राचीन मूल्यों के प्रति निष्ठा के कारण नए प्रयोगों का विरोध किया जाता रहा। अनुकरण और शास्त्रबद्धता जो क्रमशः रूढ़िबद्धता का रूप ग्रहण कर लेती है, कृति में संतुलन और अनुशासन भले ही लाती हो, परंतु वैयक्तिकता, सर्जनशीलता और मौलिकता के मार्ग में बाधक होती है। इसी कारण परवर्ती नव्य-आभिजात्यवाद में रचना परंपरा के अनुकरण के बजाय मूल्यों और आदर्शों के अनुसरण को प्राथमिकता दी जाने लगी।

नव्य-आभिजात्यवाद में भी प्राचीन अभिजात-साहित्य की तरह वैशिष्ट्य (एक्सिलेंस) और चिरंतनता (परमानेंस) को ही साहित्य का शाश्वत मूल्य माना गया। नव्य-आभिजात्यवाद में कला तथा साहित्य में संतुलन, संयम, अनुशासन, व्यवस्था तथा तर्क-संगति पर बल दिया गया। वस्तुनिष्ठता पर अधिक बल देने के कारण नव्य-आभिजात्यवादी चिंतन में रूप (फॉर्म) पर बल बढ़ता गया। कृति की श्रेष्ठता का आधार उसके बाह्य गठन का सौष्ठव हो गया। भाषा, अलंकार और छंद योजना का महत्व बढ़ता गया और मौलिक सृजन की संभावना कम होती गई।

आभिजात्यवाद और नव्य-आभिजात्यवाद, दोनों में वैयक्तिकता की तुलना में सार्वभौमिकता का पक्ष प्रधान रहा। कवि के लिए उन्होंने आवश्यक माना कि वह देश-काल से निरपेक्ष होकर सही और गलत, उचित और अनुचित के प्रत्ययों का सार्वभौम स्तर पर विवेचन करे। अर्थात् तात्कालिक देश और काल, दोनों का अतिक्रमण उसके लिए वांछित समझा गया। इस धारणा के अनुसार रचनाकार का सरोकार व्यक्ति तक सीमित न होकर संपूर्ण जाति और समाज की सामान्य तथा व्यापक वृत्तियों से होना चाहिए। काव्य के प्रयोजनों में भी उन्होंने शिक्षा को प्रमुखता देते हुए आनंद को गौण माना।

आभिजात्यवाद मूल रूप से अभिजात वर्ग के साहित्य से प्रेरित हुआ था। नव्य-आभिजात्यवादी साहित्य भी नागर और सुशिक्षित वर्ग से जुड़ा था। इस साहित्य में भावना की अपेक्षा बुद्धि और तर्क की प्रधानता थी। आभिजात्यवाद में सामान्यतः भावुकता और आत्मानुभूति की उपेक्षा की जाती थी, किंतु आगे चलकर नव्य-आभिजात्यवाद में पंडिताऊ वृत्ति की कट्टर शास्त्रबद्धता धीरे-धीरे कम होती गई और सिद्धांत-निरूपण के लिए तर्क, विवेक और युगानुरूपता को अधिक महत्व दिया जाने लगा। बीसवीं शताब्दी तक आते-आते अनुभूति और संवेदनशीलता के महत्व को भी स्वीकार किया जाने लगा। नव्य-आभिजात्यवादी दृष्टि मूलतः समाजोन्मुखी होती है और यह भी सही है कि सिद्धांत के स्तर पर रचना में भाव और बुद्धि का समन्वय होना चाहिए। एलियट ने इसी कारण रोमांटिक काव्य में भाव और कल्पना के बढ़ते प्रभुत्व को खतरे के रूप में देखा था और संवेदना को हृदय तथा बुद्धि के खानों में बाँटकर साहित्य के मूल्यांकन का विरोध किया था। वे काव्य में वैयक्तिक और निर्वैयक्तिक तत्वों की पहचान भी द्वंद्वात्मक सह-अस्तित्व के रूप में करते थे, परस्पर विरोधी रूप में नहीं।

आर्नल्ड ने कविता और जीवन के पारस्परिक संबंध पर जिस रूप में बल दिया था, आगे चलकर प्रगतिशील विचारधारा में भी उसका समर्थन किया गया। यह कहना अनुचित नहीं होगा कि नव्य-आभिजात्यवाद की मूल दृष्टि में अनेक बातें ऐसी हैं जिन्होंने बीसवीं शताब्दी के साहित्यालोचन की प्रवृत्तियों को अलग-अलग ढंग से प्रभावित किया है।

20.4 प्रमुख प्रवृत्तियाँ

आभिजात्यवाद को परिभाषित कर उसकी विशेषताओं का निरूपण करने का कारगर प्रयास उन स्वच्छंदतावादियों ने किया जो अपने पक्ष-समर्थन के लिए आभिजात्यवाद का विरोध कर रहे थे। दूसरी बार आभिजात्यवाद पर विचार उन विचारकों ने किया जो स्वच्छंदतावाद के विरोध में आभिजात्यवाद की पुनः प्रतिष्ठा कर रहे थे। यह विडम्बना ही कही जाएगी कि हर बार आभिजात्यवाद का विरोधी समझा जाने वाला स्वच्छंदतावाद ही उसे परिभाषित करने और उसकी प्रवृत्तियों का निर्धारण करने में सहायक हुआ। शिपले के अनुसार 'रोमाण्टिक विचारकों और कवियों ने 'क्लासिसिज़्म' संज्ञा के इतने भिन्न और विविध प्रयोगों के सामान्य आधार और संयोजक अवधारणा की कुंजी प्रदान की।'

वस्तुतः आभिजात्यवादी कला उस समाज या पीढ़ी की सृष्टि होती है, जिसे अपनी उपलब्धि और प्रगति के साथ जीवन के उचित और व्यापक दृष्टिकोण की सिद्धि का एहसास हो। साथ ही भाषा और कला-रूपों में अपने मानस की अभिव्यक्ति के समुचित माध्यम को पा लेने का बोध हो। अर्थात् आभिजात्यवाद में आस्थावान समाज का संतुलन अभिव्यक्ति पाता है।

अध्ययन की सुविधा के लिए आभिजात्यवाद की प्रवृत्तियों को निम्नलिखित रूप में सूत्रबद्ध किया जा सकता है -

1. **अनुकरण** : आभिजात्यवादी कला में मौलिक सृजन की अपेक्षा साहित्य के प्राचीन और चिर-परिचित रूपों के प्रति आकर्षण दिखाई पड़ता है। इस प्रवृत्ति के रचनाकार प्राचीन कलाकारों के कृतित्व का रूपांतर करने अथवा उनकी अनुकृति बनाते रहने का प्रयास करते हैं। साहित्यिक परंपरा के प्रति इस निष्ठा के मूल में यह विश्वास रहता है कि मनुष्य परंपरा और व्यवस्था के अभाव में कोई अच्छी बात कर ही नहीं सकता। आरंभ में जो बल रचनाकारों और रचनाओं पर दिया जाता है, आगे चलकर वह आदर्शों के बल पर दिया जाने लगा।

2. **सायास निर्मिति** : रचना को अनुकरण मानने के कारण आभिजात्यवाद के समर्थक रचना को स्वतः स्फूर्त मौलिक सृजन न मानकर **सायास निर्मित कलाकृति** मानते हैं। आभिजात्यवाद कला में परिष्कृत रुचि, जीवन की व्यापक दृष्टि के साथ-साथ विवेक और भावना तथा वस्तु और रूप-आकार के संतुलन को प्राथमिकता देता है। रचना के अंतरंग पक्ष में मर्यादित औदात्य, आत्मा की गरिमा, स्वच्छता और प्रशान्ति पर बल दिया जाता है तथा विचारों में व्यवस्था और स्पष्टता पर। अभिव्यक्ति में सादगी, संतुलन और सानुपातिक संरचना इन रचनाकारों का लक्ष्य होती है। अभिव्यक्ति की प्रक्रिया में नए रूपों और संरचनाओं की खोज तथा उद्भावना इनका उद्देश्य नहीं रहता क्योंकि ये मानकर चलते हैं कि विशेष प्रकार के विषयों के लिए कुछ निश्चित रूपाकार ही उचित अतः पूर्व-निर्धारित होते हैं। इनके यहाँ कृति की रचना अंतःस्फूर्त भावों अथवा आवेग के अनायास उच्छलन के रूप में नहीं होती, सोच-समझकर योजनाबद्ध रूप में की जाती है।

3. **वस्तुनिष्ठ कला** : आभिजात्यवादी कला मूलतः वस्तुनिष्ठ कला होती है। इनकी दृष्टि में स्वच्छंदतावादी कला की आत्म-निष्ठता के प्रति अविश्वास और वस्तुनिष्ठता के प्रति समादर का भाव रहता है। वस्तुनिष्ठ प्रतिमानों की स्वीकृति का कारण किसी हद तक इस दृष्टिकोण की अनुकरण-धर्मिता है। मिडिल्टन मरे ने धार्मिक मान्यता से इसकी संगति की चर्चा करते हुए कहा है - 'कैथोलिक मत व्यक्ति से बाहर अतर्क्य आध्यात्मिक सत्ता के सिद्धांत का समर्थन करता है। आभिजात्यवाद का सिद्धांत भी यही है। अपने से बाहर की किसी चीज़ के प्रति निष्ठा रखे बगैर मनुष्य का काम नहीं चल सकता।' अर्थात् व्यक्ति मन की आंतरिकता और आत्म-प्रियता के बजाय जीवन की ठोस वास्तविकता इस कला की विषय-वस्तु होती है।

4. **भाव-संयम और भाव-व्यवस्था** : आभिजात्यवाद में भावना का निषेध नहीं किया गया। वस्तुतः अनुभूति के अभाव में उत्कृष्ट कला का सृजन संभव ही नहीं है। किंतु रोमांटिक काव्य-चिंतन में भावोच्छ्वास या भावावेग को जिस रूप में काव्य-सृजन का मूल हेतु माना गया, उस रूप में आभिजात्यवादी दृष्टि भावों की अभिव्यक्ति का समर्थन नहीं करती। उसमें भावावेग के स्थान पर भाव-संयम और भाव-व्यवस्था पर बल दिया गया और भावोच्छलन या भावों की स्वतःस्फूर्त अभिव्यक्ति के प्रति अविश्वास प्रकट किया गया।

5. **सार्वभौमिकता** : स्वच्छंदतावाद में काव्य को मूलतः कवि की आत्मीय अभिव्यक्ति माना जाता है। उसमें व्यक्ति की प्रतिष्ठा और प्रतिनिधित्व होता है। इसके ठीक विपरीत, आभिजात्यवादी कलाकार की प्रमुख आकांक्षा होती है कि उसका साहित्य विश्वजनीन सभ्यता का चरम

प्रतीक हो। इस प्रकार की सार्वभौमिकता को लक्ष्य के रूप में स्थिर करने वाले कलाकार के लिए जरूरी हो जाता है कि वह अपनी रचना को यथासंभव अधिकाधिक निर्वैयक्तिक बनाए। इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए वह देश-काल का ही नहीं अपनी वैयक्तिकता का भी बराबर अतिक्रमण करने का प्रयास करता है।

6. **वस्तुनिष्ठता** : वैयक्तिकता के अतिक्रमण की एक प्रवृत्ति आत्म की तुलना में वस्तु को महत्व देने की होती है और दूसरी नवीनता की उद्‌भावना की अपेक्षा परंपरा का अनुगमन करने की। स्वच्छंदतावादी जहां कल्पना के पंखों पर नित नए लोकों का भ्रमण करना और आकाश की ऊँचाइयों का स्पर्श करना चाहता है वहाँ आभिजात्यवादी रचनाकार के पाँव दृढ़ता से अपनी जमीन से, चारों ओर के वस्तु-जगत से बँधे रहते हैं। वह अपनी विरासत, अपनी परंपरा के बारे में पूर्णतः सजग और सचेत रहता है। ह्यूम के अनुसार, 'कल्पना की ऊँची से ऊँची उड़ानों में भी कुछ बंधन, कुछ संयम रहता है। आभिजात्यवादी कवि मनुष्य की इस समीपता को, उसकी इस सीमा को कभी भूलता नहीं है: वह जानता है कि धरती से उसका अटूट नाता है।' कहने का तात्पर्य यह कि आभिजात्यवादी रचनाकार की दृष्टि में उसके आत्म की तुलना में इदम का महत्व कहीं अधिक होता है जिसमें चारों ओर के जीवन और जगत के साथ परंपरा और विरासत भी शमिल होती है।

आधुनिक युग में 'क्लासिसिज़्म' और 'रोमांटिसिज़्म' दो ऐसी प्रवृत्तियों के वाचक पद हो गए हैं जो पूर्वापर क्रम में चक्राकार गति से समय-समय पर उदित और अस्त होती रही हैं – परस्पर विरोधी और परस्पर पूरक रूप में।

20.5 स्वच्छंदतावाद का अर्थ और परिभाषा

पाश्चात्य साहित्य-चिंतन में 'रोमांटिसिज़्म' अथवा 'स्वच्छंदतावाद' को प्रायः 'क्लासिसिज़्म' अथवा 'आभिजात्यवाद' की विरोधी प्रवृत्ति के रूप में देखा जाता है। आभिजात्यवाद में जहाँ साहित्य के लिए वस्तुपरक शास्त्रीय नियमों का अनुशासन आवश्यक माना जाता है, वहाँ स्वच्छंदतावाद आत्मपरकता के साथ रचनाकार की स्वतंत्रता के अधिकार का समर्थन करता है।

अंग्रेजी आलोचना में 'रोमांटिसिज़्म' शब्द का प्रयोग 18वीं सदी के अंत में उभरी एक विशिष्ट प्रवृत्ति के लिए हुआ जो मुख्य रूप से कविता के क्षेत्र में प्रतिफलित हुई किंतु जिसने साहित्य तथा कला के अन्य क्षेत्रों पर भी गहरा प्रभाव छोड़ा।

'रोमांटिसिज़्म' का सीधा अर्थ 'रोमांस' से जुड़ा है जिसका प्रयोग भिन्न-भिन्न अर्थों में होता रहा है। 'रोमांस' शब्द सामान्यतः अति-भावुक तथा कल्पना-प्रधान मनोवृत्ति के लिए प्रयुक्त होता है। ऐसी प्रवृत्ति जिसके लिए कुछ भी असंभाव्य नहीं है। यहीं से आरंभ होकर इसका प्रयोग मध्यकाल की प्रेम तथा साहसिकतापूर्ण कथाओं और लोक-गाथाओं के लिए होने लगा। संभव-असंभव स्थितियों से जूझते चरित्रों वाली ये कथाएँ प्रेम और वीरता के अत्यंत ऊँचे आदर्शों पर आधारित होती थीं और इनमें प्रायः रहस्यमय अति-मानवीय तत्वों का समावेश भी होता था। इन्हीं कथाओं को रोमांस कहा जाता था।

आगे चलकर इस शब्द का प्रयोग साहित्य की उस प्रवृत्ति के लिए होने लगा जो वस्तुवादी, शास्त्रवादी तथा आदर्शवादी अनुशासन से प्रेरित गद्यात्मक साहित्य के विरुद्ध वस्तु तथा भाषा के स्तर पर भावुकता, चारुत्व और रमणीयता से युक्त साहित्य की वकालत करती थी।

अठारहवीं शताब्दी में प्रयोग तथा क्षेत्र, दोनों दृष्टियों से इस शब्द का अर्थ-विस्तार हो गया। फ्रांस में उच्च-वर्गीय अन्याय एवं शोषण के खिलाफ स्वातंत्र्य-भावना से प्रेरित जो जनांदोलन हुआ था, 'रोमांस' का संबंध उस भावना से भी जोड़ा जाता है। इस अर्थ में वह व्यक्ति या स्थिति-विशेष के स्थान पर पूरी मानवता की स्वातंत्र्य-चेतना से जुड़ गया।

'रोमांस' के अनेक अर्थों में भी अनेक सूक्ष्म अर्थच्छायाएँ हैं जिनके सारे पहलुओं का स्पष्ट रूप से निर्देश नहीं किया जा सका है। इसके अलावा, जिन रचनाकारों और विचारकों ने इस प्रवृत्ति के विकास और निर्वाह में योगदान दिया, उनकी जीवन-शैली और जीवन-दृष्टि में भी काफी अंतर रहा है। इसलिए ...म' और 'रोमांटिसिज़्म' की सुनिश्चित परिभाषा करना कठिन है। कुछ विद्वानों ने इस कार्य को

सभव भी नहीं माना है। 'रोमांटिसिज़्म' की विशेषताओं और प्रवृत्तियों का अध्ययन तो किया जाता रहा है, किंतु इसकी स्पष्ट परिभाषा नहीं हो सकी।

प्रवृत्तियों की विविधता को लक्ष्य करते हुए आर्थर लवजॉय ने सुझाव दिया कि इस शब्द का प्रयोग एकवचन नहीं, बल्कि बहुवचन प्रयोग ('रोमांटिसिज़्म') होना चाहिए। उन्होंने इसके उनसठ प्रकारों का निर्देश किया है। अंग्रेज़ी साहित्य के इतिहासकार एमिल लेगुई तथा लुई कैजामियाँ ने **एकदम बदलते हुए मिजाज़ को इसकी सामान्य पहचान माना है और इसे 'परंपरावादी कला के विरुद्ध नवोन्मेषकारी सौंदर्यशास्त्रीय सिद्धांत** कहा है। उनका कहना है कि इस सिद्धांत को विशुद्ध मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखना चाहिए, कोई दूसरी दृष्टि इसे मनभाने ढंग से सीमित कर देगी।

हिंदी में 'रोमांटिसिज़्म' के लिए 'स्वच्छंदतावाद' का प्रयोग किया जाता है। स्पष्ट है कि इस शब्द से इस सिद्धांत या मनोवृत्ति के एक ही पक्ष का संकेत मिलता है, किंतु यह शब्द 'रोमांटिसिज़्म' शब्द के संपूर्ण अर्थ के लिए रूढ़ हो गया है। पाश्चात्य सौंदर्यशास्त्र में भी 'रोमांटिसिज़्म' शब्द का प्रयोग तो लंबे समय से होता रहा, किंतु इसके पारिभाषिक अर्थ का निर्धारण बहुत बाद में हुआ। इस शब्द का पारिभाषिक अर्थ में प्रयोग सबसे पहले फ्रांस में 1669 ई. में हुआ। वहाँ यह शब्द कला-चिंतन के संदर्भ में प्रयोग में आया था। अंग्रेज़ी में भी यह शब्द सत्रहवीं शताब्दी में ही आ गया था, किंतु साहित्य के प्रसंग में इसका अर्थ स्पष्ट और सुनिश्चित नहीं था। इसके सटीक अर्थ के बारे में यूरोपीय साहित्य-जगत में काफी समय तक वाद-विवाद भी होता रहा। अंततः जर्मनी के श्लेगल ने शास्त्रवाद या 'क्लासिसिज़्म' की विपरीत प्रवृत्ति के रूप में इसका अर्थ निर्धारित किया। विडम्बना यह है कि इसे सबसे अधिक प्रसिद्धि अंग्रेज़ी काव्य की एक प्रवृत्ति के रूप में मिली किंतु उस प्रवृत्ति से जुड़े प्रख्यात कवियों — वर्डसवर्थ, कॉलरिज, शेली आदि — ने अपने तथा अपने युग के काव्य-सिद्धांतों की चर्चा के दौरान कहीं भी इस शब्द का प्रयोग नहीं किया, न ही वे इसके अर्थ या प्रयोग को लेकर किसी विवाद में पड़े।

क्लासिसिज़्म की विपरीत प्रवृत्ति के रूप में इसका अर्थ निर्धारित करने का तात्पर्य यह नहीं है कि यह प्रवृत्ति नकारात्मक या निषेधात्मक है। वस्तुतः इस प्रवृत्ति को परिभाषा के माध्यम से नहीं, इतिहास और प्रवृत्तियों के आधार पर समझा जा सकता है।

20.6 स्वच्छंदतावाद का इतिहास

आज स्वच्छंदतावाद (रोमांटिसिज्म) का प्रयोग जिस प्रवृत्ति के लिए किया जाता है, वह मुखर रूप से अठारहवीं शताब्दी के अंत में अंग्रेज़ी साहित्य में प्रकट हुई। इससे मिलती-जुलती प्रवृत्ति इससे पहली भी - विशेष कर एलिज़ाबेथन युग में दिखाई पड़ी थी। उस समय यह मध्ययुगीन रोमांस के प्रति आकर्षण और प्रेम तथा सौंदर्य के प्रति नई दृष्टि के रूप में उभरी थी। किंतु तब यह साहित्य के व्यापक प्रवाह के बीच एक धारा मात्र थी। रचनाकारों ने सजग रूप में इसका पक्ष-समर्थन नहीं किया था। इसके विपरीत, अठारहवीं शताब्दी में रचनाकारों ने अपने पक्ष में जो तर्क देते हुए साहित्यिक रूढ़ियों को तोड़ने और वैयक्तिक भावोन्मेष को वाणी देने का जो सजग प्रयत्न किया, उससे स्पष्ट है कि वे संपूर्ण सचेत भाव से और निश्चित उद्देश्य से इस प्रवृत्ति को अपना रहे थे।

परिवर्तन के इस प्रयास के सामाजिक तथा राजनीतिक कारण थे। सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दी में बेन जॉनसन, पोप आदि ने साहित्य में गरिमा, संतुलन तथा अनुशासन लाने के लिए जिस नव्य-आभिजात्यवादी दृष्टि को अपनाया था, वह अब रूढ़ परंपरा मात्र होकर रह गई थी। प्राचीन साहित्य-सिद्धांतों और आदर्शों के अनुकरण की चेष्टा में साहित्य बनावटी और आडम्बरपूर्ण हो चला था। रचना कर्म की दृष्टि से वह युग एक बड़े परिवर्तन की अपेक्षा कर रहा था। प्लेटो, अरस्तू, होरेस, होमर, वर्जिल आदि की सदियों पुरानी कसौटियों पर पूरा उतरने के प्रयास में वह अपने युग की आवश्यकताओं से कट गया था। नव्य-आभिजात्यवादी रुझान ने बुद्धि, व्यंग और तर्क को प्रधानता देते हुए भावुकता से इस साहित्य को लगभग बहिष्कृत कर दिया था।

इस प्रवृत्ति के विरुद्ध रचनाकारों में होने वाली कसमसाहट विलियम ब्लेक (1757-1827) और रॉबर्ट बर्न्स (1759-96) में धीरे-धीरे रूप ग्रहण कर रही थी। सन 1798 में विलियम वर्डसवर्थ (1770-1850) तथा सैमुअल टेलर कॉलरिज (1772-1834) के सहयोगी प्रयास के रूप में प्रकाशित संकलन

'लिरिकल बैलेड्स' के प्रकाशन के साथ यह प्रवृत्ति पुरानी अति-बुद्धिवादी रूढ़ियों को चुनौती देती हुई सामने आई। इसीलिए इसे तार्किकता के विरुद्ध भाव का विद्रोह कहा गया।

तार्किकता के विरुद्ध भाव के विद्रोह की साहित्यिक घटना का सूत्र यूरोप की एक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक घटना से जोड़ा जाता है। 1789 ई. की फ्रांसीसी क्रांति को अक्सर स्वच्छंदतावाद का प्रस्थान-बिंदु कहा गया है। कुछ लोगों ने 1776 ई. की अमरीकी क्रांति का उल्लेख भी इसके मूल कारणों में किया है, परंतु इसका सीधा और तात्कालिक संबंध फ्रांसीसी क्रांति और उसके उत्प्रेरक विचारकों से है। इसमें वाल्टेयर (1694-1778) और रूसो (1712-1778) के विचारों का विशेष योगदान माना जाता है। वाल्टेयर ने अपने समय के राजतंत्र और चर्च, दोनों के विरोध का साहस दिखाते हुए, उन्हें मनुष्य के विकास और प्रगति में बाधक कहा। रूसो ने अपने प्रसिद्ध सूत्र 'स्वतत्रता समानता और बंधुत्व' की स्थापना करते हुए यह घोषणा की कि जो शासन समाज को इसका अवसर प्रदान नहीं कर सकता उसे जनता का प्रतिनिधित्व और उसपर शासन करने का अधिकार नहीं है। ऐसी सरकार को उलटने के लिए उन्होंने जनता का खुला आह्वान करते हुए उसे विद्रोह के लिए प्रेरित किया। शासित और शासक के बीच इससे जो संघर्ष आरंभ हुआ उसने समूचे यूरोप के सामाजिक ढाँचे को झकझोर कर नई जीवन-दृष्टि प्रदान की।

1789 ई. की फ्रांसीसी क्रांति केवल राजनीतिक घटना ही नहीं थी, विचारों के क्षेत्र में स्वतंत्रता की वाहक समानांतर जीवन-दृष्टि थी जिसकी प्रस्तावना रूसो ने की थी। रूसो की घोषणा कि :'मानव जन्मना स्वतंत्र प्राणी है जो हर जगह श्रृंखलाओं से जकड़ा है।' (Man is born free, but found everywhere in chains) ऐसा सूत्र था जिसने पूरे यूरोप के मानस को आंदोलित कर दिया। समाज के प्रमुख सत्ता केंद्र थे - राजा, सामंत और धर्माधिकारी। इनके खिलाफ संघर्ष का जो दौर आरंभ हुआ उसकी चरम परिणति फ्रांसीसी क्रांति में हुई। लंबे संघर्ष के बाद मानव-मुक्ति का स्वप्न इस क्रांति के रूप में साकार हुआ जिसने यूरोप के साहित्य को ही नहीं इतिहास, दर्शन, संस्कृति, संगीत, कला - सभी को व्यापक स्तर पर प्रभावित किया और मध्य-वर्ग के बुद्धिजीवियों में नए उत्साह, आत्मविश्वास और चेतना का संचार किया।

अठारहवीं शताब्दी के अंत तक पहुँचते पहुँचते स्वच्छंदतावाद के रूप में एक नया क्रांतिकारी जीवन-दर्शन पूरे यूरोपीय समाज में व्याप्त हो गया है। यह आंदोलन केवल अंग्रेज़ी साहित्य तक ही सीमित नहीं रहता बल्कि फ्रांसीसी और जर्मन साहित्य पर भी इसका पूरा प्रभाव दिखाई पड़ता है। इसे इतिहासकारों ने **नियमों और रूढ़ियों के खिलाफ 'व्यक्ति का विद्रोह' कहा है। स्वच्छंदतावाद मूलतः बंधन मुक्ति का आंदोलन है** जिसे विक्टर ह्यूगो ने साहित्य में उदारतावाद (लिबरलिज़्म इन लिट्रेचर) कहा है। ज़ाहिर है रूढ़ियों और नियमों के संरक्षक धर्म और चर्च के विरुद्ध यह मनुष्य का स्वतंत्र अभिव्यक्ति के लिए विद्रोह था। राजनीतिक दृष्टि से यह तानाशाही राजतंत्र के खिलाफ उदार जनतंत्र की स्थापना के लिए की गई लड़ाई थी। इस स्वातंत्र्य-चेतना की अभिव्यक्ति साहित्य में तो नई भाव-केंद्रित रचनात्मकता के रूप में हुई ही, संगीत में नए प्रयोग करने की प्रवृत्ति बहुलता से दिखाई पड़ी। अंग्रेजी के स्वच्छंदतावादी साहित्य का व्यापक प्रभाव जर्मन और फ्रांसीसी साहित्य पर भी पड़ा, लेकिन स्वच्छंदतावाद के इन विविध रूपों का अपना वैशिष्ट्य है जो इनकी अलग पहचान बनाता है।

जर्मनी में रचनात्मक साहित्य से पहले सैद्धांतिक विवेचन में स्वच्छंदतावाद का प्रभाव प्रकाश में आया। स्वच्छंदतावाद के प्रारंभिक दौर (1798-1810) के रचनाकारों में, साहित्य में भाव और बुद्धि की भूमिका के बारे में असमंजस दिखाई पड़ता है। लेसिंग हों या गेटे भाव को महत्व देते हुए भी वे बुद्धि का निषेध नहीं करते। गेटे एक ओर स्वच्छंतदतावाद को 'सिकली' (रुग्ण) कहते हैं तथा दूसरी ओर उन अंग्रेज़ी के कवियों के प्रति आकर्षित भी होते हैं जो बुद्धि-विरोधी हैं। श्लेगल बंधुओं की प्रसिद्धि भी विशेष रूप से स्वच्छंदतावाद के सिद्धांतों का विवेचन करने के लिए ही हुई, उन सिद्धांतों का व्यवहार करने के लिए नहीं। इतना अवश्य है कि वे स्वच्छंदतावादी कविता को प्रगतिशील कहते थे। ये लोग स्वच्छंदतावाद की ओर उन्मुख थे, पूरी तरह स्वच्छंदतावादी नहीं थे। सही अर्थ में स्वच्छंदतावाद से प्रेरित रचनाएँ दूसरे दौर (1810-1820) में नोवालिस, होफ्रमैन, वान आरनिम आदि ने की। इन्होंने प्रगीतों और लोक-कथाओं को प्रमुखता दी। इनकी रचनाओं में अतीत प्रेम, सरलता और संगीतात्मकता जैसी स्वच्छंदतावादी विशेषताएँ मिलती हैं। जर्मनी स्वच्छंदतावाद की निजी विशेषता यह है कि यहाँ लोकगीतों में राष्ट्रीय भावना की प्रधानता है।

जर्मन 'रोमांटिक' साहित्य तथा आत्मवादी दर्शन ने भी स्वच्छंदतावाद को दूर तक प्रभावित किया। इस साहित्य की भाव-विपुलता, अति-प्राकृत तथ्यों के प्रति रुझान तथा विश्व की सीमाओं को तोड़कर आगे बढ़ने वाली अन्वेषण-वृत्ति ने अंग्रेज़ रचनाकारों को प्रभावित किया था। अठारहवीं शताब्दी में ही जर्मनी मे हेगल (कुछ लोग 'हीगल' भी कहते है) और शिलर जैसे दार्शनिकों ने आत्मवादी दर्शन तथा भाववाद का भी विकास किया। इनके दार्शनिक सिद्धांतों ने उस सौंदर्य-दृष्टि को प्रेरित किया जिसमें रहस्यवाद के अतिरिक्त सूक्ष्म अतींद्रिय तत्व तथा सुंदरता के प्रति प्रबल आकर्षण का भाव दिखाई पड़ता है। हेगल (1770-1831) कला की प्रक्रिया को जड़ से चेतन की ओर यात्रा मानते थे और यह चेतन तर्क या बुद्धि से प्रेरित चेतना नहीं, बल्कि अमूर्त, सार्वभौम, विशुद्ध परम चैतन्य है। स्वच्छंदतावादी विचारधारा पर इस दर्शन का प्रभाव बहुत स्पष्ट है।

फ्रांस की राज्य-क्रांति का भी स्वच्छंदतावाद पर गहरा असर पड़ा। सन 1789 ई. में हुई क्रांति के बहुत पहले से इसके लिए वातावरण तैयार हो रहा था। ज्याँ ज़ाक रूसो के लेखन ने जहाँ इस वातावरण को तैयार करने में सक्रिय भूमिका निभाई, वहाँ स्वच्छंदतावादी रचनाकारों को भी बौद्धिक, सैद्धांतिक और भावनात्मक स्तर पर प्रभावित किया। मानव की गरिमा तथा स्वतंत्रता की माँग को लेकर रूसो का आह्वान दलित-शोषित जनता को शासक वर्ग के अत्याचारों के खिलाफ़ संगठित कर रहा था। उस युग के युवा साहित्यकारों में से कइयों ने फ्रांस जाकर इस क्रांति में सक्रिय भाग भी लिया। उधर, साहित्य-रचना के क्षेत्र में इन्होंने साहित्य के पारंपरिक शास्त्रबद्ध नियमों को नकार दिया।

फ्रांस में स्वच्छंदतावाद का आरंभ पहले दौर में विचार के स्तर पर और राजनीतिक विद्रोह के रूप में हुआ। साहित्य में स्वच्छंदतावादी प्रवृत्ति अपेक्षाकृत विलंब से प्रकट हुई। इसका एक कारण राजनीतिक अस्थिरता थी और दूसरा वैचारिक धरातल पर नव्य-शास्त्रवाद के समर्थकों और उदीयमान स्वच्छंदतावादियों के बीच संघर्ष था। यह परंपरावादी और राष्ट्रवादी तथा उदारचेता विचारकों के बीच लड़ाई थी जिसमें 'नए समाज के लिए नए साहित्य की ज़रूरत' का नारा दिया जा रहा था। एक बार स्वच्छंदतावादी रुझान का वर्चस्व स्थापित हो जाने के बाद, दूसरे दौर में (1802-1885) विचारधारा से आगे बढ़कर सौंदर्यशास्त्र के क्षेत्र में भी सृजनात्मक कल्पना और व्यक्तिवादी संवेदनाओं को प्राथमिकता देते हुए ऐसा साहित्य सामने आया जिसने तीन दशक से अधिक (1798-1832 ई) समय तक पूरे यूरोप में साहित्य की नई प्रवृत्तियों का मार्ग प्रशस्त किया। जैसा बादलेयर ने कहा है, फ्रांसीसी स्वच्छंदतावादियों के साहित्य में आंतरिक जगत की अपेक्षा बाह्य जीवन पर दृष्टि अधिक केंद्रित रही और कविता की तुलना में गद्य रचनाओं और नाटक में इस प्रवृत्ति का प्रतिफलन अधिक हुआ। रचनाकारों में स्तांदल और बालज़ाक विशेष प्रसिद्ध हुए। फ्रांसीसी स्वच्छंदतावादियों में अन्य रचनाकारो की तरह सौंदर्यानुभूति, कल्पना और भावावेग जैसे मूलभूत तत्व मिलते अवश्य हैं, परंतु उनका विशेष योगदान विचार और चिंतन के क्षेत्र में दिखाई पड़ता है।

अंग्रेज़ी स्वच्छंदतावाद को कुछ विद्वानों ने खींचकर शेक्सपियर के समय तक ले जाने की कोशिश की है। इससे केवल यह बोध होता है कि यूरोप के अन्य देशों की तुलना में अंग्रेज़ी स्वच्छंदतावाद का फलक अधिक व्यापक है। जर्मनी और फ्रांस की तरह अंग्रेज़ी स्वच्छंदतावाद का जन्म एक सुनिश्चित वैचारिक आंदोलन के रूप में नहीं हुआ। रेने वेलेक के अनुसार, अंग्रेज़ी में स्वच्छंदतावाद की शुरूआत किसी पूर्व-नियोजित सुनिश्चित कार्यक्रम के तहत नहीं हुई। इसका कारण स्पष्ट करते हुए नार्थ्रोप फ्राई ने कहा है कि इसके पीछे फ्रांसीसी क्रांति की तरह, बदलाव के लिए कोई सामाजिक-राजनीतिक दबाव नहीं था। इसीलिए इंगलैंड में पनपने वाले इस स्वच्छंदतावाद का चरित्र आक्रामक नहीं है। इसका विकास यूरोप में अठारहवीं शताब्दी के दौरान होने वोले परिवर्तनों - ज्ञान विज्ञान के विकास और औद्योगिक प्रगति की नई रोशनी में परंपरा के प्रति नई और सही समझ विकसित करते हुए हुआ था। इसका चरित्र राजनीतिक घटनाओं के आधार पर नहीं, लोक-कलाओं, चली आती परंपराओं और स्वच्छंद कल्पना के सहयोग से निर्मित हुआ था।

अंग्रेज़ी में स्वच्छंदतावाद की शुरुआत सैद्धांतिक विवेचन से नहीं कवि-कर्म से हुई। इसकी प्रवृत्तियों का आभास बर्न्स और ब्लेक, विशेष रूप से ब्लेक की कविताओं में मिलने लगा था, किंतु सही रूप में इसका प्रवर्तन वर्ड्सवर्थ (1770-1850) और कॉलरिज (1779-1850) के सहयोगी प्रकाशन 'लिरिकल बैलेड्स' (1807 ई.) से माना जाता है। इस संग्रह के दो ही वर्ष बाद प्रकाशित दूसरे संस्करण की भूमिका 'प्रिफेस टु लिरिकल बैलेड्स' को **स्वच्छंदतावाद का घोषणा-पत्र** कहा जाता है। वर्ड्सवर्थ की प्रसिद्धि जिन स्थापनाओं के कारण विशेष रूप से हुई उनमें उनकी प्रायः उद्धृत की जाने वाली काव्य-परिभाषा है, जिसमें उन्होंने कविता को 'प्रबल मनोवेगों का स्वतः स्फूर्त उच्छलन' कहा है। इस

परिभाषा के द्वारा उन्होंने कविता के प्रति अनुकरणवादी दृष्टिकोण को पूरी तरह से नकार दिया। इसके अतिरिक्त, शैली की दृष्टि से भी वर्डसवर्थ ने काव्य की रूढ़ होती पदावली में बदलाव की माँग करते हुए काव्य-भाषा और गद्य-भाषा में अभिन्नता की वकालत की। इस भाषा के सामाजिक आधार को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा कि इस भाषा का स्रोत जन-सामान्य की बोलचाल की भाषा होनी चाहिए। उनकी इन स्थापनाओं पर बाद में विवाद भले ही हुआ हो, परंतु इससे साहित्य के प्रति रूढ़ और निर्जीव हो चली नव्य-आभिजात्यवादी दृष्टि में आने वाले परिवर्तन और उनके लोकतांत्रिक दृष्टिकोण का प्रमाण मिलता है। कॉलरिज काव्य-सृजन की प्रक्रिया में 'कल्पना' की भूमिका के विवेचन के लिए विशेष प्रसिद्ध हुए। काव्य-विषय के रूप में प्रकृति को महत्वपूर्ण स्थान इन दोनों ही कवियों ने, विशेषकर वर्डसवर्थ ने दिया।

स्वच्छंदतावादी रुझान का प्रभाव केवल अंग्रेज़ी कविता में ही नहीं, साहित्य की अन्य विधाओं में भी दिखाई पड़ा। इस दृष्टि से वाल्टर स्कॉट का उल्लेख किया जा सकता है। वाल्टर स्कॉट ने अपने उपन्यासों में यथार्थ का रूमानी चित्रण कर उन्हें जो स्वच्छंदतावादी रंग दिया उसके कारण वे विशेष लोकप्रिय हुए। इस आरंभिक दौर में समीक्षा पर भी स्वच्छंदतावादी दृष्टि का प्रभाव दिखाई पड़ने लगा।

स्वच्छंदतावाद दूसरे चरण (1798-1852 ई.) में अपने पूरे निखार पर बायरन, शेली कीट्स जैसे रचनाकारों की कृतियों में ही आया। अंग्रेज़ी में स्वच्छंदतावाद के इतिहास को 'ब्लेक से बायरन तक' सूत्र से अभिहित किया जाता है। औद्योगिक क्रांति और वैज्ञानिक अनुसंधानों के प्रभाव से ईश्वर और धर्माधिकारियों के निरंकुश शासन का विरोध और अवमानना तो पहले ही आरंभ हो गई थी, इन कवियों ने कवि-प्रतिभा पर बल देते हुए रचना-कर्म में मौलिकता, सर्जनात्मकता और कल्पना के उपयोग का प्रमाण किया। बायरन में अनुभूति का ताप और उद्यम भावावेग था तो शेली में चिंतन। शेली ने कॉलरिज की परंपरा को आगे बढ़ाते हुए कविता को कल्पना का क्रिया-व्यापार कहा और उसे अनुकर्ता के बजाय द्रष्टा और नियामक माना। इन दोनों से भिन्न कीट्स की दृष्टि मूलतः सौंदर्यवादी है। उन्होंने सिद्धांत विवेचन तो नहीं किया किंतु उनका चिंतन उनके काव्य-विषयों के माध्यम से व्यक्त हुआ। इन विषयों का प्रसार जीवन जगत के व्यापक क्षेत्र तक है। उसमें प्रकृति से लेकर दर्शन विज्ञान तक बहुत कुछ शामिल है। काव्य-सृजन को वे वैसी ही सहज और प्रकृत-घटना मानते हैं जैसे पेड़ों पर पत्तों का आना।

देश-काल, दोनों दृष्टियों से स्वच्छंदतावाद एक व्यापक आंदोलन है जिसका प्रभाव पूरे यूरोपीय साहित्य पर, विशेषकर जर्मनी, फ्रांस और इंगलैंड पर, दिखाई पड़ता है। यह आंदोलन अठारहवीं शताब्दी के अंत से ही आकार लेने लगता है और पूरी उन्नीसवीं शताब्दी में ही नहीं, बीसवी शताब्दी के आरंभिक वर्षों। तक इसका वर्चस्व बना रहता है। इसका क्षेत्र कविता तक ही सीमित नही रहता, उपन्यास, निबंध, समीक्षा - सभी पर इसका व्यापक प्रभाव परिलक्षित होता हैं। यह अवश्य है कि इसका सर्वाधिक उत्कर्ष कविता में ही प्रकट होता है। साहित्य के वस्तु विधान में ही नहीं, शैली-शिल्प में भी नए सौंदर्य-बोध, मौलिकता और कल्पनाशीलता से इस आंदोलन की पहचान बनती दिखाई पड़ती है।

स्वच्छंदतावाद की जो विशेषताएँ उसकी लोकप्रियता और व्यापक प्रसार का कारण थीं, वे ही क्रमशः उसके अवसान के लिए जिम्मेदार हुईं। वैयक्तिकता और आत्मपरकता ने बढते-बढते वस्तु जगत के प्रति उदासीनता का रूप ग्रहण कर लिया। कविता को मनोवेगों का सहज उच्छलन मानने के कारण किसी नियम या नियंत्रण को रचना के लिए लगभग अनावश्यक माना जाने लगा। आरंभिक दौर के रचनाकारों ने आत्म को महत्त्व देकर भी परिवेश की उपेक्षा नहीं की थी। यही उनकी रचनाओं के कालजयी होने का कारण है। किंतु कुछ समय के बाद आत्मपरकता ने विशुद्ध आत्म-केंद्रिकता का रूप ग्रहण कर लिया और परिवेश के साथ जुड़ाव उसी अनुपात में घटता गया। इस प्रवृत्ति की चरम परिणति क्रोचे के अभिव्यंजनावाद में हुई जहाँ संपूर्ण रचना-कर्म कलाकार के मानस में ही पूर्ण हुआ मान लिया गया। वस्तु रूप में उसकी अभिव्यक्ति सृजन-व्यापार का अनिवार्य सोपान नहीं रह गई। लिहाजा सम्प्रेषण और पाठक की इस कला-व्यापार में कोई महत्वपूर्ण भूमिका नहीं रह गई। यह समाज-विमुखता नव्य-शास्त्रवाद की अतिरिक्त समाजोन्मुखता से बेहतर नहीं थी - एक अतिवाद के विरुद्ध खड़ा किया गया दूसरा अतिवाद थी। एफ.एल.ल्यूकस ने इस स्थिति की व्याख्या करते हुए कहा, 'स्वच्छंदतावादी लेखक - अपनी अनुभूतियों और अपनी कल्पना की स्पष्ट तीव्रता में, और उस वातावरण के निर्माण में, जो केवल भावोन्माद द्वारा ही साध्य है - बहुत प्रभावशाली होता है - परंतु जैसे-जैसे उसका उन्माद बढ़ता जाता है, वह बहुत कुछ वह सब खोता जाता है, जो महान कृतिकारों के गुण होते हैं : जैसे संतुलन, अनुपात, नियंत्रण, समन्वय-सामर्थ्य, सामान्य सांसारिक बुद्धि और शालीनता, शांत सहृदयता - जिसके सहारे कोई लेखक अपने या अपनी छायानुकृतियों के अतिरिक्त अन्य चरित्रों का अध्ययन और अंकन करता है।'

निष्कर्ष यह, कि उन प्रवृत्तियों के अतिरेक के कारण जिन्होंने आरंभिक दौर में स्वच्छंदतावाद की पहचान बनाई थी, स्वच्छंदतावादी विचारधारा क्रमशः अप्रासंगिक और रचनाएँ रूढ़ होने लगीं और उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से ही इसके विरोध में एक बार फिर नव्य-आभिजात्यवाद विचारधारा ने धीरे-धीरे सिर उठाना आरंभ कर दिया।

दरअसल स्वच्छंदतावाद की गति में शिथिलता तो 1830 ई. के आसपास से ही आनी शुरू हो गई थी, लेकिन इस प्रवृत्ति पर सबसे मारक प्रहार 1860 ई. में मैथ्यू आर्नल्ड के विचारों से हुआ। उधर, फ्रांस में भी यथार्थवाद, अतियथार्थवाद और प्रतीकवाद की प्रवृत्तियों का प्रभाव इस प्रवृत्ति के प्रभाव को क्षीण करने में साधक हुआ। एक ओर वैयक्तिकता के आग्रहों का अतिरेक तथा दूसरी ओर परंपरा से क्रमिक संबंध-विच्छेद इस धारा के पतन के प्रधान कारण बने। उधर जो कल्पना मूलभूत सृजन-शक्ति के रूप में देखी-सराही जाती थी वह धीरे-धीरे धूमिल अस्पष्ट लोकों में भटकाने ही नहीं लगी जीवन-जगत से पलायन में भी सहायक होने लगी। जो धारा साहित्य में रूढ़ियों और जड़ता को तोड़ने के लिए विद्रोह के रूप में जन्मी थी, उसने क्रमशः अपनी रूढियाँ निर्मित कर लीं और बीसवीं शताब्दी तक पहुँचते-पहुँचते प्रभावी विचारधारा और जीवंत साहित्यिक आंदोलन के रूप में इसका अवसान हो गया।

20.7 प्रमुख प्रवृत्तियाँ

स्वच्छंदतावाद की प्रवृत्तियों अथवा विशेषताओं की चर्चा मुख्य रूप से वर्डसवर्थ, कॉलरिज, शेली, कीट्स, बायरन आदि के काव्य पर आधारित है। किंतु यह नहीं भूलना चाहिए कि इसी युग में अंग्रेज़ी गद्य-साहित्य भी तेज़ी से विकसित हुआ था। सर वाल्टर स्कॉट के उपन्यासों, चार्ल्स लैंब, हैजलिट, लैंडर आदि के ललित निबंधों तथा अन्य गद्य रचनाओं में भी स्वच्छंदतावादी विचारधारा अपने ढंग से अभिव्यक्त हुई। इसलिए इस विचारधारा का विवेचन करते समय इस संपूर्ण साहित्य की विशेषताओं को रेखांकित किया जाना चाहिए। यह उल्लेख करना भी जरूरी है कि ये तमाम विशेषताएँ सभी रचनाकारों में नहीं मिलतीं। उनमें से हरेक ने अपने-अपने ढंग से स्वच्छंदतावादी आंदोलन में अपना योगदान भी किया और उसके भीतर अपनी अलग पहचान भी बनाई। स्वच्छंदतावाद की विशेषताओं की बात करते समय जाहिर है उन सामान्यताओं की चर्चा करनी अपेक्षित होगी जो उनमें समान रूप से दिखाई पड़ती हैं, उन विशिष्टताओं की नहीं जो उन्हे एक-दूसरे से अलग करती हैं। पहले कहा जा चुका है कि स्वच्छंदतावाद को 'तार्किकता के विरूद्ध भाव का विद्रोह' माना गया है। इसी से इसकी दो मूलभूत विशेषताओं का संकेत मिलता है - (1) विद्रोह; तथा (2) भाव-प्रवणता।

1. **विद्रोह** : विद्रोह, स्वच्छंदतावाद का मूल आधार है जिसकी मुख्य प्रेरणा राजनीतिक और सामाजिक अत्याचारी रूढ़ियों के खिलाफ मनुष्य की स्वतंत्रता की माँग करने वाली फ्रांसीसी क्रांति रही है। इस क्रांति के प्रभाव ने उस दौर के रचनाकार को राजनीति, धर्म, समाज और साहित्य की सभी प्रकार की रूढ़ियों से मुक्ति की प्रेरणा दी। साहित्य में यह विद्रोह जड़ता, रूढ़ियों तथा अप्रासंगिक होती हुई लेखन-परंपराओं से लेखक की मुक्ति के प्रयास में दिखाई देता है। ल्यूकस ने इसे अवचेतन का विद्रोह कहा है। यानी इन रचनाकारों की अंतरात्मा विद्रोह करती है। इसीलिए मुक्ति की ललक साहित्य की अंतर्वस्तु तथा रूप, दोनों स्तरों पर उपस्थित है।

   विषय-वस्तु के स्तर पर स्वच्छंदतावादी रचनाकारों ने उदात्त चरित्रों की गाथा गाने के स्थान पर साधारण मानव के सामान्य अनुभवों तथा अपने परिवेश और प्रकृति के सामान्य-सहज रूपों को अंकित किया। इनकी रचनाओं में ग्रामीण जीवन के अनेक नैसर्गिक चित्र - किसान, ग्राम बालाएँ, ग्राम प्रकृति - विषयवस्तु के रूप में स्थान लेती दिखाई पड़ती है। यह लोक-सम्पृक्ति स्वच्छंदतावाद का प्राण है जो एक स्तर पर विद्रोह भी है कृत्रिमता के विरुद्ध स्वाभाविकता और सहजता की प्रतिष्ठा के लिए विद्रोह।

   स्वच्छंदतावादी कवियों ने शैली और शिल्प के प्रयोगों में भी इसी विद्रोही प्रवृत्ति का प्रमाण दिया। इन्होंने अपने-अपने तरीकों से नए प्रयोग तो किए ही, साथ ही शैली और शिल्प के बारे में इनमें आपसी मतभेद भी रहे। यह वैविध्य और प्रयोगशीलता व्यक्ति-स्वातंत्र्य का ही एक रूप है जिसकी गुंजाइश आभिजात्यवाद के नियमन-अनुशासन में नहीं थी। किंतु एक बात जो इनकी विभिन्नता में समान है, वह है सहज-सामान्यता के प्रति रुझान। पुरानी, नपी-तुली, कृत्रिम भाषा (पोएटिक डिक्शन) से भिन्न यह भाषा अपनी विभिन्नता के बावजूद पढ़ने वाले से एक आत्मीय संवाद स्थापित करती है, उसपर अपनी विद्वता तथा गरिमा का रौब नहीं डालती। यह भाषा विषयानुरूप तथा भाव-समृद्ध है।

2. **भाव-प्रवणता** : भाव-प्रवणता भी स्वच्छंदतावादी साहित्य की एक प्रमुख विशेषता है। वर्ड्सवर्थ ने तो कविता की परिभाषा ही 'प्रबल मनोवेगों के सहज उच्छलन' के रूप में की थी। किंतु यह उच्छलन अनुशासनहीन भावातिरेक, भावों की अधिव्यक्ति या अतिव्यक्ति नहीं था। इसके पीछे सूक्ष्म संवेदनशीलता का आग्रह था जो कल्पना से युक्त होकर रचनाकार की आंतरिक अनुभूति को ईमानदारी से उद्घाटित करती थी। यह भाव-प्रवणता और कल्पना-शक्ति उन्हें आत्माभिव्यक्ति की प्रेरणा और क्षमता ही नहीं देती बल्कि वह सहजानुभूति तथा समानुभूति भी देती है जिससे वे आत्मेतर विषयों के अंतर में पैठकर उनकी भावनाओं और उनके प्रति अपनी भावनाओं को प्रस्तुत कर सकें। यह जीवन-निरपेक्ष नहीं जीवन-सापेक्ष भावानुभूति है। जिन वर्ड्सवर्थ ने कविता को 'प्रबल मनोवेगों का सहज उच्छलन' कहकर परिभाषित किया उन्हीं ने उसे 'मानव और प्रकृति की प्रतिछवि' (पोयट्री इज़ द इमेज़ ऑफ़ मेन एण्ड नेचर) कहकर उसकी जीवन-निर्भरता का संकेत भी किया।

3. **कल्पना** : कल्पना को भी स्वच्छंदतावाद में बहुत महत्व दिया गया। इसे काव्य की विधायिनी शक्ति के रूप में देखा गया जो स्थूल बाह्य जगत के अंदर स्थित सूक्ष्म भाव जगत को समझने में रचनाकार की सहायता करती है। कॉलरिज ने तो कल्पना का विस्तार से सैद्धांतिक विवेचन करते हुए सामान्य व्यक्ति की कल्पना से बढ़कर कवि-कल्पना का महत्व स्थापित किया। उन्होंने इसे सृजनकारिणी 'आदि शक्ति' तथा मस्तिष्क की सबसे अधिक प्राणवान क्रिया का दर्जा दे दिया। वे इसे काव्य की ऐसी संश्लेषणात्मक अलौकिक शक्ति मानते हैं जो कवि के संपूर्ण सृजन-व्यापार को क्रियान्वित करती है। कल्पना की नवनवोन्मेषशालिनी क्षमता के बल पर कवि सामान्य तथा स्थूल वस्तु-जगत के साक्षात्कार से भी एक अतींद्रिय, अमूर्त रहस्यमय लोक में या किसी नैतिक और दार्शनिक सत्य तक पहुँच जाता है और दूसरी ओर भावों तथा विचारों को मूर्त रूप प्रदान करने में कल्पना का महत्वपूर्ण योगदान होता है। कल्पना लगभग सृजन-प्रक्रिया का पर्याय है। सी.एम.बावरा ने स्वच्छंदतावादी रचनाकारों में स्वच्छंद कल्पना के अभाव में कविता को ही असंभव माना है। शेली ने भी कविता को कल्पना की ही अभिव्यक्ति कहा और प्रथम रोमांटिक कवि ब्लेक ने इसे दैवी शक्ति स्वीकार किया। कल्पना ने रोमांटिक रचनाओं में भाषा और भाव के सौंदर्य का आधान तो किया ही कहीं-कहीं यह जीवन-जगत के दुखों से हारे मन का पलायन भी बनी।

4. **अतीतोन्मुखता** : स्वच्छंदतावादी रचनाकारों में मध्ययुगीन रोमांसों तथा रूढ़ियों के प्रति ज़बर्दस्त आकर्षण मिलता है। इसका प्रमुख कारण है - अपने वर्तमान की वास्तविकताओं से टकराहट, तर्क और बौद्धिक शुष्कता से ऊब, और रूढ़ होती काव्य-शैलियों से मुक्ति की छटपटाहट। निकट वर्तमान से असंतुष्ट व्यक्ति की सहज प्रवृत्ति यह होती है कि या तो वह अतीत गौरव को फिर से सजीव, साकार करने का प्रयत्न करता है या भविष्य के लिए स्वप्न-निर्माण करता है। दोनों स्थितियों में वह कल्पना के सहारे प्रत्यक्ष वर्तमान से अलग संसार रचता है। इन कवियों ने कल्पना की सहायता से मध्य युग की चित्रमयता और रोमान को सजीव किया। कॉलरिज और कीट्स की कविता और वाल्टर स्कॉट के उपन्यासों में अतीत का यह पुनरावर्तन सबसे प्रबल रूप में दिखाई पड़ता है। इन कवियों ने अतीत की राष्ट्रीय-सांस्कृतिक गरिमा को अपने प्रगीतों में पुनर्जीवित किया। कहना न होगा कि यह अतीत का अनुकरण नहीं पुनस्सृजन था।

5. **अद्भुत के प्रति आकर्षण** : मध्य-युगीन रोमानीय के प्रति स्वच्छंदतावादियों की रुचि अद्भुत के प्रति उनके आकर्षण से भी पुष्ट हुई। वाल्टर पेटर ने स्वच्छंदतावाद की एक विशेषता यह मानी है कि यह 'सौंदर्य में अद्भुत तत्व जोड़ता है।' (addition of strangeness to beauty)। वाट्स डंटन ने इसे अद्भुत का पुनर्जागरण (रेनेसां ऑफ वंडर) कहा है। अद्भुत के प्रति यह आकर्षण कई रूपों में व्यक्त हुआ है। अपने तीव्रतम रूप में यह प्रवृत्ति अति-मानवीय या अलौकिक तत्वों की चर्चा में दिखाई पड़ती है - विशेषकर कॉलरिज और स्कॉट की रचनाओं में। अन्य रचनाकारों में यह कुतूहल, विस्मय तथा रहस्य के भाव में व्यक्त हुआ। एक ओर उनकी रुचि विचित्र अद्भुत और जादुई से प्रतीत होने वाले विषयों और वस्तुओं की ओर हो जाती है तथा दूसरी ओर वे जाने-पहचाने जीवन-संदर्भों तथा वस्तुओं को नई दृष्टि से देखना आरंभ कर देते हैं। जगत के व्यक्त सौंदर्य में वे अव्यक्त सौंदर्य या अदृश्य सत्ता के दर्शन करने लगते हैं जिसकी चरम परिणति रहस्य-भावना में होती है।

6. **व्यक्तिवाद** : व्यक्तिवाद विषयों को नई दृष्टि से देखने का अगला चरण था - बाह्य अनुभव से आंतरिक अनुभूति की ओर यात्रा। इस प्रवृत्ति और भाव-प्रवणता के प्रभाव से स्वच्छंदतावादी

साहित्य ने स्वाभाविक रूप से वैयक्तिकता और आत्मपरकता को एक मूल्य के रूप में स्वीकार किया। पिछले युग में पोप और मिल्टन जैसे रचनाकार भी परिचित स्थितियों तथा लोक-प्रसिद्ध कथाओं को रचना का आधार बनाकर कर चल रहे थे। स्वच्छंदतावाद ने वस्तुगत ज्ञान की तुलना में स्वानुभव को अधिक महत्व दिया। इस युग के साहित्यकारों की रचनाओं में आभिजात्यवादी निर्वैयक्तिकता के स्थान पर रचनाकार की अपनी दृष्टि और अपनी अनुभूति सहज तथा आत्मीय रूप में व्यक्त हुई। रचनाकारों के अपने सुख-दुख, नैराश्य, वेदना, उल्लास कविता और निबंधों विषय बने। इसीलिए इनके काव्य में विवेक के स्थान पर भावाकुलता के साथ विषाद का भाव भी मिलता है। यह भाव समाज तथा स्थितियों से संघर्ष के क्रम में संवेदनशील भाव-प्रवण व्यक्ति-मन की सहज प्रतिक्रिया है।

रूसो के जन-स्वातंत्र्य के आह्वान से गहराई तक प्रेरित यह सिद्धांत व्यक्ति और कवि की स्वतंत्रता को रचना-कर्म के लिए अनिवार्य मानता है। अपनी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति में इन कवियों ने जो साहस दिखाया है वह पहले के कवियों में नहीं मिलता। इन कवियों ने स्वतंत्रता को मूल्य मानते हुए कथ्य तथा शिल्प, दोनों स्तरों पर नए और मौलिक प्रयोगों की छूट ली। 'लिरिकल बैलेड्स' की भूमिका में वर्डसवर्थ ने अपनी कविता को स्पष्ट रूप से प्रयोग कहा है और उसकी आवश्यकता के पक्ष में तर्क भी दिए हैं।

7. **सौंदर्याभिमुखता** : स्वच्छंदतावाद ने गुरु-गंभीरता के स्थान पर सौंदर्य को अधिक महत्व दिया। कीट्स ने सत्य तथा सुंदर को अभिन्न मानते हुए कहा कि सौंदर्य ही सत्य है। सौंदर्य इन कवियों के लिए केवल विषय नहीं है उनका सौंदर्य-दर्शन और सौंदर्य की नई-दृष्टि अपने पूर्ववर्तियों और परवर्तियों से अलग है। यह नई सौंदर्य-दृष्टि बाह्य जगत तथा प्रकृति में तो सौंदर्य का अन्वेषण करती ही है, कविता में भी बाह्य तथा आंतरिक सौंदर्य की आवश्यकता पर बल देती है। इस सौंदर्य-प्रेम तथा सौंदर्य-जिज्ञासा को पेटर ने स्वच्छंदतावादी चेतना का मूल तत्व माना था। इन कवियों की दृष्टि सर्वत्र प्रेम और सौंदर्य की ओर जाती है। वह चाहे रूप-रंग का सौंदर्य हो या मन, वचन और कर्म का सौंदर्य। मानव-सौंदर्य को तो उन्होंने खुली आँखों से देखा ही, किंतु उनका सौंदर्य-प्रेम प्रकृति के उन्मुक्त सौंदर्य के संसर्ग से उद्भूत हुआ है। शेली संपूर्ण प्रकृति को सौंदर्यमयी पाते हैं।

8. **प्रकृति-प्रेम** : रूसो ने मानव को प्रकृति की ओर प्रत्यावर्तन के लिए पुकारा था। स्वच्छंदतावादी रचनाकार प्रकृति की ओर एकाधिक रूपों में लौटे। सबसे पहले तो यह वापसी बनावटी सौंदर्य के तिरस्कार और सहज प्राकृतिक रूपों के प्रति आकर्षण में दिखाई दी। औद्योगिक सभ्यता की विकृतियों और घुटन से व्याकुल इन संवेदनशील साहित्यकारों के लिए प्रकृति एक शरणस्थली थी। उसे इन्होंने बाह्य जीवन के सुंदर परिवेश के रूप में नहीं बल्कि जीवन के प्रेरणादायक तत्व के रूप में ग्रहण किया। वर्डसवर्थ ने अपनी कविता 'टिंटर्न एब्बी' में प्रकृति को 'धात्री, पथ-प्रदर्शिका, संरक्षिका तथा अपने संपूर्ण नैतिक अस्तित्व की आत्मा' के रूप में संबोधित किया है। बायरन, शेली और कीट्स की कविता में भी प्रकृति अपने विविध रूपों में अभिव्यक्ति पाती है। प्रकृति में ये कवि अपने भावों का प्रतिबिंब भी देखते हैं और उसके रूपों तथा बिंबों के माध्यम से अपनी अभिव्यक्ति को भी समृद्ध करते हैं। प्रकृति के साथ इन रचनाकारों का संबंध तब रहस्यानुभूति की सीमा का स्पर्श करने लगता है, जब वे इसके माध्यम से अपने अंतर्जगत की पहचान करते हैं या चरम सत्ता का साक्षात्कार करते हैं। प्रकृति को वे स्वतः पूर्ण समझते हुए उसे जीवंत सत्ता तथा ईश्वरीय ज्योति से प्रभासित मानते हैं। प्रकृति इन्हें नैतिकता और आध्यात्मिकता का पाठ पढ़ाती है और सत्य का साक्षात्कार कराती है।

9. **भाषा और शिल्प** : निसर्ग के प्रति झुकाव स्वच्छंदतावाद के भाषा-शैली संबंधी सिद्धांतों में भी अभिव्यक्त होता है। हालांकि इस दौर के रचनाकारों में भाव, भाषा तथा शिल्प की अपार विविधता दिखाई पड़ती है, किंतु एक बिंदु पर ये सभी सहमत थे। वे सभी सायास शिल्प और बाह्य अलंकरण के विरोधी थे। वे मानव के नैसर्गिक मूल भावों का चित्रण सहज तथा आडम्बरहीन भाषा-शैली में करने के पक्षधर थे। वर्डसवर्थ ने तो बोलचाल की आम भाषा को ही काव्य-भाषा के रूप में स्वीकार करने का आग्रह किया। अन्य रचनाकारों ने इस अतिवाद को भले ही स्वीकार न किया हो, परंतु काव्यास्वाद तथा भाव-सम्प्रेषण के लिए सहज अकृत्रिम भाषा के प्रयोग को आवश्यक ठहराया।

भाषा की सहजता का तात्पर्य भावों अथवा अभिव्यक्तियों की सपाटता से नहीं है। सभी स्वच्छंदतावादी रचनाकारों में सूक्ष्म अर्थच्छायाओं को उदघाटित करने के लिए भाषा और ध्वनि

के संगीत का सुंदर उपयोग हुआ है। सपाट गद्यात्मक कथन के स्थान पर वे सूक्ष्म व्यंजना और सांकेतिकता के महत्व पर बल देते हैं, जिससे काव्य में रहस्यात्मक सौंदर्य और दार्शनिकता के साथ-साथ अभिव्यंजना शक्ति भी बढ़ जाती है।

छंद प्रयोग में भी इस युग के कवि का स्वातंत्र्य भाव स्पष्ट है। पिछले युग के सधे-बंधे अनुशासित, तुकांत 'हीरोइक कपलेट' के स्थान पर इन्होंने कोमल मधुर प्रगीत (लिरिक) या फिर मुक्त छंद (फ्री वर्स/ब्लैंक वर्स) को अपनाया तथा उसकी अपार क्षमता को उद्घाटित किया। इन्होंने अन्य छंदों का प्रयोग भी किया परंतु अपने ही ढंग और मिजाज़ से।

स्वच्छंदतावादी काव्य अपनी विपुल प्रगीत-सृष्टि के कारण पहले और बाद के कवियों के बीच एक विशिष्ट स्थान रखता है। यह विशिष्टता बाह्य रूप भर की नहीं है। वस्तुतः तीव्र अनुभूति और भावावेग से प्रेरित इन रचनाओं में आंतरिक संगीत का प्रवाह है, भाषा की गतिशीलता है और साथ ही भाव की केंद्रीयता तथा एकाग्रता है। इन कवियों ने प्रबंधों की रचना भी की है परंतु वह इनकी प्रिय विधा नहीं हैं।

भाषा और छंद की नवीनता के साथ स्वभावतः इन कवियों का बिंब विधान भी अपनी मौलिकता तथा ताजगी के कारण आकर्षित करता है। उन्होंने अपने बिंबों का चयन प्रकृति से तो किया ही, इसके अतिरिक्त जनमानस में संचित लोक-गाथाओं के बिंबों को भी कविता में उतारा। इसके अतिरिक्त, मध्ययुगीन सूरमाओं, परियों, चर्च चैपल आदि से संबंधित बिंबों का भी इन्होंने उपयोग किया। सारांश में इनकी कविता अपनी बिंब-धर्मिता के कारण ही नहीं बिंबों की विविधता और मौलिकता के कारण अपनी अलग पहचान रखती है।

20.8 सारांश

- प्रस्तुत पाठ में आपने पढ़ा कि आभिजात्यवाद और स्वच्छंदतावाद दो ऐसी प्रवृत्तियाँ हैं जिनकी चर्चा साहित्यशास्त्र में युगों से होती चली आ रही हैं। कभी एक प्रवृत्ति प्रधान रही और दूसरी गौण तो कभी दूसरी प्रधान रही और पहली गौण।
- आपने पढ़ा कि 'क्लासिक' से तात्पर्य है – श्रेष्ठ कालजयी कृतियाँ। यह शब्द प्राचीन श्रेष्ठ रचनाओं के लिए प्रयुक्त होता रहा है, और इन रचनाओं का अनुकरण करते हुए, इनके विधान को नियम मानते हुए साहित्य सृजन आभिजात्यवादियों को अभीष्ट रहा है। इस सृजन में संयम और वस्तुनिष्ठता अनिवार्य माने गए हैं।
- प्राचीन रचनाकारों के संयमपूर्ण अनुकरण और इन रचनाओं के आधार पर निर्धारित विषयों से छूट लेने की प्रवृत्ति स्वच्छंदतावाद की मूल प्रेरणा रही है। इसीलिए स्वच्छंदतावाद को रूढ़ियों से मुक्ति की चेतना माना गया है। यह प्रवृत्ति पश्चिम में सोलहवीं शताब्दी में मारलो और शेक्सपियर के नाटकों में दिखाई देती है। हालांकि एक आंदोलन के रूप में स्वच्छंदतावाद का आरंभ अठारहवीं शताब्दी के अंतिम दशकों से होता है।
- स्वच्छंदतावाद अठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान लगभग संपूर्ण यूरोपीय कला-जगत, विशेष रूप से साहित्य में, व्याप्त ऐसा आंदोलन है जिसका उदय नव्य-शास्त्रवाद की निर्जीव, और रूढ़ होती कला-पद्धतियों की प्रतिक्रिया में हुआ। स्वभावतः इसमें वैयक्तिक प्रतिभा और कल्पना से प्रेरित मौलिक रचनात्मकता और नए प्रयोगों पर विशेष बल दिया गया।
- साहित्य और कलाओं के प्रति इस दृष्टिकोण को प्रेरित करने वाली महत्वपूर्ण राजनीतिक घटना फ्रांस की जन-क्रांति थी। इसके पीछे ज्याँ ज़ाक रूसो जैसे विचारकों का चिंतन था। वे व्यक्ति के स्वातंत्र्य की मांग करते हुए 'स्वतंत्रता, समानता, और बंधुत्व' का नारा दे रहे थे। क्रांति की सफलता ने इस मांग की वैधता पर जैसे मोहर लगा दी और यह अभिव्यक्ति के विविध रूपों में प्रतिफलित होने लगी।
- स्वच्छंदतावाद किसी एक बँधे-बँधाए ढाँचे को नहीं, नाना रूपों में प्रकट हुआ। फ्रांस, जर्मनी और इंगलैंड में इसके तीन अलग-अलग रूप दिखाई पड़ते हैं जिनकी विविधता में भी समानताएँ हैं। इनमें मुख्य और सबसे प्रसिद्ध अंग्रेज़ी साहित्य की धारा है जिसकी व्याप्ति ब्लेक से बायरन तक स्वीकार की गई है। इस इतिहास के दो छोरों पर भले ही कवि हों,

परंतु इस प्रवृत्ति का प्रभाव कविता के अलावा निबंधों और उपन्यासों पर भी दिखाई पड़ता है, साथ ही समीक्षा पर भी।

आभिजात्यवाद और स्वच्छंदतावाद को परिभाषा के सूत्रों में बाँधना संभव नहीं है। इसलिए विद्वानों ने सुझाया है कि इनकी चर्चा एकवचन में नहीं, बहुवचन में (क्लासिसिज़्म और रोमांटिसिज़्म) की जानी चाहिए। एक विद्वान ने तो इसके उनसठ प्रकारों का संकेत किया है। विविधता के बीच स्वच्छंदतावाद की समान विशेषताएँ ही उसकी पहचान निर्धारित करती हैं। इन विशेषताओं में मुख्य हैं - वैयक्तिकता, अनुभूति-प्रवणता, अद्‌भुत के प्रति आकर्षण, कल्पना की प्रधानता, अतीतोन्मुखता, सौंदर्याभिमुखता, प्रकृति-प्रेम और अभिव्यंजना शिल्प की प्रयोगधर्मिता आदि। इनका विस्तार से विवेचन आप पहले पढ़ चुके हैं।

- इनमें से कुछ विशेषताओं के अतिरेकवादी मोड़ के कारण स्वच्छंदतावाद का क्रमशः ह्रास होने लगा। उसका आरंभ नव्य-शास्त्रवाद की रूढ़ियों और जड़ता के विरुद्ध हुआ था, परंतु धीरे-धीरे उसकी अपनी रूढ़ियाँ निर्मित हो चलीं और उन्होंने एक बार फिर आभिजात्यवाद के उदय का मार्ग प्रशस्त कर दिया।

- वास्तव में आभिजात्यवाद और स्वच्छंदतावाद की प्रवृत्तियाँ विभिन्न देशों के साहित्य में मौजूद होती हैं और अलग-अलग समय तथा परिस्थितियों के बीच - कभी-कभी अलग-अलग रूपों में - प्रकट होती हैं। हिंदी में भक्ति काव्य, रीतिकाव्य और आधुनिक युग में छायावाद को क्रमशः आभिजात्यवाद, नव्य आभिजात्यवाद और स्वच्छंदतावाद के रूप में देखा जा सकता है। किंतु इन्हें बिल्कुल पश्चिमी ढंग का आभिजात्यवाद या स्वच्छंदतावाद मानना भूल होगी।

20.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

डॉ. नगेन्द्र और राजकुमार कोहली, **पाश्चात्य सिद्धांत और वाद**, हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

डॉ. रामपूजन तिवारी, **पाश्चात्य काव्यशास्त्र**, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली।

डॉ. निर्मला जैन एवं डॉ. कुसुम बांठिया, **पाश्चात्य साहित्य चिंतन**, वाणी प्रकाशन, दिल्ली।

देवराज उपाध्याय, **रोमांटिक साहित्यशास्त्र**, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली।

20.10 अभ्यास के लिए प्रश्न

1. आभिजात्यवाद से तात्पर्य स्पष्ट करते हुए उसकी प्रमुख प्रवृत्तियों का परिचय दीजिए।
2. स्वच्छंदतावाद से तात्पर्य स्पष्ट करते हुए उसकी प्रमुख प्रवृत्तियों का परिचय दीजिए।
3. स्वच्छंदतावाद और आभिजात्यवाद के साम्य-वैषम्य पर प्रकाश डालिए।

इकाई 21 मनोविश्लेषणवादी आलोचना

इकाई की रूपरेखा

21.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के बाद आप

- बता सकेंगे कि मनोविश्लेषणवादी आलोचना की नींव किन आधारों पर पड़ी,
- मनोविश्लेषणशास्त्रियों और उनके प्रमुख सिद्धांतों का परिचय दे सकेंगे,
- आलोचना और मनोविश्लेषण का संबंध बता सकेंगे; और
- हिंदी आलोचना पर मनोविश्लेषण के प्रभाव की जानकारी दे सकेंगे।

21.1 प्रस्तावना

पिछली इकाई में आप पाश्चात्य साहित्य चिंतन की दो प्रमुख दृष्टियों (चिंतन पद्धतियों) आभिजात्यवाद और स्वच्छंदतावाद - के विषय में पढ़ चुके हैं। प्रस्तुत इकाई आधुनिक चिंतन दृष्टि की एक महत्वपूर्ण धारा मनोविश्लेषणवादी आलोचना से संबंधित है। आधुनिक विचार-जगत् में फ्रायड और मार्क्स ने भारी क्रान्ति की है और आधुनिक विचारधारा, जीवन-दृष्टि, नैतिक मान्यताओं आदि को इन दोनों ने जितना अधिक प्रभावित किया है उतना किसी अन्य ने नहीं। फ्रायड ने मनुष्य के अंतर्जगत का सूक्ष्म-गहन विश्लेषण किया है और मार्क्स ने मानव के बहिर्जगत का समग्रता में गहन-चिंतन। इन दोनों ही चिंतकों ने धर्म, ईश्वर और तमाम परम्परामूलक धारणाओं को ध्वस्त करते हुए एक नया चिंतन संसार निर्मित किया। नतीजा यह हुआ कि सृजनात्मक और आलोचनात्मक साहित्य और साहित्य-दृष्टि पर इनका प्रभाव काफी दूर तक पड़ा। फ्रायड के चिंतन से प्रभावित होकर मनोविश्लेषणवादी आलोचना की नींव पड़ी जिसे फ्रायड के साथ-साथ एडलर और युंग ने अपने-अपने ढंग से आगे बढ़ाया।

वास्तव में मनोविश्लेषण (साइकोअनालिसिस) मनोविज्ञान (साइकोलॉजी) की ही एक विकसित ज्ञान सम्पन्न शाखा है। यों तो सच्चाई यह है कि मनोविज्ञान भी कोई पुराना शास्त्र या विज्ञान नहीं है। उन्नीसवीं शताब्दी तक उसका अध्ययन दर्शनशास्त्र के एक अंग के रूप में ही होता रहा किंतु बीसवीं शताब्दी में मनोविज्ञान ने दर्शन की पराधीनता से अपने को मुक्त कर लिया तथा ज्ञान के एक 'अनुशासन' के रूप में अपना स्वतंत्र स्थान बनाया। इतना ही नहीं आधी शताब्दी के अंदर इसका इतनी तीव्र गति से विकास और प्रसार हुआ कि अन्य शास्त्र इससे प्रभावित हुए बिना न रह सके। एक महावृक्ष की भाँति इसकी अनेक शाखाएँ हो गई - जैसे बाल मनोविज्ञान, लोक मनोविज्ञान, समाज-मनोविज्ञान, व्यवहारवादी मनोविज्ञान, औद्योगिक मनोविज्ञान, आदि-आदि। मनोविज्ञान की मौलिक मान्यता रही है कि मन और शरीर में निरंतर क्रिया-प्रतिक्रिया चलती रहती है। ऐसी स्थिति के कारण शरीर से अलग मन और मानसिक व्यापारों का अध्ययन संभव ही नहीं है।

मनोविज्ञान की एक प्रधान शाखा के रूप में मनोविश्लेषण का उद्भव-विकास मनश्चिकित्सा के प्रसंग में हुआ। मनोविश्लेषण की महान-त्रयी - फ्रायड, एडलर, युंग (कुछ लोग जुंग उच्चारण करते हैं) मूलत: चिकित्सक थे। मानसिक व्याधियों की चिकित्सा के दौरान उनके सामने ऐसे बहुत से अनुभव तथ्य आए जिनके गहन विश्लेषण से मनोविश्लेषणशास्त्र नाम का नया विज्ञान या शास्त्र निर्मित हुआ। इस मनोविश्लेषण-शास्त्र का ज्ञान के अन्य क्षेत्रों पर इतना प्रभाव पड़ा कि साहित्यालोचन और साहित्य उसके प्रभाव से अछूते नहीं रह सके, सर्वप्रथम सृजनात्मक साहित्य - विशेषकर कथा-साहित्य और नाटक और उसके बाद साहित्यालोचन और व्यावहारिक आलोचना।

मनोविश्लेषणशास्त्र के प्रवर्तक के रूप में फ्रायड प्रसिद्ध हुए। एडलर और युंग शुरुआत में फ्रायड के शिष्य, अनुगामी और सहयोगी थे किंतु आगे चलकर उनकी मान्यताएँ फ्रायड से अलग हो गईं। फलत: उन्होंने अपनी मान्यताओं को स्वतंत्र सिद्धांतों का रूप दिया। इस भेद के कारण तीन नामों का प्रयोग किया गया - (1) फ्रायड - मनोविश्लेषण (साइकोअनैलिसिस) (2) एडलर - व्यष्टिमनोविज्ञान (इंडिविजुअल साइकॉलॉजी) (3) युंग - विश्लेषण मनोविज्ञान (ऐनलिटिकल साइकॉलॉजी)। यहाँ इन तीन मनोविश्लेषणशास्त्रियों के सिद्धांतों का सार-संक्षेप प्रस्तुत करना अपेक्षित है।

21.2 सिग्मंड फ्रायड

मनोविश्लेषणशास्त्र के प्रवर्त्तन का श्रेय सिग्मंड फ्रायड (1856-1939) को दिया जाता है। फ्रायड का जन्म मोराविया में 6 मई, 1856 ई. को हुआ। उन्होंने विएना में चिकित्साविज्ञान का मनोयोग से अध्ययन किया और तंत्रिका-विज्ञान (न्यूरोलॉजी) में विशेष दक्षता प्राप्त की। कुछ दिनों तक पेरिस में प्रसिद्ध मन:चिकित्सक शार्को की शिष्यता ग्रहण की और अपस्मार (हिस्टीरिया) रोग के कारणों का अध्ययन किया। इस रोग के निदान के लिए सम्मोहन विधि का प्रयोग करना पड़ता था किंतु परिणाम संतोषजनक न आने के कारण फ्रायड ने उस पद्धति को छोड़ दिया। उन्होंने एक स्वतंत्र पद्धति विकसित की जिसे 'मनोविश्लेषण पद्धति' नाम दिया गया। 1938 में हिटलर ने ऑस्ट्रिया पर अचानक अधिकार कर लिया। वहाँ से यहूदियों को भागना पड़ा। यहूदी होने के कारण नात्सी शासन में उनके लिए जगह नहीं थी। वे उन दिनों विएना विश्वविद्यालय में तंत्रिका-विज्ञान के प्रोफेसर थे। अत: विएना को छोड़कर लंदन चले गए। वहीं 1939 ई. में उनका देहावसान हुआ। फ्रायड ने बहुत लेखन-कार्य किया है जिनमें 'इन्ट्रोडक्ट्री लेक्चर्स ऑन साइकोअनैलिसिस' (1922), 'न्यू इन्ट्रोडक्ट्री लेक्चर्स' 1933), 'सिविलिजेशन एण्ड इट्स डिसकंटेंट्स' (1929), 'दि इगो एंड दि इड' 'बियाण्ड दि प्लेजर प्रिन्सिपल्स', 'इण्टरप्रेटेशन आव ड्रीम्स', 'लिओनार्दो द विंची', 'टोटम एण्ड टैबो', 'थ्री कन्ट्रीब्यूशन्स टु दि थियरी आव सेक्स' तथा 'आटोबायोलॉजिकल स्टडी' आदि पुस्तकें वि[illegible] प्रसिद्ध हुई हैं।

दरअसल, फ्रायड द्वारा प्रयुक्त 'मनोविश्लेषण' (Pshycho-analysis) शब्द सामान्य अर्थ में प्रयुक्त न होकर विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्द है। 'मनोविश्लेषण' एक ऐसा अवधारणात्मक शब्द है जो दो अर्थों का बोधक है । एक तो उस प्रविधि या प्रक्रिया का जिसका फ्रायड ने मानव-मन की भीतरी टटोल के लिए उपयोग किया और दूसरे उस सिद्धांत समूह का जो उस भीतरी टटोल या छानबीन के दौरान प्राप्त हुए हैं। ध्यान देने की बात यहाँ यह है कि फ्रायड पहले मनोविश्लेषणशास्त्री है जो मानव-मन की जटिल-दुर्बोध समस्याओं के कारण-कार्य संबंध से अपनी बात प्रमाण-पुष्ट रूप में कहना चाहते हैं। वे अंतर्मन का उसी तटस्थता से अध्ययन-विश्लेषण करते हैं जिस तटस्थता से कोई वस्तुनिष्ठ घटनाओं का गहराई से विवेचन करता है। फ्रायड के सिद्धांतों से हम सहमत हों या असहमत, किंतु हम यह मानने को विवश हो जाते हैं कि बीसवीं शताब्दी के बौद्धिक परिवेश को निर्मित करने में उनकी क्रांतिकारी भूमिका है।

प्रमुख मान्यताएँ

- फ्रायड के सिद्धांतों का मूलाधार है - सुविचारित नियतत्ववाद। वैज्ञानिक दृष्टि से नियतत्ववाद का अर्थ है कार्य-कारण का दृढ़ सम्बन्ध। फ्रायड यह मानते है भौतिक घटना के समान ही प्रत्येक छोटी-बड़ी मानसिक घटना के पीछे कार्य-कारण सम्बन्ध रहता है जैसे भौतिक संसार में कोई कार्य बिना कारण के नहीं होता, वैसे ही मानसिक अथवा अंतर्मन का कोई व्यापार भी कारण के बिना नहीं होता, नहीं हो सकता। चूँकि प्रत्येक व्यापार कारण-प्रेरित होता है तो उस कारण का इतिहास-भूगोल का पता लगाया जा सकता है।

- फ्रायड के चिंतन का दूसरा आधार अवचेतन-सिद्धांत अथवा अवचेतन मन की खोज है। फ्रायड मन के तीन भाग मानते हैं - चेतन (कॉन्शस), पूर्व-चेतन (प्री-कॉन्शस), और अवचेतन (अन-कॉन्शस)।

- महत्व और विस्तार की दृष्टि से चेतन मन की अपेक्षा अवचेतन मन अधिक बृहत्तर और शक्तिशाली है। फ्रायड ने इस तथ्य को सामने लाने के लिए उदाहरण देकर अपनी बात कही कि एक ऐसा बृहत् पत्थर जिसका तीन-चौथाई भाग जल में डूबा हुआ है और एक-चौथाई भाग जल के ऊपर। यह तीन-चौथाई भाग अवचेतन मन है और एक-चौथाई भाग चेतन मन। अवचेतन मन की स्थिति के लिए एक अन्य उदाहरण है कि अवचेतन की स्थिति एक विशाल गोदाम जैसी है जिसमें तरह तरह की असंख्य चीज़ें भरी पड़ी हैं और चेतन मन उन एक-दो चीजें के समान है जिन्हें करीने से उपयोग में लाया जाता है। एक तीसरा उदाहरण - अवचेतन अथाह-अगाध जलराशि है और चेतन उस जलराशि पर उठने वाली लहरों की तरंग-माला।

- विषय की दृष्टि से अवचेतन और चेतन मन में गहरा पार्थक्य है। अवचेतन मन का विषय चेतन मन के विषय से भिन्न ही नहीं, प्राय: विपरीत या विरूद्ध होता है। इसीलिए चेतन-मन में जैसा दिखाई देता है अवचेतन मन में प्राय: वैसा नहीं होता।

- यह समझने की भूल नहीं करनी चाहिए कि चेतन मन की तुलना में अवचेतन मन कम गतिशील है बल्कि एक अर्थ में अवचेतन मन पर्याप्त गतिशील रहता है। स्मृतियाँ या भाव-विचार पुंज अवचेतन में पड़े रहते हैं - वें निश्चेष्ट नहीं होते, बाहर आने के लिए निरंतर द्वार खोजते रहते हैं तथा मौका मिलते ही ये दबे हुए या दमित भाव विचार पूरे वेग से विस्फोट के साथ ऊपर आ जाते हैं। चेतन वह भाग है जो सामाजिक जीवन में सक्रिय रहता है और जिसकी क्रियाओं का हमें ज्ञान रहता है। लेकिन अवचेतन मन हमारे मन का वह भाग है जिसकी क्रियाओं का सीधा ज्ञान हमें नहीं रहता परंतु निरंतर सक्रिय रहकर हमारी जीवन-गति की प्रत्येक स्थिति-गतिविधि को अज्ञात रूप से प्रेरित-प्रभावित करता है। यह अवचेतन हमारी उन इच्छाओं-अभावों-अतृप्तियों का पुंज है जो अनेक सामाजिक अवरोधों के कारण (सेंसरशिप) अर्थात् सामाजिक-सांस्कृतिक स्वीकृति के अभाव में चेतन मन से मुँह छिपाकर नीचे उतर जाती हैं और बाहर आने के लिए मौका खोजती रहती हैं।

- फ्रायड का आत्मनिष्ठ सृजन-सिद्धांत 'इच्छापूर्ति का सिद्धांत' है जिसमें अपूर्ण इच्छाओं या वासनाओं की महत्वपूर्ण भूमिका है। फ्रायड के मत से कला अपूर्ण इच्छाओं की पूर्ति का प्रयास है और इस दृष्टिकोण से वह शिशु क्रीड़ा, दिवा-स्वप्न, स्वप्न और फैन्टसी से सादृश्य रखती है। दमित इच्छाएँ अथवा वासनाएँ अपनी अभिव्यक्ति के लिए डटकर संघर्ष करती हैं और इस अवस्था में उन्हें अधीक्षक (सेंसर) का सामना करना पड़ता है। लेकिन यह दमन एक छलना है, दमित इच्छाएँ अनेक छद्म रूप धारण कर अपनी अभिव्यक्ति का मार्ग खोज या ढूँढ ही लेती हैं। ये मार्ग हैं - प्रतीक कथा, स्वप्न, कला-साहित्य आदि। वस्तुस्थिति यह है कि ये सभी स्वप्न के विभिन्न रूप हैं। इसीलिए स्वप्न की व्याख्या से 'स्वप्न सिद्धांत' की स्थापना फ्रायडीय चिंतन का अत्यंत महत्वपूर्ण अंग है।

- पूर्व-चेतन (प्री-कॉन्शस) की स्थिति चेतन से कुछ पहले है और यह अवचेतन मन के लिए एक विशेष द्वार है। लेकिन यह द्वार कभी-कभार ही खुलता है, प्राय: चुप पड़ा रहता है। अवचेतन मन की प्रधान विशेषता है - यौन जीवन के प्रति गहरा झुकाव। फ्रायड का अध्ययन करने वाले सभी विद्वान एकमत होकर कहते हैं कि फ्रायड के सिद्धांतों में सर्वाधिक क्रांतिकारी और विस्मयकारी अवधारणा है - यौन से संबंधित सिद्धांत दृष्टि। फ्रायड ने अनेक तथ्यों के आँकड़ों के आधार पर कहा कि प्राय: सामान्य धारणा यह है कि यौन भावना यौवन-काल में उत्पन्न होती है किंतु यह धारणा सही नहीं है। सही बात यह है कि यौन-भावना मानव-जन्म के साथ ही उत्पन्न होती है। दूध पीने के लिए बच्चा माँ का स्तन चूसता है तब वह यौन-आनंद का रूप ही है। फ्रायड मानते है कि बच्चे की यौन-भावना सर्वप्रथम माँ के प्रति ही उद्दीप्त होती है और बार पिता को वह अपना प्रतिस्पर्धी मान लेता है किंतु भयवश वह अपनी कामेच्छा की तृप्ति नहीं कर पाता। इससे उसके मन में एक मनोग्रंथि पैदा होती है - जिसे 'ईडिपस ग्रंथि' (ईड़िपस नामक एक यूनानी राजकुमार ने अनजाने में अपने पिता को मारकर माँ से विवाह कर लिया। उसी के नाम का इस ग्रंथी का नामकरण किया गया है। ईडिपस ग्रंथि का कारण है माँ के प्रति यौन-आकर्षण और उसकी अतृप्ति)। फ्रायड की मान्यता है कि यही 'ईडिपस ग्रंथि' जीवन में मनस्ताप (न्यूरोसिस) का कारण बनती है जिसका निराकरण न होने से जीवन में व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। प्रश्न उठता है कि 'मनस्ताप' किसे कहते हैं? फ्रायड का उत्तर है कि मनस्ताप एक प्रकार का तांत्रिकीय (नर्वस) रोग है जो जीवन में अतृप्ति-अभाव, कुंठा या मैल-ऐडजस्टमेंट के कारण उत्पन्न होता है। मनस्तापी की

जीवन-दृष्टि विकृत और निराशा से भरी होती है - वह या तो परिस्थितियों से संघर्ष करने से कतराता है या फिर दूसरों को उत्तेजित कर अपना उल्लू सीधा करता है।

- फ्रायड के 'सेक्स' के पर्याय रूप में हमारे यहाँ 'काम' शब्द का प्रयोग होता है जिसे 'यौन' के संकुचित अर्थ में नहीं लिया जाता। 'काम' में अर्थ के व्यापक अर्थ-स्तर हैं। स्वयं फ्रायड ने **यौन** (सेक्स) और जननिक (जननेंद्रियों से संबंधित) में बहुत स्पष्ट भेद किया है - प्रत्येक यौन धारणा जननिक ही हो यह जरूरी नहीं है। इसलिए 'सेक्स' बहुत व्यापक अर्थ-संदर्भ का वाची शब्द है। यौन-क्रीड़ा से आनंद की प्राप्ति होती है और उसकी परिणति संतानोत्पत्ति में होती है। मनुष्य में दो प्रबल किंतु सहज प्रवृत्तियाँ होती हैं - एक आत्म-रक्षा की प्रवृत्ति दूसरी प्रजनन या प्रजाति परिरक्षण की प्रवृत्ति। इनमें आत्म-रक्षा की प्रवृत्ति तो प्राय: कभी-कभार ही बाधित होती है पर प्रजनन की प्रवृत्ति प्राय: बाधित होकर कुंठित हो जाती है। कारण, सभ्यता-संस्कृति के नियम नैसर्गिक कामेच्छा की स्वच्छंद तृप्ति में बाधा डालते हैं। इसलिए उन्हें दमित करना पड़ता है। मानव में भारी यौन-ऊर्जा होती है - ऐसी स्थिति के कारण यौन-ऊर्जा का दमन मनुष्य में अनगिनत मनोग्रंथियों और मानसिक रोगों का 'कारण' बनता है। इनसे बचने का एक ही उपाय है - यौन-भावना की अबाध संतुष्टि। जो संभव नहीं है। क्योंकि आज मानव सभ्यता-संस्कृति की जिस ऊँचाई पर पहुँच गया है वहाँ भी वह अपने प्राक्तन या आदिम संस्कारों-वृत्तियों से मुक्त नहीं है। इसमें आदिम मानव और पशु दोनों के संस्कार मौजूद हैं जिन्हें सभ्यता ने अपने पर्दे में छिपाया हुआ है। इसलिए मानव पर विचार करते हुए उसकी आनुवंशिकता पर विचार करना चाहिए।

- फ्रायड के मत से नैतिकता एक प्रकार का सामाजिक नियंत्रण है जिसने मानव-जीवन की सहज-नैसर्गिक गति को बाधित कर रखा है। ये दमित भाव ही अवचेतन में उपद्रव मचाते हैं जिन्हें समाज अनैतिक कहता है। लेकिन 'सेंसर' दमित इच्छा को यदि वह चेतन-मन तक किसी तरह पहुँच ही गई तो उसे 'परिष्कार' कर देता है ताकि वह शिष्ट समाज के योग्य बन सके। चेतन-मन की मंज़िल पर पहुँचने के क्रम में अवचेतन का यह परिष्कार ही उदात्तीकरण (सब्लीमेशन) कहलाता है।

- फ्रायड ने अनेक प्रयोगों से सिद्ध किया कि 'सेंसर' के द्वारा निरंतर दमन की जाने वाली अवचेतन की वासनाएँ अथवा इच्छाएँ अनुकूल अभिव्यक्ति का अवसर न पाकर, स्थिर हो जाती हैं और 'मनोग्रंथि' में बदल जाती हैं। जैसे तालाब का जल ठहरकर सड़ने लगता है वैसे ही इदच्छाएँ मानसिक रोगों का रूप ग्रहण कर लेती हैं। यदि मनोग्रंथि के कारणों को सामने लाया जाए तो उनका इलाज संभव है। यह सिद्धांत मानव के भाव-राग-विराग सभी पर लागू किया जा सकता है। एक प्रकार से फ्रायड के इस सिद्धांत में अरस्तू के विरेचन-सिद्धांत थियरी ऑफ कैथार्सिस) की ध्वनि है।

- फ्रायड के मत से कला का महत्त्व इस बात में निहित है कि वह एक प्रकार के भ्रम का जाल बुनकर हमें यथार्थ की असहनीयता और कटुता से मुक्ति दिलाती है। यह भ्रम रम्य कल्पना - फैन्टसी निर्मित करती है। अवचेतन मन की दमित इच्छाएँ फैण्टसी में अभिव्यक्ति पाती हैं।

- फ्रायड ने मनोविश्लेषण में 'अवचेतन सिद्धांत' की तरह 'स्वप्न सिद्धांत' को बहुत महत्त्व दिया। स्वप्न, मानव की दमित इच्छाओं की अभिव्यक्ति हैं। अत: स्वप्न हमें अवचेतन की महत्वपूर्ण सूचनाएँ देते हैं।

- विशेष बात यह है कि फ्रायड ने मनोविश्लेषण में मन की संरचना दो प्रकार की मानी है। आरंभ में वे चेतन, पूर्वचेतन तथा अवचेतन की धारणा सामने लाते हैं लेकिन बाद में एक दूसरी धारणा प्रस्तुत करते हैं। मन के तीन भाग हैं - **इदम्** (इड), **अहम्** (इगो) और **अति-अहम्** (सुपर इगो)। कुछ दूर तक ये दोनों विभाजन एक-दूसरे के पूरक हैं और इनमें स्पष्ट विभाजन आसान नहीं हैं।

  - इदम् सहज प्रवृत्तियों का भण्डार, रागों का पुंज और अवचेतन ही है। मानव जो कुछ आनुवंशिकता से प्राप्त करता है, वह सब इदम् में संचित रहता है पर इदम् की सहज प्रवृत्तियाँ अपनी संतुष्टि के लिए बेचैन रहती हैं।

  - अहम् को हम चेतन मन कह सकते हैं। यह मन बाह्य जगत और अवचेतन के मध्य मध्यस्थ की भूमिका अदा करता है। सहज प्रवृत्तियों पर नियंत्रण रखता है और परिस्थिति-परिवेश या देश और काल की अनुकूलता-प्रतिकूलता देखकर निर्णय करता है कि किसे कब संतुष्टि प्रदान करे। अहम् ही उन प्रवृत्तियों का दमन करता है जो संतुष्टि के योग्य नहीं होती हैं।

अति अहम् संचित सामाजिक मान्यताओं का प्रतीक है जिसका काम आलोचना (विवेक) और अधीक्षण (सेंसर) करना है। अति-अहम् भी अवचेतन का ही अंग होता है। संक्षेप में, कहा जा सकता है कि इदम् और अति-अहम् दोनों अतीत के अनुभवों के प्रभावों का प्रतिनिधित्व करते हैं। हाँ, अहम् का निर्धारण मानव-अनुभव करते हैं। इस प्रकार इदम् का मूल है - आनंद और अहम् का प्रेरक है - वस्तुवाद। अहम् में ज्ञान की प्रधानता रहती है और इदम् में वासनाओं या इच्छाओं की। जीवन की मूल वृत्ति फ्रायड के मत से 'काम' है। इनके मत से दो वृत्तियाँ प्रधान हैं - एक इरॉस अर्थात प्रेम करने की प्रवृत्ति और दूसरी थैनेटॉस अर्थात् नाश करने की प्रवृत्ति। इनमें प्रमुख काम की प्रवृत्ति है - दूसरी विपर्यय-मात्र। इसी 'काम' को फ्रायड ने 'लिबिडो' कहा है। हमारी सभी क्रियाओं में 'काम' के अंत:सूत्र विद्यमान रहते हैं और काम-वृत्ति अनेक रूपों-छवियों-भाव-झंकृतियों में अपने अस्तित्व का अहसास कराती है।

- फ्रायड ने स्पष्ट किया है कि रोग का मूल कारण मनोग्रंथियाँ हैं। समस्या है - इन मनोग्रंथियों की आंतरिक गाँठों को खोला कैसे जाए? इसके लिए फ्रायड ने व्यावहारिक प्रयोगों के द्वारा 'मुक्त विचार प्रवाह शैली' की खोज की जिसके अनुसार वे अंतर्मन में पड़े भावों को बाहर निकाल लाने का दावा करते हैं। अवचेतन से चेतन में आ जाने पर गाँठ खोली जा सकती है - भावों का परिष्कार या उदात्तीकरण किया जा सकता है। यही उनकी उपचार-क्रिया का दृढ़ कार्य-कारण संबंध या नियतत्ववाद है। अपने इन्हीं सिद्धांतों के प्रकाश में फ्रायड ने सभ्यता-संस्कृति, धर्म, कला, समाज-व्यवस्था, राष्ट्रीयता आदि पर विचार किया। उनके सिद्धांतों के निष्कर्ष मौलिक होते हुए भी विक्षोभकारी थे। फ्रायड का बहुत विरोध हुआ लेकिन जितना ही विरोध था उतना ही उनका प्रभाव गहरा होता गया। फ्रायड के चिंतन में नैतिकता और आध्यात्मिकता के लिए कहीं भी जगह नहीं है। कला या साहित्य के क्षेत्र में वे भाव-परिष्कार सिद्धांत को स्वीकार करते हैं।
- फ्रायड के मनोविश्लेषण में प्रयोजन या उद्देश्य के लिए कोई स्थान नहीं है। मनुष्य की स्थिति यंत्र की है - मानव के सभी कार्य-व्यापारों को एक अंध-शक्ति परिचालित करती है। अत: उद्देश्य सामने रखकर कार्य करने का प्रश्न ही पैदा नहीं होता। जीवन का ही कोई प्रयोजन नही है - जीवन तो प्रयोजनातीत है।

21.3 एल्फ्रेड एडलर

वैयक्तिक मनोविज्ञान के प्रतिष्ठापक एल्फ्रेड एडलर अपनी विद्वता के लिए प्रसिद्ध रहे हैं। वे यहूदी थे और उनका जन्म विएना में 17 फरवरी, 1870 ई. में हुआ। चिकित्सा विज्ञान का अध्ययन करने के बाद 1902 में वे फ्रायड के सहयोगी शिष्य हो गए। लेकिन धीरे-धीरे दोनों के बीच मतभेद उभरा। यह इस सीमा तक उभरा कि 1911 में एडलर ने फ्रायड से अलग अपना नया सिद्धांत या सम्प्रदाय बना लिया। 1935 में वे अमेरिका चले गए और वहाँ अपने सिद्धांत का मान-सम्मान पाकर बस गए। उनका एबर्डीन में 28 मई, 1937 में देहावसान हो गया। उनकी प्रसिद्ध कृतियों के नाम हैं - 'दि प्रेक्टिस एण्ड थियरी ऑव साइकोलॉजी', 'सोशल इंटरेस्ट', 'दि न्युराटिक कांस्टीट्यूशन', 'प्राब्लम ऑव न्युरोसिस' आदि।

प्रमुख मान्यताएँ

- फ्रायड 'काम-भावना' को जीवन की प्रेरणा-शक्ति मानते हैं पर एडलर 'अधिकार-भावना' को केंद्रीय स्थान देते हैं। एडलर के विचार से मनुष्य को तीन क्षेत्रों का समायोजन करना पड़ता है - समाज, प्रेम और कार्य। इस त्रिविध समायोजन में बाल्य-काल के अनुभव साधक या बाधक की भूमिका में रहते हैं। बालक असहाय रूप में संसार में आता है उसे जीवन-धारणा से लेकर प्रत्येक जीवन-कार्य में दूसरों पर निर्भर रहना पड़ता है। नतीजा यह होता है कि बालक कदम-कदम पर असहायता का अनुभव करता है। उसकी असहायता की भावना तीन प्रकार से तीव्र होती जाती है - अनुचित व्यवहार से, विषम परिस्थिति से; तथा आंगिक हीनता से। अनुचित व्यवहार का अर्थ है - उपेक्षा, कठोरता, अधिक लाड-प्यार। विषमता का यहाँ अर्थ है - बच्चा अनाथ हो, पिता की मृत्यु के बाद पैदा हुआ हो या विमाता के संरक्षण में कष्ट झेल रहा हो। आंगिक हीनता का अर्थ है - अंग संरचना में गड़बड़ी - बच्चा लँगड़ा-लूला हो, एक आँख वाला या अंधा, बहरा, नाटा, मोटा, पतला हो। इनका बच्चे के मन पर गहरा प्रभाव-दबाव रहता है और उसमें हीनता की भावना पैदा हो जाती है। जीवन क्षेत्र में बार-बार असमर्थता का शिकार होने पर उसमें कुंठा घर कर लेती है और असफलता 'मनस्ताप' को जन्म देती है। अतः 'मनस्ताप' से निवारण के लिए बचपन का इतिहास-भूगोल जानना अपेक्षित होता है।

- असहायता की भावना की प्रतिक्रिया कई रूपों में हो सकती है किंतु तीन प्रमुख रूप हैं - (क) क्षतिपूर्ति का संकल्प (ख) आत्म-केंद्रित हो जाना, पलायनवादी हो जाना, कर्म से मुँह मोड़ लेना (ग) अतिक्षतिपूर्ति या समझौतावादी दृष्टि अपनाना। इनमें से प्रथम प्रकार में एक दिशा में शक्ति (एनर्जी) का प्रवाह अवरुद्ध होकर दूसरी दिशा में नई ऊँचाइयों को प्राप्त करता है। यही क्षतिपूर्ति की सफलता या सफल क्षतिपूर्ति है। जैसे हम देखते हैं कि नेत्रहीन, विकलांग व्यक्ति कविता, कला या संगीत में अद्भुत उत्कर्ष प्राप्त करते हैं अंग्रेज़ी कवि बायरन लंगड़े थे हिंदी कवि सूरदास नेत्रहीन। दूसरी कोटि में वे व्यक्ति आते हैं जो पराजय से पीड़ित होकर आत्म-केंद्रित हो जाते हैं। तीसरी कोटि के लोग - अति-क्षतिपूर्ति वाले लोग - अपनी हीनताओं से समझौता कर लेते हैं और उसकी क्षतिपूर्ति का प्रयास करते हैं। उदाहरण के तौर पर रूपहीन स्त्री का अतिशय शृंगार करना या मरियल आदमी का ऐसे कामों में उत्साह दिखाना जो उसे बलवान सिद्ध कर सकें। चूँकि यह क्षतिपूर्ति प्रायः संतुलित न होकर 'अति' से भरी होती है इसीलिए इसे 'अति-क्षतिपूर्ति' कहते हैं। संतुलित क्षतिपूर्ति वाला 'नॉर्मल' कहलाता है व असंतुलित अतिरंजित क्षतिपूर्ति वाला 'असामान्य' (एब-नॉर्मल)। इसलिए 'असामान्य' व्यक्ति की कठोर आलोचना होती है।

- एडलर के मत से मनुष्य के विकास में सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका 'समाज' की होती है। मानव का समाज-निरपेक्ष व्यक्तित्व और अस्तित्व संभव ही नहीं है - उसकी सभी इच्छाएँ-आकांक्षाएँ, प्रेरणाएँ, समस्याएँ, चिंताएँ, तोष प्रदान करने वाली वृत्तियाँ समाज-सापेक्ष्य हैं। इसीलिए 'सामाजिकता' का एक बृहत् अर्थ-संदर्भ है। मानव की 'सामाजिकता' का लघु किंतु महत्वपूर्ण अंग 'घर-परिवार' है। व्यक्ति की 'जीवन-पद्धति' को समझने के लिए 'पारिवारिक पद्धति' को गहराई से जानना-समझना जरूरी है। एडलर ने 'जीवन-पद्धति' का प्रयोग आचार-विचार व्यवहार आदि के व्यापक अर्थ में किया। स्वाभाविक 'जीवन-पद्धति' के विकास से अभिप्राय है - 'अहं भावना' और 'समुदाय-भावना' में पूर्ण संतुलन और सामंजस्य। न्यूराटिक या मनस्तापी में इस 'समुदाय-भावना' का विकृत रूप रहता है वह 'अहं भावना' को प्रधानता देता है और 'समुदाय-भावना' को अँगूठा दिखाता है यही उसकी 'मानसिक बीमारी' का साफ लक्षण है। वैयक्तिक मनोविज्ञान के अनुसार, मनस्तापी व्यक्ति वह है जिसके शैशवकालीन असंतुलन ने 'जीवन-पद्धति' को गलत दिशा में प्रवृत्त कर दिया है।

- एडलर किसी भी व्याधि या रोग के तीन कारण मानते हैं - (1) संरचनात्मक (2) क्रियामूलक (3) मानसिक व्यापारमूलक। संरचनात्मक व्याधि से तात्पर्य आंगिक विकृति से है जैसे अंधा-काना आदि। क्रियामूलक कारणों से तात्पर्य है - दर्द के कारण हाथ-पैर चलाने में कठिनाई। मानसिक व्यापारमूलक कारण का अर्थ है - भय, क्रोध, चिंता आदि भाव। मनस्तापी में व्याधियों के बहुत से कारण संश्लिष्ट रहते हैं।

- मानव के चरित्र निर्माण पर एडलर का ध्यान विशेष रूप से रहा है। चरित्र-निर्माण में अनेक तत्व घुले-मिले रहते हैं - शारीरिक गठन, परिवार, आर्थिक-नैतिक-शैक्षणिक स्थिति-परिस्थिति, लक्ष्य एवं उसे प्राप्त करने के साधन। फलतः एडलर 'नैसर्गिक प्रतिभा' जैसी किसी चीज़ को स्वीकार नहीं करते। वे व्यक्तित्व एवं चरित्र के निर्माण में परिवेश अथवा वातावरण की केंद्रीय भूमिका मानते हैं। मानव की मानसिक क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं के निर्धारण में अपने विषय में अपनी तथा अपने विषय में अन्य की प्रतिक्रिया का महत्व होता है। विद्वान या पद-प्रतिष्ठा प्राप्त व्यक्ति की सम्मति का जोरदार असर पड़ता है।

- सामान्य व्यक्ति (नॉर्मल) वह है जिसकी सामाजिक-सांस्कृतिक रुचियाँ विकसित-परिष्कृत होती हैं। उसकी 'सामाजिकता' फूल की तरह खिलती है। लेकिन न्युराटिक पलायनवादी होकर आत्मकेंद्रित हो जाता है और 'समाज' से घबराता है। फलत: वही सामाजिक संघर्ष में पिछड़ जाता है।

- हीनता-ग्रंथि से मुक्ति पाए बिना जीवन में संघर्ष करने की क्षमता और सफलता संभव नहीं है। लेकिन गलत जीवन पद्धति के परित्याग से मानव 'हीनता ग्रंथि' से मुक्ति पा सकता है। जाहिर है कि हीनता-ग्रंथि से मुक्ति पाने का उपाय आशा-उत्साह का उदय तथा सामाजिकता का विस्तार है। फ्रायड के अनुसार मनस्ताप मन की विकृति का नतीजा है किंतु एडलर के अनुसार मनस्ताप जीवन-पद्धति और व्यक्तित्व की विकृतियों का कुफल है। फ्रायड 'यौन-भावना' को केंद्रीयता प्रदान करते हैं, किंतु एडलर यौनेतर कारणों को - सामाजिकता-परिवेश-वातावरण को महत्व देते हैं। विशेष बात यह है कि एडलर 'सांस्कृतिक तत्वों के महत्व' की जोरदार ढंग से घोषणा करते हैं। यही कारण है कि अपने समय में वे फ्रायड से कम प्रसिद्ध नहीं रहे।

21.4 कार्ल गुस्ताफ युंग (C.G. Jung)

युंग (कुछ लोग जुंग भी लिखते हैं किंतु हिंदी में युंग नाम ही व्यापक रूप से प्रचलित है) का जन्म 26 जुलाई, 1875 ई. में बासेल, स्विटज़रलैण्ड में हुआ। उन्होंने चिकित्सा-विज्ञान का डट कर अध्ययन किया और बासेल विश्वविद्यालय से चिकित्सा-विज्ञान में विशेष योग्यता प्राप्त की। 1900 ई. में उन्होंने मन:चिकित्सक के रूप में कार्य शुरू किया। कुछ समय तक वह फ्रायड के सहयोगी रहे, किंतु दोनों में नहीं बनी और गहरे सैद्धांतिक मतभेद उभरे। फलतः उन्होंने 'मनोविश्लेषणक मनोविज्ञान' की नई सिद्धांत-दृष्टि का प्रवर्तन किया। उनके विचारों का इतना स्वागत हुआ कि वे बासेल तथा त्सूरिख विश्वविद्यालयों में मनोविज्ञान के प्रोफेसर रहे। ध्यान देने की बात है कि युंग के सिद्धांत मनोविज्ञान से ज्यादा दर्शन के अंतर्गत आते हैं और उनका चिंतन दार्शनिक वर्गसाँ के नजदीक पड़ता है। सी.जी. युंग की प्रसिद्ध पुस्तक - 'मॉडर्न मैन इन सर्च ऑव सोल', 'दि इंटीग्रेशन ऑव पर्सनेलिटी', 'साइकोलॉजिकल टाइप्स', 'साइकोलॉजी ऑव अनकॉन्शस' तथा 'कन्ट्रीब्यूशन टू एनालिटिकल साइकोलॉजी' आदि हैं।

प्रमुख मान्यताएँ

- फ्रायड की तरह युंग भी मानते हैं कि 'चेतन-मन' की तुलना में 'अवचेतन-मन' का क्षेत्र अधिक विस्तृत और महत्वपूर्ण है। किंतु 'अवचेतन-मन' के बारे में दोनों के विचार भिन्न हैं। फ्रायड के अवचेतन सिद्धांत में दमित-अतृप्त सामग्री का केंद्रीय महत्व है किंतु युंग के मत से 'अवचेतन-मन' में वे तत्व भी मौजूद रहते हैं जो वैयक्तिक अनुभव की परिधि और सीमा में कभी आते ही नहीं, वे बुनियादी तौर पर पुरातन ऐतिहासिक अनुभव-राशि का रूप होते हैं। इसे ही युंग ने 'प्रजातीय स्मृति' (रेशियल मेमोरी) का नाम दिया है।

- युंग कहते हैं कि प्रत्येक मानव में एक प्रकार विशेष का 'आदिम अवचेतन मन' विद्यमान रहता है जो अपनी मूल बनावट या रूप में विश्व-व्यापी, सामूहिक, पुरातन और निर्वैयक्तिक हुआ करता है जिसमें आदिम मानव के 'देव-असुर', 'भले-बुरे' गुण मौजूद रहते हैं। जैसे-जैसे हमारे व्यक्तित्व का विकास होता है, वैसे-वैसे हम पाते हैं कि 'निर्वैयक्तिक अवचेतन-मन' के तत्व 'चेतन-मन' का हिस्सा बने जाते हैं और चेतन के विस्तार के साथ 'आदिम अवचेतन-मन' का कुछ अंश छनकर ऊपर आ जाता है।

- यहाँ युंग की 'अवचेतन-मन' की धारणा को भी समझना आवश्यक है -

  (i) मानव के अवचेतन-मन में मात्र दमित इच्छाओं का ही ढेर नहीं लगा हुआ है, बल्कि मानसिक जीवन के वे पक्ष भी संचित रहते हैं जो अपने विकासक्रम में अधूरे-उपेक्षित रह गए हैं।

  (ii) अवचेतन मन में वैयक्तिक अनुभवों-धारणाओं-विचारों, इन्द्रिय संवेदनों के वे रूप भी 'राशि-राशि' मौजूद हैं जो उपयोग में न आने के कारण 'विस्मृति' के अंधकार में पड़ गए हैं किंतु वे मृत नहीं हैं। ये 'विस्मृत' विचार-खण्ड जरूरत पड़ने पर स्मृति में अधिक धड़क उठते हैं।

  (iii) मूल बात यह है कि युंगीय मनोविश्लेषक मनोविज्ञान में 'अवचेतन मन' के दो भाग हैं - (1) वैयक्तिक अवचेतन मन (2) सामूहिक अवचेतन मन - जिसे वे 'प्रजातीय अवचेतन' मन नाम भी देते हैं। वैयक्तिक अवचेतन 'समग्र सामूहिक अवचेतन मन' की तुलना में कम महत्व का है। सर्वाधिक महत्वपूर्ण है 'सामूहिक अवचेतन-मन'। इसी सामूहिक अवचेतन-मन में किसी भी प्रजाति के मिथक-प्रतीक-सामूहिक विश्वास, कर्मकाण्ड संचित रहते हैं। इसी सामूहिक अवचेतन-मन का गंभीर तल है - पाताल है - उसे ही युंग 'आदिम विश्व-व्यापी अवचेतन मन' कहते हैं। सार-संक्षेप में मूल बात यह है कि मानव-मन के तीन विशिष्ट स्तर हैं - (1) चेतन (2) वैयक्तिक अवचेतन; और (3) आदिम सामूहिक अवचेतन मन या प्रजातीय अवचेतन मन।

- प्रश्न उठता है कि प्रजातीय अवचेतन मन का स्वरूप क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में युंग कहते हैं कि प्रजातीय अवचेतन मन में प्रजातीय दाय या धरोहर (रेशियल हेरिटेज) का भण्डारण या संग्रह होता है। इस प्रजातीय अवचेतन मन की रचना की एक तह नहीं बल्कि अनेक तरह की तहें या परतें होती हैं। प्रथम बुनियादी तह में पशु-जीवन के संचित अवशेष हैं। इस तह के ऊपर दूसरी तह

5. आर्नल्ड ने ही प्रथम बार समस्त यूरोप को एक बौद्धिक-साहित्यिक संघ के रूप में देखने के विचार का प्रस्ताव किया। उन्होंने देखा कि आलोचना के क्षेत्र में फ्रांस-जर्मनी आगे हैं। इस परिप्रेक्ष्य के भीतर से उन्हें यह वैचारिक प्रकाश मिला है कि आलोचना को राष्ट्रीय सीमाओं में बाँधना अनुचित है। उन्होंने अंग्रेज़ी आलोचना को संकीर्णतावादी-अलगाववादी नीति छोड़ने का आग्रह किया और जर्मनी, फ्रांसीसी, ग्रीक, लैटिन के साथ अन्य भाषाओं के आधुनिक साहित्य को अध्ययन-मनन के केंद्र में लाने का सुझाव दिया। फलतः उन्होंने उस आलोचना पद्धति की नींव डाली जिसे आज तुलनात्मक आलोचना कहा जाता है।

6. आर्नल्ड ने बहुत विस्तार से इस तथ्य का प्रतिपादन किया कि साहित्येतर मानदंड साहित्य के विवेचन-मूल्यांकन में बाधक हैं। अतः उनसे मुक्ति आवश्यक है। राजनीतिक-ऐतिहासिक पूर्वाग्रहों से ग्रस्त आलोचना साहित्य के साथ न्याय नहीं कर सकती। आलोचक को निस्संग होना चाहिए। आर्नल्ड के निस्संगता वाले इस विचार को बाद में एलियट ने व्यापक समर्थन दिया।

7. सेंट व्यूव (व्यव) के चिंतन से प्रभावित होकर आर्नल्ड ने यह मत व्यक्त किया है कि रचना या कृति को ठीक से समझने के लिए रचनाकार के युग-परिवेश, वैयक्तिक जीवन की गहन जानकारी आवश्यक है। किंतु उनका यह विचार कई व्यावहारिक कठिनाइयाँ उत्पन्न करता है। इसीलिए यह कहा गया कि आलोचना में कृति पर ध्यान केंद्रित करना चाहिए कृतिकार पर नहीं। आलोचना का लक्ष्य रचना होनी चाहिए और रचना को पाठ-विश्लेषण में आलोचक को भारी श्रम करना चाहिए।

8. आर्नल्ड की दृष्टि में संस्कृति तथा आलोचना अभिन्न हैं। संस्कृति और आलोचना, दोनों का लक्ष्य पूर्णता की ओर बढ़ना है।

9. आर्नल्ड का मत है कि महान काव्य के लिए विषय-वस्तु उदात्त होनी चाहिए और शैली भव्य। साथ ही उनकी धारणा है कि सामयिक विषयों पर लिखा गया काव्य चिर-स्थायी नहीं हो सकता। अतः काव्य का विषय ऐसा होना चाहिए जो मनुष्य के स्थायी भावों और संवेदनाओं से सम्बद्ध हो। उनकी दृष्टि में प्राचीन काव्य (क्लासिकल यूनानी काव्य) की स्थायी सफलता के मूल में तीन कारण थे - (क) कार्य-व्यापार की महत्ता (ख) चरित्रों की उदात्तता (ग) स्थितियों की तीव्रता। विषय-वस्तु महान होने पर भी कवि को काव्य-सृजन प्रक्रिया के दौरान यह ध्यान रखना चाहिए कि रचना में सामंजस्य, अनुपात तथा संरचनात्मक अन्विति हो। काव्य-प्रयोजन आनंद के साथ नैतिक उन्नयन हो।

10. आर्नल्ड का पूरा ध्यान वस्तु और रूप, विषय और अभिव्यंजना के सामंजस्य पर रहा है। रचना में सरलता, संयम और परिष्कार पर बल देने का कारण है कि वे काव्य को सांस्कृतिक उन्नयन और परिष्कार का साधन मानते हैं। आलोचना का उद्देश्य है - पाठक की रुचि का परिष्कार और ज्ञान-संवेदना का विस्तार। काव्य-सौंदर्य और काव्य-सत्य के निर्धारित नियमों में उसे जीवन की आलोचना (व्याख्या-पुनर्व्याख्या) होना चाहिए। उल्लेखनीय तथ्य यह है कि उन्होंने काव्य और नैतिकता की पूरी ताकत के साथ वकालत की है। शायद ही किसी आलोचक ने इतने जोरदार ढंग से काव्य और नैतिकता के पक्ष को सामने रखा हो।

11. काव्य की श्रेष्ठता के निर्धारण का प्रश्न उन्हें जीवन-भर मथता रहा है। इसीलिए उनका विचार है कि काव्य की परख के लिए निकष-पद्धति (Touch-Stone Method) अपनाना चाहिए। जैसे किसी वस्तु को तौलने के लिए बाट काम में लाए जाते हैं, वैसे ही काव्य के महत्व और सौंदर्य को आँकने के लिए महान कवियों की कृतियों के भीतर मौजूद श्रेष्ठतम काव्य-पंक्तियाँ स्मरण रखनी चाहिए और किसी काव्य की उन्नमता की परख के लिए उन्हें ही प्रतिमान या निकष बनाना चाहिए। अपने निबंध 'दि स्टडी ऑफ पोयट्री' में उन्होंने होमर, शेक्सपियर, दांते और मिल्टन की श्रेष्ठ काव्य पंक्तियाँ 'निकष पद्धति' को व्यावहारिक रूप देने के लिए प्रस्तुत की हैं।

12. आर्नल्ड काव्य को जीवन-आलोचना माना है। उनके ज्यादातर निबंधों में घूम-फिरकर यह धारणा बराबर आती रही है कि जीवन के व्यापक सौंदर्य से युक्त, मानव के अनुभव-सत्यों से सम्पन्न काव्य जीवन की आलोचना या व्याख्या है। जीवन की आलोचना का अर्थ है - जीवनानुभवों की पुनर्रचना या जीवन की पुनर्निमिति। 'जीवन की आलोचना' से विद्वानों ने अनेक अर्थ-ध्वनियाँ ग्रहण कीं और इसके अनेक भाष्य होते रहे हैं। यह भी कहा गया कि 'काव्य-सत्य' से आर्नल्ड का तात्पर्य 'विषय-वस्तु की मूल्यवत्ता से रहा है और 'काव्य-सौंदर्य' से तात्पर्य अभिव्यंजना की भव्यता और उदात्तता से। दरअसल आर्नल्ड 'काव्य को जीवन की आलोचना कहकर कलावाद-रूपवाद का खण्डन करना चाहते थे और उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण के स्वच्छंदतावादी

आंदोलन की वैयक्तिकता का खण्डन। उनके मत का सार-संक्षेप यह कि काव्य में जीवन-समस्याओं, जीवन-वास्तविकताओं का चित्रण होना चाहिए। रचनाकार का काम युग-परिवेश में व्याप्त विचारों का संश्लेषण और उद्घाटन है - विश्लेषण और अन्वेषण नहीं। विश्लेषण तथा अन्वेषण तो दर्शन और विज्ञान का क्षेत्र है।

13. भावातिरेक और वैयक्तिकता से ग्रस्त होने के कारण आर्नल्ड ने प्रगीत काव्य का अपने ढंग से तिरस्कार किया है। वे प्रबंध काव्य को ही महान काव्य मानते हैं। आर्नल्ड का ध्यान आते ही हमें आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का ध्यान आना स्वाभाविक है क्योंकि दोनों ही आलोचक दार्शनिक गूढ़ता अमूर्तता और अस्पष्टता से बचने की सलाह देते हैं।

14. आज आर्नल्ड की मान्यताओं-मानदंडों की प्रासंगिकता पर प्रश्न-चिह्न लग गए हैं। फिर भी आलोचना के विकास-पथ में उन्हें भुलाया नहीं जा सकता है।

15.7 मैथ्यू आर्नल्ड की आलोचना दृष्टि का मूल्यांकन

अंग्रेज़ी आलोचना में आर्नल्ड का महत्व असंदिग्ध होते हुए भी उनके योगदान को लेकर बहुत विरोधी बातें कही गई। एलियट के अनुसार वे उस युग के कवि एवं समीक्षक हैं जो भ्रामक स्थिरता का युग है। ('He is the poet and critic of a period of false stability.' - Mathew Arnold : A collection of critical Essays, p.17) ऐसे समय में, एलियट की दृष्टि में आर्नल्ड ने तो प्रतिक्रियावादी हैं, न ही क्रांतिकारी। वे एक युग के सूचक हैं वैसे ही, जैसे कि उनसे पूर्व ड्राइडन और जॉनसन थे। ('Arnold is neither a reactionary nor a revolutionary, he marks a period of time, as do Dryden and Johnson before him.' - Mathew Arnold : A collection of critical Essays, p.15) एलियट ने उन्हें प्रमुखतया एक शिक्षक, आलोचक की अपेक्षा आलोचना का प्रचारक कहा। उन्होंने सदा कविता की महानता (greatness of poetry) के विषय में ही सोचा उसके खरेपन (genuineness) के बारे में नहीं।

एलियट के ये सभी आक्षेप अपनी जगह सही हो सकते हैं लेकिन आर्नल्ड इतिहास के जिस बिंदु पर खड़े हैं वहाँ कविता और नैतिकता, संस्कृति और शाश्वतता जैसे विषयों को लेकर उनके मताग्रह इतने सशक्त हैं कि आर्नल्ड के लिए उनसे इतर कुछ भी देख पाना संभव नहीं था। फिर भी, मैथ्यू आर्नल्ड के योगदान पर विचार करते हुए हमें यह स्मरण रखना होगा कि उनका महत्व उनके कविता संबंधी विचारों के कारण उतना नहीं है जितना कि उस युग में कविता के सम्मुख जो चुनौतियाँ थीं उनका सामना कर, मानवमात्र के लिए काव्य की अक्षय संभावनाओं को उजागर करने के कारण हैं। इसीलिए एलियट द्वारा उनका मूल्यांकन उनके प्रति पूर्ण न्याय नहीं कर पाता। दूसरी ओर, विन्सेंट बेंकले तथा स्कॉट जैम्स जैसे विद्वानों ने उनकी इसी विशेषता को रेखांकित करते हुए उन्हें विक्टोरियन युग का सबसे बड़ा आलोचक माना है। विंसेंट बेंकले ने उन्हें विक्टोरियन युग के महान् साहित्यकारों में सबसे अधिक संवेदनशील बताया। ('Arnold is the most sensitive,..............of the great victorian literary men' – Mathew Arnold : A collection of critical Essays, p.150)

अंग्रेजी साहित्य में आर्नल्ड का महत्व ऐतिहासिक है। उन्होंने कविता और आलोचना दोनों के सीमित दायरों को तोड़कर उन्हें एक विस्तृत क्षितिज प्रदान किया। रोमांटिक काव्य की सीमाओं को भली भाँति पहचानकर आर्नल्ड ने कविता को व्यक्तिगत अनुभूति और भावना, कवि के अपने रागतत्व की सीमाओं का अतिक्रमण कर उसे जीवन की समग्रता तक फैलाया। आर्नल्ड कविता के सामाजिक उद्देश्यों को कभी नहीं भूलते। इसलिए कविता जो भी हो, जैसी भी हो वह अपने मूल में (at the bottom) जीवन की आलोचना ही है। जब आर्नल्ड जीवन की आलोचना की बात करते हैं तब भी उनके सम्मुख नैतिकता और सांस्कृतिक उत्थान के सरोकार बराबर बने रहते हैं। आर्नल्ड की दृष्टि में काव्य की श्रेष्ठता के लिए इन मूल्यों की प्रतिष्ठा अनिवार्य शर्त है। उनके ये विचार एक पूर्वाग्रह की तरह उनके समस्त आलोचना साहित्य में व्याप्त रहते हैं।

कविता के लिए उपयुक्त विषय चयन की चर्चा करते हुए वे 'पुरातन', 'शाश्वत' या 'सनातन' पर इतना बल देते हैं कि नवीन विषयों की शक्ति या संभावनाओं को बिल्कुल अनदेखा कर देते हैं। इस दृष्टि से आलोचकों ने यह आक्षेप किया कि उनके चिंतन में अपने युग विशेष के जीवन और उसकी समस्याओं की अवहेलना हुई है। वस्तुतः लोकमंगल और नैतिकता के उत्साह में वे अपने वर्तमान से इतने असंतुष्ट थे कि उन्होंने आधुनिकता के नाम पर यूनानी आभिजात्यवादी साहित्य के गुणों को ही

पुनर्जीवित करने का प्रयत्न किया। आर्नल्ड के लिए कविता धर्म और दर्शन का प्रतिस्थापन है। मानव सभ्यता के विकास में धर्म और दर्शन जो भूमिका निभाते रहे हैं, मनुष्य को जो सांत्वना देते रहे हैं या जो भावनात्मक तुष्टि प्रदान करते रहे हैं आर्नल्ड कविता से उन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति की अपेक्षा रखते हैं।

मैथ्यू आर्नल्ड एक सांस्कृतिक चिंतक हैं। उन्होंने संस्कृति के साधन के रूप में ही कविता पर विचार किया। विज्ञान और भौतिकता की जिस लहर ने उस युग जीवन पर तीव्र आघात किए थे आर्नल्ड ने उनके प्रत्युत्तर स्वरूप ही संस्कृति को, 'पूर्णता के अध्ययन' के रूप में प्रस्तुत किया। 'माधुर्य और आलोक जैसे गुणों से समन्वित संस्कृति जीवन में संतुलन लाने वाली दृष्टि के रूप में प्रस्तावित हुई। संस्कृति के व्यापक उद्देश्यों की प्रतिष्ठा आर्नल्ड के विचार में कविता द्वारा ही संभव हो सकती थी। इसीलिए उन्होंने कविता को इतना महत्वपूर्ण स्थान दिया।

आर्नल्ड के साहित्यिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं नैतिक सरोकारों ने कविता के उद्देश्यों को ही विस्तृत नहीं किया अपितु आलोचना पर भी नए दायित्व डाले। आलोचना केवल काव्य तक ही सीमित नहीं रही वह जीवन सापेक्ष, युग सापेक्ष हो गई। संस्कृति, धर्म, दर्शन सभी कुछ उसकी परिधि में आ गया। उनकी दृष्टि में आलोचक का कर्त्तव्य कर्म था कि श्रेष्ठ साहित्य सृजन के लिए उपयुक्त वातावरण का निर्माण करे। उसके लिए आर्नल्ड आलोचक से यह अपेक्षा करते हैं कि वह वस्तुओं के वास्तविक रूप को देख-समझकर सर्वोत्तम विचारों का प्रसार करे। श्रेष्ठ साहित्य के निर्माण के लिए आर्नल्ड महान् काव्य पंक्तियों को निकष की तरह प्रयोग करने के भी पक्षधर हैं। आलोचना के लिए उन्होंने तीन प्रणालियों वैयक्तिक, ऐतिहासिक तथा वास्तविक की चर्चा करते हुए वास्तविक आलोचना को ही सच्ची आलोचना माना। साथ ही, आलोचक की निस्संगता पर बहुत बल दिया। आर्नल्ड ने श्रेष्ठ कविता के प्रतिपादन में कवियों की जो तुलना की, उससे भविष्य में तुलनात्मक आलोचना का भी पथ प्रशस्त किया।

वस्तुतः आर्नल्ड की उपलब्धियों पर विचार करते हुए एक और तथ्य रेखांकित करना भी ज़रूरी हो जाता है कि नैतिकता और संस्कृति के आग्रहों के कारण कविता को जीवन की आलोचना स्वीकार करते हुए भी उन्होंने काव्य-सत्य और काव्य-सौंदर्य के निर्धारित नियमों की अवहेलना नहीं की। एक आलोचक के रूप में यद्यपि आर्नल्ड के लिए, कृतियों के मूल्यांकन की कसौटी उनके निजी आदर्श हैं। फिर भी उनकी आलोचना में दृढ़ता और प्रौढ़ता के दर्शन होते हैं।

15.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

डॉ. देवेन्द्र नाथ शर्मा, **पाश्चात्य काव्यशास्त्र**, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।

राम सेवक सिंह, **मैथ्यू आर्नल्ड**, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना।

डॉ. नगेन्द्र एवं डॉ. सावित्री सिन्हा, **पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परंपरा**, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

15.9 अभ्यास के लिए प्रश्न

1. मैथ्यू आर्नल्ड की काव्य संबंधी मान्यताओं पर विचार कीजिए।
2. 'कविता जीवन की आलोचना है'। आर्नल्ड की इस परिभाषा का विवेचन कीजिए।
3. काव्य-चिंतन से संबंधित मैथ्यू आर्नल्ड के योगदान का निरूपण कीजिए।



उत्तर प्रदेश
राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

MAHI-08

साहित्य सिद्धांत और समालोचना

खंड

5

पाश्चात्य काव्यशास्त्र-II

पाठ्यक्रम विशेषज्ञ समिति

पाठ्यक्रम निर्माण

इकाई लेखक
डॉ. कुसुम बाँठिया (इकाई 16)
देशबंधु कॉलेज,
दिल्ली

डॉ. कृष्णदत्त पालीवाल (इकाई 17-19)
हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली

पाठ्यक्रम संपादक
प्रो. निर्मला जैन

पाठ्यक्रम संयोजक
डॉ. रीतारानी पालीवाल

सामग्री निर्माण

प्रो. वी.रा.जगन्नाथन
निदेशक, मानविकी विद्यापीठ
इग्नू, नई दिल्ली

श्री कुलवंत सिंह
अनुभाग अधिकारी (प्रकाशन)
मानविकी विद्यापीठ, इग्नू

कैमरा रेडी कॉपी निर्माण एवं सचिवालयिक सहयोग
श्री हरीश कुमार सेठी

फरवरी 2004 (पुनः मुद्रित)

ISBN-81-266-0173-6

खंड 5 का परिचय

'साहित्य सिद्धांत और समालोचना' (एम.एच.डी.05) पाठ्यक्रम का पाँचवाँ खंड है - 'पाश्चात्य काव्यशास्त्र-II'। इस खंड में क्रोचे एलियट और रिचर्डस के प्रमुख समीक्षा सिद्धांतों को प्रस्तुत किया गया है। साथ ही, 'नयी समीक्षा' की जानकारी भी दी गई है। उपर्युक्त तीनों विचारक बीसवीं शताब्दी की पश्चिमी समीक्षा के महत्वपूर्ण आधार-स्तम्भ हैं। इनके साहित्य-कला चिंतन का गहरा प्रभाव विश्व समीक्षा पर दिखाई देता है। साथ ही, साहित्य चिंतन की नवीन पद्धतियों-प्रवृत्तियों के बीज-भाव भी इनके चिंतन साहित्य में मिलते हैं।

पश्चिमी जगत में उठने वाले कलावादी आंदोलन का नाम है - अभिव्यंजनावाद जिसमें आदर्शवादी सौंदर्य दर्शन की चरम परिणति हुई है। क्रोचे ने मार्क्स द्वारा प्रतिपादित द्वंद्वात्मक भौतिकवाद को अस्वीकार करके मन और उसकी मानसिक क्रियाओं के व्यापार से संबंधित अंतर्मुखी चेतना के दर्शन की महत्व-प्रतिष्ठा की। उनके इस अभिव्यंजनावाद सिद्धांत का समीक्षा और कला दर्शन पर गहरा प्रभाव पड़ा है।

टी.एस.एलियट ने स्वच्छंदतावाद के आधिपत्य को अस्वीकार करते हुए क्लासिकल मत का प्रतिपादन किया। उनके चिंतन के आधारभूत तत्व हैं - वैयक्तिक और विशिष्ट से ऊपर उठकर निर्वैयक्तिक और सामान्य की स्थापना तथा मूर्त-विधान। एलियट में नयी समीक्षा के बीज विद्यमान हैं। वे रचनाकार पर नहीं रचना पर ध्यान देने का आग्रह करते हैं।

आधुनिक युग के मौलिक चिंतकों में आई.ए.रिचर्डस का स्थान इसलिए महत्वपूर्ण है कि उन्होंने काव्य की उपयोगिता संबंधी उस संशय को मिटाने के लिए, जो भौतिकवादी दर्शन और विज्ञान की प्रगति के साथ उत्पन्न हो गया था, नवीन और सर्वांगीण काव्यशास्त्र का निर्माण किया।

कलाकृति के पाठ को आधार मानकर चलने वाली 'नयी समीक्षा' (न्यू क्रिटिसिज़्म) का विकास अमरीका में हुआ है किंतु इसे प्रेरणा इंगलैंड के कैम्ब्रिज स्कूल से प्राप्त हुई जिसमें प्रमुख हैं - आई.ए. रिचर्डस। विश्लेषणात्मक आलोचना को साधन-सम्पन्न बनाने में नयी समीक्षा का बहुत बड़ा योगदान है। इसलिए यह आज दुनिया भर में महत्वपूर्ण मानी जाती है।

खंड में कुल चार इकाइयाँ (इकाई 16-19) हैं।

इकाई 16 **'क्रोचे का अभिव्यंजनावाद'** में क्रोचे के अभिव्यंजना सिद्धांत और अभिव्यंजनावादी समीक्षा पद्धति का विवेचन करते हुए भारतीय वक्रोक्ति सिद्धांत से उसका साम्य-वैषम्य प्रस्तुत किया गया है।

इकाई 17 **'टी.एस.एलियट का साहित्य चिंतन'** में एलियट के साहित्य चिंतन को उनकी रोमांटिक काव्य-विरोधी दृष्टि, परंपरा और व्यक्तिगत प्रज्ञा संबंधी उनकी अवधारणा तथा निर्वैयक्तिकता सिद्धांत, मूर्त विधान आदि की चर्चा के माध्यम से समझाया गया है।

इकाई 18 **'आई.ए.रिचर्डस का साहित्य चिंतन'** में रिचर्डस द्वारा प्रतिपादित मूल्य सिद्धांत भाषा या संप्रेषण सिद्धांत, अर्थ मीमांसा चिंतन आदि को प्रस्तुत किया गया है।

इकाई 19 **नयी समीक्षा (न्यू क्रिटिसिज्म) के प्रमुख सिद्धांत** में नयी समीक्षा के प्रमुख स्रोतों, समीक्षकों, प्रवृत्तियों आदि से विद्यार्थियों को अवगत कराया गया है।

इकाई 16 क्रोचे का अभिव्यंजनावाद

इकाई की रूपरेखा

16.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- बता सकेंगे कि क्रोचे का अभिव्यंजना से क्या तात्पर्य है
- क्रोचे की चेतना संबंधी अवधारणा का उल्लेख कर सकेंगे
- अभिव्यंजना सिद्धांत का परिचय दे सकेंगे
- अभिव्यंजनावादी समीक्षा पद्धति के विषय में बता सकेंगे; और
- अभिव्यंजनावाद और भारतीय वक्रोक्तिवाद सिद्धांत की तुलना कर सकेंगे।

16.1 प्रस्तावना

आपने पिछले खंड में पाश्चात्य साहित्यशास्त्र के अध्ययन के क्रम में कई सिद्धांतकारों और उनके सिद्धांतों का अध्ययन किया है। आपने यह भी देखा है कि सामान्यतः एक सिद्धांत से कई सिद्धांतकार और विचारक जुड़े होते हैं। किंतु इस इकाई में आप देखेंगे कि यह अभिव्यंजनावाद सिद्धांत एक ही विचारक - क्रोचे - से जुड़ा है।

अब तक के अध्ययन में आप यह भी देख चुके हैं कि कुछ साहित्य सिद्धांत वस्तुवादी, अर्थात् बाह्य जगत के प्रतिमानों पर बल देते हैं। अर्थात् उनके अनुसार काव्य का विषय भी बाह्य जगत से चुना जाना चाहिए और काव्य को परखने की कसौटियाँ भी वस्तुपरक होनी चाहिए। इसके विपरीत, आत्मपरकता पर ज़ोर देने वाले सौंदर्यशास्त्रीय सिद्धांतकार कलाकार की चेतना को केंद्र में रखते हैं और कला को मूलतः आत्माभिव्यक्ति मानते हैं। वे वस्तुवादी नियमों और कसौटियों को कला की स्वतंत्रता के लिए बाधक मानते हैं। स्वच्छंदतावाद, कलावाद आदि सिद्धांत इसी श्रेणी में आते हैं। क्रोचे द्वारा प्रतिपादित अभिव्यंजना सिद्धांत (Expressionism) को आत्मपरक काव्य-सिद्धांतों की चरम सीमा पर रखा जा सकता है। क्रोचे काव्य और कला के सृजन में बाह्य जगत की भूमिका को लगभग नकार ही देते हैं। यहाँ तक कि वे कलाकृति की बाह्य अभिव्यक्ति ी आवश्यक नहीं मानते। ऐसे में आलोचक के कर्म अथवा आलोचना की वस्तुपरक कसौटियों का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

इस इकाई में हम बेनेदितो क्रोचे (1866-1952) के विचारों की पृष्ठभूमि पर दृष्टि डालते हुए अभिव्यंजना सिद्धांत से जुड़ी मूल अवधारणाओं को समझने की कोशिश करेंगे। इसके बाद हम देखेंगे कि इस सिद्धांत के आलोक में क्रोचे कुछ अन्य विषयों को किस प्रकार देखते हैं। अभिव्यंजना सिद्धात के विषय में इस प्रकार जानकारी हासिल करने के बाद हम इस सिद्धांत की शक्ति तथा सीमाओं पर दृष्टिपात करेंगे। और अंत मे हम यह देखेंगे कि अभिव्यंजना सिद्धांत और भारतीय काव्यशास्त्र के वक्रोक्ति सिद्धांत के बीच विद्वानों ने जो तुलना की है वह कहाँ तक संगत है।

इस सिद्धांत को ठीक से समझ पाने के लिए आपको पहले इसकी वैचारिक पृष्ठभूमि पर एक दृष्टि डाल लेनी चाहिए।

16.2 वैचारिक पृष्ठभूमि

पाश्चात्य साहित्यशास्त्र का अध्ययन करते हुए यह बात आपके सामने स्पष्ट हुई होगी कि अधिकतर साहित्य-सिद्धांत मूलतः तत्वदर्शन (फ़िलॉसफ़ी) के विभिन्न सिद्धांतों से प्रेरित हुए हैं। इनमें दो दृष्टियाँ ऐसी हैं जिन्होंने पाश्चात्य साहित्य-चिंतन को बड़ी गहराई से प्रभावित किया है। इनमें एक है **आत्मवादी** दृष्टि जो जगत में चेतना को सर्वप्रमुख तत्व मानती है और दूसरी है **वस्तुतवादी** दृष्टि जो वस्तु जगत को ही सत्य का आधार मानती है। सौंदर्यशास्त्र के इतिहास पर एक विहंगम दृष्टि डालने से यह बात स्पष्ट हो जाएगी।

पाश्चात्य सौंदर्यशास्त्र की परंपरा

पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में **प्लेटो** का नाम सबसे पहले लिया जाता है। वे एक आत्मवादी, प्रत्ययवादी (Idealist) दार्शनिक थे जिन्होंने एक विराट चेतना को ही विश्व का मूल तत्व मानते हुए यह भी माना कि यह संपूर्ण विश्व एक अमूर्त प्रत्यय के रूप में इस चेतना में ही स्थित है। बाह्य जगत की वस्तुएँ उस अमूर्त प्रत्यय (Idea) का मूर्त अनुकरण मात्र है।

इसके विपरीत, प्लेटो के शिष्य **अरस्तू** वस्तुवादी प्रतिमानों के पक्षधर थे। वे वस्तु जगत की स्वतंत्र सत्ता को स्वीकार करते थे। प्लेटो जहाँ मानवीय ज्ञान का उत्स मानव की चेतना में मानते थे, अरस्तू उसे मूर्त वस्तु जगत के अनुभवों से उत्पन्न मानते थे। कृति के सृजन तथा समालोचना, दोनों के लिए ही, वे वस्तुगत नियमों और कसौटियों के पक्ष में थे। अरस्तू के बाद पहली सदी ई.पू. में **होरेस** ने भी इसी वस्तुवादी दृष्टि का प्रतिपादन किया और आगे चलकर नव्य-शास्त्रवाद ने भी इसी मत का समर्थन किया। ईसा की 14वीं-15वीं शताब्दी में यूरोपीय पुनर्जागरण के प्रभाव से साहित्य तथा कला में आत्मवाद तथा व्यक्तिवाद की प्रधानता होने लगी। रचना के लिए रचनाकार की निजी चेतना को सबसे ऊँचा स्थान दिया जाने लगा और मूर्त तथा वस्तुवादी प्रतिमानों की उपेक्षा होने लगी। व्यक्तिवादी मूल्यों की प्रबलता के कारण साहित्य तथा कला के क्षेत्र में किसी प्रकार का बाहरी नियंत्रण या अनुशासन नहीं रह गया और एक अराजकता-सी फैलने लगी। इसकी प्रतिक्रिया यह हुई कि आभिजात्यवाद फिर से सिर उठाने लगा और सौंदर्यशास्त्र में वस्तुपरक प्रतिमानों की स्थापना पर फिर से बल दिया जाने लगा।

इस दृष्टि का सबसे अधिक प्रभाव हमें इंगलैंड में दिखाई देता है। वहाँ 16वीं सदी में क्लासिकी भाषाओं (लैटिन, ग्रीक आदि), क्लासिकों (अर्थात् कालजयी रचनाओं), और क्लासिकी (अर्थात शास्त्रीय नियमों के अध्ययन तथा अनुकरण) पर बहुत बल दिया जाने लगा था। अठारहवीं सदी में पोप तथा ड्राइडन उन्नीसवीं सदी में मैथ्यू आर्नल्ड तथा जॉन रस्किन और बीसवीं सदी में टी.एस.एलियट जैसे रचनाकारों-विचारकों ने रचना में क्लासिकी संयम, अनुशासन तथा मूल्यों की वस्तुनिष्ठता पर बल दिया। बीसवीं सदी में ही मार्क्सवादी समीक्षा-दृष्टि ने भी कला के लिए बाह्य जगत के - सामाजिक - प्रतिमानों को आवश्यक माना था।

इन सब बातों का यह अर्थ नहीं है कि सौंदर्यशास्त्र के क्षेत्र से आत्मपरक दृष्टिकोण का सर्वथा विलोप हो चुका था। यह कहा ही जा चुका है कि यूरोपीय पुनर्जागरण के दौर में कलाकार की स्वतंत्र सत्ता, सर्जनशीलता तथा आत्माभिव्यक्ति के अधिकार को मान्यता दी गई थी और वस्तुपरक मूल्यों की जकड़ से मुक्ति का नारा लगाया गया था। आत्मवादी दृष्टि का प्रमुख परिपाक हम 18वीं सदी में मुख्यतः जर्मनी के दार्शनिकों -- कांट, हीगेल, शिलर आदि -- में देखते हैं जिन्होंने मानव-चेतना को ही

सौंदर्यानुभूति का मूल तत्व माना था। कला का आरंभ चाहे बाह्य जगत से गृहीत संवेदनों से हो किंतु उसकी परिणति ये मानव-चेतना में ही मानते थे। इस दृष्टि का प्रभाव इंगलैंड के स्वच्छंदतावादी आंदोलन पर भी पड़ा, यह आप स्वच्छंदतावाद के अध्ययन के क्रम में देख सकते हैं। आगे चलकर कलावादी आंदोलन में इस विचारधारा का और प्रबल रूप दिखाई देता है। कलावाद ने कला पर किसी भी प्रकार के बाहरी दबाव का निषेध किया - वह शास्त्र का दबाव हो, वस्तु जगत के पैमानों का दबाव हो, या रूढ़ नैतिकता का। बाह्य तत्वों के नकार पर उसका इतना बल रहा कि भाषा तथा रचना के सिद्धांतों को भी उसने नकार दिया और कलाकार की निजी दृष्टि, मानसिक प्रक्रिया और मौलिकता को सबसे अधिक महत्व दिया। केवल सौंदर्य की खोज तथा निरूपण को ही इन्होंने कला का उद्देश्य माना। कला इनके लिए केवल आत्माभिव्यक्ति थी - सभी प्रकार के शास्त्रीय तथा सामाजिक सरोकारों से मुक्त। इस कलावादी-व्यक्तिवादी दृष्टि का ही चरम विकास हमें क्रोचे में दिखलाई पड़ता है। आइए, क्रोचे के जीवन तथा कृतित्व पर हम एक दृष्टि डालें।

16.3 बेनेदितो क्रोचे का व्यक्तित्व

साहित्यालोचन में अभिव्यंजनावाद की बहुत चर्चा होती है किंतु इसके प्रवर्तक बेनेदितो क्रोचे साहित्यशास्त्री नहीं थे। उनका मुख्य सरोकार दर्शन तथा सौंदर्यशास्त्र से था। उनका जन्म सन 1866 में इटली के नेपल्स शहर में हुआ। बचपन में धर्म से इनकी आस्था उठ गई थी किंतु अपनी आत्मकथा में इन्होंने दिखलाया है कि रोम विश्वविद्यालय में राजनीति, अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र और दर्शन का अध्ययन करते हुए इनकी आस्था किस प्रकार लौटी और किस प्रकार इनके विचार क्रमशः अमूर्तता और आत्मपरकता की ओर बढ़ते गए। यहाँ तक कि अंत में जाकर ये बाह्य जगत को पूर्ण निरर्थक मानते हुए चेतना को ही परम सत्य मानने लगे। वह मार्क्सवाद के उत्थान का समय था। क्रोचे ने मार्क्स की वस्तुवादी दृष्टि का भी विरोध किया। इनके अनुसार मानव जीवन की सारी क्रियाएँ मूलतः चेतना के स्तर पर ही होती हैं। कला का सर्जन भी चेतना के स्तर पर ही आरंभ होकर समाप्त हो जाता है। इस प्रक्रिया को ही इन्होंने 'अभिव्यंजना' का नाम दिया।

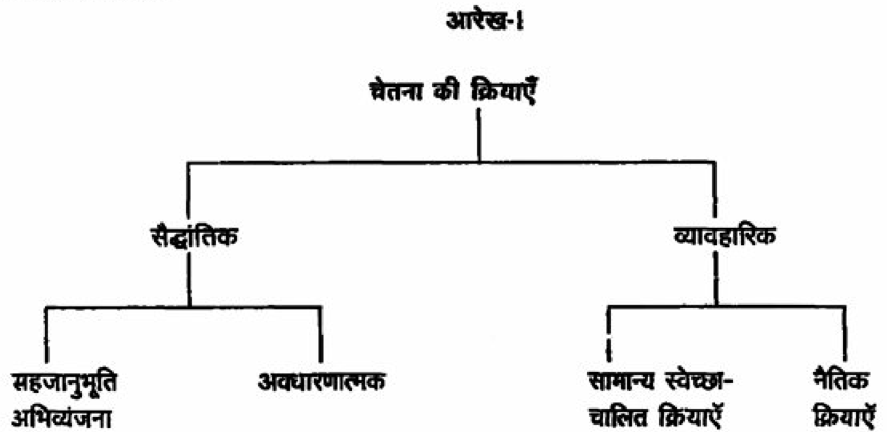
क्रोचे के चेतना तथा अभिव्यंजना संबंधी विचारों पर हम आगे विस्तार से बात करेंगे। यहाँ आप यह ध्यान रखें कि समय-समय पर मान्यताओं में कुछ परिवर्तनों के बावजूद क्रोचे की यह प्रत्ययवादी दृष्टि अंत तक बनी रही। सन 1952 में अपनी मृत्यु तक क्रोचे बराबर गहन अध्ययन तथा लेखन में लीन रहे। दर्शन तथा सौंदर्यशास्त्र के अतिरिक्त ये इतिहास, तर्कशास्त्र आदि विषयों पर भी लिखते रहे। सन 1902 में इन्होंने **'ला क्रितीका'** नामक पत्रिका भी निकाली। सन 1900 में इन्होंने **'एस्थेटिक ऐज़ द साइंस ऑफ़ एक्सप्रेशन एंड जनरल लिंग्विस्टिक्स'** नामक लेख लिखा था। सन 1902 में यह लेख भी 'एस्थेटिक' शीर्षक पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुआ। उनके अभिव्यंजना सिद्धांत (Expressionism) का प्रतिपादन पहले-पहल इसी निबंध तथा पुस्तक में हुआ। क्रोचे का सौंदर्यशास्त्र संबंधी चिंतन निरंतर चलता रहा। सन 1912 में इन्होंने इसी विषय पर **'एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका'** के लिए एक लेख लिखा और कई भाषण भी दिए। सन 1920 में **'न्यू एस्सेज़ ऑन एस्थेटिक'** शीर्षक से इनके सौंदर्यशास्त्रीय निबंधों का संग्रह प्रकाशित हुआ। अन्य विषयों के साथ ही सौंदर्यशास्त्र तथा साहित्य से जुड़े लेखन और भाषणों का क्रम इनके दीर्घ जीवन के अंत तक चलता रहा। सौंदर्यशास्त्र में अभिव्यंजनावाद को इनका सबसे बड़ा अवदान माना जाता है। किंतु अभिव्यंजनावाद को समझने के लिए हमें पहले इनकी चेतना संबंधी अवधारणा को समझना होगा।

16.4 चेतना तथा उसकी क्रियाएँ

इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि क्रोचे बाह्य जगत की घटनाओं को महत्वहीन मानते हैं और उनके अनुसार मानव जीवन की तमाम क्रियाएँ चेतना के स्तर पर ही होती हैं। उनके समय में मार्क्सवादी विचारधारा भौतिकवाद की वकालत करते हुए बाह्य जगत और इसकी स्थितियों के सत्य को स्वीकारने पर ज़ोर दे रही थी। क्रोचे के पहले के कई प्रत्ययवादी विचारकों ने भी बाहरी जगत की सत्ता पूरी तरह नकारी नहीं थी, किंतु क्रोचे सत्य की स्थिति दो स्तरों पर मानने को तैयार नहीं थे। उनके मत में सत्य या तथ्य का अस्तित्व केवल मन या चेतना के स्तर पर होता है। बाह्य जगत के स्तर पर किसी तथ्य की स्थिति नहीं होती, उसकी ऐसी स्थिति की कल्पना मात्र हो सकती है। यह कल्पना भी मानस के स्तर पर ही होती है।

चेतना को इस प्रकार चरम सत्य मानते हुए क्रोचे ने जीवन-व्यवहार में इसकी चार मूलभूत क्रियाओं का उल्लेख किया है। इनमें से दो क्रियाएँ सैद्धांतिक या ज्ञानपरक होती है और दो क्रियाएँ व्यावहारिक या स्वेच्छा-चालित होती हैं। अर्थात् चेतना की क्रियाओं को प्रारंभिक स्तर पर सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक क्रियाओं के रूप में विभाजित किया जा सकता है। सैद्धांतिक क्रिया के दो उप-विभाग हैं - (1) सहजानुभूति-अभिव्यंजना; तथा (2) अवधारणाकरण। और व्यावहारिक क्रियाओं के दो उप-विभाग हैं - (1) सामान्य स्वेच्छा-चालित क्रियाएँ; तथा (2) नैतिक क्रियाएँ। इस विभाजन को एक आरेख के माध्यम से समझें :

आरेख-1



आइए अब हम देखें कि इन विभिन्न क्रियाओं से क्रोचे का तात्पर्य क्या था और इनके अंतर्गत कौन-से जीवन-व्यवहार आते हैं। परंतु पहले इस बात को जान लें कि क्रोचे इन सभी क्रियाओं को समान रूप से महत्वपूर्ण नहीं मानते थे। सहजानुभूति-अभिव्यंजना इनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण है और इसी क्रम से नैतिक क्रियाएँ सबसे कम महत्वपूर्ण। आइए, अब इन क्रियाओं पर अलग-अलग विचार करें।

1. सहजानुभूति अभिव्यंजना (Intuition-Expression)

यह चेतना की सबसे पहली और महत्वपूर्ण क्रिया है। मानव जीवन के सभी प्राथमिक अनुभव इसी क्रिया के अंतर्गत आते हैं। वास्तव में मानव का जो भी सहज अनुभव है, वह चेतना के माध्यम से ही आता है। इस स्तर पर इसमे न तर्क का समावेश होता है, न बुद्धि का। क्रोचे ने उदाहरण देते हुए समझाया है कि किसी चित्र के रंग तथा रेखाएँ या किसी गीत के स्वर हमारे मन में अनायास ही एक अनुभूति जगाते हैं। इस स्तर पर हम उन रंगों या रेखाओं या स्वरों का विश्लेषण नहीं करते, न इन कलाकृतियों की विषय-वस्तु पर विचार करके उन्हें समझने की चेष्टा करते हैं। वह सब तो अवधारणाकरण की प्रक्रिया के अंतर्गत आता है। यह सहजानुभूति ही कला का मूल तत्व है। कला इसी स्तर पर पूर्ण भी हो जाती है, जैसा हम अभिव्यंजना सिद्धांत की चर्चा के क्रम में देखेंगे। इस अनुभूति में किसी प्रकार के आयास या प्रयास की आवश्यकता नहीं होती। इसलिए इसपर किसी बाहरी प्रभाव का रंग भी नहीं चढता और इसलिए यह पूर्णतः यथार्थ होती है।

क्रोचे के अनुसार सहजानुभूति सभी चेतन प्राणियों में होती है। इसकी सघनता अवश्य सभी मे भिन्न-भिन्न हो सकती है। आप कॉलरिज की मुख्य कल्पना संबंधी अवधारणा से इस अवधारणा का साम्य देख सकते हैं।

एक और बात पर ध्यान दें। इस क्रिया को क्रोचे ने सहजानुभूति-अभिव्यंजना कहा है, अर्थात सहजानुभूति तथा अभिव्यंजना को उन्होंने एक माना है। सामान्य भाषा में ये दोनों शब्द अलग-अलग अर्थों में प्रयुक्त होते हैं, किंतु क्रोचे कई शब्दों का सामान्य अर्थो में प्रयोग न करके अपने ही तरीके-से उन्हें सामान्य से भिन्न अर्थ देते हैं। इस विषय में आगे और विस्तार से चर्चा होगी।

2. अवधारणाकरण (Conceptualization)

चेतना की यह क्रिया पहली क्रिया के बाद ही संभव है। सहजानुभूति-अभिव्यंजना अपने आप होने वाली निरायास क्रिया होती है किंतु अवधारणाकरण सोची-समझी और सायास क्रिया है। यह तर्क पर आधारित होती है। चेतना तर्क के सहारे सहजानुभूतियों का विश्लेषण करती है, उनके आपसी संबधो को समझती है। इस क्रिया के माध्यम से हम सहजानुभूति के स्तर से उठकर तर्क तथा बुद्धि के क्षेत्र में

पहुँचते हैं और बाह्य जगत का ज्ञान प्राप्त करते हैं। अब तक यह जगत केवल हमारी अनुभूति का विषय रहा था, अवधारणाकरण के माध्यम से हम इसे समझने और विश्लेषित भी करने लगते हैं।

3. सामान्य स्वेच्छा-चालित क्रियाएँ

चेतना की क्रियाओं में यह स्तर पहले दो स्तरों के बाद ही आ सकता है। ये क्रियाएँ व्यावहारिक क्रियाओं के अंतर्गत आती हैं जो जीवन के मूलतः व्यावहारिक तथा उपयोगिता-प्रधान पक्ष से जुड़ी होती हैं। आर्थिक क्रियाओं - व्यापार, व्यवसाय, जीविकोपार्जन आदि — से सम्बद्ध गतिविधियों में जीवन का यही पक्ष सक्रिय रहता है।

4. नैतिक क्रियाएँ

ये चेतना की सबसे अंतिम क्रियाएँ होती हैं जिनमें सामान्य जीवन-व्यवहार से उठकर विवेक, आदर्श और नैतिकता के भाव सक्रिय होते हैं। इन क्रियाओं का लक्ष्य चेतना के सच्चे स्वरूप का उद्घाटन होता है और ये चेतना के आध्यात्मिक स्तर से जुड़ी होती हैं। दर्शन, नीतिशास्त्र तथा अध्यात्म से गहराई से सम्पृक्त होने के नाते क्रोचे इन क्रियाओं की उपेक्षा नहीं कर सकते थे।

क्रोचे ने इन क्रियाओं में एक वरीयता-क्रम देखा है जो ऊपर दिए क्रम के अनुसार ही है। सहजानुभूति-अभिव्यंजना सबसे मूलभूत तथा सबसे प्रथम क्रिया है। इसके बाद ही अवधारणाकरण या तर्क का स्थान आता है। तीसरी, अर्थात् सामान्य स्वेच्छा-चालित क्रियाएँ इन दो क्रियाओं के बाद ही संभव है। व्यक्ति को पहले अनुभूति होती है, फिर वह तर्क के माध्यम से उस अनुभूति का विश्लेषण करता है। इस विश्लेषण में सक्षम होने के बाद ही वह आर्थिक क्रियाएँ निष्पन्न करने में सफल होता है। इन सबके बाद ही उसकी चेतना एक उच्च स्तर पर पहुँचकर जीवन के नैतिक पक्ष का विवेचन करने में समर्थ होती है।

इन चारों क्रियाओं का वरीयता-क्रम केवल इनके सापेक्षिक महत्व को ही नहीं दर्शाता, बल्कि चेतना में इनकी सक्रियता का क्रम भी इसी प्रकार है। अर्थात् दूसरी क्रिया पहली के बाद ही हो सकती है, तीसरी क्रिया दूसरी के बाद ही, और चौथी क्रिया तीसरी के बाद ही।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, क्रोचे ने इन चारों क्रियाओं में सहजानुभूति-अभिव्यंजना को मूलभूत ही नहीं, सबसे अधिक महत्वपूर्ण भी माना है। सौंदर्यशास्त्रीय प्रसंग के लिए यही क्रिया अनिवार्य भी है और पर्याप्त भी। कला के लिए न तर्क की ज़रूरत होती है, न आर्थिक क्रियाकलाप की, न नैतिक प्रतिगान की।

16.5 अभिव्यंजना सिद्धांत

क्रोचे का अभिव्यंजना सिद्धांत चेतना की सबसे पहली और सबसे महत्वपूर्ण क्रिया - सहजानुभूति-अभिव्यंजना पर आधारित है। उनके अनुसार रचनाकार की सहजानुभूति ही अभिव्यंजना है और अभिव्यंजना ही रचना (साहित्य, संगीत, चित्र, मूर्ति आदि)। यह सहजानुभूति संवेदनों के माध्यम से होती है। अतः इस संकल्पना को पूरी तरह समझने के लिए आपके आगे संवेदन, सहजानुभूति, और अभिव्यंजना का अर्थ स्पष्ट होना ज़रूरी है।

इस विषय पर विचार करने के पहले आपको फिर से इस बात का ध्यान दिला देना ज़रूरी है कि क्रोचे कई प्रचलित शब्दों का अपने अलग ही अर्थ में प्रयोग करते हैं और उनकी संकल्पनाओं को विवेचन में प्रयुक्त शब्दों के केवल कोशार्थ के आधार पर नहीं समझा जा सकता। आइए, अब हम संवेदन तथा सहजानुभूति की संकल्पना को समझने की कोशिश करें।

16.5.1 संवेदन और सहजानुभूति

आम बोलचाल में कई बार 'संवेदन' तथा 'अनुभूति' को एक ही अर्थ में ले लिया जाता है अर्थात् बाह्य उत्प्रेरक के प्रभाव से नेत्र, कान, त्वचा आदि इंद्रियों या मन में होने वाला अनुभव। क्रोचे ने भी इस शब्द को कमोबेश इसी अर्थ में लिया है। किंतु अनुभूति का संबंध जहाँ अनुभव या चेतना से होता है वहाँ संवेदन को क्रोचे ने चेतना से अलग माना है। बल्कि इसे चेतना से पूर्व की क्रिया कहा है। संवेदन अरूप होते हैं, जिनको रूप तब मिलता है जब चेतना इन्हें पहचानती है। इसको इस प्रकार

समझें। खिड़की से ठंडी हवा आकर आपकी त्वचा को छू रही है। खिड़की से बाहर के पेड़-पौधों की हरियाली की छाप भी आपकी **आँखो** पर पड़ रही है। कहीं बजते संगीत की धुन भी आपके कानों में जा रही है। ये तमाम संवेदन हैं जिन्हें आपकी इंद्रियाँ - त्वचा, नेत्र, कान आदि - ग्रहण कर रही हैं। किंतु आप न इनके बारे में सोच रहे हैं, न इन्हें अनुभव ही कर रहे हैं क्योंकि आपका ध्यान इनकी ओर है ही नहीं। दूसरे शब्दों में आप इन संवेदनों को पहचान ही नहीं रहे हैं, इनके प्रति अचेत हैं। आपसे कोई इनके बारे में पूछे तो आप कुछ बता भी नहीं पाएँगे क्योंकि इनके संदर्भ में आपका मन निष्क्रिय है। किंतु जब आपकी चेतना इनकी दिशा में सक्रिय होती है तो आपको इन संवेदनों को उत्प्रेरित करने वाली वस्तुओं का -- हवा के शीतल स्पर्श का, पेड़-पौधों की हरियाली का संगीत का -- बोध होने लगता है। क्रोचे के अनुसार सहजानुभूति इस बोध से ही जुड़ी है। अर्थात् चेतना के सक्रिय होने पर ही सहजानुभूति हो सकती है। इस प्रकार, संवेदन जिस यथार्थ का संकेत करते हैं उसी का बोध हमें सहजानुभूति के रूप में होता है। यह बोध चेतना के माध्यम से होता है और कल्पना वह शक्ति है जो चेतना को इस दिशा में उद्‌बुद्ध करती है।

यहाँ ध्यान दें, क्रोचे ने 'बोध' को बहुत महत्व दिया है। इसे उन्होंने वैज्ञानिक विश्लेषण की शक्ति अथवा तथ्यपरकता से नहीं, बल्कि **विशुद्ध सहजानुभूति** से जोड़ा है। कला के सृजन में यह शक्ति बेहद महत्वपूर्ण है। **बोध भावपरक होता है और संवेदनों को सहजानुभूति में बदलता है।** यह मानस पर संवेदनों के बिंब के रूप में आता है व इस प्रकार के बिंबों के संश्लेषण से ही कला का जन्म होता है।

सहजानुभूति या अभिव्यंजना के अंतर्गत व्यक्ति को बाह्य जगत के रूप-रंग-रेखाओं ध्वनियों आदि की प्रतीति होती है। किंतु यह उन संवेदनों की प्रतीति मात्र होती है, उनका विश्लेषण या तार्किक ज्ञान नहीं। विश्लेषण, वर्गीकरण आदि बुद्धि तथा तर्क के स्तर पर होते हैं जो सहजानुभूति से भिन्न स्तर है। सहजानुभूति चेतना की प्राथमिक क्रिया है और यह क्रिया सभी प्राणियों में होती है। इसलिए इसका महत्व भी सबसे अधिक है।

आइए, यहाँ एक बार रुककर इस मान्यता को सार-रूप में समझें :

- बाह्य जगत की छाप इंद्रियों पर संवेदनों के रूप में पड़ती है।
- इस स्थिति में चेतना निष्क्रिय रहती है। अतः मानव में इन संवेदनों का कोई बोध नहीं जागता।
- कल्पना-शक्ति के माध्यम से चेतना सक्रिय होती है और संवेदनों की पहचान करती है।
- यह पहचान या बोध ही सहजानुभूति है।
- सहजानुभूति केवल अनुभूति या प्रतीति है। इसमें बुद्धि तथा तर्क की शक्तियो और विश्लेषण या वर्गीकरण की क्रियाओं का कोई स्थान नहीं होता।
- रूप-रंग-रेखामय बाह्य जगत व्यक्ति को चेतना के माध्यम से ही अपनी प्रतीति कराता है। अतः चेतना ही अंतिम सत्य है। बाह्य जगत के तथ्य इसके आगे गौण हैं।

16.5.2 सहजानुभूति, अभिव्यंजना तथा अभिव्यक्ति

सामान्य बोलचाल में अभिव्यंजना को बाह्य स्तर की अभिव्यक्ति से जोड़ा जाता है। अर्थात् अपनी अनुभूति को कलाकार कविता, चित्र, मूर्ति, वार्ता आदि के रूप में बाह्य जगत में जिस प्रकार मूर्त करता है उसे ही अभिव्यंजना माना जाता है। अर्थात् सहजानुभूति मन की अमूर्त प्रतीति होती है और अभिव्यंजना उसकी बाह्य जगत में मूर्त अभिव्यक्ति।

इसके विपरीत, जैसा कि पहले भी उल्लेख किया जा चुका है, **क्रोचे सहजानुभूति तथा अभिव्यंजना को अभिन्न मानते हैं और ये उनके अनुसार मानसिक स्तर की ही क्रियाएँ हैं। बाह्य जगत में इनका मूर्त होना आवश्यक नहीं है। इससे भी आगे जाकर क्रोचे कला को भी अभिव्यंजना के स्तर पर ही पूर्ण मान लेते हैं।** अर्थात् कल्पना के माध्यम से जब संवेदन चेतना में सहजानुभूति-अभिव्यंजना के रूप में उभरते हैं तो इस प्रक्रिया में ही कला भी पूर्ण हो जाती है। कलाकार के मानस में संवेदनों के जो बिंब उभरते हैं वे ही सहजानुभूति-अभिव्यंजना हैं और ये ही कलाकृति। इस प्रकार कला सहजानुभूति-अभिव्यंजना से अभिन्न है। अर्थात् सूत्र रूप में - सहजानुभूति ही अभिव्यंजना अर्थात् कला है (सहजानुभूति = अभिव्यंजना = कला)। यह पूरी प्रक्रिया मानसिक या आभ्यंतर स्तर पर घटित होती है और वहीं पूर्ण भी हो जाती है। बाह्य जगत के स्तर पर शब्दों, आकारों, रंगों या रेखाओं में इसकी

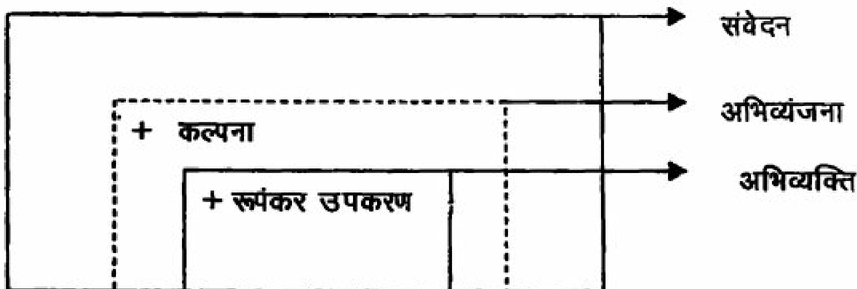
अभिव्यक्ति बिल्कुल भी आवश्यक नहीं है। यदि कलाकार उसे बाह्य जगत में कविता, चित्र, मूर्ति आदि के रूप में व्यक्त करता भी है, तो वह एक अतिरिक्त क्रिया है और वह आर्थिक क्रियाओं की भाँति व्यावहारिक क्रियाओं के क्षेत्र में आती है। इसका अर्थ यह हुआ कि :

- क्रोचे अभिव्यंजना और अभिव्यक्ति को भिन्न मानते हैं; और
- कला को वे अभिव्यंजना के स्तर पर ही पूर्ण मान लेते हैं। बाह्य जगत में कला-वस्तु के रूप में उसकी अभिव्यक्ति को वे अतिरिक्त और अनावश्यक क्रिया मानते हैं।

क्रोचे के विचारों के अध्ययन से इस मान्यता के दो प्रमुख कारण उभरते हैं। एक कारण तो यह है कि कला के लिए सहजानुभूति-अभिव्यंजना अनिवार्य है। इसके बिना कला का सूत्रपात ही नहीं हो सकता। अतः इसका महत्व और अपरिहार्यता अपने आप में ही सिद्ध है। दूसरा कारण यह है कि कला जब बाह्य जगत मे अभिव्यक्त होती है तो कलाकार की स्वतंत्रता समाप्त हो जाती है। उस पर सामाजिक, नैतिक उपयोगिता संबंधी, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक आदि अनेक क्षेत्रों के नियमों का दबाव पड़ने लगता है। इस दबाव के तहत वह मुक्त सृजन नहीं कर सकता। उसे विभिन्न अनुशासनों तथा वर्जनाओं के अंतर्गत अपनी कला को सचेत भाव से सँवारना पड़ता है। उस दशा में कला सहज सौंदर्य-सृष्टि न रहकर सामाजिक के उपभोग के लिए एक उपयोगी वस्तु मात्र बनकर रह जाती है। वह सौंदर्यशास्त्र से हटकर समाजशास्त्र के क्षेत्र में आ जाती है। वह समाज के सदस्यों को आनंद देती है और/अथवा उनका नैतिक परिष्कार भी करती है। सौंदर्यशास्त्र से उस कृति का संबंध इतना ही होता है कि कृतिकार के मन की सहजानुभूतियों को वह भौतिक रूप से संरक्षित करके रखती है और उन्हें फिर से उभारने में स्मृति की सहायता करती है। वह इस प्रकार 'स्मृति की उद्दीपक' होती है।

इन विचारों के आलोक में हम संवेदन, अभिव्यंजना और अभिव्यक्ति के संबंधों को एक आरेख के रूप मे देख सकते हैं।

आरेख-2



अर्थात् कला के लिए सबसे पहली और व्यापक शर्त है संवेदन। संवेदनों में जब चेतना की क्रिया या कल्पना का योग होता है तो वे सहजानुभूति-अभिव्यंजना में परिवर्तित हो जाते हैं। ध्यान दें, दैनिक जीवन के हर पल में संवेदन हमारी इंद्रियों से टकराते रहते हैं किंतु हमारी चेतना उनमें से बहुत कम संवेदनों को ग्रहण करती है। कल्पना की सक्रियता के माध्यम से इन संवेदनों में से कुछ ही सहजानुभूति-अभिव्यंजना में बदल पाते हैं। अतः सहजानुभूति-अभिव्यंजना का क्षेत्र संवेदनों की अपेक्षा बहुत कम है। क्रोचे कला की प्रक्रिया को इसी स्तर पर पूर्ण मान लेते हैं। रचनाकार शब्द, रंग, कूची, छेनी, वाद्य-यंत्र आदि रूपंकर उपकरणों के माध्यम से इनमें से कुछ सहजानुभूतियों को बाह्य जगत में काव्य, चित्र, मूर्ति आदि के रूप में अभिव्यक्त भी कर सकता है। किंतु कुल सहजानुभूतियों की अपेक्षा इस प्रकार मूर्त रूप में व्यक्त होने वाली अनुभूतियों की संख्या बहुत कम होती है।

16.5.3 कला सृजन की प्रक्रिया

अब तक संवेदना, सहजानुभूति-अभिव्यंजना, तथा अभिव्यक्ति के संबंध मे जो चर्चा हुई है, उसके आधार पर आप समझ सकते हैं कि क्रोचे की दृष्टि में कला की सृजन प्रक्रिया क्या है। इसे स्पष्ट रूप से समझने के लिए हम इसपर एक और बार नज़र डालेंगे।

क्रोचे कला की सृजन प्रक्रिया के चार चरणों का उल्लेख करते हैं –

i) पहले चरण का संबंध अमूर्त संवेदनों के स्तर से है। इस चरण में बाह्य जगत के उद्दीपन व्यक्ति की संवेदना को छूते हैं किंतु उसे उनका बोध नहीं होता।

ii) दूसरे चरण में कल्पना के माध्यम से उसकी चेतना सक्रिय होती है और उसे उन संवेदनों का (कहना चाहिए कि उनमें से कुछ संवेदनों का) बोध होने लगता है। इस बोध के साथ ही उन संवेदनों के संश्लेषण तथा अन्वय की क्रिया भी जुड़ी है। यह सहजानुभूति-अभिव्यंजना का स्तर है।

iii) तीसरे चरण में दूसरे चरण वाले संश्लेषण और अन्वय के माध्यम से व्यक्ति के मानस में उन संवेदनों के बिंब बन जाते हैं और मन ही मन में वह शब्द-योजना, रेखाओं या आकार की परिकल्पना या संगीत की स्वर-संगतियों के माध्यम से कलाकृति रच लेता है। इस स्थिति को क्रोचे ने 'प्रगीतात्मक सहजानुभूति' का नाम दिया है। कला इसी स्तर पर पूर्ण हो जाती है।

iv) चौथा चरण इसीलिए वैकल्पिक है, अर्थात् इसके होने न होने से कला के सर्जन में कोई अंतर नहीं पड़ता। इस चरण में मानसिक स्तर पर पूर्ण कला काव्य, चित्र, मूर्ति आदि के रूप में बाह्य जगत में अभिव्यक्ति होती है।

ध्यान दें आपके पाठ्यक्रम में कलावाद का विवेचन भी अगले खंड में सम्मिलित है जिसमें कला को समाज, इतिहास आदि से पूर्ण निरपेक्ष स्वतंत्र सत्ता के रूप में देखा गया है। कला का उद्देश्य केवल कला का सृजन मानते हुए उन्होंने 'कला कला के लिए' को अपना आदर्श वाक्य माना है। इतने पर भी कलावाद ने बाह्य जगत में कला की स्थिति को नहीं नकारा था। क्रोचे इस सीमा से भी आगे बढ़कर कला को अमूर्त मानसिक स्तर ही पूर्ण मान लेते हैं।

अभिव्यंजना सिद्धांत का सार

पिछले भाग में चेतना की चार प्रक्रियाओं का उल्लेख हुआ था। इस भाग में हमने देखा कि अभिव्यंजना सिद्धांत का आधार उनमें से पहली क्रिया अर्थात सहजानुभूति-अभिव्यंजना है। इस संदर्भ में हमने संवेदन तथा सहजानुभूति के अंतर पर विचार करते हुए देखा कि बाह्य जगत की जो छाप हमारी इंद्रियों पर पड़ती है वह 'संवेदन' होती है। इस चरण पर हमारी चेतना निष्क्रिय होती है। अतः हमें उन वस्तुओं तथा स्थितियों का बोध नहीं होता। कल्पना-शक्ति की सहायता से जब हमारी चेतना सक्रिय होती है तब हमें इन संवेदनों का बोध होता है और यही बोध सहजानुभूति है। यह बोध या सहजानुभूति केवल अनुभूति या प्रतीति है। इसमें बुद्धि, तर्क या विश्लेषण का कोई स्थान नहीं होता जो चेतना की एक भिन्न क्रिया के अंतर्गत आते हैं।

इसके बाद हमने देखा कि क्रोचे सहजानुभूति तथा अभिव्यंजना को अभिन्न मानते हैं और अभिव्यक्ति को इससे भिन्न। सहजानुभूति-अभिव्यंजना मानसिक स्तर की क्रियाएँ हैं और अभिव्यक्ति बाह्य जगत में इनका मूर्त प्रस्तुतीकरण। क्रोचे के अनुसार, कला-सृजन की प्रक्रिया मानसीक स्तर पर ही बिंब-विधान के माध्यम से पूर्ण हो जाती है। बाह्य जगत में काव्य, चित्र, संगीत, मूर्ति आदि के रूप में उसकी अभिव्यक्ति एक अतिरिक्त और अनावश्यक क्रिया है। इसे क्रोचे अवांछनीय भी मानते हैं क्योंकि बाह्य जगत में अभिव्यक्त होने पर कला पर अनेक सामाजिक, नैतिक, राजनीतिक आदि अनुशासनों के नियंत्रण लागू होने लगते हैं और उसका स्वतंत्र स्वरूप तथा स्वायत्तता नष्ट हो जाती है। वह कला न रहकर उपयोगिता की एक वस्तु बनकर रह जाती है।

हमने यह भी देखा कि मानव जीवन में संवेदनों का क्षेत्र सबसे अधिक विस्तृत होता है, सहजानुभूति-अभिव्यंजना का उससे कम और बाह्य जगत में अभिव्यक्ति का उससे भी कम।

अंत में हमने सार रूप में कला की सृजन प्रक्रिया के चार चरणों पर दृष्टिपात किया। पहला चरण अमूर्त संवेदनों का है। दूसरे चरण में कल्पना के प्रभाव से चेतना सक्रिय होती है और अमूर्त संवेदन अनुभूति प्रतीतियों या सहजानुभूति-अभिव्यंजना में बदल जाते हैं। तीसरे चरण में बिंब-विधान के माध्यम से मानसिक स्तर पर कला सृजन की प्रक्रिया पूर्ण हो जाती है। चौथे चरण में कलाकृति बाह्य जगत में मूर्त रूप से अभिव्यक्त होती है। यह चरण वैकल्पिक है, अर्थात् इसके बिना भी कलाकृति अपने आपमें पूर्ण हो जाती है।

16.6 अभिव्यंजना सिद्धांत : कुछ सम्बद्ध मान्यताएँ

कोई भी सौंदर्यशास्त्रीय (या अन्य) सिद्धांत शून्य में स्थित नहीं होता। विचार तथा जीवन-व्यवहार के अन्य क्षेत्रों का उस सिद्धांत पर प्रभाव पड़ता है और वह सिद्धांत इन क्षेत्रों से संबंधित सोच को भी

प्रभावित करता है। आइए, हम देखें कि अभिव्यंजना सिद्धांत के आलोक में विभिन्न विषयों के बारे में क्रोचे की क्या मान्यताएँ हैं।

16.6.1 सहजानुभूति और कला

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, क्रोचे कला को सहजानुभूति से अभिन्न मानते हैं। आम तौर पर यह माना जाता है कि रचनाकार के मन में पहले अनुभूति जन्म लेती है। इस अनुभूति को विश्लेषित करके सँवारकर कलाकृति का रूप दिया जाता है। इस प्रकार, अनुभूति वह सामग्री प्रस्तुत करती है जिसकी निष्पत्ति कला के रूप में होती है। किंतु क्रोचे इस क्रम को स्वीकार न करके सहजानुभूति के स्तर पर ही कला को निष्पन्न मान लेते हैं।

इसी प्रकार, यह भी माना जाता है कि सहजानुभूतियों के विश्लेषण-समायोजन के लिए तर्क-बुद्धि की आवश्यकता होती है। क्रोचे के अनुसार तर्क-बुद्धि और विश्लेषण की क्षमता अवधारणा के लिए अथवा बाहरी जगत को समझने के लिए जरूरी होती है कला के लिए नहीं। कला विशुद्ध अनुभूति है, तर्कपरक प्रस्तुति नहीं।

क्रोचे इस सामान्य मान्यता का भी विरोध करते हैं कि कलाकार सामान्य जन से अधिक संवेदनशील होता है और उसकी अनुभूतियाँ सामान्य मानव की अनुभूतियों से अधिक विशिष्ट होती हैं। उनके अनुसार कलाकार की सहजानुभूति तथा अन्य जनों की सहजानुभूति के सौंदर्यपरक मूल्य में अगर कोई अंतर होता है तो मात्र परिमाण का। उनमें गुण का कोई अंतर नहीं होता। जिस प्रकार एक विराट पर्वत के एवं उसके अंश - एक छोटे-से पत्थर - के रासायनिक तत्व समान होते हैं, उसी प्रकार कलानुभूति और सामान्य अनुभूति तत्वतः एक ही होती है। जहाँ भी कल्पना के योग से संवेदन सहजानुभूति और बिंबों में परिवर्तित हो जाते हैं, वहीं सौंदर्य की सृष्टि हो जाती है जो कला का मूल तत्व है। इस बात से कोई भी अंतर नहीं पड़ता कि यह प्रक्रिया कलाकार के मानस में हो रही है या किसी अन्य व्यक्ति के मानस में - वह व्यक्ति चाहे सुशिक्षित-सुसंस्कृत हो या असभ्य और बर्बर। इस दृष्टि से क्रोचे होमर या मिल्टन के महाकाव्यों और अनपढ़ ग्राम्य कवि की तुकबंदी के बीच या लिओनार्दो दा विंची के भव्य चित्रों और आदिम गुहा-मानव के टूटे-फूटे रेखांकनों के बीच उनकी सौंदर्यपरक गुणवत्ता के आधार पर कोई अंतर नहीं करते।

16.6.2 विषय-वस्तु

क्रोचे यह मानते हैं कि कला की प्रक्रिया अनायास या बिना सोची-समझी होती है। अर्थात् व्यक्ति सोच-समझकर या चुनाव करके सजग-सचेत भाव से कला-बिंबों की रचना नहीं करता बल्कि वे कल्पना के प्रभाव से अनायास ही उत्पन्न हो जाते हैं। इसलिए कलाकृति के विषय का चुनाव भी कलाकार के हाथों में नहीं होता। विषय का चुनाव चूँकि कलाकार नहीं कर सकता, इसलिए विषय-वस्तु के अच्छा या बुरा होने का, सोद्देश्य या निरुद्देश्य होने का फैसला भी नहीं किया जा सकता। जो भी विषय-वस्तु भली प्रकार अभिव्यंजित हो जाती है, वही श्रेष्ठ होती है।

विषय-वस्तु की उपयुक्तता-अनुपयुक्तता का प्रश्न इसलिए भी नहीं उठता कि इसके लिए कलाकार से सोच-समझकर सायास चयन की अपेक्षा की जाती है। कला सायास नहीं होती। इसके अतिरिक्त, कलाकार कोई विषय चुनता है तो उसका चयन सामाजिक-नैतिक मूल्य, आर्थिक परिप्रेक्ष्य आदि जैसे किसी कला बाह्य तत्व पर ही आधारित होगा। इससे कला की स्वायत्तता बाधित होगी।

वैसे भी ऐसे निर्णय तभी संभव हैं जब अभिव्यंजना अभिव्यक्ति बने, अर्थात् बाह्य जगत में प्रकट हो। और अभिव्यक्त होने पर भी कलाकृति को श्रेष्ठ या हीन नहीं ठहराया जा सकता, न उसकी प्रकृति के लिए कलाकार को ही उत्तरदायी माना जा सकता है क्योंकि रचना के विषय या रूप का निर्धारण उसके हाथ में है ही नहीं। कृति की श्रेष्ठता का अगर निर्णय हो सकता है तो इसी आधार पर कि उसकी अभिव्यंजना स्पष्ट है या नहीं।

16.6.3 अभिव्यंजना की अखंडता

क्रोचे के अनुसार, अभिव्यंजना को विभिन्न खंडों या पक्षों में बाँटकर नहीं देखा जा सकता क्योंकि यह एक संपूर्ण, संश्लिष्ट, अखंड इकाई है। कविता को भाषा, भाव, बिंब-विधान, अलंकार आदि में बाँटकर देखना या चित्र को पृष्ठभूमि, अग्रभूमि, रंग, आकृतियों आदि की दृष्टि से विश्लेषित करके देखना

कलाकृति के रूप मे उसकी समग्रता को खंडित कर देता है। कला इस प्रकार टुकड़ों-टुकड़ों में बँटी हुई नहीं बल्कि एक संपूर्ण इकाई होती है। वैसे भी इस प्रकार का विश्लेषण तभी हो सकता है जब कला बाह्य जगत में अभिव्यक्त हो। वास्तव में तो कला मन में सहजानुभूति के स्तर पर ही पूर्ण हो जाती है व सहजानुभूति खंडों में बँटी हुई नहीं बल्कि मन में एक समग्र प्रभाव के रूप में ही उभरती है।

16.7 अभिव्यंजनावादी समीक्षा पद्धति

क्रोचे के सौंदर्यशास्त्रीय विवेचन में उनकी समीक्षा संबंधी दृष्टि भी समाहित है। कृति के उद्‌भव और समीक्षा-कर्म के संदर्भ में क्रोचे की क्या मान्यताएँ हो सकती हैं - इनका कुछ संकेत आपको पिछले भाग में मिल ही चुका होगा। यहाँ हम उनपर स्वतंत्र रूप से दृष्टि डालेंगे।

पहले आप इस बात को फिर से याद करें कि क्रोचे साहित्यशास्त्री नहीं वरन् दार्शनिक व सौंदर्यशास्त्री थे और उनकी समीक्षा संबंधी मान्यताएँ मात्र साहित्य नहीं बल्कि संपूर्ण कला-संसार से जुड़ी हुई हैं जिसके अंतर्गत साहित्य के अतिरिक्त संगीत, चित्रकला, मूर्तिकला तथा विभिन्न अन्य शिल्प भी आ जाते हैं। इसके अतिरिक्त, आप देख चुके हैं कि क्रोचे सामान्य मानव के मन में उठने वाली सामान्य जीवनानुभूतियों तथा कलाकार के मन में उठने वाली सहजानुभूतियों में कोई गुणात्मक अंतर नहीं मानते और उनके अनुसार सहजानुभूति ही अभिव्यंजना है और अभिव्यंजना ही कला। इस प्रकार, सौंदर्यशास्त्रीय समीक्षा का क्षेत्र भी गिने-चुने कलाकार तक सीमित न रहकर अनंत विस्तार पा जाता है। चूँकि हर मानव की सहजानुभूति कला है इसलिए समीक्षा का क्षेत्र भी मानव मात्र तक फैल जाता है। आइए, अब हम इस समीक्षा-पद्धति की कुछ विशेष मान्यताओं पर दृष्टि डालें।

समीक्षक के लिए पहले कृति की प्रकृति का ज्ञान आवश्यक है। हम देख चुके हैं कि क्रोचे कलाकृति को एक संश्लिष्ट इकाई मानते हैं। इस संश्लेषण की प्रक्रिया को क्रोचे मूर्ति निर्माण की पद्धति के माध्यम से समझाते हैं। उनके अनुसार, कविता में रचनाकार की वर्तमान सहजानुभूतियों के साथ ही पुरानी अनुभूतियों का भी योग होता है। किंतु ये भिन्न-भिन्न अनुभव-खंड अलग-अलग रूप में नहीं आते। पहले ये निर्विशेष तथा अरूप होकर आपस में घुल-मिल जाते हैं, फिर इस संश्लिष्ट रूप में ही ये बिंबों में परिवर्तित होकर कला-वस्तु का सृजन करते हैं। इस कलाकृति में उन भिन्न अनुभूतियों या संवेदन के भिन्न रूपों की अलग से कोई पहचान नहीं रहती। यह प्रक्रिया वैसी ही है जैसी कोई मूर्तिकार मूर्ति की ढलाई में अपनाता है। काँस्य मूर्ति तैयार करने के लिए वह धातु के अनेक अलग-अलग टुकड़े भट्‌टी में डालकर पिघलाता है। इनमें कोई पुरानी टूटी-फूटी मूर्ति भी हो सकती है, किसी अन्य मूर्ति या अन्य वस्तु के टुकड़े भी और धातु के पिंड भी। भट्‌टी की आँच में गलकर ये सभी एकाकार हो जाते हैं, इनकी अलग-अलग पहचान मिट जाती है और गलकर एक बन चुकी उस सामग्री को ढालकर मूर्ति बनाई जाती है। उस मूर्ति में धातु के अलग-अलग टुकड़ों की अपनी कोई पहचान बाकी नहीं रहती। समीक्षक को यह तथ्य हमेशा ध्यान में रखना चाहिए और प्रस्तुत अखंड इकाई पर ही अपनी दृष्टि केंद्रित रखनी चाहिए। उसकी सामग्री की विविधता पर या उसके विभिन्न अंगों पर नहीं। उसका ध्यान कृति के समग्र प्रभाव पर होना चाहिए। कृति का सौंदर्य उसमें सभी तत्वों के सुसंगत समंजन पर निर्भर होता है। उसके तत्वों (उदाहरण के लिए कविता में भाव, भाषा, छंद, अलंकार आदि चित्र में रंग रेखाएँ पृष्ठभूमि आदि) को अलग-अलग करके देखना उसके समग्र प्रभाव को बिखरा देगा और सौंदर्यानुभूति खंडित हो जाएगी।

एक और कारण से भी क्रोचे विश्लेषणात्मक समीक्षा का विरोध करते हैं। स्वयं कला की प्रक्रिया में ही विश्लेषण का कोई स्थान नहीं होता क्योंकि विश्लेषण के लिए तर्क क्षमता की ज़रूरत होती है और कला अनुगति के स्तर पर ही पूर्ण हो जाती है। इस बात का उल्लेख पहले हो चुका है। इसलिए जब कला के सृजन तर्क-बुद्धि का सहारा नहीं लिया जाता तो तर्क-बुद्धि को उसके मूल्यांकन की कसौटी बनाना भी उचित नहीं है।

साहित्य तथा कला की समक्षी में कथ्य या अंतर्वस्तु (Content) तथा रूप (Form) को कृति के दो पक्ष मानकर समीक्षा करने की जो प्रवृत्ति आदिकाल से चली आ रही थी, उसका भी क्रोचे ने विरोध किया क्योंकि कृति में ये अलग-अलग नहीं होते। इनका संश्लिष्ट रूप ही कृति होती है और इस संश्लेषण में वह इन तत्वों का सम्मिश्रण मात्र न रहकर उनका अतिक्रमण कर जाती है, उनसे कहीं आगे बढ़ जाती है। इस दशा में वह प्रगीतात्मक सहजानुभूति कहलाने लगती है।

क्रोचे कला को सहजानुभूति मानते थे और उसमें सहजता पर ही उनका बल रहा है। कृति में -- विशेषकर साहित्यिक कृति में उन्होंने भाषा और भाव के आडम्बर का विरोध किया है। यहाँ फिर उनकी मूल धारणा को याद कीजिए। कला सहजानुभूति है जिसमें मन तर्कबुद्धि के पूर्व की अवस्था में रहता है। कृति में आडम्बरपूर्ण तड़क-भड़कर लाने के लिए कृतिकार को सोच-विचारकर शिल्प का प्रयोग करना पड़ता है। यह कला का अनिवार्य हिस्सा तो है ही नहीं, वास्तव में उससे इतर अवस्था है। इसलिए काव्य-कृति में भावनाओं का अतिरिक्त और बढ़ा-चढ़ा प्रदर्शन नहीं होना चाहिए। इसी को ध्यान में रखते हुए क्रोचे ने कविता के अतिरिक्त अलंकरण का भी विरोध किया। बिंब-निर्माण की प्रक्रिया में जो अलंकार कविता में सहज रूप से आ जाते हैं उन्हें क्रोचे ने कविता का सहज अंग माना किंतु जो अलंकार केवल सजावट के लिए कविता में जड़े जाते हैं उन्हें क्रोचे ने अनावश्यक और अवांछनीय माना है। साथ ही, छंद को भी उन्होंने कविता के लिए आवश्यक नहीं माना।

सारांश यह, कि कलाकृति - या कविता - एक समग्र, अखंड इकाई होती है जिसका सर्वप्रमुख गुण सहजता है। भाषा या भाव का आडम्बर, जबरदस्ती लादा हुआ अलंकरण और छंद-योजना उसके लिए अनावश्यक होते हैं और उस पर अतिरिक्त बोझ होते हैं। उनके बिना भी कृति पूर्ण होती है और अधिक सहज भी। कृति की समीक्षा में भी यह बात समीक्षक के आगे स्पष्ट होनी चाहिए।

क्रोचे साहित्यिक कृति में भाषा को भी महत्व हैं। भाषा को वे स्थिर नहीं बल्कि गतिशील तत्व मानते हैं। इसका अर्थ यह है कि भाषा का स्वरूप, अर्थ और प्रभाव बराबर बदलता रहता है। उसे एक मानक के बीच स्थिर करके उस मानक के ही आधार पर समीक्षा नहीं की जा सकती। भाषा के शब्द और प्रतीक जिन आशयों का वहन करते हैं, वे समय के साथ, और बहुत ज्यादा प्रयुक्त होने पर अपनी वह अर्थवत्ता खो देते हैं। उन घिसे-पिटे प्रयोगों से आगे बढ़कर भाषा नए प्रयोग अपनाती है, पुराने शब्दों में नए अर्थ भरती है और पुराने अर्थों को ख़ारिज करती चलती है। आप हिंदी में ही देखिए, 'नेता' शब्द की व्यंजना पिछले पचास वर्षों में कितनी बदल गई है। साहित्य की बात करें तो अज्ञेय की वह कविता आपने पढ़ी हागी जिसमें आज पुराने उपमानों के 'मैले' होने और प्रतीकों के 'देवता' के 'कूच' करने की बात करते हुए उन्होंने कहा है कि कभी बासन अधिक घिसने से 'मुलम्मा छूट जाता है'। मुलम्मा छूटने का अर्थ यही है कि निरंतर काम में आते जाने के कारण कुछ भाषा-प्रयोग अपनी ताज़गी और अर्थवत्ता खो बैठते हैं। उन अर्थों को व्यक्त करने के लिए गए भाषा-प्रयोगों की ज़रूरत होती है। इसीलिए भाषा की गतिशीलता बनी रहती है।

भाषा की इस गतिशीलता पर समीक्षक की निगाह होनी चाहिए। क्रोचे मानते थे कि इसीलिए समीक्षा-दृष्टि भी गतिशील होनी चाहिए। समीक्षक के लिए भाषा के प्रति सचेत रहना आवश्यक है ताकि वह समझ सके कि :

- कृति में प्रयुक्त शब्दावली ठीक-ठीक कौन-सा अर्थ दे रही है; और
- वह समीक्षा में जिस भाषा/शब्दावली का प्रयोग कर रहा है, वह पाठक तक उसके अभिप्रेत अर्थ सम्प्रेषण कर रही है या नहीं।

इसलिए क्रोचे मानते थे कि काव्य-भाषा की ही भाँति समीक्षा की भाषा - उसकी शब्दावली, मुहावरे आदि - भी जीवंत तथा गतिशील होने चाहिए।

एक और बात का उल्लेख यहाँ प्रासंगिक होगा। क्रोचे के मत में रचनाकार की भाषा उसकी निजी संवेदना और मानसिकता से जुड़ी होती है। कोई अन्य व्यक्ति कितना भी चाहे, उस संवेदना में पूरी तरह पैठ नहीं सकता। उस संवेदना को ज्यों का त्यों प्रस्तुत करना भी उसके लिए संभव नहीं है। इसीलिए क्रोचे किसी कृति के अनुवाद को भी संभव नहीं मानते। और इसीलिए उनके मत में सर्वांगपूर्ण समीक्षा भी संभव नहीं है।

इस बात का भी आप ध्यान रखें कि जैसी भी हो, समीक्षा भी तभी संभव हो सकती है जब कलाकृति चौथे चरण में पहुँचे, अर्थात् बाह्य जगत में अभिव्यक्त हो। यह आप देख चुके हैं कि क्रोचे के मत में वह चरण वैकल्पिक है। इसके बिना भी, कलाकार के मानसिक स्तर पर ही कृति पूर्ण हो जाती है। उस दशा में कोई बाहरी व्यक्ति उस कृति की समीक्षा नहीं कर सकता।

अंत में, एक बात पर दृष्टि डालकर हम इस प्रसंग को यहीं समाप्त करेंगे। क्रोचे जिस प्रकार कविता मे बाहरी तड़क-भड़क, अलंकार-बोझिलता और बनावटी छंद-विधान को अनुपयुक्त मानते थे, उसी प्रकार समीक्षा में भी वे भारी-भरकम शब्दावली तथा शास्त्रीयता की दुहाई के खिलाफ थे। स्वच्छंदतावाद और कलावाद की चरम सीमा पर स्थित होने के कारण यह स्वाभाविक ही था कि वे समीक्षा में रूढ

शास्त्रबद्धता का विरोध करते। किंतु स्वच्छंदतावादी और कलावादी समीक्षा भी आगे चलकर रूढ़ हो चली थी, जबकि क्रोचे समीक्षा में किसी भी प्रकार की रूढ़ता तथा वागाडंबर को अनुपयुक्त मानते थे। क्रोचे की अभिव्यंजनावादी समीक्षा पद्धति का सार इस प्रकार है :

- कृति चूँकि एक संश्लिष्ट, समग्र इकाई होती है अतः समीक्षक को उसे समग्र रूप में ही देखना-परखना चाहिए, उसका विश्लेषण करके नहीं। विश्लेषण करने से सौंदर्यानुभूति खंडित हो जाती है।
- कला को सहजानुभूति से अभिन्न मानते हुए क्रोचे ने उसमें सहजता के गुण को ही सबसे अधिक महत्वपूर्ण माना है और उसमें भाषा तथा भाव के आडम्बर, अलंकार-बोझिलता आदि का विरोध किया है।
- भाषा को भी उन्होंने बहुत महत्व दिया है और इस बात पर बल दिया है कि भाषा निरंतर गतिशील रहती है। इसके शब्दों, प्रतीकों आदि के आशय बदलते रहते हैं और समीक्षक को इस गतिशीलता के प्रति सचेत रहना चाहिए। स्वयं उसके अपने भाषा-प्रयोग भी सजग और सम्प्रेषणीय होने चाहिए।
- कृतिकार की ही भाँति समीक्षक को भी वागाडंबर तथा शास्त्रीय तामझाम से बचना चाहिए।

16.8 मूल्यांकन

सामान्यतः कलावाद - 'कला कला के लिए - को साहित्य समीक्षा की आत्मपरक दृष्टियों में भी सबसे अतिवादी माना जाता है क्योंकि यह कलाकृति को बाहरी समाज से काटकर केवल कला के मूल्यों से जोड़ती है। अभिव्यंजनावाद का अध्ययन करते हुए हम देखते हैं कि यह कलावाद से भी आगे बढ़ जाता है। कलावाद में किसी स्तर पर बाहरी संसार की स्वीकृति तो मिलती है, अभिव्यंजनावाद में बाहरी अभिव्यक्ति को पूरी तरह अनावश्यक मानते हुए मानसिक स्तर पर ही कला को संपूर्ण रूप से सिद्ध मान लिया जाता है। अभिव्यंजना सिद्धांत की सबसे अधिक आलोचना इस घोर आत्मपरकता तथा इससे जुड़ी हुई स्थापनाओं के कारण ही हुई है।

- सबसे पहला सवाल उठता है रचना का उद्देश्य को लेकर। पाश्चात्य परंपरा में काव्य रचना के दो प्रमुख उद्देश्य माने जाते हैं - उपदेश और मनोरंजन। उपदेश के अंतर्गत ही सामाजिक प्रतिबद्धता और लोक-कल्याण की भावना भी आ जाती है। ये दोनों ही उद्देश्य तभी पूरे हो सकते हैं जब रचना समाज और सामाजिक तक पहुँचे। अभिव्यंजनावाद में रचना का समाज तक पहुँचना अनिवार्य है ही नहीं। यदि रचनाकार केवल स्वांतः सुखाय रचना करता है तो समाज से उसका या रचना का क्या कोई संबंध नहीं होता या होना चाहिए? इस प्रश्न को छोड़ भी दिया जाए तो भी अगला प्रश्न तो रह ही जाता है कि पाठक/भावक उस रचना का रस कैसे ग्रहण कर सकते हैं और समालोचक उस रचना तक कैसे पहुँच सकते हैं? यदि क्रोचे पाठक और समालोचक तक रचना का पहुँचना ज़रूरी नहीं मानते तो वे रचना और समाज के संबंध को पूरी तरह नकार रहे हैं। इस संबंध का इस सीमा तक नकार कलावाद में भी नहीं किया गया था।

  इसके अतिरिक्त, कला को अपनी पहचान समाज में ही मिलती है। अर्थात् बाह्य जगत में अभिव्यक्त होने पर ही उसे सौंदर्य-वस्तु — काव्य, चित्र, मूर्ति आदि — के रूप में पहचाना जाता है। यदि वह अभिव्यक्त ही नहीं होती तो कौन पहचानेगा कि वह है भी या नहीं? समाज ही एक विशिष्ट कृति को कला का नाम देता है। यदि वह रचनाकार के मन में ही रह गई तो उसे पहचाना कैसे जाएगा और उसे अन्य विचारों तथा अनुभूतियों से अलग कैसे किया जाएगा?

- इसी बात को लेकर अभिव्यंजनावाद की सबसे कटु आलोचना भी हुई है। कला यदि इस प्रकार बिल्कुल ही समाज-निरपेक्ष हो जाती है तो उसके ऊपर किसी भी तरह का अनुशासन नहीं रह जाता। किसी भी क्षेत्र में अनुशासनहीनता आगे चलकर अराजकता को जन्म देती है। साथ ही, अभिव्यंजनावाद में कला को जिस प्रकार समाज से बिल्कुल तटस्थ माना गया है वह दृष्टि अनियंत्रित रहने पर समाज-विमुखता और समाज-विरोधिता में भी बदल सकती है। यह सही है कि बाहरी मूल्यों का नियंत्रण और अनुशासन कला को रूढ़ बनाता है किंतु पूर्ण अनुशासनहीनता भी ऐसी स्थिति ला सकती है जो समाज के लिए हानिकर हो। सामाजिक प्राणी होने के नाते कलाकार समाज से पूरी तरह विमुख नहीं रह सकता।
- क्रोचे जब विषय-वस्तु की गुणवत्ता या कृति की उपयुक्तता का प्रश्न बिल्कुल ख़ारिज कर देते हैं तो उससे भी इसी प्रकार का ख़तरा उत्पन्न होता है। साथ ही, वे जब हर सहजानुभूति को कला

का दर्ज़ा दे देते हैं तो कोई भी व्यक्ति अपनी बहक को भी कला के खाते में दर्ज कराने पर तुल जाएगा। बाह्य अभिव्यक्ति के अभाव में उसका मूल्यांकन संभव नहीं होगा और इससे भी कला के क्षेत्र में अराजकता फैल जाएगी।

- बाह्य स्तर पर कला की अभिव्यक्ति को क्रोचे ने 'स्मृति की सहायक' मात्र माना है। परंतु यहाँ उन्होंने यह स्पष्ट नहीं किया है कि वे किसकी स्मृति की बात कर रहे हैं। यदि यह स्वयं रचनाकार की 'स्मृति' है, अर्थात् यदि बाह्य जगत में अभिव्यक्त कृति को देखकर रचनाकार के मन में फिर से उन्हीं अनुभूतियों की स्मृति जागती है जो इस सौंदर्य-सृष्टि की कारक थीं तो इसका भावकों या समालोचकों से कोई संबंध नहीं है। इसके अतिरिक्त, क्रोचे ने सहजानुभूति को अत्यंत विशिष्ट माना था जिसकी पुनरावृत्ति नहीं हो सकती। इसलिए बाह्य जगत में अभिव्यक्त कृति रचनाकार की स्मृति को उद्दीप्त करती है तो भी उसके मन में वही सहजानुभूति फिर से नहीं जागेगी जिसने इस कृति-विशेष को जन्म दिया था।

यदि क्रोचे का आशय/समालोचक की स्मृति के उद्दीपन से है तो यह बात भी कई कारणों से संगत नहीं है -

i) किसी (भावक/आलोचक) के मन में किसी अन्य व्यक्ति (कृतिकार) की सहजानुभूति की स्मृति कैसे जाग सकती है? व्यक्ति के मन में अपनी ही भावनाओं की 'स्मृति' जाग सकती है, किसी अन्य व्यक्ति की भावनाओं की नहीं।

ii) हम देखते हैं कि एक ही उद्दीपक पर भिन्न-भिन्न लोगों की प्रतिक्रिया भिन्न-भिन्न होती है। इसलिए कोई कृति भी सब लोगों के मन में एक-सी अनुभूति नहीं जगा पाती। यदि एक कृति के भावन से सब लोगों के मन में एक-सी अनुभूति का जागना संभव होता, तब तो कहा जा सकता था कि वे कृतिकार की सहजानुभूति के सहभागी है। किंतु जब अलग-अलग लोगों में एक ही कृति से भिन्न-भिन्न अनुभूतियाँ उभरती हैं तो यह कैसे समझा जाए कि उनमें से कौन-सी अनुभूति कृतिकार की अनुभूति के समान है? या, उनमें से कोई भी अनुभूति कृतिकार की अनुभूति के समान है भी या नहीं। ऐसे में स्मृति के उद्दीपन का सवाल उठता ही नहीं।

iii) क्रोचे के आत्मपरकता-प्रधान मत के आलोक में देखें तो हर व्यक्ति की अनुभूति अपने आपमें विशिष्ट होती है। इसलिए कोई कृति भावक या आलोचक में ठीक वे ही अनुभूतियाँ नहीं जगाएगी जो उसने कृतिकार के मन में जगाई थीं। इसलिए कृति पर भावक या समालोचक की जो भी प्रतिक्रिया होगी वह उसकी अपनी अनुभूति पर आधारित होगी, कृतिकार की सहजानुभूति का उससे कुछ भी लेना-देना नहीं होगा। इस प्रकार, समालोचना प्रभाववादी ही हो सकती है और उसका संबंध कृतिकार के कथ्य या कृति की अपनी किसी वस्तुपरक विशेषता से नहीं हो सकता।

iv) यदि मान भी लिया जाए कि कृतिकार की सहजानुभूति भावक/समालोचक के मन में प्रतिबिंबित भी हो सकती है तो यह संभव नहीं लगता। इसका मुख्य कारण तो यही है कि कृतिकार की सहजानुभूति के उद्दीपक कुछ विशेष संवेदन थे और हम यह अपेक्षा करते हैं कि एक उद्दीपक कृति — भिन्न-भिन्न भावकों/आलोचकों में ठीक वही सहजानुभूतियाँ उत्पन्न करे। क्रोचे के अनुसार उचित प्रशिक्षण और परिष्कृत अभिरुचि के माध्यम से आलोचक कृतिकार की भावनाओं से तादात्म्य स्थापित कर सकता है। किंतु फिर भी भिन्न स्रोतों से जागने वाली अनुभूति समान कैसे हो सकती है, इसे वे नहीं समझा पाए हैं।

- क्रोचे ने सौंदर्यशास्त्र की चर्चा में समीक्षा-कर्म पर भी विचार किया था, किंतु किसी कृति की समीक्षा तभी संभव होती है जब वह बाह्य जगत में अभिव्यक्त हो। ऐसी अभिव्यक्ति को क्रोचे कलाकृति से अतिरिक्त, और प्रासंगिक मात्र मानते हैं। ऐसी स्थिति में उस कृति की समीक्षा कला की समीक्षा कैसे कहला सकती है? दूसरे शब्दों में, समीक्षा-कर्म की चर्चा करते हुए क्रोचे प्रकारांतर से उसे सौंदर्यशास्त्र का एक महत्वहीन और अनावश्यक प्रसंग मात्र मानते हैं।

क्रोचे जब कला को केवल मानसिक सहजानुभूति के स्तर पर सिद्ध मान लेते हैं तो कला की विविध विधाओं की पहचान कैसे बनेगी? हो सकता है कृतिकार के मन में शब्दों के बिंब बनें जो कविता का क्षेत्र है, या रंग और रेखाओं के बिंब बनें जो चित्रकला का क्षेत्र है। किंतु जब तक यह सहजानुभूति बाह्य जगत में कविता या चित्र के रूप में व्यक्त नहीं होती तब तक उसे विशिष्ट कला-रूप में कैसे पहचाना जाएगा? अर्थात् क्रोचे जगत में विभिन्न कला-विधाओं के अंतर को ही नहीं, उनके अस्तित्व को भी एक प्रकार से नकार देते हैं।

- क्रोचे के सिद्धांत को समझने में एक बड़ी बाधा यह रही है कि उन्होंने अनेक बहु-प्रचलित शब्दों को अपनी तरफ से मनमाने अर्थ दे दिए हैं। जब तक यह पता न हो कि शब्द-विशेष से उनका आशय क्या है तब तक उनकी बात को समझना भी बहुत मुश्किल है। पीछे हम देख चुके हैं कि वे अभिव्यंजना' का प्रयोग 'बाह्य जगत में अनुभूति की अभिव्यक्ति' वाले सामान्य अर्थ में न करके मानसिक स्तर पर बिंब-निर्माण' के अर्थ में करते हैं। इसी प्रकार, 'कलाकृति' भी उनके लिए कोई मूर्त वस्तु नहीं, बल्कि ऐसी वस्तु की मानसिक परिकल्पना भर है। वे 'सहजानुभूति', 'अभिव्यंजना', 'कला', 'सौंदर्य-सृष्टि' - सभी को अभिन्न मानते हुए इन शब्दों का एक ही अर्थ में प्रयोग करते है - और वह अर्थ है, मानसिक स्तर पर बिंब-निर्माण का। हम जानते हैं कि सामान्य भाषा व्यवहार में ये सभी शब्द बिल्कुल अलग-अलग अर्थ देते हैं।

- इन बातों के अतिरिक्त, क्रोचे की अवधारणाओं की अतिरिक्त अमूर्तता भी उन्हें समझने की राह में बाधा उत्पन्न करती है।

क्रोचे के विचारों की इतनी विस्तृत आलोचना से आपकी यह धारण बन सकती है कि उनका सिद्धांत किसी भी रूप में ग्रहण करने योग्य नहीं है। किंतु ऐसा नहीं है। पाश्चात्य सौंदर्यशास्त्रीय विवेचन में क्रोचे के योगदान की उपेक्षा नहीं की जा सकती। यह सही है कि उनके मत को व्यापक स्वीकृति प्राप्त नहीं हुई, परंतु इस बात से भी इनकार नहीं किया जा सकता कि उनकी समकालीन तथा परवर्ती विचारधाराओं पर उनकी मान्यताओं का यथेष्ट प्रभाव पड़ा। क्रोचे ने अनेक टिप्पणियों लेखों तथा पुस्तकों के माध्यम से अपने विचारों को वाणी दी थी और उनके लेखन पर सौंदर्यशास्त्रियों तथा साहित्यशास्त्रियों ने बड़े विस्तार से विचार-विमर्श भी किया। एक यही तथ्य क्रोचे के मत के महत्व को प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त है। 'नयी समीक्षा' जैसे आंदोलन क्रोचे के विचारों से बहुत प्रभावित रहे हैं। कई महत्वपूर्ण रचनाकारों/कलाकारों पर भी क्रोचे की विचारधारा की छाप दिखाई देती है। **आइए, हम देखें कि साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में क्रोचे की मान्यताएँ किस रूप में उपयोगी सिद्ध हुई हैं।**

- सबसे पहली बात वही है जिसका पहले उल्लेख किया जा चुका है। आत्मपरक दृष्टि पर अतिरिक्त बल देकर क्रोचे साहित्य (और कला) को घोर वस्तुपरकता के घेरे से निकालने में बड़ी सीमा तक सफल हुए। कम से कम वे उस दृष्टि की एकांगिता को तो सफलतापूर्वक रेखांकित कर सके जो साहित्य तथा कला को पूरी तरह सौंदर्यशास्त्र से इतर कसौटियों पर परखने लगी थी। किसी भी साहित्यिक कृति की जाँच उसकी सामाजिक उपयोगिता या ऐसे ही अन्य प्रतिमानों से होने लगी थी। जहाँ साहित्यिक प्रतिमान अपनाए जाते थे वहाँ भी ये पूरी तरह वस्तुपरक रूढ़, शास्त्रीय प्रतिमान थे। उनमें कलाकार की अपनी मौलिकता, संवेदनशीलता और कृति की सूक्ष्मता तथा सांकेतिकता के लिए गुंजाइश ही नहीं छोड़ी गई थी क्योंकि ये मूल्य आत्मपरक थे। इन कारणों से साहित्य के सौंदर्यपरक मूल्य उपेक्षित हो गए थे। बिल्कुल विपरीत ध्रुव पर ले जाने के सहारे ही सही, क्रोचे ने साहित्य और कला को इस अतिवाद से उबारा। उन्होंने बाह्य तथ्यों की तुलना में कृति की केंद्रिकता पर बल दिया।

- क्रोचे के समय में समीक्षा में विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति बहुत बढ़ गई थी जिससे कृति का समग्र सौंदर्य उपेक्षित रह जाता था। क्रोचे ने एक सौंदर्य-वस्तु के रूप में कृति की समग्रता और संश्लिष्टता के महत्व को रेखांकित किया।

- जब कृति की आत्मा की उपेक्षा होने लगती है तो उसमें बाहरी तकनीकों तथा अलंकरण को अतिरिक्त महत्व मिलने लगता है। क्रोचे ने इस बात की ओर ध्यान आकर्षित किया कि ये सब अनावश्यक ताम-झाम हैं। कृति की अंतर्वस्तु ही वह आत्मा है जिसकी पहचान जरूरी होती है। बाहरी साज-शृंगार उस आत्मा को व्यक्त करने के माध्यम मात्र होते हैं और उन्हें इतना भारी नहीं होना चाहिए कि कृति का कथ्य ही उनके नीचे दबकर दम तोड़ दे।

- रचना तथा आलोचना की भाषा की जीवंतता तथा गतिशीलता की ओर ध्यान आकर्षित करके क्रोचे ने भाषा को रूढ़ि-मुक्त करने के साथ ही उसकी शक्ति तथा संभावनाओं को भी उजागर किया।

इन तमाम बातों को ध्यान में रखते हुए हम समझ सकते हैं कि क्रोचे की मान्यताओं को सौंदर्यशास्त्र के क्षेत्र में इतना महत्व क्यों दिया जाता है।

16.9 अभिव्यंजनावाद तथा वक्रोक्ति सिद्धांत

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भारतीय तथा पाश्चात्य साहित्यशास्त्र के अध्ययन के क्रम में अभिव्यंजना सिद्धांत को कई बिंदुओं पर कुंतक के वक्रोक्ति सिद्धांत के निकट पाया था। उनकी दृष्टि में इनका साम्य इतना प्रबल था कि उन्होंने अभिव्यंजना सिद्धांत को 'भारतीय वक्रोक्तिवाद का विलायती उत्थान' तक कह दिया। परवर्ती अध्ययन से यह बात स्पष्ट हुई है कि दोनों में साम्य के कुछ बिंदु हैं अवश्य, किंतु मूलतः यह सतही स्तर का साम्य है, आंतरिक या अवधारणात्मक स्तर का नहीं। सतही साम्य भी कई बार इसलिए नज़र आता है कि हम इनकी स्थापनाओं को अभिव्यक्त करने वाली शब्दावली के साम्य में अटक जाते हैं। इस बात को हम नज़रअंदाज़ कर जाते हैं कि एक ही अभिव्यक्ति (शब्द) का प्रयोग कुंतक तथा क्रोचे अलग-अलग अर्थ में करते हैं। इस संदर्भ में बीज शब्द Expression (अभिव्यंजना) को ही लीजिए। Expression का हिंदी/संस्कृत प्रति-शब्द 'अभिव्यंजना' है किंतु हम जानते हैं कि इस शब्द का सामान्य अर्थ 'मानसिक स्तर पर बनी संकल्पना या अवधारणा की बाह्य जगत में अभिव्यक्ति' है। कुंतक की वक्रोक्ति भी बाह्य जगत में ही सिद्ध होती है। किंतु क्रोचे अभिव्यंजना को मानसिक स्तर पर ही सिद्ध मान लेते हैं।

आइए, इस विषय पर कुछ विस्तार से विचार करते हुए हम पहले इन दोनों सिद्धांतों के साम्य तथा वैषम्य पर नज़र डालें।

16.9.1 साम्य

- सबसे पहली और महत्वपूर्ण बात तो यह है कि अपने-अपने तरीके से ये दोनों ही दृष्टियाँ कलावादी हैं, अर्थात् साहित्य को ये साहित्यशास्त्र/सौंदर्यशास्त्र की कसौटी पर ही जाँचने पर बल देती हैं, साहित्येतर कसौटियो पर नहीं।

- दोनों ही दृष्टियों में कल्पना को प्रधानता दी गई है। कुंतक वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा मानते हुए उसके लिए कल्पना की आवश्यकता पर बल देते हैं। इस इकाई में आप देख चुके हैं कि क्रोचे भी संवेदनों के सहजानुभूति-अभिव्यंजना में बदलने के लिए कल्पना की भूमिका आवश्यक मानते हैं।

- क्रोचे तथा कुंतक, दोनों ही वक्रोक्ति/अभिव्यंजना को एक समग्र, संपूर्ण इकाई के रूप में देखते हैं और उसके वर्गीकरण के विरुद्ध हैं।

समानता के इन बिंदुओं को गौर से देखो तो आपको इनमें भी कई स्थानों पर वैषम्य नज़र आएगा।

16.9.2 वैषम्य

- यह सही है कि इन दोनों दृष्टियों में कला-तत्व को ही परम माना गया है, किंतु दोंनों की कला संबंधी संकल्पना भिन्न है। क्रोचे कला को अपने आप में संपूर्ण तथा स्वयं अपना लक्ष्य मानते थे। उसके सामाजिक संदर्भ तथा सरोकार को वे पूरी तरह नकारते थे। इसके विपरीत, कुंतक के लिए कला साध्य नहीं, साधन थी। क्रोचे कला को बाह्य जगत के प्रयोजनों से मुक्त मानते थे किंतु कुंतक कला को सप्रयोजन मानते हुए समाज में नैतिकता के उन्नयन को उसका लक्ष्य मानते हैं। उनके लिए कला नैतिकता और उपयोगिता से जुड़ी है। इस प्रकार, कलावादी होते हुए भी कुंतक और क्रोचे की कला-दृष्टि तत्वतः भिन्न है।

- कला तथा आनंद के संबंध को दोनों ही स्वीकार करते हैं किंतु इस संबंध का स्वरूप दोनों की दृष्टि में भिन्न है। क्रोचे के अनुसार, आनंद कला का अनिवार्य सहचर है अर्थात् जहाँ कला होती है, उसके साथ आनंद भी अनिवार्य रूप से होता ही है। दूसरी ओर, कुंतक आनंद को कला का प्रयोजन मानते थे। अर्थात् यह कला के साथ निर्विकल्प रूप से नहीं आता, कला को उस तक पहुँचने के लिए प्रयास करना पड़ता है।

- इन बातों से स्पष्ट है कि कुंतक कला को सोद्देश्य मानते थे जबकि क्रोचे का मत था कि उद्देश्य को दृष्टि में रखकर चलने से रचना में सहजता नहीं रह जाती। इसके अतिरिक्त, उद्देश्याभिमुख होने से कला पर कला से अतिरिक्त अन्य मूल्य हावी होने लगते हैं।

- क्रोचे के अनुसार अभिव्यंजना या कला मानसिक स्तर पर ही पूर्ण हो जाती है। उसकी बाह्य अभिव्यक्ति अतिरिक्त और अनाश्यक क्रिया होती है। कुंतक के लिए अभिव्यंजना का अर्थ ही अभिव्यक्ति, अर्थात् मानसिक स्तर पर रची हुई उक्ति का वाह्य जगत में प्रकटीकरण है।

- कला को मानसिक या सामाजिक मानने के इस अंतर से ही बहुत-सी और बातें भी जुड़ी हुई हैं। क्रोचे के लिए कला सहज है, इसलिए वे इसे सहजानुभूति कहते हैं। यदि इसे सोच-विचार कर रचा या गढ़ा जाए तो वह तर्क-बुद्धि का क्षेत्र होगा कला का नहीं। इसके विपरीत, कुंतक ने कला को आयास-साध्य माना था। उक्ति में विदग्धता, विचित्रता तथा चमत्कार उत्पन्न करने के लिए रचनाकार को चेष्टा करनी ही पड़ती है।

- रचनाकार उक्ति वैचित्र्य तथा वाग्विदग्धता की ख़ातिर जो प्रयास करता है, वह सफल भी हो सकता है असफल भी। किंतु क्रोचे के अनुसार अभिव्यंजना कभी असफल नहीं होती। मानस में बिंब-निर्माण के साथ ही कला पूर्ण तथा सफल हो जाती है। इसीलिए क्रोचे श्रेष्ठता के आधार पर कृतियों का वर्गीकरण-विभाजन भी नहीं करते जबकि कुंतक स्वीकार करते हैं कि विभिन्न कृतियों की गुणवत्ता में अंतर होता है।

- क्रोचे कला में बाहरी अलंकरण, उक्ति-वैचित्र्य आदि के बिल्कुल खिलाफ थे यह आप देख ही चुके हैं। इसके विपरीत, कुंतक श्रेष्ठ रचना में चमत्कार, वैचित्र्य तथा विदग्धता के पक्षधर थे और इसके लिए उन्होंने अलंकार, वाग्वैचित्र्य, शब्द-शक्तियों आदि युक्तियों के प्रयोग को काम्य माना है।

इन आधारों पर हम देख सकते हैं कि कुंतक तथा क्रोचे की जीवन-दृष्टि तथा कला-दृष्टि भिन्न थी और उनके विवेचन में कहीं-कहीं शब्दावली का साम्य होते हुए भी उस शब्दावली से दोनों का अभिहित अर्थ समान नहीं था। दोनों के दृष्टिकोण में साम्य के बिंदु अपेक्षाकृत सतही और कम महत्वपूर्ण हैं और वैषम्य के बिंदु अधिक महत्वपूर्ण तथा मूलगामी हैं। इसलिए इन दोनों मतों को एक ही कोटि में रखना संगत नहीं होगा।

16.10 सारांश

- इस इकाई में आपने क्रोचे के अभिव्यंजना सिद्धांत का परिचय प्राप्त किया। इस सिद्धांत की सामान्य वैचारिक पृष्ठभूमि के परिचय के बाद आपको क्रोचे के जीवन तथा रचना-कर्म संबंधी संक्षिप्त जानकारी दी गई। उनकी विचार-यात्रा पर दृष्टि डालते हुए आपने देखा कि क्रोचे मूलतः दार्शनिक तथा सौंदर्यशास्त्री थे। उनके सिद्धांत की प्रकृति से भी यह बात स्पष्ट होती है।

- क्रोचे में हम कलावादी चिंतन तथा अमूर्त आत्मपरकता की चरम सीमा पाते हैं क्योंकि इसमें कलाकृति की बाह्य जगत में मूर्त अभिव्यक्ति आवश्यक मानी ही नहीं गई है। क्रोचे ने चेतना को ही परम तत्व माना और चेतना के स्तर पर ही कला को भी संपूर्ण मान लिया। उन्होंने चेतना की चार मूलभूत क्रियाएँ मानी जिनमें एक निश्चित वरीयता-क्रम है। इनमें सबसे प्रारंभिक तथा सबसे महत्वपूर्ण है सहजानुभूति-अभिव्यंजना जो सभी चेतन प्राणियों में होती है और प्राणी के सभी अनुभव इसी स्तर पर होते हैं। कला भी इसी स्तर पर पूर्ण हो जाती है। इसके बाद वरीयता-क्रम में चेतना की अगली तीन क्रियाएँ हैं - अवधारणाकरण, सामान्य स्वेच्छा-चालित क्रियाएँ; तथा नैतिक क्रियाएँ।

- इसके बाद अभिव्यंजना सिद्धांत पर बात करते हुए हमने सबसे पहले क्रोचे की संवेदन, सहजानुभूति तथा अभिव्यंजना संबंधी अवधारणाओं को समझा और देखा कि उनके अनुसार सहजानुभूति ही अभिव्यंजना है और अभिव्यंजना ही कला। इन शब्दों का प्रयोग क्रोचे ने सामान्य अर्थ में न करके अपने अलग ही अर्थ में किया है। अभिव्यंजना को भी उन्होंने 'बाह्य अभिव्यक्ति' वाले सामान्य अर्थ में न लेकर 'चेतना के स्तर पर सहजानुभूति' के ही अर्थ में लिया है। इस संदर्भ में क्रोचे ने बोध-शक्ति को भी बड़ा महत्व दिया है जो संवेदनों को सहजानुभूति में बदलती है। कल्पना के माध्यम से चेतना में संवेदनों के बिंब बनते हैं और इस बिंब-निर्माण के साथ ही सहजानुभूति-अभिव्यंजना/कला की प्रक्रिया पूर्ण हो जाती है। हमने देखा कि क्रोचे ने कला की सृजन प्रक्रिया को चार चरणों में विभाजित किया है - अमूर्त संवेदन उन संवेदनों का बोध, संश्लेषण तथा अन्वयन : कल्पना के माध्यम से मानस में उन संवेदना के बिंबों का निर्माण और कलाकृति की परिकल्पना; और बाह्य जबत में रूपंकर उपकरणों के माध्यम से उस कलाकृति की अभिव्यक्ति। चौथे चरण को क्रोचे ने वैकल्पिक माना है। इसके बिना, तीसरे चरण पर भी कला पूर्ण हो जाती है।

- अभिव्यंजना सिद्धांत से सम्बद्ध कुछ अन्य मान्यताओं पर विचार करते हुए हमने देखा कि सहजानुभूति और कला को अभिन्न मानते हुए क्रोचे सामान्य अनुभूति और कलानुभूति में भी कोई अंतर नहीं करते। वे सहजानुभूति को स्वतःस्फूर्त और निरायास मानते थे और इसलिए कृति की

विषय-वस्तु का चुनाव भी उनके अनुसार कलाकार के हाथों में नहीं होता। इसीलिए वे किसी रचना की विषय-वस्तु को भी अच्छी या बुरी की श्रेणी में रखने के विरुद्ध हैं। उन्होंने अभिव्यंजना की प्रकृति को भी समग्र और संश्लिष्ट माना, खंडों या पक्षों में विभाजित नहीं।

- इसके बाद अभिव्यंजनावादी समीक्षा पद्धति पर विचार करते हुए हमने देखा कि क्रोचे ने कृति की प्रकृति के अनुरूप ही अपेक्षाएँ समीक्षक से भी की हैं। समीक्षक को कला की प्रकृति का सम्यक् ज्ञान होना चाहिए। उन्होंने कला में आडम्बर का विरोध किया है और भाषा पर विशेष बल देते हुए उसकी गतिशीलता की ओर विशेष रूप से ध्यान आकर्षित किया है।
- क्रोचे के सिद्धांत का मूल्यांकन करते हुए हमने पहले उसकी सीमाओं पर विचार किया और देखा कि इसकी सबसे अधिक आलोचना इसकी अमूर्तता - अर्थात् कला को मानसिक स्तर पर ही पूर्ण मान लेने के कारण हुई है। इसकी अतीव वैयक्तिकता या समाज-निरपेक्षता की भी आलोचना हुई है। क्रोचे ने सामान्य प्रचलित शब्दावली का अपने अलग अर्थ देकर प्रयोग किया है, इससे भी इनके सिद्धांत को समझने में बाधा होती है। किंतु फिर भी इनके सिद्धांत का सौंदर्यशास्त्र में महत्व है क्योंकि इन्होंने कला पर कला से इतर मूल्यों के दबाव का तथा अनावश्यक अलंकरण का विरोध किया, और भाषा की गतिशीलता तथा शक्ति को रेखांकित किया।
- इकाई के अंत में हमने क्रोचे के अभिव्यंजनावाद तथा भारतीय आचार्य कुंतक के वक्रोक्ति सिद्धांत के साम्य-वैषम्य पर दृष्टिपात करते हुए देखा कि दोनों सिद्धांतों में ऊपरी स्तर पर कुछ साम्य अवश्य नज़र आता है, किंतु दोनों में तात्विक अंतर है क्योंकि दोनों की जीवन-दृष्टि भिन्न है। क्रोचे के विपरीत, कुंतक ने साहित्य के सामाजिक सरोकार को महत्व दिया था और उक्ति के चमत्कार तथा अलंकरण को भी।

16.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें

डॉ. लक्ष्मी नारायण सुधांशु, **काव्य में अभिव्यंजनावाद**, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना।

डॉ. रामअवध द्विवेदी, **साहित्य सिद्धांत**, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना।

डॉ. देवेन्द्रनाथ शर्मा, **पाश्चात्य काव्यशास्त्र**, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली

डॉ. नगेन्द्र तथा राजकुमार कोहली, **पाश्चात्य काव्यशास्त्र : सिद्धांत और वाद**, हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

प्रो. निर्मला जैन तथा डॉ. कुसुम बांठिया, **पाश्चात्य साहित्य चिंतन**, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली।

डॉ. कुसुम बांठिया (1977), **क्रोचे का अभिव्यंजनावाद**, हरियाणा साहित्य अकादमी, चंडीगढ़ से प्रकाशित डॉ. विद्यानिवास मिश्र द्वारा संपादित पुस्तक **साहित्य का सौंदर्यशास्त्र** में संकलित।

16.12 अभ्यास के लिए प्रश्न

1. क्रोचे के अभिव्यंजनावाद की मूल स्थापनाओं पर प्रकाश डालिए।
2. क्रोचे के अभिव्यंजना सिद्धांत की शक्ति और सीमाओं का विवेचन कीजिए।
3. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए :
   क) अभिव्यंजनावाद और वक्रोक्तिवाद का साम्य-वैषम्य
   ख) अभिव्यंजनावादी समीक्षा पद्धति

इकाई 17 टी.एस.एलियट का साहित्य चिंतन

इकाई की रूपरेखा

17.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- बता सकेंगे कि एलियट ने रोमांटिक काव्य-मूल्यों का विरोध किस प्रकार किया
- एलियट की परंपरा और व्यक्तिगत प्रज्ञा संबंधी अवधारणा को समझा-समझा सकेंगे
- उनके निर्वैयक्तिकता सिद्धांत और मूर्त विधान संबंधी अवधारणा पर प्रकाश डाल सकेंगे; और
- एलियट के चिंतन के विभिन्न महत्वपूर्ण पक्षों का विवेचन कर सकेंगे।

17.1 प्रस्तावना

पिछली इकाई में आपने क्रोचे के अभिव्यंजनावाद सिद्धांत के विषय में पढ़ा है तथा यह भी जानकारी प्राप्त की है कि इस सिद्धांत और भारतीय वक्रोक्ति सिद्धांत में कितनी समानता-असमानता है। प्रस्तुत इकाई बीसवीं सदी के अत्यंत महत्वपूर्ण आलोचक टी.एस.एलियट से संबंधित है। रचनाकार और आलोचक दोनों के रूप में एलियट आधुनिक पश्चिम जगत में एक युगांतरकारी व्यक्तित्व के रूप में उभरे हैं। बीसवीं सदी की भयंकर मानवीय त्रासदी - दो विश्व युद्धों के बीच सृजन और चिंतन में सक्रिय एलियट परंपरा और आधुनिकता के संबंध को नए अर्थ-संदर्भ प्रदान करते हैं।

17.2 व्यक्तित्व और युग परिवेश

प्रसिद्ध कवि, नाटककार तथा आलोचक टॉमस स्टर्न्स एलियट (Thomas Stearns Eliot) का जन्म 26 सितंबर 1888 को सेंट लुई अमरीका के एक प्रतिष्ठित परिवार में हुआ। उन्होंने हार्वर्ड विश्वविद्यालय से 1910 में एम.ए. किया। सौभाग्यवश उनके शिक्षकों में आयरविंग बैबिट जैसे आलोचक तथा जॉर्ज सांतायना जैसे चिंतक थे। इन दोनों विख्यात शिक्षकों का प्रभाव एलियट पर पड़ा। हार्वर्ड विश्वविद्यालय के साहित्यिक परिवेश में उन्होंने काव्य-सृजन शुरु किया। 1907-1910 तक वे 'हार्वर्ड एडवोकेट' में अपनी कविताएँ प्रकाशित करते रहे और दो वर्ष तक इस पत्रिका का सम्पादन भी किया। इसके बाद तर्कशास्त्र, तत्वज्ञान, संस्कृत और पालि चारों विषयों को मिलाकर दर्शनशास्त्र में पी-एच.डी. की उपाधि प्राप्त की। एफ.एच.ब्रैडले पर उनका शोध-प्रबंध उनकी मृत्यु के पश्चात 'नॉलिज एंड एक्सपीरिएंस'

शीर्षक से प्रकाशित हुआ। हार्वर्ड विश्वविद्यालय के अतिरिक्त उन्होंने ऑक्सफोर्ड, सॉबोर्न (फ्रांस) फिलिप्स (जर्मनी) के विश्वविद्यालयों में भी कुछ समय अध्ययन किया। 1915 में एलियट लंदन पहुँचे और वहीं बस गए। वहीं उन्होंने ब्रिटिश साहित्यिक पत्रिका 'ईगोइस्ट' के सहकारी सम्पादक का दायित्व सँभाला। लंदन के पास ही थोड़े दिन तक एक स्कूल में पढ़ाया: फिर लॉयडस बैंक में नौकरी की। सन 1922 में त्रैमासिक पत्रिका 'क्राइटेरियन' की स्थापना की और सम्पादन किया। एलियट के साहित्यिक यश-विस्तार में इस पत्रिका की भूमिका अविस्मरणीय है। 'दि वेस्टलैंड' नामक उनकी विश्व-प्रसिद्ध कविता पहले-पहल 1922 में 'क्राइटेरियन' में ही प्रकाशित हुई। 1927 में इंग्लैण्ड की नागरिकता और 'चर्च ऑफ इंग्लैण्ड' की सदस्यता स्वीकार कर वे इंग्लैण्ड के स्थायी निवासी बन गए। उन्हें नोबेल पुरस्कार 1948 ई. में मिला। जीवन के अंत (4 जनवरी, 1965) तक वे निरंतर सृजन करते रहे।

टी.एस. एलियट की काव्य-कृतियों में 'दि लव सांग ऑफ एल्फर्ड प्रूफ्रॉक' (1915), 'दि वेस्टलैंड' (1922), 'फॉर क्वार्टर्स' (1943), और नाटकों में 'मर्डर इन द कैथिड्रल' (1935), 'दि फैमिली रियूनियन' (1939) तथा 'दि कॉकटेल पार्टी' (1950) को विशेष ख्याति प्राप्त हुई। आलोचना के क्षेत्र में 'दि सेक्रेड वुड' (1920), 'होमेज टु जॉन ड्राइडन' (1924), 'एलिजबेथेन एसेज़' (1932), 'दि यूज़ ऑफ पोएट्री एंड दि यूज़ ऑफ क्रिटिसिज्म' (1933), 'सेलेक्टेड एसेज़' (1934) और 'एसेज़ एन्शेंट एण्ड मॉडर्न' (1936) काफी प्रसिद्ध हुए।

दो विश्व-युद्धों के बीच सृजन-कर्म में सक्रिय एलियट के विचारों में परंपरा और आधुनिकता का अद्भुत ढंग से मेल हुआ। कविता में आत्मनिर्वासन-अजनबीपन का गहरा अहसास और व्यक्ति की अस्मिता का संकट खुलकर सामने आया। किंतु आगे चलकर नाटकों में वे अध्यात्म की ओर झुकते चले गए। उनपर एक ओर तो दांते, एलिजाबेथेन तथा जेकोबियन नाटक का प्रभाव था तथा दूसरी ओर उन्नीसवीं शताब्दी के फ्रांसीसी प्रतीकवादियों की छाप - खासकर शैली पर - दिखाई देती है। आलोचक के रूप में एलियट एक ऐसे विचारक हैं जिन्होंने अपनी पीढ़ी की रुचि और विचार-चेतना को बहुत दूर तक प्रेरित-प्रभावित किया है। उन्होंने अपनी आलोचना को 'काव्य-कर्मशाला' (Poetry Workshop) का उपजात (by-product) या 'काव्य-सृजन के प्रसंग में अपने चिंतन का विस्तार' घोषित किया है। इस कथन से ज़ाहिर है कि काव्य-निर्माण के प्रसंग में उन्होंने जो चिंतन-मनन किया है - उसी से उनकी आलोचना को आधार मिला है। एलियट अपने सृजन अनुभव से इस निश्चय पर पहुँचे हैं कि कारयित्री (creative) और भावयित्री (critical) प्रतिभाएँ परस्पर पूरक हैं; अतः सर्जक और आलोचक एक ही व्यक्ति को होना चाहिए। इस कथन का अर्थ है कि अच्छा सर्जक ही अच्छा आलोचक हो सकता है। एलियट के काव्य-चिंतन पर विचार करने वाले अधिकांश आलोचकों ने कहा है कि एक अर्थ में तो एलियट का कथन ठीक है पर इसे नियम के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता है। अच्छा रचनाकार अच्छा आलोचक भी हो यह आवश्यक नहीं है। ध्यान देने की बात यह है कि एलियट की आलोचना मुख्यतः सर्जक की दृष्टि से लिखी गई हैं जिसमें पाठक की दृष्टि गौण रही है।

पश्चिम में आंग्ल-अमरीकी नयी आलोचना के जनक के रूप में एलियट का नाम महत्वपूर्ण है एवं 'नयी कविता' को प्रेरित करने वाले रचनाकारों में वे 'अग्रगण्य' हैं। दिलचस्प तथ्य यह है कि एक सिद्धांतकार की तरह न तो उन्होंने सिद्धांत निर्मित किए, न नियम बनाए, न वे किसी वाद या सम्प्रदाय से जुड़े। सर्जक की दृष्टि से उन्हें जो काव्य-चिंतन ग्राह्य प्रतीत हुआ है उन्होंने ही ग्रहण किया। ऐसा करने के कारण उनके चिंतन पर प्रभाव तो बहुतों का है पर अनुकरण या अनुगमन किसी का नहीं।

17.3 रोमांटिक काव्य-मूल्यों का विरोध

एलियट ने रोमाण्टिक, व्यक्तिबद्ध काव्य-मूल्यों का खण्डन किया। रोमाण्टिक कवियों ने कविता को सहज अंतःस्फूर्त सृष्टि स्वीकार कर लिया था। एलियट की चर्चा विशेष रूप से इस सिद्धांत के विरोधी के रूप में हुई। उन्होंने ज़ोर देकर कहा कि कवि के व्यक्तित्व और जीवनगत राग-द्वेष का विवेचन-विश्लेषण उसके काव्य के विवेचन के लिए अप्रासंगिक है - काव्य की रचना एक निर्वैयक्तिक साधना है जिसमें कवि को कलात्मक उद्देश्य के प्रति पूर्णतः आत्म-समर्पण करना पड़ता है। 'परंपरा और व्यक्तिगत प्रज्ञा' (Tradition and the Individual Talent) नामक निबंध में उन्होंने रोमाण्टिक सिद्धांत का विरोध करते हुए साफ कहा कि 'कविता कवि व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति या आत्माभिव्यक्ति नहीं है वरन व्यक्तित्व से पलायन है - व्यक्तित्व का अनवरत निषेध है।' इस कथन के मूल में वर्डसवर्थ के

'सहज भावोच्छ्वास सिद्धांत' के विरोध की ध्वनि है जिसके अनुसार कविता को घोषित तौर पर तीव्रतम भावों की प्रबल अंत:स्फूर्त अभिव्यक्ति (Spontaneous over flow of powerful emotions) कहा गया था। इस रोमाण्टिक काव्य-सिद्धांत के अनुसार कविता, कवि के मनोवेगों का उद्गार है। कवि की सत्ता, काव्य-सत्ता के साथ एकाकार है।

17.3.1 प्रभाववादी समीक्षा का विरोध

एलियट ने प्रभाववादी समीक्षा के प्रति घोर असंतोष व्यक्त किया। प्रभाववादी समीक्षा पद्धति पर तीव्र प्रहार करते हुए उन्होंने कहा कि इसपर अधिक विचार नहीं किया जाना चाहिए क्योंकि यह उन मानसों को प्रभावित करती है जो इतने दुर्बल और आलसी हैं कि मूल कलाकृति का सामना करने से कतराते हैं।' अंग्रेज़ी आलोचना से उन्हें शिकायत है कि आलोचक 'अपनी व्यक्तिगत अभिरुचि का संस्कार' मात्र ढोते रहते हैं। एलियट के विचार में गेटे तथा कॉलरिज जैसे आलोचनात्मक अंतर्दृष्टि सम्पन्न आलोचक भी इस दोष से मुक्त नहीं है। उन्होंने 'दि सैक्रेड वुड' नामक अपनी पुस्तक में बार-बार इस बात पर बल दिया है कि **आलोचक को व्यक्तिगत भावों से मुक्त होकर मूल रचना या कलाकृति पर ही ध्यान केंद्रित करना चाहिए।** उदाहरण के तौर पर, एलियट का कथन है - 'आलोचना मूल संवेदना का विकास है - निकृष्ट आलोचना मात्र भावाभिव्यक्ति।' कहना न होगा कि एलियट कवि से ध्यान हटाकर कविता पर ही केंद्रित होने की बात करते हैं। 'कविता का अस्तित्व मात्र वही नहीं है जो कवि ने सोचा था अथवा जो पाठक सोचता है और न इसके अस्तित्व की यही सीमा बाँधी जा सकती है कि लेखक का इसके विषय में क्या मन्तव्य था या पाठक के ऊपर वह क्या प्रभाव डालती है।' इस बात को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं 'यदि हम कवि द्वारा बताई गई सामग्री के आधार पर अथवा कवि के जीवनीपरक अध्ययन के द्वारा कविता की व्याख्या करने की कोशिश करेंगे तो कविता से निरंतर दूर और दूर होते जाएँगे और साथ ही किसी गंतव्य पर भी नहीं पहुँचेंगे। कविता के स्रोतों की छानबीन द्वारा कविता की व्याख्या करने का प्रयास मूल कविता से ध्यान हटाकर किसी ऐसी वस्तु की ओर मोड़ देगा जिसका कविता से कोई संबंध नहीं है और जो उसपर कोई प्रकाश नहीं डालती।' वास्तव में कविता का अपना स्वतंत्र स्वायत्त अस्तित्व होता है जिसका कवि के व्यक्तिगत भावों तथा जीवन-प्रसंग से जुड़ी घटनाओं से कोई सीधा रिश्ता नहीं होता है। एलियट ने स्पष्ट कहा है कि 'हम केवल यही कह सकते हैं कि कुछ मायनों में कविता का अपना स्वतंत्र जीवन होता है। उसके कुछ हिस्से मिलकर ऐसा रूप ग्रहण कर लेते हैं जो एक निश्चित क्रम में व्यवस्थित जीवनीपरक आँकड़ों से भिन्न होते हैं और जो अनुभूति या विचार या जीवन दृष्टि कविता के माध्यम से प्रतिफलित होती है यह कवि के मानस में विद्यमान अनुभूति या भाव या जीवन दृष्टि से भिन्न होती है।' एलियट ने यहाँ तक कहा है कि जो आलोचक इतिहास या दर्शन को आलोचना का आधार बनाना चाहते हैं वे आलोचक नाम के अधिकारी नहीं हैं। वे अरस्तू की तारीफ करते हैं। कारण, उनकी दृष्टि पूरी तरह तथा पूरी दृढ़ता के साथ वस्तु पर ही केंद्रित रही।' डॉ. जॉनसन की प्रशंसा इसलिए करते हैं कि 'उन्होंने अपनी दृष्टि को साहित्येतर मूल्यों से धूमिल नहीं होने दिया।' एलियट का 'आलोचना' से तात्पर्य है लिखित शब्दों के माध्यम से कलाकृतियों का भाष्य और निरूपण ' साथ ही 'कलाकृतियों का स्पष्टीकरण और अभिरुचि का परिष्कार'। इसी को संशोधित-सम्पादित करने के बाद उन्होंने कहा कि आलोचना का काम है - **'साहित्य की समझ तथा आस्वाद चेतना में अभिवृद्धि करना।'**

17.3.2 आलोचना का मूल प्रयोजन : रुचि-परिष्कार

एलियट के मत में आलोचक का सबसे बड़ा गुण होना चाहिए - 'यथार्थबोध अधिक से अधिक विकसित हो'। यथार्थबोध धीरे-धीरे विकसित होता है और उसका विकास 'सभ्यता के चरमोत्कर्ष का ही बोधक होगा। आलोचक के प्रमुख उपकरण हैं - तुलना और विश्लेषण जो सच्चे सौंदर्य-बोध को सामने लाने में सक्षम हो सकते हैं। आलोचना का प्रधान उद्देश्य है - कलाकृति की समझ (understanding) आस्वाद (enjoyment); और परिशंसन (appreciation) के लिए भूमि तैयार करना। इसके साथ ही आलोचना का मूल प्रयोजन है - रुचि-परिष्कार (correction of Taste)। रुचि परिष्कार से अभिप्रेत हैं - ऐसे काव्य के लिए उसे तैयार करना जिससे वह परिचित नहीं है और यदि परिचित है तो उस काव्य को नयी दृष्टि से देखने-समझने की स्थिति या आवश्यकता पर ध्यान केंद्रित कराना। यह कार्य इसलिए विशेष है कि काव्य-सृजन की जब कभी कोई नयी प्रवृत्ति या धारा फूटती है तो उसे स्वीकृति प्राप्त करने में तमाम अवरोधों का सामना करना पड़ता है। इसका कारण यह है कि सामान्य पाठक अभ्यस्त लीकों या संस्कारों को छोड़कर सर्वथा अपरिचित और अनभ्यस्त को अपनाना नहीं चाहता। हिंदी में 'छायावाद' और 'नयी कविता' को ऐसे ही विरोधों का सामना करना पड़ा था।

17.3.3 आलोचना रचना केंद्रित होनी चाहिए रचनाकार केंद्रित नहीं

दरअसल, एलियट जिस समय सृजन और आलोचना के क्षेत्र में आए उस समय अंग्रेज़ी कविता ह्रासोन्मुख और आलोचना दिशाहीन थी। उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में वर्डसवर्थ, कॉलरिज, शेली आदि ने जिस आलोचना का सूत्रपात किया था उसमें कवि व्यक्तित्व, भावना, कल्पना की प्रधानता थी। मैथ्यू आर्नल्ड ने एक हल्का-सा प्रयास रोमाण्टिक आलोचना को सुधारने का किया किंतु वे साहित्य से अधिक संस्कृति की ओर, और काव्य से अधिक धर्म की ओर झुकते गए। इस कारण उन्हें अपेक्षित सफलता नहीं मिली। 19वीं शताब्दी के अंतिम चरण में कला कला के लिए (वाल्टर पेटर, आस्कर वाइल्ड आदि) साहित्यिक मंच पर उभरे और उन्होंने एक अतिवाद को जन्म दिया। इसी बीच सैन्ट्सबरी की ऐतिहासिक और जीवनीमूलक आलोचना सामने आई। सार-संक्षेप यह कि आलोचना की प्रचलित पद्धतियों में कृतिकार की प्रधानता और कलाकृति गौण थी। इसलिए एलियट को घोषणा करनी पड़ी कि **'सच्ची आलोचना का लक्ष्य कवि नहीं, बल्कि काव्य है।'** एलियट के इसी संकल्प ने पूरी शताब्दी की व्यक्तिवादी आलोचना पद्धति को चुनौती देकर नयी दिशा की ओर मोड़ दिया। उन्होंने पूरा ध्यान कविता या कृति की स्वायत्त वस्तुसत्ता पर केंद्रित किया। ध्यान का यही केंद्रण 'ट्रेडिशन एण्ड द इंडिविजुअल टैलेन्ट' नामक निबंध में दिखाई देता है जिसमें रोमाण्टिक विचार-दृष्टि (cult) की व्यक्तिवादिता का निषेध करते हुए परंपरा की महत्व-प्रतिष्ठा की गई है और परंपरा के अंतर्गत 'व्यक्तिगत प्रज्ञा' की अर्थवत्ता को सामने लाया गया है। परंपरा पर विचार करते हुए एलियट ने 'संस्कृति' की ओर भी ध्यान दिया और कहा कि उसका संबंध धर्म से है। संस्कृति की इसी अवधारणा को दृष्टि में रखकर उन्होंने सारे यूरोप को एक सांस्कृतिक इकाई के रूप मे देखा जिसके दो साधक तत्व हैं - ईसाई धर्म तथा यूनान और रोम का दाय। ये दोनों ही यूरोप की 'सेक्रेड ट्रेडिशन' की सम्मिलित्र परंपरा के प्रधान आधार हैं। परंपरा की बात करते हुए एलियट कवि भूमिका की व्याख्या सर्जक के रूप में नहीं करते - मात्र माध्यम के रूप में करते हैं। प्रश्न उठता है कि व्यक्तित्व या भावों से 'पलायन' का क्या अर्थ है? एलियट का स्पष्टीकरण है कि 'कविता भावों का उच्छलन नहीं बल्कि भावों सें पलायन है। परंतु इसमें संदेह नहीं कि जिनके पासं व्यक्तित्व और भाव होते हैं, केवल वे ही जानते हैं कि इनसे पलायन चाहने का अर्थ क्या होता है।' वास्तव में एलियट का विरोध व्यक्तित्व से नहीं 'व्यक्ति तत्व' की अनियंत्रित अभिव्यक्ति से प्रतीत होता है।

17.4 परम्परा और व्यक्तिगत प्रज्ञा

टी.एस.एलियट की समस्त आलोचना दृष्टि का आधार है उनका निबंध 'परम्परा और व्यक्तिगत प्रज्ञा' **(ट्रेडिशन एंड दि इंडिविजुअल टैलेन्ट)**। आधुनिक आलोचना में परंपरा और व्यक्तिगत प्रज्ञा के रचनात्मक संबंध का यह प्रभावशाली चिंतन यूरोप के बौद्धिक परिवेश की चुनौती से जन्मा। एलियट को एक गहरी जड़ों वाली परंपरा में रुढ़ि और मौलिकता के स्पष्ट भेद की चिंता थी ताकि वह सभ्यता के संकट को उसके मूलभूत दायरे में समझकर व्याख्यायित कर सकें। 'आफ्टर स्ट्रेन्ज गॉड्स' में एलियट ने कहा, 'किन्हीं मताग्रही विश्वासों को पूर्ण रूप से या प्रधान रूप से बनाए रखना ही परंपरा नहीं है; ये विश्वास तो परंपरा के निर्माणक्रम में रूप ग्रहण करते हैं। परम्परा से जो मेरा अभिप्राय है उसमें बहुत कुछ शामिल है। उसमें वे अभ्यासजन्य क्रियाकलाप, आदतें और रीति-रिवाज़, अत्यंत महत्वपूर्ण धार्मिक कर्मकांडों से लेकर किसी अजनबी को अभिवादन करने के हमारे परम्परागत तरीके भी शामिल हैं जो एक ही स्थान पर बसे जन-समुदाय के बीच रक्त-संबंधों को प्रकट करते हैं।' (Tradition is not solely. or even primarily the maintenance of certain dogmatic beliefs. These beliefs have come to take their living form in the course of the formation of a tradition- What I mean by Tradition involves all those habitual actions. habits and customs. from the most significant religious rites to our conventional way of greeting a stranger which represent the blood kinship of the same people living in a same place'). एलियट के लिए 'परंपरा' के व्यापक अर्थ के साथ एक संकुचित अर्थ भी था। संकुचित अर्थ था यूरोपीय परंपरा के अंतर्गत ईसाई धर्म परंपरा के विश्वास। संक्षेप में, एलियट की परंपरा और वैयक्तिक प्रज्ञा संबंधी मान्यताओं को इस प्रकार रखा जा सकता है -

1. यूरोपीय परंपरा पर विचार करते हुए एलियट का यह मत बना कि 'प्रत्येक राष्ट्र, प्रत्येक प्रजाति की अपनी सर्जनात्मक ही नहीं, आलोचनात्मक मानसिकता भी हुआ करती है।' (Every nation. every race has not only its own creative, but its own critical turn of mind)
2. किसी रचनाकार की महत्व-प्रतिष्ठा करते समय हम प्राय: उसकी वैयक्तिक विशिष्टताएँ खोजकर दिखाने का प्रयत्न करते हैं। उसके पूर्ववर्ती कवियों से उसकी भिन्नता को पहचानने में ही हमें प्रसन्नता होती है। किंतु यदि हम ठीक से खोज-बीन करें तो पाएँगे कि किसी कवि की रचना के

श्रेष्ठ ही नहीं, सर्वथा वैयक्तिक पक्ष भी वही होते हैं जिनमें उसके पूर्ववर्ती रचनाकारों का प्रभाव प्रभावशाली ढंग से व्यक्त हुआ होता है। जाहिर है कि 'व्यक्तिगत प्रज्ञा' परंपरा से विच्छिन्न, निरपेक्ष या असम्बद्ध वस्तु नहीं है। परंपरा से गहरे अर्थों में जुड़कर ही कवि अपनी वैयक्तिक सामर्थ्य को अधिक प्रभावी रूप में उजागर कर सकता है। हिंदी में तुलसीदास और निराला इसके अच्छे उदाहरण हैं कि कैसे रामकाव्य परंपरा से जुड़कर इन कवियों ने 'रामचरितमानस' और 'राम की शक्ति पूजा' को नूतन काव्योत्कर्ष में ढाल दिया। इन कृतियों में 'वैयक्तिक प्रज्ञा' के प्रस्फुटन में परंपरा बाधक न बनकर सहायक सिद्ध हुई है।

3. रचनाकार के लिए परंपरा साँस की तरह सहज, स्वाभाविक, अनिवार्य और नैसर्गिक क्रिया है। कुछ भी सोचते-सुनते-पढ़ते समय उसके गुण-दोषों का अहसास मानव विवेक स्वयं करता चलता है। अभिव्यक्ति या रचना प्रक्रिया में कभी परंपरा मौन होती है, कभी मुखर। कभी टकराहट संघर्ष की मुद्रा में होती है, कभी विपरीत दिशा में। लेकिन परंपरा का रचनाकार के साथ एक संघर्ष-संवाद बराबर चलता रहता है।

4. परंपरा के प्रति गहरे लगाव का अर्थ हठधर्मिता या अंधानुकरण एकदम नहीं है। अंधानुकण से मौलिकता नष्ट हो जाती है। परंपरा की व्यापक अर्थवत्ता तो सृजन कर्म की नवीनता-मौलिकता में ही प्रतिफलित होती है। एलियट ने जोर देकर कहा कि 'परंपरा को दाय या विरासत के रूप में प्राप्त नहीं किया जा सकता, उसकी प्राप्ति के लिए कठोर तप-साधना या श्रम आवश्यक है।' (Tradition is a matter of much wider significance, It can not be inherited, and if you want you must obtain it by great labour' – The Sacred Wood, p.49)

5. परंपरा का अर्थ है - इतिहास बोध (historical sense)। कवि में 'इतिहास बोध' होना चाहिए। इतिहास-बोध का तात्पर्य अतीत के अतीतत्व का ही नहीं है, अपितु उसकी वर्तमानता का अनुभव भी है। (Perception, not only of the pastness of the past, but of its presence) 'इतिहास-बोध' अपनी पीढ़ी के रचना-कर्म को ध्यान मे रखकर लिखना नहीं है, बल्कि उसमें होमर-वर्जिल से लेकर पूरे यूरोप के साहित्य, साथ ही अपने देश के समग्र साहित्य, दोनों का अस्तित्व हुआ करता है। हिंदी में ऐसा ही परंपरा को कमाने का परिश्रम जयशंकर प्रसाद और अज्ञेय के सृजन-कर्म में दिखाई देता है। एलियट यदि अपने सृजन में अपने पुरखों - होमर आदि को बोलते पाते हैं तो हम प्रसाद जी के सृजन में अपने वैदिक ऋषियों की वाणी की अनुगूँज सुनते हैं। यह भी ध्यान देने की बात है कि कवि-आलोचक अज्ञेय को जब टी.एल. एलियट के निबंध 'ट्रेडिशन एंड दि इंडिविजुअल टैलेन्ट' का अनुवाद 'रुढ़ि और मौलिकता' नाम से करने की प्रेरणा मिली तो इस प्रेरणा के मूल में अपनी परंपरा की रुढ़ि या बासीपन को झाड़कर मौलिकता को ग्रहण करने की समस्या थी। उसे रचनात्मक अनुभूति के स्तर पर एक जीवंत परंपरा के रूप में आत्मसात करने की समस्या थी। यूरोप में इतिहास के बोझ से त्रस्त एलियट को भी परंपरा बोध से एक ऐसा तर्क मिला जो उन्हें अनैतिहासिक करार दिए बिना 'इतिहास बोध' दे। यही उनकी 'इतिहास-मुक्ति' भी कहा जा सकती है। यही कारण है कि परंपरा की एलियटीय समझ ने भारतीय रचनाकार के मन को भी दूर तक छुआ है। कारण यह इतिहास बोध ही है जो कालातीत (Timeless) तथा कालिक (Temporal) का पृथक-पृथक और कालातीत तथा कालिक का युगपद बोध कहा जा सकता है। यही लेखक को परम्परा-सम्मत बनाता है।

6. एलियट का मानना है कि 'परंपरा' कोई मृत वस्तु नहीं है। जो मृत या निरर्थक है उसे 'परंपरा' की संज्ञा देना ही समीचीन नहीं है। वस्तुत: परंपरा एक सातत्य है, निरंतरता है, अविच्छिन्न प्रवाह है जो अतीत के साहित्यिक-सांस्कृतिक दाय अथवा धरोहर या विरासत के उत्तमांश से वर्तमान को सम्पन्न और सार्थक बनाती है तथा भविष्य के लिए मार्ग प्रशस्त करने का महत्वपूर्ण कार्य करती है। इस दृष्टि से परंपरा का विस्तार देश और काल दोनों में होता है।

7. परंपरा के संदर्भ में विशेष बात यह है कि किसी भी कवि या कलाकार की अर्थवत्ता केवल अपने-आप अकेलेपन में नहीं होती। उसकी सही अर्थवत्ता, उसकी प्रशंसा दिवंगत या पूर्ववर्ती कवियों-कलाकारों की सापेक्षता में ही होती है। (No poet, no artist of any art, has his complete meaning alone. His significance, his appreciation is the appreciation of his relation to the dead poets and artists.) उसका अकेलेपन में मूल्यांकन नहीं किया जा सकता, साम्य-वैषम्य के लिए उसे पूर्ववर्ती रचनाकारों के साथ रखकर देखना आवश्यक है। इसके पीछे तर्क यह है कि किसी नयी कलाकृति की रचना होती है तो पूर्ववर्ती सभी कृतियों का थोड़ा-बहुत तालमेल बैठाना (Adjustment) अनिवार्य हो जाता है। नवीन कृति के आविर्भाव के पूर्व विद्यमान कलाकृतियों की

एक स्थिर व्यवस्था होती है जो नवीन कृति के आने से कुछ न कुछ परिवर्तित हो जाती है। नयी कृति पुरानी कृतियों को अपनी जगह से ठेलकर अपने लिए जगह बनाती है - साम्य-वैषम्य के निर्धारण में किसी कृति का महत्व बढ़ जाता है, किसी का घट जाता है। 'अतीत को वर्तमान से उसी तरह परिवर्तित होना चाहिए जिस तरह वर्तमान अतीत से नियंत्रित-निर्देशित होता है।' (**The past should be altered by the present as much as the present is directed by the past.**)

3. ध्यातव्य है कि कवि को अतीत या परंपरा का ज्ञान तो होना चाहिए किंतु यह ज्ञान इतना भारी न पड़े कि कवि चेतना को आक्रान्त कर ले। प्राय: बहुत बार अतिशय अतीत ज्ञान के बोझ से काव्य-संवेदना (Poetic sensibility) या तो निर्जीव हो जाती है या प्रभावहीन होकर बिखर जाती है। कवि के लिए अतीत की चेतना को विकसित करते रहना जरूरी हैं और उसे आजीवन विकसित करना है। 'कलाकार की प्रगति सतत आत्म-बलिदान (Self-sacrifice) में है, व्यक्तित्व के सतत आत्म-समर्पण (Extinction) में है। व्यक्तित्व के इस निर्वैयक्तीकरण (Depersonalization) से ही कला विज्ञान की स्थिति को प्राप्त कर सकती है।' (**The progress of an artist is a continual self sacrifice, a continual extinction of personality.xxx It is in this depersonalization that art may be said to approach the condition of the science.**)

17.5 निर्वैयक्तिकता सिद्धांत की व्याख्या

हिंदी के कुछ विद्वानों ने एलियट की 'निर्वैयक्तिकता' को 'काव्यगत अव्यक्तिवाद' का नाम दिया है। टी एस.एलियट की निर्वैयक्तिकता (Depersonalization) से संबंधित धारणा भारतीय काव्यशास्त्र में रस-सिद्धांत के अंतर्गत मिलने वाले सृजन प्रक्रिया के सिद्धांत 'साधारणीकरण' के बहुत नज़दीक है किंतु एलियटीय निर्वैयक्तिकता को साधारणीकरण का पर्याय नहीं माना जा सकता है। 'साधारणीकरण' भारतीय दर्शन की लंबी चिंतन परंपरा का प्रतिफल है जिसकी तुलना में 'निर्यवक्तिकता सिद्धांत' दृष्टि काफी हल्का पड़ती है। एलियट ने काव्य सृजन में कवि व्यक्तित्व की तात्विक उपस्थिति से अपना विरोध बराबर दर्ज किया है। वे सृजन प्रक्रिया में प्रातिभ अभिव्यक्ति का समर्थन नहीं कर सके। "मेरा तात्पर्य यह है कि कवि के पास अभिव्यक्त करने के लिए 'व्यक्तित्व' नहीं, बल्कि एक विशेष माध्यम होता है, जो केवल माध्यम मात्र ही होता है - व्यक्तित्व नहीं जिसमें विभिन्न् प्रभाव और अनुभव विशिष्ट और अप्रत्याशित रूपों में संयुक्त हो जाते हैं। यह संभव है कि उन प्रभावों और अनुभवों का जो व्यक्ति के लिए बहुत महत्वपूर्ण हैं, कविता में कोई स्थान न हो और जो कविता में महत्वपूर्ण हों, उनकी भूमिका व्यक्ति में, व्यक्तित्व में, व्यक्तित्व विशेष में सर्वथा नगण्य हो।" इस कथन से जाहिर है कि एलियट भारतीय काव्यशास्त्र की शब्दावली में कहे तो 'कारयित्री' और 'भावयित्री' क्षमताओं (एलियट के संदर्भ में भारतीय शब्द "प्रतिभा" का प्रयोग अनुचित कहा जाएगा) में कारण-कार्य संबंध नहीं स्वीकार करते। वे इन क्षमताओं के बीच दूरी का संबंध कृति की वस्तुनिष्ठ स्वायत्त सत्ता के लिए अधिक श्रेयस्कर मानते हैं। (द पाश्चात्य साहित्य-चिंतन, डॉ.निर्मला जैन, डॉ. कुसुम बाँठिया, पृ. 123)

एलियट के विचार से कविगत भाव और काव्यगत भाव की प्रकृति में मूलभूत अंतर होता है। कविगत अनुभूत भाव की प्रकृति प्रेरक घटना प्रसंगों से निर्धारित होती है जबकि काव्यगत भावों का चरित्र सृजन प्रक्रिया के दौरान सामान्य भावों के विशिष्ट उपयोग से निर्मित-सृजित होता है। कवि के द्वारा रचना में ऐसे भावों की सृष्टि भी संभव है जिनका वास्तविक जीवन में अनुभव ही न किया गया हो, कवि के निजगत भावों-अनुभवों की विशिष्टता या असाधारणता कविता में व्यक्त भावों की जटिलता या असाधारणता के लिए एकदम महत्वहीन हो। एलियट ने निर्भ्रान्त शब्दों में कहा है कि कवि अपने व्यक्तिगत भावों के कारण उन भावों के कारण, जो उसके जीवन में विशिष्ट घटनाओं या स्थिति-परिस्थिति से उद्दीपन प्राप्त करते हैं, किसी भी रूप में न असाधारण होता है न दिलचस्प। कवि-विशेष के भाव सपाट-सरल हो सकते हैं अनगढ़ हो सकते हैं। उसका काव्य-भाव बहुत संश्लिष्ट या जटिल होगा, किंतु यह जटिलता उन लोगों के भावों की सी नहीं होगी, जिनके भाव जीवन में बहुत जटिल या असाधारण होते हैं। कवि कर्म का क्षेत्र नए भावों की तलाश का क्षेत्र नहीं है बल्कि सामान्य भावों का उपयोग करना और उन्हें कविता का रूप देकर ऐसी अनुभूतियों को प्रगट करना है जो वास्तविक भाव में विद्यमान ही नहीं हैं। जिन भावों का उसने कभी अनुभव किया ही नहीं, वे समय पर उसके वैसे ही काम आते हैं जैसे उसके परिचित भाव। एलियट के मत से काव्य में स्थान पाने के लिए भावों का कवि के अनुभव की राह से आना जरूरी नहीं है। एलियट के अनुसार 'ईमानदार आलोचना और संवेदनात्मक परिशंसा का लक्ष्य कवि नहीं है बल्कि कविता है।'

काव्य-सृजन प्रक्रिया में निजी और व्यक्तिगत अनुभवों के हस्तक्षेप को अमान्य ठहराने के बाद एलियट जब व्यक्तित्व के पलायन से अपना मन्तव्य स्पष्ट करते हैं तो उसका अर्थ होता है व्यक्ति तत्व का निषेध और तिरस्कार - अर्थात् निर्वैयक्तीकरण। वे विज्ञान की वस्तुपरकता की प्रतिष्ठा करते हैं और रोमाण्टिक भाव बोध की आवेशी विषयिपरकता से सीधा इन्कार करते हैं। इस अर्थ में कवि कर्म कलाकार का आत्म् बलिदान है व्यक्तित्व का सतत समर्पण। अपने निजी व्यक्तित्व को एक बृहत्तर व्यक्तित्व के लिए मिटाना व्यक्ति से वस्तु होते जाने की प्रक्रिया है - व्यक्ति तत्व को हटाकर वस्तु के प्रति पूर्ण समर्पण, पूर्ण आत्मदान। एलियट का यह कथन सहसा ही हमारे ध्यान में कौंध जाता है कि **कविता भावों का उन्मोचन नहीं है - बल्कि भावों से मुक्ति है, वह व्यक्तित्व की अभिव्यंजना नहीं है बल्कि व्यक्तित्व से पलायन है।**

निर्वैयक्तीकरण की यह प्रक्रिया कला को विज्ञान की स्थिति के आसपास पहुँचाती दिखाई देती है। अपने मन्तव्य को स्पष्ट करने के लिए एलियट ने एक उत्प्रेरक का (catalytic) का बेजोड़ दृष्टांत दिया है कि जब ऑक्सीज़न और सल्फर डाइ-ऑक्साइड से युक्त कक्ष या प्रकोष्ठ में प्लेटिनम के बारीक तार का प्रवेश कराया जाता है तो क्या घटित होता है। ऑक्सीज़न और सल्फर डाइ ऑक्साइड मिलकर सल्फ्यूरस एसिड (sulphureus acid) बन जाते हैं। 'प्लेटिनम के तार की मौजूदगी में (ऑक्सीज़न और सल्फर डाइ ऑक्साइड) दोनों को मिलाया जाता है तो उनसे सल्फ्यूरस एसिड बन जाता है। यह संयोजन तभी घटित होता है जब प्लेटिनम मौजूद हो, फिर भी इस नव-निर्मित गैस में प्लेटिनम का कोई चिह्न नहीं बचता और स्वयं प्लेटिनम पर भी कोई प्रभाव नहीं पड़ता, वह निष्क्रिय, तटस्थ और अपरिवर्तित रहता है। कवि का मानस प्लेटिनम का तार है। हो सकता है वह स्वयं व्यक्ति के अनुभव से अंशत: या पूर्णतया परिचालित हो, परंतु कलाकार जितना पूर्ण या सिद्ध होगा उतना ही उसके भीतर के भोक्ता मानव और सृष्टा मानव के बीच का पार्थक्य स्पष्ट होगा। (The more perfect the artist, the more completely separate in him will be the man who suffers and the mind which creates) अर्थात उसके अनुभूत संवेदनों और भावों से काव्य में व्यक्त संवेदन और भाव सर्वथा भिन्न होंगे। क्योंकि वह अनुभूत भावों को पूर्णत: आत्मसात करके उन्हें नए रूपों में ढाल देता है। इसके विपरीत, कमज़ोर कवि अपने ही भावों को अभिव्यक्त करने का प्रयास करता है। नतीजा यह होता है कि उसका काव्य अप्रौढ़ता को प्राप्त हो जाता है।

एलियट के अनुसार कलाकृति के आस्वादन से उत्पन्न अनुभूति किसी भी अन्य साधन से उत्पन्न अनुभूति से भिन्न होती है। रचना के लिए तो कवि का होना आवश्यक है, रचना में नहीं। रिचर्डस काव्यानुभूति और अन्य अनुभूतियों में कोई भेद स्वीकार नहीं करते जबकि एलियट स्वीकार करते हैं। फलस्वरूप दोनों के दृष्टिकोण एक-दूसरे से एकदम विपरीत हैं। एलियट मानते हैं कि कवि का मन एक ऐसा पात्र है जिसमें अनंत संवेदन, वाक्यांश, बिंब आदि संचित रहते हैं और वे तब तक उसमें वैसे ही पड़े रहते हैं जब तक सर्जन का क्षण नहीं आता। (The poet's mind is in fact a receptacle for seizing and storing up numberless feelings, phrases, images which remain there untill all the particles which can unite to form a new compound are present together.) सर्जन के क्षण में वे अपना-अपना स्वरूप त्याग कर और नए रूपों में संयोजित होकर कला का विग्रह धारण कर लेते हैं। श्रेष्ठतम काव्य के प्रतिनिधि उद्धरणों की यदि हम तुलना करते हैं तो न जाने संयोजन के कितने प्रकार उनमें पाते हैं। किंतु इसमें महत्व भावों या घटकों की महत्ता या तीव्रता का नहीं है - वरन् कलात्मक प्रक्रिया की तीव्रता का है अर्थात उस प्रेशर पर दबाव का है जिसमें विभिन्न भावों का संयोजन या विलयन (Fusion) होता है तथा वे घुल-मिलकर एक हो जाते हैं। मूल अर्थ यह कि रचना में वैयक्तिक भाव पूरी तरह निर्वैयक्तिक रूप को प्राप्त कर अभिव्यक्त होता है। वे कहते भी हैं कि 'कविता का भाव निर्वैयक्तिक होता है। और कवि इस निर्वैयक्तिकता को तब तक प्राप्त नहीं कर सकता जब तक वह करणीय कर्म के प्रति अपने-आप को पूरी तरह समर्पित नहीं कर देता है।'

एलियट पूरे विश्वास से कहते हैं कि कवि के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति का प्रश्न ही निरर्थक है। कवि को व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति करनी ही नहीं है वह तो माध्यम मात्र है - केवल माध्यम। पर इस (कवि) माध्यम में संस्कार और अनुभूतियाँ अद्भुत रूप से संयोजित रहती हैं। बहुल बार ऐसा देखने में आता है कि कवि के लिए जो अनुभूतियाँ और संस्कार महत्वपूर्ण हों उनका काव्य में कोई महत्वपूर्ण स्थान न हो और जो काव्य के लिए महत्वपूर्ण हों वे कवि के जीवन में नगण्य स्थान रखते हों। ज़ाहिर है कि कवि भावों की विलक्षणता और विशिष्टता उसके निजी अनुभव अथवा निजी जीवन की घटनाओं से उद्दीप्त भावों पर आधारित ही न हों। इसी विचार से यह तर्क पैदा होता है कि कविता को कविता रूप में ही देखिए।

एलियट लंबे समय तक इस धारणा पर डटे रहे कि कविता को कविता के रूप में ही देखना-परखना चाहिए। 1920 में 'दि सेक्रेड वुड' तथा 1956 में 'आलोचना के सीमांत' (फ्रंटियर्स ऑफ क्रिटिसिज्म) निबंध तक में इसी धारणा की पुष्टि होती है। एलियट ने रचना को स्वायत्त और निर्वैयक्तिक रूप में ग्रहण करने की माँग कवि और आलोचक दोनों से की। रचना के आस्वाद को लेकर एलियट ने कहा कि साहित्य के ईमानदार आलोचक में कलाकृति के द्वारा सम्प्रेषित संवेगों के अतिरिक्त किसी और संवेग की उपस्थिति नहीं होनी चाहिए। उनका मत साफ है कि जैसे कवि पक्ष में सृजन के लिए निर्वैयक्तिकता आवश्यक है वैसे ही वह आलोचक में आस्वाद और विश्लेषण परख के लिए आवश्यक है। कलाकृति पर विचार करते समय आलोचक को हर तरह के दुराग्रह और आग्रहों से मुक्त निर्मल मानस का 'सहृदय' होना चाहिए। एलियट की•यह धारणा भारतीय काव्यशास्त्र में 'सहृदय' की अवधारणा के बहुत नज़दीक है।

जीवन के अंतिम दिनों में एलियट 'कवि व्यक्तित्व के पूर्ण निषेध' वाली धारणा को लेकर डगमगाने लगे और कह उठे कि अपने व्यक्तित्व का अतिक्रमण न कवि के लिए संभव है न आलोचक के लिए। 'दि यूज ऑफ पोयट्री' में एलियट के इस बदलाव को देखकर आश्चर्य होता है। ऐसा लगता है कि जीवन भर रोमाण्टिक मिजाज का विरोध करते-करते वे जीवन के दुर्बल क्षणों में 'रोमाण्टिसिज्म' और 'क्लासिसिज्म' से अनजाने ही समझौता करने को तैयार हो गए। अपने प्रसिद्ध निबंध कविता के तीन स्वर' (थ्री वायसेज़ ऑफ पोयट्री) में कहने लगे कविता का प्रथम स्वर वह है जिसमें कवि अपने को संबोधित करता है या फिर न अपने को न किसी अन्य को ही संबोधित करता है। दूसरे स्वर में, कवि किसी न किसी पाठक समुदाय को संबोधित करता है। तीसरे स्वर में कवि कोई ऐसी विशिष्ट बात कहता है जिसे स्वयं अपने व्यक्ति रूप में नहीं कह सकता। एलियट नाटकीय, अर्ध-नाटकीय, अनाटकीय स्वरों की बात कहते हैं और अनाटकीय स्वर 'मैं और तुम' से मुक्त शुद्ध निर्वैयक्तिकता की स्थिति है जिसमें निजता गल जाती है। ध्यान में रखने की बात यह है कि एलियट की निर्वैयक्तिकता संबंधी अवधारणा एकदम सरल सीधी रेखा नहीं है, उसमें जटिल वक्र रेखा के कारण द्वंद्वात्मक सह-अस्तित्व की स्थिति प्रकट और प्रच्छन्न दोनों रूपों में विद्यमान है। उदाहरण के लिए उनकी 'मूर्त विधान' (Objective correlative) अवधारणा की व्याख्या में भी वैयक्तिक भावों के निर्वैयक्तिकता में रूपांतरण होने की प्रक्रिया निहित है। इस मूल दृष्टि को समझने के लिए 'मूर्त-विधान' संबंधी व्याख्या को जानना-समझना अपेक्षित है।

17.6 मूर्त विधान

एलियट ने अपने बहुचर्चित निबंध 'हेमलेट एंड हिज प्रॉब्लम्स' (हेमलेट और उसकी समस्याएँ) में 'मूर्त विधान' (Objective Correlative) की व्याख्या एवं प्रतिपादन किया है। उनकी 'ऑब्जेक्टिव कोरिलेटिव' की अवधारणा को भारतीय काव्यशास्त्र की 'विभावन व्यापार' से संबंधित अवधारणा के एकदम निकट माना जाता है। मूलत: यह प्रक्रिया अमूर्त के मूर्त अथवा वैयक्तिक के निर्वैयक्तिक में रूपांतरण की प्रक्रिया है।

रचनाकार जब सृजन कर्म में प्रवृत्त होता है तो उसके मूल में कोई न कोई प्रेरक भाव रहता है किंतु सृजन के दौरान अनेक सूक्ष्म जटिल भाव संवेदन और विचार परस्पर घुलने-मिलने लगते हैं और सृजन कर्म की अंतिम परिणति तक पहुँचते-पहुँचते न जाने कितने भावों-संवेदनों-विचारों का मिश्रण और विलयन हो चुका होता है। मानव अनुभव साक्षी है कि मानव के भाव, संवेदन, विचार ये सभी अमूर्त हैं। अमूर्त को मूर्त या प्रत्यक्ष करना सरल कार्य नहीं है। अमूर्त होने के कारण भावों-संवेदनों आदि की पाठक या प्रेक्षक को प्रत्यक्ष प्रतीति नहीं हो सकती। इसलिए रचना-कर्म में बराबर यह प्रश्न उपस्थित रहता है कि अप्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष कैसे बनाया जाए। कवि मन के भाव-विचार-संवेदन को पाठक तक सम्प्रेषित कैसे किया जाए। इसी बुनियादी प्रश्न को एलियट ने स्वयं झेला और एक समाधान रूप में 'ऑब्जेक्टिव कोरिलेटिव' सिद्धांत की प्रतिष्ठा की। कवि के रूप में एलियट का अनुभव था कि अमूर्त का सम्प्रेषण चुनौती भरा कार्य है। ऐसी चुनौती को झेलने वाले कवि के सामने एक ही तरीका है कि वह किसी मूर्त वस्तु की सहायता लेकर अमूर्त को सम्प्रेषित करने का प्रयास करे। एलियट का कथन है कि कला के रूप में भाव को अभिव्यक्त करने का एक ही तरीका है और वह तरीका यह है कि ऐसे सह-संबंधी वस्तु या व्यापार (Objective correlative) जैसे वस्तु समुदाय, परिस्थिति, घटना श्रृंखला को टटोलकर ढूँढ निकाला जाए जो उस विशिष्ट भाव का मूल सूत्र हो। एक ऐसा मूल सूत्र कि जब ये बाहरी तथ्य प्रस्तुत हों तो ये भाव को तत्काल उद्‌बुद्ध कर दें पर भाव के उद्‌बुद्ध होते ही उससे सम्बद्ध

वस्तु-व्यापार की उपस्थिति का अहसास अनिवार्यतः समाप्त हो जाए।' ('The only way of expressing emotion in the form of art is by finding an 'Objective correlative'. in o.her words a set of objects, a situation, a chain of events which shall be the formula of that particular emotion, such that when the external facts, which must terminate in sensory experience, are given, the emotion is immediately evoked.' -- Selected Essays, p.145) इस कथन पर विचार करने पर हम पाते हैं कि

1. भाव मूलतः अमूर्त होता है। इसलिए उसकी अभिव्यक्ति किसी मूर्त वस्तु या स्थिति की सहायता से ही संभव है।

2. जिस भाव की अभिव्यक्ति की जानी है और जिस वस्तु/व्यापार के माध्यम से यह अभिव्यक्ति की जाती है उनके बीच ऐसा संबंध होना चाहिए कि उस वस्तु के उपस्थित होने पर तत्काल वह भाव अभिव्यक्त हो सके।

3. भाव के प्रकृत रूप से सम्बद्ध कोई वस्तु, समुदाय, कोई परिस्थिति या कोई घटना श्रृंखला हो सकती है जिससे उस अमूर्त भाव को मूर्त रूप में अभिव्यक्त और सम्प्रेषित किया जा सके।

4. वास्तव में, बाह्य वस्तुएँ ही कवि और आस्वादक या पाठक के बीच सूत्र — भाव-तादात्म्य — स्थापित करने में माध्यम की भूमिका का निर्वाह करती हैं, उन्हीं के द्वारा कवि और पाठक एक भावभूमि पर मिलते हैं।

5. एक बार भाव के उद्बुद्ध होते ही, उससे सम्बद्ध वस्तु-व्यापार की ऐन्द्रिय-अनुभूति समाप्त हो जाती है।

विद्वानों का मानना है कि मूर्त विधान का सिद्धांत एलियट की मौलिक उद्भावना का प्रतिफल नहीं है। इसका सबसे पुराना संकेत प्रथम बार अरस्तू के चिंतन में मिलता है। तत्पश्चात फ्रांस के प्रतीकवादी भी अपने काव्य में इसी पद्धति का सहारा लेते हैं। यह भी संभव है कि प्रतीकवादियों से ही एलियट ने इस मूर्त विधान की अवधारणा को ग्रहण किया हो। क्योंकि दोनों में थोड़ा ही अंतर है। एलियट वस्तु की व्यंजकता से ज्यादा भाव के साथ उसके सटीक संबंध को महत्व देते हैं जबकि फ्रांस के प्रतीकवादी चिंतक प्रतीक की सटीकता से ज्यादा उसकी व्यंजकता के कायल रहे हैं। आरंभ में कहा जा चुका है कि एलियट का मूर्त विधान सिद्धांत भारतीय रस सिद्धांत का विभावन व्यापार ही प्रतीत होता है। विभावन व्यापार में किसी भाव को उद्बुद्ध करने में आलम्बन और उद्दीपन विभावों की समान रूप से सार्थकता है। एलियट ने इस अवधारणा के आधार पर शेक्सपियर के नाटक हेमलेट को एक असफल नाटक माना है। उनका तर्क है कि उसमें नियोजित बाह्य वस्तु-व्यापार, भाव-संवेदन को उद्बुद्ध करने की के लिए अपर्याप्त है। (The Artistic 'Inevitability' lies in this complete adequacy of the external to the emotion; and this is precisely what is deficient in Hamlet", S.E., p.145) अर्थात् हेमलेट के भावों-संवेदनाओं के सम्प्रेषण जैसे विमावन-व्यापार या मूर्त विधान की योजना होनी चाहिए थी वैसी नहीं हो पायी। भावाभिव्यक्ति में जो मूर्त विधान अपेक्षित है उसकी कमी रचना को कमज़ोर बना देती है। हिंदी में तुलसीदास का 'रामचरितमानस' और निराला की 'राम की शक्ति पूजा' मूर्त विधान के आदर्श हैं जिनमें अमूर्त भावों को मूर्त करने में कवियों को अद्भुत सफलता मिली है।

17.7 एलियटीय चिंतन के अन्य महत्वपूर्ण पक्ष

17.7.1 संवेदनशीलता का असाहचर्य (Dissociation of Sensibility)

एलियट की बहुचर्चित अवधारणा है - संवेदनशीलता का असाहचर्य। वे घोषित तौर पर मानते रहे हैं कि महान कवि और महान काव्य में वैयक्तिकता और परंपरा, समकालिकता और चिरंतनता, भावुकता और बौद्धिकता, भाव और विचार, कथ्य और रूप का गहन सामंजस्य रहता है। इनमें से किसी एक पक्ष के दुर्बल, विकलांग, खण्डित होते ही काव्य उत्कर्ष बाधित हो जाता है। महान काव्य की महानता और व्यापकता 'दृष्टि' (vision) या काव्य की अंतर्दृष्टि पर आश्रित रहती है। एलियट से पहले कॉलरिज ने काव्य में 'विरुद्धों के सामंजस्य'(Reconcilation of opposites) के महत्व की प्रतिष्ठा की थी। कॉलरिज के मत से विरुद्धों में सामंजस्य स्थापन का कार्य कल्पना करती है। एलियट ने 'कल्पना' के स्थान पर 'संश्लिष्ट संवेदनशीलता' (unified sensibility) को महत्व दिया। एलियट काव्य सृजन की प्रक्रिया में संश्लिष्ट संवेदनशीलता को प्रधानता देते हैं जहाँ कवि की संवेदना में हृदय और बुद्धि एकीकृत हो जाते हैं। कवि व्यक्तित्व में मन, इन्द्रियाँ, भाव, विचार, बुद्धि और हृदय परस्पर अभिन्न हो जाते हैं। भाव या विचार के इसी साहचर्य को एलियट 'विचार का प्रत्यक्ष ऐन्द्रिय बोध अथवा संवेदन में विचार का

रूपांतरण नाम देते हैं। संवेदना न तो मात्र भाव है न मात्र विचार। वह दोनों के रासायनिक योग से निर्मित होती है। कमज़ोर या दुर्बल काव्य में भाव और विचार की एकरूपता विघटित हो जाती है या होती है। इससे काव्योत्कर्ष की क्षति होती है। एलियट इसी को 'संवेदनशीलता का असाहचर्य' कहते हैं।

एलियट के मत से भाव और विचार का गहरा साहचर्य शेक्सपियर में देखा जा सकता है। किंतु शेक्सपियर के बाद के कवियों की संवेदनशीलता में दरार पड़ जाती है - वह खण्डित हो जाती है। नव्य आभिजात्यवादी कवियों में बुद्धिवाद की मार के कारण विचार का अतिरेक हो जाता है और स्वच्छंदतावादी कवियों में भावातिरेक उनकी कविता को कमज़ोर कर देता है। वर्डसवर्थ तो इतने भावाविष्ट हैं कि विचार को अनावश्यक मान लेते हैं। वर्डसवर्थ यहाँ तक कह देते हैं कि बुद्धि के हाथों काव्य की हत्या हो जाती है। हिंदी साहित्य में तुलसी-कबीर-जायसी-सूर की श्रेष्ठता और महिमा का सबसे बड़ा कारण है - संघटित संवेदनशीलता। लेकिन रीतिकाल की कविता 'संवेदनशीलता के असाहचर्य' के कारण असफलता का अद्भुत नमूना बनकर सामने आती है। रीतिकाल हृदय पक्ष की प्रधानता और विचार-पक्ष की गौणता का काल है।

यह माना जाता है कि 'संवेदनशीलता के असाहचर्य सिद्धांत' के लिए एलियट फ्रांस के कवि-आलोचक रेमी द गुर्मो (1858-1915) के ऋणी हैं।

17.7.2 काव्य-भाषा

एलियट के अनुसार प्रत्येक देश का अपना काव्य और काव्य चरित्र होना चाहिए जिसमें उस समाज की संवेदनशीलता के परिष्करण को, चेतना के विस्तार को समझा जा सके। सभी अन्य कलाओं से काव्य इस अर्थ में भिन्न होता है कि जिस भाषा में उसकी रचना हो रही है उस भाषा के लोगों के लिए उसका जो मूल्य है वह दूसरों के लिए नहीं हो सकता। गहन संश्लिष्ट भाव की अभिव्यंजना काव्य में ही संभव है जबकि विचार की अभिव्यंजना गद्य में भी हो सकती है। गद्य की तुलना में काव्य अपने मूल चरित्र में अधिक स्थानीय (Local) होता है। यही कारण है कि सभी कलाओं में काव्य राष्ट्रीय अस्मिता का सर्वाधिक वहन करता है। अनुभूतियों और संवेदनों की सर्वाधिक समर्थ अभिव्यक्ति जनता की सामान्य व्यवहार की भाषा में होती है। वह भाषा जिसका उपयोग समाज के सभी वर्ग समान रूप से करते हैं। वस्तुतः भाषा की संरचना, लय, ध्वनि, मुहावरेदानी - सभी उस भाषा में बोलने वालों के प्रजातिगत या वंशानुगत (Racial) चरित्र को सामने लाते हैं। ('Poetry differs from every other Art in having a value for the people of the poet]s Race and Language which it can have for no other. ......Emotions and feelings, then, are best expressed in the common language of the people - that is, in the language common to all the classes. The structure, the rhythm, the sound, the idom of a language, express the personality of the people which spcaks it.' -- On Poetry and Poets, p.18-19)

एक कवि के रूप में कवि का पहला दायित्व अपनी प्रजाति (Race) की भाषा के प्रति है उसके विस्तार-संस्कार-परिष्कार के प्रति है। अच्छा कवि भावों-संवेदनाओं का खोजी होता है और वह इस कार्य के द्वारा भाषा को विकसित और सम्पन्न बनाता है। यदि किसी भाषा में महान कवियों के उत्पन्न होने की परंपरा में निरंतरता नहीं हैं - तो उस भाषा और संस्कृति का नाश हो जाता है। यह भी संभव है कि वह संस्कृति अपना अस्तित्व खोकर विलीन ही हो जाए। इतना ही नहीं यदि हमारा कोई जीवित साहित्य नहीं है तो हम अपने अतीत से कटते जाएँगे और एक दिन उससे इतने कट जाएँगे कि वह हमें विदेशी और अपरिचित लगने लगेगा। भौतिक परिवर्तनों से हमारी जीवन पद्धति बदलती है तो हमारी भाषा भी बदलती है। यदि ऐसे समर्थ प्रज्ञा वाले थोड़े से भी रचनाकार उस भाषा में नहीं हैं (ऐसे रचनाकार जो असाधारण संवेदनशीलता के साथ भाषा पर असाधारण अधिकार रखते हों) तो हमारी अभिव्यक्ति की ही नहीं अनुभूति की क्षमता का भी ह्रास होता जाएगा और हालत इतनी बदतर हो सकती है कि स्थूल भावों की अनुभूति में भी हम असमर्थ साबित हों।

काव्य-भाषा बहुत कुछ जन-साधारण द्वारा प्रयुक्त भाषा पर निर्भर होती है क्योंकि कवि वहीं से शब्द ग्रहण करता है। काव्य का दायित्व है कि वह भाषा को इस हद तक विकसित करे कि वह जटिल से जटिलतर आधिनुक भावों को व्यक्त करने में सक्षम हो। काव्य-विषयक क्रांति का एक ही अर्थ है - सामान्य भाषा की ओर लौटना या प्रत्यावर्तन। भाषा पढ़ने और बोलने की भाषा के विकास का अर्थ है - उक्त भाषा में अनुभूतियों का विकास। काव्य-भाषा के ज्यादातर मुद्दों पर एलियट ने वर्डसवर्थ से सहमति जाहिद की है। ('This is the Revolution which Wordsworth announced in his prefaces

and he was right) भाषा की क्षमता भावों-विचारों-अनुभूतियों के सम्प्रेषण करने की शक्ति से आंकी जानी चाहिए। चूँकि काव्यगत संवेदनशीलता ही मानव जीवन के अनेक पक्षों की जटिलता को ठीक से जज्ब कर पाती है अत: काव्य भाषा ही किसी भाषा की व्यंजकता-प्रौढ़ता-सम्प्रेषण क्षमता का प्रमाण हो सकती है। यह सच बात है कि एलियट की भाषा संबंधी धारणाओं पर दांते और वर्डसवर्थ के प्रभाव की गहरी छाप है। दांते से ही एलियट ने सीखा है - शब्द का सार्थक प्रयोग, भाषा-समृद्धि तथा भाषा की रक्षा। इस प्रकार निष्कर्ष रूप में एलियट ने माना है कि (1) प्राचीन-नवीन का सहज साहचर्य (2) ग्रामीणों की साधारण, सार्थक, सटीक भाषा के शब्दों-लयों का नया प्रयोग (3) आडम्बररहित, स्वच्छ शब्द-सम्पदा का विकास (4) शब्दों एवं भावों का पूर्ण सामंजस्य (5) काव्य-भाषा का संगीत से निकट का संबंध है क्योंकि काव्य का संगीत उसके अर्थ से पृथक नहीं है (6) शब्द-माधुर्य ही काव्य का संगीत है। संगीत से श्रोता तत्काल प्रभावित होते हैं और अर्थ का विचार बाद में करते हैं। (7) काव्यार्थ कोई पहले ही नियत-निर्धारित वस्तु नहीं है। कवि ने जो सोचा है, वह उससे भिन्न और उसने अधिक हो सकता है। (8) विभिन्न पाठकों के लिए एक ही कविता के अर्थ भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। ये सभी अर्थ उस अर्थ से भी भिन्न हो सकते हैं जो लेखक के मन में मौजूद अर्थ था। (9) काव्य-भाषा में अनेकार्थकता (Ambiguity) का कारण है - साधारण भाषा की अपेक्षा कविता में अर्थ का विशिष्ट संदर्भ निहित रहता है। (10) काव्य में सुंदर शब्दों का रहना आवश्यक नहीं है केवल ध्वनि ही शब्द की सुंदरता का निर्धारण नहीं कर सकती। (11) शब्दों के संगीत का निर्धारण उनके साहचर्य से होता है। इस प्रकार एलियट तथा रिचर्डस काव्य-भाषा संबंधी चिंतन में काफी निकट आ जाते हैं। दोनों कहते हैं कि प्रकरण (Context) और अर्थ (Meaning) का प्रभाव काव्य-संगीत (Music of poetry) पर पड़ता है।

17.7.3 काव्य की स्वायत्तता और साहित्यिक प्रतिमान

एलियट काव्य को काव्य के रूप में देखने के पक्षधर हैं, किसी अन्य रूप में नहीं। उनका मत है कि काव्य मनोरंजन का उत्कृष्ट रूप है - Poetry is a superior amusement। उसे न तो हम वर्डसवर्थ की भाँति 'प्रशांत क्षणों में भावों का अनुस्मरण' कह सकते हैं न आर्नल्ड की भाँति 'जीवन की आलोचना'। सच्ची बात यह है कि काव्य न तो राजनीति का निर्देश होता है न नैतिकता का उपदेश। वह न तो धर्म है न धर्म का समानार्थी। उसमें किसी युग का इतिहास या कवियों के मन के मनोवैज्ञानिक तथ्यों को ढूँढना भी समीचीन नहीं है। काव्य इन सभी से ऊपर भी है और पृथक भी। काव्य तो उत्तम छंदों में उत्तम शब्दों का उत्तम विन्यास है। (Excellent words in excellent arrangements and excellent metre) एक स्थल पर वे यह भी कहते हैं कि काव्य का कुछ न कुछ संबंध नैतिकता से धर्म से और राजनीति से है किंतु वह संबंध क्या है, कैसा है हम नहीं कह सकते। एलियट के ऐसे कथन बहुत से हैं जो अंतर्विरोधों से भरे हैं। एलियट के इस तरह के कथनों से बड़ा भ्रम फैला कि साहित्यिक आलोचना निश्चित रूप से धार्मिक और नैतिक दृष्टिकोण से होनी चाहिए। क्यों होनी चाहिए इस प्रश्न का तार्किक उत्तर वे नहीं देते। यह कथन देखिए - 'साहित्य की महत्ता केवल साहित्यिक प्रतिमानों से निर्धारित नहीं हो सकती, फिर भी हमें यह न भूलना चाहिए कि वह साहित्य है अथवा नहीं इसका निर्धारण केवल साहित्यिक प्रतिमानों से ही हो सकता है।' प्रश्न उठता है कि यदि कलाकृति की महत्ता के निर्धारक तत्वों में धार्मिक सांस्कृतिक राजनीतिक तत्व भी हैं तो कलाकृति की स्वायत्तता और साहित्यिक प्रतिमानों की शुद्धता का क्या अर्थ? या फिर काव्यगत नैतिकता और उसके उपादान क्या हैं - क्यों हैं? इस प्रश्न का उत्तर एलियट इस प्रकार देते हैं कि साहित्यिक कृतियों की नैतिकता का निर्णय प्रत्येक पीढ़ी की अपनी नैतिक संहिता से होता है। कोई और पीढ़ी उस नैतिक संहिता का पालन करे न करे, साहित्यिक कृतियों की नैतिकता-अनैतिकता का निर्णय उसी से होता है। यदि साहित्यिक कृति में कोई चीज़ आपत्तिजनक (objectionable) है तो उसका अर्थ मात्र इतना ही है कि वर्तमान पीढ़ी के संस्कार उसके अभ्यस्त नहीं हैं। होता यह है कि जिन चीजों को एक पीढ़ी आपत्तिजनक कहकर शोर मचाती है दूसरी पीढ़ी उसी को शांत भाव से स्वीकार कर लेती है। कहना न होगा कि नैतिकता के अर्थ में देश और काल के अनुसार बदलाव आता रहता है।

एलियट अपने काव्य-चिंतन के प्रथम चरण में रूपवादी आग्रह तथा आलोचना कर्म में साहित्येतर प्रतिमानों का निषेध करते दिखाई देते हैं किंतु बाद में उनका यह स्वर धीमा होता जाता है। वे धार्मिक-नैतिक आग्रहों के सामने घुटने टेक देते हैं - 'धर्म और साहित्य' (1935) शीर्षक निबंध इसी बात की पुष्टि करता है। 'आलोचना के सीमांत' (1956) निबंध में वे कहते हैं कि 'मेरे विचार से विशुद्ध कलात्मक मूल्यांकन मात्र एक आदर्श हैxxxहर युग में हर कलाकार के लिए, एक प्रकार के सम्मिश्रण (एलॉय) की जरूरत पड़ती है ताकि वह अपनी अपनी धातु को कला में प्रयुक्त होने लायक बना सके।' इसीलिए प्रत्येक युग में कला की उपयोगिता का स्वरूप भी बदल जाता है और प्रत्येक युग कलात्मक

चिंतन में मूल्यांकन के विशिष्ट मानदंडों का स्थान देता है। एलियट जीवन के अंतिम चरण मे इतने बदलते हैं कि उनके नैतिक प्रतिमानों पर परंपरागत मसीही चिंतन का जादू सिर चढ़कर बोलने लगता है। आरंभ में एलियट ने अपने को 'धर्म में ऐंग्लो कैथलिक, राजनीति में राजतंत्रवादी तथा साहित्य में आभिजात्यवादी' घोषित कर दिया था। ध्यान में रखना होगा कि एलियट का 'आभिजात्यवाद' यूनान-रोम वाला आभिजात्यवाद नहीं है - उनके प्रेरणा स्रोत चैपमैन, वेब्सटर, डन, काउले, बादलेयर, लेफोर्ग और परवर्ती एलिजाबेथ युगीन नाटककार हैं। डन और काउले की प्रशंसा एलियट मुक्त कंठ से करते हैं और इन्हीं कवियों के सृजन के भीतर से गुज़र वे संवेदना के असाहचर्य सिद्धांत की स्थापना करते हैं।

17.8 मूल्यांकन

बीसवीं शताब्दी की अंग्रेजी कविता की तरह अंग्रेज़ी आलोचना में एक महत्वपूर्ण मोड़ लाने का श्रेय टी.एस.एलियट को ही दिया जाता है। उनकी आलोचना सर्जनात्मक इसलिए हैं कि वे मूलत: सर्जक थे और सर्जक की भाँति ही उन्होंने काव्य-सर्जना के बाधक तत्वों पर कड़े प्रहार किए। अपने प्रिय रचनाकारों पर उन्होंने निरंतर लेख लिखे परंतु आलोचना पर न तो कोई स्वतंत्र पुस्तक लिखी न एक सिद्धांतशास्त्री की तरह नियमों-सिद्धांतों का निरूपण किया। न उन्होंने कोई अपना आलोचना-मठ ही बनाया जिसके वे मठाधीश बन सकें। केवल कवि और काव्य-चिंतन से जूझते रहे और इसी संघर्ष ने अंग्रेजी आलोचना की दिशा-दृष्टि में परिवर्तन उपस्थित कर दिया। उनपर प्रभाव अनेक कवियों-आलोचकों का है पर वे किसी की छाया नहीं है - न अनुकरणकर्ता। दो विश्व युद्धों की काली छायाएँ उनके स्वर में घोर निराशा पैदा करती हैं किंतु वे 'वेस्टलैण्ड' में बृहदारण्य उपनिषद के उद्धरण से पूरी यूरोपीय सभ्यता की पोल खोल देते हैं कि यूरोप के पास 'दत्त/दयध्वम/दमपत' अर्थात दान, दया, दमन (इंद्रियों का दमन या योग जैसे भाव) नहीं हैं - यही अशांति का मूल है।

एलियट को इस बात का भी श्रेय है कि उन्होंने अपने युग की साहित्याभिरुचि का संस्कार-परिष्कार किया। साथ ही दरबारी काव्य परंपरा के घटिया रीतिवादी संस्कारों से काव्य को मुक्ति दिलाने में पहल की। 'परंपरा' का सार्थक और गहरा अर्थ स्पष्ट करने के लिए महत्वपूर्ण रचनाकारों के रचना-कर्म पर पुनर्विचार, उसका, पुनर्भाष्य करते हुए पुनर्मूल्यांकन किया। रोमाण्टिक काव्य दृष्टि से विद्रोह किया और गैर-रोमाण्टिक काव्य-दृष्टि की संयम-संतुलन से स्थापना की। यह उनका कमाया हुआ अनुभव है कि साहित्य में पूर्ण मौलिकता जैसी कोई चीज़ नहीं होती। परंपरा के प्रति आस्थावान रहकर ही व्यक्तिगत प्रज्ञा का विकास-परिष्कार किया जा सकता है। जीवत लेखकों के माध्यम से ही मृत लेखक जीवित हो जाते हैं। कविता की जातीय स्मृति में हमारे पुरखे बोलते हैं - अतीत से वर्तमान का यह संवाद महान-सृजन के द्वार खोलता है। यदि हमें अपनी साहित्यिक विरासत की गहरी जानकारी है तो समकालीन सृजन को हम ज्यादा अच्छी तरह समझ सकेंगे।

'नयी आलोचना' और 'नयी कविता' के जनक टी.एस.एलियट की आलोचनात्मक उपलब्धियों पर प्रश्न चिह्न भी कम नहीं लगाए गए हैं। मूल आक्षेप यह लगाया गया है कि उनकी जिन अवधारणाओं को इतनी प्रसिद्धि मिली है वे उन्होंने किसी न किसी पिछले स्रोत से ग्रहण की हैं और अपनी तर्क-शक्ति से तराशकर मौलिकता का भ्रम पैदा कर दिया है। कुछ भी कहा जाए यह निर्विवाद है कि एलियट ने अंग्रेज़ी आलोचना को रचनाकार से रचना की ओर उन्मुख किया और परंपरा का पुनर्विश्लेषण कर उसे नया अर्थ दिया है।

17.9 शब्दावली

प्रातिभ अभिव्यक्ति	-	प्रतिभा सम्पन्न अभिव्यक्ति
उन्मोचन	-	मुक्त करना, छोड़ना
विग्रह	-	आकृति, विशेष बनावट
परिशंसा	-	आंतरिक गुणों की प्रशंसा
युगपद बोध	-	दोनों का संश्लिष्ट बोध
भावाविष्ट	-	भाव के आवेग में बह जाना
बलाबल	-	यह समझ कि किस बात पर कम जोर देना है किसपर ज्यादा

17.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

प्रो. निर्मला जैन, कुसुम बाँठिया, **पाश्चात्य साहित्य-चिंतन,** राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं.1990.

प्रो. सावित्री सिन्हा (सम्पा.), **पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परंपरा,** हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय', **त्रिशंकु**, सरस्वती प्रेस, वाराणसी।

प्रो.देवेन्द्रनाथ शर्मा, **पाश्चात्य काव्यशास्त्र**, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली-110 002।

डॉ. राम अवध द्विवेदी, **साहित्य सिद्धांत,** बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना।

Eliot T.S, **The Sacred Wood**, Second Edition, Faber and Faber, London, 1928.

Eliot T.S, **Selected Essays**, Third Enlarged Edition : Faber and Faber, London, 1951.

Eliot T.S, **On Poetry and Poets**, Faber and Faber, London, 1957.

17.11 अभ्यास के लिए प्रश्न

1. टी.एस.एलियट के रोमांटिक काव्य-मूल्यों के विरोध संबंधी विचारों पर प्रकाश डालिए।
2. एलियट की परम्परा और प्रज्ञा संबंधी अवधारणा पर प्रकाश डालिए।
3. एलियट के निर्वैयक्तिकता सिद्धांत का विवेचन कीजिए।
4. एलियट की मूर्त-विधान संबंधी अवधारणा पर प्रकाश डालिए।
5. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए :
   - क) संवेदनशीलता का असाहचर्य
   - ख) काव्य-भाषा
   - ग) काव्य की स्वायत्तता और साहित्यिक प्रतिमान

इकाई 18 आई.ए.रिचर्डस का साहित्य चिंतन

इकाई की रूपरेखा

18.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के बाद आप

- आई.ए.रिचर्डस के आलोचक व्यक्तित्व का परिचय दे सकेंगे
- उनके मूल्य सिद्धांत और भाषा सिद्धांत को समझ सकेंगे
- आई.ए.रिचर्डस के अर्थ-मीमांसा चिंतन के विषय में बता सकेंगे; और
- आलोचक के रूप में रिचर्डस के योगदान का मूल्यांकन कर सकेंगे।

18.1 प्रस्तावना

इस खंड की पिछली इकाइयों में आप पाश्चात्य काव्यशास्त्र के दो प्रमुख और महत्वपूर्ण आलोचकों बेनेदेतो क्रोचे और टी.एस.एलियट - के आलोचना सिद्धांतों की जानकारी प्राप्त कर चुके हैं। प्रस्तुत इकाई बीसवीं सदी के एक अन्य प्रमुख साहित्य सिद्धांतकार आई.ए.रिचर्डस से संबंधित है।

आधुनिक युग के मौलिक चिन्तकों और सिद्धांतकारों में आई.ए.रिचर्डस का महत्वपूर्ण स्थान है। 'नयी समीक्षा' (न्यू क्रिटिसिज्म) को सैद्धांतिक आधार प्रदान करने वाले आलोचकों में वे अग्रणी माने जाते हैं। उन्होंने साहित्यिक चिंतन को नवीन आधार प्रदान करते हुए विज्ञान तथा मनोविज्ञान की सहायता से कविता की सार्थकता एवं महत्ता की महत्व-प्रतिष्ठा की है।

18.2 व्यक्तित्व तथा युग परिवेश

ईवर आर्मस्ट्रांग रिचर्डस का जन्म 26 फरवरी, 1893 में हुआ तथा मृत्यु 7 सितम्बर, 1979 में हुई। वे जीवन-भर आलोचना-शास्त्र को व्यवस्थित रूप देने में प्रयासरत रहे। कॉलरिज के बाद वे ही ऐसे समीक्षक हैं जिन्होंने आलोचना-दृष्टि में बहुत कुछ नया जोड़ा है। सी.के.आग्डेन और जेम्स वुड के साथ सहयोगी लेखन के रूप में उनकी पहली कृति 'दि फाउंडेशन्स ऑफ़ एस्थेटिक्स' शीर्षक से 1922 में प्रकाशित हुई। उनका एक काव्य-संग्रह भी प्रकाशित हुआ। किंतु वे शीघ्र ही काव्य-सृजन की भूमि को छोड़कर आलोचना की ओर मुड़ गए और पूरी आधी शताब्दी तक उसी भूमि पर सक्रिय रहे। उन्होंने लगभग बारह ग्रंथ लिखे - जिनमें अंतिम ग्रंथ 'बियोंड' 1974 में आया। रिचर्डस की प्रसिद्धि का आधार ग्रंथ **'प्रिंसिपल्स ऑफ़ लिटरेरी क्रिटिसिज्म'** को कहा जा सकता है। उनकी जो पुस्तक विद्वानों के बीच बहुचर्चित रही, वह है - **'कॉलरिज ऑन इमैजिनेशन'** (1934)। रिचर्डस को लेकर विशेष बात यह भी रही है कि उनकी आलोचना का क्षेत्र विषय-वैविध्य की दृष्टि से व्यापक रहा है : जैसे 'मेन्सियस ऑफ द माइंड' (1931), 'एक्सपेरिमेंट्स इन मल्टिपिल डेफ़िनीशन' (1932), 'बेसिक रूल्ज़ ऑफ़ रीजन' (1933), 'दि फिलासफ़ी ऑफ रेटरिक' (1936), 'इंटरप्रेटेशन इन टीचिंग' (1938), 'दि स्पेक्युलेटिव इंस्ट्रूमेंट्स' (1955), 'पोएट्रीज : देयर मीडिया एंड एंड्स' (1973), 'हाउ टु रीड ए पेज', 'प्रैक्टिकल क्रिटिसिज्म', 'साइंस एंड पोएट्री' आदि।

आई.ए. रिचर्डस के समय में विज्ञान के बढ़ते हुए महत्व के कारण यह संदेह ज़ोर-शोर से व्यक्त किया गया था कि कविता के लिए मानव-सभ्यता के अंतर्गत अब स्थान शेष नहीं रहा है। टामस लव पीकॉक

ने उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ मे यह प्रश्न उठाया था कि 'क्या कवि इस सभ्य समाज में अर्ध बर्बर नहीं प्रतीत होता है'? पीकॉक को कवि निहायत पिछड़ा प्राणी लगता रहा। शेली ने अपने विचारपरक निबंध 'दि डिफेन्स ऑफ़ पोएट्री' में पीकॉक के मत का खण्डन किया। किंतु सच यही था कि भौतिकवादी दर्शन और विज्ञान की अद्भुत प्रगति के साथ कविता की सार्थकता और उपयोगिता को लेकर संशय बढ़ता ही जा रहा था। कहना न होगा कि रिचर्डस ने इसी संशय को मिटाने के लिए अपने आलोचना-शास्त्र का निर्माण किया। जैसे बहुत पहले प्लेटो के कविता के विरुद्ध आरोपों का उत्तर अरस्तू ने दिया था, फिर प्यूरिटन पादरियों के अंधे मताग्रहों का खण्डन सर फिलिप सिडनी को करना पड़ा; वैसे ही विज्ञान के पक्ष को लेकर कविता के विरुद्ध आरोप लगाने वालों के तर्कों का खण्डन शेली, मैथ्यू आर्नल्ड तथा आई.ए.रिचर्डस को करना पड़ा। रिचर्डस से पहले मैथ्यू आर्नल्ड काव्य की उपयोगिता को मूल्यों से सम्बद्ध करके सिद्ध कर चुके थे। 'कल्चर एण्ड अनार्की' (1869) तथा 'एसेज़ इन क्रिटिसिज्म' (1888 - मरणोपरांत प्रकाशित) से पता चलता है कि उनकी बुनियादी चिंता 'कविता क्या है' को लेकर न होकर 'कविता क्या करती है' को लेकर है। उनकी दृष्टि में कविता का कार्य है - नैतिक-सांस्कृतिक संवेदना का प्रसार और परिष्कार। आर्नल्ड के इस विचार को रिचर्डस ने अपने ढंग से आगे बढ़ाया। आई.ए.रिचर्डस की विशेषता यह है कि उन्होंने विज्ञान के बढ़ते आतंक को मिटाने के लिए विज्ञान की पद्धति और मनोविज्ञान का सहारा लिया। नतीजा यह हुआ कि उनके द्वारा कविता का जो समर्थन हुआ - उसे तर्कों से सिद्ध करने के कारण अधिक आदर मिला।

यह मात्र संयोग नहीं है कि मैथ्यू आर्नल्ड और आई.ए.रिचर्डस के काव्य-संबंधी सामान्य दृष्टिकोणों में समानता के पर्याप्त बिंदु मिलते हैं। जबकि मैथ्यू आर्नल्ड से प्रभावित होने पर भी टी.एस.एलियट ने आर्नल्ड की कटु आलोचना करने में कोई कसर नहीं छोड़ी है।. दरअस्ल, आर्नल्ड और रिचर्डस के सामने एक ही चुनौती भरी समस्या थी कि भौतिक प्रगति और विज्ञान के प्रसार के कारण मानव-समाज का जो नवीन रूप निर्मित हो रहा है उसमें कविता का स्थान क्या है। आर्नल्ड ने सामान्य तर्कों से यह सिद्ध किया था कि कविता से ही मानव-सभ्यता का त्राण संभव है क्योंकि भौतिकवादी दर्शन ने धर्म को ध्वस्त कर दिया है। ऐसी स्थिति में कविता को बचाकर मानव-सभ्यता की रक्षा की जा सकती है। आई.ए.रिचर्डस ने आर्नल्ड के मत को नए ढंग से प्रस्तुत करते हुए कहा कि काव्य से व्यक्ति, समाज और जाति में मानसिक संतुलन पैदा होता है। भौतिकवादी दर्शन और विज्ञान की चुनौती से आधुनिक युग में जब परम्पराएँ, आस्थाएँ, मूल्य-व्यवस्थाएँ नष्ट हो रही हैं, सभी मूल्य विघटित हो रहे हैं तब सभ्य समाज कविता का आश्रय लेकर ही मानसिक संतुलन बनाए रख सकता है। रिचर्डस के बहुत से विचार कॉलरिज से भी निकटता रखते हैं। कॉलरिज ने आध्यात्मिक तत्त्वों और मनोविज्ञान को मिलाकर मौलिक चिंतन किया। कॉलरिज की इस मौलिक चिंतन परम्परा को टी.एस.एलियट ने नहीं, रिचर्डस ने ही आगे बढ़ाया है। एलियट ने अनेक नई बातें कहीं किंतु उन्होंने व्यवस्थित रूप से किसी भी सिद्धांत का प्रतिपादन नहीं किया। रिचर्डस ने भाषा, विज्ञान, मनोविज्ञान, आध्यात्म दर्शन आदि को मिलाकर नवीन काव्य-सिद्धांतों की महत्व-प्रतिष्ठा की है।

18.2 मूल्य सिद्धांत

दरअस्ल, रिचर्डस ने अपने सिद्धांतों की स्थापना से पूर्व अनेक प्रचलित मतों, विश्वासों, मान्यताओं का तर्कपूर्ण खण्डन किया। उनके इस प्रकार के तर्कों का सिलसिला **'फाउन्डेशन्स ऑफ एस्थेटिक्स', 'प्रिंसिपल्स ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म', 'साइंस एंड पोएट्री'** आदि में देखते ही बनता है। कांट ने कहा था कि सौंदर्य मानव की किसी विशिष्ट भावना का परितोष करता है। इस प्रकार के अनेक प्रभाववादी और आनंदवादी मतों की एक तालिका रिचर्डस ने 'फाउन्डेशन्स ऑफ एस्थेटिक्स' में दी हैं। प्रभाववाद का अर्थ केवल इतना ही है कि वह सौंदर्य से भावनाओं के जाग्रत होने को मानता है। जार्ज संतायना ने अपने आनंदवादी दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हुए सौंदर्य और आनंद के अनिवार्य संबंध का निरूपण किया है। वे स्पष्ट कहते हैं कि सौंदर्य से आनंद की अनुभूति होती है। संतायना के इस मत का खण्डन करते हुए रिचर्डस ने कहा कि सभी आनंदमूलक भावनाओं का संबंध सौंदर्य से नहीं होता है। फिर एक विशेष प्रकार के आनंद का रूप-स्वरूप और स्वभाव न तो अभी तक निर्धारित किया जा सका है न उसके निर्धारण की कोई उम्मीद ही नजर आती है। क्लाइव बेल और रोजर फ्राई आदि सौंदर्य से जिस आनंदानुभूति की बात करते थे, रिचर्डस उससे सहमत नहीं हो सके। वर्नन ली जैसे चिंतकों ने सौंदर्यानुभूति के प्रसंग में 'समानुभूति' या तादात्म्य-सिद्धांत (थियरी ऑफ एम्पैथी) का प्रतिपादन किया था तथा कहा था कि सुंदर पदार्थ के साथ हमारा तादात्म्य स्थापित होता है और यह तादात्म्य हमें आनंद देता है। इस तरह के सभी आनंदवादी सिद्धांतों को रिचर्डस ने ज़ोरदार तर्कों के साथ अस्वीकार

कर दिया। उन्होंने 'दि प्रिंसिपल्स ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म' में इस धारणा का विस्तार से खण्डन किया कि मानव-मन में कोई विशेष सौंदर्य भावना होती है एवं यह सौंदर्य हमें आनंद देता है। आनंद भावना को अस्वीकार करते हुए रिचर्डस ने इसे छायाभास (Phantom Aesthetic State) की संज्ञा दी है। उनका तर्क है कि मनोविज्ञान द्वारा किसी स्वतंत्र सौंदर्य भावना का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता है। सौंदर्यानुभूति का संबंध उन्हीं सामान्य भावनाओं से है जिनका प्रकाशन और कार्य, जीवन के सभी क्षेत्रों में दिखाई देता है।

कविता और पाठक के संबंध पर विचार करते हुए उन्होंने काव्य-सम्प्रेषण, काव्य-प्रभाव की प्रकृति की व्याख्या और विश्लेषण का कार्य बहुत गंभीरता से किया। वास्तविकता तो यह है कि काव्य-प्रभाव-विश्लेषण के आधार पर ही कविता का मूल्य-निर्णय किया जा सकता है। सौंदर्यानुभूति या काव्यानुभूति की प्रकृति पर विचार करते हुए वे इस मूल स्थापना पर पहुँचे थे कि काव्यानुभूति और जीवनानुभूति में प्रकृति का भेद नहीं होता। तत्वतः वे एक सी हैं। इनमें अधिक से अधिक इस बात का अंतर होता है कि काव्यानुभूति या कलानुभूति में सामान्य अनुभवों की सूक्ष्मतर व्यवस्था होती है। किंतु यह व्यवस्था न तो तत्वतः भिन्न होती है न मौलिक। रिचर्डस ने दृष्टांत देकर कहा कि जब हम कविता पढ़ते हैं या चित्र देखते हैं या मधुर संगीत सुनते हैं तो यह जो अनुभव सुबह हम तैयार होते हुए, गैलरी में चलते हुए करते हैं उससे अपनी प्रकृति में भिन्न नहीं होता। कांट के पूर्ववर्ती और परवर्ती-लेखकों का हवाला देते हुए उन्होंने कहा कि जो लोग कलाओं के संदर्भ में विशिष्ट, अद्वितीय, असाधारण कलानुभव की सत्ता स्वीकार करते थे या उसके पक्ष में चुन-चुनकर दलीलें पेश करते थे, वे दलीलें आज भ्रामक सिद्ध हो गई हैं। मनोविज्ञान में इस प्रकार के किसी भी अनुभव के लिए स्थान ही नहीं है।

यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि रोज़मर्रा के अनुभवों से तत्वतः अभिन्न इस सौंदर्यानुभूति की अपनी अलग विशिष्ट पहचान क्या है? रिचर्डस का इस प्रश्न को लेकर उत्तर है कि यह अनुभव हमारे भीतर कुछ अलग ढंग से घटित होता है, अधिक जटिल होता है। प्रायः अन्य अनुभवों की तुलना मे अधिक एकाग्र और संगठित होता है। किंतु यह जीवन के अन्य क्रियाकलापों से तत्वतः भिन्न नहीं होता। हाँ, सौंदर्य में, सौंदर्यानुभूति में मूल्य का समावेश अवश्य रहता है, सुंदर वही है जो मूल्यवान है। मतभेद की गुंजाइश तब पैदा होती है जब मूल्य की व्याख्या होती है। आनंदवादी विचारक मानते रहे हैं कि सौंदर्य एक विशिष्ट प्रकार का मूल्य है। लेकिन इसकी न व्याख्या हो सकती है न परिभाषा दी जा सकती है। उसे हम निरपेक्ष मूल्य (Absolute Value) मान लें यही बहुत है। रिचर्डस ने सौंदर्य में जो मूल्य निहित हैं उनकी मनोवैज्ञानिक व्याख्या करते हुए अपने सिद्धांत के सार-संक्षेप में 'व्यवस्था और संतुलन' को स्थान दिया है। मानव-मन में निरंतर आवेग उत्पन्न होते रहते हैं - इनमें से कुछ तो परस्पर सम्बद्ध और अनुकूल होते हैं किंतु कुछ प्रतिकूल और विरोधी कोटि के मनोवेग होते हैं। काव्यानुभूति या सौंदर्यानुभूति के प्रभाव से इन सभी प्रकार के मनोवेगों में पारस्परिक सामंजस्य संभव होता है। रिचर्डस ने मनोवेगों की संतुलित और व्यवस्थित अवस्था को 'साइनेस्थेसिस' (Synaesthesis) की संज्ञा दी और उसके आधार पर सौंदर्य की परिभाषा भी की है।

कांट ने 'सौंदर्य' का पहला वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया था। उसके बाद सौंदर्यशास्त्र के अंतर्गत 'सौंदर्य' पर विचार-विवेचन का सिलसिला शुरू हुआ। यह सलाह भी बराबर दी जाती रही कि सौंदर्यानुभूति को सामान्य इन्द्रियानुभव या संवेगों से नहीं उलझाना चाहिए क्योंकि दोनों में बारीक अंतर है। चिंतकों का एक वर्ग 'कलानुभव' से उत्पन्न आनंद को 'सार्वभौमिक' तथा 'अबौद्धिक' जैसे विशेषणों से समझाता रहा। नतीजा यह हुआ कि कलानुभूति या सौंदर्यानुभूति को 'विशिष्ट' और 'अद्वितीय' भावदशा मानने की परम्परा ही चल पड़ी। पूरी शक्ति से रिचर्डस ने इस 'अद्वितीयतावादी परम्परा' का खण्डन किया। सौंदर्यानुभूति को सामान्य जीवनानुभूति की कोटि में रखते हुए रिचर्डस ने उसकी मनोवैज्ञानिक व्याख्या करते हुए कहा कि 'साइनेस्थीसिस' अर्थात् हमारे मनोवेगों के संतुलन और सामंजस्य में विशेष बात यह है कि हमारे सभी आवेग अपनी प्रकृति से सामंजस्यपूर्ण नहीं होते, विरोधी आवेगों में टकराहट या संघर्ष होता ही रहता है। 'साइनेस्थीसिस' की शक्ति से संचालित इस निर्वैयक्तिकता या निस्संगता के अनुभव में पाठक की अधिकाधिक अभिरुचियाँ एकाग्र भाव से शामिल रहती हैं और संपूर्ण व्यक्तित्व में सक्रियता आ जाती है। 'प्रिंसिपल्स ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म' में रिचर्डस ने 'साइनेस्थीसिस' के स्थान पर 'सिंथेसिस' शब्द का प्रयोग किया तथा इस पूरे व्यापार को पाठकीय प्रक्रिया का संदर्भ दिया। उन्होंने यह सिद्धांत विकसित किया कि कविता का उद्देश्य है - मानव की अधिकाधिक वृत्तियों को परितोष प्रदान करते हुए उनमें संतुलन तथा सामंजस्य (सामरस्य) स्थापित करना। उन्होंने वृत्तियों को समझने-समझाने की सुविधा के लिए दो वर्गों में बाँट दिया - (1) अनुकूल एषणा (Appetency); और (2) प्रतिकूल एषणा (Aversions)। ऐसी कोई भी वस्तु या व्यापार जो किसी

वृत्ति को परितोष या संतोष प्रदान करती है, मूल्यवान होता है। लेकिन उसकी मूल्यवत्ता के मूल्याकन का आधार यह होता है कि वह अपने समान या अपने से महत्वपूर्ण किसी वृत्ति में विक्षोम पैदा न करे। चूँकि वृत्तियों की परितोष प्रक्रिया में कुछ को तोष और कुछ में क्षोभ उत्पन्न होता ही है। इसलिए उत्तमोत्तम संतुलन वही है जो मानवीय संभावनाओं की कम से कम क्षति करे।

वास्तव में, यह संतुलन और सामरस्य भी दो रूपों में घटित होता है - (1) अपवर्जन (exclusion); और (2) समावेशन (inclusion) के द्वारा। इसी को आधार बनाकर उन्होंने कविता के दो रूप किए - (1) अपवर्जी या बहिर्वेशी कविता; और (2) समावेशी या अंतर्वेशी कविता। अपवर्जी कविता में घटित होने वाले सामरस्य या सागंजस्य में परस्पर विरोधी भावों के निषेध से सामरस्य सीधा-सरल होता है। समावेशी काव्य में सामंजस्य का प्रभाव सघन, एकाग्र किंतु जटिल होता है क्योंकि उसमें अधिकाधिक विरोधी भावों के स्वीकार और द्वंद्वात्मक भावों के परिहार की सामर्थ्य होती है। अपवर्जी को रिचर्डस कला में ऊँचा स्थान नहीं देते हैं किंतु समावेशी काव्य की महत्ता को वे बार-बार स्वीकार करते हैं। फिर रिचर्डस कभी भी जार्ज सण्तायता की भाँति उदात्त और सुन्दर के भेद-प्रभेद को नहीं मानते हैं। नयी समीक्षा के सिद्धांतकार जान क्रो रैन्सम ने रिचर्डस के 'संतुलन-सामंजस्य सिद्धांत' का विरोध करते हुए कहा है कि यदि 'संतुलन-सामंजस्य सिद्धांत' को स्वीकार कर लिया जाए तो आलोचना-कर्म के सभी प्रयास अपना अर्थ खोते दिखाई देते हैं।

रिचर्डस ने समावेशी काव्य की महिमा को प्रतिपादित करने में विषय-वस्तु और शैली, दोनों की ओर पाठक का ध्यान आकृष्ट करते हुए कहा कि समावेशी काव्य की कसौटी है - उसमें अंतर्निहित विडम्बना का तत्त्व। अपने मूल्य-सिद्धांत चिंतन में रिचर्डस बार-बार यह कहते रहे कि कविता के श्रेष्ठतम रूप का लक्षण 'विडम्बना' ही है। रचना में परस्पर विरोधी आवेगों-संवेगों-भावों को एकत्र करते हुए एकाग्र करने का कार्य भी 'विडम्बना' के द्वारा ही होता है। रिचर्डस जिसे 'विडम्बना' कहते है उसे ही टी.एस.एलियट ने 'विदग्ध' या 'वैदग्ध्य' कहा है। 'वैदग्ध्य' का कार्य भी रचना-कर्म में 'आंतरिक संतुलन' स्थापित करना ही है। किंतु एलियट से रिचर्डस के विचार की भिन्नता इस बात में है कि वे आंतरिक संतुलन को कविता की पूरी संरचना में व्याप्त न मानकर कविता के प्रभाव में मानते हैं।

रिचर्डस के मत से कविता में 'सिंथिसेस' की यह मनोदशा इस निष्क्रिय मनोदशा से भिन्न है जिसमें हम समान विरोधी भावों के आकर्षण के कारण स्तब्ध रह जाते हैं। अतः क्रोध, उत्साह, घृणा, आदि के प्रबल आवेग के कारण मन में जो दृढ़ता और एकरूपता आ जाती है, वह 'सिंथिसिस' से भिन्न होती है। कारण, उसमें अनेक परस्पर-विरोधी आवेग सामंजस्य-संतुलन स्थापित नहीं कर पाते हैं - प्रायः होता यह है कि एक ही प्रबल आवेग सभी अन्य मानसिक शक्तियों, क्रियाओं, स्थितियों पर छा जाता है उन्हें अपने में लीन कर लेता है। इसीलिए विशेष ध्यान के बाद रिचर्डस ने 'दि प्रिंसिपल्स ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म' के सातवें अध्याय में सौंदर्य के मनोवैज्ञानिक मूल्य की और विस्तार से सूक्ष्म गहन विवेचना की है। उन्होंने कहा कि जीवन में संतुलन और व्यवस्था के बिना हम जीवित नहीं रह सकते। प्रति क्षण हमारे आवेग या मनोवेग स्वतः व्यवस्थित होते रहते हैं। व्यवस्था उत्पन्न करने में साहित्य और कला से विशेष सहायता मिलती है। उदाहरण के लिए, 'रामचरितमानस' को पढ़कर पाठक धार्मिक ही नहीं बनता, वह एक खास तरह का सौंदर्य-मूल्य भी वहाँ पाता है। यह सौंदर्य-मूल्य सामान्य जीवन-मूल्य से भिन्न नहीं होता।

रोजमर्रा की सामान्य मानसिक अवस्था तथा काव्य में विद्यमान मानसिक दशा में विशेष अंतर यह है कि काव्यात्मक अभिव्यक्ति में हमारे मनोवेग और उनकी शाखाएँ-प्रशाखाएँ जटिल-संश्लिष्ट रूप में सामने आती हैं और उनकी व्यवस्था (organisation and systematization) अधिक संतोषप्रद होती है। यह भूलने की बात नहीं है कि जीवन और काव्य, दोनों में मानसिक क्रियाओं के क्रमशः अधिकाधिक सघन-जटिल-संश्लिष्ट होने को रिचर्डस प्रगति का एक प्रमुख लक्षण मानते हैं। काव्य का तो वैशिष्ट्य यही है कि साधारण जीवन की सरल मनोदशा या मनोभूमिका की तुलना में उसमें कहीं अधिक मानसिक जटिलता (complexity) होती है। अतः हम कह सकते हैं कि काव्य-प्रभाव और काव्य-प्रयोजन पर आधारित रिचर्डस के मनोवैज्ञानिक मूल्य-सिद्धांत का सार-संक्षेप इस प्रकार है -

1. कला तथा कलानुभूति जीवन के मानव-व्यापारों से सम्बद्ध है, उससे भिन्न अथवा पृथक नहीं है। काव्यानुभूति या कलानुभूति जीवनानुभूति का पर्याय है।
2. मानव-क्रियाओं में कला सर्वाधिक मूल्यवान क्रिया है।
3. किसी भी मानव-क्रिया का मूल्य इस बात से निर्धारित होता है कि उसमें मनोवेगों में संतुलन और व्यवस्था उत्पन्न करने का सामर्थ्य कहाँ तक है।

4. आलोचना के दो आधार हैं - मूल्य-व्यवस्था और सम्प्रेषण। यहाँ कहना चाहिए कि रिचर्डस की मूल चिंता कविता या कला के सम्प्रेषण की रही है। काव्य-सम्प्रेषण से उत्पन्न काव्य-प्रभाव और उसके आधार पर मूल्य-निर्धारण।

अपने पूरे चिंतन में रिचर्डस कलाओं को सम्प्रेषण-क्रिया का सर्वोत्तम माध्यम या रूप मानते रहे हैं। इस सम्प्रेषण-क्रिया का मूल्य है पाठक के मन में निष्पन्न वृत्तियों का संतुलन और सामंजस्य या सामरस्य। यह सामरस्य और संतुलन ही मूल्य है। इस मूल्य को रिचर्डस ने सदैव आनंद और उपदेश के मूल्यों से ऊपर रखा है। कलानुभव अपने में मूल्यवान है और लौकिक अनुभव से अपनी प्रकृति में भिन्न नहीं है। आलोचक इसी कलानुभव का विवेचन-विश्लेषण करता है। इसलिए उसे वे 'मूल्यों के न्यायाधीश' का दर्ज़ा देते हैं (To set up as a critic is to set up as a judge of values)।

आलोचकों का एक वर्ग मानता रहा है कि परम्परागत आनंद-सिद्धांत को अस्वीकार कर देने का अर्थ रिचर्डस के मूल्य-सिद्धांत में यह कतई नहीं है कि वे बेंथम और मिल के सुख-कामना सिद्धांत से प्रभावित नहीं है। यदि ऐसा न होता तो वे पाठक के सुख की चर्चा न करते। हाँ, यह ठीक बात है कि किसी भी हालत में रिचर्डस को सुखवादी (हिडोनिस्ट) नहीं कहा जा सकता है। कारण स्पष्ट है कि वृत्तियों के जिस संतुलन और सामरस्य को रिचर्डस मूल्य मानते हैं उसमें आनंद की कोई प्रत्यक्ष भूमिका नहीं है। ये काव्यानुभूति को आनंदानुभूति नहीं मानते हैं। हिंदी आलोचना में रिचर्डस के इस मत को सीधा समर्थन आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'रस-मीमांसा' के निबंधों में दिया है। वे रसानुभूति या काव्यानुभूति को आनंदानुभूति का पर्याय नहीं मानते हैं।

रिचर्डस के समकालीन कवि-आलोचक टी.एस.एलियट ने उनके मूल्य-सिद्धांत का विरोध 'दि यूज़ ऑफ पोएट्री एंड दि यूज़ ऑफ क्रिटिसिज्म' तथा 'मॉडर्न माइंड' में किया। एलियट ने स्पष्ट कहा - 'मैं इस प्रकार के किसी सिद्धांत को स्वीकार नहीं कर सकता जो शुद्ध वैयक्तिक मनोविज्ञान की नींव पर टिका हो। उनके काव्यानुभव का मनोविज्ञान जिस प्रकार खुद उन्हीं के काव्यानुभव पर आधारित है, उसी प्रकार उनका मूल्य-सिद्धांत उनके अपने मनोविज्ञान पर केंद्रित है।' इतना ही नहीं, स्वयं एलियट का 'निर्वयक्तिकता का सिद्धांत' रिचर्डस के 'मूल्य-सिद्धांत' के विरोध में दिखाई देता है। एलियट के दिमाग में यह विचार एकदम साफ है कि वैयक्तिक मनोविज्ञान की सबसे बड़ी सीमा यह है कि वह साहित्य की वस्तुनिष्ठ व्याख्या नहीं कर सकता। रिचर्डस यह तो मानते हैं कि समावेशी काव्य का अनुभव ही अंतर्वृत्तियों में संतुलन और सामंजस्य स्थापित करता है किंतु यह सामंजस्य कैसे स्थापित होता है उस जटिल प्रक्रिया का विश्लेषण नहीं कर पाते हैं। दार्शनिकों और साहित्यशास्त्रियों ने 'मूल्य-सिद्धांत' का विरोध करते हुए यहाँ तक कहा कि स्नायुमंडल और मस्तिष्क की क्रियाओं का जो चित्र उन्होंने खींचा है, वह अभी तक स्वीकृति प्राप्त नहीं कर सका है क्योंकि स्नायुमंडल की क्रियाओं के बारे में भी अभी जानकारी कम है। रिचर्डस ने जिस गेस्टाल्ट मनोविज्ञान का सहारा लिया है, वह भी अभी प्रयोगात्मक अवस्था में है। इसलिए विद्वानों ने रिचर्डस के मूल्य-सिद्धांत को 'प्रभाववादी मूल्य-सिद्धांत' कहकर व्यंग किया और कहा कि 'वस्तु' (ऑब्जेक्ट) की सत्ता को पर्याप्त महत्व न देने के कारण मूल्य-सिद्धांत की व्यावहारिक उपयोगिता ही खतरे में पड़ गई है। मूल्य-सिद्धांत को काव्य के अतिरिक्त अन्य कलाओं पर लागू करते हैं तो हमें संतोषजनक परिणाम नहीं मिलते। इसका एक कारण तो यह है कि रिचर्डस मनोवेगों (Impulse) का अर्थ-संदर्भ निश्चित करने में असमर्थ रहे हैं। यही कारण है कि देश-विदेश के अधिकांश विद्वान 'मूल्य-सिद्धांत' से ज्यादा सम्प्रेषण से संबंधित रिचर्डस के चिंतन को महत्व देते हैं। कवि चाहे केवल अपने सुख के लिए लिखता हो अथवा लोक-मंगल भावना से भरकर सबके हित के लिए लिखता हो - उसकी भावनाओं और विचारों का स्वरूप सम्प्रेषण-शक्ति से निर्धारित और संचालित होता है।

18.4 भाषा सिद्धांत

कविता में सम्प्रेषणीयता के बिना उद्देश्य सिद्ध नहीं होता। भाषा ही प्रेषण का साधन और माध्यम है। इस सच को समझते हुए रिचर्डस ने काव्य-भाषा सिद्धांत की स्थापना की और उनका भाषा संबंधी चिंतन चर्चा के केंद्र में भी रहा। इस काव्य-भाषा चिंतन को 'काव्य-भाषा का संवेगात्मक सिद्धांत' (Emotive Theory of Language) नाम दिया गया है। रिचर्डस ने अपने शिष्य सी.के.आग्डेन के साथ 'मीनिंग ऑफ मीनिंग' नामक पुस्तक में तथ्यपरक भाषा (Referential Language) का विवेचन किया था और 'प्रिंसिपल्स ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म' नामक पुस्तक में रागात्मक भाषा या भावपरक भाषा (Emotive Language) का। इस प्रकार, भाषा के प्रयोग में उन्होंने मुख्यतः दो भेद किए -

1. तथ्यपरक भाषा का प्रयोग; और
2. रागात्मक भाषा का प्रयोग।

तथ्यपरक भाषा का प्रयोग तार्किकों, दार्शनिकों और वैज्ञानिकों की भाषा में मिलता है। वहाँ पर शब्द द्वारा हमें किसी तथ्य की सूचना मिलती है उसका यथार्थ-बोध होता है और ऐसे कथन की सत्यता की परीक्षा भी की जा सकती है। तथ्यात्मक कथनों में दो बातों को महत्व मिलता है - तथ्य और उनके पारस्परिक संबंध को। विज्ञान तथा तर्क में भावनाओं को प्रयासपूर्वक अलग रखते हुए इसी प्रकार की तथ्यपरक भाषा का प्रयोग किया जाता है। 'रागात्मक भाषा' में भावपरक तत्वों की प्रधानता रहती है यहाँ प्रायः तथ्य (रिफरेंस) की सूचना नगण्य बनकर रह जाती है जैसा कि संगीतमय काव्य (Musical and lyrical poetry) में हम पाते हैं जहाँ तथ्य अंतर्निहित भी रहते हैं वहाँ भी उनका प्रभाव गौण हो जाता है। कविता हमारे भावों को उनुबुद्ध करती है, हमारी चित्तवृत्तियों को झकझोर देती है। सार-संक्षेप यह कि विज्ञान की भाषा तथ्यपरक होती है और कविता की रागात्मक या भावपरक।

रिचर्डस ने अपने ग्रंथों में इस बात पर बराबर बल दिया कि कवि-कलाकार किसी वैज्ञानिक की भाँति तथ्य अथवा सत्य की खोज नहीं करता, वह तो विभिन्न रागात्मक अवस्थाओं, मनोभूमिकाओं और चितवृत्तियों का सर्जन करता है। लैकिन इस विधार का बहुत से चिंतकों ने यह कहकर खण्डन किया है कि तथ्य और भावना का पृथक्करण सैद्धांतिक स्तर पर तो संभव है लेकिन व्यवहार के स्तर पर नहीं। रिचर्डस इस भेद के प्रति कम सतर्क नहीं थे - इसका प्रमाण यह है कि उन्होंने 'स्पेकुलेटिव इंस्ट्रूमेंट्स' नामक अपनी पुस्तक में रागात्मक अर्थ के आग्रह पर बल देकर मैक्स ब्रैक के आक्षेपों का खण्डन किया है। लेकिन रिचर्डस के इस काव्य-भाषा सिद्धांत को लेकर वाद-विवाद इतना ज़ोर प्रकड़ता गया कि उन्होंने 'दि फिलासफ़ी ऑफ रेटरिक' पुस्तक में अपनी मान्यता का संशोधन प्रस्तुत किया और कविता की भाषा में भावात्मकता के साथ विचारात्मकता को संश्लिष्ट रूप में स्वीकार किया। इतना ही नहीं, एक कदम और आगे बढ़कर उन्होंने काव्य-ग्रहण को लेकर मनोवेगों पर विवेक के अंकुश की अनिवार्यता का प्रतिपादन किया। रिचर्डस के विचारों में आने वाले इन परिवर्तनों पर उनके शिष्य विलियम एम्पसन का ध्यान गया और उन्होंने कहा कि अर्थ-संबंधी संदर्भ-सिद्धांत (Context Theory of Meaning) विकसित करने का श्रेय रिचर्डस को ही जाता है। इसी संदर्भ सिद्धांत से काव्य-भाषा में लाक्षणिकता और अनेकार्थकता (Metaphor and Ambiguity) को समुचित आदर मिला है।

18.5 अर्थ-मीमांसा-चिंतन

रिचर्डस ने भाषा के स्वभाव और कार्य का गंभीर विवेचन करते हुए यह प्रश्न बहुत गहरे स्तर पर उठाया कि अर्थ से तात्पर्य क्या है। भाषा ही भाव-सम्प्रेषण का माध्यम है और इस माध्यम का उपयोग हर रचनाकार अपने-अपने ढंग से करता है। भाषा प्रतीक-व्यवस्था है और यह प्रतीक-व्यवस्था ही रचनाकार और पाठक के बीच एक मानसिक-सेतु का निर्माण करती है। भाषा-प्रतीकों में मानसिक वृत्तियों के अर्थ-गुच्छ निहित होते हैं। इस दृष्टि से अर्थ-ग्रहण के अनेक स्तर हैं। सभी पाठकों की मानसिक भूमिका एक-सी नहीं होती। इसलिए वे रचना का एक-सा अर्थ-ग्रहण और बिम्ब-ग्रहण भी नहीं करते हैं। फिर देश और काल का संदर्भ भी अर्थ को बदलता है - एक ही शब्द में कभी अर्थ-संकोच होता है, कभी अर्थ-विस्तार, कभी अर्थादेश।.एक स्तर पर पाठक केवल नाद से परिचित होता है और उसी का प्रभाव उसके मानस पर पड़ता है। ध्वनि-भेद से अर्थ-भेद की परख करने की क्षमता आते ही पाठक अर्थ-व्यंजना की भीतरी बारीकियों को पकड़ने लगता है। अर्थ की जटिलताओं में धँसकर समझने लगता है। फिर उसे भाषा के जटिल प्रतीकों के अर्थ-संधान में मज़ा आने लगता है। रिचर्डस का यह भी मानना था कि भाषा के अभिप्रायों को समझने में व्याकरण सहायक होता है, किंतु उससे भी अधिक सहायता मनोविज्ञान से मिल सकती है क्योंकि मन में उत्पन्न होने वाले द्वंद्व-तनाव-संघर्ष, विरोध के भावों का परस्पर संबंध भाषा में बराबर परिलक्षित होता है। भाषा का एक स्तर वह भी है जिसमें 'रूपकों' का प्रयोग किया जाता है। रूपकात्मक भाषा या व्यंजना-गर्भी भाषा से हम अर्थ के अनेक स्तरों तक पहुँच सकते हैं। भाषागत प्रतीकों में तथ्यों की सूचना के साथ-साथ भाव, विचार, वृत्ति, संकेत, चेष्टाएँ, अभिप्राय, रूपक इत्यादि का भंडार रहता है - समर्थ रचनाकार इस भंडार का अपने ढंग से उपयोग करता है, वह पुराने शब्दों में नया अर्थ भरता है और बहुतायत से प्रयोग होने के कारण घिस गए शब्दों पर नए अर्थ की पॉलिश करता है। एक प्रकार से नये वागर्थ की प्रतिपत्ति' करता है। भाषा का कार्य सफल तभी माना जाता है जब कवि शब्द-प्रतीकों की इन विशेषताओं को लक्षित करा सके।

भाषा का कार्य है - सरल और जटिल अर्थ को सम्प्रेषित करना। जीवन में भाषा सामान्य रूप से और साहित्य में विशेष रूप से अर्थ वहन का कार्य करती है। प्रश्न उठता है कि अर्थ-ग्रहण से क्या अभिप्राय

है और अर्थ-व्यापार किस तरह से संचालित होता है? स्थूल रूप में रिचर्डस ने 'प्रैक्टिकल क्रिटिसिज्म' नामक अपनी पुस्तक में अर्थ-विचार करते हुए चार प्रकार के अर्थों का निर्देश किया है। ये हैं -

1. वाच्यार्थ (Sense) - वस्तुस्थिति को सामने लाने वाली प्रमुख शब्द-शक्ति।
2. भाव (Feeling) - भाव अर्थात् विषय के प्रति लेखक अथवा वक्ता की चेष्टा।
3. ध्वनि या लहजा (Tone) - ध्वनि या लहजा अर्थात् पाठक के प्रति लेखक की चेष्टा।
4. अभिप्राय (Intention) - लेखक अथवा वक्ता का अभिप्राय।

भाषा के इन चारों उपकरणों को लेकर चलने या इनके मेल से ही भाषा का समग्र अर्थ-व्यंजित होता है। किसी एक ही अंग को लेकर चलने पर अनर्थ की आशंका रहती है। प्रयोजन के अनुसार ही किसी प्रकार-विशेष के अर्थ पर ज़ोर रहता है, जैसे वैज्ञानिक भाषा में यथा-तथ्यता का आग्रह लेकर चलता है जबकि रचनाकार भाषा को कल्पना के प्रयोग से रंग-रंजित कर भावमूलक रूप देता है। रचनाकार भाव और टोन को बहुत महत्व देगा - जबकि वैज्ञानिक केवल तथ्य का निरूपण करेगा। रचना-कर्म का आस्वाद करने वाले पाठक या आलोचक का यह दायित्व होगा कि वह भाषा की शब्द-शक्तियों को पहचान कर रचना के समग्र अर्थ तक पहुँचने का प्रयत्न करे। शब्द और अर्थ के अभिन्न संयोग से भाषा में सृजन की शक्ति आती है। आधुनिक युग में सैद्धांतिक और व्यावहारिक समीक्षा, दोनों के ही क्षेत्र में विश्लेषणात्मक पद्धति की उपयोगिता पर ध्यान केंद्रित किया गया है। स्वयं रिचर्डस ने 'न्यू क्रिटिसिज्म के समर्थ प्रतिष्ठापक के रूप में शब्द-शक्तियों तथा प्रकरणगत अर्थ-संदर्भों पर ध्यान दिया। अपने आरंभिक ग्रंथ **'मीनिंग ऑफ मीनिंग'** में आग्डेन के साथ रिचर्डस ने शब्दों के **'रेफरेन्शियल मीनिंग** अर्थात संदर्भ के निहितार्थ या अन्वितार्थ पर ही विचार किया। आगे चलकर **'दि प्रिंसिपल्स ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म** में उन्होंने **'इमोटिव मीनिंग'** या भावात्मक अर्थ पर विशेष बल दिया और कहा कि काव्य के लिए अन्वितार्थ अर्थ की अपेक्षा भावात्मक अर्थ उपयोगी और अपेक्षित होता है। कवि केवल सूचना, तथ्य-ज्ञान वृद्धि के लिए नहीं लिखता है, वह तो अनुभूति, प्रेरणा तथा भाव-मर्म का सौंदर्य दूसरों तक भाषा से सम्प्रेषित करने के लिए लिखता है। किंतु 'प्रैक्टिकल क्रिटिसिज्म' में रिचर्डस ने भाषा के चार अर्थ-व्यापारों की विस्तार से चर्चा की और कहा कि 'सेन्स' (Sense) से तात्पर्य है - अभिधेयार्थ ग्रहण का और 'फीलिंग' से इमोटिव मीनिंग अर्थात् भावात्मक अर्थ का ग्रहण। वक्ता अथवा लेखक का श्रोता के प्रति क्या दृष्टिकोण होता है इससे टोन का निर्धारण होता है और इंटेंशन लेखक या वक्ता के अर्थ का निर्धारण करता है। इन चारों का संबंध अर्थ लय से निर्धारित हुआ करता है। इस प्रकार, रिचर्डस ने अर्थ की स्थिति 'लय' में ही मानी है। 'अर्थ-लय' केवल ध्वनियों की नियोजना-मात्र नहीं हैं अपितु भाषा की तह में रहने वाला सारभूत तत्व है। अर्थ-प्रकाशन और अर्थ-बोध दोनों में लय की बड़ी भारी भूमिका रहती है।

रिचर्डस की भाषा और अर्थ संबंधी मान्यताओं पर उनके सामने ही उनके शिष्यों ने अनेक आपत्तियाँ उठाईं। एम्पसन ने कहा कि प्रयास करने पर भी हम 'सेन्स' और 'फीलिंग' को पृथक नहीं कर सकते; क्योंकि वे एक-दूसरे के विरोधी न होकर पूरक हैं। आखिरकार रिचर्डस ने अपने इमोटिव मीनिंग संबंधी मत को ही बाद के ग्रंथों में दोहराया है और काव्य के मूल्यांकन में **'प्रसंग'** अर्थात् Context के महत्व पर विस्तार से प्रकाश डाला है। कारण, शब्द का अर्थ वाक्य के पूरे अर्थ-प्रसंग में ही प्रकट होता है। ऐसी स्थिति के कारण हम शब्दों को बिल्कुल अलग नहीं ले सकते। फिर शब्द का अर्थ परम्परागत प्रयोग से भी निर्धारित रहता है - शब्द पाठक के मन में स्मृतियाँ जाग्रत करता है। भारतीय आचार्यों ने भी भाषा-शब्द में प्रकरण अथवा प्रसंग के महत्व को विस्मृत नहीं किया। भर्तृहरि ने 'वाक्य-पदीय' में शब्द से अर्थ का बोध कराने वाले पन्द्रह उपकरणों की चर्चा की है। ऐसे ही व्यंजनावादियों ने अपने निरूपण में 'प्रकरण' को विशेष महत्व दिया है। वक्रोक्तिवादी कुन्तक ने भी प्रकरण-वक्रता तथा प्रबंध-वक्रता को विशेष सम्मान दिया।

वास्तव में, रिचर्डस के कॉन्टेक्स्ट-संबंधी विचारों का मूल स्रोत मनोविज्ञान ही है। रिचर्डस ने 'फिलासफी ऑफ रेटरिक' में शब्दों के स्वभाव, उनके साहचर्य के नियम, शब्द-संगति तथा वाक्य-व्यवस्था पर विशेष ध्यान दिया है। रूपक अथवा मेटाफर की चर्चा देश-विदेश के चिंतन में बराबर होती रही है। रिचर्डस ने रूपक के विश्लेषण में कहा है कि जटिल रूपकों में कभी-कभी तो अर्थ के सात-आठ स्तर मिलते हैं और आधुनिक कविता की दुरूहता बहुत कुछ रूपकों की जटिलता के कारण ही है। रिचर्डस और एम्पसन के 'एम्बिग्युटी' अर्थात् अनेकार्थता संबंधी विचार भी काफी मिलते-जुलते हैं। 'एम्बिग्युटी' का सीधा अर्थ है - किसी कथन का दुहरापन या अनिश्चित अर्थ। एम्पसन ने सात प्रकार की अनेकार्थताओं का विवेचन किया भी है। भारतीय चिंतन में अभिधा, लक्षणा, व्यंजना के साथ तात्पर्यवृत्ति की जैसे चर्चा हुई है उसी तरह से रिचर्डस-एम्पसन विचार तो नहीं कर सके लेकिन

'इमोटिव मीनिंग' और 'कॉन्टेक्चुअल मीनिंग' में लक्षणा-व्यंजना-व्यापार को रिचर्डस-आग्डेन-एम्पसन ने ग्रहण अवश्य किया है। लीविस तथा टिलयार्ड ने 'आब्लीक मीनिंग' की बात कही है जो व्यंग्यार्थ का पर्यायवाची है। कहना न होगा कि भारत का ध्वनि-सिद्धांत अथवा व्यंजना-व्यापार पश्चिम में अनेक प्रकार से दिखाई देता है।

18.6 लय और छंद

संमावेशी काव्य या उत्तम काव्य में रिचर्डस के द्वारा संकेतित चार प्रकार के अर्थों का विवेकपूर्ण सामंजस्य मिलता है। रिचर्डस, एलियट तथा लीविस जैसे आलोचकों ने सत्रहवीं शती के अंग्रेजी अध्यात्मवादी कवियों की प्रशंसा इसलिए की है कि उनके काव्य में भाव-विचार, बुद्धि, ध्वनि इत्यादि की सम्यक् व्यवस्था मिलती है। जबकि स्वच्छंदतावादियों में भावातिरेक के कारण बुद्धि-पक्ष का नियंत्रण डगमगा गया। यह स्वच्छन्दतावादी काव्य की बुनियादी खोट है।

रिचर्डस ने कविता की बाह्य-व्यवस्था को लेकर भी नए ढंग के विचार दिए हैं। उनका मत है कि परम्परागत नपे-तुले छंदों में लिखी हुई कविता ढर्रेदार होती है और नियम की बेड़ियों में बँधी होने के कारण एक लीक पर पड़ी दिखाई देती है। लैटिन कविता छंदों के कड़े अनुशासन के कारण ही उच्च महत्ता को प्राप्त नहीं कर सकी। कविता के लिए 'लय' अनिवार्य है किंतु इस लय का स्वरूप भी स्वीकृत छंदों की लय में बँधकर इतना सतही हो जाता है कि चिढ़ होने लगती है। वास्तविकता यह है कि लय की स्थिति काव्यार्थ की गहराई में है। इस प्रकार, लय और छंद के बारे में रिचर्डस की नवीन उद्‌भावनाएँ विशेष महत्व की हैं। परम्परागत विचारों में लय तथा छंद की कल्पना बहुत कुछ ढर्रेदार ढंग से की जा रही थी किंतु रिचर्डस ने उसकी मनोवैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की। लय का आधार है - प्रत्याशा (एक्सपेक्टैन्सी)। काव्य अथवा संगीत में लय इस प्रकार नियोजित की जाती है कि अर्थ की भावी संभावनाओं का प्रकाश मन में छाया रहता है।

लय केवल ध्वनि-व्यवस्था मात्र नहीं है। गहरे स्तर पर वह अर्थ-व्यवस्था है। लय तो मन की गहराई से उठकर भाषा में पैठ जाती है। (The sound of words comes to its full power only through rythm) छंद का काम है - लय को नियमित करना। किंतु छंद का यांत्रिक-प्रयोग रिचर्डस को स्वीकार्य नहीं है। रिचर्डस ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'प्रैक्टिकल क्रिटिसिज्म' में अपने अध्यापक को सामने कर दिया है - तेरह काव्यांश (जिनमें प्रत्येक अपना निजी वैशिष्ट्य रखता है) प्रोटोकोल के रूप में छात्रों को दिए गए और उन काव्यांशों पर उनकी प्रतिक्रियाएँ प्राप्त की गई। इन उत्तरों (विद्यार्थियों की प्रतिक्रियाओं) को लेकर रिचर्डस ने काव्य से संबंधित विभिन्न प्रश्नों पर विचार किया है। व्यावहारिक समीक्षा में उन्होंने विश्लेषण (एनालिसिस) और व्याख्या (इंटरप्रेटेशन) की पद्धति को अपनाया। शब्द, अर्थ, वाक्य-संरचना, प्रकरण या प्रसंग, रूपक, वस्तु-रूप, लय आदि सभी पर उनका ध्यान केंद्रित हुआ। 'हाउ टू रीड ए पेज' नामक पुस्तक में काव्यांश-विश्लेषण का रिचर्ड्सीय-कमाल देखते ही बनता है। विश्लेषण और व्याख्या से ही काव्यार्थ का प्रकाश दिखाई देता है। पाठक इस विश्लेषण तथा व्याख्या कर्म से ही कृति के मर्म (सम्प्रेषण) को पाता है। प्रत्येक पाठक को कविता पढ़ने की तमीज़ सीखनी पड़ती है।

रिचर्डस ने बौद्धिक-सत्य और काव्यात्मक-सत्य के भेद को कभी भी अपने चिंतन में विस्मृत नहीं किया है। अर्थ दो प्रकार के होते हैं - तथ्यात्मक और रागात्मक। वैज्ञानिक तथ्यात्मक सत्य की खोज निरीक्षण और प्रयोग से करता है, दार्शनिक तर्क और विचार द्वारा। वैज्ञानिक तथा दार्शनिक की खोज बौद्धिक स्तर पर चलती है। कविता का सरोकार कोरे बौद्धिक-सत्य से न होकर रागात्मक या भावात्मक-सत्य से होता है। ऐसा नहीं है कि काव्य-सत्य में बौद्धिक-सत्य के उपकरण नहीं होते हैं - वे प्रच्छन्न रूप में रहते हैं। विज्ञान तो 'स्टेटमेंट' का आश्रय लेता है कविता 'सूडो स्टेटमेंट्स' (PSUEDO-STATEMENTS) छद्‌म कथनों का। रिचर्डस स्वयं 'प्रैक्टिकल क्रिटिसिज्म' में कविता के साथ 'आस्था' का प्रश्न उठाते हुए कहते हैं कि हम 'डिवाइन कमेडी' या 'पैराडाइज़ लास्ट' में आस्था न रखते हो तब भी पढ़ते हैं। यही बात 'रामचरितमानस' और 'सूरसागर' को लेकर कही जा सकती है - केवल इन्हें हिंदू ही नहीं सभी अपने-अपने ढंग से पढ़ते हैं। काव्य में आस्था का प्रश्न रागात्मक प्रतिक्रियाओं से सम्बद्ध है, तथ्य-निरूपण अथवा परीक्षण से नहीं।

18.7 मूल्यांकन

पाश्चात्य-साहित्य चिंतन में आई.ए.रिचर्डस ने प्रथम बार में कविता के अर्थ-सम्प्रेषण व्यापार और पाठक पर पड़ने वाले काव्य-प्रभाव के आधार पर 'प्रयोगशाला-पद्धति' से नयी आलोचना के मार्ग का श्रीगणेश किया। यही कारण है कि 'न्यू क्रिटिसिज्म' के प्रवर्त्तकों में रिचर्डस की चर्चा बड़े आदर से की जाती है।

उनके सभी निष्कर्ष तो स्वीकार्य नहीं हुए परंतु अर्थ और सम्प्रेषण से संबंधित उनके विचारों को पर्याप्त आदर प्राप्त हुआ। कवि की आस्था, पाठकीय प्रतिक्रिया से संबंधित उनके विचार भी बराबर चर्चा के केंद्र में रहे। सबसे बड़ी बात यह है कि रिचर्डस ने विज्ञान के युग में विज्ञान के आतंक से मुक्त होकर न केवल कविता की महत्व-प्रतिष्ठा की बल्कि साहित्यालोचन को वैज्ञानिक वस्तुनिष्ठता (Scientific accuracy and objectivity) प्रदान करने की दिशा में सार्थक कदम उठाया। उन्होंने 'रोमांटिसिज्म' का विरोध करते हुए चिंतन की क्लासिकल-परम्परा में प्राण डालने का प्रयास किया। साथ ही, 'कलावाद' का पूरी तार्किकता से खण्डन किया। उनके तर्क की टक्कर से ही क्रोचे के अभिव्यंजनावाद का माया-महल ढह गया। कलानुभव की अलौकिकता और सौंदयानुभूति की अतीन्द्रियता के भ्रम-जाल को छिन्न-भिन्न करते हुए रिचर्डस ने काव्यानुभव को जीवनानुभव की ठोस ज़मीन पर स्थापित किया। कहना न होगा कि उन्होंने 'न्यू क्रिटिसिज्म' को नवीन दिशा दी और नए शब्दों से उसे सम्पन्न किया।

आधुनिक अंग्रेज़ आलोचकों में रिचर्डस का साहित्यालोचन से संबंधित चिंतन क्रमबद्ध एवं विस्तृत है जिसमें हमें एक सर्वांगपूर्ण काव्यशास्त्र का बिम्ब झाँकता मिलता है। उनका मूल्य-सिद्धांत गहरे स्तर पर कलाशास्त्र और मनोविज्ञान के गहन-चिंतन पर केंद्रित है। भाषा और अर्थ-मीमांसा के क्षेत्र की उनकी पकड़ भी कम गहरी नहीं है। उन्होंने गंभीर विषयों की सरल और स्पष्ट व्याख्या की। इस तरह कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में सन 1930 ई.के लगभग रिचर्डस और उसके सहयोगियों ने आलोचना की एक नवीन प्रयोगात्मक पद्धति का वैज्ञानिक ढंग से विकास किया है। रिचर्डस का प्रभाव एम्पसन तथा एफ.आर. लीविस जैसे आलोचकों पर पड़ा और इन विद्वानों ने अपने क्षेत्रों में उल्लेखनीय कार्य किया। पूरी अमरीकी 'न्यू क्रिटिसिज्म' की पीढ़ी पर रिचर्डस का प्रभाव परिलक्षित होता है। हिंदी में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने प्रथम बार आई.ए.रिचर्डस की चर्चा की है और तब से लेकर आज तक हिंदी समीक्षा में रिचर्डस के चिंतन को बार-बार महत्व देते हुए याद किया जाता रहा है। हिंदी के मार्क्सवादी आलोचक, रिचर्डस के काव्य-चिंतन से असहमत होते हुए भी उनके महत्व से बेखबर नहीं है।

18.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

देवेन्द्र नाथ शर्मा, **पाश्चात्य काव्यशास्त्र**, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरिया गंज, नई दिल्ली।

निर्मला जैन और कुसुम बाँठिया, **पाश्चात्य साहित्य-चिंतन**, राधाकृष्ण प्रकाशन, दरिया गंज, नई दिल्ली।

राम अवध द्विवेदी, **साहित्य सिद्धांत**, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना।

शम्भुदत्त झा, **आई.ए.रिचर्डस के काव्य सिद्धांत**, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना।

डॉ. नगेन्द्र और सावित्री सिन्हा, **पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा**, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

निर्मला जैन, **रस-सिद्धांत और सौंदर्यशास्त्र**, वाणी प्रकाशन, दरिया गंज, नई दिल्ली।

18.9 अभ्यास के लिए प्रश्न

1. आई.ए. रिचर्डस के मूल्य-सिद्धांत पर प्रकाश डालिए।
2. रिचर्डस के भाषा-सिद्धांत की उपयोगिता पर विचार कीजिए।
3. रिचर्डस के लय और छंद संबंधी चिंतन के महत्व को स्पष्ट कीजिए।
4. रिचर्डस के मूल्य-सिद्धांत तथा भाषा सिद्धांत चिंतन पर विचार करते हुए उनकी सार्थकता पर प्रकाश डालिए।
5. रिचर्डस के अर्थ-मीमांसा-चिंतन का मूल्यांकन कीजिए।

इकाई 19 नयी समीक्षा (न्यू क्रिटिसिज्म) के प्रमुख सिद्धांत

इकाई की रूपरेखा

19.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- बता सकेंगे कि नयी समीक्षा क्या है और इसका प्रारंभ कब और कैसे हुआ
- नयी समीक्षा के प्रमुख स्रोतों और समीक्षकों के विषय में जानकारी दे सकेंगे
- नयी समीक्षा से जुड़े पारिभाषिक शब्दों तथा उनके माध्यम से प्रतिपादित सिद्धांतों की चर्चा कर सकेंगें
- नयी समीक्षा की प्रमुख प्रवृत्तियों का उल्लेख कर सकेंगे

19.1 प्रस्तावना

बीसवीं शताब्दी के सर्वाधिक महत्वपूर्ण और समृद्ध आलोचनात्मक आंदोलन का नाम 'नयी समीक्षा' अथवा 'नयी आलोचना' (न्यू क्रिटिसिज्म) है। मूलत: इस आलोचनात्मक आंदोलन का उद्भव 'आंग्ल-अमरीकी' आलोचनात्मक प्रवृत्ति के रूप में हुआ। पाश्चात्य आलोचना के क्षेत्र में जब आलोचक की दृष्टि काव्य-कृति की अपेक्षा कृतिकार पर अधिकाधिक केंद्रित होने लगी तब इस रोमाण्टिक दृष्टिकोण के विरुद्ध विद्रोह का स्वर फूटने लगा। वहाँ ऐसे विद्रोही आलोचकों का ऐसा वर्ग उठ खड़ा हुआ जिसने कृतिकार का निषेध कर अपनी समीक्षा का केंद्र कलाकृति या रचना को बनाने का आग्रह किया। इस वर्ग के आलोचकों के मतानुसार समीक्षा की सार्थकता कृति के केंद्र के आलोकन में ही निहित है। यह विचार कई तरह से व्यक्त किया गया कि आलोचक को कृति की सृजन-प्रक्रिया, कृतिकार के सृजन-परिवेश, मनोभूमि आदि से लेना-देना नहीं है। फलतः इस वर्ग के आलोचक रचना (कलाकृति) को एक अखण्ड इकाई मानकर समीक्षा कर्म में प्रवृत्त होते हैं। इन्होंने इस धारणा पर भी पर्याप्त बल दिया कि कलाकृति के कथ्य (content) तथा रूप (form) को खण्ड-खण्ड करके देखते ही उसका समग्र सौंदर्यपरक प्रभाव नष्ट हो जाता है। अत: किसी भी रचना का विवेचन-विश्लेषण उसकी समग्रता या सम्पूर्णता में ही करना चाहिए।

19.2 नयी समीक्षा का प्रारंभ

पश्चिम में रचना या कृति की इस समीक्षा पद्धति को 'नयी समीक्षा' नाम दिया गया। इस शब्द-बंध का सर्वप्रथम प्रयोग कोलंबिया विश्वविद्यालय में तुलनात्मक साहित्य के प्रोफेसर जे.ई.स्पिनगार्न ने 1910ई. में 'दि न्यू क्रिटिसिज्म' शीर्षक अपने लेख में किया। यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्या जिस अर्थ में उन्होंने इस शब्द-बंध का प्रयोग किया था उसी अर्थ में यह शब्द-बंध 'नयी समीक्षा' नामक आंदोलन में भी विकसित हुआ? इसका उत्तर स्पिनगार्न की दृष्टि में ही मिल जाता है। जब वे कहते हैं

कि नयी समीक्षा को कलाकृति के प्रतिपाद्य विषय तक ही ध्यान केंद्रित करना चाहिए उसे सामाजिक और ऐतिहासिक कारणों के पचड़े में क्या लाभ। अभिप्राय यह कि स्वयं स्पिनगार्न कलाकृति को ऐतिहासिक अध्ययन के दबाव और सामाजिक विज्ञानों से मुक्त रखने के पक्षधर रहे हैं। किंतु नयी समीक्षा को एक पद्धति-विशेष के रूप में अपनाने की शुरूआत जान क्रो रैन्सम की पुस्तक से होती है। रैन्सम की इस पुस्तक का नाम है - **'दि न्यू क्रिटिसिज्म'** जिसका प्रकाशन न्यू डायरेक्शंस, न्यूयार्क से 1941 ई. में हुआ। रैन्सम (1889-1974) नयी समीक्षा के उन्नायकों में अग्रगण्य हैं। इन्होंने ही एलेन टेट के साथ 1922 ई. में **'दि फ्युजिटिव'** पत्रिका की शुरूआत की जिसमें प्रथम बार नयी समीक्षा की प्रवृत्तियों के संकल्प-बीज उभर कर सामने आए। हालाँकि यह पत्रिका तीन वर्ष ही चली और रैन्सम को **'केन्यन रिव्यू'** जैसी पत्रिका की स्थापना करनी पड़ी। यह पत्रिका 1939 ई. में प्रकाशित हुई और बहुचर्चित भी रही। रैन्सम की पुस्तक **'द कीनियन क्रिटिसिज्म'** (1951) इसी पत्रिका के लेखों का संग्रह है। आलोचना के क्षेत्र में रैन्सम जिन दो समीक्षात्मक कृतियों के कारण चर्चित हुए उनके नाम हैं - **'दि वर्ल्डस बॉडी'** (1938) और **'दि न्यू क्रिटिसिज्म'** (1941)। **'दि वर्ल्डस बॉडी'** का लक्ष्य काव्य-सिद्धांत का निरुपण और कविता की आलोचना के लिए नया मार्ग निर्मित करना है। रैन्सम के आधारभूत सिद्धांत **'शब्द-विधान'** (टेक्सचर) का रूपमी इसी के भीतर से उभरा और यह धारणा भी कि **अर्थ-विधान** (स्ट्रक्चर) और 'शब्द-विधान' (टैक्सचर) के संघटन से कविता निर्मित होती है।

रैन्सम ने अपनी दूसरी महत्वपूर्ण आलोचनात्मक पुस्तक 'दि न्यू क्रिटिसिज्म' में समकालीन चार महत्वपूर्ण आलोचकों के अध्ययन के उपरांत 'तत्वमीमांसीय आलोचक' (ऑन्टोलॉजिकल क्रिटिक) की महत्व-प्रतिष्ठा की। इन चार लेखों के नाम हैं - आई.ए.रिचर्डस : द साइकॉलॉजिकल क्रिटिक, टी.एस.एलियट : द हिस्टॉरिकल क्रिटिक, ईवोर विंटर्स : द लॉजिकल क्रिटिक तथा वांटेड : एन ऑन्टोलॉजिकल क्रिटिक। प्रथम लेख में रैन्सम ने आई.ए.रिचर्डस को नयी समीक्षा का जनक मानते हुए उनकी समीक्षा-पद्धति का वैशिष्ट्य निरुपित किया। टी.एस.एलियट को 'ऐतिहासिक समीक्षक' नाम इसलिए दिया कि वह कविता को परम्परा के संदर्भ में देखते हैं। इवोर विंटर्स को उन्होंने नैतिकता के बोझ से लड़खड़ाते गद्य का समीक्षक कहा, जिसके वश की बात ही नहीं है कि वह कविता के पाठ का विश्लेषण कर सके। चौथे लेख में रैन्सम ने कविता को 'तत्वमीमांसीय' (ऑन्टोलॉजिकल) माना और कहा कि विज्ञान से निरपेक्ष कविता की स्वतंत्र सत्ता है। कविता का ध्येय उस 'अपूर्व जगत' की खोज करना है जो दृश्यमान संसार की तुलना में ज्यादा सघन और एकदम अगम्य है। ध्यान देने की बात यह है कि यहाँ रैन्सम कविता पर विचार-केंद्रित करते हैं, कवि पर नहीं।

नयी समीक्षा का आरंभ किस समीक्षक से किस समय हुआ यह बात निश्चित तौर पर कहना तो कठिन है किंतु इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता है कि नयी समीक्षा की प्रमुख प्रवृत्तियाँ एलियट और **रिचर्डस** की कृतियों में मिलने लगती हैं। एफ.आर.लीविस ने अपनी पुस्तक 'रिवेल्युएशंस'(1936) में ठीक ही कहा है कि वे उस नए दृष्टिकोण को सामने ला रहे थे जिसकी नींव एजरा पाउण्ड, **टी.एस.एलियट और आई.ए.रिचर्डस** ने रख दी थी।

19.3 नामकरण की उपयुक्तता

प्रश्न उठता है कि इस नए आंदोलन के लिए 'न्यू क्रिटिसिज्म' संज्ञा उपयुक्त है या नहीं। अधिकांश नए आलोचकों के मत का सार यह है कि आलोचना के इस आंदोलन के लिए 'न्यू क्रिटिसिज्म' संज्ञा न तो उपयुक्त है न अर्थपूर्ण। इसका प्रधान कारण यह है कि सभी नए आलोचकों की न तो आलोचनात्मक प्रवृत्तियाँ एक जैसी हैं न धारणाएँ और आस्थाएँ एक जैसी हैं। इनमें तीव्र मतभेद साफ दिखाई देता है। यह भ्रम भी नहीं होना चाहिए कि 'नयी समीक्षा' ने किन्हीं नए सिद्धांतों अथवा विचारों का प्रतिपादन किया है। हाँ, इतना अवश्य है कि इन नए आलोचकों ने सभी परम्परागत ऐतिहासिक आलोचना-पद्धतियों को अस्वीकार किया है तथा कृतिकार को केंद्र से हटाकर कृति या कलाकृति को विवेचन-विश्लेषण के केंद्र में स्थापित किया है। इतना ही नहीं, कृति के शब्द-विधान (टैक्सचर) पर नए ढंग की प्रविधि या तकनीकी दृष्टि से विचार किया है।

दरअसल, बहुत से विद्वानों ने 'न्यू क्रिटिसिज्म' संज्ञा में अर्थगत अनिश्चय, संदर्भगत भटकाव और अतिव्याप्ति की शिकायत मुखर-मौन दोनों रुपों में की है। इन विद्वानों ने 'न्यू क्रिटिसिज्म' संज्ञा के स्थान पर 'सौंदर्यपरक रूपवाद' (एस्थेटिक फारमेलिज्म) या फिर 'विश्लेषणात्मक आलोचना' (एनालिटिकल क्रिटिसिज्म) जैसी संज्ञा को प्रयुक्त करने का सुझाव दिया है। क्लीन्थ ब्रुक्स का कथन है कि रैन्सम ने आधुनिक अथवा समसामयिक आलोचना को यह सरल-सीधा और तटस्थ नाम दे दिया है (दे रॉबर्ट बस्टर स्टालमैन द्वारा संकलित ग्रंथ 'क्रिटीक्स एंड एसेज इन क्रिटिसिज्म' के क्लीन्थ ब्रुक्स

द्वारा लिखित 'फोरवर्ड' के अंश, पृ. 16) इसलिए क्लीन्थ ब्रुक्स ने 'न्यू क्रिटिसिज्म' नाम को अर्थहीन घोषित किया है। नयी समीक्षा पर कवि-आलोचक कॉलरिज का प्रभाव-दबाव मानकर प्रो. आर.एस.क्रेन ने ज्यादातर नए समीक्षकों को 'कॉलरिजिअन' नाम दिया है। यह आवाज़ भी खुलकर उठी है कि 'न्यू क्रिटिसिज्म' एक तरह का रूपवाद (नियो फॉर्मेलिज्म) है। किंतु इस आवाज़ का खण्डन यह कह कर किया गया कि 'नयी समीक्षा' मात्र रूपवाद या सौंदर्यपरक रूपवाद नहीं है। रूपवाद की कुछ भाषावादी धारणाओं से मेल खाने पर भी सर्वथा अलग ढंग की आलोचनात्मक प्रवृत्ति है। 'न्यू क्रिटिसिज्म' संज्ञा की अर्थगत अनिश्चितता पर टी.एस.एलियट का ध्यान गया और उन्होंने अपने निबंध 'आलोचना के सीमांत' ('दि फ्रन्टियर्स ऑफ क्रिटिसिज्म', 1956) में लिखा 'लोग नयी समीक्षा शब्द का प्रयोग अक्सर यह समझे बिना करते हैं कि इस शब्द में कितनी अर्थगत विविधता का समावेश है। परंतु इसका प्रचलन इस तथ्य को प्रामाणित करता है कि इस युग के नामी-गरामी आलोचकों में परस्पर कितनी ही भिन्नता क्यों न हो, वे सभी अपने से पहले की पीढ़ी के आलोचकों से किसी-न-किसी महत्वपूर्ण बात में भिन्नता रखते हैं।' इस तरह की शंकाओं-विवादों के उठने पर भी आलोचना के क्षेत्र में न्यू क्रिटिसिज्म' शब्द ही इस व्यापक आलोचनात्मक आंदोलन के रूप में रूढ़ हो गया।

19.4 नयी समीक्षा : प्रमुख स्रोत

बीसवीं शताब्दी में आंग्ल-अमेरिकी आलोचना ने ऐसा विद्रोही तेवर अपनाया कि इस युग को 'साहित्यिक आलोचना में क्रान्ति का युग' घोषित किया गया है। 'नयी समीक्षा' ने एक ओर तो

1. उस स्वच्छंदतावादी दृष्टिकोण के विरुद्ध बगावत की जो कृतिकार को केंद्र में रखकर 'भावावेग के सहज उच्छलन' को महत्व देता था।

2. दूसरी ओर 'कलावाद और सौंदर्यवाद' जिसमें कला को निरपेक्ष सत्ता प्राप्त थी, उसे स्वीकार नहीं किया।

साहित्य में बाहरी विचारधाराओं के प्रभाव से दो अत्यंत शक्तिशाली दृष्टियाँ सक्रिय थीं - (1) मार्क्स की समाजवादी विचारधारा से पोषित मूल्य दृष्टि (2) मनोविश्लेषणवादी प्रभाव से प्रेरित अवचेतन-सिद्धांती विचार-पद्धति। मार्क्स और फ्रायड से प्रेरित-प्रभावित इन दोनों आलोचनात्मक पद्धतियों का बल कर्ता और भोक्ता पर था। इन दोनों के विरोध में खड़े नए आलोचक कलाकृति के पाठ-विश्लेषण की अनिवार्यता को रेखांकित कर रहे थे। इधर ब्लूमसबरी स्कूल के आलोचक ई.एम.फॉर्स्टर, लिटनस्ट्रैची, रोजर फ्राइ, क्लाइव बैल आदि प्रबल आवेगों से युक्त कृतिकार की अपेक्षा कलाकृति के रूप को महत्वपूर्ण मान रहे थे। इन सभी का कुछ-कुछ विरोध कलावादी-सौंदर्यवादी चिंतकों से था, पर स्वच्छंदतावादियों से इनका सीधा विरोध था। विद्वानों का विचार है कि 'नयी समीक्षा' 1920 के आसपास इंग्लैण्ड में फूटकर 1930 ई. के करीब अमेरिका में तथा इंग्लैण्ड में पनपने लगी। इस समीक्षा के बीज संवेद्य और रुप-तत्वों की अखण्डता विषयक अवधारणा के रूप में अरस्तू में ही मौजूद थे। लेकिन इन बीजों के अंकुरित-पल्लवित होने में फ्रांसीसी बिंबवादियों-प्रतीकवादियों मैथ्यू आर्नल्ड, एजरा पाउण्ड आदि ने अपने ढंग से योगदान किया। इस दिशा में अविस्मरणीय भूमिका अदा करने के लिए एस.टी.कॉलरिज, टी.ई.ह्यूम, जे.ई.स्पिनगार्न, टी.एस. एलियट तथा आई.ए.रिचर्डस का महत्व विशेष रूप से है। कॉलरिज (1772-1834) की 'बायोग्राफिया लिटरेरिया' को 'आधुनिक आलोचना की बाइबिल' कहा ही इसलिए गया है कि उसमें वर्तमान समीक्षा के मूल्यवान संकेत मिलते हैं। ध्यातव्य है कि आई.ए. रिचर्डस तथा एलेन टेट दोनों स्वच्छंदतावाद का विरोध करते हुए भी कॉलरिज की 'बायोग्राफिया' के प्रति आदर भाव से आकृष्ट हैं। वर्तमान समीक्षा पर कॉलरिज के इस प्रभाव को देखकर एस.एन.ग्रैब्सटाइन ने 'पर्सपेक्टिव इन कॉन्टेपोरेरी क्रिटिसिज्म' नामक अपनी समीक्षात्मक कृति में कहा है कि 'नयी समीक्षा' की पद्धति पर तो कॉलरिज की विचारधारा की अमिट छाप है। कॉलरिज ने कल्पना सिद्धांत में माना है कि 'कल्पना' ही वह तत्व है जो दो विरोधी गुणों के बीच सामंजस्य-संतुलन स्थापित करता है। सामान्य-विशेष, नए-पुराने, सम-विषम जैसे विरोधी विपरीतों के बीच सामंजस्य स्थापना का कार्य कल्पना ही करती है। कहना न होगा कि कॉलरिज की इसी विचार से प्रेरणा-संकेत ग्रहण करते हुए अनेक नये समीक्षक अपने-अपने पृथक समीक्षा-प्रतिमान निर्मित करने लगे। कॉलरिज को महत्व देते हुए यहाँ तक माना गया कि रैन्सम के 'अर्थ-विधान' (स्ट्रक्चर), 'शब्द-विधान' (टैक्स्चर), एलेन टेट के 'तनाव' (टैंशन), ब्रुक्स के 'विरोधाभास' (पैराडॉक्स) तथा एम्पसन के 'अनेकार्थकता' (ऐम्बिगुइटी) की सिद्धांत-दृष्टि पर गहरा प्रभाव यदि किसी का है तो वह कॉलरिज ही का है। साथ ही यह भी कहा गया कि 'कल्पना सिद्धांत' में कविता को एक इकाई

(जीवधारी की तरह जीवित आवयविक सत्ता) माना गया है और इस दृष्टि को 'नयी समीक्षा' स्वीकार करती है। नया आलोचक काव्य-भाषा की जिस विचार-संवाद-मुद्रा को ग्रहण किए हुए है वह प्रदेय भी कॉलरिज का ही है।

नयी समीक्षा के एक स्रोत के रूप में जे.ई.स्पिनगार्न (1875-1939 ई.) का महत्व तो है ही, टी.ए.ह्यूम (1883-1917 ई.) को भी भुलाना असंभव है। ह्यूम ने अपने निबंधों में स्वच्छंदतावाद की 'हँसने-हिनहिनाने' और 'रोने-बिलखने' की प्रवृत्ति पर आक्रोश व्यक्त करते हुए कविता में 'भावावेग-विहीन तथा ठोस' बिंबों के निर्माण के लिए जोरदार तर्क दिए। उन्होंने कहा कि समय आ गया है कि हमें रोमानी परम्परा से मुक्त होकर किसी नूतन परम्परा को खोजकर अपना लेना चाहिए। ह्यूम का यही विद्रोही स्वर नयी समीक्षा में निरंतर गूँजता मिलता है। यह कहना अनुचित न होगा कि टी.एस.एलियट के निर्वैयक्तिकता सिद्धांत का आधार ह्यूम के निबंधों में दिखाई दे जाता है जबकि सच्चे अर्थों में नयी समीक्षा का जन्म टी.एस.एलियट (1888-1965) के चिंतन से ही होता है। कुछ विद्वानों ने तो एलियट को ही 'नयी समीक्षा का जनक' स्वीकार किया है। एलियट की समीक्षात्मक कृतियों में नयी समीक्षा की दृष्टि से 'एजरा पाण्ड : हिज मीट्रिक एंड पोयट्री' (1917) 'दि सेक्रेड वुड : एसेज ऑन पोयट्री एंड क्रिटिसिज्म' (1920), 'होमेज टू जान ड्राइडन : थ्री एसेज आन पोयट्री इन द सवेनटीन्थ सेंचुरी' (1924), 'दांते' (1929), 'सेलेक्टेड एसेज' (1917-1932), 'दि म्यूजिक ऑफ पोयट्री' (1942), 'व्हाट इज़ ए क्लासिक' (1945), 'ऑन पोयट्री' (1947), 'मिल्टन' (1947), 'दि थ्री वाइसेस ऑफ पोयट्री' (1953), 'दि फ्रंटियर्स ऑफ क्रिटिसिज्म' (1956) आदि का नाम उल्लेखनीय है। 'नयी समीक्षा' को दिशा एवं दृष्टि देने के विचार से 'ट्रेडिशन एंड इंडिवुजुअल टैलेन्ट' (1919) का नाम विशेष महत्व रखता है। इसी निबंध में निर्वैयक्तिक सिद्धांत की स्थापना में कविता और कवि के अंतर को स्पष्टता से सामने रख दिया गया है। इसी निबंध ने लगभग सभी नए समीक्षकों को किसी न किसी स्तर पर प्रभावित किया। एलेन टेट पर तो इस निबंध का जादू सिर चढ़कर बोला। भले ही दबे कंठ से ही सही एलियट ने कहा कि एक सिद्ध कवि की कविता में भाव पक्ष और कला पक्ष एकाकार हो जाते हैं अर्थात कविता एक अखण्ड इकाई है जिसके काव्य सौंदर्य पर समग्रता में विचार होना चाहिए। इतना ही नहीं ज्यादातर नए समीक्षकों ने काव्य-भाषा, बिंब, प्रतीक, रूपक, लय और संगीत के आधार पर जिन कविताओं का पाठ-विश्लेषण किया है उस विश्लेषण-पद्धति पर एलियट का प्रभाव साफ दिखाई देता है। सच बात तो यह भी है कि एलेन टेट, क्लीन्थ ब्रुक्स, एफ.आर.लीविस, ब्लैकमर, एम्पसन आदि परम्परा के प्रति जिस ढंग से अपना रुझान व्यक्त करते हैं उसपर एलियट की पूरी छाया और छाप है। स्वयं जे.सी.रैन्सम ने 'दि न्यू क्रिटिसिज्म' में कृतज्ञ भाव से कहा है कि एलियट ही 'नयी समीक्षा' के सर्वाधिक प्रेरणादायी स्रोतों में से एक हैं।

'नयी समीक्षा' एक महान प्रेरक स्रोत के रूप में सभी नए आलोचक आई.ए.रिचर्डस (1893-1980) को गहन श्रद्धा के साथ स्मरण करते हैं। रिचर्डस अर्थ-विज्ञान के माध्यम से 'नयी समीक्षा' के क्षेत्र में आए। उन्होंने भाषिक विश्लेषण की जिस पद्धति को जन्म दिया उसे लगभग सभी नए आलोचकों ने आधार-भूमि के रूप में अपनाया। रैन्सम ने घोषित तौर पर कहा कि 'नयी समीक्षा बहुत कुछ उन्हीं से आरंभ हुई' (दि न्यू क्रिटिसिज्म, पृ.3)। वास्तव में, रिचर्डस के काव्य-चिंतन के दो प्रमुख आधार हैं - (1) काव्य की दृढ़ मनोवैज्ञानिक पीठिका; और (2) काव्य का शब्दार्थ प्रधान रूपात्मक विश्लेषण और मूल्यांकन। रिचर्डस को अच्छी तरह समझने के पश्चात ही क्लीन्थ ब्रुक्स ने रिचर्डस के काव्य-चिंतन को तनाव या अंतर्द्वद्व का सिद्धांत कहा है। सच्चाई यही है कि रिचर्डस की काव्य-मूल्य विषयक धारणा का आधार पाठक या आस्वादक के चित्त में उत्पन्न तनाव या अंतर्द्वद्व की समाहिति ही है। जो काव्य अथवा कृति पाठक के चित्त में विरोधी भावों के सामंजस्य में जितनी सफल होती है उतना ही अधिक उसका 'मूल्य' होता है। 'मूल्य' का अर्थ है पाठक के चित्त में विद्यमान विविध प्रकार की विरोधी चित्तवृत्तियों में संतुलन या समीकरण की क्षमता। कलाकृति यह कार्य कथ्य और रूप, दोनों के द्वारा करती है। काव्य का 'मूल्य' है - अंतर्वृत्तियों के संतुलन या सामंजस्य से उत्पन्न (निष्पन्न) परितोष। यही मूलत: काव्य का नैतिक मूल्य है। सफल-सार्थक कृति या काव्य अंतर्वृत्तियों में तनाव उत्पन्न करने के बाद अंत में उनमें सामंजस्य स्थापित करता है। कृति के रूप-विधान, शब्दार्थ-लय-छंद विधान अर्थात पाठ के रूपात्मक विश्लेषण के साथ सम्प्रेषण व्यापार की क्षमता से युक्त रागात्मक भाषा (इमोटिव यूज ऑफ लैंग्वेज), प्रयोग की सामर्थ्य के द्वारा रिचर्डस ने अर्थ-विज्ञान के नए आयामों का उद्घाटन किया। एक प्रकार से काव्य की निर्मिति में लक्षणा-व्यंजना, वक्रता, विरोधाभास, विडम्बना आदि पर ध्यान केंद्रित करते हुए रिचर्डस ने 'दि मीनिंग ऑफ मीनिंग' (1923) पुस्तक में 'नयी समीक्षा' के लिए आधारभूमि तैयार कर दी। इस पुस्तक से सूत्र संकेत ग्रहण करते हुए नए समीक्षकों ने अर्थ के स्वरूप-विवेचन की

अनेक विधियों का नए ढंग से विकास किया। भाषा के विविध रूपों की जो गहन विश्लेषण-पद्धति उनकी पुस्तक 'दि प्रैक्टिकल क्रिटिसिज्म' (1929) में दृष्टिगत होती है वह 'दि मीनिंग ऑफ मीनिंग' से ही आरंभ हो जाती है। यहीं से अलग-अलग कविताओं के गंभीर पाठ-विश्लेषण की परम्परा का सूत्रपात होता है जिसे 'नयी समीक्षा' ने पूरे मनोयोग से ग्रहण किया है। 'प्रिंसिपल्स ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म' (1924) में रिचर्डस ने भाषिक विश्लेषण की पद्धति में भाषा के वैज्ञानिक प्रयोग तथा काव्यात्मक प्रयोग के अंतर को स्पष्ट किया। यह बात अलग है कि उनके इस मत के बारे में बाद में विद्वानों में मतभेद हुआ। सार संक्षेप यह कि रिचर्डस ने अपनी आलोचनात्मक कृतियों से नए आलोचकों को साहित्यिक कृतियों के सूक्ष्म गहन विवेचन-विश्लेषण और मूल्यांकन की प्रेरणा दी है।

19.5 नयी समीक्षा के आरंभ में युग परिवेश की भूमिका

नयी समीक्षा का उद्भव और विकास **दो विश्व-युद्धों की ध्वंसात्मक** चेतना के बीच हुआ। स्वभावतः इस समीक्षा-पद्धति परं अस्तित्ववादी विचारधारा का प्रभाव पड़ा। ज्याँ पाल सार्त्र ने अस्तित्ववाद का मूल सूत्र देते हुए कहा है कि पहले अस्तित्व होता है बाद में तत्त्व या सार (एग्ज़िस्टेन्स प्रिसीड्स एसेन्स)। अस्तित्वादी विचारधारा की भाँति ही नयी समीक्षा यह मानती है कि कविता या नाटक एक कलाकृति है - मात्र भाव या विचार नही। कविता में जितना महत्व 'टेक्स्चर' (शब्द-विधान अथवा रुप-विधान) का है, अर्थ-विधान (स्ट्रक्चर) का उतना नहीं। जान क्रो रैन्सम कविता में शब्द-विधान या रुप-विधान को प्रधानता देते हैं। इस प्रकार की दृष्टि पर अस्तित्ववाद की विचारपरक छाया है। अस्तित्ववाद के अनुसार जीवन का अस्तित्व वर्तमान में ही है। इसी सूत्र को पकड़कर नयी समीक्षा सभी पुरानी ऐतिहासिक समीक्षा पद्धतियों का निषेध करती है। अस्तित्ववाद अपनी पूरी ताकत से दर्शन और विज्ञान का विरोध करता है - और ठीक यही स्थिति नयी समीक्षा में मिलती है। दर्शन से पल्ला झाड़कर ही नयी समीक्षा आधुनिक भाषाशास्त्र और बिंबवाद का सहारा लेती है। काव्य की अर्थ-मीमांसा के पीछे मूर्त-गोचर यथार्थ अनुभव और कृति में अनुभूति की ईमानदारी और प्रामाणिकता का आग्रह है।

बीसवीं शताब्दी के आधुनिकतावादी चिंतन की व्यक्तिवादिता के मूल में औद्योगीकरण और वैज्ञानिक अनुसंधान से प्राप्त 'प्रगति' और 'विकास' का मॉडल ही सक्रिय है। आत्म-निर्वासन, श्रम के परायेपन से उत्पन्न पीड़ा, यंत्रणा, कुंठा, अकेलापन के कारणों में पूँजीवाद-साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद का कसता हुआ पंजा है। आधुनिक विज्ञान, संचार क्रान्ति और उद्योग तीनों ने मिलकर काव्य की सार्थकता पर ही प्रश्न-चिह्न लगा दिया। आधुनिक प्रगति ने मानव को भीतर से छीलकर एक सांस्कृतिक संकट के सामने खड़ा कर दिया, जिसमें एक मूल्य-विहीन समाज का जन्म हुआ। प्रथम विश्व-युद्ध ने एक ऐसी मूल्यांधता की स्थिति को जन्म दिया कि विश्व की सांस्कृतिक शक्तियाँ चकराकर निराशा-अनास्था में गर्क होती दिखलाई पड़ने लगीं। जे.वी.क्रच ने 'दि मॉडर्न टेम्पर' शीर्षक पुस्तक में मॉडर्न टेम्पर के मूल में निषेध और नकारवादी मानसिकता की एक ऐसी तस्वीर पेश की है जिसका साम्य टी.एस.एलियट के 'हॉलोमैन' या खोखला आदमी में मिलता है। आत्मघाती मूल्यांधता के इसी अंधकार को **लायइन ट्रिलिंग** ने **'दि मॉडर्न एलिमेंट इन मॉडर्न लिटरेचर'** में मानसिक विक्षिप्तता, अजनबीपन, बौद्धिक-नैतिक-आध्यात्मिक-सांस्कृतिक पतन से जोड़कर 'जीवन के आधुनिक अभिशापों' का बखिया उधेड़कर सामने रख दिया है। **'अमानवीकरण'** (डि-ह्यूमेनाइज़ेशन) और **'आत्म-निर्वासन'** (सेल्फ-एलीनिएशन) की इस प्रक्रिया के मूल में विश्व पर आघात करते सांस्कृतिक साम्राज्यवाद की चोट के रिसते घाव हैं। **टी.एस.एलियट** इन्हीं घावों की पीड़ाओं से बेचैन होकर **'वेस्टलैण्ड'** जैसी लम्बी कविता में मानवीय संवेदना के बंजरपन की कहानी कहते हैं। एलियट से पहले स्वयं मैथ्यू आर्नल्ड **'कल्चर एण्ड एनार्की'** में नाशोन्मुख यूरोपीय समाज के दुःस्वप्न देखते हैं। दुःस्वप्न क्यों देखते हैं? उन्हें पता है कि डार्विन, मिल, स्पेंसर के युग ने धर्म का विनाश कर दिया है। ऐसी स्थिति में धर्म का स्थान कविता ही ले सकती है। नयी समीक्षा के जनक एलियट और नयी समीक्षा के प्रवर्तक जान क्रो रैन्सम का झुकाव यों ही मैथ्यू आर्नल्ड की ओर नहीं है - उसके गहरे ऐतिहासिक-सांस्कृतिक कारण हैं। इन्हीं कारणों को तार्किक ढंग से **एफ.आर.लीविस** अपनी पुस्तक **'मास सिविलाइजेशन एंड माइनॉरिटी कल्चर'** में प्रस्तुत कर देते हैं कि कैसे यूरोपीय संस्कृति का पतन और यांत्रिक मानव के विवेक का क्षरण हुआ है। इस अंधे युग में यदि थोड़ी से रोशनी की किसी से या कहीं से उम्मीद की जा सकती है तो थोड़े से विवेक वयस्क चिंतकों-बौद्धिकों-रचनाकारों से ही। नए समीक्षकों को इस बात का श्रेय देना पड़ेगा कि अपनी बहुत सी कमज़ोरियों के बावजूद इन सभी ने इस अंधेरे में अपनी बौद्धिक मशाल जलाकर एक महत्वपूर्ण दायित्व के निर्वाह का प्रयत्न किया।

नए समीक्षकों ने अपने दायित्व को समझकर ही रोमानी प्रवृत्तियों के विरोध का बीड़ा उठाया और विक्टोरियन युग के साहित्य की नैतिक मर्यादावादी दृष्टि के ऊपर से पड़ी भ्रम की चादर उठा दी। मार्क्सवादी-यथार्थवादी चिंतकों के प्रचारवाद के झूठ को समझते हुए इस विचारधारा का विरोध किया और फ्रायड के अवचेतन सिद्धांतों के मनोरोगी मानव की उपेक्षा कर नये समीक्षक आगे बढ़े। नये समीक्षकों ने परम्परा का पुनर्मूल्यांकन किया और साहित्य पर पुनर्विचार के लिए कदम उठाया। रूसो के चिंतन पर प्रश्न-चिह्न लगाते हुए बैबिट और ह्यूम ने उन्नीसवीं शताब्दी के जीर्ण-शीर्ण सोच से मुक्ति पाने की जोरदार पहल की। नये-समीक्षको ने यह प्रयास किया कि सांस्कृतिक परम्परा को नए ढंग से पुनः परिभाषित और जीवित किया जा सकता है। आगे चलकर हम देखेंगे कि नयी समीक्षा की प्रमुख प्रवृत्तियाँ इसी सत्य से साक्षात्कार कराती हैं। यह बात भी ठीक-ठीक संदर्भो में समझनी जरूरी है कि नयी समीक्षा की महत्व प्रतिष्ठा के मूल में रोमानी काव्य मूल्यों का विरोध भर नहीं है। बीसवीं शताब्दी में ज्ञान-विज्ञान का नए ढंग से विस्फोट और ज्ञान के अनेक अनुशासनों के उदय के इस पूरे परिवेश ने कलाकृति की प्रकृति पर गहरा प्रभाव डाला। नए ज्ञान-विज्ञान की अनेक नयी शाखाओं से नये समीक्षकों को नयी अंतर्दृष्टि मिली। फलतः समीक्षा में विद्वता का नया अर्थ-संदर्भ भी जुड़ गया।

19.6 प्रमुख समीक्षक

बीसवीं शताब्दी के चौथे-पाँचवे दशकों में एलियट से परम्परा की दृष्टि और रिचर्डस से कृति के पाठ-विश्लेषण की गंभीर अध्यापन दृष्टि लेकर इंग्लैण्ड और अमेरिका में जो महत्वपूर्ण नए समीक्षक उभरे हैं उनमें जान क्रो रैन्समन, एफ.आर.लीविस, केनेथवर्क, एलेन टेट, ईवोर विन्टर्स आर.पी.ब्लैकमर, रॉबर्टपेन वारेन, क्लीन्थ ब्रुक्स तथा विलियम एम्पसन के नाम उल्लेखनीय हैं। यहाँ इन नए आलोचकों की संक्षिप्त चर्चा करना अपेक्षित है।

जान क्रो रैन्सम (1888-1974) नयी समीक्षा के सर्वाधिक महत्वपूर्ण व्यवित्त्व का नाम है - अमरीकावासी जान क्रो रैन्सम। नयी समीक्षा का नामकरण इनकी पुस्तक 'न्यू क्रिटिसिजम' (1941) के शीर्षक की स्वीकृति से हुआ। 1922 में इन्होंने नयी समीक्षा की प्रवृत्तियों को उजागर करने वाली पत्रिका 'दि फ्यूजिटिव' का सम्पादन एलेन टेट के साथ किया। नयी समीक्षा के क्षेत्र में अविस्मरणीय पत्रिका 'केन्यन रिव्यू' (1939 ई.) का सम्पादन भी रैन्सम ने लम्बे समय तक किया। आलोचना जगत में रैन्सम की तीन कृतियाँ बहुचर्चित हैं - 'दि वल्ड्र्स बॉडी' (1938), 'दि न्यू क्रिटिसिज्म' (1941), तथा 'दि केन्यन क्रिटिक्स' (1951)। उन्होंने देखा था कि ज्यादातर कवि अपनी रचना की स्वयं समीक्षा लिख देते हैं और इससे कृति के साथ न्याय नहीं हो पाता। जबकि यह बात दूसरी है कि अन्य कवियों की कविताओं की सबसे अच्छी समीक्षाएँ कवियों ने ही की हैं। रैन्सम विश्वविद्यालयों के प्रोफेसर-समीक्षकों से ही साहित्य-समीक्षा की विवेकवान प्रतिभा की उम्मीद करते हैं - कोरे पत्रकारों और दार्शनिकों से नहीं।

रैन्सम का आधारभूत सिद्धांत है - सब्द-विधान या रूपात्मकविश्लेषण (टैक्स्चर)। वे शब्द-विधान और अर्थ-विधान (स्ट्रक्चर) के सहभाव संबंध से ही कविता का जन्म मानते हैं किंतु 'अर्थ-विधान' को सहायक और शब्द-विधान को प्रधान मानकर ही कविता के विश्लेषण में प्रवृत्त होते हैं।

एफ.आर. लीविस (1895-1978) : फ्रैंक रैमंड लीविस का जन्म इंग्लैण्ड में हुआ। सांस्कृतिक दृष्टि और विद्रोही स्वभाव के कारण बहुत से विद्वान इन्हें 'नयी समीक्षा' आंदोलन में रखने पर आपत्ति करते हैं। किंतु कृति के गहन विश्लेषण में आस्था के साथ प्रवृत्त होने के कारण इन्हें अनमने भाव से इस प्रवृत्ति में जगह दे दी जाती है। 1932 में लीविस ने एल.सी.नाइट्स के सहयोग से आलोचनात्मक पत्रिका 'स्क्रूटिनी' का प्रकाशन-सम्पादन किया। विशेष बात यह है कि नये समीक्षकों के बीच लीविस की आलोचनात्मक कृतियाँ बहुत सम्मानित रही हैं। इनमें से कुछ नाम इस प्रकार हैं - 'मास सेविलिज़ेशन एंड माइनॉरिटी कल्चर' (1930), 'न्यू बिअरिंग्स इन इंग्लिश पोयट्री : ए स्टडी ऑफ ए कॉन्टेम्पोरेरी सिचुएशन' (1932), 'फॉर कॉन्टीनुइटी' (1933), 'रिवैल्युएशन : ट्रेडिशन एंड डवलपमेंट इन इंग्लिश पोयट्री' (1936), 'एजूकेशन एंड द यूनिवर्सिटी : एन स्केच फार एन इंग्लिश स्कूल" (1943), 'दि ग्रेट ट्रेडिशन' (1948), 'दि कॉमन परसूट' (1952), 'इंग्लिश लिटरेचर इन अवर टाइम्स एंड द यूनिवर्सिटी' (1969), तथा 'थॉटस, वर्ड्स एण्ड क्रिएटिविटी : आर्ट एण्ड थॉट इन लॉरेंस' (1976) आदि। ध्यातव्य यह है कि उनकी पाठालोचन पद्धति पर एलियट और रिचर्डस का गहरा प्रभाव है। 'रिवैल्युएशन' में लीविस ने एलियट की भाँति उस सांस्कृतिक परम्परा को स्थापित किया जिसका आरम्भ सत्रहवीं शताब्दी में होता है। लीविस ने साफ कहा कि 'कवि जीवित ही परम्परा में रहते हैं और उनमें जीवित रहती है।'

केनेथ बर्क (1897) : केनेथ बर्क 'नयी समीक्षा' में अपनी विशिष्ट आलोचनात्मक कृतियों के लिए प्रसिद्ध रहे हैं। उनकी प्रमुख कृतियों में 'काउंटर स्टेटमेंट' (1931), 'पर्मानेंस एंड चेंज : एन एनाटॉमी ऑफ परपज़' (1935), 'दि फिलासफी ऑफ लिटरेरी फॉर्म : स्टडीज़ इन सिम्बालिक ऐक्शन' (1941), 'ए ग्रामर ऑफ मोटिव्स' (1945), 'लैंग्वेज ऐज सिम्बॉलिक ऐक्शन : एसेज आन लाइफ, लिटरेचर एंड मेथड' (1966) आदि। 'नयी समीक्षा' में इन पुस्तकों के अतिरिक्त उनकी एक अन्य पुस्तक 'एटीट्यूड्स टुवर्ड्स हिस्ट्री' बहुत चर्चित रही हैं। 'काउंटर स्टेटमेंट' के निबंधों में बर्क ने जिस आलोचना दृष्टि की स्थापना की है आगे चलकर काव्य-विश्लेषण की पद्धति में उसका विकास हुआ। इसी कृति में बर्क ने रूप-तत्व पर गहन चिंतन प्रस्तुत किया तथा अपने प्रसिद्ध सिद्धांत 'प्रतीक व्यापार' (सिम्बॉलिक ऐक्शन) की नींव डाली है। उनके मत से प्रतीक 'अनुभूति व्यापार का शाब्दिक प्रतिरुप' है। उनकी पूरी आलोचना दृष्टि का आधार यह है कि कविता एक प्रतीक व्यापार है तथा कविता पर इसी रूप में कविता पर विचार होना चाहिए। बर्क की रुचि सिर्फ कविता में है, वे कवि के विषय में कुछ भी जानना नहीं चाहते। कविता के पदान्वय 'पैराफ्रेज' के माध्यम से काव्यार्थ संभव है। बर्क के साथ कठिनाई यह है कि वे मार्क्सवाद, फ्रायडवाद, भाषाशास्त्र का समाहार कर कविता के विवेचन को उलझा देते हैं।

एलेन टेट (1899-1979) : रैन्सम के प्रतिभाशाली शिष्य एलेन टेट कवि-आलोचक के रूप में प्रसिद्ध रहे हैं। अपने समय की ज्यादातर महत्वपूर्ण पत्रिकाओं के सम्पादन से वे जुड़े रहे हैं। जैसे, 'फ्यूजिटिव' (1922-25), 'हाउंड एंड हार्न' (1931-34), 'केन्यन रिव्यू' (1939-42), तथा 'सिवानी रिव्यू' (1944-46)। उनके महत्वपूर्ण ग्रंथ हैं - ''रिएक्शनरी एसेज ऑन पोयट्री एंड आइडियाज़' (1936), 'रीजन इन मैडनैस : क्रिटिकल एसेज : (1941), 'इनविटेशन टु लर्निंग' (1941), 'ऑन दि लिमिट्स आफ पोयट्री सेलेक्टेड एसेज' (1928-48), 'दि ट्रान्सलेशन ऑफ पोयट्री' (1972) आदि। एलेन टेट ने श्रेष्ठ काव्य का प्रतिमान 'तनाव' (टेंशन) माना है - एक्सटेंशन (बाहरी तनाव) तथा 'इंटेंशन' (भीतरी तनाव)। बाहरी तनाव का अर्थ है - कविता की गति और तर्कसंगति तथा भीतरी तनाव का अर्थ है - कविता में निहित भाव-विचार और उसका उक्तिमूलक विकास। टेट पर टी.एस. एलियट का प्रभाव है - वे विचार और बिंब के सामंजस्य को मानते हैं और मिल्टन के 'पैराडाइज लास्ट' की इस दृष्टि से सराहना करते हैं। परम्परा, निर्वैयक्तिकता को एलियटीय संदर्भ में ग्रहण करते हैं और कृति को एक अखण्ड इकाई मानकर उसके मूल्यांकन के पक्षधर हैं।

ईवोर विन्टर्स (1900-1968) : अमेरिका के इस प्रतिष्ठित आलोचक ने कविता के सूक्ष्म पाठ विश्लेषण पर बल देने के साथ ही नैतिकतावादी दृष्टिकोण अपनाया। इसीलिए रैन्सम इनकी नैतिकतावादी दृष्टि का विरोध करते हैं, पर कविता के पाठ-विश्लेषण के लिए इनकी सराहना भी करते हैं। मूलतः इनकी समीक्षा-पद्धति कविता के संगठनात्मक गुणों के सौंदर्य से साक्षात्कार कराती है। इनके कार्य के इस महत्व के कारण ही इन्हें 'नयी समीक्षा का पैगम्बर' तक कहा गया है। इन्होंने अमेरिकन प्रयोगात्मक कविता का अध्ययन किया। इनकी प्रथम आलोचनात्मक कृति 'प्रिमिटविज्म एंड डिकेडेंस' (1937) नाम से प्रकाशित हुई तथा 1943 में 'दि एनाटॉमी ऑफ नॉनसेन्स' लिखकर इन्होंने रोमानी आलोचना को मटियामेट कर दिया। इनकी पुस्तक 'इन डिफेंस आफ रीजन' (1947) का प्रकाशन बहुचर्चित हुआ। 'दि फंक्शन आफ क्रिटिसिज्म : प्राब्लम्स एंड एक्सरसाइज़ेज' (1957), 'ऑन मॉडर्न पोयट्स' (1959), 'फॉर्म्स आफ डिस्कवरी : क्रिटिकल एंड हिस्टॉरिकल एसेज आन द फॉर्म्स आफ द शॉर्ट पोयम इन इंगलिश' (1967) आदि कृतियों में काव्य और नैतिकता पर अनेक पक्षों से विचार किया। 'दि एक्सपेरिमेंटल स्कूल इन अमेरिकन पोयट्री' में इन्होंने कहा कि रूपात्मक पद्धतियाँ सात प्रकार की मानी जा सकती हैं - (1) पुनरावृत्ति की पद्धति (द मेथड आफ रिपीटीशन) (2) तार्किक पद्धति (लॉजिकल मेथड) (3) विवरणात्मक (नैरेटिव) (4) छद्म निर्देश (स्यूडो रिफरेन्स) (5) गुणात्मक प्रगति (क्वालिटेटिव प्रोग्रेशन) (6) पद्धति परिवर्तन (द आल्टरेशन आफ मेथड); और (7) दुहरी चित्तवृत्ति (द डबल मूड)। भाषा में ज्ञान (पर्सेप्ट) और धारणा (कॉन्सेप्ट) के बीच निष्पत्तिमूलक धारणा के लिए इन्हें ख्याति मिली। ये विश्वविद्यालयों में प्रचलित रोमानी आलोचना के घोर विरोधी हैं।

रिचर्ड पामर ब्लैकमर (1904-1965) : नयी समीक्षा पद्धति के विशिष्ट सिद्धांतों का प्रयोग करने वाले नये समीक्षकों में ब्लैकमर प्रसिद्ध रहे हैं। कलाकृति में, विचार, कल्पना, बिंब के संबंधों पर इन्होंने अपनी समीक्षात्मक कृतियों में विचार किया है। इस कवि-समीक्षक की प्रमुख कृतियाँ हैं - 'दि एक्सपेंस ऑफ ग्रेटनेस' (1940), 'लैंग्वेज ऐज जेस्चर : एसेज इन पोयट्री' (1952), 'द डबल एजेंट : एसेज इन क्राफ्ट एंड एजुसिडेशन' (1935) आदि। इन्होंने 'डबल एजेंट' में कविता के पाठ-विश्लेषण (रचना विधान और संगति) पर गम्भीरता से विचार किया है। 'लैंग्वेज ऐज जेस्चर' में भाषा पर सूक्ष्म गहन

अध्ययन प्रस्तुत किया है। उनके इसी भाषिक विश्लेषण से उनके 'भंगिमा सिद्धांत' का जन्म हुआ है। उनके अनुसार कविता को एक अखण्ड, तर्कसंगत रचना-विधान से मुक्त एक ऐसी इकाई होना चाहिए कि उसके सभी घटक मिलकर एक जान पड़ें। विशेष बात यह है कि इन्होंने कलाकृति को साहित्यिक मानदंडों के साथ साहित्येतर मानदंडों से भी परखने पर ज़ोर दिया है।

राबर्ट पेन वारेन (1905) : क्लीन्थ ब्रुक्स के सहयोगी इस अमरीकी समीक्षक ने 'नयी समीक्षा' की पद्धति को नया मोड़ दिया। ये ब्रुक्स के साथ 'सदर्न रिव्यू' (1935-42) पत्रिका में रहे तथा 'केन्यन रिव्यू' के परामर्शदाता सम्पादक रहे। ब्रुक्स के साथ तीन आलोचना पुस्तकों का लेखन किया - (1) 'अंडरस्टैंडिंग पोयट्री' (1938) (2) 'एन एप्रोच टु लिटरेचर' (1941); तथा (3) 'अंडरस्टैंडिंग फिक्शन' (1943) इनके आलोचनात्मक लेखों का संग्रह ''सेलेक्टेड एसेज'' (1958) नाम से आया। इसी में 'प्योर एंड इम्प्योर पोयट्री' शीर्षक प्रसिद्ध निबंध को स्थान मिला। इनकी दो प्रसिद्ध आलोचना-पुस्तकें और हैं - (1) 'ए प्ली इन मिटिगेशन : मॉडर्न पोयट्री एंड द एंड ऑफ़ एन एरा' (1966); तथा (2) 'डेमोक्रेसी एंड पोयट्री' (1975)। इनकी शुद्ध काव्य विषयक धारणा पर मलार्मे, रेम्बू, बादलेयर का प्रभाव है - पर कहने का ढंग नया है कि कविता को शुद्ध होना चाहिए। कविता में ऐसी कोई मानव-अनुभूति नहीं है जो वर्जित हो।

क्लीन्थ ब्रुक्स (1906) : बहुत समय तक ब्रुक्स 'नये समीक्षक' कहलाने से बचते रहे। किंतु विचित्र संयोग यह घटित हुआ कि इनके भीतर की 'नयी समीक्षा' का आलोचनात्मक मुहावरा पूरी शक्ति से फूट-फट पड़ा। रेने वेलेक ने 'कांसेप्ट्स आफ क्रिटिसिज्म' शीर्षक पुस्तक में पूरी बहस उठाने के बाद कहा है अमरीका के आलोचकों में ब्रुक्स ही सच्चे अर्थों में रूपवादी समीक्षक हैं। नयी समीक्षा की महत्व-महिमा स्थापित करने में ब्रुक्स का साथ राबर्ट पेन वारेन ने दिया तथा तीन पुस्तकें साथ-साथ लिखीं हैं। इन तीनों में 'अंडरस्टैंडिंग पोयट्री' (1938) नयी समीक्षा का व्यावहारिक रूप प्रस्तुत करती है - इसे नयी समीक्षा के क्षेत्र में 'कविता का अध्ययन' करने वाली 'सर्वश्रेष्ठ नियम व्यवहार पुस्तक' (बेस्ट मैनुअल) माना जाता है। ब्रुक्स ने 'दि वेल रॉट अर्न' नामक अपनी पुस्तक में कविता के अध्ययन में 'पदान्वय' का तीव्र विरोध किया। 'मॉडर्न पोयट्री एंड ट्रेडिशन' (1939) पुस्तक में उन्होंने रूपक और विदग्धता पर विचार करने के बाद 'मेटाफिजिकल' और 'सिम्बालिस्ट' कवियों पर विचार किया पर बार-बार इस बात पर ज़ोर दिया कि संवेद्य-तत्व और रूप-तत्व का विभाजन कविता में स्वीकार नहीं किया जाना चाहिए क्योंकि कविता एक अखण्ड इकाई है। 'दि शेपिंग ज्वॉइ' (1971) के लेखों में फिर कृतिकार की अपेक्षा कृति पर ध्यान दिलाया और विमसाट की दोनों अवधारणाओं - अभिप्रायपरक हेत्वाभास (इंटेंशनल फैलेसी - कवि की ओर से) तथा प्रभावपरक हेत्वाभास (एफेक्टिव फैलेसी - पाठक की ओर से) पर ध्यान दिलाकर दोनों को समीक्षा के क्षेत्र में भ्रामक सिद्ध किया। 'पोयट्री इन दि एज आफ एंगज़ाइटी' (1947), 'लिटरेरी क्रिटिसिज्म : ए शॉर्ट हिस्ट्री' (डब्ल्यू.के.विमसाट के साथ - 1957), 'दि हिडिन गॉड : स्टडीज इन हेमिंग्वे, फाकनर, यीट्स, एलियट एण्ड वारेन' (1963) और 'दि पोयट्री आफ टेंशन' (1971) आदि रचनाओं में प्रस्तुत उनके मत से कविता में अर्थों-अभिप्रायों-मूल्यांकनों की संरचना का बड़ा महत्व है।

कविता में अन्विति और सामंजस्य का महत्व बताते हुए उन्होंने कहा है कि कविता की संरचना में अनेकार्थता, विरोधाभास, जटिलता, और वक्रता का समावेश हो तो क्या कहना। कहना न होगा कि ब्रुक्स ने रूप-विधान के लिए ही 'संरचना' शब्द का प्रयोग किया है और कहा है कि समग्र सौंदर्य हरे-भरे पौधे की तरह होता है, कृत्रिम गुलदस्ते की तरह नहीं। उनकी इस धारणा ने बहुत आदर पाया है। ब्रुक्स का 'विरोधाभास का सिद्धांत' भारतीय काव्य-सिद्धांत - वक्रोक्ति से बहुत समानता रखता है। ब्रुक्स ने कविता को समझने के लिए साहित्यिक आलोचना में साहित्यिक वैदुष्य के योग को बहुत महत्व दिया है क्योंकि यह दोनों मिलकर ही काव्यार्थ की जटिलता खोल पाते हैं।

विलियम एंपसन (1906) : आई.ए.रिचर्डस के मेधावी शिष्य एम्पसन ने कविता के शाब्दिक विश्लेषण को एक नयी व्यवस्था प्रदान की है। वे काव्य में 'एम्बीगुइटी' (अनेकार्थता) के चतुर विश्लेषक हैं। रिचर्डस तथा जे.ब्रॉनॉस्की के साथ मिलकर एम्पसन ने ''एक्सपेरिमेंट' (1928-29) का सम्पादन किया। उनकी महत्वपूर्ण आलोचनात्मक पुस्तक हैं - 'सेवेन टाइप्स आफ ऐंबिगुइटी : ए स्टडी ऑफ इट्स एफेक्ट्स आन इंग्लिश वर्स' (1930), 'सम वर्सेज़ ऑफ पैस्टोरल' (1935), 'दि स्ट्रक्चर ऑफ काम्प्लेक्स वर्ड्स' (1951) तथा 'मिल्टन्स गॉड' (1962)। इनमें लोकप्रियता की दृष्टि से 'सेवेन टाइप्स आफ ऐंबिगुइटी' का नाम अविस्मरणीय है। उनके 'अनेकार्थकता के सिद्धांत' को यही पुस्तक शाब्दिक विश्लेषण की कला से सामने लाती है। अनेकार्थता के वे सात भेद करते हैं - यह पूरा आग्रह कविता के शाब्दिक विश्लेषण पर टिका हुआ है।

19.7 नए समीक्षको के आलोचनात्मक अध्ययन से प्राप्त सार

नए आलोचकों के इस विवरण से स्पष्ट है कि 'नयी समीक्षा' के इन आलोचकों में अनेक भिन्नताओं के बावजूद कुछ समानताएँ हैं - (1) ये सभी समीक्षक ऐतिहासिक आलोचना पद्धतियों को अस्वीकार करते हैं (2) कलाकृति की अखण्डता पर सभी का आग्रह है (3) प्रभाववादी तथा रोमानी आलोचना पर सभी प्रहार करते हैं (4) सभी कविता की अपने ढंग सें समीक्षा करते हैं - पर ये किसी वाद, गुट, सम्प्रदाय या विचारधारा-विशेष का समर्थन नहीं करते (5) इन सभी पर अस्तित्ववादी चिंतन का गहरा प्रभाव है (6) परम्परा के प्रति इन सभी में एलियटीय ढंग का आदर-भाव भी कम नहीं है।

वास्तव में इन सभी में कविता के प्रतिमान भीं एक से नहीं हैं। एक समीक्षक 'तनाव सिद्धांत' पर बल देता है, दूसरा 'विरोधाभास के सिद्धांत' पर, तीसरा 'शब्द-विधान' पर चौथा 'अनेकार्थता' पर। निष्कर्ष यह है कि नयी समीक्षा का यह आलोचनात्मक आंदोलन मात्र रोमानी मूल्यों के विरोध तक सीमित नहीं है। इसमें अपने देश और काल की चिंताओं-चुनौतियों की भी गहरी अनुगूँज है।

19.8 विशेष पारिभाषिक शब्दों पर विचार

नयी समीक्षा के अंतःस्वरूप को समझने के लिए उसके कुछ मूलभूत पारिभाषिक शब्दों का ज्ञान अनिवार्य है। इन नए आंग्ल-अमरीकी समीक्षकों ने काव्य-कृति के विवेचन-विश्लेषण के लिए नयी शब्दावली और नयी शब्दावली में नए सिद्धांतों की उद्भावना की। इन सभी का पूरा बल भाषा-विश्लेषण के द्वारा कृति के केंद्र के आलोकन पर है किंतु इस आलोकन के लिए इन सभी ने अलग-अलग मार्ग अपनाए हैं। किसी एक ही सिद्धांत से न बँधने के कारण इनका चिंतन नयी आलोचनात्मक शब्दावली से व्यक्त हुआ है। आइए इस शब्दवली को देखें।

1. **शब्द-विधान :** रैन्सम के अनुसार शब्द-विधान (टैक्स्चर) और अर्थ-विधान (स्ट्रक्चर) की अन्विति का नाम कविता है। शब्द-विधान विशेषकर काव्य के शब्द-विधान - में असम्बद्ध स्थानिकता रहती है। अर्थात स्थान या क्षेत्र-विशेष में प्रचलित शब्द अन्य स्थान या क्षेत्र में अर्थ संदर्भ बदल देने के कारण कठिनाई उत्पन्न करता है और काव्यशास्त्र का कोई एक रूप निर्मित नहीं हो पाता है। रैन्सम ने विषय-वस्तु की दृष्टि से काव्य को वस्तु काव्य और विचार काव्य में विभाजित करने के बाद माना है कि वस्तु काव्य का उद्भव विचार के रूप में होता है - यह विचार ही बिंब रूप में उभरता है और सृजन-प्रक्रिया के दौरान विचार बिंब में बदल जाता है। इसी 'बिंब विधान' को रैन्सम 'शब्द-विधान' और बिंब के कारणभूत विचार को 'अर्थ-विधान' कहते हैं। रैन्सम का 'अर्थ-विधान' से अभिप्राय कथ्य से है और 'शब्द-विधान' से कविता को कलात्मक सौंदर्य प्रदान करने वाले सभी तत्त्वों से। इस दृष्टि से कह सकते हैं कि रैन्सम ने 'शब्द-विधान' को ही 'काव्य-सौंदर्य' का पर्याय माना है। ध्यान में रखने की बात है कि रैन्सम ने 'स्ट्रक्चर' और 'टैक्स्चर' इन दोनों शब्दों को वास्तुकला से ग्रहण अवश्य किया है पर इन्हें नया अर्थ दे दिया। यह अलग बात है कि पूर्व और पश्चिम के सभी बड़े आचार्य चाहे - भामह, कुन्तक मम्मट हों या अरस्तू से एलियट तक — सभी 'शब्दार्थ' सम्पृक्ति को काव्य मानते रहे हैं। भामह ने शब्द और अर्थ के सहभाव को काव्य माना है तथा पण्डितराज जगन्नाथ ने रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द को काव्य कहा है। स्वयं हिंदी में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा 'मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है उसे कविता कहते हैं।' अतः रैन्सम की इस स्थापना से किसी को विरोध नहीं है कि कविता शब्द और अर्थ की अन्विति का नाम है। समर्थ कवि द्वारा प्रयुक्त विशेष शब्द ही रैन्सम की दृष्टि में काव्य के सौंदर्य का जनक है।

2. **प्रतीकात्मक व्यापार :** भाषा के प्रतीक व्यापार को केनेथ बर्क ने इतना महत्व दिया है कि उनके द्वारा प्रयुक्त प्रतीकात्मक व्यापार ने एक विशेष अर्थ संदर्भ प्राप्त कर लिया है। उनके विचार से कविता शाब्दिक क्रिया है और शाब्दिक क्रिया प्रतीकात्मक व्यापार रूप(सिम्बॉलिक ऐक्शन) है। कवि किसी शब्द का कोशगत अर्थ में प्रयोग नहीं करता - वह शब्द का संदर्भगत प्रयोग करके नया अर्थ पैदा कर देता है। अपने कार्य से प्रतीक अर्थगत जटिलता को सरलता और व्यवस्था प्रदान करता है। प्रतीक अनेक रूपों में भाषा के भीतर सक्रिय रहता है - कभी सुप्त-अनुभूति के प्रेरक रूप में तो कभी परिस्थिति की व्याख्या रूप में । अत: प्रतीक एक ऐसा बिंब है जो संदर्भ के साथ जुड़कर काव्य-भाषा में नया अर्थ उत्पन्न कर देता है।

3. **तनाव :** एलेन टेट ने 'टेंशन इन पोयट्री' नामक अपने प्रसिद्ध निबंध में कहा है कि 'अनेक कविताओं में - जिन्हें हम सामान्य रूप में सत्काव्य समझते हैं और उसके अतिरिक्त कुछ ऐसी कविताओं में भी जिनकी हम उपेक्षा करते हैं - कुछ ऐसे सामान्य तत्त्व पाए जाते हैं जो हमें कविता को

बारीकी से समझने के लिए उस अकेले गुण के नाम-संधान के लिए प्रेरित करते हैं जिसे मैं तनाव कहूँगा।' तात्पर्य यह है कि तनाव एकमात्र ऐसा गुण है जिसमें काव्य सौंदर्य की गहराई को समझा जा सकता है। कारण, एक अच्छी कविता उन समस्त गुणों की अन्विति है जो अपने भीतरी तनाव और बाहरी तनाव दोनों से नया सौंदर्य पैदा करती है। टेट ने 'तनाव' शब्द तर्कशास्त्र से लिया है और काव्य-सृजन में उसका प्रयोग 'विशिष्ट रूपक के अर्थ' में किया है। तनाव के दो रूप हैं - बाहरी तनाव (एक्सटेंशन) तथा भीतरी तनाव (इंटेंशन)। बाहरी तनाव कविता की वह विचारमूलक गति है जो आरंभ से अंत तक देखने को मिलती है तथा **भीतरी तनाव का अर्थ है - कवि में भीतरी भाव-विचार-क्रिया की** अनवरत विकास स्थिति। **सीधे-सीधे कहें तो बाहरी तनाव कविता का वाच्यार्थ है और भीतरी तनाव उसका लक्ष्यार्थ।** एक सीमा में **बाहरी तनाव कविता का 'विचार' है और भीतरी तनाव कविता में सृजित बिंब।** नयी समीक्षा की शब्दावली में कहें तो **भीतरी तनाव - शब्द-विधान (टैक्स्चर) है और बाहरी तनाव अर्थ-विधान (स्ट्रक्चर)।**

टेट का विचार है कि काव्य भाव नहीं है - भाषा है - पाठक तो उसे भाषा से ही जानता है। काव्य-भाषा का मूल गुण है तनाव अर्थात् भीतरी शब्द-विधान और बाहरी अर्थ-विधान का संतुलन। काव्य-भाषा में यह तनाव या संतुलन जितना पूर्ण होगा काव्य उतना ही उत्कर्ष प्राप्त करेगा। विद्वानों ने टेट के 'तनाव सिद्धांत' का मूल कॉलरिज के कल्पना-सिद्धांत को माना है क्योंकि कल्पना ही ऐसा तत्त्व है जो विरोधी गुणों में सामंजस्य स्थापित करती है।

4. भंगिमा : आर.पी.ब्लैकमर की यह धारणा रही है कि कविता के रचना तंत्र में 'भंगिमा' की भूमिका प्रमुख होती है। उनका प्रसिद्ध निबंध 'लैंग्वेज ऐज ज़ेस्चर' इसी 'भंगिमा' के महत्व को स्थापित करता है। उनके अनुसार भाषा शब्द रूप है - भंगिमा रूप। 'शब्दों की भाषा से भंगिमा ऐसे जुड़ी है जैसे वृक्ष से जड़। यदि भाषा रूपी वृक्ष की जड़ों को काटते हैं तो आपको मरियल अशक्त मूलविहीन भाषा मिलेगी। भाषा का सर्जन में श्रेष्ठ प्रयोग भंगिमा पर ही निर्भर करता है। फिर यह भी सच है कि अर्थों के प्रकाशन में भंगिमा की महिमा अनंत है। ब्लैकमर ने स्थापत्य मूर्ति-चित्र-नृत्य-अभिनय-संगीत सभी ललित कलाओं में भंगिमा के महत्व की ओर ध्यान दिलाया। काव्य में भंगिमा (1) पुनरावृत्ति के रूप में - जैसे 'किंगलियर' नाटक में - नेवर, नेवर, नेवर, नेवर, नेवर (कभी नहीं, कभी नहीं, कभी नहीं; कभी नहीं, कभी नहीं) (2) प्रतीक रूप में जैसे धूमिल की कविता 'मोचीराम' का कथन 'मेरे लिए हर आदमी एक जोड़ी जूता है जो मरम्मत के लिए खड़ा है।' (3) श्लेष रूप में - ध्वनि तत्वों और अर्थ तत्वों के संश्लेष का काम भंगिमा करती है (4) कथा-वस्तु, छंद और टेक के रूप में भंगिमा अर्थ को गति प्रदान करती है। **ब्लैकमर ने भंगिमा को साहित्य के सभी उपकरणों की वाहक भाषा में अर्थ और गति माना है।**

5. विरोधाभास : क्लीन्थ ब्रुक्स का अनेक कविताओं के पाठ-विश्लेषण से यह विश्वास दृढ़ होता गया है कि कविता की भाषा विरोधाभास की भाषा है। अपने प्रसिद्ध निबंध 'दि लैंग्वेज ऑफ पैराडॉक्स' में उन्होंने कहा है कि कविता के लिए सबसे उपयुक्त भाषा विरोधाभास की भाषा है। विज्ञान के सत्य के लिए ऐसी भाषा आवश्यक है जिसमें विरोधाभास की रंच-मात्र छाया न हो, किंतु जीवन के जिस गहन सत्य का खुलासा कवि करता है उस सत्य तक विरोधाभास की भाषा के माध्यम से ही पहुँचा जा सकता है। सच्ची कविता की सृष्टि विरोधी प्रतीत होने वाली स्थिति-परिस्थिति की टकराहट से ही होती है। भाषा में विरोधी उक्तियाँ नैसर्गिक रूप में उपजती हैं और इनमें भाषा के लक्ष्यार्थ-व्यंग्यार्थ-व्यापार सक्रिय होते हैं। कवि के शब्द निरंतर अर्थ का संशोधन करते चलते हैं एवं कोशगत अर्थों के अतिक्रमण में ही उनकी शक्ति निखरती है। भाषा में विरोधाभास का गुण सटीकता और संक्षिप्तता लाता है जिसे किसी अन्य तरह से पाया ही नहीं जा सकता। इतना ही नहीं, विडम्बना और साहचर्य इस विरोधाभास के सहचर हैं अर्थात् विरोधाभास या तो आश्चर्य पर आधारित होगा या विडम्बना पर या फिर ये दोनों तत्व एक-साथ भी हो सकते हैं। क्लीन्थ ब्रुक्स ने कहा रोमानी कविता में विरोधाभास आश्चर्य पर आधारित है जबकि नव्यशास्त्रवादी कविता का आधार विडम्बना है। कॉलरिज की कविता 'एंशिएंट मैरिनर' में आश्चर्य और विडम्बना दोनों मिलकर विरोधाभास को उजागर करते हैं। ब्रुक्स ने यह भी कहा कि छोटे से छोटे कवि की कविता भी विरोधाभास से परहेज करके नहीं जीती। भारतीय काव्य-शास्त्र में अलंकार और वक्रोक्ति सम्प्रदायों में विरोधाभास की प्रतिष्ठा पुरानी है, किंतु इधर ब्रुक्स ने ही भाषा में विरोधाभास के सिद्धांत को जीवित किया है।

6. अनेकार्थता : इस सिद्धांत के प्रतिपादक हैं - विलियम एम्पसन - जिन्होंने अपनी पुस्तक 'सेविन टाइप्स ऑफ एम्बिगुइटी' अर्थात 'श्लेष के सात प्रकार' में अपने अनेकार्थता-सिद्धांत का प्रतिपादन किया है। 'एम्बिगुइटी' का मूल शब्दार्थ है - द्विअर्थकता और अर्थ-विस्तार से अर्थ है - अनेकार्थता और

अर्थ-विडम्बना। फिलिप व्हीलराइट ने 'एम्बिगुइटी' शब्द में अर्थगत उलझाव को लक्ष्य करते हुए इसके स्थान पर 'प्लुरिसिग्नेशन' (बहु-साकेतिकता) शब्द को अधिक संगत माना है। उनका तर्क है कि काव्य के चमत्कार या सौंदर्य के संदर्भ में संदेहवाचक शब्द के स्थान पर भावात्मक अर्थ के बोधक शब्द का प्रयोग ही उचित है। अनेकार्थता के बारे में एम्पसन का मत है 'बोलचाल की सामान्य भाषा में अनेकार्थता का आशय सर्वथा स्पष्ट है उसमें कुछ न कुछ विदग्धता या प्रवंचना का अर्थ अनिवार्यत: रहता है, किंतु यहाँ मैं इस शब्द का प्रयोग एक अर्थ-विस्तार के साथ कर रहा हूँ : इसकी परिधि में शब्द के ऐसे सभी सूक्ष्म से सूक्ष्म संकेतों का अंतर्भाव हो सकता है जिनके द्वारा शब्दावली विशेष से एक से अधिक अर्थो की व्यंजना होती है।' ('सेविन टाइप्स ऑफ एम्बिगुइटी', 1957, पृ.1) **कोई भी शब्द अनेकार्थक माना ही तब जायेगा जब उसमें अनेक अलग-अलग अर्थच्छायाएँ साफ-साफ फूटती हों।** शब्द में ऐसे भी अर्थ हो सकते हैं जो एक-दूसरे से सम्बद्ध हों। अनेकार्थता का अर्थ, अर्थ का अनिश्चय भी हो सकता है और एक ऐसी शाब्दिक अर्थच्छाया भी जिसमें एक ही कथन के अनेक अर्थ ध्वनित हो सकते हैं। अनेकार्थता की व्यापकता को समझाते हुए एम्पसन ने उसके स्वरूप और वर्गीकरण पर पूरी पुस्तक ही लिख डाली। उन्होंने अनेकार्थता का सात प्रकारों में वर्गीकरण किया है -

(i) जहाँ कोई विवरण एक साथ ही अनेक रूपों में सक्रिय हो उठे - इस अनेकार्थकता के उन्होंने पाँच उपभाग किए - (क)समान धर्म की तुलना, (ख) विषमता का आभास, (ग) तुलनात्मक विश्लेषण, (घ) रूपक तथा (ङ) लय-प्रवर्तित अर्थ

(ii) जहाँ दो शब्द अथवा वाक्य के दो या दो से अधिक अर्थ एक में ही समाहित हो जाते हैं। एम्पसन ने इसके उदाहरण में शेक्सपियर की चतुर्दशपदियाँ (सॉनेट्स) प्रस्तुत की हैं क्योंकि उनकी अनेकार्थताओं के विश्लेषण और समझने की प्रक्रिया में आनंद आता है।

(iii) ऐसे दो विचारों को एक ही शब्द के द्वारा एक ही साथ व्यक्त कर दिया जाता है जो संदर्भगत संगति के कारण एक-दूसरे से जुड़े रहते हैं। मूलत: यह अनेकार्थता, भारतीय काव्यशास्त्र में 'श्लेष' है।

(iv) यह अनेकार्थता वहाँ होती है जहाँ दो या दो से अधिक अर्थ परस्पर मेल न खाते हों, किंतु वे सब मिलाकर रचनाकार की जटिल मन:स्थिति को अभिव्यक्त कर रहे हों।

(v) रचनाकार सृजन-प्रक्रिया में अपने विचार व्यक्त तो करता चलता है, पर उसके मस्तिष्क में वे विचार पहले से स्पष्ट रूपरेखा नहीं रखते हैं। वहाँ ऐसे सादृश्य की योजना होती है जो ठीक से किसी के साथ लागू नहीं होता। लेखक द्वारा एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ की ओर जाने की प्रक्रिया में दोनों के बीच झूलता जान पड़ता है।

(vi) जहाँ वक्तव्य स्वयं संकेत नहीं करता, वक्तव्य का चमत्कार पर्याय शब्दों, असम्बद्ध कथनों, विरोधी स्थितियों पर निर्भर करता है। उदाहरण के तौर पर, शेक्सपियर के नाटक 'ट्राइलस एंड क्रेसिडा' में क्रेसिड की उक्ति 'किंतु आप तो चतुर हैं अथवा यो कहें कि आप प्रेम नहीं करते, क्योंकि अगर आप चतुर हैं तो प्रेम नहीं कर सकते।' विरोधी स्थिति के कथन में अनेकार्थता है।

(vii) जहाँ शब्द-विशेष के दो अर्थ या अनेकार्थता दो मूल्य, संदर्भ के द्वारा निर्धारित दो परस्पर-विरोधी भावों की इस प्रकार व्यंजना करते हों कि समग्र प्रभाव लेखक के मानस में विद्यमान मूलभूत अंतर्विरोध को स्पष्ट करने में लग जाता है। अर्थात् इस प्रकार की अनेकार्थता में व्यक्ति का अवचेतन बोलता है।

क्लीन्थ ब्रुक्स और विमसाट दोनों का विचार एम्पसन के अनेकार्थता सिद्धांत को लेकर यह बना है कि इसके प्रेरणा स्रोत के रूप में रॉबर्ट गेब्स और लौरा द्वारा शेक्सपियर के 'सॉनेट्स' का विवेचन-विश्लेषण है - इस विश्लेषणात्मक कृति का नाम है - 'दि एक्सपेंस ऑफ स्पिरिट इन ए टैक्स्ट ऑफ रोम'। दूसरे, एम्पसन ने अपने गुरु रिचर्डस के साथ काम करते हुए भी 'अनेकार्थता' की चुनौती महसूस की। पर 'सेवन टाइप्स ऑफ एम्बिगुइटी' में एम्पसन का वर्गीकरण जटिल, अस्पष्ट और दुरूह हो गया है। अनेकार्थता के रूप-निर्धारण और वर्गीकरण के घपले के कारण एम्पसन से पाठक तोबा करता है। अलंकार-वक्रोक्ति-ध्वनि को यदि हम मिला दें तो भी एम्पसन का भाषा की अनेकार्थता का घपला सुलझता नहीं है।

निष्कर्ष यह है कि 'नयी समीक्षा' के इन चिन्तकों के इन पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या से इतनी ही बात निकलती है कि इन सभी ने भाषा को प्रतिमान के रूप में अपनाकर कृति के पाठ विश्लेषण की पद्धति को विकसित किया है।

19.9 नयी समीक्षा की प्रमुख प्रवृत्तियों का निर्धारण

'नयी समीक्षा' आंदोलन में सक्रिय नए समीक्षकों के बीच साम्य से ज्यादा वैषम्य है। किंतु इस वैषम्य के बावजूद इस समीक्षा-पद्धति की कुछेक सामान्य प्रवृत्तियाँ या विशेषताएँ उभरती-मिलती हैं, जिन्हें हम इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं :

1. कृति का पाठ विश्लेषण अथवा केंद्र का आलोकन

'नयी समीक्षा' ने आलोचना में कविता या कलाकृति पर पूरा ध्यान केंद्रित करते हुए कविता के सघन-विस्तृत विश्लेषण और घनिष्ठ पाठ की परम्परा को स्थापित किया। इस प्रयत्न के फलस्वरूप अनेक कविताओं की पाठ पर आधारित सूक्ष्म गहन व्याख्याएँ प्रस्तुत की गई जिससे व्यावहारिक आलोचना के कई महत्वपूर्ण ग्रंथ सामने आए। इतना ही नहीं 'क्रिटीक', 'केन्यन रिव्यू', 'दि फ्युज़िटिव', 'सिवानी रिव्यू', 'एक्सप्लिकेटर' जैसी पत्रिकाओं में कविता-नाटक-उपन्यास का सूक्ष्म विश्लेषण किया गया। इस प्रकार के सूक्ष्म विश्लेषण का लक्ष्य यही था कि साहित्येतर मानदण्डों से निरपेक्ष रहकर कृति की आंतरिक शब्द-चेतना, अन्विति संहिति का विवेचन किया जाए। इसके लिए इन नए आलोचकों ने न केवल रचनाओं की पाठ-प्रक्रिया पर गंभीरता से विचार किया है अपितु पाठकों को इस विषय में नए संस्कारों में ढालने के लिए या इस विषय विशेष की शिक्षा देने के लिए अनेक उपयोगी पुस्तकें प्रस्तुत कीं। एजरा पाउण्ड ने 'ए बी सी ऑफ रीडिंग', एफ.आर. लीविस ने 'हाउ टु टीच रीडिंग', रिचर्डस ने 'हाउ टु रीड ए पेज' और 'इंटरप्रटेशन इन टीचिंग', एलेन टेट ने 'इनविटेशन टु लर्निंग' (हंटिंग्न केर्न्स और मार्क्स वान डोरेन के साथ) तथा 'दि ट्रांसलेशन ऑफ पोयट्री', इवोर विंटर्स ने 'इन डिफेंस ऑफ रीजन', ब्लैकमर ने 'दि डबल एजेंट', क्लीन्थ ब्रुक्स ने 'अंडरस्टैंडिंग पोयट्री' जैसी पुस्तकें लिखी हैं जिनसे यह बात साफ हो जाती है कि ये आलोचक कृति के पाठ को एक गंभीर अनुशासन के रूप में अपनाते रहे हैं। डॉ. निर्मला जैन ने इस पूरी स्थिति को समझते-समझाते हुए 'पाश्चात्य साहित्य-चिन्तन' में लिखा है, 'रचना के उपरान्त कविता को ये एक स्वायत्त निरपेक्ष इकाई या रूप मानते थे। कविता की वस्तुनिष्ठ निरपेक्ष समझ के लिए इन्होंने इस बात पर बल दिया कि पाठक और आलोचक को केवल कविता के भीतर प्रयुक्त अक्षरों, शब्दों, बलाघातों, बिंबों, प्रतीकों आदि के बीच उपलब्ध विविध सम्बन्धों का विश्लेषण और व्याख्या करनी चाहिए। इस प्रकार की आलोचना की पहली शर्त यही थी कि कविता को कविता के रूप में ग्रहण किया जाए न कि किसी दर्शन या विचारधारा के माध्यम रूप में।' (पृ.182)

नयी समीक्षा ने अपने जन्म के साथ ही ऐतिहासिक आलोचना पद्धतियों के विरोध में ज़ोर देकर कहा था कि महत्व कृति का है, कृतिकार का नहीं। ऐतिहासिक आलोचक के यहाँ कृतिकार का महत्व था, इसलिए नया समीक्षक कृतिकार को नकार कर कृति के सूक्ष्म-गहन पाठ-विश्लेषण में प्रवृत्त होता है। अर्थात् इस समीक्षा के अनुसार निराला का महत्व 'राम की शक्ति पूजा' के कारण है, 'राम की शक्ति पूजा' का महत्व निराला के कारण नहीं है। कृति का विश्लेषण अथवा केंद्र का आलोकन यहाँ साधन नहीं है, साध्य है। डेविड डैशिज ने इसी स्थिति के कारण नयी समीक्षा को 'गंभीर पाठालोचन का पर्याय' माना है। एलेन टेट तथा ब्रुक्स ने आलोचना का केंद्र तो कृति को ही माना है किंतु यह भी सुझाव दिया है कि कृति को समझने के लिए कुछ सीमा तक कृतिकार के विचारों और युग-परिवेश के अध्ययन से सहायता लेनी चाहिए। किंतु, यदि हम युग-परिवेश या कृतिकार के विचारों के गंभीर अध्ययन में पिल पड़ेंगे तो कृति के विश्लेषण में बाधा पड़ सकती है या पड़ेगी। आलोचक को चाहिए कि वह युग-परिवेश आदि पर उतना ही ध्यान दे जितना कि कृति को आलोकित करने में मदद करे।

नयी समीक्षा में पाठ-विश्लेषण का प्रयास तो महत्वपूर्ण है किंतु नया समीक्षक कृति के पूरे पर्यावरण से कटकर केवल 'कृति' में ही जुट गया। इस अतिवाद ने नयी समीक्षा को बहुत हानि पहुँचाई तथा एकांगी बना दिया। यह एकांगीपन ऐसा ही था जैसे कोई व्यक्ति पेड़ को तो देखे पर जंगल और उसके परिवेश को न देखे। स्वयं टी.एस.एलियट ने जब देखा कि नयी समीक्षा में पाठ-विश्लेषण की प्रवृत्ति हद से बढ़ गई है तो वे क्षुब्ध हो उठे और उन्होंने इन समीक्षकों को 'आलोचना का नींबू निचोड़ सम्प्रदाय' तक कह दिया।

2. कविता या कलाकृति को अखण्डता में देखने का प्रबल आग्रह

नए समीक्षकों ने अपने पहले की आलोचना-प्रवृत्ति को मुड़कर देखा तो यह बात अच्छी तरह उनकी समझ में आ गई कि सामान्य परिपाटी कृति के भाव पक्ष और कला पक्ष को अलगा कर देखने की रही है। फलतः इस पुरानी प्रवृत्ति का विरोध करते हुए उन्होंने कविता को अखण्ड रूप में देखने की

अनिवार्यता पर बल दिया। इन सभी नए समीक्षकों ने साफ कहा कि कविता में रूपायित कवि की अनुभूति का तदाकार रूप में ग्रहण कविता की पूर्ण अन्विति कराने में समर्थ है कविता को खण्ड-खण्ड करते ही उसकी अखण्डता का सौंदर्य बिखर जाता है। क्लीन्थ ब्रुक्स ने तो बिना किसी हिचक के कहा है कि कविता के सौंदर्य का आकलन-मूल्यांकन उसकी समग्रता में ही होना चाहिए। यही बात टी.एस.एलियट तथा आई.ए.रिचर्डस भी कहते रहे हैं कि कृति का सौंदर्य अंग-भंग करने में नहीं, सम्पूर्णता में ग्रहण करने में है। कविता का रूप-तत्त्व काव्य-सामग्री को ही समाहित नहीं करता, वह काव्य-सामग्री को व्यवस्थित करता है, रूपायित करता है और अर्थ को नए संदर्भ में खड़ा करके विशिष्ट सौंदर्य की सृष्टि करता है। फलतः कविता का रूप-तत्त्व सर्वाधिक महत्वपूर्ण मुद्दा है जिसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध कविता की अनुभूतिगत घनता, एकाग्रता और प्रभावान्विति से है। ब्रुक्स ने 'रूप तत्त्व' की संकुचित अर्थ-सीमा को पहचानते हुए 'रूप-तत्त्व' के लिए 'स्ट्रक्चर' (संरचना) शब्द का प्रयोग किया और कहा 'संरचना से तात्पर्य अर्थो, व्याख्याओं एवं मूल्यांकनों की संरचना से है।' जाहिर है कि कविता में संवेद्य तत्त्व तथा रूप तत्व एकाकार-अखण्ड रूप मे निहित रहते हैं। कहना न होगा कि लगभग सभी नए समीक्षको की अवधारणाओं में कृति विषयक अखण्डता की दृष्टि का समावेश रहा है। भारतीय काव्य-चिंतन में कृति की अखण्डता की बात भी नयी नहीं है - 'गिरा अरथ जल-वीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न' की बात यहाँ बहुत पहले कही गई है। हिंदी में विजयदेवनारायण साही ने इसी अखण्डता की दृष्टि से जायसी के 'पद्मावत' की 'जायसी' नामक पुस्तक में समीक्षा की है।

3. काव्य-भाषा की सर्जनात्मकता और विश्लेषण

काव्य-भाषा विषयक चिंतन की परम्परा पश्चिम में अरस्तू से ही शुरु हो जाती है किंतु इस क्षेत्र में नए समीक्षको ने जिस ढंग से पहल की है उस ढंग से पहले कभी नहीं हुई थी। एलेन टेट ने स्पष्ट कहा 'कवि का चिंतन या दर्शन कुछ भी हो - आप उसे उसकी भाषा के माध्यम से ग्रहण कर सकेंगे - उसे जो कुछ कहना है - उसकी सही सीमा उसके द्वारा प्रयुक्त भाषा की अर्थवत्ता ही है।' प्रत्येक नया समीक्षक इस बात पर भरोसा करता है कि कविता एक विशिष्ट भाषिक संरचना है, शाब्दिक निर्मिति है। अनुभूति का भीतरी-बाहरी तनाव भाषा ही खास ढंग से झेलती और व्यक्त करती है। ब्लैकमर का 'भंगिमा सिद्धांत', एम्पसन का 'अनेकार्थता सिद्धांत', रैन्सम का 'शब्द-विधान' - सभी भाषा पर ही केंद्रित हैं। दुर्भाग्य यह घटित हुआ कि कविता की भाषा पर विचार करते हुए वे भाषाशास्त्र में प्रवेश कर गए। भाषाशास्त्र की जटिलताओं में फँसकर काव्य-भाषा अपनी पटरी से ही उतर गई।

4. काव्य में परम्परा के प्रति लगाव

नयी समीक्षा के जनक टी.एस.एलियट ने काव्य में परम्परा के महत्व पर प्रकाश डाला है और परम्परा के निर्वाह पर बहुत अधिक जोर दिया है। अपने सृजन में भी वे परम्परा के प्रति कम समर्पित नहीं रहे हैं। उन्होंने प्रयोग और परम्परा के द्वंद्वात्मक सिद्धांत की इस ढंग से महत्व प्रतिष्ठा की है कि सभी नए समीक्षक एलियट के प्रति कृतज्ञ भाव रखते हैं। परम्परा से तात्पर्य है - इतिहास-बोध, स्मृति, सातत्य आदि। परम्परा में अतीत की अतीतता नहीं, अतीत की वर्तमानता होती है। दिलचस्प बात यह है कि वर्तमान अतीत को प्रभावित करता है और अतीत वर्तमान को। पर कवि को परम्परा उत्तराधिकार में यों ही प्राप्त नहीं हो जाती, उसे श्रम से कमाना पड़ता है। कवि का महत्व परम्परा में ही निहित है - परम्परा के अभाव में उसका सही मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। एलियट से प्रभावित एफ.आर. लीविस ने कहा कि कवि परम्परा में और परम्परा कवियों में धड़क रही होती है। इस परम्परा प्रियता के कारण नए समीक्षकों को 'क्लासिकल' की ओर उन्मुख माना गया। ब्रुक्स ने कहा 'मृत या निर्जीव रूढ़ियों से चिपकने की कोई अर्थवत्ता नहीं है - किंतु एक स्वस्थ-जीवंत परम्परा में निरंतर संशोधन की सामर्थ्य रहती है। इस प्रकार नए समीक्षकों के विचार से रुढि का नाम परम्परा नहीं है - परम्परा एक गतिशील-निरंतर परिवर्द्धित-संशोधित होती प्रक्रिया है। काव्य में जातीय स्मृतियाँ धड़कती मिलती हैं - परम्परा एक ऐसा प्राचीन नमक (एंशेंट साल्ट) है जिसके पड़ते ही कृति में नया स्वाद पैदा हो जाता है।

'नयी समीक्षा में रूपवाद भी वस्तुत एक ऐसे "सत्तामूलक" (ऑनटोलाजिकल) सिद्धांत के विकास का प्रयत्न है जिसके आधार पर कविता की स्वायत्त प्रतिष्ठा, सत्य को ग्रहण करने की अद्वितीय विधि के रूप में की जा सके। जहाँ तक कलाकृति के स्तर के निर्धारण का प्रश्न है, नए समीक्षकों के लिए यह प्रश्न सर्वथा निरपेक्ष नहीं है। किसी कृति का मूल्यांकन करते समय वे निरंतर परम्परा का हवाला देते हैं, इस बात के परीक्षण के लिए कि उस कृति में समकालिक व्यवस्था का समावेश कहाँ तक हो सका है। उसने परम्परा को किस रूप में और किस हद तक आत्मसात किया है। परंतु आलोचक का प्रमुख दायित्व इनकी दृष्टि में कविता की व्याख्या करना था।' (पाश्चात साहित्य चिंतन डॉ.निर्मला जैन-डॉ.कुसुम बॉठिया, द्वि.सं. पृ. 182) हिंदी की नयी समीक्षा पर इस दृष्टि से निगाह डालें तो विजयदेव

नारायण साही के निबंध 'लघुमानव के बहाने हिंदी कविता पर एक बहस' में हमें साही कहते मिलते हैं कि आगे के आलोचक अज्ञेय जी को प्रसाद की परम्परा में ही पायेंगे। याद रखना होगा कि परम्परा का विकास केवल सीधी रेखा में ही नहीं होता, विपरीत दिशा में भी दिखाई देता है।

5. पैराफ्रेज़िंग या पदान्वय का विरोध

अधिकांश नये समीक्षक मैक्लीश की तरह विश्वास करते हैं कि कविता का पदान्वय (पैराफ्रेज़) संभव नहीं है। सृजन प्रक्रिया के दौरान अनुभूति विभिन्न उपकरणों (रूपक, वक्रता, प्रतीक, लय-छंद, विरोधाभास आदि) की मदद से रूपाकार पाती है। 'पदान्वय' अखण्ड रूपाकार और अखण्ड अनुभूति दोनों को ही अंग-भंग का शिकार बना लेता है। पदान्वय के द्वारा हमें जो मिलता है वह काव्यानुभूति का मर्म न होकर कुछ और ही चीज होती है। ब्रुक्स ने कहा भी है कि काव्य यदि प्रकृति है तो पदान्वय विकृति - एक ऐसी विकृति जो उसे अंग-भंग कर कुबड़ा-विकलाग बना देती है। ब्रुक्स ने चिन्ता के साथ 'पदान्वय के अपसिद्धांत' (हेरेसी ऑफ़ पैराफ्रेज) पर पूरा निबंध लिखा और 'पदान्वय' के प्रति खबरदार किया। मूल बात यह कि पदान्वय में कल्पना, रूपक, विदग्धता-विरोधाभास का काव्यात्मक प्रकार्य एकदम उपेक्षित रह जाता है।

6. कविता और विज्ञान की पृथकता पर दृष्टिपात

बीसवीं शताब्दी में विज्ञान ने ऐसी दस्तक दी है कि चारों ओर विचारों का कोलाहल सुनाई देता है, देखते-देखते पुरानी दुनिया के विश्वास और मिथक विज्ञान ने ढहा दिए तथा दो विश्व-युद्धों में विज्ञान ने अपनी विनाशकारी शक्ति से मानवता को थर्रा दिया। विज्ञानवाद और वैज्ञानिक भौतिकवाद के चिंतन ने ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी कि नए सर्जक, नए समीक्षकों के मन में यह भय उभरने लगा कि कहीं विज्ञान एक दिन कला और काव्य को विनष्ट ही न कर दे। इसी भय के कारण नए समीक्षक कविता-कला की रक्षा के प्रति चौकन्ने हो गए। इन सभी ने विज्ञान के सत्य और कला के सत्य के बीच स्पष्ट भेद घोषित किया और विज्ञान की अनुभूति तथा कला की अनुभूति के अंतर को स्पष्ट किया। आई.ए. रिचर्डस ने 'पोयट्री एंड बिलीफ शीर्षक अपने लेख में दोनों के पार्थक्य को स्पष्ट करते हुए कहा कि दोनों के कार्य (फंक्शन) अलग-अलग हैं। आगडेन के साथ रिचर्डस ने मिलकर विज्ञान की भाषा और काव्य की भाषा का अंतर भी स्पष्ट किया। रिचर्डस से प्रभावित जॉन क्रो रैन्सम ने कला-जगत् तथा विज्ञान-जगत् की भिन्नता पर प्रकाश डाला विशुद्ध विज्ञान का लक्ष्य है - ज्ञान-प्राप्ति, जबकि कला ज्ञान के साथ-साथ सर्जना (मानवीय रचनात्मकता) को लक्ष्य मानती है। इसीलिए कला, विज्ञान से श्रेष्ठ है। ब्रुक्स ने इसी बात को खोलते हुए कहा कि साहित्य हमें जो ज्ञान प्रदान करता है, वह उस संसार का ज्ञान है जो मानव-मूल्यों पर आधारित है। यह ज्ञान विज्ञान अथवा भौतिकी के ज्ञान से भिन्न है। कला का ज्ञान मानवीय संदर्भों में निहित है। विज्ञान में प्रतीकात्मक भाषा का प्रयोग होता है किंतु कविता में भाषा का संवेगात्मक प्रयोग (इमोटिव यूज़ ऑफ लैंग्वेज) होता है। फलत: कविता में मानवीयता का गुण है - इस क्षेत्र में विज्ञान बंजर दिखाई देता है।

7. सर्जक और आलोचक की बेजोड़ मिसाल

नयी समीक्षा के अधिकांश आलोचक सर्जक हैं। टी.एस.एलियट अपनी सर्जनात्मक प्रतिभा से एक नये युग को जन्म देते हैं। आई.ए. रिचर्डस का सर्जक उनके आलोचक व्यक्तित्व के नीचे दब अवश्य गया है किंतु वे कवि एवं नाटककार हैं। उनकी रचनाओं में 'गुडबाइ अर्थ एंड अदर पोयम्स' (1956) तथा नाटक 'टुमॉरो मॉर्निंग फास्टस : एन इन्फॉर्मल कॉमेडी' (1962) का नाम उल्लेखनीय है। जॉन क्रो रैन्सम की अमेरिका में कवि के रूप में विशेष ख्याति रही है - उनका बहुचर्चित काव्य संग्रह है - 'चिल्स एंड फीवर्स' (1924)। केनेथ बर्क ने कविता-कहानी-उपन्यास कई विधाओं में लिखा। एलेन टेट, कवि, नाटककार तथा उपन्यासकार हैं। उनके कई कविता संग्रह हैं पर 'पोयम्स' (1960) तथा उपन्यास 'दि फादर्स' काफी प्रसिद्ध हुए हैं। ईवोर विंटर्स, ब्लैकमर, वारेन एम्पसन आदि सभी सर्जक हैं। सृजन प्रक्रिया के अपने अनुभवों से गुज़रने के कारण इन आलोचकों की आलोचना में एक ताज़गी है। एलियट के समीक्षात्मक निबंधों की सर्जनात्मक आलोचना ने पश्चिम में जैसे विचारों का प्रकाश फैलाया है वैसे ही हिंदी आलोचना में अज्ञेय, ग.मा.मुक्तिबोध, लक्ष्मीकान्त वर्मा, विजयदेव नारायण साही आदि ने आलोचना और सृजन के योग से नयी उद्‌भावनाएँ की हैं।

8. आलोचना में विद्वता को गौरवान्वित करने का विचार

सभी नए समीक्षक इस बात पर एकमत हैं कि आलोचक के लिए वैदुष्य जरूरी है। अनेक विषयों का ज्ञान उसके आलोचनात्मक विवेक को विकसित करता है और नए ढंग से सोचने की प्रविधियाँ सुझाता है। आलोचक के लिए ज्ञान बोझ नहीं 'अंतर्दृष्टि' है। इस युग में यह तथ्य बार-बार रेखांकित किया गया कि कविता के लिए सर्जनात्मक प्रतिभा चाहिए पर आलोचक के लिए गंभीर वैदुष्य और निर्मल

विवेक। 'कामायनी' की आलोचना के लिए ग.मा.मुक्तिबोध जैसा आलोचक ही चाहिए जो उससे बीस वर्ष जूझता रहा और 'कामायनी : पुनर्विचार' में आलोचना की योग्यता का परिचय दिया। ब्लैकमर तथा ब्रुक्स दोनों ने साहित्यिक आलोचना के लिए 'साहित्यिक विद्वत्ता' को अनिवार्य माना है। वैदुष्य और विवेक दोनों एक दूसरे की न केवल मदद करते हैं बल्कि एक सीमा के बाद तो एकाकार हो जाते हैं। प्रश्न उठना ही था कि आलोचना के लिए किस सीमा तक वैदुष्य चाहिए और कहाँ पर पहुँचकर विद्वत्ता, आलोचना की सहजता को दबोच लेती है। इसका उत्तर दिया गया कि पाण्डित्य नमक की भाँति इतना पड़ना चाहिए जितना स्वाद उठाये, स्वाद बिगाड़े नहीं। अर्थात विद्वता तथा आलोचना में संतुलन अनिवार्य है।

9. शुद्ध कविता की वकालत

नयी समीक्षा का आंदोलन ज्ञान-विज्ञान के अतिशय विस्फोट के युग में उठा। फिर उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दशकों में प्रतीकवादियों-कलावादियों ने साफ कहा कि कविता का कोई अन्य प्रयोजन नहीं है - कविता का प्रयोजन कविता ही है। रैम्बू-मलार्मे-बादलेयर इस दल की अगुआई कर रहे थे! एलियट ने 'दि थ्री वाइसेज ऑफ पोयट्री' में यह विचार प्रस्तुत किया कि कवि कविता की रचना किसी उद्देश्य से प्रेरित होकर नहीं करता, रचना करना एक विवशता है। कविता में शुद्धता की वकालत रैन्समन ने शुरु की और कहा कि कविता में नीति-तत्त्व नहीं घुसेड़ना चाहिए - कविता का उद्देश्य मात्र कविता है। वॉरेन और ब्रुक्स दोनों ने काव्य में नैतिकता का विरोध करते हुए शुद्ध कविता का समर्थन किया है। नयी समीक्षा के ज्यादातर आलोचक शुद्ध कविता के पक्षधर हैं।

10. ऐतिहासिक समीक्षा का विरोध

नयी समीक्षा ने सर्वाधिक विरोध ऐतिहासिक आलोचना का किया। क्योंकि ऐतिहासिक आलोचना के आलाचक कृति के अध्ययन के लिए युग-परिवेश, रचनाकार की विचारधारा, मनोभूमिका का अध्ययन जरूरी मानते हैं, जबकि नयी समीक्षा इन सभी से मुक्त रहकर केवल कृति केंद्रित रहना चाहती है। रैन्सम तो ऐतिहासिक आलोचना से इतने निराश हैं कि उसमें उन्हें कुछ भी अच्छा दिखाई नहीं देता। 'जीवन चरितात्मक', आत्मकथात्मक तथा तुलनात्मक समीक्षा में उनके विचार से उथला अनुशीलन होता है। नयी समीक्षा के पक्ष में डटे ब्रुक्स ने झल्लाकर विश्वविद्यालय के प्रोफेसरों को कोसा है कि 'अंग्रेज़ी का ठेठ प्रोफेसर प्रकृति से और प्रवृत्ति से परिवर्तन के विरुद्ध होता है, लोकप्रिय समीक्षक भी जहाँ तक उसके आलोचनात्मक सिद्धांतों का प्रश्न है, इस माने में किसी भी तरह से कम नहीं हैं! निष्कर्ष यह कि इन दोनों का स्वार्थ साहित्य की ऐसी चर्चा में निहित है जो अधिक अनियत और कम श्रम-साध्य हो।' (नयी समीक्षा के प्रतिमान, पृ.23) अतः नये समीक्षक ने लोकिप्रय समीक्षक और जिद्दी प्रोफेसरों से दो-दो हाथ किए और ऐतिहासिक समीक्षा की जमी चूलें ढीली कर दीं। नये समीक्षक को साफ समझ में आ गया था कि विश्वविद्यालय ही ऐतिहासिक आलोचना के अड्डे हैं। विरोध का मूल कारण था पुराने प्रतिमानों या संस्कारों या सिद्धांतों के द्वारा नयी उद्‌भावनाओं के विरोध की आदत। नयी प्रवृत्ति के विरोध में डटे पुराने आचार्यों की ग.मा.मुक्तिबोध ने 'नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध' में जमकर आलोचना की है। नये समीक्षकों ने ही नहीं, शिकागो-स्कूल के समीक्षक रिचर्ड मैकिअल तथा आर.एस.क्रेन, नार्मन मैक्लीन तथा एल्टर आल्सन आदि सभी ने ऐतिहासिक आलोचना का विरोध किया है। शिकागो समीक्षकों की सिद्धांत दृष्टि तो अपनी है पर वे पद्धति में अरस्तू का अनुकरण करते हैं। नया समीक्षक कृति के पाठ-विश्लेषण को प्रमुखता देता है पर शिकागो समीक्षक कृति की कथा-वस्तु को। क्रेन को इसीलिए 'नव अरस्तूवादी' कहना उचित ही है।

19.10 नयी समीक्षा की शक्ति और सीमाएँ

चौथे-पाँचवें दशक के बाद धीरे-धीरे नयी समीक्षा आंदोलन का आलोचनात्मक मुहावरा अपनी चमक और धार खोने लगा। सन 1950 के बाद इस समीक्षा पद्धति की सीमाएँ साफ दिखाई देने लगी। इस प्रवृत्ति के वरिष्ठ आलोचकों को ही इसकी खामियाँ समझ में आने लगीं। एफ.आर.लीविस ने 'स्क्रूटिनी' पत्रिका का प्रकाशन बंद करते हुए यह घोषणा भी कर दी कि अब उनका काम पूरा हो गया है। ब्रुक्स तथा विम्साट ने 'लिटरेरी क्रिटिसिज्म : ए शॉर्ट हिस्ट्री' (1957) में मानो अपने कर्तव्य-कर्म की इतिश्री मान ली। नयी समीक्षा की शक्ति एवं सीमाओं को वे दोनों आँकने लगे। इतना ही नहीं, इंग्लैण्ड और अमेरिका में 'नयी समीक्षा' को लेकर विरोध का स्वर प्रबल हो गया। अमेरिका में ही शिकागो स्कूल के नव-अरस्तूवादी आलोचकों ने इस पूरे आंदोलन के खिलाफ खुला विद्रोह कर दिया। 'क्रिटिक्स और क्रिटिसिज्म' (1952-53) में साफ कहा गया कि कृति के लिए नयी समीक्षा की रूप-संरचनामूलक प्रवृत्ति एकदम अपर्याप्त है। यह कथन इसलिए सही था कि नयी समीक्षा लघु रचनाओं - विशेष कर

छोटी और लम्बी कविताओं के विश्लेषण को तो पार लगा देती थी पर महाकाव्य-नाटक-उपन्यास और दीर्घ संरचना वाली बहुत सी विधाओं के लिए एकदम अपर्याप्त सिद्ध हो रही थी।

नव-अरस्तूवादी आलोचकों तथा उनके साथ अन्य आलोचकों के प्रबल विरोध का प्रमुख कारण था - नयी समीक्षा के सैद्धांतिक-व्यावहारिक रूप में कथानक की संरचना के महत्व की उपेक्षा। इसी स्थिति ने एक बार फिर 'विधाओं के सिद्धांत' (थियरी ऑफ जेनर्स) के समर्थन की हवा बना दी और यह स्वीकार किया जाने लगा कि हर विधा के मूल्यांकन की पद्धति उस विधा की निजी अपेक्षाओं के आधार पर ही निर्मित की जा सकती हैं। हालत यहाँ तक पहुँच गई कि नयी समीक्षा के समर्थक मनरो के स्पिअर्स जैसे लोग भी 'डायोग्नीसस एंड द सिटी' (1970) में नयी समीक्षा की सीमाओं का संकेत देने लगे। माहौल ऐसा बनता गया कि नयी समीक्षा के विरोध में नॉर्थ्रॉप फ्राई जैसे धैर्यवान चिंतक को उठ खड़ा होना पड़ा। नयी समीक्षा से नाराज़ फ्रैंक कर्मोड ने एक नयी आलोचना प्रणाली की शुरुआत की अपेक्षा की तरफ ध्यान दिलाया तथा कहा कि समकालीन कविता के लिए 'इर्रेशनल' अनर्गल और विज्ञान विरोधी दृष्टिकोण नहीं अपनाया जा सकता। फ्राई तो मिथकवादी समीक्षा को लेकर ही मैदान में डट गए और 'नयी समीक्षा' को धकेल कर जगह बनाने लगे।

एक बड़ी बात यह भी हुई कि नयी समीक्षा के केंद्र में टी.एस.एलियट जैसे आधुनिकतावादी कवि थे। जब एलियट का स्थान डब्ल्यू.बी.येट्स ने ले लिया तो आलोचना का केंद्र पुन: बदलने लगा। नतीजा यह हुआ कि 'नयी समीक्षा' की प्रतिज्ञाएँ पुरानी पड़ने लगीं और उनका स्थान आलोचना के नए प्रतिमान-प्रतिज्ञाएँ लेने लगे। 'नयी समीक्षा' का आलोचनात्मक मुहावरा इतना घिसा हुआ दिखाई देने लगा कि उसे मात्र संकुचित अर्थ में 'रूपात्मक समीक्षा' कहने को विवश होना पड़ा। इधर, समीक्षा के ऊपर ज्ञान के अन्य अनुशासनों का दबाव भी बढ़ने लगा और लीविस के शिष्य रेमण्ड विलियम्स ने समाजशास्त्रीय अध्ययन की दिशा-दृष्टि को समीक्षा के केंद्र में लाने का प्रयास किया। समाजशास्त्रीय दृष्टि के आलोचकों ने 'नयी समीक्षा' को प्रतिगामी दृष्टि की समीक्षा घोषित कर दिया। नये समीक्षकों के सभी काव्य-प्रतिमानों के लिए कहा गया कि उन्होंने समीक्षा को फार्मूलों में बदल दिया है।

सीमाएँ

नयी समीक्षा की उपलब्धियों के साथ उसकी सीमाओं पर ध्यान देना भी अनिवार्य है। नयी समीक्षा की सीमाओं को इस प्रकार सूत्र रूप में रखा जा सकता है - (1) सबसे बड़ी सीमा इस समीक्षा-पद्धति की यही रही है कि वह समग्र साहित्य को अपने विवेचन क्षेत्र में आत्मसात कर आगे नहीं बढ़ सकी। फलत: विषय प्रतिपादन की दृष्टि से उसका क्षेत्र बहुत सीमित होता गया है। (2) कवियों की कृतियों का चयन प्राय: सत्रहवीं शताब्दी या बीसवीं शताब्दी से किया। नतीजा यह हुआ कि आधुनिक कविता तक पर वे समग्रता से विचार नहीं कर सके। (3) कविताओं को कवि की विकासमान चेतना से काटने के कारण पूरा विवेचन एकांगी तथा असंतोषप्रद हो गया। (4) यह समीक्षा पद्धति मूल्यांकन को एकदम नकार कर आगे बढ़ी। मूल्यांकन के अभाव में इसे समीक्षा कहना ही कठिन लगता है। (5) इस समीक्षा पर वैदुष्य इतना हावी हो गया कि यह अपनी सहजता खोकर सामान्य पाठक से दूर जा पड़ी। (6) यह समीक्षा कृति को समझने की एक अधूरी प्रविधि मात्र बनकर रह गई। (7) यह समीक्षा लघु और लम्बी कविताओं के लिए तो उपयुक्त है, किंतु काव्य की अन्य प्रबंध-विधाओं के लिए एकदम असमर्थ सिद्ध हुई है।

उपलब्धियाँ

इन सीमाओं के बावजूद नयी समीक्षा की उपलब्धियाँ नगण्य नहीं हैं। इस समीक्षा की उपलब्धियाँ हैं - (1) नयी समीक्षा ने पाठक का ध्यान कृति पर केंद्रित किया (2) ऐतिहासिक आलोचना में कृतिकार को बहुत अधिक महत्व दिया जाने लगा था। उस प्रवृत्ति को जोरदार झटका दिया। (3) रोमानी-परम्परा के विपरीत एक नवीन काव्य-अभिरूचि का पोषण किया (4) पाठ-विश्लेषण की प्रविधि से यह सिद्ध किया कि भाषा काव्य में किस प्रकार अनेक कार्य करती है। (5) विज्ञान की मार से व्याकुल मानव को काव्य की मानवीयता का ध्यान दिलाया। (6) साहित्येतर मूल्यों के आक्रमण से काव्य की रक्षा कर उसकी स्वतंत्र सत्ता को प्रतिष्ठित किया। (7) परम्परा के महत्व पर ज़ोर देकर जातीय अस्मिता से काव्य का सम्बन्ध स्थापित किया।

10.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें

डॉ. निर्मला जैन (संपा.), **नयी समीक्षा के प्रतिमान**, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली

डॉ. निर्मला जैन एवं डॉ. कुसुम बाँठिया, **पाश्चात्य साहित्य चिंतन**, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली (द्वितीय संस्करण)

डॉ. नगेन्द्र, **नयी समीक्षा : नये संदर्भ**, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली

डॉ. नगेन्द्र (सपा.), **पाश्चात्य काव्यशास्त्र : सिद्धांत और वाद**, हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

कृष्णदत्त पालीवाल, **हिंदी आलोचना का सैद्धांतिक आधार**, सचिन प्रकाशन, दिल्ली

श्याम बिहारी लाल शर्मा, **पाश्चात्य नव्यालोचन**, देववाणी प्रकाशनम, आर.6, वाणी विहार, नई दिल्ली-110 059.

10.12 अभ्यास के लिए प्रश्न

नयी समीक्षा की प्रमुख विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

नयी समीक्षा के प्रमुख स्रोत, उसके युग-परिवेश और प्रमुख समीक्षकों के विचारों का सार लिखिए।

टिप्पणी लिखिए :

क) तनाव
ख) शब्द विधान (Texture)
ग) भंगिमा
घ) विरोधाभास
ङ) अनेकार्थता
च) नयी समीक्षा की शक्ति और सीमाएँ



उत्तर प्रदेश
राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

MAHI-08

साहित्य सिद्धांत और समालोचना

खंड

6

साहित्य सिद्धांत और विचारधाराएँ

पाठ्यक्रम विशेषज्ञ समिति

पाठ्यक्रम निर्माण

इकाई लेखक
प्रो. निर्मला जैन (इकाई 20)
पूर्व विभागाध्यक्ष, हिंदी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
डॉ. कृष्णदत्त पालीवाल (इकाई 21)
हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
श्री मुरली मनोहर प्रसाद सिंह (इकाई 22)
पत्राचार एवं अनुवर्ती शिक्षा महाविद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
डॉ. कुसुम बाँठिया (इकाई 23-24)
देशबंधु कॉलेज, दिल्ली
श्री देवेन्द्र इस्सर (इकाई 25)
नई दिल्ली

पाठ्यक्रम संपादक
प्रो. निर्मला जैन
पाठ्यक्रम संयोजक
डॉ. रीतारानी पालीवाल

सामग्री निर्माण

प्रो. वी.रा.जगन्नाथन
निदेशक, मानविकी विद्यापीठ
इग्नू, नई दिल्ली

श्री कुलवंत सिंह
अनुभाग अधिकारी (प्रकाशन)
मानविकी विद्यापीठ, इग्नू

कैमरा रेडी कॉपी निर्माण एवं सचिवालयिक सहयोग
श्री हरीश कुमार सेठी

फरवरी 2004 (पुनः मुद्रित)

ISBN-81-266-0174-4

खंड 6 का परिचय

प्रस्तुत खंड 'साहित्य सिद्धांत और समालोचना' (एम.एच.डी.05) पाठ्यक्रम का छठा खंड है।'साहित्य सिद्धांत और विचारधाराएँ' नामक इस खंड में पश्चिम की प्रमुख चिंतन पद्धतियों और विचारधाराओं का परिचय देते हुए साहित्य-सिद्धांत के विकास के रूप में उनकी चर्चा की गई है। विचारधारा से तात्पर्य है - विचार की दिशा अथवा सरणि, सोचने का दृष्टिकोण, जैसे कि प्लेटो का दृष्टिकोण प्रत्ययवादी था और अरस्तू का भौतिकवादी अथवा वस्तुवादी। कोई दृष्टिकोण जब मान्यता का रूप ले लेता है तो वह विचारधारा कहलाता है, जैसे मार्क्सवादी विचारधारा। समय और परिस्थितियों के अनुरूप समाज में विभिन्न प्रकार की विचारधाराएँ सक्रिय रहती हैं और जीवन-जगत को तरह-तरह से प्रभावित करती रहती हैं। कभी कोई विचारधारा सशक्त रूप में विद्यमान रहती है तो कभी दूसरी। विचारधारा से रहित न जीवन होता है न साहित्यिक समीक्षा। विचारधाराओं के आलोक में ही मूल्यांकन के प्रतिमान निर्मित होते हैं। अपनी उपयोगिता, प्रासंगिकता, प्रभाव-क्षमता एवं प्रसार के आधार पर विचारधारा या दृष्टिकोण चिंतन पद्धति का पर्याय बन जाता है। इस तरह विचारधाराओं के प्रकाश में चिंतन पद्धतियों का विकास होता है। समय-समय पर विचारधाराओं ने आंदोलन, प्रवृत्ति अथवा 'वाद' के रूप धारण किए हैं। इन वाद दृष्टियों से साहित्यिक अध्ययन की विभिन्न पद्धतियाँ विकसित हुई हैं, जैसे आभिजात्यवाद, स्वच्छंदतावाद, मार्क्सवादी आलोचना पद्धति, मनोविश्लेषणवादी आलोचना पद्धति आदि।

साहित्य सृजन और आलोचना, दोनों ही विचारधाराओं और चिंतन पद्धतियों से प्रभावित होते रहे हैं। ध्यान देने की बात है कि उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दी में आकर पश्चिम में विचारधाराओं का पक्ष विशेष रूपसे प्रबल हो उठा और उन्हीं के प्रभाव-दबाव में साहित्य और कला के नए आंदोलनों का जन्म हुआ। इन विचारधाराओं और समीक्षा पद्धतियों ने आधुनिक भारतीय साहित्य और समीक्षा को भी प्रभावित किया। अतः इनकी जानकारी साहित्यशास्त्र के विद्यार्थी के लिए आवश्यक है।

प्रस्तुत खंड में पाश्चात्य साहित्य चिंतन की प्रमुख सरणियों, आलोचना दृष्टियों, आंदोलनों, प्रवृत्तियों की जानकारी दी गई है। पूरे खंड में एक वैचारिक अंतर्योजना है जो प्राचीन समय से विद्यमान आभिजात्यवादी और स्वच्छंदतावादी प्रवृत्तियों से लेकर वर्तमान उत्तर-आधुनिकतावादी परिदृश्य तक को उद्घाटित करने का प्रयास करती है। समग्र खंड कुल छह इकाइयों (इकाई 20-25) में विभक्त है।

इकाई 20 **'आभिजात्यवाद एवं स्वच्छंदतावाद'** में इन दोनों दृष्टियों का अभिप्राय बताते हुए इनके इतिहास और प्रमुख प्रवृत्तियों की जानकारी दी गई है।

इकाई 21 **'मनोविश्लेषणवादी आलोचना'** में प्रमुख मनोविश्लेषणशास्त्रियों और उनके सिद्धांतों का विवेचन करते हुए साहित्य और आलोचना से मनोविश्लेषण का संबंध बताया गया है। साथ ही, मनो-विश्लेषणवादी आलोचना के महत्व और हिंदी आलोचना पर मनोविश्लेषण के प्रभाव की चर्चा की गई है।

इकाई 22 **'मार्क्सवादी आलोचना'** में मार्क्सवादी विचारधारा की प्रमुख अवधारणाओं को स्पष्टता से प्रस्तुत करते हुए आलोचना पद्धति के रूप में इनके स्वरूप की जानकारी दी गई है और हिंदी में इस आलोचना पद्धति के प्रभाव एवं प्रसार से विद्यार्थियों को अवगत कराया गया है।

इकाई 23 **'साहित्य चिंतन के विविध वाद'** के अंतर्गत सात प्रमुख वादों - यथार्थवाद, अतियथार्थवाद, आदर्शवाद, प्रतीकवाद, बिंबवाद, कलावाद, अस्तित्ववाद - की युग पृष्ठभूमि और स्वरूप की जानकारी देते हुए आंदोलन और प्रवृत्ति के रूप में इनकी चर्चा की गई है।

इकाई 24 **'साहित्य अध्ययन की प्रमुख पद्धतियाँ'** के अंतर्गत मिथकीय, रूपवादी, संरचनावादी, शैलीवैज्ञानिक और समाजशास्त्रीय समीक्षा पद्धति के उद्भव और विकास के विषय में बताते हुए इन समीक्षा पद्धतियों की प्रमुख प्रवृत्तियों और मान्यताओं पर प्रकाश डाला गया है। साथ ही, समीक्षा पद्धति के रूप में उनकी उपयोगिता एवं प्रासंगिकता पर भी चर्चा की गई है।

इकाई 25 **'अस्तित्ववाद, आधुनिकतावाद और उत्तर-आधुनिकता'** में बीसवीं सदी की इन तीन प्रमुख प्रवृत्तियों का स्वरूप स्पष्ट करते हुए इनके परिदृश्य से छात्रों को परिचित कराया गया है।

इकाई 20 आभिजात्यवाद एवं स्वच्छंदतावाद

इकाई की रूपरेखा

20.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के बाद आप

- आभिजात्यवाद से तात्पर्य स्पष्ट कर सकेंगे
- उसकी प्रमुख प्रवृत्तियों की जानकारी दे सकेंगे
- बता सकेंगे कि स्वच्छंदतावाद से क्या आशय है
- स्वच्छंदतावाद की प्रमुख विशेषताओं का परिचय दे सकेंगे।

20.1 प्रस्तावना

पाश्चात्य साहित्य सिद्धांत के अध्ययन के क्रम में अब तक आप यूनानी आचार्यों से लेकर वर्तमान नयी समीक्षा से सम्बद्ध साहित्य चिंतकों के सिद्धांतों का अध्ययन कर चुके हैं। इस दौरान 'आभिजात्यवाद' और 'स्वच्छंदतावाद' शब्द कई बार आपकी निगाह से गुज़रे होंगे। इन शब्दों का थोड़ा-बहुत अर्थ भी आपकी समझ में आया होगा। ये पाश्चात्य साहित्य चिंतन के दो प्रमुख संकल्पनात्मक और प्रवृत्तिमूलक शब्द हैं जिनकी गहन जानकारी साहित्यशास्त्र के विद्यार्थी के लिए नितांत आवश्यक है।

आभिजात्यवाद और स्वच्छंदतावाद दोनों ही अत्यंत व्यापक, विवादास्पद और संश्लिष्ट अर्थ में प्रयुक्त होने वाली दृष्टियाँ अथवा अवधारणाएँ हैं जिनका इस्तेमाल शताब्दियों से होता चला आ रहा है किंतु जिनकी सुनिश्चित एवं पूर्ण परिभाषा अभी तक संभव नहीं हो सकी है। प्रस्तुत इकाई में आपको इन दोनों अवधारणाओं के बारे में विस्तृत जानकारी प्राप्त हो सकेगी। रोचक बात यह है कि परस्पर विरोधी दिखाई देते हुए भी आभिजात्यवादी और स्वच्छंदतावादी दृष्टियाँ एक-दूसरे की पूरक हैं। एक को भली-भाँति समझने के लिए दूसरी को जानना आवश्यक है। लगभग दो हज़ार वर्षों के ऐतिहासिक क्रम में ये प्रवृत्तियाँ एक-दूसरे के समानांतर चलती हुई आपस में टकराती और परस्पर अंतःप्रवेश करती रही हैं।

20.2 आभिजात्यवाद का अर्थ

हिंदी में आभिजात्यवाद शब्द का प्रयोग उस प्रवृत्ति के लिए किया गया है जिसे अंग्रेजी में 'क्लासिसिज्म' (Classicism) कहा जाता है। आभिजात्यवाद के अतिरिक्त इसके लिए हिंदी में कुछ और नाम भी समय-समय पर प्रस्तावित किए गए हैं जैसे, शास्त्रवाद, श्रेण्यवाद आदि। ये नाम इस प्रवृत्ति की अलग-अलग विशेषताओं की ओर संकेत करते हैं, परंतु अंग्रेज़ी शब्द क्लासिसिज्म जिस अवधारणा के लिए रूढ़ होकर मान्य हो गया है ये समग्रता में उसका बोध कराने में असमर्थ हैं। 'शास्त्रवाद' से शास्त्रबद्धता की व्यंजना होती है और 'श्रेण्यवाद' से श्रेणीबद्धता की। पर क्लासिसिज्म न केवल शास्त्रवाद है, न श्रेणीवाद। ज्यादा से ज्यादा इन्हें उसकी विशेषताएँ माना जा सकता है।

दरअसल साहित्य और कलाओं के संदर्भ में प्रयुक्त होने वाले इस क्लासिसिज्म शब्द का मूल लैटिन भाषा में है। लैटिन शब्द 'क्लासिक्स' का प्रयोग रोम में करदाताओं के सर्वोच्च वर्ग के लिए किया जाता था। दूसरी शताब्दी के एक रोमन लेखक ने इसी आधार पर इसका प्रयोग साहित्य के संदर्भ में 'स्क्रिपतर प्रोलितेरियस' अर्थात् जनता के साहित्य से भिन्न 'स्क्रिपतर क्लासिक्स' अर्थात् अभिजात वर्ग के साहित्य के लिए किया था। परिणाम यह हुआ कि आरंभ में क्लासिसिज्म, क्लासिक और क्लासिकल (आभिजात्यवाद, अभिजात और आभिजात्य) श्रेष्ठता के वाचक हो गए। विशेषकर 'क्लासिक' शब्द का प्रयोग किसी ऐसी वस्तु, रचना अथवा युग के लिए होने लगा जो किसी भी सभ्यता की श्रेष्ठता या उत्कर्ष का बोध कराती हो। परंतु इस अर्थ में 'क्लासिसिज़्म का प्रयोग बहुत समय तक नहीं चला। जैसा शिप्ले ने संकेत किया है, 'उच्च वर्ग की कला या साहित्य के अर्थ में 'क्लासिसिज्म' शब्द का प्रयोग आरंभ के तत्काल बाद ही अप्रचलित हो गया। अतः वर्तमान युग में उसकी विशेष प्रासंगिकता नहीं है।' अब इस शब्द से किसी वर्ग-विशेष की कला अथवा साहित्य का बोध नहीं होता। किंतु कालक्रम में कुछ विशेष प्रकार की कलात्मक और साहित्यिक प्रवृत्तियों के लिए रूढ़ होकर यह शब्द 2000 वर्ष की क्रमशः विकसित अवधारणा का वाचक हो गया है।

व्युत्पत्तिपरक अर्थ की दृष्टि से देखा जाए तो क्लासिसिज्म के प्रति-शब्द के रूप में आभिजात्यवाद का प्रयोग भी बहुत उचित नहीं है क्योंकि न तो 'अभिजात' शब्द का प्रयोग कला या साहित्य के विशेषण के रूप में करना उचित है और न ही 'आभिजात्यवाद' किसी वर्ग-विशेष के साहित्य का वाचक है। अब यह भी लगातार प्रयोग और प्रचलन के कारण अंग्रेज़ी साहित्य में क्लासिसिज्म की 2000 वर्ष की क्रमशः विकसित अवधारणा के लिए हिंदी में रूढ होकर मान्य हो गया है।

क्लासिसिज़्म का एक प्रयोग ऐतिहासिक युग के अर्थ में भी किया गया। काफी समय तक यह धारणा बनी रही कि कालजयी कृतियों (क्लासिक्स) की रचना केवल ग्रीक और लैटिन में हुई। अतः आभिजात्यवाद' का प्रयोग ऐतिहासिक श्रेणी के रूप में एक ऐसे युग के लिए भी किया जाता रहा जिसमें श्रेष्ठ या कालजयी साहित्य की रचना हुई हो। आरंभ में प्राचीन ग्रीस और रोम की संस्कृति और इतिहास के अध्ययन की प्रवृत्ति को, तथा ग्रीक और लैटिन की रचनाओं और रचनाकारों के आदर्श का अनुकरण करने और उनकी टक्कर की कृतियों के रचने की प्रवृत्ति को भी श्रेण्यवाद या आभिजात्यवाद समझा गया।

कुछ-कुछ इसी अर्थ में, संस्कृत के साहित्य के लिए 'क्लासिकल लिटरेचर' पद का प्रयोग प्रचलित है। प्राचीन कालजयी साहित्य के लिए सीमित अर्थ में इस शब्द का प्रयोग सामान्य रूप से बराबर किया जाता रहा है। परंतु समय के साथ 'आभिजात्यवाद' पद का प्रयोग विशेष युग और उसके दौरान रचित साहित्य के अर्थ में सीमित न रहकर सार्वकालिक और सार्वभौमिक हो चला। उदाहरण के लिए, दांते की 'डिवाइन कॉमेडी',शेक्सपियर के नाटक, मिल्टन का 'पैराडाइज़ लास्ट' या एलियट का 'वेस्टलैंड' भी उसी प्रकार कालजयी रचनाएँ हैं जैसी होमर, सोफोक्लीज और वर्जिल की रचनाएँ। इसी तरह, वाल्मीकि 'रामायण', कालिदास का 'कुमारसम्भवम्' और 'अभिज्ञान शाकुंतलम्', तुलसीदास का 'रामचरितमानस', प्रसाद की 'कामायनी', निराला की 'राम की शक्ति-पूजा' और प्रेमचंद का 'गोदान' - विभिन्न युगों में रची जाने पर भी क्लासिक रचनाएँ मानी जाती हैं। इन तमाम रचनाओं में कोई सामान्य विशेषता खोजकर उसके आधार पर 'आभिजात्यवाद' का अर्थ तय करने का प्रयास किया जाएगा तो निराशा ही हाथ लगेगी। इनमें वैधता है तो केवल इस बात की कि इनमें किसी न किसी रूप में 'क्लासिक्स' के आदर्श का अनुसरण किया गया है और ये सभी काल का अतिक्रमण कर कालजयी रचनाएँ सिद्ध हुई हैं।

कहने के लिए रोमांटिक कवियों ने भी किसी हद तक ग्रीक रचनाओं के आदर्श का अनुकरण किया। परंतु उनकी रचना-प्रक्रिया में अनुकरणधर्मिता उतनी नहीं है कि जितनी प्रेरणापरकता। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि **काल के प्रवाह में इस शब्द का संबंध न किसी वर्ग (सामाजिक श्रेणी) से रहा न ऐतिहासिक श्रेणी के रूप में किसी युग-विशेष की रचनाओं से, किंतु किसी न किसी रूप में कालजयी कृतियों के आदर्श के अनुकरण से यह संबंध बराबर बना रहा। बल्कि इसका विस्तार ऐसी कालजयी कृतियों तक हो गया है जिनके आदर्श रूप में अनुकरण की संभावना आगे आने वाले समय में भी प्रतीत होती हो। अर्थात् वे रचनाएँ जिनमें युग-प्रवर्तन की क्षमता निहित हो।**

20.3 आभिजात्यवाद का इतिहास

एक स्पष्ट प्रवृत्ति के रूप में आभिजात्यवाद का आरंभ अरस्तू के व्याख्याकार विचारक होरेस (65 ई.पू.) से माना जा सकता है। यह बात अलग है कि ई.पू. चौथी शताब्दी में ही यह प्रवृत्ति अरस्तू के शास्त्रीय चिन्तन में ही रूप ग्रहण कर चुकी थी। बल्कि यह कहना ज्यादा सही होगा कि अरस्तू से ही पहले प्लेटो के काव्य-चिंतन में भी एक पक्ष ऐसा है जिसमें क्लासिकी चिंतन के सकेत मिलते हैं। कविता में भावोद्रेक के स्थान पर बुद्धि-विवेक पर बल देते हुए काव्य के द्वारा भावोद्वेलन की सामर्थ्य को मनुष्य की प्रकृति के लिए घातक मानना, आवेश के स्थान पर संयम का आग्रह करना, और भाषा में अलंकृति की तुलना में सादगी और सरलता का समर्थन करना - ऐसी बात हैं जो प्लेटो के क्लासिकी रुझान को सूचित करती हैं। प्लेटो की सत्यनिष्ठा और वाक्य-संयम को क्लासिकी आदर्श का आधार स्वीकार किया जाता है। इस प्रकार, आभिजात्यवाद की नीव आदि आचार्य प्लेटो के काव्य-चिंतन में पड चुकी थी। पर प्लेटो ने काव्यशास्त्र पर किसी स्वतंत्र ग्रंथ की रचना नहीं की।

पाश्चात्य साहित्यशास्त्र ने निश्चित रूप अरस्तू तक आते-आते ग्रहण किया। इसका प्रमाण है - अरस्तू के ग्रंथ का नामकरण - 'पोएटिक्स' (काव्यशास्त्र)। अरस्तू का जो पक्ष उन्हें आभिजात्यवाद के पुरस्कर्ता के रूप में प्रतिष्ठित करता है और प्लेटो से अलग करता है वह है मुख्य रूप से त्रासदी और उसके साथ महाकाव्य आदि अन्य काव्य-विधाओं का विवेचन और उन पर विस्तार से विचार-विमर्श। उन्होंने इन विधाओं के नियमों का निरूपण करते हुए उनके पालन पर जिस रूप में बल दिया उससे आगे चलकर शास्त्रवादी पद्धति का रूप स्थिर हुआ। अरस्तू ने नाटक और काव्य-रचना के जिन नियमों का विधान किया था उन्हीं को आधार बनाकर शास्त्रीय नियमबद्धता, रूप की स्थिरता और रचना में अनुशासन को अनिवार्य मानने वाली रचना-पद्धति का प्रचलन हुआ।

अरस्तू के बाद ग्रीस और रोम में साहित्य रचना का क्रम तो निरंतर चलता रहा और उसमें विश्व-साहित्य की कुछ महान कृतियाँ सामने आईं परंतु लगभग दो शताब्दियों तक साहित्य-चिंतन की दिशा में कोई उल्लेखनीय प्रगति नहीं हुई। किंतु ई.पू. पहली शताब्दी तक आते-आते सर्जनशीलता का ह्रास होने लगा। मंद प्रतिभा रचनाकारों से मौलिकता की आशा तो की ही नहीं जा सकती थी, सामान्य रचनाओं के स्तर में भी गिरावट आ गई थी। इन परिस्थितियों के अनुरोध से यदि होरेस (65 ई.पू.) जैसे कवि-विचारक ने अरस्तू के सिद्धांत की व्याख्या करने की आवश्यकता महसूस की तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। उन्होंने समसामयिक साहित्य की ह्रासशील स्थिति को देखते हुए रचना के प्राचीन सिद्धांतों के अनुसरण को ही नहीं, प्राचीन श्रेष्ठ कवियों के अनुकरण को भी आवश्यक ठहराया। इस प्रकार, पश्चिम में 'क्लासिसिज़्म' की पद्धति कालजयी श्रेष्ठ कृतियों के अनुकरण तथा शास्त्र-विहित सिद्धांतों के श्रद्धापूर्वक अनुसरण के आग्रह के साथ स्पष्ट रूप से सामने आई।

'आभिजात्यवादी' सिद्धांतों के संकेत प्लेटो में और विकास तथा विस्तार भले ही अरस्तू और होरेस के चिंतन में हुआ हो, परंतु 'आभिजात्यवादी' साहित्य रचना का संबंध मूलतः 'क्लास' या वर्ग-विभाजन के इतिहास से है। प्राचीन रोम में पाठक-वर्ग के सामाजिक-बौद्धिक स्तर को देखते हुए दो प्रकार के साहित्य की रचना की जा रही थी -

1. **स्क्रिपतर प्रोलेतेरियस** - जिसका लक्ष्य था लगभग अशिक्षित, कामकाजी, निम्न-वर्गीय जनता। इस साहित्य को जन-साहित्य या लोक-साहित्य का आरंभिक रूप कहा जा सकता है।
2. **स्क्रिपतर क्लासिक्स** - जिसकी रचना सुशिक्षित, उच्च-वर्गीय, सम्भ्रान्त समाज को दृष्टि में रखकर की जाती थी।

दूसरे प्रकार के साहित्य (अर्थात् स्क्रिपतर साहित्य) को उच्च वर्ग का संरक्षण प्राप्त होता था और यह साहित्य उच्च वर्ग की संस्कृति से सम्बद्ध, परिमार्जित और 'शास्त्रबद्ध' साहित्य होता था। ऐसे अभिजातवर्गीय साहित्य की मूल्यवत्ता को मान्यता देने तथा उसका अनुकरण करने की प्रवृत्ति के कारण ही इसका नाम आरंभ में आभिजात्यवाद पड़ा। एलेक्ज़ेंड्रा के लेखकों ने और रोम में - होरेस, बोकेशियो, सिसरो, डिमेट्रियस, पैट्रिआर्क आदि सभी लेखकों ने ग्रीक रचनाओं का अनुकरण किया और आभिजात्यवादी परपरा का विस्तार किया।

समाज की उच्च श्रेणी से सम्बद्ध होने के कारण आचार्य नलिनविलोचन शर्मा ने 'क्लासिसिज़्म' शब्द के लिए हिंदी में 'श्रेण्यवाद' शब्द प्रस्तावित किया जो विशेष प्रचलित नहीं हो पाया। इसकी तुलना में

क्लासिसिज़्म के लिए 'आभिजात्यवाद' के समानांतर 'शास्त्रवाद' शब्द का प्रचलन अपेक्षाकृत अधिक हुआ।

जैसा हम संकेत कर चुके हैं, आभिजात्यवाद का स्वरूप ईसा पूर्व पहली शताब्दी में एकदम स्पष्ट हो चुका था। ईसा की पाँचवीं सदी तक साहित्य-चिंतन में इसका कुछ न कुछ प्रभाव बना ही रहा। यहाँ तक कि साहित्य में 'उदात्त' तत्व का प्रतिपादन करने वाले आचार्य लांजाइनस/लोंगिनुस के उदात्त-विवेचन में भी आभिजात्यवादी तत्वों के संकेत मिलते हैं। मुख्यतः रोमाण्टिक कवियों और आलोचकों को प्रभावित तथा प्रेरित करने वाले एवं स्वयं प्रथम रोमाण्टिक क्रिटिक माने जाने वाले लोंगिनुस जब उदात्त की 'कला' पर बल देते हैं, वक्तृता और काव्य दोनों में यथार्थ का आग्रह करते हैं तथा प्रतिभा एवं अभ्यास के समुचित संतुलन में ही काव्य का चरमोत्कर्ष मानते हैं तो उनमें एक क्लासिकी अथवा शास्त्रवादी आलोचक की मर्यादा दिखाई पड़ती है। इसलिए यह आकस्मिक नहीं है कि 'नयी समीक्षा' के आलोचकों ने भी उन्हें अपने लिए प्रासंगिक माना है।

मध्यकालीन यानी पाँचवीं से पन्द्रहवीं शताब्दी का समय पूरे यूरोप में साहित्य तथा कला-विवेचन की दृष्टि से अंधकार-युग समझा जाता है। यह समय धार्मिक अंधविश्वास तथा नैतिक कट्टरता से युक्त साहित्य के वर्चस्व का समय माना जाता है। इस दौरान, ईसाई धर्म ने ऐसा जड़ नैतिकतावादी रूप धारण कर लिया था कि उससे साहित्य तथा कला के आनंदवादी स्वरूप और तत्वों की क्षति हुई। यह वस्तु-स्थिति साहित्य तथा कलाओं के विकास के लिए अनुकूल नहीं थी। इसीलिए 'मैडीवल एज' या 'मैडीलिज़्म' शब्द अंधविश्वासपूर्ण, जड़ और विज्ञान-विरोधी दृष्टि का पर्याय हो गया। हिंदी में भी 'मध्ययुगीन बोध' इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है।

यूरोप में यह जड़ता चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी में 'रेनेसाँ' अर्थात् पुनर्जागरण की शुरूआत के साथ टूटी। जन-जीवन में व्यक्ति-स्वातंत्र्य और मानववाद की प्रतिष्ठा करने वाली एक नई तथा मुक्त विचारधारा का आरंभ हुआ जिसके प्रभाव से साहित्य और कलाओं में भी मुक्ति एवं स्वच्छंदता की संभावना दिखाई पड़ी। यह बात अलग है कि जिन प्रवृत्तियों ने जागरण और परिवर्तन की उम्मीद जगायी थी, वे आगे चलकर अतिवाद का शिकार हो गईं।

फ्रांस में कला की बारोक शैली का प्रचलन हुआ। यह सही है कि इस शैली का प्रचलन साहित्य की अपेक्षा चित्रकला में अधिक हुआ। पुनर्जागरण के अंतिम छोर यानी सत्रहवीं शताब्दी के आरंभ में इसका वर्चस्व यूरोपीय कला, विशेष तौर पर फ्रांस की कला में स्थापित हो गया। इसमें व्यक्ति मन की व्याकुलता और आंतरिक तड़प की अभिव्यक्ति जिस घोर व्यक्तिवादी शैली में हुई वह एक सीमा तक स्वच्छंदतावाद के निकट मानी जा सकती है।

स्वतंत्रता और कल्पना क्रमशः जिस अराजकता में बदलने लगी थी उसकी प्रतिक्रिया शास्त्रवाद या आभिजात्यवाद के पुनरुत्थान के साथ हुई। चूँकि यह पुरानी प्रवृत्ति का पुनरावर्तन था, अतः शास्त्रवाद के इस नए उन्मेष को 'नियो क्लासिसिज़्म (Neo-Classicism)' अर्थात् 'नव्य-आभिजात्यवाद' कहा गया। इस प्रवृत्ति की शुरूआत लगभग पुनर्जागरण के समानांतर हो चुकी थी। पन्द्रहवीं शताब्दी के बीच अरक्षित विद्वान अपनी ग्रंथ सम्पदा के साथ इटली में आकर बस गए। इन ग्रंथों के अध्ययन, अनुवाद और पुनर्व्याख्या का सिलसिला वहीं शुरू हुआ। इससे वहाँ जो वातावरण बना उसमें इतालवी मानववादियों को साहित्य तथा कलाओं को धार्मिक श्रृंखलाओं से मुक्त कर स्वतंत्र साधना का अवसर मिला। किंतु यह मुक्ति भी जब उच्छृंखलता का रूप लेने लगी तो एक बार फिर आभिजात्यवादी मूल्यों की स्थापना की आवश्यकता महसूस हुई और उनकी प्रतिष्ठा का दौर आरंभ हुआ।

क्लासिकी साहित्य-सिद्धांतों की नींव मुख्य रूप से अरस्तू के काव्यशास्त्र पर लगातार होने वाले विवादों और व्याख्याओं से पड़ी। प्राचीन ग्रंथों के अध्ययन का सिलसिला यद्यपि इटली में ही शुरू हुआ लेकिन नव्य-आभिजात्यवाद का उन्मेष पहले फ्रांस में हुआ। शायद इसलिए कि पुनर्जागरण की प्रवृत्तियों का ह्रास भी सबसे पहले वहीं दिखाई पड़ रहा था। सोलहवीं शताब्दी में इंगलैंड में सर फिलिप सिडनी (1554-86) क्लसिकी मूल्यों को एक हद तक मान्य ठहरा चुके थे, किंतु उनकी दृष्टि मूलतः पुनर्जागरणवादी ही थी।

सही अर्थ में नव्य-शास्त्रवाद का विकास सत्रहवीं शताब्दी में फ्रांस में हुआ। फ्रांसीसी शास्त्रवाद का आरंभ 'बारोक' संस्कृति की गैर-शास्त्रीयता के विरोध में हुआ। रासोन, कार्नील और बुअलो जैसे

रचनाकार साहित्य में फैली अराजकता का विरोध करने लगे। सर्जन की स्वतंत्रता के नाम पर साहित्य में जो अशास्त्रीयता व्याप्त हो गई थी उसके विरुद्ध इन रचनाकारों ने शास्त्रीयता और संयम की प्रतिष्ठा का प्रयत्न किया। साहित्यिक रचनाओं के नियमों और सिद्धांतों के लिए इन लोगों ने अरस्तू और होरेस को आदर्श बनाया। संवेगों और भावनाओं की अनियंत्रित अभिव्यक्ति के विरुद्ध इन्होंने विवेक, स्पष्टता और व्यवस्था की वकालत की। प्राचीन साहित्य को उन्होंने श्रेष्ठ माना और अपने समय के लिए अनुकरणीय कहा। साहित्य में इस प्रवृत्ति का प्रतिफलन विशेष रूप से नाटकों में दिखाई पड़ा। मोलियर, कार्नील और रासीन आदि के शास्त्रानुमोदित परिपाटीबद्ध उच्च-कोटि के नाटकों में आभिजात्यवादी दृष्टि का चरम विकास हुआ।

यूरोप के देशों में नव्य-शास्त्रवाद का प्रतिफलन एक ही रूप में नहीं हुआ। फ्रांसीसी शास्त्रवाद अभिजात समाज-दृष्टि को प्रतिबिम्बित करता था। एक ऐसी दृष्टि जिसमें कला को सामान्य जनता की नहीं विशिष्ट जन-समुदाय की सम्पदा माना जाता था। परिणामतः ये रचनाएँ इसी विशिष्ट अभिजात वर्ग के दृष्टिकोण तथा अभिरुचि से निर्धारित होती थीं।

इंगलैंड में सत्रहवीं शताब्दी में ही नव्य-आभिजात्यवाद का प्रभाव दिखाई पड़ने लगा था। सत्रहवीं से अठारहवीं शताब्दी तक बेन जॉनसन (1573-1637), जान ड्राइडन (1631-1700), अलेक्जेंडर पोप (1688-1744), तथा सैमुअल जॉनसन (1740-95) आदि रचनाकारों ने इस प्रवृत्ति का पोषण किया। इस दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करने वाली रचना पोप का 'एस्से ऑन क्रिटिसिज़्म' (1711) है। अंग्रेज़ी आलोचना में बेन जॉनसन को पहला अंग्रेज़ विद्वान माना गया है, जिसकी रचनाओं में नव्य-आभिजात्यवादी प्रवृत्तियाँ अपने विकसित रूप में दिखाई पड़ती हैं। बेन जॉनसन ने सिद्धांत-विवेचन भी किया और होरेस के 'आर्स पोएटिका' का अनुवाद भी।

ड्राइडन ने भी वर्जिल, जुबेनल, ओविड आदि का अनुवाद भी किया और अपनी रचनाओं में परम्परा के श्रेष्ठ तत्वों के प्रति आस्था का भी परिचय दिया। उनकी रचना 'एन एस्से ऑन ड्रैमेटिक पोएजी' (1668) से उनकी साहित्यिक मान्यताओं का परिचय मिलता है।

पोप के साहित्यिक सिद्धांतों का आधार भी प्राचीन विचारों की परम्परा थी। उनका विश्वास था कि इन सिद्धांतों का आधार लेने पर सफलता निश्चित होती है। उनका संबंध अपने युग के मध्य-वर्ग से था। उन्होंने फ्रांसीसी आभिजात्यवाद से विवेक, संयम तथा अनुशासन-प्रियता को तो ग्रहण कर लिया, परंतु उसके उच्च-वर्गीय या दरबारी चरित्र को नहीं। लेखक के सामाजिक दायित्व के प्रति उन्हें गहरी आस्था थी। उनका विचार था कि व्यक्तियों और उनके व्यवहार पर लेखक का प्रभाव पड़ता है। इसलिए यह ज़रूरी है कि वह ऊँचे नैतिक और सौंदर्यशास्त्रीय प्रतिमानों की प्रतिष्ठा करे तथा लोगों को व्यवहार की शिक्षा दे। शिक्षित मध्य वर्ग के उदय और छापेखाने के विकास के कारण साहित्य अब बहुत बड़े समुदाय को सुलभ होने लगा था। उनकी इस चिंता का एक महत्वपूर्ण कारण यही था। अपने युग की आवश्यकता के अनुरूप पोप की दृष्टि में खुलापन था, परंतु उनके रचना संबंधी आदर्श पुराने ही थे। वे रचना के शिल्प के लिए शास्त्रीय नियमों का पालन अनिवार्य मानते थे।

कुल मिलाकर सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दी के अंग्रेज़ी साहित्य-चिंतन में प्राचीन आभिजात्यवादी दृष्टि के अनुरूप साहित्य में तर्क और बुद्धि पक्ष को प्रधानता दी गई, शास्त्रीय नियमों के पालन की आवश्यकता पर बल दिया गया और संयम, संतुलन एवं आदर्शवाद का समर्थन किया गया। आभिजात्यवाद के इस नए संस्करण में आभिजात्यवाद से अंतर यह था कि इनकी दृष्टि अभिजात वर्ग तक सीमित न रहकर जन-सामान्य तक व्याप्त हो गई थी। यह अंतर मामूली अंतर नहीं था। नव्य-आभिजात्यवाद का यह दौर इंगलैंड में अठारहवीं शताब्दी के अंत तक समाप्त हो चला था।

नव्य-आभिजात्यवाद को दार्शनिक आधार अठारहवीं शताब्दी में जर्मनी में पहुँचकर मिला। गेटे, शिलर, ह्यूम आदि विचारकों के विवेचन में इसका स्पष्ट प्रभाव दिखाई पड़ा। ह्यूम (1711-46) के अनुसार मनुष्य की वृत्ति मूलतः पापोन्मुख होती है, इसलिए उसे स्वतंत्र छोड़ने की नहीं नैतिक नियमों में बाँधने की जरूरत है। रचना के मूल्य तभी प्रभावी हो सकते हैं जब उनके मानदंड निर्वैयक्तिक, वस्तुनिष्ठ और सामाजिक हों, आत्मपरक या आंतरिक नहीं।

सत्रहवीं शताब्दी के अंत में 'प्राचीनों' और 'आधुनिकों' के बीच गहन विवाद हुआ जो अठारहवीं शताब्दी तक जारी रहा। अठारहवीं शताब्दी में शास्त्रवाद का पक्ष-समर्थन कर रहे थे श्लेगल और उसे

जड़ तथा रूढ़िबद्ध करार देकर उसका विरोध कर रहीं थीं फ्रांसीसी विदुषी मदाम द स्ताल, जिन्होंने साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन की पद्धति के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया था। विजय अंत में स्वच्छंदतावाद की हुई।

आभिजात्यवादी दृष्टिकोण एक बार फिर उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तथा बीसवीं शताब्दी के आरंभ में उभरने लगा। यह प्रवृत्ति आरंभ में इंगलैंड तथा अमरीका में दिखाई पड़ी। फ्रांस में सैंट ब्यव (1804-69) ने क्लासिक रचनाओं का उल्लेख करते हुए नैतिकता, आदर्श, मानवीयता तथा मध्यम मार्ग को उनकी प्रमुख विशेषता माना। इसके साथ उन्होंने उसमें अभिकल्प की अन्विति (यूनिटी ऑफ डिज़ाइन) समुचित निष्पादन (एक्ज़ेक्यूशन) तथा व्यवस्था को आवश्यक ठहराया। इसके साथ ही उसमें सम्प्रेषणीयता और सार्वकालिकता की वकालत की। सैंट ब्यव ने आभिजात्यवादी रचनाकारों की विशेषताओं को भी रेखांकित किया।

इंगलैंड में मैथ्यू आर्नल्ड (1822-89) ने स्वच्छंदतावाद के पराभव के समय साहित्य को जीवन से जोड़ने की आवश्यकता को समझाया। यह ऐसा समय था जब समाज से साहित्य का संबंध घटता जा रहा था। आर्नल्ड ने सामाजिक और नैतिक प्रतिमानों पर बल देते हुए कविता को 'जीवन की आलोचना' कहा। उनके अनुसार कविता का प्रयोजन है - लोक-कल्याण, मात्र मनोरंजन नहीं। इस लक्ष्य को सिद्ध करने के लिए उसे उस प्राचीन (अभिजात) साहित्य के आदर्श का अनुसरण करना अनिवार्य है जिसमें महान कृत्यों और मनुष्य के स्थायी मनोवेगों का वर्णन गरिमा, गंभीरता और संतुलन के साथ किया जाता था। आर्नल्ड ने काव्य में वस्तु और रूप के संतुलन की आवश्यकता पर भी बल दिया। उन्होंने रचना और आलोचना, दोनों के ही लिए गरिमा, संतुलन और नैतिक दृष्टि से प्रेरित आभिजात्यवादी मूल्यों पर बल दिया।

आर्नल्ड के बाद बीसवीं शताब्दी में जिन विचारकों ने नव्य-आभिजात्यवाद को नए सिरे से पुनः परिभाषित किया उनमें विशेष रूप से इर्विंग बैबिट, टी.एस.एलियट और टी.ई.ह्यूम की गणना की जाती है। इनमें सर्वाधिक महत्व टी.एस.एलियट (1882-1965) का है। उन्होंने सन 1928 में साहित्य के प्रति अपना दृष्टिकोण को औपचारिक रूप से 'आभिजात्यवादी' कहा। वे सन 1919 में ही अपने प्रसिद्ध निबंध 'ट्रेडिशन एण्ड इंडविजुअल टैलेन्ट' में आभिजात्यवादी सिद्धांतों की स्थापना कर चुके थे। कला को उन्होंने वस्तुनिष्ठ माना। विषय में गरिमा और प्रौढ़ता पर बल दिया और नव्य-आभिजात्यवाद की परंपरा में कुछ नए बिंदु जोड़े। परम्परा को महत्व देने के साथ उन्होंने वैयक्तिक प्रतिभा के महत्व को भी स्वीकार किया। परम्परा के बारे में उनकी निजी अवधारणा थी। वे परम्परा को जड़ और निरपेक्ष नहीं मानते थे। उनके अनुसार हर रचना परम्परा का हिस्सा तो होती ही है, साथ ही वह उसमें (परंपरा में) कुछ जोड़ती और बदलती भी है। परंतु एलियट परंपरा और 'परंपरा' में अंतर करते थे। उन्होंने अंग्रेजी कविता के इतिहास में दरबारी कविता के प्रति रुचि का तिरस्कार किया और परंपरा के महत्वपूर्ण रचनाकारों और युगों का पुनर्मूल्यांकन किया। एलियट ने आर्नल्ड की ही तरह, आलोचना की भूमिका पर भी विचार किया और तटस्थता को उसका आवश्यक गुण माना।

ह्यूम ने **रोमाण्टिसिज़्म** की सापेक्षता में **क्लासिसिज़्म** की व्याख्या करते हुए उसके दार्शनिक आधार को स्पष्ट किया। उन्होंने कहा : 'रूसो के अनुसार रोमाण्टिसिज्म में मनुष्य को संभावनाओं का अनंत कोश माना गया, जबकि क्लासिकी दृष्टि के अनुसार मनुष्य वस्तुतः सीमाबद्ध प्राणी है। वह परम्परा तथा नियमों के अनुशासन से ही मूल्यवान उपलब्धि करता है।' ह्यूम की इस मान्यता के मूल में ईसाई मत की मनुष्य संबंधी अवधारणा, जिसके अनुसार मनुष्य प्रकृत्या पतनशील और पापी होता है, काम कर रही है।

बीसवीं शताब्दी में एलियट, ह्यूम और अन्य विचारकों ने नव्य-आभिजात्यवादी दृष्टि के माध्यम से वस्तुनिष्ठता को अनिवार्य कला-मूल्य के रूप में स्थापित किया। इसी युग में कुछ दूसरे आंदोलनों और अनुशासनों में भी वस्तुनिष्ठता की प्रवृत्ति का समर्थन किया गया। इनमें मुख्य थी - रूपवादी आलोचना, जिसमें कविता को मूलतः भाषिक रचना माना गया। परिणामतः उसके अध्ययन का आधार भी उसकी अंतर्वस्तु को नहीं रूपगत विधान को बनाया गया। इन आलोचकों ने अपनी आलोचनात्मक सामर्थ्य का उपयोग कृतियों के भाषिक-विश्लेषण में किया।

नव्य-आभिजात्यवाद की विशेषताओं पर ध्यान देने से यह स्पष्ट दिखाई पड़ता है कि ये विशेषताएँ आभिजात्यवाद में लक्षित होने वाली विशेषताओं से मूलतः भिन्न नहीं हैं। आभिजात्यवाद में प्राचीन ग्रीक

और रोमन साहित्य के साथ-साथ उस विचार-पद्धति के प्रति भी आस्था थी जिसके आधार पर उस साहित्य की रचना हुई थी। इस आस्था के मूल में परंपरा के प्रति श्रद्धा और आदर का भाव था। इनका मानना था कि प्राचीन परंपराओं को जन्म देने वाला समाज एक प्रकार से पूर्ण समाज है। यही कारण है कि उसने परंपरा की श्रेष्ठता के शिखर को पा लिया। आभिजात्यवादी विचारकों का विश्वास था कि प्राचीन युग के रचनाकारों ने अभिव्यक्ति के समुचित साधन पाकर सभी कला-रूपों को सिद्ध कर लिया है। इसलिए उनके द्वारा स्थापित नियमों को शाश्वत और सार्वकालिक मानकर, हर युग में उन्हें कला की रचना का आधार और मूल्यांकन की कसौटी बनाना चाहिए।

नव्य-आभिजात्यवाद में भी लम्बे समय तक इसी विचार का कट्टरता से समर्थन और अनुगमन किया गया। कार्नील, बुअलो, रासीन आदि ने सभी स्तरों पर प्राचीन साहित्य के अनुकरण को उचित माना तथा साहित्य-रूपों के अनिवार्य तत्वों का निर्धारण प्राचीन रचनाओं और सिद्धांतों के ही आधार पर किया।

इस दृष्टि में बदलाव अट्ठारहवीं शताब्दी में उस समय आया जब अलेक्जेंडर पोप ने इस बाह्य अनुकरण के बजाय आदर्शों के अनुकरण पर बल दिया।

आभिजात्यवाद और नव्य-आभिजात्यवाद में प्राचीन मूल्यों के प्रति निष्ठा के कारण नए प्रयोगों का विरोध किया जाता रहा। अनुकरण और शास्त्रबद्धता जो क्रमशः रूढ़िबद्धता का रूप ग्रहण कर लेती है, कृति में संतुलन और अनुशासन भले ही लाती हो, परंतु वैयक्तिकता, सर्जनशीलता और मौलिकता के मार्ग में बाधक होती है। इसी कारण परवर्ती नव्य-आभिजात्यवाद में रचना परंपरा के अनुकरण के बजाय मूल्यों और आदर्शों के अनुसरण को प्राथमिकता दी जाने लगी।

नव्य-आभिजात्यवाद में भी प्राचीन अभिजात-साहित्य की तरह वैशिष्ट्य (एक्सिलेंस) और चिरंतनता (परमानेंस) को ही साहित्य का शाश्वत मूल्य माना गया। नव्य-आभिजात्यवाद में कला तथा साहित्य में संतुलन, संयम, अनुशासन, व्यवस्था तथा तर्क-संगति पर बल दिया गया। वस्तुनिष्ठता पर अधिक बल देने के कारण नव्य-आभिजात्यवादी चिंतन में रूप (फॉर्म) पर बल बढ़ता गया। कृति की श्रेष्ठता का आधार उसके बाह्य गठन का सौष्ठव हो गया। भाषा, अलंकार और छंद योजना का महत्व बढ़ता गया और मौलिक सृजन की संभावना कम होती गई।

आभिजात्यवाद और नव्य-आभिजात्यवाद, दोनों में वैयक्तिकता की तुलना में सार्वभौमिकता का पक्ष प्रधान रहा। कवि के लिए उन्होंने आवश्यक माना कि वह देश-काल से निरपेक्ष होकर सही और गलत, उचित और अनुचित के प्रत्ययों का सार्वभौम स्तर पर विवेचन करे। अर्थात् तात्कालिक देश और काल, दोनों का अतिक्रमण उसके लिए वांछित समझा गया। इस धारणा के अनुसार रचनाकार का सरोकार व्यक्ति तक सीमित न होकर संपूर्ण जाति और समाज की सामान्य तथा व्यापक वृत्तियों से होना चाहिए। काव्य के प्रयोजनों में भी उन्होंने शिक्षा को प्रमुखता देते हुए आनंद को गौण माना।

आभिजात्यवाद मूल रूप से अभिजात वर्ग के साहित्य से प्रेरित हुआ था। नव्य-आभिजात्यवादी साहित्य भी नागर और सुशिक्षित वर्ग से जुड़ा था। इस साहित्य में भावना की अपेक्षा बुद्धि और तर्क की प्रधानता थी। आभिजात्यवाद में सामान्यतः भावुकता और आत्मानुभूति की उपेक्षा की जाती थी, किंतु आगे चलकर नव्य-आभिजात्यवाद में पंडिताऊ वृत्ति की कट्टर शास्त्रबद्धता धीरे-धीरे कम होती गई और सिद्धांत-निरूपण के लिए तर्क, विवेक और युगानुरूपता को अधिक महत्व दिया जाने लगा। बीसवीं शताब्दी तक आते-आते अनुभूति और संवेदनशीलता के महत्व को भी स्वीकार किया जाने लगा। नव्य-आभिजात्यवादी दृष्टि मूलतः समाजोन्मुखी होती है और यह भी सही है-कि सिद्धांत के स्तर पर रचना में भाव और बुद्धि का समन्वय होना चाहिए। एलियट ने इसी कारण रोमांटिक काव्य में भाव और कल्पना के बढ़ते प्रभुत्व को खतरे के रूप में देखा था और संवेदना को हृदय तथा बुद्धि के खानों में बाँटकर साहित्य के मूल्यांकन का विरोध किया था। वे काव्य में वैयक्तिक और निर्वैयक्तिक तत्वों की पहचान भी द्वंद्वात्मक सह-अस्तित्व के रूप में करते थे, परस्पर विरोधी रूप में नहीं।

आर्नल्ड ने कविता और जीवन के पारस्परिक संबंध पर जिस रूप में बल दिया था, आगे चलकर प्रगतिशील विचारधारा में भी उसका समर्थन किया गया। यह कहना अनुचित नहीं होगा कि नव्य-आभिजात्यवाद की मूल दृष्टि में अनेक बातें ऐसी हैं जिन्होंने बीसवीं शताब्दी के साहित्यालोचन की प्रवृत्तियों को अलग-अलग ढंग से प्रभावित किया है।

20.4 प्रमुख प्रवृत्तियाँ

आभिजात्यवाद को परिभाषित कर उसकी विशेषताओं का निरूपण करने का कारगर प्रयास उन स्वच्छंदतावादियों ने किया जो अपने पक्ष-समर्थन के लिए आभिजात्यवाद का विरोध कर रहे थे। दूसरी बार, आभिजात्यवाद पर विचार उन विचारकों ने किया जो स्वच्छंदतावाद के विरोध में आभिजात्यवाद की पुनः प्रतिष्ठा कर रहे थे। यह विडम्बना ही कही जाएगी कि हर बार आभिजात्यवाद का विरोधी समझा जाने वाला स्वच्छंदतावाद ही उसे परिभाषित करने और उसकी प्रवृत्तियों का निर्धारण करने में सहायक हुआ। शिपले के अनुसार, 'रोमाण्टिक विचारकों और कवियों ने 'क्लासिसिज़्म' संज्ञा के इतने भिन्न और विविध प्रयोगों के सामान्य आधार और संयोजक अवधारणा की कुंजी प्रदान की।'

वस्तुतः आभिजात्यवादी कला उस समाज या पीढ़ी की सृष्टि होती है, जिसे अपनी उपलब्धि और प्रगति के साथ जीवन के उचित और व्यापक दृष्टिकोण की सिद्धि का एहसास हो। साथ ही भाषा और कला-रूपों में अपने मानस की अभिव्यक्ति के समुचित माध्यम को पा लेने का बोध हो। अर्थात् आभिजात्यवाद में आस्थावान समाज का संतुलन अभिव्यक्ति पाता है।

अध्ययन की सुविधा के लिए आभिजात्यवाद की प्रवृत्तियों को निम्नलिखित रूप में सूत्रबद्ध किया जा सकता है -

1. **अनुकरण** : आभिजात्यवादी कला में मौलिक सृजन की अपेक्षा साहित्य के प्राचीन और चिर-परिचित रूपों के प्रति आकर्षण दिखाई पड़ता है। इस प्रवृत्ति के रचनाकार प्राचीन कलाकारों के कृतित्व का रूपांतर करने अथवा उनकी अनुकृति बनाते रहने का प्रयास करते हैं। साहित्यिक परंपरा के प्रति इस निष्ठा के मूल में यह विश्वास रहता है कि मनुष्य परंपरा और व्यवस्था के अभाव में कोई अच्छी बात कर ही नहीं सकता। आरंभ में जो बल रचनाकारों और रचनाओं पर दिया जाता है, आगे चलकर वह आदर्शों के बल पर दिया जाने लगा।

2. **सायास निर्मिति** : रचना को अनुकरण मानने के कारण आभिजात्यवाद के समर्थक रचना को स्वतः स्फूर्त मौलिक सृजन न मानकर **सायास निर्मित कलाकृति** मानते हैं। आभिजात्यवाद कला में परिष्कृत रुचि, जीवन की व्यापक दृष्टि के साथ-साथ विवेक और भावना तथा वस्तु और रूप-आकार के संतुलन को प्राथमिकता देता है। रचना के अंतरंग पक्ष में मर्यादित औदात्य, आत्मा की गरिमा, स्वच्छता और प्रशान्ति पर बल दिया जाता है तथा विचारों में व्यवस्था और स्पष्टता पर। अभिव्यक्ति में सादगी, संतुलन और सानुपातिक संरचना इन रचनाकारों का लक्ष्य होती है। अभिव्यक्ति की प्रक्रिया में नए रूपों और संरचनाओं की खोज तथा उद्‌भावना इनका उद्देश्य नहीं रहता क्योंकि ये मानकर चलते हैं कि विशेष प्रकार के विषयों के लिए कुछ निश्चित रूपाकार ही उचित अतः पूर्व-निर्धारित होते हैं। इनके यहाँ कृति की रचना अंतःस्फूर्त भावों अथवा आवेग के अनायास उच्छलन के रूप में नहीं होती, सोच-समझकर योजनाबद्ध रूप में की जाती है।

3. **वस्तुनिष्ठ कला** : आभिजात्यवादी कला मूलतः वस्तुनिष्ठ कला होती है। इनकी दृष्टि में स्वच्छंदतावादी कला की आत्म-निष्ठता के प्रति अविश्वास और वस्तुनिष्ठता के प्रति समादर का भाव रहता है। वस्तुनिष्ठ प्रतिमानों की स्वीकृति का कारण किसी हद तक इस दृष्टिकोण की अनुकरण-धर्मिता है। मिडिल्टन मरे ने धार्मिक मान्यता से इसकी संगति की चर्चा करते हुए कहा है - 'कैथोलिक मत व्यक्ति से बाहर अतर्क्य आध्यात्मिक सत्ता के सिद्धांत का समर्थन करता है। आभिजात्यवाद का सिद्धांत भी यही है। अपने से बाहर की किसी चीज़ के प्रति निष्ठा रखे बगैर मनुष्य का काम नहीं चल सकता।' अर्थात् व्यक्ति मन की आंतरिकता और आत्म-प्रियता के बजाय जीवन की ठोस वास्तविकता इस कला की विषय-वस्तु होती है।

4. **भाव-संयम और भाव-व्यवस्था** : आभिजात्यवाद में भावना का निषेध नहीं किया गया। वस्तुतः अनुभूति के अभाव में उत्कृष्ट कला का सृजन संभव ही नहीं है। किंतु रोमांटिक काव्य-चिंतन में भावोच्छ्‌वास या भावावेग को जिस रूप में काव्य-सृजन का मूल हेतु माना गया, उस रूप में आभिजात्यवादी दृष्टि भावों की अभिव्यक्ति का समर्थन नहीं करती। उसमें भावावेग के स्थान पर भाव-संयम और भाव-व्यवस्था पर बल दिया गया और भावोच्छलन या भावों की स्वतःस्फूर्त अभिव्यक्ति के प्रति अविश्वास प्रकट किया गया।

5. **सार्वभौमिकता** : स्वच्छंदतावाद में काव्य को मूलतः कवि की आत्मीय अभिव्यक्ति माना जाता है। उसमें व्यक्ति की प्रतिष्ठा और प्रतिनिधित्व होता है। इसके ठीक विपरीत, आभिजात्यवादी कलाकार की प्रमुख आकांक्षा होती है कि उसका साहित्य विश्वजनीन सभ्यता का चरम

प्रतीक हो। इस प्रकार की सार्वभौमिकता को लक्ष्य के रूप में स्थिर करने वाले कलाकार के लिए जरूरी हो जाता है कि वह अपनी रचना को यथासंभव अधिकाधिक निर्वैयक्तिक बनाए। इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए वह देश-काल का ही नहीं अपनी वैयक्तिकता का भी बराबर अतिक्रमण करने का प्रयास करता है।

6. **वस्तुनिष्ठता** : वैयक्तिकता के अतिक्रमण की एक प्रवृत्ति आत्म की तुलना में वस्तु को महत्व देने की होती है और दूसरी नवीनता की उद्‌भावना की अपेक्षा परंपरा का अनुगमन करने की। स्वच्छंदतावादी जहां कल्पना के पंखों पर नित नए लोकों का भ्रमण करना और आकाश की ऊँचाइयों का स्पर्श करना चाहता है वहाँ आभिजात्यवादी रचनाकार के पाँव दृढ़ता से अपनी जमीन से, चारों ओर के वस्तु-जगत से बँधे रहते हैं। वह अपनी विरासत, अपनी परंपरा के बारे में पूर्णतः सजग और सचेत रहता है। ह्यूम के अनुसार, 'कल्पना की ऊँची से ऊँची उड़ानों में भी कुछ बंधन, कुछ संयम रहता है। आभिजात्यवादी कवि मनुष्य की इस समीपता को, उसकी इस सीमा को कभी भूलता नहीं है; वह जानता है कि धरती से उसका अटूट नाता है।' कहने का तात्पर्य यह कि आभिजात्यवादी रचनाकार की दृष्टि में उसके आत्म की तुलना में इदम का महत्व कहीं अधिक होता है जिसमें चारों ओर के जीवन और जगत के साथ परंपरा और विरासत भी शमिल होती है।

आधुनिक युग में 'क्लासिसिज़्म' और 'रोमांटिसिज़्म' दो ऐसी प्रवृत्तियों के वाचक पद हो गए हैं जो पूर्वापर क्रम में चक्राकार गति से समय-समय पर उदित और अस्त होती रही हैं – परस्पर विरोधी और परस्पर पूरक रूप में।

20.5 स्वच्छंदतावाद का अर्थ और परिभाषा

पाश्चात्य साहित्य-चिंतन में 'रोमांटिसिज़्म' अथवा 'स्वच्छंदतावाद' को प्रायः 'क्लासिसिज़्म' अथवा 'आभिजात्यवाद' की विरोधी प्रवृत्ति के रूप में देखा जाता है। आभिजात्यवाद में जहाँ साहित्य के लिए वस्तुपरक शास्त्रीय नियमों का अनुशासन आवश्यक माना जाता है, वहाँ स्वच्छंदतावाद आत्मपरकता के साथ रचनाकार की स्वतंत्रता के अधिकार का समर्थन करता है।

अंग्रेजी आलोचना में 'रोमांटिसिज़्म' शब्द का प्रयोग 18वीं सदी के अंत में उभरी एक विशिष्ट प्रवृत्ति के लिए हुआ जो मुख्य रूप से कविता के क्षेत्र में प्रतिफलित हुई किंतु जिसने साहित्य तथा कला के अन्य क्षेत्रों पर भी गहरा प्रभाव छोड़ा।

'रोमांटिसिज़्म' का सीधा अर्थ 'रोमांस' से जुड़ा है जिसका प्रयोग भिन्न-भिन्न अर्थों में होता रहा है। 'रोमांस' शब्द सामान्यतः अति-भावुक तथा कल्पना-प्रधान मनोवृत्ति के लिए प्रयुक्त होता है। ऐसी प्रवृत्ति जिसके लिए कुछ भी असंभाव्य नहीं है। यहीं से आरंभ होकर इसका प्रयोग मध्यकाल की प्रेम तथा साहसिकतापूर्ण कथाओं और लोक-गाथाओं के लिए होने लगा। संभव-असंभव स्थितियों से जूझते चरित्रों वाली ये कथाएँ प्रेम और वीरता के अत्यंत ऊँचे आदर्शों पर आधारित होती थीं और इनमें प्रायः रहस्यमय अति-मानवीय तत्वों का समावेश भी होता था। इन्हीं कथाओं को रोमांस कहा जाता था।

आगे चलकर इस शब्द का प्रयोग साहित्य की उस प्रवृत्ति के लिए होने लगा जो वस्तुवादी, शास्त्रवादी तथा आदर्शवादी अनुशासन से प्रेरित गद्यात्मक साहित्य के विरुद्ध वस्तु तथा भाषा के स्तर पर भावुकता, चारुत्व और रमणीयता से युक्त साहित्य की वकालत करती थी।

अठारहवीं शताब्दी में प्रयोग तथा क्षेत्र, दोनों दृष्टियों से इस शब्द का अर्थ-विस्तार हो गया। फ्रांस में उच्च-वर्गीय अन्याय एवं शोषण के खिलाफ स्वातंत्र्य-भावना से प्रेरित जो जनांदोलन हुआ था, 'रोमांस' का संबंध उस भावना से भी जोड़ा जाता है। इस अर्थ में वह व्यक्ति या स्थिति-विशेष के स्थान पर पूरी मानवता की स्वातंत्र्य-चेतना से जुड गया।

'रोमांस' के अनेक अर्थों में भी अनेक सूक्ष्म अर्थच्छायाएँ हैं जिनके सारे पहलुओं का स्पष्ट रूप से निर्देश नहीं किया जा सका है। इसके अलावा, जिन रचनाकारों और विचारकों ने इस प्रवृत्ति के विकास और निर्वाह में योगदान दिया, उनकी जीवन-शैली और जीवन-दृष्टि में भी काफी अंतर रहा है। इसलिए ...ज़्म' और 'रोमांटिसिज़्म' की सुनिश्चित परिभाषा करना कठिन है। कुछ विद्वानों ने इस कार्य को

सभव भी नहीं माना है। 'रोमांटिसिज़्म' की विशेषताओं और प्रवृत्तियों का अध्ययन तो किया जाता रहा है, किंतु इसकी स्पष्ट परिभाषा नहीं हो सकी।

प्रवृत्तियों की विविधता को लक्ष्य करते हुए आर्थर लवजॉय ने सुझाव दिया कि इस शब्द का प्रयोग एकवचन नहीं, बल्कि बहुवचन प्रयोग ('रोमांटिसिज़्म') होना चाहिए। उन्होंने इसके उनसठ प्रकारों का निर्देश किया है। अंग्रेज़ी साहित्य के इतिहासकार एमिल लेगुई तथा लुई कैजामियाँ ने **एकदम बदलते हुए मिजाज़ को इसकी सामान्य पहचान माना है और इसे 'परंपरावादी कला के विरुद्ध नवोन्मेषकारी सौंदर्यशास्त्रीय सिद्धांत** कहा है। उनका कहना है कि इस सिद्धांत को विशुद्ध मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखना चाहिए, कोई दूसरी दृष्टि इसे मनभाने ढंग से सीमित कर देगी।

हिंदी में 'रोमांटिसिज़्म' के लिए 'स्वच्छंदतावाद' का प्रयोग किया जाता है। स्पष्ट है कि इस शब्द से इस सिद्धांत या मनोवृत्ति के एक ही पक्ष का संकेत मिलता है, किंतु यह शब्द 'रोमांटिसिज़्म' शब्द के संपूर्ण अर्थ के लिए रूढ़ हो गया है। पाश्चात्य सौंदर्यशास्त्र में भी 'रोमांटिसिज़्म' शब्द का प्रयोग तो लंबे समय से होता रहा, किंतु इसके पारिभाषिक अर्थ का निर्धारण बहुत बाद में हुआ। इस शब्द का पारिभाषिक अर्थ में प्रयोग सबसे पहले फ्रांस में 1669 ई. में हुआ। वहाँ यह शब्द कला-चिंतन के संदर्भ में प्रयोग में आया था। अंग्रेज़ी में भी यह शब्द सत्रहवीं शताब्दी में ही आ गया था, किंतु साहित्य के प्रसंग में इसका अर्थ स्पष्ट और सुनिश्चित नहीं था। इसके सटीक अर्थ के बारे में यूरोपीय साहित्य-जगत में काफी समय तक वाद-विवाद भी होता रहा। अंततः जर्मनी के श्लेगल ने शास्त्रवाद या 'क्लासिसिज़्म' की विपरीत प्रवृत्ति के रूप में इसका अर्थ निर्धारित किया। विडम्बना यह है कि इसे सबसे अधिक प्रसिद्धि अंग्रेज़ी काव्य की एक प्रवृत्ति के रूप में मिली किंतु उस प्रवृत्ति से जुड़े प्रख्यात कवियों — वर्डसवर्थ, कॉलरिज, शेली आदि — ने अपने तथा अपने युग के काव्य-सिद्धांतों की चर्चा के दौरान कहीं भी इस शब्द का प्रयोग नहीं किया, न ही वे इसके अर्थ या प्रयोग को लेकर किसी विवाद में पड़े।

क्लासिसिज़्म की विपरीत प्रवृत्ति के रूप में इसका अर्थ निर्धारित करने का तात्पर्य यह नहीं है कि यह प्रवृत्ति नकारात्मक या निषेधात्मक है। वस्तुतः इस प्रवृत्ति को परिभाषा के माध्यम से नहीं, इतिहास और प्रवृत्तियों के आधार पर समझा जा सकता है।

20.6 स्वच्छंदतावाद का इतिहास

आज स्वच्छंदतावाद (रोमांटिसिज्म) का प्रयोग जिस प्रवृत्ति के लिए किया जाता है, वह मुखर रूप से अठारहवीं शताब्दी के अंत में अंग्रेज़ी साहित्य में प्रकट हुई। इससे मिलती-जुलती प्रवृत्ति इससे पहली भी - विशेष कर एलिज़ाबेथन युग में दिखाई पड़ी थी। उस समय यह मध्ययुगीन रोमांस के प्रति आकर्षण और प्रेम तथा सौंदर्य के प्रति नई दृष्टि के रूप में उभरी थी। किंतु तब यह साहित्य के व्यापक प्रवाह के बीच एक धारा मात्र थी। रचनाकारों ने सजग रूप में इसका पक्ष-समर्थन नहीं किया था। इसके विपरीत, अठारहवीं शताब्दी में रचनाकारों ने अपने पक्ष में जो तर्क देते हुए साहित्यिक रूढ़ियों को तोड़ने और वैयक्तिक भावोन्मेष को वाणी देने का जो सजग प्रयत्न किया, उससे स्पष्ट है कि वे संपूर्ण सचेत भाव से और निश्चित उद्देश्य से इस प्रवृत्ति को अपना रहे थे।

परिवर्तन के इस प्रयास के सामाजिक तथा राजनीतिक कारण थे। सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दी में बेन जॉनसन, पोप आदि ने साहित्य में गरिमा, संतुलन तथा अनुशासन लाने के लिए जिस नव्य-आभिजात्यवादी दृष्टि को अपनाया था, वह अब रूढ़ परंपरा मात्र होकर रह गई थी। प्राचीन साहित्य-सिद्धांतों और आदर्शों के अनुकरण की चेष्टा में साहित्य बनावटी और आडम्बरपूर्ण हो चला था। रचना कर्म की दृष्टि से वह युग एक बड़े परिवर्तन की अपेक्षा का रहा था। प्लेटो, अरस्तू, होरेस, होमर, वर्जिल आदि की सदियों पुरानी कसौटियों पर पूरा उतरने के प्रयास में वह अपने युग की आवश्यकताओं से कट गया था। नव्य-आभिजात्यवादी रुझान ने बुद्धि, व्यंग और तर्क को प्रधानता देते हुए भावुकता से इस साहित्य को लगभग बहिष्कृत कर दिया था।

इस प्रवृत्ति के विरुद्ध रचनाकारों में होने वाली कसमसाहट विलियम ब्लेक (1757-1827) और रॉबर्ट बर्न्स (1759-96) में धीरे-धीरे रूप ग्रहण कर रही थी। सन 1798 में विलियम वर्डसवर्थ (1770-1850) तथा सैमुअल टेलर कॉलरिज (1772-1834) के सहयोगी प्रयास के रूप में प्रकाशित संकलन

'लिरिकल बैलेड्स' के प्रकाशन के साथ यह प्रवृत्ति पुरानी अति-बुद्धिवादी रूढ़ियों को चुनौती देती हुई सामने आई। इसीलिए इसे तार्किकता के विरुद्ध भाव का विद्रोह कहा गया।

तार्किकता के विरुद्ध भाव के विद्रोह की साहित्यिक घटना का सूत्र यूरोप की एक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक घटना से जोड़ा जाता है। 1789 ई. की फ्रांसीसी क्रांति को अक्सर स्वच्छंदतावाद का प्रस्थान-बिंदु कहा गया है। कुछ लोगों ने 1776 ई. की अमरीकी क्रांति का उल्लेख भी इसके मूल कारणों में किया है, परंतु इसका सीधा और तात्कालिक संबंध फ्रांसीसी क्रांति और उसके उत्प्रेरक विचारकों से है। इसमें वाल्टेयर (1694-1778) और रूसो (1712-1778) के विचारों का विशेष योगदान माना जाता है। वाल्टेयर ने अपने समय के राजतंत्र और चर्च, दोनों के विरोध का साहस दिखाते हुए, उन्हें मनुष्य के विकास और प्रगति में बाधक कहा। रूसो ने अपने प्रसिद्ध सूत्र 'स्वतत्रता समानता और बंधुत्व' की स्थापना करते हुए यह घोषणा की कि जो शासन समाज को इसका अवसर प्रदान नहीं कर सकता उसे जनता का प्रतिनिधित्व और उसपर शासन करने का अधिकार नहीं है। ऐसी सरकार को उलटने के लिए उन्होंने जनता का खुला आह्वान करते हुए उसे विद्रोह के लिए प्रेरित किया। शासित और शासक के बीच इससे जो संघर्ष आरंभ हुआ उसने समूचे यूरोप के सामाजिक ढाँचे को झकझोर कर नई जीवन-दृष्टि प्रदान की।

1789 ई. की फ्रांसीसी क्रांति केवल राजनीतिक घटना ही नहीं थी, विचारों के क्षेत्र में स्वतंत्रता की वाहक समानांतर जीवन-दृष्टि थी जिसकी प्रस्तावना रूसो ने की थी। रूसो की घोषणा कि :'मानव जन्मना स्वतंत्र प्राणी है जो हर जगह श्रृंखलाओं से जकड़ा है।' (Man is born free, but found everywhere in chains) ऐसा सूत्र था जिसने पूरे यूरोप के मानस को आंदोलित कर दिया। समाज के प्रमुख सत्ता केंद्र थे - राजा, सामंत और धर्माधिकारी। इनके खिलाफ संघर्ष का जो दौर आरंभ हुआ उसकी चरम परिणति फ्रांसीसी क्रांति में हुई। लंबे संघर्ष के बाद मानव-मुक्ति का स्वप्न इस क्रांति के रूप में साकार हुआ जिसने यूरोप के साहित्य को ही नहीं इतिहास, दर्शन, संस्कृति, संगीत, कला - सभी को व्यापक स्तर पर प्रभावित किया और मध्य-वर्ग के बुद्धिजीवियों में नए उत्साह, आत्मविश्वास और चेतना का संचार किया।

अठारहवीं शताब्दी के अंत तक पहुँचते पहुँचते स्वच्छंदतावाद के रूप में एक नया क्रांतिकारी जीवन-दर्शन पूरे यूरोपीय समाज में व्याप्त हो गया है। यह आंदोलन केवल अंग्रेज़ी साहित्य तक ही सीमित नहीं रहता बल्कि फ्रांसीसी और जर्मन साहित्य पर भी इसका पूरा प्रभाव दिखाई पड़ता है। इसे इतिहासकारों ने **नियमों और रूढ़ियों के खिलाफ़ 'व्यक्ति का विद्रोह' कहा है। स्वच्छंदतावाद भूलतः बंधन मुक्ति का आंदोलन है** जिसे विक्टर ह्यूगो ने साहित्य में उदारतावाद (लिबरलिज़्म इन लिट्रेचर) कहा है। ज़ाहिर है रूढ़ियों और नियमों के संरक्षक धर्म और चर्च के विरुद्ध यह मनुष्य का स्वतंत्र अभिव्यक्ति के लिए विद्रोह था। राजनीतिक दृष्टि से यह तानाशाही राजतंत्र के खिलाफ उदार जनतंत्र की स्थापना के लिए की गई लड़ाई थी। इस स्वातंत्र्य-चेतना की अभिव्यक्ति साहित्य में तो नई भाव-केंद्रित रचनात्मकता के रूप में हुई ही, संगीत में नए प्रयोग करने की प्रवृत्ति बहुलता से दिखाई पड़ी। अंग्रेजी के स्वच्छंदतावादी साहित्य का व्यापक प्रभाव जर्मन और फ्रांसीसी साहित्य पर भी पड़ा, लेकिन स्वच्छंदतावाद के इन विविध रूपों का अपना वैशिष्ट्य है जो इनकी अलग पहचान बनाता है।

जर्मनी में रचनात्मक साहित्य से पहले सैद्धांतिक विवेचन में स्वच्छंदतावाद का प्रभाव प्रकाश में आया। स्वच्छंदतावाद के प्रारंभिक दौर (1798-1810) के रचनाकारों में, साहित्य में भाव और बुद्धि की भूमिका के बारे में असमंजस दिखाई पड़ता है। लेसिंग हों या गेटे भाव को महत्व देते हुए भी वे बुद्धि का निषेध नहीं करते। गेटे एक ओर स्वच्छंतदतावाद को 'सिकली' (रुग्ण) कहते हैं तथा दूसरी ओर उन अंग्रेज़ी के कवियों के प्रति आकर्षित भी होते हैं जो बुद्धि-विरोधी हैं। श्लेगल बंधुओं की प्रसिद्धि भी विशेष रूप से स्वच्छंदतावाद के सिद्धांतों का विवेचन करने के लिए ही हुई, उन सिद्धांतों का व्यवहार करने के लिए नहीं। इतना अवश्य है कि वे स्वच्छंदतावादी कविता को प्रगतिशील कहते थे। ये लोग स्वच्छंदतावाद की ओर उन्मुख थे, पूरी तरह स्वच्छंदतावादी नहीं थे। सही अर्थ में स्वच्छंदतावाद से प्रेरित रचनाएँ दूसरे दौर (1810-1820) में नोवालिस, होफ़मैन, वान आरनिम आदि ने की। इन्होंने प्रगीतों और लोक-कथाओं को प्रमुखता दी। इनकी रचनाओं में अतीत प्रेम, सरलता और संगीतात्मकता जैसी स्वच्छंदतावादी विशेषताएँ मिलती हैं। जर्मनी स्वच्छंदतावाद की निजी विशेषता यह है कि यहाँ लोकगीतों में राष्ट्रीय भावना की प्रधानता है।

जर्मन 'रोमांटिक' साहित्य तथा आत्मवादी दर्शन ने भी स्वच्छंदतावाद को दूर तक प्रभावित किया। इस साहित्य की भाव-विपुलता, अति-प्राकृत तथ्यों के प्रति रुझान तथा विश्व की सीमाओं को तोड़कर आगे बढ़ने वाली अन्वेषण-वृत्ति ने अंग्रेज़ रचनाकारों को प्रभावित किया था। अठारहवीं शताब्दी में ही जर्मनी मे हेगल (कुछ लोग 'हीगल' भी कहते है) और शिलर जैसे दार्शनिकों ने आत्मवादी दर्शन तथा भाववाद का भी विकास किया। इनके दार्शनिक सिद्धांतों ने उस सौंदर्य-दृष्टि को प्रेरित किया जिसमें रहस्यवाद के अतिरिक्त सूक्ष्म अतीद्रिय तत्व तथा सुंदरता के प्रति प्रबल आकर्षण का भाव दिखाई पड़ता है। हेगल (1770-1831) कला की प्रक्रिया को जड़ से चेतन की ओर यात्रा मानते थे और यह चेतन तर्क या बुद्धि से प्रेरित चेतना नहीं, बल्कि अमूर्त, सार्वभौम, विशुद्ध परम चैतन्य है। स्वच्छंदतावादी विचारधारा पर इस दर्शन का प्रभाव बहुत स्पष्ट है।

फ्रांस की राज्य-क्रांति का भी स्वच्छंदतावाद पर गहरा असर पड़ा। सन 1789 ई. में हुई क्रांति के बहुत पहले से इसके लिए वातावरण तैयार हो रहा था। ज्याँ ज़ाक रूसो के लेखन ने जहाँ इस वातावरण को तैयार करने में सक्रिय भूमिका निभाई, वहाँ स्वच्छंदतावादी रचनाकारों को भी बौद्धिक, सैद्धांतिक और भावनात्मक स्तर पर प्रभावित किया। मानव की गरिमा तथा स्वतंत्रता की माँग को लेकर रूसो का आह्वान दलित-शोषित जनता को शासक वर्ग के अत्याचारों के खिलाफ़ संगठित कर रहा था। उस युग के युवा साहित्यकारों में से कइयों ने फ्रांस जाकर इस क्रांति में सक्रिय भाग भी लिया। उधर, साहित्य-रचना के क्षेत्र में इन्होंने साहित्य के पारंपरिक शास्त्रबद्ध नियमों को नकार दिया।

फ्रांस में स्वच्छंदतावाद का आरंभ पहले दौर में विचार के स्तर पर और राजनीतिक विद्रोह के रूप में हुआ। साहित्य में स्वच्छंदतावादी प्रवृत्ति अपेक्षाकृत विलंब से प्रकट हुई। इसका एक कारण राजनीतिक अस्थिरता थी और दूसरा वैचारिक धरातल पर नव्य-शास्त्रवाद के समर्थकों और उदीयमान स्वच्छंदतावादियों के बीच संघर्ष था। यह परंपरावादी और राष्ट्रवादी तथा उदारचेता विचारकों के बीच लड़ाई थी जिसमें 'नए समाज के लिए नए साहित्य की ज़रूरत' का नारा दिया जा रहा था। एक बार स्वच्छंदतावादी रुझान का वर्चस्व स्थापित हो जाने के बाद, दूसरे दौर में (1802-1885) विचारधारा से आगे बढ़कर सौंदर्यशास्त्र के क्षेत्र में भी सृजनात्मक कल्पना और व्यक्तिवादी संवेदनाओं को प्राथमिकता देते हुए ऐसा साहित्य सामने आया जिसने तीन दशक से अधिक (1798-1832 ई) समय तक पूरे यूरोप में साहित्य की नई प्रवृत्तियों का मार्ग प्रशस्त किया। जैसा बादलेयर ने कहा है, फ्रांसीसी स्वच्छंदतावादियों के साहित्य में आंतरिक जगत की अपेक्षा बाह्य जीवन पर दृष्टि अधिक केंद्रित रही और कविता की तुलना में गद्य रचनाओं और नाटक में इस प्रवृत्ति का प्रतिफलन अधिक हुआ। रचनाकारों में स्तांदल और बालज़ाक विशेष प्रसिद्ध हुए। फ्रांसीसी स्वच्छंदतावादियों में अन्य रचनाकारो की तरह सौंदर्यानुभूति, कल्पना और भावावेग जैसे मूलभूत तत्व मिलते अवश्य हैं, परंतु उनका विशेष योगदान विचार और चिंतन के क्षेत्र में दिखाई पड़ता है।

अंग्रेज़ी स्वच्छंदतावाद को कुछ विद्वानों ने खींचकर शेक्सपियर के समय तक ले जाने की कोशिश की है। इससे केवल यह बोध होता है कि यूरोप के अन्य देशों की तुलना में अंग्रेज़ी स्वच्छंदतावाद का फलक अधिक व्यापक है। जर्मनी और फ्रांस की तरह अंग्रेज़ी स्वच्छंदतावाद का जन्म एक सुनिश्चित वैचारिक आंदोलन के रूप में नहीं हुआ। रेने वेलेक के अनुसार, अंग्रेज़ी में स्वच्छंदतावाद की शुरूआत किसी पूर्व-नियोजित सुनिश्चित कार्यक्रम के तहत नहीं हुई। इसका कारण स्पष्ट करते हुए नाथ्रीप फ्राई ने कहा है कि इसके पीछे फ्रांसीसी क्रांति की तरह, बदलाव के लिए कोई सामाजिक-राजनीतिक दबाव नहीं था। इसीलिए इंगलैंड में पनपने वाले इस स्वच्छंदतावाद का चरित्र आक्रामक नहीं है। इसका विकास यूरोप में अठारहवीं शताब्दी के दौरान होने वोले परिवर्तनों - ज्ञान विज्ञान के विकास और औद्योगिक प्रगति की नई रोशनी में परंपरा के प्रति नई और सही समझ विकसित करते हुए हुआ था। इसका चरित्र राजनीतिक घटनाओं के आधार पर नहीं, लोक-कलाओं, चली आती परंपराओं और स्वच्छंद कल्पना के सहयोग से निर्मित हुआ था।

अंग्रेज़ी में स्वच्छंदतावाद की शुरुआत सैद्धांतिक विवेचन से नहीं कवि-कर्म से हुई। इसकी प्रवृत्तियों का आभास बर्न्स और ब्लेक, विशेष रूप से ब्लेक की कविताओं में मिलने लगा था, किंतु सही रूप में इसका प्रवर्तन वर्ड्सवर्थ (1770-1850) और कॉलरिज (1779-1850) के सहयोगी प्रकाशन 'लिरिकल बैलेड्स' (1807 ई.) से माना जाता है। इस संग्रह के दो ही वर्ष बाद प्रकाशित दूसरे संस्करण की भूमिका 'प्रिफेस टु लिरिकल बैलेड्स' को स्वच्छंदतावाद का घोषणा-पत्र कहा जाता है। वर्ड्सवर्थ की प्रसिद्धि जिन स्थापनाओं के कारण विशेष रूप से हुई उनमें उनकी प्रायः उद्धृत की जाने वाली काव्य-परिभाषा है, जिसमें उन्होंने कविता को 'प्रबल मनोवेगों का स्वतः स्फूर्त उच्छलन' कहा है। इस

परिभाषा के द्वारा उन्होंने कविता के प्रति अनुकरणवादी दृष्टिकोण को पूरी तरह से नकार दिया। इसके अतिरिक्त, शैली की दृष्टि से भी वर्डसवर्थ ने काव्य की रूढ़ होती पदावली में बदलाव की माँग करते हुए काव्य-भाषा और गद्य-भाषा में अभिन्नता की वकालत की। इस भाषा के सामाजिक आधार को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा कि इस भाषा का स्रोत जन-सामान्य की बोलचाल की भाषा होनी चाहिए। उनकी इन स्थापनाओं पर बाद में विवाद भले ही हुआ हो, परंतु इससे साहित्य के प्रति रूढ़ और निर्जीव हो चली नव्य-आभिजात्यवादी दृष्टि में आने वाले परिवर्तन और उनके लोकतांत्रिक दृष्टिकोण का प्रमाण मिलता है। कॉलरिज काव्य-सृजन की प्रक्रिया में 'कल्पना' की भूमिका के विवेचन के लिए विशेष प्रसिद्ध हुए। काव्य-विषय के रूप में प्रकृति को महत्वपूर्ण स्थान इन दोनों ही कवियों ने, विशेषकर वर्डसवर्थ ने दिया।

स्वच्छंदतावादी रुझान का प्रभाव केवल अंग्रेज़ी कविता में ही नहीं, साहित्य की अन्य विधाओं में भी दिखाई पड़ा। इस दृष्टि से वाल्टर स्कॉट का उल्लेख किया जा सकता है। वाल्टर स्कॉट ने अपने उपन्यासों में यथार्थ का रूमानी चित्रण कर उन्हें जो स्वच्छंदतावादी रंग दिया उसके कारण वे विशेष लोकप्रिय हुए। इस आरंभिक दौर में समीक्षा पर भी स्वच्छंदतावादी दृष्टि का प्रभाव दिखाई पड़ने लगा।

स्वच्छंदतावाद दूसरे चरण (1798-1852 ई.) में अपने पूरे निखार पर बायरन, शेली कीट्स जैसे रचनाकारों की कृतियों में ही आया। अंग्रेज़ी में स्वच्छंदतावाद के इतिहास को 'ब्लेक से बायरन तक' सूत्र से अभिहित किया जाता है। औद्योगिक क्रांति और वैज्ञानिक अनुसंधानों के प्रभाव से ईश्वर और धर्माधिकारियों के निरंकुश शासन का विरोध और अवमानना तो पहले ही आरंभ हो गई थी, इन कवियों ने कवि-प्रतिभा पर बल देते हुए रचना-कर्म में मौलिकता, सर्जनात्मकता और कल्पना के उपयोग का प्रमाण किया। बायरन में अनुभूति का ताप और उद्यम भावावेग था तो शेली में चिंतन। शेली ने कॉलरिज की परंपरा को आगे बढ़ाते हुए कविता को कल्पना का क्रिया-व्यापार कहा और उसे अनुकर्ता के बजाय द्रष्टा और नियामक माना। इन दोनों से भिन्न कीट्स की दृष्टि मूलतः सौंदर्यवादी है। उन्होंने सिद्धांत विवेचन तो नहीं किया किंतु उनका चिंतन उनके काव्य-विषयों के माध्यम से व्यक्त हुआ। इन विषयों का प्रसार जीवन जगत के व्यापक क्षेत्र तक है। उसमें प्रकृति से लेकर दर्शन विज्ञान तक बहुत कुछ शामिल है। काव्य-सृजन को वे वैसी ही सहज और प्रकृत-घटना मानते हैं जैसे पेड़ों पर पत्तों का आना।

देश-काल, दोनों दृष्टियों से स्वच्छंदतावाद एक व्यापक आंदोलन है जिसका प्रभाव पूरे यूरोपीय साहित्य पर, विशेषकर जर्मनी, फ्रांस और इंगलैंड पर, दिखाई पड़ता है। यह आंदोलन अठारहवीं शताब्दी के अंत से ही आकार लेने लगता है और पूरी उन्नीसवीं शताब्दी में ही नहीं, बीसवी शताब्दी के आरंभिक वर्षों। तक इसका वर्चस्व बना रहता है। इसका क्षेत्र कविता तक ही सीमित नही रहता, उपन्यास, निबंध, समीक्षा - सभी पर इसका व्यापक प्रभाव परिलक्षित होता हैं। यह अवश्य है कि इसका सर्वाधिक उत्कर्ष कविता में ही प्रकट होता है। साहित्य के वस्तु विधान में ही नहीं, शैली-शिल्प में भी नए सौंदर्य-बोध, मौलिकता और कल्पनाशीलता से इस आंदोलन की पहचान बनती दिखाई पड़ती है।

स्वच्छंदतावाद की जो विशेषताएँ उसकी लोकप्रियता और व्यापक प्रसार का कारण थीं, वे ही क्रमशः उसके अवसान के लिए जिम्मेदार हुईं। वैयक्तिकता और आत्मपरकता ने बढते-बढते वस्तु जगत के प्रति उदासीनता का रूप ग्रहण कर लिया। कविता को मनोवेगों का सहज उच्छलन मानने के कारण किसी नियम या नियंत्रण को रचना के लिए लगभग अनावश्यक माना जाने लगा। आरंभिक दौर के रचनाकारों ने आत्म को महत्व देकर भी परिवेश की उपेक्षा नहीं की थी। यही उनकी रचनाओं के कालजयी होने का कारण है। किंतु कुछ समय के बाद आत्मपरकता ने विशुद्ध आत्म-केंद्रिकता का रूप ग्रहण कर लिया और परिवेश के साथ जुड़ाव उसी अनुपात में घटता गया। इस प्रवृत्ति की चरम परिणति क्रोचे के अभिव्यंजनावाद में हुई जहाँ संपूर्ण रचना-कर्म कलाकार के मानस में ही पूर्ण हुआ मान लिया गया। वस्तु रूप में उसकी अभिव्यक्ति सृजन-व्यापार का अनिवार्य सोपान नहीं रह गई। लिहाजा सम्प्रेषण और पाठक की इस कला-व्यापार में कोई महत्वपूर्ण भूमिका नहीं रह गई। यह समाज-विमुखता नव्य-शास्त्रवाद की अतिरिक्त समाजोन्मुखता से बेहतर नहीं थी - एक अतिवाद के विरुद्ध खड़ा किया गया दूसरा अतिवाद थी। एफ.एल.ल्यूकस ने इस स्थिति की व्याख्या करते हुए कहा, 'स्वच्छंदतावादी लेखक - अपनी अनुभूतियों और अपनी कल्पना की स्पष्ट तीव्रता में, और उस वातावरण के निर्माण में, जो केवल भावोन्माद द्वारा ही साध्य है - बहुत प्रभावशाली होता है - परंतु जैसे-जैसे उसका उन्माद बढ़ता जाता है, वह बहुत कुछ वह सब खोता जाता है, जो महान कृतिकारों के गुण होते हैं : जैसे संतुलन, अनुपात, नियंत्रण, समन्वय-सामर्थ्य, सामान्य सांसारिक बुद्धि और शालीनता, शांत सहृदयता - जिसके सहारे कोई लेखक अपने या अपनी छायानुकृतियों के अतिरिक्त अन्य चरित्रों का अध्ययन और अंकन करता है।'

निष्कर्ष यह, कि उन प्रवृत्तियों के अतिरेक के कारण जिन्होंने आरंभिक दौर में स्वच्छंदतावाद की पहचान बनाई थी, स्वच्छंदतावादी विचारधारा क्रमशः अप्रासंगिक और रचनाएँ रूढ़ होने लगीं और उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से ही इसके विरोध में एक बार फिर नव्य-आभिजात्यवाद विचारधारा ने धीरे-धीरे सिर उठाना आरंभ कर दिया।

दरअसल स्वच्छंदतावाद की गति में शिथिलता तो 1830 ई. के आसपास से ही आनी शुरू हो गई थी, लेकिन इस प्रवृत्ति पर सबसे मारक प्रहार 1860 ई. में मैथ्यू आर्नल्ड के विचारों से हुआ। उधर, फ्रांस में भी यथार्थवाद, अतियथार्थवाद और प्रतीकवाद की प्रवृत्तियों का प्रभाव इस प्रवृत्ति के प्रभाव को क्षीण करने में साधक हुआ। एक ओर वैयक्तिकता के आग्रहों का अतिरेक तथा दूसरी ओर परंपरा से क्रमिक संबंध-विच्छेद इस धारा के पतन के प्रधान कारण बने। उधर जो कल्पना मूलभूत सृजन-शक्ति के रूप में देखी-सराही जाती थी वह धीरे-धीरे धूमिल अस्पष्ट लोकों में भटकाने ही नहीं लगी जीवन-जगत से पलायन में भी सहायक होने लगी। जो धारा साहित्य में रूढ़ियों और जड़ता को तोड़ने के लिए विद्रोह के रूप में जन्मी थी, उसने क्रमशः अपनी रूढियाँ निर्मित कर लीं और बीसवीं शताब्दी तक पहुँचते-पहुँचते प्रभावी विचारधारा और जीवंत साहित्यिक आंदोलन के रूप में इसका अवसान हो गया।

20.7 प्रमुख प्रवृत्तियाँ

स्वच्छंदतावाद की प्रवृत्तियों अथवा विशेषताओं की चर्चा मुख्य रूप से वर्डसवर्थ, कॉलरिज, शेली, कीट्स, बायरन आदि के काव्य पर आधारित है। किंतु यह नहीं भूलना चाहिए कि इसी युग में अंग्रेज़ी गद्य-साहित्य भी तेज़ी से विकसित हुआ था। सर वाल्टर स्कॉट के उपन्यासों, चार्ल्स लैंब, हैजलिट, लैंडर आदि के ललित निबंधों तथा अन्य गद्य रचनाओं में भी स्वच्छंदतावादी विचारधारा अपने ढंग से अभिव्यक्त हुई। इसलिए इस विचारधारा का विवेचन करते समय इस संपूर्ण साहित्य की विशेषताओं को रेखांकित किया जाना चाहिए। यह उल्लेख करना भी जरूरी है कि ये तमाम विशेषताएँ सभी रचनाकारों में नहीं मिलतीं। उनमें से हरेक ने अपने-अपने ढंग से स्वच्छंदतावादी आंदोलन में अपना योगदान भी किया और उसके भीतर अपनी अलग पहचान भी बनाई। स्वच्छंदतावाद की विशेषताओं की बात करते समय जाहिर है उन सामान्यताओं की चर्चा करनी अपेक्षित होगी जो उनमें समान रूप से दिखाई पड़ती हैं, उन विशिष्टताओं की नहीं जो उन्हे एक-दूसरे से अलग करती हैं। पहले कहा जा चुका है कि स्वच्छंदतावाद को 'तार्किकता के विरूद्ध भाव का विद्रोह' माना गया है। इसी से इसकी दो मूलभूत विशेषताओं का संकेत मिलता है - (1) विद्रोह; तथा (2) भाव-प्रवणता।

1. विद्रोह : विद्रोह, स्वच्छंदतावाद का मूल आधार है जिसकी मुख्य प्रेरणा राजनीतिक और सामाजिक अत्याचारी रूढ़ियों के खिलाफ मनुष्य की स्वतंत्रता की माँग करने वाली फ्रांसीसी क्रांति रही है। इस क्रांति के प्रभाव ने उस दौर के रचनाकार को राजनीति, धर्म, समाज और साहित्य की सभी प्रकार की रूढ़ियों से मुक्ति की प्रेरणा दी। साहित्य में यह विद्रोह जड़ता, रूढ़ियों तथा अप्रासंगिक होती हुई लेखन-परंपराओं से लेखक की मुक्ति के प्रयास में दिखाई देता है। ल्यूकस ने इसे अवचेतन का विद्रोह कहा है। यानी इन रचनाकारों की अंतरात्मा विद्रोह करती है। इसीलिए मुक्ति की ललक साहित्य की अंतर्वस्तु तथा रूप, दोनों स्तरों पर उपस्थित है।

   विषय-वस्तु के स्तर पर स्वच्छंदतावादी रचनाकारों ने उदात्त चरित्रों की गाथा गाने के स्थान पर साधारण मानव के सामान्य अनुभवों तथा अपने परिवेश और प्रकृति के सामान्य-सहज रूपों को अंकित किया। इनकी रचनाओं में ग्रामीण जीवन के अनेक नैसर्गिक चित्र - किसान, ग्राम बालाएँ, ग्राम प्रकृति - विषयवस्तु के रूप में स्थान लेती दिखाई पड़ती है। यह लोक-सम्पृक्ति स्वच्छंदतावाद का प्राण है जो एक स्तर पर विद्रोह भी है कृत्रिमता के विरुद्ध स्वाभाविकता और सहजता की प्रतिष्ठा के लिए विद्रोह।

   स्वच्छंदतावादी कवियों ने शैली और शिल्प के प्रयोगों में भी इसी विद्रोही प्रवृत्ति का प्रमाण दिया। इन्होंने अपने-अपने तरीकों से नए प्रयोग तो किए ही, साथ ही शैली और शिल्प के बारे में इनमें आपसी मतभेद भी रहे। यह वैविध्य और प्रयोगशीलता व्यक्ति-स्वातंत्र्य का ही एक रूप है जिसकी गुंजाइश आभिजात्यवाद के नियमन-अनुशासन में नहीं थी। किंतु एक बात जो इनकी विभिन्नता में समान है, वह है सहज-सामान्यता के प्रति रुझान। पुरानी, नपी-तुली, कृत्रिम भाषा (पोएटिक डिक्शन) से भिन्न यह भाषा अपनी विभिन्नता के बावजूद पढ़ने वाले से एक आत्मीय संवाद स्थापित करती है, उसपर अपनी विद्वता तथा गरिमा का रौब नहीं डालती। यह भाषा विषयानुरूप तथा भाव-समृद्ध है।

2. **भाव-प्रवणता** : भाव-प्रवणता भी स्वच्छंदतावादी साहित्य की एक प्रमुख विशेषता है। वर्डसवर्थ ने तो कविता की परिभाषा ही 'प्रबल मनोवेगों के सहज उच्छलन' के रूप में की थी। किंतु यह उच्छलन अनुशासनहीन भावातिरेक, भावों की अधिव्यक्ति या अतिव्यक्ति नहीं था। इसके पीछे सूक्ष्म संवेदनशीलता का आग्रह था जो कल्पना से युक्त होकर रचनाकार की आंतरिक अनुभूति को ईमानदारी से उद्घाटित करती थी। यह भाव-प्रवणता और कल्पना-शक्ति उन्हें आत्माभिव्यक्ति की प्रेरणा और क्षमता ही नहीं देती बल्कि वह सहजानुभूति तथा समानुभूति भी देती है जिससे वे आत्मेतर विषयों के अंतर में पैठकर उनकी भावनाओं और उनके प्रति अपनी भावनाओं को प्रस्तुत कर सकें। यह जीवन-निरपेक्ष नहीं जीवन-सापेक्ष भावानुभूति है। जिन वर्डसवर्थ ने कविता को 'प्रबल मनोवेगों का सहज उच्छलन' कहकर परिभाषित किया उन्हीं ने उसे 'मानव और प्रकृति की प्रतिछवि' (पोयट्री इज़ द इमेज़ ऑफ मेन एण्ड नेचर) कहकर उसकी जीवन-निर्भरता का संकेत भी किया।

3. **कल्पना** : कल्पना को भी स्वच्छंदतावाद में बहुत महत्व दिया गया। इसे काव्य की विधायिनी शक्ति के रूप में देखा गया जो स्थूल बाह्य जगत के अंदर स्थित सूक्ष्म भाव जगत को समझने में रचनाकार की सहायता करती है। कॉलरिज ने तो कल्पना का विस्तार से सैद्धांतिक विवेचन करते हुए सामान्य व्यक्ति की कल्पना से बढ़कर कवि-कल्पना का महत्व स्थापित किया। उन्होंने इसे सृजनकारिणी 'आदि शक्ति' तथा मस्तिष्क की सबसे अधिक प्राणवान क्रिया का दर्जा दे दिया। वे इसे काव्य की ऐसी संश्लेषणात्मक अलौकिक शक्ति मानते हैं जो कवि के संपूर्ण सृजन-व्यापार को क्रियान्वित करती है। कल्पना की नवनवोन्मेषशालिनी क्षमता के बल पर कवि सामान्य तथा स्थूल वस्तु-जगत के साक्षात्कार से भी एक अतींद्रिय, अमूर्त रहस्यमय लोक में या किसी नैतिक और दार्शनिक सत्य तक पहुँच जाता है और दूसरी ओर भावों तथा विचारों को मूर्त रूप प्रदान करने में कल्पना का महत्वपूर्ण योगदान होता है। कल्पना लगभग सृजन-प्रक्रिया का पर्याय है। सी.एम.बावरा ने स्वच्छंदतावादी रचनाकारों में स्वच्छंद कल्पना के अभाव में कविता को ही असंभव माना है। शेली ने भी कविता को कल्पना की ही अभिव्यक्ति कहा और प्रथम रोमांटिक कवि ब्लेक ने इसे दैवी शक्ति स्वीकार किया। कल्पना ने रोमांटिक रचनाओं में भाषा और भाव के सौंदर्य का आधान तो किया ही कहीं-कहीं यह जीवन-जगत के दुखों से हारे मन का पलायन भी बनी।

4. **अतीतोन्मुखता** : स्वच्छंदतावादी रचनाकारों में मध्ययुगीन रोमांसों तथा रूढ़ियों के प्रति ज़बर्दस्त आकर्षण मिलता है। इसका प्रमुख कारण है - अपने वर्तमान की वास्तविकताओं से टकराहट, तर्क और बौद्धिक शुष्कता से ऊब, और रूढ़ होती काव्य-शैलियों से मुक्ति की छटपटाहट। निकट वर्तमान से असंतुष्ट व्यक्ति की सहज प्रवृत्ति यह होती है कि या तो वह अतीत गौरव को फिर से सजीव, साकार करने का प्रयत्न करता है या भविष्य के लिए स्वप्न-निर्माण करता है। दोनों स्थितियों में वह कल्पना के सहारे प्रत्यक्ष वर्तमान से अलग संसार रचता है। इन कवियों ने कल्पना की सहायता से मध्य युग की चित्रमयता और रोमान को सजीव किया। कॉलरिज और कीट्स की कविता और वाल्टर स्कॉट के उपन्यासों में अतीत का यह पुनरावर्तन सबसे प्रबल रूप में दिखाई पड़ता है। इन कवियों ने अतीत की राष्ट्रीय-सांस्कृतिक गरिमा को अपने प्रगीतों में पुनर्जीवित किया। कहना न होगा कि यह अतीत का अनुकरण नहीं पुनस्सृजन था।

5. **अद्भुत के प्रति आकर्षण** : मध्य-युगीन रोमानीय के प्रति स्वच्छंदतावादियों की रुचि अद्भुत के प्रति उनके आकर्षण से भी पुष्ट हुई। वाल्टर पेटर ने स्वच्छंदतावाद की एक विशेषता यह मानी है कि यह 'सौंदर्य में अद्भुत तत्व जोड़ता है।' (addition of strangeness to beauty)। वाट्स डंटन ने इसे अद्भुत का पुनर्जागरण (रेनेसां ऑफ वंडर) कहा है। अद्भुत के प्रति यह आकर्षण कई रूपों में व्यक्त हुआ है। अपने तीव्रतम रूप में यह प्रवृत्ति अति-मानवीय या अलौकिक तत्वों की चर्चा में दिखाई पड़ती है - विशेषकर कॉलरिज और स्कॉट की रचनाओं में। अन्य रचनाकारों में यह कुतूहल, विस्मय तथा रहस्य के भाव में व्यक्त हुआ। एक ओर उनकी रुचि विचित्र अद्भुत और जादुई से प्रतीत होने वाले विषयों और वस्तुओं की ओर हो जाती है तथा दूसरी ओर वे जाने-पहचाने जीवन-संदर्भों तथा वस्तुओं को नई दृष्टि से देखना आरंभ कर देते हैं। जगत के व्यक्त सौंदर्य में वे अव्यक्त सौंदर्य या अदृश्य सत्ता के दर्शन करने लगते हैं जिसकी चरम परिणति रहस्य-भावना में होती है।

6. **व्यक्तिवाद** : व्यक्तिवाद विषयों को नई दृष्टि से देखने का अगला चरण था - बाह्य अनुभव से आंतरिक अनुभूति की ओर यात्रा। इस प्रवृत्ति और भाव-प्रवणता के प्रभाव से स्वच्छंदतावादी

साहित्य ने स्वाभाविक रूप से वैयक्तिकता और आत्मपरकता को एक मूल्य के रूप में स्वीकार किया। पिछले युग में पोप और मिल्टन जैसे रचनाकार भी परिचित स्थितियों तथा लोक-प्रसिद्ध कथाओं को रचना का आधार बनाकर कर चल रहे थे। स्वच्छंदतावाद ने वस्तुगत ज्ञान की तुलना में स्वानुभव को अधिक महत्व दिया। इस युग के साहित्यकारों की रचनाओं में आभिजात्यवादी निर्वैयक्तिकता के स्थान पर रचनाकार की अपनी दृष्टि और अपनी अनुभूति सहज तथा आत्मीय रूप में व्यक्त हुई। रचनाकारों के अपने सुख-दुख, नैराश्य, वेदना, उल्लास कविता और निबंधों विषय बने। इसीलिए इनके काव्य में विवेक के स्थान पर भावाकुलता के साथ विषाद का भाव भी मिलता है। यह भाव समाज तथा स्थितियों से संघर्ष के क्रम में संवेदनशील भाव-प्रवण व्यक्ति-मन की सहज प्रतिक्रिया है।

रूसो के जन-स्वातंत्र्य के आह्वान से गहराई तक प्रेरित यह सिद्धांत व्यक्ति और कवि की स्वतंत्रता को रचना-कर्म के लिए अनिवार्य मानता है। अपनी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति में इन कवियों ने जो साहस दिखाया है वह पहले के कवियों में नहीं मिलता। इन कवियों ने स्वतंत्रता को मूल्य मानते हुए कथ्य तथा शिल्प, दोनों स्तरों पर नए और मौलिक प्रयोगों की छूट ली। 'लिरिकल बैलेड्स' की भूमिका में वर्डसवर्थ ने अपनी कविता को स्पष्ट रूप से प्रयोग कहा है और उसकी आवश्यकता के पक्ष में तर्क भी दिए हैं।

7. **सौंदर्याभिमुखता** : स्वच्छंदतावाद ने गुरु-गंभीरता के स्थान पर सौंदर्य को अधिक महत्व दिया। कीट्स ने सत्य तथा सुंदर को अभिन्न मानते हुए कहा कि सौंदर्य ही सत्य है। सौंदर्य इन कवियों के लिए केवल विषय नहीं है उनका सौंदर्य-दर्शन और सौंदर्य की नई-दृष्टि अपने पूर्ववर्तियों और परवर्तियों से अलग है। यह नई सौंदर्य-दृष्टि बाह्य जगत तथा प्रकृति में तो सौंदर्य का अन्वेषण करती ही है, कविता में भी बाह्य तथा आंतरिक सौंदर्य की आवश्यकता पर बल देती है। इस सौंदर्य-प्रेम तथा सौंदर्य-जिज्ञासा को पेटर ने स्वच्छंदतावादी चेतना का मूल तत्व माना था। इन कवियों की दृष्टि सर्वत्र प्रेम और सौंदर्य की ओर जाती है। वह चाहे रूप-रंग का सौंदर्य हो या मन, वचन और कर्म का सौंदर्य। मानव-सौंदर्य को तो उन्होंने खुली आँखों से देखा ही, किंतु उनका सौंदर्य-प्रेम प्रकृति के उन्मुक्त सौंदर्य के संसर्ग से उद्भूत हुआ है। शेली संपूर्ण प्रकृति को सौंदर्यमयी पाते हैं।

8. **प्रकृति-प्रेम** : रूसो ने मानव को प्रकृति की ओर प्रत्यावर्तन के लिए पुकारा था। स्वच्छंदतावादी रचनाकार प्रकृति की ओर एकाधिक रूपों में लौटे। सबसे पहले तो यह वापसी बनावटी सौंदर्य के तिरस्कार और सहज प्राकृतिक रूपों के प्रति आकर्षण में दिखाई दी। औद्योगिक सभ्यता की विकृतियों और घुटन से व्याकुल इन संवेदनशील साहित्यकारों के लिए प्रकृति एक शरणस्थली थी। उसे इन्होंने बाह्य जीवन के सुंदर परिवेश के रूप में नहीं बल्कि जीवन के प्रेरणादायक तत्व के रूप में ग्रहण किया। वर्डसवर्थ ने अपनी कविता 'टिंटर्न एब्बी' में प्रकृति को 'धात्री, पथ-प्रदर्शिका, संरक्षिका तथा अपने संपूर्ण नैतिक अस्तित्व की आत्मा' के रूप में संबोधित किया है। बायरन, शेली और कीट्स की कविता में भी प्रकृति अपने विविध रूपों में अभिव्यक्ति पाती है। प्रकृति में ये कवि अपने भावों का प्रतिबिंब भी देखते हैं और उसके रूपों तथा बिंबों के माध्यम से अपनी अभिव्यक्ति को भी समृद्ध करते हैं। प्रकृति के साथ इन रचनाकारों का संबंध तब रहस्यानुभूति की सीमा का स्पर्श करने लगता है, जब वे इसके माध्यम से अपने अंतर्जगत की पहचान करते हैं या चरम सत्ता का साक्षात्कार करते हैं। प्रकृति को वे स्वतः पूर्ण समझते हुए उसे जीवंत सत्ता तथा ईश्वरीय ज्योति से प्रभासित मानते हैं। प्रकृति इन्हें नैतिकता और आध्यात्मिकता का पाठ पढ़ाती है और सत्य का साक्षात्कार कराती है।

9. **भाषा और शिल्प** : निसर्ग के प्रति झुकाव स्वच्छंदतावाद के भाषा-शैली संबंधी सिद्धांतों में भी अभिव्यक्त होता है। हालांकि इस दौर के रचनाकारों में भाव, भाषा तथा शिल्प की अपार विविधता दिखाई पड़ती है, किंतु एक बिंदु पर ये सभी सहमत थे। वे सभी सायास शिल्प और बाह्य अलंकरण के विरोधी थे। वे मानव के नैसर्गिक मूल भावों का चित्रण सहज तथा आडम्बरहीन भाषा-शैली में करने के पक्षधर थे। वर्डसवर्थ ने तो बोलचाल की आम भाषा को ही काव्य-भाषा के रूप में स्वीकार करने का आग्रह किया। अन्य रचनाकारों ने इस अतिवाद को भले ही स्वीकार न किया हो, परंतु काव्यास्वाद तथा भाव-सम्प्रेषण के लिए सहज अकृत्रिम भाषा के प्रयोग को आवश्यक ठहराया।

भाषा की सहजता का तात्पर्य भावों अथवा अभिव्यक्तियों की सपाटता से नहीं है। सभी स्वच्छंदतावादी रचनाकारों में सूक्ष्म अर्थच्छायाओं को उद्घाटित करने के लिए भाषा और ध्वनि

के संगीत का सुंदर उपयोग हुआ है। सपाट गद्यात्मक कथन के स्थान पर वे सूक्ष्म व्यंजना और सांकेतिकता के महत्व पर बल देते हैं, जिससे काव्य में रहस्यात्मक सौंदर्य और दार्शनिकता के साथ-साथ अभिव्यंजना शक्ति भी बढ़ जाती है।

छंद प्रयोग में भी इस युग के कवि का स्वातंत्र्य भाव स्पष्ट है। पिछले युग के सधे-बंधे अनुशासित, तुकांत 'हीरोइक कपलेट' के स्थान पर इन्होंने कोमल मधुर प्रगीत (लिरिक) या फिर मुक्त छंद (फ्री वर्स/ब्लैंक वर्स) को अपनाया तथा उसकी अपार क्षमता को उद्घाटित किया। इन्होंने अन्य छंदों का प्रयोग भी किया परंतु अपने ही ढंग और मिजाज़ से।

स्वच्छंदतावादी काव्य अपनी विपुल प्रगीत-सृष्टि के कारण पहले और बाद के कवियों के बीच एक विशिष्ट स्थान रखता है। यह विशिष्टता बाह्य रूप भर की नहीं है। वस्तुतः तीव्र अनुभूति और भावावेग से प्रेरित इन रचनाओं में आंतरिक संगीत का प्रवाह है, भाषा की गतिशीलता है और साथ ही भाव की केंद्रीयता तथा एकाग्रता है। इन कवियों ने प्रबंधों की रचना भी की है परंतु वह इनकी प्रिय विधा नहीं हैं।

भाषा और छंद की नवीनता के साथ स्वभावतः इन कवियों का बिंब विधान भी अपनी मौलिकता तथा ताजगी के कारण आकर्षित करता है। उन्होंने अपने बिंबों का चयन प्रकृति से तो किया ही, इसके अतिरिक्त जनमानस में संचित लोक-गाथाओं के बिंबों को भी कविता में उतारा। इसके अतिरिक्त, मध्ययुगीन सूरमाओं, परियों, चर्च चैपल आदि से संबंधित बिंबों का भी इन्होंने उपयोग किया। सारांश में इनकी कविता अपनी बिंब-धर्मिता के कारण ही नहीं बिंबों की विविधता और मौलिकता के कारण अपनी अलग पहचान रखती है।

20.8 सारांश

- प्रस्तुत पाठ में आपने पढ़ा कि आभिजात्यवाद और स्वच्छंदतावाद दो ऐसी प्रवृत्तियाँ हैं जिनकी चर्चा साहित्यशास्त्र में युगों से होती चली आ रही हैं। कभी एक प्रवृत्ति प्रधान रही और दूसरी गौण तो कभी दूसरी प्रधान रही और पहली गौण।

- आपने पढ़ा कि 'क्लासिक' से तात्पर्य है - श्रेष्ठ कालजयी कृतियाँ। यह शब्द प्राचीन श्रेष्ठ रचनाओं के लिए प्रयुक्त होता रहा है, और इन रचनाओं का अनुकरण करते हुए, इनके विधान को नियम मानते हुए साहित्य सृजन आभिजात्यवादियों को अभीष्ट रहा है। इस सृजन में संयम और वस्तुनिष्ठता अनिवार्य माने गए हैं।

- प्राचीन रचनाकारों के संयमपूर्ण अनुकरण और इन रचनाओं के आधार पर निर्धारित विषयों से छूट लेने की प्रवृत्ति स्वच्छंदतावाद की मूल प्रेरणा रही है। इसीलिए स्वच्छंदतावाद को रूढ़ियों से मुक्ति की चेतना माना गया है। यह प्रवृत्ति पश्चिम में सोलहवीं शताब्दी में मारलो और शेक्सपियर के नाटकों में दिखाई देती है। हालांकि एक आंदोलन के रूप में स्वच्छंदतावाद का आरंभ अठारहवीं शताब्दी के अंतिम दशकों से होता है।

- स्वच्छंदतावाद अठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान लगभग संपूर्ण यूरोपीय कला-जगत, विशेष रूप से साहित्य में, व्याप्त ऐसा आंदोलन है जिसका उदय नव्य-शास्त्रवाद की निर्जीव, और रूढ़ होती कला-पद्धतियों की प्रतिक्रिया में हुआ। स्वभावतः इसमें वैयक्तिक प्रतिभा और कल्पना से प्रेरित मौलिक रचनात्मकता और नए प्रयोगों पर विशेष बल दिया गया।

- साहित्य और कलाओं के प्रति इस दृष्टिकोण को प्रेरित करने वाली महत्वपूर्ण राजनीतिक घटना फ्रांस की जन-क्रांति थी। इसके पीछे ज्याँ ज़ाक रूसो जैसे विचारकों का चिंतन था। वे व्यक्ति के स्वातंत्र्य की मांग करते हुए 'स्वतंत्रता, समानता, और बंधुत्व' का नारा दे रहे थे। क्रांति की सफलता ने इस मांग की वैधता पर जैसे मोहर लगा दी और यह अभिव्यक्ति के विविध रूपों में प्रतिफलित होने लगी।

- स्वच्छंदतावाद किसी एक बँधे-बँधाए ढाँचे को नहीं, नाना रूपों में प्रकट हुआ। फ्रांस, जर्मनी और इंगलैंड में इसके तीन अलग-अलग रूप दिखाई पड़ते हैं जिनकी विविधता में भी समानताएँ हैं। इनमें मुख्य और सबसे प्रसिद्ध अंग्रेज़ी साहित्य की धारा है जिसकी व्याप्ति ब्लेक से बायरन तक स्वीकार की गई है। इस इतिहास के दो छोरों पर भले ही कवि हों,

परंतु इस प्रवृत्ति का प्रभाव कविता के अलावा निबंधों और उपन्यासों पर भी दिखाई पड़ता है, साथ ही समीक्षा पर भी।

आभिजात्यवाद और स्वच्छंदतावाद को परिभाषा के सूत्रों में बाँधना संभव नहीं है। इसलिए विद्वानों ने सुझाया है कि इनकी चर्चा एकवचन में नहीं, बहुवचन में (क्लासिसिज़्म और रोमांटिसिज़्म) की जानी चाहिए। एक विद्वान ने तो इसके उनसठ प्रकारों का संकेत किया है। विविधता के बीच स्वच्छंदतावाद की समान विशेषताएँ ही उसकी पहचान निर्धारित करती हैं। इन विशेषताओं में मुख्य हैं - वैयक्तिकता, अनुभूति-प्रवणता, अद्‌भुत के प्रति आकर्षण, कल्पना की प्रधानता, अतीतोन्मुखता, सौंदर्याभिमुखता, प्रकृति-प्रेम और अभिव्यंजना शिल्प की प्रयोगधर्मिता आदि। इनका विस्तार से विवेचन आप पहले पढ़ चुके हैं।

- इनमें से कुछ विशेषताओं के अतिरेकवादी मोड़ के कारण स्वच्छंदतावाद का क्रमशः ह्रास होने लगा। उसका आरंभ नव्य-शास्त्रवाद की रूढ़ियों और जड़ता के विरुद्ध हुआ था, परंतु धीरे-धीरे उसकी अपनी रूढ़ियाँ निर्मित हो चलीं और उन्होंने एक बार फिर आभिजात्यवाद के उदय का मार्ग प्रशस्त कर दिया।

- वास्तव में आभिजात्यवाद और स्वच्छंदतावाद की प्रवृत्तियाँ विभिन्न देशों के साहित्य में मौजूद होती हैं और अलग-अलग समय तथा परिस्थितियों के बीच - कभी-कभी अलग-अलग रूपों में - प्रकट होती हैं। हिंदी में भक्ति काव्य, रीतिकाव्य और आधुनिक युग में छायावाद को क्रमशः आभिजात्यवाद, नव्य आभिजात्यवाद और स्वच्छंदतावाद के रूप में देखा जा सकता है। किंतु इन्हें बिल्कुल पश्चिमी ढंग का आभिजात्यवाद या स्वच्छंदतावाद मानना भूल होगी।

20.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

डॉ. नगेन्द्र और राजकुमार कोहली, **पाश्चात्य सिद्धांत और वाद**, हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

डॉ. रामपूजन तिवारी, **पाश्चात्य काव्यशास्त्र**, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली।

डॉ. निर्मला जैन एवं डॉ. कुसुम बांठिया, **पाश्चात्य साहित्य चिंतन**, वाणी प्रकाशन, दिल्ली।

देवराज उपाध्याय, **रोमांटिक साहित्यशास्त्र**, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली।

20.10 अभ्यास के लिए प्रश्न

1. आभिजात्यवाद से तात्पर्य स्पष्ट करते हुए उसकी प्रमुख प्रवृत्तियों का परिचय दीजिए।
2. स्वच्छंदतावाद से तात्पर्य स्पष्ट करते हुए उसकी प्रमुख प्रवृत्तियों का परिचय दीजिए।
3. स्वच्छंदतावाद और आभिजात्यवाद के साम्य-वैषम्य पर प्रकाश डालिए।

इकाई 21 मनोविश्लेषणवादी आलोचना

इकाई की रूपरेखा

21.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के बाद आप

- बता सकेंगे कि मनोविश्लेषणवादी आलोचना की नींव किन आधारों पर पड़ी,
- मनोविश्लेषणशास्त्रियों और उनके प्रमुख सिद्धांतों का परिचय दे सकेंगे,
- आलोचना और मनोविश्लेषण का संबंध बता सकेंगे; और
- हिंदी आलोचना पर मनोविश्लेषण के प्रभाव की जानकारी दे सकेंगे।

21.1 प्रस्तावना

पिछली इकाई में आप पाश्चात्य साहित्य चिंतन की दो प्रमुख दृष्टियों (चिंतन पद्धतियों) आभिजात्यवाद और स्वच्छंदतावाद - के विषय में पढ़ चुके हैं। प्रस्तुत इकाई आधुनिक चिंतन दृष्टि की एक महत्वपूर्ण धारा मनोविश्लेषणवादी आलोचना से संबंधित है। आधुनिक विचार-जगत् में फ्रायड और मार्क्स ने भारी क्रान्ति की है और आधुनिक विचारधारा, जीवन-दृष्टि, नैतिक मान्यताओं आदि को इन दोनों ने जितना अधिक प्रभावित किया है उतना किसी अन्य ने नहीं। फ्रायड ने मनुष्य के अंतर्जगत का सूक्ष्म-गहन विश्लेषण किया है और मार्क्स ने मानव के बहिर्जगत का समग्रता में गहन-चिंतन। इन दोनों ही चिंतकों ने धर्म, ईश्वर और तमाम परम्परामूलक धारणाओं को ध्वस्त करते हुए एक नया चिंतन संसार निर्मित किया। नतीजा यह हुआ कि सृजनात्मक और आलोचनात्मक साहित्य और साहित्य-दृष्टि पर इनका प्रभाव काफी दूर तक पड़ा। फ्रायड के चिंतन से प्रभावित होकर मनोविश्लेषणवादी आलोचना की नींव पड़ी जिसे फ्रायड के साथ-साथ एडलर और युंग ने अपने-अपने ढंग से आगे बढ़ाया।

वास्तव में मनोविश्लेषण (साइकोअनालिसिस) मनोविज्ञान (साइकोलॉजी) की ही एक विकसित ज्ञान सम्पन्न शाखा है। यों तो सच्चाई यह है कि मनोविज्ञान भी कोई पुराना शास्त्र या विज्ञान नहीं है। उन्नीसवीं शताब्दी तक उसका अध्ययन दर्शनशास्त्र के एक अंग के रूप में ही होता रहा किंतु बीसवीं शताब्दी में मनोविज्ञान ने दर्शन की पराधीनता से अपने को मुक्त कर लिया तथा ज्ञान के एक 'अनुशासन' के रूप में अपना स्वतंत्र स्थान बनाया। इतना ही नहीं आधी शताब्दी के अंदर इसका इतनी तीव्र गति से विकास और प्रसार हुआ कि अन्य शास्त्र इससे प्रभावित हुए बिना न रह सके। एक महावृक्ष की भाँति इसकी अनेक शाखाएँ हो गई - जैसे बाल मनोविज्ञान, लोक मनोविज्ञान, समाज-मनोविज्ञान, व्यवहारवादी मनोविज्ञान, औद्योगिक मनोविज्ञान, आदि-आदि। मनोविज्ञान की मौलिक मान्यता रही है कि मन और शरीर में निरंतर क्रिया-प्रतिक्रिया चलती रहती है। ऐसी स्थिति के कारण शरीर से अलग मन और मानसिक व्यापारों का अध्ययन संभव ही नहीं है।

मनोविज्ञान की एक प्रधान शाखा के रूप में मनोविश्लेषण का उद्भव-विकास मनश्चिकित्सा के प्रसंग में हुआ। मनोविश्लेषण की महान-त्रयी - फ्रायड, एडलर, युंग (कुछ लोग जुंग उच्चारण करते है) मूलत: चिकित्सक थे। मानसिक व्याधियों की चिकित्सा के दौरान उनके सामने ऐसे बहुत से अनुभव तथ्य आए जिनके गहन विश्लेषण से मनोविश्लेषणशास्त्र नाम का नया विज्ञान या शास्त्र निर्मित हुआ। इस मनोविश्लेषण-शास्त्र का ज्ञान के अन्य क्षेत्रों पर इतना प्रभाव पड़ा कि साहित्यालोचन और साहित्य उसके प्रभाव से अछूते नहीं रह सके, सर्वप्रथम सृजनात्मक साहित्य - विशेषकर कथा-साहित्य और नाटक और उसके बाद साहित्यालोचन और व्यावहारिक आलोचना।

मनोविश्लेषणशास्त्र के प्रवर्तक के रूप में फ्रायड प्रसिद्ध हुए। एडलर और युंग शुरुआत में फ्रायड के शिष्य, अनुगामी और सहयोगी थे किंतु आगे चलकर उनकी मान्यताएँ फ्रायड से अलग हो गईं। फलत: उन्होंने अपनी मान्यताओं को स्वतंत्र सिद्धांतों का रूप दिया। इस भेद के कारण तीन नामों का प्रयोग किया गया - (1) फ्रायड - मनोविश्लेषण (साइकोअनैलिसिस) (2) एडलर - व्यष्टिमनोविज्ञान (इंडिविजुअल साइकॉलॉजी) (3) युंग - विश्लेषण मनोविज्ञान (ऐनलिटिकल साइकॉलॉजी)। यहाँ इन तीन मनोविश्लेषणशास्त्रियों के सिद्धांतों का सार-संक्षेप प्रस्तुत करना अपेक्षित है।

21.2 सिग्मंड फ्रायड

मनोविश्लेषणशास्त्र के प्रवर्त्तन का श्रेय सिग्मंड फ्रायड (1856-1939) को दिया जाता है। फ्रायड का जन्म मोराविया में 6 मई, 1856 ई. को हुआ। उन्होंने विएना में चिकित्साविज्ञान का मनोयोग से अध्ययन किया और तंत्रिका-विज्ञान (न्यूरोलॉजी) में विशेष दक्षता प्राप्त की। कुछ दिनों तक पेरिस में प्रसिद्ध मन:चिकित्सक शार्को की शिष्यता ग्रहण की और अपस्मार (हिस्टीरिया) रोग के कारणों का अध्ययन किया। इस रोग के निदान के लिए सम्मोहन विधि का प्रयोग करना पड़ता था किंतु परिणाम संतोषजनक न आने के कारण फ्रायड ने उस पद्धति को छोड़ दिया। उन्होंने एक स्वतंत्र पद्धति विकसित की जिसे 'मनोविश्लेषण पद्धति' नाम दिया गया। 1938 में हिटलर ने ऑस्ट्रिया पर अचानक अधिकार कर लिया। वहाँ से यहूदियों को भागना पड़ा। यहूदी होने के कारण नात्सी शासन में उनके लिए जगह नहीं थी। वे उन दिनों विएना विश्वविद्यालय में तंत्रिका-विज्ञान के प्रोफेसर थे। अत: विएना को छोड़कर लंदन चले गए। वहीं 1939 ई. में उनका देहावसान हुआ। फ्रायड ने बहुत लेखन-कार्य किया है जिनमें 'इन्ट्रोडक्ट्री लेक्चर्स ऑन साइकोअनैलिसिस' (1922), 'न्यू इन्ट्रोडक्ट्री लेक्चर्स' 1933), 'सिविलिजेशन एण्ड इट्स डिसकंटेंट्स' (1929), 'दि इगो एंड दि इड' बियाण्ड दि प्लेजर प्रिन्सिपल्स', 'इण्टरप्रेटेशन आव ड्रीम्स', 'लिओनार्दो द विंची', 'टोटम एण्ड टैबो', 'थ्री कन्ट्रीब्यूशन्स टु दि थियरी आव सेक्स' तथा 'आटोबायोलॉजिकल स्टडी' आदि पुस्तकें वि... प्रसिद्ध हुई हैं।

दरअसल, फ्रायड द्वारा प्रयुक्त 'मनोविश्लेषण' (Pshycho-analysis) शब्द सामान्य अर्थ में प्रयुक्त न होकर विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्द है। 'मनोविश्लेषण' एक ऐसा अवधारणात्मक शब्द है जो दो अर्थों का बोधक है । एक तो उस **प्रविधि** या **प्रक्रिया** का जिसका फ्रायड ने मानव-मन की भीतरी टटोल के लिए उपयोग किया और दूसरे उस **सिद्धांत समूह** का जो उस भीतरी टटोल या छानबीन के दौरान प्राप्त हुए हैं। ध्यान देने की बात यहाँ यह है कि फ्रायड पहले मनोविश्लेषणशास्त्री है जो मानव-मन की जटिल-दुर्बोध समस्याओं के कारण-कार्य संबंध से अपनी बात प्रमाण-पुष्ट रूप में कहना चाहते हैं। वे अंतर्मन का उसी तटस्थता से अध्ययन-विश्लेषण करते हैं जिस तटस्थता से कोई वस्तुनिष्ठ घटनाओं का गहराई से विवेचन करता है। फ्रायड के सिद्धांतों से हम सहमत हों या असहमत, किंतु हम यह मानने को विवश हो जाते हैं कि बीसवीं शताब्दी के बौद्धिक परिवेश को निर्मित करने में उनकी क्रांतिकारी भूमिका है।

प्रमुख मान्यताएँ

- फ्रायड के सिद्धांतों का मूलाधार है - सुविचारित नियतत्ववाद। वैज्ञानिक दृष्टि से नियतत्ववाद का अर्थ है कार्य-कारण का दृढ़ सम्बन्ध। फ्रायड यह मानते है भौतिक घटना के समान ही प्रत्येक छोटी-बड़ी मानसिंक घटना के पीछे कार्य-कारण सम्बन्ध रहता है जैसे भौतिक संसार में कोई कार्य बिना कारण के नहीं होता, वैसे ही मानसिक अथवा अंतर्मन का कोई व्यापार भी कारण के बिना नहीं होता, नहीं हो सकता। चूँकि प्रत्येक व्यापार कारण-प्रेरित होता है तो उस कारण का इतिहास-भूगोल का पता लगाया जा सकता है।

- फ्रायड के चिंतन का दूसरा आधार अवचेतन-सिद्धांत अथवा अवचेतन मन की खोज है। फ्रायड मन के तीन भाग मानते हैं - चेतन (कॉन्शस), पूर्व-चेतन (प्री-कॉन्शस), और अवचेतन (अन-कॉन्शस)।

- महत्व और विस्तार की दृष्टि से चेतन मन की अपेक्षा अवचेतन मन अधिक बृहत्तर और शक्तिशाली है। फ्रायड ने इस तथ्य को सामने लाने के लिए उदाहरण देकर अपनी बात कही कि एक ऐसा बृहत् पत्थर जिसका तीन-चौथाई भाग जल में डूबा हुआ है और एक-चौथाई भाग जल के ऊपर। यह तीन-चौथाई भाग अवचेतन मन है और एक-चौथाई भाग चेतन मन। अवचेतन मन की स्थिति के लिए एक अन्य उदाहरण है कि अवचेतन की स्थिति एक विशाल गोदाम जैसी है जिसमें तरह तरह की असंख्य चीज़ें भरी पड़ी हैं और चेतन मन उन एक-दो चीजें के समान है जिन्हें करीने से उपयोग में लाया जाता है। एक तीसरा उदाहरण - अवचेतन अथाह-अगाध जलराशि है और चेतन उस जलराशि पर उठने वाली लहरों की तरंग-माला।

- विषय की दृष्टि से अवचेतन और चेतन मन में गहरा पार्थक्य है। अवचेतन मन का विषय चेतन मन के विषय से भिन्न ही नहीं, प्राय: विपरीत या विरूद्ध होता है। इसीलिए चेतन-मन में जैसा दिखाई देता है अवचेतन मन में प्राय: वैसा नहीं होता।

- यह समझने की भूल नहीं करनी चाहिए कि चेतन मन की तुलना में अवचेतन मन कम गतिशील है बल्कि एक अर्थ में अवचेतन मन पर्याप्त गतिशील रहता है। स्मृतियाँ या भाव-विचार पुंज अवचेतन में पड़े रहते हैं - वें निश्चेष्ट नहीं होते, बाहर आने के लिए निरंतर द्वार खोजते रहते हैं तथा मौका मिलते ही ये दबे हुए या दमित भाव विचार पूरे वेग से विस्फोट के साथ ऊपर आ जाते हैं। चेतन वह भाग है जो सामाजिक जीवन में सक्रिय रहता है और जिसकी क्रियाओं का हमें ज्ञान रहता है। लेकिन अवचेतन मन हमारे मन का वह भाग है जिसकी क्रियाओं का सीधा ज्ञान हमें नहीं रहता परंतु निरंतर सक्रिय रहकर हमारी जीवन-गति की प्रत्येक स्थिति-गतिविधि को अज्ञात रूप से प्रेरित-प्रभावित करता है। यह अवचेतन हमारी उन इच्छाओं-अभावों-अतृप्तियों का पुंज है जो अनेक सामाजिक अवरोधों के कारण (सेंसरशिप) अर्थात् सामाजिक-सांस्कृतिक स्वीकृति के अभाव में चेतन मन से मुँह छिपाकर नीचे उतर जाती हैं और बाहर आने के लिए मौका खोजती रहती हैं।

- फ्रायड का आत्मनिष्ठ सृजन-सिद्धांत 'इच्छापूर्ति का सिद्धांत' है जिसमें अपूर्ण इच्छाओं या वासनाओं की महत्वपूर्ण भूमिका है। फ्रायड के मत से कला अपूर्ण इच्छाओं की पूर्ति का प्रयास है और इस दृष्टिकोण से वह शिशु क्रीड़ा, दिवा-स्वप्न, स्वप्न और फैन्टसी से सादृश्य रखती है। दमित इच्छाएँ अथवा वासनाएँ अपनी अभिव्यक्ति के लिए डटकर संघर्ष करती हैं और इस अवस्था में उन्हें अधीक्षक (सेंसर) का सामना करना पड़ता है। लेकिन यह दमन एक छलना है, दमित इच्छाएँ अनेक छद्म रूप धारण कर अपनी अभिव्यक्ति का मार्ग खोज या ढूँढ ही लेती हैं। ये मार्ग हैं - प्रतीक कथा, स्वप्न, कला-साहित्य आदि। वस्तुस्थिति यह है कि ये सभी स्वप्न के विभिन्न रूप हैं। इसीलिए स्वप्न की व्याख्या से 'स्वप्न सिद्धांत' की स्थापना फ्रायडीय चिंतन का अत्यंत महत्वपूर्ण अंग है।

- पूर्व-चेतन (प्री-कॉन्शस) की स्थिति चेतन से कुछ पहले है और यह अवचेतन मन के लिए एक विशेष द्वार है। लेकिन यह द्वार कभी-कभार ही खुलता है, प्राय: चुप पड़ा रहता है। अवचेतन मन की प्रधान विशेषता है - यौन जीवन के प्रति गहरा झुकाव। फ्रायड का अध्ययन करने वाले सभी विद्वान एकमत होकर कहते हैं कि फ्रायड के सिद्धांतों में सर्वाधिक क्रांतिकारी और विस्मयकारी अवधारणा है - यौन से संबंधित सिद्धांत दृष्टि। फ्रायड ने अनेक तथ्यों के आँकड़ों के आधार पर कहा कि प्राय: सामान्य धारणा यह है कि यौन भावना यौवन-काल में उत्पन्न होती है किंतु यह धारणा सही नहीं है। सही बात यह है कि यौन-भावना मानव-जन्म के साथ ही उत्पन्न होती है। दूध पीने के लिए बच्चा माँ का स्तन चूसता है तब वह यौन-आनंद का रूप ही है! फ्रायड मानते है कि बच्चे की यौन-भावना सर्वप्रथम माँ के प्रति ही उद्दीप्त होती है और बार पिता को वह अपना प्रतिस्पर्धी मान लेता है किंतु भयवश वह अपनी कामेच्छा की तृप्ति नहीं कर पाता। इससे उसके मन में एक मनोग्रंथि पैदा होती है - जिसे 'ईडिपस ग्रंथि' (ईड़िपस नामक एक यूनानी राजकुमार ने अनजाने में अपने पिता को मारकर माँ से विवाह कर लिया। उसी के नाम का इस ग्रंथी का नामंकरण किया गया है। ईडिपस ग्रंथि का कारण है माँ के प्रति यौन-आकर्षण और उसकी अतृप्ति)। फ्रायड की मान्यता है कि यही 'ईडिपस ग्रंथि' जीवन में मनस्ताप (न्यूरोसिस) का कारण बनती है जिसका निराकरण न होने से जीवन में व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। प्रश्न उठता है कि 'मनस्ताप' किसे कहते हैं? फ्रायड का उत्तर है कि मनस्ताप एक प्रकार का तांत्रिकीय (नर्वस) रोग है जो जीवन में अतृप्ति-अभाव, कुंठा या मैल-ऐडजस्टमेंट के कारण उत्पन्न होता है। मनस्तापी की

जीवन-दृष्टि विकृत और निराशा से भरी होती है - वह या तो परिस्थितियों से संघर्ष करने से कतराता है या फिर दूसरों को उत्तेजित कर अपना उल्लू सीधा करता है।

- फ्रायड के 'सेक्स' के पर्याय रूप में हमारे यहाँ 'काम' शब्द का प्रयोग होता है जिसे 'यौन' के संकुचित अर्थ में नहीं लिया जाता। 'काम' में अर्थ के व्यापक अर्थ-स्तर हैं। स्वयं फ्रायड ने यौन (सेक्स) और जननिक (जननेंद्रियों से संबंधित) में बहुत स्पष्ट भेद किया है - प्रत्येक यौन धारणा जननिक ही हो यह जरूरी नहीं है। इसलिए 'सेक्स' बहुत व्यापक अर्थ-संदर्भ का वाची शब्द है। यौन-क्रीड़ा से आनंद की प्राप्ति होती है और उसकी परिणति संतानोत्पत्ति में होती है। मनुष्य में दो प्रबल किंतु सहज प्रवृत्तियाँ होती हैं - एक आत्म-रक्षा की प्रवृत्ति दूसरी प्रजनन या प्रजाति परिरक्षण की प्रवृत्ति। इनमें आत्म-रक्षा की प्रवृत्ति तो प्राय: कभी-कभार ही बाधित होती है पर प्रजनन की प्रवृत्ति प्राय: बाधित होकर कुंठित हो जाती है। कारण, सभ्यता-संस्कृति के नियम नैसर्गिक कामेच्छा की स्वच्छंद तृप्ति में बाधा डालते हैं। इसलिए उन्हें दमित करना पड़ता है। मानव में भारी यौन-ऊर्जा होती है - ऐसी स्थिति के कारण यौन-ऊर्जा का दमन मनुष्य में अनगिनत मनोग्रंथियों और मानसिक रोगों का 'कारण' बनता है। इनसे बचने का एक ही उपाय है - यौन-भावना की अबाध संतुष्टि। जो संभव नहीं है। क्योंकि आज मानव सभ्यता-संस्कृति की जिस ऊँचाई पर पहुँच गया है वहाँ भी वह अपने प्राक्तन या आदिम संस्कारों-वृत्तियों से मुक्त नहीं है। इसमें आदिम मानव और पशु दोनों के संस्कार मौजूद हैं जिन्हें सभ्यता ने अपने पर्दे में छिपाया हुआ है। इसलिए मानव पर विचार करते हुए उसकी आनुवंशिकता पर विचार करना चाहिए।

- फ्रायड के मत से नैतिकता एक प्रकार का सामाजिक नियंत्रण है जिसने मानव-जीवन की सहज-नैसर्गिक गति को बाधित कर रखा है। ये दमित भाव ही अवचेतन में उपद्रव मचाते हैं जिन्हें समाज अनैतिक कहता है। लेकिन 'सेंसर' दमित इच्छा को यदि वह चेतन-मन तक किसी तरह पहुँच ही गई तो उसे 'परिष्कार' कर देता है ताकि वह शिष्ट समाज के योग्य बन सके। चेतन-मन की मंज़िल पर पहुँचने के क्रम में अवचेतन का यह परिष्कार ही उदात्तीकरण (सब्लीमेशन) कहलाता है।

- फ्रायड ने अनेक प्रयोगों से सिद्ध किया कि 'सेंसर' के द्वारा निरंतर दमन की जाने वाली अवचेतन की वासनाएँ अथवा इच्छाएँ अनुकूल अभिव्यक्ति का अवसर न पाकर, स्थिर हो जाती हैं और 'मनोग्रंथि' में बदल जाती हैं। जैसे तालाब का जल ठहरकर सड़ने लगता है वैसे ही इदच्छाएँ मानसिक रोगों का रूप ग्रहण कर लेती हैं। यदि मनोग्रंथि के कारणों को सामने लाया जाए तो उनका इलाज संभव है। यह सिद्धांत मानव के भाव-राग-विराग सभी पर लागू किया जा सकता है। एक प्रकार से फ्रायड के इस सिद्धांत में अरस्तू के विरेचन-सिद्धांत थियरी ऑफ कैथार्सिस) की ध्वनि है।

- फ्रायड के मत से कला का महत्व इस बात में निहित है कि वह एक प्रकार के भ्रम का जाल बुनकर हमें यथार्थ की असहनीयता और कटुता से मुक्ति दिलाती है। यह भ्रम रम्य कल्पना - फैन्टसी निर्मित करती है। अवचेतन मन की दमित इच्छाएँ फैण्टसी में अभिव्यक्ति पाती हैं।

- फ्रायड ने मनोविश्लेषण में 'अवचेतन सिद्धांत' की तरह 'स्वप्न सिद्धांत' को बहुत महत्व दिया। स्वप्न, मानव की दमित इच्छाओं की अभिव्यक्ति हैं। अत: स्वप्न हमें अवचेतन की महत्वपूर्ण सूचनाएँ देते हैं।

- विशेष बात यह है कि फ्रायड ने मनोविश्लेषण में मन की संरचना दो प्रकार की मानी है। आरंभ में वे चेतन, पूर्वचेतन तथा अवचेतन की धारणा सामने लाते हैं लेकिन बाद में एक दूसरी धारणा प्रस्तुत करते हैं। मन के तीन भाग हैं - **इदम्** (इड), **अहम्** (इगो) और **अति-अहम्** (सुपर इगो)। कुछ दूर तक ये दोनों विभाजन एक-दूसरे के पूरक हैं और इनमें स्पष्ट विभाजन आसान नहीं हैं।
  - इदम् सहज प्रवृत्तियों का भण्डार, रागों का पुंज और अवचेतन ही है। मानव जो कुछ आनुवंशिकता से प्राप्त करता है वह सब इदम् में संचित रहता है पर इदम् की सहज प्रवृत्तियाँ अपनी संतुष्टि के लिए बेचैन रहती हैं।
  - अहम् को हम चेतन मन कह सकते हैं। यह मन बाह्य जगत और अवचेतन के मध्य मध्यस्थ की भूमिका अदा करता है। सहज प्रवृत्तियों पर नियंत्रण रखता है और परिस्थिति-परिवेश या देश और काल की अनुकूलता-प्रतिकूलता देखकर निर्णय करता है कि किसे कब संतुष्टि प्रदान करे। अहम् ही उन प्रवृत्तियों का दमन करता है जो संतुष्टि के योग्य नहीं होती हैं।

अति अहम् संचित सामाजिक मान्यताओं का प्रतीक है जिसका काम आलोचना (विवेक) और अधीक्षण (सेंसर) करना है। अति-अहम् भी अवचेतन का ही अंग होता है। संक्षेप में, कहा जा सकता है कि इदम् और अति-अहम् दोनों अतीत के अनुभवों के प्रभावों का प्रतिनिधित्व करते हैं। हाँ, अहम् का निर्धारण मानव-अनुभव करते हैं। इस प्रकार इदम् का मूल है - आनंद और अहम् का प्रेरक है - वस्तुवाद। अहम् में ज्ञान की प्रधानता रहती है और इदम् में वासनाओं या इच्छाओं की। जीवन की मूल वृत्ति फ्रायड के मत से 'काम' है। इनके मत से दो वृत्तियाँ प्रधान हैं - एक इरॉस अर्थात प्रेम करने की प्रवृत्ति और दूसरी थैनेटॉस अर्थात् नाश करने की प्रवृत्ति। इनमें प्रमुख काम की प्रवृत्ति है - दूसरी विपर्यय-मात्र। इसी 'काम' को फ्रायड ने 'लिबिडो' कहा है। हमारी सभी क्रियाओं में 'काम' के अंत:सूत्र विद्यमान रहते हैं और काम-वृत्ति अनेक रूपों-छवियों-भाव-झंकृतियों में अपने अस्तित्व का अहसास कराती है।

- फ्रायड ने स्पष्ट किया है कि रोग का मूल कारण मनोग्रंथियाँ हैं। समस्या है - इन मनोग्रंथियों की आंतरिक गाँठों को खोला कैसे जाए? इसके लिए फ्रायड ने व्यावहारिक प्रयोगों के द्वारा 'मुक्त विचार प्रवाह शैली' की खोज की जिसके अनुसार वे अंतर्मन में पड़े भावों को बाहर निकाल लाने का दावा करते हैं। अवचेतन से चेतन में आ जाने पर गाँठ खोली जा सकती है - भावों का परिष्कार या उदात्तीकरण किया जा सकता है। यही उनकी उपचार-क्रिया का दृढ़ कार्य-कारण संबंध या नियतत्ववाद है। अपने इन्हीं सिद्धांतों के प्रकाश में फ्रायड ने सभ्यता-संस्कृति, धर्म, कला, समाज-व्यवस्था, राष्ट्रीयता आदि पर विचार किया। उनके सिद्धांतों के निष्कर्ष मौलिक होते हुए भी विक्षोभकारी थे। फ्रायड का बहुत विरोध हुआ लेकिन जितना ही विरोध था उतना ही उनका प्रभाव गहरा होता गया। फ्रायड के चिंतन में नैतिकता और आध्यात्मिकता के लिए कहीं भी जगह नहीं है। कला या साहित्य के क्षेत्र में वे भाव-परिष्कार सिद्धांत को स्वीकार करते हैं।
- फ्रायड के मनोविश्लेषण में प्रयोजन या उद्देश्य के लिए कोई स्थान नहीं है। मनुष्य की स्थिति यंत्र की है - मानव के सभी कार्य-व्यापारों को एक अंध-शक्ति परिचालित करती है। अत: उद्देश्य सामने रखकर कार्य करने का प्रश्न ही पैदा नहीं होता। जीवन का ही कोई प्रयोजन नही है - जीवन तो प्रयोजनातीत है।

21.3 एल्फ्रेड एडलर

वैयक्तिक मनोविज्ञान के प्रतिष्ठापक एल्फ्रेड एडलर अपनी विद्वता के लिए प्रसिद्ध रहे हैं। वे यहूदी थे और उनका जन्म विएना में 17 फरवरी, 1870 ई. में हुआ। चिकित्सा विज्ञान का अध्ययन करने के बाद 1902 में वे फ्रायड के सहयोगी शिष्य हो गए। लेकिन धीरे-धीरे दोनों के बीच मतभेद उभरा। यह इस सीमा तक उभरा कि 1911 में एडलर ने फ्रायड से अलग अपना नया सिद्धांत या सम्प्रदाय बना लिया। 1935 में वे अमेरिका चले गए और वहाँ अपने सिद्धांत का मान-सम्मान पाकर बस गए। उनका एबर्डीन में 28 मई, 1937 में देहावसान हो गया। उनकी प्रसिद्ध कृतियों के नाम हैं - 'दि प्रेक्टिस एण्ड थियरी ऑव साइकोलॉजी', 'सोशल इंटरेस्ट', 'दि न्युराटिक कांस्टीट्यूशन', 'प्राब्लम ऑव न्युरोसिस' आदि।

प्रमुख मान्यताएँ

- फ्रायड 'काम-भावना' को जीवन की प्रेरणा-शक्ति मानते हैं पर एडलर 'अधिकार-भावना' को केंद्रीय स्थान देते हैं। एडलर के विचार से मनुष्य को तीन क्षेत्रों का समायोजन करना पड़ता है - समाज, प्रेम और कार्य। इस त्रिविध समायोजन में बाल्य-काल के अनुभव साधक या बाधक की भूमिका में रहते हैं। बालक असहाय रूप में संसार में आता है उसे जीवन-धारणा से लेकर प्रत्येक जीवन-कार्य में दूसरों पर निर्भर रहना पड़ता है। नतीजा यह होता है कि बालक कदम-कदम पर असहायता का अनुभव करता है। उसकी असहायता की भावना तीन प्रकार से तीव्र होती जाती है - अनुचित व्यवहार से, विषम परिस्थिति से; तथा आंगिक हीनता से। अनुचित व्यवहार का अर्थ है - उपेक्षा, कठोरता, अधिक लाड-प्यार। विषमता का यहाँ अर्थ है - बच्चा अनाथ हो, पिता की मृत्यु के बाद पैदा हुआ हो या विमाता के संरक्षण में कष्ट झेल रहा हो। आंगिक हीनता का अर्थ है - अंग संरचना में गड़बड़ी - बच्चा लँगड़ा-लूला हो, एक आँख वाला या अंधा, बहरा, नाटा, मोटा, पतला हो। इनका बच्चे के मन पर गहरा प्रभाव-दबाव रहता है और उसमें हीनता की भावना पैदा हो जाती है। जीवन क्षेत्र में बार-बार असमर्थता का शिकार होने पर उसमें कुंठा घर कर लेती है और असफलता 'मनस्ताप' को जन्म देती है। अत: 'मनस्ताप' से निवारण के लिए बचपन का इतिहास-भूगोल जानना अपेक्षित होता है।

- असहायता की भावना की प्रतिक्रिया कई रूपों में हो सकती है किंतु तीन प्रमुख रूप हैं - (क) क्षतिपूर्ति का संकल्प (ख) आत्म-केंद्रित हो जाना, पलायनवादी हो जाना, कर्म से मुँह मोड़ लेना (ग) अतिक्षतिपूर्ति या समझौतावादी दृष्टि अपनाना। इनमें से प्रथम प्रकार में एक दिशा में शक्ति (एनर्जी) का प्रवाह अवरुद्ध होकर दूसरी दिशा में नई ऊँचाइयों को प्राप्त करता है। यही क्षतिपूर्ति की सफलता या सफल क्षतिपूर्ति है। जैसे हम देखते हैं कि नेत्रहीन, विकलांग व्यक्ति कविता, कला या संगीत में अद्भुत उत्कर्ष प्राप्त करते हैं अंग्रेज़ी कवि बायरन लंगड़े थे हिंदी कवि सूरदास नेत्रहीन। दूसरी कोटि में वे व्यक्ति आते हैं जो पराजय से पीड़ित होकर आत्म-केंद्रित हो जाते हैं। तीसरी कोटि के लोग - अति-क्षतिपूर्ति वाले लोग - अपनी हीनताओं से समझौता कर लेते हैं और उसकी क्षतिपूर्ति का प्रयास करते हैं। उदाहरण के तौर पर रूपहीन स्त्री का अतिशय शृंगार करना या मरियल आदमी का ऐसे कामों में उत्साह दिखाना जो उसे बलवान सिद्ध कर सकें। चूँकि यह क्षतिपूर्ति प्राय: संतुलित न होकर 'अति' से भरी होती है इसीलिए इसे 'अति-क्षतिपूर्ति' कहते हैं। संतुलित क्षतिपूर्ति वाला 'नॉर्मल' कहलाता है व असंतुलित अतिरंजित क्षतिपूर्ति वाला 'असामान्य' (एब-नॉर्मल)। इसलिए 'असामान्य' व्यक्ति की कठोर आलोचना होती है।

- एडलर के मत से मनुष्य के विकास में सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका 'समाज' की होती है। मानव का समाज-निरपेक्ष व्यक्तित्व और अस्तित्व संभव ही नहीं है - उसकी सभी इच्छाएँ-आकांक्षाएँ, प्रेरणाएँ, समस्याएँ, चिंताएँ, तोष प्रदान करने वाली वृत्तियाँ समाज-सापेक्ष्य हैं। इसीलिए 'सामाजिकता' का एक बृहत् अर्थ-संदर्भ है। मानव की 'सामाजिकता' का लघु किंतु महत्वपूर्ण अंग 'घर-परिवार' है। व्यक्ति की 'जीवन-पद्धति' को समझने के लिए 'पारिवारिक पद्धति' को गहराई से जानना-समझना जरूरी है। एडलर ने 'जीवन-पद्धति' का प्रयोग आचार-विचार व्यवहार आदि के व्यापक अर्थ में किया। स्वाभाविक 'जीवन-पद्धति' के विकास से अभिप्राय है - 'अहं भावना' और 'समुदाय-भावना' में पूर्ण संतुलन और सामंजस्य। न्यूराटिक या मनस्तापी में इस 'समुदाय-भावना' का विकृत रूप रहता है वह 'अहं भावना' को प्रधानता देता है और 'समुदाय-भावना' को अँगूठा दिखाता है यही उसकी 'मानसिक बीमारी' का साफ लक्षण है। वैयक्तिक मनोविज्ञान के अनुसार, मनस्तापी व्यक्ति वह है जिसके शैशवकालीन असंतुलन ने 'जीवन-पद्धति' को गलत दिशा में प्रवृत्त कर दिया है।

- एडलर किसी भी व्याधि या रोग के तीन कारण मानते हैं - (1) संरचनात्मक (2) क्रियामूलक (3) मानसिक व्यापारमूलक। संरचनात्मक व्याधि से तात्पर्य आंगिक विकृति से है जैसे अंधा-काना आदि। क्रियामूलक कारणों से तात्पर्य है - दर्द के कारण हाथ-पैर चलाने में कठिनाई। मानसिक व्यापारमूलक कारण का अर्थ है - भय, क्रोध, चिंता आदि भाव। मनस्तापी में व्याधियों के बहुत से कारण संश्लिष्ट रहते हैं।

- मानव के चरित्र निर्माण पर एडलर का ध्यान विशेष रूप से रहा है। चरित्र-निर्माण में अनेक तत्व घुले-मिले रहते हैं - शारीरिक गठन, परिवार, आर्थिक-नैतिक-शैक्षणिक स्थिति-परिस्थिति, लक्ष्य एवं उसे प्राप्त करने के साधन। फलतः एडलर 'नैसर्गिक प्रतिभा' जैसी किसी चीज़ को स्वीकार नहीं करते। वे व्यक्तित्व एवं चरित्र के निर्माण में परिवेश अथवा वातावरण की केंद्रीय भूमिका मानते हैं। मानव की मानसिक क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं के निर्धारण में अपने विषय में अपनी तथा अपने विषय में अन्य की प्रतिक्रिया का महत्व होता है। विद्वान या पद-प्रतिष्ठा प्राप्त व्यक्ति की सम्मति का जोरदार असर पड़ता है।

- सामान्य व्यक्ति (नॉर्मल) वह है जिसकी सामाजिक-सांस्कृतिक रुचियाँ विकसित-परिष्कृत होती हैं। उसकी 'सामाजिकता' फूल की तरह खिलती है। लेकिन न्युराटिक पलायनवादी होकर आत्मकेंद्रित हो जाता है और 'समाज' से घबराता है। फलत: वही सामाजिक संघर्ष में पिछड़ जाता है।

- हीनता-ग्रंथि से मुक्ति पाए बिना जीवन में संघर्ष करने की क्षमता और सफलता संभव नहीं है। लेकिन गलत जीवन पद्धति के परित्याग से मानव 'हीनता ग्रंथि' से मुक्ति पा सकता है। जाहिर है कि हीनता-ग्रंथि से मुक्ति पाने का उपाय आशा-उत्साह का उदय तथा सामाजिकता का विस्तार है। फ्रायड के अनुसार मनस्ताप मन की विकृति का नतीजा है किंतु एडलर के अनुसार मनस्ताप जीवन-पद्धति और व्यक्तित्व की विकृतियों का कुफल है। फ्रायड 'यौन-भावना' को केंद्रीयता प्रदान करते हैं, किंतु एडलर यौनेतर कारणों को - सामाजिकता-परिवेश-वातावरण को महत्व देते हैं। विशेष बात यह है कि एडलर 'सांस्कृतिक तत्वों के महत्व' की जोरदार ढंग से घोषणा करते हैं। यही कारण है कि अपने समय में वे फ्रायड से कम प्रसिद्ध नहीं रहे।

21.4 कार्ल गुस्ताफ युंग (C.G. Jung)

युंग (कुछ लोग जुंग भी लिखते हैं किंतु हिंदी में युंग नाम ही व्यापक रूप से प्रचलित है) का जन्म 26 जुलाई, 1875 ई. में बासेल, स्विटज़रलैण्ड में हुआ। उन्होंने चिकित्सा-विज्ञान का डट कर अध्ययन किया और बासेल विश्वविद्यालय से चिकित्सा-विज्ञान में विशेष योग्यता प्राप्त की। 1900 ई. में उन्होंने मन:चिकित्सक के रूप में कार्य शुरू किया। कुछ समय तक वह फ्रायड के सहयोगी रहे, किंतु दोनों में नहीं बनी और गहरे सैद्धांतिक मतभेद उभरे। फलतः उन्होंने 'मनोविश्लेषणक मनोविज्ञान' की नई सिद्धांत-दृष्टि का प्रवर्तन किया। उनके विचारों का इतना स्वागत हुआ कि वे बासेल तथा त्सूरिख विश्वविद्यालयों में मनोविज्ञान के प्रोफेसर रहे। ध्यान देने की बात है कि युंग के सिद्धांत मनोविज्ञान से ज्यादा दर्शन के अंतर्गत आते हैं और उनका चिंतन दार्शनिक वर्गसॉ के नजदीक पड़ता है। सी.जी. युंग की प्रसिद्ध पुस्तक - 'मॉडर्न मैन इन सर्च ऑव सोल', 'दि इंटीग्रेशन ऑव पर्सनेलिटी', 'साइकोलॉजिकल टाइप्स', 'साइकोलॉजी ऑव अनकॉन्शस' तथा 'कन्ट्रीब्यूशन टू एनालिटिकल साइकोलॉजी' आदि हैं।

प्रमुख मान्यताएँ

- फ्रायड की तरह युंग भी मानते हैं कि 'चेतन-मन' की तुलना में 'अवचेतन-मन' का क्षेत्र अधिक विस्तृत और महत्वपूर्ण है। किंतु 'अवचेतन-मन' के बारे में दोनों के विचार भिन्न हैं। फ्रायड के अवचेतन सिद्धांत में दमित-अतृप्त सामग्री का केंद्रीय महत्व है किंतु युंग के मत से 'अवचेतन-मन' में वे तत्व भी मौजूद रहते हैं जो वैयक्तिक अनुभव की परिधि और सीमा में कभी आते ही नहीं. वे बुनियादी तौर पर पुरातन ऐतिहासिक अनुभव-राशि का रूप होते हैं। इसे ही युंग ने 'प्रजातीय स्मृति' (रेशियल मेमोरी) का नाम दिया है।

- युंग कहते हैं कि प्रत्येक मानव में एक प्रकार विशेष का 'आदिम अवचेतन मन' विद्यमान रहता है जो अपनी मूल बनावट या रूप में विश्व-व्यापी, सामूहिक, पुरातन और निर्वैयक्तिक हुआ करता है जिसमें आदिम मानव के 'देव-असुर', 'भले-बुरे' गुण मौजूद रहते हैं। जैसे-जैसे हमारे व्यक्तित्व का विकास होता है, वैसे-वैसे हम पाते हैं कि 'निर्वैयक्तिक अवचेतन-मन' के तत्व 'चेतन-मन' का हिस्सा बने जाते हैं और चेतन के विस्तार के साथ 'आदिम अवचेतन-मन' का कुछ अंश छनकर ऊपर आ जाता है।

- यहाँ युंग की 'अवचेतन-मन' की धारणा को भी समझना आवश्यक है -

  (i) मानव के अवचेतन-मन में मात्र दमित इच्छाओं का ही ढेर नहीं लगा हुआ है, बल्कि मानसिक जीवन के वे पक्ष भी संचित रहते हैं जो अपने विकासक्रम में अधूरे-उपेक्षित रह गए हैं।

  (ii) अवचेतन मन में वैयक्तिक अनुभवों-धारणाओं-विचारों, इन्द्रिय संवेदनों के वे रूप भी 'राशि-राशि' मौजूद हैं जो उपयोग में न आने के कारण 'विस्मृति' के अंधकार में पड़ गए हैं किंतु वे मृत नहीं हैं। ये 'विस्मृत' विचार-खण्ड जरूरत पड़ने पर स्मृति में अधिक धड़क उठते हैं।

  (iii) मूल बात यह है कि युंगीय मनोविश्लेषक मनोविज्ञान में 'अवचेतन मन' के दो भाग हैं - (1) वैयक्तिक अवचेतन मन (2) सामूहिक अवचेतन मन - जिसे वे 'प्रजातीय अवचेतन' मन नाम भी देते हैं। वैयक्तिक अवचेतन 'समग्र सामूहिक अवचेतन मन' की तुलना में कम महत्व का है। सर्वाधिक महत्वपूर्ण है 'सामूहिक अवचेतन-मन'। इसी सामूहिक अवचेतन-मन में किसी भी प्रजाति के मिथक-प्रतीक-सामूहिक विश्वास, कर्मकाण्ड संचित रहते हैं। इसी सामूहिक अवचेतन-मन का गंभीर तल है - पाताल है - उसे ही युंग 'आदिम विश्व-व्यापी अवचेतन मन' कहते हैं। सार-संक्षेप में मूल बात यह है कि मानव-मन के तीन विशिष्ट स्तर हैं - (1) चेतन (2) वैयक्तिक अवचेतन; और (3) आदिम सामूहिक अवचेतन मन या प्रजातीय अवचेतन मन।

- प्रश्न उठता है कि प्रजातीय अवचेतन मन का स्वरूप क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में युंग कहते हैं कि प्रजातीय अवचेतन मन में प्रजातीय दाय या धरोहर (रेशियल हेरिटेज) का भण्डारण या संग्रह होता है। इस प्रजातीय अवचेतन मन की रचना की एक तह नहीं बल्कि अनेक तरह की तहें या परतें होती हैं। प्रथम बुनियादी तह में पशु-जीवन के संचित अवशेष हैं। इस तह के ऊपर दूसरी तह

आदिम पूर्वजों या पुरखों के संस्कार की है। तीसरी तह **मानव-जाति विकास** (एथ्नोलॉजिकल) समूहों (जैसे आर्य-मंगोल आदि) की है। इसके ऊपर एक 'राष्ट्र' की तह है, फिर उसके ऊपर 'कुल' की तह है और इन सभी तहों के ऊपर 'परिवार' की तह है। मूल बात यह है कि प्रत्येक मानव में उसके प्रजातीय सामूहिक अवचेतन मन में आदिम पशुओं-पुरखों से लेकर माता-पिता तक के कुल-वंश संस्कार विद्यमान रहते हैं। इसी को युंग ने एक व्यापक नाम 'प्रजातीय स्मृति' दिया है। यही परंपरा (ट्रेडीशन) है।

- सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि इस प्रजातीय अवचेतन मन में मनुष्य का समस्त प्रकृत सहज प्राकृतिक (इन्स्टिंक्चुअल) जीवन समाविष्ट रहता है। युंग ने यह भी कहा है कि पुरखों की जीवाणु कोशिकाएँ उसके वंशजों में आती हैं और आदि-पूर्वज से लेकर अब तक जीवाणु कोशिकाओं के संक्रमण का क्रम जारी है। इन कोशिकाओं ने अंग-संरचना के कार्य को सम्पन्न करने के साथ पूर्वजों की अनुभव-प्रणाली को भी छाप के रूप में ग्रहण किया है - यह सभी अनुभव-व्यापार भी मानव के प्रजातीय अवचेतन में विद्यमान रहते हैं। इस प्रकार, प्रजातीय अवचेतन मन संस्कारों की सुदीर्घ परम्पराओं का परिणाम है। यही कारण है कि बालक के अवचेतन में कुछ भी वैयक्तिक नहीं होता, उसमें जाति-विकासात्मक सामग्री (फिलोजेनेटिक) का संग्रह रहता है। इसी में देव-दानव द्वंद्व, प्रेत-मानव युद्ध, प्राकृतिक शक्तियों की आदिमता, पुराण-कला मौजूद रहती है। ध्यातव्य है कि अवचेतन के इन्हीं विचारों को युंग आद्य रूप या आद्य-बिंब (आर्किटाइप) नाम देते हैं।

- फ्रायड की स्वप्न-सिद्धांत की धारणा से युंग सहमत नहीं हैं। फ्रायड केवल स्वप्न को अतीत घटनाओं की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति मानते हैं जबकि युंग के मत से स्वप्न अतीत-वर्तमान-भविष्य, तीनों से सम्बद्ध होते हैं।

- युंग ने 'लिविडो' की व्यापक परिभाषा की और फ्रायडीय-यौन-प्रेरणा के स्थान पर जीने की इच्छा (लस्ट फॉर लाइफ) या 'जिजीविषा' पर बल दिया।

- फ्रायड ने सभी प्रतीकों और जीवन के हर क्षेत्र के प्रतीकों-मिथकों, कला-प्रयोजनों को 'यौन-भावना' तक सीमित माना है। जबकि युंग प्रतीकों के व्यापक क्षेत्र को स्वीकार करते हुए मानते हैं कि प्रतीक विशेषीकृत रूप में सामान्यीकृत विचार को व्यंजित करता है।

- सृजन-प्रक्रिया और कवि-कर्तृत्व में युंग 'व्यक्ति-निरपेक्ष सृजन सिद्धांत' का प्रतिपादन करते हैं। साहित्य के क्षेत्र में टी.एस.एलियट ने रोमाण्टिक व्यक्तिवादी प्रवृत्ति का विरोध करते हुए जैसे 'निर्वैयक्तिक सिद्धांत' की महत्व-प्रतिष्ठा की है वैसे ही युंग ने फ्रायडीय व्यक्तिपरक न्यूरोसिस-सिद्धांत के विरोध में 'सामूहिक अवचेतन सिद्धांत' (कलेक्टिव अनकॉन्शस) को प्रस्तुत किया जिसके आधार पर कला-सृजन की रहस्यपरक गहराइयों को थाहने का प्रयत्न किया जा सकता है।

- अपने ग्रंथ **'मॉडर्न मैन इन दि सर्च ऑव सोल'** के **'मनोविज्ञान और साहित्य'** नामक अध्याय में युंग ने स्पष्ट रूप से कला-सृजन की मनोवैज्ञानिक व्याख्या या भाष्य प्रस्तुत किया। सृजनरत मानव पर विचार करते हुए शुरू में में ही यह तथ्य स्वीकार कर लिया कि जिजीविषा या इच्छा-शक्ति की स्वतंत्रता के समान ही सृजनशीलता भी एक गोपन या रहस्य है। सृजनशील व्यक्तित्व एक ऐसी जटिल पहेली है जिसका उत्तर अनेक प्रकार से देने का प्रयत्न किया जाता है पर सभी प्रयत्न निरर्थक सिद्ध होते हैं। कलाकार व्यक्तित्व न तो आत्मरति युक्त होता है न पर-रति-युक्त और न किसी अन्य प्रकार की रति से युक्त - 'वह' वस्तुनिष्ठ और वैयक्तिक होता है - यहाँ तक कि अमानवीय भी क्योंकि कलाकार होने के नाते वह स्वयं कृति होता है - न कि सामान्य मानव। सृजनशील व्यक्ति तो मूलत: विरोधी प्रवृत्तियों का संश्लेषण या पुंज होता है। एक ओर तो वह जीवन के राग-विरागों से घिरा मानव होता है दूसरी ओर निर्वैयक्तिक सृजन-प्रक्रिया के प्रति पूर्ण समर्पित कलाकार। व्यक्ति रूप में वह मानसिक रुग्णता का शिकार हो सकता है पर सृजनरत व्यक्तित्व के नाते हम उसकी कलात्मक निर्वैयक्तिक-शक्ति से ही साक्षात्कार करते हैं।

- युंग ने कलाकार और सृजन-प्रक्रिया पर विचारोपरांत कहा है कि 'वस्तुतः कला आंतरिक प्रेरणा की शक्ति है जो मानव को अपने जादुई जाल में फाँसकर उसे अपना यंत्र बना लेती है या वशवर्ती कर लेती है। कलाकार स्वतंत्र इच्छा-शक्ति से सम्पन्न अपने उद्देश्यों-लक्ष्यों की सिद्धि ढूँढने वाला व्यक्ति नहीं है बल्कि ऐसा प्राणी है जो अपने माध्यम से कला के प्रयोजन की सिद्धि करने देता है। मानव प्राणी होने के नाते उसमें संवेग, इच्छाएँ और वैयक्तिक उद्देश्य हो सकते हैं: किंतु कलाकार होने के नाते वह उच्चतर अर्थ में मानव है - वह सामूहिक मानव है जो मानव जाति के

मानसिक जीवन के अवचेतन को वहन और रूपायित करता है।' (सं.ब्रूस्टर गज़ेलिन 'दि क्रिएटिव प्रॉसेस', पृ. 208-23) अपने सृजन-दायित्व के ठीक-ठीक निर्वाह के लिए कलाकार को अपने जीवन-सुख का बलिदान करना पड़ता है।

21.5 सहमति के बिंदु

यहाँ हमने तीनों मनोविश्लेषणशास्त्रियों के सिद्धांतों की सूत्र रूप में चर्चा की है और इस विचार-चर्चा के दौरान पाया कि परस्पर मतभेदों के बावजूद उनमें कुछ बातों को लेकर सहमति रही है :

1. तीनों ही कार्य-कारण संबंध या मानसिक नियतत्ववाद को स्वीकार करते हैं।
2. तीनों ने एक स्वर से अवचेतन के महत्व की घोषणा की है।
3. तीनों पर समकालीन विचारधाराओं का प्रभाव दिखाई देता है, जैसे भोगवाद, प्रतिसत्तावाद (ऐंटी-ओथोरिटेरियनिज्म)
4. ईश्वर, धर्म और नैतिक मूल्य भावना का तीनों ही निषेध करते हैं।
5. तीनों ही चिकित्सा-विज्ञान के व्यावहारिक अनुभवों से सम्पन्न होकर कभी-कभार कला-साहित्य की ओर बढ़ते हैं।

21.6 साहित्य, साहित्यालोचन और मनोविश्लेषण का संबंध

फ्रायड, एडलर और युंग के सिद्धांतों पर विचारोपरांत यह जिज्ञासामूलक प्रश्न आप में पैदा हो सकता है कि साहित्य और कला, साहित्यालोचन पर उनका प्रभाव पड़ता है कि नहीं? इसका एक सामान्य उत्तर है कि फ्रायड, एडलर और युग तीनों ने अपने मान्यताओं को चिकित्सा-विज्ञान तक ही सीमित नहीं रखा है बल्कि चिकित्सा-विज्ञान से इतर क्षेत्रों में भी उनकी सार्थकता-उपयोगिता को सिद्ध करने का प्रयास किया है। इन सभी ने मनोविश्लेषण के आधार पर कलाकृतियों की व्याख्या-विवेचना पर बल दिया है। प्रमाण के रूप में हम पाते हैं कि स्वयं फ्रायड ने इतालवी चित्रकार लियोनार्दो दा विंची और रूसी कथाकार दोस्तायेव्स्की पर लिखा है। फ्रायड ने कृतियों को आधार बनाकर उनके मानसिक व्यापारों का विश्लेषण किया तथा यह भी बताने का यत्न किया कि कैसे और कहाँ तक उनकी कृतियाँ उनके मानसिक जीवन का प्रतिबिंब हैं। फ्रायड का इतना ज़ोरदार असर हुआ कि अनेक लेखकों ने साहित्यकारों और कलाकारों की अनेक जीवनियाँ लिखी हैं - उदाहरणार्थ बैन बिक ब्रुक ने 'दि आर्डियल आव मार्क ट्वेन' (1920 ई.) तथा 'दि पिलग्रिमेज आव हेनरी जेम्स' (1925 ई.), 'एडगर ऐलन पो : ए स्टडी इन जीनियस' (1926 ई.), रेने लाफोर्ग ने 'दि डिफीट आव बादलेयर' (1931 ई.) आदि। इतना ही नहीं, मनोविश्लेषण से प्रभावित कई अतियथार्थवादी (सुररियलिस्ट) लेखक भी सामने आए जिनमें आन्द्रे बेतों, ग्रोडेक, लेवीजोन, लेनोर्मा आदि का नाम उल्लेखनीय है। फ्रायडीय मनोविश्लेषण का विरोध करने वाले लेखक भी सामने आए। मनोविश्लेषण के विरोधियों में डी.एच. लारेन्स का नाम प्रमुख हैं।

मनोविश्लेषण का धनात्मक प्रभाव यह पड़ा की रचनाकार पुराने नैतिकतावादी-पवित्रतावादी नियंत्रणों से मुक्त होकर नर-नारी संबंधों पर सहज भाव से लिखने लगे। यौन-भावनाएँ गोपनीय न रहकर वर्णन-क्षेत्र में आ गईं और साहित्य में इनका खुलकर प्रयोग होने लगा। हालत यहाँ तक पहुँची कि 1920 के आसपास का यूरोपीय लेखन मनोविश्लेषण के प्रभाव से भर गया। फ्रायड के चिन्तन को केंद्र में रखकर 'चेतना-प्रवाह विधि' (स्ट्रीम ऑव कॉन्शसनेस) की शिल्प-विधि का विकास-विस्तार हुआ। इस शिल्प-विधि के प्रयोग का सर्वोत्तम उदाहरण जेम्स ज्वाइस का प्रसिद्ध उपन्यास 'युलिसीज़' (1922 ई.) है जिसका बहुत से रचनाकारों ने अनुकरण किया। कहना न होगा कि अवचेतन-सिद्धांत को आधार बनाकर ही चित्रकला के क्षेत्र में 'अतियथार्थवाद' का उद्भव-विकास हुआ है। साथ ही, मनोविश्लेषण के प्रभाव से कविता-नाटक तथा कथा-साहित्य में चरित्र-चित्रण में नए ढंग की बारीकियाँ आई हैं। युंगीय चिन्तन से प्रभावित होकर आद्य-बिम्बों, मिथकों और पुराणों के अध्ययन की नवीन दिशाएँ खुली हैं। मनोविश्लेषण की ऐसी बहुत-सी मान्यताएँ जिन्होंने साहित्यालोचन को प्रभावित किया, जैसे

1. कला यौन-भावना की विकृतियों से मुक्ति का साधन है।
2. कलाकार मूलतः 'न्यूरटिक' होता है।

3. कला की शक्ति उदात्तीकरण है।

4. कला एक प्रकार की फैंटेसी है।

5. स्वप्न और कल्पना में भीतरी भेद नहीं है।

6. कला में प्रयुक्त बिम्बों-प्रतीकों-लयों के विवेचन में मनोविश्लेषण की प्रासंगिकता है।

7. आद्य-बिम्बों और सामूहिक अवचेतन से मिथकों का सृजन कार्य सम्पन्न होता है।

इन मान्यताओं पर आधुनिक आलोचनाशास्त्र में बार-बार विचार किया जाता रहा है। यह भी कहा गया है कि वस्तु तथा रूप की व्याख्या तो दूर कलाकृति के मूल्यांकन तथा विभिन्न कलाकृतियों के सापेक्ष्य मूल्य-निर्धारण में मनोविश्लेषणशास्त्र असमर्थ है। मनोविश्लेषण यह तो बता सकता है कि कलाकृति किन मानसिक व्यापारों के परिणामस्वरूप आकार ग्रहण करती है - पर यह नहीं बता सकता कि कलाकृति के रूप में उसका मूल्य क्या है या मूल्य का आधार क्या है - क्यों है। सृजन यदि सांस्कृतिक प्रक्रिया है तो कलाकृति की सफलता के प्रतिमान क्या हो सकते हैं। इसीलिए मार्क्सवादी आलोचना की दृष्टि में मनोविश्लेषण एक प्रविधि-प्रक्रिया मात्र है आलोचना दृष्टि नहीं है।

21.7 सृजन-प्रक्रिया के मनोरहस्य

कलाकृति से कलाकार का रिश्ता बड़ा जटिल किंतु दिलचस्प है यह निरंतर गतिशील-परिवर्तनशील भी है। यदि हम जयशंकर प्रसाद की 'कामायनी' का अध्ययन करें तो पता चलेगा कि इस सृजन-प्रक्रिया में अवश्य ही कोई अवचेतन-सिद्धांत दृष्टि सक्रिय है। यह प्रक्रिया ही उस चिंतन को अवरुद्ध नहीं होने देती जो दार्शनिक अनुभूति को काव्यत्व में गलाकार रचती है। गजानन माधव मुक्तिबोध 'कामायनी : एक पुनर्विचार' में कामायनी को फैण्टसी सिद्ध करते हैं। पता चलता है कि पूर्वचेतन, चेतन और अवचेतन के दबावों-तनावों-द्वंद्वों से 'कामायनी' ही प्रसाद को लिखती है, प्रसाद 'कामायनी' नहीं लिखते। कलाकृति के सृजन के दौरान कई कलाकार इतने चेतन स्तर पर रहते हैं कि एक ही कृति को कई बार लिखते हैं। स्वयं प्रसाद ने 'आँसू' का संशोधन कर कई बार किया है। ताल्सटाय ने 'युद्ध और शान्ति' शीर्षक उपन्यास के आरंभिक बारह सौ पृष्ठ सात बार लिखे थे।

- ऐसा भी होता है कि सृजन-प्रक्रिया के दौरान लेखक की अजीब हालत रहती है। प्रेमचन्द एक अध्याय लिखकर थक जाते थे, फिर घंटों सुस्ताते थे। वर्ड्सवर्थ लिखते समय सीटी बजाने के आदी थे, शैले किसी एकान्त कुंज या निर्जन में ही लिख पाते थे, लियोनार्दो दा विंची तूलिका से एक रंग भरने के लिए मिलान शहर से मीलों दूर घूम आते थे, अमृता शेरगिल अपने मॉडल को अपलक निरखा करती थी। इस तरह के अनगिनत उदाहरण दिए जा सकते हैं। ऐसे भी उदाहरण हैं कि रचनाकार एक बार के बाद दुबारा लिखना तो दूर, लिखे में दुबारा झाँकते तक नहीं हैं। बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन' हमेशा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से लेखन में उतावलेपन की शिकायत करते थे। बायरन और शैले लिखने में असंयमी थे, कॉलरिज अफीम में डूबकर एकान्त में लिखते थे - किसी भी चीज़ से 'डिस्टर्ब' होते ही कविता पूरी न कर सकते थे। इस तरह के लेखन का प्रभाव पाठक पर पड़ता है और वह उसमें विचारों के असंतुलन की शिकायत करता है। वस्तुतः विभिन्न प्रवृत्तियों वाले रचनाकारों की विभिन्न पद्धतियाँ हैं। इसीलिए सृजन-प्रक्रिया के कोई निश्चित नियम नहीं बनाए जा सकते। स्वतंत्र साहचर्य पद्धति से लिखने का सिद्धांत, चेतना के मुख्य प्रवाह पद्धति से लिखने का सिद्धांत, दिवा-स्वप्नों की उत्तेजना-पद्धति का सिद्धांत जैसे नाना सिद्धांत प्रचलित हैं पर उनपर अंतिम निर्णय नहीं दिया जा सकता, क्योंकि कला-सृजन लगभग एक पहेली है, रहस्य है।

  अवचेतन और प्रेरणा-सिद्धांत के संबधों में भी वही भेद है जो शिशु और उसके कार्य-व्यापार में होता है। प्रेरणा वस्तुत: अवचेतन का प्रकार्य होती है। आधुनिक मनस्तत्ववेताओं ने इसकी अनेक व्याख्याएँ की हैं। सृजन-प्रक्रिया की प्रेरणा और उसकी रहस्यमूलक जटिलता से जूझते हुए 'थियरी ऑव लिटरेचर' पृ. 80 में रेने वेलेक एवं आस्टिन वारेन ने लिखा है, 'सृजन के अवचेतन का परम्परागत 'प्रेरणा' नामक सिद्धांत स्मृति की बेटियों अर्थात् कलादेवियों (म्यूज़ेस) के साथ क्लासिकल ढंग से संलग्न हो गया है - ईसाई-दर्शन में तो यह दैवी आत्मा से सम्बद्ध हैlxxxx आधुनिक काल में प्रेरणा के लिए बेहद आवश्यक तत्व आकस्मिकता और निर्वैयक्तिकता है।' ज़ाहिर है कि सृजन अवचेतन की वाणी है। पुराने युगों में कवि इस वाणी को दैवी संदेशों से जोड देते थे। भारतीय वैष्णव कृष्ण भक्तों का विश्वास रह है कि प्रत्येक भक्त-कवि कृष्ण की वंशी का अवतार है। शैवों का विश्वास है कि शिव के डमरू से समस्त शब्द उत्पन्न हुए हैं। अत: अवचेतन की वाणी ही 'देव-वाणी' कही जाती थी।

- 'जातीय-स्मृति', 'जातीय-अवचेतन', 'आदिम-प्रारूप' तो मनोविश्लेषण के सिद्धांतों से आए विचार हैं, पर पहले भी तो हम कहते थे कि सृजन-क्षणों में विचार अज्ञात स्थान से आते हैं। जार्ज एलियट ने कहा है 'एडमबीथ' लिखते समय मानो किसी अन्य ने कलम पकड़ कर लिखवाया। कॉलरिज ने 'कुबला खाँ' स्वप्न में रची थी - गोएटे ने अपने उपन्यास 'ट्रान्स' (स्वप्निल अवस्था की समाधि) में लिखे थे। पश्चिम में सृजन-प्रक्रिया के 'रहस्य' पर लिखे गए संस्मरणों का अम्बार लगा हुआ है। दुर्भाग्य से हिंदी के रचनाकारों की सृजन-प्रक्रिया पर लिखे गए ऐसे संस्मरण लेख नहीं हैं। केवल इतना ज्ञात है कि जयशंकर प्रसाद ने अर्द्ध-स्वप्निलता में रजनी के पिछले प्रहरों में कविताएँ लिखी थीं या निराला आधी रात को जागकर अचानक हँसते थे तब कुछ लिख पाते थे। श्रीधर पाठक ने 'ट्रांस' की अवस्था में 'कश्मीर-सुषमा' कविता लिखी थी। पश्चिम के रोमांटिक कवियों ने सृजन की रहस्यवादी पुकारों के पीछे अपनी वास्तविक दुनिया को ही तबाह कर लिया था। सृजन आत्म-बलिदान है, आत्म-दान की प्रेरणा है।

- कला-सृजन में अनगिनत असम्बद्ध स्मरण, ऐन्द्रिय-वृत्तियाँ, प्रतीक, मिथक, बिम्ब आदि कलाकृति में एक उदात्त लय और संतुलन के साथ व्यक्त होते हैं। यह तो चेतन मन के द्वारा ही सम्भव है। फिर कला 'प्रेरणा' के साथ 'कौशल' भी है और कौशल शुद्ध चेतन-मन की प्रक्रिया है। अत: सृजन-प्रक्रिया में चेतन-पूर्वचेतन-अवचेतन तीनों की ही अपने-अपने ढंग से हिस्सेदारी होती है। हाँ यह बात अलग है कि सृजन के क्षणों में कलाकार बाहर से भीतर की अंतर्यात्रा करता है और तल्लीन हो जाता है, एकाग्र हो जाता है।

- रचनाकार के तनावों-मानस द्वंद्वों-अंदरूनी अनेक वृत्तियों तथा कल्पना-विधान के अध्ययन में यह ढंग एक अद्‌भुत कड़ी जोड़ता है। सृजन-क्षणों में अवचेतन की अंधेरी तहों से निकलकर मस्तिष्क में विचार तैरने लगते हैं। ये तैरते विचार कवि-मानस में प्रवाहित होते हैं - यही फैंटेसी अपने विचारों-पैटर्नों, प्रतीकों-बिम्बों का ताना-बाना बुनती है, पूरी जातीय-स्मृति के किवाड़ खुल जाते हैं, स्वप्न-कथा सच्चे अर्थों में यथार्थ कथा बन जाती है। 'अंधेरे में' कविता इसका श्रेष्ठ उदाहरण है। अज्ञेय की 'असाधारण वीणा' सृजन-प्रक्रिया की तल्लीनता का अर्थ खोलती मिलती है तो धूमिल की 'पटकथा' समय-समाज की भीतरी बाहरी वास्तविकताओं का साक्षात्कार कराती है।

- स्मृति-बिम्ब, दिवा-स्वप्नों के यथार्थ की भीतरी कहानी कह देते हैं। प्रसाद की 'प्रलय की छाया' में रानी कमलावती का अपने सौंदर्य का आत्म-रति-प्रवण स्मरण क्या यथार्थ को व्यक्त नहीं करता - 'स्वर्ण-पात्र के अभिमान में कृष्णा गुरुवर्तिका जलना' क्या अभिव्यंजित करता है - रूपगर्विता नारी का यथार्थ। निराला की 'राम की शक्ति पूजा' में राम-जानकी-स्मरण प्रसंग मधुर बिम्बों की लड़ी बाँध देता है - 'काँपते हुए किसलय, झरते पराग समुदय / गाते खग नव जीवन-परिचय / तरुमलय-वलय।' मुक्त साहचर्य पद्धति से हम गहन अनुभूतियाँ, विचार-प्रवाह की गतियाँ, अनुभव-पुँज, चतुर्दिक स्मरण, नाना रुचियों के प्रतीक-बिम्ब-लय-शब्द सब में कला-साहचर्य पाते हैं। कहना न होगा कि हम सृजन-प्रक्रिया में तीन दिशाएँ पाते हैं - (1) कलाकार की जीवनी, युग-संघर्ष-गाथा का ज्ञान (2) कलात्मक समस्याओं के उभार में विरोधों का सामंजस्य और भावों का उदात्तीकरण (अरस्तू का कैथार्सिस) (3) रचनाकार की कल्पना के अंत:सूत्रों से यथार्थ का सम्बन्ध निर्धारण। सी.एम.बावराने इन तीनों दृष्टियों से कॉलरिज द्वारा लिखित फैण्टेसी 'ऐंशियेंट मेरिनर' शीर्षक कविता को छह भागों में बाँटकर अध्ययन किया है। यहाँ चेतन-मन 'अपराध' और 'दण्ड' के द्वंद्वों को सामने लाता है और सामूहिक अवचेतन अतिप्राकृत घटनाओं का संयोजन करता है। हिंदी आलोचना में ग.मा.मुक्तिबोध की दो पुस्तकें 'एक साहित्यिक की डायरी' तथा ' कामयनी पुनर्विचार' इसी ढंग के अध्ययन की ओर दिशा-निर्देश देती हैं।

21.8 प्रतिभा और उन्माद

मनोविश्लेषकों में प्रतिमा और उन्माद के सम्बन्ध को लेकर अच्छा-खासा विवाद रहा है। बहुत बार प्रतिभा और उन्माद में निकट का संबंध-सूत्र खोजा गया है। किंतु यह विचार नया नहीं है। यहाँ तक कि अरस्तू तक में प्रतिमा और उन्माद के सम्बन्ध बैठाए गए हैं। अनेक व्यक्ति कवि और पैगम्बर होते हैं और मार्क्स की तरह जब तक वे विक्षिप्त रहते हैं अच्छे-खासे कवि बने रहते हैं किन्तु जब व्याधिमुक्त हो जाते हैं तो कविता नहीं लिखते। राजनीति, अर्थशास्त्र, इतिहास, कला पर चिन्तन करते हैं। सेनेका, सिसरो, प्लूटार्क, पास्कल आदि ने भी ऐसी बातें कही हैं कि प्रतिमा तथा उन्माद पर सोचना पड़ता है। कारण जो भी हों, गत शताब्दी में 'प्रतिभा' पर आक्रमण किए गए। किंतु दृष्टिकोण को चुनौती भी कम

नहीं मिली। फ्लोरा ने चुनौती के साथ 1861 में कहा सुकरात सोचता था कोई दानव या पिशाच उसके साथ रहता है, पास्कल सोचता था उसके पैरों के नीचे खाई खुद रही है। क्या इससे यह प्रमाणित होता है प्रतिभा एक विभ्रम है। विभ्रम के बिना भी क्या सुकरात और पास्कल प्रतिभाशाली नहीं हैं। यदि हैं तो प्रतिभा और विक्षिप्ति (उन्माद) का सम्बन्ध मात्र बाहरी है। आगे चलकर नए मनोविश्लेषणवादियों ने प्रतिभा तथा उन्माद के सम्बन्ध का खण्डन किया। प्रतिभा किसी कीमत पर उन्माद नहीं है। शुद्ध जैविक दृष्टिकोण से प्रतिभाशाली व्यक्ति मानव जाति का अतिवादी रूपान्तर है। प्रतिभाशाली व्यक्ति अपनी असाधारणता में अतिसंवेदनशीलता के कारण मनोविक्षिप्त (साइकोसिस) मनस्ताप (न्यूरोसिस), मनोविकृति (साइकोपैथी) के लक्षण प्रदर्शित करते हैं। प्रश्न उठता है कि क्या प्रतिभा मनोविकृतिजन्य संघटकों (कम्पोनेंट्स) से उत्पन्न होती है अथवा उसके बिना भी रह सकती है। इसका उत्तर दिया गया कि मनोविकृतिजन्य मनोवृत्ति (साइकोपैथिक डिसपोज़ीशन) और उच्च कोटि की मेधा (टेलेन्ट) में कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि मेधा स्वस्थ व्यक्तियों में अधिक मिलती है - प्राय: असाधारण मनोवेग से असाधारण विचार उत्पन्न होते हैं। रचनाशील मेधा संवेदनशील होती है, विक्षिप्त नहीं। हिन्दी में निराला जी इसी 'मेधा' के रचनाकार हैं - विक्षिप्तता के नहीं, जिन्हें भ्रमवश विक्षिप्त सिद्ध करने की भूल की जाती रही है। विक्षिप्त वह है जो अपनी सृजन-शक्ति पर नियन्त्रण खो देता है। ज़ाहिर है कि प्रतिभा उन्माद नहीं है।

21.9 वैयक्तिक प्रतिभा का मनोविश्लेषणात्मक रूप

यह सच बात है कि मनोविश्लेषणशास्त्रियों के द्वारा प्रतिभा और कलात्मक सर्जनात्मकता के विश्लेषणात्मक अध्ययन बहुत कम हैं। कलात्मक-व्यापार पर उनके अध्ययन एकदम साधारण कोटि के हैं। ये अध्ययन तभी मूल्यवान हो सकते हैं जब वे सृजन-प्रक्रिया और मूल्य-चेतना को जोड़कर आगे बढ़ें। लेकिन, दुर्भाग्यवश उनमें साहित्यिक आलोचना के आरम्भिक तत्व तक नसीब नहीं होते। फ्रायड द्वारा लियोनार्दो दा विंची की वैयक्तिक प्रतिभा के विश्लेषण निराशा ही पैदा करते हैं कि फ्रायड उस कलाकार को समझने की कोशिश करने पर भी समझ नहीं सके। उन्हें उसके चित्र 'मोनालिसा', 'गियोकोन्दा' में उसकी माँ के रूपान्तरण के अतिरिक्त और कुछ नहीं दिखाई दिया। मनोविश्लेषक की बुनियादी कमी यह है कि वह 'कलाकार' और 'मनुष्य के रूप में कलाकार' में भेद नहीं करता। हो सकता है कि शेक्सपियर समयौन रहा हो, अपने माँ के प्रति उसमें कामेच्छा भी रही हो। किंतु इन बातों का सम्बन्ध तो 'मनुष्य' शेक्सपियर से है, 'रचनाकार' शेक्सपियर से इनका सम्बन्ध सीधा नहीं है। ऐसे ही एडलर की दोस्तायेव्स्की पर जो बात कही गई है वह कलाकृतियों पर किसी गंभीर विचार का संकेत नहीं देती। पहले तो एडलर की अभिरुचि साहित्यिक आलोचक की नहीं है, दूसरे वह 'हीनता-ग्रंथि' से ही रचनाकार को समझना चाहते हैं। इसलिए मूल से ही भटक जाते हैं। समझदार निकले युग जो वैयक्तिक प्रतिभा के विश्लेषण के चक्कर में नहीं पड़े। 'सामूहिक अवचेतन', 'प्रजातीय-स्मृति', 'आर्किटाइपल इमेज' की स्थापना के पीछे ठोस तर्क देकर आगे बढ़े। देश-विदेश में मौजूद साहित्यालोचन और मनोविश्लेषणात्मक आलोचना फ्रायड-एडलर से कहीं ज्यादा युंग की ऋणी है और इस दिशा में हर्बर्ट रीड आदि गंभीर कार्य कर रहे हैं।

21.10 मनोविश्लेषण और आलोचना

हर्बर्ट रीड ने स्वीकार किया है कि मनोविश्लेषणशास्त्री साहित्यिक मूल्यों के प्रति उदासीन होता है, परंतु आलोचक का प्रधान कार्य तो मूल्य-निर्धारण करना ही है। लेकिन बोदुएं 'मनोविश्लेषण और सौंदर्यशास्त्र' शीर्षक अपनी पुस्तक में यह विश्वास से कहते हैं कि मनोविश्लेषण, आलोचना का स्थान तो ग्रहण नहीं कर सकता, पर आलोचना की मदद कर सकता है। मनोविज्ञान दो प्रकार से सहायक हो सकता है - (1) वह कविता में प्रतीकों-मिथकों के उपयोग को स्पष्ट कर सकता है (2) वह घनीभूत बिम्बों के उपयोग की सार्थकता-निरर्थकता का निर्धारण कर सकता है। लेकिन इन दो बातों से कई स्थानों पर भ्रम की गुंजाइश रहती है। कई बार बिम्ब शक्तिशाली आवेग का परिणाम नहीं होता, केवल शक्तिशाली होने का आभास देता है। बोदुएँ स्वयं व्हेरहेरेन की कविताओं के विश्लेषण में सही बिम्ब की पहचान और पकड़ को लेकर भटक गए हैं। कई बार तो बिम्ब का अतिशय उपयोग कविता को चमत्कारी बना देता है, भाव-गतियों में शक्ति उत्पन्न नहीं करता। सोच-समझकर प्रयोग न करने पर प्रतीक भी कविता की एक चमत्कारी प्रणाली ही बन जाता है, जबकि प्रतीक अभिव्यंजना की सीधी प्रणाली है। जब भी कल्पना सक्रिय होती है, अभिव्यंजना के माध्यम के रूप में प्रतीक की सहज प्रणाली का प्रयोग होने लगता है। कल्पना अनायास ही विचारों को प्रतीकों में परिवर्तित कर देती है, जैसे

निराला ने 'कुकुरमुत्ता' काव्य में कुकुरमुत्ता को जन-शक्ति का प्रतीक, सर्वहारा का प्रतीक, अटूट जिजीविषा का प्रतीक बनाया है और 'गुलाब' को हरामी, भोगवादी, सामन्ती प्रवृत्तियों का प्रतीक। 'कुकुरमुत्ता' में बिम्बों-चरित्रों के बारे पीछे विचारधारात्मक संघर्ष की तेज़ धाराएँ हैं। फिर कविता की पूरी अंतर्योजना में प्रतीक-बिम्ब सहज गुँथे चले आते हैं। अभिव्यंजना की प्रणाली सीधी और ठोस है, अमूर्त और चक्करदार नहीं है। कहना न होगा कि आलोचना में मनोविश्लेषण का उपयोग आलोचक से गहन विवेक की अपेक्षा करता है। थोड़ी-सी असावधानी होते ही आलोचना का मर्म मर जाता है। रीड स्वयं युंगीय सिद्धांतों में रुचि दिखाते हैं - फ्रायडीय सिद्धांतों में नहीं। युंगीय सिद्धांत दृष्टि से की गई उनकी आलोचना ही प्रसिद्ध भी हुई है।

21.11 कला का लक्ष्य : आनन्द और भाव-परिष्कार या उदात्तीकरण

कला मानवीय सृष्टि है, वह अस्वाभाविक दमन द्वारा अप्राकृतिक वस्तु नहीं है। वह संस्कृति का एक अंग है और महत्वपूर्ण अंग, जिसे मनुष्य ने अपनी नैसर्गिक और अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए रचा है। कला आदिम समाजों में भी पाई जाती है जहाँ मनुष्य प्राकृतिक स्थिति से ऊपर उठा है और अपने लिए सांस्कृतिक निर्माण चेष्टा में प्रयत्नशील है। मार्टिन टर्नल ने 'पोयट्री एंड क्राइसिस' में लिखा है कि 'इतिहास साक्षी है कि कला सहज प्रक्रिया है। आदिम से आदिम समाजों में भी हम देखते हैं कि मनुष्य आस-पास की दुनिया को अभिव्यक्त करने में आनंद का अनुभव करता है और उसके प्रयास, चाहे कितने ही स्थूल क्यों न हों, दर्शकों द्वारा स्वेच्छापूर्वक देखे जाते हैं। वस्तुतः कला मनुष्य की किसी नैसर्गिक आवश्यकता को संतुष्ट करती है।' अर्थात् कला मानव की सामान्य सांस्कृतिक चेष्टाओं का अनिवार्य अंग है। मानव का विकास सांस्कृतिक अवस्था में ही सम्भव है - प्राकृतिक स्थिति में रहने वाले पशुओं के व्यवहार में नहीं। मैलिनोवस्की ने तार्किक ढंग से कहा है कि ईडिपस-ग्रंथि सामाजिक-सांस्कृतिक घटनाओं का कारण नहीं; बल्कि संस्कृति का परिणाम है। इसलिए यौन-भावना न तो संस्कृति का आधार हो सकती है, न कला का। कला का आधार अनुभूति है, लोकानुभूति। यह अनुभूति मनोविश्लेषकों के अतृप्त-कामनाओं वाले सिद्धांत से भिन्न है कला दिवा-स्वप्नों, फैण्टेसियों का आधार लेकर भी निर्वैयक्तिक तथा निस्संग होती है, वह क्षुद्र और वैयक्तिक को हटाने का प्रयास करती है, भाव-परिष्कार उसका प्रयोजन है। आई.ए.रिचर्डस ने कहा है कि 'कला को क्रीड़ा मानने का सिद्धांत दूसरे अनेक सौंदर्य-सिद्धांतों के समान या तो बहुत छिछले दृष्टिकोण का परिचायक या बहुत गंभीर दृष्टिकोण का। सब कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि आप क्रीड़ा की कौन-सी धारणा स्वीकार करते हैं।' (द प्रिंसिपल्स ऑव लिटरेरी क्रिटिसिज्म, पृ.240) मानव कामेच्छा से ही तृप्त नहीं होता, वह इसे अपने अस्तित्व के लिए पर्याप्त नहीं मानता। इसीलिए सांस्कृतिक-सामाजिक विकास में रक्त-पसीना एक कर देता है। वह आनंद-सिद्धांत का गुलाम बनकर नहीं जीता, सबका होकर जीने में उन्नयन समझता है। कला, संस्कृति की पूर्णता और सम्पन्नता के लिए अनिवार्य है। कलाकार के सामान्य होने का अर्थ औसत (एवरेज) नहीं है। रिचर्डस ने कहा है सामान्य होने का अर्थ है - परिनिष्ठित होना न कि औसत होना।' कलाकार सामान्य होते हुए भी विशिष्ट प्रतिभा से सम्पन्न होता है, वह युग की उच्चतम मनीषा का प्रतिनिधित्व का स्रोत है, इसलिए रचनाकार हमें वह देता है जो कोई नहीं दे सकता। मनोविश्लेषणक कला के शिल्प-विधान पर कुछ नहीं कहते जबकि रचनाकार और आलोचक दोनों जानते हैं कि 'जिस अनुभूति पर कृति का मूल्य निर्भर करता है उसे अपनी कृति द्वारा रूपायित, समन्वित और अभिव्यक्त करना उसका प्रमुख व्यापार है जो कठिन परिस्थितियों में कष्टकर व्यापार बन जाता है।' कलाकार के लिए शिल्प हलके-फुलके ढंग से लेने की चीज़ नहीं है, वह भाव-सम्प्रेषण की समस्या का गम्भीर रूप है। कलाकृति एक समग्र जैविक इकाई है जिसे समग्र में ग्रहण किया जा सकता है, खण्ड-खण्ड में नहीं। यह समग्र प्रभाव हमारी भाव-चेतना को गहरा और विस्तृत बनाती है, आनन्द प्रदान करने के साथ हमारे भावों का उन्नयन-परिष्कार करती है - हमें सच्चे अर्थों में मानव बनाती है। शेक्सपियर और तुलसीदास का रचना-कर्म यही तो करता है कि हम उच्चतर मानव-भाव की ओर बढ़ते हैं।

21.12 हिन्दी आलोचना पर मनोविश्लेषण का प्रभाव

हिन्दी आलोचना में मनोविश्लेषणवादी आलोचना एक स्वतंत्र आलोचना-पद्धति के रूप में तो विकसित नहीं हुई है, लेकिन मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण के सिद्धान्तों का विशेष कर फ्रायड, एडलर, युंग के प्रमुख सिद्धांतों का गहरा प्रभाव हिंदी आलोचना पर देखा जा सकता है। आई.ए.रिचर्डस की तरह मनोविज्ञान का उपयोग आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सैद्धांतिक-व्यावहारिक आलोचना में किया। फ्रायडीय

सिद्धांत दृष्टि का उपयोग डॉ.नगेन्द्र ने छायावाद के विश्लेषण में विशेष रूप से किया। फ्रायड से प्रभावित होने पर भी डॉ. नगेन्द्र को फ्रायडवादी आलोचक कहना भूल होगी। फ्रायड ने अवचेतन का अन्वेषण कर मानव-मनोविश्लेषण के लिए अपार क्षेत्र खोल दिया। रहस्यपरक अनेक मानवीय समस्याएँ-बुद्धि एवं तर्क से प्रकाश में आईं। अध्यात्म, दर्शन, समाजशास्त्र, इतिहास, साहित्य और कला के मौलिक उद्‌घाटन में फ्रायड के सिद्धांतों ने क्रान्तिकारी भूमिका का निर्वाह किया। डॉ. नगेन्द्र ने 'फ्रायड और हिंदी साहित्य' शीर्षक लेख में साफ कहा है कि 'काम को मूलभूत वृत्ति मानते हुए उन्होंने मानव के रागात्मक सम्बन्धों का अत्यंत सूक्ष्म-गहन और किन्हीं अंशों में सर्वथा सटीक आख्यान प्रस्तुत किया। xxxइससे अनेक भ्रान्तियों तथा किंवदंतियों का विघटन हुआ और जीवन में बौद्धिक मूल्यों की प्रतिष्ठा में सहायता मिली।xxxइतना ही नहीं, फ्रायड हिंदी में पिछले पन्द्रह-बीस वर्षों में ही आए हैं। इससे पहले 'शतुर्मुर्ग पुराण' आदि निकले थे पर न उनका लेखक फ्रायड को समझ सका था और न पाठक उस लेखक को। वह एक अनर्गल प्रलाप मात्र था। उसके बाद अज्ञेय जैसे एकाध कलाकार द्वारा फ्रायड कुछ व्यवस्थित ढंग से हिंदी में आए और धीरे-धीरे उनकी ओर आकर्षण बढ़ा। एक तो फ्रायड की प्रेरणा से हिंदी में शृंगार का पुनरुत्थान हुआ। द्विवेदी युग का स्थूल नैतिकता और छायावाद की अतीन्द्रिय सौंदर्योपासना के कारण शृंगार की जो प्रवृत्तियाँ दब गई थीं या रूपांतरित हो गई थीं वे फ्रायड के प्रभाव से फिर उभर आईं और हिंदी में शृंगार साहित्य फिर ज़ोर पकड़ गया।xxxएक तो उसमें शृंगार साध्य नहीं, मनोविश्लेषण का माध्यम है। लेखक का उद्देश्य काम कथाएँ लिखना अथवा रति भाव की अभिव्यक्ति करना इतना नहीं होता जितना काम कुंठाओं का विश्लेषण करना।' डॉ. नगेन्द्र का मत है कि सृजन और आलोचना दोनों में फ्रायड का अवचेतन सिद्धांत वरदान सिद्ध हुआ।

अवचेतन सिद्ध का हिंदी आलोचना में प्रभाव काफी गहरा है। हिंदी रचनाकार और आलोचक कर्म में चिंतन की गहराई आई और सूक्ष्मता एवं प्रखरता से मानस विश्लेषण होने लगा। अज्ञेय ने 'शेखर : एक जीवनी' तथा 'नदी के द्वीप' में तथा कहानियों-कविताओं में व्यापक स्तर पर मनोविश्लेषणात्मक दृष्टि को अपनाया। उनका आलोचना कर्म भी फ्रायड, एडलर, युंग से प्रभावित-आंदोलित हुआ। 'तार सप्तक' (1943) के कवि वक्तव्य में अज्ञेय ने सत्य कहा कि आज के मनुष्य का मन यौन परिकल्पनाओं से लदा हुआ है। अज्ञेय के साथ ही इलाचन्द्र जोशी तथा जैनेन्द्र कुमार मनोविश्लेषण की ओर पूरी तरह झुक गए। इलाचन्द्र जोशी ने 'विवेचना' पुस्तक के निबंधों में छायावादी सृजन की कठोर आलोचना की 'वे सौंदर्य की ओट में अपने विकृत मनोभावों को व्यक्त करके अपने भीतर के दम्भिकता जनित स्वार्थ-क्लेश युक्त फोड़ों को फोड़ना' चाहते थे। (पृ 62) जोशी जी ने 'प्रगतिवाद' पर एडलर के क्षतिपूर्ति सिद्धांत को लागू किया। जैनेन्द्र कुमार ने 'सुनीता', 'त्यागपत्र' जैसे उपन्यासों में मनोविश्लेषण का प्रभाव लिया। फलतः डॉ देवराज ने जैनेन्द्र के उपन्यासों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया। जैनेन्द्र के उपन्यासों के मनोवैज्ञानिक अध्ययन के बाद हिंदी रचनाकारों के मनोवैज्ञानिक अध्ययनों का शोध-प्रबंधों के रूप में आधार लग गया - इनकी अधूरी-अपर्याप्त नासमझ शोध कला ने हिंदी आलोचना का बड़ा नुकसान किया। इधर अज्ञेय, धर्मवीर भारती आदि के सृजन पर मनोविश्लेषण की दृष्टि से कार्य हो रहे हैं जिनमें मनोविश्लेषण के नाम पर अबौद्धिकता पनप रही है।

कवि-आलोचक ग.मा.मुक्तिबोध ने मनोविश्लेषण से प्रभावित होकर हिंदी आलोचना में प्रथम बार 'फैण्टेसी' पर विचार करते हुए उसकी महत्व-प्रतिष्ठा की है। रचना-प्रक्रिया, वस्तु और रूप पर मनोविश्लेषण की स्थापनाओं को ध्यान में रखकर बात की। इधर आलोचकों का एक वर्ग बिम्ब-प्रतीक-मिथक को आधार बनाकर कवियों की मानसिक दशाओं के विश्लेषण का प्रयास कर रहा है। कथाकारों पर 'मुक्त-सम्बन्ध शैली' का प्रभाव पड़ा है, साथ ही स्वप्न-चित्रों के सृजन और उद्‌घाटन की ओर प्रवृत्ति बढ़ी है। सार संक्षेप यह कि हिंदी के सृजन कर्म और आलोचना पर मनोविश्लेषण का गहरा असर है।

21.13 मूल्यांकन

हिंदी आलोचना ने मनोविश्लेषण के सिद्धांतों से प्रभावित होते हुए भी आलोचनात्मक मानदण्ड के रूप में इस शास्त्र को ग्रहण नहीं किया गया है। मनोविश्लेषणवादी आलोचना की सबसे बड़ी कमी यह है कि यह कलाकृतियों को विश्लेषित करने की प्रविधि-प्रक्रिया तो देती है लेकिन मूल्य-दृष्टि नहीं देती। मूल्य-दृष्टि के बिना आलोचना-कर्म में मूल्यांकन संभव नहीं है। रचनाओं के कथ्य और रूप विश्लेषण में यह पद्धति सहायक तो है पर इसे समग्रता में आलोचना-कर्म का आधार नहीं बनाया जा सकता है। मनोविश्लेषण किसी वस्तु के उत्कर्ष-अपकर्ष का निर्णय नहीं कर पाता। वह न तो उसकी कलात्मक

संभावना के विषय में कुछ कह सकता है न कलात्मक सफलता-असफलता का निर्धारण ही कर पाता है। कला की कोई भी वस्तु उसके लिए मानसिक प्रक्रिया मात्र है - वह कलात्मक संवेदनशीलता से पाठक का साक्षात्कार नहीं करा पाता है। कलात्मक व्यापार, शिल्प विधान की मीमांसा आलोचना का मुख्य कार्य है, पर वस्तु की तरह रूप-व्यापार में भी मनोविश्लषेण की कोई रुचि दिखाई नहीं देती है। आलोचना के मुख्य विषय हैं - कलावस्तु, सौंदर्य-बोध, कलात्मक व्यापार, शब्दार्थ-विचार, तुलना और मूल्यांकन। इनके सम्बन्ध में मनोविश्लेषण कोई भी दिशा सुझाने में असमर्थ है। सौंदर्य-चेतना, नैतिक-संवेदन को अस्वीकार करने पर मानव की समस्त सांस्कृतिक-सामाजिक उपलब्धियाँ शून्य में विलीन हो जाती हैं। अत: साहित्य और साहित्यालोचना की दृष्टि से मनोविश्लेषण की एकांगिता और अनुपयोगिता स्पष्ट है।

21.14 कुछ उपयोगी पुस्तकें

प्रो. के. अहमद (अनु.प्रो. देवेन्द्रनाथ शर्मा), **मनोविश्लेषण और साहित्यालोचना**, भारती भवन, पटना।

प्रो. निर्मला जैन, **रस सिद्धांत और सौंदर्यशास्त्र**, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।

रामपूजन तिवारी, **पाश्चात्य काव्यशास्त्र**, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 1971।

डॉ. बच्चन सिंह, **भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्र का तुलनात्मक अध्ययन**, हरियाणा साहित्य अकादमी चण्डीगढ़।

डॉ. कृष्णदत्त पालीवाल, **हिंदी आलोचना के वैचारिक सरोकार**, वाणी प्रकाशन, दिल्ली।

डॉ. रवीन्द्र सहाय वर्मा, **पाश्चात्य साहित्यालोचन और हिंदी पर उसका प्रभाव**, विश्वविद्यालय प्रकाशन, गोरखपुर, 1960।

DavidDaiches, **Critical Approaches to English Literature**, Longmans, London, 1956.

William K. Wimsatt and Cleanth Brooks, **Literary Criticism : A Short History**, Alfred A. Knopf, New York, 1957.

21.15 अभ्यास के लिए प्रश्न

फ्रायड के मनोविश्लेषण सिद्धांत पर प्रकाश डालिए।

एडलर के व्यष्टि मनोविज्ञान की मूल स्थापनाओं को स्पष्ट कीजिए।

युंग की विश्लेषक मनोविज्ञान की मूल स्थापनाओं पर प्रकाश डालते हुए साहित्य से उनका संबंध निर्धारित कीजिए।

मनोविश्लेषणवादी आलोचना की मूल स्थापनाओं पर विचार कीजिए।

हिंदी आलोचना पर मनोविज्ञान के प्रभाव का निरूपण कीजिए।

टिप्पणी लिखिए :

(क) प्रतिभा और उन्माद
(ख) सृजन प्रक्रिया के मनोरहस्य
(ग) साहित्य, साहित्यालोचना और मनोविश्लेषण का संबंध

इकाई 22 मार्क्सवादी आलोचना

इकाई की रूपरेखा

22.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के बाद आप

- द्वंद्वात्मक भौतिकवाद की जानकारी दे सकेंगे
- मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र के विषय में बता सकेंगे; और
- हिंदी में मार्क्सवादी आलोचना का परिचय दे सकेंगे।

22.1 प्रस्तावना

इस इकाई के अंतर्गत आलोचना की एक विशिष्ट प्रणाली तथा आलोचनात्मक लेखन की एक धारा के रूप में मार्क्सवादी आलोचना के बारे में बताया जा रहा है। आप जानते हैं कि आलोचना की अनेक प्रणालियाँ और अनेक धाराएँ - विश्व साहित्य के स्तर पर तथा हिंदी साहित्य के स्तर पर भी प्रचलित हैं। इन प्रणालियों के अंतर्गत फ्रायडवादी आलोचना, मनोविश्लेषणात्मक आलोचना, समाजशास्त्रीय आलोचना, क्लासिक आलोचना, रोमांटिक आलोचना आदि की चर्चा आपने अवश्य ही सुनी होगी। आलोचना की एक सुसंगत एवं व्यवस्थित प्रणाली के रूप में मार्क्सवादी आलोचना के विषय में बताने के बाद आपको पश्चिमी आलोचना की एक धारा के रूप में उसका संक्षिप्त परिचय दिया जाएगा तथा इस इकाई के दूसरे हिस्से में आप हिंदी की मार्क्सवादी आलोचना की संक्षिप्त रूपरेखा का अध्ययन करेंगे।

22.2 वैज्ञानिक विश्व दृष्टिकोण

मार्क्स और एंगेल्स ने उन्नीसवीं सदी के मध्य तथा उत्तरार्द्ध काल में एक वैज्ञानिक विश्व-दृष्टिकोण का सृजन किया जिसका दार्शनिक आधार द्वंद्वात्मक तथा ऐतिहासिक भौतिकवाद है। यह विश्व-दृष्टिकोण अन्य विज्ञानों का विरोध नहीं करता बल्कि विज्ञान के तथ्यों, तर्कों और निष्कर्षों को आत्मसात करता है तथा इस प्रक्रिया में मानव सभ्यता द्वारा संचित एवं विकसित वैज्ञानिक ज्ञान का समाहार करता है। विज्ञान की प्रगति जारी है, अतः मार्क्सवाद की भी प्रगति जारी है - एक वैज्ञानिक दृष्टि के रूप में उसका विकास अटूट रूप में जारी है। मार्क्स और एंगेल्स द्वारा विकसित किए गए इए वैज्ञानिक विश्व दृष्टिकोण को उन्नत बनाने, समृद्ध करने और निरंतर परिष्कृत करने में लेनिन, माओ त्से तुंग, ग्राम्शी आदि का योगदान अविस्मरणीय है।

मार्क्सवाद का वैज्ञानिक विश्व दृष्टिकोण अपने दायरे में प्रकृति ही नहीं, समाज को भी लेता है। आज के समाजविज्ञान के विकास में भी मार्क्सवाद का अभूतपूर्व योगदान रहा है। मार्क्सवाद एक ऐसी चिंतन प्रणाली है जिसके द्वारा सिर्फ मानव जाति के विगत इतिहास की ही नहीं, उसके भविष्य की भी वैज्ञानिक समझ विकसित की गई है।

22.3 द्वंद्वात्मक भौतिकवाद

मार्क्स-एंगेल्स का इस संसार या इस सृष्टि के प्रति दृष्टिकोण द्वंद्वात्मक भौतिकवादी है। इसे द्वंद्वात्मक भौतिकवादी इसलिए कहते हैं कि प्राकृतिक घटनाओं को देखने, परखने और पहचानने का यह ढंग द्वंद्वात्मक है तथा इन प्राकृतिक घटनाओं की इसकी व्याख्या, कल्पना तथा विवेचना भौतिकवादी है। समाज और उसके इतिहास पर चूँकि द्वंद्वात्मक भौतिकवादी दृष्टि से विचार किया जाता है, अतः इसे ऐतिहासिक भौतिकवाद भी कहा जाता है।

यूनान में द्वंद्व का अर्थ था - चर्चा करना, विवाद करना। भारत में भी शास्त्रार्थ एक ऐसी कला के रूप में पल्लवित हुआ था जिससे कोई वक्ता अपने विरोधी के तर्क या निष्कर्ष में असंगति दिखलाकर उसका खण्डन कर देता था और अपने नए तर्कों के द्वारा सुसंगत ढंग से निर्विवाद सत्य का प्रतिपादन करता था। इस द्वंद्वात्मक प्रणाली को प्राकृतिक घटनाओं पर लागू किया गया और इस सत्य को प्रतिष्ठित किया गया कि प्रकृति सतत गतिशील है और उसमें निरंतर परिवर्तन हो रहा है। विवेचन की इस पद्धति में यह बताया गया कि प्रकृति की शक्तियों की क्रिया-प्रतिक्रिया तथा उसकी असंगतियों के विकास से ही प्रकृति का विकास हुआ है। प्रकृति की इस द्वंद्वात्मकता तथा उसके विकास को समझने के लिए सापेक्ष रूप में - चारों ओर के उसके परिवेश तथा संगठन से अविभाज्य रूप में उसे देखना होगा। प्रकृति में अविराम, गतिशीलता रहती है - परिणामस्वरूप विकास से पहले ह्रास और विनाश का क्रम भी जारी रहता है। इस विकासक्रम में अनेक अवसर ऐसे आते हैं जब छलांग के रूप में गुणात्मक परिवर्तन होता है जैसे पानी का भाप या बर्फ बन जाना।

प्रकृति पर द्वंद्ववाद के इस सिद्धांत को लागू करने के बाद मार्क्स-एंगेल्स ने समाज तथा उसके इतिहास पर इसे लागू किया। यदि प्रकृति तथा यह संसार निरंतर गतिशील हैं, विकासमान अवस्था में हैं, यदि पुरातन का ह्रास और नवीन का अभ्युदय विकास का नियम है तो यह स्पष्ट है कि कोई भी सामाजिक व्यवस्था चिरंतन अथवा शाश्वत नहीं हो सकती। इस तर्क-पद्धति से मार्क्स-एंगेल्स ने आदिम साम्यवाद, दास-प्रथा, सामंतवाद, पूँजीवाद आदि की ऐतिहासिक मंज़िलों की व्याख्या प्रस्तुत करने के बाद समाजवाद तथा साम्यवाद की ऐतिहासिक अनिवार्यता बताई।

22.4 मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र

रोज़ाना की बातचीत में आपको ऐसे लोग मिल जाएँगे जो यह मानते हैं कि मार्क्सवाद का अर्थशास्त्र तथा राजनीति से तो गहरा संबंध है; परंतु साहित्य, कला, दर्शन, ज्ञान-विज्ञान से इसका कोई रिश्ता नहीं है। मार्क्स-एंगेल्स की रचनाओं का जिसने भी गंभीर अध्ययन-अनुशीलन किया है, वह इस बात से पूर्णतः सहमत हैं कि द्वंद्वात्मक भौतिकवाद मानव-सभ्यता के पहलू को, सामाजिक-आर्थिक पहलुओं के साथ-साथ सांस्कृतिक पहलुओं को भी अपने विवेचन-विश्लेषण के दायरे में लेता है। मार्क्स-एंगेल्स ने ज्ञान-विज्ञान, दर्शन, साहित्य तथा कला के सभी क्षेत्रों में गहरी अभिरुचि ली थी, गंभीर अध्ययन किया था और अपनी वैज्ञानिक विवेचन क्षमता का प्रमाण उपस्थित किया था। दोनों विद्वानों की संयुक्त ग्रंथावली का एक बार ठीक से अवलोकन करने से ही पता चल जाता है कि साहित्य, कला, संस्कृति आदि पर हज़ारों पृष्ठों में उनका लेखन आज भी मौजूद है। प्रगति प्रकाशन, मास्को ने 1981 में 'साहित्य तथा कला' नाम से मार्क्स-एंगेल्स की टिप्पणियों का एक संकलन प्रकाशित किया था जो 541 पृष्ठों का है। इस पुस्तक में कला के इतिहास संबंधी भौतिकवादी अवधारणा, कला की सामान्य समस्याएँ, वर्ग समाज में कला, कला तथा कम्युनिज़्म, कला का इतिहास (प्राचीन काल से पुनर्जागरण काल तक), सामाजिक चिंतन तथा साहित्य का इतिहास (आधुनिक युग), अतीत का क्रांतिकारी तथा विद्रूपात्मक काव्य आदि सात अध्याय हैं जिनके अंतर्गत विशद सामग्री संकलित की गई है। इस संकलन के संपादक प्रसिद्ध रूसी समालोचक बी.क्रिलोव हैं जिन्होंने 44 पृष्ठों की अपनी संपादकीय प्रस्तावना में मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र की ठोस रूपरेखा प्रस्तुत की है। इस प्रस्तावना को यदि आप ध्यान से पढ़ेंगे तो आपको खुद ही पता चल जाएगा कि मार्क्स तथा एंगेल्स ने ज्ञान के अपने द्वंद्वात्मक

भौतिकवादी सिद्धांत का उपयोग कला तथा साहित्य के विश्लेषण में किस प्रकार किया है। उदाहरण के लिए, उक्त प्रस्तावना का एक अंश इसलिए उद्धृत किया जा रहा है, ताकि आप मार्क्सवादी सौंदर्य दृष्टि से यथार्थवादी चित्रण विधि की एक सुस्पष्ट समझदारी विकसित कर सकें -

> **साहित्य तथा कला का विवेचन करते समय मार्क्स तथा एंगेल्स ने अपना ध्यान यथार्थवाद की समस्या पर, किसी कलात्मक कृति में यथार्थ का सबसे सटीक चित्रण करने पर केंद्रित किया।**
>
> **मार्क्स तथा एंगेल्स साहित्य में एक प्रवृत्ति तथा कलात्मक सृजन की एक विधि के रूप में यथार्थवाद को विश्व कला की सबसे बड़ी उपलब्धि मानते थे। एंगेल्स ने यथार्थवाद की सर्वमान्य क्लासिकीय अवधारणा निरूपित की। 'मेरी राय में यथार्थवाद का अर्थ' उन्होंने लिखा, 'तफ़सील की सच्चाई का, आम परिस्थितियों में आम चरित्रों का सच्चाई भरा पुनस्सृजन है।' मार्क्स तथा एंगेल्स ने इस बात पर ज़ोर दिया कि यथार्थवादी चित्रण यथार्थ की मात्र नकल कतई नहीं है, अपितु परिघटनाओं के ठीक सार तक पहुँचने पैठने का एक तरीका, कलात्मक सामान्यीकरण करने की ऐसी विधि है, जो युग विशेष के आम गुणों को उजागर करना संभव बनाती है।**

मार्क्स तथा एंगेल्स को विश्व कला, साहित्य तथा दर्शन का अच्छा ज्ञान था। शास्त्रीय संगीत, लोक संस्कृति, चित्रकारिता तथा रंगमंच के प्रति उनका सच्चा अनुराग था। युवा काल में दोनों ने कविताएँ लिखी थीं और एक ऐसा भी क्षण आया था जब जवानी की उमंग में दोनों मूलतः कवि बनने की बात सोचा करते थे। इन दोनों के आत्मीय संबंध तत्कालीन युवा कवि हेनरिख हाइने से बहुत ही गहरे थे।

मार्क्स-एंगेल्स को विश्व के क्लासिक साहित्य का भी गहरा अध्ययन करने का अवसर मिला था। वे ईस्खिलस, शेक्सपियर, डिकेंस, फील्डिंग, गेटे, सर्वेण्टिज, बाल्जाक, दांते, चर्निशेव्स्की, द्रोब्रोल्यूबोव आदि के प्रशंसक थे।

मार्क्स तथा एंगेल्स की रचनाओं में विश्व के महान कृतिकारों की क्लासिक कृतियों से चुनी हुई उक्तियाँ भरी पड़ी हैं। अर्थात् विश्व की साहित्यिक निधि का दोनों ने भरपूर उपयोग किया था। साहित्यिक एवं पौराणिक कृतियों से सूक्तियों, उपमाओं और दृष्टांतों का इतना सटीक इस्तेमाल उनके समकालीनों में से किसी की भी रचनावली में उपलब्ध नहीं होता। साहित्य, कला तथा दर्शन की महान अंतर्राष्ट्रीय विरासत के जीवंत उपादानों से उनका रचना-कर्म समृद्ध हो गया। नतीजा यह हुआ कि इन रचनाओं के अंदर गहरी व्यंजना का ऐसा गुण विकसित हुआ कि आज भी ये कृतियाँ तरोताज़ा प्रतीत होती हैं।

विल्हेल्म लिब्नेख्त ने मार्क्स की शैली पर ठीक ही टिप्पणी की है कि उनकी शैली पुराने जमाने के रोमनों के हाथों एक ऐसी धारदार कटार है जिसे लिखने व घोंपने दोनों कामों के लिए इस्तेमाल किया गया था। ज़ाहिर है कि मार्क्स व एंगेल्स की शैलियाँ एकदम सही जगह पर अचूक ढंग से वार करती है।

इस तरह आपने देखा कि विश्व-साहित्य और विश्व-कला के अंतहीन ज्ञान और आस्वाद ने उन्हें सौंदर्य संबंधी सिद्धांतों के प्रतिपादन में दक्ष बना दिया। द्वंद्वात्मक तथा ऐतिहासिक भौतिकवाद की एक सुव्यवस्थित दार्शनिक प्रणाली के सृजन तथा विकास की बदौलत इन दोनों विद्वानों को वह अवसर मिला जिसके तहत वे नए सौंदर्यशास्त्र की नींव रख सके। इन दोनों की रचनाओं में साहित्य तथा कला पर विपुल सामग्री उपलब्ध है - यद्यपि सौंदर्यशास्त्र पर एक स्वतंत्र पुस्तक लिखने की अपनी योजना को वे पूरा न कर सके। इन सीमाओं के बावजूद इनके कृतित्व के माध्यम से, विभिन्न बिंदुओं पर इनके विचारों के एकत्रीकरण के माध्यम से एक सुगठित चिंतन प्रणाली उभर आती है। ज़ाहिर है कि साहित्य बोध, साहित्य तथा कला से संबंधित उनकी मान्यताएँ उनके वैज्ञानिक और क्रांतिकारी विश्व दृष्टिकोण की तर्क-व्यवस्था से जुड़ी हुई हैं।

कलात्मक सृजन-कर्म तथा यथार्थ से उसके संबंध की समस्या को उन दोनों ने बुनियादी रूप में नए ढंग से देखा अर्थात् भौतिकवादी द्वंद्ववाद की दृष्टि से उसका हल प्रस्तुत किया। अभी तक भाववादी सौंदर्यशास्त्र कला को स्रष्टा के मस्तिष्क में आकस्मिक रूप से उत्पन्न किसी भाव, विचार या आइडिया का प्रतिफलन मानता आया था। परिणाम यह था कि मार्क्स से पहले के सभी कला समीक्षक और साहित्यिक समालोचक कला की उत्पत्ति, उसके विकास, उसके पल्लवन और ह्रास की व्याख्या समुचित ढंग से कर ही नहीं पाते थे। यानी सौंदर्य बोध और सृजन कर्म के मूलभूत प्रश्नों से संबंधित सारी समस्याएँ भाववादियों के कारण अबोधगम्य बनी रहीं। इसका कारण यह था कि ये लोग मनुष्य के भौतिक तथा सामाजिक अस्तित्व से कला का गहरा रिश्ता मानने से इंकार करते थे और कला को

उसके सामाजिक उद्‌गम से काट कर - निरपेक्ष ढंग से उसकी विवेचना-व्याख्या करते रहते थे। कला या साहित्य का उद्‌गम स्वयं इनके अंदर ही है - समाज से इनका कोई भी लेना-देना नहीं है - इस प्रकार का दृष्टिकोण सौंदर्यशास्त्र, कला समीक्षा और साहित्यिक समालोचना पर हावी था। इसलिए ही मार्क्स तथा एंगेल्स ने समग्र सामाजिक प्रणाली के विश्लेषण के जरिए यह निष्कर्ष निकाला कि साहित्य अथवा कला सामाजिक चेतना का ही एक रूप है। दोनों विद्वानों ने यह भी कहा कि कला, साहित्य अथवा सौंदर्यबोधी चेतना की उत्पत्ति या उसमें कालानुसार हो रहे परिवर्तनों का कारण मनुष्य के सामाजिक अस्तित्व में ढूँढा जाना चाहिए। चूँकि सामाजिक अस्तित्व की दशाओं में परिवर्तन होता रहता है, वर्गों में बँटे हुए समाज की अनेकानेक प्रक्रियाओं का भी मनुष्य के सामाजिक अस्तित्व पर प्रभाव पड़ता रहता है, परस्पर विरोधी वर्गों के हितों की टकराहट और उनके अंतर्विरोधों का भी असर पड़ता है, अतः कला के अभिप्राय, संदेश, सार-तत्त्व और रूप-शिल्प में भी बदलाव होता है। कला और मनुष्य के सामाजिक अस्तित्व के बीच की यह अन्योन्यक्रिया कभी रुकती नहीं है, हमेशा सापेक्ष संबंधों के भीतर से गुज़रती हुई गतिमान रहती है।

22.4.1 मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र का विकास

मार्क्स तथा एंगेल्स की रचनाओं में इन प्रश्नों पर उनके निष्कर्ष प्रायः सूत्र रूप में ही उपलब्ध होते हैं। इन समस्याओं के विशद विवेचन की आवश्यकता थी। इसीलिए बाद के मार्क्सवादी सिद्धांतकारों में मुख्यतः लेनिन, माओ त्से तुंग तथा ग्राम्शी ने इन समस्याओं पर नए सिरे से विचार किया। परंतु मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र के सांगोपांग विकास की दृष्टि से अभी भी अनेक प्रश्नों पर विचार करना बाकी है। इन सीमाओं के बावजूद साहित्य तथा कला-समीक्षा के क्षेत्र में सक्रिय प्रमुख विचारकों में कॉडवेल, जॉर्ज थाम्पसन, अर्नेस्ट फिशर, लुकाच, ब्रेख्त आदि ने विस्तार से विवेचन-विश्लेषण किया है। उदाहरण के लिए, साहित्य और कला की उत्पत्ति पर अर्नेस्ट फिशर की पुस्तक 'कला की ज़रूरत' (नैसेसिटी ऑफ आर्ट) या कॉडवेल की पुस्तक 'विभ्रम तथा यथार्थ' (इल्यूज़न एंड रिएलिटी) पठनीय हैं। मैक्सिम गोर्की की पुस्तक 'व्यक्तित्व का विघटन' भी मार्क्सवादी दृष्टि से कला सर्जना की व्याख्या के क्रम में सौंदर्यशास्त्र की कुछ बुनियादी मान्यताओं का स्पष्टीकरण करती है। उदाहरण के लिए, प्राचीन काल में पुराण (मिथ) या काव्य किस प्रकार रचे गए, इस प्रश्न का उत्तर देने के क्रम में गोर्की कहते हैं -

> **अपने शैशव काल में, आत्म-संरक्षण की सहज वृत्ति के मार्गदर्शन में और नंगे हाथों से संघर्ष करते हुए, जिसे वे भय, आतंक और आश्चर्य से देखते थे, जन-साधारण ने धर्म का निर्माण किया जो उनकी कविता भी था, प्राकृतिक शक्तियों की जानकारी का ज्ञानकोश भी था और अपने परिवेश में व्याप्त विरोधी तत्वों से जूझने के दौरान उन्होंने अनुभवों का जो संकलन किया था, उनका भंडार भी था। प्रकृति के विरुद्ध उन्होंने जो पहली सफलताएँ हासिल कीं, उनसे उन्हें स्थायित्व का एहसास हुआ, अपने बारे में गर्व की भावना पैदा हुई और अधिक सफलताएँ हासिल करने की आकांक्षा जगी और उन्हें ऐसी वीर गाथाओं के निर्माण की प्रेरणा मिली जो उनके आत्म-ज्ञान और उन लक्ष्यों का कोष बन गई जो उन्होंने अपने आगे रखे थे। तब पुराण (मिथ) और काव्य मिलकर अभिन्न हो गए, क्योंकि जन-साधारण ने अपने हर महाकाव्य के हीरो (नायक) को सामूहिक मनोवृत्ति की समस्त शक्ति से सम्पन्न कर दिया और या तो उनसे देवताओं के रणक्षेत्र में उतरने के लिए चुनौती दिलवाई या उन्हें देवताओं की कोटि में रख दिया।**
>
> **किसी व्यक्ति की विचारणा नहीं, बल्कि जन-साधारण की समष्टिगत रचना-शक्ति ही, जैसे भाषा में वैसे ही पुराण (मिथ) और वीर काव्यों में स्फुरित होती है।**
>
> -- व्यक्तित्व का विघटन, पृ. 9-10

22.4.2 कला का उद्‌गम

प्राचीन महाकाव्यों या पुराणों के वीर नायकों की परिकल्पना की जड़ें, गोर्की के अनुसार लोक-सर्जना की भूमि में थीं। इसी लोक-सर्जना की भूमि से जन्मे ये वीर नायक अपने कबीले के उद्धारक, नेता या प्रतिनिधि थे। इस तरह जब एक हीरो की सृष्टि हो गई और उसका बल तथा उसका सौंदर्य सबके गर्व और आदर की वस्तु बन गया तो लोगों ने उसे अपना देवता बना लिया।

लेकिन इन महाकाव्यों अथवा पुराणों की रचना के पहले कला या कविता का जन्म कैसे हुआ? अर्नेस्ट फिशर की पुस्तक 'कला की ज़रूरत' (नेसेसिटी ऑफ आर्ट का हिंदी अनुवाद, राजकमल प्रकाशन से प्रकाशित) के दूसरे अध्याय में विस्तार से **कला के उद्‌गम** पर विचार किया गया है। उनका निष्कर्ष है

> अपने कार्य के द्वारा मनुष्य दुनिया को जादूगर की तरह रूपांतरित करता है। कोई लकड़ी का टुकड़ा, कोई हड्डी या कोई पत्थर एक नमूने से मिलता-जुलता बनाया जाता है और इससे वह उसी

नमूने में रूपांतरित हो जाता है; भौतिक वस्तुएँ संकेतों, नामों और धारणाओं में रूपांतरित हो जाती हैं; मनुष्य स्वयं पशु से मनुष्य में रूपांतरित हो जाता है।

> **मानवीय सत्ता के मूल में मौजूद यह जादू समस्त कला का सार-तत्व है और यही शक्तिहीनता की भावना के साथ शक्ति की चेतना भी उत्पन्न करता है। उपकरण बनाने वाला वह पहला आदमी पहला कलाकार था जिसने पत्थर को ऐसा रूप दिया कि पत्थर मनुष्य की सेवा कर सके। प्रकृति की विभिन्न चीज़ों को नाम देने वाला वह पहला आदमी भी एक महान कलाकार था, जिसने प्रकृति की विशालता में से एक वस्तु को छाँट कर अलग किया, जिसने किसी चिह्न के माध्यम से उसे वश में किया, और भाषा की इस सर्जना को शक्ति के एक उपकरण के रूप में अन्य मनुष्यों के हवाले किया। संगठन करने वाला वह पहला आदमी कला का पैगम्बर था जिसने लययुक्त राग के द्वारा कार्य की प्रक्रिया में तालमेल बिठाया और इस प्रकार मनुष्य की समष्टिगत शक्ति को बढ़ाया।** (वही, पृ.38)

फिशर अपनी विवेचना के क्रम में यह बताते हैं कि आदिम समाज की अवस्था में कला वैयक्तिक प्रतिभा से उत्पन्न कोई कृति नहीं थी वरन् एक समष्टिगत उत्पादन थी। आदिम समाज परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध सघन समष्टिवाद का रूप था। समष्टि से निकाल दिए जाने और अकेले पड़ जाने से बढ़कर भयानक बात और कोई नहीं थी। समूह या जनजाति से व्यक्ति के बिछुड़ जाने का अर्थ था - मृत्यु, जबकि समष्टि का अर्थ था जीवन और जीवन की अंतर्वस्तु। कला अपने सभी रूपों में अर्थात् भाषा, नृत्य, लयात्मक रागों, जादुई समारोहों आदि में सर्वोत्तम सामाजिक गतिविधि थी, जो सबके लिए समान थी और सभी मनुष्यों को प्रकृति तथा पशु-जगत से अलग करती थी।

फिशर की पुस्तक के उल्लिखित अध्याय 'कला के उद्‌गम' में थाम्पसन के तर्क और निष्कर्षों का सारांश दे दिया गया है। वर्गीय समाज में कला की भूमिका का प्रसंग आने पर फिशर बताते हैं कि कला और धर्म का, कलाकार और पुरोहित का, कलाकार और चिकित्सक का संबंध-विच्छेद होने के बाद भी कलाकार समाज का प्रतिनिधि या प्रवक्ता बना रहा। उसका काम अपने निजी सुख-दुःख से अपनी जनता को परेशान करना नहीं था; उसका व्यक्तित्व अप्रासंगिक था; और उसका मूल्यांकन केवल इस आधार पर किया जाता था कि उसमें सामान्य अनुभव को तथा अपने जनगण, अपने वर्ग और अपने युग की महान घटनाओं तथा विचारों को प्रतिध्वनित करने की कितनी योग्यता है। कलाकार को अपना यह सामाजिक काम पहले के जादूगर के काम की तरह अनिवार्यतः सम्पन्न करना होता था और वह इससे इंकार नहीं कर सकता था। कलाकार का काम था अपने साथी मनुष्यों को घटनाओं के गहरे अर्थ बताना; उन्हें सामाजिक और ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया, आवश्यकता और उसके नियम समझाना; उनके लिए मनुष्य और प्रकृति तथा मनुष्य और समाज के सारभूत संबंधों की गुत्थियाँ सुलझाना। उसका कर्तव्य था अपने नगर, अपने वर्ग तथा अपने राष्ट्र के जनगण में आत्म-बोध तथा जीवन-बोध बढ़ाना; आदिम समष्टि की सुरक्षा से श्रम-विभाजन तथा वर्ग-संघर्ष की दुनिया में आ पहुँचे मनुष्यों को संदिग्ध और विखंडित वैयक्तिकता की चिंताओं और अस्तित्व की असुरक्षा के भय से मुक्त करना; व्यक्तिगत जीवन को पुनः समष्टिगत जीवन की दिशा में, वैयक्तिकता को सार्वभौमिकता की दिशा में प्रेरित करना; मनुष्य की खोई हुई एकता को पुनः प्रतिष्ठित करना।' (कला की ज़रूरत, पृ.47)

22.4.3 उपन्यास की कला

आधुनिक पूँजीवादी युग में - खासकर प्रिंटिंग टेक्नॉलॉजी के आरंभ होने के बाद से अब तक उपन्यास के उद्‌भव और उसकी कलात्मक संरचना की जटिलता पर मार्क्सवादी समालोचकों ने बहुत विस्तार से विचार किया है। कॉडवेल की पुस्तक **'इल्यूजन एंड रिअलिटी'**, (हिंदी अनुवाद राजकमल प्रकाशन से प्रकाशित) में तथा दूसरी पुस्तक 'स्टडीज़ इन डाइंग कल्चर' में उपन्यास के विकास के प्रश्न पर छिटफुट ढंग से विचार का आरंभ हुआ। मार्क्स और एंगेल्स ने बाल्ज़ाक, जोला, डिकेन्स आदि की औपन्यासिक कृतियों पर विचार करते हुए यथार्थवाद की विशेषताएँ बतायी थीं। लेनिन ने तॉल्सताय के उपन्यासों का मूल्यांकन करते हुए क्लासिक महत्व के पाँच आलोचनात्मक लेख लिखे थे। किंतु उपन्यास की कला और यथार्थ के उद्‌घाटन की तकनीक पर राल्फ फाक्स तथा मिखाईल बाख़्तीन की आलोचनात्मक कृतियों से एक नई विवेचन प्रणाली का सूत्रपात हुआ। राल्फ फाक्स की उल्लिखित पुस्तक में स्पष्ट माना गया है कि 'उपन्यास का विषय है व्यक्ति। वह समाज के विरुद्ध, प्रकृति के विरुद्ध, व्यक्ति के संघर्ष का महाकाव्य है। और यह केवल उसी समाज में विकसित हो सकता था जिसमें व्यक्ति और समाज के बीच संतुलन नष्ट हो चुका हो और जिसमें मानव का अपने सहजीवी

साथियों अथवा प्रकृति से युद्ध ठना हो। पूँजीवादी समाज ऐसा ही समाज है।' (उपन्यास और लोक जीवन, पृ.28)

राल्फ फाक्स की इस पुस्तक में यथार्थवाद पर भी विचार किया गया है। उपन्यास के यथार्थ की विवेचना को एक व्यापक दृश्य-फलक पर रखते हुए राल्फ फाक्स ने थियेटर और सिनेमा की कला से इसकी तुलना भी की है। मिखाईल बाख्तीन का एक 41 पृष्ठों का निबंध 'महाकाव्य और उपन्यास' शीर्षक से हिंदी में उपलब्ध है। यह निबंध साहित्य अकादमी द्वारा प्रकाशित 'साहित्य और सौंदर्यशास्त्र' नामक संकलन में दिया गया है। बाख्तीन की मान्यता है कि महाकाव्य और त्रासदी की कला-विधाएँ लिपि आरंभ होने तथा हस्तलिखित पुस्तक लेखन आरंभ होने से बहुत पहले की हैं। इन विधाओं का एक लंबा इतिहास है और इनका ढाँचा या साँचा या इनका प्रतिमान पहले से तय है। अतः इन विधाओं में परिवर्तन की संभावना बहुत कम है चूँकि

> **अपनी मौखिक, वाचिक प्रकृति इन्होंने कमोबेश हद तक आज तक बनाए रखी है। सभी बृहद विधाओं में से केवल उपन्यास ही लिपि और पुस्तक के पश्चात प्रकट हुआ है, और केवल वही अपनी प्रकृति से मूक अवबोध के नए रूपों, अर्थात् पठन के लिए अनुकूलित (कंडीशन्ड) है।'**
> (साहित्य और सौंदर्यशास्त्र, पृ.262-263)

यही बात उपन्यास के विवेचन को कठिन बनाती है। बाख्तीन का कहना है कि यह बहुत पहले से निरूपित और अंशतः मृत विद्याओं के बीच एकमात्र ऐसी विद्या है जो निरंतर गतिमान, विकासमान और निर्माणशील है। उपन्यास अन्य विद्याओं की तुलना में एक अलग ही नस्ल का जीव है क्योंकि 'यह साहित्य में अपने प्रभुत्व के लिए संघर्ष करता है और जहाँ वह विजयी हो जाता है, वहाँ दूसरी विद्याओं का विघटन हो जाता है।' (वही, पृ.263)

महाकाव्य से उपन्यास की भिन्नता दर्शाने के लिए बाख्तीन कहते हैं कि 'महाकाव्य का संसार राष्ट्र का वीरतापूर्ण अतीत होता है, राष्ट्रीय इतिहास के उद्‌गम और उत्कर्ष का, आदिपुरुषों का संसार होता है। बात यह नहीं है कि यह अतीत महाकाव्य की अंतर्वस्तु होता है। चित्रित जगत का अतीत में निहित होना, अतीत से जुड़ा होना - एक विद्या के नाते महाकाव्य का संरचनात्मक रूपगत लक्षण है। महाकाव्य कभी वर्तमान के बारे में, अपने समय के बारे में काव्य नहीं रहा है (जो वंशजों के लिए ही अतीत का काव्य बन गया हो)। एक निश्चित विद्या के नाते महाकाव्य को हम आरंभ से ही अतीत के बारे में महाकाव्य के रूप में पाते हैं। रचनाकार का दृष्टि-बिंदु, जो महाकाव्य में अंतर्भूत और उसके लिए संरचनागत होता है, सदा अलभ्य अतीत की बात कर रहे व्यक्ति का, श्रद्धानत वंशज का दृष्टि-बिंदु होता है। अपनी स्वर-शैली तथा अपने बिम्बात्मक स्वरूप में महाकाव्य एक समकालीन द्वारा समकालीन के बारे में समकालीनों के लिए रची गई रचना से पूर्णतः भिन्न होता है।' (वही, पृ.273)

बाख्तीन ने आगे यह भी बताया कि उपन्यास में समकालीन यथार्थ के संज्ञान की प्रक्रिया अनिवार्य है, जबकि महाकाव्य में पावन अनुश्रुति और स्मृति से चेतना का अवरुद्ध होना अनिवार्य है।

22.4.4 मनुष्य के इन्द्रियबोध का विकास और सौंदर्यशास्त्र

सुंदरता की भावना, सौंदर्य को पहचानना, कला एवं साहित्य के भीतर निहित सौंदर्यानुभूति का आस्वादन करने की क्षमता, प्रकृति और मानव जीवन से संबंधित ऐन्द्रिक बोधों की ग्रहण-शक्ति, अनुभव या बोध के कलात्मक अंकन की प्रतिभा या गुण - ये सारी चीज़ें जन्मजात रूप में प्राप्त नहीं होतीं। 1844 में लिखित अपनी आर्थिक तथा दार्शनिक पाण्डुलिपियों में ही मार्क्स ने मनुष्य की कलात्मक एवं सौंदर्यबोधी क्षमता के विकास में श्रम की भूमिका लक्षित की थी। ये सारी क्षमताएँ अपने दीर्घ विकास के क्रम में मनुष्य क्रमशः अर्जित करता है; ये क्षमताएँ ईश्वर-प्रदत्त नहीं हैं। एंगेल्स की पुस्तक में **प्रकृति की द्वंद्वात्मकता** में मार्क्स के उक्त निष्कर्ष को और भी परिष्कृत एवं पल्लवित किया गया है। एंगेल्स ने बताया कि श्रम के प्रयासों के फलस्वरूप ही 'मानव हाथ ने वह उच्च क्षमता प्राप्त की, जिसकी बदौलत रेफेल की सी चित्रकारी, थोर्वाल्दसें की सी मूर्तिकारी और पागानीनी का सा संगीत आविर्भूत हो सका।'

अपने इस निष्कर्ष पर पहुँचने से पहले एंगेल्स ने यह भी स्पष्ट कर दिया था कि 'मानव हाथों द्वारा पत्थर की पहली छुरी बनाए जाने से पहले शायद एक ऐसी अवधि गुज़री होगी, जिसकी तुलना में ज्ञात ऐतिहासिक अवधि नगण्य सी लगती है। किंतु निर्णायक पग उठाया जा चुका था, हाथ मुक्त हो गया

था और अब से अधिक दक्षता एवं कुशलता प्राप्त कर सकता था तथा इस प्रकार प्राप्त उच्चतर नमनीयता वंशागत होती थी और पीढ़ी दर पीढ़ी बढ़ती जाती थी।'

एंगेल्स ने यह भी कहा था कि 'हाथ केवल श्रम-इन्द्रिय ही नहीं, है वह श्रम की उपज भी है।'

केवल हाथ ही नहीं, मनुष्य की पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ जीव-सृष्टि के विकास की लंबी प्रक्रिया में विकसित और पुष्ट हुई हैं। मार्क्स ने '1844 की आर्थिक दार्शनिक पाण्डुलियाँ' में ही कहा था - 'पाँचों ज्ञानेन्द्रियों का गठन विश्व के आज तक के संपूर्ण इतिहास का कार्य है।' यही कारण है कि सामाजिक मनुष्य की ज्ञानेन्द्रियाँ असामाजिक मनुष्य की ज्ञानेन्द्रियों से ज्यादा ग्रहणशील और विकसित होती हैं। संगीत की भावनाओं में सामाजिक रूप से नित-प्रति डूबा रहने वाला व्यक्ति संगीत के प्रति ज्यादा ग्रहणशील होगा - जबकि संगीत के आस्वाद की ग्रहण-शक्ति से वंचित व्यक्ति के कान के लिए अच्छे से अच्छे संगीत का भी कोई अर्थ नहीं होगा।

हमारे पूर्वजों में आए शारीरिक परिवर्तन श्रम संबंधी कार्यकलापों के विकास के साथ अटूट रूप से जुड़े हुए थे - हाथ का परिष्कार हुआ, ज्ञानेन्द्रियों का विकास हुआ, मस्तिष्क का आकार बढ़ा तथा उसकी संरचना और भी अधिक जटिल हुई। इस मस्तिष्क के विकास की अवधारणा को वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में समझना आवश्यक है क्योंकि अगर हम इसे ठीक से नहीं समझेंगे तो यह भी नहीं समझ पाएंगे कि आधुनिक मानव के मस्तिष्क ने सभ्यता-संस्कृति तथा ज्ञान-विज्ञान के विकास में इतनी तेज़ गति से किस प्रकार योगदान किया। किसी भी चीज़ का निर्माण या सृजन करने से पहले मनुष्य अपने विचारों में उसकी कल्पना करता है, मस्तिष्क में उसका प्रारूप विकसित करता है; उस चीज़ के निर्माण या सृजन के पहले मनुष्य के मस्तिष्क में एक बिम्ब आकार ग्रहण करता है। यह यथार्थ जगत के प्रतिबिंबन का ही एक खास रूप है, जो भौतिक उत्पादन के लिए या साहित्यिक-कलात्मक सृजन के लिए अनिवार्य है। पशुओं में ऐसे प्रतिबिम्बन की क्षमता नहीं होती। मानव-मस्तिष्क में अपने चारों ओर के संसार का तथा स्वयं मानव-जन का संज्ञान पाने की अपरिमित क्षमता है। एंगेल्स ने इस संदर्भ में ठीक ही कहा था कि 'ज्यों-ज्यों मनुष्य प्रकृति को बदलना सीखता गया, त्यों-त्यों उसकी बुद्धि का विकास होता गया।'

एंगेल्स ने अपनी कृति 'वानर से नर बनने की प्रक्रिया में श्रम की भूमिका' में मानव और मानव समाज की उत्पत्ति की प्रक्रिया की व्याख्या की थी। उक्त रचना में बताया गया है कि मानव समाज की उत्पत्ति में श्रम, उत्पादन और श्रम के औज़ारों के इस्तेमाल ने निर्णायक भूमिका अदा की। श्रम ने ही मनुष्य के पूर्वजों को सीधे चलने तथा अपने पैरों पर खड़ा होने के लिए बाध्य किया। श्रम की प्रक्रिया में परस्पर संचार की आवश्यकता हुई - फलस्वरूप भाषा प्रकट हुई। वस्तुतः श्रम ने ही मनुष्य को पशु-जगत से पृथक किया, उसे श्रम के औज़ारों के उत्पादन, सुविकसित मस्तिष्क, चेतना, आत्म-विवेक तथा स्पष्ट उच्चारण के साथ वाणी जैसी विशिष्टताएँ दीं।

22.5 इतिहास की भौतिकवादी अवधारणा

मार्क्स-एंगेल्स के पहले के दार्शनिकों का मत था कि मानव समाज की उत्पत्ति, विकास और इतिहास पर कोई नियम लागू नहीं होता। वे यह भी मानते थे कि उत्पत्ति और विकास के नियम सिर्फ प्रकृति को लेकर बनाए जा सकते हैं या लागू किए जा सकते हैं। मानव समाज के संदर्भ में तो अव्यवस्था और स्वेच्छाचारिता का ही एकच्छत्र राज्य माना जाता था। सब कुछ या तो ईश्वर की इच्छा से घटित बता दिया जाता था या बड़े-बड़े लोगों - राजे-महाराजे, सेनापति, अफसर आदि - की कृपा या आदेश का परिणाम बताया जाता था। मार्क्स-एंगेल्स ने पहले से प्रचलित इन दृष्टिकोणों का खंडन किया और यह सिद्ध किया कि सामाजिक-विकास एक प्राकृतिक-ऐतिहासिक प्रक्रिया यानी निश्चित नियमों के अनुसार घटित होने वाली एक प्रक्रिया है। सामाजिक विकास के ये प्राकृतिक-ऐतिहासिक नियम - लोगों की इच्छाओं से स्वतंत्र रूप में क्रियाशील रहते हैं। पर मानव इतिहास के ये नियम प्रकृति के नियमों से भिन्न होते हैं। प्रकृति के नियम अंध, स्वतःस्फूर्त शक्तियों की क्रिया के रूप में प्रकट होते हैं, जबकि इतिहास में स्वयं लोग - स्वयं मनुष्य क्रियाशील हैं - ऐसे मनुष्य जो इच्छा और चेतना से सम्पन्न होते हैं और अपने सामने निश्चय ही सचेतन उद्देश्य भी रखते हैं। लोग अपने इतिहास की रचना स्वयं करते हैं, लेकिन मनचाहे ढंग से नहीं; उनके कार्यकलाप विशिष्ट परिस्थितियों और उन परिस्थितियों से उत्पन्न दबावों तथा संभावनाओं के कारण सीमित होते हैं।

इतिहास की भौतिकवादी अवधारणा के प्रतिपादन के क्रम में मार्क्स-एंगेल्स ने भौतिक संपदा के उत्पादन की भूमिका का विस्तार से स्पष्टीकरण किया। उन्होंने यह स्पष्ट तथ्य दो-टूक शब्दों में बताया कि

राजनीति, दर्शन, कला आदि में रुचि लेने से पहले लोगों के पास भोजन, कपड़ा और मकान होने चाहिए; अर्थात् उनकी ज़िंदगी की रोज़ाना की आवश्यकताएँ पूरी होनी चाहिए। लेकिन ज़िंदगी की इन ज़रूरतों की पूर्ति के लिए आवश्यक भौतिक संपदा का उत्पादन करना होगा। इससे स्पष्ट है कि भौतिक संपदा का उत्पादन और पुनरुत्पादन मानव समाज के अस्तित्व और विकास की बुनियादी शर्त है।

भौतिक संपदा के उत्पादन के साधन - जैसे हल, कुल्हाड़ी, मशीन, ऊर्जा, बिजली आदि अपने आप उत्पादन में समर्थ नहीं हैं; मनुष्य के श्रम, हुनर, अनुभव, ज्ञान आदि के बिना ये उत्पादन के औज़ार निष्क्रिय बने रहते हैं - अतः मेहनतकश लोग ही मूल उत्पादक शक्ति हैं।

उत्पादन की प्रक्रिया में लोग आवश्यक रूप से निश्चित उत्पादन संबंधों (अर्थात् तनखाह, मज़दूरी, विनिमय, उपभोग) में प्रवेश करते हैं। उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व हासिल करने वाले पूँजपति वर्ग या सामंत वर्ग ही उत्पादन के संबंधों का स्वरूप तय करते हैं।

आपने यह तो स्पष्ट रूप में अवश्य ही समझ लिया होगा कि उत्पादक शक्तियाँ (कारीगरी, हुनर, ज्ञान आदि से लैस श्रमिक) और उत्पादन संबंध - दोनों संयुक्त रूप से भौतिक संपदा की उत्पादन प्रणाली बनाते हैं। इस उत्पादन प्रणाली के स्वरूप की भिन्नता की बदौलत ही एक युग का लक्षण दूसरे युग से अलग हो जाता है। एक युग की सामाजिक-आर्थिक संरचना दूसरे युग की संरचना से पृथक होती है, यानी हर युग ऐतिहासिक विकास की एक खास मंज़िल की विशिष्टता के कारण अलग चरित्र रखता है। मानव सभ्यता के विकासक्रम में भौतिक संपदा के उत्पादन की पाँच प्रणालियाँ अस्तित्व में आयी हैं - (1) आदिम साम्यवादी व्यवस्था (2) दासप्रथा वाली व्यवस्था (3) सामंतवादी व्यवस्था (4) पूँजीवादी व्यवस्था; तथा (5) समाजवादी व्यवस्था।

मार्क्स और एंगेल्स ने समाज के जीवन में भौतिक संपदा की उत्पादन प्रणाली की निर्णायक भूमिका के नियमों की खोज की। उत्पादन प्रणाली निश्चित नहीं रहती - निरंतर विकसित और परिष्कृत होती रहती है। इस उत्पादन प्रणाली के अंदर मनुष्य की कारीगरी, हुनर, ज्ञान और उसके श्रम के औज़ार या उत्पादन के साधन ज्ञान-विज्ञान-टेक्नॉलॉजी की मदद से निरंतर गतिशील बने रहते हैं। पर उत्पादन संबंध (मज़दूरी, विनिमय, उपभोग आदि) अपेक्षाकृत स्थिर बने रहते हैं। इस तरह उत्पादक शक्तियों और उत्पादन संबंधों के भीतर अन्तर्विरोध और टकराव शुरू हो जाते हैं।

पुराने उत्पादन संबंधों के स्थान पर नए उत्पादन संबंधों की स्थापना सामाजिक विकास की अनिवार्य आवश्यकता बन जाती है - देर-सबेर इस अंतर्विरोध या टकराव का समाधान केवल एक ही रास्ते से होता है - सामाजिक क्रांति के दौरान पुराने उत्पादन संबंधों की जगह नए उत्पादन संबंध कायम हो जाते हैं। वर्ग-संघर्ष का मूल कारण उत्पादक शक्ति और उत्पादन संबंध के बीच टकराव में ही अंतर्निहित है। आदिम साम्यवादी व्यवस्था के बाद से मानव सभ्यता का इतिहास उल्लिखित टकराव या वर्ग-संघर्ष से सभी मुक्त नहीं हो पाया। 340 दो फरवरी में प्रकाशित 'कम्युनिस्ट घोषणा-पत्र' का आरंभ ही इस उक्ति के साथ होता - 'अभी तक आविर्भूत समस्त समाज का इतिहास वर्ग संघर्षों का इतिहास रहा है।'

22.6 आधार और अधिरचना

एक विशिष्ट युग की सामाजिक-आर्थिक संरचना हो या एक खास ऐतिहासिक युग की उत्पादन प्रणाली हो - मार्क्स-एंगेल्स ने उस संरचना या उत्पादन प्रणाली के अंतर्गत क्रियाशील उत्पादन संबंधों की समग्रता को आधार की संज्ञा दी - अर्थात् उसे ही बेस या मूलभूत ढाँचा माना। इस बुनियाद पर ही कानून, राजनीति, दर्शन, कला और साहित्य का ऊपरी ढाँचा खड़ा होता है। कुछ विद्वान इस ऊपरी ढाँचे के पर्याय के रूप में अर्थात् इसी अर्थ में अधिरचना शब्द का भी इस्तेमाल करते है।

मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र एवं मार्क्सवादी समालोचना में इस आधार-अधिरचना संबंध (बेस और सुपर स्ट्रक्चर के बीच रिश्ते) को लेकर विद्वानों के बीच तीखी बहस होती रही है। इस बहस में 'राजनीतिक अर्थशास्त्र की आलोचना के एक प्रयास की भूमिका' नामक पुस्तक के निम्नलिखित अंश को ही सभी विद्वान अपनी व्याख्या का मूल स्रोत मानते हैं -

> 'अपने जीवन के सामाजिक उत्पादन में मनुष्य ऐसे निश्चित संबंधों में बंधते हैं जो अपरिहार्य एवं उनकी इच्छा से स्वतंत्र होते हैं। उत्पादन के ये संबंध उत्पादन की भौतिक शक्तियों के विकास की एक निश्चित मंज़िल के अनुरूप होते हैं। इन उत्पादन संबंधों का पूर्ण योग ही समाज का आर्थिक ढाँचा है - वह असली बुनियाद है, जिसपर कानून और राजनीति का ऊपरी ढाँचा खड़ा हो

जाता है और जिसके अनुकूल ही सामाजिक चेतना के निश्चित रूप होते हैं। भौतिक जीवन की उत्पादन प्रणाली जीवन की आम सामाजिक, राजनीतिक और बौद्धिक प्रक्रिया को निर्धारित करती है। **मनुष्यों की चेतना उनके अस्तित्व को निर्धारित नहीं करती बल्कि उल्टे उनका सामाजिक अस्तित्व उनकी चेतना को निर्धारित करता है।** अपने विकास की एक खास मंज़िल पर पहुँचकर समाज की भौतिक उत्पादन शक्तियाँ तत्कालीन उत्पादन संबंधों से या उसी चीज़ को कानूनी शब्दावली में यों कहा जा सकता है - उन सम्पत्ति संबंधों से टकराती हैं, जिनके अंतर्गत वे उस समय तक काम करती होती हैं। ये संबंध उत्पादन शक्तियों के विकास के अनुरूप न रहकर उनके लिए बेड़ियाँ बन जाते हैं। तब सामाजिक क्रांति का युग शुरू होता है। आर्थिक बुनियाद के बदलने के साथ समस्त बृहदाकार ऊपरी ढाँचा भी कमोबेश तेज़ी से बदल जाता है। ऐसे रूपांतरणों पर विचार करते हुए एक भेद हमेशा ध्यान में रखना चाहिए। एक ओर तो उत्पादन की आर्थिक परिस्थितियों का भौतिक रूपांतरण है, जिसे प्रकृति विज्ञान की अचूकता के साथ निर्धारित किया जा सकता है। दूसरी ओर वे कानूनी, राजनीतिक, धार्मिक, सौंदर्य बोधात्मक या दार्शनिक, संक्षेप में, विचारधारात्मक रूप हैं, जिनके दायरे में मनुष्य इस टक्कर के प्रति सचेत होते हैं और उससे निपटते हैं।' **(साहित्य तथा कला, पृ.47-48)**

मार्क्स की मृत्यु के बाद आधार और अधिरचना के रिश्ते को लेकर अनेक विद्वानों तथा मार्क्सवाद के विरोधियों ने यह आरोप लगाया कि मार्क्स कला, साहित्य, दर्शन आदि के बारे में यह प्रतिपादित करते हैं कि अधिरचना आर्थिक व्यवस्था का यांत्रिक परिणाम या एक निष्क्रिय उत्पादन मात्र है। इस स्थिति से खिन्न होकर फ्रेडरिक एंगेल्स ने अपने दो पत्रों में पूरी वैचारिक प्रखरता के साथ ठोस रूप में स्पष्ट किया :

1. 'इतिहास की भौतिकवादी धारणा के अनुसार इतिहास का अंतिम विश्लेषण में निर्णायक तत्व वास्तविक जीवन का उत्पादन और पुनरुत्पादन है। इससे अधिक न मार्क्स ने और न मैंने ही कभी कहा है। अतः यदि कोई इसे तोड़-मरोड़कर यों कहे कि आर्थिक तत्व ही एकमात्र निर्णायक तत्व है, तो वह हमारी प्रस्थापना को निरर्थक, अमूर्त और खोखली शब्दावली मात्र बना देता है।' (21-22 सितम्बर, 1890 को ब्लाख के नाम फ्रेडरिक एंगेल्स का पत्र)
2. 'राजनीति, न्याय, दर्शन, धर्म, साहित्य, कला आदि का विकास आर्थिक विकास पर आश्रित होता है। परंतु ये सब एक-दूसरे को तथा आर्थिक आधार को भी प्रभावित करते हैं। बात **यह नहीं है कि आर्थिक परिस्थिति ही कारण है, एकमात्र सक्रिय तत्व है, जबकि बाकी सभी चीज़ें निष्क्रिय परिणाम मात्र हैं। बल्कि बात यह है कि आर्थिक अनिवार्यता के आधार पर, जो अंततातेगत्वा सदा प्रभावी होती है, अन्योन्यक्रिया चलती है।'** (वृ. बोर्गिडस को 25 जनवरी, 1894 के दिन एंगेल्स का पत्र)

मार्क्सवादी समालोचना के अंतर्गत आधार और अधिरचना के संबंधों तथा उनके बीच अंतःक्रिया के प्रश्न पर मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्रियों तथा समालोचकों ने बार-बार विचार किए हैं। आधुनिक युग के बड़े मार्क्सवादी समालोचकों में रेमंड विलियम्स ने तो इस समस्या पर एक स्वतंत्र निबंध ही लिखा है, जिसका शीर्षक है - 'संस्कृति के मार्क्सवादी सिद्धांत में आधार और ऊपरी ढाँचे की सार्थकता'। इस लेख में रेमंड विलियम्स संपूर्ण बौद्धिक विमर्श को समेटते हुए लुकाच और ग्राम्शी की व्याख्याओं पर भी प्रश्न-चिह्न लगाते हैं। उनका निष्कर्ष है -

> **'हमारा विचार है कि जब हम आधार की चर्चा करते हैं तो उसे एक प्रक्रिया के रूप में समझें, न कि एक निश्चित गतिहीन अवस्था के रूप में। हम उस प्रक्रिया को ऊपरी ढाँचे की परिवर्तनशील प्रक्रियाओं के निश्चित आधार के रूप में कुछ निश्चित विशेषताओं तक सीमित नहीं कर सकते। ऐसे अधिकांश लोग जो साधारण मान्यता को अधिक तर्कसंगत बनाने का प्रयत्न करते हैं उन्होंने ऊपरी ढांचे की धारणा को परिष्कृत करने पर ही अधिक ध्यान दिया है। लेकिन हम कहना चाहेंगे कि इस मान्यता में आए हुए हर पारिभाषिक शब्द का एक खास दिशा के अनुरूप पुनर्मूल्यांकन करना होगा। हमें निर्धारित (डिटरमिंड) को पूर्व-कल्पित, पूर्व-कथित और नियंत्रित अंतर्वस्तु से अलग सीमा-निर्धारक और दिशा-निर्धारक अर्थ में समझना होगा।'**

रेमंड विलियम्स पहले से चली आ रही उन व्याख्याओं का समर्थन नहीं करते जिनके अनुसार ऊपरी ढाँचा कमोबेश प्रत्यक्ष तौर पर बुनियाद का प्रतिबिम्बन या पुनरुत्पादन है। पहले से चली आ रही इन भ्रांत धारणाओं के मुख्य कारण का उल्लेख करते हुए वे बताते हैं कि दरअसल बुनियाद के बारे में ही समझदारी बदलनी होगी, चूँकि बुनियाद को जड़ आर्थिक तत्व समझ लिया गया है। उनका कहना है

कि बुनियाद को 'वास्तविक सामाजिक तथा आर्थिक संबंधों में सक्रिय मनुष्यों की ऐसी विशिष्ट क्रियाशीलता के रूप में समझना होगा, जहाँ मूलभूत अंतर्विरोधों और परिवर्तनों के साथ-साथ एक गतिशील प्रक्रिया क्रियाशील होती है।' ('संकट के बावजूद' नामक निबंध संकलन से उद्धृत, संपा डॉ.मैनेजर पाण्डेय, पृ.126)
मार्क्स की इस प्रसिद्ध उक्ति को यहाँ याद रखना आवश्यक है कि 'किसी युग के प्रभुत्वशाली विचार उस युग के शासक वर्ग के ही विचार होते हैं।' वर्गीय समाज में शासक वर्ग की संस्कृति वर्चस्व की संस्कृति होती है, वही प्रधान संस्कृति होती है, पर यह वर्चस्व भी गतिहीन और जड़ नहीं है, चूँकि 'वर्चस्व का कोई एक पूर्व-निश्चित स्वरूप नहीं होता, बल्कि उसकी अपनी आंतरिक संरचनात्मक जटिलताएँ हैं, जिनका निरंतर पुनर्नवीकरण होता रहता है, पुनर्रचना व व्याख्या होती रहती है। इसका अर्थ यह भी है कि उनमें परिवर्तन और संशोधन की संभावनाएँ भी बराबर बनी रहती हैं।' (वही,पृ.134)

दास-प्रथा वाले समाज में गुलामों के मालिकों की संस्कृति पूरे समाज पर अपना वर्चस्व रखती थी। सामंती समाज में भू-स्वामियों ने सभी क्षेत्रों में अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। इसी तरह, पूँजीवादी समाज में पूँजीपति वर्ग द्वारा सांस्कृतिक वर्चस्व कायम कर लिया गया। इस वर्चस्व के विरुद्ध दासों से लेकर सर्वहारा वर्ग तक के प्रतिरोध का भी एक समानांतर इतिहास है। आज विश्व पूँजीवाद अथवा साम्राज्यवाद के द्वारा वर्चस्व कायम करने का प्रयास है जिसके विरुद्ध राष्ट्रीय स्वाधीनता, जनवाद और समाजवाद के लिए लड़ रहे जनगण का संघर्ष जारी है। शासक वर्ग सांस्कृतिक वर्चस्व की स्थापना के अपने लक्ष्य की सिद्धि के क्रम में प्रायः जनगण के सांस्कृतिक आंदोलन के उदीयमान तत्वों के प्रति सावधान होता है, चूँकि उनके भीतर प्रतिरोध की अपार संभावनाएँ होती हैं। यह एक वास्तविकता है कि सांस्कृतिक क्रियाकलाप के क्षेत्र में नए प्रकार के सृजनात्मक प्रयास होते रहते हैं, नई पीढ़ी के द्वारा नई उद्भावनाएँ भी होती रहती हैं। यहाँ तक कि उपेक्षित और वंचित सामाजिक हिस्सों के बीच से कला और साहित्य को प्राणवान बनाने वाले नए प्रकार के रुझान और रचना-कर्म के उदाहरण भी सामने आते रहते हैं। इस बहस में आप प्रसिद्ध मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्री और कला-विश्लेषक रेमण्ड विलियम्स को याद कर सकते हैं, चूँकि मौजूदा संदर्भ में उन्होंने सही विचार-बिंदु पर हस्तक्षेप किया है। उनका कहना है कि शासक वर्ग द्वारा स्थापित 'प्रधान संस्कृति का अस्थायी संबंध एक ओर अवशिष्ट संस्कृति से है और दूसरी ओर उदीयमान संस्कृति से।' (संकट के बावजूद, पृ.134)

22.7 पूँजीपति वर्ग और वैश्वीकरण

पूँजीपति वर्ग अपना सांस्कृतिक वर्चस्व कैसे कायम करता है? **कम्युनिस्ट घोषणा**-पत्र में मार्क्स-एंगेल्स ने इस प्रश्न का उत्तर देते हुए साफ खाका खींचा था -

'पूँजीपति वर्ग ने जो जादू कर दिखाया है वह मिस्र के पिरामिडों, रोम की जल प्रणाली और गोथिक गिरजाघरों से कहीं अधिक आश्चर्यजनक है।

उत्पादन के औज़ारों में लगातार क्रांतिकारी परिवर्तन और उसके फलस्वरूप उत्पादन के संबंधों में, और साथ-साथ समाज के सारे संबंधों में क्रांतिकारी परिवर्तन के बिना पूँजीपति वर्ग जीवित नहीं रह सकता। इसके विपरीत, उत्पादन के पुराने तरीकों का ज्यों का त्यों बनाए रखना पहले के सभी औद्योगिक वर्गों के जीवित रहने की पहली शर्त थी। उत्पादन में निरंतर क्रांतिकारी परिवर्तन, सभी सामाजिक अवस्थाओं में लगातार उथल-पुथल, शाश्वत अनिश्चितता और हलचल - ये चीज़ें पूँजीवादी युग को पहले के सभी युगों से अलग करती हैं। सभी स्थिर और जड़ीभूत संबंध, जिनके साथ प्राचीन और पूज्य पूर्वाग्रहों तथा मतों की एक पूरी श्रृंखला जुड़ी हुई होती है, मिटा दिए जाते हैं और सभी नए बनने वाले संबंध जड़ीभूत होने से पहले ही पुराने पड़ जाते हैं।

'अपने माल के लिए बराबर फैलते हुए बाज़ार की ज़रूरत के कारण पूँजीपति वर्ग दुनिया के कोने-कोने की खाक छानता है। वह हर कहीं घुसने को, हर जगह पैर जमाने को, हर जगह संपर्क कायम करने को बाध्य होता है।

'उन पुरानी आवश्यकताओं की जगह, जिन्हें स्वदेश की बनी चीज़ों से पूरा किया जाता था, अब ऐसी नई-नई आवश्यकताएँ पैदा हो गई हैं जिन्हें पूरा करने के लिए दूर-दूर के देशों और भू-भागों से माल मँगाना पड़ता है। पुरानी स्थानीय और राष्ट्रीय पृथकता और आत्म-निर्भरता का स्थान चौतरफा पारस्परिक संपर्क ने, सार्वभौमिक अंतःनिर्भरता ने ले लिया है। **भौतिक उत्पादन की ही तरह, बौद्धिक उत्पादन के जगत में भी यही परिवर्तन घटित हुआ है।'**

उत्पादन के तमाम औज़ारों में तीव्र उन्नति और संचार साधनों की विपुल सुविधाओं के कारण पूँजीपति वर्ग सभी राष्ट्रों को सभ्यता के अपने ही साँचे में ढलने की मज़बूर कर देता है।

किसी भी मार्क्सवादी साहित्यिक समालोचक के लिए इस बात की गहराई से छानबीन करना एक आवश्यक कार्य-भार है कि कला-कर्म और साहित्यिक सृजन के क्षेत्र में जो कुछ भी नया तत्व उदित हो रहा है, उसका मूल प्रेरक कौन है? संस्कृति के क्षेत्र की हर क्रियाशीलता के पीछे विशिष्ट सामाजिक-आर्थिक संरचना के क्षेत्र का गतिमान संसार अपनी भूमिका अवश्य ही निभा रहा होता है। मसलन, आज अमेरिका के नेतृत्व में साम्राज्यवाद अथवा विश्व पूँजीवाद भारत जैसे नव-स्वाधीन तथा विकासशील देश की संस्कृति को किस प्रकार प्रभावित कर रहा है?

केंद्रीय सरकार शासक वर्ग की पार्टियों, ऊँचे ओहदे पर बैटे अफसरों, उच्च मध्य वर्ग तथा मीडिया के द्वारा वैश्वीकरण और निजीकरण को आज हर समस्या के समाधान के लिए नुस्खे के रूप में पेश किया जा रहा है। इस वैश्वीकरण के तहत विश्व पूँजीवादी बाज़ार से आने वाले सांस्कृतिक माल, जिस और उपभोग के तमाम साधनों का प्रवाह भारत के बाजार से एकमेक हो गया है। इन मालों का उत्पादन करने वाली बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का भारत के सांस्कृतिक बाज़ार में इजारा कायम हो चुका है। फिल्म, टेलीविजन, कंप्यूटर, सी-डी रोम, न्यूज एजेंसीज़ आदि के उदाहरणों से उल्लिखित रूझान स्पष्ट रूप में सामने प्रकट हो जाता है। सांस्कृतिक उपभोक्ता मालों के बाज़ार पर यह इजारेदारी एक ओर स्वदेशी नैसर्गिक प्रतिभा और स्थानीय सृजनशीलता का कुटिंत करती है, दूसरी ओर सांस्कृतिक उत्पादों के मानकीकरण की आड में संस्कृति की समरूपता थोपती है और अंग्रजी पर निर्भरता को बढ़ाती जाती है। मास कल्चर के उपभोक्ता मालों के उत्पादन का यह अभियान चाहे अंग्रेजी में हो या पंजाबी में, हिंदी में हो या तमिल में - वस्तुतः सांस्कृतिक वैविध्य और जातीय समुदाय के प्रयत्नों को निषिद्ध करता है।

22.8 मार्क्सवादी समालोचना का सृजनात्मक विकास

साहित्य और कला का विवेचन-विश्लेषण करने वाली मार्क्सवादी समालोचना केवल मार्क्स-एंगेल्स की उक्तियों और टिप्पणियों तक सीमित नहीं है। इसे विकसित और पल्लवित करने में प्लेखानांव, लेनिन, लुनचार्स्की, माओ त्से तुंग और ग्राम्शी का भी भारी योगदान माना जाता है। मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र तथा समाजवादी यथार्थवाद की सैद्धातिक विवेचना के साथ-साथ व्यवहारिक संहिता ने भी इन लोगों की रचनाओं का अपरिमित महत्व है।

चूँकि मार्क्सवादी साहित्यिक समोलोचना का विकास विश्व स्तर पर पिछले 150 वर्षों में लगातार होता रहा है, अतः किसी एक भाषा की संवृत्ति (फेनोमेन) के रूप में इसकी पहचान सीमित नहीं है।

मार्क्सवादी समालोचना को विकसित और पल्लवित करने में मैक्सिम गोर्की के योगदान को अविस्मरणीय और शिक्षाप्रद इसलिए माना जाता है कि उन्होंने जारशाही के जमाने के रूस में एक ओर जहाँ नाटक, कहानी, उपन्यास आदि लिखें, वहीं समालोचनात्मक टिप्पणियाँ भी लिखीं। समाजवादी क्रांति को सम्पन्न करने तथा समाजवादी क्रांति के बाद समाजवादी सोवियत संघ के नव-निर्माण के दौरान भी उन्होंने सृजनात्मक तथा समालोचनात्मक दोनों प्रकार के लेखन के रूसी साहित्य को समृद्ध किया। 'व्यक्तित्व का विघटन' नामक गोर्की का एक निबंध संग्रह हिंदी में उपलब्ध है।

1975 में अंग्रेज़ी साहित्य के एक बड़े समालोचक डॉ. डैविड क्रैग ने पेंगुइन बुक्स प्रकाशन संस्थान के लिए मार्क्सवादी समालोचना की प्रतिनिधि कृतियों के एक संकलन का संपादन किया था। इस संकलन के प्रकाशन के पहले 1969 में ही सोवियत समीक्षकों और कला-चिंतकों की प्रतिनिधि रचनाओं का एक संकलन मास्को से प्रोग्रेस पब्लिशर्स ने छापा था। फिर 1977 में एक सोवयित सौंदर्यशास्त्री एवनर जीस की पुस्तक 'फाउन्डेशन्स ऑफ मार्किस्ट ऐस्थेटिक्स' का प्रकाशन हुआ था। इसी श्रृंखला के अंतर्गत मुख्यतः साहित्य पर केंद्रित एक प्रसिद्ध रूसी समालोचक एम.ख्रेपचेंको के निबंधों का संग्रह 1977 में 'द राइटर्स क्रिएटिव इन्डिविजुएलिटी एंड द डिवलपमेंट ऑफ लिटरेचर' नाम से जब प्रकाशित हुआ तो विश्व-स्तर पर उसकी खूब चर्चा हुई।

मार्क्सवादी साहित्यिक समालोचना के क्षेत्र में क्लासिक महत्व के विश्व-प्रसिद्ध समीक्षकों में क्रिस्टोफर कॉडवेल, राल्फ फाक्स, जार्ज थाम्पसन, जार्ज लुकाच, अर्नेस्ट फिशर वाल्टर बेंजामिन, आर्नल्ड केटल, लू-शन, बर्तोल्त बेख्त, रेमण्ड विलियम्स, जी.एम.मैथ्यूज, जैके मिशेले, डेविल क्रैग आदि की गणना

होती है। अगर विश्व-स्तर के मार्क्सवादी समीक्षकों के नाम गिनाए जाएँ तो ये नाम हज़ारों में होंगे। हिंदी में यह पूरा साहित्य उपलब्ध नहीं है। अंग्रेज़ी में भी बहुत थोड़ा प्रकाशित हुआ है।

पर हिंदी पाठकों के लिए आसानी से सुलभ कुछ पुस्तकें ऐसी हैं, जिनका अध्ययन किसी भी सतर्क पाठक के लिए आवश्यक है। ऐसी पुस्तकों में मार्क्स-एंगेल्स द्वारा लिखित टिप्पणियों का संग्रह 'साहित्य तथा कला' नाम से प्रगति प्रकाशन, मास्को ने 1981 में छापा था। इसके अतिरिक्त, क्रिस्टोफर कॉडवेल की पुस्तक 'विभ्रम तथा यथार्थ', अर्नेस्ट फिशर की पुस्तक 'कला की ज़रूरत', राल्फ फाक्स की रचना 'उपन्यास तथा लोक जीवन' आपके लिए पठनीय है।

22.9 हिंदी में मार्क्सवादी समालोचना

हिंदी में मार्क्सवादी साहित्यिक समालोचना ने ठोस ऐतिहासिक परिस्थितियों में अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व धारण कर लिया है। इसीलिए उसकी एक भिन्न संज्ञा प्रचलित हो गई है। उसे प्रगतिशील आलोचना का नाम दिया जाता है। कुछ लोग इसे प्रगतिशील-जनवादी समालोचना कहना ज्यादा पसंद करते हैं। विशुद्ध रूप से मार्क्सवाद पर आधारित एक स्वतंत्र समीक्षा प्रणाली के रूप में इसका आरंभ नहीं हुआ।

1930 के आसपास जब राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन की अंतर्धाराओं के रूप में किसान आंदोलन, मज़दूर आंदोलन, छात्र आंदोलन, युवा आंदोलन, क्रांतिकारी देश-भक्ति के नेतृत्व वाले सशस्त्र आंदोलन आदि ज़ोर पकड़ने लगे तो साहित्य, कला, दर्शन और चिंतन के क्षेत्र में भी नई प्रवृत्तियाँ प्रकट हुईं। ऐसी ही एक प्रवृत्ति के तौर पर साहित्य में यथार्थवादी चित्रण-अंकन का दौर सामने आया। स्वयं छायावादी, आदर्शवादी, सुधारवादी रचनाकारों ने अपने पुराने संस्कारों और रचनात्मक तौर-तरीकों से छुटकारा पाने का प्रयास आरंभ किया। सृजनात्मक लेखन के क्षेत्र में आविर्भूत इस नई यथार्थवादी प्रवृत्ति के साथ-साथ पत्रकारों, युवा समीक्षकों, सौंदर्यशास्त्रियों तथा कला-चिंतकों की नई पीढ़ी का अभ्युदय 1930) के आसपास वैचारिक आलोड़न उत्पन्न करने लगा। इस दृष्टि से राधा मोहन गोकुल जी, राहुल सांकृत्यायन, गणेश शंकर विद्यार्थी, रामवृक्ष शर्मा बेनीपुरी, अख्तर हुसैन रायपुरी, शिवदान सिंह चौहान, प्रकाशचन्द्र गुप्त आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। अप्रैल, 1933 के 'विश्वमित्र' (कलकत्ता) में 'साहित्य और क्रांति' शीर्षक एक लेख प्रकाशित हुआ जिसके लेखक अख्तर हुसैन रायपुरी थे। यह उल्लेखनीय है कि रायपुरी मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन, ट्राटस्की और रस्किन - सबके विचारों का घालमेल जरूर करते थे, किंतु इस सबके बावजूद सामाजिक क्रांति के युगांतरकारी बोध और तर्क-वितर्क से लैस उनका लेख विचारोत्तेजक हो उठा था। इलाचन्द्र जोशी जन-साधारण के जीवन-स्पंदनों के यथार्थ से साहित्य को बचाना चाहते थे, अतः अख्तर हुसैन रायपुरी के आह्वान का विरोध करते हुए उन्होंने व्यंग्योक्तियों से भरपूर अपना जवाब छपवाया :

> 'इस बार जब मेरे मित्र श्री अख्तर हुसैन रायपुरी ने लेनिन जैसे विश्व क्रांतिकारी महानायक की साहित्यिक महावाणी का लंबा-चौड़ा उद्धरण देकर 'साहित्य और क्रांति' के शीर्षक से एक लेख लिखकर साहित्य की समस्त प्राचीन तथा अर्वाचीन परिभाषाओं को ठुकराकर नवीन युग की अभिनूतन विचारधारा के विद्रोहात्मक प्रवेग से मुझे भयभीत कर दिया तो अपने भय के भूत को भगाने के संबंध में मुझे लिखने को बाध्य होना पड़ा।' (साहित्य सर्जना, छात्र हितकारी पुस्तकालय, प्रयाग, तृतीय संस्करण, 1947)

1930 के बाद हर स्तर पर बड़ी तेज़ी से परिवर्तन हो रहा था। भारत के मुक्ति संग्राम का यह नया उभार साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में भी नए प्रश्न उपस्थित कर रहा था। मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन, ट्राटस्की, मैक्सिम गोर्की, कॉडवेल, राल्फ फाक्स आदि का साहित्य ब्रिटिश खुफिया पुलिस की नज़रों से बचाकर वितरित किया जा रहा था। समाजवाद और मार्क्सवाद की चर्चा को भगत सिंह की शहादत तथा भगत सिंह के स्वयं के लिखे निबंधों तथा वक्तव्यों से पर्याप्त बल मिला था। ठीक इसी मौके पर 1934 में 'विशाल भारत' नामक पत्रिका (कलकत्ता) के माध्यम से बनारसीदास चतुर्वेदी ने एक परिसंवाद आरंभ किया - 'कस्मै देवाय - साहित्य किस देवता के नाम संबोधित हो? कुछ दिनों पहले निबंध की साहित्यिक विधा के क्षेत्र में युगांतरकारी महत्व का प्रश्न उपस्थित करने वाले सरदार पूर्ण सिंह सौंदर्य का नया अर्थ बता चुके थे। 'मज़दूरी और प्रेम' शीर्षक निबंध वस्तुतः एक जनवादी-प्रगतिशील सौंदर्यबोध का घोषणा-पत्र था। इस निबंध की सीमा सिर्फ इतनी थी कि लेखक मानववादी आदर्शों की शब्दावली की सीमा नहीं लाँघता। प्रेमचंद द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के प्रवक्ता बनकर तो नहीं आते, पर यथार्थवाद, वर्ग-संघर्ष, राष्ट्रीय स्वाधीनता और जनवाद का मुखर समर्थन करते हुए नए

सौंदर्यबोध का निर्णायक प्रश्न बहस के बीच ले आते हैं। उल्लेखनीय है कि प्रगतिशील लेखक संघ के पहले अधिवेशन (लखनऊ, 1936) के सभापति-पद से बोलते हुए उन्होंने जीवन में और साहित्य में सौंदर्य के नए प्रतिमान का सवाल बड़े ज़ोर-शोर से उठाया -

> हमें सुंदरता की कसौटी बदलनी होगी। अभी तक यह कसौटी अमीरी और विलासिता के ढंग की थी। हमारा कलाकार अमीरों का पल्ला पकड़े रहना चाहता था, उन्हीं की कद्रदानी पर उसका अस्तित्व अवलंबित था और उन्हीं के सुख-दुःख, आशा-निराशा, प्रतियोगिता और प्रतिद्वंद्विता की व्याख्या कला का उद्देश्य था। उसकी निगाह अंतःपुर और बंगलों की ओर उठती थी। झोंपड़े और खंडहर उसके ध्यान के अधिकारी न थे। उन्हें वह मनुष्यता की परिधि के बाहर समझता था। कभी इसकी चर्चा करता भी था, तो इसका मजाक उड़ाने के लिए। ग्रामवासी की देहाती वेशभूषा और तौर-तरीके पर हँसने के लिए, उसका शीन-काफ़ दुरुस्त न होना या मुहाविरों का गलत उपयोग उसके व्यंग्य-विद्रूप की स्थायी सामग्री थी। वह भी मनुष्य है, उसका भी हृदय है और उसमें भी आकांक्षाएँ हैं, यह कला की कल्पना के बाहर की बात थी।' (प्रेमचंद रचनावली, खंड-7, पृ. 495-511)

अपने इसी भाषण के अगले हिस्से में प्रेमचंद ने 'जीवन-संग्राम में सौंदर्य के उत्कर्ष' को देखने की नई दृष्टि को प्रस्तावित किया था।

1930 से 1940 के बीच हिंदी आलोचना के प्रस्थान-बिंदुओं को बदलने के संघर्ष में सृजनशील लेखकों ने बहुत बड़ी भूमिका निभाई। गर्मी की तपती दोहपरी में पत्थर तोड़ने वाली औरत की श्रमशीलता में सौंदर्य देखने की दृष्टि निराला की ओर से सामने लाई गई। 'काव्य, कला तथा अन्य निबंध' में जयशंकर प्रसाद की ओर से अकिंचन तथा लघु लोगों के जीवन पर दृष्टिपात करने वाली कला की व्याख्या की गई और 'यथार्थवाद' का प्रतिपादन किया गया। 'ग्राम्या' में पंत ने ग्राम जीवन के धूल भरे मैले से आँचल में लिपटी भारत माता की उदास प्रतिमा का चित्र प्रस्तुत कर उक्त नए सौंदर्य-बोध की ही पुष्टि की।

स्वतःस्फूर्त रूप में नयी आलोचना-दृष्टि के उद्‌भव की पृष्ठभूमि तैयार हो रही थी। वैचारिक द्वंद्व और मंथन की आवश्यकता थी। ऐसे मौके पर ही शिवदान सिंह चौहान, रामविलास शर्मा, प्रकाशचन्द्र गुप्त, अमृतराय, रामेश्वर शर्मा और चन्द्रबली सिंह जैसे मार्क्सवादी आलोचकों की पहली पीढ़ी हिंदी समीक्षा के क्षेत्र में सामने आई। इस पहली पीढ़ी के आलोचकों के आगे ठोस रूप में यथार्थवाद, रोमांटिसिज़्म तथा अतीत के क्लासिक मूल्य के साहित्य की विवेचना की समस्या अत्यंत गंभीर रूप में चुनौती उपस्थित कर रही थी। उल्लेखनीय है कि लगभग इन्हीं प्रश्नों से आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जूझ रहे थे और महावीर प्रसाद द्विवेदी जूझ चुके थे क्योंकि रस सिद्धांत, अलंकारवाद, चमत्कारवाद, नायक-नायिका भेद, दरबारी काव्य-परंपरा आदि के रूप में सामंती सौंदर्य मूल्य के विरुद्ध संघर्ष दरपेश था। उल्लेखनीय है कि इसी के साथ पूँजीवादी व्यक्तिवाद भी धीरे-धीरे क्रोचे के सौंदर्यशास्त्र के बहाने ताल ठोंक कर खड़ा हो रहा था। आलोचना की नयी कसौटी बनाने में मार्क्सवादी आलोचकों ने उपर्युक्त अंतर्विरोधों के बीच ही अपने दायित्व का निर्वाह किया है। पिछले 70 वर्षों के अंदर हिंदी की मार्क्सवादी आलोचना दो स्तरों पर समृद्ध होती रही है - (1) प्रगतिशील रचनाकर्मियों के आलोचनात्मक अवदान; तथा (2) प्रगतिशील समालोचकों के कृतित्व द्वारा।

मार्क्सवादी आलोचकों की दूसरी पीढ़ी में नामवर सिंह, शिव कुमार मिश्र, ओमप्रकाश ग्रेवाल, सुरेन्द्र चौधरी, कुँवर पाल सिंह, चन्द्रभूषण तिवारी, दूधनाथ सिंह, आनंद प्रकाश, मैनेजर पाण्डेय, विश्वनाथ त्रिपाठी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

आज मार्क्सवादी आलोचना एक विराट परिप्रेक्ष्य में संस्कृति-समीक्षा का स्वरूप ग्रहण कर रही है और उसके अंदर वाद-विवाद-संवाद की अनेक अंतर्धाराएँ हैं।

अपने अतीत या अपनी परंपरा का मूल्यांकन कैसे करना चाहिए, रचनाकार के युग के द्वंद्व के संदर्भों से रचना की अंतर्भूमियों की पहचान किस प्रकार करनी चाहिए, वस्तु और रूप-विधान के बीच के द्वंद्वात्मक रिश्ते की पड़ताल किस तरह करनी चाहिए, सकारात्मक और नकारात्मक तत्वों में फर्क किस प्रकार करना चाहिए, युग के सक्रिय प्रतिबिम्बन तथा रचनाकार की प्रतिभा के अंतःसंबंधों की छानबीन का क्या तरीका हो सकता है - इस तरह के सभी प्रश्नों पर मार्क्सवादी आलोचकों ने विस्तार से विचार

किया है। इसे पूरी तरह आत्मसात करने के लिए मार्क्सवादी आलोचकों की आलोचना कृतियों का अध्ययन आवश्यक है। उदाहरण के रूप में कुछ पुस्तकों का नाम गिनाना पर्याप्त नहीं है।

अंत में आपको **मार्क्सवादी आलोचना के कुछ प्रमुख सूत्रों** से अवगत कराना आवश्यक है ताकि अन्य आलोचना पद्धतियों से उसके पार्थक्य को आसानी से समझा जा सके। वे सूत्र इस प्रकार हैं -

1. **हर चीज़ को एक गतिमान प्रक्रिया के अंश के रूप में देखना चाहिए।**
2. **हर चीज़ के अंदर विकासशील और मरणशील, सकारात्मक और नकारात्मक, पुराना और नया - दो प्रकार के तत्व अवश्य होते हैं। अतः हर सामाजिक संवृत्ति तथा उसके परिणामों के अंदर मौजूद अंतर्विरोधों को समझना आवश्यक है।**
3. **हर चीज़ - चाहे वह कलाकृति या सौंदर्य मूल्य ही क्यों न हो - अपने परिवेश तथा व्यापक संदर्भों से जुड़ी होती है - कोई भी साहित्यिक प्रवृत्ति कटी हुई पतंग की तरह निरपेक्ष नहीं होती। अतः साहित्य का मूल्यांकन सापेक्ष संदर्भों में ही करना चाहिए।**

यहाँ कुछेक सूत्रों का ही उल्लेख किया गया है। दरअसल बात यह है कि मार्क्सवादी आलोचक आलोचना को विचारधारा की एक इकाई, विचारधारात्मक संघर्ष का एक अस्त्र और वैज्ञानिक विश्व दृष्टिकोण को प्रतिष्ठित करने का एक साधन समझते हैं। अतः इसका विकास कभी अवरुद्ध नहीं होता, क्योंकि संघर्ष आज भी जारी है।

22.10 सारांश

प्रस्तुत इकाई में आपने वैज्ञानिक विश्व दृष्टिकोण और द्वंद्वात्मक भौतिकवाद की जानकारी प्राप्त की। अब आप मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र के विषय में जान गए हैं। इतिहास की भौतिकवादी अवधारणा और मार्क्सवादी आलोचना के विषय में अब आप न केवल चर्चा कर सकते हैं बल्कि उसके विकास की संक्षिप्त जानकारी भी दे सकते हैं। पूँजीपति वर्ग और वैश्वीकरण का परिचय भी आपने इस इकाई में प्राप्त किया है।

22.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें

बी.क्रिलोव (संपादक) **साहित्य तथा कला** (मार्क्स-एंगेल्स की टिप्पणियों का संकलन), प्रगति प्रकाशन, मॉस्को।

अर्नेस्ट फिशर, **कला की ज़रूरत (नैसेसिटी ऑफ आर्ट का हिंदी अनुवाद)**, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।

कॉडवेल, **विभ्रम तथा यथार्थ (इल्यूज़न एंड रिएलिटी का हिंदी अनुवाद)**, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।

राल्फ फाक्स, उपन्यास और लोक जीवन, (हिंदी अनुवाद), पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।

साहित्य और सौंदर्यशास्त्र, साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली।

22.12 अभ्यास के लिए प्रश्न

1. द्वंद्वात्मक भौतिकवाद को स्पष्ट करते हुए मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र का परिचय दीजिए।
2. आधार और अधिरचना का विवेचन करते हुए इतिहास की भौतिकवादी अवधारणा पर प्रकाश डालिए।
3. टिप्पणियाँ लिखिए :
   (क) कला का उद्गम
   (ख) उपन्यास की कला
   (ग) हिंदी में मार्क्सवादी समालोचना

इकाई 23 साहित्य चिंतन के विविध वाद

इकाई की रूपरेखा

23.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- बता सकेंगे कि पश्चिमी साहित्य चिंतन के विभिन्न 'वादों' का आरंभ तथा विकास कैसे हुआ
- इन 'वादों' की प्रमुख प्रवृत्तियों और मान्यताओं की जानकारी दे सकेंगे; और
- इनके महत्व, सीमाओं और संभावनाओं की चर्चा कर सकेंगे।

23.1 प्रस्तावना

पाश्चात्य साहित्यशास्त्र के अध्ययन के क्रम में आपने उन विभिन्न चिंतन सरणियों का अध्ययन किया जिन्होंने पश्चिम में साहित्य-सृजन तथा साहित्यालोचन की दृष्टियों को प्रभावित किया है। साहित्य

सिद्धांत से सम्बद्ध उन प्रमुख वादों का अध्ययन भी आपने किया जो एक ओर कुछ विशिष्ट चिंतन धाराओं से प्रभावित रहे हैं और दूसरी ओर जिन्होंने अपने युग के तमाम सोच और साहित्य को भी प्रभावित किया। इसके अतिरिक्त, आने वाले युगों पर भी उनका गहरा प्रभाव रहा।

इन प्रमुख वादों के अतिरिक्त समय-समय पर कला तथा साहित्य के क्षेत्र में अनेक वादों, विचारधाराओं तथा आंदोलनों का उद्भव तथा विलय होता रहा। इनमें से अधिकतर का कोई स्थायी महत्व नहीं था, लेकिन कुछ वाद ऐसे थे जिन्होंने अपने समय के साहित्य जगत को बड़ी गहराई से प्रभावित किया। यथार्थवाद, कलावाद, प्रतीकवाद आदि इसी प्रकार के सिद्धांत हैं।

यहाँ एक और बात का ध्यान रखें। किसी भी सिद्धांत के अंतर्गत कई विचारक-रचनाकार आते हैं। किंतु उनमें से कोई भी सिर्फ़ एक ही सिद्धांत से जुड़ा हो, यह ज़रूरी नहीं है। उदाहरण के लिए, कई रचनाकार यथार्थवाद के साथ ही अतियथार्थवाद से भी जुड़े हैं या प्रतीकवाद के साथ ही कलावाद से भी जुड़े हैं।

इसी प्रकार, जब सिद्धांतों की बात होती है तो यह आवश्यक नहीं कि उससे जुड़े सभी लोगों के विचारों में एकरूपता हो। एक ही सिद्धांत के अंतर्गत आने वाले विचारकों में मुख्य मुद्दों पर मतैक्य होते हुए भी कुछ बातों में मत-वैभिन्य हो सकता है।

इस इकाई में हम इस प्रकार के कुछ प्रमुख वादों तथा विचारधाराओं पर बात करेंगे। ये हैं - यथार्थवाद, अतियथार्थवाद, आदर्शवाद, प्रतीकवाद, बिंबवाद, कलावाद और अस्तित्ववाद। इनमें से कुछ तो सिद्धांत भी नहीं, केवल विचारधारा या आंदोलन मात्र कहे जा सकते हैं। किंतु अपने समय के रचना-कर्म पर उनका बहुत गहरा प्रभाव रहा और अपने बाद वाले युग की प्रवृत्तियों को भी उन्होंने काफी प्रभावित किया। इसलिए साहित्य सिद्धांत संबंधी चर्चा में उनका उल्लेख जरूरी है।

आइए, अब हम कुछ उन वादों तथा आंदोलनों पर विचार करें जिन्होंने पिछली एक सदी के साहित्य (और कला) संबंधी सोच को प्रभावित किया है।

23.2 यथार्थवाद

साहित्यिक आंदोलन के रूप में यथार्थवाद की पहचान 19वीं सदी में बनी किंतु दार्शनिक सिद्धांत के रूप में यह अवधारणा पाश्चात्य दर्शन के आरंभिक काल से मौजूद है। प्रत्ययवाद (Idealism) में अमूर्त अवधारणाओं को सत्य माना गया था और बाह्य इन्द्रिय-गोचर जगत तथा पदार्थों को या तो उस सत्य का अनुकरण या उसकी छाया माना गया, या फिर उन्हें सत्य से दूर ही समझा गया। इसके विपरीत, **यथार्थवाद इन्द्रिय-गोचर जगत तथा पदार्थों को सत्य मानता है।** इसके अनुसार, बाह्य जगत में स्थित वस्तुओं - कुर्सी, मेज़ आदि - का अपना स्वतंत्र अस्तित्व है। हम अपनी इंद्रियों के माध्यम से उन्हें जानते हैं किंतु उनका अस्तित्व हमारे देखने या जानने से जुड़ा नहीं है। हम उन्हें न जानें तब भी वे वस्तुएँ रहेंगी। अर्थात्, यथार्थवाद समय तथा स्थान को, वस्तु-जगत के सत्य को, यथार्थ मानता है - परम चैतन्य ईश्वर या मानव की चेतना में स्थित प्रत्यय का प्रतिबिंब मात्र नहीं।

साहित्य तथा कला में भी यथार्थवाद स्वच्छंदतावाद के अतिरेक की प्रतिक्रिया में उभरा। **स्वच्छंदतावाद की अत्यधिक वैयक्तिकता, आत्मपरकता, अमूर्त भावनाओं तथा रहस्यवाद से जुड़ाव आदि के विपरीत यथार्थवाद दैनिक जीवन की साधारण घटनाओं और सामान्य मानव व्यवहार के यथातथ्य अंकन पर बल देता है।** रहस्य, रोमांच तथा कल्पना की उड़ान का यह विरोध करता है क्योंकि ये सब हमें यथार्थ जगत के तथ्यों से दूर ले जाते हैं। ज़ाहिर है, इसीलिए साहित्य में यथार्थवाद का प्रभाव कविता से अधिक गद्य के क्षेत्र में दिखाई देता है, वह भी उपन्यास के क्षेत्र में, जहाँ जीवन के विविध पक्षों का ज्यों का त्यों चित्रण किया जाता है, या किया जा सकता है। हिंदी साहित्य के संदर्भ में देखें तो छायावाद के बाद उभरी प्रगतिवादी दृष्टि को हम यथार्थवाद का उदाहरण मान सकते हैं। वस्तुतः पूरा प्रगतिशील साहित्य ही मूलतः यथार्थवादी है जैसा आप यथार्थवाद की विशेषताओं के विवेचन के दौरान देख सकेंगे।

23.2.1 उद्भव और विकास

यथार्थवाद की प्रवृत्ति बहुत पुरानी है - यह पहले ही कहा जा चुका है। दर्शन के स्तर पर जहाँ भी वस्तु-जगत को सत्य माना गया है और कला एवं साहित्य के स्तर पर जहाँ भी अतींद्रियता, अमूर्तता

तथा ललित कल्पना का बहिष्कार करके जीवन तथ वस्तु-जगत के प्रत्यक्ष इन्द्रिय-गोचर रूप के यथातथ्य चित्रण पर बल दिया गया है, वहीं यथार्थवाद की प्रवृत्ति स्पष्ट है। किंतु एक सौंदर्यशास्त्रीय आंदोलन के रूप में यह 19वीं सदी में उभरा और इसका प्रभाव साहित्य ही नहीं, चित्रकला तथा मूर्तिकला पर भी पड़ा।

अन्य आंदोलनों की तरह ही इस आंदोलन के पीछे भी समय की शक्तियाँ काम कर रही थीं। एक तो इसपर पिछली सदी के **अनुभववादी (Empirical) दर्शन का प्रभाव** था जो मानव चेतना में स्थित किसी शक्ति को नहीं बल्कि वस्तु-जगत के यथार्थ अनुभव को ही ज्ञान का स्रोत मानता है। यूरोप में उस समय दर्शन में तर्कबुद्धिवाद (Rationalism) का भी विकास हो रहा था जो सत्य की पहचान के लिए वस्तु-जगत में सिद्ध हो सकने वाले तर्क को प्रमाण मानता था, मनुष्य की अंतःप्रज्ञा (Intuition) या अमूर्त अनुभूतियों को नहीं।

वह वैज्ञानिक प्रगति तथा नए आविष्कारों का युग था। सृष्टि की रचना के रहस्य खुलने लगे थे और अब इससे सम्बद्ध अनेक बातों को तर्क और तथ्य के माध्यम से समझा जा सकता था, देखा और जाना जा सकता था। उन बातों से जुड़ा रहस्य भाव तथा रोमान नष्ट होने लगा था। इससे वस्तुपरकता की प्रवृत्ति को और बल मिल रहा था।

समाज के स्तर पर यूरोप में मध्यवर्ग अब पूरी तरह स्थापित हो चुका था और लोकतंत्र के प्रसार के साथ समाज और राजनीति में उसका वर्चस्व बढ़ने लगा था। साहित्य के पाठकों में भी मध्य तथा निम्न-मध्य वर्ग के लोगों की संख्या बढ़ने लगी। इस तथ्य ने साहित्य के स्वरूप को दो प्रकार से प्रभावित किया। एक तो इस वर्ग को साहित्य में अपने जीवन की झलक अधिक आकर्षित करती थी। दूसरी बात यह कि इन पाठकों में अधिकतर अल्प-शिक्षित थे और अमूर्त दार्शनिक तथा वायवीय कल्पना-सम्पन्न साहित्य की अपेक्षा सीधा-सादा तथ्यपरक साहित्य इन्हें अधिक समझ में आता था और उसी से ये अधिक तादात्म्य स्थापित कर पाते थे। यह केवल संयोग नहीं है कि साहित्य में यथार्थवाद का और उपन्यास विधा का प्रसार लगभग साथ-साथ ही हुआ और उपन्यास ही इस प्रवृत्ति का सबसे सबल तथा लोकप्रिय वाहक बना।

साहित्य तथा कला में यथार्थवादी आंदोलन का स्पष्ट रूप से उदय पहले पहल फ्रांस तथा रूस में हुआ और 19वीं सदी के मध्य तक पूरे यूरोप के लेखन में यह प्रवृत्ति दिखाई देने लगी। इसने सर्जनात्मक लेखन को ही नहीं, आलोचना को भी प्रभावित किया। लेखन में, उपन्यासों में इसका प्रभाव सबसे अधिक स्पष्ट दिखाई देता है। यह प्रवृत्ति सबसे पहले स्तांदाल तथा बालज़ाक के लेखन में स्पष्ट हुई। इसमें स्वच्छंदतावादियों के अस्पष्ट आवेश तथा भावाकुलता के विपरीत, दैनिक जीवन की सामान्य क्रियाओं तथा तथ्यों का अंकन हुआ और उनके माध्यम से व्यक्ति तथा समाज के यथार्थ पर प्रकाश डाला गया। रूस में गोगोल से लेकर तुर्गनेव, दोस्तोयेव्स्की, तोलस्तोय, कुप्रिन, गोर्की और चेखव की रचनाओं - उपन्यासों, कहानियों और नाटकों - में मानव जीवन का यथार्थ अभिलेख प्रस्तुत हुआ। इंगलैंड में पिछली सदी के जॉर्ज गिसिंग तथा जॉर्ज मूर से आरंभ होकर बीसवीं सदी के आर्नल्ड बेनेट, सॉमरसेट मॉम तथा जॉन गॉल्सवर्दी तक यथार्थवादी उपन्यासकारों की एक परम्परा रही है जिसमें रचनाकार तमाम बहिरंग प्रयोजनों को परे करके जीवन के यथार्थ चित्रण को ही अपना उद्देश्य बनाते रहे हैं। हिंदी में प्रेमचंद तथा उनके समानधर्मी रचनाकारों में, और फिर प्रगतिवादी आंदोलन से जुड़े लेखन में आपको यह प्रवृत्ति दिखाई देगी। साहित्यतिक आलोचना में यथार्थवादी प्रवृत्ति को बढ़ावा देने वाले विचारकों में 19वीं सदी के बेलिंस्की, चेर्निशेव्स्की, मैथ्यू आर्नल्ड आदि का नाम लिया जा सकता है।

जैसा कि आपने अन्य साहित्यिक प्रवृत्तियों के प्रसंग में भी देखा होगा, यथार्थवाद भी क्रमशः अतिवाद का शिकार होने लगा और इसमें क्रमशः नग्न यथार्थ तथा जीवन और समाज की सिर्फ़ कुरूपता के चित्रण की प्रवृत्ति हावी होने लगी। फ्रांस के एमिल ज़ोला तथा गुस्ताव फ्लॉबेयर तथा रूस के अलेक्सांद्र कुप्रिन की रचनाओं में यह प्रवृत्ति बहुत स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। इस अतिवाद के चलते यथार्थवाद अतियथार्थवाद और फिर प्रकृतवाद में तबदील हो गया, हालाँकि विशुद्ध यथार्थवादी प्रवृत्ति आज भी साहित्य से बिल्कुल लुप्त नहीं हुई है।

23.2.2 प्रमुख प्रवृत्तियाँ तथा मान्यताएँ

पिछले अनुभागों में यथार्थवाद के सिद्धांत की मूल प्रवृत्तियों का रूप आपके सामने स्पष्ट हो गया होगा। यहाँ हम इसकी कुछ सामान्य प्रवृत्तियों पर बात करेंगे।

1. **रोमांस का बहिष्कार** : साहित्य तथा कला में आदर्शवाद तथा रोमांस का तात्पर्य आप समझते हैं? आदर्शवादी रचनाकार वस्तुओं तथा स्थितियों का चित्रण उस रूप में नहीं करता जैसी कि वे हैं, बल्कि उस रूप में करता है जैसी कि उसके मत में उन्हें होना चाहिए। उसका उद्देश्य वस्तु-सत्य का चित्रण नहीं बल्कि सत्य और सौंदर्य के मूल्यों की प्रतिष्ठा करना होता है। रोमांसवादी रचनाकार भी दैनिक जीवन के यथार्थ का सीधा-सीधा चित्रण करने के स्थान पर सौंदर्य, प्रेम और वीरता के भावों का अनोखा और अतिरंजनापूर्ण चित्रण करते हैं जिसमें कल्पना की प्रधानता होती है और प्रायः रहस्य भाव का भी स्पर्श होता है। हिंदी में देवकीनंदन खत्री के तिलस्मी उपन्यासों ('चन्द्रकान्ता', 'भूतनाथ' आदि) में आपको यह प्रवृत्ति विशेष रूप से दिखाई देगी।

   यथार्थवाद ने आदर्शवाद और रोमांस की इन तमाम प्रवृत्तियों का बहिष्कार करते हुए अपने युग तथा समाज की सच्चाइयों को ज्यों का त्यों प्रस्तुत करने को ही साहित्य तथा कला का उद्देश्य माना। प्रमुख यथार्थवादी रचनाकारों - मोपासाँ (फ्रांस) तथा चेखव (रूस) - का स्पष्ट मत था कि लेखक को नीति तथा सौंदर्य के बारे में तथ्यों का चुनाव मन में पहले से स्थित विचारों के आधार पर नहीं करना चाहिए बल्कि तटस्थ तथा वस्तुपरक भाव से अपनी बातें सामने रखनी चाहिए। कथा-साहित्य को विज्ञान की पद्धति अपनानी चाहिए। लेखक को बारीकी से परिश्रमपूर्वक शोध करना चाहिए, अपने चारों ओर जो इन्सानी दस्तावेज़ बिखरे हैं, उनका तटस्थ वैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन करना चाहिए और उन्हें ज्यों का त्यों साहित्य में प्रस्तुत करना चाहिए। इसमें कल्पना और रोमान की कहीं गुंजाइश नहीं है।

2. **यथातथ्यता** : व्यक्तियों तथा स्थितियों के आदर्शीकरण, अद्‌भुत तत्व और कल्पना-प्रधान वर्णनों के स्थान पर यथार्थवादियों ने सीधे-सपाट ढंग से समकालीन सामान्य जीवन को प्रस्तुत किया। कला के क्षेत्र में वे वस्तुओं का चित्रण पूर्णतः उसी रूप में करना उचित मानते थे जैसी वे बाह्य जगत में दिखाई देती हैं। रोमानी दृष्टि कल्पना के माध्यम से जिस कला का सृजन करती थी उसका बाह्य जगत से साम्य होना आवश्यक नहीं था, जैसा आप 'चन्द्रकान्ता' आदि उपन्यासों में देख सकते हैं। **यथार्थवाद के अनुसार, साहित्य तथा कला का उद्देश्य वास्तविक जीवन तथा जगत का अभिलेखन प्रस्तुत करना ही है** (जिस प्रकार प्रेमचंद का 'गोदान' करता है)।

   अद्‌भुत तथा असाधारण के विपरीत साधारणता की प्रतिष्ठा के क्रम में यह यथार्थ के ऐसे जघन्य तथा घृणास्पद रूपों के चित्रण में भी नहीं झिझकता जिन्हें अब तक साहित्य तथा कला में वर्ज्य माना जाता था क्योंकि इसके मत में मानव जीवन का उसकी संपूर्णता में चित्रण करना आवश्यक है। उसमें विषय-वस्तु के चयन का - त्याग या ग्रहण का - प्रश्न ही नहीं उठता।

3. **निर्वैयक्तिकता** : यथार्थवाद के अनुसार, यथातथ्य चित्रण करने के लिए रचनाकार को सत्यनिष्ठ होना चाहिए। इसके लिए उसे **निष्पक्ष होकर निर्वैयक्तिक भाव से तथ्यों को ग्रहण तथा प्रस्तुत करना चाहिए।** यदि वह अपने वैयक्तिक मत को प्रधानता देता है तो उसकी दृष्टि में पक्षपात या विकार आ सकता है और प्रस्तुति तब उतनी वस्तुपरक नहीं रह जाएगी। कुछ विद्वानों ने अवश्य तथ्यों के निरूपण में नैतिक दृष्टि पर बल दिया।

4. **विषय-वस्तु तथा विधा** : अब तक की चर्चा में यह बात बार-बार आपके सामने आ चुकी है कि **समकालीन जीवन, परिवेश, समस्याएँ तथा स्थितियाँ ही यथार्थवादी लेखन की विषय-वस्तु हैं।** इस विषय-वस्तु की प्रस्तुति के लिए सबसे सशक्त तथा समर्थ विधा उपन्यास ही हो सकती है क्योंकि इसी विधा में जीवन तथा जगत के वस्तुगत यथार्थ का विस्तृत तथा सूक्ष्म वर्णन संभव है। इस इकाई के पिछले अनुभाग में इस बात का उल्लेख किया गया था कि जिन स्थितियों में यथार्थवाद का उदय हुआ था, वे ही स्थितियाँ उपन्यास विधा के विकास के लिए भी कुछ सीमा तक उत्तरदायी थीं। वस्तुतः **यथार्थवादी दृष्टि की सबसे सशक्त अभिव्यक्ति उपन्यासों में ही हुई है।** भारतीय साहित्य के संदर्भ में भी आप यह बात देख सकते हैं। प्रेमचंद, यशपाल, जैनेन्द्र कुमार, फणीश्वरनाथ 'रेणु' आदि के उपन्यासों में हमारे सामाजिक, मनोवैज्ञानिक तथा आँचलिक जीवन के यथार्थ का ही स्वरूप उभरा है।

5. **कथा-विन्यास तथा शैली** : यथार्थवाद में कथा को चूँकि लेखक के उद्देश्य, उसकी दृष्टि की अभिव्यक्ति का माध्यम मात्र माना गया है। इसलिए इस धारा के अधिकांश लेखन में **कथा के सुगठन तथा विन्यास पर अधिक बल नहीं दिया गया।** यथार्थवाद का मानना है कि मानव जीवन तथा समाज जब निश्चित योजना तथा विन्यास में बँधा नहीं होता तो उसके ईमानदार अंकन में योजना का निर्वाह किस प्रकार हो सकता है। हाँ, इस धारा में फ्लॉबेयर, मोपासाँ, चेखव आदि कुछ साहित्यकार अवश्य हुए हैं जिनकी रचनाओं का रूप विधान भी सुगठित तथा चुस्त रहा है।

इन रचनाकारों ने इस बात का ध्यान रखा है कि कथ्य के वहन के लिए शैली भी उपयुक्त ही होनी चाहिए। यह अवश्य है कि **रम्य या ललित शैली के स्थान पर इन्होंने सहज-स्वाभाविक शैली और दैनिक व्यवहार की भाषा का प्रयोग किया है।**

यथार्थवादी लेखन की शैली **अधिकतर वर्णनात्मक और विवरणात्मक रही है** क्योंकि तथ्यों के सूक्ष्म तथा यथार्थ वर्णन के माध्यम से ही ये परिवेश की सृष्टि करते हैं और उस परिवेश में व्याप्त गहरे सत्यों को उजागर करते हैं। कुशल लेखकों के हाथों में यह वर्णनात्मक शैली भी सूक्ष्म व्यंजना से भर उठती है। आप प्रेमचंद का उपन्यास 'गोदान' या फणीश्वरनाथ 'रेणु' का उपन्यास 'मैला आँचल' पढ़कर देखिए। प्रकृति के, परिवेश के, जीवन शैली के, आचारों और त्योहारों के, रीति-रस्मों के कितने विशद और यथार्थ वर्णन उनमें हैं। लेकिन लेखक का कथ्य मात्र वर्णनों पर ही नहीं रुकता। इनके माध्यम से वह किसी भीतरी यथार्थ को उजागर करता है। यथार्थवादी लेखन का यही सबसे सशक्त रूप है। मोपासाँ ने भी इस बात पर बल दिया है कि आँख मूँदकर तथ्यों का चित्रण करने के स्थान पर उन्हें एक संगत रूप में ऐसे प्रस्तुत करना चाहिए कि वे किसी सत्य की अभिव्यक्ति करें।

6. **लेखन का उद्देश्य** : **यथार्थवादी लेखन का उद्देश्य पाठकों का मनोरंजन करना नहीं बल्कि समकालीन समाज तथा राजनीति की यथार्थ छवि सामने रखकर उन्हें सोचने के लिए बाध्य** करना था। इसीलिए इस लेखन में कथानक से अधिक महत्व स्थितियों और चरित्रों का रहा।

7. **रचनाकार की भूमिका** : अब तक आपके सामने यह बात स्पष्ट हो गई होगी कि यथार्थवादी सिद्धांत के अनुसार लेखक एक फ़ोटोग्राफ मात्र नहीं है जो तथ्यों को ज्यों का त्यों सामने रखकर अपना काम पूरा समझ लें। वह एक व्याख्याकार भी होता है जो सत्य को पाठकों के सामने लाता है। सामान्य रूप से इस सिद्धांत का दृष्टिकोण मानववादी तथा मानवतावादी है। **रचनाकार से इसकी यही अपेक्षा है कि वह सामान्य मानव के जीवन को प्रस्तुत करे और उसकी समस्याओं के प्रति करुणा और सहानुभूति जगाए।**

23.2.3 मूल्यांकन

साहित्य और समालोचना को अतिशय अमूर्तता, घोर आत्मपरकता, कपोल-कल्पना तथा अराजकता के घेरे से निकालने में यथार्थवाद का योगदान निर्विवाद है। साहित्य को आत्माभिव्यक्ति की परिधि से निकालकर यथार्थवाद ने उसका संबंध फिर से बाह्य जगत और मानवीय तथा सामाजिक सरोकारों से जोड़ा। किंतु इसमें यह स्वयं कुछ संकीर्णताओं का शिकार हो गया।

- बाह्य जगत के वस्तु-परक यथार्थ पर अत्यधिक बल देने के साथ ही **जीवन के आभ्यंतर यथार्थ तथा सूक्ष्म कोमल भावानुभूतियों का इसने लगभग बहिष्कार कर दिया।** इस प्रकार, एक चरम एकांगी दृष्टि के विरुद्ध प्रतिक्रिया करते हुए स्वयं इसने भी **एकांगिकता को अपना लिया।**

- मात्र बाह्य वर्णन को यथार्थ का प्रतिनिधि मानते हुए इस तथ्य को इसने भुला दिया कि **बाह्य तथ्य अपने आप में साहित्य नहीं होते।** उनके पीछे रचनाकार की जीवन दृष्टि होनी आवश्यक है जिसके आधार पर वह बाह्य तथ्यों में से कुछ को चुनता है, कुछ को छोड़ता है। वह ऐसे तथ्यों को चुनता है जो उसके कथ्य पर ध्यान केंद्रित कर सकें। अन्यथा लेखन का कोई प्रयोजन नहीं रह जाएगा और वह एक फ़ोटोग्राफिक विवरण मात्र बनकर रह जाएगा।

- बाह्य तथ्यों पर अधिक बल के कारण **यथार्थवादी साहित्य कई बार आवश्यकता से अधिक वर्णनात्मक और विवरणात्मक बनकर रह जाता है।** इससे रचना की कलात्मकता भी बाधित होती है।

- यथार्थ वर्णन के नाम पर **अनेक रचनाकारों ने जीवन के केवल कुरूप, कुत्सित तथा अश्लील यथार्थ का ही चित्रण किया है।** आत्मपरक साहित्य को एकांगी और अधूरा मानने वाले विचारकों ने इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि **यह भी अधूरा यथार्थ ही है** क्योंकि जीवन के शुभ, सुंदर तथा आनंदमय पक्षों का चित्रण यह नहीं करता।

- **अतिशय कलात्मकता का विरोध करते-करते यथार्थवाद एकदम कलाहीनता की स्थिति में चला जाता है।** शिल्प से साहित्य का रूप ही नहीं सँवरता उसकी अभिव्यक्ति-क्षमता और प्रभाव में भी वृद्धि होती है। इस तथ्य को यथार्थवादी सिद्धांत में प्रायः नज़रअंदाज़ कर दिया गया है।

ये कमज़ोरियाँ यथार्थवादी आग्रहों की हैं, किंतु श्रेष्ठ यथार्थवादी रचनाकारों ने इनसे ऊपर उठकर बाह्य यथार्थ के अंदर छिपी सच्चाइयों को भी उद्घाटित किया। अपनी रचनाओं के माध्यम से उन्होंने जीवन

का मात्र प्रस्तुतिकरण नहीं बल्कि उसकी व्याख्या भी की है। उनकी दार्शनिक या नैतिक दृष्टि के कारण उनकी कृतियों में गरिमा आई है और वे कालजयी हो सकी हैं।

23.2.4 समाहार

इस अनुभाग में यथार्थवाद के स्वरूप तथा इतिहास पर दृष्टिपात करते हुए हमने इसकी प्रमुख प्रवृत्तियों तथा मान्यताओं पर विचार किया। हमने देखा कि रम्याख्यान, अद्भुत-तत्व-प्रधान रोमानी साहित्य तथा आत्मपरक, अनुभूति-प्रधान साहित्य के विपरीत यथार्थवाद ने बाह्य जगत का यथा-तथ्य वर्णन करने वाले साहित्य पर अधिक बल दिया। यथार्थ-चित्रण के इस क्रम में वर्ण्य-विषय के चयन में औचित्य-अनौचित्य का कोई अंतर इसने नहीं माना बल्कि प्रायः जीवन के ऐसे घृणित-कुत्सित रूपों का इसने चित्रण किया जो अब तक साहित्य तो क्या सामान्य सभ्य समाज में भी उल्लेख के योग्य नहीं समझे जाते थे। विस्तृत विवरण प्रस्तुत करने पर ज़ोर देते हुए भी (कुछ अपवादों को छोड़कर) इन्होंने लेखन में कलात्मकता तथा शैली के वैचित्र्य की उपेक्षा की। रोमानी तथा स्वच्छंदतावादी साहित्य की एकांगिता का विरोध करते हुए यह सिद्धांत स्वयं विपरीत दिशा में एकांगी हो चला और यह कमज़ोरी इसके ह्रास का मुख्य कारण रही।

23.3 अतियथार्थवाद

पिछले अनुभाग (23.2) में आपने देखा कि यथार्थवाद मूल्य-निरपेक्ष भाव से यथार्थ के चित्रण को ही साहित्य तथा कला का लक्ष्य मानता है। उसके मत में यह यथार्थ कितना ही विकृत या कुरूप हो, उसे प्रस्तुत करने से हिचकना नहीं चाहिए। इसी भावना का एक दिशा में विकास बीसवीं सदी के तीसरे दशक के प्रारंभ में 'दादावाद' के रूप में हुआ और यही आगे चलकर 'अतियथार्थवाद' में परिणत हुआ।

23.3.1 उद्‌भव और विकास

किसी भी अवधारणा या सिद्धांत के उद्‌भव तथा विकास के पीछे एक वैचारिक परम्परा होती है जो विभिन्न सामाजिक-राजनीतिक-दार्शनिक परिस्थितियों के दबाव में आकर एक नया रूप ग्रहण करती है। अतियथार्थवाद के पीछे यथार्थवाद की परम्परा थी जिसने रचना के लिए नैतिकता तथा आदर्शवादिता की मान्यता को नकारा था। बीसवीं सदी के दूसरे दशक में जो पहला विश्व-युद्ध हुआ उसके त्रास और भयंकरता ने आदर्शों के खोखलेपन और जीवन की अनिश्चितता तथा सहज-भंगुरता को और अधिक उजागर किया। परिणामस्वरूप, रचनाकारों में नकारात्मकता की प्रवृत्ति और बढ़ी तथा उन्होंने रचना की रूढ़ियों का भी बहिष्कार आरंभ कर दिया। शिल्प तथा शैली ही नहीं तर्क, विवेक और संगतिपूर्ण प्रस्तुति की रूढ़ियाँ भी तोड़ी गईं। स्विटज़रलैंड में विभिन्न यूरोपीय देशों से आए युवकों का यह आंदोलन **'दादावाद'** कहलाया। फ्रांस में यह सबसे पहले मूर्ति तथा चित्रकला के क्षेत्र में अतियथार्थवाद के रूप में उभरा। आंद्रे ब्रेतों को उन्नीसवीं सदी के दूसरे दशक के अंत में उभरे इस आंदोलन का जन्मदाता माना जाता है। लुई आरागों, रेने क्रैवल, फिलिप सूपॉल आदि का भी इसके विकास में विशिष्ट सहयोग रहा। अतियथार्थवाद ने मानव-मन तथा समाज की विरूपता को विसंगति की सीमा तक ले जाकर अंकित किया। इस समय तक फ्रॉयड के मनोविश्लेषण संबंधी सिद्धांत को व्यापक स्वीकृति मिल चुकी थी और मानव के अर्ध-चेतन तथा अचेतन मन में स्थित दमित वासनाओं, कुंठाओं तथा विसंगतियों के अस्तित्व कौ भी स्वीकारा जाने लगा था। अतियथार्थवाद में अंतर्मन के इस यथार्थ को पहचान कर बाह्य जगत के यथार्थ के साथ उसका समंजन करके प्रस्तुत किया गया। इस प्रक्रिया में कल्पना को प्रमुख स्थान मिला जबकि यथार्थवाद में बौद्धिकता की प्रधानता थी। 1924 में जब इसका घोषणा-पत्र जारी हुआ तभी इसे एक स्वतंत्र आंदोलन के रूप में मान्यता मिली। इसमें माना गया कि लेखन को रचना के शास्त्रीय नियमों, सौंदर्य, कला तथा नीति के मूल्यों और बुद्धि के अनुशासन से मुक्त होना चाहिए। इसमें विचारों के वास्तविक क्रम को उसी प्रकार उतार देना चाहिए जैसे श्रुतलेख में उतारा जाता है। इसमें मानव के अचेतन मन में स्थित संसार का चित्रण होना चाहिए जो बाह्य जगत की अपेक्षा अधिक यथार्थ है। अतियथार्थवाद बाह्य जगत में प्रचलित मूल्यों को स्वीकार नहीं करता इसलिए प्रचलित नैतिकता को भी यह मान्यता नहीं देता। इसका कारण यह भी है कि इस नैतिकता के बावजूद समाज और बृहत्तर विश्व में व्याप्त हिंसा, अनाचार असमानता आदि ने इसकी आस्था को हिला दिया है। इसकी अपनी नैतिकता का आधार है - स्वतंत्रता तथा प्रेम के मूल्य।

23.3.2 प्रमुख प्रवृत्तियाँ तथा मान्यताएँ

अतियथार्थवाद की पृष्ठभूमि तथा विकास की परिस्थितियों के आधार पर इसकी कुछ प्रवृत्तियाँ आपके सामने स्पष्ट हो चुकी हैं। आइए, उनपर एक और नज़र डालते हुए इस विचारधारा की कुछ और प्रवृत्तियों को भी जानने-समझने की कोशिश करें।

1. **यथार्थ के चरम रूप को स्वीकृति** : हम देख चुके हैं कि **अतियथार्थवाद बाह्य जगत के यथार्थ से आगे जाकर मानव के अंतर्मन की गहरी गुफाओं में छिपे हुए यथार्थ को भी प्रत्यक्ष करता है।** वह यथार्थ बाहरी संसार का हो या आंतरिक जगत का - उसे पूर्ण नग्न सत्य के रूप में देखा और स्वीकार किया जाता है। दोनों ही स्तरों पर वीभत्सता और कुरूपता से नज़रें नहीं चुराई जातीं बल्कि इन्हें बेबाक़ी से सामने लाकर चित्रित किया जाता है। इसीलिए कई आलोचकों के मत में - साहित्य या कला के क्षेत्र में - अतियथार्थवादी रचनाएँ वीभत्स, जुगुप्सापरक और समाज के स्वास्थ्य के लिए हानिकर होती हैं। यह सही है कि इन रचनाओं में नग्नता तथा विकृतियों का चित्रण खुलकर हुआ है, परंतु आप ध्यान रखें, यहाँ हम केवल प्रवृत्तियों की पहचान कर रहे हैं, उनके गुण-दोष का विवेचन नहीं। हिंदी में यह भी प्रवृत्ति मुख्यतः ऋषभचरण जैन ('वेश्यापुत्र', 'रहस्यमयी', 'दिल्ली का कलंक') तथा पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' ('दिल्ली का दलाल', 'बुधुआ की बेटी', 'चंद हसीनों के ख़तूत') के उपन्यासों में पाई जाती है।

2. **अवचेतन में स्थित यथार्थ को अधिक महत्व** : अतियथार्थवाद का मानना है कि जल में डूबे हिमखंड के समान मनुष्य की वास्तविक प्रकृति के भी एक बहुत छोटे से अंश को ही बाहरी जगत-व्यवहार में देखा जा सकता है। उसके मानसिक यथार्थ का बहुत बड़ा अंश तो अवचेतन में स्थित होता है। संपूर्ण तथा सही यथार्थ की सच्चे मायनों में पहचान करनी हो तो उस अचेतन अंश को पहचानना और सामने लाना ज़रूरी है। इसके लिए स्वप्न तथा सपने जैसी मनस्थितियों का और इन स्थितियों में उभरने वाले मानसिक बिम्बों का विश्लेषण ज़रूरी है।

3. **मानव की आदिम वृत्तियों का चित्रण** : अतियथार्थवाद के अनुसार अपने अंतर्मन में मानव पशु-वृत्तियों से ऊपर नहीं उठ पाया है। फ्रॉयड के सिद्धांत से उसे अपनी इस धारणा की पुष्टि मिली है कि मानव के अंतर में पशु-सुलभ वृत्तियाँ, वासना और भोगेच्छा दबाई जाकर कुलबुलाती रहती हैं। **अतियथार्थवादी रचनाओं में इन दमित कामनाओं तथा वासनाओं का, मानव की विश्रृंखलित मनस्थिति का, बिना किसी पर्दे या दुराव-छिपाव के, बेबाक चित्रण मिलता है।** यौन समस्याओं तथा क्रियाओं का अंकन भी इस साहित्य में खुलकर हुआ है।

4. **रूढ़ियों का नकार** : इस सिद्धांत ने रूढ़ियों तथा पहले से मान्य परम्पराओं को अनेक स्तरों पर नकारा है। आपने पिछले अनुच्छेद में देखा कि साहित्य तथा कला की विषय-वस्तु में अब तक जो प्रसंग वर्जित थे, उन्हें इसने बेहिचक उठाया है। उनकी प्रस्तुति में भी इसने पारम्परिक नैतिकता तथा मर्यादा को नकार दिया है और **श्लीलता-अश्लीलता की बहस से परे स्पष्ट भाषा में नग्न यथार्थ के चित्रण को अपना लक्ष्य माना है। लेखन की रूढ़ियों को भी इसने तोड़ा** क्योंकि इसकी मान्यता के अनुसार बंधनों में रहकर रचनाकार की कल्पना की मुक्त अभिव्यक्ति नहीं हो सकती।

5. **रचना-प्रक्रिया** : यथार्थवाद में बौद्धिकता पर बल था, किंतु अतियथार्थवाद के अनुसार, **रचना की प्रक्रिया सायास या सोची-समझी न होकर स्वतःस्फूर्त होती है।** इसपर न बुद्धि का नियंत्रण होता है, न सौंदर्यशास्त्रीय या नैतिकतावादी नियमों का। विचार जिस प्रकार हमारे मन में अनायास स्फुरित होते हैं, उनका उसी प्रकार अनायास अनुलेखन ही रचना-कर्म है। इसलिए इस सिद्धांत में रचना को 'विचारों का श्रुतलेखन' भी कहा गया है। जिस प्रकार, आशुलिपिक या स्टेनो लिखवाई गई बात को अपनी तरफ से किसी भी प्रकार के नियंत्रण या सुधार के बिना ज्यों का त्यों उतार देता है उसी प्रकार अतियथार्थवादी कृतिकार अपने मन में उठने वाले भावों को बेरोक-टोक ज्यों का त्यों अभिव्यक्त कर देता है। यह आप देख ही चुके हैं कि किसी भी प्रकार के नियंत्रण या नियमन के पक्ष में यह सिद्धांत नहीं है। रचना-प्रक्रिया और अभिव्यक्ति के स्तर पर भी इसमें यही बात लागू होती है। इसलिए इसकी कृतियों में चर्चित पात्र ही नहीं, स्वयं रचनाकार के मन का भी नग्न यथार्थ झलकता है और यथार्थवाद जहाँ वस्तुरकता, अर्थात् बाहरी जगत के तथ्यों की ओर उन्मुख है, अतियथार्थवाद का रुख़ आत्मपरकता (रचनाकार की अपनी मानसिकता) की ओर है।

23.3.3 मूल्यांकन

अतियथार्थवाद ने कथ्य और विषय-वस्तु के स्तर पर पारम्परिक नैतिकता के नियमों को तोड़ा तो शिल्प के स्तर पर रचना के पारम्परिक नियमों को। इस प्रकार, यह कला में एक नई मुक्ति तथा विस्तार

लाया। जीवन के अज्ञात या अल्प-ज्ञात पक्षों को इसने खोला और शिल्प में भी एक अनायासता और **सहजता लेकर आया।** इस प्रकार, यथार्थवाद की जो एक कमी थी - केवल इंद्रियों से ग्रहण करने वाले जगत से उसका सरोकार - उसे इसने दूर किया। किंतु सत्य के एक पक्ष का चित्रण करते-करते अतियथार्थवाद केवल उसी पक्ष तक सीमित हो गया। **मानव मन की दमित-कुंठित भावनाओं का चित्रण करते-करते वह यथार्थ के अन्य रूपों से, मानव-मन के सुंदर पक्ष और बाह्य जगत के सत्य से विमुख हो चला।** इसी तरह, **शिल्प के क्षेत्र में ज़रूरत से ज्यादा व्यक्तिपरकता के साथ-साथ यह अस्पष्टता और अराजकता ले आया।** इन कारणों से इसकी शक्ति ही इसकी सीमा बन गई।

23.3.4 समाहार

इस अनुभाग में हमने अतियथार्थवाद की पृष्ठभूमि, उद्‌भव, विकास तथा प्रमुख प्रवृत्तियों पर विचार करते हुए देखा कि इसमें बाह्य यथार्थ से भी अधिक बल मानव के अवचेतन में छिपे हुए यथार्थ को दिया गया है क्योंकि इनके अनुसार वही वास्तविक तथा विस्तृत सच्चाई है। बाहरी स्तर पर उसका एक बहुत ही छोटा अंश दिखाई देता है। अवचेतन में स्थित इस आंतरिक यथार्थ में मानव की पशु-वृत्तियाँ तथा दमित वासनाएँ निहित होती हैं। रचनाकार का काम है इस यथार्थ को उसके खुले रूप में चित्रण, चाहे वह कितना ही विकृत या वीभत्स क्यों न हो। इस चित्रण में वह साहित्यशास्त्र या नीतिशास्त्र की किसी भी रूढ़ि को नहीं मानता बल्कि रचना की प्रक्रिया में वह अपनी तरफ़ से सामग्री में संयोजन-व्यवस्था की बौद्धिक चेष्टा भी नहीं करता। विचार जिस प्रकार जिस भी क्रम में उसके मन में आते हैं, उसी प्रकार अनायास अभिव्यक्त होते चलते हैं।

23.4 आदर्शवाद

यथार्थवाद एवं अतियथार्थवाद की चर्चा करते हुए एक और विचारधारा पर नज़र डालना ज़रूरी हो जाता है जो यथार्थवाद की विरोधी धारा कही जा सकती है। यह है - 'आदर्शवाद'। इस बात पर ध्यान दें कि **यह कोई आंदोलन नहीं है बल्कि एक विचारधारा है** जो साहित्य-चिंतन के आदिकाल से चली आ रही है और जिसने अनेक अन्य विचारधाराओं और आंदोलनों को प्रेरित किया है। इस बात को भी ध्यान में रखें कि **यह मूलतः दार्शनिक दृष्टि है जिसका प्रभाव सौंदर्यशास्त्र और साहित्यशास्त्र पर पड़ा है।**

आदर्शवाद वास्तव में अंग्रेज़ी शब्द Idealism का अनुवाद है। वहाँ इस शब्द के दो भिन्न स्रोत देखे जा सकते हैं - (1) Idea अर्थात् विचार या प्रत्यय, और (2) Ideal अर्थात् आदर्श। दोनों अर्थ भिन्न हैं अतः Idealism भी दो अलग-अलग अर्थ देता है।

पहला अर्थ दर्शनशास्त्र की प्रत्ययवादी अवधारणा से जुड़ा है जिसके अनुसार **विचार या चेतना ही परम सत्य है।** यह भौतिक जगत या तो उस विचार या प्रत्यय का अनुकरण है या उस चेतना में ही स्थित है। Idealism की यह व्याख्या Materialism या भौतिकवाद का विरोध करती है जो matter या पदार्थ को ही सार या तत्त्व मानता है। यह यथार्थवाद का भी विरोध करती है जिसके अनुसार बाह्य जगत ही यथार्थ है और वह मानव चेतना से स्वतंत्र भी है। कोई मनुष्य देखे न देखे, समझे या न समझे बाह्य यथार्थ में कोई अंतर नहीं आता।

Idealism का दूसरा अर्थ **वह दृष्टि है जो जीवन में शुभ, सुंदर, श्रेष्ठ और श्रेयस्कर की स्थापना पर बल देती है।** यह दृष्टि 'जो है' - अर्थात **यथार्थ** की अपेक्षा 'जो होना चाहिए' - अर्थात् **आदर्श** का समर्थन करती है। इस प्रकार **आदर्शवाद का यह पक्ष भी यथार्थवाद का विरोधी है।** उदाहरण के लिए, आपने प्रेमचंद की प्रसिद्ध कहानियां 'कफन' और 'पंच परमेश्वर' पढ़ी होंगी। 'कफन' में कड़वे और घृणित यथार्थ का चित्रण है जहाँ भूखे और दरिद्र पिता-पुत्र परिवार की स्त्री के क्रिया-कर्म के लिए चंदे से इकट्ठे हुए पैसों को बढ़िया भोजन और शराब में उड़ा देते हैं। यह कार्य तो घृणित है ही, वह समाज-व्यवस्था भी घृणित है जो लोगों को ऐसे कार्य करने पर मज़बूर करती है। लेखक ने इस व्यवस्था का यथार्थवादी चित्रण किया है। दूसरी ओर, 'पंच परमेश्वर' के प्रमुख पात्र सारे लोभ और आपसी वैमनस्य के बावजूद सच्चाई और न्याय के रास्ते पर चलते हुए दिखलाए गए हैं। यह स्थिति वास्तविक जगत में संभव हो या नहीं, लेकिन श्रेष्ठ और आदर्श मानी जाती है। इसका चित्रण आदर्शवाद के अंतर्गत आता है।

Idealism या आदर्शवाद के जिन दो अर्थों से आपकी पहचान हुई है उनमें से पहला अर्थ मुख्य रूप से तत्वमीमांसा से जुड़ा है और दूसरा अर्थ नीतिशास्त्र से। किंतु दोनों ही किसी न किसी रूप में यथार्थवाद

के विरोधी हैं। इसलिए यहाँ उनके लिए एक ही नाम - 'आदर्शवाद' का प्रयोग किया गया है। दर्शन के क्षेत्र में Idealism का इतिहास बहुत पुराना है और इस लंबे काल में इसका विस्तृत तथा बहुविध विवेचन भी हुआ है, किंतु यहाँ इसका विवेचन मुख्य रूप से यथार्थवाद की विरोधी विचारधारा के रूप में ही किया जा रहा है और इसमें यथार्थवाद से इसके विरोध के दोनों ही पक्ष आ जाते हैं।

23.4.1 उद्भव और विकास

आदर्शवाद कोई आंदोलन नहीं है जिसके उद्भव तथा विकास को साफ़-साफ़ रेखांकित किया जा सके। यह एक विचारधारा है, और जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, साहित्य-चिंतन के आदिकाल से ही इसका अस्तित्व है। पाश्चात्य साहित्यशास्त्र के आदि-पुरुष प्लेटो ने विचार या प्रत्यय को ही एकमात्र सत्य माना था। तब से लेकर आज तक दर्शन तथा साहित्यशास्त्र के क्षेत्र में यह विचारधारा किसी न किसी रूप में बनी हुई है। दार्शनिकों के विवेचन से आदर्शवाद के भिन्न-भिन्न रूप विकसित हो गए। साहित्यशास्त्र पर भी इनका कुछ न कुछ प्रभाव पड़ता ही रहा।

आदर्शवाद के इस रूप को हम आत्मपरक विचारधाराओं की श्रेणी में रख सकते हैं जिसके अनुसार बाह्य जगत के भौतिक यथार्थ की अपेक्षा मानसिक प्रत्यय अधिक सत्य होते हैं। बाह्य जगत का ज्ञान भी हमें तभी होता है जब वह हमारी चेतना में संवेदन जगाता है। बर्कले के अनुसार तो अनुभूत होना ही होने का प्रमाण है।

प्लेटो के बाद अरस्तू ने श्रेष्ठ काव्य के लिए दर्शन तत्व को ज़रूरी माना जो स्पष्ट ही आदर्शवादी दृष्टिकोण है। तब से लेकर आज तक कांट, फ़िक्टे, शेलिंग, हेगल, स्पिनोज़ा, शॉपनहॉवर, लॉक, देकार्त, लाइब्निज़ आदि दार्शनिकों, बर्कले, ब्रैडले और मेटरलिंक जैसे विचारकों, गेटे, शेली और एलियट जैसे रचनाकारों और बुचर तथा मिडलटन मरे जैसे समालोचकों के विवेचन ने या तो इस विचारधारा को नए रूप दिए हैं या इसकी व्याख्या की है। स्वच्छंदतावाद जैसे साहित्यिक आंदोलन तथा अभिव्यंजनावाद जैसे सिद्धांतों पर भी इस विचारधारा का गहरा प्रभाव पड़ा है। उन्नीसवीं सदी में भौतिक विज्ञानों की उन्नति के साथ अवश्य बाहरी जगत के स्थूल यथार्थ का महत्व बढ़ने लगा, भौतिकता तथा प्रकृतवाद का विकास हुआ और आदर्शवादी विचारधारा ह्रास की ओर बढ़ने लगी। किंतु मनोविज्ञान तथा मनोविश्लेषणवाद के विकास के साथ इसका महत्व फिर बढ़ने लगा। जब तक आत्मवादी दार्शनिकों का अस्तित्व रहेगा तब तक आदर्शवादी विचारधारा का प्रभाव भी किसी न किसी रूप में बना ही रहेगा।

23.4.2 प्रमुख प्रवृत्तियाँ तथा मान्यताएँ

इस बात का उल्लेख पहले किया जा चुका है कि आदर्शवादी विचारधारा की भी कई अलग-अलग धाराएँ तथा दृष्टियाँ हैं। यहाँ इन सभी को मिलाकर इसकी कुछ प्रमुख मान्यताओं का उल्लेख किया जा रहा है।

1. **चेतना या आत्म-तत्व की प्रधानता** : आदर्शवाद **चेतना को ही परम तत्व मानता है।** बल्कि इसके प्रमुख दार्शनिकों का यह मानना है कि **यथार्थ वस्तुतः चेतना में ही निवास करता है।** मनुष्य के ज्ञानार्जन का स्रोत भी उसकी चेतना ही है बाह्य जगत नहीं। इसी क्रम में कई दार्शनिकों ने भौतिक यथार्थ को नकार भी दिया है। किंतु जहाँ उन्होंने उसे नकारा नहीं है, वहाँ भी उसे पूरी तरह चेतना ही निर्भर माना है। कांट के मत में भौतिक पदार्थों का अस्तित्व भी इसी पर निर्भर करता है कि चेतना में उसकी संवेदना हो। बर्कले का कहना है कि किसी वस्तु का अस्तित्व तभी सिद्ध होता है जब वह किसी की इंद्रियानुभूति का विषय बने, अर्थात् कोई अपनी इंद्रियों के द्वारा उसे देख या महसूस कर सके।

   सौंदर्यशास्त्र या साहित्यशास्त्र में भी यह विचारधारा आत्म-तत्व को ही प्रमुखता देती है। यहाँ यथार्थवाद से इसका विरोध स्पष्ट दिखाई देता है। यथार्थवाद बाह्य जगत को सत्य मानते हुए उसे दृश्यमान संसार का अंकन ही साहित्य का कार्य मानता है, किंतु आदर्शवादी विचारक मानते हैं कि इस प्रकार का वर्णन केवल सतही, स्थूल और संकीर्ण होता है। वस्तुओं का इंद्रियगोचर स्वरूप उनका यथार्थ नहीं होता। सच्चाई उस बाहरी रूप के अंतर में छिपी रहती है जिसे केवल ऊपर से देखकर नहीं समझा जा सकता। उसे समझने के लिए कलाकार में दार्शनिक की सूक्ष्म अंतर्दृष्टि रहनी चाहिए।

2. **कला और जीवन** : आदर्शवाद के अनुसार कला और यथार्थ जीवन में अंतर होता है। **यथार्थ जगत में कुरूपता होती है, परंतु कला का संसार सौंदर्य का संसार होता है।** इसमें यथार्थ जगत का

अनुकरण नहीं होता, बल्कि कवि/कलाकार अपनी संवेदनशीलता के माध्यम से यथार्थ को अपनी प्रवृत्ति के अनुसार सुंदर रूप देकर प्रस्तुत करता है। स्वच्छंदतावादी कवि कीट्स ने सौंदर्य को सत्य और सत्य को सुंदर मानते हुए कहा था कि कला इस सौंदर्य को सदा के लिए संरक्षित करके रखती है। आप आदर्शवादी विचारों से प्रेरित हिंदी के छायावादी कवियों की प्रकृति संबंधी कविताएँ पढ़कर देखें। उनमें प्रकृति के सुंदर रूप का चित्रण करके उसे दार्शनिक भावनाओं से जोड़ दिया गया है। सुमित्रानंदन पंत की कविताएँ 'एक तारा' या 'नौका विहार' हों या जयशंकर प्रसाद की कविताएँ 'हे सागर-संगम अरुण-नील' या 'ओ री मानस की गहराई' - सबमें आपको इसी बात का उदाहरण मिलेगा। यह वैयक्तिक, भावपरक दार्शनिक दृष्टि ही कला को यथार्थ जगत से अलग करती है। गेटे/गोइटे के अनुसार कला इसीलिए कला है कि वह प्रकृति नहीं है।

इनके अनुसार, **कला में यथार्थ का ज्यों का त्यों चित्रण इसलिए भी वांछनीय नहीं है क्योंकि वह कला को केवल इंद्रियगोचर जगत तक सीमित कर देता है।** ऐसे में रचनाकार की भूमिका नगण्य हो जाती है क्योंकि वह अपनी संवेदनाओं और यथार्थ जगत से परे के अनुभवों को व्यक्त नहीं कर सकता।

एक और कारण है जो कला को मात्र बाह्य यथार्थ का अनुकरण मानने से रोकता है। महान कला ऐसे तत्वों को भी प्रस्तुत करती है, जो समाज में चाहे न हों किंतु जिनका होना समाज के लिए वांछनीय है। **वह समाज का अनुकरण नहीं करती बल्कि ऐसा आदर्श सामने रखती है, जिसका अनुकरण करके समाज ऊँचा उठ सकता है।** इसलिए उसे केवल बाहरी यथार्थ तक सीमित कर देना अनुचित है।

3. **कला का स्वरूप** : बाह्य यथार्थ को प्रस्तुत करने का काम कलाकार का नहीं बल्कि इतिहासकार का है। अरस्तू ने कवि तथा इतिहासकार में अंतर किया है। इसी से **कला तथा इतिहास में भी अंतर है।** इतिहास किसी देश-काल में सीमित होता है जबकि कला अपने दार्शनिक तत्व के कारण देश-काल से निरपेक्ष और सार्वभौम होती है। **वह यथार्थ ही नहीं संभावना का भी संकेत करती है।**

   कला प्रकृति से परे जाती है, किंतु उसे प्रकृति के विरुद्ध नहीं जाना चाहिए। आदर्शवादी विचारक मानते हैं कि उस दशा में वह असंगत हो जाएगी। कलाकार का अनुभव शून्य से नहीं उपजता, इसलिए आदर्शवाद के अनुसार कला का आरंभ तो बाह्य जगत की वास्तविकता से ही होता है, किंतु शाश्वत सत्य की खोज में वह इस बाहरी यथार्थ का अतिक्रमण कर जाती है। विज्ञान के सत्य का सरोकार बाहरी जगत से होता है, पर कला का सत्य उससे भिन्न होता है। वह जीवन मूल्य सिखलाती है और उदात्त जीवन की प्रेरणा देती है।

4. **कवि/कलाकार की भूमिका** : आदर्शवादी दृष्टि के अनुसार कवि/कलाकार **अपनी ही वेदनाओं को, अपने आत्मपरक अनुभवों को अभिव्यक्त करता है। किंतु इस प्रकार से कि वे सभी के अनुभव बन जाते हैं।** संसार को केवल सतही रूप से देखकर अपने अनुभव को सार्वभौम रूप नहीं दिया जा सकता। भावना की गहराई में पैठकर चिंतन के माध्यम से वह अपनी व्यथा के उन तत्वों की पहचान करता है जो सारे विश्व की भावनाओं से जुड़ते हैं। इस प्रकार वह **व्यक्ति और समष्टि की भावनाओं की तात्विक एकता के सूत्र खोज निकालता है** जो बाह्य जगत में नहीं दिखाई देते। इसीलिए आदर्शवादी विचारधारा की मूल वृत्ति अंतर्मुखी मानी गई है।

5. **आदर्शवाद का क्षेत्र** : हालाँकि यहाँ आदर्शवाद की चर्चा मुख्यतः सौंदर्यशास्त्र के संदर्भ में ही हुई है किंतु वास्तव में **इसका विस्तार तथा विचार के हर क्षेत्र में है।** सौंदर्यशास्त्र के अलावा दर्शन, धर्म, राजनीति, समाजशास्त्र - सभी क्षेत्रों में आदर्शवादी विचारधारा का कुछ न कुछ प्रभाव रहा ही है।

23.4.3 मूल्यांकन

एक विचारधारा के रूप में आदर्शवाद का मूल्यांकन कठिन है क्योंकि एक तो यह ऐसी विचारधारा नहीं है जो कुछ समय के लिए उभरकर अपना प्रभाव फैलाकर फिर लुप्त या निष्प्रभावी हो जाए; और दूसरा कारण इसके अर्थ का दोहरापन है जिसकी चर्चा इस अनुभाग के आरंभ में की जा चुकी है। मूल्यांकन करते समय इस विचारधारा के पूरे विस्तार को दृष्टि में रखना होगा।

साहित्यशास्त्र के आदिकाल से आज तक यह विचारधारा बार-बार यथार्थवाद की संकीर्णता का विरोध करती हुई उभरी है।

- **इसने दिखलाया कि वस्तु जगत का यथार्थ ही परम सत्य नहीं होता।** उसका विवरण इतिहास हो सकता है, मगर कला नहीं। कला तथा साहित्य में बाह्य जगत के तथ्य ज्यों के त्यों नहीं आते।

रचनाकार अपने भाव की अभिव्यक्ति के लिए उनमें से उपयुक्त पक्षों का चयन करके उन्हें अपनी सूक्ष्म संवेदना के माध्यम से प्रस्तुत करता है।

- यथार्थवाद हद से ज्यादा आत्मपरकता और कलावादी प्रवृत्तियों का विरोध करते-करते स्वयं कलाहीनता की स्थिति में पहुँच गया था। आदर्शवाद ने इस **अतिरेक का विरोध** किया।
- नग्न यथार्थ का चित्रण करते-करते यथार्थवाद और अतियथार्थवाद जीवन के केवल कुरूप तथा घृणित रूपों के वर्णन तक सीमित हो गए थे। आदर्शवाद ने इस प्रवृत्ति का विरोध करते हुए **जीवन के सुंदर पक्ष की ओर भी ध्यान आकर्षित किया।**
- आदर्शवाद के एक रूप ने साहित्य तथा कला में ही नहीं, **जीवन के हर क्षेत्र में नैतिक मूल्यों तथा आदर्शों की स्थापना की।**

इस प्रकार आदर्शवाद का योगदान नकारात्मक (यथार्थवाद का विरोध) ही नहीं, सकारात्मक भी रहा। साहित्य में इसके प्रभाव से गहनता तथा दार्शनिकता आई और उच्चतर जीवन मूल्यों के प्रति आस्था तथा आशावाद। किंतु वहीं इसकी कमज़ोरी की संभावना भी छिपी है। **कभी-कभी यथार्थवाद के सतहीपन का विरोध करते हुए यह अत्यंत दार्शनिक, आत्मपरक तथा अमूर्त स्तर पर पहुँच जाता है** जिससे इसकी रचनाओं को समझना कठिन हो जाता है। इससे कृति बाहरी यथार्थ तथा समाज - दोनों से कट जाती है।

उच्च नैतिक आदर्शों की स्थापना की धुन में यह कई बार असंभव तथा अस्वाभाविक स्थिति में पहुँच जाता है। ऐसी स्थिति में यह विचारधारा बिल्कुल एकतरफ़ा हो जाती है, और इसके विरोध में अन्य विचारधाराएँ उभरनी आरंभ हो जाती हैं।

23.4.4 समाहार

साहित्य चिंतन के आरंभिक काल से ही आदर्शवाद एक विचारधारा के रूप में चला आ रहा है। इसे दो अर्थों में लिया जाता है - (1) प्रत्ययवाद, जिसमें चेतना तथा उसमें उपजे प्रत्ययों को ही परम यथार्थ मानकर बाह्य जगत को उसपर आधारित माना जाता है; और (2) जीवन में उदात्त नैतिक आदर्शों की स्थापना करने वाली विचारधारा। दोनों ही अर्थों में यह कहीं न कहीं यथार्थवाद का विरोध करती है। यह मूलतः आत्मपरक दार्शनिक दृष्टि है जिसका प्रभाव साहित्यशास्त्र पर भी पड़ा।

आधुनिक युग में जर्मन दार्शनिकों ने इस विचारधारा को बहुत प्रभावित किया और अन्य यूरोपीय विचारक तथा साहित्यकार भी इससे जुड़े रहे।

आदर्शवाद चेतना को ही परम तत्व मानता है। इसके अनुसार, वस्तु-जगत का यथार्थ भी चेतना में स्थित प्रत्ययों का अनुकरण भर है। बाहरी यथार्थ का होना भी तभी अर्थ पाता है जब किसी की चेतना उसकी पहचान करे। साहित्य तथा कला में यह विचारधारा सत्य और सौंदर्य के अंकन पर बल देती है और मानती है कि कला जीवन को ज्यों का त्यों प्रस्तुत नहीं करती। वह जीवन में से शुभ और सुंदर तत्वों को चुनकर सामने लाती है। इसलिए इसमें रचनकार की अपनी दृष्टि तथा संवेदना की महत्वपूर्ण भूमिका रहती है। कला को 'जो है' उसका चित्रण न करके 'जो होना चाहिए' उसका चित्रण करना चाहिए। इसीलिए कला तथा इतिहास में अंतर होता है। इतिहास बाहरी तथ्य का ब्यौरा भर देता है जबकि कला उदात्त जीवन की प्रेरणा देती है।

आदर्शवादी विचारधारा का प्रभाव केवल साहित्य और कला ही नहीं दर्शन, समाजशास्त्र, राजनीतिशास्त्र आदि अनुशासनों पर भी पड़ा।

आदर्शवाद ने एक ओर यथार्थवादी दृष्टि से जुड़ी हुई संकीर्णताओं का परिहार किया और दूसरी ओर उच्च नैतिक मूल्यों की स्थापना की। कई विचारधाराएँ कुछ समय अपना प्रभाव फैलाकर फिर लुप्त हो जाती है, किंतु आदर्शवाद का प्रभाव कभी भी पूरी तरह निरस्त नहीं हुआ।

23.5 प्रतीकवाद

आपने भाग 23.4 में देखा कि आदर्शवादी विचारधारा किस प्रकार यथार्थवाद की मूल स्थापनाओं का विरोध करती है। यथार्थवाद की वस्तुपरकता तथा जड़ता के विरुद्ध आत्मपरकता तथा कलात्मकता के

मूल्यों का समर्थन करने वाला एक आंदोलन उन्नीसवीं सदी में भी उभरा था। इस आंदोलन का मानना था कि मानवीय अनुभूतियाँ तथा संवेदनाएँ यथार्थवादी भाषा तथा बाहरी जगत के सपाट वर्णनों के माध्यम से सम्प्रेषित नहीं की जा सकतीं। ये संवेदनाएँ भी मात्र दमित काम से उत्पन्न कुंठाएँ तथा ग्रंथियाँ नहीं होतीं, जैसा कि आगे चलकर अतियथार्थवादी विचारधारा में माना गया। इनमें सूक्ष्म-कोमल अनुभूतियाँ होती हैं, दार्शनिक विचारणाएँ होती हैं और अतींद्रिय अनुभव होते हैं। इनकी अभिव्यक्ति के लिए भाषा भी सूक्ष्म, व्यंजनापूर्ण तथा गहन अर्थों का वहन करने वाली होनी चाहिए। भाषा में ये गुण प्रतीकों के माध्यम से आते हैं। इस विचारधारा से प्रेरित साहित्यिक रचनाओं में वस्तु-जगत के पदार्थों, प्राणियों तथा स्थितियों को प्रतीक बनाकर उनके माध्यम से संवेदनाओं और अनुभूतियों को व्यक्त किया गया। अर्थात् **मूर्त जगत इसमें अमूर्त भावनाओं का प्रतीक बनकर प्रस्तुत हुआ!** प्रतीक को प्रमुख कलात्मक युक्ति मानने के कारण यह विचारधारा प्रतीकवाद (Symbolism) के नाम से जानी गई।

23.5.1 उद्भव और विकास

सौंदर्यशास्त्र में प्रतीकों का महत्व बहुत पहले से माना जाता रहा है क्योंकि वे अपने आशय को साफ़-साफ़ सपाट रूप में प्रस्तुत करने के स्थान पर सांकेतिक रूप से अर्थ की व्यंजना करते हैं। संकेत चूँकि अभिधापरक नहीं होते, अतः उनमें अर्थ की गहनता, गंभीरता तथा बहु-स्तरीयता की गुंजाइश होती है। इससे रचना का सौंदर्य बढ़ जाता है। प्रतीकों की इस गहन अर्थवत्ता के कारण उनका उपयोग काव्य ही नहीं धर्म, नीतिशास्त्र, मनोविज्ञान, यहाँ तक कि गणित में भी होता रहा है।

जैसा कि आप जानते ही हैं, काव्य में प्रतीकों का इस्तेमाल सदा से होता रहा है और यह प्रवृत्ति किसी खास देश तक सीमित नहीं है। आप हिंदी को ही लें। हिंदी के आदिकाल में भी सिद्ध तथा नाथ साहित्य में प्रतीकों की बहुतायत है। कबीर जैसे 'अनपढ़' व्यक्ति भी गहन प्रतीकों के माध्यम से अपनी बात कहते हैं। अंग्रेज़ी साहित्य के प्रारंभिक दौर के कवि जॉन बन्यन से लेकर शेक्सपीयर-पूर्व कवि स्पेंसर तथा स्वच्छंदतावादी कवि विलियम ब्लेक और कॉलरिज आदि की रचनाओं में प्रतीकों का व्यजक प्रयोग हुआ है। **किंतु एक आंदोलन के रूप में प्रतीकवाद का उद्भव फ्रांस में सन 1886 से माना जाता है,** जब **विलिए द लील ऐडम** (1838-89) का नाटक **'एक्सेल'** प्रकाशित हुआ। लेकिन इससे भी पहले **बॉदलेअर** (1821-1867) और **मलार्मे** (1842-1898) की रचनाओं में यह प्रवृत्ति दिखाई देने लगी थी। फ्रांस में ही **बर्ले** (1844-1896), **रैम्बो** (1854-1891), **ज्याँ मोरेआ** (1856-1910) आदि कवियों और इंगलैंड में **मेटरलिंक** (1862-1949), **डब्ल्यू.बी.येट्स** (1865-1939), **जे.एम.सिंज** आदि रचनाकारों ने इस प्रवृत्ति को अपनाया। इनकी रचनाओं के माध्यम से ही नहीं, इनके अन्य लेखन तथा सिद्धांत विवेचन से भी इस प्रवृत्ति को बल मिला। अतियथार्थवाद की प्रवृत्ति उपन्यासों के माध्यम से व्यक्त हुई थी तो प्रतीकवाद के मुख्य वाहक कविता और नाटक थे।

इस वाद में केवल प्रतीकों को ही नहीं, बिम्बों और रूपक को भी काव्य में अन्यतम स्थान दिया गया। इसका मानना था कि रचना में किसी शाश्वत सत्य की व्यंजना होनी चाहिए और वह प्रतीकों के माध्यम से ही संभव है। बाह्य जगत के प्राणी तथा घटनाएँ भी तभी कला का माध्यम बन सकती हैं जब वे प्रतीक के रूप में आएँ और किसी सनातन सत्य का संकेत दें। **प्रतीक भौतिक तथा आध्यात्मिक जगत को, मूर्त और अमूर्त को मिलाने का माध्यम है।** ऐडगर ऐलन पो के अनुसार इस संसार का सौंदर्य एक विराट आध्यात्मिक सौंदर्य का प्रतिबिम्ब मात्र है और कविता उस प्रतिबिम्ब के चित्रण के ज़रिए उस अगम्य सत्य पहुँचती है।

23.5.2 प्रमुख प्रवृत्तियाँ तथा मान्यताएँ

प्रतीकवाद की कुछ प्रवृत्तियों का अनुमान आपको इसके उद्भव की परिस्थितियों से मिल चुका है। यथार्थवाद में वस्तु-तत्व पर बल दिया गया था। प्रतीकवाद ने बाह्य जगत के यथार्थ को महत्वहीन मानते हुए अमूर्त आत्म-तत्व को महत्व दिया जिसे देखा नहीं जाता मात्र महसूस किया जा सकता है या अपने अंतर में ही समझा या विश्लेषित किया जा सकता है। इस बात को ध्यान में रखते हुए आप प्रतीकवाद की प्रमुख प्रवृत्तियों को समझने की कोशिश करें।

1. **बाह्य जगत के यथार्थ का तिरस्कार** : जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, प्रतीकवादियों ने बाह्य जगत की घटनाओं, वस्तुओं या व्यक्तियों को क्षुद्र तथा महत्वहीन माना। उनके अनुसार इनकी अपेक्षा मनुष्य की आंतरिक संवेदनाएँ तथा अनुभव अधिक महत्वपूर्ण होते हैं और कला में इन्हीं को अभिव्यक्ति मिलनी चाहिए। सामान्य मानवीय संवेदनाओं तथा अनुभवों के अतिरिक्त अति-प्राकृत तत्वों, अनुभवों और दार्शनिक तथा आध्यात्मिक प्रत्ययों को भी इन्होंने कला का विषय माना। अर्थात् **वस्तु के स्थान पर भावों तथा विचारों की प्रस्तुति को इन्होंने महत्व दिया।** शिल्प तथा

शैली से यह भी ज़ाहिर होता है कि प्रतीकवाद ने बाहरी यथार्थ को और भी अनेक प्रकार से नकारा।

2. **प्रतीक की आवश्यकता** : इस सिद्धांत के अनुसार मानवीय मनोभाव तथा संवेग जटिल तथा व्यक्ति-विशिष्ट होते हैं। इनके अतिरिक्त, अतिप्राकृत अनुभव भी कला के विषय होते हैं। इन **तमाम अनुभवों को सामान्य यथार्थवादी भाषा तथा वर्णनों के माध्यम से सम्प्रेषित नहीं किया जा सकता। इनकी अभिव्यक्ति के लिए प्रतीकों का इस्तेमाल ज़रूरी है** क्योंकि उनमें व्यंजना की अपार क्षमता होती है। आप इस बात का ध्यान रखें कि **प्रतीकवादियों ने रूढ़ प्रतीकों का समर्थन नहीं किया।** अर्थात् उन्होंने कोई ऐसा व्याकरण नहीं रचा जिसके अनुसार कोई खास वस्तु सदा किसी ख़ास भाव या मनस्थिति के प्रतीक के रूप में प्रयुक्त हो (जैसे अंधकार को सदा निराशा का या उजाले को आशा का प्रतीक मानना)। वे मानते थे कि हर रचनाकार के व्यक्तित्व तथा जीवन-दृष्टि में फ़र्क हो सकता है। इसीलिए उसके विचार, संवेग तथा मनोभाव भी व्यक्ति-विशिष्ट, अर्थात् औरों से अलग होते हैं। उनकी प्रस्तुति की भंगिमा भी भिन्न होती है। इसलिए **अपनी अभिव्यक्ति के लिए हर रचनाकार अपने तौर पर प्रतीकों की तलाश करता है और नए प्रतीक रचता है।** प्रतीकवादियों ने मिथकों का भी बड़े पैमाने पर प्रयोग किया।

3. **वस्तु का प्रतीक में अंतरण** : प्रतीकवादियों ने **बाहरी यथार्थ की अपेक्षा अंतर के यथार्थ को अधिक महत्व दिया।** दिलचस्प बात यह है कि उस अमूर्त सत्य को अभिव्यक्त करने के लिए उन्होंने मूर्त जगत की वस्तुओं का उपयोग किया - लेकिन प्रतीकों के रूप में। **वस्तुगत वर्णन तथा मूर्त व्यापारों के चित्रण का उन्होंने विरोध किया।** उनकी रचनाओं में ध्वनियाँ, वस्तुएँ, प्राणी, स्थितियाँ आदि स्वयं अपने रूप में प्रयुक्त नहीं हुए हैं, बल्कि अपना अभिधात्मक अर्थ छोड़कर अमूर्त संवेदनाओं तथा विचारों की व्यंजना करते हैं। वे वास्तव में बाह्य जगत को भाव जगत से जोड़ते हैं। इसे समझने के लिए आप अज्ञेय की यह छोटी-सी कविता लीजिए :

उड़ गई चिड़िया,
काँपी,
थिर हो गई पत्ती।

चिड़िया का उड़ना और पत्ती का काँपकर स्थिर हो जाना बाहरी जगत की वस्तुएँ तथा व्यापार हैं, परंतु कवि का लक्ष्य इन व्यापारों का चित्रण करना नहीं, बल्कि इनके माध्यम से कुछ और कहना है - जैसे किसी के बिछुड़ने पर मन में उभरती और शांत होती हलचल या इसी प्रकार का कोई अन्य भाव। उसे समझाने के लिए कवि ने बाहरी जगत की वस्तुओं को केवल प्रतीक के तौर पर लिया है।

4. **प्रतीक का स्वरूप : रचनाकार की अभिव्यंजना के विषय तथा प्रतीक के बीच पूर्ण सादृश्य नहीं होता।** किसी आसंग (association) या रूढ़ि के संबंध के कारण प्रतीक कोई विशेष अर्थ देने लगता है। किंतु यह भी रचनाकार के ऊपर है कि वह कब किस वस्तु को किस भाव के प्रतीक के तौर पर इस्तेमाल करता है। आप आधुनिक हिंदी कविता के माध्यम से इस बात को समझने की कोशिश कर सकते हैं। प्रयोगवादी कवियों ने प्रतीकों का बहुत प्रयोग किया है। आप भिन्न-भिन्न कवियों की - या एक ही कवि की अलग-अलग कविताएँ लें और देखें कि (क) उनमें कितनी तरह के प्रतीकों का किन-किन तरह के अर्थों में प्रयोग हुआ है; और (ख) प्रतीक तथा प्रतीकित भाव के बीच किस तरह का संबंध है।

एक और बात पर ध्यान दें। प्रतीकवादियों ने वस्तु-जगत से केवल दृश्य प्रतीक ही नहीं, ध्वनि प्रतीक भी उठाए हैं। विशिष्ट ध्वनियों के प्रयोग के द्वारा इन्होंने विशिष्ट भावों की व्यंजना की चेष्टा की है।

5. **समाज तथा नैतिकता के नियमों का वर्जन** : प्रतीकवादियों ने काव्य की वस्तु के रूप में बाह्य जगत के यथार्थ को तो अस्वीकार किया ही, **समाज तथा नैतिकता से साहित्य के संबंध को भी इन्होंने स्वीकार नहीं किया।** इसका एक कारण तो यह था कि समाजधर्मिता भी बाह्य जगत से जुड़ी अवधारणा है। समाज आखिर बाहरी दुनिया की ही व्यवस्था है, अंतर्जगत की नहीं। दूसरा कारण था इनका यह मानना कि सामाजिकता तथा नैतिकता के प्रतिमान साहित्य पर बाहर से दबाव डालते हैं और उसकी सहज अभिव्यक्ति में बाधक होते हैं।

6. **साहित्य के रूप** : जैसा कि पहले कहा जा चुका है, मुख्य रूप से कविता और कुछ सीमा तक नाटक प्रतीकवादियों की प्रमुख विधाएँ थीं। किंतु इनमें भी इन्होंने परम्परा को स्वीकार नहीं किया। कविता में इन्होंने तुकांतता का विरोध किया। साहित्य के लिए ये चूँकि व्यंजना को बहुत महत्वपूर्ण

मानते थे, इसलिए कविता की विशिष्ट लय तथा शब्दों की ध्वनि के माध्यम से अपने कथ्य को सम्प्रेषित करने पर इनका विशेष बल था। इसीलिए इनकी रचनाएँ मुख्यतः प्रगीतात्मक रहीं।

7. **भाषा** : यह आप देख चुके है कि प्रतीकवादियों के मत में **यथार्थवादी, अभिधापरक भाषा अभिव्यक्ति का उपयुक्त माध्यम नहीं बन सकती।** भाषा में इंद्रियातीत, अगम्य अनुभवों तथा स्थितियों की अभिव्यक्ति की क्षमता होनी चाहिए और इस प्रकार की व्यंजना वह तभी कर सकती है ज़ब शब्दों को उनके परिचित सामान्य अर्थ-संदर्भों से काट दिया जाए। दूसरे शब्दों में, किसी कवि की रचना में शब्द पारम्परिक अर्थ न देकर वही अर्थ दे जो कवि का अभिप्राय हो। भाषा में शब्दों के साथ ही ये कवि सामान्य या विशिष्ट शब्द-ध्वनियों का भी व्यंजक प्रयोग करते हैं।

23.5.3 मूल्यांकन

आप पढ़ चुके हैं कि **यथार्थवादी दृष्टि जब असंतुलित होकर मात्र वस्तुपरकता तथा जड़ता की ओर झुकने लगी थी तब प्रतीकवादी आंदोलन आत्मपरक दृष्टिकोण के माध्यम से साहित्यिक सोच में एक संतुलन लेकर आया।** यहाँ आपको एक बार और सावधान कर देना ज़रूरी है। किसी भी आंदोलन को किसी और सिद्धांत या आंदोलन की प्रतिक्रिया मात्र मानना स्थिति का अति-सरलीकरण होगा। उसके उभरने के पीछे और भी अनेक स्थितियाँ तथा शक्तियाँ सक्रिय होती हैं। यहाँ प्रतिक्रिया की बात इसलिए की जा रही है कि यह भी किसी सैद्धांतिक आंदोलन के उभरने के प्रमुख कारणों में से होती है और इसक प्रभाव शायद सबसे अधिक स्पष्ट रूप से नज़र आता है।

बहरहाल, प्रतीकवादी आंदोलन अपने समय की ज़रूरतों के अनुसार उभरा और अपने समय की स्थितियों को इसने काफ़ी प्रभावित किया। फ्रांस, इंगलैंड तथा जर्मनी में महत्वपूर्ण रचनाकारों का एक बड़ा वर्ग इससे जुड़ा और साहित्यिक सोच तथा मिजाज़ में बदलाव लाने में काफ़ी हद तक सफल रहा। **नए प्रतीकों की आवश्यकता तथा पारम्परिक प्रतीकों के नए प्रयोगों पर बल देकर इन्होंने रचना को रूढ़ियों से उबारा** (क्या आपको अज्ञेय की कविता 'कलगी बाजरे की' याद है जिसमें उन्होंने नए प्रतीकों की आवश्यकता पर बल दिया है?) **काव्य-शिल्प की रूढ़ियों को भी इन्होंने नकारा।** काव्य में मिथकों के सर्जनात्मक प्रयोग को इन्होंने फिर से उभारा। इसके फलस्वरूप आलोचना में भी मिथकीय दृष्टि का विस्तार हुआ।

आंदोलन के रूप में प्रतीकवाद इस सदी के आरंभ में अस्त होने लगा था किंतु परवर्ती साहित्य तथा साहित्यालोचन पर इसका प्रभाव अब तक किसी न किसी रूप में चला आ रहा है।

प्रतीकवाद के निरस्त होने के भी कुछ बड़े संगत कारण थे :

- **बाह्य जगत का पूर्ण बहिष्कार** इनकी रचनाओं को एक बड़े पाठक वर्ग से काटने लगा था। वे युग के यथार्थ और अपने समाज से भी कटने लगे थे और आप जानते हैं कि जो रचनाकार अपने युग का नहीं होता वह किसी भी युग का नहीं होता।
- **आत्मपरकता का अतिरेक** भी प्रतीकवाद की एक कमज़ोरी बन गया था। हर रचनाकार प्रतीकों को अपना अलग-अलग अर्थ देता है तो उसके विचारों की कुंजी पाए बिना सामान्य पाठक उन्हें समझ नहीं पाता। पाठकों से कटने पर कृति की कोई सार्थकता नहीं रह जाती और उस कृति का प्रेरक सिद्धांत अर्थ खोने लगता है।
- **प्रतीकवाद ने नैतिक तथा सामाजिक मूल्यों के नियंत्रण को रचना के लिए बाधक** माना था इसलिए इसे '**पतनशील**' मानकर इसका विरोध होने लगा।
- प्रतीक अभिव्यक्ति की एक युक्ति मात्र हैं। प्रतीकों पर बल देते-देते इन रचनाकारों के लिए **कथ्य के स्थान पर अभिव्यक्ति अधिक महत्वपूर्ण हो उठी** थी जिससे रचना का आधार ही ढहने लगा था।

इन तमाम बातों ने प्रतीकवादी साहित्य को परिवेश और जन-जीवन से काट दिया और ये ही इस आंदोलन के ह्रास के कुछ मुख्य कारण थे।

23.5.4 समाहार

इस अनुभाग में हमने प्रतीकवाद के इतिहास, उद्भव, प्रमुख प्रवृत्तियों तथा ह्रास के कारणों पर संक्षेप में विचार किया। प्रतीकवाद एक आत्मपरक सिद्धांत है जिसमें वस्तु-जगत के प्राणियों, घटनाओं, स्थितियों, सामाजिक-राजनीतिक प्रश्नों — संक्षेप में, बाह्य यथार्थ का पूर्ण बहिष्कार है। यह मानव के अंतर्जगत,

उसकी भावनाओं तथा संवेदनाओं और साथ ही दार्शनिक-आध्यात्मिक संकल्पनाओं तथा अति-प्राकृत की अभिव्यक्ति को रचना का विषय बनाता है क्योंकि इसके मत में यही अधिकः महत्वपूर्ण हैं। इनकी अभिव्यक्ति के लिए रचनाकार बाह्य जगत की वस्तुओं और स्थितियों को प्रतीक के रूप में अपनाता है। वह अमूर्त को मूर्त के माध्यम से व्यक्त करता है। हर रचनाकार की हर रचना में अपनी विशिष्ट प्रतीक योजना हो सकती है जो उसकी अपनी संवेदना तथा मानसिकता के अनुसार अर्थ ग्रहण करती है। वस्तु वर्णन के स्थान पर सूक्ष्म अर्थों की व्यंजना को वह रचना का प्राण मानता है। रचना पर बाह्य - सामाजिक, नैतिक तथा शास्त्रीय नियंत्रण का वह विरोध करता है। भाषा के इस्तेमाल में भी वह शब्दों में नए सूक्ष्म अर्थ भरता है।

साहित्यशास्त्रीय सिद्धांतों में प्रतीकवादी आंदोलन का अपना महत्व रहा है लेकिन यथार्थ जगत के बहिष्कार तथा घोर आत्मपरकता के कारण इसमें कुछ ऐसी कमज़ोरियाँ आ गईं जिनके कारण आंदोलन के रूप में इसका ह्रास होने लगा।

23.6 बिंबवाद

प्रतीकों की ही भाँति बिंबों का प्रयोग भी साहित्य में आरंभ से ही होता रहा है किंतु **प्रतीक जहाँ बाह्य जगत से सामग्री उठाकर उसे नया अर्थ देते हैं, बिंब बाहरी संसार की छवियों को लेकर विशेष संदर्भ में उन्हें इस प्रकार प्रयुक्त करते हैं कि रचनाकार का कथ्य अधिक स्पष्ट और अधिक प्रभावी हो उठता है ।** प्रतीकों के विपरीत **बिंब इंद्रिय-संवेद्य होते हैं** अर्थात् उनकी अनुभूति किसी न किसी इंद्रिय से जुड़ी रहती है। इसीलिए साहित्य में हमें दृश्य-बिंबों के साथ ही श्रव्य, घ्राण और स्पर्श-बिंबों का प्रयोग भी मिलता है। रचनाकार विश्व के परिवेश से कुछ दृश्य, कुछ ध्वनियाँ, कुछ स्थितियाँ उठाता है और अपनी कल्पना, संवेदना, विचार तथा भावना के योग से उन्हें तराशकर बिंबों का रूप देता है। अपने कथ्य को संक्षेप में किंतु सघन रूप से प्रस्तुत करने के लिए, अपनी बात का प्रभाव बढ़ाने के लिए और किसी स्थिति को सजीव रूप से पाठक के सामने रख देने के लिए रचनाकार बिंबों का प्रयोग करता है। कवि बिहारी जब सफ़ेद साड़ी के अंदर से झिलमिलाते कर्णाभूषण के लिए सुबह-सुबह गंगा के जल में सूर्य की झिलमिलाती प्रतिच्छाया का बिंब रचते हैं तो वे केवल मामूली समानता नहीं दिखलाते, बल्कि उस दृश्य के तरल, कांतिमय, दीप्त सौंदर्य को भी मूर्तिमान कर देते हैं। हिंदी के छायावादी कवियों की कविताओं में भी आपको अनेक प्रकार के बिंबों का विधान मिलेगा जो केवल दृश्य या ध्वनि-चित्र ही प्रस्तुत नहीं करते, गहन अनुभूतियों और संवेगों को भी संप्रेषित करते हैं। उदाहरण के लिए 'बीती विभावरी जाग री' कविता में जयशंकर प्रसाद जब 'खग कुल कुल-कुल-सा बोल रहा' कहते हैं तो 'कुल-कुल' ध्वनि का बिंब केवल पक्षियों के कलरव का प्रभाव ही नहीं देता, बल्कि देश, समाज तथा साहित्य में आते जागरण के उल्लास तथ उत्साह को भी व्यक्त करता है।

सन् 1909 के लगभग इंगलैंड में एक काव्य आंदोलन उभरा जिसमें बिंबों को महत्त्व देते हुए इन्हें ही कविता की प्रमुख तकनीक के रूप में अपनाया गया। यह आंदोलन Imagism अर्थात् **'बिंबवाद'** कहलाया।

23.6.1 उद्‌भव और विकास

बिंबों का मूल संबंध बाह्य वस्तुपरक जगत से है और बिंबवाद में भी वस्तु-तत्व का विशेष महत्व है। दरअसल **इस सिद्धांत का उदय ही स्वच्छंदतावाद की अतिशय रोमानी, भावुक गीतिमयता के विरुद्ध विद्रोह के रूप में हुआ। उसकी आत्मपरकता तथा शिथिलता के विपरीत बिंबवाद में वस्तुपरकता, अनुशासन, व्यवस्था तथा सटीकता पर बल दिया गया।** इसने प्रतीकों के महत्व को भी स्वीकारा किंतु प्रतीकवाद के अतिरेक की आलोचना की।

बिंबों के महत्व को कवि सदा से स्वीकार करते हैं किंतु एक काव्यांदोलन के रूप में **बिंबवाद के प्रवर्तन** का श्रेय अंग्रेज़ कवि टी.ई.ह्यूम (1883-1917) को है। इनके विचारों से प्रभावित कुछ अंग्रेज़ तथा अमेरिकी कवियों - एज़रा पाउंड, ऐमी लॉवेल, हिल्डा डूलिटिल, रिचर्ड एल्डिंगटन, एफ.एस.फ्लिंट आदि - ने 1912 के लगभग काव्य-लेखन का एक कार्यक्रम तय किया जिसमें भावावेगपूर्ण, संगीतमय, रोमानी काव्य-भाषा के स्थान पर चुस्त, तराशी हुई, सटीक, बिंबात्मक भाषा के **प्रयोग का समर्थन** किया गया। प्राचीन ग्रीक तथा रोमन क्लासिकी काव्य के अनुशासन तथा संतुलन **और चीनी तथा** जापानी काव्य की सूक्ष्मता, संक्षिप्ति तथा सुगठन को इन्होंने अपनाया। इनका बल प्रभाव निरूपण के उपयुक्त शैली तथा छंद के प्रयोग पर था। एज़रा पाउंड तथा ऐमी लॉवेल इस समूह के सबसे सक्रिय

सदस्य कहे जा सकते हैं। ये सभी सदस्य कवि भी थे और बिंबवाद के सिद्धांतकार भी। सन 1915 में इन्होंने अपना एक घोषणा-पत्र निकाला और सन 1924 में इनकी कविताओं का सहयोगी संकलन 'स्पेकुलेशन' नाम से प्रकाशित हुआ। सन 1917 में ह्यूम की मृत्यु के बाद भी यह आंदोलन कुछ वर्ष चलता रहा। डी.एच. लॉरेंस तथा टी.एस.एलियट जैसे कवियों की रचनाओं पर भी इसका गहरा प्रभाव दिखाई देता है।

23.6.2 प्रमुख प्रवृत्तियाँ तथा मान्यताएँ

बिंबवादी आंदोलन भावात्मक अराजकता के विरुद्ध अनुशासन तथा संतुलन की स्थापना का आग्रह करता है। काव्य के विषय तथा शिल्प से सम्बद्ध इसकी तमाम मान्यताएँ इसी मूल भावना से प्रेरित हैं। अपने 1915 के घोषण-पत्र में इसने अपनी प्रमुख मान्यताओं को सामने रखा था। आगे चलकर इस आंदोलन से जुड़े रचनाकारों ने भी समय-समय पर इसके सिद्धांतों को स्पष्ट किया। इसकी प्रमुख मान्यताएँ इस प्रकार हैं :

1. **कविता की भाषा** : इनके अनुसार कविता में **आम बोलचाल की सामान्य भाषा** का प्रयोग होना चाहिए, आलंकारिक या किताबी भाषा का नहीं। वह भाषा **प्रसाद गुण सम्पन्न किंतु शुष्क और स्पष्ट हो।** उसमें शब्दावली भी सटीक हो और **लगभग उपयुक्त नहीं बल्कि पूरी तरह उपयुक्त हो। शब्दों की व्याख्या न करनी पड़े,** न उनके अर्थ में व्यतिक्रम हो। कविता की भाषा गद्य जैसी **सहज-सरल किंतु अर्थ-गर्भित और व्यंजक होनी चाहिए। उसमें भावाकुलता नहीं होनी चाहिए** किंतु वह संकेतात्मक तथा सूक्ष्म होनी चाहिए। उसमें केवल ऐसे शब्दों का नपा-तुला प्रयोग होना चाहिए जो इच्छित प्रभाव उत्पन्न कर सकें।

2. **कविता का कथ्य** : कविता का कथ्य **सामान्य नहीं बल्कि गूढ़ तथा व्यापक हो,** किंतु उसमें आर्द्रता या अस्पष्टता न हो।

3. **भावमयता का विरोध** : कविता में भावमयता और आर्द्रता का ह्यूम ने विशेष रूप से विरोध किया क्योंकि ये विशेषताएँ कविता को अस्पष्ट बना देती हैं। इसके विपरीत, उन्होंने हॉरेस तथा पोप जैसे कवियों की चुस्त भाषा में रची हुई किंतु नीरस कविता को श्रेष्ठ माना क्योंकि वह स्पष्ट तथा संतुलित भाषा में लिखी गई है।

4. **बिंबों का महत्व** : बिंब-विधान के माध्यम से कवि विषय-वस्तु को अधिक गहराई से, अधिक स्पष्टता से और कम शब्दों के माध्यम से व्यक्त कर सकता है। मुख्यतः चाक्षुष बिंब - हमें नज़र आ सकने वाली वस्तुओं से रचे गए बिंब - कई बार पूरी कविता के कथ्य को स्पष्ट करने में समर्थ होते हैं। उदाहरण के लिए, आप फिर से बिहारी के उस दोहे पर ग़ौर करें जिसका उल्लेख इस अनुभाग के आरंभ में किया गया है।

5. **लघुता में भी सौंदर्य के दर्शन** : इसी बात से बिंबवाद की यह मान्यता भी जुड़ी हुई है कि छोटी-छोटी सामान्य वस्तुओं में भी सौंदर्य छिपा होता है और उनके सटीक सुनिश्चित, संक्षिप्त वर्णन के माध्यम से उस सुंदरता का साक्षात्कार हो सकता है। ध्यान दें, स्वच्छदतावादी कवि वर्डसवर्थ ने भी नगण्य वस्तुओ के सौंदर्य को कविता का विषय बनाया था किंतु उनकी और बिंबवाद की विचारधारा में अंतर है।

   दोनों में पहला फ़र्क तो यह है कि **स्वच्छंदतावादी कविता भाव-प्रधान होती है** जबकि **बिंबवादी कविता भावना का बहिष्कार करती है।** दूसरा और प्रमुख फ़र्क यह है कि **स्वच्छंदतावादी कविता में वस्तु-वर्णन मनोभावों को अभिव्यक्त करने का माध्यम भर होता है।** इसके विपरीत **बिंबवादी काव्य में वस्तुपरक बिंबों का संयोजक इस प्रकार होता है कि पाठक पर पहले उनका ही प्रभाव पड़ता है और उनका महत्व कवि के कथ्य की अपेक्षा कम नहीं होता क्योंकि बिंबवादियों के अनुसार भौतिक वस्तु ही काव्य का विषय होती है।** काव्य में वही वस्तु बिंब का रूप धर कर आती है। बिंबों के साथ विचार भी जुड़े होते हैं और बिंबरूप वस्तु का ग्रहण करने के बाद पाठक विचार का भी ग्रहण करता है। उदाहरण के लिए, निराला की लंबी कविता 'राम की शक्तिपूजा' देखें। कविता के आरंभ में ही अमावस्या के गहन अंधकार का जो बिंब है, वह पहले तो हमारे आगे उस बाहरी दृश्य को मूर्तिमान करता है। फिर वह प्रतीक बनकर हमें क्रमशः निराशा और ग्लानि के उस अंधेरे तक ले जाता है जो राम के मन में छाया हुआ है।

6. **मूल्यों का अनुशासन** : बिंबवाद ने स्वच्छंदतावाद द्वारा प्रतिपादित मानववादी धारणा का विरोध किया क्योंकि इसके अनुसार मानव कमज़ोर तथा अधूरा प्राणी है। बिंबवाद इस कमज़ोर मानव के

लिए वस्तुपरक नैतिक मूल्यों के अनुशासन तथा सामाजिक-राजनीतिक नियंत्रण को **आवश्यक** मानता है। इस अनुशासन की व्यवस्था ही मानव संस्कृति का बिखराव रोक सकती है। कविता के लिए भी मूल्यों का अनुशासन आवश्यक है **किंतु यह कविता के विषय को चुनने में कवि को स्वतंत्र मानता है।**

7. **छंद तथा लय :** बिंबवादियों के अनुसार, कविता को **नई मनोदशाओं की अभिव्यक्ति के लिए नई लय का सृजन करना चाहिए।** मुक्त छंद में कवि की वैयक्तिकता अधिक अच्छी तरह अभिव्यक्त हो सकती है। इसलिए बिंबवाद ने उसे प्राथमिकता दी। किंतु साथ ही, उसने यह भी माना कि रचनाकार को उसके अतिरिक्त अन्य प्रकार की लय का भी संधान करना चाहिए।

23.6.3 मूल्यांकन

जो भी आंदोलन साहित्य को किसी अतिवाद से मुक्त करके संतुलन स्थापित करने की चेष्टा करता है, उसका महत्व निश्चय ही निर्विवाद होता है। किंतु आपने देखा ही होगा कि ऐसे नए आंदोलन भी या तो अपनी मूल धारणा में ही, या फिर आगे चलकर, स्वयं किसी अतिवाद का शिकार हो जाते हैं। बिंबवाद की कमज़ोरी भी उसके मूल में ही छिपी थी।

आइए, पहले इसके महत्व पर विचार करें। स्वच्छंदतावाद के नाम पर जब केवल अति-भावुक, खोखली, यांत्रिक कविता लिखी जाने लगी थी, तब इसने इन कुछ प्रमुख पक्षों पर बल देकर लेखन तथा समालोचना के क्षेत्र में विचार पक्ष तथा अनुशासन की स्थापना की और कविता के क्षेत्र में आए बिखराव को थामा। इसका प्रमुख योगदान था :

- काव्य में फिर से गरिमा, अनुशासन तथा संतुलन की प्रतिष्ठा
- भाषा की सहजता तथा प्रवाह पर बल
- दृश्य-बिंबों की सुंदर संरचना
- कविता में विचार पक्ष की पुनःस्थापना
- छंदों की जकड़न से मुक्ति का प्रयास
- भाषा के नाद तथा लय की पहचान
- संक्षिप्ति और समास पर बल देकर अनावश्यक शब्द-जंजाल से मुक्ति
- अतिशय आत्मपरकता की प्रवृत्ति के खिलाफ़ वस्तुपरकता के महत्व पर फिर से बल; आदि।

इन सबके बावजूद कई कारणों से यह आंदोलन क्रमशः प्रभावहीन हो चला :

- इसकी सबसे प्रमुख कमी थी - **संकीर्णता।** क्लासिकी नियमों तथा वस्तुपरकता से बाँधकर इसने कविता का क्षेत्र बहुत संकीर्ण कर दिया क्योंकि उसमें मानव की आंतरिक अनुभूतियों तथा संवेदनाओं के लिए कोई गुंजाइश नहीं छोड़ी गई। इसी प्रकार, कविता में हालाँकि बिंबों का महत्व है, मगर बिंब-धर्मिता को कविता का एकमात्र गुण मानना उसके क्षेत्र को सीमित कर देता है।

- यह चूँकि काव्य के बाह्य पक्ष पर ही अधिक बल देता है, अतः इसमें **अभिव्यक्ति प्रमुख हो जाती है और कथ्य गौण।** इसमें मात्र बाह्य वर्णन की प्रधानता हो जाती है और वैयक्तिक अनुभूति की कोई गुंजाइश नहीं रहती। अतः यह आंदोलन भी एकांगी और अतिवादी बनकर रह गया।

- क्लासिकी अनुशासन के तहत नीरस, सटीक शब्दों के प्रयोग ने इस कविता से लालित्य तथा सौंदर्य छीन लिया। **विभिन्न भाषिक विकल्पों, अर्थात् भाषा के विभिन्न प्रकार के प्रयोग की संभावनाओं पर इसने रोक लगा दी। इसमें सीमितता और एकरसता** तो आ ही गई, भाषा की संभावनाओं का पूरा उपयोग भी नहीं हो सका। इसीलिए इसमें श्रेष्ठ कविता की रचना अधिक नहीं हो सकी।

23.6.4 समाहार

बिंबवाद से संबंधित इस भाग में आपने देखा कि स्वच्छंदतावाद की अनुशासनहीन आत्मपरकता के विरुद्ध कविता में क्लासिकी संयम और अनुशासन का नारा लेकर बिंबवादी आंदोलन उभरा। इसने कविता में वस्तु-जगत के अंकन को अधिक महत्वपूर्ण माना और उस जगत को बिंबों के माध्यम से प्रकट करने की तकनीक अपनाई। बिंब किसी छोटी से छोटी या नगण्य से नगण्य प्रतीत होने वाली वस्तु के भी हो सकते हैं और अपने समग्र प्रभाव के साथ वे पाठक तक कवि के विशिष्ट विचारों का भी वहन करते हैं। कविता के लिए यह कोमल मधुर भाषा के स्थान पर कटी-छँटी, चुस्त, नीरस भाषा

का पक्षधर है। काव्य शिल्प में भी परिवर्तन की माँग करते हुए इसने भाषा की नवीन लय के प्रयोग की आवश्यकता दिखलाई। प्राचीन क्लासिकी यूरोपीय कविता तथा एशियाई कविता से इसने शिल्प संबंधी प्रेरणा ग्रहण की और संक्षिप्त, स्पष्ट तथा सटीक काव्य की रचना की।

अपनी तमाम सकारात्मक विशेषताओं के बावजूद बिंबवादी आंदोलन अपनी वस्तुपरकता, एकांगिता तथा नीरसता के कारण अधिक समय तक नहीं चल सका हालाँकि इसके महत्व को भी नकारा नहीं जा सकता।

23.7 कलावाद

साहित्य चिंतन में समय-समय पर ऐसे सिद्धांत उभरते रहे हैं जिनमें नैतिक शिक्षा या उपदेश को ही साहित्य का प्रमुख प्रयोजन माना गया है। इस दृष्टि के अनुसार चूँकि सामाजिक जीवन के उत्थान को रचनाकार का कर्तव्य माना गया इसलिए वह अनिवार्यतः बाह्य जगत से, इसके नियमों और अनुशासन से जुड़ गया। रचना-कर्म के दौरान अपनी सहज अनुभूतियों को वाणी देने के स्थान पर उसे सचेत रहना पड़ता था कि वह ऐसा कुछ न रच जाए जो सामाजिक या साहित्यिक आदर्श के विपरीत हो। इस धारा में भी अनेक महान रचनाएँ हुई हैं किंतु कई कलाकारों को इन नियमों के चौखटे में अपनी रचनात्मकता घुटती हुई महसूस हुई। साहित्य पर साहित्य से इतर प्रतिमानों के दबाव के विरुद्ध उन्होंने आपत्ति उठायी और साहित्य (तथा कला) को पूर्णतः आत्माभिव्यक्ति का माध्यम माना। आनंद से भी आगे जाकर आत्माभिव्यक्ति को ही साहित्य तथा कला का प्रयोजन भी माना गया और उससे भी आगे चलकर कला को किसी भी बाहरी प्रयोजन से मुक्त और स्वायत्त मानकर स्वयं कला को ही उसका उद्देश्य मान लिया गया। **कला की स्वायत्तता** का दावा करने वाली यह सौंदर्यशास्त्रीय दृष्टि ही कलावाद' है।

23.7.1 उद्भव और विकास

आंदोलन के रूप में कलावाद का उद्भव फ्रांस में हुआ लेकिन इसके पीछे पूरे यूरोप की साहित्यिक तथा दार्शनिक पृष्ठभूमि थी। सुदूर अतीत में पाश्चात्य काव्यशास्त्र के जनक अरस्तू ने रचनाकार के सामाजिक दायित्व को स्वीकार करते हुए भी काव्य-कला के प्रतिमानों की स्वायत्तता पर बल दिया था। यूरोपीय सौंदर्यशास्त्र में जब भी वैयक्तिकता तथा आत्मपरकता की प्रवृत्तियाँ प्रबल हुईं, कला के स्वतंत्र गतिमानों की अनिवार्यता महसूस की गई। जर्मनी के आत्मवादी दर्शन से भी इस प्रवृत्ति को बल मिला और इसका प्रभाव आप 18वीं सदी के अंत में इंगलैंड में उभरी स्वच्छंदतावादी विचारधारा में देख सकते है। अठारहवीं सदी में ही दार्शनिक एमानुएल कांट (1724-1804) ने **कला की स्वायत्तता** को रेखांकित करते हुए यह माना कि उसे ज्ञान तथा नैतिकता के प्रतिमानों से मुक्त होना चाहिए क्योंकि सौंदर्य तना का विषय होता है, बाह्य विश्व का नहीं।

उन्नीसवीं सदी के दूसरे दशक में जब कलावाद एक सबल प्रवृत्ति के रूप में उभरने लगा था, तब तक यूरोपीय विचारधारा पर कांट का प्रभाव हल्का नहीं पड़ा था। विशेषकर फ्रांस में कांट की सौंदर्यशास्त्रीय अवधारणाओं पर बाक़ायदा चर्चा हो रही थी और एक नया सौंदर्यशास्त्रीय मुहावरा बन रहा था जिसमें अशुद्ध कला', 'विशुद्ध सौंदर्य', 'प्रतिभा' आदि को बड़ा महत्व दिया जा रहा था। मदाम द'स्ताल, क्तर कूज़ें, थियोफ़ील गोतिए आदि इस विचार-विमर्श के प्रमुख प्रतिभागी थे। मुख्यतः सन 1814 से 1816 तक चली इस चर्चा से एक नया मुहावरा उभरा - 'ल'आर पूर ल'आर' अर्थात् 'कला कला के आए'। यह मुहावरा कलावादी आंदोलन का सूत्र-वाक्य बन गया। फ्रांस में यह आंदोलन तेज़ी से फैला र बॉदलेयर, मलार्मे आदि प्रतीकवादी रचनाकार भी इससे जुड़ गए। कुछ अरसे बाद इंगलैंड में स्कर वाइल्ड, ए.सी. ब्रैडले, ए.सी. स्विनबर्ग, जे.ई.स्पिनगार्न, चित्रकार जेम्स ह्विसलर और अमेरिका वोल्टर पैटर, ऐडगर ऐलेन पो आदि भी इस आंदोलन से जुड़े।

वनीसवीं सदी में साहित्य तथा कला के क्षेत्र में यह आंदोलन बहुत प्रबल रहा, किंतु अन्य आंदोलनों की हि भाँति इसे भी एकांगिता तथा अतिवाद ने कमज़ोर कर दिया और नई उभरती हुई सौंदर्यशास्त्रीय विपत्तियों के आगे यह धीरे-धीरे मंद पड़ गया।

23.7.2 प्रमुख प्रवृत्तियाँ तथा मान्यताएँ

आप समझ चुके हैं कि **कलावाद की मूल प्रवृत्ति है, कला को स्वतंत्र मूल्य के रूप में मान्यता** था। एक बात पर ध्यान दें। किसी भी महत्वपूर्ण सिद्धांत में अनेक विचारकों का चिंतन शामिल होता भिन्न-भिन्न विचारक सिद्धांत के भिन्न-भिन्न पक्षों का विवेचन करते हैं और यह तमाम विवेचन समग्र

रूप में उस सिद्धांत का स्वरूप स्पष्ट करता है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि किसी एक पक्ष को लेकर दो विचारकों के मत बिल्कुल विपरीत होते हैं। स्वच्छंदतावाद के संदर्भ में शायद आपने कुछ मुद्दों पर वर्डसवर्थ तथा कॉलरिज के विभिन्न मतों के बारे में पढ़ा भी हो। किसी सिद्धांत की प्रवृत्तियों की चर्चा करते समय हम सभी प्रवृत्तियों को समेट लेते हैं, पर यह संभव है कि उनका कोई विशेष पक्ष कुछेक विचारकों द्वारा ही अनुमोदित हुआ हो, सबके द्वारा नहीं। आइए, इस भूमिका के बाद हम कलावाद की प्रमुख प्रवृत्तियों पर विचार करें।

1. **कला की स्वायत्तता** : कलावादी विचारकों का मानना है कि कला अपने आप में पूर्ण होती है। **उसे एकमात्र कला के मूल्यों से ही शासित होना चाहिए** - सामाजिक, राजनैतिक, नैतिक या धार्मिक मूल्यों से नहीं। इस प्रकार का बाहरी अनुशासन कला को बाधित कर देता है।

2. **कला का प्रयोजन** : कला के मूल्य वस्तुतः सौंदर्य के मूल्य होते हैं। कला मात्र सौंदर्यशास्त्र के नियमों का अनुसरण करती है और **उसका प्रयोजन होता है सौंदर्य की सृष्टि**। नैतिक शिक्षा, उपदेश या समाज का उत्थान कला का कार्य नहीं है। सौंदर्य के सृजन के साथ ही उसका लक्ष्य पूरा हो जाता है।

   यहाँ यह ध्यान देना ज़रूरी है कि **सभी कलावादी विचारकों ने कला को सामाजिकता और नैतिकता से ऊपर नहीं माना है**। बॉदलेअर तथा पेटर जैसे रचनाकारों ने नैतिकता का पृथक मूल्य न मानते हुए उसे सौंदर्य में ही समाहित किया है। वे मानते हैं कि सामाजिक प्राणी होने के नाते मनुष्य की किसी भी रचना से - उसकी शुद्ध सौंदर्य सृष्टि से भी - सामाजिक तत्व पूरी तरह बहिष्कृत नहीं हो सकता। चाहे-अनचाहे उसकी कला पर इस तत्व का प्रभाव आ ही जाता है। बॉदलेअर मानते थे कि नैतिक वक्तव्य कला में घुला-मिला रहता है। पेटर ने उसी कला को महान माना जो हमारे जीवन को ऊँचा उठाती हो - किंतु स्पष्ट उपदेश दिए बिना। ऐडगर ऐलन पो का कहना है कि सौंदर्य और कला अभिन्न हैं और कला के चिंतन से मिलने वाला आनंद आत्मा का उत्कर्ष करता है। सुंदर का संबंध उदात्त से है इसलिए प्रासंगिक रूप से ही सही, इसमें नैतिकता तथा वस्तु-जगत के सत्य का समन्वय हो ही गया है।

3. **कला का स्वरूप** : कलावादियों ने कला का संबंध चेतना से माना। सौंदर्य एक अनुभूति होती है जो चेतना में स्थित होती है। **कला भी चेतना की ही प्रक्रिया है**। इस प्रक्रिया का लक्ष्य केवल कला है जो सहृदय के मन को उदात्तता और शांति से भर देती है।

   कला प्रकृति से श्रेष्ठ होती है क्योंकि प्रकृति अपूर्ण होती है व कला पूर्ण। प्रकृति में कुरूपता भी दिखाई देती है जबकि कला उसे सुंदर रूप में प्रस्तुत करती है। कला विशुद्ध सौंदर्य है। वह बाहरी भावों पर ही नहीं बाह्य विषय-वस्तु पर भी आधारित नहीं होती क्योंकि विषय-वस्तु की विशेषताओं की तरफ़ ध्यान खिंच जाने से प्रमाता विशुद्ध कला का आनंद नहीं ले पाता।

4. **कल्पना का महत्व** : यथार्थ सृष्टि की अपूर्णता और कुरूपता को पूर्णता और सुंदरता में बदलकर प्रस्तुत करना कल्पना का ही कार्य है। ध्यान रखें कि रचनाकार सृष्टि से सुंदर अंश चुनकर प्रस्तुत नहीं करता बल्कि उसकी सौंदर्य-दृष्टि और अभिव्यक्ति का सौंदर्य कलाकृति को अपने आप ही सुंदर बना देते हैं। यह सौंदर्य-मंडन कला के माध्यम से ही संभव होता है।

5. **शिल्प** : आप पढ़ चुके हैं कि कलावादियों ने विषय-वस्तु को कला की अभिव्यंजना में बाधक माना। मगर **शिल्प-विधान को इन्होंने महत्व दिया** - विशेषकर बॉदलेअर, गोतिए और वाइल्ड ने। किंतु पेटर ने माना कि **केवल शिल्प श्रेष्ठ कला को जन्म दे सकता है महान कला को नहीं**। कला महान तभी होती है जब वह मानव जीवन को ऊँचा उठाए। शिल्प और शब्द-चयन भी तभी उपयुक्त होते हैं जब वे कलाकार की दृष्टि का सम्प्रेषण कर सकें।

इस प्रकार, कलावाद की प्रमुख मान्यताओं पर विचार करते हुए आपने यह भी देखा कि मुख्य प्रवृत्तियाँ समान होने पर भी कुछ बिंदुओं पर विचारकों में मतभेद रहा है। अपने युग के रचनाकारों तथा साहित्यशास्त्रियों पर इस सिद्धांत का गहरा प्रभाव पड़ा।

23.7.3 मूल्यांकन

कलावाद का महत्व इस बात में निहित है कि कला पर कला से इतर मूल्यों की जकड़बंदी का इसने विरोध किया और सौंदर्यशास्त्रीय दृष्टि में संतुलन लाने की चेष्टा की। सौंदर्यशास्त्र पर समाज, नैतिकता तथा धर्म के मूल्यों का दबाव इतना बढ़ गया था कि साहित्य और अन्य विधाओं के अपने शिल्पगत मूल्यों की उपेक्षा होने लगी थी। कलावाद उन मूल्यों को फिर से केंद्र में लाया।

- किंतु कलावाद की कुछ सीमाएँ भी बड़ी स्पष्ट हैं। सौंदर्यशास्त्रीय प्रतिमानों की फिर से स्थापना करने की प्रक्रिया में यह स्वयं दूसरी सीमा पर पहुँच गया। इस विचारधारा ने **कला को बाह्य जगत से इतना अधिक काट दिया कि उसके सामाजिक अस्तित्व पर ही प्रश्न-चिह्न लग गया।** विषय-वस्तु को नगण्य मानने के कारण समाज और सामाजिकता से भी यह सिद्धांत कट गया। इस सिद्धांत का चरम अतिवादी रूप हमें क्रोचे के अभिव्यंजनावाद में दिखाई देता है जहाँ बाह्य जगत में कला की अभिव्यक्ति आवश्यक मानी ही नहीं गई।

- कलावाद ने कृति के शिल्प पर बल दिया किंतु सृजन प्रक्रिया को मात्र कलाकार की चेतना से जोड़ देने के कारण वह शिल्प सिर्फ़ उस कृति तक सीमित हो गया। इस स्थिति में **किन्हीं वस्तुगत सर्वसामान्य कसौटियों का विकास नहीं हो सका** जो हर रचना पर लागू हो सकें। ऐसे में सौंदर्यशास्त्र के मानक सिद्धांत भी विकसित नहीं हो सके।

- शिल्प पर अधिक बल देने के कारण प्रायः कलाकृति या **साहित्यिक रचना का भाव-पक्ष भी उपेक्षित होने लगा** जो कृति की आत्मा होता है। यह अवश्य है कि सभी कलावादी विचारक इस अतिरेक तक नहीं गए।

कलावाद के महत्व को स्वीकार करते हुए भी उसकी इस प्रकार की समाज-विमुखता को मान्यता नहीं दी जा सकती। प्रतीकवाद की भाँति यह आंदोलन भी अपनी अत्यधिक आत्मपरकता के कारण क्रमशः अपनी प्रासंगिकता खो बैठा।

23.7.4 समाहार

इस अनुभाग में हमने कलावाद की पृष्ठभूमि, उद्भव तथा मान्यताओं पर विचार किया। इस आंदोलन का सूत्र-वाक्य है 'कला कला के लिए' - अर्थात् कला का एकमात्र प्रयोजन है कला या सौंदर्य। किसी कृति को इसी दृष्टि से परखा जाना चाहिए, उसके सामाजिक, नैतिक या धार्मिक प्रकार्य के आधार पर नहीं। कला या साहित्य पर इनसे इतर प्रतिमान लागू नहीं करना चाहिए। इनका प्रयोजन अपने आप में कलात्मकता के प्रतिमानों की पूर्णता पाना है जिससे प्रमाता को भी आनंद मिलता है। कुछ कलावादी विचारकों के मत में कला उदात्त होने के नाते नैतिक प्रभाव भी डालती है, पर यह प्रसंगवश ही होता है। कला का प्रयोजन यह नहीं है। कुछ अन्य विचारकों ने उसी कला को महान माना है जो मानव को नैतिक रूप से ऊँचा उठाए। किंतु उनके मत में भी यह नैतिकता बाहरी मूल्य के रूप में नहीं आती बल्कि सौंदर्य में ही समाहित होती है।

कलावादियों के अनुसार सौंदर्य की स्थिति चेतना में होती है और कला भी चेतना की ही प्रक्रिया है। कल्पना वह शक्ति है जो कला की अभिव्यक्ति को सुंदर बनाती है। कला इसीलिए प्रकृति से श्रेष्ठ है क्योंकि प्रकृति में असुंदरता भी होती है पर कला सदैव सुंदर होती है।

सुंदरता के सम्प्रेषण की खातिर कलावाद ने शिल्प को बड़ा महत्व दिया। यहाँ तक कि शिल्प की क़ीमत पर कथ्य तथा भाव की उपेक्षा होने लगी। कुछ तो यह तथ्य और कुछ कला का अत्यधिक आत्मपरक होकर अपने समाज से कट जाना उन प्रमुख कारणों में से है जिनसे कलावाद का ह्रास हुआ। फिर भी, इस सिद्धांत का प्रभाव साहित्य तथा आलोचना पर से आज भी पूरी तरह लुप्त नहीं हुआ है क्योंकि इसने कला की परख कला के प्रतिमानों से ही करने पर बल दिया और दिखलाया कि केवल बाहरी कसौटियों को अपनाने से कला किस प्रकार अपना स्वरूप और संगति खो बैठती है।

23.8 अस्तित्ववाद

आपने अब तक के अध्ययन में देखा होगा कि कई सौंदर्यशास्त्रीय सिद्धांतों के बीज दार्शनिक सिद्धांतों में निहित होते हैं। किंतु **अस्तित्ववाद अपने आप में एक दर्शन है, सौंदर्यशास्त्रीय सिद्धांत नहीं।** फ्रांस के **ज्याँ पॉल सार्त्र** इसके प्रमुख व्याख्याताओं में से थे और उन्हें सौंदर्यशास्त्रीय संदर्भों में इसके प्रयोग पर आपत्ति थी। लेकिन यह भी सच है कि द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद विभिन्न देशों में लेखकों की एक **पूरी पीढ़ी के लेखन में** अस्तित्ववादी अवधारणाओं की अनुगूँज मिलती है। इसके साथ अगर **कीर्केगार्द और हाइडेगर** जैसे विचारकों का नाम जुड़ा है तो **अल्बेयर कामू** और **फ्रांज़ काफ़्का** जैसे लेखकों का भी। क्या आपने **धर्मवीर भारती** का नाटक 'अंधा युग' पढ़ा है? न पढ़ा हो तो पढ़िए और उसमें व्यक्त **विचारों का अस्तित्ववाद के सिद्धांतों से मिलान** करके देखिए। आपकी समझ में आ जाएगा कि मूलतः यह साहित्य सिद्धांत है या नहीं, साहित्य पर इसका प्रभाव असंदिग्ध है।

इसकी वजह भी है। साहित्य प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अपने समय की विचारधाराओं का वाहक अवश्य होता है। दूसरी वजह यह है कि साहित्यकार भी अपने स्तर पर एक विचारक होता है और जिन परिस्थितियों ने दार्शनिकों के सोच को कोई ख़ास दिशा दी हो, वे ही परिस्थातियाँ विचारशील साहित्यकार पर असर डाले बिना नहीं रहतीं। ऐसे में दर्शन तथा साहित्य में सोच का साम्य नज़र आना स्वाभाविक है। उस स्थिति में साहित्य पर दार्शनिक वाद के नाम का ठप्पा लग जाना भी स्वाभाविक है। यह बात और है कि अमूमन साहित्यिक वाद और दार्शनिक वाद एक ही नाम से नहीं जाने जाते जैसा कि 'अस्तित्ववाद' के मामले में हुआ है।

अस्तित्ववादी दर्शन अपने आप में काफ़ी जटिल है। अन्य वादों की तरह इसमें भी कई बिंदुओं पर अलग-अलग विचारकों के मत कुछ भिन्न हैं, पर जीवन-दृष्टि संबंधी कुछ प्रमुख समानताएँ इन्हें परस्पर जोड़ती हैं।

साम्य का सबसे बड़ा बिंदु यह है कि इन चिंतकों ने मानव को विशेष महत्ता दी। पारंपरिक दर्शन में दो प्रमुख धाराएँ देखने में आती हैं। ये हैं - आत्मपरक प्रत्ययवादी (Subjective Idealistic) धारा और वस्तुपरक भौतिकवादी (Objective Materialistic) धारा। **अस्तित्ववाद ने विचार जगत तथा भौतिक सत्य की बहस में न पड़कर इन दृष्टिकोणों के अतिवाद के खिलाफ़ विद्रोह किया और मानवीय सत्ता को अपने विचार का केंद्र बनाया।**

वैषम्य का एक प्रमुख बिंदु यह है कि अस्तित्ववादी विचारकों में कुछ **आस्तिक** हैं - अर्थात् ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करते हैं (मार्सेल, यास्पर्स, कीर्केगार्द आदि) और कुछ **नास्तिक** (हाइडेगर, सार्त्र आदि)। किंतु इस वैषम्य में भी साम्य यह है कि ये सभी व्यक्ति को पूर्ण स्वतंत्र मानते हैं और साथ ही अपने व्यक्तित्व, जीवन और भविष्य के प्रति उत्तरदायी भी। सारांशतः

- अस्तित्ववाद की चर्चा सौंदर्यशास्त्र के संदर्भ में हो रही है परंतु मूलतः यह एक दार्शनिक सिद्धांत है।
- यह पारंपरिक प्रत्ययवादी तथा भौतिकवादी सिद्धांतों के विरुद्ध विद्रोह करता है।
- अस्तित्ववाद के अंतर्गत आस्तिक तथा नास्तिक, दोनों ही दृष्टियों वाले विचारक हैं, किंतु
- इस सिद्धांत में मानव की सत्ता को ही सर्वप्रमुख माना गया है।

23.8.1 उद्भव और विकास

विद्वानों ने अस्तित्ववाद की परंपरा को सुदूर अतीत में ग्रीक स्टोइकों (Stoics - संयमवादी) से जोड़ा है। ईसाई संतों - संत बर्नार्ड और संत ऑगस्तीन - के विचारों में भी इस दृष्टिकोण की झलक मिलती है। बीसवीं सदी में एक स्पष्ट दर्शन के रूप में व्याख्यायित होने के पहले 17वीं सदी में पास्कल, 19वीं सदी में कीर्केगार्द तथा नीत्शे, और 20वीं सदी में हाइडेगर तथा यास्पर्स के विवेचन ने भी इसकी एक सुदृढ़ भूमिका बना दी थी। द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद यह एक निश्चित सिद्धांत के रूप में उभरा। सन 1945 में फ्रेंच विचारक ज्याँ पाल सार्त्र ने एक व्याख्यान में स्पष्ट रूप से इसका विवेचन किया।

अब आप देखिए - इस विचारधारा के बीज जब सुदूर अतीत में निहित थे ही, तो कुछ ऐसे कारण अवश्य रहे होंगे कि समय के इसी बिंदु पर यह सिद्धांत उभरा। इसके दो प्रमुख कारण हो सकते हैं। एक है, **दार्शनिक पृष्ठभूमि**, जिसका संकेत अभी किया गया है। इसके अंतर्गत पारंपरिक आत्मवादी तथा भौतिकवादी दर्शनों के प्रति विद्रोह का भाव भी आ जाता है, मानवीय अस्तित्व के महत्व का बोध भी, और कर्ता रूप ईश्वर की सत्ता में अविश्वास भी।

दूसरा और अधिक जटिल तथा बहु-स्तरीय कारण है, तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक तथा वैचारिक परिस्थितियाँ।

समाज और राजनीति के स्तर पर विश्व, प्रथम विश्व-युद्ध की मारक स्थितियों को पहले झेल चुका था और उसके विध्वंस के आघात से अभी उबर नहीं पाया था। बड़े पैमाने पर नरसंहार ने मानव को भय, त्रास और निराशा से भर दिया था। वह संहार की शक्तियों के आगे अपने आपको असहाय महसूस करने लगा था। द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद यह अहसास और विकट हो उठा।

इस स्थिति से ही नैतिक मूल्यों का विराट संकट भी उपजा। युग-युग से पूजे जाते रहे प्रेम, करुणा एवं मानवीयता के मूल्य युद्ध की स्थिति में पूरी तरह खण्डित हो गए थे। मनुष्य की आस्था के पारंपरिक

आधार थे, ईश्वर में निष्ठा, और किसी परम सत्ता के द्वारा चालित एक न्याययुक्त विश्व-व्यवस्था में विश्वास। हारने पर उसे 'हरिनाम' का सहारा रहता था। पर अब विश्व में ऐसी वैचारिक परिस्थितियाँ उभर रही थीं कि पारंपरिक मूल्य और आस्था के आधार बिखरने लगे थे। ये परिस्थितियाँ थीं :

(क) **वैज्ञानिक प्रगति** : चार्ल्स डार्विन (1809-82) के विकासवाद के सिद्धांत ने सर्जक और नियंता के रूप में ईश्वर के अस्तित्व को नकार दिया। सिगमंड फ्रॉयड (1850-1939) ने मानव के मूलतः अच्छे होने की अवधारणा पर ही प्रहार करते हुए दिखलाने की कोशिश की कि चेतन रूप में वह जिन मूल्यों और आस्थाओं का समर्थन करता है, उनका प्रभाव केवल सतही है। वास्तव में हिंसा, चोरी, व्यभिचार आदि ही मानव की नैसर्गिक प्रवृत्तियाँ हैं। इससे उसके स्वीकृत नैतिक आदर्श बिखरने लगे। विज्ञान के क्षेत्र में नए-नए आविष्कार सृष्टि के रहस्यों को उद्घाटित करते जा रहे थे और परंपरा से पूजित सृष्टिकर्ता के प्रति आस्था को हिला रहे थे।

(ख) **बढ़ता औद्योगीकरण और मार्क्सवाद** : युद्ध के प्रभाव और औद्योगीकरण के साथ-साथ समाज में स्वार्थ और आपा-धापी बढ़ने लगी और प्रेम तथा सहयोग के मूल्यों का विघटन होने लगा। औद्योगीकरण के साथ ही समाज में आर्थिक विषमताएँ भी बढ़ने लगीं जिनका अध्ययन करके कार्ल मार्क्स (1818-83) ने समाज में पूँजी के महत्व को रेखांकित किया और नई मूल्य-व्यवस्था की बात की।

डार्विन, फ्रॉयड और मार्क्स के सिद्धांत और औद्योगिक विकास - ये सभी भौतिकतावादी दृष्टि का समर्थन करते थे और मानव के जीवन में परिवेश के महत्व को रेखांकित करते थे। इससे पारंपरिक आत्मवादी, आध्यात्मिक तथा नैतिक मान्यताएँ कमज़ोर पड़ने लगीं। सदियों से ये ही मान्यताएँ मनुष्य की आस्था का आधार थीं। यह आधार ऐसे समय खंडित हुआ जब मनुष्य को दो विश्व-युद्धों से उपजा संत्रास बुरी तरह ग्रस रहा था और उसे मूल्यों, आदर्शों तथा आस्था के संबल की ज़रूरत थी।

इन सारी स्थितियों ने मिलकर इस समय अस्तित्ववादी दर्शन के प्रस्फुटन के लिए ज़मीन तैयार कर दी थी। **मूलतः जर्मनी से उभरा यह दर्शन फ्रांस में फूला-फला एवं द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद अन्य देशों पर इसका व्यापक प्रभाव दिखलाई देने लगा।** जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, इसने पूरे विश्व के साहित्य को भी गहराई से प्रभावित किया और आज हालांकि इसका स्थान प्रमुख प्रचलित विचारधाराओं में नहीं है किंतु दर्शन तथा लेखन के क्षेत्र में इसका प्रभाव पूरी तरह निरस्त नहीं हुआ है। जहाँ-जहाँ आस्था तथा मूल्यों का विघटन, परिस्थिति-जन्य संत्रास और नए मूल्यों की तथा मूल्यों के आधार की तलाश रहेगी, वहीं अस्तित्ववाद का प्रभाव भी रहेगा।

23.8.2 प्रमुख प्रवृत्तियाँ तथा मान्यताएँ

यह उल्लेख पहले ही किया जा चुका है कि अस्तित्ववाद के संदर्भ में यह नहीं कहा जा सकता कि अमुक-अमुक मान्यताएँ हैं जिन्हें तमाम अस्तित्ववादी विचारकों का समर्थन प्राप्त है। फिर भी, कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ हैं जो सभी विचारकों में किसी न किसी रूप में दिखाई देती हैं। इसके अतिरिक्त, कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ भी हैं जिन्हें सारे चिंतकों की स्वीकृति तो नहीं मिली हैं, परंतु अस्तित्ववादी विचार-परम्परा में उनका बड़ा महत्व है। आगे उल्लिखित प्रवृत्तियों के अध्ययन के संदर्भ में आप इस बात का बराबर ध्यान रखें। विभिन्न विचारकों के स्वतंत्र मतों के अध्ययन के लिए आप संदर्भ ग्रंथों का सहारा ले सकते हैं। इस विचारधारा की प्रमुख मान्यताएँ इस प्रकार हैं :

1. **अस्तित्व पहले होता है सार नहीं** : इस बात को समझने के लिए पहले आपको इस संदर्भ में 'सार' का अर्थ समझना होगा। 'सार' या 'तत्व' वह अवधारणा होती है जो किसी भी सर्जना के पहले सर्जक के मस्तिष्क में रहती है। मान लीजिए आप एक कुर्सी बनाना चाहते हैं। उसके लिए आप बिना सोचे-समझे कुछ लकड़ियों को उठाकर आड़ा-टेढ़ा जोड़ तो नहीं देंगे? आपके दिमाग में कुर्सी का एक पूर्व-निर्धारित रूप होगा, एक परिकल्पना होगी, एक डिज़ाइन होगा; यही 'सार' है। इसी के अनुरूप आप कुर्सी बनाएँगे और कुर्सी अस्तित्व में आएगी। ऐसे में स्पष्ट ही 'सार' पहले आता है और 'अस्तित्व' बाद में। प्लेटो के 'प्रत्ययवाद' की मूल मान्यता कुछ इसी प्रकार की है। इस संदर्भ में उसे फिर से पढ़कर देखिए।

   सार को अस्तित्व का पूर्ववर्ती मानने वाले यह मानते हैं कि ईश्वर यदि मनुष्य का सर्जक है तो उसके मस्तिष्क में भी मनुष्य के स्वरूप, प्रकृति आदि को लेकर एक पूर्व-अवधारणा है जिसके अनुसार वह मनुष्य को गढ़ता है। अर्थात् मनुष्य की प्रकृति, उसका सार पहले से तय होता है और तब वह अस्तित्व में आता है।

अस्तित्ववादी विचारक इस मान्यता का विरोध करते हैं। उनका मानना है कि मनुष्य **पहले अस्तित्व में आता है, पृथ्वी पर अवतरित होता है। इसके बाद वह स्वयं अपने सार का, अपने व्यक्तित्व का निर्माण करता है।** वह किसी बने-बनाए साँचे से ढलकर नहीं निकलता, बल्कि अपने व्यक्तित्व और चरित्र का साँचा खुद बनाता है। वह जो कुछ, जैसा कुछ भी होता है, अपना ही बनाया हुआ होता है। कुर्सी या मेज़ की भाँति उसे किसी अन्य सत्ता की पूर्व-धारणा का कार्यान्वय मानना उसकी गरिमा को ठेस लगाना है।

यहाँ एक बात का संकेत करना ज़रूरी है। अस्तित्ववादियों ने इस बात को स्वीकार किया है कि सार-तत्व दो प्रकार का होता है - सार्वभौम तथा वैयक्तिक। **सार्वभौम तत्व** मूलतः भौतिक तत्व होते हैं जो सभी मानवों में समान हैं। मानव उनका निर्माण नहीं करता। **वैयक्तिक तत्व** हर मानव के व्यक्तित्व के स्वरूप का, जीवन में उसके रुख़ का निर्धारण करते हैं। इनपर मनुष्य का अपना नियंत्रण होता है। अर्थात्, **अपने होने पर नहीं बल्कि अपने होने के तरीक़े पर मनुष्य का नियंत्रण है (I choose to be myself not in my being, but in the manner of my being. -- सार्त्र)।**

2. **मानव के पूर्ण स्वातंत्र्य में विश्वास** : इस बात को पिछली बात से भी जोड़कर देखें। अस्तित्ववादी दृष्टि में मानव पूर्णतः स्वतंत्र है। **एक ओर वह इसलिए स्वतंत्र है कि अपनी सत्ता का, अपने स्वरूप का, अपने मूल्यों और जीवन पद्धति का सृजन स्वयं उसके हाथ में है।** इस सबके लिए ईश्वर भी उत्तरदायी नहीं है। **दूसरी ओर, मुख्यतः सार्त्र के मत में, वह नीति, धर्म, सामाजिकता आदि सभी से स्वतंत्र है।** किसी भी सिद्धांत या आदर्श के पालन को वह बाध्य नहीं है, न वह विश्व, देश या समाज के प्रति किसी भी रूप में उत्तरदायी है। वह किसी उद्देश्य से परिचालित नहीं है बल्कि निरुद्देश्यता ही उसका जीवन है।

   इस प्रकार की धारणा समाज में विश्रृंखलता और अराजकता को जन्म देती है। अवश्य ही ऐसी धारणा के विकास के पीछे युद्धोत्तर काल की आपा-धापी, स्वार्थपरकता, आस्था की टूटन और मूल्यों के हनन का हाथ रहा है। इसलिए विचारकों ने दायित्व को मनुष्य के लिए बड़ा कठिन माना है क्योंकि वह जो भी फ़ैसला लेता है, जो भी कार्य करता है, वह उसके समाज ही नहीं, पूरी मानवता के आगे एक दृ.ष्टांत के रूप में आता है और उसे प्रभावित करता है।

3. **चुनाव की स्वतंत्रता : अपने व्यक्तित्व और अपने भविष्य को गढ़ने में मानव पूर्णतः स्वतंत्र है** क्योंकि वह पशुओं और निर्जीव पदार्थों से ऊपर है। वे परिस्थितियों से परिचालित होते हैं परंतु एक ही परिस्थिति में मानव भिन्न-भिन्न विकल्पों का चुनाव कर सकता है, अपने मन के मुताबिक रुख़ अपना सकता है। वह किन्हीं पहले से निर्धारित मूल्यों या आदर्शों पर नहीं चलता बल्कि **उसे अपने लिए स्वयं निजी मूल्य निर्धारित करने की स्वतंत्रता है।** स्पष्ट ही, **अस्तित्ववाद नियतिवाद का भी विरोध करता है।** 'अंधा युग' की पंक्तियाँ याद कीजिए :

   नियति नहीं है पूर्व-निर्धारित
   उसको हर क्षण मानव-निर्णय बनाता-मिटाता है।

   और

   वे हैं भविष्य
   किंतु हाथ में तुम्हारे हैं
   जिस क्षण चाहो उनको नष्ट करो
   जिस क्षण चाहो उनको जीवन दो, जीवन लो।

   इस संदर्भ में ध्यान दे, अस्तित्ववाद मनुष्य के अपने सोच और विवेक पर बल देता है, इसलिए सामाजिक-राजनीतिक संस्थानों की नियमावली का अनुशासन हो या निर्धारित आदर्शों का दबाव - इन सभी को वह व्यक्ति की स्वतंत्रता का हंता मानता है।

4. **सिद्धांतों का अस्वीकार** : सामाजिक-राजनीतिक नियमों तथा आदर्शों की ही भाँति **वह पारंपरिक दार्शनिक सिद्धांतों को भी नकारता है** क्योंकि उनमें स्थायित्व नहीं है। वे बनते और बिखरते हैं। उनका प्रभाव बढ़ता और घटता रहता है। ऐसी स्थिति में उन्हें संगत कैसे माना जा सकता है? इसीलिए पारंपरिक वस्तुवादी और आत्मवादी सिद्धांतों के विरुद्ध विद्रोह करके अस्तित्ववाद ने अपने तरीक़े से मानववाद की प्रतिष्ठा की। **वह इतिहास के विकासवादी तथा मार्क्सवादी सिद्धांतों की भी आलोचना करता है** क्योंकि वे मनुष्य को बाहरी स्थितियों से नियंत्रित मानते हैं और उसके स्वतंत्र उत्तरदायित्व तथा चयन की संभावना को नकार देते हैं।

5. **विद्रोह** : विद्रोह वैसे भी अस्तित्ववाद का मूल मंत्र रहा है। यह आप देख चुके हैं कि निर्धारित सामाजिक आदर्शों और दार्शनिक-आध्यात्मिक सिद्धांतों के खिलाफ़ यह विद्रोह करता है। पर साथ ही यह **विद्रोह को एक मूल्य के रूप में भी स्वीकार करता है**। किसी भी जीवंत समाज में विद्रोह की प्रक्रिया ज़ारी रहती है जिससे व्यवस्था के अंतर्विरोधों और असंगतियों को पनपने का मौक़ा न मिल पाए। मनुष्य अपने जीवन की परिस्थितियों और अपने प्रति होने वाले अन्याय के विरुद्ध विद्रोह करता है। कामू विद्रोह के इस भाव को मूल्य-बोध से जोड़ते हैं। **मनुष्य विद्रोह करता है तो इस विश्वास के साथ कि मानव समाज का कोई निश्चित मूल्य है जो उसके माध्यम से उभरेगा।**

   यहाँ ध्यान दें कि सभी विचारक सामाजिक मूल्य की अवधारणा को स्वीकार नहीं करते क्योंकि यह व्यक्तिगत स्वातंत्र्य की अवधारणा से टकराती है। वे यह मानते हैं कि हर व्यक्ति अपने मूल्य खुद खोजता और निर्धारित करता है और अगर दो व्यक्तियों के मूल्यों में समानता दिखाई देती है तो वह मात्र संयोग है।

6. **एकाकीपन, पीड़ा तथा निराशा** : युद्धोत्तर स्वार्थी तथा मूल्यहीन समाज में ये भावनाएँ स्वाभाविक हैं। जहाँ मनुष्य के मूल्यों का स्रोत तथा आस्था का आधार ईश्वर या कोई अन्य बाहरी सत्ता होती है, वहाँ वह अपने आपको आश्वस्त महसूस करता है। परंतु अस्तित्ववाद ऐसे किसी बाहरी आधार को अस्वीकार करके स्वयं मनुष्य को ही अपने मूल्यों का निर्माता मानता है। उसके आगे उसके निर्णयों को समर्थन देने वाला कोई आधार नहीं होता। ऐसे में मनुष्य अपने आपको असहाय और एकाकी महसूस करने लगता है। **उसकी स्वतंत्रता तथा दायित्व-बोध ही उसके लिए पीड़ा का कारण बन जाते हैं**। वह जानता है कि उसके हर निर्णय का प्रभाव पूरे विश्व पर पड़ सकता है। जिम्मेदारी का यह बोझ, निर्णय के पल में उसका आत्म-संशय उसके त्रास का कारण बन जाता है।

   उसकी स्वतंत्रता ही उसकी निराशा का भी कारण बनती है। मनुष्य कर्म करने में स्वतंत्र है किंतु उसे सदा अपनी इच्छा के अनुरूप परिस्थितियाँ नहीं मिलतीं। ऐसी स्थिति में वह निराश हो जाता है। सार्त्र मानते हैं कि फिर भी उसे निवृत्ति या तटस्थता नहीं अपनानी चाहिए क्योंकि कर्म ही उसके अस्तित्व की शर्त है। उनके अनुसार उसे निराश भी नहीं होना चाहिए क्योंकि उसने सब कुछ देख-समझकर जानते-बूझते ही अपने विकल्प का चुनाव किया है। उसे मनुष्य के रूप में इस स्वतंत्रता के गौरव का अनुभव करना चाहिए।

7. **ईश्वर या जगत** : यह पहले कहा जा चुका है कि **अस्तित्ववादी विचारकों में से कुछ ईश्वर को मानते हैं** और कुछ नहीं। नास्तिक विचारक इसीलिए इस जगत के पीछे किसी कारण या उद्देश्य को स्वीकार नहीं करते। उनका मानना है कि हर व्यक्ति के लिए जगत का रूप अलग-अलग है और वह उसकी अपनी चेतना और दृष्टि के अनुसार निर्धारित होता है। व्यक्ति और व्यक्ति के बीच संघर्ष का एक कारण यह भी है कि उनकी दृष्टि के अनुसार उनके जगत भिन्न-भिन्न हैं। साहित्यकार का कर्तव्य है कि वह एक व्यक्ति की जगत संबंधी अवधारणा को औरों के सामने उद्घाटित करे।

8. **वर्तमान क्षण** : अस्तित्ववाद वर्तमान क्षण को महत्व देता है क्योंकि अतीत बीत चुका है और भविष्य आया नहीं है। **मानव के जीवन में वर्तमान ही सबसे निश्चित सत्य है**। अस्तित्ववाद वर्तमान पल के अतीत या भविष्य को नहीं नकारता किंतु सबसे बढ़कर वर्तमान पल की सत्ता को ही स्वीकारता है।

अस्तित्ववाद जैसे जटिल तथा सघन सिद्धांत की संपूर्ण मान्यताओं का परिचय देने का अवकाश इस पाठ में नहीं है। यहाँ इसकी कुछ प्रमुख मान्यताओं का उल्लेख किया गया है ताकि इसकी एक सामान्य रूपरेखा आपके सामने आ सके। इस बात पर ध्यान दें कि यह मूलतः दार्शनिक सिद्धांत है किंतु इसकी मान्यताएँ कीर्केगार्द, नीत्शे, हाइडेगर और यास्पर्स जैसे दार्शनिकों के विवेचन से जितनी स्पष्ट हुई हैं उतनी ही सार्त्र, कामू आदि साहित्यकार विचारकों के लेखन से भी।

23.8.3 मूल्यांकन

ऐतिहासिक दृष्टि से अस्तित्ववाद हमारे इतना निकट है कि इसका सही-सही मूल्यांकन इस समय संभव नहीं है। हम इतना कह सकते हैं कि

- अपने समय की स्थितियों से उत्पन्न होने के कारण यह अपने युग की मानसिकता का, व्यक्ति मन के ऊहापोह, अनिश्चितता, अकेलेपन, त्रास आदि का बहुत ही सटीक प्रतिबिंब प्रस्तुत करता है।
- मानव को यह दार्शनिकता तथा सामाजिक विज्ञानों के पर्दे से निकालकर मानव के ही रूप में देखने पर बल देता है।

- मानव की सत्ता, उसकी गरिमा तथा अपने भविष्य पर उसके अधिकार को यह रेखांकित करता है।
- वर्तमान के महत्व पर बल देने के कारण यह अपने समय के यथार्थ से भी अधिक गहराई से जुड़ता है।

इस सिद्धांत के कुछ नकारात्मक पक्ष भी हैं। **यह मानव के लिए जिस प्रकार की स्वतंत्रता की बात करता है, वह असामाजिकता की सीमा को छूती है।** मनुष्यों को समाज के आदर्शों, नियमों और उत्तरदायित्व से ऊपर मानना समाज में बिखराव और अराजकता को प्रोत्साहित करना है। यह जिन स्थितियों में पनपा, वे आस्था के टूटने की ही स्थितियाँ थीं किंतु उस टूटन को इसने सैद्धांतिक आधार देकर और पुष्ट किया। बाद में अवश्य कुछ विचारकों ने आस्था की भी बात की।

23.8.4 समाहार

अस्तित्ववाद मूलतः दार्शनिक सिद्धांत है किंतु इसने साहित्यकारों को भी बहुत प्रभावित किया है। पारंपरिक आत्मवादी तथा वस्तुवादी दर्शनों को नकार कर इसमें मानव को ही विचारधारा का केंद्र माना गया है। मानव किसी परम सत्ता द्वारा किसी बने-बनाए प्रारूप के अनुसार नहीं गढ़ा जाता, बल्कि अपने व्यक्तित्व का निर्माण स्वयं करता है। अपने स्वरूप और व्यक्तित्व के निर्माण के क्रम में किसी भी विकल्प का चुनाव करने के लिए वह पूर्ण स्वतंत्र है। वह हर प्रकार के सामाजिक-राजनीतिक सिद्धांतों तथा आदर्शों से भी स्वतंत्र है और किसी भी प्रकार के अनुशासन तथा उत्तरदायित्व से भी मुक्त है। अपने लिए मूल्यों का निर्धारण वह स्वयं करता है। अस्तित्ववाद विद्रोह से उभरा दर्शन है और विद्रोह को यह समाज के जीवन के लिए आवश्यक मानता है क्योंकि स्वस्थ विद्रोह सामाजिक असंगतियों को पनपने का मौका नहीं देता। कुछ विचारक मनुष्य को सामाजिक उत्तरदायित्व से पूरी तरह मुक्त मानते हैं किंतु अपने लिए विकल्प के चुनाव का दायित्व उसे उठाना ही पड़ता है। साथ ही, वह जो चुनाव करता है उसका असर पूरे समाज पर पड़ता है। इसलिए विकल्प का चुनाव उसके लिए बहुत त्रासद प्रक्रिया है। किसी आस्था का आधार न होने के कारण बेहद एकाकीपन, त्रास तथा निराशा का अनुभव होता है। अस्तित्ववाद में अतीत तथा भविष्य से बढ़कर वर्तमान क्षण पर बल दिया गया है। अस्तित्ववादी विचारकों में से कुछ आस्तिक हैं और कुछ नास्तिक, किंतु दोनों ही वर्गों के विचारकों ने मानव की सत्ता तथा स्वतंत्रता को सर्वोपरि माना है।

23.9 सारांश

इस इकाई में हमने कुछ ऐसी विचारधाराओं का अध्ययन किया जिनका प्रभाव उन्नीसवीं तथा बीसवीं सदी की साहित्य रचना तथा समालोचना, दोनों पर ही पड़ा। इनमें आदर्शवाद जैसी विचारधाराएँ भी हैं जिनके सूत्र हमें बहुत प्राचीनकाल में भी मिलते हैं, और अतियथार्थवाद जैसी प्रवृत्ति भी है जो मुख्यतः आधुनिक काल से जुड़ी है। इनमें प्रतीकवाद, बिंबवाद और कलावाद हैं जिनको बाक़ायदा आंदोलन के माध्यम से उभारा गया और अन्य आंदोलनों की ही भाँति इनका उदय और अस्त हुआ, हालाँकि इनकी कुछ स्थापनाओं का प्रभाव आगे तक बना रहा। अस्तित्ववाद दर्शन के क्षेत्र की विचारधारा है जिसने बीसवीं सदी के साहित्य पर गहरा प्रभाव डाला।

इस इकाई में हमने सात विचारधाराओं का अध्ययन किया - यथार्थवाद, अतियथार्थवाद, आदर्शवाद, प्रतीकवाद, बिंबवाद, कलावाद और अस्तित्ववाद। ऐसा नहीं कि आधुनिक युग का तमाम साहित्यिक सोच इन्हीं कुछ मतों में सिमट आया हो। इनके अतिरिक्त, अन्य विचारधाराएँ भी इस काल में उभरीं और साहित्य तथा समालोचना पर उन्होंने अपनी छाप भी छोड़ी। किंतु यहाँ इन कुछ मतों की चर्चा के माध्यम से आधुनिक युग की विविध विचार परंपराओं और दृष्टियों की एक झलक प्रस्तुत करने की कोशिश की गई है ताकि युग के सोच का एक सामान्य चित्र आपके सामने आ सके।

23.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

डॉ. जगदीश चन्द्र जैन (1969), **पाश्चात्य समीक्षा दर्शन,** हिंदी प्रचारक संस्थान, वाराणसी।

डॉ. नगेन्द्र (संपा.), **पाश्चात्य काव्यशास्त्र : सिद्धांत और वाद,** हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

डॉ. निर्मला जैन तथा डॉ. कुसुम बाँठिया (1990), **पाश्चात्य साहित्य चिंतन**, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली।

23.11 अभ्यास के लिए प्रश्न

1. यथार्थवाद में 'यथार्थ' का आशय स्पष्ट करते हुए इसकी प्रमुख मान्यताओं का विवरण दीजिए।
2. अतियथार्थवाद का परिचय देते हुए बताइए कि यथार्थवाद और अतियथार्थवाद में क्या अंतर है?
3. आदर्शवाद की प्रमुख मान्यताओं का विवेचन और यथार्थवाद से उसका अंतर स्पष्ट कीजिए।
4. प्रतीकवाद और बिंबवाद की प्रमुख मान्यताओं का परिचय दीजिए।
5. कलावाद की प्रमुख मान्यताओं पर विचार करते हुए इस सिद्धांत की शक्ति और सीमाओं पर प्रकाश डालिए।
6. अस्तित्ववाद की पृष्ठभूमि और उसकी प्रमुख मान्यताओं पर प्रकाश डालिए।
7. 'अस्तित्व पहले होता है, सार नहीं' -- अस्तित्ववाद के इस कथन पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

इकाई 24 साहित्य अध्ययन की प्रमुख पद्धतियाँ

इकाई की रूपरेखा

24.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- मिथक से तात्पर्य स्पष्ट कर सकेंगे,
- मिथकीय समीक्षा पद्धति का परिचय दे सकेंगे,
- बता सकेंगे कि रूपवादी समीक्षा क्या है,
- संरचनावादी समीक्षा पद्धति की चर्चा कर सकेंगे,
- शैली-विज्ञान और शैली-वैज्ञानिक समीक्षा पद्धति के विषय में जानकारी दे सकेंगे; और
- समाजशास्त्रीय समीक्षा पद्धति पर प्रकाश डाल सकेंगे।

24.1 प्रस्तावना

आपने अब तक अनेक साहित्य-सिद्धांतों तथा विभिन्न विचारधाराओं का अध्ययन करते हुए देखा है कि साहित्य की आलोचना पर इन सिद्धांतों तथा विचारधाराओं का कैसा और कितना प्रभाव पड़ता है। ये

विचारधाराएँ किसी भी साहित्यिक विधा या कृति को देखने और समझने के लिए विशिष्ट दृष्टि भी देती है और उस दृष्टि के अनुसार उन्हें परखने के लिए कसौटी भी। यह भी आप देख चुके हैं कि इन दृष्टियों और कसौटियों में से कोई भी सर्वांग संपूर्ण नहीं कही जा सकती। अन्य विचारधाराओं तथा स्थापनाओं की कमियों की ओर इंगित करते हुए ये स्वयं किसी न किसी प्रकार की संकीर्णता या एकांगिता में कैद हो जाती रही है। किंतु यह नहीं कहा जा सकता कि यह संकीर्णता या एकांगिता उन दृष्टियों के महत्व को बिल्कुल ख़ारिज कर देती हैं क्योंकि ये कहीं अन्य दृष्टियों की संकीर्णता का परिहार भी करती हैं और विषय को देखने का अलग नज़रिया भी देती हैं।

इस इकाई को आप एक प्रकार से उसी अध्ययन का विस्तार भी मान सकते हैं। पिछली सदी में ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्रों में अभूतपूर्व विस्तार आया है और विभिन्न विषयों तथा ज्ञान-क्षेत्रों में परस्पर संपर्क और आदान-प्रदान की प्रवृत्ति भी बढ़ी है। साहित्य समीक्षा भी इससे बहुत प्रभावित हुई है। मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, नृतत्त्वशास्त्र, भाषा-विज्ञान आदि विषयों में जो विचार-विमर्श होता है, उसका प्रभाव साहित्य समीक्षा पर भी पड़ता है और उन्हें भी कई बार अपने विवेचन के लिए साहित्यिक रचनाओं का आधार लेना पड़ता है। इस इकाई में हम कुछ ऐसी समीक्षा पद्धतियों पर विचार करेंगे जिनके प्रेरक सिद्धांत अमूमन पारंपरिक साहित्यशास्त्र से नहीं जुड़े हैं किंतु आज के साहित्य विवेचन पर उनका गहरा और असंदिग्ध प्रभाव है। उदाहरण के लिए मनोविज्ञान या समाजशास्त्र स्वतंत्र अनुशासन हैं, किंतु इनमें हुई नई खोजों और इनमें उभरने वाले नए सिद्धांतों ने साहित्य को देखने-परखने के नज़रियों में भी बहुत कुछ जोड़ा है। मनोवैज्ञानिक समीक्षा पद्धति के बारे में आप पिछली इकाइयों में पढ़ चुके हैं। इस इकाई में हम मिथकीय, रूपवादी, संरचनावादी, शैलीवैज्ञानिक तथा समाजशास्त्रीय समीक्षा पद्धतियों पर संक्षेप में बात करेंगे लेकिन इस चर्चा के पहले कुछ बाते आपके सामने स्पष्ट होनी चाहिए :

- जब हम किसी विशेष समीक्षा पद्धति की बात करते हैं तो उसका यह मतलब नहीं है कि वह पद्धति तथा उससे जुड़ी तमाम धारणाएँ तथा अवधारणाएँ बिल्कुल स्पष्ट तथा सुनिश्चित हैं। पिछली इकाइयों में आप देख चुके हैं कि किसी भी सिद्धांत या विचारधारा से जुड़े विभिन्न विवेचनकर्ता हर बिंदु पर एकमत नहीं होते, बल्कि कई संदर्भों में तो उनकी दृष्टि में बहुत महत्वपूर्ण अंतर होते हैं। आपको याद है, स्वच्छंदतावादी विचारधारा से जुड़े होने के बावजूद कॉलरिज तथा वर्ड्सवर्थ के कल्पना, काव्यभाषा तथा छंद संबंधी विचार में कितना अंतर था? यही स्थिति इस संदर्भ में भी है। उदाहरण के लिए मनावैज्ञानिक समीक्षा पद्धति को ही लीजिए। आप देख चुके हैं कि मनोविज्ञांन और मनोविश्लेषण के क्षेत्र में फ्रॉयड, एडलर तथा युंग का योगदान अत्यंत महत्वपूर्ण माना जाता है, किंतु कुछ बहुत ही महत्वपूर्ण मुद्दों पर इनके मत मेल नहीं खाते। ज़ाहिर है मनोवैज्ञानिक समीक्षा पद्धति पर बात करते समय इनमें से किसी की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इसके अलावा इनके मत-वैभिन्य का प्रभाव समीक्षा पद्धति पर भी दिखाई देता है। जब प्रेरक विचारधारा में विभिन्नता होगी तो समीक्षा पद्धति में एकरूपता कैसे हो सकती है? किंतु इस पाठ की सीमाओं में विस्तार से इस प्रकार के मतभेद तथा अंतर दिखलाना संभव नहीं है। इसमें सामान्य रूप से इन समीक्षा पद्धतियों की कुछ मुख्य-मुख्य विशेषताओं का संकेत किया जाएगा।

- जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इनमें से अधिकतर समीक्षा पद्धतियाँ साहित्य या साहित्यशास्त्र से इतर अनुशासनों से प्रेरित हैं। यह इनकी शक्ति भी है और सीमा भी। साहित्य को ये व्यापक परिप्रेक्ष्य में लाकर जीवन और जगत के ज्ञान के विभिन्न संदर्भों में रखकर देखती है। दूसरी ओर ये पद्धतियाँ साहित्य समीक्षा को अपने अनुशासन की दृष्टि से जोड़कर अन्य दृष्टियों से काट भी देती है। यह इनकी कमी है। विभिन्न साहित्य सिद्धांतों से संबद्ध चर्चा में भी सिद्धांतों और पद्धतियों की इस प्रकार की सीमा आपके सामने आ चुकी है। इस समस्या का हल यही है कि इस सीमा को सदा नज़र में रखा जाए और समीक्षा कर्म के लिए किसी एक पद्धति को ही सर्वांगपूर्ण या पर्याप्त न मान लिया जाए।

- इस सीमा से ही जुड़ी एक और बात इस अध्ययन के क्रम में आपके सामने आएगी। इनमें से कुछ समीक्षा पद्धतियों का बल साहित्य से बाहर के साहित्येतर प्रतिमानों पर है तो कुछ बाह्य पक्ष का निषेध करके केवल कृति विशेष तक अपने को सीमित कर लेती हैं।

इस सामान्य परिचय के बाद हम इन पद्धतियों पर विचार आरंभ कर सकते हैं।

2) **साहित्य तथा मिथक की सर्जन-प्रक्रिया में भी साम्य होता है।** फ्रॉयड ने मिथकों की उत्पत्ति में स्वप्न की प्रक्रिया को सहायक माना है और स्वप्न की प्रक्रिया तथा कविता की प्रक्रिया में भी उन्होंने साम्य माना है। दोनों में ही बाह्य जगत में नगण्य प्रतीत होने वाले तत्व विशेष अर्थ से मंडित होकर उभरते हैं। दोनों में ही अर्थ का संवहन बिंबों के माध्यम से होता है और दोनों में ही बिंब बिखरते और समंजित होते रहते हैं।

   युंग ने भी मिथक को आदिम मनुष्य का स्वप्न माना है जो सामूहिक अवचेतन से उभरता है। साहित्य-सर्जन भी उनके मत में अवचेतन मन से ही संचालित होता है।

3) साहित्य मानव के सर्जनशील मानस की, उसकी **विधायक कल्पना की कलात्मक अभिव्यक्ति है।** यही बात मिथक के संबंध में भी कही जा सकती है। **साहित्य की ही भाँति मिथक भी मानव की अनुभूति की अभिव्यक्ति का माध्यम है।** बल्कि कई स्थानों पर तो साहित्य तथा मिथक को अलग-अलग करके देखना भी संभव नहीं है। दोनों में अंतर है तो प्रेरणास्रोत का या उस दबाव की प्रकृति का जिसके तहत रचनाकार कोई रचना करता है।

4) **मिथक बिंबधर्मी और प्रतीकात्मक होते हैं।** अर्थात् वे बिंबों के माध्यम से अभिव्यक्त होते हैं और वे अपना कोई सपाट अर्थ न देकर संकेत द्वारा किसी अन्य अर्थ का वहन करते हैं। उदाहरण के लिए भारतीय पुराणों से आप गणपति संबंधी मिथक को लीजिए। इस मिथक में हमारे सामने हाथी के से मुख वाले एक स्थूलकाय देवता का बिंब आता है। आप अर्थ की गहराई में उतरें तो आपको पता चलेगा कि इस आकृति की हर विशेषता किसी मानव समाज के नायक के लिए अपेक्षित विशेषता का प्रतीक है। उदाहरण के लिए विशाल मस्तक मेधा का प्रतीक है तो बड़े कान समाज के नगण्य से नगण्य व्यक्ति की धीमी से धीमी आवाज़ भी सुन सकने की क्षमता के प्रतीक। तमाम देशी-विदेशी मिथक आपको इसी प्रकार प्रतीकों से जुड़े मिलेंगे।

   मिथक की ही भाँति साहित्य में भी बिंबों तथा प्रतीकों का बहुत महत्व है। आप आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का गद्य पढ़ें या मुक्तिबोध की कविता, बिंबों की क्षमता आपके सामने स्पष्ट हो जाएगी। इसी प्रकार जयशंकर प्रसाद की दर्शनप्रधान रचनाओं से लेकर रघुवीर सहाय की सपाट कविताओं तक में प्रतीक की महत्वपूर्ण भूमिका की जानकारी आपको होगी ही। इस प्रकार के अंतर्निहित साम्य के कारण ऐसी कई रचनाओं को तो अनेक बार मिथक से भिन्न करके देखना भी कठिन होता है।

5) ऐसे प्रकृतिगत साम्य के कारण कई बार **मिथक तथा साहित्य का प्रभाव भी एक जैसा होता है।** दोनों ही भावक या अनुभावक में विस्मय जगाते हैं और उसे प्रभावित करते हैं। पाश्चात्य काव्यशास्त्र में त्रासदी का लक्ष्य माना गया है, दर्शक/भावक में करुणा तथा त्रास का उद्‌भावन तथा उसकी भावनाओं का विरेचन। मिथक भी यही कार्य करते हैं।

वैषम्य

साहित्य तथा मिथक में इतना घनिष्ठ संबंध होने के बावजूद विद्वानों ने इनकी कुछ मौलिक भिन्नताओं की ओर भी ध्यान आकर्षित किया है।

1) **मिथकों की उत्पत्ति** आदिम मानव की सहज नैसर्गिक भावनाओं - **भय, विस्मय आदि से हुई है।** इसके विपरीत **साहित्य सुशिक्षित, परिनिष्ठित मानव समाज की रचना है।**

2) **मिथकों की उत्पत्ति सहज निरायास रूप में होती है जबकि साहित्य की रचना सोच-समझकर और साभिप्राय होती है।** साहित्य में मिथकों का प्रयोग भी किसी विशिष्ट तथा निश्चित उद्देश्य से होता है और प्रायः वह मिथकों के सामान्य अर्थ को भी पार कर एक अलग ही, विशेष अर्थ देने लगता है। निराला की लंबी कविता 'राम की शक्ति-पूजा' और धर्मवीर भारती के नाटक 'अंधा युग' को आप उदाहरण के रूप में देख सकते हैं जिनमें मिथक अपने सामान्य प्रचलित अर्थ का अतिक्रमण कर गए हैं।

3) जैसा कि युंग ने स्थापित किया है, मिथक आदिम मानव समाज के **'सामूहिक अवचेतन' की उपज हैं। साहित्यिक कृति किसी व्यक्ति विशेष की रचना होती है और उसी की मानसिकता तथा दृष्टिकोण को व्यंजित करती** है। हो सकता है कि कृति की मूल प्रेरणा रचनाकार के अवचेतन से ही उभरी हो, किंतु उसकी अभिव्यक्ति सचेत और सायास होती है।

4) साहित्य में मिथक का उपयोग होता है किंतु मिथक का **उपयोग केवल साहित्य की अपेक्षा बहुत अधिक विस्तृत होता है।**

स्पष्ट है कि मिथक तथा साहित्य में साम्य के बिंदु हैं, पर दोनों अभिन्न नहीं हैं। आइए, अब हम देखें कि साहित्य सर्जन में मिथक की उपयोगिता या महत्व क्या है।

ख) साहित्य में मिथक का उपयोग

- मिथक और साहित्य का संबंध काफ़ी घनिष्ठ होता है क्योंकि **मिथक साहित्य को महत्वपूर्ण सामग्री प्रदान करता है।** महाकाव्य, नाटक आदि में मिथकों के प्रयोग से गहनता और गरिमा आती है। क्या आप आदम, हौवा और शैतान जैसे पात्रों के बिना मिल्टन के 'पैराडाइज़ लॉस्ट' जैसे महाकाव्य की कल्पना कर सकते हैं? या सोच सकते हैं कि हीरामन तोते के बिना जायसी के 'पद्मावत' का क्या रूप और प्रभाव होता?

- मिथकों से चूँकि अनेक आसंग जुड़े हैं इसलिए **इनका प्रयोग कथन को अधिक समस्त और संप्रेष्य बनाता है।** उदाहरण के लिए 'नारद मुनि' का नाम लेते ही एक विशेष प्रकार के विघ्नसंतोषी चरित्र का चित्र अपने आप खिंच जाता है। उस चरित्र की अन्य विशेषताओं को भी व्याख्यायित करके समझाने की आवश्यकता नहीं रह जाती।

- **साहित्य में मिथक का प्रयोग बिंब तथा प्रतीक की रचना के लिए और अन्योक्ति के रूप में भी होता है।** इस रूप में इनके प्रयोग से कथन अधिक स्पष्ट हो जाता है, साथ ही उसमें अर्थ के अनेक स्तर खुलते हैं। मुक्तिबोध की कविता में 'ब्रह्मराक्षस' का मिथक कितने सार्थक तथा सशक्त प्रतीक के रूप में प्रयुक्त हुआ है। कई आख्यानमूलक रचनाओं में तो प्रचलित मिथकों को ही कथा के रूप में ग्रह्ण कर उनकी वर्तमान काल के अनुसार पुनर्व्याख्या कर दी जाती है। धर्मवीर भारती के नाटक 'अंधा युग' और कुँवर नारायण 'आत्मजयी' में आपको इसके उदाहरण मिल जाएँगे।

- सीधी-सपाट भाषा सामान्यतः सीधे-सपाट तथ्यों को प्रस्तुत करती है। गहन भावों की अभिव्यंजना में वह असमर्थ होती है। हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार भाषा की इसी असमर्थता को दूर करने के लिए कवि मिथक तत्व का प्रयोग करता है - **यही अंतर्जगत के भावों को बहिर्जगत की भाषा में व्यक्त करने का एकमात्र साधन है** - 'ऊपर-ऊपर से देखने से यह झूठ है, परंतु गहराई पर देखने से यह सत्य है।' भाषा के सामान्य पक्ष से अभिहित न हो पाने वाले तथ्यों को रचनाकार मिथक के माध्यम से अभिव्यक्त करता है।

24.2.5 मिथक और आलोचना

जब साहित्यशास्त्री आलोचना की मिथकीय पद्धति की बात करते हैं तो स्पष्ट है कि वे मिथक तथा आलोचना के बीच एक घनिष्ठ संबंध देखते है। हमें देखना है कि यह सबंध किस प्रकार का है और इससे उत्पन्न होने वाली पद्धति किस सीमा तक सार्थक तथा संगत है।

मिथकीय आलोचना पद्धति में मिथक तत्व को किसी कृति की आलोचना का आधार बनाया जाता है। वस्तुतः इस पद्धति पर मनोविज्ञान, मनोविश्लेषण, नृतत्वशास्त्र और कुछ-कुछ समाजशास्त्र से जुड़ी दृष्टियों का प्रभाव है। मिथकों में किसी संस्कृति की आदिम मानसिकता तथा आदिम अवधारणाएँ सुरक्षित रहती हैं। आलोचक रचना की समीक्षा करते हुए उसमें उन आदिम ऐतिहासिक प्रतीकों को ढूँढ़ता है और वर्तमान संदर्भ में उनकी संगति की व्याख्या करता है।

साहित्य समालोचना की यह दृष्टि **ऐतिहासिक दृष्टि कही जा सकती है** क्योंकि **इसमें आधुनिक रचना में आदिम प्रतीकों का संधान होता है।** साथ ही यह पद्धति एकसूत्री नहीं है। अनेक अन्य अनुशासनों का प्रभाव होने के कारण इसमें गहनता और समस्तता आ गई है। यह समस्तता इस पद्धति को जटिल भी बना देती है और व्यापक भी।

मिथक को दृष्टि में रखकर की जाने वाली समीक्षा अभिधापरक अर्थ के परे जाकर रचना की गहराई में पैठकर उसके अंतर्निहित अर्थों का पहचान अधिकुशलता से कर सकती है। पिछले अनुभागों में आप देख चुके हैं कि मिथकों तथा साहित्यिक रचनाओं की सर्जन प्रक्रिया में कितना साम्य है। **इसलिए मिथकीय दृष्टि से अध्ययन द्वारा कृति की रचना प्रक्रिया के मूल अर्थ और अभिप्राय तक पहुँचा जा सकता है।**

मिथकों की प्रतीकात्मकता, उनका बिंब-विधान, उनमें निहित आद्यरूप और आदिम विश्वास - ये सब आलोचक की दृष्टि को दिशा देने में सहायक होते हैं। मिथकीय आख्यान की सार्वभौमता के आलोक

में समीक्षक को प्रस्तुत कृति को समझने एवं व्याख्यायित करने में मदद मिलती है। मिथक कालातीत होते हैं। काल-विशेष के साहित्य की समझ एवं व्याख्या के लिए वे संदर्भ-बिंदु प्रस्तुत करते हैं।

सर्जन प्रक्रिया के साम्य के कारण या संदर्भ बिंदु होने के कारण तो रचना की समीक्षा में मिथकों का महत्व है ही, वे रचना की अंतर्वस्तु के अंग बनकर भी आते हैं - कभी कथा प्रसंग के रूप में, कभी प्रतीक या बिंब के रूप में। मिथकों का प्रयोग कृति के रचना विधान को भी प्रभावित करता है और आलोचना के लिए एक विशिष्ट पद्धति की अपेक्षा करता है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का उपन्यास 'बाणभट्ट की आत्मकथा' मिथकीय तत्वों से भरपूर है और उसकी समीक्षा के लिए मिथकीय दृष्टि आवश्यक है।

भाषा साहित्यिक कृति का अपरिहार्य अंग है और मिथकीय दृष्टि से जुड़े विद्वानों ने भाषा और मिथक के संबंध पर विस्तार से विचार किया है। हर्डर के मत से तो मिथक की उत्पत्ति पहले हुई और भाषा उसी से उत्पन्न हुई। इसके विपरीत विको मिथक को एक प्रकार की काव्यभाषा ही मानते हैं। उनके अनुसार भाषा का जन्म पहले हुआ फिर मिथक का। इस विवाद में न पड़ते हुए आप इतना देख सकते हैं कि भाषा तथा मिथक का कितना घनिष्ठ संबंध है। साहित्य समीक्षा के क्रम में भाषा पर भी विचार होता है और मिथकीय दृष्टि इस विचार को नए आयाम दे सकती है।

24.2.6 मूल्यांकन

साहित्य समीक्षा में मिथकीय दृष्टि के स्वरूप पर आपने दृष्टिपात किया और देखा कि एक स्तर पर यह पद्धति कितनी महत्वपूर्ण है। किंतु इस बात का ध्यान रखें कि केवल इसी पद्धति को आलोचना का संपूर्ण आधार नहीं बनाया जा सकता क्योंकि मिथक ही साहित्य का एकमात्र तत्व नहीं है। विभिन्न रचनाकार अपने कथ्य को विभिन्न रूपों में प्रस्तुत कर सकते हैं और किसी एक प्रतिमान के आधार पर ही उन्हें श्रेष्ठ या हीन सिद्ध करना अनुचित होगा।

जो रचनाएँ मिथक प्रधान होती हैं, उनकी समीक्षा के लिए भी यह पद्धति पर्याप्त नहीं है क्योंकि कृति के कई पक्षों को, मुख्यतः उसके रूप-विधान को इसमें विशेष महत्व नहीं दिया गया है।

यह पद्धति साहित्य को मूलतः साहित्य-बाह्य आधारों पर परखती है। इस पर नृतत्वशास्त्र, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र आदि जिन अनुशासनों का प्रभाव है और जो अनुशासन इसकी समीक्षादृष्टि को नियंत्रित करते हैं, उनमें से कोई भी मूलतः साहित्यशास्त्र से संबद्ध नहीं है। इसलिए इस दृष्टि द्वारा प्रस्तावित प्रतिमान साहित्य-समीक्षा में एक महत्वपूर्ण आयाम भले ही जोड़ें, वे साहित्यिक प्रतिमान नहीं होते और रचना को रचना के आंतरिक नियमों से नहीं परखते।

इन सब सीमाओं के बावजूद साहित्य को परखने के लिए मिथकीय समीक्षा एक महत्वपूर्ण दृष्टिकोण अवश्य प्रस्तुत करती है।

24.3 रूपवादी समीक्षा पद्धति

24.3.1 भूमिका

साहित्य समीक्षा की जो पद्धतियाँ बीसवीं सदी के आरंभ और मध्य में उभरीं और पनपीं, उनमें रूपवाद का स्थान बड़ा महत्वपूर्ण है। पहली बात तो यह कि इसने साहित्य समीक्षा के क्षेत्र में साहित्येतर अनुशासनों के बढ़ते प्रभाव का विरोध किया। उन्नीसवीं सदी के अंत से साहित्य के विवेचन पर इतिहास, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान आदि का इतना प्रभाव पड़ने लगा था कि समीक्षा इन अनुशासनों की अनुगत होकर रह गई थी और साहित्य सिद्धांत इनका उपसिद्धांत मात्र बन गया था। रूपवादी समीक्षा पद्धति ने स्वयं साहित्यिक कृति को केंद्र बनाकर साहित्य के अध्ययन और समीक्षा को एक स्वायत्त और विशिष्ट अनुशासन के तौर पर स्थापित किया। बड़े ही व्यवस्थाबद्ध रूप से इसने ग़ैर-साहित्यिक तत्वों को साहित्य के क्षेत्र से निष्कासित किया। इस क्रम में केवल कला के नियमों पर इसका इतना बल रहा कि इसने कला तथा जीवन को भी विरोधी माना और साहित्य में इन दोनों के संबंध के संधान को नकार दिया। कभी टी.एस. एलियट ने समीक्षा का लक्ष्य माना था, 'कवि से हटाकर कविता पर ध्यान केंद्रित करना'। रूपवाद ने यही किया।

आप जानते हैं कि परंपरा से किसी साहित्यिक कृति के दो पक्ष माने जाते हैं - वस्तु या कथ्य (content) और रूप (form)। परंपरानुसार कथ्य को रचना का उद्देश्य माना जाता रहा है, रूप उसका

माध्यम भर है या एक अतिरिक्त सजावट। रूपवाद ने वस्तु को पूरी तरह नकार कर केवल रूप पर अपना ध्यान केंद्रित किया। इसकी दृष्टि में रूप-रचना के माध्यम से ही किसी कृति में 'साहित्यिकता' आती है और समीक्षा का काम उन युक्तियों की खोज है जो कृति को विशिष्ट रूप देती है। यह एक रोचक तथ्य है कि इस पद्धति को **'रूपवाद'** (Formalism) का नाम इसके विरोधियों ने दिया, इसके अनुयाइयों ने नहीं।

रूपवाद का महत्व इस बात में भी निहित है कि एक सिद्धांत के रूप में इसका प्रभाव इसके उदय के कुछ वर्ष बाद कम हो गया किंतु उसने अन्य अनेक महत्वपूर्ण साहित्यिक तथा भाषा वैज्ञानिक आंदोलनों तथा सिद्धांतों को प्रभावित किया जिनमें संरचनावाद, शैलीविज्ञान और नई समीक्षा प्रमुख है।

रूपवाद के संदर्भ में एक और बात पर ध्यान दें। यह एक समीक्षा पद्धति ही नहीं है, बल्कि साहित्यिक कृति के प्रतिमान भी स्थापित करता है। साहित्य को भाषा की विशिष्ट प्रवृत्ति के रूप में परिभाषित करके यह उसकी प्रकृति का भी निर्देश करता है।

24.3.2 उद्भव और विकास

रूपवाद का उदय रूस में हुआ और इसकी जड़ें मूलतः भाषाविज्ञान में थीं। इस पर विचार करने के पहले, आइए, हम यह देखें कि इस विचारधारा के उदय के पीछे कौन-सी प्रमुख प्रेरणाएँ काम कर रही थीं।

यथार्थवाद के बारे में आप पढ़ चुके हैं और यह भी जानते हैं कि यथार्थवादी विचारधारा से जुड़ी प्रमुख साहित्य विधा थी - उपन्यास। पिछली सदी के मध्य और अंतिम दौर में मुख्यतः इंगलैंड और रूस में डिकेंस तथा तोल्सतोय जैसे लेखकों द्वारा महत्वपूर्ण यथार्थवादी उपन्यास लिखे जा रहे थे। ये उपन्यास रचनाकार की सामाजिक प्रतिबद्धता के बयान के रूप में अपने समय तथा समाज की स्थितियों, समस्याओं और विकृतियों को प्रतिबिंबित कर रहे थे और इनका यही पक्ष सबसे प्रबल हो उठा था। डिकेंस, थैकरे, तोल्सतोय तथा दोस्तोयेव्स्की जैसे सिद्ध साहित्यकारों की रचनाओं में कला पक्ष भी सहज परिमार्जित रूप में उभरा लेकिन यथार्थवाद की रौ में लिखने वाले आम उपन्यासकारों की रचनाओं में शिल्प के प्रति लापरवाही ही नहीं पूर्ण उपेक्षा का भाव दिखाई देता था। अपने कथ्य को लेकर वे इस कदर लिप्त रहते थे कि रहना में भाषा की भूमिका की ओर भी उनका ध्यान नहीं जाता था। यथार्थ की बात करते हुए भी वे इस तथ्य को बिल्कुल नज़रअंदाज़ कर जाते थे कि भाषा भी यथार्थ सामाजिक, सांस्कृतिक तथा ऐतिहासिक स्थितियों का उत्पाद है और उन्हें प्रतिबिंबित भी करती है। यह उनके कथ्य के माध्यम के रूप में एक निष्क्रिय सामग्री मात्र नहीं है जिसे लेकर कुछ भी गढ़ा जा सकता है, बल्कि एक सक्रिय जीवक तत्व है। भाषा का एक सर्वसामान्य मानक रूप तथ्यपरक सामग्री - सूचना, विवरण, इतिहास जीवनी आदि - के लिए तो फिर भी तय किया जा सकता है क्योंकि उनमें शब्दों और संरचनाओं के निश्चित अर्थ का प्रयोग पर्याप्त होता है, लेकिन सर्जनात्मक साहित्य पर मानक भाषा की इस प्रकार की तानाशाही नहीं चल सकती। साहित्य में भाषा - इसकी शब्दावली और संरचनाओं अपने अलग तथा अनोखे अर्थ लेकर आती हैं जो सामान्य अर्थों से भिन्न होते हैं। उदाहरण के लिए 'आदमी' शब्द को ही लीजिए। संदर्भ के अनुसार यह 'व्यक्ति', 'इंसान', 'पुरुष', 'पति' - कुछ भी अर्थ दे सकता है। इसी प्रकार ये दो वाकय देखें :

1. ये मेरे पति हैं।
2. यह मेरा आदमी है।

इन दोनों वाक्यों का सामान्य सराही अर्थ एक ही है, अर्थात् इन्हें बोलने वाली स्त्रियाँ इनमें उल्लिखित पुरुषों की पत्नियाँ हैं। किन्तु साहित्य में ये भिन्न प्रकार के प्रयोग भिन्न-भिन्न आंतरिक अर्थ देते हैं जिनमें बोलने वाली की शिक्षा-दीक्षा, सामाजिक--सांस्कृतिक पृष्ठभूमि आदि सभी का संकेत मिल जाता है। सिद्ध रचनाकार की कृतियों में ये संकेत सामान्य प्रतीत होने वाली भाषा में छिपे होते हैं और पाठक का ध्यान सीधे इन संकेतों पर न जाकर कृति में निहित सामाजिक/आर्थिक/मनोवैज्ञानिक सत्यों पर केंद्रित हो सकता है। कृति का जो प्रभाव उस पर पड़ता है उसमें इन सूक्ष्म संकेतों का बड़ा हाथ रहता है। यह अवश्य है कि ऊपरी समझ में वह मानक, स्पष्ट और सूचात्मक भाषा पढ़ता है किंतु अनजाने में ही वह इसी छिपे अर्थों को भी ग्रहण करता है। भाषा की इस सांकेतिकता ओर बहुआयमिता को रोमकयाकोवमन ने'साहित्यिक'(Literariness) का नाम दिया है। ''साहित्यिकता' कुछ ऐसी युक्तियों तथा तकनीकी में निहित रूप है जो साहित्यिक कृति को मानव तथ्यपरक बयान से अलगाती है।

रूपवादी विचारकों ने महसूस किया कि यथार्थवादी समालोचना साहित्य को साहित्येतर तत्वों की कसौटी पर कसती है, वह लेखक के विचारों को महत्व देती है और कृति में निहित दृष्टि तथा जीवन के जटिल सत्यो पर टिप्पणी करती है, किंतु लेखक की कार्यपद्धति तथा उन साहित्यिक युक्तियों पर यह गौर नहीं करती जो रचना को सामान्य सूचनात्मक लेखन से उठाकर साहित्य की कोटि में ला रखती हैं। लेकिन, जैसा कि रूपवादी विचारकों ने दिखलाया, साहित्य के अध्ययन में यही जानना पर्याप्त नहीं होता कि 'क्या' कहा जा रहा है, बल्कि यह जानना भी ज़रूरी होता है कि वह सब कुछ 'कैसे' कहा जा रहा है। यथार्थवादी लेखन तथ समीक्षा में इस तथ्य की उपेक्षा की जा रही थी। **रूपवाद ने साहित्य समीक्षा में भाषा के, और रचना को साहित्य का दर्ज़ा दिलाने वाली युक्तियों के अध्ययन को महत्व दिया।** हालांकि इस क्रम में उन्होंने कथ्य को बिल्कुल नकारकर भाषा के, उसकी ध्वनियों और संरचनाओं के प्रभाव पर अतिरिक्त बल देना आरंभ कर दिया।

रूपवाद का उदय रूस में सन् 1914 के लगभग हुआ और इसके प्रथम पुरोधा थे **विक्टर श्क्लोव्स्की**। वस्तुतः उस समय रूस में अध्येताओं के दो ग्रुप सक्रिय थे। पहला ग्रुप '**ओपोजाज़**' (Opojaz) के नाम से जाना जाता था। **पीटर्सबर्ग** में सक्रिय इस ग्रुप के पूरे नाम का हिंदी अनुवाद होगा - काव्यभाषा अध्ययन सभा'। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, इस सभा या संगठन का मुख्य सरोकार साहित्य से था। इसमें श्क्लोव्स्की के अतिरिक्त बोरिस आइकेनबॉम, यूरी हिन्यानोव आदि भी अन्य उत्साही सदस्य थे। सन् 1914 में श्क्लोव्स्की ने एक लेख लिखा थ - 'शब्द का पुनरुत्थान'। सन् 1917 के आस-पास उनका एक ओर महत्वपूर्ण लेख प्रकाशित हुआ - 'कला : एक तकनीक के तौर पर'। ये तथा इन जैसी अन्य रचनाएँ साहित्य समीक्षा को एक नए नज़रिये से देख रही थीं जिसमें रचना की भाषा तथा शिल्प पर अतिरिक्त बल था।

दूसरा ग्रुप मूलतः भाषा विज्ञान से संबद्ध था - '**मॉस्को लिंग्विस्टिक सर्कल**'। इसके प्रमुख सदस्य रोमन **याकोबसन** थे। इन्होंने भाषा-अध्ययन का क्षेत्र विस्तार करते हुए काव्यभाषा के अध्ययन को भी उसके अंतर्गत समेट लिया। इन्होंने ही काव्यभाषा के लिए 'साहित्यिकता' की अनिवार्यता पर बल दिया और 'साहित्यिकता' के आधार के अध्ययन की युक्तियों को समीक्षा के लिए आवश्यक माना। क्रमशः साहित्य-विवेचन और भाषा विज्ञान से संबद्ध इन दोनों ग्रुपों में ही रचना की भाषा पर अतिरिक्त बल दिया गया क्योंकि लेखक का कथ्य भाषा के माध्यम से ही व्यक्त होता है। इस सदी के दूसरे दशक में इस रूपवादी दृष्टि का बोलबाला रहा किंतु साथ ही विरोधी मतों द्वारा इस पर प्रहार भी होते रहे। प्रहार का मुख्य मुद्दा यह था कि यह समीक्षा पद्धति भाषा पर केंद्रित होने के कारण समाज से कट जाती है। जो भी हो, 20वीं सदी के दूसरे दशक के बाद इसका प्रभाव क्षीण होने लगा, किंतु यह तब भी बिल्कुल विलुप्त नहीं हुई। सन् 1920 में याकोबसन मॉस्को छोड़कर चेकोस्लोवाकिया चले गए थे जहाँ **प्राग लिंग्विस्टिक सर्कल** की स्थापना हुई। उस पर याकोबसन का प्रभाव तो रहा ही, स्विस **प्रोफ़ेसर फ़र्दिनांद द' सस्यूर** के भाषा संबंधी विचारों का भी गहरा प्रभाव पड़ा। रूपवाद का एक प्रसार हम संरचनावाद को मान सकते हैं जिसकी चर्चा हम इस इकाई के अगले भाग में करेंगे। आगे चलकर अमेरिकी नयी समीक्षा पर भी इस मत का स्पष्ट प्रभाव देखने में आता है। आज हालाँकि एक विचारधारा के तौर पर रूपवाद बहुत चर्चित नहीं होता किंतु हम जहाँ समीक्षा में रचना की भाषा, संरचना और शैली के विवेचन के महत्व को स्वीकारते हैं और आलोचना में कृति की रचना (Construction) और विरचना (Deconstruction) की बात करते हैं, वहाँ रूपवाद का प्रभाव नकारा नहीं जा सकता।

24.3.3 प्रमुख प्रवृत्तियाँ तथा मान्यताएँ

इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि रूपवाद केवल समीक्षा के मान ही निर्धारित नहीं करता, साहित्यिक कृति के मान भी तय करता है, अर्थात् यह उन तत्वों को रेखांकित करता है जो किसी लेख को साहित्य का दर्ज़ा दिलाते हैं।

रूपवाद के इतिहास पर दृष्टिपात के क्रम में यह देखा गया कि यह अवधारणा मात्र साहित्यशास्त्र से नहीं जुड़ी है बल्कि इस पर भाषाविज्ञान का गहरा प्रभाव है। यह समीक्षा पद्धति भी भाषा के स्वरूप के विवेचन पर ही आधारित है क्योंकि इसके मत में भाषा की प्रकृति और स्वरूप पर ही रचना की 'साहित्यिकता' आधारित होती है। साहित्य की परिभाषा भी इसने भाषा के एक विशिष्ट रूप के तौर पर ही की है। आइए, हम इसकी प्रमुख मान्यताओं पर दृष्टिपात करें।

- हर समीक्षा पद्धति के लिए पहले इस बात की पहचान ज़रूरी होती है कि साहित्य किसे कहेंगे, उसका स्वरूप और प्रकृति क्या हो, उसका प्रकार्य क्या हो। इसके मानक तय करने के बाद उन्हीं

के अनुसार यह कृति की समीक्षा में जुटती है। रूपवाद के उदय के समय साहित्य को (i) लेखक के व्यक्तित्व या दृष्टिकोण की, या (ii) किसी विचारधारा की, या फिर (iii) किसी सामाजिक तथ्य की अभिव्यक्ति मानने की प्रवृत्ति प्रधान थी। साहित्य पहली स्थिति में जीवनी, इतिहास या मनोविज्ञान से, दूसरी स्थिति में दर्शन से और तीसरी स्थिति मे समाजशास्त्र तथा संबद्ध अनुशासनों से जुड़ता है। **रूपवाद ने साहित्य को इन तमाम अन्य अनुशासनों से काटकर मात्र भाषा पर केंद्रित किया क्योंकि भाषा** ही वह तथ्य है जो साहित्य को हमारे सामने लाती है और साहित्य से अनिवार्यतः जुड़ी है। साहित्य और भाषा का अनन्य संबंध है और रूपवाद के एक दौर में साहित्य को भाषा से अभिन्न माना गया।

- **साहित्य की भाषा की सामग्री वही होती है जो सामान्य भाषा की, किंतु उसका स्वरूप और प्रकार्य सामान्य भाषा से भिन्न होते हैं।** सामान्य भाषा बाह्य जगत के संदर्भों से जुड़ी होती है। उसका उद्देश्य सूचना देना है और वह जगत की वस्तुओं तथा भावों से अर्थ के स्तर पर इस प्रकार युक्त होती है कि उच्चारण के साथ ही वह श्रोता तक अनायास ही किसी वस्तु या भाव का अर्थ संप्रेषित कर देती है। उदाहरण के लिए 'घोड़ा', 'प्याला', 'नदी', 'दुख', 'सुख' आदि शब्द स्वतः किसी चौपाये, पदार्थ या भाव का अर्थ आप तक पहुँचाते हैं। किंतु याकोबसन के अनुसार काव्यभाषा संदर्भयुक्त (non-referential) होती है। अर्थात् काव्य या साहित्य में यदि 'घोड़ा' या 'प्याला' शब्द का प्रयोग होता है तो वह अनायास ही उस चौपाये या वस्तु का अर्थ नहीं देता। **साहित्य का चूँकि बाह्य जगत से कोई संबंध है ही नहीं, अतः साहित्य की भाषा भी बाह्य जगत से जुड़े सामान्य अर्थ नहीं देती।** रूपवाद के उदय से कुछ ही पहले टी.एस. एलियट ने काव्यभाषा को 'भाषा का निरंतर अल्प परिवर्तन' माना था। रूपवाद ने इसी परिवर्तन को भाषा का 'अपरिचितीकरण' या 'विचित्रीकरण' कहा है।

- **इस बात को ठीक से समझिए।** जीवन के सामान्य संदर्भो में भाषा के अर्थ हमारे लिए पूर्ण 'परिचित' होते हैं। अर्थात् जब 'घोड़ा' शब्द का उच्चारण किया जाता है तो बिना किसी चेष्टा के, अनायास ही हमारे सामने चौपाये-विशेष का बिंब यांत्रिक रूप से स्वतः उभर आता है। इसे 'बोध की यांत्रिकता' या 'बोध का स्वचलन' कहा जा सकता है। रूपवाद ने इसे सामान्य या तथ्यपरक भाषा के लिए तो स्वीकार किया, साहित्य की भाषा के लिए नहीं। उनके मत में, साहित्य चूँकि बाह्य जगत से नहीं जुड़ा होता, न सामान्य अर्थ ही देता है, इसलिए इसकी भाषा को भी सामान्य भाषा से भिन्न होना चाहिए। दोनों स्थितियों में भाषा की सामग्री वही रहती है, ऐसे में अंतर केवल अर्थ के स्तर पर हो सकता है। वह अंतर इस प्रकार लाया जा सकता है कि भाषा अपना परिचित सामान्य अर्थ न देकर भिन्न अर्थ दे। इस प्रकार भाषा में भिन्न अर्थ भरना भाषा का 'अपरिचितीकरण' (Defamiliarization) कहलाया। इसके लिए रचनाकार भाषा के चिर अभ्यस्त पारंपरिक प्रयोगों को विकृत कर देता है। यह भाषा यथार्थ जीवन - समाज, राजनीति, नीतिशास्त्र, मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र आदि - से कटकर साहित्य तथा साहित्यिक शैली से जुड़ती है। श्क्लोव्स्की ने उदाहरण देते हुए समझाया है कि सामान्य रूप से चलना हमारे अभ्यास में आता है। किंतु चलने की गति में हम व्यक्तिक्रम लाते हैं और विशेष युक्तियों द्वारा सामान्य अभ्यास से हटकर अलग तरह का अंग-संचालन करते हैं तो वह नृत्य कहलाता है और कला की श्रेणी में आता है। इसी प्रकार काव्यभाषा में भी सामान्य का असामान्यीकरण होता है। काव्यभाषा में भी कवि जिन शब्दों का प्रयोग करता है, वे सामान्य अर्थ से हटकर कोई भी अन्य अर्थ दे सकते हैं।

- ऊपर उल्लिखित तथ्य से ही रूपवाद की 'साहित्यिकता' संबंधी अवधारणा जुड़ी है। जैसा कि बार-बार कहा जा चुका है, सामान्य भाषा तथा साहित्यिक भाषा की सामग्री - शब्दावली, संरचना, व्याकरण आदि एक ही होती है। ऐसी स्थिति में जो विशेषता साहित्यिक भाषा प्रयोग को सामान्य भाषा प्रयोग से अलगाती है, उसे याकोबसन ने 'साहित्यिकता' का नाम दिया है। **रूपवादी दृष्टि में समीक्षा का कर्म रचना में इसी 'साहित्यिकता' की तलाश करना है।**

- अब प्रश्न है, 'साहित्यिकता' की प्रकृति क्या है और उसे भाषा में कैसे पहचाना जाए? पहली बात तो यही है कि साहित्य में भाषा का 'अपरिचितीकरण' अथवा असामान्यीकरण हो जाता है। यह **'अपरिचितीकरण' कैसे होता है? इसके लिए लेखक ऐसी युक्तियों तथा तकनीकों का प्रयोग करता है जो साहित्य की भाषा को सामान्य भाषा से अलगा देती है।** इस बात का उल्लेख हो चुका है कि साहित्य संदर्भयुक्त होता है। किसी भी वस्तुगत या आत्मगत सत्य से उसका संबंध नहीं होता। **ऐसे में उसका शिल्प ही उसका एकमात्र प्रमुख तत्व होता है।** शिल्प की रचना कुछ युक्तियों के माध्यम से होती है, जैसे कविता में विशिष्ट ध्वनियों का दोहराव, उनका विशिष्ट क्रम,

लय, उनकी विशिष्ट स्थितियाँ, परस्पर विरोधी शब्द प्रयोग, शब्दों का विपर्यय, व्यतिक्रम, असामान्य संयोजन आदि। चूँकि साहित्य में बाह्य जगत से संबद्ध अर्थ का निदर्शन नहीं होता, इसलिए इन युक्तियों में भी अर्थालंकारों के स्थान पर शब्दालंकारों-ध्वनि के संगीत आदि पर अधिक बल रहता है। आप ध्यान दें, पारंपरिक साहित्य में भी इस प्रकार की युक्तियों का प्रयोग होता है। उदाहरण के लिए आप सूरदास ('लट लटकनि मनो मत्त मधुपगन मादक मदहि पिए') या बिहारी ('मंद मंद आवत चल्यौ कुंजर कुंज समीर') या किसी अन्य कवि की पंक्तियाँ देख सकते हैं। **किंतु वहाँ ऐसे प्रयोग किसी अन्य साहित्यिक लक्ष्य को सिद्ध करने के माध्यम मात्र होते हैं।** रूपवाद के अनुसार **साहित्य की जो परिभाषा है, उसमें ऐसी युक्तियाँ ही रचना को साहित्य का दर्ज़ा देती है।** ये युक्तियाँ सामान्य परिचित शब्दों के बारे में भी हम में नया बोध जगाती हैं। जिस प्रकार कच्चे आम या कैरी की फाँकें तेल और मसाले से युक्त होकर अपना मूल रूप छोड़कर एक नया रूप (अचार का रूप) ग्रहण कर लेती हैं, उसी प्रकर युक्तियों से जुड़कर सामान्य भाषा अपनी प्रकृति और प्रवृत्ति बदल बैठती है। इन युक्तियों के माध्यम से लेखक अपने लेखन में कुछ विशेष तत्वों को अग्रभूमि (Foreground) में लाता है। और ऐसा प्रभाव उत्पन्न करता है जो पाठक में साहित्यिक यथार्थ की चेतना जगाता है। ध्यान रहे, यह साहित्यिक यथार्थ वस्तुजगत के यथार्थ से भिन्न है। इन युक्तियों में विधा के अनुसार अंतर भी हो सकता है।

- **भाषा के अपरिचितीकरण की खातिर विशिष्ट युक्तियों के प्रयोग की बात को इस सीमा तक खींचा गया कि इटली के मारिनेती जैसे कवि-विचारक यह भी मानने लगे कि साहित्य में शब्दों पर व्याकरण के नियमों का बंधन भी नहीं होना चाहिए। शब्द को ही साहित्य की वस्तु मानते हुए वे** यह तक कहने लगे कि कुछ शब्दों का किसी पृष्ठ पर ध्वनि तथा आकृति के अनुसार संयोजन भी साहित्य का दर्ज़ा पा सकता है। भाषा के पारंपरिक ढाँचे को बुर्जुआ विचारधारा से जुड़ा मानकर वे इससे मुक्ति की माँग करने लगे थे।

- एक बात और। रूपवादी विचारक मानते थे कि भाषा के अपरिचित प्रयोग भी लगातार इस्तेमाल के बाद परिचित और रूढ़ प्रयोगों की श्रेणी में आ जाते हैं। ऐसे में रचनाकार को उनसे भी आगे जाकर कुछ अन्य युक्तियाँ अपनाकर नए सिरे से 'अपरिचितीकरण' की प्रक्रिया आरंभ करनी चाहिए।

- इस बिंदु के अंतर्गत तमाम विवेचन का सार आप यह समझ सकते हैं कि पारंपरिक समीक्षा में इस बात पर बल था कि साहित्य में 'क्या' कहा जा रहा है जबकि रूपवादी दृष्टि के अनुसार जो कुछ भी कहा जा रहा है वह बिल्कुल अप्रासंगिक है। महत्व इस बात का है कि वह 'कैसे' कहा जा रहा है। 'साहित्यिकता' मात्र इस 'कैसे' में ही निहित है। रचना का केवल रूप ही साहित्य है।

- रूपवाद पर भाषा वैज्ञानिक सस्यूर के विचारों का भी प्रभाव पड़ा। सस्यूर के अनुसार एक सामान्य नियमानुगत भाषा ('लांग') उस भाषा के सभी बोलने वालों के दिमाग़ में आदर्श, अमूर्त रूप में स्थित होती है। किंतु बोलते समय वह हर वक्ता की अपनी निजी विशिष्टता से युक्त होकर भिन्न-भिन्न रूपों में अभिव्यक्त होती है जिन्हें वाक् ('पैरोल') कहा जाता है। साहित्य की सामग्री एक नियमानुगत भाषा ('लांग') होती है जबकि उसकी अभिव्यक्ति हर रचना में व्यक्तिविशिष्ट वाक अथवा 'पैरोल' के रूप में होती है।

- **रूपवाद साहित्य को स्वायत्त और स्वकेंद्रित मानता है, साथ ही स्वयंसाध्य भी।** अर्थात् यह अपने आपमें साध्य है, किसी अन्य तथ्य को अभिव्यक्त करने का माध्यम नहीं। बाह्य जगत से उसका कोई सीधा आर्थी (अर्थपरक) संबंध नहीं है। बाह्य सिद्धांतों से भी उसका सरोकार नहीं है। हर **रचना अपने आप में स्वतंत्र तथ्य है और उसकी समीक्षा भी उसी को केंद्र बनाकर होनी चाहिए।** साहित्यशास्त्र के ऐसे कोई वस्तुगत नियम नहीं हैं जिन्हें कसौटी बनाकर हम रचना को परखें। **बल्कि हर पाठ के सिद्धांत स्वयं उसी में अंतर्निहित होते हैं और समीक्षक का कार्य है, पाठ को पढ़कर उसमें निहित साहित्य सिद्धांतों का संधान।**

- **सस्यूर का यह भी मानना है कि भाषा में अर्थ अनिवार्यतः अंतर्निहित नहीं होता, बल्कि कई बार वह अर्थ स्पष्ट करने की जगह उलझा भी सकती है।** इसे आप एक बहुप्रचलित चुटकुले के माध्यम से समझने की कोशिश करें। इसमें एक व्यक्ति अख़बार की एक सुर्ख़ी - 'रामस्वरूप ने चोरी की, फलस्वरूप पकड़े गए' पढ़कर यह प्रश्न उठाता है कि चोरी जब रामस्वरूप नामक व्यक्ति ने की थी तो फलस्वरूप नामक निर्दोष **व्यक्ति को क्यों पकड़ा गया? इस प्रकार विचार के**

संदर्भ स्थिर तथा रूढ़ हो जाने पर अर्थ को उलझा भी सकते हैं। इसलिए अर्थ को साहित्य की अनिवार्यता न मानकर रूपवाद ने शिल्प को ही किसी रचना की 'साहित्यिकता' की कसौटी माना।

- रोमानी दृष्टि में चाँद, फूल, वसंत, प्रेम आदि कविता के जाने-माने विषय रहे हैं तो आधुनिक नज़रिया आज के जीवन की गद्यात्मक सच्चाई को रचना का विषय मानता है। **रूपवाद के अनुसार साहित्य के कोई निश्चित विषय नहीं होते क्योंकि बाह्य जगत के अर्थों से उसका सरोकार नहीं होता।**

- रूपवाद की रचना केंद्रिकता इस सीमा तक बढ़ी हुई है कि **वह रचना को महत्त्व देता है रचनाकार को नहीं।** एलियट ने कविता को कवि के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नहीं, वरन् व्यक्तित्व से पलायन माना था। रूपवाद के लिए लेखक की जीवन-दृष्टि, में अर्थ या आशय का महत्व गौण रहता है। वह एक ऐसा शिल्पकार है जिसे कला के विषय में जानकारी होनी चाहिए। उसके लिए किसी महत दर्शन या जीवन जगत के व्यापक सामाजिक संदर्भ की जानकारी भी आवश्यक नहीं है। समय-समय पर साहित्य में आने वाले परिवर्तन भी लेखक की मनोभूमि का नहीं बल्कि साहित्यिक रूप का ही परिवर्तन झलकाते हैं। रचना लेखक के भावों से नहीं, अपने आंतरिक नियमों से ही नियंत्रित होती है और रची जाने के बाद लेखक से पूर्णतः स्वतंत्र हो जाती है। **सृजन के बाद कृति चूँकि सर्जक से मुक्त हो जाती है, इसलिए आलोचक विश्लेषण करता है तो इस बात का कि अपनी युक्तियों के माध्यम से कृति उसे क्या कहती प्रतीत होती है, न कि इस बात का कि लेखक का कथ्य या उद्देश्य क्या था।** जिन रचनाओं में लेखक का मनोविज्ञान या उसका जीवन झलकता है, वे जीवनी या आत्मकथाएँ हो सकती हैं साहित्य नहीं क्योंकि साहित्य बाह्य जगत की प्रतिच्छवि नहीं है, न साहित्य में अंकित संसार बाह्य संसार का संदर्भ बन सकता है। बाह्य संसार वैसे भी साहित्य की रचना-प्रक्रिया का प्रस्थान बिंदु हो सकता है, विषय नहीं। **इस प्रकार रूपवादी समीक्षा पद्धति में रचना और आलोचना - दोनों ही स्तरों पर लेखक की भूमिका गौण मानी गई है।**

- रूपवाद साहित्य में विचारधारा तथा दर्शन की भूमिका को भी एकदम नकार देता है क्योंकि इनका संबंध भी अर्थ से होता है। **नई समीक्षा हालाँकि रूपवाद से प्रभावित थी पर यहीं वह रूपवाद से भिन्न हो जाती है क्योंकि उसने रूप तथा तकनीक को महत्व देते हुए भी उसे मूलतः अर्थ के वहन का माध्यम ही माना।**

- रूपवाद के अनुसार आलोचक का कर्तव्य-कर्म क्या है, इसका पहले भी प्रसंगवश उल्लेख हो चुका है। इसमें आलोचना की कोई बाहरी कसौटी नहीं होती। इसलिए आलोचक के लिए भी सिद्ध साहित्यशास्त्री होने की कोई ज़रूरत नहीं है। वह रचना को पढ़कर उसके अंदर से ही साहित्य के नियमों का संधान करता है। वह यह देखता है कि रचना में 'साहित्यिकता' का गुण उपस्थित है या नहीं। इसी संदर्भ में वह सामान्य व्यावहारिक भाषा तथा काव्यभाषा के अंतर का संधान भी करता है।

- सिर्फ़ रचना पर केंद्रित रहने के कारण रूपवादी समीक्षा पद्धति का सरोकार केवल वर्तमान से होता है, रचना के ऐतिहासिक आयाम से नहीं। इस प्रकार यह पूर्णतः समकालिकता पर आधारित सिद्धांत है। बाहरी प्रभाव के रूप में भी यह इतिहास की शक्ति को नकारता है और रचना के विकास के संदर्भ में भी कालक्रमिकता की उपेक्षा करता है।

24.3.4 मूल्यांकन

इसमें कोई संदेह नहीं कि रूपवादी समीक्षा पद्धति ने साहित्यालोचन के क्षेत्र में आई हुई एक बड़ी कमी को पूरा किया। प्रचलित समीक्षा पद्धतियों ने साहित्य को साहित्येतर अनुशासनों का अनुचर मात्र बना दिया था जैसा कि पिछले विवेचन में आप बार-बार देख चुके हैं। स्थिति यहाँ तक पहुँच गई थी कि साहित्यिक कृति साहित्येतर अनुशासनों के सिद्धांतों की स्थापना या पुष्टि का माध्यम मात्र प्रतीत होने लगी थी। उसकी समीक्षा के मान भी इन्हीं बाहरी अनुशासनों द्वार निर्धारित होते थे। **रूपवाद ने साहित्य की अस्मिता को फिर से स्थापित किया। और रूपवादी समीक्षा पद्धति ने समीक्षा के लिए जिन कसौटियों को अपनाया वे भी पूर्णतः साहित्यिक तथा कृतिकेंद्रित थीं।**

इस सिद्धांत ने **'साहित्यिकता' की अवधारणा के माध्यम से साहित्य के अध्ययन को एक वैज्ञानिक भूमि प्रदान की।** वैज्ञानिक अवधारणाओं की ही भाँति यह भी वस्तुपरक और व्यक्तिनिरपेक्ष है क्योंकि लेखन कोई भी हो, कृति तभी साहित्य के क्षेत्र में स्वीकृत होगी जब उसमें साहित्यिकता का गुण

होगा। याकोबसन के अनुसार, 'साहित्य-विज्ञान का विषय साहित्य नहीं बल्कि **'साहित्यिकता' है।'** अतः साहित्य के अध्ययन को एक विज्ञान के रूप में स्वीकृति मिलनी चाहिए और ऐसी स्वीकृति के लिए उसे साहित्यिक 'युक्तियों' को पूर्ण मान्यता देनी होगी। ये युक्तियाँ भाषा को परिचित संदर्भ से काटकर उसे विचित्र या तिर्यक या कठिन रूप देकर उससे तैयार रचना को साहित्य की कोटि में ला रखती है। यह तमाम विवेचन साहित्य समीक्षा को एक प्रकार के विज्ञान की श्रेणी में ले आता है।

दूसरी ओर, रूपवाद एवं उसे जुड़ी समीक्षा पद्धति की कई महत्वपूर्ण बिंदुओं पर आलोचना भी हुई है।

सबसे प्रमुख आलोचना तो यही है कि **यह पद्धति शैली और सौंदर्यशास्त्र को इतना अधिक महत्व देती है कि यथार्थ जीवन, समाज और राजनीतिक-आर्थिक-सांस्कृतिक वास्तविकताओं से यह बिल्कुल कट गई है।** इसने इतिहास की भी उपेक्षा की है जबकि कोई भी कृति क्यों रची गई और ठीक उसी रूप में क्यों रची गई यह बहुत कुछ परिवेश और ऐतिहासिक शक्तियों से भी निर्धारित होता है। आप हिंदी साहित्य में ही देखिए, क्या प्रयोगवादी कविता उस युग और परिवेश में लिखी जा सकती थी जिसमें द्विवेदी युगीन कविता लिखी गई? या एक ही युग में, क्या प्रेमचंद और प्रसाद एक जैसी कहानियाँ लिख सकते थे? इस अंतर को बाहरी प्रभावों के माध्यम से न समझा जाए तो कैसे समझा जाए?

इसी क्रम में कला की स्वायत्तता को लेकर इसकी स्थापनाओं पर विचार किया जा सकता है। **कला यदि अपने युग, इतिहास, यहाँ तक कि रचनाकार से भी पूर्णतः मुक्त है तो किसी कलाकृति के उद्‌भव की प्रेरणा को नहीं समझा जा सकता।**

यह रूप पर अत्यधिक बल देती है और कथ्य को पूर्णतः नगण्य मानती है। कई बार इसके लिए कविता का अर्थ केवल विशिष्ट ध्वनियों का संयोजन, दोहराव और उससे उत्पन्न संगीत भर होता है। विशिष्ट शब्दों तथा ध्वनियों के प्रयोग से कविता में जो बिंब बनते हैं, उन्हे तो यह मान्यता देती है किंतु उनके माध्यम से किसी सुसंगत अर्थ के संधान को ज़रूरी नहीं समझती। साहित्य को इसने सामान्य कथन से भिन्न माना है क्योंकि साहित्य की भाषा में शब्द सामान्य अर्थ नहीं बल्कि 'अपरिचित' अर्थ लेकर आते हैं। **सामान्य पाठक भाषा को बाह्य जगत के संदर्भों से जोड़कर ही समझ सकता है, इसलिए रूपवादी नियमों के अनुरूप रची कविता उसके लिए असंप्रेष्य हो जाती है।** कविता जब लोगों की समझ में कम आती है तो उसे पढ़ने वाले भी कम होते जाते हैं।

साहित्य को यह पद्धति केवल 'साहित्यिकता' की अवधारणा से जोड़ती है और 'साहित्यिकता' कुछ विशिष्ट युक्तियों के इस्तेमाल से उपजती है। साहित्य के अन्य सभी समय-स्वीकृत मानदंडों को यह नकारती है। इस प्रकार वे कृतियाँ बहुत ही कम होंगी जो इसके अनुसार साहित्य की श्रेणी में आ सकें। **अतः रूपवादी विचारधारा साहित्य के क्षेत्र को बहुत ही सीमित कर देती है।**

ऐसा नहीं कि इन बातों पर रूपवादी विचारकों का ध्यान नहीं गया। इस सदी के उत्तरार्द्ध में रूपवाद की मान्यताओं में कुछ अंतर आया है। अब साहित्यिक पाठ को केवल आंतरिक संरचना के स्तर पर नहीं बल्कि चेतना के स्तर पर भी देखा जाता है। बाह्य जगत से रचना के रूप के संबंध को उतनी सख्ती से नकारा नहीं जाता और पाठक की प्रतिक्रिया को भी महत्व दिया जाता है।

अमेरिका में उभरी नयी समीक्षा को एक प्रकार से रूपवाद का विस्तार माना जा सकता है। नई समीक्षा भी इतिहास-निरपेक्ष भाव से केवल पाठ को अध्ययन का केंद्र बनाती है, किंतु वह पाठ के संकेतग्रहण मात्र से संतुष्ट न होकर उसका निर्वचन भी आवश्यक मानती है। इसके अलावा रूपवादी पद्धति की तरह नयी समीक्षा रचना के लिए मूल्य निरपेक्ष होना आवश्यक नहीं मानती बल्कि आधुनिक युग में वह कला को ही मूल्यों का शरणस्थल मानती है।

24.4 संरचनावादी समीक्षा पद्धति

24.4.1 भूमिका

संरचनावादी समीक्षा पद्धति पर विचार आरंभ करने से पहले दो बातें आपके सामने स्पष्ट होना ज़रूरी है।

पहली बात, **संरचनावाद कोई आंदोलन या अनुशासन नहीं बल्कि एक अन्वेषण पद्धति** है। यह किसी क्षेत्र विशेष से संबद्ध सामग्री को देखने और उसकी तर्कसंगत व्याख्या प्रस्तुत करने का एक नज़रिया है।

दूसरी बात, **यहाँ हम साहित्यिक समीक्षा के संदर्भ में संरचनावाद की बात कर रहे हैं**, लेकिन इसका मूल आधार भाषा विज्ञान है। इसके अतिरिक्त यह नृतत्वशास्त्र, मनोविज्ञान, राजनीतिशास्त्र, गणित, भौतिक विज्ञानों, स्थापत्य, फ़ैशन, भाषा आदि अनुशासनों और सभी सामाजिक व्यवहारों से जुड़ा हुआ है। अध्येय विषय कुछ भी हो, इस प्रविधि में उस पर संरचना की धारणा को सचेत रूप से लागू किया जाता है।

संरचनावाद से क्या तात्पर्य है और साहित्य समीक्षा से इसका क्या संबंध है, यह जानने के पहले अगर हम **संरचना का एक सामान्य अर्थ** समझ लें तो बेहतर होगा।

इस बात का ध्यान रखें कि संरचना किसी भी वस्तु या घटना के विभिन्न घटकों के अलग-अलग बिखरे स्वरूप का नाम नहीं बल्कि उनके समग्र, सुसंघटित रूप का नाम है। यह नियमों की एक सुसंबद्ध व्यवस्था है जो अध्येय विषय के विभिन्न घटकों को परस्पर संबद्ध करके देखती है। इसमें उस समग्र सँघटना को आधार रूप में लेकर उसके विभिन्न घटकों के क्रम-विन्यास, पारस्परिक संबंधों तथा समग्र संघटना की रचना में उनकी भूमिका अध्ययन किया जाता है। भाषा, वाक्य, साहित्य विधा या समग्र साहित्य हो, या परिवार, समाज, मानव जाति, विशिष्ट संस्थाएँ, विशिष्ट ज्ञान-विज्ञान, फ़ैशन, प्रसार विधाएँ - सभी की अपनी एक संरचना होती है, संघटन की एक पद्धति होती है जिसके अध्ययन-विश्लेषण के माध्यम से उन्हें और उनकी क्रिया के नियमों को समझा जा सकता है। हम चूँकि समीक्षा पद्धति पर बात कर रहे हैं, इसलिए आप बिहारी के एक दोहे के माध्यम से इस बात को समझने की कोशिश कीजिए :

'सोहत ओढ़े पीत पट स्याम सलोने गात।
मनहु नीलमनि सैल पर आतप परयो प्रभात।।'

अब आप देखिए, इस दोहे में ब्रजभाषा का प्रयोग है जिसके उच्चारण, शब्दावली तथा व्याकरण संबंधी कुछ नियम हैं। इसमें कुछ विशेष अलंकारों तथा बिंबों का प्रयोग किया गया है। इसकी रचना दोहा छंद में हुई है जिसके मात्रा, विराम तथ लय संबंधी अपने नियम हैं। अन्य भी अनेक विशेषताओं का समग्र संघटना का परिणाम यह दोहा है। इसके अध्ययन में ध्वनि, व्याकरण, काव्यशास्त्र आदि घटकों का अलग-अलग अपने में कोई महत्व नहीं है, पर एक संरचना में समग्र भाव से संघटित होकर ये एक चमत्कार की सृष्टि करते हैं। संरचनावाद उसी समग्र संघटना को अध्ययन का आधार बनाता है और समग्रता को केंद्र में रखते हुए उसके विभिन्न घटकों का अलग-अलग अध्ययन ही नहीं करता बल्कि उनके पारस्परिक संबंधों पर भी विचार करता है और उनकी इस प्रकार पुनर्रचना भी करता चलता है कि उस संघटना के नियम स्पष्ट होते जाएँ। अर्थात् यह अन्वेषण पद्धति अंशों से समग्र की ओर नहीं, बल्कि समग्र से अंशों की ओर चलती है और अपनी प्रक्रिया में समग्रता की अवधारणा को कहीं भी ओझल नहीं होने देती।

24.4.2 उद्भव तथा विकास

एक बहुत ही जीवंत, बहुचर्चित और बहुविवेचित पद्धति होने के नाते संरचनावाद के अंतर्गत भी इसकी पद्धति तथा इसके क्षेत्र को लेकर मतभेद रहे हैं। यहाँ आपके सामने इसके इतिहास तथा विकास से संबद्ध कुछ तथ्य ही सामान्य संक्षिप्त रूप में रखे जा रहे हैं।

रूपवाद के उद्भव के संदर्भ में आप देख चुके हैं कि 19वीं सदी में साहित्यशास्त्र या सौंदर्यशास्त्र की अपेक्षा साहित्येतर अनुशासन साहित्य की समीक्षा के मान निर्धारित करने लगे थे। साहित्यिक कृति को या तो लेखक की मानसिकता, चरित्र या जीवन स्थितियों का या फिर अपने समाज तथा इतिहास का उत्पाद मानकर इन्हीं आधारों पर उसका अध्ययन होता था। ऐसे में उसकी साहित्यिकता अध्ययन का एक अनुषंग मात्र बनकर रह जाती थी। इस स्थिति को लेकर साहित्य के क्षेत्र में इतना विक्षोभ जागने लगा था कि फ्रेंच कवि मलार्मे ने दूसरे अतिवाद तक जाते हुए घोषित कर दिया था कि कविता शब्दों से लिखीं जाती है, विचारों से नहीं।' प्रतिक्रिया की ऐसी ही मानसिकता में ऐसे अनेक सिद्धांत उभरने लगे जो बाह्य जगत तथा अन्य अनुशासनों को नकार कर सिर्फ़ कृति पर ही ध्यान केंद्रित करते थे।

रूस से उभरे रूपवाद का इन सिद्धांतों में महत्वपूर्ण स्थान है। इंगलैंड की व्यावहारिक समीक्षा, अमेरिका की नयी समीक्षा और फ्रांस की नवसमीक्षा पर तो उसका प्रभाव पड़ा ही, साहित्यिक संरचनावाद भी उसी प्रवत्ति का अगला विस्तार माना जा सकता है।

ध्यान दें, यहाँ 'साहित्यिक संरचनावाद' कहा गया है, अर्थात् हम साहित्य के क्षेत्र में इस विचारधारा के प्रवेश की बात कर रहे हैं। अन्यथा इस पद्धति का संबंध अन्य अनेक अनुशासनों तथा स्थितियों से रहा है। साहित्यिक संरचनावाद के मुख्य प्रेरक रोलाँ बार्थ थे किंतु इसका सीधा संबंध भाषा विज्ञान में विकसित मॉडलों से माना जा सकता है। इन मॉडलों का विकास इस सदी के आरंभ में **प्राग स्कूल ऑफ़ लिंग्विस्टिक्स के अंतर्गत सस्यूर के भाषा संबंधी चिंतन से हुआ।** भाषा विज्ञान के अध्ययन के दौरान आपने पढ़ा होगा और रूपवाद के प्रसंग में भी इसका उल्लेख हो चुका है कि सस्यूर ने भाषा के दो पक्षों – भाषा (Langue - लांग) और वाक् (Parole - पैरोल) की स्थिति मानी थी। भाषा या 'लांग' भाषा के पूर्ण नियमसम्मत रूप को कहते हैं जो नियमों की एक व्यवस्था के रूप में सभी भाषा भाषियों के मस्तिष्क में रहती है। वाक् या 'पैरोल' उसी भाषा का बाह्य जगत में व्यवहृत रूप है जिसमें प्रायः नियमों का पूर्णतः पालन नहीं होता और जो बोलने वाले की अपनी विशिष्टताओं से युक्त होती है। एक ही भाषा के अंतर्गत विविध प्रकार के वाक् प्रयुक्त होते हैं जो भाषा के व्यवहार में आने वाले व्यक्ति विशिष्ट रूप होते हैं। भाषा अमूर्त संकल्पना होती है और वाक् उसका मूर्त रूप।

इसके अतिरिक्त सस्यूर ने भाषा को संकेतों की व्यवस्था माना। संकेत ऐसे प्रतीक हैं जिनमें दो तत्व निहित होते हैं - संकेतक या वाचक (signifier), जो भाषा का अभिव्यक्ति पक्ष होता है और संकेतित या वाच्य (signified), जो भाषा का कथ्य या अर्थ पक्ष होता है। साहित्य समीक्षा से इन अवधारणाओं के संबंध पर आगे प्रकाश डाला जाएगा।

सन् 1960 के आसपास पैरिस में संरचनावाद पर आधारित नवसमीक्षा आंदोलन उभरा जिसक पीछे विभिन्न अनुशासनों से जुड़े - लेवी स्त्रॉस, अलथ्यूसर आदि विद्वानों का भी योगदान था। साहित्य समीक्षा के क्षेत्र में **रोलाँ बार्थ, मिशेल फ़ुको, ज़ाक लकाँ** आदि ने संरचनावादी साहित्यशास्त्र के विकास में महत्वपूर्ण योग दिया।

संरचनावादी समीक्षा पद्धति साहित्येतर तत्वों पर नहीं बल्कि स्वयं साहित्यिक कृति पर ही केंद्रित होती है। साहित्य को संरचनावाद संकेतों की एक व्यवस्था मानता है जो कुछ अलिखित नियमों या परंपराओं से शासित होती है। संरचनावादी समीक्षा उसी सामान्य संहिता, उन अलिखित नियमों तथा परंपराओं का अन्वेषण करती है जो रचनाकार में साहित्य रचने की और पाठक में साहित्य को समझने की क्षमता जगाएँ। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, यह साहित्यिक कृति को समग्र रूप में देखती है, घटकों में विभाजित करके नहीं। इससे आगे जाकर एक स्तर पर यह किसी भाषा के साहित्य की किसी विधा का समग्र रूप में अध्ययन करती है। उस विधा के अंतर्गत आने वाली कृतियाँ उस संरचना के घटकरूप होती हैं। इसी प्रकार किसी भाषा के समग्र साहित्य को एक संरचना के रूप में लेकर उसके अंतर्गत समस्त विधाओं तथा रचनाओं का अध्ययन भी किया जा सकता है। इस प्रकार यह समग्र साहित्य के लक्षणरूप सामान्य सिद्धांतों का, नियमों की सर्वसामान्य साझा संहिता का अन्वेषण करती है। कृति का मूल्यांकन इस लक्ष्य का एक चरण मात्र कहा जा सकता है। यहाँ आप रूपवाद से इसके अंतर को देख सकते हैं जिसमें कृति विशेष की ही समीक्षा की जाती है, समग्र साहित्य से, बल्कि उसी रचनाकार की उसी विधा में रची गई किसी अन्य कृति से भी उसके संबंध पर विचार करने की ज़रूरत नहीं मानी गई है।

वैसे संरचनावाद पर प्रथम प्रभाव रूस के रूपवादी चिंतन का ही पड़ा था हालाँकि इसका उदय भाषा वैज्ञानिक चिंतन से हुआ था। रूपवादी पद्धति में रूप को महत्व दिया जाता है, वस्तु को नहीं। उसके अनुसार रूप ही कृति को आकार तथा अस्तित्व देता है। वह भाषा, बिंब योजना, छंद, अर्थ, कथानक रूढ़ियों आदि में निहित होता है। किंतु संरचनावाद में, उसकी समग्रता की अवधारणा के अनुरूप ही, रूप को वस्तु से भिन्न नहीं माना जाता क्योंकि वस्तु ही रूप के माध्यम से व्यक्त होती है। इसमें विभिन्न घटकों के अलग-अलग विश्लेषण के स्थान पर उनके आपसी संबंधों और उनके माध्यम से स्पष्ट होने वाले नियमों का अध्ययन किया जाता है। संरचनावाद के आरंभिक दौर में अवश्य ही भाषा विज्ञान के प्रभाव के कारण भाषिक तत्व पर अधिक बल रहा। किंतु ध्यान दें, वहाँ भी इसका उद्भव भाषा वैज्ञानिक सस्यूर के विवेचन से हुआ था जिसमें 'संकेत' (signifier) अर्थात् भाषा के अभिव्यक्ति पक्ष को जितना महत्व दिया गया है, उतना ही महत्व 'संकेतित' (signified) अर्थात् भाषा के अर्थ पक्ष को भी दिया गया है। अर्थात् इसमें अर्थ या कथ्य का निषेध नहीं है बल्कि कथ्य तथा अभिव्यक्ति को एक सुगठित संरचना में संबद्ध रूप में देखा गया है। यहाँ भी संरचनावाद रूपवाद से भिन्न हो जाता है। संरचनावाद पर बार्थ तथा फुको के अतिरिक्त विभिन्न विज्ञानों तथा विचारधाराओं से संबद्ध अन्य विद्वानों का भी प्रभाव पड़ा जिनमें नृतत्वशास्त्री लेवी स्त्रॉस तथा अतियथार्थवादी लकाँ के साथ ही अलथ्यूसर

जैसे मार्क्सवादी भी थे। इन अनेक विचारधाराओं की टकराहट और समंजन से संरचनावादी विचारधारा में परिवर्तन तथा विकास होता रहा और आगे चलकर कुछ संरचनावादी यह भी मानने लगे थे कि साहित्य को मात्र संरचना के माध्यम से नहीं समझा जा सकता। उसके लिए बाह्य जगत के तथ्यों पर दृष्टिपात करना भी आवश्यक है।

24.4.3 प्रमुख प्रवृत्तियाँ तथा मान्यताएँ

आप यह ध्यान रखें कि यहाँ हम संरचनावाद के केवल उसी पक्ष का विवेचन कर रहे हैं जो साहित्य समीक्षा पद्धति से जुड़ा है। संरचनावाद का उद्गम भाषा संबंधी चिंतन से हुआ। साहित्य भी एक भाषिक विधा है। तो क्या सामान्य भाषा तथा साहित्य की भाषा की संरचना एक ही होगी? जी नहीं। आप जानते हैं कि भाषा अनेक क्षेत्रों में व्यवहृत होती है और क्षेत्र विशेष के अनुसार ही उसकी विशिष्ट प्रयुक्ति होती है। हर प्रयुक्ति की अपनी संरचना भी होगी जिसमें उस प्रयुक्ति की विशिष्टताएँ आ जाएँगी। ये विशिष्टताएँ उसे भाषा की अन्य प्रयुक्तियों से अलग करके भी दिखलाती हैं। याद कीजिए, रूपवाद के संदर्भ में 'साहित्यिकता' का ज़िक्र हो भी चुका है। आप पूछ सकते हैं, साहित्यिक रचनाएँ तो अनेक प्रकार की होती हैं। ऐसे में कुछ ऐसी सामान्य विशिष्टताओं को कैसे रेखंकित किया जा सकता है। जो साहित्यिक संरचना मात्र की विशेषताएँ मानी जाएँ और उन्हें अन्य प्रकार की संरचनाओं से अलग करके दिखलाएँ? अर्थात्, जो साहित्यिक संरचनाओं का भेदक तत्व हों? यह प्रश्न बहुत सही है और इसी को दृष्टि में रखते हुए विद्वानों ने साहित्य को मात्र उत्पादन नहीं बल्कि अभिग्रहण के स्तर पर भी देखा है। आइए, इसे कुछ खुलासा करके समझने की कोशिश करें:

संरचनावादियों के लिए अध्ययन की प्राथमिक इकाई भाषा होती है।

भाषा का वह रूप 'साहित्य' होता है जिसमें 'साहित्यिकता' का गुण होता है। यह गुण साहित्य को भाषा के अन्य प्रयोगों से अलगाता है।

सामान्य भाषा की तरह ही साहित्य भी संकेतों की एक व्यवस्था है। यह व्यवस्था ही संरचना है। यह संरचना ही साहित्य की सामान्य संहिता है जिसके अंतर्गत वे नियम और परंपराएँ आती हैं जो सभी साहित्यिक रचनाओं पर लागू होती हैं और जिन पर सभी पाठ निर्भर करते हैं। इस प्रकार साहित्य-सर्जन स्वायत्त नहीं होता बल्कि एक संहिता के अधीन होता है। यहाँ भी आप रूपवाद तथा संरचनावाद का अंतर देख सकते हैं।

यह संहिता या अलिखित परंपरा सर्जक ही नहीं पाठक के मन में भी स्थित होती है और यह भी किसी कृति के सर्जन की ही नहीं, उसे पढ़ने और समझने की भी क्षमता जगाती है।

यह संहिता इतनी व्यापक होती है कि साहित्य के तमाम विविध रूपों को समेट सके। **समग्र साहित्य के लक्षणरूप सामान्य सिद्धांत इसी संहिता में निहित होते हैं और संरचनावादी विश्लेषण इन्हीं सिद्धांतों का अन्वेषण करता है।** ध्यान दें कि यह किसी विशेष रचना की सामग्री का विश्लेषण ही नहीं करता, बल्कि उसके माध्यम से **साहित्यिक संरचना के सार्वभौम तत्वों की भी खोज करता है।**

- अब प्रश्न उठता है **संरचना के स्वरूप** का। विद्वानों ने संरचना के स्वरूप की कुछ विशिष्टताओं की स्थापना की है। इनमें प्रमुख है - पूर्णता, स्वायत्तता एवं स्वनिष्ठता, सार्वभौमिकता तथा गतिशीलता।

  1) **पूर्णता** : आप जानते हैं कि संरचना का अर्थ है - विविध घटकों या अंगों का सुसंबद्ध तथा नियमानुकूल संयोजन। अर्थात् घटक ही कृति की प्राथमिक इकाई होते हैं और ये एक विशिष्ट व्यवस्था में कृति की संरचना का गठन करते हैं। किंतु संरचनावादी पद्धति संरचना को घटकों के संयोजन मात्र के रूप में नहीं, बल्कि एक समग्र तथा पूर्ण इकाई के रूप में देखती है। इसके अनुसार **साहित्यिक कृति केवल घटकों का एकत्रित रूप नहीं होती। वे घटक कुछ विशेष नियमों तथा व्यवस्थाओं के तहत परस्पर संश्लिष्ट होकर एक पूर्ण वस्तु के रूप में प्रस्तुत होते हैं।** वह पूर्ण वस्तु या समग्र संघटन ही संरचना है और कृति का अध्ययन भी इस समग्रता को दृष्टि में रखते हुए ही किया जाना चाहिए। अनुभाग (24.3.1) में बिहारी के दोहे के उदाहरण के द्वारा भी इस बात को समझाया गया है। उसे फिर एक बार पढ़कर देखें।

  2) **स्वायत्तता एवं स्वनिष्ठता** : **स्वायत्तता का अर्थ है**, किसी अन्य सत्ता से मुक्त, स्वयं अपने अधिकार में रहना। **स्वनिष्ठता का मतलब है**, अपने आपमें पूर्ण होना। दोनों बातें परस्पर जुड़ी हुई हैं। **संरचनावादी दृष्टि के अनुसार किसी कृति की संरचना बाह्य तत्वों पर निर्भर नहीं**

होती। वह अपने घटकों को स्वयं जन्म देती और व्यवस्थाबद्ध करती है। उसकी प्रकृति और प्रवृत्ति स्वयं अपने ही ऊपर निर्भर है। उदाहरण के लिए किसी कविता का कथ्य या कहानी का चरित्र विधान कृति विशेष में ही आरंभ होकर उसी में समाप्त हो जाता है। कृति के अन्य घटकों से वह संबद्ध भी होता है और उनसे संपुष्ट भी होता है किंतु यह कृति की समग्रता के अधीन ही होता है। किसी बाहरी तत्व - इतिहास, समाज, मनोविज्ञान आदि - का उस पर कोई प्रभाव या अधिकार नहीं होता।

इसे समझने के लिए आपको यह याद रखना ज़रूरी है कि संरचनावाद ने साहित्य के लिए साहित्य से इतर प्रतिमानों के खिलाफ़ नारा बुलंद किया था। साहित्य के अध्ययन में जब समाजशास्त्रीय, मनोवैज्ञानिक, ऐतिहासिक आदि दृष्टियों का प्रयोग होने लगा था तो विचारकों के एक वर्ग ने यह महसूस किया कि उस स्थिति मे साहित्य रचना के अपने नियम तथा कृति की कला से संबद्ध दृष्टि बिल्कुल ही पृष्ठभूमि में चली गई थी। कलावाद, रूपवाद नयी समीक्षा आदि विचार-धाराओं ने इसी एकांगिता का विरोध किया था। संरचनावाद ने भी बाह्य तत्वों से ध्यान हटकर कृति की समीक्षा को मात्र कृति की संरचना पर केंद्रित कर लिया था। इसी क्रम में उसने कृति को पूर्णतः स्वायत्त तथा स्वनिष्ठ माना, बाह्य तत्वों पर निर्भर नहीं।

3) **सार्वभौमता** : संरचनावादी समीक्षा जब किसी कृति की संरचना पर विचार करती है तो उसकी दृष्टि मात्र उस विशिष्ट कृति तक ही सीमित नहीं होती बल्कि अपने मूल रूप में संरचना सार्वभौमिक होती है। अलग-अलग कृतियाँ उसकी अभिव्यक्ति का माध्यम होती हैं। हमारे सामान्य अनुभव कृति विशेष तक सीमित होते हैं **किंतु संरचनावादी समीक्षा केवल आलोच्य कृति के समग्र अध्ययन तक सीमित न रहकर कृतिकार की समस्त रचनाओं की ओर बढ़ती है और क्रमशः उस विधा के, उस युग के और फिर विभिन्न कालों के संपूर्ण साहित्य के अध्ययन को समेट कर उन सार्वभौम नियमों का संधान करने की चेष्टा करती है जो समस्त साहित्यिक कृतियों की संरचना को शासित करते हैं।** ये वे मूल तत्व होते हैं जो तमाम वैविध्य के बावजूद विभिन्न साहित्यिक रचनाओं में समान रूप से पाए जाते हैं और साहित्य को भाषा की अन्य प्रयुक्तियों से अलग करके दिखलाते हैं।

4) **गतिशीलता : संरचना को अनुशासित करने वाले नियम जड़ और अपरिवर्तनशील नहीं होते।** उनका निरंतर विकास होता रहता है और समय, स्थिति तथा आवश्यकता के अनुरूप उनमें परिवर्तन आता जाता है।

संरचना के स्वरूप के मुख्य बिंदुओं को समझने के बाद संरचनावादी समीक्षा पद्धति की कुछ अन्य मान्यताओं पर विचार किया जा सकता है जिससे इसका स्वरूप आपके सामने और भी स्पष्ट हो जाएगा।

- साहित्य को इस पद्धति ने भाषिक संरचना माना है **किंतु यह संरचना कृति के बाह्य स्तर पर नहीं बल्कि आभ्यंतर स्तर पर स्थित होती है।** संरचना को केवल बाह्यस्तरीय मानने का अर्थ है उसे केवल व्याकरणिक तथा साहित्यशास्त्रीय नियमों का संयोजन मान लेना। उनका अध्ययन-विश्लेषण मात्र वस्तुगत भाषिक विश्लेषण होगा, संरचनागत विश्लेषण नहीं क्योंकि सुसंगति कृति का प्राण होती है और वह अभिप्राय (अर्थ) और अभिव्यक्ति के समंजन में ही निहित होती है। कृति के अभिप्राय को समझने के लिए आलोचक को सतह से नीचे पैठकर आभ्यंतर-स्तरीय संरचना का भी विश्लेषण करना चाहिए क्योंकि वही कृति की आधारभूत संरचना होती है और साहित्य को सामान्य भाषा प्रयोग से अलगाती है।

  यहाँ आपको संरचनावाद पर लगाए गए इस आरोप का उत्तर भी मिल जाता है कि इस पद्धति में 'अर्थ' की उपेक्षा हुई है। संरचना के विश्लेषण के माध्यम से वस्तुतः यह कृति के अर्थ का ही संधान करती है क्योंकि अभिप्राय तथा अभिव्यक्ति की यह समग्रता ही कृति को सुसंगत बनाती है।

- इस प्रकार **संरचनावाद कथ्य का निषेध नहीं करता। पर साथ ही यह संरचना को कथ्य का वहन करने वाला पात्र भर नहीं मानता क्योंकि** उस दशा में कृति का आभ्यंतर स्तर प्रमुख हो उठेगा और इसका संतुलन डगमगा जाएगा। यथार्थवादी दृष्टिकोण ने संकेतक (अभिव्यक्ति) की क़ीमत पर संकेतित (अर्थ) को प्रमुखता दी थी। इसके विरोध में **संरचनावाद दोनों को समान महत्व देता है।** साहित्यिक पाठ में दोनों समान रूप से अन्वित होते हैं।

- यथार्थवाद और आदर्शवाद से संरचनावाद इस बात में भी भिन्न है कि यह **कृति की सोद्देश्यता का भी निषेध करता है।** किसी उद्देश्य का सोचा-समझा कथन भाषा का साहित्यिक उपयोग नहीं होता। बार्थ के अनुसार लेखक का सरोकार विश्व (World) से नहीं, बल्कि शब्द (Word) से होता है। वह शब्द से कथन आरंभ करता है और उसमें अर्थ भरता है। उसे क्या कहना है, यह वह पहले से तय नहीं करता। वह इस प्रतिबंध से मुक्त होकर रचना करता है अतः उसकी रचना उद्देश्यरहित होती है।

- संरचनावादी पद्धति चूँकि बाहरी प्रतिमानों को महत्व नहीं देती **इसलिए कृति की श्रेष्ठता भी वह बाहरी तथ्यों से नहीं बल्कि संरचना के आधार पर ही जाँचती है।** संरचनवादी समीक्षक के लिए समीक्षा सामग्री के रूप में शेक्सपियर या ब्रेख्त के नाटकों का जो स्थान है, वही बाज़ारू जासूसी उपन्यासों का भी। उसके लिए महत्व रचना की अंतर्वस्तु का नहीं, बल्कि इस तथ्य का है कि उसमें संरचना के विभिन्न तत्व किस प्रकार सुसंबद्ध भाव से जुड़कर अपेक्षित अर्थ देते हैं।

- **यह पद्धति रचना को लेखक की आत्माभिव्यक्ति भी नहीं मानती क्योंकि** उससे साहित्य की आत्मपरकता (Subjectivity) को प्रमुखता देनी होगी। इसके अनुसार लेखक का आत्म तथा रचना एक दूसरे से स्वतंत्र होते हैं।

- इसी से यह मान्यता भी जुड़ी है कि **लेखक की सर्जनात्मक चेतना को संरचना का ज्ञान नहीं होता।** अर्थात् वह सोच-समझकर किसी साँचे के अनुसार रचना को नहीं गढ़ता, बल्कि उसकी रचना सहज स्वायत्त रूप से एक संरचना में ढल जाती है जिसका अन्वेषण आलोचक करता है।

- **यह पद्धति पाठक की भूमिका को भी महत्व देती है।** साहित्य का पठन भी संरचना से जुड़ा है। पहले पढ़ी गई कृतियों से पाठक के मन में रचना का एक अभिकल्प, एक पैटर्न बन जाता है जिसकी खोज वह प्रस्तुत पाठ में भी करता है। अतः रचनाकार, आलोचक और सामान्य पाठक - तीनों ही कृति की संरचना के प्रभाव में होते हैं।

- सस्यूर ने साहित्य के समकालिक अध्ययन पर बल दिया। इसका कारण संभवतः यह रहा हो कि मार्क्सवाद ने साहित्य को नियंत्रित-संचालित करने वाली ऐतिहासिक शक्तियों की भूमिका को अतिरिक्त महत्व दिया था। किंतु आगे चलकर बार्थ तथा फुको जैसे विचारकों ने विचार के ऐतिहासिक आयाम को भी मान्यता दी।

24.4.4 मूल्यांकन

संरचनावाद तथा इससे जुड़ी समीक्षा पद्धति की कई मुद्दों पर आलोचना भी हुई है।

- संरचनावाद को सस्यूर ने नियमों की अमूर्त व्यवस्था माना है। संरचनावाद भी अपने आपमें एक अमूर्त और जटिल प्रत्यय है और इससे जुड़ी पद्धति पर भी **अस्पष्टता तथा जटिलता के आरोप लगे हैं।**

- इस पद्धति की सबसे प्रमुख आलोचना तो यही है कि साहित्य की स्वायत्तता तथा साहित्यिकता के नाम पर यह रचनाकार के मानस, उसके जीवन, समकालीन समाज, इतिहास, दर्शन - सभी की उपेक्षा करके अपने आपको केवल कृति तक सीमित कर लेती है। कृति की अंतर्वस्तु का इसके लिए महत्व नहीं है, बल्कि कुछ विचारक तो कृति के अर्थ को भी नगण्य मानते हैं। इसलिए **इस पर समाजविमुखता तथा यथार्थविमुखता का आरोप** भी लगा है। यह अवश्य है कि आगे चलकर विद्वानों ने संरचना में शब्द तथा अर्थ को समान महत्ता दी किंतु फिर भी रचना का प्रारंभ शब्द से ही माना गया, अर्थ से नहीं।

- इस पद्धति के लिए चूँकि संरचना तथा शब्द का स्थान पहले है और यथार्थ से जुड़े अर्थ का स्थान बाद में, इसलिए एक ओर तो **यह पहले से तय संरचनाओं को यथार्थ पर आरोपित करती है और दूसरी ओर शब्द या भाषा को यथार्थ से स्वायत्तत और स्वतंत्र स्थान देती है।**

- संरचनावाद इतिहास, विकास, परिवर्तन तथा क्रांति की धारणाओं को मान्यता नहीं देता और इन्हें मात्र सतही स्तर की चीज़ें मानता है। इसलिए **यह प्राचीन तथा नवीन के द्वंद्व को भी रचनाकर्म के संदर्भ में सार्थक नहीं मानता।**

- संरचनावादी पद्धति में मिथकीय चेतना और उस चेतना की कालातीतता को बड़ा महत्व दिया गया है। इस दृष्टि से **इतिहास की गति तथा शक्ति को यह उपेक्षा करता है।** इस बात को लूसिएँ गोल्डमान ने संस्कृति विरोधी और मानव विरोधी माना है। गोल्डमान ने उत्पत्तिमूलक संरचनावादी विचारधारा का विकास किया जिसमें साहित्यिक कृति तथा उसे उत्पन्न करने वाले समाज के संबंधों का अध्ययन तो होता ही है, इतिहास को सत्ता और महत्ता को भी स्वीकारा गया है।

संरचनावादी समीक्षा पद्धति की अन्य भी अनेक आधारों पर आलोचना हुई है जिनमें से कुछ वस्तुपरक आधार हैं और कुछ आलोचकों के अपने मतवाद से प्रेरित हैं। किंतु दूसरी ओर इस पद्धति की अपनी कुछ सकारात्मक विशेषताएँ भी हैं जिन्होंने इसे अपने क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण पद्धति के रूप में भी स्थापित किया है।

- सबसे पहली बात तो यह है कि **इसने समीक्षा को कृति से इतर तत्वों से हटकर मुख्यतः समीक्ष्य कृति पर केंद्रित किया और एक कृति के माध्यम से समग्र साहित्य की संरचना को समझने का प्रयास किया।** संरचना की एकता के माध्यम से इसने समस्त साहित्य के मूल आधार की पहचान की चेष्टा की।

- समीक्षा को कोरे प्रभाववाद या भाववाद से अलग करके इसने **आलोचना में वैज्ञानिक दृष्टि को प्रोत्साहित किया।** 'साहित्यिकता' को विशिष्ट भाषिक संरचना से जोड़कर इसने एक वस्तुगत वैज्ञानिक आधार दिया।

- **इसने कृति के भाषिक पक्ष के महत्व को रेखांकित किया।** रचना में केवल काव्य सत्य के स्थान पर इसने भाषिक पद्धति और सुसंगति के अध्ययन को आवश्यक माना।

- जिस समय आदर्शवादी या यथार्थवादी मूल्यों पर बल के कारण कृति में कथ्य का महत्व बढ़ गया था और शिल्प गौण हो गया था उस समय समीक्षा में **पाठ के महत्व पर बल देते हुए इसने कृति में विभिन्न तत्वों की अन्विति, सुसंगति तथा सुगठन की आवश्यकता को दिखलाया।**

- इसी क्रम में इसने **रचना की भाषा और कथन की प्रस्तुति के स्वरूप पर भी बल दिया।**

- हालाँकि इतिहास की गति और प्रगति को इसने उपेक्षणीय माना, किंतु बार्थ जैसे विचारकों ने साहित्य के इतिहास-लेखन को एक नई दृष्टि दी। इस इतिहास में रचनाकार के जीवन, युग या रचनाओं के कालक्रम के स्थान पर **साहित्य के कार्यात्मक स्वरूप को आधार बनाया गया।**

- संरचनावादी समीक्षा पद्धति में **रचना के साथ ही उसके आस्वाद पर भी बल दिया गया।** साहित्यिक पठन को भी संरचना की एक प्रक्रिया मानते हुए इसने **कृति के आस्वाद में पाठक की भूमिका को भी महत्व दिया।** संरचनावादी समीक्षा उन मानसिक क्रियाओं का भी अन्वेषण करती है जो पाठक के अंदर निष्पन्न होती है।

- **यह समीक्षा पद्धति देश और काल से निरपेक्ष होकर रचना की अनिवार्य आंतरिक संरचना का अन्वेषण करती है।** जैसा कि पहले उल्लेख किया गया है, यह एक कृति से उस काल और उस श्रेणी की समस्त कृतियों की ओर विभिन्न कालों और श्रेणियों की कृतियों से संपूर्ण साहित्यिक रचनाओं की अंतर्निहित मूलभूत संरचना तक पहुँचने की चेष्टा करती है। **अतः यह समीक्षा के ऐसे मान सामने रखने का प्रयास करती है जो कालातीत हों** - जिनके माध्यम से किसी भी देश, काल या विधा की रचना का मूल्यांकन हो सके।

24.5 शैलीवैज्ञानिक समीक्षा पद्धति

24.5.1 भूमिका

आप अपने अब तक के अध्ययन के क्रम में देख चुके हैं कि साहित्य समीक्षा के विभिन्न सिद्धांतों और पद्धतियों ने अपने समीक्षा कर्म के लिए भिन्न-भिन्न प्रतिमानों को अपनाया है। इनमें से कुछ प्रतिमान कृतिबाह्य हैं और कुछ कृतिकेंद्रित। कृति बाह्य प्रतिमान वे हैं जिनमें समीक्षा का बल स्वयं रचना पर कम रहता है और उसे प्रेरित करने वाले साहित्येतर तत्वों - इतिहास, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान आदि - पर अधिक। मनोवैज्ञानिक, समाजशास्त्रीय तथा ऐतिहासिक समीक्षा इसी श्रेणी में आती हैं। कृतिकेंद्रित **समीक्षा में स्वयं कृति को विशुद्ध साहित्यशास्त्रीय नियमों की कसौटी पर करना जाता है या फिर उसके**

रूप, संरचना, शैली आदि को आधार बनाकर विवेचन होता है। स्पष्ट है कि रूपवादी, संरचनावादी और शैली वैज्ञानिक समीक्षा पद्धति इसी श्रेणी में आती हैं।

इस सदी में भाषा विज्ञान का अभूतपूर्व विकास हुआ और शैली विज्ञान भी मूलतः भाषा विज्ञान का ही एक अंग है। इसलिए शैली वैज्ञानिक समीक्षा में मुख्य बल कृति की भाषा पर रहता है। शैली भी भाषा का ही एक रूप है, जैसा हम अगले अनुभाग में देखेंगे। यहाँ हम पहले इस बात पर दृष्टिपात कर लें कि भाषा को आधार बनाकर समीक्षा क्यों संगत है।

यह हम सभी जानते हैं कि भाषा के बिना साहित्य की रचना नहीं हो सकती। अज्ञेय के अनुसार 'काव्य सबसे पहले शब्द है और सबसे अंत में यही बात बच जाती है कि काव्य शब्द है' (तार सप्तक : द्वितीय संस्करण)। कई विद्वानों के अनुसार साहित्य एक 'शाब्दिक कला' है और कविता भाषा की ही एक विधा है। भाषा पहले आती है और साहित्य बाद में। भाषा के जो अनेक प्रयोग संदर्भ हैं, साहित्य भी उन्हीं में से एक है। इस विषय पर काफ़ी चर्चा हुई है। कुछ बहस इस बात को लेकर भी होती रहती है कि भाषा काव्य के अर्थ को वहन करने वाला माध्यम भर है या काव्य का अपरिहार्य अनिवार्य घटक है। इस वाद-विवाद की जानकारी आपको संदर्भ ग्रंथों से हो सकती है। यहाँ सिर्फ़ इस निष्कर्ष को समझ लेना काफ़ी है कि हमारी प्राचीन परंपरा में भी शब्द तथा अर्थ को परस्पर संपृक्त माना गया है और कविता जिस अर्थ का वहन करती है उसकी अभिव्यक्ति शब्द के बिना नहीं हो सकती। इसलिए कविता - या साहित्य की समीक्षा में भाषा पक्ष का विश्लेषण करना भी ज़रूरी है। आगे हम इस विषय पर विचार करेंगे कि समीक्षा कर्म में भाषा पक्ष को कितना महत्व दिया जाना चाहिए, शैली और शैली विज्ञान से क्या तात्पर्य है और समीक्षा में इनका क्या स्थान है।

24.5.2 भाषा, शैली तथा शैली विज्ञान

भाषा तथा शैली पर विचार के क्रम में पहले हम देखेंगे कि साहित्य की भाषा की प्रकृति क्या है और फिर हम शैली का अर्थ समझने की कोशिश करेंगे।

(i) साहित्य की भाषा : साहित्य के लिए भाषा की अपरिहार्यता का उल्लेख पहले हो चुका है। अब प्रश्न उठता है, क्या सामान्य लोक व्यवहार की भाषा की ही कसौटी पर साहित्य की भाषा का भी विवेचन होना चाहिए? ध्यान दें, कई विद्वानों ने साहित्यिक भाषा को सामान्य भाषा से अलग कर उसे व्यापक भाषा-क्रिया की एक उपश्रेणी माना है - भाषा की अनेक प्रयुक्तियों में से एक प्रयुक्ति मात्र (रूपवादी तथा संरचनावादी समीक्षा पद्धति के अध्ययन के दौरान आप यह देख चुके हैं)। बोलचाल की भाषा का कार्य सूचना देना मात्र होता है। साहित्य का कथ्य अधिक गहरा होता है। उसकी विशिष्ट अनुभूति और विशिष्ट कथ्य विशिष्ट भाषा की अपेक्षा करते हैं। वह सामान्य भाषा से सामग्री लेकर अपनी आवश्यकतानुसार उसका पुनर्योजन करके अपनी विशिष्ट प्रयुक्ति की रचना करता है। भाषा की मूल शब्दावली तथा संरचना लेकर वह ध्वनि, शब्द तथा संरचना का विचलन करके - अर्थात् उन्हें सामान्य से भिन्न स्थिति में प्रयुक्त करके, शब्दों में कथ्य के अनुरूप नया अर्थ भर को प्रस्तुत करता है। उदाहरण के लिए देखिए, प्रसाद की कविताओं में कई स्थानों पर भाषा में तत्सम शब्दों की बहुलता हो हुए भी 'ण' के स्थान पर 'न' ध्वनि का प्रयोग होता है (**कन-कन** अनंत अंबुधि बनते', **'तारा किरनों से पुलक गात'** - प्रसाद : लहर)। यह प्रयोग भाषा में कोमलता तथा संगीत की अनुगूँज लाने के लिए किया जाता है ताकि कविता के माध्यम से जो वातावरण रचा जा रहा है वह और पुष्ट हो तथा कविता के प्रभाव में वृद्धि हो। इसी प्रकार बिहारी के दोहे को देखें :

'रनित भृंग घंटावली झरत दान मधु नीर।
मंद-मंद आवत चल्यौ कुंजर कुंज समीर।।'

अन्य विशिष्टताओं के साथ ही इस दोहे की एक विशिष्टता अनुस्वार का प्रयोग भी है जिससे चित्रित वातावरण की संगीतमयता ध्वनि बिंब के रूप में मुखर हो उठी है। यह शब्दों के विशेष चयन तथा संयोजन द्वारा संभव हुआ है। इस प्रकार की साहित्यिक भाषा को भाषा का सर्जनात्मक रूप कहा जा सकता है जो हमारे दैनिक जीवन के सामान्य अनुभवों से आगे जाकर किसी विशिष्ट अनुभव की अभिव्यक्ति करता है। यह अनुभव सामान्य भाषा में व्यक्त नहीं हो सकता।

अब यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या सामान्य बोलचाल की भाषा में साहित्य रचा ही नहीं जा सकता? नागार्जुन की कुछ कविताओं या प्रेमचंद के कथा साहित्य का उदाहरण देते हुए यह सिद्ध करने की चेष्टा की जा सकती है कि यह बिल्कुल सामान्य बोलचाल की भाषा है। यहाँ आप दो बातों पर ग़ौर कीजिए। साहित्यिक भाषा को सामान्य भाषा का सर्जनात्मक रूप माना गया है। इसमें प्रायः विचलन,

प्रतिस्थापन (एक के स्थान पर दूसरा प्रयोग) आदि प्रविधियों का प्रयोग होता है, पर यह अनिवार्य नहीं है। इनके बिना भी जहाँ विशिष्ट कथ्य या अनुभूति की व्यंजना हो जाती है वहीं इसकी प्रकृति सर्जनात्मक कही जा सकती है। उदाहरण के लिए प्रेमचंद की कहानी 'सवा सेर गेहूँ' की ये पंक्तियाँ देखिए : 'सात साल गुज़र गए। विप्रजी विप्र से महाजन हुए, शंकर किसान से मज़दूर हो गया।' ऊपर से देखने पर यह सीधी-सादी, सामान्य व्याकरणिक भाषा में किसी बाहरी तथ्य का बयान भर नज़र आता है, पर इस सामान्यता के अंदर जो गहरा व्यंग्य निहित है वह इन गिने-चुने शब्दों में एक विराट तथा जटिल समाजशास्त्रीय तथ्य का उद्घाटन करता है - उस तथ्य का उद्घाटन करता है जिसके तहत सवा सेर गेहूँ उधार देने वाला व्यक्ति सात साल के अंदर महाजन बन बैठता है और इतना-सा उधार लेने वाला व्यक्ति सब कुछ खोकर सर्वहारा बन जाता है। यही नहीं संदर्भ से ये पंक्तियाँ धर्म के पाखंडी तथा शोषक रूप को भी उजागर करती हैं और आम आदमी की धर्मभीरूता और दीनता को भी। बोलचाल की भाषा में इतनी गहरी व्यंजना भर देना सामान्य प्रतिभा वाले साहित्यकार के लिए संभव नहीं है। इसी में प्रेमचंद की अपार प्रतिभा तथा भाषा के सर्जनात्मक प्रयोग के दर्शन होते हैं। इसी प्रकार नागार्जुन की कविता की पंक्तियाँ : 'सुबह-सुबह/ तालाब के दो फेरे लगाए' या रघुवीर सहाय की 'मन में/ पानी के अनेक संस्मरण हैं' सामान्य तथ्य के बयान के अंदर से एक अलग ही अनुभूति की झलक देती हैं जो भाषा की इस सामान्यता को सर्जनात्मकता से रंग देती है। इस प्रकार हम साहित्य में प्रयुक्त सामान्य भाषा को भी भाषा की सर्जनात्मक प्रयुक्ति मान सकते हैं।

दूसरी बात, सामान्य प्रतीत होने वाली भाषा भी जब साहित्य में प्रयुक्त होती है तो उसमें एक विशेष अर्थवत्ता और लय आ जाती है। कविता में तो यह लय स्पष्ट होती ही है, गद्य में भी बात की प्रस्तुति एक विशिष्ट लय में होती है। प्रेमचंद को कहानियों में हम इसे क़िस्सागोई की लय कह सकते हैं। यह तथ्यों की प्रस्तुति के क्रम तथा लेखक के अपने बयान के अंदाज़ में व्यक्त होती है।

साहित्य में भाषा की इस भूमिका पर बल देते हुए वस्तुवादी चिंतन ने भाषा को ही साहित्य की मूल सामग्री मान लिया है। आप देख चुके हैं कि एक समय संरचनावाद ने भी अपनी साहित्य समीक्षा पद्धति को मात्र भाषा पर केंद्रित कर दिया था, हालाँकि आगे चलकर उसमें कथ्य को भी महत्व मिलने लगा। बहरहाल जब हम भाषा के सर्जनात्मक प्रयोग की बात करते हैं तो सवाल उठ सकता है कि यह सर्जनात्मकता भाषा में कैसे आती है। यह आती है शैली के माध्यम से। शैली ही भाषा को विशेष संदर्भ में विशेष चरित्र देती है। तो यह शैली क्या है?

(ii) शैली : परिभाषा और प्रकृति : आप यह देख चुके हैं कि सामान्य भाषा ही साहित्य में किसी विशेष उद्देश्य की सिद्धि के लिए, किसी विशेष आशय के संप्रेषण के लिए विशेष रूप धरकर आती है। यह विशेष रूप ही दिए हुए संदर्भ में भाषा की शैली है। **यह भाषा के सामान्य रूप को सर्जनात्मक विशिष्टता देती है।** यह विशिष्टता कथ्य के अनुरूप ध्वनियों, शब्दावली, वाक्य-रचना, अलंकार, छंद आदि के चुनाव से आती है। पिछले अनुच्छेदों में इसके कुछ उदहारण दिए गए हैं।

शैली की परिभाषा अवसर तथा कथ्य के अनुसार भाषा के सर्जनात्मक रूप के तौर पर की जा सकती है। साहित्य में अनेक विधाएँ होती हैं और हर विधा में अनेक विषय। इसके अतिरिक्त हर लेखक की निजी दृष्टि और विशेषताएँ भी होती है। इन सब बातों को देखते हुए शैली भी अनेक प्रकार की हो सकती है। उदाहरण के लिए हम पद्य की शैली और गद्य की शैली को अलग-अलग करके देखते हैं। गद्य में भी कहानी, उपन्यास, नाटक, निबंध आदि की अलग-अलग शैलियाँ होती है। इनमें से किसी एक विधा की शैली भी कथ्य, विषय और लेखक की प्रकृति के अनुसार भिन्न-भिन्न हो सकती है। उदाहरण के लिए आप प्रेमचंद तथा प्रसाद की कहानियों की शैली का अंतर देखें। शब्द चयन, वाक्य-रचना, वर्ण-पद्धति, चरित्रांकन - सभी में इन दोनों की कहानियाँ कितनी भिन्न हैं। इस तमाम वैविध्य को देखते हुए शैली का कोई निश्चित स्वरूप तय नहीं किया जा सकता। सिर्फ़ यही कहा जा सकता है कि **भाषा के अवयवों के विशिष्ट प्रयोगों के द्वारा यह भाषा को लेखक का अभीष्ट अर्थ प्रदान करती है।**

इसी से एक और बात भी आपके सामने स्पष्ट हो गई होगी। शैली के उपकरण हालाँकि भाषा के ही बाह्य अवयव - ध्वनि, शब्दावली, वाक्य-रचना, प्रोक्ति की संरचना, अलंकार, विशिष्ट भाषा प्रयोग आदि हैं, किंतु वह भाषा के बाहरी स्तर तक ही सीमित नहीं है। **उसका मुख्य उद्देश्य विशिष्ट अर्थ या आशय का सम्प्रेषण है अतः वह भाषा के आभ्यंतर या आर्थी स्तर तक जाती है,** सामान्य अर्थ के साथ ही ध्वनित अर्थ का भी प्रकाशन करती है। अतः यह साहित्य का अत्यंत महत्त्वपूर्ण ही नहीं अनिवार्य उपकरण भी है। रूपवाद तथा संरचनावाद से प्रभावित होते हुए भी यहाँ साहित्यिक शैली विज्ञान उनसे

भिन्न हो जाता है क्योंकि इसमें कृति के रूप का, अर्थ को सम्प्रेषित करने के माध्यम के तौर पर देखा गया है - अर्थात, इसमें अर्थ का महत्व बढ़ गया है।

शैली की रचना चूँकि भाषा के स्तर पर होती है अतः भाषाविज्ञान से इसका गहरा संबंध है और शैली विज्ञान प्राथमिक तौर पर भाषा विज्ञान की ही शाखा है।

(iii) शैली विज्ञान : भाषा की जिस शाखा में भाषा की संरचना का विशिष्ट शैली के संदर्भ में अध्ययन किया जाता है, वह शैली विज्ञान है। साहित्य समीक्षा के संदर्भ में वह साहित्यिक कृतियों के उन भाषिक तत्वों का विश्लेषण विवेचन करता है जो उन कृतियों की शैली निर्धारित करते हैं। इसी आधार पर इसकी प्रकृति को लेकर विद्वानों में मतभेद उठ खड़े हुए हैं।

यह आप जानते हैं कि साहित्यिक कृतियों के दो प्रमुख पक्ष होते हैं - **भाव पक्ष**, जिसमें अर्थ या कथ्य समाहित होता है, और **अभिव्यक्ति पक्ष**, जिसमें भाषा-शैली आदि समाहित होते हैं। भाषा-शैली रचना के अभिव्यक्ति पक्ष या बाह्य कलेवर से जुड़ी होती है, इसलिए कुछ विद्वानों के मत में शैली वैज्ञानिक समीक्षा कृति के केवल भाषिक विश्लेषण तक सीमित रहती है, और इसलिए यह अधूरी समीक्षा है। डॉ० नगेंद्र के अनुसार शैली विज्ञान साहित्य के भाषिक विधान से आगे नहीं जाता। यह कृति के भाषिक रूप को ही कृति मानकर उसकी समीक्षा करके संतुष्ट हो जाता है। अतः यह साहित्य समीक्षा का एक अंग मात्र हो सकता है, संपूर्ण साहित्य समीक्षा नहीं। साहित्य में जीवन तथा अनुभूतियों की भी अभिव्यक्ति हेती है, भाव विधान होता है, मूल्यों की स्थापना भी होती है, और इनकी समीक्षा आंतरिक प्रतिमानों के आधार पर होती है, भाषा-शैली जैसे केवल बाह्य स्तरीय प्रतिमानों के आधार पर नहीं। साहित्य का सौंदर्य केवल शैली पर नहीं, उसमें निहित मूल्यों, चरित्र-योजना, सामाजिक संदर्भ आदि पर भी आधारित होता है। शैली विज्ञान इन सबकी उपेक्षा करता है।

यह सही है कि शैली विज्ञान मूलतः वस्तुवादी चिंतन परंपरा से उभरा है और भाषा का विश्लेषण ही इसका मुख्य औज़ार है क्योंकि साहित्य को यह एक शाब्दिक कला मानता है। साहित्यकार अपनी बात शाब्दिक प्रतीकों के माध्यम से ही कहता है और उसके कथन की भंगिमा ही शैली है। पर, जैसा कि प्रश्न उठाया गया है, क्या कृति की भाषिक संरचना ही कृति है, और, शैली विज्ञान क्या सचमुच केवल भाषिक विश्लेषण मात्र है? क्या यह साहित्य के समग्र वैशिष्ट्य की उपेक्षा करता है?

विद्वानों के एक दूसरे वर्ग ने इस बात का विरोध किया है। उन्होंने शैली वैज्ञानिक समीक्षा को इसलिए महत्वपूर्ण माना कि -

- यह साहित्यिक आलोचना के लिए सामाजिक यथार्थ, मनोविज्ञान आदि बाह्य प्रतिमानों को नकार कर उसे आभ्यंतर प्रतिमान - स्वयं कृति पर केंद्रित कर   है,
- भाषिक संरचना कृति का कलेवर होता है जिसकी उपेक्षा समीक्षा को को अधूरा छोड़ देती है। शैली वैज्ञानिक समीक्षा इस तथ्य की पहचान करती है।

आगे चलकर इन विद्वानों ने यह भी दिखलाया कि यह समीक्षा कृति के कथ्य की उपेक्षा नहीं करती। किसी कथन की भंगिमा या शैली कथ्य को अधिक स्पष्ट करने के लिए ही अपनाई जाती है। इसलिए जब हम शैली का विश्लेषण करते हैं तो कथ्य और भी स्पष्ट होकर हमारे सामने आता है। उदाहरण के लिए देखें - विशाखदत्त के नाटक 'मुद्राराक्षस' के भारतेंदु हरिश्चंद्र कृत हिंदी अनुवाद में एक स्थान पर चाणक्य कहता है - 'यह नंद का राज नहीं, चंद्रगुप्त का राज्य है।' एक ही संकल्पना के लिए इसमें एक स्थान पर तद्भव शब्द 'राज' का प्रयोग किया गया है और दूसरे स्थान पर तत्सम शब्द 'राज्य' का। इन शब्दों का प्रयोग एक शैलीगत विशिष्टता है जिससे अनुवादक एक विशेष आशय का संप्रेषण करना चाहता है। 'राज' शब्द के द्वारा वह नंद के प्रति तिरस्कार की अभिव्यक्ति कर रहा है और 'राज्य' शब्द के द्वारा चंद्रगुप्त और उसके सुशासन के प्रति सम्मान का भाव दिखला रहा है। इस प्रकार के विश्लेषण में अर्थ विज्ञान का सहारा भी लिया जाता है। इस तरह **शैली वैज्ञानिक विवेचन संपूर्ण पाठ के सभी पक्षों पर काम करता है और अभिव्यक्ति के विश्लेषण के माध्यम से कथ्य तक भी पहुँच जाता है।** वैसे भी भाषा का तिरस्कार करके कृति को समझा नहीं जा सकता। वह signifier या संकेतक/वाचक होती है जिसके द्वारा Signified या संकेतित/वाच्य का कथन होता है। दोनों में से एक की भी उपेक्षा समीक्षा को अधूरा छोड़ देती है। शैली वैज्ञानिक पद्धति निरी भाषा-विश्लेषण पद्धति नहीं है। प्रणाली के स्तर पर वह भाषा वैज्ञानिक तकनीक अपनाती है किंतु साहित्य की समीक्षा करने के कारण यह साहित्य सिद्धांत से भी जुड़ी है और इसके दोनों पक्ष मिलकर समीक्षा को पूर्ण कर देते हैं।

24.5.3 उद्‌भव और विकास

शैलीविज्ञान मूलतः भाषा विज्ञान की एक शाखा है जो साहित्य की समीक्षा में भाषा विश्लेषण के महत्व को रेखांकित करती है। भाषा विज्ञान की शाखा के रूप में इसका विकास पिछले कुछ वर्षों में हुआ किंतु इसकी मूल अवधारणा बहुत प्राचीन है।

आधुनिक शैली विज्ञान को वस्तुनिष्ठ रूपवादी चिंतन से जोड़ा गया है किंतु भारतीय काव्यशास्त्र में भी अत्यंत प्राचीन काल से भाषा तत्व पर बल रहा है। इसमें साहित्यिक रचना के कथ्य के साथ ही अभिव्यक्ति पक्ष को भी बहुत महत्व दिया गया है और इसके सभी काव्य सिद्धांतों में शैली का अध्ययन विशेष रूप से हुआ है। वामन ने विशिष्ट पदरचना या रीति को काव्य की आत्मा माना था तो भामह ने असामान्य कथन या वक्रोक्ति को। कुंतक कवि स्वभाव, कवि प्रतिभा आदि पर बल देते हुए भी काव्य के अनुभूति या संदेश पक्ष के साथ ही उसकी अभिव्यक्ति को भी महत्व देते हैं। वे कविता की भाषा तथा सामान्य भाषा का अंतर भी दिखलाते हुए वक्रता को काव्यभाषा का अनिवार्य गुण मानते हैं और साहित्य के सृजन में भाषा के स्वरूप के महत्व को रेखांकित करते हैं। क्षेमेंद्र के औचित्य सिद्धांत में भी काव्य के लिए समुचित भाषा का प्रयोग आवश्यक माना गया। ध्वनि सिद्धांत में अर्थ की व्यंजना पर प्रमुख बल था किंतु यह नहीं भुलाया गया कि इस व्यंजना के उपकरण भाषा तथा उसकी संरचना में ही उपलब्ध हैं। **इस प्रकार भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य तथा उसकी भाषा-शैली के अनिवार्य संबंध को स्वीकारा गया और भाषा-शैली के विविध पक्षों के विवेचन पर ही उसका काव्यालोचन आधारित रहा।** इस बात पर भी ध्यान दें कि भारतीय परंपरा में समीक्षा का केंद्र कृति रही है, रचनाकार या जीवन या बाहरी समाज नहीं। कृति की कलात्मकता का निर्णय भी उसकी भाषिक संरचना और भाषिक प्रयोगों के आधार पर होता है। **वाक् को केंद्र में रखकर ही भारतीय साहित्यशास्त्र की चिंतन परंपरा आगे बढ़ी है।**

पाश्चात्य काव्यशास्त्र में शैली संबंधी विवेचन के सूत्र अरस्तू के काव्यशास्त्र में मिल जाते हैं किंतु आधुनिक शैली विज्ञान का जन्म मुख्यतः भाषा विज्ञान की एक शाखा के रूप में बीसवीं सदी के आरंभ में हुआ। हम देख चुके हैं कि रूसी रूपवाद ने समीक्षा को कृति पर केंद्रित कर दिया था। इस धारा के प्रमुख प्रवर्तकों में से याकोबसन चेकोस्लोवाकिया चले गए और वहाँ प्राग लिंग्विस्टिक सर्कल पर सस्यूर के साथ ही उनके विचारों का भी प्रभाव पड़ा। भाषा विज्ञान का जो स्वरूप वहाँ उभरा, उसकी दो अवधारणाओं ने आगे आने वाले भाषा चिंतन ही नहीं, साहित्य चिंतन को भी बहुत प्रभावित किया है। वे हैं भाषा तथा वाक् और संकेतक तथा संकेतित संबंधी अवधारणाएँ। रूपवादी तथा संरचनावादी समीक्षा के प्रसंग में इनका उल्लेख हो चुका है।

प्राग स्कूल के विचारों का नई समीक्षा पर भी प्रभाव पड़ा। उसने शैली के स्तर पर श्क्लोव्स्की के विचारों से भी प्रभाव ग्रहण किया और साहित्यिक रचना को स्वनिष्ठ मानते हुए उसकी भाषिक संरचना के विश्लेषण पर विशेष बल दिया। यहीं से शैली विज्ञान का स्वरूप उभरना शुरू हो गया। नयी समीक्षा ने साहियिक कृति को स्वायत्त तथा स्वयंसाध्य मानते हुए सामान्य भाषा तथा साहित्यिक भाषा के अंतर पर भी प्रकाश डाला और दिखलाया कि साहित्यिक भाषा बिंब, प्रतीक, अलंकार आदि प्रविधियों और युक्तियों का उपयोग करती है। क्लींथ ब्रुक्स, वारेन टेट आदि की इन अवधारणाओं को आर्किबाल्ड हिल तथा रोमन याकोबसन की शैलीवैज्ञानिक विश्लेषण संबंधी संकल्पनाओं से बहुत सहायता मिली। आज शैली विज्ञान भाषा विज्ञान के अत्यंत महत्वपूर्ण अंग के तौर पर ही नहीं स्वीकारा जाता बल्कि साहित्यिक शैली विज्ञान तो लगभग एक स्वतंत्र विधा के रूप में फल-फूल रहा है। यह संकल्पना अब मुख्यतः वर्णनमूलक हो गई है। इसका अध्ययन अब साहित्येतर पाठों और समाजभाषा वैज्ञानिक शोध के संदर्भ में भी होने लगा है। अनेक संदर्भों से जुड़ने के कारण इसमें अनेक विश्लेषण पद्धतियाँ भी विकसित हो गई हैं।

24.5.4 प्रमुख प्रवृत्तियाँ तथा मान्यताएँ

शैली विज्ञान साहित्य की समीक्षा उसकी भाषा-शैली के माध्यम से करता है। सवाल है, यह सामान्य भाषा वैज्ञानिक विश्लेषण से कहाँ और क्यों भिन्न है? भाषा तो भाषा है, वह सामान्य बोलचाल में प्रयुक्त हो या साहित्य में। उसके नियम, उसकी ध्वनियाँ, शब्दावली, व्याकणिक संरचना, प्रोक्ति का स्वरूप - सब एक-से रहेंगे। सामान्य भाषा वैज्ञानिक विश्लेषण में इन सभी तत्वों को लेकर इनके नियमों की कसौटी पर भाषा को परखा जाता है। शैली विज्ञान में भी मूलतः ऐसा ही किया जाता है। फिर इसे एक अलग विज्ञान के रूप में क्यों देखा जाता है?

इसके दो मुख्य कारण हैं जिनका कुछ उल्लेख पाठ के पिछले अंश में हो चुका है :

(1) **शैली विज्ञान से जुड़ी समीक्षा पद्धति सामान्य भाषा का नहीं वरन् साहित्यिक भाषा का विश्लेषण करती हैं, और**

(2) यह पद्धति मात्र भाषा का विश्लेषण नहीं करती, भाषा के अंदर छिपे भावों तक पैठती है और भाव के साथ भाषा की संगति का भी अध्ययन करती है। इन दोनों ही बातों का उल्लेख अलग-अलग संदर्भों में पहले हो चुका है।

आइए, अब इन पर कुछ विस्तार से विचार करें।

(क) पहले सामान्य भाषा तथा साहित्यिक भाषा के अंतर को लें।

- सबसे मुख्य अंतर यह है कि दोनों प्रकार के भाषा प्रयोगों के पीछे की प्रेरणाएँ भिन्न हैं। सामान्य भाषा का प्रयोग बाह्य जगत संबंधी सामान्य सूचनाएँ देने के लिए होता है, जबकि साहित्य की भाषा में प्रकट अर्थ के अतिरिक्त किसी आभ्यंतर अर्थ या आशय के उद्घाटन की क्षमता भी होनी चाहिए। जहाँ वह भाषा मात्र सामान्य सूचना देती प्रतीत होती है वहाँ भी उसमें अनेक अन्य अर्थ छिपे होते है जैसा आप पीछे प्रेमचंद की कहानी की पंक्तियों के संदर्भ में देख चुके हैं। शैलीवैज्ञानिक समीक्षा यह देखती है कि रचनाकार की भाषा उस आभ्यंतर अर्थ का उद्घाटन करने में सक्षम है या नहीं, और वह यह कार्य किस तरह संपन्न कर रही है।

- **सामान्य भाषा स्पष्ट तथा एकार्थी होती है। साहित्य की भाषा चूँकि** मात्र बाह्य संकेतों तक सीमित नहीं रहती इसलिए उसमें अनेकार्थता होती है। संदिग्धता तथा अनेकार्थता सामान्य भाषा के लिए दोष हैं किंतु साहित्यिक भाषा क लिए गुण।

  इस प्रकार साहित्यिक भाषा की सामग्री वही है जो सामान्य भाषा की। किंतु उस सामग्री का उपयोग वह भिन्न तरीक़े से करती है क्योंकि उसका प्रकार्य सामान्य भाषा से भिन्न है। यहाँ आप एक महत्वपूर्ण बात पर ध्यान दें। सामान्य भाषा का विश्लेषण सामान्य भाषा विज्ञान के अंतर्गत आता है और साहित्यिक भाषा का विश्लेषण सामान्यतः शैली वैज्ञानिक पद्धति से किया जाता है। किंतु दोनों की सामग्री एक ही होती है और साहित्यिक भाषा का अध्ययन भी मूलतः सामान्य भाषा के पैटर्न को मानक रूप में सामने रखकर होता है। समीक्षक यह देखता है कि लेखक ने इस मानक का कहाँ अनुसरण किया है और कहाँ इसमें परिवर्तन किया है। इस अनुसरण या परिवर्तन के माध्यम से वह क्या कहना चाहता है और अपने प्रयास में वह कहाँ तक सफल हुआ है। उदाहरण के लिए इस पाठ में पहले दी गई प्रसाद की कविताओं की पंक्तियाँ देखें। फिर इस बात पर ग़ौर करें कि मानक हिंदी के 'ण' वर्ण के स्थान पर 'न' के प्रयोग द्वारा कवि किस विशिष्ट प्रभाव को उत्पन्न करना चाहता है।

- भाषा पर विचार के संदर्भ में ही अगली बात यह आती है कि **साहित्यिक भाषा की प्रकृति क्या है?** जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, इसका प्रकार्य सामान्य भाषा से भिन्न है। **बिंबधर्मिता इसकी प्रमुख प्रवृत्ति है** - विशेषतः काव्य भाषा के संदर्भ में। इसमें शब्दों को इस प्रकार चुनकर संयोजित किया जाता है कि वे विशेष बिंबों की रचना करते हैं और उनके माध्यम से कथ्य को मूर्त कर देते हैं। इस प्रकार्य को सिद्ध करने के लिए साहित्यकार भाषा के सामान्य रूप में कुछ फेर-बदल करता है, **इसलिए अरस्तू ने काव्य की भाषा को सामान्य बोलचाल की भाषा का अतिक्रम माना है।** भारतीय काव्यशास्त्र में वक्रोक्ति को काव्य का प्राण माना गया है। इसका भी यही आशय है कि सामान्य उक्ति 'वक्र' होकर काव्य की रचना करती है। साहित्यशास्त्रियों के अतिरिक्त भाषा वैज्ञानिकों की भी यही मान्यता है। रोमन याकोबसन ने माना है कि कविता में भाषा की 'सब पैटर्न' का प्रयोग होता है और इस पैटर्न का अध्ययन ही शैली वैज्ञानिक आलोचना का आधार है। रेने वेलेक जैसे आधुनिक आलोचक भी मानते हैं कि सामान्यतः भाषा का 'नॉर्म' से हटा हुआ, अर्थात् मानक रूप का अतिक्रमण करने वाला रूप ही काव्य में प्रयुक्त होता है और शैली विज्ञान मूलतः इस विचलित रूप का अध्ययन करता है। ये विचलन या अतिक्रम भी क्रमशः अपने तरीक़े से नियमबद्ध होकर एक नई संहिता को जन्म देने लगते हैं। इन विचारकों ने इस तथ्य को भी रेखांकित किया कि साहित्यिक भाषा का हर समय 'नॉर्म' से हटे हुए होना ही अनिवार्य नहीं है और विभिन्न प्रसंगों में आवश्यकतानुसार यह 'नॉर्म' से कम या अधिक विचलित भी हो सकती है। सामान्य भाषा से इसका मुख्य अंतर प्रकार्य के स्तर पर है।

  प्रसंगवश, आप देखें, रूपवाद ने भी साहित्य में भाषा के 'अपरिचितीकरण' की बात उठाई थी। किंतु शैलीगत 'विचलन' तथा 'अपरिचितीकरण' में अंतर है। मुख्य अंतर तो यही है कि **शैली वैज्ञानिक समीक्षा भाषा को बाह्य जगत से और सामान्य अर्थ से बिल्कुल काट नहीं देती जैसा**

कि रूपवादी पद्धति करती है। इसके अतिरिक्त शैली वैज्ञानिक समीक्षा वक्र या अतिक्रमित भाषा के माध्यम से भी कृति में अंतर्निहित कथ्य की पहचान तथा विश्लेषण की चेष्टा करती है। उसके लिए रचनाकार की संकल्पना, विचारधारा तथा **इनसे प्रेरित कथ्य का भी महत्व है।** रूपवादी समीक्षा में रचनाकार एकदम अप्रासंगिक हो जाता है और कृति के अर्थ की तलाश में उसके अपने कथ्य की पड़ताल की ज़रूरत नहीं समझी जाती।

(ख) रचनाओं के मूल में भाषा की सार्थक सत्ता को आलोचक ही नहीं कवि भी स्वीकार करते रहे हैं। परंपरा से भाषा को साहित्य का अनिवार्य उपकरण माना जाता रहा है। भाषा विज्ञान की प्रगति ने भाषा के महत्व को अधिकाधिक रेखांकित किया और आज के कई **रचनाकार भी भाषा को साहित्य का साधन नहीं बल्कि साहित्य को भाषा को अनेक प्रयुक्तियों में से एक मानने लगे हैं।** उनके अनुसार यह भाषा की ऐसी विधा है जो सामान्य व्यवहार की भाषा के 'नॉर्म' से कुछ हटी हुई है, विशिष्ट और सर्जनात्मक है।

इस अलोक में फिर वही प्रश्न उठाया जा सकता है कि फिर शैली वैज्ञानिक समीक्षा क्या केवल पाठ-विश्लेषण करती है?

जैसा कि पहले भी संक्षेप में कहा जा चुका है। शैली चूँकि भाषा का विशिष्ट प्रयोग है इसलिए इसका विश्लेषण भी सामान्य भाषा के विश्लेषण से अलग और विशिष्ट ही होगा। यह समीक्षा साहित्य को सामान्य भाषा के रूप मे नहीं बल्कि विशिष्ट अभिव्यक्ति - साहित्य (गद्य, पद्य आदि) - के रूप में ग्रहण करती है जिसमें 'अबौद्धिक कथ्य' या भाव और रचनाकार की जीवन दृष्टि को भी नज़र में रखना ज़रूरी होता है। समीक्षक के लिए आवश्यक होता है कि वह भाषा के माध्यम से उस कथ्य और जीवन दृष्टि तक भी पहुँचे।

समीक्षक को भाषा विज्ञान तथा शैली विज्ञान ही नहीं, साहित्यशास्त्र का भी ज्ञान होना चाहिए क्योंकि कृति के अर्थ तक पहचॅचने के लिए, यह देख पाने के लिए कि शैली के उपकरणों का सही और सार्थक प्रयोग हुआ है या नहीं, उसे साहित्यशास्त्र संबंधी उपकरणों से भी अपना संदर्भ जोड़ना होगा। उदाहरण के लिए छंद और अलंकार मूलतः साहित्यशास्त्र के अंग हैं। किंतु कविता का भाषिक विश्लेषण करते समय यदि उन पर ध्यान न दिया जाए तो कविता का अर्थ स्पष्ट नहीं होगा। रहीम का दोहा आप सबने पढ़ा है :

कनक कनक ते सौगुनी मादकता अधिकाय।
वह खाये बौरात नर यह पाये बौराय॥

यदि इस दोहे में 'कनक' शब्द की द्वयर्थकता, यमक अलंकार के प्रयोग, और 'बौराने' की प्रकिया के भिन्न अर्थो पर विचार न किया जाए तो इसका भाषिक विश्लेषण अधूरा ही रहेगा। इस प्रकार अलंकार का प्रयोग भी शैली का ही अंग है। इसे देखते हुए हम कह सकते हैं कि **शैली विज्ञान में भाषा विज्ञान तथा साहित्यशास्त्र का संगम हो गया है।** इनमें से एक के बिना भी शैली वैज्ञानिक समीक्षा अधूरी है।

मुख्यतः वस्तुवादी और कृतिकेंद्रित दृष्टिकोण रखने वाले विद्वानों के अतिरिक्त अन्य विद्वानों ने भी इसीलिए आलोचना में मात्र साहित्यशास्त्रीय मानकों के साथ ही भाषिक विश्लेषण भी आवश्यक माना है क्योंकि साहित्य का कथ्य भाषा की पैटर्न द्वारा भी नियंत्रित और अभिव्यक्त होता है। इसलिए आलोचना तभी पूर्ण होती है जब उसमें भाषा और साहित्य-दोनों के तत्वों का विश्लेषण हो। इन दोनों तत्वों का समंजन शैली विज्ञान में हो जाता है।

आइए, अब शैली वैज्ञानिक समीक्षा की प्रकृति से संबद्ध कुछ और बातों पर भी नज़र डालें :

- आज शैली वैज्ञानिक समीक्षा मात्र भाषिक विश्लेषण से बहुत आगे बढ़ गई है। रचनाकार पर ध्यान देते हुए भी इसके विवेचन का मुख्य केंद्र चूँकि कृति है **इसलिए वह कई बार रचनाकार के मंतव्य से आगे जाकर भी इस बात की पड़ताल करने लगती है कि रचना की अपनी व्यंजना क्या है।** हो सकता है रचना वह कुछ ध्वनित कर रही हो जो कृतिकार के ध्यान में भी न आया हो। इसका कारण यह भी हो सकता है कि रचनाकार में उपयुक्त शैली के चुनाव की सामर्थ्य न हो, और यह भी हो सकता है कि स्थिति के अनुसार उस कृति या उस शैली की व्यंजना बदल गई हो। इसके अलावा यह मान्यता भी है कि रचना अपने सर्जन के बाद सर्जक से मुक्त हो जाती है। ऐसे में उसका वस्तुपरक विश्लेषण अनेक ऐसे अर्थ दे सकता है जिनकी कल्पना भी रचनाकार को न हो। **ऐसी समीक्षा पूर्णतः वस्तुपरक समीक्षा होगी - रचनाकार के जीवन तथा मानसिकता पर आधारित समीक्षा से भिन्न।**

इसी से **रचना की स्वायत्तता** की अवधारणा भी जुड़ी है। इसके अनुसार रची जाने के बाद कृति मुक्त, स्वायत्त और अपने आप में पूर्ण होती है। हो सकता है उसकी रचना में बाह्य तत्वों का प्रभाव रहा हो, किंतु **उसकी समीक्षा के लिए अपेक्षित संदर्भ स्वयं उसी में विद्यमान होते हैं।** जैसा कवि अज्ञेय ने कहा है, कविता ही कवि का परम वक्तव्य होती है। कवि जिन विचारों को लेकर कविता आरंभ करता है, रचनाक्रम में उनमें परिवर्तन भी आ सकता है। समय के साथ संदर्भ बदल सकते हैं और उसके साथ कृति का संदर्भगत अर्थ तथा प्रभाव भी बदल सकता है। आप खुद ग़ौर कीजिए, भारतेंदु तथा द्विवेदी युग की गंभीर तथा ओजपूर्ण प्रतीत होने वाली कृतियाँ आज के किशोर पाठक वर्ग में वे ही भाव नहीं जगातीं जो अपने रचनाकाल में जगाती थीं। इसलिए अधिकतर शैली वैज्ञानिकों के मत मे रचना स्वायत्त होती है और उसकी समीक्षा भी स्वायत्त होनी चाहिए - रचनाकार या पाठक की मानसिकता या युगींन संदर्भों पर आधारित नहीं।

- इन सब बातों के बावजूद ध्यान रखें कि शैली वैज्ञानिक समीक्षा भाषा के उस प्रकार्य के संधान पर केंद्रित है जिसमें सतही अर्थ और व्याकरणिक संरचना से आगे जाकर विशिष्ट अर्थ का भी बोधन होता है। इस अर्थ की तलाश मात्र भाषा वैज्ञानिक विश्लेषण से नहीं हो सकती। उस अर्थ की विशिष्टता प्रारंभिक तौर पर रचनाकार के दृष्टिकोण और अपेक्षाओं पर भी आधारित होती है। इसलिए इस प्रकार की समीक्षा के **आरंभ में रचनाकार की संपूर्ण उपेक्षा संभव नहीं है और उसे ध्यान मे रखने पर ही पाठ का प्राथमिक अर्थ खुल सकता है।**

- शैली वैज्ञानिक समीक्षा को साहित्यशास्त्री साहित्यिक आलोचना में भाषा वैज्ञानिक प्रविधि का प्रयोग मानते हैं तो भाषा वैज्ञानिक इसे भाषा विज्ञान के क्षेत्र का प्रसार मानते हैं जो सामान्य भाषा से आगे जाकर साहित्य की भाषा का भी अध्ययन करता है। **वस्तुतः शैली वैज्ञानिक समीक्षा की सामग्री भाषा का विशिष्ट साहित्यिक रूप है, किंतु उसके विश्लेषण की पद्धति मूलतः भाषा वैज्ञानिक है।** भाषा की सामान्य संरचना ही वह संदर्भ बिंदु है जहाँ से इस विश्लेषण का आरंभ होता है। किंतु यह भाषा के साथ साहित्य के अविच्छिन्न संबंध को दृष्टि में रखते हुए एक ऐसी समस्त प्रणाली विकसित करता है जो आलोचना में कृति की साहित्यिकता की उपेक्षा न करते हुए भी उसकी भाषा की प्रकृति और संरचना पर भी विचार करे और साहित्यिकता में इनके योगदान का भी मूल्यांकन करे। संपूर्ण आलोचक वह होगा जिसे साहित्यशास्त्र के साथ ही भाषा वैज्ञानिक प्रणाली का भी ज्ञान हो।

24.5.5 मूल्यांकन

शैली वैज्ञानिक समीक्षा पद्धति अभी विकास के ही क्रम में है। इसमें मत, मतांतर और विवादों का क्रम चल रहा है और फ़िलहाल इतनी स्थिरता नहीं आई है कि इसके गुण-दोषों पर क़ायदे से दृष्टिपात किया जा सके।

पिछली बातचीत के दौरान आप देख चुके हैं कि इस पद्धति का एक रूप बहुत हद तक वस्तुपरक और रूपवादी है। इसमें कृति के भाषा वैज्ञानिक विश्लेषण को ही प्रमुखता दी गई है और इसे साहित्य समीक्षा से अधिक भाषिक विवेचन माना जा सकता है।

इस पद्धति के दूसरे रूप को हम पहले रूप का ही विकास मान सकते हैं। साहित्य में भाषा के अपरिहार्य महत्व को स्वीकार करते हुए भी इन्होंने सामान्य भाषा से साहित्यिक भाषा के अंतर को रेखांकित किया और इस अंतर को दृष्टि में रखते हुए भाषा के विवेचन-विश्लेषण पर बल दिया। इसके अंतर्गत केवल भाषिक संरचना का ही विश्लेषण नहीं होता बल्कि रचनाकार के कथ्य के आलोक में यह भी देखा जाता है कि रचना की शैली उस कथ्य को कहाँ तक संप्रेषित कर सकती है। इस प्रकार **इस आलोचना का सरोकार केवल भाषिक संरचना ही नहीं बल्कि रचना के संपूर्ण शिल्प तथा कथ्य से भी होता है। यह आज भी अधिक प्रचलित दृष्टि है।**

दृष्टि का इस प्रकार विस्तार होने के बावजूद शैली वैज्ञानिक समीक्षा बाह्य तथ्यों का सहारा न लेकर मात्र आंतरिक तत्वों पर - अर्थात् स्वयं कृति पर केंद्रित है। यह Extrinsic Criticism न होकर Intrinsic Criticism है। इसके गुण-दोष भी मुख्यतः इसी तथ्य पर आधारित है। कृतिकेंद्रित होने के नाते यह रचना के तौर पर रचना की विशेषताओं का अधिक अच्छी तरह मूल्यांकन कर सकती है। बाह्य मूल्यों की उलझन में रचना की अपनी प्रकृति की उपेक्षा नहीं हो जाती। किंतु इसी के साथ यह कमी भी जुड़ जाती है कि **इस पद्धति में रचना के सामाजिक तथा नैतिक मूल्य पूरी तरह उपेक्षित हो जाते हैं क्योंकि ये सामाजिक मूल्य हैं, साहित्यिक नहीं।**

24.6 समाजशास्त्रीय समीक्षा पद्धति

24.6.1 भूमिका

आपने पिछले भागों में कुछ ऐसी समीक्षा पद्धतियों का अध्ययन किया जो कृति को ही विवेचन का केंद्र बनाकर चलती थीं और साहित्य पर साहित्येतर अनुशासनों के प्रभाव को पूर्णतः नकारती थीं। समाजशास्त्रीय समीक्षा पद्धति इसके बिल्कुल विपरीत जाकर साहित्य का अध्ययन समाजशास्त्र की दृष्टि से करती है जो स्पष्ट ही साहित्येतर अनुशासन है। ऐसा करने के लिए इसके पास अपने तर्क भी हैं जिनका यथास्थान विवेचन किया जाएगा।

समाजशास्त्रीय समीक्षा पद्धति साहित्य के समाजशास्त्रीय चिंतन से जुड़ी है। वस्तुतः केवल साहित्यिक मूल्यों या कृति की संरचना के आधार पर समीक्षा करने के पक्षधरों में से भी अनेक विद्वान इस तथ्य को नज़रअंदाज़ नहीं कर सके कि साहित्य तथा समाज का संबंध बड़ा घनिष्ठ है। साहित्य को समाज का दर्पण बिंब चाहे न माना जाए किंतु उसकी रचना में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सामाजिक शक्तियों का हाथ रहता है। कोई कृति किसी विशेष समय पर ही क्यों रची गई इसका उत्तर भी साहित्य से बाहर जाकर ही मिलता है। लेखक का मानस जिन परिस्थितियों में रूप और व्यक्तित्व ग्रहण करता है, वे भी बहुत हद तक सामाजिक स्थितियों का परिणाम होती हैं। इसके अलावा पाठक द्वारा स्वीकृति तथा समय की माँग भी साहित्यिक रचना के स्वरूप को निर्धारित करती है। उदाहरण के लिए आज के भाग-दौड़ भरे युग में विराट महाकाव्यों को पढ़ने के लिए रुचिशील पाठक भी समय नहीं निकाल पाता अतः मध्ययुग जैसे महाकाव्य अब नहीं लिखे जाते। उपन्यास विधा के उद्‌भव और विकास का अध्ययन करें तो आपको पता चलेगा कि इसके पीछे औद्योगिक क्रांति, मध्यवर्ग का उदय, निम्न आय वर्ग में भी साक्षरता का प्रसार, छापे की मशीन का आविष्कार आदि अनेक सामाजिक-आर्थिक कारण थे। इन सब बातों को देखते हुए समाजशास्त्र तथा साहित्य के दुतरफ़ा संबंध को पहचाना जाने लगा। यह देखा गया कि सामाजिक तथ्य साहित्य को प्रभावित करते हैं तो दूसरी ओर साहित्य के माध्यम से ऐसे सामाजिक तथ्य उद्‌घाटित हो सकते हैं जिनका पता विशुद्ध समाजशास्त्रीय अध्ययन नहीं दे सकता।

समाजशास्त्रीय समीक्षा पद्धति किसी कृति के गुण-दोष तथा विशेषताओं के विवेचन तक ही सीमित न रहकर रचना की पृष्ठभूमि की परिस्थितियों, उसके विषयवस्तु और रूप को प्रभावित करने वाले तथ्यों तथा समाज पर पड़ने वाले उसके प्रभाव का भी विश्लेषण करती है। वह लेखक की जीवन-स्थितियों तथा पाठकों की मानसिकता का विवेचन करती है और साहित्य के प्रकाशन तथा विक्रय की स्थितियों का भी अध्ययन करती है क्योंकि ये सभी रचना की प्रकृति को प्रभावित करते हैं। यह अवश्य है कि इन तमाम तथ्यों की छान-बीन के क्रम में साहित्य के अपने सौंदर्यशास्त्रीय मूल्य कहीं पृष्ठभूमि में चले जाते हैं।

इस पाठ में विचार के क्रम में इस समीक्षा पद्धति को बिल्कुल अंत में लिया गया है ताकि कृतिकेंद्रित पद्धतियों के विवेचन का क्रम अविच्छिन्न रहे किंतु **कालक्रम की दृष्टि से इसका स्थान उन पद्धतियों से कहीं पहले आता है।**

24.6.2 उद्‌भव और विकास

साहित्य के समाजशास्त्रीय चिंतन के विकास में मार्क्सवादी विचारकों का योगदान बहुत महत्त्वपूर्ण रहा है क्योंकि हर प्रश्न के विवेचन में उनकी दृष्टि मूलतः समाजमुखी रही है। किंतु समाज से साहित्य के संबंध की पहचान के बीज यूनानी दार्शनिक प्लेटो के लेखन में भी मिल जाते हैं। सत्रहवीं सदी में महाकाव्य संबंधी विवेचन में इस बात पर विचार होने लगा था कि महाकाव्यों की रचना कुछ विशेष प्रकार के समाजों में ही होती है। अठारहवीं सदी में जर्मनी के हर्डर ने साहित्य का संबंध इतिहास, मनोविज्ञान, सामाजिक स्थितियों आदि से जोड़ा। इसी सदी में फ्रांस में मदाम द'स्ताल ने साहित्य पर सामाजिक संस्थाओं के साथ ही धर्म, रीति-रिवाज़ तथा कानून का प्रभाव भी दिखलाया। उन्होंने दिखलाया कि साहित्य के रूप और वस्तु पर देश के राष्ट्रीय चरित्र का प्रभाव किस प्रकार पड़ता है। साहित्य के समाजशास्त्र का सर्वप्रथम व्यवस्थित विवेचन 19वीं सदी में फ्रांस के ही **ईपॉलीत तेन** के लेखन में मिलता है। उन्होंने साहित्यिक कृति तथा उसके समाज के बीच निश्चित वैज्ञानिक संबंध पर बल दिया और दिखलाया कि किस प्रकार क्षण (युग विशेष जिसमें युग चेतना भी शामिल है), प्रजाति (रचनाकार के समाज की सहज वंशानुगत विशेषताएँ) तथा परिवेश (भौतिक वातावरण और सामाजिक-सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक स्थितियाँ) की अंतःक्रिया से एक चिंतनशील **'मानसिक संरचना'** उभरती है जो महान् कलाकृतियों और साहित्य में अभिव्यक्त होती है।

यह तमाम विवेचन प्रत्यक्षवादी कहलाता है क्योंकि यह साहित्य को समाज से प्रत्यक्ष रूप से संबद्ध मानता है। इसके बाद मार्क्सवादी विचारधारा उभरी जिसमें भिन्न-भिन्न विद्वानों के मतों में कुछ-कुछ अंतर दिखाई देता है। पर एक बात में ये सभी एकमत हैं कि साहित्यिक पाठ को भलीभाँति समझने के लिए बाहरी सामाजिक संदर्भ का अध्ययन अपरिहार्य है।

मार्क्स और एंगेल्स ने साहित्यशास्त्र की चर्चा नहीं की किंतु उनके लेखन में उनकी साहित्य संबंधी अवधारणाओं के संकेत मिलते हैं। मार्क्स के अनुसार साहित्य में समाज का प्रतिबिंब तो मिलता है पर वह केवल प्रत्यक्ष सामाजिक स्थितियों का नहीं बल्कि समाज के अंदर सक्रिय प्रवृत्तियों का प्रतिबिंब होता है। उनके मत में साहित्य का मूल्यांकन उसके सामाजिक सत्व से आरंभ होना चाहिए। किंतु समाज के प्रति लेखन की प्रतिबद्धता को आवश्यक मानते हुए भी मार्क्स और एंगेल्स यह मानते थे कि मात्र ऐसी प्रतिबद्धता लेखन को श्रेष्ठ नहीं बनाती और यह, कि सिद्धांत के प्रति लेखक का झुकाव साहित्य में प्रच्छन्न रूप से आना चाहिए प्रत्यक्ष रूप से नहीं। मार्क्सवादी समीक्षा पद्धति के विषय में आप इकाई 22 में विस्तार से पढ़ चुके हैं। प्रस्तुत संदर्भ से जोड़कर उसे एक बार फिर देखें। इस समीक्षा पद्धति में ग्राम्शी, लूकाच, गोल्डमान आदि का महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

उन्नीसवीं सदी में ही इंगलैंड में भी विचारकों का एक वर्ग साहित्य और समाज के संबंध पर विचार कर रहा था। मार्क्सवादी विचारधारा के विपरीत यह वर्ग साहित्य को समाज या सामाजिक शक्तियों को प्रतिबिंबित करने का माध्यम मात्र न मानकर समाज को बदलने का औज़ार भी मानता था और इसी दृष्टि से उस पर विचार भी करता था। मैथ्यू आर्नल्ड और एफ. आर. लीविस से लेकर रेमण्ड विलियम्स तक अनेक विद्वानों ने साहित्य को समाज से जोड़कर देखा किंतु कुछ महत्वपूर्ण प्रश्नों पर इनमें मतभेद भी रहा है।

प्राचीन भारतीय साहित्यशास्त्र में काव्य के भावक की चर्चा में बाह्य जगत से साहित्य के संबंध का संकेत भर मिलता है। तुलसी ने उस साहित्य को श्रेष्ठ माना था जो 'सुरसरि' के समान सबका हित करे। यहाँ साहित्य के सामाजिक दायित्व का स्पष्ट कथन है। किंतु साहित्य तथा समाज के पारस्परिक संबंध को लेकर बिल्कुल स्पष्ट विवेचन भारतेंदु युग में आरंभ हुआ जब साहित्य भक्ति और शृंगार के पारंपरिक क्षेत्रों से निकलकर आम जनता के सामान्य जीवन के विभिन्न पक्षों से जुड़ गया था। द्विवेदी युग में इसी विचार का और विकास हुआ जहाँ साहित्य को समग्र समाज का दर्पण ही नहीं उसके विकास को प्रभावित करने वाली शक्ति के रूप में भी देखा गया। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने साहित्य को बाह्य समाज के साथ ही जनता की 'चित्तवृत्ति' का भी संचित 'प्रतिबिंब' माना और दिखलाया कि समाज तथा उसमें उभरी मानसिकता साहित्य के विषयवस्तु तथा रूप दोनों को प्रभावित करती है। प्रेमचंद ने समाज को प्रकाश देना साहित्य का उद्देश्य माना था। आगे चलकर प्रगतिशील धारा के विचारकों के लेखन में साहित्य का समाजशास्त्रीय चिंतन स्पष्ट रूप से मुखर हुआ। साहित्य के स्वरूप के साथ ही उसकी परख की कसौटियाँ भी इन्होंने सामाजिक-राजनीतिक संदर्भ को सामने रखते हुए ही निर्धारित कीं और इस क्रम में साहित्य के क्षेत्र को बहुत ही संकीर्ण भी कर बैठे। तब से आज तक साहित्य के क्षेत्र में विविध प्रवृत्तियाँ उदित और अस्त हुई हैं। उनमें से कुछ में साहित्य को पूर्णतः आत्मपरक भी मान लिया गया है, किंतु आम तौर पर समाज से साहित्य के संबंध की स्वीकृति कभी भी पूरी तरह मंद नहीं पड़ी है। इस स्वीकृति के कारण ही साहित्य का समाजशास्त्रीय विवेचन बराबर चलता रहा, बल्कि उसके अनेक आयाम भी खुले और इसीलिए साहित्य-विवेचन की समाजशास्त्रीय पद्धति की ज़रूरत समझी गई और एक स्वतंत्र समीक्षा पद्धति के रूप में इसका विकास हुआ।

24.6.3 प्रमुख प्रवृत्तियाँ तथा मान्यताएँ

अन्य कई पद्धतियों की ही भाँति समाजशास्त्रीय समीक्षा पद्धति की मुख्य मान्यताओं को रेखांकित करना भी बहुत कठिन कार्य है। इसका मुख्य कारण है इसका अत्यंत विस्तृत क्षेत्र।

- इस पद्धति का सरोकार केवल साहित्य से ही नहीं वरन् समाजशास्त्र से भी है जो अपने आप में पर्याप्त विकसित और अभी भी विकासमान अनुशासन है। आप ध्यान दें, **समाजशास्त्रीय समीक्षा पद्धति मात्र साहित्यशास्त्र के ही नहीं समाजशास्त्र के भी अंतर्गत आती है।** साहित्यशास्त्रियों ने साहित्यालोचन में समाजशास्त्रीय अवधारणाओं को अपनाया तो समाजशास्त्र के अध्येताओं ने अपने विषय को विस्तार देने तथा अपनी कुछ मान्यताओं के प्रमाण देने के लिए साहित्य के, विशेषकर उपन्यास के अध्ययन को भी अपने क्षेत्र में शामिल कर लिया।

- साहित्यशास्त्र और समाजशास्त्र, दोनों में ही अनेक मत-मतांतर हैं जिन्होंने समीक्षा दृष्टि को भी अनेक खेमों में बाँट दिया है। इस स्थिति में ऐसी बातें बहुत ही कम रह जाती हैं जिन्हें इस समीक्षा पद्धति के अंतर्गत सर्वमान्य कहा जाए।

आगे कुछ उन मान्यताओं का उल्लेख किया जा रहा है जो प्रायः सर्वमान्य है और कुछ उन प्रवृत्तियों की भी चर्चा की जा है जो सर्वमान्य न होते हुए भी इस समीक्षा पद्धति में महत्वपूर्ण स्थान की अधिकारी हैं।

- साहित्य की समाजशास्त्रीय समीक्षा पद्धति की मूलभूत मान्यता है - **साहित्य अपने युग के समाज की उपज है और दोनों का अभिन्न संबंध है।** समाज से काटकर साहित्य को न समझा जा सकता है, न व्याख्यायित किया जा सकता है। साहित्य में अंतर्निहित समाजिक तत्व की पहचान हमें साहित्यिक पाठ की बेहतर समझ देती है। साथ ही साहित्य में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से समाज-शास्त्रीय तथ्यों के साक्ष्य भी उपलब्ध होते हैं। इस प्रकार वह समाजशास्त्र के अध्ययन में भी सहायक होता है।

साहित्य तथा समाज के घनिष्ठ तथा अन्योन्याश्रित संबंध को एकमत से स्वीकार करते हुए भी विद्वान इस संबंध के स्वरूप पर एकमत नहीं हैं :

- कुछ विचारकों के मत में साहित्य **समाज की स्थल बाह्य स्थितियों को दर्पण की भाँति ज्यों का त्यों प्रतिबिंबित कर देता है।**

- कुछ अन्य विचारकों ने इस मत की आलोचना करते हुए दिखलाया है कि दर्पण बिना चयन के, बिना किसी विवेक के अपने सामने वाली हर वस्तु को अनायास ही प्रतिबिंबित कर देता है, चाहे संदर्भ में उसका महत्व हो या न हो। साहित्य, **चयन के विवेक की माँग करता है।** रचनाकार अपनी रचनाओं में समाज को प्रस्तुत तो करता है, किंतु उसका कौशल इस बात में निहित है कि अपने कथ्य की प्रस्तुति में वह उपलब्ध सामग्री में से किन तथ्यों को चुनता और किन को छोड़ता है।

- कुछ विचारकों ने इससे भी आगे जाकर यह स्थापना की है कि **सर्जनशील रचनाकार साहित्य में बाह्य जगत के तथ्यों को जो का त्यों प्रस्तुत नहीं करता। वह इन तथ्यों के पीछे की प्रेरक चेतना की पहचान करता है जो अपने आप में कम यथार्थ नहीं होती।** साहित्य में उस चेतना की प्रस्तुति साहित्य को अधिक तथ्यपूर्ण भी बनाती है और अधिक कलात्मक भी। समीक्षा करते हुए आलोचक का कर्तव्य यह है कि रचना में छिपे उस सामाजिक सत्य को पहचाने और इस बात की परख करे कि लेखक उस सत्य को प्रस्तुत करने में कहाँ तक सफल हुआ है।

  इस बात पर ध्यान दें कि कुछ मूलभूत मतभेदों के बावजूद **ये तीनों ही दृष्टियाँ साहित्य को समाज का दस्तावेज़ मानती हैं, उसकी प्रस्तुति का क्षेत्र और प्रकृति चाहे भिन्न हो।** इसमें लेखक की अपनी दृष्टि तथा प्रस्तुति की भंगिमा का भी महत्व है जो सामाजिक तथ्य को मात्र वस्तुगत वर्णन से आगे जाकर साहित्य की श्रेणी में ला रखती है।

- आत्मवादी साहित्य सिद्धांत साहित्य को कलाकार की रचनात्मक ऊर्जा का स्फुरण मानते हैं जिसमें बाह्य जगत और समाज की भूमिका अगर होती भी है तो बहुत ही नगण्य। इस दृष्टि से **समाजशास्त्रीय समीक्षा पद्धति को हम वस्तुपरक मानेंगे जो रचना की प्रेरक शक्तियों को बाहरी वस्तु जगत में देखती है।** रचनाकार की प्रतिभा और प्रेरणा की यह उपेक्षा नहीं करती किंतु उनका उद्गम भी यह उन सामाजिक स्थितियों में देखती है जिनमें लेखक पला-बढ़ा था और उसका मानस तैयार हुआ था।

- **रचना की प्रकृति भी इसके अनुसार बाह्य जगत द्वारा ही निर्धारित होती है।** उदाहरण के लिए 17 वीं सदी में इस बात की पहचान हुई कि महाकाव्यों की रचना ऐसे समाजों में होती है जो अति-परिष्कृत या बनावटी न हों बल्कि अनगढ़ और प्रकृति के निकट हों। अठारहवीं सदी में मदाम द'स्ताल ने साहित्य पर विभिन्न सामाजिक-राजनैतिक संस्थानों का प्रभाव दिखलाया और उसे राष्ट्रीय चरित्र से भी जोड़ा। उनके अनुसार इटली में विलासी प्रवृत्ति के बाहुल्य के कारण कविताओं और आख्यानों की रचना होती है, उपन्यास जैसी गंभीर तथा उत्तरदायी साहित्य विधा की नहीं। उपन्यास का उदय इंगलैण्ड में इसलिए हुआ कि वहाँ स्त्रियों के प्रति सम्मान का भाव है और समाजिक मर्यादाबोध अधिक प्रबल है। तेन के मत का उल्लेख पीछे अनुभाग 24.5.1 मे हो ही चुका है जिसमें उन्होंने प्रजाति, क्षण और परिवेश से निर्मित 'मानसिक संरचना' से साहित्य

का सृजन संभव माना है। आप हिंदी साहित्य का अध्ययन करके देखें कि किसी भी विधा के उद्भव तथा उसकी प्रकृति का क्या संबद्ध युग तथ समाज की प्रवृत्तियों से कोई संबंध है?

- साहित्यिक रचना की प्रकृति क्या हो? वे कौन-सी बातें हैं जिन्हें समीक्षक किसी रचना को परखने की कसौटी बनाए? प्राचीन मूल्य-मानकों को कहाँ ग्रहण किया जाए और कहाँ छोड़ा जाए? —इन तमाम प्रश्नों पर भिन्न-भिन्न दृष्टि वाले विचारकों में मतभेद स्वाभाविक ही है और इस समीक्षा पद्धति के इतिहास के अध्ययन के दौरान आप देख चुके हैं कि कितनी भिन्न और कितनी वैविध्यपूर्ण विचारधाराओं वाले विद्वान साहित्य के समाजशास्त्र से जुड़ें हैं। बल्कि ऐसा भी हुआ है कि एक मूल विचाराधारा - जैसे मार्क्सवाद - से जुड़े विभिन्न विद्वानों में कुछ बिंदुओं पर कुछ मतभेद रहा है या उन्होंने किसी समस्या के अलग-अलग पक्षों को अपने विवेचन के लिए चुना है। ऐसे में हमें देखना होगा कि इस समीक्षा पद्धति में साहित्य का उद्देश्य क्या माना गया है।

इस विषय मे भी हमें दो मुख्य विचारधाराएँ दिखाई देती हैं। प्रत्यक्षवादी और मार्क्सवादी विचारधाराएँ मुख्य रूप से यह मानती हैं कि **साहित्य समाज का दस्तावेज़ होता है** और उसका काम है, पूरी ईमानदारी से अपने समय के समाज, उसकी समस्याओं और उसमें सक्रिय शक्तियों का अंकन करे। दूसरी ओर आदर्शवादी विचारधारा, जो मुख्यतः इंगलैण्ड में 19 वीं सदी के बीच में उभरी, के अनुसार **साहित्य को ऊपर उल्लिखित कर्म से आगे जाकर आदर्शवादी मूल्यों की स्थापना भी करनी चाहिए।** हिंदी में हम प्रेमचंद जैसे रचनाकारों में दोनों प्रकार की विचारधाराओं का समंजन देख सकते हैं।

यदि हम मोटे तौर पर इस विचारधाराओं का सार ग्रहण करना चाहें तो कह सकते हैं कि यह दृष्टि मूल रूप से समाज के साथ साहित्य के संबंध पर बल देती है और इससे जुड़ी समीक्षा का लक्ष्य इसी संबंध की पड़ताल और व्याख्या करना है।

इस दृष्टि के अनुसार **साहित्य का कथ्य** क्या हो, इसका अनुमान आपको पिछले विवेचन से लग गया होगा। साहित्य का सरोकार समाज से है किंतु समाज के कौन-से पक्ष किस प्रकार साहित्य में अभिव्यक्त हों, इसे लेकर भी आलोचकों में चर्चा होती रही है। सार रूप में आप यह समझ लें कि लेखक का काम सीधे-सपाट ढंग से समाज और परिवेश का बयान कर देना भर नहीं है। वह यथार्थ की सिर्फ़ प्रस्तुति नहीं करता। ऐसी प्रस्तुति अख़बारी रपट से ज्यादा कुछ नहीं होगी। वह यर्थाथ को पुनः प्रस्तुति में अनेक तथ्यों को छोड़ देता है, कुछ नए तथ्य जोड़ता है और इन सबका संयोजन इस प्रकार करता है कि रचना कोई सामाजिक बयान दे सके। उस **रचना में सामाजिक चेतना के साथ ही विशिष्ट मूल्यबोध भी हो।** साहित्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन अधिकतर उपन्यासों को आधार बनाकर ही हुआ है। **लूकाच** के अनुसार उपन्यास का नायक समस्याधर्मी होना चाहिए जो इस अप्रामणिक विश्व में प्रामाणिक मूल्यों की खोज करता है। **गोल्डमान** के अनुसार साहित्यिक कृति का क्षेत्र कुछ भी हो, वह उस क्षेत्र से संबद्ध विश्वदृष्टि को भाषा के माध्यम से व्यक्त करती है। **तेन** इसके पहले ही कह चुके थे कि महान साहित्य में युग-चेतना मूर्त होती है।

इस प्रकार्य को सिद्ध करने के लिए लेखक कौन-सी **प्रविधि** अपनाता है ? सीधा-सपाट बयान एक तरीका है किंतु यदि मात्र बयान ही इसका उद्देश्य हो तो इसमें गहराई नहीं होगी और इसे रपट मात्र से अलगाना कठिन होगा। बयान सपाट हो या संकेतात्मक, लेखक की जीवन दृष्टि या विचारधारा ही उसे रूप देती है और साहित्य मे इनका परिचय ज़रूरी है। मार्क्स तथ एंगेल्स के अनुसार भी **सामाजिक प्रतिबद्धता साहित्यिक रचना का अनिवार्य गुण है। हाँ, इसकी प्रस्तुति सपाट न होकर कलात्मक होनी चाहिए।**

यहीं **कृति के कथ्य और रूप के संबंध** का प्रश्न भी उठता है। समाजशास्त्रीय चिंतन समाज के तथ्यों, समस्याओं तथ सामाजिक शक्तियों की अभिव्यक्ति को साहित्य की पहली शर्त मानता है और समीक्षक से इन सबके विवेचन की अपेक्षा करता है। इस प्रकार **इसका प्रमुख बल कथ्य पर रहता है।** इसी से एक स्थिति ऐसी भी आ गई थी कि इसमें कृति के रूप या शिल्प की उपेक्षा होने लगी थी। किंतु अनेक समाजशास्त्रियों ने ही साहित्य के संदर्भ में इस प्रकार की उपेक्षा को गलत माना। मार्क्स तथा एंगेल्स कथ्य के साथ ही शिल्प तथा प्रस्तुति के तरीके को भी महत्व देते थे। **प्लेखानोव** ने भी पूर्ण उपयोगितावादी पर कला को नकारा। **ग्राम्शी** ने रचना में कला के नियमों के पालन पर बल दिया और कथ्य तथा रूप की सुसंबद्धता को श्रेष्ठ कृति के लिए आवश्यक माना। इस बात को भी स्वीकार किया

गया कि सौंदर्यबोध की तुष्टि महान कला के लिए आवश्यक है। किंतु यह स्वीकार करना ही होगा कि साहित्य के समाजशास्त्रीय विवेचन में सौंदर्यशास्त्रीय मूल्यों की विशेष चर्चा नहीं की गई है।

मार्क्सवादी और आदर्शवादी विद्वानों ने श्रेष्ठ साहित्यक कृतियों के लिए आवश्यक गुणों का उल्लेख किया है किंतु ध्यान दें कि साहित्य का समाजशास्त्रीय विवेचन केवल श्रेष्ठ या महान कृतियों तक सीमित नहीं है। यह सही है कि साहित्य समीक्षा के लिए सामान्यतः श्रेष्ठ साहित्यिक मूल्यों वाली कृतियों को ही चुना जाता है किंतु **समाजशास्त्र घटिया या सस्ते कहलाने वाले 'लोकप्रिय' (Popular) साहित्य को भी अपनी परिधि से बाहर नहीं मानता।** सस्ते रोमानी और जासूसी उपन्यास बड़े पैमाने पर पढ़े जाते हैं। इनकी अपार लोकप्रियता के पीछे कई महत्वपूर्ण सामाजिक-आर्थिक तथ्य छिपे होते हैं- जैसे, कठोर जीवन संघर्ष के कारण पाठकों में पलायन की आकांक्षा, सही शिक्षा संस्कारों का अभाव, प्रकाशन का अर्थशास्त्र और उसके पीछे की सामाजिक-राजनीतिक शक्तियाँ आदि। इन उपन्यासों के माध्यम से इन्हें पढ़ने वाले विराट वर्ग का समाजशास्त्रीय अध्ययन हो सकता है और शेष समाज की स्थिति पर भी प्रकाश पड़ सकता है। यह अध्ययन स्पष्ट ही समाजशास्त्र के अंतर्गत आएगा, साहित्यिक समीक्षा के नहीं। किंतु किसी भी प्रकार की 'साहित्यिक' विधा का अध्ययन साहित्य समीक्षा के छोर को तो छूता ही है।

यह समीक्षा पद्धति **लेखक को परिवेश और कृति के बीच स्थित मानती है।** साहित्यिक कृति की विषय वस्तु तथा स्वरूप के निर्धारण में युगीन सामाजिक परिस्थितियों तथा लेखक की जीवन दृष्टि का हाथ होता है। किंतु स्वयं लेखक भी अपने विशिष्ट युग-परिस्थितियों की उपज होता है। युगीन स्थतियों के साथ उसके अपने जन्म, जीवन तथ समाज की स्थितियाँ, उसका वर्ग आदि उसकी जीवन दृष्टि को निर्धारित करते हैं। आप रूपवाद, संरचनावाद आदि के प्रसंग में देख चुके हैं कि इन पद्धतियों ने पूरा ध्यान कृति पर केंद्रित रखा है और लेखक की भूमिका को एकदम नकार दिया है। **समाजशास्त्रीय समीक्षा रचना कर्म में लेखक की मानसिकता निर्धारित करने वाले तत्वों को भी महत्व देती है** क्योंकि इनसे रचना की प्रकृति तथ कथ्य को समझने में सहायता मिलती है।

समाजशास्त्रीय चिंतन के अनुसार लेखक का कार्य सत्य को सामने रखना है। उसकी मानसिक संरचना ने इसी समाज में रूप ग्रहण किया है और वह इस समाज का ही नागरिक है। किंतु इसका यह अर्थ भी नहीं कि वह निष्क्रिय भाव से समाज को प्रतिबिंबित भर कर देता है। मुख्य रूप से इंगलैण्ड के आदर्शवादी विचारकों ने यह स्पष्ट किया है कि लेखक समाज की व्याख्या करता है और रचना में उसकी भूमिका सक्रिय सर्जक की है, मात्र माध्यम की नहीं। व्याख्या के क्रम में लेखक से सामाजिक आदर्श की स्थापना की अपेक्षा भी ये विचारक करते थे किंतु ये यह भी मानते थे कि वह स्थापना उपदेश के रूप में नहीं बल्कि रचना के सहज क्रम मे आनी चाहिए।

यह समीक्षा पद्धति साहित्य के पाठक को भी महत्व देती है । तेन ने स्पष्ट किया था कि **साहित्यिक रचनाओं के कथ्य तथा रूप पाठकों की अभिरुचि से निर्धारित होते हैं।** उन्होंने 17 वीं सदी के फ्रेंच नाटकों का उदाहरण दिया था जो दरबारी सामंत वर्ग के मनोरंजन के लिए लिखे जाति थे और उन नाटकों की कथा, संरचना तथा पात्र-योजना उसी वर्ग की तुष्टि को ध्यान में रखकर गढ़ी जाती थीं। आप हिंदी में देखिए, वीर तथा शृंगार रस की जो रचनाएँ दरबारी कवियों द्वारा की जाती थीं वे आश्रयदाता को प्रसन्न करने के लिए, और इसका प्रभाव उनकी प्रकृति पर पड़ता था। आज रेलवे बुक स्टालों पर जो रोमानी, जासूसी उपन्यास बिकते हैं, वे भी पाठकों के एक बहुसंख्यक वर्ग को तुष्ट करने के लिए। आप गहराई में जाकर अन्य प्रकार के साहित्य का अध्ययन करेंगे तो शायद इसी तथ्य को और स्पष्ट रूप में देख पाएँगे।

समाजशास्त्रीय समीक्षा पद्धति रचनाकार और पाठक ही नहीं **प्रकाशक तथा विक्रेता की भी साहित्य की प्रकृति के निधारण में महत्वपूर्ण मानती है।** आज के बाज़ार प्रधान समाज में लेखन के आर्थिक पहलू तथ परिवेश के आर्थिक पक्ष की उपेक्षा नहीं की जा सकती। समीक्षा के दौरान यह तथ्य आलोचक के सामने रहना चाहिए।

इन सब तथ्यों को ध्यान में रखते हुए आलोचक का कर्तव्य और उसकी **भूमिका क्या है?**

समाजशास्त्रीय समीक्षा पद्धति **आलोचक से अपेक्षा करती है कि वह साहित्य के सामाजिक संदर्भों को समझे।** सामाजिक सत्य साहित्य में कभी-कभी सीधे प्रतिबिंबित नहीं होते। कई बार कथा का बाहरी ढाँचा और शिल्प परीकथाओं जैसे अयथार्थ भी होते हैं। आलोचक को ऐसी कृतियों की गहराई में

उतरकर उनमें अप्रत्यक्ष रूप से झलकने वाले सामाजिक सत्य की पहचान तथा विश्लेषण करना चाहिए। पीछे उल्लेख किया चुका है कि अत्यंत अयथार्थ रोमानी उपन्यास भी किसी स्पष्ट सामाजिक यथार्थ का परिचय देते हैं। आलोचक में उसे पहचानने का विवेक होना चाहिए।

आलोचक का काम केवल कृति विशेष की समीक्षा ही नहीं है। कृति विशेष के माध्यम से वह उस समाज की विश्वदृष्टि की खोज करता है। उसका यथार्थबोध बाहरी स्तर तक सीमित नहीं रहना चाहिए बल्कि कृति में अभिव्यक्त 'चेतना की संरचना' या 'अर्थ के मर्म' की खोज की क्षमता उसमें होनी चाहिए क्योंकि सतही सामाजिक यथार्थ उस आंतरिक यथार्थ से ही संचालित होता है। संक्षेप में, **आलोचक का काम स्थूल समाजशास्त्रीय विश्लेषण नहीं है बल्कि सूक्ष्म सामाजिक प्रक्रियाओं और चेतनाओं की पहचान है।**

आलोचक में कृति और कथ्य को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में रखकर देखने की भी क्षमता होनी चाहिए क्योंकि समकालिक स्थितियाँ ऐतिहासिक शक्तियों का प्रभाव लिए होती हैं।

आलोचक को साहित्य की परंपराओं और शिल्प का, रचना की भाषा, संरचना, बिंब विधान और विभिन्न साहित्यिक युक्तियों का समुचित ज्ञान होना चाहिए। यही ज्ञान उसकी समीक्षा को सार्थक बनाता है।

समाजशास्त्रीय समीक्षा पद्धति की दृष्टि में साहित्य के आलोचक की सबसे बड़ी जिम्मेदारी यह है कि वह साहित्य के काल्पनिक संसार में अंकित स्थितियों को बाह्य यथार्थ जगत से जोड़े। रचनाकार ने विषय तथा शैली की संरचना से जो कहना चाहा है उससे सामाजिक संरचना के संबंध को वह पहचाने और प्रकाशित करे।

24.6.4 मूल्यांकन

जैसा कि समाजशास्त्रीय समीक्षा पद्धति की मान्यताओं के संदर्भ में कहा जा चुका है, इस पद्धति के अंतर्गत अनेक विचारधाराओं तथा सिद्धांतों की साहित्य संबंधी मान्यताएँ आ जाती हैं। कई स्थानों पर इन विचारधाराओं में मतभेद भी दिखाई देते हैं। इस स्थिति में अनेक बिंदु ऐसे हैं जिनके आधार पर इसका मूल्यांकन वास्तव में इसके किसी एक पक्ष या मान्यता की एक सरणि का ही मूल्यांकन होगा, समस्त पद्धति का नहीं। यही बात इसकी आलोचना का एक आधार बन सकती है कि इतने मत-मतांतरों के बीच इस पद्धति का कोई सर्वसामान्य रूप स्पष्ट नहीं होता।

कुछ आलोचकों का यह भी कहना है कि यह पद्धति साहित्य तथा समाज के संबंध को स्पष्ट समझा नहीं पाती। इसके अंतर्गत विभिन्न मतों में से कोई साहित्य को समाज का दर्पण मानता है, कोई इनमें वस्तुगत साम्य का संबंध देखता है, तो कोई संरचनाओं के साम्य का। पर इस प्रकार का मत-वैभिन्न्य तो किसी भी ऐसी समीक्षा पद्धति में होगा जो विभिन्न मतों से संबद्ध विचारकों को आकर्षित करती है। इसके अतिरिक्त समाजशास्त्रीय साहित्य समीक्षा अभी अपेक्षाकृत नया अनुशासन है। इस समय इससे संपूर्ण सैद्धांतिक एकात्मता या स्थिरता की अपेक्षा करना संगत नहीं होगा।

यह मुख्य रूप से वस्तुपरक दृष्टि पर आधारित सिद्धांत है। आप अनेक ऐसे सिद्धांतों का अध्ययन कर चुके हैं जो या तो आत्मपरकता पर आधारित हैं या कृति को ही अध्ययन की सामग्री मानकर बाह्य जगत का बहिष्कार कर देते हैं - कृति में निहित सत्य के रूप में भी, और कृति की परख की कसौटी के रूप में भी। कलावाद, रूपवाद, संरचनावाद, मनोविज्ञान तथा मनोविश्लेषणवाद आदि इसी प्रकार के सिद्धांत हैं। इन्होंने समाजशास्त्रीय समीक्षा पद्धति की जो आलोचना की है उसे आप कुछ सीमा तक निरस्त कर सकते हैं क्योंकि वह इन सिद्धांतों के अपने पूर्वग्रहों से प्रेरित है। किंतु इस सिलसिले में टी.एस. एलियट की आलोचना अवश्य एक पते की बात कहती है। एलियट के अनुसार साहित्य की आलोचना ऐसी होनी चाहिए जो साहित्य को समझने में तो सहायता दे ही, उसके आस्वाद को भी उभारे। समाजशास्त्रीय समीक्षा सामाजिक पक्ष के गंभीर विवेचन द्वारा साहित्य को समझाने में तो समर्थ होती है किंतु इसके आस्वाद या आनंद पक्ष का उद्घाटन नहीं करती।

- इसी बात से यह आलोचना भी जुड़ी है कि यह समीक्षा साहित्येतर स्थितियों तथा प्रतिमानों पर इतना अधिक बल देती है कि रचना की साहित्यिक विशिष्टताएँ या सौंदर्यशास्त्रीय गुण बिल्कुल उपेक्षित रह जाते हैं। साहित्यिक कृति को केवल समाज से जोड़कर और उसे लेखक-पाठक

प्रकाशक आदि की अंतःक्रिया मात्र मानकर वह उसके क्षेत्र को संकुचित कर देती है। साहित्य का सौंदर्यशास्त्रीय पक्ष फिर उभर ही नहीं पाता।

- केवल सामाजिक शक्तियों को रचना का प्रेरक मानकर यह दृष्टि साहित्य का तथा लेखकीय प्रतिभा का क्षेत्र अत्यंत सीमित कर देती है। लेखन में अमूर्त, आत्मपरक रचनाओं तथा विशुद्ध सौंदर्यशास्त्रीय मूल्यों के लिए स्थान नहीं रहता। लेखक का अपना व्यक्तित्व भी केवल समाज के ढाँचे में ढला पात्र भर बनकर रह जाता है। उसकी स्वतंत्रता मारी जाती है।

- यह समीक्षा साहित्यिक कृति को प्रायः किसी युग या समाज विशेष के संदर्भ में रखकर देखती है इसलिए अन्य देश-कालों में उसकी प्रासंगिकता का निर्णय नहीं हो पाता, न साहित्य की कालातीतता का आकलन ही हो पाता है।

जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, यह समीक्षा पद्धति अभी चर्चा, विवेचन-विश्लेषण आदि के दौर से गुज़र रही है अतः इसके किसी स्थिर स्वरूप की अपेक्षा नहीं की जा सकती। इसकी यह उथल-पुथल, मतभेद, तर्क-वितर्क आदि इसकी जीवंतता के परिचायक हैं। इसके अलावा एक बात इसके पक्ष में निश्चित रूप से कही जा सकती है। साहित्य और समाज के संबंधों के अनेक पक्ष इसके विवेचन में उभरे हैं और उभर रहे हैं क्योंकि दोनों के बीच वस्तुपरक साम्य के अतिरिक्त संरचना का साम्य और संवेदना का साम्य भी देखा गया है।

समाजशास्त्रीय पद्धति पर आरोप लगाया जाता है कि अमूर्त तथा आत्मपरक रचनाओं के लिए इसमें स्थान नहीं है, किंतु ऐसा कहने वाले यह भूल जाते हैं कि समाजशास्त्र का क्षेत्र अत्यंत विस्तृत है और हर प्रकार की रचनाओं को - घटिया कहे जाने वाले साहित्य को भी - यह अध्ययन के योग्य मानता है क्योंकि वह आदर्श साहित्य या आदर्शपरक साहित्य चाहे न हो, लेकिन वह किसी न किसी सामाजिक या ऐतिहासिक तथ्य पर अवश्य रोशनी डालता है। हाँ, यह कहा जा सकता है कि उस दशा में उसका अध्ययन साहित्य नहीं बल्कि समाजशास्त्र के अंतर्गत आता है। किंतु इस समीक्षा पद्धति में दोनों को बिल्कुल विलगाकर देखना संभव भी नहीं है।

24.7 सारांश

इस इकाई में आपने पाँच ऐसी समीक्षा पद्धतियों का अध्ययन किया जिन पर साहित्यशास्त्र से इतर अनुशासनों का प्रभाव रहा है। इनमें मिथकीय समीक्षा पद्धति है जिस पर नृतत्वशास्त्र और मनोविज्ञान का गहरा प्रभाव है। इनमें रूपवाद, संरचनावाद तथा शैली विज्ञान से संबद्ध पद्धतियाँ हैं जो मूलतः भाषा विज्ञान से प्रेरित हैं और कृति को ही आलोचना का केंद्र बनाती है, हालाँकि बाह्य जगत के तथ्यों से साहित्यिक रचना के संबंध को लेकर इनके मत कुछ भिन्न-भिन्न हैं। इसके अलावा यहाँ समाजशास्त्र से प्रभावित समीक्षा पद्धति का भी अध्ययन किया गया है जो साहित्यिक कृति को पूर्णतः सामाजिक शक्तियों से संबद्ध, संचालित और नियंत्रित मानती है। इस बात को ध्यान में रखें कि ये साहित्य सिद्धांत नहीं, समीक्षा पद्धतियाँ हैं, जो आम तौर पर साहित्येतर सिद्धांतों - नृतत्व, मनोविज्ञान, भाषा विज्ञान, समाजशास्त्र आदि से प्रभावित है।

इनमें से कई प्रवृत्तियों के सूत्र प्राचीन साहित्य सिद्धांतों में भी मिलते हैं किंतु स्वतंत्र पद्धतियों के रूप में इनका उदय और विकास इसी सदी में हुआ। इनमें से मिथकीय समीक्षा पद्धति का क्षेत्र अपेक्षाकृत सीमित रहा, किंतु अन्य पद्धतियों का अपने समय के साहित्यालोचन पर यथेष्ट प्रभाव रहा है। रूपवाद और संरचनावाद का प्रचलन घटने पर भी परवर्ती सिद्धांतों को इन्होंने गहरे में प्रभावित किया और साहित्यशास्त्र को कुछ महत्वपूर्ण दिशाएँ दीं। शैलीविज्ञान तथा समाजशास्त्र अभी भी जीवंत तथा विकासमान अनुशासन हैं तथा इनसे संबद्ध समीक्षा पद्धतियाँ भी अभी नित्य नए आयाम ले रही हैं।

इस पाठ का उद्देश्य आपको इन पद्धतियों का सामान्य परिचय देना है अतः इनके आंतरिक मतभेदों, विवादों, तर्क-वितर्क तथा गहन सैद्धांतिक विवेचन को परे रखकर एक सरल-सी रूपरेखा आपके सामने रखी गई है। अतिसरलीकरण का खतरा उठाकर भी यह प्रयास रहा है कि अतिरिक्त तथ्यों, इतिहास तथा विद्वानों के नामों तथा स्थापनाओं से इसे इतना बोझिल न कर दिया जाए कि सारतत्व आपसे छूट जाए।

24.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

प्रो. निर्मला जैन (संपा), **साहित्य का समाजशास्त्रीय चिंतन**, हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

डॉ. बच्चन सिंह, **साहित्य का समाजशास्त्र और रूपवाद**, विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी।

डॉ. रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव, **शैली विज्ञान और आलोचना की नई भूमिका**, केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा।

डॉ. रामअवध द्विवेदी, **साहित्य सिद्धांत**, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना।

डॉ. रामपूजन तिवारी, **पाश्चात्य काव्यशास्त्र**, राधाकृष्णन प्रकाशन, नई दिल्ली।

रेने वेलेक तथा आरिटन वारेन, **साहित्य सिद्धांत** (अनु. बी.एस. पालीवाल), लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।

John Hall (1979), **The Socialogy of Literature**, London, Langman.

Arn Jefferson and David Robey eds. (1982), **Modern Literary Theory : A Comparative Introduction**, London, B.T. Batsford Ltd.

24.9 अभ्यास के लिए प्रश्न

1. 'मिथक' से आप क्या समझते हैं? साहित्य तथा मिथक के संबंध को रेखांकित करते हुए मिथकीय आलोचना की प्रकृति पर प्रकाश डालिए।
2. रूपवाद के अंतर्गत 'साहित्यिकता' की अवधारणा से आप क्या समझते हैं? सामान्य भाषा और 'साहित्यिक' भाषा के अंतर को स्पष्ट करते हुए समझाएँ कि भाषा में 'साहित्यिकता' किस प्रकार लाई जाती है?
3. रूपवाद तथा संरचनावाद के साम्य तथा वैषम्य के प्रमुख बिंदुओं का विवेचन कीजिए।
4. संरचनावादी समीक्षा की प्रमुख प्रवृत्तियाँ तथ मान्यताओं पर प्रकाश डालते हुए उनका मूल्यांकन कीजिए।।
5. शैली वैज्ञानिक समीक्षा की मुख्य प्रवृत्तियों का विवेचन करते हुए बतलाएँ कि इसमें कथ्य का अधिक महत्व है या शिल्प का।
6. समाजशास्त्रीय समीक्षा पद्धति की प्रमुख मान्यताओं का विवेचन करते हुए शक्ति और सीमाओं का आकलन कीजिए।
7. निम्नलिखित बातों में से कौन-सी सही है और कौन-सी गलत? उपयुक्त कोष्ठक में चिह्न (√) अथवा (x) का चिह्न लगाएँ :

	सही	गलत
(क) मिथकीय समीक्षा का मूल स्रोत भाषा विज्ञान है।		
(ख) समाजशास्त्रीय समीक्षा पद्धति आलोचना के लिए साहित्येतर प्रतिमान अपनाती है।		
(ग) रूपवाद के लिए साहित्यिक कृति का कथ्य महत्वपूर्ण नहीं है।		
(घ) शैली विज्ञान मूलतः भाषा-विज्ञान की एक शाखा है।		
(ङ) शैली वैज्ञानिक समीक्षा का अर्थ है, रचना का भाषिक विश्लेषण।		
(च) सस्यूर के अनुसार 'लांग' सामान्य भाषा का अमूर्त बोध है और 'पैरोल' व्यक्ति द्वारा उसका व्यक्ति-विशिष्ट मूर्त प्रयोग।		
(छ) मिथकों का जन्म मानव समाज की आदिम अवस्था में हुआ।		
(ज) मिथकों का संबंध केवल पराकथाओं से है।		

(झ) श्क्लोव्स्की तथ याकोबसन का संबंध रूपवादी समीक्षा पद्धति से है।

(ण) संरचनावादी समीक्षा पद्धति इतिहास की उपेक्षा करती है।

8. सही उत्तर पर (√) निशान लगाएँ :

(क) रूपवादी, संरचनावादी तथा शैली वैज्ञानिक समीक्षा पद्धति के पीछे कौन-से एक साहित्येतर अनुशासन/सिद्धांत का प्रभाव था?
  (i) भाषा विज्ञान
  (ii) समाजशास्त्र
  (iii) मार्क्सवाद

(ख) कौन-सी समीक्षा पद्धति के विकास में मार्क्सवादी विचारधारा का महत्वपूर्ण हाथ रहा है?
  (i) मिथकीय
  (ii) शैली वैज्ञानिक
  (iii) समाजशास्त्रीय

(ग) इनमें से कौन-सा शब्द रूपवाद की पारिभाषिक शब्दावली का महत्वपूर्ण हिस्सा है?
  (i) विचलन
  (ii) अपरिचितीकरण
  (iii) संकेतक (signifier)

(घ) 'साहित्य समाज का दर्पण है' - इस कथन को आप किस विचारधारा के साथ जोड़ सकते हैं?
  (i) संरचनावादी
  (ii) समाजशास्त्रीय
  (iii) मिथकीय

(ङ) रूप संरचना तथा शैली के संबद्ध तीनों समीक्षा पद्धतियों मों नीचे उल्लिखित विद्वानों में से किस का योगदान बहुत महत्वपूर्ण रहा है?
  (i) कार्ल मार्क्स
  (ii) रोलाँ बार्थे
  (iii) रोमन याकोबसन

(च) किसी भी साहित्यिक कृति के कौन-से दो अनिवार्य पक्ष होते हैं?
  (i) कथ्य और रूप (Content and Form)
  (ii) भाषा और वाक् (Langue and Parole)
  (iii) आत्मपरक और वस्तुपरक (Subjective and Objective)

(छ) 'कविता का सरोकार विश्व (World) से नहीं शब्द (Word) से होता है' - यह कथन किस समीक्षा पद्धति से संबद्ध है?
  (i) मिथकीय
  (ii) शैली वैज्ञानिक
  (iii) संरचनावादी

(ज) कौन-सी समीक्षा पद्धति में 'साहित्यिक आलोचना में भाषा वैज्ञानिक प्रविधि का प्रयोग' होता है?
  (i) शैली वैज्ञानिक
  (ii) रूपवादी
  (iii) समाजशास्त्रीय

(झ) वे कौन-सी पद्धतियाँ हैं जिनका मूल प्रेरणास्रोत समान है?
  (i) रूपवादी, मिथकीय, संरचनावादी
  (ii) रूपवादी, संरचनावादी, शैली वैज्ञानिक
  (iii) संरचनावादी, शैली वैज्ञानिक, समाजशास्त्रीय

(ण) कौन-सी समीक्षा पद्धति के पीछे की मूल अवधारणा समाजशास्त्र, नृतत्वशास्त्र और मनोविज्ञान से संबद्ध है?

(i) संरचनावादी

(ii) मिथकीय

(iii) समाजशास्त्रीय

इकाई 25 अस्तित्ववाद, आधुनिकतावाद और उत्तर-आधुनिकतावाद

इकाई की रूपरेखा

25.0 उद्देश्य

- इस इकाई में आप साहित्य की तीन प्रमुख प्रवृत्तियों - अस्तित्ववाद, आधुनिकतावाद; तथा उत्तर आधुनिकतावाद - के बारे में विस्तृत जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- आप यह जानकारी दे सकेंगे कि इन प्रवृत्तियों की पृष्ठभूमि क्या थी
- ये प्रवृत्तियाँ किस काल में प्रचलित थीं
- इन प्रवृत्तियों की अवधारणा/परिभाषा दे सकेंगे
- आप स्पष्ट तौर पर बता सकेंगे कि इन प्रवृत्तियों के मूल विचार बिंदु/तत्व कौन-कौन से हैं; और
- इनके वर्तमान परिदृश्य के बारे में भी आप सूचना दे सकेंगे।

25.1 प्रस्तावना

इस खंड की पिछली इकाइयों में आप साहित्य चिंतन की विभिन्न दृष्टियों और विचारधाराओं का अध्ययन कर चुके हैं। प्रस्तुत इकाई पिछले अध्ययन का ही इस मायने में विस्तार है कि इसमें आप बीसवीं सदी की तीन प्रमुख विचार-दृष्टियों अथवा प्रवृत्तियों के बारे में पढ़ेंगे।

बीसवीं शताब्दी महत्वपूर्ण घटनाओं और विचारों की सगी रही है। इस शताब्दी में संसार में राजतंत्र में जो महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए उनमें साम्यवाद फाँसीवादी और उत्तर-उपनिवेशवाद शामिल हैं।

मानव संहार से उत्पन्न निराशा ने नीति धर्म, ईश्वर दर्शन आदि मानव निर्मित निष्ठाओं पर प्रश्न चिह्न लगा दिए। युद्धोत्तर संसार में कला और साहित्य के पुराने सिद्धांत लगभग अर्थहीन हो गए। इसी सदी में दो विश्व-युद्धों तथा अणु-विस्फोटों द्वारा जो विनाश हुआ उसका व्यापक प्रभाव विश्व के चिंतन पर पड़ा।

इसी सदी में प्रौद्योगिकी ने जैसे दुनिया का मानचित्र ही बदल दिया। उपग्रह, जनसंचार तथा इंटरनेट ने साइबरस्पेस के 'अदृश्य संसार' की रचना की। भूमंडल सिमट कर 'ग्लोबल गाँव' बन गया।

इन परिवर्तनों का साहित्य और चिंतन पर व्यापक प्रभाव पड़ा है। मार्क्सवाद, फ्रायडवाद, आधुनिकतावाद, अस्तित्ववाद एवं उत्तर-आधुनिकतावाद ने साहित्य और संस्कृति को इतना अधिक प्रभावित किया कि **नवीन मानसिकता का उदय हुआ, नई-नई प्रवृत्तियाँ** जन्म **लेने लगीं**। कला और शिल्प में नए-नए प्रयोग किए जाने लगे।

इस बदलते हुए बौद्धिक, संवेदनात्मक, सांस्कृतिक तथा साहित्यिक चिंतन को आधुनिक युग-बोध कहा गया। **आधुनिकतावाद** के अंतर्गत सांस्कृतिक संकट, मूल्य संक्रांति, स्वत्व का ह्रास विशेष विषय बन गए। **अस्तित्ववाद** ने अजनबीपन, अलगाव तथा मृत्यु-बोध और संत्रास के प्रश्न उठाए। संकल्प-विकल्प, स्वतंत्रता और लेखकीय प्रतिबद्धता पर बहसें शुरू हो गईं।

आज फिर एक बार साहित्य सिद्धांत तथा आलोचना में एक महत्वपूर्ण मोड़ आया है। केंद्र से परिधि की ओर, वर्ण की अपेक्षा जाति तथा लिंग की ओर झुकाव ने उत्तर-आधुनिकतावाद के युग के आगमन की की सूचना दी।

इस इकाई में इन तीनों प्रवृत्तियों - अस्तित्ववाद, आधुनिकतावाद और उत्तर-आधुनिकतावाद - की पृष्ठभूमि, अवधारणाओं और मूल विचार-बिंदुओं को प्रस्तुत किया गया है। अब हम इनपर तफ़सील से विचार करेंगे। अस्तित्ववाद के विषय में आप इकाई 23 में पहले भी पढ़ चुके हैं किंतु यहाँ फिर भी इसकी विस्तृत चर्चा की जा रही है क्योंकि ये तीन विचार दर्शन अपने संश्लिष्ट प्रभाव में एक नवीन **युग-बोध** को जन्म देते हैं। द्वितीय विश्व-युद्धोत्तर मानसिकता के आंतरिक और बाह्य अर्थ संदर्भों को समझने के लिए इन तीनों का एक-साथ अध्ययन आवश्यक है। जैसी कि चर्चा की जा चुकी है, **आधुनिक युगबोध** का निर्माण इन तीनों से मिलकर हुआ है। यह युगबोध ही नवीन युग संवेदना की भावभूमि है जिसमें मनुष्य की चिंताओं और स्थितियों का पूरा अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र निहित है।

25.2 अस्तित्ववाद

25.2.1 अवधारणा

- अस्तित्ववाद (एग्ज़िस्टेंशलिज़्म) मूल रूप से दर्शन का सिद्धांत है। लेकिन अस्तित्ववाद ने साहित्य सृजन तथा आलोचना सिद्धांतों को भी प्रभावित किया है।
- अस्तित्ववाद के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के सामने विभिन्न **संभावनाएँ** या रास्ते हैं। मनुष्य इन संभावनाओं या रास्तों में से एक या अधिक का **वरण** करता है।
- इस वरण के लिए मनुष्य अपनी **स्वतंत्रता** का इस्तेमाल करता है।
- वरण की स्वतंत्रता के परिणामस्वरूप मनुष्य अपने **अस्तित्व** (एग्ज़िस्टेंस) को न केवल प्रमाणित करता है बल्कि **प्रामाणिक** (ऑथेंटिक) भी बनाता है।
- वरण के स्वतंत्र प्रयोग के कारण उसके सार (एसेंस) का निर्माण होता है। अर्थात् **सार से पूर्व अस्तित्व है**। अस्तित्व के पूर्ववर्ती होने के कारण इसे **अस्तित्ववाद** की संज्ञा दी गई है।

---

* सन 1919 में मुसोलिनी द्वारा संगठित राजनीतिक आंदोलन जिसने सभी लोकतांत्रिक पद्धतियों का घोषणाबद्ध दमन किया। फासीवाद अधिनायकवाद का ही एक रूप है। एक अर्थ में इसे साम्राज्यवाद विस्तार की नीति कहा जाता है। मूलतः यह मार्क्सवाद की विरोधी विचारधारा है। द्वितीय विश्व-युद्ध में हिटलर द्वारा अपनाए जाने के कारण इसे हिटलरशाही भी कहा जाता है।

* **उत्तर-उपनिवेशवाद** नए तरीके का **आर्थिक-सांस्कृतिक** साम्राज्यवाद है जिसमें राजनीतिक रूप से स्वतंत्र रहते हुए भी विकासशील देश विकसित देशों का माल खपाने का बाज़ार बनकर रह जाते हैं, जिसका लाभ विकसित देश पाते हैं। संचार क्रांति इस उपनोक्तावादी संस्कृति के प्रसार का सबसे प्रबल माध्यम बनी है।

- अस्तित्ववाद मानव को परिभाषित नहीं करता क्योंकि मानव की कोई आदि-मूल चिरंतन या **शाश्वत प्रवृत्ति नहीं** ।
- मनुष्य उसके सिवाय कुछ नहीं जो अपने स्वतंत्र कर्म तथा वरण द्वारा बनाता है। इकबाल की एक पंक्ति है -

  'अमल (कर्म) से ज़िंदगी बनती है जन्नत भी जहन्नुम भी
  यह ख़ाकी (पार्थिव) अपनी फ़ितरत (प्रवृत्ति) में न नूरी (राजसी) है न नारी (तामसी)।'

  अर्थात् कर्म से ही जीवन को अर्थ मिलता है यानी कर्म स्वर्ग और नरक का निर्माता है। वरना, मनुष्य अपनी प्रवृत्ति में न सत् है न असत्।
- अस्तित्ववाद के केंद्र में जीवन की **निस्सारता** का दर्शन है।

मोनियर ने अस्तित्ववाद की परिभाषा करते हुए लिखा है कि अस्तित्ववाद **विचारों के दर्शन** तथा **वस्तु-यथार्थ के दर्शन** की अति के विरुद्ध **मानव के दर्शन** की प्रतिक्रिया है।

संक्षेप में, अस्तित्ववाद का अर्थ है जिसका संबंध अस्तित्व से है। अर्थात् जिसका मूल सरोकार **मानव-अस्तित्व, मानव-स्थिति**, संसार में मनुष्य का मकाम तथा **प्रयोजन** और **मानवीय संबंधों** की उपस्थिति और अनुपस्थिति से है।

25.2.2 पृष्ठभूमि

यूँ तो उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में यूरोप के दर्शन में अस्तित्ववाद एक महत्वपूर्ण विमर्श रहा है लेकिन साहित्य में इसका आगमन वर्तमान सदी के तीसरे-चौथे दशक से माना जाता है। दूसरे महायुद्ध के दौरान और उसके पश्चात कुछ वर्षों तक यह बहुत चर्चित रहा।

साहित्य में अस्तित्ववाद के प्रभाव का कारण मानव की वह भयावह विषम स्थिति थी जो फ़ासीवाद के रक्तरंजित आतंक, साम्यवाद से मोह-भंग तथा द्वितीय महायुद्ध की विभीषिका और अणु-विस्फोटों के मानव संहार से उत्पन्न हुई थी। चारों ओर निराशा एवं निस्सारता की लहर फैल गई। ऐसा दिखाई देने लगा कि मनुष्य किसी अंधी सुरंग में फँस गया है। फ्रांज़ काफ्का के शब्दों में - 'मैं एक ऐसी काल कोठरी में कैद हूँ जिसके न दरवाज़े हैं और न खिड़कियाँ और बाहर निकलने के तमाम रास्ते बंद हैं।'

25.2.3 अस्तित्ववाद की दो धाराएँ

अस्तित्ववादी दर्शन की दो मुख्य धाराएँ हैं - (1) ईश्वरवादी अस्तित्ववाद; और (2) अनीश्वरवादी अस्तित्ववाद।

- **ईश्वरवादी अस्तित्ववाद** अर्थात् आध्यात्मिक, धार्मिक, पराभौतिक। इस धारा में ईसाईयत का प्रभुत्व है। इस धारा में ईश्वर केंद्र में है। मनुष्य की मीमांसा ईश्वर के संदर्भ में ही संभव है। ईश्वरवादी अस्तित्ववाद के अनुसार इस संसार में निरर्थक जीवन को सार्थक तथा सारपूर्ण बनाने के लिए निष्ठा तथा (ईश्वर में) आस्था अनिवार्य है। मनुष्य की गति ईश्वर की शरण बिना संभव नहीं। ईश्वरवादी अस्तित्ववाद के प्रवर्तकों में **सोरेन कीर्केगार्ड** (1813-55) तथा **गेब्रियल मार्सल** (1889-1973) के नाम उल्लेखनीय हैं।
- **अनीश्वरवादी अस्तित्ववाद** में मनुष्य इस संसार में निस्सहाय है। वह बिल्कुल अकेला है। **फ्रेडरिक नीत्शे** (1840-1900) के अनुसार ईश्वर की मृत्यु हो चुकी है। **ज्याँ पाल सार्त्र** (1905-80) के कथनानुसार संघर्ष में ही मानव की गति है। जब ईश्वर ही नहीं तो मनुष्य अपने प्रत्येक कर्म के लिए स्वयं उत्तरदायी है। अनीश्वरवादी अस्तित्ववाद के प्रमुख प्रवर्तकों में **मार्टिन हाइडेगर** (1889-1978) और ज्याँ पाल सार्त्र शामिल हैं।

25.2.4 मूल विचार बिंदु

अस्तित्ववाद के मूल तत्व क्या हैं?

1. **मानव रचना** : मानव रचना के मूल में कोई प्रयोजन नहीं। वह स्वयं जो निर्धारित करता है उसके अलावा बिना किसी प्रयोजन के उसकी इच्छा के बगैर फेंक दिया गया है। जो वह स्वयं निश्चित करता है, सिवाय उस उद्देश्य या गंतव्य के, वह इस संसार में भटकने के लिए विवश है। वह किसी सहारे या सहायता के बगैर निरंतर गर्दिश में है।

2. **मानव प्रकृति : मानव प्रकृति एक अर्थहीन शब्द है।** मानव की कोई प्रवृत्ति नहीं केवल इतिहास है। मानव प्रकृति को स्वीकार करने का अर्थ है मानवेतर (दैवी) शक्ति में विश्वास। अर्थात् ऐसी परम शक्ति को स्वीकार करना जो मनुष्य के अस्तित्व से पूर्व पैदा हुई है या मौजूद थी।

3. **मानव आदतें :** मानव प्रकृति के बने-बनाए या **पूर्व-निश्चित नियम नहीं** होते। बल्कि कुछ आदतें हैं। इनमें कोई भी किसी दिन बदल सकती है।

   यह विचार इन शब्दों से स्पष्ट हो जाता है कि 'कोई ईश्वर नहीं। कोई नस्ल या जाति नहीं। कोई आदिम पाप नहीं। कोई परिवेश नहीं। कोई पिता नहीं। कोई माता नहीं। कोई शिक्षक नहीं। कोई प्रवृत्ति, रुझान या ग्रंथि नहीं। बचपन का प्रशिक्षण नहीं। **मनुष्य स्वतंत्र है।**

   मनुष्य अपनी संभावनाओं तथा **जिम्मेदारियों में घिरा** हुआ इस संसार में धकेल दिया गया है।

4. **मानव स्थिति :** यह है वह स्थिति जिसमें मनुष्य **अलगाव** (एलियेनेशन) और **एकाकीपन** का जीवन व्यतीत करने पर विवश है। हाइडेगर का कथन है - 'मनुष्य इस संसार में अकेला, थका हुआ, निराश और भयभीत है।' मानव की यह निरुद्देश्य, प्रयोजनहीन, अलगाव तथा **संत्रास स्थिति** इस दुनिया को **विसंगतियों का रंगमंच** बना देती है।

5. **मानव नियति :** अस्तित्ववाद ने यह प्रश्न किया है कि मानव की इस विषम परिस्थिति के लिए कौन जिम्मेदार है - ईश्वर, धर्म, राज्य, व्यवस्था, समाज, सभ्यता, संस्कृति, नैतिकता, राजनीति, विज्ञान या स्वयं मनुष्य? अस्तित्ववाद के अनुसार मानव अपनी विषम स्थिति के लिए स्वयं उत्तरदायी है। (याद रहे मार्क्सवाद के तहत मनुष्य भौतिक-ऐतिहासिक नियतिवाद का गुलाम है। सिग्मंड फ्रायड के अनुसार वह अवचेतन यौन प्रवृत्ति का दास है। विभिन्न धर्मों के अनुयायी इसे ईश्वर या किसी दैवी शक्ति द्वारा परिचालित मानते हैं।)

6. **मानव वरण तथा स्वतंत्रता :** अस्तित्ववाद में मनुष्य अपने कर्म तथा **निर्णय** के लिए स्वयं ही उत्तरदायी है। इस कर्म तथा निर्णय के लिए उसे **वरण** करना पड़ता है। वरण के लिए **स्वतंत्रता** मूल शर्त है। ईश्वर, राज्य या कोई अन्य व्यवस्था या व्यक्ति उसके लिए वरण नहीं कर सकता। इस **स्वतंत्रता के बोझ से भयभीत होकर** वह धर्म, राज्य या नैतिकता की शरण लेता है। अर्थात् स्वतंत्रता का बोझ सहन न कर पाने के कारण **वह पलायन करता है।**

7. **चिंता एवं संत्रास :** वरण की स्वतंत्रता की स्थिति चिंता (ऍंग्स्ट) तथा संत्रास (ड्रेड) उत्पन्न करती है। (मूल जर्मन शब्द 'ऍंग्स्ट' में मानसिक परिताप (चिंता) और भय (संत्रास) दोनों शामिल हैं।)

8. **प्रामाणिक व्यक्ति तथा जीवन :** सच्चा व्यक्ति वही है
   - जो स्वतंत्रता के बोझ को स्वीकार कर लेता है।
   - जो वरण करने में संकोच नहीं करता।
   - जो स्वेच्छा से निर्णय लेता है।
   - जो इस निर्णय के लिए **संताप** के लिए तत्पर है।
   - जो अपने प्रत्येक कर्म के लिए उत्तरदायी है और इसकी सज़ा भुगतने के **लिए तैयार** है।
   - ऐसा व्यक्ति प्रामाणिक व्यक्ति है। अन्य लोग झूठी आस्था (बैड फेथ) वाले **होते** हैं।

9. **मूल्य का प्रश्न :** प्रत्येक व्यक्ति स्थितियों के अलग-अलग होने के बावजूद अलग-अलग वरण करता है। अतः हर व्यक्ति का अर्थ-बोध दूसरे व्यक्ति के अर्थ-बोध से भिन्न होता है। इसलिए कोई व्यापक या सामान्य मूल्य या अर्थ संभव नहीं। यह प्रश्न बार-बार पूछा जाता है कि क्या हम सही वरण करते हैं या हम इसके योग्य हैं या नहीं। अस्तित्ववाद का उत्तर **है कि मानव की 'मानवता' वरण की अच्छाई में नहीं बल्कि सच्चाई में है। मूल्य का प्रश्न वरण के बाद पैदा होता है। क्योंकि सार अस्तित्व के बाद है। अस्तित्व सार से पूर्ववर्ती है।**

इन मूल विचार-बिंदुओं से स्पष्ट है कि अस्तित्ववाद के अनुसार ऐसे मनुष्य का ही अस्तित्व है जो वरण करता है, स्वतंत्रता का प्रयोग करता है, चिंता तथा संत्रास से गुज़रता है। अपने संकल्प तथा कर्म के लिए उत्तरदायित्व स्वीकार करता है और हर मूल्य चुकाने के लिए तैयार है। यह ही उसके अस्तित्व की शर्तें हैं। शेष सब अ-मानव हैं। उनका कोई अस्तित्व नहीं। **अस्तित्व के बग़ैर कोई सार नहीं। अस्तित्व सार से पूर्ववर्ती होता है।** अतः पूर्व-निश्चित मूल्य या आदर्श या कोई बाह्य शक्ति (ईश्वर समेत) मनुष्य के अस्तित्व का निर्माण नहीं करती।

यह है वह विसंगति जिसमें मनुष्य अपनी स्वतंत्रता और वरण द्वारा मनुष्य होने यानी अस्तित्व को अर्थ देता है। जीवन की स्थितियाँ मनुष्य को ऐसी अवस्था में ले आती हैं कि उसे अपने अनुभव की सीमाएँ और दिशाएँ निर्धारित करनी पड़ती हैं। उसे अपनी समस्त क्षमता तथा शक्ति को प्रयोग में लाना पड़ता है। इस संकट की स्थिति की अनिश्चितता के कारण उसे अपने अस्तित्व की गहराई का बोध होता है। उसका अस्तित्व उसका अपना संकल्प है।

25.2.5 अस्तित्ववाद और साहित्य आलोचना

अस्तित्ववाद विशुद्ध साहित्यिक प्रवृत्ति या आलोचना सिद्धांत नहीं। लेकिन इसने साहित्य सृजन तथा समालोचना पद्धतियों को अत्यधिक प्रभावित किया है। ज्याँ पाल सार्त्र, सिमोन द बिउआ और अल्बेयर कामू ने अस्तित्ववाद से प्रभावित होकर कई श्रेष्ठ कृतियाँ साहित्य को दी हैं। इनके अतिरिक्त, कई अन्य लेखकों को भी इस धारा में सम्पृक्त किया गया है जिनमें फियोडॉर दोस्तोएवस्की (कृति : नोट्स फ्रॉम द अंडर ग्राउंड) और फ्रांज़ काफ्का (कृति : मेटामोर्फोसिस) के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। अस्तित्ववादी लेखक अपने-अपने तौर पर जिन दार्शनिकों के चिंतन से प्रभावित हुए हैं उनमें महत्वपूर्ण नाम हैं - सोरे कीर्केगार्ड, फ्रेडरिक नीत्शे, गेब्युल उनामानो, ख़ोख़े ऑरत्रेगां, मार्टिन हाइडेगर, कार्ल जैस्परस, रूडल्फ़ बुल्टमेन, ग्रेब्रियल मार्सल तथा पाल तिलिश।

(1) ज्याँ पाल सार्त्र

सार्त्र का नाम अस्तित्ववाद से इतना गहरे तौर पर जुड़ गया है कि वह केवल अस्तित्ववादी लेखक ही नहीं, बल्कि अस्तित्ववादी चिंतक भी स्वीकार किए जाने लगे। सार्त्र के विचार में मनुष्य अपनी स्वतंत्रता से आतंकित रहता है। मानव समस्याओं में स्वतंत्र वरण द्वारा भाग लेकर ही हम अपने अस्तित्व को प्रामाणिक बना सकते हैं। सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में सक्रिय भाग लेकर ही हम मनुष्य होने का अर्थ तथा आत्म-बोध प्राप्त कर सकते हैं तथा छद्म जीवन एवं छद्म आस्था से बच सकते हैं। सार्त्र के शब्दों में अस्तित्ववाद की मूल अवधारणा है - कोई नियति नहीं। मनुष्य स्वतंत्र है। मनुष्य स्वतंत्रता है।

कुछ स्थितियाँ ऐसी होती हैं कि हम जो भी वरण करते हैं उसके कारण हम पापानुभूति से बच नहीं सकते क्योंकि हमारी प्रत्येक क्रिया का प्रभाव दूसरों पर पड़ता है और उसके उत्तरदायित्व से हम बच नहीं सकते। अतः संत्रस्त रहते हैं। सार्त्र यह मानते हैं कि

- मनुष्य इस स्थिति से उबर सकता है और एक सक्रिय सजग जीवन व्यतीत कर सकता है।
- सार्त्र के विचार में इस प्रकार मनुष्य अपने अस्तित्व का प्रमाण देता है।
- अपने वरण की शक्ति का प्रयोग करके वह स्वयं तथा संसार को अर्थ देता है।
- मनुष्य का सार वह है जो वह इस वरण के स्वतंत्र इस्तेमाल से प्राप्त करता है।
- मनुष्य अपनी निष्क्रिय तथा अनिश्चित परिस्थिति से स्वैच्छिक क्रिया द्वारा निकल सकता है। इस सक्रियशीलता (एंगेज) द्वारा वह जो कर्म करता है वह सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन का अंग है। सार्त्र ने इस सक्रियशीलता को प्रतिबद्धता कहा है।
- प्रतिबद्धता द्वारा मनुष्य अपने होने को प्रमाणित करता है। आत्म-बोध का अनुभव करता है तथा समाज को भी सुगठित करता है।

(2) अल्बेयर कामू

कुछेक आलोचकों की दृष्टि में अस्तित्ववाद की प्रामाणिक प्रस्तुति अल्बेयर कामू की कृतियों में अधिक प्रभावी तौर पर हुई है जैसा कि उसकी कृतियों 'द मिथ ऑफ सिसीफ़स' और 'दि आउटसाइडर' से प्रकट है। कामू के विचार में

- जीवन निरर्थक एवं निस्सार है।
- इसलिए इस संसार में एक ही समस्या है - आत्महत्या।
- प्रत्येक व्यक्ति के लिए जीवन एक अर्थहीन बोझ है जिसे वह उठाने के लिए अभिशप्त है।

सिसीफ़स की मिथ से कामू ने अपने इस विचार को व्याख्यायित किया है कि किस प्रकार सिसीफ़स एक चट्टान अपनी पीठ पर लादे पर्वत के शिखर पर पहुँचता है। लेकिन जब वह शिखर पर पहुँचता है तो चट्टान नीचे खाई में गिर जाती है। वह फिर इसे ऊपर ले जाता है। चट्टान फिर गिर जाती है। इस

प्रकार वह बेकार मेहनत करता रहता है जिसका कोई फल नहीं मिलता। मनुष्य का जीवन भी इसी प्रकार व्यर्थ के श्रम की भाँति है।

कामू के विचार में निरर्थक जीवन जीना मनुष्य की आदत बन चुकी है। लेकिन कामू आत्महत्या को बेकार समझते हैं क्योंकि इससे जीवन की निरर्थकता की समस्या हल नहीं होती।

प्रश्न यह है कि जीवन की निरर्थकता तथा आत्महत्या से कैसे बचा जा सकता है? कामू के विचार में इसका एक ही रास्ता है - विद्रोह। कामू ने लिखा है कि -'प्रतिरोध की क्रिया कितनी ही अकेली क्यों न हो वास्तव में एक सामूहिक क्रिया है। मैं विद्रोह करता हूँ। इसलिए मेरा अस्तित्व है।' कामू का विचार है - 'जब हम अपनी समस्याओं का वरण स्वयं नहीं करते समस्याएँ एक के बाद एक हमारा वरण करती हैं।'

कामू के 'दि आउटसाइडर' और उसके पश्चात सार्त्र के 'बीयांड दी आउटसाइडर' से अलग होकर **कॉलिन विल्सन** ने अस्तित्ववाद की व्याख्या में नए आयाम जोड़े हैं।

यहाँ इस बात का उल्लेख आवश्यक है कि अस्तित्ववाद में अभाव या शून्य (नथिंगनेस) का विचार बहुत महत्वपूर्ण रहा है। इसका संबंध असत् (नॉन बीइंग) से भी है जिसका अर्थ सत् विरोधी अस्तित्व भी है। कुछ अस्तित्ववादी चिंतकों ने सत् के अस्तित्व को रेखांकित करते हुए तात्त्विक या ज्ञानात्मक पक्ष को गौण माना है।

(3) विसंगति का रंगमंच

अस्तित्ववाद का प्रभाव रंगमंच पर भी गहरा पड़ा है। यहाँ तक कि रंगमंच का एक नया प्रयोगवादी रूप लोकप्रिय हो गया। यह है - **विसंगति का रंगमंच** (द थियेटर ऑफ ऐब्सर्ड)। इस रंगमंच को '**ऊलजुलूल का रंगमंच**' और '**एण्टी-थियेटर**' भी कहा जाता है।

ऐब्सर्ड से क्या तात्पर्य है? ऐब्सर्ड का अर्थ है - ऊल जुलूल, अर्थहीन और निरुद्देश्य। यूजीन आयोनेस्को के अनुसार ऐब्सर्ड वह है जिसका कोई उद्देश्य या प्रयोजन नहीं। मनुष्य अपनी धार्मिक, आध्यात्मिक और अनुभवातीत जड़ों से कट गया है। वह परास्त हो चुका है। उसके समस्त क्रियाकलाप अर्थ-शून्य और विसंगतिपूर्ण हैं। इस हास्यास्पद स्थिति को त्रासदी-कामदी द्वारा ही प्रस्तुत किया जा सकता है क्योंकि मनुष्य अपने परिवेश में सामंजस्य स्थापित नहीं कर सकता। पराभौतिक अनुभव में अनास्था के कारण वह अपने को इस निरर्थक संसार में अजनबी महसूस करता है।उसका अन्य प्राणियों से संवाद-सूत्र टूट जाता है। सेम्युल बैकेट का नाटक **गोदो की प्रतीक्षा (वेटिंग फॉर गोदो)** इस संवाद-हीनता की निराशा को बड़ी कुशलता से प्रस्तुत करता है। इनके अतिरिक्त, अन्य महत्वपूर्ण ऐब्सर्ड नाटककारों में जां जैने तथा हैरल्ड पिंटर उल्लेखनीय हैं।

मार्टिन एज़लिन के कथनानुसार ऐब्सर्ड का रंगमंच व्यक्ति को मानव स्थिति, जैसी कि वह है,का सामना करने के योग्य बनाने का प्रयत्न करता है ताकि ऐसे भ्रम को दूर किया जा सके जो उसकी निराशा का कारण बनते हैं। मनुष्य का महत्व इसी में है कि वह समस्त निरर्थक पहलुओं का सामना बिना भय और भ्रम के स्वतंत्रतापूर्वक कर सके - उस पर हँस सके।

(4) नव-अस्तित्ववाद

नव-अस्तित्ववाद पर आधारित साहित्य आलोचना साहित्यिक कृतियों का मूल्यांकन इस दृष्टि से करती है कि वह जीवन की कला को किस हद तक मनुष्य के लिए उपयोगी बनाती है और जीवन की अर्थवत्ता को किस हद तक स्थापित करती है। इसके साथ ही मनुष्य की सार्थक तौर पर जिंदा रहने की कामना को तीव्र करती है।

25.2.6 समाहार

अस्तित्ववाद मूल रूप से दर्शन की एक विचार-पद्धति है। लेकिन इसने द्वितीय युद्धोपरांत साहित्य सृजन तथा आलोचना सिद्धांतों को भी प्रभावित किया है।

अस्तित्ववाद अस्तित्व से वरण के सिद्धांत तक पहुँचता है और फिर वरण से स्वतंत्रता के विचार तक। वरण की स्वतंत्रता के प्रयोग से सार का निर्माण होता है। अर्थात् सार से पूर्व अस्तित्व है।

मनुष्य वरण तथा स्वतंत्रता की प्रक्रिया में चिंता और भय का अनुभव करता है। और अपने उत्तरदायित्व के कारण पापानुभूति से ग्रस्त होता है। लेकिन वह विसंगति और आत्म-बोध का अनुभव भी करता है।

अलगाव एवं एकाकीपन मानव नियति है क्योंकि वह इस संसार में बिना किसी सहारे के फेंक दिया गया है।

सार्त्र के अनुसार वह इस विषमावस्था से सामाजिक सक्रियता तथा प्रतिबद्धता से नजात पा सकता है। कामू इस सक्रियता को विद्रोह के रूप में देखते हैं क्योंकि मनुष्य की यह प्रक्रिया सामाजिक सक्रियता से प्रतिफलित होती है इसलिए वह अलगाव, एकाकीपन तथा अजनबीपन का सशक्त साक्षात्कार कर सकता है।

अस्तित्ववाद इस विचार को भी रेखांकित करता है कि मनुष्य अपनी स्वतंत्रता को छोड़ने के लिए स्वतंत्र नहीं। यानी वह स्वतंत्र रहने तथा स्वतंत्र कर्म करने के लिए अभिशप्त है। 'मैन इज़ कंडेमम्ड टू बी फ्री'। इसी कारण कुछ आलोचक कहते हैं कि अस्तित्ववाद भी नियति या पूर्व-निश्चित तत्व से पूर्णतया मुक्त नहीं हो सका क्योंकि इस विचार में यह तथ्य निहित है कि स्वतंत्रता मानव का मूल तत्व है जो अस्तित्व से पूर्व मौजूद है।

अस्तित्ववाद ने हिंदी रचनात्मक साहित्य तथा आलोचना को भी प्रभावित किया है। कविता, कहानी तथा उपन्यास में मनुष्य की विसंगत स्थिति, महानगरों की भीड़ तथा पारिवारिक संबंधों में मनुष्य के अकेलापन, अजनबीपन तथा संत्रास का वर्णन किया गया है। अज्ञेय का उपन्यास **अपने अपने अजनबी**, धर्मवीर भारती का काव्य नाटक **अंधायुग** तथा मोहन राकेश का नाटक **आधे-अधूरे** अस्तित्ववादी चिंतन से प्रभावित कहे जा सकते हैं।

25.3 आधुनिकतावाद

25.3.1 आधुनिकतावाद की परिभाषा

आधुनिकता शब्द का प्रयोग विशेष रूप से एक प्रवृत्ति तथा वर्तमान परिस्थिति के लिए इतना अधिक प्रयुक्त होने लगा है और इतने व्यापक संदर्भों एवं अर्थों में कि इसकी कोई निश्चित और स्पष्ट परिभाषा संभव नहीं है। यदि इसे परिभाषित करने का प्रयत्न किया भी जाएगा तो वह भ्रामक और आंशिक होगा।

आधुनिकता में जो तत्व बताए जाते हैं वे कई अन्य प्रवृत्तियों में भी मौजूद हैं। जो आधुनिकता के पूर्व भी मौजूद थे तथा आधुनिकता के युग के बाद भी मौजूद हैं। इसके इतने विभिन्न रूप हैं कि इसकी व्याख्या तो की जा सकती है परिभाषा नहीं। और न ही इसकी वैचारिक व्यवस्था की जा सकती है। आधुनिकता विशेषण के रूप में अलग-अलग समय में अलग-अलग गुणों (या अवगुणों) के लिए इस्तेमाल की जाती रही है। लेकिन इस शब्द का प्रयोग अधिकतर परंपरा तथा पुरातन रस्मो-रिवाज़ और रूढ़ियों के विरोध में ही किया जाता रहा है। लेकिन **आधुनिकतावाद** एक आंदोलन या प्रवृत्ति के लिए कलात्मक अभिव्यक्तियों - ललित कला, वास्तु कला, नृत्य, संगीत तथा साहित्यिक कृतियों और सिद्धांतों के संदर्भ में प्रयुक्त हुआ है।

इन कठिनाइयों की पृष्ठभूमि में यह आवश्यक हो जाता है कि **आधुनिक** (विशेषण), **आधुनिकीकरण** (सामाजिक प्रक्रिया), **आधुनिकता** (अवधारणा) तथा **आधुनिकतावाद** (प्रवृत्ति या आंदोलन) में भेद किया जाए।

25.3.2 आधुनिक, आधुनिकीकरण, आधुनिकता तथा आधुनिकतावाद

आधुनिक विशेषण के रूप में परंपरा से विद्रोह तथा पुरातन के विपरीत नवीन रुझान के लिए इस्तेमाल होता है। कई बार आधुनिक का प्रयोग **समकालीन** के लिए भी किया जाता है। लेकिन यह सही नहीं है। समकालीनता का संबंध (वर्तमान) समय से है जबकि आधुनिकता का संबंध प्रवृत्तियों, तत्वों, मूल्यों, मानदंडों तथा नयी संवेदनाओं और रूपगत प्रयोगों से है। पश्चिम के अनुकरण और नए-नए फैशनों, जीवन शैलियों तथा विचारों के संदर्भ में भी आधुनिकता शब्द प्रयुक्त होता रहा है। प्रायः ऐसा हुआ है कि औद्योगीकरण, पश्चिमीकरण, पूँजीकरण और आधुनिकीकरण को पर्यायवाची माना गया है।

आधुनिकीकरण शब्द उन समस्त परिवर्तनों तथा प्रक्रियाओं के लिए प्रयोग किया जाता है जो पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के अंतर्गत औद्योगीकरण तथा यंत्रीकरण के कारण प्रकट हुई हैं। लेकिन अन्य आर्थिक व्यवस्थाएँ जैसे कि साम्यवादी देश या कई उत्तर-उपनिवेशवादी देश (जिन्होंने मिली-जुली अर्थव्यवस्था का प्रयोग किया है) आधुनिकीकरण की प्रक्रिया से गुज़र रहे हैं।

इसीलिए आधुनिकीकरण में सामाजिक वर्गों की सीमाओं के मिटने तथा ग्रामीण क्षेत्रों से नगरों और महानगरों की ओर प्रस्थान, सामाजिक गतिशीलता, शिक्षा का प्रसार, ज्ञान-विज्ञान का विस्तार शामिल है। आधुनिकीकरण की इस प्रक्रिया को नगरीकरण तथा नए अभिजात वर्ग (बुर्जुआ) के उदय के रूप में देखा जा सकता है।

आधुनिकता का संबंध आधुनिकीकरण के फलस्वरूप पुरातन तथा परंपरागत विचारों एवं मूल्यों, धार्मिक विश्वासों और रूढ़िगत रीति-रिवाज़ों के विरुद्ध नवीन प्रायः वैज्ञानिक आविष्कारों तथा विचारों, नए मूल्यों और रवैयों से है। आधुनिकता के व्यापक विस्तार में अन्वेषणों और आविष्कारों, समाजशास्त्र, दर्शन तथा मनोविज्ञान में नव-चिंतन (नव-फ्रायडवाद, नव-यथार्थवाद, नव-उपनिवेशवाद) की अहम् भूमिका रही है।

ये हैं वे परिवर्तन जिन्होंने **आधुनिकतावाद** की परवरिश की है। क्योंकि यह सब परिवर्तन नव-चिंतन और तत्व कला और साहित्य में नए प्रयोगों का कारण बने हैं। इसलिए साहित्य और कला में आधुनिकतावाद एक महत्वपूर्ण आंदोलन बन गया। नयी संवेदना, अभिव्यंजना के नए रूपों तथा प्रयोगों का पर्याय बन गया। नया और 'पुनर' उपसर्ग के रूप में इस्तेमाल होने लगे क्योंकि आधुनिकता के प्रभाव के अंतर्गत साहित्य में नई-नई प्रवृत्तियाँ तथा शैलियाँ सामने आने लगीं। इसीलिए साहित्य में केवल आधुनिकतावाद कहने के बजाय **साहित्यिक आधुनिकतावाद** की संज्ञा अधिक उपयुक्त है।

25.3.3 आधुनिकता का देश-काल

आधुनिकता का युग यूरोप में उन्नीसवीं सदी से शुरू होकर बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध तक माना जाता है। फ्रेंक कर्मोड के कथनानुसार आधुनिकता के दो अलग-अलग काल हैं -

1. **पुरो आधुनिकतावाद** जो अपने प्रारंभ से लेकर 1914-20 के वर्षों तक जारी रहा।
2. **नव आधुनिकतावाद** जो इस काल के बाद शुरू हुआ।

लेकिन इस प्रकार का काल-विभाजन प्रत्येक देश के लिए संभव नहीं। काल का निर्धारण बहुत कुछ अलग-अलग देशों के आधुनिकीकरण के चरणों से संबद्ध है। यूरोप तथा अमेरिका के अतिरिक्त अन्य देशों में जिन्हें 'तीसरी दुनिया' की सामूहिक संज्ञा दी गई है यह प्रक्रिया (आधुनिकता और आधुनिकीकरण की प्रक्रिया) बहुत बाद में शुरू हुई।

काल निर्धारण

यद्यपि आधुनिकतावाद साहित्य, कला तथा अन्य सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों के लिए बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में प्रचलित रहा लेकिन तात्विक तौर पर साहित्यिक प्रवृत्तियों का कोई निश्चित आदि या अंत निर्धारित नहीं किया जा सकता। कई प्रवृत्तियाँ एक-दूसरे में एक ही समय में प्रवाहित रहती हैं। उन्हें अपनी पूर्ववर्ती तथा बाद की धाराओं से स्पष्ट तौर पर अलग करके पहचाना नहीं जा सकता।

इसके अतिरिक्त, साहित्य की नई प्रवृत्तियाँ प्रस्फुटन से पूर्व बीज-रूप में अन्य प्रवृत्तियों में मौजूद रहती हैं। वे बाद में आंदोलन की शक्ल ले लेती हैं और आलोचना सिद्धांतों को प्रभावित करती हैं। यही कारण है कि कुछ लेखकों ने तो यह तक कह दिया कि आधुनिकतावाद कोई अलग से साहित्यिक प्रवृत्ति/आंदोलन या सिद्धांत नहीं। यह रोमांटिकवाद का ही विस्तार है।

विभिन्न देशों में लगभग एक काल में ही आधुनिकतावाद प्रचलित रहा। टी.एस.इलियट की काव्य-कृति **द वेस्टलैंड** और जेम्स ज्वायस का उपन्यास **यूलिसेस** 1922 में प्रकाशित हुए। इन कृतियों को साहित्यिक आधुनिकतावाद की मूल कृतियाँ माना जाता है।

वर्जीनिया वुल्फ़ ने यह कहकर साहित्य-जगत को चौंका दिया कि दिसम्बर, 1910 को या उसके आसपास मानव प्रकृति बदल गई। अर्थात् इस नई मानव प्रकृति को प्रस्तुत करते हुए आधुनिकतावाद का युग शुरू हो गया। इस विवाद में न पड़ते हुए हम विभिन्न देशों में आधुनिकता के प्रचलन के समय के बारे में यह कह सकते हैं -

1. फ्रांस : 1890 से 1940 के बीच।
2. जर्मनी : 1890 से 1920 के बीच।
3. रूस 1900 से 1920 के बीच।
4. इंग्लैंड : बीसवीं सदी के प्रारंभिक वर्षों में तथा 1920 से 1930 के बीच।
5. अमेरिका : प्रथम महायुद्ध से कुछ वर्ष पूर्व और युद्ध के दौरान।
6. भारत : 1950 के बाद।

हिंदी में आधुनिकता के उदय को लेकर अनेक प्रकार के मत प्रचलित हैं। पश्चिमी चिंतन से प्रभावित लोग उन्नीसवीं शताब्दी और विशेष रूप से भारतेंदु युग से आधुनिकता का उदय मानते हैं और आधुनिकतावाद का उदय प्रयोगवाद और नयी कविता से जोड़ते हैं। प्रयोगवाद और नयी कविता को कुछ लोग अलग-अलग प्रवृत्तियों के रूप में देखते हैं, किंतु कुछ लोगों का कहना है कि प्रयोगवाद और नयी कविता दो अलग-अलग प्रवृत्तियाँ नहीं बल्कि एक ही प्रवृत्ति का विस्तार हैं। आधुनिकतावाद के उदय के विषय में ज्यादातर लोगों का विश्वास है कि हिंदी में आधुनिकतावाद का जन्म 1940 के आसपास या द्वितीय विश्वयुग के अंत में उत्पन्न नवीन संवेदना और नयी चिंतन दृष्टि के साथ हुआ। यहाँ आप 'आधुनिकता' और 'आधुनिकतावाद' शब्दों के अंतर पर विशेष रूप से ध्यान दें। जब हम कहते हैं कि 'भारतेंदु युग आधुनिकता का प्रवेशद्वार है' तब आधुनिकता से हमारा अर्थ होता है नवीन वैज्ञानिक तर्कयुक्त दृष्टिकोण जो रूढ़िबद्धता के विरोध में खड़ा है और जब आधुनिकतावाद के उदय की बात करते हैं तब आशय विश्वयुद्ध के बाद जन्मी संवेदना और विचार-दृष्टि से होता है।

भारत में आधुनिकतावाद पचास के दशक के आसपास चर्चा का विषय बना जब यूरोप में विक्षुब्ध युवा (एंग्री यंगमैन) और अमेरिका मे बीट्स की कृतियाँ तथा यूरोप के अस्तित्ववादी चिंतन लेखकों - ज्याँ पाल सार्त्र, अल्बेयर कामू, सेम्युल बेकेट तथा यूजीन आयोनेस्को - का प्रभाव हिंदी लेखन तथा आलोचना पर साफ़ दिखाई देने लगा।

25.3.4 आधुनिकतावाद का अंत

इस बारे में कई धारणाएँ हैं कि आधुनिकतावाद अपने चरम बिंदु तक कब पहुँचा और इसका ह्रास कब शुरू हुआ। कुछेक लेखकों की दृष्टि में आधुनिकतावाद एक नवीनता प्रवृत्त आंदोलन के रूप में 1940-1950 के बीच अपनी शक्ति खो चुका था जबकि भारत में इसके बाद प्रभावशाली रूप में प्रकट हुआ।

क्या आधुनिकतावाद का अंत हो गया है? क्या भारत में उत्तर-आधुनिकतावाद का युग शुरू हो चुका है? इसकी चर्चा हम उत्तर-आधुनिकतावाद के संदर्भ में अगले भाग (भाग 25.4) में करेंगे।

25.3.5 आधुनिकतावाद की अवधारणा

आधुनिकतावाद का वैचारिक आधार फ्रेडरिक हेगेल के दर्शन में तलाश किया जा सकता है। हेगेल के बारे में कहा गया है कि वह पुरातनवादियों में अंतिम पुरातनवादी और आधुनिकतावादियों में प्रथम आधुनिकतावादी थे। हेगेल ने इस तथ्य को समझ लिया था कि जब इतिहास की प्रकृति एवं ईश्वर को पृथक कर दिया गया है तो धर्म, आधिभौतिकता, नैतिकता, विधि तथा प्रकृति से परे जाने की मनुष्य की तीव्र इच्छा उसका विशेष गुण बन जाती है। आधुनिकतावाद में अर्थ एवं उद्देश्य की तलाश प्रकृति या धर्म की अपेक्षा इतिहास में होने लगी। मानव इतिहास को (जिसे इतिहास पर हावी कर दिया गया है) बुद्धि-प्रेरित समझा जाने लगा, न कि किसी दैवी-शक्ति का चमत्कार। इस प्रकार, आधुनिकतावाद **बुद्धिवाद, विज्ञान** तथा **विकास** का पर्याय बन गया।

25.3.6 आधुनिकतावाद के मूल तत्व

इस पृष्ठभूमि में अब हम यह देखेंगे कि आधुनिकतावाद के मूल तत्व क्या हैं?

1. **मानव प्रकृति** : आधुनिकतावाद के अनुसार कोई मूल या आदिम मानव प्रवृत्ति नहीं और न ही कोई प्राकृतिक व्यवस्था है।

2. **व्यक्ति प्रमुखता** : समाज एक संरचना है जिसमें मूल प्रमुख इकाई व्यक्ति है। आधुनिकतावाद सामाजिक समस्याओं के बजाय व्यक्ति के स्वरूप तथा आत्म-बोध को प्रमुख मानता है। इस तथ्य की ओर संकेत करना आवश्यक है कि मार्क्सवाद में व्यक्ति समाज में लुप्त हो जाता है। और अस्तित्ववाद में निरर्थकता तथा निस्सारता में भटकने लगता है।

3. **वैयक्तिकता का प्रभुत्व** : प्रत्येक वस्तु, विचार तथा संरचना पर व्यक्ति की वैयक्तिकता की छाप अंकित है। आत्म केंद्र में है। बाह्य जगत या वस्तुएँ या तो मनुष्य की मनोस्थितियों की अभिव्यक्ति हैं या मात्र उसका प्रतीक है।

4. **संशय** : आधुनिकतावाद प्रत्येक विश्वास और विचार को संशय की दृष्टि से देखता है। इसी कारण उसमें अनास्था का स्वर मुखर है।

5. **मूल्यहीनता** : आधुनिकतावाद मूल्यों की स्थिरता में विश्वास नहीं रखता मूल्य न केवल अनावश्यक तथा अर्थहीन हैं बल्कि हानिकर भी हैं। मूल्यों का संकट इस हम तक गहरा हो

गया है कि लेखक किसी प्रकार की **प्रतिबद्धता या लेखकीय दायित्व को स्वीकार नहीं करता।**

6. **तात्कालिकता** : आधुनिकतावाद **अतीत से विमुख होकर वर्तमान** में शरण लेता है। वह स्थायी अनुभवों की अपेक्षा क्षणिक अनुभवों की अभिव्यक्ति करता है। अतः मनुष्य के अनुभव क्षणिक तथा विखंडित होते हैं।

7. **व्यवस्था विरोध** : आधुनिकतावाद धर्म, प्रकृति, परंपरा, नैतिकता, प्रतिबद्धता, आस्था, मूल्यों तथा प्रत्येक प्रचलित विचार तथा वस्तु-स्थिति और व्यवस्था को चुनौती देता है। वह आधिभौतिकतावाद, रोमांटिकवाद यहाँ तक कि यथार्थवाद का भी विरोध करता है। **विद्रोह** उसका मूल स्वर है।

8. **दमन के विरुद्ध** : आधुनिकतावाद हर प्रकार के सामाजिक, नैतिक, वैचारिक तथा यौन दमन के विरुद्ध है।

25.3.7 साहित्यिक आधुनिकतावाद

- आधुनिकतावाद के प्रभाव के **अंतर्गत विशुद्ध** तथा **अमूर्त** कला एवं साहित्य का सृजन होने लगा जिसका संबंध बाह्य जगत या यथार्थ से नहीं।
- साहित्य का कोई **सामाजिक प्रयोजन नहीं।** इसी कारण साहित्य मूल्यों तथा उद्देश्यों से पृथक होकर विकसित होने लगा।
- यदि कोई मूल्य या उद्देश्य है तो वह **प्रयोग** में है।
- यही कारण है कि आधुनिकतावादी साहित्य कला की **उपयोगिता को स्वीकार नहीं करता** और वह **रूपवाद** की ओर झुकता है।
- साहित्य का बाह्य जगत या **आम आदमी से कोई संबंध नहीं।** साहित्य जन-रुचि के अनुकूल नहीं रचा जाता। साहित्य **आम पाठक के लिए उपयोगी नहीं।** और न ही वह सामान्य पाठक या जन के प्रति उत्तरदायी है।
- साहित्यिक आधुनिकतावाद में लेखक और पाठक का संबंध विच्छेद हो गया।
- साहित्य का अपना स्वायत्त **संसार** है। यह संसार अपने में **परिपूर्ण** है।
- आधुनिकतावादी साहित्य परंपरा तथा शास्त्रीय नियमों के पालन के बजाय **प्रयोग** तथा **नवीनता** को तरजीह देता है।
- नवीन से **नवीनतर** सृजन करने की तीव्र इच्छा के कारण प्रयोग अपने में ध्येय और मूल्य बन जाता है। प्रति-क्षण नया होने, कुछ अपूर्व, विलक्षण या अद्वितीय प्रस्तुत करने पर विशेष ध्यान दिया जाता है।
- रूप, शिल्प तथा शैली के नित-नए प्रयोग साहित्यिक आधुनिकतावाद की विशिष्टता है। नयी भाषा, नयी संरचना, शब्दावली, पुराने प्रचलित शब्दों का नया अर्थ, नयी साहित्यिक पदावली की झलक ऐसे साहित्य की पहचान बन गई। सुप्रसिद्ध आधुनिकतावादी कवि ऐज़रा पाऊंड ने तो यह तक कह दिया कि अच्छी कविता कभी भी बीस वर्ष पुरानी शैली में नहीं लिखी जा सकती।
- कई बार ऐसा लगता है कि कई आधुनिकतावादी लेखक चौंकाने या **सनसनी फैलाने** के लिए या उत्तेजना, आघात और आतंक का प्रभाव उत्पन्न करने के लिए ही भाषा और शैली में नए परिवर्तन लाते हैं।
- साहित्यिक कृति में अन्विति, **सुसंबंधता या युक्तिसंगत व्यवस्था आवश्यक नहीं।**
- साहित्य का शास्त्रीय सौंदर्य-बोध **संदिग्ध हो गया।** कुछ कृतियों में वीभत्स का चित्रण (द कल्ट ऑफ अगलीनेस) अनिवार्य समझा जाने लगा।
- साहित्यिक कृतियों को पूर्णता की दृष्टि से नहीं टुकड़ों-टुकड़ों में **विभाजित संदर्भ** में देखने की आवश्यकता है।
- मनुष्य के **अनुभवों** में जो अराजकता है आधुनिक साहित्य उसे ही प्रस्तुत करता है।

- मनुष्य अपने सामाजिक परिवेश, परिवार तथा वर्तमान परिस्थिति से **बेज़ारी**, **बेगानगी** तथा **अलगाव** अनुभव करता है। व्यक्ति भीड़ में भी अकेला है। एकाकीपन और अलगाव आधुनिकतावादी साहित्यिक कृतियों का मुख्य सरोकार हैं।
- मनुष्य अपनी पहचान खो चुका है। वह तनहा, गुमशुदा बेचेहरा, बेनाम, बेसहारा, **स्वत्व की तलाश** में भटक रहा है।
- मनुष्य **ग्रंथियों तथा विकृतियों से ग्रस्त** है। उसके अंतर्मन में **प्रवेश** करके ही साहित्य में इसकी अभिव्यक्ति की जा सकती है।
- कथा-पात्रों में जो परिवर्तन आया है उसके कारण सामान्य व्यक्ति के बजाय **प्रतिनायक** (ऐंटी हीरो) साहित्य में प्रतिष्ठित हो गया है।
- आधुनिकतावाद **वस्तु यथार्थ की अपेक्षा अनुभव की प्रामाणिकता** पर बल देता है।
- **विचारधारा** के विपरीत, मनुष्य के अनुभवों की **समस्यापरक** प्रवृत्ति को स्थापित करता है।
- आधुनिकतावाद **प्रकृतिवाद के** विपरीत व्यक्ति की जटिल मानसिकता, अंतर्निहित प्रेरिकाओं और **अछूती संवेदनाओं को** प्रस्तुत करता है।
- वह व्यक्ति की **विषम परिस्थिति** तथा नैतिक **द्विविधा** को वैचारिक पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर देखने पर बल देता है।
- आधुनिकतावाद वस्तु/**यथार्थ-बोध** के बजाय आत्म-बोध **या स्वत्व-बोध** में विश्वास रखता है। इसलिए मनुष्य के अंतर्गत **में सत्य का अन्वेषण** करता है।
- साहित्य की प्रामाणिकता अनुभूति में निहित है न कि बाह्य वस्तु-स्थिति में।
- कतिपय आधुनिकतावादी लेखक आदिम मानव की प्रवृत्तियों को प्रस्तुत करके और समाज, संस्कृति, धर्म तथा नैतिक मूल्यों का उपहास करके ही आधुनिकतावाद का प्रमाण देते हैं। तात्कालिक क्षणिक अनुभव को ही प्रामाणिक माना जाता है।
- मनुष्य की गति आत्म की खोज में है। सब कुछ आत्म का, आत्म द्वारा, आत्म के लिए है। अब मनुष्य की यात्रा बाह्य जगत में न होकर अंतस में होती है।
- **सत्यता के बजाए ईमानदारी** और स्थिर यथार्थ के बजाय गतिशील मानव चेतना को महत्व दिया जाता है।
- आधुनिकतावाद **निश्चितता**, **पूर्णता**, स्थिर और शाश्वत के बजाय **सापेक्षता में विश्वास** रखता है।
- इस प्रवृत्ति को कुछ लेखक **शून्यवाद** का ही एक रूप मानते हैं क्योंकि इसमें मनुष्य से संबंध-विच्छेद होने के कारण साहित्य सामाजिक सरोकारों से दूर हो गया।
- आधुनिकतावाद से पूर्व केंद्र में उत्तर थे। लेकिन इसमें केंद्र में **प्रश्न** हैं। प्रश्नों की बहुलता है। आवश्यक नहीं **इन** प्रश्नों के उत्तर मौजूद हों जिन्हें सही माना जाता है। प्रश्नों को बार-बार और हर बार नए अंदाज़ में उठाया जाता है।

इस प्रकार आधुनिकतावाद की विशेषताओं की लंबी सूची तैयार की जा सकती है। इरिविंग हो के कथनानुसार, 'सामान्य नैतिकता कृत्रिम है, रुचि भ्रामक और परंपरा एक ज़ंजीर है।'

यह एक विचित्र विरोधाभास है कि आधुनिकतावाद को सफल होने के लिए निरंतर प्रयास करते रहना पड़ता है। तभी वह नवीन से नवीनतम प्रयोग कर सकता है। लेकिन जिस समय वह सफल हो जाएगा वह आधुनिकतावाद नहीं रह जाएगा। क्योंकि प्रयोग समाप्त हो जाएगा। वह पुरातन पड़ जाएगा। अर्थात् आधुनिकता को सफल न होने के लिए अनवरत संघर्षरत् रहना पड़ता है। इसी में उसकी नवीनता है।

25.3.8 अवांगार्द और अन्य प्रवृत्तियाँ

आधुनिकतावादी लेखक नए साहित्य के **अग्रिम दस्ता (अवांगार्द)** में शामिल हैं। साहित्य में अग्रिम दस्ता के लेखक पुरातन, परंपरावादी, रूढ़िग्रस्त तथा व्यवस्थित मान्यताओं और शैलियों का खंडन करते हुए

नवीनता का प्रयोग करते हैं। नए मार्ग पर चलना नए का अन्वेषण, नए प्रयोग करना और अपने समय से आगे का चिंतन जोकि आधुनिकतावादी रवैये हैं इसे अग्रिम दस्ता का सदस्य बना देते हैं।

आधुनिकतावादी साहित्यिक आंदोलन के अंतर्गत प्रतीकवाद, बिंबवाद, दादावाद, अतियथार्थवाद, भविष्यवाद, अंतश्चेतनावाद शामिल हैं। नया उपन्यास या प्रति-उपन्यास (न्यू नॉवेल या ऐंटी नॉवेल, नूवियो रोमन) के प्रयोग भी आधुनिकतावाद से प्रभावित हैं।

25.3.9 मूल्यांकन

आधुनिकतावाद में दुरूहता तथा पाठकीय अवहेलना के कारण इसका रचना विधान जटिल और अपरिचित लगने लगता है। पाठक को सम्प्रेषण की कमी की शिकायत रहती है। परिणामस्वरूप वह अर्थ-बोध तथा सौंदर्य-बोध से वंचित रह जाता है। पाठक उद्विग्न तो होता है लेकिन उसका रचना बोध अतृप्त रहता है।

कई बार आधुनिकतावादी रचनाएँ पहेली-सी दिखाई देने लगती हैं। चौंकाने की प्रवृत्ति 'प्रयोग प्रयोग के लिए' की मिसाल बन जाती है।

प्रगतिशील तथा जनवादी आलोचकों की दृष्टि में आधुनिकतावाद मरणासन्न पूँजीवादी चिंतन और ह्रासोन्मुख रवैयों और रुग्ण मानसिकता की अभिव्यक्ति हैं। डेनयल बेल के अनुसार एक बार जब फैशन हावी हो जाता है तो जो कभी चौंकाने वाला या परेशान करने वाला समझा जाता था मृत तथा विनाशकारी हो जाता है।

जानी वोतीयो ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'द एंड ऑफ मॉडर्निटी' में लिखा है - 'वर्तमान प्रौद्योगिक सभ्यता-जनित अलगाव की स्थिति से निपटने के लिए दर्शन अक्षम रहा है। आधुनिक सभ्यता में ऐसे परिवर्तन प्रकट हुए हैं कि मरुस्थल फैलता जा रहा है। समकालीन चिंतन को इसपर बहस करनी चाहिए और इसपर विचार करना चाहिए कि कैसे आधुनिकता के अंत पर दर्शन मानव अस्तित्व की रचनात्मक दृष्टि को बहाल करने और आवश्यकता पड़े तो उसे बदलने में अपनी भूमिका निभा सकता है।'

25.3.10 समाहार

संक्षेप में यदि हम यह जानना चाहें कि आधुनिकतावाद ने किन-किन विचार-बिंदुओं के स्थान पर नए तत्वों पर बल दिया है तो चित्र कुछ इस प्रकार का होगा -

- पूर्व आधुनिकतावाद के बजाय आधुनिकतावाद

व्यक्ति और समाज

- आदिम मानव प्रकृति के बजाय गतिशील मानव प्रवृत्तियाँ
- समाज/समूह के बजाय व्यक्ति
- सामूहिकता के बजाय वैयक्तिकता
- बिरादरी के बजाय अजनबीपन
- भीड़ के बजाय एकाकीपन

मूल्य एवं परंपरा

- परंपरा के बजाय प्रयोग
- अतीत के बजाय वर्तमान
- मूल्य के बजाय मूल्यहीनता या सापेक्षता

विचारधारा और प्रतिबद्धता

- विचारधारा के बजाय स्वच्छंदता (मोहभंग)
- प्रतिबद्धता के बजाय निष्पक्षता
- दायित्व के बजाय दायित्वहीनता
- आदर्श के बजाय अनुभव

विद्रोह

- यथार्थस्थिति के बजाय परिवर्तन
- दमन के बजाय विद्रोह
- व्यवस्था के बजाय स्वत्व
- स्वीकृति के बजाय निषेध

नियतिवाद

- निश्चितता के बजाय अनिश्चितता
- स्थिरता के बजाय क्षणिकता
- नियतिवाद के बजाय स्वैच्छिक वरण

स्वत्व

- वस्तु-यथार्थ के बजाय आत्म-निष्ठ यथार्थ
- 'स्वस्थ' मानसिकता के बजाय मनोग्रंथियाँ

प्रयोजन

- प्रयोजन के बजाय विशुद्ध कला
- उपयोगितावाद के बजाय रूपवाद
- साहित्य साधन के बजाय साहित्य स्वायत्तता
- पाठक केंद्रीयता के बजाय लेखकीय प्राथमिकता

प्रयोगवाद

- परंपरा के बजाय प्रयोग
- प्राचीन के बजाय नवीन
- सत्यता के बजाय प्रामाणिकता
- संपूर्णता के बजाय विभक्त
- संप्रेषणीयता के बजाय दुरूहता
- सरल के बजाय जटिल
- उत्तर के बजाय प्रश्न
- आस्था के बजाय संशय
- ग्रामीण के बजाय नगर बोध

हिंदी साहित्य में आधुनिकतावाद को कई विभिन्न रूपों में प्रस्तुत किया गया है - नयी कहानी, अकहानी, संचेतन कहानी, नयी कविता, अकविता, नया उपन्यास आदि आदि।

25.4 उत्तर-आधुनिकतावाद

25.4.1 उत्तर-आधुनिकतावाद से तात्पर्य

बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में समाज, संस्कृति, अर्थव्यवस्था, राजनीति तथा कला, संगीत, वास्तुशास्त्र, साहित्य और चिंतन में जो परिवर्तन आए हैं, उत्तर-आधुनिकतावाद उनको परिलक्षित करने वाला एक व्यापक लेकिन विवादास्पद पारिभाषिक शब्द है।

क्या उत्तर-आधुनिकतावाद एक मनोदशा है या माहौल? प्रवृत्ति है या परिदृश्य? फैशन, फ़ैड या फ़्रीक? विचार है या विभ्रम? विद्रोह है या दमितों-दलितों, नारियों, अल्पसंख्यकों के मुक्ति संघर्ष का नवदर्शन? आंदोलन है या महज़ एक अफवाह?

'उत्तर-आधुनिकतावाद' शब्द कई भिन्न अर्थों में इस्तेमाल होता चला आ रहा है। यह वर्तमान समय की विचारधारा है। मूड है। एक ऐतिहासिक युग है। सांस्कृतिक कला वस्तु है। सामाजिक अनुलक्षण है। यह सैद्धांतिक संवाद, पारिभाषिक परिचर्चा या वर्तमान वृत्तांत है। क्या यह एक नकारात्मक रवैया है जो आधुनिकतावाद के विरुद्ध उभरकर सामने आया है और उसकी समस्त संपदा-चिंतन, दर्शन, विचारधारा, व्यवस्था, साहित्य, सभ्यता और मूल्यों को चुनौती दे रहा है?

यह एक ऐसा समय है जिसमें सब कुछ 'उत्तर' हो चुका है या उसके अंत का ऐलान कर दिया गया है।

25.4.2 पृष्ठभूमि और देशकाल

जब हम उत्तर-आधुनिकतावाद के मूल तत्वों का अध्ययन करेंगे तो हमें यह ज्ञात होगा कि उत्तर-आधुनिकतावाद साठ के दशक के उन मुक्ति आंदोलनों से निकला है जिन्होंने व्यक्ति तथा व्यवस्था, अल्प-समूह तथा बृहत समाज, विचारों तथा विसंगतियों, मूल्यों तथा विधि-विधान, विचारधाराओं, नीतियों, राजनीति, राष्ट्रीयता आदि पर प्रश्न-चिह्न लगा दिए। नारी मुक्ति, अश्वेत रोष, शांति मार्च,

युवा विद्रोह, **यौन क्रांति** और न जाने कितने छोटे-मोटे आंदोलनों ने विभेदों और केंद्रीयता के चक्रव्यूह को तोड़कर समाज तथा संस्कृति को विभिन्न विभाजित स्वायत्त संरचनाओं और इकाइयों में बदल दिया।

1968 एक ऐसा वर्ष था जो उत्तर-आधुनिकता की परवरिश में बहुत ही महत्वपूर्ण था। इसी वर्ष फ्रांस में छात्र विद्रोह हुआ और वर्ग संघर्ष के बजाय युवा-वर्ग व्यवस्था के विरुद्ध संघर्ष का अग्रिम दस्ता बन गया। इसी वर्ष **रोलां बार्थ** की पुस्तक 'द डैथ ऑफ द ऑथर' प्रकाशित हुई। इसी वर्ष **फ्रेंक कर्मोड** ने वर्तमान युग को 'अंत के अहसास' का युग कहा। इसी वर्ष ऐसी तकनीकी क्रांति हुई जिसने जनसंचार की अदृश्य केंद्रीय व्यवस्था को विकेंद्रित कर दिया। इससे एक वर्ष पूर्व **ज़ाक दरिदा** ने विखंडनवाद (डिकन्स्ट्रक्शन) का सिद्धांत प्रस्तुत किया।

इस प्रकार, मुक्ति आंदोलनों, पार्टेबल विडियो, रिकॉर्डर-प्लेयर कैमरा, कंप्यूटर टैक्नोलॉजी, सूचना विस्फोट तथा विखंडनवान आदि ने मिलकर जो नया परिदृश्य निर्मित किया उसे उत्तर-आधुनिकतावाद की संज्ञा दी गई है।

कहा जाता है कि उत्तर-आधुनिकतावाद की प्रवृत्ति 1880 से ही चित्रकला में प्रदर्शित होती चली आ रही है। 1940 से वास्तु-कला में इसका प्रभाव बढ़ना शुरू हो गया। **आर्नल्ड टायनबी** के अनुसार 1925 के लगभग यूरोपीय संस्कृति में उत्तर-आधुनिकतावाद का दौर शुरू हो चुका था। 1915 में **रोडल्फ़ पॉमनविज़** उत्तर-आधुनिकतावाद का उल्लेख 'यूरोपीय शून्यवाद की रेडिकल क्रांति के महान पतन' के प्रसंग में कर चुके थे। **इहाब हसन** उत्तर-आधुनिकता के प्रकट होने का समय 1920 के आसपास बताते हैं।

बहरहाल उत्तर-आधुनिकतावाद जिसे **जर्मनी में नीत्शे, हसरल और हाइडेगर से शुरु** हुआ बताया जाता है, **फ्रांस में ज़ां-फ्रांस्वा लियोतार, मिशल फ़ूको, रोलां बार्थ, ज़ां बोद्रीला और ज़ाक दरिदा** से होते हुए, पाल द मान के साथ सफर करता हुआ अमेरिका के विश्वविद्यालयों में प्रवेश कर गया। और फिर अमेरिकी चिंतकों की व्याख्याओं के हवाले से भारत में भी इसकी अनुगूँज सुनाई देने लगी। हिंदी साहित्य में अस्सी के दशक से इसकी चर्चा होनी शुरू हो गई और यह चर्चा सदी के अंतिम दशक में साहित्यिक विमर्श का केंद्र बन गई।

25.4.3 उत्तर-आधुनिकतावाद का विस्तार

नब्बे के दशक तक पहुँचते-पहुँचते उत्तर-आधुनिकता का प्रभाव-क्षेत्र इतना विस्तृत हो गया कि यह कला, साहित्य, संस्कृति, राजनीति तथा समाजशास्त्र के विमर्श के केंद्र में आ गया।

उत्तर-आधुनिकता के प्रभाव-क्षेत्र का अनुमान इससे भी लगाया जा सकता है कि फ़िल्म से लेकर फ़ैशन तक, विचार से लेकर विज्ञापन तक, कल्चर से लेकर कॉमिक्स तक, इतिहास, दर्शन, कला, साहित्य, मीडिया सब उत्तर-आधुनिकतावाद से प्रभावित हुए हैं।

25.4.4 उत्तर-आधुनिकतावाद की अवधारणा

- उत्तर-आधुनिकतावाद **बहुलतावाद** अथवा **बहु-संस्कृतिवाद** पर आधारित है।
- उत्तर-आधुनिकतावाद **केंद्रीयता** की अपेक्षा **क्षेत्रीयता/स्थानीयता** पर बल देता है।
- उत्तर-आधुनिकतावाद **एकीकृत** के बजाय **विभिन्नता या अन्यता** को मूल प्रश्न मानता है।

परिणामस्वरूप विरोधी विचार, हाशिये पर स्थित लोग, परिधि पर स्थित जातियाँ - अश्वेत, दलित जनजातियाँ, मूलवंशी समूह, नारी वर्ग, समलैंगिक स्त्री-पुरुष, हर प्रकार के विपथगामी लोग जिनकी पहचान या आवाज़ नहीं थी और जिन्हें सत्ता की भागीदारी, समाज में सक्रियता तथा सांस्कृतिक संवाद के दायरे से बाहर रखा या समझा गया था, अब वर्चस्व के संघर्ष के नए समूह बनकर उभरने लगे।

इन मुद्दों को लेकर भारत की राजनीति, संस्कृतियों तथा साहित्यों में जो हो रहा है वह उत्तर-आधुनिकता की अवधारणा के अनुकूल ही प्रतीत होता है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि उत्तर-आधुनिकतावाद ने इतिहास को **क्रमिक के बजाय अवरुद्ध, रैखिक के बजाय वर्तुल, संयुक्त के बजाय विभाजित, एक के बजाय अनेक, केंद्रित के बजाय विकेंद्रित घोषित कर दिया।**

25.4.5 उत्तर-आधुनिकतावाद के मूल तत्व

यहाँ उन मूल तत्वों का उल्लेख किया गया है जिनपर उत्तर-आधुनिकतावाद की विचार-प्रणाली आधारित है।

- **विकेंद्रीयता** : उत्तर-आधुनिकतावाद केंद्र से परिधि की ओर यात्रा करता है। समाज के विभिन्न समूह जो हाशिये पर हैं या जिन्हें हाशिये पर धकेल दिया गया है वे अब महत्वपूर्ण हो गए हैं।

- **स्थानीयता** : विकेंद्रीयता का प्रश्न स्थनीयता से सम्पृक्त है। उत्तर-आधुनिकतावाद वैचारिकता तथा राष्ट्रीयता के बजाय क्षेत्रीयता तथा स्थनीयता पर अधिक बल देता है।

- **प्रभुत्व का संघर्ष** : इसी महत्व के कारण विभिन्न समूहों में प्रभुत्व के लिए संघर्ष शुरू हो गया है।

- **विकेंद्रित केंद्र** : प्रभुत्व के इस संघर्ष का परिणाम यह हुआ है कि पुराने एकीकृत केंद्रों के बजाय नए-नए समीकरण वजूद में आ रहे हैं। ये समीकरण भी निरंतर बदलते रहते हैं।

- **विभिन्नता** : विभिन्नता तथा विकेंद्रीयता का क्रियात्मक संबंध है। ये दोनों एक-दूसरे पर आश्रित हैं तथा एक-दूसरे को सुदृढ़ करती हैं। उत्तर-आधुनिकताबाद इस बात पर बल देता है कि लोगों का एक समूह प्रायः दूसरे समूहों से अपनी मूल संरचनाओं (संस्कृति/संवेदना, रीति-रिवाज, परंपरा, भाषा, विश्वास आदि) के कारण भिन्न तथा अलग होता है।

- **हम और वे** : इससे हम और अन्य में भेद किया जा सकता है। हम और अन्य का संघर्ष अनिवार्य है।

- **अस्मिता/स्वत्व/पहचान** : यह संघर्ष स्वत्व तथा पहचान की समस्याओं को जन्म देता है। भिन्नता, अस्मिता तथा अन्यता इस तथ्य की ओर संकेत करते हैं कि वे लोग जिनके हित तथा विचार एक-दूसरे से टकराते हैं वे यह महसूस करते हैं कि कोई ऐसा सर्वमान्य व्यापक मुद्दा नहीं जिसक लिए सब एकमत हों। इसी से **स्वायत्तता** का प्रश्न भी जुड़ा है।

- **युगल विपरीतता** : उत्तर-आधुनिकता का यह मूल तत्व समझा जाना चाहिए। युगल विपरीतता का तात्पर्य यह है कि दो विपरीत समूह एक-दूसरे से इस प्रकार जुड़े होते हैं कि इन्हें बिल्कुल अलग कर देना संभव नहीं। लेकिन इस जुड़ाव में एक समूह का दूसरे समूह पर वर्चस्व स्थापित होता है। जैसा कि स्त्री/पुरुष। इसमें स्त्री पर पुरुष का वर्चस्व है। अतः इस असमानता को समाप्त करना आवश्यक है।

- **कर्ता का अंत** : उत्तर-आधुनिकतावाद कर्ता (सब्जेक्ट) के केंद्रीय स्थान या महत्व को स्वीकार नहीं करता। अर्थात् अब मानव या मानव संवेदना का कोई अर्थ नहीं रह गया। मिशल फूको के शब्दों में 'सागर के किनारे रेत पर बनाए गए चेहरे की भाँति मनुष्य का निशान मिट जाएगा।'

- **चिह्नवाद** :उत्तर-आधुनिकतावाद यथार्थ की नई परिभाषा प्रस्तुत करता है। इसकी दृष्टि में कोई वास्तविक संसार नहीं। यथार्थ एक सामाजिक अवधारणा है। एक प्रतिबिंब है। एक विभ्रम है जिसकी सत्यता को प्रमाणित नहीं किया जा सकता, क्योंकि संसार एक ऐसा रंगमंच है जिसमें प्रत्येक वस्तु एवं विचार 'इमेज्ड, मैनेज्ड तथा मैनीप्यूलेटेड' है। हम वास्तविकता को कृत्रिमता अर्थात् चिह्नों तथा प्रतिबिंबों द्वारा ही जानते हैं। मार्शल ब्लावस्की के शब्दों में 'हम आकृतियों की दुनिया में जीने के लिए विवश हैं। हम यह भूल गए हैं कि कभी कोई वास्तविक आकाश भी था। वास्तविक आहार था। कभी कोई भी वास्तविक वस्तु थी।'

- **लोकप्रिय संस्कृति** : उत्तर-आधुनिकतावाद लोकप्रिय संस्कृति का समर्थन करता है। यह अभिजात्य कला को सामान्य कला से श्रेष्ठ स्वीकार नहीं करता। दरअसल उत्तर-आधुनिकतावाद 'हाई आर्ट' और 'लो आर्ट' में कोई भेद नहीं करता।

- **अंतर्विषयीय (Interdisciplinary) चिंतन** : उत्तर-आधुनिकतावाद ज्ञान-विज्ञान और कला की सीमा रेखाओं को स्वीकार नहीं करता। दो या अधिक शास्त्र मिलकर नए-नए शास्त्रों को जन्म दे रहे हैं। फ़िल्म, फ़ोटोग्राफी, फ़ैशन, कथा साहित्य, कॉमिक्स, कंप्यूटर ग्राफिक्स, चित्रकला, सूचना, संगीत, रंगमंच, भाषा, वेशभूषा, विज्ञापन, इलैक्ट्रॉनिक सम्प्रेषण अर्थात् प्रत्येक कलात्मक एवं सौंदर्यात्मक अभिव्यंजना, जीवन का प्रत्येक क्षेत्र और समाज की हरेक वस्तु, विचार की हरेक धारा एक-दूसरे में घुल-मिल रही हैं। पद्य गद्यात्मक हो रहा है और गद्य काव्यात्मक। कथा साहित्य को इतिहास लेखन और इतिहास को फ़िक्शन का ही एक फ़ार्म कहा जा रहा है।

- **अंतवाद** :उत्तर-आधुनिकतावाद को अंतवाद की संज्ञा भी दी गई है। क्योंकि इसमें प्रत्येक विचार, वस्तु तथा कला अभिव्यक्ति के अंत की घोषणा कर दी गई है। इसमें ईश्वर का निधन, मनुष्य (कर्ता) की मृत्यु इतिहास का अंत, विचारधारा का अंत, आधुनिकता का अंत, कला और साहित्य तथा लेखक का अवसान शामिल हैं।

- **पूर्णतावाद का विरोध** : उत्तर-आधुनिकतावाद किसी प्रकार के पूर्णतावाद में विश्वास नहीं रखता। इसके अनुसार कुछ भी शाश्वत्, संर्पूण, अंतिम तथा स्थिर और स्थायी नहीं। सब कुछ अनिश्चित और क्षणिक है। यहाँ तक कि शब्दों के कोई स्थायी अथवा निश्चित अर्थ नहीं होते।

यदि हम उत्तर-आधुनिकतावाद के मूल तत्वों को संश्लिष्ट दृष्टि से देखें तो यह निष्कर्ष निकलता है कि उत्तर-आधुनिकतावाद परा-भौतिकवाद तथा इतिहास की प्रचलित प्रविधियों एवं बुद्धिवाद के विरुद्ध एक ऐसी सोच है जिसने वर्तमान युग को अत्यधिक प्रभावित किया है। उत्तर-आधुनिकतावाद के अनुसार इस सोच के पीछे 'श्वेत पुरुष प्रधान यूरोप केंद्रित अभिजात्य शोविनिज्म की दृष्टि है।'

हमें केंद्र से परिधि की ओर रूख करने की आवश्यकता है क्योंकि कोई निश्चित या स्थायी केंद्र नहीं। अतः विकेंद्रीयता एक महत्वपूर्ण बौद्धिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन है।

अब कोई महान आख्यान (मेटा नैरेटिव) नहीं। आज आवश्यकता स्थायी/क्षेत्रीय आख्यानों की है जिनपर किसी विश्व-व्यापी निरपेक्ष सिद्धांत को लागू नहीं किया जा सकता।

इस प्रकार अल्पसंख्यकीय एवं भिन्नता उत्तर-आधुनिकतावाद के आधार-स्तंभ बन गए।

25.4.6 आधुनिकतावाद बनाम उत्तर-आधुनिकता

यह प्रश्न बार-बार उठाया जाता है कि क्या आधुनिकता का युग समाप्त हो चुका है और उत्तर-आधुनिकता इसका अगला चरण है। कुछ लोग यह स्वीकार करते हैं कि उत्तर-आधुनिकता अन्य माध्यमों से आधुनिकता का ही विस्तार या इसकी परिपूर्ति है।

उत्तर-आधुनिकता केंद्रीय वर्चस्व के विपरीत स्थानीयता तथा भेदों पर बल देती है जबकि आधुनिकता सार्वभौमिकता तथा एकरूपता पर आधारित है।

आधुनिकता में पुनःनिर्माण, पुनःस्थापन आदि और उत्तर-आधुनिकता में वि-रचना, विकेंद्रीयकरण आदि शब्द प्रचलित हैं।

उत्तर-आधुनिकता के सुप्रसिद्ध प्रवर्तक **ज़्याँ फ्रांस्वाँ लियोतार** के कथनानुसार उत्तर-आधुनिकतावाद एक नया युग नहीं। वह आधुनिकता की विशेषताओं को दोबारा लिख रही है। उन्होंने यह भी कहा कि सांस्कृतिक इतिहास में काल का कोई भी भेद 'पूर्व' या 'उत्तर' की परिभाषा में अर्थहीन है।

उत्तर-आधुनिकता आधुनिकता का अंत नहीं बल्कि यह उसके भीतर हमेशा से प्रस्फुटित होने की अवस्था में मौजूद है और यह अवस्था निरंतर जारी है।

लेकिन इनमें विचारों का भेद नज़रअंदाज नहीं किया जा सकता। आधुनिकतावाद तथा उत्तर-आधुनिकतावाद न केवल दो अलग-अलग काल-खंडों का प्रतिनिधित्व करते हैं बल्कि दो भिन्न शैलियों, सांस्कृतिक तथा सौंदर्यात्मक बोध और विमर्श पर आधारित हैं।

उत्तर-आधुनिकतावाद आधुनिकता के टेक्नो-वैज्ञानिक रैखिक विकास, अनवरत प्रगति तथा क्षैतिज इतिहास, सार्वभौमिकता और अमूर्तता के मुकाबले में इस बात पर बल देता है कि प्रायः लोगों का एक समूह दूसरे समूहों से अपनी मूल संरचनाओं में भिन्न होता है।

25.4.7 साहित्य में उत्तर-आधुनिकतावाद

उत्तर-आधुनिकतावाद का साहित्य-चिंतन तथा सिद्धांत पर गहरा प्रभाव पड़ा है। उत्तर-आधुनिकता की दृष्टि में कोई भी सार्विक (सार्वभौमिक, शाश्वत) समीक्षा पद्धति न केवल वैचारिक दमन बल्कि सौंदर्यात्मक आतंक को भी जन्म देती है। यह सार्वभौमिकता मार्क्सवादी भौतिक/वर्गीय सिद्धांत की हो या विश्वजनीन मानववाद की या फ्रायडीय अवचेतन तथा यौन दमन की। ये सब साहित्य के महान आख्यान (मेटा नैरेटिव) तथा सर्वव्यापी आलोचना सिद्धांत का स्रोत हैं।

अब हम यह देखेंगे कि उत्तर-आधुनिकता ने किस प्रकार साहित्य सिद्धांतों को प्रभावित किया।

- उत्तर-आधुनिकतावाद किसी सर्वव्यापी शाश्वत मूल्यांकन के प्रतिमान को स्वीकार नहीं करता। क्योंकि यह प्रतिमान अभिजात्य वर्ग द्वारा निर्मित किए गए हैं इसलिए इनमें उन अल्प-समूहों के साहित्य को नज़रअंदाज़ किया गया है जोकि सामाजिक परिधि पर हैं। अर्थात् प्रत्येक साहित्य के लिए अलग-अलग सौंदर्यशास्त्र की आवश्यकता है।

- अतः अब **कोई सर्वमान्य मानदंड (cannon)** नहीं। कोई एक स्वीकार्य सौंदर्यशास्त्र नहीं। कोई कृति कालजयी, श्रेष्ठ या विश्व-व्यापी नहीं। कोई मूल तथा केंद्रीय या एकीकृत, अंतिम, संपूर्ण साहित्यिक मानदंड नहीं।

- जिन कृतियों को बौद्धिक, सांस्कृतिक तथा सौंदर्यात्मक तौर पर विशिष्ट माना गया है यदि इनका विखंडन करें तो पाठ (टैक्स्ट) के भीतर मौजूद उप-पाठों और भाषा के पीछे छिपी अभिजात्य विचारधारा और संवेदना स्पष्ट दिखाई देने लगती।

- पाठ को इस प्रकार पढ़ने को विखंडनवाद कहा गया है जोकि उत्तर-संरचनावाद का मूल बिंदु है। इसका अभिप्राय यह है कि लेखक भाषीय संरचना द्वारा अपने वैचारिक पूर्वाग्रहों को जितना भी छिपाने का प्रयत्न करें विखंडन द्वारा वे प्रकट हो ही जाते हैं।

- **उत्तर-संरचनावाद** के अनुसार साहित्यिक कृति अन्य पाठों में एक पाठ है। सब पाठ एकसमान हैं। किसी को किसी अन्य पाठ पर वर्चस्व प्राप्त नहीं। पाठ अपने अर्थ में अनेक तथा अनिश्चित हैं। भाषा वह कहने में असमर्थ है जो वह कहने का दावा करती है। हम अर्थों को स्थगित कर सकते हैं प्राप्त नहीं कर सकते।

- उत्तर-आधुनिकतावादी कई वैचारिक पद्धतियों का साहित्यिक चिंतन पर गहरा प्रभाव पड़ा है। इनमें नव-इतिहासवाद, सांस्कृतिक अध्ययन, सबाल्र्टन (अधीनस्थ) अध्ययन तथा नारीवाद शामिल हैं। ये सब वैचारिक पद्धतियाँ साहित्यिक पाठ को अ-साहित्यिक दृष्टिकोण - ऐतिहासिक, सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, नारीवादी, दलित चेतना आदि - से देखती हैं और इसी दृष्टिकोण से उसका मूल्यांकन करती हैं।

- इस प्रकार उत्तर-आधुनिकतावाद 'साहित्य समीक्षा' के स्थान पर 'विमर्श विश्लेषक' (डिस्कोर्स अनालिस्ट) को बैठा देता है।

- लेखक के अवसान की घोषणा की जाती है और पाठक के वर्चस्व का स्वीकार किया जाता है।

25.4.8 वर्तमान परिदृश्य

अब यह कहा जा रहा है कि उत्तर-आधुनिकतावाद 1930 में अपने चरम बिंदु पर पहुँच चुका था। वह एक सौ वर्ष पुराना हो चुका है क्योंकि चित्रकला 1880 से ही उत्तर-आधुनिक प्रवृत्तियों को प्रदर्शित करती चली आ रही है। 1940 में वास्तुकला में इसका प्रभाव बहुत बढ़ गया था। आनर्ल्ड ऑयनबी के अनुसार 1925 में उत्तर-आधुनिकता का दौर शुरु हो चुका था। 'न्यू यार्कर' ने 1975 में ही लिख दिया था कि उत्तर-आधुनिकतावाद का युग समाप्त हो चुका है। भारत में इसकी चर्चा अस्सी के दशक के अंतिम वर्षों में शुरू हुई। यह भी कहा जा रहा है कि उत्तर-आधुनिकता अब अकादमिक परिचर्चा तक ही सीमित होती जा रही है। अब उत्तर-उत्तर आधुनिकतावाद का युग शुरू हो चुका है।

25.4.9 उत्तर-आधुनिकतावाद : पूर्वी परिदृश्य

उत्तर-आधुनिकतावाद के पूर्वी परिदृश्य को समझने से पहले प्राचीवाद (ऑरयीटलिज़्) को समझना आवश्यक है। 'ऑरयींटलिज़्' एक अवधारणात्मक शब्द है जिसका अर्थ है पश्चिम की निगाह में पूर्व। पूर्वी समाज, सभ्यता, संस्कृति, साहित्य आदि को देखने की योरोपीय दृष्टि उपनिवेशों के जीवन को जानने-समझने की शासकीय दृष्टि जिसके अंतर्गत यूरोप 'हम' था और पूर्व के देश 'वे' (अन्य) थे। यानी गुलाम देशों के इतिहास को लिखने का यूरोपीय नज़रिया। इस दृष्टि का विरोध हुआ है और यूरोप द्वारा दिए गए निष्कर्षों को मानने की बजाय स्वयं अपने विषय में अपना इतिहास लिखने को दावा किया गया है।

उत्तर-आधुनिकतावाद ने प्राचीवाद (ऑरयींटलिज्म) को रद्द करते हुए पूर्व की संस्कृतियों और क्षेत्रीयता को पश्चिम के इतिहास-लेखन से मुक्त कर दिया। इसके परिणामस्वरूप भारत में देसीवाद पर चर्चाएँ शुरू हो गईं। अब 'अन्य' पूर्व के देश नहीं बल्कि यूरोप हो गया है। 'हम' और वे (अन्य) में यह फेरबदल करके उत्तर-आधुनिकता ने DWEM (डेथ ऑफ द वैस्टर्न यूरोपीयन मेल) में ऐलान से इस

विचार को सुस्पष्ट कर दिया। भारत के कई लेखकों ने उत्तर-आधुनिकतावाद की विभेदीय, विकेंद्रित विचारधारा को स्वीकार कर लिया है। ये भेद केवल पूर्व और पश्चिम के बीच ही नहीं, बल्कि भारत की विभिन्न जातियों तथा संस्कृतियों के बीच भी है।

25.4.10 मूल्यांकन

आधुनिकता की भाँति उत्तर-आधुनिकता के अर्थ भी निरंतर बदलते रहे हैं। इसमें भी अंतर्विरोधों की कमी नहीं। उत्तर-आधुनिकतावाद की सबसे बड़ी स्थापना - 'कर्ता का अंत' दोषपूर्ण है। फ्रेड्रिक जेमिसन के अनुसार कर्ता की मृत्यु शीघ्र ही 'वास्तविक इतिहास' में बदल जाती है और वास्तविक कर्ता की वास्तविक मृत्यु हो जाती है।

उन्होंने यह भी कहा कि यह कथन कि शब्द चिह्न या लक्षण मात्र हैं और बाह्य यथार्थ से इनका कोई संबंध नहीं दोषपूर्ण सरलीकरण है। और यह बात आश्चर्यजनक नहीं कि कर्ता और विषय व्यक्ति की मृत्यु के बाद साहित्य का विषय अब शब्द ही है।

किंतु इससे भी बड़ा प्रश्न हमारे सामने यह है कि क्या उत्तर-आधुनिकता हमें उन तथ्यों तथा विचारों से मुक्ति दिला सकती है जो वैचारिक विभ्रांति, सांस्कृतिक संकट तथा बौद्धिक बेचैनी का कारण बने हुए हैं।

क्या विभेद की राजनीति हमें सांस्कृतिक शून्यवाद की ओर नहीं ले जा रही?

प्रश्न यह भी है कि साहित्य, इतिहास, विचारधारा और लेखक की मृत्यु की घोषणा के बाद साहित्य, सौंदर्यशास्त्र और संस्कृति के नव-निर्माण की प्रक्रिया में उत्तर-आधुनिकतावाद कौन-सा मार्ग अपनाएगा?

क्या उत्तर-आधुनिकतावाद पश्चिम-केंद्रित सार्वभौमिक एकरूपता का प्रसारण नहीं कर रही?

क्या उत्तर-आधुनिकतावाद धार्मिक कट्टरवाद, आक्रामक भौतिकवाद, आनंदलिप्सु उपभोक्तावाद तथा सांस्कृतिक विघटन को लोकप्रिय नहीं बना रही?

एक ओर जड़ों की तलाश तथा दूसरी ओर भूमंडलीकरण में कैसे सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है?

क्या यथार्थ केवल प्रतिबिंबों तथा चिह्नों तक सीमित है? कलाकृतियाँ क्रय-विक्रय की वस्तुएँ (पेस्टीश) मात्र हैं?

ये और अन्य कई प्रश्न उत्तर-आधुनिकतावाद में अनुत्तरित रह जाते हैं?

25.4.11 समाहार

उत्तर-आधुनिकतावाद की प्रमुख विशेषताएँ हैं - विभेद और विभिन्नता, स्थानीयता और क्षेत्रीयता, पापुलर कल्चर और लोक कलाओं का मिलाप, बुद्धिवाद और परा-भौतिकवाद पर बढ़ता अविश्वास, नारी तथा दमित-दलित विषयों का अध्ययन, महान आख्यान तथा सार्वभौमिक समालोचना सिद्धांत का पतन, अर्थ की अनेकता तथा अनिश्चितता, बहुलतावाद तथा बहु-संस्कृतिवाद, विकेंद्रीयता, वर्ग-संघर्ष की अपेक्षा नस्ल, जाति तथा लिंग-भेद पर अधिक बल। अर्थात् ऐसी विचार-पद्धति जिसमें वैश्विक क्षेत्रीय तथा जातीय संरचनाएँ एक-दूसरे से युद्धरत रहते हुए भी एक-दूसरे से मेल-जोल भी रखती हैं।

उत्तर-आधुनिकतावाद का जन्म और पोषण यूरोप की विशेष ऐतिहासिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों में हुआ है। यदि हम इसको भारतीय साहित्यों तथा स्थितियों के संदर्भ में प्रस्तुत करना चाहते हैं तो हमें देशीय/भाषीय संदर्भों में इसे परिभाषित करना होगा।

25.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

डॉ. शिव प्रसाद सिंह, **आधुनिक परिवेश और अस्तित्ववाद**, वाणी प्रकाशन दिल्ली।

डॉ. रामविलास शर्मा, **नयी कविता और अस्तित्ववाद**, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।

सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय', **आधुनिक साहित्य : एक परिदृश्य**, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।

डॉ. रमेश कुंतल मेघ, **आधुनिकता बोध और आधुनिकीकरण**, मैकमिलन, दिल्ली।

देवेन्द्र इस्सर, **साहित्य और आधुनिक युगबोध**, कृष्णा ब्रदर्स, अजमेर (राजस्थान)।

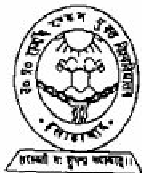
देवेन्द्र इस्सर, **उत्तर आधुनिकता : साहित्य और संस्कृति की नयी सोच**, इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन, दिल्ली।

सुधीश पचौरी, **उत्तर आधुनिकता और उत्तर संरचनावाद**, हिमाचल पुस्तक भंडार, दिल्ली।

कुसुम चतुर्वेदी और मुक्ता (संपा.) **मानदंड** : उत्तर आधुनिकता विशेषांक, अक्तूबर, 1996 से मार्च, 1997

25.6 अभ्यास के लिए प्रश्न

1. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए :
   - क) अस्तित्ववाद की मूल अवधारणा क्या है?
   - ख) अस्तित्ववाद के विचार बिंदुओं का पारस्परिक संबंध क्या है?
   - ग) अस्तित्ववाद का साहित्य आलोचना पर प्रभाव किस रूप में पड़ा?
   - घ) ज्याँ पाल सार्त्र के अस्तित्ववाद की विशेषताएँ क्या हैं?
   - ङ) विसंगति का रंगमंच अस्तित्ववाद के दर्शन से किस प्रकार प्रभावित हुआ?
2. आधुनिकतावाद की मूल अवधारणाओं पर विचार कीजिए।
3. उत्तर-आधुनिकतावाद की प्रमुख विशेषताएँ कौन-कौन सी हैं?
4. टिप्पणी लिखिए :
   - क) उत्तर-आधुनिकतावाद और आधुनिकतावाद में क्या अंतर है?
   - ख) उत्तर-आधुनिकतावाद ने साहित्य चिंतन को किस प्रकार प्रभावित किया है?
   - ग) उत्तर-आधुनिकतावाद भारतीय साहित्य से किस प्रकार सम्पृक्त है?



उत्तर प्रदेश
राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

MAHI-08
साहित्य सिद्धांत और समालोचना

खंड

7

हिंदी आलोचना

पाठ्यक्रम विशेषज्ञ समिति

पाठ्यक्रम निर्माण

इकाई लेखक
डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी (इकाई 26)
पूर्व रीडर, हिंदी विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
प्रो. निर्मला जैन (इकाई 27)
पूर्व विभागाध्यक्ष, हिंदी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
डॉ. कृष्णदत्त पालीवाल (इकाई 28)
हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
प्रो. इन्द्रनाथ चौधुरी (इकाई 29)
पूर्व सचिव, साहित्य अकादेमी
नई दिल्ली

पाठ्यक्रम संपादक
प्रो. निर्मला जैन
पाठ्यक्रम संयोजक
डॉ. रीतारानी पालीवाल

सामग्री निर्माण

प्रो. पी.एन.पंडित
निदेशक, मानविकी विद्यापीठ
इग्नू, नई दिल्ली

श्री कुलवंत सिंह
अनुभाग अधिकारी (प्रकाशन)
मानविकी विद्यापीठ, इग्नू

कैमरा रेडी कॉपी निर्माण एवं सचिवालयिक सहयोग
श्री हरीश कुमार सेठी

फरवरी 2004 (पुनः मुद्रित)

ISBN-81-7605-966-8

खंड 7 का परिचय

'साहित्य सिद्धांत और समालोचना' (एम.एच.डी.05) पाठ्यक्रम का सातवाँ और अंतिम खंड 'हिंदी आलोचना' से संबंधित है। इस खंड में हिंदी आलोचना के विकासक्रम का संक्षिप्त परिचय देते हुए प्रमुख हिंदी आलोचकों के विशिष्ट योगदान की चर्चा की गई है। उद्देश्य यह रहा है कि सैद्धांतिक आलोचना के प्रतिमानों के साथ व्यावहारिक आलोचना के स्वरूप, प्रकार और प्रविधि से छात्रों को अवगत कराया जा सके।

देश-विदेश में काव्यशास्त्र की परंपरा पहले से चली आ रही है, परंतु रचना को शास्त्र से जोड़ने वाली प्रक्रिया के रूप में आलोचना का विकास काफी बाद में हुआ है। अतः आलोचना साहित्य का शास्त्र न होकर साहित्य सृजन का वह जीवन है जो बार-बार सृजित किया जाता है। काव्यशास्त्र में सिद्धांतों या प्रतिमानों का निरूपण होता है और आलोचना सिद्धांतों के प्रकाश में रचना की परख और मूल्यांकन करती है। नया सृजन आलोचना के स्वीकृत प्रतिमानों को चुनौती देता है और तब उसके मूल्यांकन के लिए नए प्रतिमानों की तलाश की जरूरत पड़ती है। आलोचना वह व्यावहारिक प्रक्रिया है जो सिद्धांतों और सृजन के बीच बदलते संबंधों के चक्र को गतिमान रखती है।

संस्कृत काव्यशास्त्र, हिंदी रीतिशास्त्र और प्राचीन पश्चिमी काव्यशास्त्र में किया गया विवेचन प्रधानतः सिद्धांतपरक है - रचना का संदर्भ वहाँ प्रायः अनुपस्थित रहा है। हिंदी आलोचना इस पृष्ठभूमि को स्वीकार करके भी स्वतःस्फूर्त रही है क्योंकि उसकी टकराहट शास्त्र से अधिक नवीन सृजन, नवीन विचारधाराओं और वैचारिक सरोकारों से रही है। हिंदी आलोचना के वैचारिक स्वरूप का उद्घाटन आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की आलोचना से होता है। वे ही हिंदी के प्रथम आधुनिक आलोचक अथवा हिंदी आलोचना के युग-पुरुष कहे जा सकते हैं। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए भारतेंदु युग से लेकर अब तक की आलोचना का अध्ययन आचार्य शुक्ल की हिंदी आलोचना और शुक्लोत्तर आलोचना के रूप में कराया गया है। शुक्लोत्तर आलोचना के सर्वाधिक महत्वपूर्ण आलोचक हैं - डॉ.रामविलास शर्मा। अतः एक इकाई उनके आलोचनात्मक योगदान को केंद्र में रखते हुए प्रस्तुत की गई है।

आलोचना का एक कार्य विशेष है साहित्य की नवीन विधाओं पर विचार करना, क्योंकि विधाएँ साहित्य की वे नाड़ियाँ होती हैं जिनके भीतर विचारों का नया रक्त प्रवाहित होता है। विचारों की भीतरी शक्ति से ही उनमें रूप और आकार्‍ग परिवर्तन होते हैं। भाव की प्रधानता होने पर काव्य-विधाएँ उभरती हैं और विचार की प्रधानता होने पर गद्य विधाएँ। हिंदी में आदिकाल और मध्यकाल में काव्य की प्रधानता रही लेकिन ध्यान देने की बात है कि आधुनिक काल को आचार्य शुक्ल ने 'गद्य काल' नाम दिया। 'गद्य काल' कहने के पीछे उद्देश्य गद्य विधाओं की प्रधानता रेखांकित करना रहा है। युग प्रेरणा से सर्जनात्मक मानसिकता में होने वाले परिवर्तनों का प्रभाव साहित्य की विधाओं पर पड़ता है। हर युग की मानसिकता अपने को भिन्न-भिन्न विधाओं में अभिव्यक्ति देती है। प्राचीन युग की प्रधान विधा महाकाव्य का स्थान आधुनिक युग में उपन्यास, कहानी, रिपोर्ताज, रेखाचित्र आदि ने ले लिया है। साहित्य-विधाएँ नए-नए रूप में जन्म लेकर लोकमानस के विचार-बिंबों को प्रतिबिंबित करती हैं। इस प्रस्थान बिंदु को छात्रों को समझाने के लिए प्रस्तुत खंड में एक इकाई रखी गई है।

इस खंड में कुल चार इकाइयाँ (इकाई 26-29) हैं।

इकाई 26 'साहित्य की आधुनिक अवधारणा और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल' में आचार्य शुक्ल-पूर्व और शुक्लयुगीन हिंदी आलोचना को शामिल किया गया है। इसमें भारतेंदु युग से शुक्ल युग तक हिंदी आलोचना के विकासक्रम का परिचय देते हुए शुक्ल जी के योगदान पर प्रकाश डाला गया है।

इकाई 27 'शुक्लोत्तर हिंदी आलोचना' में शुक्लोतर हिंदी आलोचना के विकासक्रम और परिदृश्य का संक्षिप्त परिचय दिया गया है।

इकाई 28 'हिंदी की मार्क्सवादी आलोचना और डॉ.रामविलास शर्मा' के अंतर्गत शुक्लोत्तर आलोचना के मूर्धन्य आलोचक डॉ.शर्मा की आलोचनात्मक दृष्टि का परिचय देते हुए हिंदी आलोचना में उनके विशिष्ट अवदान पर प्रकाश डाला गया है।

इकाई 29 'साहित्य की विधाएँ' के अंतर्गत साहित्य की प्राचीन और नवीन प्रमुख विधाओं के साहित्य रूप (काव्य रूप) संबंधी विशेषताओं से छात्रों को अवगत कराया गया है।

इकाई 26 साहित्य की आधुनिक अवधारणा और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

इकाई की रूपरेखा

26.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के बाद आप बता सकेंगे कि :

- आधुनिक काल में आकर साहित्य के मूल्यांकन की कसौटी किस प्रकार बदली;
- हिंदी आलोचना का आरंभ और विकास कैसे हुआ; और
- हिंदी आलोचना में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का क्या योगदान है।

26.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत पाठ्यक्रम में पिछले छह खंडों में आपने भारतीय और पश्चिमी समीक्षा सिद्धांतों एवं विचारधाराओं के विषय में अध्ययन किया है। इस अध्ययन की प्रक्रिया में देशी-विदेशी साहित्य चिंतन का व्यापक परिदृश्य आपके समक्ष उपस्थित हो चुका होगा। प्रस्तुत इकाई में आपको हिंदी आलोचना का परिचय मिलेगा। हिंदी में आलोचना का आरंभ और विकास मुख्य रूप से आधुनिक में युग में ही हुआ है। मध्यकाल में विशेष रूप से रीतिकाल में इस दिशा में हुए प्रयास कोई मौलिक योगदान न होकर मुख्यतया संस्कृत काव्यशास्त्र की पुनरावृत्ति ही था। प्रस्तुत इकाई में आप पढ़ेंगे कि किस तरह साहित्य में आधुनिक युगदृष्टि के जन्म के साथ ही साथ हिंदी में आलोचना का उदय हुआ। यद्यपि रीतियुगीन संस्कार भी यत्र-तत्र विद्यमान रहे किंतु मुख्यधारा साहित्य की आधुनिक अवधारणा को लेकर ही चली। इस इकाई में आपको यह जानकारी भी मिलेगी कि किस तरह आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने न केवल हिंदी आलोचना का व्यवस्थित स्वरूप निर्मित किया बल्कि सैद्धांतिक और व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में मौलिक तथा लोक-संवेदना से सम्पन्न आलोचना दृष्टि विकसित की।

26.2 हिंदी आलोचना - पीठिका

भारतेंदु युग के जिन साहित्यकारों के द्वारा नई आलोचना का सूत्रपात हुआ उनमें प्रायः सभी मुख्यतः सर्जक साहित्यकार थे। सामाजिक उत्तरदायित्व से युक्त जीवनवादी सर्जक साहित्यकारों की आधुनिक दृष्टि ने जिस प्रकार साहित्य की अन्य विधाओं को प्रभावित किया, उसी प्रकार आलोचना को भी। इन सभी साहित्यांगों में युगांतर उपस्थित करने वाली दृष्टि एक है, इसे जाने बिना भारतेंदु युग के महत्व को ठीक-ठीक समझ पाना असंभव है। इस युग की आलोचना पूर्ववर्ती आलोचना से किस प्रकार भिन्न इसे जानने के लिए हमें उस साहित्य का संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेना होगा जिसे आज केवल उदारतावश आलोचना कहा जा सकता है।

हिंदी-आलोचना का इतिहास रीतिकाल से थोड़ा पहले शुरू होता है। सच तो यह है कि **रीतिकाल** का रीतिबद्ध साहित्य रीतिवादी आलोचना से प्रभावित है, और लक्षणों के उदाहरण रूप में रचा गया है। रीतिकाल में लक्षण-ग्रंथों के रूप में जो हिंदी का काव्यशास्त्र रचा गया वह संस्कृत काव्यशासत्र के प्रमुख सम्प्रदायों की नकल पर था। कहा जाता है कि 'हिंततरंगिणी' के लेखक कृपाराम हिंदी के सर्वप्रथम काव्यशास्त्री थे। लेकिन हिंदी में 'काव्य-रीति' का सम्यक् समावेश पहलेन्पहले आचार्य केशव ने ही किया। केशव ने संस्कृत काव्यशास्त्र के पहले खेवे अर्थात् भामह, दण्डी जैसे आचार्यों की मीमांसा को भी अपने निरूपण का आधार बनाया लेकिन आचार्य शुक्ल के अनुसार केशव के पचास वर्षों बाद रीति-ग्रंथों की जो परम्परा हिंदी में चली उसने परवर्ती आचार्यों के आधार पर काव्यशास्त्रीय विवेचना की। फलतः रीतिकालीन आचार्यों द्वारा हिंदी में संस्कृत साहित्यशास्त्र के विकास-क्रम की एक संक्षिप्त उद्धरणी प्रस्तुत हो गई। रीतिकाल के आचार्य, लक्षणकार होते थे और उदाहरण प्रस्तुत करते समय कविता करते थे। इस एकीकरण (आचार्यत्व और कवित्व) के कारण रीतिकालीन काव्यशास्त्रीय विवेचना में सूक्ष्म विवेचन और पर्यालोचन का अभाव है, उसमें नए सिद्धांतों का प्रतिपादन नहीं हुआ। इसका बहुत बड़ा कारण यह था कि उस समय विवेचना भी गद्य में नहीं अपितु पद्य में की जाती थी। पद्य का माध्यम विश्लेषण, विवेचना के अनुपयुक्त है। ऐसी स्थिति में अलंकारों, शब्द-शक्तियों, नायिका-भेद आदि का यत्किंचित् निरूपण रीतिकाल में मिलता है, लेकिन वहाँ भी मौलिकता का अभाव है।

इस काल में व्यावहारिक आलोचना का जो रूप मिलता है, वह गुण-दोष-कथन करने वाली उक्तियो के रूप में है, जैसे -

सतसइया के दोहरे ज्यों नाविक के तीर।
देखन में छोटे लगें घाव करें गम्भीर।।
x x x
सूर सूर तुलसी ससी उडुगन केसवदास।
अब के कवि खद्योत सम जहँ-तहँ करत प्रकास।।

तात्पर्य यह है कि इस काल की जो रीतिबद्धता काव्य के क्षेत्र में दिखाई पड़ती है वही आलोचना के क्षेत्र में भी। जीवन का ताजा स्पर्श किसी में नहीं है। पं. नंददुलारे वाजपेयी ने रीतिकालीन लक्षण ग्रंथों की कमियों की ओर संकेत करते हुए लिखा है, '....लक्षण ग्रंथों में उल्लेख किए गए किसी भी रस के एक प्रसंग को ले लीजिए। मान लें हम 'शृंगार रस' का कोई प्रसंग लेते हैं। लक्षण-ग्रंथ द्वारा हम यह तो जान गए कि उक्त उद्धरण शृंगार-रस का है। किंतु वह रस कितने छिछले अथवा कितने सौम्य शृंगार का है, इसकी तुलना और मनोवैज्ञानिक विवेचना हम साधारणतः लक्षण ग्रंथों में नहीं पाते।.... उस रस-विशेष की अभिव्यंजना कितनी शक्तिपूर्ण अथवा निःशक्त प्रणाली से हुई है, यह कलात्मक विवेचना भी उसमें कम ही दिखाई देती है।....उस छिछले अथवा सौम्य शृनार की सामाजिक पृष्ठभूमि क्या है?.......इसके जानने का भी कोई साधन नहीं रहता.....सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि रचनाकार की अपनी मानसिक स्थिति का भी हमें पता नहीं लगता है। आलोचना के ये ही प्रधान सूत्र हैं और लक्षण-ग्रंथों में इन्हीं का अभाव है।' (हिंदी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, संस्करण 1963, पृ.55) आलोचना के इन्हीं सूत्रों के अभाव में 'इन्हें आलोचना ग्रंथ किस अर्थ में कहा जाए, यह भी एक समस्या ही है।' (वही, पृ.55)

26.3 हिंदी में आलोचना का आरंभ और विकास

26.3.1 भारतेंदु युग

हमारा जीवन सामाजिक है। काव्य जो मानव संस्कृति के मुख्य अंगों में से है - सामाजिक संदर्भों को आत्मसात् और अभिव्यक्त करके मर्मव्यंजक होता है। रीतिकालीन काव्य और काव्यशास्त्र में पुस्तकीय 'रस' तो रहा परंतु सामाजिक संदर्भों में उभरते हुए जीवन-काव्य का रस नहीं। डॉ.रामविलास शर्मा ने 'भारतेंदु युग' नामक पुस्तक में 'बालकृष्ण भट्ट और हिंदी आलोचना का जन्म' नामक अध्याय में भट्टजी के 'साहित्य जनसमूह के हृदय का विकास है' नामक निबंध का उल्लेख करते हुए लिखा है, 'लेख के नाम से ही भट्टजी का आधुनिक दृष्टिकोण प्रकट हो जाता है। साहित्य रसात्मक वाक्य या कवि के अंतःपुर का लीला-विनोद न होकर जन-समूह के हृदय का विकास है।' (पृ.107) यह 'रस' निर्जीव रस के प्रति जनसमूह के हृदय का विद्रोह था जिसकी अभिव्यक्ति **भारतेंदु युग** कर रहा था। साहित्य को देखने-समझने की दृष्टि बदली तो उसके मूल्यांकन की कसौटी भी बदली और हिंदी

आलोचना में युगांतर उपस्थित हुआ। 'जनसमूह के हृदय की भावनाओं' का आग्रह करके ही हिंदी की आलोचना रीतिकालीन केंचुल उतार कर आधुनिक बनी।

पंडित रामचंद्र शुक्ल ने आधुनिक युग को गद्य युग कहा। भारतेंदु काल में गद्य की विधा सहसा इतनी लोकप्रिय हो उठती है। उसका कारण है कि आधुनिकता, वैचारिकता के कारण और उसके सहारे आई है। वैचारिकता गद्य में तो है ही, कविता में भी है। वैचारिकता का आग्रह होने पर साहित्य में आलोचना का विकास होना अवश्यम्भावी था। **इस काल में आलोचना पत्र-पत्रिकाओं के लेखों, टिप्पणियों और निबंधों से विकसित हुई है।** 'आलोचना' उन विधाओं में से है जो पश्चिमी साहित्य की नकल पर नहीं, बल्कि अपने साहित्य को समझने-बूझने और उसकी उपादेयता पर विचार करने की आवश्यकता के कारण जन्मी और विकसित हुई है। 'वहाँ होता है इसलिए यहाँ भी होना चाहिए' इस विचार की भावना के वशीभूत होकर भारतेंदु ने 'नाटक' पर अपने विचार नहीं प्रकट किए हैं। 'हिंदी के नाटकों का स्वरूप कैसा होना चाहिए' इसका ध्यान रखकर उन्होंने अपने विचार प्रकट किए हैं। विचारों के इस प्रकटीकरण को ही हम हिंदी आलोचना का प्रारंभ मान सकते हैं।

भारतेंदु ने नाटक संबंधी विचार नाटककार की हैसियत से व्यक्त किए हैं, समीक्षक या आलोचक की हैसियत से नहीं। वे लेख में आद्यन्त रचना पर बल देते हैं और नाटककार को किन बातों पर ध्यान देना चाहिए यह बताते रहते हैं। इस लेख में उनके सर्जक का चिन्तक रूप प्रकट हुआ है।

भारतेंदु ने नाटक पर विचार करते समय उसकी प्रकृति समसामयिक जनरुचि एवं प्राचीन नाट्यशास्त्र की उपयोगिता पर विचार किया है। उन्होंने बदली हुई जनरुचि के अनुसार नाट्य-रचना में परिवर्तन करने पर विशेष बल दिया है। भारतेंदु के नाटक विषयक लेख में आलोचना के गुण मिल जाते हैं। **ऐसी दशा में उन्हें आधुनिक हिंदी साहित्य का प्रथम आलोचक कहना अनुचित न होगा।**

यद्यपि भारतेंदु-युग में विशिष्ट साहित्यांग के रूप में आलोचना का उल्लेखनीय विकास नहीं हुआ, किंतु आलोचना दृष्टि का भरपूर विकास हुआ। 'हरिश्चन्द्र मैगज़ीन', 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' (मैगज़ीन का ही परिवर्तित नाम), 'भारत मित्र', 'सार सुधानिधि', 'ब्राह्मण' आदि पत्रिकाओं में विविध विषयों पर लिखित लेखों और टिप्पणियों से यह दृष्टि विकसित होती हुई दिखलाई पड़ती है। जिस प्रकार देश की सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक समस्याओं से लगाव यानी भागवत् संबंध होने के कारण इस काल का साहित्य विकसित हुआ है, उसी प्रकार इन समस्याओं पर सोचने-विचारने के साथ आलोचना दृष्टि विकसित हुई है। इस काल में साहित्य और देश की समस्याएँ घुल-मिलकर एक हो गई हैं। बालकृष्ण भट्ट ने 'हिंदी प्रदीप' के लेखों से पाठकों को अंधविश्वास को दूर करने और बुद्धिसंगत ढंग से सोचने का तरीका बताया।

आलोचना के अंतर्गत किसी संपूर्ण कृति के गुण-दोषों की समीक्षा का कार्य हिंदी में चौधरी बदरी नारायण 'प्रेमघन' और बालकृष्ण भट्ट के द्वारा प्रारंभ हुआ। 'आनंद कादम्बिनी' के एक अंक में प्रेमघनजी ने बाणभट्ट की 'कादम्बरी' की प्रशंसात्मक आलोचना एक लेख में की। इसी पत्रिका में सन 1885 में प्रेमघनजी ने बाबू गदाधर सिंह द्वारा किए गए 'बंग-विजेता' नामक बंगला उपन्यास के हिंदी अनुवाद की आलोचना की। प्रेमघनजी ने इस उपन्यास के अंतरंग-बहिरंग दोनों पक्षों पर विचार किया है। उन्होंने उपन्यास के तत्वों और कलात्मक ढाँचे को ध्यान में रखकर इसकी आलोचना प्रस्तुत की। इस आलोचना को पढ़ने से यह भी ज्ञात हो जाता है कि उस समय तक दुःखांत कथानक को हिंदी भाषी सहृदय पसंद कर सकने की मनोस्थिति में नहीं आया था। उपन्यास के पात्र विमला की मृत्यु के विषय में प्रेमघनजी लिखते हैं, 'यह अंतिम परिच्छेद है, इसमें ग्रंथ कथा समाप्त होती है, इसमें हम विमला की मृत्यु का वर्णन अत्यंत नापसंद करते हैं। हर्षप्रद सरला के विवाह के संग विमला की मृत्यु वैसी ही बोध होती है जैसे मिश्री मिश्रित सुमधुर दुग्ध के प्याले में नींबू निचोड़ा जाए।' ('प्रेमघन सर्वस्व', द्वितीय भाग, पृ.444)

प्रेमघनजी ने लाला श्रीनिवासदास के नाटक 'संयोगिता स्वयंवर' की समालोचना 'आनंद कादम्बिनी' में की थी। 'संयोगिता स्वयंवर' की ही कड़ी आलोचना 'हिंदी प्रदीप' में पण्डित बालकृष्ण भट्ट ने की थी। आलोचना का शीर्षक था - 'सच्ची समालोचना'। आलोचना जितनी सच्ची थी उतनी ही कटु भी। भट्टजी ने ऐतिहासिक आख्यानों के साहित्यिक उपयोग, देशकाल, पात्रों की स्वाभाविकता और रचना की जीवंतता इन सब बातों के आधार पर इसकी आलोचना की है। आलोचना की ये कसौटियाँ

आधुनिक कही जाएंगी, क्योंकि इनमें लोगों के ह्रदय की दशा और सामयिकता को साहित्य-रचना का आधार बनाने की सलाह दी गई है।

भट्ट जी ने श्रीधर पाठक के द्वारा अनूदित गोल्डस्मिथ की कृति 'हरमिट' की भी समालोचना 'हिंदी प्रदीप' में की थी। यह समालोचना प्रशंसात्मक थी। इसमें भट्ट जी का भिन्न रूप प्रकट होता है।

प्रेमघन और भट्टजी ने वस्तुतः भारतेंदु के कार्य को आगे बढ़ाया। भारतेंदु ने यद्यपि 'नाटक' पर एक लेख लिखकर हिंदी में आलोचना का सूत्रपात किया। किंतु उन्हें इस दिशा में अधिक कार्य करने का अवसर नहीं मिला। भारतेंदु की ही भाँति प्रेमघन और भट्ट पत्रकार तथा साहित्यकार थे। ये लोग समूचे जीवन पर दृष्टिपात करते थे, विविध आंदोलनों में सम्मिलित होते थे और उनपर अपनी दो-टूक सम्मति प्रकट करते थे। इन्होंने अपने पत्रों में साहित्यिक कृतियों की भी समीक्षा की। हिंदी आलोचना का जन्म पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित इनकी इसी समीक्षा से हुआ। यह समीक्षा सामाजिकता से इतनी लिपटी है कि इसकी साहित्यिकता पर 'शुद्धतावादी' विचारक शंका प्रकट कर सकते हैं। बात यह है कि साहित्य के विभिन्न साहित्यांग परम्परा के मृत अंशों को त्याग कर साहित्य के स्रोत जीवन से रस खींचकर विकसित होने की तैयारी कर रहे थे। आलोचना भी यही कर रही थी। पत्रकारिता से जो समसामयिकता से घनिष्ठ संबंध रखती है, आलोचना का विकसित होना यही प्रकट करता है। आगे चलकर आलोचना का अपना स्वरूप अधिकाधिक स्पष्ट हुआ। यह कार्य आचार्य **महावीर प्रसाद द्विवेदी और इनके युग के** अन्य लेखकों द्वारा हुआ।

26.3.2 द्विवेदी युग

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी साहित्य को उपयागिता की कसौटी पर आँकते थे और उसे 'ज्ञानराशि का संचित कोष' मानते थे। उनका प्रभाव प्रत्येक साहित्यांग पर पड़ा। वे स्वयं सम्मान्य आलोचक थे।

द्विवेदी युग ने ज्ञान की साधना पर विशेष बल दिया। इस युग के लेखक प्राचीन भारत के ज्ञान-विज्ञान की खोज और पश्चिम के नए आलोक से अपने देशवासियों को परिचित कराना चाहते थे।

द्विवेदी युग ने हिंदी को जितने विद्वान दिए आधुनिक भारत के अन्य किसी युग ने नहीं। पं.चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, पं.गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, पं. सुधाकर द्विवेदी आदि जैसे विद्वान इसी युग में हुए। उधर बूलर, ग्रियर्सन जैसे विद्वान भी भारतीय विद्या के विविध विषयों पर कार्य कर रहे थे। ज्ञान की इस साधना का उपयोग रचनात्मक साहित्य ने तो किया ही, आलोचना ने भी किया। 1897 ई की नागरी प्रचारिणी पत्रिका में गंगा प्रसाद अग्निहोत्री का 'समालोचना' निबंध प्रकाशित हुआ। सी पत्रिका में जगन्नाथ दास रत्नाकर ने 'समालोचनादर्श' लिखा। वह अंग्रेज़ी साहित्यकार पोप के एसे ऑन क्रिटिसिज्म' का अनुवाद था। उसी पत्रिका के अंतिम 53 पृष्ठों में अम्बिकादत्त व्या.स का 'गद्य काव्य मीमांसा' लेख छपा।

1901 ई.की 'सरस्वती' में द्विवेदीजी ने कवियों के कर्तव्य पर विचार करते हुए कहा कि उसे लोगों की रुचि का ध्यान रखकर सहज एवं मनोहर कविता रचनी चाहिए। आगे वे लिखते हैं, 'कविता यदि यथार्थ में कविता है तो संभव नहीं कि उसे सुनकर कुछ असर न हो। कविता से दुनिया में आज तक बड़े-बड़े काम हुए हैं।....कविता में कुछ न कुछ झूठ का अंश ज़रूर रहता है। असभ्य अथवा अर्ध-सभ्य लोगों को यह अंश कम खटकता है, शिक्षित और सभ्य लोगों को बहुत।...संसार में जो बात जैसी दीख पड़े, कवि को उसका वैसा ही वर्णन करना चाहिए।' (हिंदी साहित्य का इतिहास से उद्धृत, पृ. 509) वे प्राचीन साहित्य के क्षयिष्णु अंश को हानिकर समझते थे। नायिका-भेद पर लिखित पुस्तकों के वे विरोधी थे।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने संस्कृत के कई लब्ध-प्रतिष्ठ कवियों की समालोचना की। उन्होंने 'विक्रमांकदेव चरित नैषधचरित चर्चा' तथा 'कालिदास की निरंकुशता' जैसे निबंध लिखे। ये निबंध परिचयात्मक होने के साथ कृतियों के गुण-दोषों पर भी प्रकाश डालते हैं। कालिदास के प्रति श्रद्धा का भाव रखते हुए भी द्विवेदीजी उनसे अभिभूत नहीं होते और दोषों पर भी प्रकाश डालते हैं। कालिदास की आलोचना द्विवेदीजी की निष्ठा और सत्य-प्रियता प्रकट करती है। यह निष्पक्षता और निर्भीकता सच्चे आलोचक के गुण हैं। प्राचीनतावादी उनके इस दृष्टिकोण से विचलित हुए किंतु द्विवेदीजी का परुष व्यक्तित्व हिंदी साहित्य में युगांतर प्रस्तुत कर रहा था।

आचार्य द्विवेदी ने संस्कृत, बंगला, अंग्रेज़ी, मराठी और उर्दू साहित्य में प्राप्त महत्वपूर्ण सामग्री की जानकारी हिंदी पाठक को दी। इस प्रकार उन्होंने ऐसे नए मार्ग का निर्माण-कार्य किया जो हिंदी पाठक

को सोचने-समझने की शक्ति देता था। इसी तरह, द्विवेदीजी ने अन्य भाषाओं में सुरक्षित ज्ञान-विज्ञान विषयक सामग्री से हिंदी साहित्य के भंडार की श्रीवृद्धि की। 'सौर जगत की उत्पत्ति', 'महाप्रलय', 'यमलोक का जीवन' इत्यादि लेख इसी प्रकार के हैं।

'कवि और कविता', 'कविता तथा कवि-कर्तव्य' ऐसे निबंध हैं जिनसे हम आचार्य द्विवेदी की काव्य-विषयक धारणाओं का पता पा सकते हैं। आचार्य द्विवेदी यथार्थ को काव्य के लिए आवश्यक मानते हैं। यथार्थ से उनका तात्पर्य कवि द्वारा अनुभूत सत्य से है। उनका मत है कि कवि को अपने ऊपर किसी दबाव में आकर कोई पाबंदी नहीं लगानी चाहिए।

'कवि और कविता' में द्विवेदीजी ने नए और पुराने साहित्य के संबंधों पर भी प्रकाश डाला है। वे उन लोगों का विरोध करते हैं जो आँखें मूँदकर नए साहित्य अथवा काव्य को काव्यत्व से शून्य मानते हैं। द्विवेदीजी के काव्य-संबंधी विचारों को पढ़ने से ज्ञात होता है कि कुछ विषयों पर उनके विचार अत्याधुनिक थे। आजकल के नवयुवक कवि भी कम से कम कविता में छंद की आवश्यकता जैसे विषय पर उनका मत अपने पक्ष में उद्धृत कर सकते हैं। जो आलोचक आजकल कविताओं को गद्य में लिखे जाने के कारण कविता नहीं समझते उन्हें आचार्य द्विवेदी की ये पंक्तियाँ देखनी चाहिए - 'आजकल लोगों ने कविता और पद्य को एक ही चीज़ समझ रखा है। यह भ्रम है। कविता और पद्य में वही अंतर है, जो अंग्रेज़ी पोयट्री (Poetry) और वर्स (Verse) में है। किसी प्रभावोत्पादक और मनोरंजक लेख, बात या वक्तृता का नाम कविता है, नियमानुसार तुली हुई सतरों का नाम पद्य है। जिस पद्य के पढ़ने या सुनने से चित्त पर असर नहीं होता, वह कविता नहीं। वह नपी-तुली शब्द स्थापना मात्र है। गद्य और पद्य दोनों में कविता हो सकती है।' (ज्ञानमासी, पृ.107)

कविता के रूप-संबंधी जो विचार आचार्य द्विवेदी ने प्रकट किए हैं - वे आश्चर्यजनक ढंग से निराला के तत्संबंधी विचारों से साम्य रखते हैं। वे लिखते हैं, 'पद्य के नियम कवि के लिए एक प्रकार की बेड़ियाँ हैं। उनसे जकड़ जाने से कवियों को अपनी स्वाभविक उड़ान में कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। कवि का काम है कि वह अपने मनोभावों को स्वाधीनतापूर्वक प्रकट करे।' (वही, पृ.208)

द्विवेदीजी कवियों के लिए 'प्रकृति-विकास को खूब ध्यान से देखने' और 'प्रकृति-पर्यालोचना के सिवा मानव स्वभाव की आलोचना' को आवश्यक समझते हैं। इन सूत्रों की उन्होंने जो व्याख्या की है उसे देखने पर अनुमान लगाया जा सकता है कि 'प्रकृति-विकास' पर यही ध्यान और 'मानव-स्वभाव' की यही आलोचना आगे चलकर पं. रामचन्द्र शुक्ल के प्रकृति-प्रेम और करुणा में दिखलाई पड़ी। मानव-स्वभाव की आलोचना की आवश्यकता समझाते हुए द्विवेदीजी लिखते हैं, '...जिस कवि को मनोविकारों और प्राकृतिक बातों का यथेष्ट ज्ञान नहीं, वह कदापि अच्छा कवि नहीं हो सकता।' (वही, पृ.111)

कविता की भाषा के विषय में द्विवेदीजी का विचार है कि सरल और जन-साधारण की भाषा ही इसके लिए उपयुक्त है। वे आलंकारिकता के विरुद्ध सहजता का समर्थन करते हैं। 'कवि-कर्तव्य' नामक निबंध में वे लिखते हैं कि पद्य और गद्य की भाषा एक होनी चाहिए। साहित्य उसी भाषा मे रचा जाना चाहिए, जिसे सभ्य समाज व्यवहार में लाता है। उन्होंने हिंदी साहित्य के विकास को देखते हुए इस बात की भविष्यवाणी कर दी थी कि बोलचाल की हिंदी भाषा, ब्रजभाषा की कविता के स्थान को ग्रहण कर लेगी।

आचार्य द्विवेदी युग-बोध और नवीनता के पोषक और हिंदी के प्रथम लोकवादी आचार्य हैं। वे परम्परा की शक्ति और सीमा समझकर उसके विकास में योगदान करने की सामर्थ्य रखते हैं। वे देश-भक्त जन-प्रेमी थे इसलिए अपने युग की शक्ति समझते थे। वे समसामयिक रचनाओं में भी विकसनशील एवं क्षयिष्णु को पहचान सकते थे। इसलिए युगद्रष्टा थे। उन्होंने लिखा, 'हिंदी कवि का कर्तव्य यह है कि वह लोगों की रुचि का विचार रखकर अपनी कविता ऐसी सहज और मनोहर रचे कि साधारण पढ़े-लिखे लोगों में भी पुरानी कविता के साथ-साथ नई कविता पढ़ने का अनुराग उत्पन्न हो जाए। पढ़ने वाले के मन में नई-नई उपमाओं को, नए-नए शब्दों को और नए-नए विचारों को समझने की योग्यता उत्पन्न करना कवि ही का कर्तव्य है।' (कवि कर्तव्य, रसज्ञ रंजन, 11वाँ संस्करण, पृ.29) वे अपने देशकाल में स्थित होकर साहित्य को देखते-परखते थे और कविता को साधारण लोगों के बीच प्रिय होते देखना चाहते थे। इसलिए हिंदी साहित्य की प्रगति के लिए हिंदी-भाषी जनता एवं हिंदी भाषा की स्वतंत्रता के क़ायल थे।

द्विवेदीजी के दृष्टिकोण के कारण द्विवेदी-युगीन काव्य को एक सीमा तक इतिवृत्तात्मक कहा जाता है। किंतु वह सर्वथा शुष्क एवं नीरस नहीं है। स्वयं द्विवेदीजी ने 'कविता' नामक निबंध में 'एकान्तवासी योगी' से शृंगार-रस की पंक्तियाँ सरस काव्य के उदाहरण में उद्धृत की हैं। वस्तुतः भारतेंदु-युगीन साहित्य की भाँति ही द्विवेदी-युगीन साहित्य की प्रधान दृष्टि भी प्रेरणा देने का कार्य अधिक करती है। आलोचना भी इस दृष्टि से प्रभावित थी। द्विवेदीजी इसका प्रतिनिधित्व करते थे। चूँकि पुनर्जागरणकालीन भारत आगे बढ़ने के लिए कृतसंकल्प था, अतः रीतिकालीन प्रवृत्तियों पर नई यानी वैज्ञानिक और सामाजिक प्रवृत्तियाँ हावी हो रही थीं। **भारतेंदु द्वारा प्रारंभ किए गए कार्य को आचार्य द्विवेदी ने आगे बढ़ाया - मुख्यतः आलोचना और सम्पादन के द्वारा।**

द्विवेदी युग के अन्य प्रसिद्ध आलोचक **मिश्र बंधु, पं. पद्म सिंह शर्मा** तथा **पं. कृष्ण बिहारी मिश्र** हैं। मिश्र बंधु - **श्री गणेश मिश्र, डॉ. श्याम बिहारी मिश्र** और **श्री शुकदेव बिहारी मिश्र** का सम्मिलित नाम था। उन्होंने 'हिंदी नवरत्न' नामक समालोचनात्मक ग्रंथ लिखा। 'नवरत्न' से ही प्रकट है कि जिन कवियों को समीक्षा के लिए चुना गया उनकी संख्या नौ है। इनके नाम इस प्रकार हैं - गोस्वामी तुलसीदास, महात्मा सूरदास, महाकवि देवदत्त देव, महाकवि बिहारी लाल, त्रिपाठी बंधु - भूषण और मतिराम, महाकवि केशवदास, महात्मा कबीरदासजी, महाकवि चन्दबरदाई और भारतेंदु हरिश्चन्द्र। कुल कवि दस हो गए थे, इसलिए भूषण और मतिराम को 'त्रिपाठी बंधु' कहकर नवरत्न नाम सार्थक रखा।

'हिंदी नवरत्न' देखने से पता चलता है कि 'मिश्र बंधु' (पं.रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में) कविवृत्तकार अधिक थे, आलोचक कम। लेकिन मिश्र बंधुओं का महत्व इससे कम नहीं हो जाता। उन्होंने जो वृत्त-संग्रह किया उसका उपयोग परवर्ती चिन्तकों ने किया। स्वयं शुक्लजी का इतिहास भी 'मिश्रबंधु विनोद' का कम ऋणी नहीं है। मिश्र बंधु वह सारी सामग्री प्रस्तुत कर देते हैं, जो आलोचक और इतिहासकार के लिए उपयोगी है।

कालांतर में जो प्रवृत्ति तुलनात्मक आलोचना के नाम से विख्यात हुई, उसका पुरस्कर्ता मिश्रबंधुओं को समझना चाहिए। हिंदी के नवरत्नों का चयन ही इन्होंने कवियों की परस्पर तुलना के द्वारा किया था। मिश्र बंधु मन से देव को हिंदी का श्रेष्ठ कवि मानते हैं किंतु तुलसी-सूर के होते ऐसा कहना भी नहीं चाहते। आज का आलोचक किसी कवि को किसी अन्य कवि से छोटा-बड़ा कहने की आवश्यकता ही नहीं समझेगा किंतु मिश्र बंधु 'सूर सूर तुलसी' वाली परंपरा से प्रभावित थे। मिश्र बंधु रीतिकालीन साहित्य के मर्मज्ञ थे। उनकी दृष्टि रीतिकालीन संस्कारों से मुक्त नहीं हो पाई थी। वे देव को तुलसी-सूर के बाद हिंदी का श्रेष्ठ कवि कहते हैं और उनके यहाँ तुलसी और सूर की श्रेष्ठता की रक्षा उनके 'महात्मापन' ने की है, कविता ने नहीं।

मिश्र बंधु बिहारी के प्रशंसक होते हुए भी देव को उनसे बड़ा कवि मानते हैं। तुलसी और सूर महात्मा थे, बिहारी नहीं थे, सो झगड़ा बिहारी पर खड़ा हुआ। वे लिखते हैं कि 'कुछ लोगों को यह वास्तविक भ्रम है कि बिहारी सचमुच देव से श्रेष्ठ कवि हैं।' (हिंदी नवरत्न, 7वाँ संस्करण पृ.235) मिश्र बंधुओं के 'देव' के सामने लाला भगवानदीन और पं. पद्म सिंह शर्मा 'बिहारी' को ले आए। ये तीनों महानुभाव विद्वान और बहुज्ञ थे। रीतिकालीन साहित्य के मर्मज्ञ थे। इनकी रुचियाँ भी रीतिकालीन थीं। देव और बिहारी अथवा बिहारी और देव को लेकर इनमें जो नोंक-झोंक हुई वह काफी मनोरंजक और ज्ञानवर्धक थी। आज का पाठक इन विद्वानों की काव्य-रसिकता का कायल तो हो जाएगा, लेकिन इनकी आलोचना-शक्ति का नहीं।

सन् 1900 ई. की 'सरस्वती' में मिश्र बंधुओं ने अपने समय के नवीन कवि पं.श्रीधर पाठक की कविताओं पर स्वतंत्र रूप से एक लेख लिखा। इसके पूर्व उन्होंने 'हम्मीर हठ' की समालोचना की थी। श्रीधर पाठक को कालांतर में प्रथम स्वच्छंदतावादी कवि कहा गया। मिश्र बंधुओं ने उनके स्वाभाविक वर्णन की प्रशंसा की है। अपने समसामयिक और हिंदी काव्य में नवीन धारा प्रवर्तक कवि में इस विशेषता को मिश्र बंधुओं ने ढूँढ लिया था, उसके महत्व को समझा था। अतः मिश्र बंधुओं को केवल रीतिकालीन संस्कारों का समझना अनुचित है। अपने समसामयिक एवं नवीन काव्यांदोलनों को भी वे समझ सकते थे। उनका महत्व समझकर मुक्तकंठ से उनकी प्रशंसा भी कर सकते थे।

मिश्र बंधुओं ने आलोचना के अतिरिक्त हिंदी साहित्य का इतिहास लिखने की ओर भी ध्यान दिया। इस क्षेत्र में उनका कार्य अत्यंत महत्वपूर्ण है! 1901 ई. की 'सरस्वती' में उन्होंने एक लेख लिखकर ऐसा ग्रंथ लिखने का मंतव्य प्रकट किया था जिसमें 'हिंदी में उसके जन्म से आद्यावधि क्या-क्या उन्नति

तथा अवनति हुई है और उसके स्वरूप में क्या-क्या हेर-फेर हुए हैं, इसका वर्णन किया चाहते हैं।' यह मिश्र बंधु-विनोद की भूमिका थी। पं.रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास के प्रथम संस्करण के वक्तव्य में 'मिश्रबंधु-विनोद' को 'बड़ा भारी कविवृत्त संग्रह' कहा है और इसकी सीमाएँ भी बताईं, किंतु शुक्लजी के इतिहास-लेखन में इसकी उपयोगी भूमिका रही है। इस वृत्त-संग्रह की उपयोगिता आकर ग्रंथ के रूप में अब भी निस्संदिग्ध है।

पं.कृष्णबिहारी मिश्र ने 'देव और बिहारी' में दोनों कवियों की काव्य-विवेचना के अतिरिक्त शृंगार के रस-राजत्व पर भी विस्तृत विचार किया। इसमें उनकी काव्य-संबंधी धारणाएँ भी प्रकट हो गई हैं। वे 'रसराज' नामक अध्याय के प्रारंभ में ही लिखते हैं, 'कविता का उद्देश्य हमारी राय में आनंद प्रदान करना है।' (देव और बिहारी, चौथा संस्करण, पृ.73) मिश्रजी ने भाव, विभाव, अनुभाव और रस को अपने शब्दों में समझाया। वैचारिक स्पष्टता के कारण उनकी भाषा स्पष्ट और सरल है। उस काल के आलोचकों में ऐसी आडम्बरहीन भाषा लिखने वाला शायद ही कोई मिले।

मिश्रजी को रस के विभिन्न उपादानों की और अधिक एवं विस्तृत व्याख्या करनी चाहिए थी, किंतु उन्होंने इसकी आवश्यकता नहीं अनुभव की। उन्हें शृंगार को रसराज सिद्ध करना था, सो आगे बढ़ चले। इस संदर्भ में उन्होंने आर्नल्ड, शेली इत्यादि को तो अपने समर्थन में उद्धृत किया ही है, गांधीजी के भी दाम्पत्य-प्रेम विषयक विचारों को अपने पक्ष में प्रस्तुत किया है। निश्चय ही यह शृंगार की आधुनिक व्याख्या करने का प्रयास था।

'रसराज' पढ़कर ऐसा लगता है कि पं.कृष्णबिहारी मिश्र नामोल्लेख के बिना आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की नैतिकता-प्रधान साहित्यिक मान्यताओं का विरोध कर रहे हैं, 'हम कुरुचि प्रवर्तक कविता के समर्थक नहीं हैं। परंतु शृंगार-कविता के विरुद्ध जो आजकल धर्म-युद्ध-सा जारी कर रक्खा गया है, उसकी घोर निंदा करने से भी नही हिचकते हैं....कविता के लिए केवल रस-परिपाक चाहिए, उपयोगितावाद के चक्कर में डालकर ललित का सौंदर्य नष्ट करना ठीक नहीं।' (वही, पृ.82) पं. कृष्णबिहारी मिश्र की सहृदयता और रसग्राहिणी क्षमता निस्संदिग्ध है। वे कविता का रस ग्रहण करते हैं और उसमें लिपटी हुई स्थिति की व्याख्या करके उसे सुलभ बना सकते हैं। रीतिकालीन कवियों की व्याख्या वे अत्यंत सहृदयता के साथ करते हैं। परंतु यह व्याख्या वे आधुनिक काव्यशास्त्र के आधार पर न करके रीतिकालीन काव्यशास्त्र के आधार पर करते हैं। यह उनकी सीमा समझी जाएगी।

पं.कृष्णबिहारी मिश्र यद्यपि तुलनात्मक आलोचना करने वाले आलोचकों में ही हैं, किंतु उन्होंने यथासंभव निष्पक्षता से काम लिया है और देव तथा बिहारी दोनों कवियों के काव्योत्कर्ष की विवेचना की है। लेकिन वे भाव और भाषा, दोनों क्षेत्र में देव को बिहारी से बड़ा कवि मानते हैं।

पं.कृष्णबिहारी मिश्र के 'देव और बिहारी' के उत्तर में **लाला भगवानदीन** ने 'बिहारी और देव' लिखा। वे शब्दों को लेकर चमत्कार और विनोद कर सकते थे। बिहारी की प्रतिकूल आलोचना से क्षुब्ध होकर उन्होंने लिखा - 'एक बिहारी पर चार-चार बिहारियों - मिश्र बंधु, श्यामबिहारी, गणेश बिहारी, शुकदेव बिहारी और चौथे कृष्णबिहारी का देखकर बेचारा हिंदी साहित्य संसार घबड़ा गया है। लखनऊ प्रांत के निवासी बिहारियों ने रसिकराज कृष्ण की जन्मभूमि मथुरा नगर के निवासी बिहारी की कविता को हल्की ठहराकर देव पर बेतरह आसक्ति दिखाई है।' (बिहारी और देव, पृ.2) लालाजी की यह पुस्तक बिहारी की रक्षा के लिए लिखी गई थी। इसलिए हम इसमें बिहारी पर लगाए गए दोषों का परिहार ही पाते हैं, बिहारी के काव्योत्कर्ष की विवेचना नहीं। ज्यादातर तो यह किया गया है कि जो दोष बिहारी पर लगाए गए थे, बिहारी को उनसे मुक्त करके, वे ही दोष 'देव' पर लगा दिए गए हैं।

लालाजी ने मैथिलीशरण गुप्त के 'भारत-भारती' और 'जयद्रथ वध' की भी आलोचना की है। उनकी ये समीक्षाएँ 'लक्ष्मी' पत्रिका में 1915 ई. के कई अंकों में प्रकाशित हुई थीं।

लालाजी मध्यकालीन - विशेषतः रीतिकालीन साहित्य के मर्मज्ञ थे, बिहारी और केशव की जो टीकाएँ उन्हें लिखी हैं, उससे हिंदी के आलोचक लाभान्वित हुए हैं।

26.3.3 तुलनात्मक आलोचना

देव और बिहारी के विवाद में भाग लेने वाले आलोचकों में **पं.पद्म सिंह शर्मा** जैसे सहृदय विद्वान भी थे। शर्माजी संस्कृत, प्राकृत, हिंदी, फारसी और उर्दू साहित्य के मर्मज्ञ थे। जिसे तुलनात्मक समालोचना कहते हैं, उसकी सर्वाधिक योग्यता शर्माजी में थी।

शर्माजी भी प्राचीन - विशेषतः रीतिकालीन साहित्य के प्रेमी थे। वे शृंगार को साहित्य के लिए हानिकर नहीं समझते। वे खड़ी बोली हिंदी में काव्य-रचना के समर्थक नहीं मालूम पड़ते। वे सामाजिक दृष्टि से प्रेरणा देने वाली तत्कालीन रचनाओं को नीरस कहते हैं। अतः इनके मत आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के विपरीत ठहरते हैं।

शर्माजी ने सतसई का सौष्ठव, बिहारी का विरह-वर्णन, बिहारी का कवित्व और व्यापक पाण्डित्य, दोष परिहार पर विचार किया है तथा सर्वत्र बिहारी की प्रशंसा की है, उनकी तुलना में अन्य कवियों को हीन बताया है। 'सतसई संहार' नामक बृहत् लेख में पं. ज्वाला प्रसाद मिश्र द्वारा लिखी गई बिहारी सतसई की टीका की समीक्षा की है। इसमें शर्माजी ने विस्तार से मिश्रजी के दोष दिखाए हैं।

पं.पद्म सिंह शर्मा ने बिहारी के कई दोहों की तुलना गाथा सप्तशती और आर्या शप्तशती की गाथाओं और आर्याओं से करके यह दिखा दिया है कि बिहारी के कई दोहों में व्यक्त भाव पहले भी व्यक्त किए जा चुके थे और बिहारी के दोहों पर इन रचनाओं का प्रभाव स्पष्ट है। लेकिन बिहारी गाथाकार सातवाहन या आर्य्याकार गोवर्द्धन से उन्नीस नहीं बीस हैं क्योंकि बिहारी ने इनसे मज़मून छीन लिया है यानी उन्हीं बातों को लेकर उनमें नवीन भाव भर दिए हैं। शर्माजी की तुलनात्मक समालोचना में चुलबुलापन होता था। वे अपना पाण्डित्य, विनोदी स्वभाव तो प्रकट करते ही हैं, आलोचना में रोज़मर्रा की ज़बान का सहारा लेकर वैदग्ध्य भी दिखलाने में नहीं चूकते।

मिश्र बंधुओं, लाला भगवानदीन और पं.पद्मसिंह शर्मा - इनमें विवाद चाहे जितना अधिक हुआ हो किंतु ये तीनों रीतिकालीन संस्कारों से युक्त आलोचक हैं, इनकी श्रेणी एक ही है। ये नवीनता के समर्थक नहीं, उसके विरोधी हैं। यह दूसरी बात है कि इनपर यत्र-तत्र आधुनिकता के छींटे पड़ गए हैं।

आलोचना की उपर्युक्त अर्थात् रीतिकालीन प्रवृत्ति महत्वपूर्ण होते हुए भी आलोचना की उपधारा ही है। मुख्य धारा तो वह थी जिसके स्रोत भारतेंदु थे और जिसे आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का युगीन व्यक्तित्व प्रशस्त कर रहा था।

26.3.4 साहित्य का अध्ययन-अध्यापन और हिंदी आलोचना

इधर देश के स्वाधीनता आंदोलन के बढ़ते हुए प्रभाव के कारण शिक्षा का भी व्यापक प्रसार हो रहा था। देश में बढ़ती हुई साक्षरता ने अपनी भाषा और अपने साहित्य का गौरव पहचाना तो विश्वविद्यालयों में हिंदी भाषा के साथ हिंदी साहित्य का अध्ययन-अध्यापन उच्च कक्षाओं में होने लगा। इसके बाद स्नातकोत्तर कक्षाओं में हिंदी का अध्ययन-अध्यापन हिंदी आलोचना को प्रभावित करता रहा है। अपनी समस्त शक्ति और सीमा के साथ विश्वविद्यालयों में हिंदी के कई समर्थ और असमर्थ आलोचक हुए हैं, किंतु इसका उल्लेख करना आवश्यक है कि हिंदी के श्रेष्ठ आलोचक पं.रामचन्द्र शुक्ल भी अध्यापक-आलोचक थे। बाबू श्यामसुंदरदास को इस श्रेणी का पहला आलोचक कहा जा सकता है।

बाबू श्यामसुंदरदास ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'साहित्यालोचन' को एम.ए. के पाठ्यक्रम के उपयुक्त आलोचनात्मक पुस्तक के अभाव की पूर्ति के लिए लिखा। मौलिकता की कमी के होने पर भी यह हिंदी आलोचना का युगांतरकारी ग्रंथ है। हिंदी की आलोचना को आधुनिक और गंभीर साहित्यांग के रूप में विकसित करने का प्रयास करने वाला यह संभवतः प्रथम ग्रंथ है। इस ग्रंथ की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें भारतीय और पाश्चत्य काव्य-मतों को लेकर समन्वयात्मक दृष्टि है।

बाबू साहब ने साहित्य को परखने की दृष्टि को भी व्यापक बनाया। उन्होंने आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की विविध शाखाओं के संदर्भ में साहित्य को देखने का आग्रह किया। उन्होंने विभिन्न कलाओं की विवेचना करने के उपरांत उनके बीच काव्य कला का स्थान निर्धारित किया तथा अन्य कलाओं से उसकी तुलना की। साहित्य के विभिन्न अंगों और उपांगों का परिचय अपने समय में प्राप्त नवीनतम घटनाओं के आधार पर दिया। उन्होंने 'रस' एवं अलंकारों पर भी विचार किया। अंत में उन्होंने आलोच विविध प्रकारों और पक्षों पर भी प्रकाश डाला है।

स्नातकोत्तर कक्षाओं की आवश्यकताओं को ही ध्यान में रखकर बाबू श्यामसुंदरदास ने 'भाषा रहस्य' की रचना की। बाबू साहब ने हिंदी साहित्य का इतिहास भी लिखा है। पहली बार यह सन 1930 ई.में 'हिंदी भाषा और साहित्य' के नाम से प्रकाशित हुआ था। बाद में इतिहास का अंश 'हिन्दी साहित्य' नाम से अलग प्रकाशित हुआ। स्मरणीय है कि 'हिंदी भाषा और साहित्य' पं.रामचन्द्र शुक्ल

के 'हिंदी साहित्य का इतिहास' के प्रकाशित होने के एक वर्ष बाद प्रकाशित हुआ था। इसमें शुक्लजी जैसी आलोचनात्मकता नहीं है। इस इतिहास की विशेषता इसकी व्यापक दृष्टि में है। यह साहित्य को भाषा के विकास के साथ-साथ तथा अन्य कलाओं के विकास के संदर्भ में देखता है। इस ग्रंथ में उन्होंने हिंदी साहित्य की प्राचीनता और उसकी व्याप्ति पर भी विचार किया है। 'हिंदी साहित्य' शुक्लजी के 'हिंदी साहित्य का इतिहास' के पूरक का काम करता है।

हिंदी आलोचना में वैज्ञानिकता की परम्परा का जो प्रवर्तन भारतेंदु ने किया, उसे नवीन ज्ञान-विज्ञान के आलोक में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी और बाबू श्यामसुंदर दास ने विकसित किया। ये विचारक देश-विदेश में निरंतर विकासमान ज्ञान-राशि से सम्पर्क बनाए रहने पर आग्रह करते रहे। ये परम्परा का अनुकरण करने के बजाय उसका उपयोग करने के पक्ष में थे। आचार्य द्विवेदी का प्रभाव सर्जक साहित्यकारों पर अधिक पड़ा तो श्यामसुंदर दास का प्रभाव विश्वविद्यालयों में शास्त्र की साधना करने वाले अनुसंधित्सुओं और अध्यापकों पर पड़ा। आचार्य द्विवेदी ने आलोचना योग्य भाषा का रूप सुस्थिर करने का सफल प्रयास किया, उसको सही मार्ग पर प्रवृत्त किया और बाबू साहब ने आलोचना के आवश्यक उपादान एकत्र किए, उन्हें व्यवस्थित और संयोजित किया। उन्होंने नागरी प्रचारिणी सभा तथा काशी हिंदू विश्वविद्यालय में हिंदी विभाग की नींव डाली, योग्य विद्वानों को निमंत्रित किया, आवश्यक योजनाएँ बनाईं और उन्हें पूरा करने के लिए विद्वानों को सुविधाएँ प्रदान कीं। इन्हीं विद्वानों में पं.रामचन्द्र शुक्ल भी थे।

26.4 शुक्ल युग : विशुद्ध आलोचना

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिंदी आलोचना के युग-पुरुष हैं। 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में 'गद्य साहित्य का प्रसार' के द्वितीय उत्थान (संवत् 1950-1975) के अंतर्गत समालोचना पर विचार करते हुए शुक्लजी ने लिखा है, 'पर यह सब आलोचना बहिरंग बातों तक ही रही। भाषा के गुण-दोष, रस, अलंकार आदि की समीचीनता इन्हीं सब परम्परागत विषयों तक पहुँची। स्थायी साहित्य में परिगणित होने वाली समालोचना जिसमें कवि की अंतर्वृत्ति का सूक्ष्म व्यवच्छेद होता है, उसकी मानसिक प्रवृत्ति की विशेषताएँ दिखाई जाती हैं, बहुत कम दिखाई पड़ी।' (पृ.492) आगे गद्य साहित्य के तृतीय उत्थान के अंतर्गत समालोचना के विकास पर लिखते हुए उन्होंने कवियों की 'अंतःप्रवृत्ति की छान-बीन' की बात फिर की है। (वही, पृ.562) शिष्टता और विनम्रता के नाते उन्होंने यह नहीं लिखा कि 'ऐसी आलोचना मैंने की है।' उन्होंने उत्तम पुरुष का प्रयोग बचाते हुए अपने विषय में केवल यह लिखा, 'इस इतिहास के लेखक ने तुलसी, सूर और जायसी पर विस्तृत समीक्षाएँ लिखीं जिसमें से प्रथम 'गोस्वामी तुलसीदास' के नाम से पुस्तकाकार छपी है, शेष दो क्रमशः 'भ्रमरगीर सार और 'जायसी ग्रंथावली' में सम्मिलित हैं।' (वही, पृ.562) समालोचना विषयक अपनी धारणा बताकर शुक्लजी ने समालोचना विषयक अपनी विशेषता बता दी है। उन्हीं की गवाही पर कहा जा सकता है कि 'किसी कवि या पुस्तक के गुण-दोष या सूक्ष्म विशेषताएँ दिखाने के लिए एक दूसरी पुस्तक तैयार करने की चाल हमारे यहाँ न थी।' (वही, पृ.526) और 'हमारे हिंदी-साहित्य में समालोचना पहले-पहल केवल गुण-दोष-दर्शन के रूप में प्रकट हुई है।' (वही, पृ 527)

गुण-दोष के कथन से आगे बढ़कर कवियों की विशेषताओं और उनकी अंतःप्रवृत्ति की छानबीन की ओर तृतीय उत्थान में जो ध्यान दिया गया वह **समूचे भारतीय साहित्य-शास्त्र का आधुनिकीकरण था। यह कार्य पं.रामचन्द्र शुक्ल की समीक्षा द्वारा हुआ।** उनकी रचनाओं के कारण हिंदी की समालोचना ने नए युग में पदार्पण किया। हिंदी साहित्य की किसी एक विधा को कभी किसी एक साहित्यकार ने इतना अधिक नहीं प्रभावित किया था।

'कवि की अंतर्वृत्ति का सूक्ष्म व्यवच्छेद' — यह वाक्यांश अपने-आपमें उस तत्परता, गंभीरता, प्रामाणिकता और प्रतिभा का संकेत नहीं देता जिनकी कि वह माँग करता है। शुक्लजी ने केवल 'साहित्य ही नहीं पढ़ा था, साहित्य के स्रोत जीवन को भी परखा और समझा था। उन्होंने अपने युग-बोध को कठिन परिश्रम से अर्जित किया। अपने समय तक पहुँची हुई ज्ञान-विज्ञान की सीमा-रेखा पर खड़े होकर जीवन और साहित्य को देखा-भाला। अपने युग के मुहावरे में साहित्य की व्याख्या की। इसीलिए शुक्लजी सच्चे अर्थों में आधुनिक एवं प्रगतिशील साहित्य-मर्मज्ञ और समालोचक हुए।

साहित्येतर ग्रंथ जितनी संख्या में पं.रामचन्द्र शुक्ल ने लिखे या अनूदित किए उतने अभी तक हिंदी के किसी अन्य समालोचक ने नहीं। लगभग 14 वर्ष की ही अवस्था में उन्होंने एडिसन के 'एस्से ऑन

इमेजिनेशन' का अनुवाद 'कल्पना का आनंद' नाम से किया था। इसके अतिरिक्त, उन्होंने सर टी माधवराव की पुस्तक 'माइनर हिंट्स' का अनुवाद 'राज्य प्रबंध शिक्षा' नाम से किया। मेगस्थनीज़ के 'भारत विवरण', 'राखालदास वन्द्योपाध्याय के बंगला उपन्यास 'शशांक' और एडविन आर्नल्ड के 'लाइट ऑफ एशिया' का पद्यबद्ध अनुवाद 'बुद्धचरित' नाम से किया। जो बात ध्यान देने की है वह यह कि प्रायः इन सभी अनूदित ग्रंथों की उन्होंने विस्तृत भूमिकाएँ लिखीं। शुक्लजी के विचारों का निर्माण करने में जर्मनी के जगद्विख्यात प्रणितत्ववेत्ता हैकल की पुस्तक 'रिडिल ऑफ़ दि यूनीवर्स' का बहुत योगदान है। इस पुस्तक का अनुवाद शुक्लजी ने 'विश्व प्रपंच' नाम से किया और 155 पृष्ठों की विस्तृत भूमिका लिखी। इस भूमिका को पढ़ने से इस बात का पता चलता है कि शुक्लजी ने भौतिक विज्ञान, दर्शन तथा मनोविज्ञान का गहरा अध्ययन किया था। इसी आधार पर उनका दृष्टिकोण वैज्ञानिक हुआ था। इस वैज्ञानिक दृष्टिकोण का ही परिणाम है कि वे साहित्य की जागतिक व्याख्या करते हैं, अध्यात्म शब्द की काव्य या कला के क्षेत्र में कहीं कोई ज़रूरत नहीं समझते और अपने प्रिय कवि तुलसी को 'लोक-धर्म' का उद्घोषक कवि कहते हैं। इसीलिए कहा गया है कि पं.रामचन्द्र शुक्ल की दृष्टि वैज्ञानिक, प्रगतिशील और इहलौकिक है।

शुक्लजी ने राजनैतिक और आर्थिक समस्याओं पर भी विचार करते हुए शुद्ध राजनैतिक तथा आर्थिक निबंध लिखे हैं। 1903 या 1094 ई. में उन्होंने 'हिन्दुस्तान रिव्यू' में 'व्हाट हैज़ इण्डिया टू डू' नामक निबंध लिखा था। 1917 ई. में 'लीडर' उन्होंने 'हिंदी एंड मुसलमान्स' नामक निबंध प्रकाशित कराया था। बाँकीपुर (पटना) से निकलने वाले 'एक्सप्रेस' में उन्होंने गांधीजी के असहयोग आंदोलन के आर्थिक पक्ष का विरोध करते हुए 1921 ई. में 'नॉन-कोआपरेशन एंड द नॉन-मर्केन्टाइल क्लासेज' शीर्षक से एक निबंध लिखा था। शुक्लजी के जीवनी लेखक श्री चन्द्रशेखर शुक्ल ने लिखा है, 'राजनीतिक क्षेत्र में इस (लेख) की बरसों चर्चा रही।' (रा.च.शु. 315)

शुक्लजी ने 'हिंदी शब्द-सागर' का सम्पादन भी किया था। 'हिंदी साहित्य का इतिहास' इसकी भूमिका के रूप में लिखा गया था। इस कोश में दिए गए 93,115 शब्दों पर शुक्लजी ने विचार किया, उनके प्रयोगों पर मनन करके उनका उपयुक्त एवं यथातथ अर्थ निश्चित किया होगा। शब्दों का प्रयोग करना एक बात है, किंतु उनका अर्थ समझाना, उनकी वैज्ञानिक विवेचना करना है। सम्पादक-मंडल में और भी लोग थे लेकिन कोश के प्रधान सम्पादक बाबू श्यामसुंदर दास ने सबसे अधिक श्रेय शुक्लजी को दिया है। (हिंदी शब्द-सागर, प्रथम संस्करण की भूमिका, पृ.7)

पं.रामचन्द्र शुक्ल ने अनेक ऐसे शब्द गढ़े जो उनके आलोचना-कर्म को समझने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। उनके विचार से **कविता का उद्देश्य हृदय को लोक-सामान्य की भावभूमि पर पहुँचा देना है।** 'लोक-सामान्य' शब्द से शुक्लजी की साहित्य-संबंधी मूल धारणा लिपटी हुई है। डॉ.रामविलास शर्मा ने ठीक ही लिखा है कि हिंदी साहित्य में शुक्ल जी का वही महत्व है जो उपन्यासकार प्रेमचंद या कवि निराला का है। उनके अनुसार, शुक्लजी ने 'बाह्य जगत और मानव जीवन की वास्तविकता के आधार पर नए साहित्य सिद्धांतों की स्थापना की और उनके आधार पर सामंती साहित्य का विरोध किया और देशभक्ति और जनतंत्र की साहित्यिक परंपरा का समर्थन किया।' (आ.रामचन्द्र शुक्ल और हिंदी आलोचना, भूमिका)

शुक्लजी ने व्यक्ति धर्म के स्थान पर 'लोक-धर्म' को श्रेयस्कर बताया। उन्होंने साहित्य में जीवन को और जीवन में साहित्य को प्रतिष्ठित किया। उन्होंने यह कार्य अत्यंत व्यवस्थित ढंग से किया। केवल व्यावहारिक समीक्षा में ही नहीं, काव्यशास्त्र-संबंधी विवेचन में भी उन्होंने अपने दृष्टिकोण से भाव, विभाव, रस की पुनर्व्याख्या की। इस पुनर्व्याख्या का आधार आधुनिक दृष्टिकोण है। भावों और मनोविकारों की व्याख्या वे विकासवादी पद्धति से करते हैं - भाववादी पद्धति से नहीं। शुक्लजी मानते हैं कि 'भाव मन की वेगयुक्त अवस्था-विशेष है।' शुक्लजी की विचारधारा में इस 'वेगयुक्त अवस्था' का बहुत महत्व है। इसके आधार पर उन्होंने काव्य का लक्ष्य निर्धारित किया है। शुक्लजी जिसे भाव कहते हैं उसमें बोध, अनुभूति और प्रवृत्ति तीनों मौजूद हैं। उन्होंने भाव की परिभाषा इस प्रकार की है 'प्रत्यय बोध, अनुभूति और वेगयुक्त प्रवृत्ति इन तीनों के गूढ संश्लेष का नाम 'भाव' है।' (रस मीमांसा पृ.135) इस संश्लेष को शुक्लजी ने जीवन और साहित्य का मानदण्ड बनाया है। वे मानते हैं कि भाव की प्रतिष्ठा से प्राणियों के कर्म-क्षेत्र का विस्तार बढ़ा है। चूँकि काव्य भी भावों को अभिव्यक्त करता है इसलिए उससे भी कर्म-क्षेत्र में प्रवृत्त होने की प्रेरणा मिलनी चाहिए। यही वह आधार है जिसपर आचार्य शुक्ल काव्य में लोक-मंगल के आदर्श की प्रतिष्ठा करते हैं, काव्य को सामाजिक चेतना के उत्तरदायित्व से युक्त करते हैं।

शुक्लजी के विचार में काव्य के रसास्वादन का लक्ष्य आनंद नहीं 'भाव-योग' है। अर्थात् कविता के द्वारा मनुष्य हृदय की मुक्ति की साधना करता है। 'मुक्त हृदय मनुष्य अपनी सत्ता को लोक-सत्ता में लीन किए रहता है।' (वही, पृ.6) यानी कविता का लक्ष्य मनुष्य को व्यष्टि से समष्टि में लीन कर देना है। जिसे रस-दशा कहा जाता है उसके विषय में शुक्लजी का कहना है कि '...लोक हृदय में हृदय के लीन होने की दशा का नाम रस-दशा है।' (वही, पृ.217) यानी कविता जीवन से पलायन नहीं है, बल्कि वह हमें जीवन में अधिक व्यापक पैमाने पर अधिक गहराई में उतारती है। अधिक अनुभूतिमय, अधिक बोधवान और अधिक कर्मण्य बनाती या कर्मण्य बनने की प्रेरणा देती है।

विभिन्न भावों की जो विवेचना शुक्लजी ने की है, उसमें उन्होंने अद्भुत पाण्डित्य, मौलिकता और पर्यवेक्षण का सबूत दिया है। उदाहरणस्वरूप करुणा और प्रेम विषयक विवेचन को रखा जा सकता है। उनके अनुसार, करुणा ही ऐसी भावना है जो मनुष्य को अंततः लोक-रक्षा की ओर उन्मुख करती है। करुणा के ही कारण काव्य लोक-सामान्य भावभूमि तक पहुँचता है। अतः करुणा सामाजिकता का मूल आधार है। शुक्लजी के अनुसार करुणा अपने से दूसरों के यानी संसार के वास्तविक सुख के साधन और दुःख की निवृत्ति की प्रवृत्ति को उत्पन्न करती है, इसलिए मनुष्य की प्रकृति में शील और सात्विकता का संस्थापक मनोविकार है। (वही, पृ.48) शुक्लजी यह भी बताते हैं कि करुणा - अनुग्रह, दया कृपा से किस प्रकार भिन्न है, करुणा के वेग से व्यक्ति लोक-रक्षा में किस प्रकार तत्पर होता है।

प्रेम और करुणा संबंधी विवेचना भारतीय काव्यशास्त्र को शुक्लजी की देन है। उनकी इस विवेचना का प्रभाव उनके काव्य-चिंतन और उनकी व्यावहारिक समीक्षा पर अत्यंत व्यापक एवं गंभीर रूप से पड़ा है। करुणा का संबंध उन्होंने साधनावस्था से जोड़ा और प्रेम का सिद्धावस्था से। प्राचीन आचार्यों ने करुणा और प्रेम में वैसा भेद नहीं किया था, जैसा शुक्लजी ने। शुक्लजी के अनुसार, ये दोनों भाव मंगल का विधान करते हैं लेकिन करुणा की प्रवृति रक्षा की ओर होती है जबकि प्रेम की प्रवृत्ति रंजन की ओर। करुणा की अभिव्यक्ति का पूरा अवकाश प्रबंध काव्यों में ही होता है, इसलिए शुक्लजी प्रबंध काव्यों के आग्रही हैं।

'प्रेम' का अवकाश करुणा द्वारा प्रेरित प्रयत्नों के सफल होने के बाद होता है। आदि-काव्य रामायण के कथानक उदाहरण प्रस्तुत करते हुए उन्होंने लिखा है : 'लोक के प्रति करुणा जब सफल हो जाती है, लोक जब पीड़ा और विघ्न-बाधा से मुक्त हो जाता है, तब राम-राज्य में जाकर लोक के प्रति प्रेम प्रवर्तन का, प्रजा के रंजन का, उसके अधिकाधिक सुख के विधान का अवकाश मिलता है।' (वही, पृ.54)

आनंद की सिद्धावस्था का चित्रण करने वाली रचनाओं का बीज भाव 'प्रेम' है। प्रेम के दो पक्ष हैं - रंजन और पालन। रंजन का संबंध शृंगार से है और पालन का वात्सल्य से। प्रेम के केवल शृंगार पक्ष पर ही बल देने को शुक्लजी ठीक नहीं समझते। सूरदास की कविता को शुक्लजी इसलिए पसंद करते हैं कि सूरदास ऐसे कवि हैं जिन्होंने वात्सल्य का चित्रण भी किया है और उसे शृंगार से अधिक नहीं तो कम महत्व भी नहीं दिया है।

जगत् को शुक्लजी काव्य का मूल कारण मानते हैं। जगत् कल्पना, सौंदर्य, भावों या मनोविकारों के निर्माण का आधार है। जगत् को शुक्लजी 'विश्व-काव्य' तथा 'महाकाव्य' कहते हैं। मन क्या है? - इसका उत्तर देते हुए वे लिखते हैं, 'यही बाहर हँसता-खेलता, रोता-गाता, खिलता, मुरझाता जगत् भीतर भी है जिसे हम मन कहते हैं। जिस प्रकार यह जगत् रूपमय और गतिमय है उसी प्रकार मन भी। मन भी रूप-गति का संघात ही है।' (वही, पृ.24)

शुक्लजी के काव्य-चिंतन में काव्य और जीवन का भेद नहीं के बराबर है। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि हमें सृष्टि सौंदर्य के प्रत्यक्ष दर्शन में उसी प्रकार की रसानुभूति होती है जैसी रसानुभूति उत्तम काव्य के पारायण से होती है।

शुक्लजी ने माना है कि रूप-विधान तीन प्रकार के होते हैं - (1) प्रत्यक्ष रूप-विधान (2) स्मृत रूप-विधान (3) संभावित या कल्पित रूप-विधान। प्रत्यक्ष रूप-विधान के अंतर्गत तो शुक्लजी के परम-प्रिय विषय प्रकृति तथा मनुष्य का कर्म-कलाप आ जाता है तथा स्मृत रूप-विधान के अंतर्गत इतिहास। प्रकृति और इतिहास से शुक्लजी का इतना अधिक ममत्व है कि उनके जैसा संतुलित और तथ्य-निरूपक समीक्षक भी भावुक हो उठता है।

संभावित या कल्पित रूप-विधान के अंतर्गत प्रत्यक्ष देखे या जाने पदार्थों के आधार पर नवीन वस्तु-व्यापार-विधान खड़ा किया जाता है। कल्पना कवि को अपार शक्ति और क्षेत्र प्रदान करती है। परंतु इसके उपयोग में अपने कदम मज़बूती से ज़मीन पर रखने होते हैं। कल्पना का काम है यथार्थ को ही सजाना-सँवारना। कल्पना हम 'वितथीकरण' के द्वारा करते हैं। शुक्लजी ने इसी बात को यों कहा है, 'जो वस्तु हमसे अलग है, हमसे दूर प्रतीत होती है उसकी मूर्ति मन में लाकर उसके सामीप्य का अनुभव करना ही उपासना है। साहित्य वाले इसी को भावना कहते हैं और आजकल के लोग 'कल्पना'। (वही, पृ.21)

कल्पित रूप और प्रत्यक्ष या ज्ञात रूप में मार्मिक साम्य का सूत्र होता है। इस सूत्र के न रहने या टूट जाने से 'कल्पना' तमाशा बनकर रह जाती है। ऐसे कल्पित विधान को शुक्लजी ने लोकोत्तर विधान करने वाली कल्पना कहा है और उसपर कठोरतम प्रहार किया है। शुक्लजी के अनुसार कल्पना जिस साम्य पर लाई जाए वह आभ्यन्तर प्रभाव साम्य पर आधारित होनी चाहिए। प्रस्तुत और अप्रस्तुत पदार्थों का संबंध मार्मिक और घनिष्ठ होना चाहिए। अप्रस्तुत ऐसा हो जो वांछित प्रभाव उत्पन्न करके भाव को प्रगाढ बना सके। मुख यदि कमल के समान कहा जाता है तो इसलिए कि सुंदर मुख देखने से हमारे मन पर वैसा ही सुखद प्रभाव पड़ता है जैसा कि कमल देखने से। मन पर पड़ने वाली इसी प्रभाव समानता को शुक्लजी आभ्यन्तर प्रभाव साम्य कहते हैं। जिनमें यह दिखलाई पड़ा उन कविताओं की उन्होंने प्रशंसा की।

शुक्लजी के मत में मूल और महत्वपूर्ण है - प्रस्तुत भाव। अप्रस्तुत या तो प्रस्तुत का पोषण करे या उसके सदृश हो। वस्तुतः सदृश्य-विधान से भी पोषण ही होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि रूप-विधान में भी शुक्लजी प्रस्तुत को ही महत्वपूर्ण मानते हैं। यह मत भी उनकी वस्तुवादी और ऐहिक चिंतन प्रणाली की संगति में है।

शुक्लजी ने समीक्षा-सिद्धांत साहित्य रचनाओं के आधार पर स्थापित किए हैं। अतः उनकी सैद्धांतिक और व्यावहारिक समीक्षा में संगति है। वे जहाँ सिद्धांत प्रतिपादन में प्रवृत्त होते हैं, वहीं प्रचुर उदाहरण और उद्धरण देकर अपने कथन को प्रमाणित कर देते हैं। उनके सिद्धांत ऊपर से थोपे हुए नहीं हैं बल्कि साहित्य के रसास्वादन के माध्यम से प्राप्त किए हुए निष्कर्ष हैं। वे व्यवहार से सिद्धांत पर पहुँचते हैं। साहित्य का पारायण करके निगमनात्मक पद्धति से जो सूत्र उन्होंने खोज निकाले हैं, वे ही उनके समीक्षा सिद्धांत हैं। यह पद्धति आधुनिक और वैज्ञानिक है इसलिए शुक्लजी आधुनिक और वैज्ञानिक समीक्षक हैं। पूर्व और पश्चिम के प्राचीन काव्य-चिंतकों की मान्यताओं से शुक्लजी ने जो अपना मतभेद प्रकट किया है, वह भी रचनाओं के आधार पर ही। समीक्षक के लिए सहृदय होना अनिवार्य है। सच्चे समालोचक की बहुत बड़ी पहचान यह है कि आलोच्य कृतियों के उत्कृष्ट स्थलों को वह पहचान सका है या नहीं। महत्वपूर्ण समीक्षक समकालीन रचनाकारों को निर्देश देता है, उन्हें प्रभावित करता है और कालजयी क्लासिकी साहित्य का पुनर्मूल्यांकन करता है। प्राचीन साहित्य की वह युगानुकूल व्याख्या करता है, उनमें अपने युग की दृष्टि से देखे हुए सौंदर्य को ढूँढ निकालता है और इस तरह उन्हें वह फिर से संदर्भवान बनाता है। महान् साहित्य इसी प्रकार जातीय चिंतन और भावना का अंग बना रहता है। पं.रामचन्द्र शुक्ल ने प्राचीन साहित्य में से समीक्षा के लिए तुलसीदास, सूरदास, और जायसी को चुना। संस्कृत के कवियों में उन्हें वाल्मीकि, भवभूति और कालिदास विशेष रूप से प्रिय थे। उनके काव्य-चिंतन की प्रणाली को विकसित करने में उनके प्रिय कवियों का बहुत बड़ा हाथ रहा है। करुणा और प्रेम का जो विशद विवेचन उन्होंने किया है, शीलदशा की काव्य में जो उपयोगिता आँकी है, आनंद की साधनावस्था और सिद्धावस्था की जो कल्पना की है तथा काव्य में लोकमंगल का जो महत्व स्थापित किया है वह सब अपने प्रिय कवियों की व्याख्या करने के उपक्रम में। गोस्वामी तुलसीदास और सूरदास की आलोचना करते हुए प्रसंगवश उन्होंने भक्ति की भी व्याख्या की है। भक्ति की जो व्याख्या उन्होंने की है वह लौकिक है। शुक्लजी करुणा और प्रेम को दो स्वतंत्र भाव मानते थे। सूरदास को उन्होंने प्रेम का - जिसके अंतर्गत पालन और रंजन आते हैं, कवि माना है और तुलसीदास को करुणा का - जिसके अंतर्गत लोकरक्षा का भाव आता है, कवि माना है।

शुक्लजी के अनुसार प्रेम को ही अपने काव्य के लिए चुनने के कारण सूरदास आनंद की साधना या प्रयत्नावस्था के नहीं, सिद्धावस्था के कवि हैं। शुक्लजी ने सुझाया है कि कृष्ण चरित्र में भी करुणा नामक बीज भाव के प्रसार का पर्याप्त अवकाश था किंतु सूर की वृत्ति इस ओर नहीं रमी है। सूरसागर के उत्कृष्ट स्थल वे हैं जहाँ कवि ने बालकृष्ण की लीलाओं का और गोपियों के संयोग शृंगार का वर्णन किया है। बाल लीला वर्णन में सूर काव्य की उत्कृष्टता का रहस्य स्वाभाविकता है। यह वर्णन लोक-सामान्य की भावभूमि पर किया गया है। सूरदास के काव्य की मार्मिकता का दूसरा रहस्य यह है

कि कृष्ण की लीलाओं का क्षेत्र प्रकृति का विस्तृत प्रांगण है, घर का कोई कोना नहीं। शुक्लजी ने लक्षित किया है कि, 'कवियों को आकर्षित करने वाली गोप-जीवन की सबसे बड़ी विशेषता है - प्रकृति के विस्तृत क्षेत्र में विचरने के लिए सबसे अधिक अवकाश।' (सूरदास, पृ.79)

शुक्लजी को सूर का संयोग वर्णन अच्छा लगता है क्योंकि बाल-लीला के समान कृष्ण की प्रेम-लीला भी प्रकृति और कर्मक्षेत्र की पृष्ठभूमि में वर्णित होती है। सच्चा प्रेम साहचर्य-जनित होता है, आकस्मिक या दुर्घटना के रूप में नहीं। शुक्लजी का यह मानदण्ड सूर के प्रेम-लीला वर्णन पर घटित होता है, यों कहें कि सूर का संयोग वर्णन शुक्लजी की कसौटी पर खरा उतरता है।

संयोग-वर्णन की भाँति सूर के वियोग-वर्णन में से भी शुक्लजी ने ऐसे ही अंशों को पसंद किया है जहाँ कर्मरत् सहज जीवन के बीच में वात्सल्य और वियोग की मार्मिक झलक दिखाई पड़ती है।

शुक्लजी सूरदास की सीमाओं की ओर भी संकेत करते हैं। सूरदास जब कृष्ण की दैवीशक्ति को प्रकट करने के लिए या रूप वर्णन करने के लिए 'दूर की कौड़ी' लाते हैं या प्रत्यक्ष जगत् की परिचित वस्तुओं को छोड़कर अदेखी या असाधारण वस्तुओं को लाकर उपमानों की माला पिरोने लगते हैं तो वे कवि-रूप में चूकने लगते हैं।

सहज और स्वाभाविक उक्तियाँ अनलंकृत होने पर भी मार्मिक व्यंजना करने में समर्थ होती हैं। सूरदास की ऐसी उक्तियों की प्रशंसा करते हुए शुक्लजी ने उनकी मार्मिक व्याख्या की है। 'नंद! ब्रज लीजै ठोंकि-बजाय' पंक्ति की व्याख्या करते हुए शुक्लजी लिखते हैं कि 'ठोंकि-बजाय में कितनी व्यंजना है। तुम अपना ब्रज अच्छी तरह सँभालो, तुम्हें इसका गहरा लोभ है, मैं जाती हूँ। एक-एक वाक्य के साथ हृदय लिपटा हुआ आता दिखाई दे रहा है। एक वाक्य दो-दो तीन-तीन भावों से लदा हुआ है। श्लेष आदि कृत्रिम विधाओं से मुक्त ऐसा ही भाव-गुरुत्व हृदय को सीधे जाकर स्पर्श करता है। इसे भाव-शबलता कहें या भाव-पंचामृत, क्योंकि एक ही वाक्य 'नंद! ब्रज लीजै ठोंकि-बजाय' में कुछ निर्वेद, कुछ तिरस्कार और कुछ अमर्ष इन तीनों की मिश्र व्यंजना - जिसे शबलता ही कहने से संतोष नहीं होता - पाई जाती है।' (सूरदास, पृ.188)

तुलसीदास शुक्लजी के प्रिय क्या आदर्श कवि हैं। यह निर्णय कर पाना कठिन है कि तुलसी ने उनके आलोचनात्मक मानदण्ड के निर्माण में सहयोग दिया है या तुलसी इस मानदण्ड पर खरे उतरे हैं। इस तथ्य का पहले उल्लेख किया जा चुका है कि करुणा के विधान के अवकाश के कारण शुक्लजी काव्य में प्रबंधत्व को अधिक महत्व देते थे। प्रबंधकार की कसौटी वे मार्मिक प्रसंगों की पहचान और जीवन की विविधता का व्यापक रूप में चित्रण को भी मानते थे। इन सूत्रों को आधार बनाकर वे लिखते हैं - 'हिंदी के कवियों में इस प्रकार की सर्वांगपूर्ण भावुकता हमारे गोस्वामीजी में है जिसके प्रभाव से रामचरितमानस उत्तरी भारत की सारी जनता के गले का हार हो रहा है।' (तुलसीदास, पृ.84)

इसमें क्या संदेह कि गोस्वामी तुलसीदास की प्रतिष्ठा अत्यंत लोकप्रिय कवि के रूप में शताब्दियों पूर्व हो चुकी थी। लेकिन किसी काव्य को अच्छा समझना अथवा महसूस करना एक बात है और उसकी महानता की व्याख्या करना दूसरी बात है। शुक्लजी ने गोस्वामी तुलसीदास की महानता और लोकप्रियता की व्याख्या की और हमें उस रहस्य से अवगत करा दिया जिसके कारण उनका काव्य इतना लोकप्रिय और महान है। उनके इस कार्य से पाठकों ने तुलसी के काव्योत्कर्ष को लेकर महसूस ही नहीं किया बल्कि समझने भी लगे। शुक्लजी ने तुलसी के काव्य को अपने युग-बोध और युग की भाषा में व्याख्यायित किया या उसकी युगानुकूल पुनर्व्याख्या की। तुलसी को आधुनिक जीवन के लिए संदर्भवान बनाया।

शुक्लजी ने राम-कथा के भीतर अनेक अत्यंत मर्मस्पर्शी स्थलों का उल्लेख किया है। इनमें भी सबसे अधिक मर्मस्पर्शी उन्हें राम-वनगमन प्रसंग लगता है। क्योंकि इसके द्वारा राम जीवन के व्यापक कर्म-क्षेत्र में उतरते हैं। राम-वनगमन उनके लोक-रक्षा में प्रवृत्त होने की भूमिका है। इसी मनोहर दृश्य में करुणा के बीज भाव का वपन होता है। इस दृश्य की मर्मस्पर्शिता का कारण बताते हुए शुक्लजी लिखते हैं, 'एक सुंदर राजकुमार के - छोटे भाई और स्त्री को लेकर - घर से निकलने और वन-वन फिरने से अधिक मर्मस्पर्शी दृश्य क्या हो सकता है?' (वही, पृ.79) सौंदर्य, शील और शक्ति से युक्त राम का यह रूप करुणा से प्रेरित लोक-रक्षार्थ युद्ध में राम का प्राक्-रूप है।

तुलसी का रामचरितमानस एक ऐसा महाकाव्य है जिसमें शुक्लजी को करुणा का सम्यक प्रसार दिखलाई पड़ा, जिसमें जीवन अपनी संपूर्ण विविधता में अंकित हुआ है। शुक्लजी के प्रिय भाव लोकमंगल की प्रतिष्ठा उसमें नाना विषम परिस्थितियों के बीच - उनकी परिणति के रूप में होती है। शुक्लजी जिस प्रकार नरेतर बाह्य प्रकृति का विस्तृत रूप में देखना चाहते थे उसी प्रकार उन्हें नर प्रकृति का विस्तार, और प्रसार भी रुचिकर था बशर्ते उसके केंद्र में लोक-मंगल की भावना अवश्य प्रतिष्ठित हो। सामाजिक मर्यादाओं का पालन, औचित्य, संकोच, विनम्रता और लोकवादिता के आदर्शों का जितना सम्यक् निरूपण मानस में हुआ है उतना किसी अन्य हिंदी काव्य में नहीं। मानस के राम सद्गुणों से युक्त लोक-रक्षा में प्रवृत्त शील-दशा को प्राप्त नायक हैं। सीता राम के साथ बीहड़ पथ पर चलने वाली साधारण स्त्री हो गई हैं। मानस के लोकमंगल भाव के प्रेरक रूप को शुक्लजी ने खोजा है उसकी युगानुकूल व्याख्या की है। इसीलिए कहा गया है कि मानस और तुलसी को उन्होंने हमारे लिए संदर्भवान् बनाया है।

तुलसीदास और सूर तो पहले से ही अत्यधिक लोकप्रिय कवि थे। सूफी कवि जायसी उतने लोकप्रिय नहीं थे। वे सूफी थे। आज हिंदी साहित्य के इतिहास का पाठक मुस्लिम कवि जायसी को सूर-तुलसी की कोटि में पाता है। जायसी मुस्लिम सूफी कवि थे, लेकिन शुक्लजी ने उन्हें भक्तों की कोटि मे परिगणित किया है। केवल एक यही तथ्य उनके हृदय की विशालता और धर्म-निरपेक्षता को प्रकट करने को बहुत है। एकेश्वरवाद और अद्वैतवाद में अंतर दिखाते हुए शुक्लजी ने सूफियों को अद्वैती भक्तों के निकट बताया। सूफी कवियों के विषय में शुक्लजी ने लिखा है कि 'इनकी रचनाओं के द्वारा हिंदू और मुसलमानों में भावात्मक संबंध स्थापित हुए। इन रचनाओं में प्रकट हुआ कि जिस प्रकार एक मत वालों के हृदय में प्रेम की तरंगें उठती हैं उसी प्रकार अन्य मत वालों के हृदय में भी। बाह्य विभेद रहने पर भी मनुष्य मात्र में भावना के स्तर पर समानता है। यदि ऐसा न होता तो साहित्य सार्वजनिक और सार्वदेशिक न होता। सूफी कवि 'प्रेम की पीर' की व्यंजना करते थे। भारत में जो कहानियाँ प्रचलित थीं, उन्हीं के आधार पर काव्य-रचना करके सूफियों ने यह दिखला दिया कि एक ही गुप्त द्वार मनुष्य मात्र के हृदयों से होता हुआ गया है जिसे छूते ही मनुष्य सारे बाहरी रूप-रंग के भेदों की ओर से ध्यान हटा एकत्व का अनुभव करने लगता है।' (जायसी ग्रंथावली की भूमिका, 8वाँ संस्करण, पृ.2)

पद्मावत प्रेम-काव्य है। उसमें नायक करुणा का भाव लेकर लोक-रक्षार्थ कर्म-क्षेत्र में प्रवृत्त नहीं होता है, लेकिन यह अवश्य है कि प्रेम विघ्न-बाधामय, कंटकाकीर्ण मार्ग पर संघर्ष करता हुआ आगे बढता है। लोक-रक्षार्थ न सही लेकिन विस्तृत कर्म-क्षेत्र में प्रवृत्त होने का अवसर नायक को मिला है। पद्मावत का कथानक घटना-संकुल है। इसकी गहरी अनुभूति उत्पन्न करने के लिए जैसी परिस्थितियों की आवश्यकता पड़ती है वे पद्मावत में विद्यमान हैं।

जायसी और सूफी कवियों की जिस विशेषता ने शुक्लजी को सबसे अधिक आकृष्ट किया है वह है प्रकृति वर्णन। सूफी कवियों ने प्रकृति के साथ जिस तादात्म्यगत अनुभूति की व्यंजना की है वह मध्यकालीन ही नहीं, समूचे हिंदी साहित्य में दुर्लभ है। शुक्लजी का कहना है कि जायसी अनुमान या ऊहा के आधार के लिए ऐसी वस्तु सामने लाते हैं, जिसका स्वरूप प्राकृतिक है जिससे सामान्यतः सब लोग परिचित होते हैं।

नागमती के विरह-वर्णन को शुक्लजी ने हिंदी में अद्वितीय कहा है। जिसमें सीता की भाँति नागमती का 'रानीत्व' छूट गया है और महलों में रहने वाली रानी साधारण नारी की भाँति वन-वन बिलख रही है। शुक्लजी ने कविता के विषय में लिखा है कि वह हमें 'लोक-सामान्य भावभूमि' पर खड़ा कर देती है। यह सामान्य भूमि शुक्लजी की रुचि की कसौटी है।

शुक्लजी के व्यापक अध्ययन का उल्लेख पहले किया जा चुका है। यह देखकर थोड़ा आश्चर्य ही होता है कि रिचर्ड्स की पुस्तक 'प्रिंसिपल्स आपका लिटरेरी क्रिटिसिज्म' के प्रकाशित होते ही इतनी जल्दी उन्होंने न केवल पढ़ ली, बल्कि हिंदी साहित्य के संदर्भ में उनके विचारों को उद्धृत करते हुए उनका उपयोग किया। वाल्ट व्हिटमैन, विलियम डिकन्सन, कमिंग्ज़ जैसे आधुनिक कवियों की प्रासंगिक समालोचना की। शुक्लजी के विषय में डॉ.नामवर सिंह का यह कथन ठीक लगता है कि हिंदी आलोचना केवल उनके लेखन से विश्व-समालोचना के समकक्ष हुई। चाहे प्राचीन साहित्य हो चाहे आधुनिक, उनकी पकड़ इतनी मज़बूत और दृष्टि इतनी मर्म-भेदिनी है कि वह चूकते नहीं। उनकी दृष्टि और उनके मूल्यांकन से मतभेद हो सकता है किंतु कोई कवि या साहित्यकार यह कहने का साहस नहीं कर सकता कि शुक्लजी ने उसकी आलोचना बिना समझे कर दी है।

शुक्लजी ने श्रीधर पाठक और रामनरेश त्रिपाठी को सच्चे अर्थों में स्वच्छंदतावादी कवि माना है। उनके अनुसार इन कवियों में स्वच्छंदता का स्वाभाविक विकास है। वे अंग्रेज़ी स्वच्छंदतावादी कविताओं के अंधानुकरण को गलत मानते हैं क्योंकि रीतिकाल या भारतेंदु काल के अंत में जो परिस्थिति थी वही परिस्थिति स्वच्छंदतावाद के समय इंग्लैंड की नहीं थी। शुक्लजी का कहना है कि नए कवियों (छायावादी कवियों) को अपनी काव्य परंपरा का विकास करना चाहिए था। वे छंद, लय आदि के विषय में पुरानी परंपरा को ही आगे बढ़ाने के पक्ष में थे। खड़ी बोली पद्य के लिए सुंदर लय और चढ़ाव-उतार के कई नए ढाँचे निकालने के लिए श्रीधर पाठक की उन्होंने प्रशंसा की थी। द्विवेदीयुगीन काव्य की सीमाओं को लक्षित करते हुए उन्होंने लिखा कि उसमें, 'कल्पना का रंग भी बहुत कम या फीका रहता था और हृदय का वेग भी खूब खुलकर नहीं व्यंजित होता था।' शुक्लजी के अनुसार यह कमी मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पाण्डेय, बदरीनाथ भट्ट और पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी की कविताओं से पूरी होने लगी थी।' अतः हिंदी कविता की नई धारा का प्रवर्तक इन्हीं को - विशेषतः श्री मैथिलीशरण गुप्त और मुकुटधर पाण्डेय को समझना चाहिए। ' (हिं.सा.इ., पृ.650)

शुक्लजी छायावाद के आध्यात्मिक रहस्यवादी रूप के विरोधी थे। वे ऐसे रहस्यवाद को काव्य के क्षेत्र के बाहर की चीज़ समझते थे। हिंदी के छायावादी आंदोलन को उन्होंने बाहर का अंधानुकरण माना है। उनके अनुसार, स्वयं रवीन्द्रनाथ ठाकुर पर पाश्चात्य ढाँचे के आध्यात्मिक रहस्यवाद का प्रभाव था। 'इस वाद के आने से हिंदी के नए कवि एकबारगी उधर झुक पड़े।' - क्यों झुक पड़े इसपर उन्होंने विचार नहीं किया है।

छायावाद से शुक्लजी की शिकायत का मुख्य कारण था 'अर्थभूमि के विस्तार की ओर दृष्टि न जाना' और विभाव पक्ष का शून्य अथवा अनिर्दिष्ट रह जाना। परवर्ती काव्य में जब छायावाद के कवियों ने सामाजिकता के दबाव से जीवन और जगत की सहज बातों को भी अपने काव्य में चित्रित किया तो शुक्लजी ने उनकी प्रशंसा की।

शुक्लजी ने आभ्यंतर प्रभाव-साम्य के आधार पर अप्रस्तुत की योजना को छायावाद की बहुत बड़ी विशेषता माना है। इस आधार पर शुक्लजी ने छायावादी पदावली की 'जितनी स्पष्ट और निश्चित व्याख्या की है, वैसी फिर किसी ने नहीं की जैसे धूल की ढेरी (असुंदर वस्तु), मधुमय गान (गाने के विषय अर्थात् सुंदर वस्तुएँ), मर्म-पीड़ा के हास, हास-विकास, समृद्धि, विरोध-वैचित्र्य के लिए व्यंग्य-व्यंजक संबंध को लेकर लक्षण मर्म-पीड़ा के हास - मेरे पीड़ित मन आधार-आधे संबंध को लेकर' इत्यादि।

शुक्लजी छायावाद को काव्य-शैली मात्र मानते हैं। इसके कथ्य या वस्तु में कोई नवीनता है, यह वह नहीं मानते। उनके इतिहास को ध्यानपूर्वक पढ़ने से ज्ञात होता है कि वे छायावादी वस्तु और मुकुटधर पाण्डेय या मैथिलीशरण गुप्त इत्यादि स्वाभाविक स्वच्छंदतावादी कवियों की काव्य-वस्तु में कोई खास अंतर नहीं मानते। शुक्लजी की इस मान्यता का कई परवर्ती आलोचकों ने विरोध किया।

26.5 छायावादी आलोचना दृष्टि

पं.रामचन्द्र शुक्ल के समसामयिक कवियों में **प्रसाद, पंत, निराला** प्रमुख थे। ये कवि शुक्लजी की इस धारणा से सहमत नहीं थे कि छायावाद का स्रोत विदेशी है। शुक्लजी छायावाद को एक शैली मात्र मानते थे। **प्रसाद** ने 'काव्य और कला तथा अन्य निबंध' में शुक्लजी के विचारों का खण्डन किया है। छायावाद-रहस्यवाद का स्रोत विदेशी है - इस कथन के खण्डन में प्रसाद ने प्रसिद्ध वेदांत 'पंचदशी' और आनंदवर्धन को उद्धृत करके दिखाने का प्रयास किया है कि परमात्मा से प्रेम और चेतनता का जड़ पर आरोप, ये दोनों बातें भारतीय हैं - अभारतीय नहीं।

प्रसादजी काव्य-विश्लेषण में आत्मा को इतना महत्व देते थे कि काव्य की प्रत्येक समस्या को आत्मानुभूति से हल करने की कोशिश करते हैं। वे कवित्व को 'आत्मा की अनुभूति' कहते हैं। लेकिन प्रसादजी ने 'आत्मा', 'आत्मानुभूति' या 'अनुभूति' शब्द की कोई व्याख्या नहीं की है। इसलिए उनका विश्लेषण लोकोत्तर भूमि पर ही स्थित रहता है।

'यथार्थवाद और छायावाद' नामक निबंध में प्रसादजी ने इन प्रवृत्तियों पर विचार किया है। प्रसाद कवि रूप में छायावादी थे तो उपन्यासकार के रूप में यथार्थवादी। यथार्थवाद की महत्ता उन्होंने ठीक-ठीक आँकी। यथार्थवाद और छायावाद के विषय में उन्होंने जो कुछ लिखा वह उनकी मर्मभेदिनी दृष्टि का

परिचायक है। यथार्थवाद की प्रधान विशेषता उनकी दृष्टि में 'लघुता की ओर साहित्यिक दृष्टिपात है। हिंदी की परंपरा किस प्रकार सामाजिकता और लोकमंगल की भावना की ओर बढ रही थी यह प्रसादजी के यथार्थवाद संबंधी विचारों से भली-भाँति प्रकट हो जाता है।

प्रसादजी ने यह कहंकर छायावाद के विषय में एक बहुत बड़ी गुत्थी सुलझा दी कि वह 'वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति' है। वेदना शब्द से उनका अभिप्रेत यथार्थवाद के मूल भाव से है। उन्होंने वेदना के आधार पर यथार्थवाद और छायावाद की एकसूत्रता ढूँढ ली थी।

छायावादी काव्य-भाषा पर प्रसाद सुयोग्य भाषा-वैज्ञानिक की तरह विचार करते हैं। वे शुक्लजी के साथ इस विषय में एकमत हैं कि छायावाद आभ्यंतर प्रभाव साम्य पर ही विशेष लक्ष्य रखकर चला है।

पंतजी ने अपने प्रतिष्ठित काव्य-संग्रह 'पल्लव' की विस्तृत भूमिका में काव्य-संबंधी विचार प्रकट किए हैं। पंतजी ने जो कुछ लिखा है वह महत्वपूर्ण है। शायद उसका महत्व इस बात में निहित है कि वह आलोचना नहीं है। वह कवि द्वारा भावना के सहारे उद्घाटित सत्य है। तात्पर्य यह है कि पंतजी की शैली आलोचनात्मक नहीं काव्यात्मक है जो उन जैसे बड़े कवि के लिए स्वाभाविक है।

पंतजी ने मुख्यतः ब्रजभाषा और खड़ी बोली के शब्द सौकुमार्य इत्यादि पर विचार किया है। पूर्ववर्ती और नवीन छंदों की विशेषताओं और उनके औचित्य का भी विवेचन किया है। निराला की कुछ पंक्तियों और अपनी कविता 'परिवर्तन' की जो विवेचना पंतजी ने की ही, उसे व्यावहारिक समीक्षा का अंश माना जाना चाहिए।

'निराला' का गद्य अन्य छायावादी कवियों के गद्य से अलग है। 'गद्य जीवन संग्राम की भाषा है' और 'कविता परिवेश की पुकार है' लिखने वाले निराला छायावादी कवियों में अपना पृथक स्थान आलोचक की हैसियत से भी रखते हैं। निरालाजी ने 'रवीन्द्र कविता कानन' के अतिरिक्त कोई स्वतंत्र आलोचनात्मक ग्रंथ नहीं लिखा है। उनकी आलोचनात्मक रचनाएँ प्रायः स्फुट निबंधों के रूप में ही प्रस्तुत की गई हैं। छायावादी कवियों में साहित्येतर प्रश्नों पर भी सर्वाधिक विचार निराला ने किया है।

आलोचक निराला का प्रखरतम रूप 'पंत और पल्लव' में प्रकट हुआ है। हिंदी खड़ी बोली के साहित्य में ऐसा संयोग दुर्लभ रहा है कि एक ही धारा के एक समर्थ कवि की ऐसी पैनी आलोचना की हो। छायावादी कवियों के पास ही नहीं, उनके अधिकांश समकालीन साहित्यकारों के पास उनकी जैसी मर्मभेदिनी काव्य दृष्टि नहीं थी। उनका गद्य यथार्थवादी था। उन्होंने भाषा, छंद, स्थानीयता, सार्वदेशिकता, समसामयिकता आदि के जो प्रश्न उठाए हैं, वे आज भी महत्वपूर्ण हैं। समालोचना के नाम पर उन्होंने काव्य सिद्धांतों का प्रतिपादन न करके कविता की व्यावहारिक समीक्षा की है। कविता और कविता की आलोचना, दोनों दृष्टियों से निराला आज छायावादी कवियों में सबसे अधिक संदर्भवान् हैं।

छायावाद की सुप्रसिद्ध कवयित्री **महादेवी वर्मा** के आलोचनात्मक निबंध 'महादेवी का विवेचनात्मक गद्य' में संग्रहीत हैं। उनके निबंधों के शीर्षक हैं - काव्यकला, छायावाद, रहस्यवाद, गीतिकाव्य, यथार्थ और आदर्श तथा सामयिक समस्या।

महादेवीजी का कवि रूप जितना ही गीतमय, कोमल और शांत है, विचारक रूप उतना ही तेजस्वी और किसी सीमा तक कठोर है। छायावादी वायवीपन और असीमता में कितना यथार्थ छिपा बैठा है, यह महादेवी की विवेचक दृष्टि ने देखा है। वर्ग अनजाने ही रचनाकारों की सीमा किस प्रकार निश्चित कर देता है, इसपर महादेवी ने विचार किया है। उन्होंने छायावाद और रहस्यवाद का भारतीय स्रोत ढूँढा और छायावादी-रहस्यवादी काव्य की समानता प्रकट करने वाली वेदों की पंक्तियाँ ढूँढकर सामने रखीं। छायावाद, रहस्यवाद, यथार्थवाद पर विचार करने वाली उनकी दृष्टि समसामयिक है। वे अपने समय में हो रहे राजनैतिक परिवर्तनों के संदर्भ में साहित्य की समसामयिक समस्याओं पर विचार करती हैं। वे गीतिकाव्य पर विचार करते समय लोक-गीतों के महत्व पर भी विचार करती हैं। छायावादी कवयित्री महादेवी वर्मा के आलोचनात्मक विचारों में लोकवादी यथार्थवादिता का आग्रह स्पष्ट है।

पं.शान्तिप्रिय द्विवेदी यद्यपि छायावादी कवि के रूप में हमारे सामने नहीं आते किंतु उनकी आलोचना का अधिकांश ऐसा है मानो किसी छायावादी कवि - जैसे कि शायद पंत ने आलोचना की हो। उनकी आलोचना को प्रभाववादी आलोचना कहा जाता है। पं.रामचन्द्र शुक्ल ऐसी आलोचना को आलोचना नहीं मानते और इसे भी बंगाल से आया मानते हैं।

फिर भी, यह सुखद आश्चर्य है कि आलोचक पं.रामचन्द्र शुक्ल के कृतित्व की समीक्षा पं. शान्तिप्रिय द्विवेदी ने अत्यंत तर्कपूर्ण ढंग से और सहानुभूतिपूर्वक की है। शुक्लजी पर विचार करते हुए इतनी महत्वपूर्ण बातें कहने वाले इस पीढ़ी के बहुत कम आलोचक हुए हैं।

पं. शान्तिप्रिय द्विवेदी की दृष्टि प्रभाववादिता से हटकर जब वस्तुन्मुख होती है तो यथार्थ की गहराई तक भी पहुँच सकती है। इस दृष्टि का पता वे छायावाद के विकास पर चर्चा करते समय भी देते हैं। द्विवेदीजी छायावाद को राष्ट्रीय जागृति की चेतना से जोड़ते हैं।

शुक्लजी के कृतित्व और छायावादी काव्य के साथ द्विवेदीजी ने छायावाद युग की गद्य-कृतियों पर भी विचार किया है। वे इस युग के कवियों और गद्यकारों की समान भावभूमि को रेखांकित करते हैं।

पं. शान्तिप्रिय द्विवेदी को प्रभाववादी और छायावादी आलोचक कहना अनुचित नहीं है। किंतु महत्वपूर्ण बात यह है कि वे सहृदय पाठक और भावुक की प्रतिक्रिया हैं - इसलिए वे पाठक को बहुत कुछ दे पाती हैं। इसके अलावा, कभी-कभम् वे अपनी दृष्टि समाज और साहित्य के स्रोत जीवन पर भी डालते हैं, दोनों का तालमेल बैठा लेते हैं और उन सम्बद्ध संदर्भ सूत्रों की भी खोज लेते हैं जो उनके लेखन को सच्ची आलोचना के रूप में प्रस्तुत करती है।

पं. शान्तिप्रिय द्विवेदी के ललित गद्य ने हिंदी पाठकें की संख्या में वृद्धि की है। आज ऐसे कई लोग हिंदी की सेवा कर रहे हैं जो हिंदी साहित्य की ओर केवल 'हमारे साहित्य निर्माण' जैसी रचनाएँ पढ़कर आकृष्ट हुए हैं। पं. शान्तिप्रिय द्विवेदी सार्थक गद्यकार एवं आलोचक थे।

26.6 सारांश

प्रस्तुत इकाई में आपने पढ़ा कि भारतेंदु युग में हिंदी आलोचना का सूत्रपात पत्र-पत्रिकाओं में छपी व्यावहारिक समीक्षाओं से हुआ और भारतेंदु ने अपने 'नाटक' नामक निबंध के माध्यम से बताया कि 'नाटक' का स्वरूप कैसा होना चाहिए। सर्जक चिंतक के रूप में उन्होंने आलोचना को दिशा प्रदान की। आपने यह भी पढ़ा कि किस तरह भारतेंदु युग और द्विवेदी युग में आलोचना के सरोकार सामाजिक होते गए। साथ ही आपने यह जानकारी भी प्राप्त की कि विश्वविद्यालय में हिंदी साहित्य के शिक्षण की व्यवस्था के चलते पाठ्य-सामग्री के रूप में बाबू श्यामसुंदर दास ने हिंदी आलोचना को व्यवस्थित करने का प्रयास किया। अब आप समझ गए हैं कि किस तरह शुक्ल जी ने हिंदी आलोचना को दिशा और दृष्टि प्रदान की और हिंदी आलोचना को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का क्या योगदान है।

26.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

डॉ. रामविलास शर्मा, **आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिंदी आलोचना**, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली.

डॉ. निर्मला जैन, **हिंदी आलोचना बीसवीं शताब्दी**, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली.

डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी, **हिंदी आलोचना**, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली.

डॉ. कृष्णदत्त पालीवाल, **आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का चिंतन जगत**, साहित्य निधि, दिल्ली.

डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी, **हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास**, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद (शीर्षक 14, 21 और 22 क्रमशः 'आलोचना का आरंभ और विकास', 'शुक्लोत्तर आलोचना' 'आलोचना कर्म में रचनाकारों का योगदान')

डॉ. नगेन्द्र, **आस्था के चरण** नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।

26.8 अभ्यास के लिए प्रश्न

1. आचार्य शुक्ल पूर्व हिंदी आलोचना पर विचार कीजिए।
2. हिंदी आलोचना में आचार्य शुक्ल के योगदान पर प्रकाश डालिए।

इकाई 27 शुक्लोत्तर हिंदी आलोचना

इकाई की रूपरेखा

27.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई पढ़ने के बाद आप :

- शुक्लोत्तर हिंदी आलोचना के विकास की नयी दिशा का परिचय दे सकेंगे;
- छायावाद के कवि आलोचकों द्वारा प्रस्तुत नए काव्य मूल्यों की जानाकारी दे सकेंगे;
- शुक्लोत्तर आलोचना की बृहत्-त्रयी के योगदान पर प्रकाश डाल सकेंगे;
- प्रगतिवादी और आलोचकों की आलोचना दृष्टि का उल्लेख कर सकेंगे;
- कथा साहित्य और नाटक की आलोचना के स्वरूप-विकास की चर्चा कर सकेंगे; और
- समकालीन आलोचना में परिवर्तन के बिंदुओं को रेखांकित कर सकेंगे।

27.1 प्रस्तावना

आचार्य रामचंद्र शुक्ल हिंदी-आलोचना के शिखर पुरुष हैं, इस बात की जानकारी आपको पिछली. इकाई में आचार्य शुक्ल से पहले की आलोचना की स्थिति और आचार्य शुक्ल के इस दिशा में ऐतिहासिक योगदान के बारे में पढ़कर हो चुकी होगी।

आप पढ़ चुके हैं कि आचार्य शुक्ल के हाथो हिंदी की जिस निजी प्रौढ़ आलोचना शैली का विकास हुआ वह पश्चिम के कलावाद और हिंदी के मध्ययुगीन अलंकार-रीतिवाद से भिन्न हिंदी की अपनी ठेठ मौलिक आलोचना शैली थी। हिंदी ओलांचना को सृजनात्मक साहित्य के समतुल्य गरिमा पहली बार आचार्य शुक्ल की आलोचना से ही मिली। प्रस्तुत इकाई में आप शुक्ल जी के बाद हिंदी आलोचना के विकास के बारे में पढ़ेंगे।

शुक्ल जी के सामानांतर विश्वविद्यालयों में एम.ए. के पाठ्यक्रमों में शिक्षा देने के लिए जिस एकेडेमिक आलोचना का सूत्रपात बाबू श्यामसुंदर दास ने किया था उसका लक्ष्य विद्यार्थियों को विषय की अधिकधिक जानकारी भर देना था। उनको अधिक से अधिक इस बात का श्रेय दिया जा सकता है कि उनके प्रयत्नों से हिंदी आलोचना एक स्वतंत्र विषय के रूप में गंभीरता से अध्ययन-अध्यापन का विषय बनकर विश्वविद्यालयों में प्रतिष्ठित हुई। पर यह हिंदी आलोचना के एक निजी व्यवस्थित शास्त्र के निर्माण की भूमिका से अधिक कुछ नहीं था।

आचार्य शुक्ल के बाद हिंदी आलोचना के विकास में योगदान देने वालों में रचनाकार और समीक्षक दोनों शामिल थे। इसे विडम्बना ही कहा जाएगा कि शुक्लोत्तर हिंदी आलोचना का विकास शुक्ल जी

के साथ टकराहट से शुरू हुआ। टकराने वाले रचनाकारों में थे छायावादी कवि और समीक्षक तथा छायावाद के प्रति सहानुभूतिपूर्ण रूख रखने वाले समीक्षकों में आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी। वाजपेयी जी के अलावा आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी और डॉ. नगेन्द्र ने भी छायावाद की काव्य-सृष्टि की सहानुभूतिपूर्ण व्याख्याएँ प्रस्तुत कीं। छायावाद की भावोच्छल सराहना करने वालों में शांति प्रिय द्विवेदी की आलोचना का भी महत्वपूर्ण योगदान है।

27.2 छायावाद युग : आलोचना का स्वच्छंदतावादी पथ

27.2.1 छायावादी कवि-आलोचक

छायावादी कवियों ने एक ओर प्राचीन शास्त्रवादी साहित्य-मूल्यों का विरोध किया और दूसरी ओर नए मूल्यों के प्रश्न पर उन्होंने आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी और रामचन्द्र शुक्ल से टक्कर ली। कवि सुमित्रानंद पंत के काव्य-संग्रह 'पल्लव' के 'प्रवेश' को आलोचना के नए प्रतिमानों का पहला घोषणा-पत्र कहा जाता है। पंत को शास्त्रबद्ध जड़ता से मुक्ति के लिए आशा की किरण 'उत्साही हिंदी-प्रेमी छात्रों' में दिखाई पड़ रही थी 'वयोवृद्ध आचार्यों' में नहीं। यह स्वाभाविक था। वयोवृद्ध आचार्यों से उन्हें अपनी रचनाओं के लिए यह सहानुभूति और सराहना नहीं मिली जिसकी वे अपेक्षा कर रहे थे। शायद इसलिए उन्होंने विश्वास व्यक्त किया कि हिंदी में नए ढंग की आलोचना की शुरुआत अंग्रेज़ी ढंग की समालोचना के प्रचार से ही हो सकती है, और यह अवसर विश्वविद्यालयों में दोनों भाषाओं के साहित्यों के आपस मेलजोल से ही सहज-सुलभ हो सकता है।

आलोचना की नई पद्धतियों की माँग करने वालों में पंत जी अकेले नहीं थे। उन्होंने छायावाद की जिन कारणों से आलोचना की थी उन आक्षेपों का उत्तर अपने-अपने ढंग और तर्कों से और लोग भी दे रहे थे। निराला ने 'प्रबंध प्रतिमा' में आचार्य शुक्ल के रहस्यवाद-विरोध का जवाब 'साहित्य की नवीन प्रगति' शीर्षक निबंध में दिया।

रहस्यवाद और उससे जुड़े हुए प्रश्नों को लेकर जयशंकर प्रसाद भी आचार्य शुक्ल से टकराए। समकालीन काव्य पर 'सुकवि किंकर' नाम से महावीरप्रसाद द्विवेदी जो प्रहार कर रहे थे उनसे पंत और निराला दोनों ने अपने-अपने ढंग से निबटने की कोशिश की। परंतु इसका यह अर्थ नहीं कि सभी छायावादी कवि तत्कालीन आलोचकों के विरुद्ध एकजुट थे। स्वयं निराला और पंत के बीच भी पर्याप्त मतभेद था। निष्कर्ष यह कि इस दौर में साहित्यिक मूल्यों को लेकर अनेक स्तरों पर संघर्ष हो रहा था। महत्वपूर्ण बात यह थी कि वैयक्तिक अभिनिवेशों के बावजूद इन विवादों से हिंदी आलोचना तो निश्चित रूप से विकसित और समृद्ध हुई साथ ही कवियों के मौलिक विचार भी प्रकट हुए। आपसी मतभेदों के बावजूद ये कवि इस बात पर सहमत थे कि पहले से चली आती हुई आलोचना-पद्धति से इनके काव्य का मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। इसलिए इन्होंने कहीं पुरानी पद्धति को चुनौती दी और कहीं उसका पुनराख्यान किया।

पंत ने रसवाद के स्थूल बाह्य प्रपंच को निरर्थक घोषित किया और प्रसाद ने दार्शनिक धरातल पर संस्कृति और परम्परा के साथ छायावाद के संबंध और सम्पृक्ति का तर्कसम्मत व्याख्यान कर उसे गरिमा दी। इन्होंने रीतिकालीन काव्य-रुचि से भिन्न एक नए सूक्ष्म शिल्प-बोध की आवश्यकता पर बल दिया। पंत का काव्य-भाषा विश्लेषण और निराला के छंद संबंधी विचार इस दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण हैं। अपने ढंग से यह छायावाद के लिए नए साहित्यशास्त्र के निर्माण का प्रयत्न था। निराला के द्वारा की गई अर्थ मीमांसाएँ, प्रसाद के द्वारा छायावाद और यथार्थवाद का संबंध-निरूपण, प्रगतिवाद के संदर्भ में महादेवी-द्वारा छायावाद का पक्ष-समर्थन, नए ढंग के काव्य-बोध का निर्माण करने का प्रयास है।

पंत के 'पल्लव' का प्रवेश एक कला-मर्मज्ञ कवि के सूक्ष्म शिल्प-बोध का परिचायक है। इस कला-विवेचन ने आधुनिक कविता के आस्वाद के लिए समर्थ पृष्ठभूमि प्रस्तुत की। निराला की आलोचनाओं का स्वर प्रायः विवादात्मक है, किंतु उनमें एक दक्ष व्यावहारिक समीक्षक का व्यक्तित्व उभरकर सामने आता है। उन्होंने अपनी कविता 'जूही की कली' की जो विस्तृत अर्थ-मीमांसा की वह हिंदी की व्यावहारिक समीक्षा का अप्रतिम उदहारण है। इस कविता की व्याख्या करते हुए उन्होंने हिंदी में पहली बार कविता के 'आवयविक सिद्धांत' (ऑर्गेनिक थियरी ऑफ पोएट्री) का निर्वचन किया। इसी प्रकार 'परिमल' की भूमिका में उन्होंने मुक्त छंद का जो गहन विवेचन प्रस्तुत किया वह हिंदी में एक नए छंद-शास्त्र की आधारशिला है। छंदों की मुक्ति की आवश्यकता हो उन्होंने स्वच्छन्दता के जीवन-मूल्य से

जोड़ते हुए कहा : 'मनुष्यों की मुक्ति की तरह कविता की भी मुक्ति होती है।' गद्य को निराला 'जीवन संग्राम की भाषा' मानते थे। पर साहित्य की मुक्ति उन्हें उसकी कविता में ही दिखाई पड़ती थी। प्रसाद की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि उन्होंने काव्य-संबंधी समग्र चिंतन को सामान्य लोकानुभव से ऊपर उठाकर दार्शनिक धरातल प्रदान किया और काव्य का संबंध हृदय से आगे ले जाकर आत्मा से जोड़ा। प्रसाद जी भी शुक्ल जी की तरह ही रसवादी थे परंतु उन्होंने रस-चिंतन को साहित्यदर्पण की परंपरा से अलग कर अभिनवगुप्त की शैवाद्वैतवादी परंपरा से जोड़ा। इसके अलावा जहाँ भारतीय नाटकों में उन्होंने रस की आनंदवादी परंपरा को देखा-समझा वहाँ पश्चिम के महाकाव्यों में जीवन के प्रति त्रासदीय दृष्टिकोण को भी स्वीकार कर, इन दोनों के बीच दार्शनिक स्तर पर संतुलन स्थापित करने की कोशिश की। छायावाद की रहस्य-चेतना को स्पष्ट करने के क्रम में उन्होंने सम्पूर्ण हिंदी साहित्य में रहस्यवादी परंपरा की संक्षिप्त रूपरेखा भी प्रस्तुत की।

प्रसाद की आलोचना की तीन मुख्य उपलब्धियाँ थीं। एक तो उन्होंने छायावाद को विजातीयता के आक्षेप से मुक्त करते हुए निर्णायक रूप से उसकी भारतीयता की प्रतिष्ठा की। दूसरे, छायावाद को आचार्य शुक्ल ने जो काव्य-शैली मात्र माना था, उसका खंडन करके प्रसाद ने छायावाद के शैली-चमत्कार का संबंध अनुभूति चमत्कार से जोड़ा, और तीसरे छायावादी काव्य के सौंदर्य में निहित शिवत्व का दार्शनिक स्तर पर उद्‌घाटन किया। कुल मिलाकर वे छायावाद के सबसे समर्थ सिद्धांतशास्त्री थे।

महादेवी वर्मा ने जिस समय साहित्य में पदार्पण किया उस समय तक छायावाद प्रतिष्ठित हो चुका था। उन्होंने अपने काव्य-संग्रहों की भूमिकाओं और अन्य निबंधों में छायावाद संबंधी प्रश्नों को निश्चित परिभाषाएँ देने का प्रयत्न किया। आलोचना को उनकी दो मौलिक देनें स्वीकार की जाती हैं। लाक गीतों के आधार पर गीत-काव्य की विशेषताओं की व्याख्या और प्रगतिशील आंदोलन की रोशनी में छायावाद की सामाजिकता और यथार्थवादिता की व्याख्या। उन्होंने यह काम आलोचना के लिए उपयुक्त तर्क-विवेकसम्मत गद्य में नहीं, काव्योचित अलंकृत गद्य में किया। शुक्लोत्तर आलोचना में छायावादी कवियों का योगदान संक्षेप में इस प्रकार है :

1. इन कवियों ने प्राचीन शास्त्रवादी मूल्यों का विरोध किया और नए मूल्यों के प्रश्न पर आचार्य शुक्ल और आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी से टक्कर ली।
2. सुमित्रानंदन पंत के 'पल्लव' का प्रवेश आलोचना के प्रतिमानों का पहला घोषणा-पत्र माना जाता है। उन्हें विश्वास था कि नए ढंग की आलोचना की शुरुआत अंग्रेजी ढंग की आलोचना के प्रचार से ही हो सकती है और यह काम विश्वविद्यालयों में हो सकता है वयोवृद्ध आचार्यों के द्वारा नहीं।
3. इन कवियों ने चली आती परंपरागत आलोचना-पद्धति को कहीं चुनौती दी और कहीं उसकी पुनर्व्याख्या की। इन प्रतिमानों मे एक महत्वपूर्ण प्रश्न उस रसवाद का भी था जिसकी एक व्याख्या आचार्य शुक्ल पहले कर चुके थे।
4. परंपरागत प्रतिमानों से तो इन्होंने अपना मतभेद व्यक्त किया ही किंतु अनेक प्रश्नों पर इनमें आपसी मतभेद भी काफ़ी था। इनके बीच होने वाले विवादों ने हिंदी आलोचना को समृद्ध किया।
5. इन्होंने रीतिकालीन काव्य-रुचि से भिन्न एक नए सूक्ष्म शिल्प-बोध की आवश्यकता पर बल दिया
6. इन कवियों ने छायावाद के लिए नए साहित्यशास्त्र के निर्माण का प्रयत्न किया। इस दृष्टि से पंत का काव्य-भाषा विश्लेषण और निराला के छंद संबंधी विचार महत्वपूर्ण हैं। महादेवी का गीत-विधा का विवेचन और निराला की अर्थ-मीमांसा भी इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय है।
7. निराला ने हिंदी आलोचना में पहली बार कविता के आवयविक सिद्धांत (ऑर्गेनिक थियरी ऑफ पोयट्री) का निर्वचन किया और प्रसाद ने हिंदी आलोचना को दार्शनिक धरातल प्रदान किया।
8. ये कवि छायावाद के समर्थ सिद्धांतशास्त्री थे।

27.2.2 प्रभाववादी आलोचना

जिन आलोचकों ने छायावाद पर सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिपात किये उनमें शांतिप्रिय द्विवेदी का नाम सबसे पहले आता है। यह बात अलग है कि आचार्य शुक्ल ने उनकी प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा को 'कोई ठीक-

ठिकाने की वस्तु' न मानकर कहा कि 'न ज्ञान के क्षेत्र में उसका कोई मूल्य है, न भाव के क्षेत्र में'। द्विवेदी जी की आलोचना की एक बड़ी सीमा यह थी कि वे कविता पर भावोच्छल हो जाते थे। पर उन्होंने पहली बार युग की राजनीतिक चेतना और छायावाद की काव्य-चेतना में एक संगति और संबंध देखा। उन्होंने ही सबसे पहले छायावाद को गांधीवाद का साहित्यिक संस्करण कहा। इसके साथ ही छायावाद और छायावाद के बाहर के साहित्यकारों की साझी साहित्य-चेतना में उन्होंने एक अंतस्संगति के दर्शन किए और उसकी व्यापक मनोभूमि को स्पष्ट किया।

द्विवेदी जी के मन में छायावाद के प्रति गद्‌गद् आत्मविभोरता का भाव था। इसके बावजूद वे उसकी सीमाएँ बताना नहीं भूले। यह इस बात का प्रमाण है कि वे छायावाद को सिर्फ पसंद नहीं करते थे, उसे समझते भी थे और सही समझते थे। वे सच्चे अर्थों में छायावादी कवियों के 'सहृदय' आलोचक थे।

27.2.3 शुक्लोत्तर आलोचना की बृहत्-त्रयी

आचार्य शुक्ल ने हिंदी आलोचना को जो प्रौढ़ता और स्तर प्रदान किया था उसे उससे आगे ले जाना या उसका दिशा-परिवर्तन करना, बड़ा चुनौतीपूर्ण काम था। पर अपनी विशेष प्रकार की मान्यताओं और दृष्टिकोण के कारण वे समकालीन छायावादी कवियों को अपेक्षित सहानुभूति नहीं दे सके। इस काव्यधारा की सराहना के प्रश्न के साथ कुछ और बातों में मतभेद के कारण भी उनके बाद **नन्ददुलारे वाजपेयी, हजारी प्रसाद द्विवेदी और नगेंद्र ने शुक्लोत्तर आलोचना की जिस बृहत्-त्रयी** का निर्माण किया वह अलग-अलग ढंग से आचार्य शुक्ल से टकराई। यह टकराहट नंददुलारे वाजपेयी के कर्कश सिद्धांत-विरोध में, हजारीप्रसाद द्विवेदी के नवीन इतिहास-बोध में और नगेंद्र की छायावादी काव्य की सरस व्याख्याओं में प्रकट हुई।

1) इस प्रगति के बारे में **आचार्य नंददुलारे वाजपेयी** जी ने कहा था : 'शुक्ल जी की नैतिक और बौद्धिक दृष्टि की अपेक्षा नये समीक्षकों की सौंदर्य-अनुभूति और कला-प्रधान दृष्टि एक निश्चित प्रगति है।' इस नयी दृष्टि की प्रेरणा से वाजपेयी जी ने जो आलोचनात्मक प्रतिमान बनाए उनका आधार विशेष रूप से प्रगीत-काव्य था। 'आँसू', 'परिमल' और 'पल्लव' की गीति रचनाओं ने उन्हें ऐसा करने के लिए प्रेरित किया था। ज़ाहिर है कि ये प्रतिमान प्रगीतों के विवेचन-व्याख्या के लिए ही उपयोगी थे।

   वाजपेयी जी को प्रसाद और निराला के काव्य में व्याप्त पौरुष और शक्ति तत्व तो विशेष आकर्षित करता ही था इसके अलावा 'इनकी काव्य के प्रति अप्रतिम निष्ठा' भी। वाजपेयी जी साहित्य के मूल्यांकन के लिए किसी साहित्येतर मूल्य को निर्णायक स्थिति में रखने के पक्ष में नहीं थे। काव्य के संदर्भ में उन्होंने काव्य सौष्ठव को सर्वोपरि महत्व दिया। वे मूलतः छायावादी चेतना के आलोचक थे। इसीलिए वे न प्रेमचंद के साथ न्याय कर सके न प्रगतिशील साहित्य के साथ।

   उनका एक महत्वपूर्ण योगदान छायावाद को राष्ट्रीय स्वातंत्र्य-आंदोलन और सांस्कृतिक पुनर्जागरण की साहित्यिक अभिव्यक्ति के रूप में प्रतिष्ठित करने का है। उन्होंने स्पष्ट किया कि छायावाद की 'मुख्य प्रेरणा धार्मिक न होकर मानवीय और सांस्कृतिक है'।

   वाजपेयी जी की आलोचना की एक और विशेषता उसकी व्यापक परिधि है। उन्होंने कहानी, उपन्यास, नाटक आदि सभी विधाओं और मध्ययुगीन और आधुनिक कवियों को अपनी आलोचना का विषय बनाया। उन्होंने समसामयिक लेखकों और काव्यधाराओं पर बड़ी निष्ठा से लिखा। आलोचना को वे 'रचनात्मक साहित्य की प्रिय सखी, शुभैषिणी, सेविका और सहृदय स्वामिनी' कहते थे। नतीजा यह हुआ कि परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों के साहित्य के साथ शुभेषणा और सहृदयता का निर्वाह करने के फेर में उनकी आलोचना में कहीं-कहीं विरोध पैदा हो गया। वे सही अर्थ में ऐसे आलोचक थे जिसने अपनी आलोचना दृष्टि का निर्माण उदयकालीन छायावादी काव्य के संदर्भ में किया था। एक हद तक यह उनकी सीमा भी थी।

2) आचार्य शुक्ल से **हजारी प्रसाद द्विवेदी** का मतभेद साहित्य के प्रति सम्पूर्ण दृष्टिकोण को लेकर था। उन्होंने हिंदी साहित्य को एक समवेत, भारतीय चिंता के स्वाभाविक विकास के रूप में समझने का प्रयास किया। इसे वे जैन, नाथ, सिद्ध, सन्त आदि सभी धर्मों की संयुक्त और साझी चेतना का प्रतिफलन मानते थे। द्विवेदी जी एक ओर सांस्कृतिक निरंतरता का

समर्थन करते थे और दूसरी ओर अखंडता का। इसीलिए उन्होंने एक ओर भक्ति साहित्य में एक कालक्रमिक चिंतन परंपरा की खोज की और दूसरी उसकी विभिन्न धाराओं को एक विराट भक्ति-चेतना के रूप में देखने का प्रयत्न किया।

हिंदी आलोचना को द्विवेदी जी की मौलिक देन है काव्य-रूढ़ियों और कवि-प्रसिद्धियों के माध्यम से काव्य के अध्ययन की पद्धति का प्रस्ताव। उनका विचार था कि समाज और संस्कृति के आंतरिक स्तर पर निरंतरता और अखंडता को प्रतिफलित होते हुए देखने का कारगर उपाय यही है। इस सिद्धांत को उन्होंने 'पृथ्वीराज रासो' की प्रामाणिकता पर विचार करते हुए व्यावहारिक रूप दिया। आचार्य द्विवेदी की आलोचना की सबसे बड़ी सामर्थ्य यह थी कि उन्होंने बड़े पैमाने पर साहित्यिक-रुचि में परिवर्तन करने का प्रयत्न किया। अपने इस प्रयास में वे बहुत दूर तक सफल भी हुए। वे स्वयं जनता की रुचि को महत्व देते थे। जन जीवन के प्रति यह मोह उनके मानवतावादी दृष्टिकोण के कारण पैदा हुआ था। उन्होंने एक निबंध लिखा जिसका शीर्षक है : 'मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है।'

द्विवेदी जी का मानववाद कुछ दूर तक शुक्ल जी के लोकमंगलवाद से भी मेल खाता है। इसी कारण आधुनिक आलोचकों में वे प्रगतिशील आंदोलन के सर्वाधिक निकट दिखाई पड़ते हैं। अपने इतिहास-बोध और संस्कृति प्रेम के बावजूद उन्होंने समसामयिक आधुनिक प्रश्नों पर पूरा ध्यान दिया। 'आधुनिकता' का लक्षण बताते हुए उन्होंने कहा : 'इस वैज्ञानिक चित्तवृत्ति का प्रधान आनंद कौतूहल में है, उत्सुकता में है, आत्मीयता में नहीं।'

द्विवेदी जी की विशेषता थी कि वे समसामयिकता, आधुनिकता और परंपरागतता को कुछ ऐसे मिला-जुलाकर चलते थे कि वे एक दूसरे में सहज अंतर्भूत हो जाती थीं।

द्विवेदी जी ने काव्य ही नहीं काव्यशास्त्र को भी अपने इतिहास-प्रेम वाली दृष्टि से परखा और उसकी व्याख्या की। उनकी ये मान्यताएँ 'साहित्य का मर्म', 'दशरूपक' की भूमिका और निबंधों में सामने आईं। आलोचना के पिछले दौर में उनकी विशेष रुचि सौंदर्यशास्त्रीय विषयों की ओर हो गई थी। उन्होंने अनेक लेखों में मुख्यरूप से 'लालित्य तत्व' का विवेचन प्रस्तुत किया। वे इस संदर्भ में सौंदर्य की अपेक्षा 'लालित्य' शब्द को ज्यादा उचित मानते थे। शुक्लोत्तर आलोचना में द्विवेदी जी का महत्व विशेष रूप से उस दृष्टिकोण के लिए हैं जो संस्कृत और हिंदी की ठेठ परंपराओं से निश्चय ही भिन्न था और जिसके कारण हिंदी आलोचना में नए ढंग की समीक्षा-पद्धति और काव्य-रुचि का निर्माण हुआ।

3) **डॉ.नगेन्द्र** ने जब आलोचना के क्षेत्र में प्रवेश किया, उस समय तक नन्ददुलारे वाजपेयी और हजारीप्रसाद द्विवेदी, इस क्षेत्र में कुछ दूर तक अपना स्थान बना चुके थे। उन्होंने अपने से पहले के आलोचकों के गुणों को आत्मसात कर उनका विकास करने का प्रयत्न किया और उनके दोषों से भरसक बचने का। उन्होंने आलोचनात्मक निबंधों से आरंभ किया और बाद में सुमित्रानंदन पंत और गुप्त जी के 'साकेत' पर स्वतंत्र पुस्तकों की रचना की।

डॉ. नगेन्द्र अपने दृष्टिकोण में व्यक्तिवादी हैं और युग के वातावरण के अनुरूप उन पर फ्रायड का भी गहरा प्रभाव पड़ा था। आरंभ में व्यावहारिक आलोचना करने के बाद धीरे-धीरे उनकी रुचि काव्यशास्त्र की ओर हो चली। यह आकर्षण उन पर ऐसा हावी हुआ कि बाद में उनका सारा महत्वपूर्ण कृतित्व सिद्धांत-विवेचन के रूप में ही प्रकट हुआ।

व्यावहारिक आलोचना में वे दृष्टि मुख्य रूप से कवि की सौंदर्यानुभूति के विश्लेषण पर टिकाकर, अभिव्यक्ति की सफलता-असफलता की दृष्टि से उसका विश्लेषण करते हैं। कुछ निबंधों में उन्होंने फ्रायड के प्रभाव के कारण मनोविश्लेषणात्मक व्याख्याएँ भी करने का प्रयत्न किया। 'तुलसी और नारी' निबंध में, हरिकृष्ण प्रेमी के नाटकों के विवेचन में और 'देव और उनकी कविता' नाम से प्रकाशित उनके शोध-प्रबंध में भी यह प्रयत्न दिखाई पड़ता है। नगेन्द्र की व्यावहारिक आलोचना की विशेषताओं की उनकी पकड़ गहरी है। अपनी व्यावहारिक आलोचनाओं में उन्होंने काव्य, उपन्यास, नाटक, रेखाचित्र आदि विविध विषय लिए और कृतिकारों में मध्य युग से आधुनिक युग तक। किंतु मुख्य रूप से वे आधुनिक साहित्य के आलोचक हैं। उनकी आलोचनाओं में खंडन-मंडन या चूनौतियों की अपेक्षा व्याख्या-विश्लेषण

और अनुशंसा ही अधिक मिलती है उनकी आलोचना में जो शैक्षिक अनुशासनीप्रियता और विभाजन-परिगणन की प्रवृत्ति मिलती है उससे स्फूर्ति आर ताज़गी की क्षति भले ही हुई हो लेकिन स्पष्टता और प्रासंगिकता बराबर बनी रही है। शास्त्रज्ञान ने उनकी व्यावहारिक आलोचना को गंभीरता और गरिमा दी है।

सैद्धांतिक आलोचना का जो सिलसिला नगेंद्र ने निबंधों और भूमिकाओं से शुरू किया था, उसकी पराकाष्ठा 'रस-सिद्धांत' में हुई। शुक्ल जी से उनका रस-विवेचन मुख्य रूप से इस बात में भिन्न था कि उन्होंने अनुभूति-तत्त्व को तो मान्यता दी पर साथ ही उसकी आत्मनिष्ठ आनंदवादी व्याख्या की। इसके अलावा उन्होंने अपने सम्पूर्ण शास्त्र-विवेचन में यथावश्यक पाश्चात्य काव्यशास्त्र के सामानांतर सिद्धांतों से तुलना कर दोनों के बीच समान तत्वों की खोज का प्रयत्न किया। वे भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्र को एक-दूसरे का पूरक मानते थे। हिंदी साहित्य के पाठक में काव्यशास्त्रीय रुझान पैदा करने की दृष्टि से उनका विशेष योगदान है। उन्होंने आलोचना में शास्त्रीय चेतना पैदा की।

अपने उत्तर काल में उन्होंने 'शैली विज्ञान', 'मिथक' और 'साहित्य का समाजशास्त्र' जैसे गंभीर विषयों के विवेचन का हौसला भी दिखाया। पर इन क्षेत्रों में लगे हाथों किसी नए विषय का जायज़ा लेने या पाठकों के सामने उसकी कुछ बानगी प्रस्तुत करने का मोह ही इनकी रचना का कारण रहा होगा। इसके अलावा ये प्रयास न विषय की पूरी जानकारी और न ही मौलिक चिंतन का परिचय देते हैं।

नगेंद्र का महत्व इस दृष्टि से है कि उन्होंने पहले-पहल सहृदयता से छायावाद की व्याख्या की और विशेषकर उसके शिल्प-पक्ष की सूक्ष्मताओं को उजागर किया। छायावाद की आत्मनिष्ठ प्रगीत रचनाओं को सही परिप्रेक्ष्य में सामने रखने का प्रयास नगेंद्र ने ही किया। अपनी आलोचना दृष्टि को वे उत्तरोत्तर विकसित और पुष्ट करते गए। शास्त्र-विवेचन ने उसे गांभीर्य और गरिमा ही दी।

छायावादी कवियों के अलावा जिन आलोचकों ने शुक्लोत्तर हिंदी आलोचना को एक नई दिशा दी, उनमें नन्ददुलारे वाजपेयी, हजारीप्रसाद द्विवेदी और नगेंद्र को शुक्लोत्तर आलोचना की बृहत्-त्रयी के रूप में जाना जाता है। हिंदी आलोचना में इनका योगदान, संक्षेप में इस प्रकार है :

1. ये तीनों आलोचक अलग-अलग ढंग से आचार्य शुक्ल से टकराए। यह टकराहट नन्ददुलारे वाजपेयी के कर्कश सिद्धांत-विरोध में, हजारीप्रसाद द्विवेदी के नए इतिहास-बोध में और नगेंद्र की छायावादी काव्य की सरस व्याख्याओं में प्रकट हुई।

2. इन आलोचको की दृष्टि शुक्ल जी की नैतिक और बौद्धिक दृष्टि की अपेक्षा सौंदर्यनुभूति और कला-प्रधान दृष्टि है।

3. इन आलोचकों में से वाजपेयी जी ने काव्य-सौष्ठव को सर्वोपरि महत्व दिया। उनका प्रमुख योगदान था छायावाद को राष्ट्रीय स्वातंत्र्य-आंदोलन और सांस्कृतिक पुनर्जागरण की साहित्यिक अभिव्यक्ति के रूप में प्रतिष्ठित करना। उन्होंने स्पष्ट किया कि छायावाद की 'मुख्य प्रेरणा धार्मिक न होकर मानवीय और सांस्कृतिक है'।

4. वाजपेयी जी की आलोचना की परिधि बहुत व्यापक थी, जिसमें सभी विधाओं और युगों के साहित्य को विषय बनाया गया था।

5 हजारीप्रसाद द्विवेदी का मतभेद साहित्य के प्रति आचार्य शुक्ल के सम्पूर्ण दृष्टिकोण से था। वे सांस्कृतिक निरंतरता और अखंडता के समर्थक थे। उन्होंने भक्ति साहित्य में एक कालक्रमिक चिंतन परम्परा की खोज की और उसकी विभिन्न धाराओं को एक विराट भक्ति चेतना के रूप में देखने का प्रयत्न किया।

6. साहित्य में निरंतरता और अखंडता को पंहचानने के लिए उन्होंने काव्य-रूढ़ियों और कवि-प्रसिद्धियों के माध्यम से काव्य के अध्ययन की पद्धति प्रस्तावित की।

7. द्विवेदी जी का सबसे महत्वपूर्ण योगदान रहा था कि उन्होंने जनता की रुचि को महत्व देते हुए साहित्यिक रुचि को बड़े पैमाने पर परिवर्तित करने का प्रयास किया। जन-जीवन के प्रति मोह का कारण उनका मानवतावादी दृष्टिकोण था।

8. इतिहास-बोध और संस्कृति-प्रेम क बावजूद उन्होंने समसामयिक आधुनिक प्रश्नों पर पूरा ध्यान दिया। वे समसामयिकता के साथ परंपरागतता को ऐसे मिलाकर चलते थे कि दोनों एक-दूसरे में अंतर्भुक्त हो जाएँ।

9. नगेंद्र ने पहले-पहल छायावाद की सहृदयता से परख और व्याख्या करते हुए उसकी शिल्पगत विशेषताओं को विशेष रूप से उजागर किया।

10. नगेंद्र का दृष्टिकोण व्यक्तिवादी था और आरंभ में उन्होंने फ्रायडीय प्रभाव के तहत मनोविश्लेषणात्मक व्याख्याएँ भी की। उनकी आलोचनाओं में खंडन-मंडन नहीं, व्याख्या-विश्लेषण और अनुशंसा ही अधिक होती है।

11. उनकी आलोचनाओं का विषय भी साहित्य की सभी विधाएँ और मध्य युग से लेकर आधुनिक युग तक का साहित्य रहा। लेकिन, प्रमुखता आधुनिक साहित्य को ही मिली।

12. उन्होंने आरंभ व्यावहारिक आलोचना से किया पर क्रमशः काव्यशास्त्र की ओर मुड़ गए। उन्होंने शास्त्र-विवेचन करते हुए भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्र के समानांतर सिद्धांतों की तुलना कर दोनों के बीच समान तत्वों की खोज थी।

13. शैक्षिक अनुशासनप्रियता और शास्त्रबद्धता ने उनकी आलोचना से स्फूर्ति और ताज़गी तो हर ली पर उसके स्थान पर गंभीरता और गरिमा दी।

27.2.4 हिंदी आलोचना में रोमांटिसिज्म विरोधी मोड़

शुक्लोत्तर आलोचकों में जो लोग आचार्य शुक्ल से टकरा रहे थे, उनमें कुछ भिन्न स्वर डॉ. देवराज का था। जहाँ उनके पहले आलोचक छायावाद की सहृदयतापूर्वक व्याख्याएँ कर रहे थे, उन्होंने 'छायावाद का पतन' लिखकर काव्य-कला के स्तर पर अंतिम रूप से छायावादी काव्य की दुर्बलताओं का विश्लेषण करके उन्हें सोदाहरण उद्‌घाटित किया। स्वयं देवराज के अनुसार इस पुस्तक के अंश 'शुक्ल जी की छायावाद संबधी समीक्षाओं के भाष्य मात्र हैं।' पर देवराज ने व्याख्या करते हुए पारिभाषिक शब्दावली गढ़ने का मौलिक प्रयास किया। देवराज 'किसी कृति अथवा कलाकार के मूल्यांकन की कसौटी उसकी अनुभूति की गहराई, व्यापकता एवं नूतनता को मानते हैं।' साथ ही वे यह कहना नहीं भूलते कि 'साहित्यिक अनुभूति में बोध या ज्ञान का अंश अवश्य रहता है।'

देवराज की आलोचक दृष्टि की विशिष्टता और महत्व इस बात में है कि वे साहित्य में समसामयिक युग का प्रतिनिधित्व देखने के आकांक्षी थे। स्वभावतः उन्होंने आलोचना के स्थायी या शाश्वत कहे जाने वाले प्रतिमानों का समर्थन नहीं किया। उन्होंने प्राचीन प्रतिमानों के युगानुरूप नए स्थानापन्न प्रस्तावित किए : 'प्रतिमान के रूप में संस्कृति-बोध को, इस समय मैं उतना ही महत्व देता हूँ, जितना क्लासिकी विचारक, काव्य के प्राण-तत्व के रूप में, रस को देते रहे हैं।' इस प्रतिमान को उन्होंने अज्ञेय और 'तार सप्तक' के अन्य कवियों पर तुलनात्मक रूप में घटित करके भी दिखाया। वे अपेक्षाकृत लंबी कविताओं के समर्थक थे। सांस्कृतिक परिवेश की उनकी अवधारणा टी.एस. इलियट से प्रभावित थी। वे उपभोक्ता जनो से भी 'नवीन युग-संवेदना से परिचय या तादात्म्य' की माँग करते थे।

देवराज के उत्कट सांस्कृतिक आग्रह का अभिप्राय यह नहीं था कि वे साहित्य में यथार्थ का महत्व नहीं मानते थे। वस्तुतः साहित्य और मूल्यांकन की दृष्टि से वे सबसे अधिक महत्व इस बात को देना चाहते थे कि : 'साहित्यकार यथार्थ के कितने विस्तार को संघटित रूप से पाठक की चेतना के सामने उपस्थित कर सका है।' उन्होंने कल्पना के द्वारा अनुभूति के अतिक्रमण का भी विरोध किया था।

कुल मिलाकर देवराज की आलोचक दृष्टि के विरुद्ध क्लासिकी दृष्टि थी। पर वे छद्‌म क्लासिक के विरुद्ध भी उतने ही सतर्क और सावधान थे जितने ग़ैर क्लासिक के। वे जिस क्लासिकल को मान्यता देते हैं वह एक विशेष दृष्टिकोण है परम्परानुसरण नहीं। क्लासिकल का अर्थ उनके लिए कालजयी कृतियों का अनुरकण नहीं, बल्कि सांस्कृतिक गरिमा और नए अनुषंगों और संदर्भों से अर्थवान पदावली में नए क्लासिक्स की सृष्टि है।

देवराज ने यूँ तो व्यावहारिक समीक्षाएँ भी कम नहीं लिखीं, पर उनका मन मुख्यतः सैद्धांतिक आ[illegible] में ही रमा है। उनकी व्यावहारिक समीक्षाएँ भी अंततः किसी-न-किसी सिद्धांत-निरूपण के क्रम [illegible] आती हैं। वैसे उनके विषय-चयन और मूल्यांकन दोनों में पर्याप्त रुचि-वैचित्र्य दिखाई पड़ता [illegible] मिलाकर देवराज का महत्व इस बात में है कि उन्होंने सही समय पर साहित्यिक चेतना मे आने वाले बदलाव को पहचाना और उसके अनुसार आलोचना को सैद्धांतिक स्तर पर समृद्ध करने का प्रयास किया।

देवराज की आलोचना की विशेषताएँ संक्षेप में इस प्रकार हैं :

1. देवराज ने निर्णायक ढंग से छायावाद के पतन की घोषणा की और ऐसा करते हुए हिंदी आलोचना की नई पारिभाषिक शब्दावली गढ़ी।

2. वे साहित्य में युग का प्रतिनिधित्व देखना चाहते थे अतः उन्होंने प्राचीन प्रतिमानों के स्थान पर युगानुरूप नए प्रतिमान स्थापित किए।

3. उन्होंने सांस्कृतिक-बोध को साहित्य के प्रतिमान के रूप में स्थापित किया।

4. उनकी दृष्टि रोमांटिक के विरुद्ध क्लासिकी दृष्टि थी। वे भावना के ऊपर कल्पना के अतिक्रमण का विरोध करते थे। पर वे जिस क्लासिकल को मान्यता देते थे उसका अर्थ कालजयी कृतियों का अनुकरण नहीं, बल्कि सांस्कृतिक अनुषंगों से अर्थवान पदावली में नए क्लासिक्स की सृष्टि है।

5. उन्होंने व्यावहारिक समीक्षाएँ कम नहीं लिखीं, पर उनका मन मुख्यतः सिद्धांत-निरूपण में ही रमा।

6. उन्होंने साहित्य-चेतना में आने वाले बदलाव को पहचाना और उसके अनुसार आलोचना को सैद्धांतिक स्तर पर समृद्ध करने का प्रयास किया।

शुक्ल जी के बाद हिंदी आलोचना में जिन प्रवृत्तियों की प्रधानता रही उनमें छायावाद के व्याख्याता आलोचकों की काव्य-सौष्ठववादी आलोचना, उन्हीं के समानांतर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की इतिहास-बोध की आग्रही मानवतावादी समीक्षा, देवराज की रोमांटिक विरोधी क्लासिकल दृष्टि और छायावाद के सहृदय आलोचक शांतिप्रिय द्विवेदी की प्राभावाभिव्यंजक आलोचना का विशेष उल्लेख किया जा सकता है।

27.3 प्रगतिवादी आलोचना तथा आधुनिकतावादी आलोचना दृष्टि

हिंदी साहित्य में प्रगतिशील आंदोलन की शुरुआत 1936 ई० के आसपास हो गई थी। इसी के कुछ समय बाद रचनात्मक साहित्य में प्रयोगशीलता के उदाहरण कविताओं में दिखाई पड़ने लगे थे। कुछ आगे चलकर इनका दृष्टिकोण 'तारसप्तक' में संकलित कवियों के कवि-वक्तव्यों के माध्यम से सामने आया, जिससे यह स्पष्ट हो गया कि साहित्य के प्रति रचनाकारों में, चली आती परम्परा से टकराकर 'नयी राहों के अन्वेषण' की ललक पैदा हो गई है। पर इन दोनों प्रवृत्तियों का सुचिंतित वैचारिक स्वरूप निर्मित होने में कुछ समय लगा।

दूसरे विश्वयुद्ध की समाप्ति और स्वाधीनता प्राप्ति के बाद एक ओर मार्क्सवाद से प्रभावित प्रगतिशील आलोचकों ने और दूसरी ओर प्रयोगशील और नए कवियों और उनके पाठक-आलोचकों ने आलोचना की बागडोर सँभाली। इस प्रसंग में यह नहीं भूलना चाहिए कि प्रगतिशीलों और प्रयोगशीलों के बीच यह विभाजन 'तारसप्तक' के प्रकाशन काल तक उतना स्पष्ट नहीं था। 'तारसप्तक' में संकलित कवियों के नाम इसका प्रमाण है।

परिवर्तन के इस लम्बे दौर में एक बात ध्यान देने की यह है कि लगभग एक दशक तक आलोचना की शब्दावली मूल्यकेंद्रित रही। जो जिस रूप में है, उसमें परिवर्तन आवश्यक है - इस ज़रूरत पर प्रगतिशील और नयी-आलोचना, दोनों ने अपने अपने ढंग से बल दिया। दोनों के रास्ते और तर्क अलग थे। पर प्रेरणा दोनों ने मुख्य रूप से पश्चिम के विचारकों से ली - वह कार्ल मार्क्स और एंगिल्स से चली आती परम्परा हो या टी.एस. इलियट, एज़रा पाउण्ड, टी.ई. ह्यूम आदि रचनाकारों और उनके समर्थन-विरोध से विकसित होने वाली आलोचना-पद्धतियाँ हों।

आगे चलकर दोनों में यह अंतर ज़रूर हो गया कि मार्क्सवाद की सैद्धांतिकी आयात करने पर भी बिना जनाधार और मानववादी दृष्टिकोण के उसका व्यवहार संभव नहीं था, अतः उसका विश्वसनीय चरित्र जातीय तत्वों के आधार पर ही निर्मित किया जा सकता था। विचारधारात्मक कठमुल्लेपन के कारण आरंभ में साहित्य को सतही तौर पर प्रगतिवादी बनाम प्रतिक्रियावादी खानों में डालकर देखने की प्रवृत्ति ज़रूर दिखाई पड़ी, पर **रामविलास शर्मा** तक आते-आते प्रगतिशील आलोचना का जातीय चरित्र निर्मित हो गया। उन्होंने मार्क्सवादी दृष्टि से हिंदी साहित्य की परंपरा की पुनर्व्याख्या की -- आदिकाव्य से

अपने समकालीन साहित्य तक। मार्क्सवाद के प्रति निष्ठा उनके आलोचक-कर्म के आड़े नहीं आई। उनका मानना था : 'साहित्य भी शुद्ध विचारधारा का रूप नहीं है, उसका भावों और इन्द्रिय-बोध से घनिष्ठ संबंध है। इससे स्पष्ट है कि ललित-कलाओं को विचारधारा के रूपों में गिनना सही नहीं है। उन्होंने अपनी आलोचना के लिए जिन्हें विषय बनाया, वे हिंदी की ठेठ जातीय-परम्परा के प्रतिनिधि हैं - भारतेंदु, प्रेमचंद, रामचंद्र शुक्ल और निराला।

आलोचना के शुक्लजी विरोधी माहौल में, उनके बारे में रामविलास शर्मा की टिप्पणी देखने लायक है : 'उन्होंने आलोचना के माध्यम से उसी सामंती संस्कृति का विरोध किया, जिसका उपन्यास और कविता के माध्यम से प्रेमचंद और निराला ने। शुक्लजी ने न तो भारत के रुढ़िवाद को स्वीकार किया, न पश्चिम के व्यक्तिवाद को। उन्होंने बाह्य जगत और मानव-जीवन की वास्तविकता के आधार पर नए साहित्य-सिद्धांतों की स्थापना की और उनके आधार पर सामंती साहित्य का विरोध किया और देशभक्ति और जनतंत्र की साहित्यिक परंपरा का समर्थन किया।'

रामविलास शर्मा ने शुक्लजी की विरासत और जनवादी पंरपरा का विकास तो किया पर मौलिक साहित्य-सिद्धांतों की सृष्टि वे भी नहीं कर सके। उनके आलोचना-कर्म का चरम उत्कर्ष 'निराला की साहित्य-साधना' में दिखाई पड़ा। यह मात्र संयोग नहीं है कि डॉ0 शर्मा ने पहली बार 'करुणा' को निराला के मूल भाव के रूप में रेखांकित करते हुए उन्हें ट्रेजेडी के महान लेखकों की पश्चिमी पंरपरा से जोड़ा, वाल्मीकि, भवभूति और तुलसी की भारतीय परंपरा से नहीं। यूँ शुक्लजी भी अपने ढंग से करुणा का महत्व निरूपण पहले कर चुके थे।

प्रगतिशीलों में कवि-आलोचक **मुक्तिबोध** ने संपूर्ण कला-सिद्धांत की रूपरेखा देने की कोशिश की। आरंभ उन्होंने 'कामायनी' की वर्ग-दर्शन पर आधारित पुनर्व्याख्या से किया। पर बाद में उनकी आलोचनात्मक कृतिया अपनी ही रचना-प्रक्रिया के आत्मसजग-विश्लेषण की उपज होकर रह गई। उनकी 'फेंटेसी' की व्याख्या या लंबी नाटकीय कविता के रचना-विन्यास में निहित सिद्धांत का उद्‌घाटन उनकी अपनी या फिर उसी काट की कविताओं को समझने-समझाने में तो कारगर हो सकता है, पर उससे कोई व्यापक काव्य-सिद्धांत उभरकर सामने नहीं आता।

नामवर सिंह ने भी आरंभ 'छायावाद' की व्यावहारिक समीक्षा से किया। उनकी पहली रचना ने ही इसलिए सहसा आकर्षित किया क्योंकि उसमें उन्होंने छायावादी कविता के छाया-चित्रों में निहित सामाजिक सत्य का उद्‌घाटन करने का प्रयत्न किया था। इससे मार्क्सवादी आलोचना का रचनात्मक और परिष्कृत रूप सामने आया। काव्य के प्रतिमानों का प्रश्न उन्होंने आगे चलकर 'कविता के नए प्रतिमान' में उठाया। यह प्रश्न उनसे पहले नयी कविता के आलोचक **लक्ष्मीकांत** वर्मा और कवि **धर्मवीर भारती** भी उठा चुके थे। पर वर्मा जी प्रतिमानों से ज्यादा प्रतिमानों के संदर्भ यानी 'नयी कविता' की व्याख्या के सवाल को लेकर व्याकुल दिखाई पड़े और भारती में उस समय की प्रमुख विचारधारा 'अस्तित्ववाद' की अनुगूँज सुनाई पड़ी।

नामवर सिंह ने परंपरा से प्रतिष्ठित प्रतिमानों की प्रासंगिकता पर भी विचार किया और नयी कविता के संदर्भ में काव्य-मूल्यों का प्रश्न भी उठाया। अत्यंत घ्वसात्मक शैली में उन्होंने 'वैयक्तिक और आत्मपरक छायावादी संस्कारों से गढ़े गए' प्रतिमानों को बर्खास्त किया। पर आत्मपरक कविता के दायरे से बाहर निकलकर जो प्रतिमान उन्होंने प्रस्तावित किए, उन पर पश्चिम की रूपवादी आलोचना का गहरा प्रभाव है। उन्होंने जो सवाल उठाए उन पर पश्चिम की 'नयी आलोचना' में विचार किया जा चुका था। उनके द्वारा प्रयुक्त शब्दावली और उससे जुड़ी अवधारणाएँ मौलिक भले ही न हों, पर उन्हें इस बात का श्रेय देना होगा कि उन्होंने हिंदी की नयी कविता के संदर्भ मे उसे बीच से पैदा होने वाले काव्य-मूल्यों के प्रश्न को बड़े पैमाने पर अत्यंत विचारोत्तेजक रूप में उठाया। मुक्तिबोध की कविता 'अंधेरे में' की समीक्षा करके उन्होंने इन प्रतिमानों की व्यावहारिकता सिद्ध की। अन्य प्रगतिशील आलोचकों में **शिवदान सिंह चौहान, अमृतराय, रांगेय राघव** का उल्लेख किया जाता है। परंतु इन आलोचकों ने भी हिंदी-आलोचना को कोई ऐसी सैद्धांतिकी नहीं दी, जिससे उसकी कोई अलग पहचान बन सके। इनमें आपसी विवाद भी कम नहीं हुए। पर इनकी अधिकांश समीक्षा या तो मार्क्सवादी सिद्धांतों का पक्ष-समर्थन करने के लिए लिखी गई या उन्हें व्यावहारिक रूप देने के लिए।

संक्षेप में प्रगतिशील और प्रयोगशील प्रवृत्तियों का आभास तो हिंदी साहित्य में 1940 ई0 के आसपास ही मिलने लगा था किंतु एक निश्चित प्रवृत्ति के रूप इनका स्वरूप स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद ही

संगठित होकर उभरा। मार्क्सवादी विचारधारा प्रगतिशील आलोचना का आधार थी। पर मार्क्स-एंगिल्स की वैचारिक-परंपरा को आयातित करने के बावजूद जिन रचनाकारों-आलोचकों ने हिंदी आलोचना को जातीय रूप दिया उनमें सबसे प्रमुख नाम रामविलास शर्मा का है। उन्होंने साहित्य की लम्बी परंपरा की मार्क्सवादी व्याख्या ज़रूर की पर उनकी आलोचना के प्रमुख विषय वे ही रचनाकार रहे जो हिंदी की ठेठ जातीय परंपरा का प्रतिनिधित्व करते थे। उन्होंने शुक्लजी की विरासत और जनवादी परंपरा का विकास तो किया पर कोई नई सिद्धांत-सृष्टि नहीं की। शुक्लजी भी उन्हें इसलिए महत्वपूर्ण लगते थे कि उन्होंने 'देशभक्ति और जनतंत्र की साहित्यिक परंपरा का समर्थन किया।'

प्रगतिशीलों में **मुक्तिबोध** ने संपूर्ण कला-सिद्धांत की रूपरेखा प्रस्तुत करने की कोशिश की परंतु उनकी कृतियों में भी अपनी ही रचना-प्रक्रिया का आत्मसजग विश्लेषण ही अधिक दिखाई पड़ा और उनका 'फैन्टेसी' विवेचन और लम्बी-कविताओं के रचना-विन्यास संबंधी विचार भी उनकी अपनी कविताओं को समझने में कारगर हुए कोई व्यापक आलोचना-सिद्धांत प्रस्तुत करने में नहीं।

नामवर सिंह की छायावादी कविता की व्याख्या में मार्क्सवादी आलोचना का परिष्कृत और रचनात्मक रूप जरूर सामने आया पर नयी कविता के मूल्यांकन के लिए उन्होंने जो प्रतिमान प्रस्तावित किए, उन पर पश्चिम की रूपवादी आलोचना का गहरा प्रभाव है। उनका महत्व नई कविता के संदर्भ में काव्य मूल्यों के प्रश्न को बड़े पैमाने पर उठाने के कारण है।

शुक्लोत्तर आलोचना से, विशेष रूप से पचास के बाद की हिंदी आलोचना से पश्चिमोन्मुखता की शिकायत बढ़ी है। इसका एक कारण तो यह है कि यह परमुखापेक्षिता रचनात्मक साहित्य में भी पहले की अपेक्षा कहीं अधिक दिखाई पड़ती है। आठवें दशक के अंत में **रमेशचंद्र शाह** ने : 'पराधीन कल्पना : एक सृष्टि' शीर्षक अपने लेख में इस 'सर्वग्रासी आत्महीनता' की 'बुनियादी खोट' को आँकने की कोशिश की है।

दरअसल यह प्रश्न ठेठ औपनिवेशिक मानसिकता का है। जिनकी पराधीनता हमारे लिए विरोध और विद्रोह का कारण होती है उनका राजनीतिक-आर्थिक वर्चस्व हमारे अवचेतन में हीनता ग्रंथि पैदा करता है। उनकी श्रेष्ठता का विश्वास हमारे भीतर गहरे घर किए रहता है। इसलिए अनजाने ही वे हमारे मॉडल हो जाते हैं और स्वाधीन होते ही हमें उस सबका अनुकरण करने में गर्व की अनुभूति होने लगती है जिसका हम कभी आत्माभिमान के कारण विरोध करते थे। वैचारिक स्वराज के लिए उतने ही दृढ़ संकल्प और सचेत प्रयत्न की जरूरत होती है, जितनी राजनीतिक स्वाधीनता के लिए।

रचना और आलोचना - दोनों के स्तर पर इस आयात के बारे में, उसकी देसी ज़मीन के बारे में बराबर सवाल उठाया गया है। हिंदी नाटक में विसंगत (एब्सर्ड) प्रयोगों पर विचार करते हुए नेमिचंद्र जैन ने कहा था : 'सवाल यह नहीं है कि इंसान की नियति के बारे में ये विसंगतिवादी निष्कर्ष गलत है या सही, सवाल यह है कि क्या वे आज हमारे अपने अनुभव की उपज है? मेरा विचार है कि हमारे अपने सामाजिक, सांस्कृतिक अथवा वैचारिक दार्शनिक इतिहास के संदर्भ में वे आरोपित और अयथार्थ हैं और एक प्रकार की आयातित बौद्धिक मुद्रा को सूचित करते हैं।'

दरअसल दिक्कत आयातित विचार से ज्यादा इसी आयातित बौद्धिक मुद्रा की है। यह मुद्रा अलग-अलग ढंग से, अलग-अलग आलोचकों में भी अपने को चरितार्थ करती रही है। इसका सबसे फूहड़ रूप होता है 'नेम ड्रपिंग' यानी चलते-चलते पाठक पर रौब गालिब करने के लिए कुछ भारी-भरकम या अद्यतन विदेशी नामों का उल्लेख करना। प्रतिभावान आलोचक ऐसे प्रभावों को आत्मसात किए बिना ग्रहण नहीं करते, जबकि मंद प्रतिभा वालों में यह सतह पर झलकता रहता है। मुख्य बात यह है कि बाहर से लाया गया विचार हमारी अपनी परिस्थिति में कहाँ तक ग्राह्य और स्वीकार्य होता है। शर्त अंतर्तत्वों में घुलावट की होनी चाहिए। 'नयी कहानी' के दो आलोचकों नामवर सिंह और देवीशंकर अवस्थी की आलोचना में यह अंतर साफ़ दिखाई पड़ता है। देवीशंकर अवस्थी की आलोचना विदेशी प्रभावों और अंग्रेजी भाषा के सम्मोहन के सामने बड़ी लाचार हो जाती थी।

रचनाकारों में **अज्ञेय** भी बराबर इस आरोप को झेलते रहे। पर विदेशी प्रभाव को ग्रहण कर, अपना बना लेने का उनका अपना अंदाज़ था। इसके अलावा उनमें एक और बेचैनी भी थी, अपनी थाती टटोलने, अपनी जड़ों की मज़बूती की थाह लेने और उनकी तरफ लौटने की। इसी बेचैनी ने उन्हें यह कहने के लिए प्रेरित किया कि 'यदि छायावादी आंदोलन की एक प्रेरणा हिंदी कवि द्वारा शैली और कीट्स का आविष्कार था, तो यूरोप के रोमांटिक आंदोलन की एक प्रेरणा यूरोपीय कवि द्वारा कालिदास का आविष्कार था।'

अज्ञेय ने अपने ढंग से छायावादी काव्य-सिद्धांत के विरोध में नयी कविता का सौंदर्यशास्त्र निर्मित करने का प्रयास किया। फ्रायड और एडलर के मनोविश्लेषणवाद के आरंभिक प्रभाव को उन्होंने आगे चलकर छोड़ दिया और नयी कविता से जुड़े अनेक सवालों का उत्तर तलाशते हुए नई आलोचना की भाषा तैयार की।

हिंदी आलोचना में कुछ अवधारणाएँ ऐसी थीं, जिनको सुविधापूर्वक पश्चिम की देन स्वीकार कर उनके पारंपरिक मूल विशेष आग्रहों के तहत खोजकर निश्चित कर दिए गए थे। ऐसी कुछ अवधारणाओं के परंपरागत मूल का प्रश्न नामवर सिंह ने 'दूसरी परंपरा की खोज' में उठाया। इनमें से एक प्रश्न 'सौंदर्य' की अवधारणा और सौंदर्य-बोध के पारंपरिक विकास का था और दूसरा 'भारतीय संस्कृति' की विशुद्धता का, जो आज भी बहस-तलब है। ये सवाल सांस्कृतिक विरासत, साहित्यिक रुचि के विकास और प्रतिबद्धता की पहचान से ताल्लुक रखते हैं।

सारांश में, शुक्लोत्तर आलोचना में, विशेषकर पचास के बाद की आलोचना के बारे में पश्चिमोन्मुखता की शिकायत अक्सर की जाती रही है। दरअसल इसका एक कारण औपनिवेशिक मानसिकता है। आलोचना के पश्चिमी सरोकारों और अवधारणा के आयात का एक कारण यह भी रहा कि स्वयं रचनाओं पर भी यह प्रभाव कम नहीं रहा। इसे स्वयं हिंदी के आलोचकों ने निजी अनुभव न मानकर एक प्रकार की आयातित बौद्धिक मुद्रा कहा है। यह मुद्रा सभी आलोचकों में समान रूप से हो ऐसा नहीं है। प्रभाव तो अधिकांश रचनाकारों और आलोचकों पर है पर जहाँ वह अंतर्तत्वों में घुलकर आत्मसात कर लिया गया है, अपना बना लिया गया है वहाँ बात दूसरी हो जाती है। आलोचकों में नामवर सिंह और रचनाकारों में अज्ञेय ने यह प्रभाव इसी खूबी से अपना लिया। इसके अलावा इनमें अपनी जड़ों की तरफ वापिस लौटने की या उनके जातीय संस्करण या मूल तलाश करने की बेचैनी भी अपनी जगह है। इसीलिए इनके प्रमुख सरोकारों में छायावादी काव्य-सिद्धांत के विरोध में नयी कविता का सौंदर्यशास्त्र निर्मित करना और नयी आलोचना की भाषा तैयार करना भी रहा है।

27.4 उत्तरशती की आलोचना

27.4.1 आलोचना की नई ज़मीन तैयार करने का प्रयास

उत्तर शती की आलोचना की एक महत्वपूर्ण विशेषता थी रोमांटिसिज्म के विरुद्ध रचना और आलोचना की नई ज़मीन तैयार करने की कोशिश। **विजयदेव नारायण साही** ने तो सत्याग्रह युग के साहित्य पर 'रोमांटिक' विशेषण लगाने से भी परहेज किया, और पश्चिम के रोमांटिसिज्म और छायावाद की मनोभूमि के बुनियादी अंतर को रेखांकित किया। उन्होंने मलार्मे की काव्यानुभूति के सादृश्य पर शमशेर की कविता की बनावट को भी समझाने की कोशिश की और जायसी के बारे में आग्रह किया कि उनकी परख 'सूफी' नहीं, 'कवि' के रूप में की जानी चाहिए। जायसी के संदर्भ में उन्होंने नई आलोचनात्मक भाषा और नए प्रत्यय दिए।

साही मुख्य रूप से 'छठे दशक' के आलोचक थे। इस दशक की आलोचनात्मक गतिविधि में बहुत सरगर्मी थी। यह संक्रांति का दौर था। साही की आलोचना का अनिवार्य संदर्भ उनके समय का वैचारिक संघर्ष था। बकौल साही चूँकि 'छठे दशक' के पिघलाने वाले ताप में ये लेख लिखे गये थे, इसलिए इनमें 'उस वक्त की गर्मी मौजूद है।' साही कविता-संबंधी बहसों में डटकर हिस्सा लेते, बुनियादी बात की पकड़ पर नज़र जमाए रखते, अपने प्रखर चिंतन और तार्किकता से, समर्थकों को प्रेरित और विरोधियों को वे लगातार उत्तेजित करते रहे। पर यह विडम्बना ही कही जाएगी कि इतनी प्रखर मेधा के बावजूद नयी कविता की सैद्धांतिकी निर्मित करने का प्रयास उन्होंने भी नहीं किया। आलोचना के दायित्व के बारे में उनका कहना था कि : 'रेडियो की सुई को उचित लहर मान पर लगा भर देना आलोचना का काम है।' उन्होंने यह काम सिर्फ़ पाठकों के लिए ही नहीं कुछ दूर तक आलोचकों के लिए भी किया। शमशेर जिस अर्थ में कवियों के कवि थे, उसी अर्थ में साही आलोचकों के आलोचक थे।

27.4.2 कथा साहित्य और नाटक : आलोचना की दिशा

उत्तर-शती का हिंदी आलोचना में छठे और सातवें दशक शायद सबसे अधिक सक्रियता से भरे दशक हैं। कविता की आलोचना में तो सरगर्मी है ही, कथा-साहित्य और नाटक की आलोचना को भी तत्वधर्मी पद्धति से मुक्त कर नए ढंग की शुरुआत करने के गंभीर प्रयत्न भी इसी दौर में दिखाई पड़ते हैं।

1) कथा साहित्य की आलोचना

1955 ई. में सरस्वती प्रेस से भैरवप्रसाद गुप्त के सम्पादन में 'कहानी' पत्रिका का प्रकाशन शुरू हुआ। इसी पत्रिका में 1956 ई० में **नामवर सिंह** ने 'आज की हिंदी कहानी' शीर्षक लेख लिखा। इस लेख से स्पष्ट है कि युवा कथाकारों के 'नए उफान' ने जो नई जमीन तैयार की थी उसकी समीक्षा के लिए पुरानी परिपाटी की समीक्षा की अपर्याप्तता को वे गहराई से महसूस कर रहे थे। बाद में 'कहानी : नयी कहानी' में संकलित 'नयी कहानी : सफलता और सार्थकता' शीर्षक लेख में उन्होंने एलान किया कि : 'यह आवश्यक हो गया है कि कहानी की आलोचना को एक नए स्तर पर उठाया जाए।' इसके अलावा उन्होंने दावा किया कि 'मैंने कथा-समीक्षा की एक पद्धति निकालने की कोशिश की है।'

इधर नामवर सिंह के अलोचकों को, जिनमें कथाकार भी शामिल थे, उनसे शिकायत थी कि उन्होंने कहानी की पड़ताल कविता के प्रतिमानों पर की और उधर नामवर सिंह 'नयी कविता' पत्रिका में 'हाशिये पर' शीर्षक स्तम्भ मे कहानी की सामान्य चर्चा को कहानी की विशेष चर्चा पर टिका रहे थे। इस स्तम्भ से जो विवाद का माहौल बना उसके केंद्र में विशिष्ट कहानियाँ थीं, सामान्य सिद्धांत नहीं। इस तरह व्यावहारिक समीक्षा के बीच से कथा-समीक्षा की सैद्धांतिकी उभर रही थी।

'धर्मयुग' में भी लगभग दो वर्ष तक चलने वाले स्तंभ **'एक कथा दशक'** में स्वयं कथाकारों ने अपनी सृजन-प्रक्रिया का विश्लेषण किया और कहानी की रचना से संबद्ध मूलभूत समस्याओं पर भी विचार किया। इन वक्तव्यों में निर्मल वर्मा का वक्तव्य विशेष, महत्वपूर्ण था इस तरह नए कवियों की तरह नए कथाकारों ने भी कथा समीक्षा की राह निकालने का प्रयास जमकर किया। लिखा तो बहुत गया, पर यह स्वीकार करना कठिन है कि इन प्रयासों से कथा समीक्षा की कोई निश्चित सैद्धांतिकी या पद्धति निर्मित हो सकी। ये कथाकार प्रायः अपनी सृजन-प्रक्रिया का विश्लेषण करते रहे, नयी कहानी के बारे में अपनी समझ का खुलासा करते रहे या फिर आंदोलन के बारे में कुछ घोषणाएँ करते रहे। **राजेंद्र यादव** ने 'कहानी : स्वरूप और संवेदना' और 'एक दुनिया सामानांतर' की भूमिका में संजीदगी से नयी कहानी के बारे में अपनी समझ को व्यक्त किया। इसके अलावा इस दौर में लिखे गए महत्वपूर्ण उपन्यासों की समीक्षा करते हुए उन्होंने 'चंद्रकांता संतति' जैसे उपन्यास का लीक से हटकर विश्लेषण किया। इस तरह के प्रयासों से यह साबित हुआ कि कथा-समीक्षा भी उतनी ही जिम्मेदारी का काम है जितनी काव्य-समीक्षा। इन प्रयासों से कथा - समीक्षा सैद्धांतिकी भले ही न बनी हो उसका चरित्र ज़रूर बना जो काव्य - समीक्षा की चली आती पद्धतियों से अलग था।

उपन्यास के क्षेत्र में भी स्वाधीनता के बाद जो नए सर्जनात्मक प्रयोग किए गए, उन्होंने समीक्षा की नई पद्धति की ज़रूरत पैदा कर दी थी। इन उपन्यासों की समीक्षाओं में ऐसे सूत्र आकार ग्रहण करते दिखाई पड़े जो लगभग एक पद्धति को प्रस्तावित करते थे। उदाहरण के लिए **'मैला आँचल'** के बारे में **नेमिचंद्र जैन** का यह कथन कि 'लेखक ने देहाती जीवन को अत्यंत आत्मीय और कवित्वपूर्ण दृष्टि से देखा है।' उपन्यासों में कवित्वपूर्ण दृष्टि की बात करना उन पर कविता के प्रतिमान लागू करने का प्रयास भले ही लगे, पर इससे यह निष्कर्ष तो निकलता ही है कि जहाँ दृष्टि में आत्मीयता होगी वहाँ कवित्व का समावेश सहज रूप से हो जायेगा और यह भी कि एक खास ढंग के उपन्यासों में ये विशेषताएँ प्रतिमान का काम करती हैं।

'परती परिकथा' की समीक्षा करते हुए **निर्मल वर्मा** ने भी कुछ इसी प्रकार की पद्धति का सहारा लेकर कहा था : 'समूचा उपन्यास पढ़ जाने के बाद लगता है, जैसे हम किसी गाँव का अद्भुत विचित्र 'कार्नीवाल' देख आए हैं। अनेकानेक रंगों, गंधों, सुरों की हरहराती धारा हमारे बीच बहकर आगे बढ़ गई है - ।' कहना न होगा कि ऐसी चर्चाओं के बीच से अनायास आंचलिक उपन्यासों की समीक्षा की एक पद्धति उभरकर निश्चित रूप ले रही थी। निर्मल वर्मा ने इस संदर्भ में उपन्यासो की प्रकृति और शिल्प के बारे में सर्वथा प्रासंगिक और मूलभूत प्रश्न उठाए। उदाहरण के लिए किसी साहित्यिक रचना में यथार्थ के प्रति दृष्टिकोण का स्वरूप, कथाकार की वैचारिकता, विशेषकर अपने को 'सोशलिस्ट' समझने के आग्रह का उसके कलात्मक व्यक्तित्व पर प्रभाव, उपन्यास में नाटकीयता की सृष्टि एवं उपन्यास के तथाकथित 'बिखराव' को कथा-शिल्प के विशिष्ट प्रयोग के रूप में समझने की दृष्टि आदि। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन तमाम सवालों को उठाने की ज़रूरत रचनात्मक प्रयोगों ने पैदा की थी और इनसे जूझने का प्रयास समीक्षकों की अपेक्षा स्वयं कथाकारों ने ज्यादा समझदारी से किया। यह बात अलग है कि इन प्रयासों के बीच से कोई सैद्धांतिकी या निश्चित पद्धति तो उभर कर नहीं आई परंतु काव्य-समीक्षा से अलग कथा-समीक्षा का एक निजी स्वरूप ज़रूर बना। 'अठारह उपन्यास' में संकलित राजेंद्र यादव के लेख भी इसका प्रमाण है। इनमें हर कृति के केंद्रीय बिंदु को

तलाश कर उसके चारों ओर एक अलग ढाँचा तैयार किया गया है। इससे यह नतीजा निकाला जा सकता है कि रचना की प्रयोगात्मकता के सामने पूर्व-निर्धारित औज़ार लाचार हो जाते हैं और उसकी समीक्षा के तर्क उसी के भीतर से अपना तंत्र खुद बनाते हैं। ऐसी स्थिति में आलोचना रचना पर नहीं, बल्कि रचना आलोचना पर हावी हो जाती है।

निष्कर्ष यह कि छठे-सातवें दशकों के दौरान स्वतंत्र पुस्तकों भूमिकाओं और पत्रिकाओं के स्तंभों के माध्यम से निश्चय ही कहानी की आलोचना की निजी पद्धति उभरती दिखाई पड़ती है। यही पद्धति आगे चलकर अच्छी कहानियों के समर्थ विश्लेषण का रूप ग्रहण कर लेती है। इन समीक्षाओं की सबसे बड़ी खूबी यह है कि ये पश्चिमी आतंक से प्रायः मुक्त है। कारण शायद यह है कि कथा - साहित्य का गहरा संबंध यथार्थ से होता है और यथार्थ अपने देश और परिवेश का होता है। सारांश में, सदी के छठे और सातवें दशक की आलोचनात्मक गतिविधि में बहुत सरगर्मी थी। उत्तर शती की आलोचना का एक महत्वपूर्ण सरोकार था रोमांटिसिज्म के विरुद्ध रचना और आलोचना की नई जमीन तैयार करने की कोशिश।

विजयदेव नारायण साही जैसे आलोचकों ने पश्चिम और पूर्व के काव्यांदोलनों (रोमांटिसिज्म और छायावाद) के बुनियादी अंतर को भी स्पष्ट किया। उन्होंने नई आलोचनात्मक भाषा और नए प्रत्यय भी दिए, पर सैद्धांतिकी उन्होंने भी निर्मित नहीं की। इस दौर की आलोचना की एक प्रमुख विशेषता उसका विवादात्मक स्वर है।

ये दशक इस बात के लिए भी महत्वपूर्ण हैं कि इनमें कथा-साहित्य और नाटक की आलोचना को भी तत्वधर्मी पद्धति से मुक्त कर एक नए ढंग की शुरुआत की गई। नामवर सिंह ने दावा किया कि 'मैंने कथा-समीक्षा की एक पद्धति निकालने की कोशिश की है। कहानी की आलोचना के लिए नई ज़मीन तैयार करने में कहानीकारों और आलोचकों, दोनों ने योगदान दिया। प्रायः कहानी की व्यावहारिक आलोचनाओं के बीच से कथा-समीक्षा की सैद्धांतिकी उभरती नजर आने लगी। भले ही इसका रूप स्थिर और निश्चित न हुआ हो, पर इनमे लीक से हटकर नए रास्तों की तलाश का प्रयत्न साफ दिखाई पड़ता है। वही इनका प्रमुख सरोकार भी है।

उपन्यास के क्षेत्र में भी स्वाधीनता के बाद किए गए सर्जनात्मक प्रयोगों ने समीक्षा की नई पद्धति की ज़रूरत पैदा कर दी थी। विशेषकर आँचलिक उपन्यासों की समीक्षाओं के बीच से अनायास आंचलिक उपन्यासों की समीक्षा की एक पद्धति उभरकर निश्चित रूप ले रही थी। इन उपन्यासों की प्रकृति और शिल्प के बारे में सर्वथा प्रासंगिक और मूलभूत प्रश्न उठाए जा रहे थे। और इनसे जूझने का प्रयास समीक्षकों की अपेक्षा स्वयं कथाकारों ने समझदारी से किया। इनसे यह नतीजा निकाला जा सकता है कि रचना की प्रयोगात्मकता के सामने आलोचना के पहले से चले आते परंपरागत औजार निरर्थक या लाचार मालूम होने लगते हैं।

2) नाट्यलोचन

छठे-सातवें दशकों के दौरान अनेक माध्यमों से कथा-साहित्य की आलोचना की जो पद्धति उभरती दिखाई पड़ी उसकी कोई निश्चित सैद्धांतिकी भले ही निर्मित नहीं हुई हों, पर इतना स्पष्ट है कि वह पश्चिम के आतंक से प्रायः मुक्त है। शायद इसलिए कि कथा-साहित्य का गहरा संबंध यथार्थ से होता है, जो अपने देश या परिवेश का ही होता है।

नाटक की आलोचना के बारे में यह बात पूरी तरह सही नहीं है। दरअसल नाट्यालोचन की शास्त्रीय पद्धति का ढाँचा पहले से उपलब्ध था। नाटक के संबंध में परिपाटी मुक्त मौलिक और सैद्धांतिक सवाल जयशंकर प्रसाद ने सबसे पहले उठाए थे। हिंदी रंगमंच का उस समय तक अपना कोई स्वरूप नहीं बना था। इसलिए कुछ समय तक हिंदी की नाट्य-समीक्षा पर भी इब्सेनियन रंगमंच, अभिव्यक्ति की शैली और बुद्धिवाद का गहरा प्रभाव पड़ा। पर छठे दशक के अंत में नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा एंड एशियन थियेटर की स्थापना इस दिशा में ऐतिहासिक घटना साबित हुई। अल्काज़ी के निदेशक पद ग्रहण करने के साथ पहली बार रंगमंच की आधुनिक तकनीक का विधिवत अध्यापन और मंच पर व्यावहारिक प्रयोग आरंभ हुआ। नेमिचंद्र जैन ने नाटक केंद्रित पत्रिका 'नटरंग' का प्रकाशन इसी के बाद शुरू किया।

नाटक की समीक्षा के बारे में यह ध्यान देने की बात है कि उस पर पाश्चात्य नाटक एवं रंगमंच की परंपरा का ज़रूरत से ज्यादा प्रभाव है। इसका कारण नाटकों पर पड़ने वाला पश्चिमी प्रभाव भी है।

इसके अलावा नाट्य-समीक्षा के केंद्र में नाटक अब केवल साहित्यिक विधा न रहकर रंगमंच के संदर्भ में नाटक हो चला है। जब विचार रंगमंच की दृष्टि से किया जाने लगा, तो जिन बहुत-सी बातों पर विचार करना ज़रूरी समझा गया, उनमें से एक पक्ष नाटक की भाषा का था। इस सवाल को उठाने का श्रेय प्रमुख रूप से **विपिन कुमार अग्रवाल** को है।

इस सबके अलावा एक पूरा दौर उन समीक्षात्मक लेखों का है, जो दिन-प्रतिदिन रंगमंच पर प्रस्तुत किए जाने वाले नाटकों को लक्ष्य कर पत्र-पत्रिकाओं में सामने आते रहे। दिलचस्प बात यह है कि इन लेखों में विचारणीय विषय नाटक नहीं, नाटक की रंगमंचीय प्रस्तुति रहती थी। यह पूरा सिलसिला इस बात का प्रमाण है कि हिंदी समीक्षा में पहली बार नाटक की 'दृश्य-काव्य' के रूप में सार्थकता नियत हुई और रंगमंच से उसका सही रिश्ता कायम हुआ। यह अलग बात है कि आगे चलकर रंगमंचीय आलोचना नाट्य-समीक्षा पर इस तरह हावी हुई कि 'लिखित शब्द' और 'पाठ्य रचना' के रूप में नाटक का विश्लेषण गए-गुज़रे ज़माने की बात हो गई। सारांश में, नाटक की समीक्षा के संदर्भ में स्थिति कथा-समीक्षा से भिन्न है। नाट्यालोचन की एक निश्चित पद्धति तो संस्कृत काव्य-शास्त्र में पहले से मौजूद थी परंतु आधुनिक हिंदी नाटकों के संदर्भ में भी परिपाटी को चुनौती देते हुए जयशंकर प्रसाद ने परिपाटी मुक्त मौलिक और सैद्धांतिक सवाल उठाए। नाटक की समीक्षा पर पाश्चात्य नाटक एवं रंगमंच की परंपरा का काफ़ी प्रभाव पड़ा।

धीरे-धीरे नाट्य-समीक्षा के केंद्र में नाटक केवल साहित्यिक विधा न रहकर रंगमंचीय विधा हो गया। समीक्षकों का सरोकार सिर्फ नाटक नहीं, उसकी रंगमंचीय प्रस्तुति हो गई। हिंदी की नाट्य-समीक्षा में पहली बार नाटक की 'दृश्य-काव्य' के रूप में सार्थकता नियत हुई और रंगमंच से उसका सही रास्ता कायम हुआ।

27.5 समकालीन आलोचना : परिवर्तन के बिंदु

सातवें दशक की गहमागहमी के बाद परिवर्तन के आसार नज़र आने लगे। कवियों और कथाकारों की एक युवा पीढ़ी ने नए तेवर के साथ साहित्य में प्रवेश किया। इनका मुहावरा भी नया था और इनकी यथार्थ-दृष्टि का आग्रह भी प्रबल था। इसके अलावा इनका रुख सामान्यतः आलोचना-विरोधी था। फिर भी समकालीन रचना के बीच से कुछ अपने आलोचक उभर ही आए। इनमें से आलोचना के प्रति गंभीर समर्पण वृत्ति दो रचनाकारों में विशेष रूप से दिखाई पड़ी - मलयज और रमेशचंद्र शाह। इनमें भी मलयज विशेष उल्लेखनीय है।

मलयज की आलोचनात्मक समझ की छाप उनके पहले संग्रह 'कविता से साक्षात्कार' से ही पड़ गई थी। मलयज की विशेषता यह है कि वे आलोच्य कृति के 'वास्तविक मूल्यांकन की कुंजी' उसी के भीतर तलाशते हैं। 'तीसरे अज्ञेय की तलाश' में अज्ञेय की काव्य-पंक्तियों में उन्होंने यह कुंजी तलाश की और शमशेर के 'निर्मम काव्य-शिल्प' को उन्होंने कवि के वक्तव्यों के सहारे खोलने का जोखिम उठाया। त्रिलोचन की काव्य-वस्तु और संवेदना को एकदम ठीक पहचानते हुए उन्हें मलयज ने 'औसत भारतीयता का कवि' कहा। भारतीयता के अभिप्राय को स्पष्ट किया और अंत में उनकी कविता के बारे में ऐसे सवाल उठाए, जिनके बारे में खुद उनका कहना था कि 'इन प्रश्नों के उत्तर की सहज सुविधा फिलहाल त्रिलोचन की कविताएँ हमें नहीं देतीं।'

मलयज आलोचना की सबसे अनिवार्य शर्त 'निर्मम तटस्थता' को पूरा करते हैं। वे न फतवे देते हैं न नारेनुमा वाक्य उछालते हैं। पूरी संवेदनशीलता और आलोचनात्मक विवेक से धीरे से सही जगह उँगली रख देते हैं। उन्होंने कभी आलोचना का सैद्धांतिक ढाँचा भी खड़ा करने का दावा नहीं किया, क्योंकि अपने निष्कर्षों को वे : 'समकालीन जीवन और कविता के परस्पर संबंधों की खोज में आए विभिन्न पड़ाव' कहते थे। अपनी रचना-प्रक्रिया के बारे में उन्होंने कहा था कि : 'आलोचना को रचना की सघन और तनावपूर्ण शर्तों पर पाना मुझे हमेशा आकर्षित करता रहा है'। मलयज हिंदी आलोचना के लिए एक नई भाषा बना रहे थे, जो 'आचार्य शुक्ल की ही परंपरा में वस्तुमुखी, यथातथ्य, तर्कनिष्ठ, भाव-संचलित, सघन और सांद्र है।'

रमेशचंद्र शाह की पद्धति दूसरी है। वे 'सर्जनात्मक समीक्षा' पर जोर देते हैं और इसके लिए रचनाकार की 'सृजन-प्रक्रिया' का आत्मीय विश्लेषण ज़रूरी समझते थे। ज़ाहिर है, इस पद्धति की वस्तुनिष्ठता असंदिग्ध नहीं हो सकती, पर इससे आलोचना कर्म के प्रति शाह की संजीदगी कम नहीं होती। इनके अलावा विजयमोहन सिंह, सुरेंद्र चौधरी, अशोक वाजपेयी, विष्णु खरे वगैरह ने भी कुछ समीक्षात्मक

लेख लिखे, पर कोई निश्चित पद्धति या सैद्धांतिकी उनसे भी विकसित नहीं हुई। कुल मिलाकर सदी के अंत तक पहुँचते-पहुँचते स्थिति न बहुत आशाजनक रह गई है न उत्साहवर्धक। आलोचना बहुत है, आलोचक बहुत कम। प्रतिभा और आलोचनात्मक विवेक की कमी नहीं है। इस दृष्टि से मैनेजर पाण्डेय और विश्वनाथ त्रिपाठी का नाम उल्लेखनीय है। इन प्रतिभावान रचनाकारों ने आलोचना की कोई सैद्धांतिकी या पद्धति तो निर्मित नहीं की पर उनके समीक्षात्मक लेखों और टिप्पणियों में प्रखर आलोचनात्मक विवेक दिखाई पड़ता है। इन्होंने न तो पहले के रचनाकारों की तरह अपनी रचना-प्रक्रिया का विश्लेषण करने में कोई रुचि दिखाई और न ही आलोचना-कर्म के प्रति उस निष्ठा और संजीदगी की परिचय दिया जो कभी मलयज में दिखाई पड़ी थी। समीक्षा लेखकों की सूची काफ़ी बड़ी की जा सकती है। साहित्य की मूलभूत समस्याओं पर वरिष्ठ रचनाकारों में निर्मल वर्मा संजीदगी से गाह-बगाह कुछ विचार करते रहते हैं और दूसरों को विचार करने के लिए मज़बूर करते हैं। पर आलोचना की स्थिति कुल मिलाकर केंद्रीय नहीं रह गई है।

कुछ सक्रियता उत्तर-आधुनिकतावाद की शब्दावली के सहारे कृतियों की सतही तोड़-फोड़ करने वाले आलोचकों में दिखाई पड़ा रही है। उत्तर आधुनिकतावाद के देसी-संस्करण रचनाकारों ने तो किसी हद तक पेश कर दिए हैं पर समानांतर आलोचनात्मक मुहावरा की आलोचकों से बन नहीं पा रहा है। दरअसल जो सिद्धांत सब कुछ के 'अंत' की घोषणा पर टिका हो ठोस विचारधारा का जहाँ नकार हो वह सिवा बेतरतीब विखंडन के और दे ही क्या सकता है। ऐसे प्रयत्नों से आलोचना में अराजकता ही अधिक फैली है।

निष्कर्ष रूप में वर्तमान हिंदी आलोचना अनेक प्रकार की विसंगतियों से घिर गई है। वह हर नए रचनात्मक प्रयास के प्रति निरंतर जागरूकता का दायित्व निभाती रही है किंतु इस प्रक्रिया में समसामयिकता का आग्रह अधिक प्रबल हो गया है। आज के आलोचक की दृष्टि सुदूर अतीत के लेखकों पर एकदम नहीं और निकट अतीत के लेखकों पर बहुत कम जाती है। परम्परा से ऐसा संबंध-विच्छेद हिंदी आलोचना के इतिहास में पहले कम ही हुआ है। आज की आलोचना में व्यापक परिदृश्य-बोध का स्पष्ट अभाव दिखाई पड़ता है। पुस्तक-समीक्षाओं ने अधिकांश आलोचना-कर्म को कोरी व्यावहारिक समीक्षा के रूप में निःशेष कर दिया है। ज्यादा चिंता की बात यह है कि इन समीक्षा-लेखों के बीच कोई गंभीर या मूलभूत सवाल नहीं उठाए जाते। न ही समीक्षा के प्रतिमानों को लेकर इनके लेखकों को कोई दिक्कत पेश आती है। ये अक्सर स्थापित-विस्थापित करने की नियत से अतिरंजित शब्दावली में प्रशंसा-निंदा के आगे कम ही बढ़ते हैं इसलिए इनकी विश्वसनीयता भी कम ही जहाँ। नतीजतन सैद्धांतिक आलोचना का मैदान अपने-आप एकडोनक [illegible] के हाथ जा पड़ा है। जहाँ वे प्रासंगिकता की चिंता किए बिना काव्यशास्त्र, सौंदर्य-मीमांसा आदि की पिष्टपेषित शास्त्रीय चर्चाओं से भरे भारी-भरकम ग्रंथों से हिंदी-आलोचना का भंडार भरने के लिए स्वतंत्र हैं। न उन्हें रचनात्मक साहित्य की चिंता है न रचनाकार को उनकी परवाह है।

कुछ इतिहास और समाजशास्त्र के विद्वानों ने भी साहित्यिक कृतियों का उपयोग स्रोत सामग्री के रूप में करते हुए साहित्य के मूल्यांकन की नई दिशाएँ प्रस्तावित की हैं। मध्यकालीन साहित्य के प्रसंग में सुविख्यात विद्वान इरफ़ान हबीब और हरबंस मुखिया का नाम उल्लेखनीय है।

आधुनिक उपन्यास साहित्य और उसमें भी विशेष रूप से प्रेमचंद के साहित्य का उपयोग प्रसिद्ध अर्थशास्त्री पूरनचंद्र जोशी ने अपनी पुस्तक 'परिवर्तन और विकास के सांस्कृतिक आयाम' में और श्यामाचरण दुबे ने 'परंपरा, इतिहास बीच और संस्कृति' में किया है। यह संयोग नहीं है कि दोनों की दिलचस्पी प्रेमचंद के साहित्य में है। दरअसल दोनों का आग्रह ग्रामीण समाज-व्यवस्था को समझने पर है, और भारतीय ग्राम जीवन और संबंधों की समझ के लिए प्रेमचंद का कथा-साहित्य निश्चय ही मूल्यवान स्रोत है। इन समाजशास्त्री आलोचकों का महत्व हिंदी आलोचना को एक नया परिप्रेक्ष्य और पद्धति देने की दृष्टि से है।

इसके बावजूद हिंदी आलोचना का सबसे जीवंत पक्ष काफी समय तक सनसनीखेज पत्रकारिता का शिकार रहा है। कुछ अपवादों को छोड़कर आलोचना की भाषा का कोई निश्चित चरित्र नहीं बन पाया है। मूल्यांकन के मानदंडों और पद्धतियों की दृष्टि से भी पर्याप्त अराजकता है। किंतु इसी स्थिति ने नए प्रयोगों और पद्धतियों की तलाश के लिए जमीन भी तैयार की है। जो आलोचक स्वयं रचना-कर्म के प्रति नए सिरे से आत्मसजग होने लगे हैं, उम्मीद उन्हीं से की जा सकती है।

संक्षेप में, पिछले तीन दशकों की आलोचना की उपलब्धियों के बारे में कहा जा सकता है कि यद्यपि आलोचना के क्षेत्र में सक्रियता की कमी नही है पर पूरे साहित्यिक परिदृश्य के बीच से कोई सैद्धांतिकी उभर कर नहीं आई है।

सातवें दशक की गहमागहमी के बाद-जिन रचनाकारों ने नए तेवर के साथ साहित्य में प्रवेश किया उनका रुख सामान्यतः आलोचना-विरोधी था। आलोचना के प्रति गंभीर समर्पण वृत्ति गिने-चुने रचनाकारों में ही दिखाई पड़ी। आलोचना के लिए तरह-तरह की पद्धतियों का प्रयोग किया गया। एक प्रस्ताव था कि आलोच्य कृति के वास्तविक मूल्यांकन की कुंजी उसी के भीतर तलाशी जानी चाहिए। ऐसे आलोचक 'आलोचना को रचना की सघन और तनावपूर्ण शर्तों पर' पाने का प्रयास करते रहे - बड़ी संवेदनशीलता और आलोचनात्मक विवेक से। कुछ आलोचकों ने 'सृजन-प्रक्रिया' के आत्मीय विश्लेषण की ज़रूरत पर बल दिया।

रचनाओं पर समीक्षात्मक लेखों में भी प्रतिभा और आलोचनात्मक विवेक तो दिखाई पड़ता रहा लेकिन कोई सैद्धांतिकी निर्मित नहीं हो सकी। रचनाकारों में भी कुल मिलाकर आलोचना के प्रति उदासीनता दिखाई दी।

उत्तर-आधुनिकतावादी शब्दावली के सहारे पद्धति-विहीन् विवेचन करने के कुछ प्रयास भी हुए पर कोई सुचिंतित आलोचनात्मक मुहावरा ऐसे लोग भी विकसित नहीं कर पाए।

समसामयिक रचनाओं पर तो समीक्षात्मक लेखन बराबर जारी है। साहित्य की पूर्ववर्ती परंपरा का पुनर्मूल्यांकन या उसकी पुनर्व्याख्या या नए मूल्यांकन के प्रयास लगभग नहीं ही हुए हैं। यह काम केवल शतियों से सम्बद्ध समारोहों पर रस्म-अदायगी के बतौर किया जा रहा है। परंपरा से ऐसा संबंध विच्छेद पहले कभी नहीं हुआ।

इधर कुछ इतिहासकारों और समाजवैज्ञानिकों ने साहित्यिक स्रोतों का अध्ययन अपनी विषय-सामग्री के रूप में किया है। इस तरह की व्याख्याओं और अध्ययनों का महत्व हिंदी आलोचना को एक नया परिप्रेक्ष्य और पद्धति देने की दृष्टि से है।

सदी के अंत में आलोचनात्मक परिदृश्य में कुल मिलाकर मूर्ल्यांकन के मानदंडों और पद्धतियों की विविधता है। आलोचना बहुत है, सैद्धांतिकी नहीं के बराबर है। समसामयिकता का आग्रह सबसे प्रबल है। पर इसी स्थिति ने नए प्रयोगों और पद्धतियों की तलाश के लिए ज़मीन तैयार की है। उम्मीद उसी युवा पीढ़ी से की जा सकती है, जो अपने आलोचक-कर्म और दायित्व के प्रति नए सिरे से सजग हो रहे हैं।

27.6 सारांश

प्रस्तुत इकाई में आपने आचार्य शुक्ल के बाद हिंदी आलोचना के स्वरूप और विकास की जानकारी प्राप्त की। अब आप जान गए हैं कि शुक्लोत्तर हिंदी आलोचना का विकास शुक्ल जी के प्रतिमानों तथा परंपरागत आलोचना पद्धति से टकराहट के साथ शुरू हुआ। छायावाद का सही मूल्यांकन शुक्ल जी की सीमा रही थी। छायावादी कवियों और छायावादी के आलोचकों ने इस सीमा को तोड़ते हुए छायावाद के मूल्यांकन को नई दिशा दी। प्रगतिशील और नयी कविता की आलोचना दृष्टि के विकास की जानकारी भी इस पाठ में आपने प्राप्त की। हिंदी में प्रगतिशील आलोचना को जातीय रूप डॉ. रामविलास शर्मा ने प्रदान किया।

स्वातंत्र्योत्तर हिंदी रचना और आलोचना में किस तरह पश्चिमोन्मुखता की प्रवृत्ति बढ़ी यह भी आपने इस इकाई में पढ़ा है। कविता अथवा नाटक की तुलना में कथासाहित्य की आलोचना पश्चिमी आतंक से प्राय मुक्त है। उत्तरशती की आलोचना में रोमटिसिज्म के विरुद्ध नई ज़मीन तैयार करने का प्रयास विजयदेव नारायण सही ने किया।

समकालीन हिंदी आलोचना में यथार्थ दृष्टि के प्रति आग्रह, आलोच्य कृति के मूल्यांकन की वास्तविक कुंजी कृति के भीतर से खोजने के प्रयास, रचना की सृजन प्रक्रिया के विश्लेषण की आवश्यकता बल तथा वस्तु और रूप के विश्लेषण मूल्यांकन को प्रधानता दी गई है। इस दौर की पूरी आलोचना में प्रतिमानों और पद्धतियों की विविधता है।

27.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

डॉ. निर्मला जैन, **हिंदी आलोचना बीसवीं शताब्दी**, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली.

विजयदेवनारायण साही, **छठवाँ दशक**, हिंदुस्तानी अकादमी, इलाहाबाद.

लक्ष्मीकांत वर्मा, **नयी कविता के प्रतिमान** (लक्ष्मीकांत वर्मा की चुनी हुई रचनाएँ में संकलित), सचिन प्रकाशन, दिल्ली.

डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी, **हिंदी आलोचना**, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली.

डॉ. कृष्णदत्त पालीवाल, **हिंदी आलोचना के वैचारिक सरोकार**, वाणी प्रकाशन, दिल्ली.

डॉ. नामवर सिंह, **कविता के नए प्रतिमान**, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली.

डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी, **हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास**, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद (शीर्षक 14, 21 और 22 क्रमशः 'आलोचना का आरंभ और विकास', 'शुक्लोत्तर आलोचना', 'आलोचना कर्म में रचनाकारों का योगदान').

डॉ. नगेन्द्र, **आस्था के चरण**, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली.

27.8 अभ्यास के लिए प्रश्न

1. छायावाद के कवि आलोचकों की आलोचना दृष्टि पर विचार कीजिए।
2. प्रगतिशील और आधुनिकतावादी आलोचकों की आलोचना दृष्टि पर प्रकाश डालिए।
3. शुक्लोत्तर हिंदी आलोचना की मूल विशेषताओं पर विचार करते हुए इसकी शक्ति और सीमाओं का निर्धारण कीजिए।

इकाई 28 हिंदी की मार्क्सवादी आलोचना और डॉ.रामविलास शर्मा

इकाई की रूपरेखा

28.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप :

- हिंदी के प्रमुख मार्क्सवादी आलोचक डॉ.रामविलास शर्मा के आलोचना-कर्म का विस्तार से परिचय पा सकेंगे; तथा
- हिंदी आलोचना को डॉ.शर्मा के प्रदेय के विषय में गहन जानकारी दे सकेंगे।

28.1 प्रस्तावना

पिछली इकाई में आप शुक्लोत्तर हिंदी आलोचना का अध्ययन कर चुके हैं। प्रस्तुत इकाई हिंदी की मार्क्सवादी आलोचना के शिखर-पुरुष डॉ.रामविलास शर्मा पर केंद्रित है। उन्होंने हिंदी की मार्क्सवादी आलोचना में 'हिंदी जाति', 'हिंदी जाति की सांस्कृतिक चेतना', 'भाषा-समाज-संस्कृति-साहित्य', 'हिंदी नवजागरण' जैसी अनेक नवीन अवधारणाओं पर नया चिंतन प्रस्तुत किया है। कहना चाहिए कि वे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के बाद हिंदी के सबसे बड़े जातीय आलोचक हैं। उन्होंने 'हिंदी साहित्य का इतिहास' नाम से कोई पुस्तक चाहे न लिखी हो पर अपनी अनेक पुस्तकों के माध्यम से हमारी परंपरा के मूल्यांकन, साहित्य-समाज और इतिहास की प्रगतिशील परंपरा के भाष्य द्वारा जो हमें दिया है, वह अपने आप में हिंदी साहित्य का नया इतिहास है। डॉ. शर्मा की अनेक धारणाओं पर मार्क्सवादी और गैर-मार्क्सवादी, दोनों तरह के आलोचकों में गंभीर विमर्श हुआ है। हिंदी आलोचना में अपनी नवीन स्थापनाओं के कारण वे लगभग छह दशकों तक विवादों के केंद्र में रहे हैं।

28.2 आलोचक व्यक्तित्व का निर्माण

डॉ.रामविलास शर्मा के आलोचक-व्यक्तित्व का निर्माण बीसवीं शताब्दी के भारतीय स्वाधीनता संग्राम की मुक्ति चेतना ने किया है। एक खास अर्थ में वे बड़े देशभक्त चिंतक और आलोचक हैं। एक ऐसे देशभक्त चिंतक जिन्होंने मार्क्सवाद के वैचारिक-सैद्धांतिक आधार को ग्रहण करने के बाद साम्राज्यवादी, उपनिवेशवादी, पूँजीवादी, फासीवादी, नस्लवादी गुलामी की मानसिकता से मुक्ति दिलाने के लिए कड़ा

संघर्ष किया। भारतीय साहित्य और विश्व-साहित्य की लोकजागरणवादी चेतना को ग्रहण करते हुए रीतिवादी परंपरा का विरोध किया। किसान-मज़दूर एका कायम करके ही भारतीय जनता की स्थिति को बदला जा सकता है और यह काम वामपंथी आंदोलन ही कर सकता है - इस विचार पर वे अटल विश्वास करते रहे।

डॉ. रामविलास शर्मा का जन्म उत्तर प्रदेश के उन्नाव जिला स्थित ऊँच गाँव में 10 अक्तूबर 1912 को गरीब किसान परिवार में हुआ तथा बचपन गाँव के खेत-खलिहानों में बीता। अवध का पश्चिमी भाग बैसवाड़ा - यहाँ घर और गाँव के दृश्य उनके हृदय में स्थायी अनुभव बने। उनके पास असल पूँजी यही है। बाबा, ददुआ, बड़े भाई, अवध की लोक-संस्कृति उनके व्यक्तित्व के निर्माण काल में रचे-बसे रहे। शिक्षा के लिए झाँसी गए और क्रांतिकारी विचारों की मानसिकता से सम्पन्न हुए। प्रगतिशील लेखक संघ, मार्क्सवादी आंदोलन, 'जोशी-रणदिवे-डांगे' तीनों को नज़दीक से देखा, उनके साथ कम्युनिस्ट पार्टी तथा पत्र-पत्रिकाओं में संकीर्णतावादी-सम्प्रदायवादी शक्तियों का विरोध किया। लखनऊ विश्वविद्यालय से 1934 में अंग्रेज़ी साहित्य में एम.ए. और 1940 में पी-एच.डी. की। 1938 तक लखनऊ विश्वविद्यालय में अंग्रेज़ी के प्राध्यापक रहे। उसके बाद 1943 में आगरा आ गए। 1971 तक बलवंत राजपूत कॉलेज आगरा में अंग्रेज़ी विभाग के अध्यक्ष पद पर काम किया। 1971-74 में आगरा के कन्हैया लाल माणिक लाल मुंशी हिंदी विद्यापीठ के निदेशक रहे। फिर 1981 में दिल्ली आ गए और शरीरांत (30 मई, 2000) तक यहीं रहे। उन्हें 'निराला की साहित्य-साधना' पर साहित्य अकादेमी पुरस्कार मिला। 1988 में शलाका सम्मान, 1990 में भारत-भारती पुरस्कार तथा 1991 में व्यास सम्मान से सम्मानित हुए। उन्होंने इन सभी पुरस्कारों की चार लाख से अधिक धनराशि को देश में साक्षरता के प्रसार के लिए दान दे दिया। उनका पूरा जीवन-संघर्ष 'अपनी धरती अपने लोग' (तीन भागों में) प्रकाशित उनकी आत्मकथा से समझा जा सकता है। उनकी मृत्यु 30 मई, 2000 को दिल्ली में हुई।

डॉ.रामविलास शर्मा ने आरंभ में कविताएँ लिखीं। अज्ञेय जी द्वारा सम्पादित 'तारसप्तक' (1943) में उन्हें स्थान मिला। उनके दो स्वतंत्र कविता संग्रह'रूपतरंग' (1956) और 'सदियों के सोए जाग उठे' (1988) नाम से सामने आए। उपन्यास, नाटक, अभिनय, संगीत की ओर भी हाथ बढ़ाया। लेकिन अंततः वे पूरे मन से आलोचना-कर्म के प्रति समर्पित हो गए। निरालाजी की जीवनी लिखी - अद्भुत सर्जनात्मक जीवनी। शुरुआत में विवेकानंद के व्याख्यानों के अनुवाद किए - 'भक्ति और वेदांत' (1933), 'कर्मयोग' (1934), 'राजयोग' (1934)। 1936 में 'चार दिन' नामक उपन्यास प्रकाशित हुआ। फिर 'सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी का इतिहास' बुल्गारियाई कवि वात्सारोव की कविताओं का अनुवाद किया। मार्क्स के 'दास कैपिटल' के दूसरे खण्ड का 'पूँजी' नाम से अनुवाद (1974)।

28.3 प्रमुख पुस्तकें

आलोचनात्मक पुस्तकें :'प्रेमचंद' (1941), 'भारतेंदु युग' (1943), 'भारतेंदु युग और हिंदी भाषा की विकास परंपरा' (भारतेंदु युग का परिवर्द्धित संस्करण) (1975), 'प्रगति और परंपरा' (1949), 'संस्कृति और साहित्य' (1948), 'निराला' (1947),'प्रेमचंद और उनका युग'' (1952), 'भारतेंदु हरिश्चंद्र' (1953), 'भाषा, साहित्य और संस्कृति' (1954), 'प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ' (1954), 'लोक जीवन और साहित्य ' (1955) 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिंदी आलोचना' (1955), 'राष्ट्रभाषा की समस्या' (1956),'मानव सभ्यता का विकास' (1956), 'स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य' (1956),'भाषा और समाज' (1956),'सन सत्तावन की राज क्रांति' (1957), 'निराला की साहित्य-साधना' (1967), 'साहित्य : स्थायी मूल्य और मूल्यांकन' (1968),'निराला की साहित्य-साधना' (खंड-दो, 1972), 'निराला की साहित्य-साधना' (खंड-तीन, 1976), 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण' (1977), 'नयी कविता और अस्तित्ववाद' (1978), 'भारत की भाषा समस्या' (1978),'आर्य और द्रविड़ भाषा परिवारों का संबंध' (1979), 'प्राचीन भाषा परिवार और हिंदी' (तीन खंड - 1979, 1980, 1981, 1982), 'परंपरा का मूल्यांकन' (1981), 'भाषा, युग बोध और कविता' (1981), 'कथा विवेचना और गद्य शिल्प' (1982), 'भारत में अंग्रेज़ी राज और मार्क्सवाद' (खंड एक - 1982, खंड दो - 1994), 'मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य' (1984), 'भारतेंदु हरिश्चंद्र और हिंदी नवजागरण की समस्याएँ' (1984), 'लोकजागरण और हिंदी साहित्य' (1985), 'हिंदी जाति का साहित्य' (1986), 'प्रगतिशील काव्यधारा और केदारनाथ अग्रवाल' (1986), 'आस्था और सौंदर्य' (नया संस्करण) (1990) 'भारतीय इतिहास की समस्याएँ' (1990), 'स्वाधीनता संग्राम : बदलते परिप्रेक्ष्य' (1992), 'भारतीय इतिहास और ऐतिहासिक भौतिकवाद' (1992), 'पश्चिमी एशिया और ऋग्वेद' (1993), 'भारतीय नवजागरण और यूरोप ' (1993), 'इतिहास दर्शन' (1995),

'भारतीय साहित्य की भूमिका', 'भारतीय संस्कृति और हिंदी प्रदेश' (दो खंड - 1999), 'गांधी, आम्बेडकर, लोहिया और भारतीय इतिहास की समस्याएँ' (2000)।

अंग्रेज़ी में पुस्तकें : 'एन इंट्रोडक्शन टु इंगलिश रोमाण्टिक पोयट्री' (1946), 'स्टडीज़ : नाइन्टीन्थ सेंचुरी इंगलिश पोयट्री' (1960), 'एसेज ऑन शेक्सपीरियन ट्रेजेडी' (1970)।

आत्मकथा : 'अपनी धरती अपने लोग' (तीन खंड - (1) मुँडेर पर सूरज - 1996, (2) देर सबेर - 1996, (3) आपस की बातें - 1996)।

अन्य पुस्तकें : 'बड़े भाई' (1986), 'घर की बात' (1983), 'पंचरत्न' (1980)।

28.4 मार्क्सवाद की विचारधारा का नए ढ़ंग से उपयोग

डॉ.रामविलास शर्मा ने मार्क्सवाद की विचारधारा का भारतीय समाज-संदर्भों को समझते हुए उपयोग किया। इस क्षेत्र में वे लकीर के फकीर नहीं रहे। मार्क्सवाद की लीक को तोड़ने पर बहुत से मार्क्सवादी नाराज़ हुए और उन्हें 'हिंदू पुनरुत्थानवाद' का समर्थक आलोचक तक कहा गया। हिंदी की मार्क्सवादी आलोचना में निर्ममता का दूसरा नाम ही रामविलास शर्मा है। ध्वंसात्मक आलोचना में उनका मुकाबला नहीं। लेकिन रचनाकार की बारीक से बारीक अर्थ-ध्वनि पकड़ने में उनका कोई जवाब नहीं। 'निराला की साहित्य-साधना' हिंदी आलोचना की बेजोड़ उपलब्धि है - शायद ही भारतीय आलोचना में किसी एक कवि पर इतना महत्वपूर्ण कार्य किसी आलोचक ने किया हो और एकदम नए साहित्य-प्रतिमानों के साथ!

दरअसल, डॉ.रामविलास शर्मा का काफी लेखन ऐसा है जिसका मार्क्सवाद और इतिहास से सीधा संबंध है। लेकिन इस लेखन की विशेषता यह है कि वे मार्क्सवाद को ज्यादा आलोचनात्मक निगाह से देखते-परखते हैं। सन 1950 के आसपास कम्युनिस्ट पार्टी के अंदर विचारधारात्मक संघर्ष आरंभ हुआ। प्रगतिशील लेखकों की बहस को बढ़ाने के लिए डॉ. शर्मा ने दो पुस्तकें लिखीं - (1) 'प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ'; और (2) 'मानव-सभ्यता का विकास'। बहस का प्रमुख मुद्दा था - अंग्रेज़ों के भारत आने के समय यहाँ के आर्थिक विकास की स्थिति क्या थी? अंग्रेज़ों ने पुराने व्यापार के ढाँचे को तोड़कर नए व्यापार-केंद्र स्थापित किए। मुनाफाखोरी के ढंग में बदलाव आया। किसान के माल की लूट मच गई। आखिरकार साम्राज्यवादी सत्ता को पछाड़ने के लिए 1857 में गदर हुआ। जो लोग गदर को स्वाधीनता-संग्रम नहीं मानते थे, वे अक्सर मार्क्स का हवाला देते थे। उनका कहना था कि मार्क्स ने लिखा है, भारत ग्राम-समाजों का देश है। इस पुरानी समाज-व्यवस्था को तोड़ने का श्रेय अंग्रेज़ों को है। इस तरह वे भारत में अंग्रेज़ी की प्रगतिशील भूमिका को प्रमाणित करते थे। डॉ.शर्मा ने तर्कों से यह सिद्ध किया कि यह धारणा सही नहीं है। इसी प्रश्न का उत्तर देने के लिए उन्होंने 'भारत में अंग्रेज़ी राज और मार्क्सवाद' तथा 'मार्क्स और पिछड़े हुए समाज' जैसी पुस्तकें लिखीं। मार्क्स, भारत में अंग्रेज़ों का राज न चाहते थे - वे कहते थे कि भारत में अंग्रेजी राज कायम होने से भारत का स्वाभाविक विकास रुक गया।

भारत और यूरोप के इतिहास का सर्वाधिक महत्वपूर्ण मुद्दा रहा है - सामंतवाद। सामंत बड़े-बड़े ज़मींदार और राजा होते हैं, जनता का शोषण करते हैं।'मार्क्स के लिए सामंतवाद उत्पादन की एक पद्धति थी।' मार्क्स सोचते थे कि सर्वहारा क्रांति इंगलैंड, जर्मनी में होगी। लेकिन वैसा हुआ नहीं। क्रांति क्यों नहीं हुई? डॉ.शर्मा का विचार है कि इंगलैंड के चतुर पूँजीपतियों ने मुनाफ़े का कुछ हिस्सा मज़दूरों को बाँटना शुरू कर दिया। मज़दूरों की क्रांतिकारिता को भ्रष्ट किया। आयरलैंड में सत्ताधारी भूस्वामी-वर्ग था, क्रांति नहीं हो सकती थी। मार्क्स की आरंभिक धारणाओं को लेकर जो सिद्धांत प्रचारित हुआ उसे 'त्रोत्स्कीवाद' नाम से जाना जाता है। इस सिद्धांत के अनुसार एशिया का विकास यूरोप के विकास से बिल्कुल अलग ढंग से हुआ। मार्क्स ने उत्पादन की 'एशियाई पद्धति' का हवाला दिया और कहा कि आदिम साम्यवादी समाज एशिया में है। उत्पादन की खास एशियाई पद्धति है और एशिया के लोग उससे बाहर नहीं निकलते। भारत में जाति-प्रथा का ज़ोर है। इसलिए यूरोप की तरह के वर्गों का निर्माण भारत में नहीं हुआ। न उस ढंग का सामंतवाद-पूँजीवाद आया। इस बात को स्पष्ट करने के लिए डॉ. शर्मा ने पुस्तक लिखी -' 'मार्क्स त्रोत्स्की और एशियाई समाज'। उन्होंने कहा कि एशियाई उत्पादन पद्धति को गलत ढंग से पेश किया गया। कारण, त्रोत्स्कीवादी प्रचारित साम्राज्यवादियों के संरक्षण में थे और कहते थे कि एशिया की आर्थिक जड़ता को पश्चिमी देशों का संपर्क ही तोड़ सकता है।

डॉ. शर्मा मानते हैं कि 'संस्कृति' का गहरा रिश्ता अर्थ-तंत्र से है। मार्क्स पर यूनानी-रोमन संस्कृति का प्रभाव था। सोलहवीं शताब्दी के इंगलैंड और यूनान में समानता थी - व्यापारिक पूँजीवाद। अंधकार युग

के बाद का यूरोप, यूनानी-रोमी संस्कृति से प्रभावित होकर नवजागरण से मार्क्सवाद की ओर पहुँचा। इस मुद्दे पर प्रकाश डालने के लिए डॉ.शर्मा ने किताब लिखी - 'मार्क्स और भारत'। मार्क्स कहते थे - अंग्रेज़ों की भारत पर विजय 'सभ्यता पर असभ्यता की विजय' है। इन बातों पर गहराई से विचार करने के लिए सामंतवाद क्या है? भारतीय सामंतवाद की विशेषताएँ क्या हैं? पूँजीवाद क्या है?व्यापारिक पूँजीवाद कैसे आता है? व्यापारिक पूँजीवाद की विशेषताएँ क्या हैं? औद्योगिक पूँजीवाद कैसे आता है? औद्योगिक पूँजीवाद तथा महाजनी पूँजीवाद में क्या फर्क है? महाजनी पूँजीवाद के लिए अमरीका, जापान, जर्मनी, इंगलैंड, फ्रांस के पूँजीवाद को समझना आवश्यक है। भारत में विदेशी पूँजी आती है तो विदेशी संस्कृति भी आती है - यह सीधा गणित समझना चाहिए। इसी बात को समझने के लिए डॉ. शर्मा ने किताब लिखी - 'भारतीय इतिहास और ऐतिहासिक भौतिकवाद'। डॉ.शर्मा की मार्क्सवाद से संबंधित पुस्तकें एक-सूत्र में जुड़ी हुई हैं और वह सूत्र है - भारतीय इतिहास और समाज व्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में मार्क्सवाद की व्याख्या। वे कहते हैं कि 'इजारेदार पूँजीवाद की शक्ति का स्रोत है मुनाफाखोरी। संसार के कच्चे माल के स्रोतों पर वह अधिकार करता है। बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ और निगम अपने माल की बिक्री के लिए नव-साम्राज्यवाद स्थापित करते हैं।'

सफल या असफल क्रांति कैसी भी हो - असर पड़ता है। फ्रांसीसी राज्य-क्रांति का असर अंग्रेज़ी-साहित्य पर बहुत गहरा पड़ा। इसी तरह, 1857 की स्वाधीनता-भावना से भरी मुक्ति-क्रांति का असर हिंदी साहित्य और भारतीय साहित्य पर अनेक रूपों में पड़ा। 'आस्था और सौंदर्य' पुस्तक के नवीन संस्करण में डॉ. शर्मा ने एक लंबा लेख लिखा - 'फ्रांसीसी राज्य-क्रांति और मानव-संस्कृति के विकास की समस्या'।

डॉ. शर्मा ने मार्क्सवाद की दार्शनिक पृष्ठभूमि को स्पष्ट करने के लिए 'पश्चिमी एशिया और ऋग्वेद', 'भारतीय नवजागरण और यूरोप' तथा 'इतिहास दर्शन' जैसी पुस्तकें लिखीं हैं। मार्क्स की दार्शनिक पृष्ठभूमि में यूनानी दर्शन, फ्रांसीसी-दर्शन और हीगल का दर्शन है। मार्क्स का पूरा समाज-संबंधी चिंतन इन दर्शनों से प्रभावित हुआ। भारत की अपनी दार्शनिक परंपरा है - मुख्यतः यथार्थवादी दार्शनिक धारा। यहाँ भी द्वंद्ववाद का विकास हुआ। भारतीय दार्शनिक परंपरा ने भारतीय रचनाकारों को भवभूति, कालिदास, तुलसी, जायसी, जयशंकर प्रसाद, निराला, महादेवी वर्मा, मुक्तिबोध, अज्ञेय को यथार्थवाद की एक नई पहचान दी। इस पहचान को पहली बार डॉ.शर्मा ने मार्क्सवादी दृष्टिकोण से हिंदी आलोचना में प्रस्तुत किया।

28.5 भाषा और समाज : मार्क्सवादी चिंतन का आधार

डॉ.रामविलास शर्मा के आलोचक का ध्यान कम्युनिस्ट पार्टी और प्रगतिशील लेखक संघ में काम करते हुए भाषा संबंधी समस्याओं पर गया। इन समस्याओं से प्रेरित होकर उन्होंने पुस्तक लिखी - 'भाषा और समाज'। संकेत-संप्रेषण में मानव सभी जीवों में आगे है, उसके संकेत-संप्रेषण का प्रधान माध्यम है - ध्वनियों द्वारा संकेत। पशु-पक्षी भी ध्वनियों का उपयोग करते हैं लेकिन इस क्षेत्र में मनुष्य बहुत आगे बढ़ा हुआ है। मानव के पास न केवल विकसित मस्तिष्क है, बल्कि विकसित स्वर-यंत्र भी है जिससे वह अन्य प्राणियों की तुलना में अधिक ध्वनियाँ निकालने की क्षमता रखता है। अपनी बुनियादी ध्वनियों को वह शब्द का रूप दे देता है। इसका मतलब है कि भाषाओं का जन्म प्राकृतिक ध्वनियों के अनुकरण से नहीं हुआ। उसकी बुनियाद में ध्वनियों में भेद करने की शक्ति काम करती है। इस शक्ति-विकास में मानव को लाखों वर्ष लगे हैं - मानव समूह ने क्रमशः समाज का रूप लिया और सामाजिक गठन बराबर बदलते हैं। नतीजा होता है - प्रत्येक समाज का अपना गठन, अपनी विशेषताएँ। भाषा एक छोर पर रूढ़ि-युक्त तथा दूसरे छोर पर रूढ़ि-मुक्त परिवर्तनशील स्वभाव रखती है। उसमें भी ध्वनि-प्रवृत्ति भाषा का टिकाऊ पक्ष होता है। डॉ.शर्मा ने इसीलिए पुस्तक में एक अध्याय दिया - भाषा की ध्वनि-प्रकृति। शब्दों का संबंध जब वस्तुओं और परिस्थितियों के साथ निश्चित हो जाता है तब शब्दों से वाक्य बनते हैं। यह भाषा की 'भाव प्रकृति' है।

ऐतिहासिक भाषाविज्ञान में नस्ल-सिद्धांत का बार-बार जिक्र किया जाता है। जबकि नस्लों के आधार पर भाषा का गठन नहीं होता। कबीले स्त्रियों को उड़ाकर ले जाते हैं - नस्ल की शुद्धता खत्म हो जाती है। अतः नस्ल टिकाऊ नहीं है, भाषा की ध्वनि-प्रकृति टिकाऊ होती है। डॉ.शर्मा 'आदि इंडो यूरोपियन' भाषा-परिवारों के विस्तृत अध्ययन करने के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'भाषा परिवारों को निर्माण का कारण सामाजिक विकास है, आदि भाषा का अस्तित्व नहीं।' भारत तथा भारत से माना जाता रहा कि आर्य बाहर से आए थे। वे 'इंडो-ईरानियन' शाखा से जुड़े थे। वैदिक भाषा लौकिक भाषा का विकास, फिर लौकिक संस्कृत से प्राकृत और प्राकृत से अपभ्रंश, अपभ्रंशों से आधुनिक भारतीय भाषाएँ। इस तरह का एक ग्राफ बनाया जाता है, इस ग्राफ को डॉ. शर्मा अवैज्ञानिक

मानते हैं और किशोरीदास वाजपेयी के 'हिंदी शब्दानुशासन' की प्रशंसा करते हैं। प्रगतिशील लेखक संघ में काम करते हुए डॉ.शर्मा ने हिंदी-प्रदेश में हिंदी के अलावा बहुत-सी जनपदीय भाषाओं के व्यवहार पर ध्यान केंद्रित किया। इससे ही किसान-संवेदना तथा किसान-आंदोलन (अवध के बाबा रामचन्द्र के किसान आंदोलन) को समझने की कोशिश की। किसान आंदोलन में प्रचार की भाषा में कविता-नाटक लिखे जाते हैं, गद्य बहुत कम लिखा जाता है। ध्यान देने की बात है कि जनपदीय भाषाएँ हिंदी से स्वतंत्र जातियों की भाषाएँ नहीं हैं। ब्रजभाषा तथा अवधी अपने क्षेत्र से बाहर भी फैलती रहीं तथा जनपदीय एकता कायम करती रहीं। इसी हिंदी प्रदेश में हिंदू-मुसलमान रहे। किंतु यह कहना गलत है कि हिंदी हिंदुओं की भाषा और उर्दू मुसलमानों.की। मीर, गालिब चाहे जितने फारसी के शब्दों का इस्तेमाल कविता के सृजन में करें, उनके क्रियापद-सर्वनाम सब हिंदी से आते हैं। इससे सिद्ध होता है कि उर्दू, हिंदी की ही एक शैली है। अवध के गाँव का किसान चाहे हिंदू हो या मुसलमान, अवधी बोलता है, फिर बोलचाल में हिंदी-उर्दू का भेद नहीं करता। डॉ.शर्मा का विचार है कि बहुत-सी भाषा संबंधी समस्याएँ ऐतिहासिक-सामाजिक भाषाविज्ञान से हल की जा सकती हैं। उन्होंने मार्क्सवाद को ऐतिहासिक-भाषाविज्ञान पर लागू किया। मार्क्सवाद के अनुसार, पुराने सामंती समाज का रूप पुराने कबीलों ने विकसित किया था। इसलिए गण-समाजों की भाषा में विभिन्नता होगी ही। फिर मार्क्सवाद के अनुसार सामाजिक विकास में केंद्रों की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। जैसे पूँजीवाद के विकास में इंगलैंड की भूमिका, संस्कृतियों-भाषाओं के विकास में भारत के केंद्रों की भूमिका। इसलिए अपभ्रंश से आधुनिक भाषाओं के विकास का सिद्धांत गलत सिद्ध होता है। भाषाई-सम्पत्ति के हिसाब से भारत समृद्ध देश है, जनता का पूरा सामाजिक विकास इससे जाना जा सकता है।

28.6 'हिंदी जाति' की अवधारणा और हिंदी की जातीय परंपरा

डॉ.रामविलास शर्मा ने भाषा-संस्कृति, साहित्य-आलोचना-संस्कृति में आर्थिक आधार से ज्यादा सामाजिक आधार का महत्व स्वीकार किया है। इसी सामाजिक आधार के परिप्रेक्ष्य से वे 'हिंदी जाति' की अवधारणा को प्रस्तुत करते हैं। 'हिंदी जाति' की अवधारणा के 'बीज' उन्हें मार्क्सवादी सामाजिक चिंतन से प्राप्त हुए हैं।'मानव-सभ्यता का विकास' पुस्तक में वे कहते हैं - 'पूँजीवादी उत्पादन पद्धति के प्रतिष्ठित होने के पहले सौदागरी पूँजी द्वारा पुरानी व्यवस्था के अंदर ही पूँजीवादी संबंधों का निर्माण होता है। इन संबंधों का परिणाम ही जातीय गठन है।' (पृ.97) 'जाति' को परिभाषित करते हुए वे कहते हैं - 'जाति वह मानव-समुदाय है जो व्यापार द्वारा पूँजीवादी संबंधों के प्रसार के साथ गठित होती है। सामाजिक विकासक्रम में मानव समाज पहले 'जन' या 'गण' के रूप में गठित होता है। सामूहिक श्रम और सामूहिक विवरण गण-समाज की विशेषता है और उसके सदस्य आपस में एक-दूसरे से रक्त-संबंध के आधार पर सम्बद्ध माने जाते हैं। इन गण-समाजो के टूटने पर लघु जातियाँ बनती हैं जिनमें उत्पादन छोटे पैमाने पर होता है और नए श्रम विभाजन के आधार पर भारतीय वर्ण-व्यवस्था जैसी समाज-व्यवस्था का चलन होता है। पूँजीवादी युग में इन्हीं लघु जातियों से आधुनिक जातियों का निर्माण होता है। ' (भारतीय साहित्य के इतिहास की समस्याएँ, पृ. 27) बहुत सतर्कता के साथ डॉ शर्मा 'राष्ट्र', 'नेशन' और 'जाति' इन तीन शब्दों के बारीक भेद को स्पष्ट करते हैं -'मार्क्सवादी साहित्य में 'नेशन' शब्द जिस अर्थ में प्रयुक्त होता है, उसके लिए 'हिंदी', 'बंगला' के परिचित पुराने शब्द 'जाति' का प्रयोग करना उचित है। 'राष्ट्र' शब्द से भूमि का भी बोध होता है जबकि 'नेशन' शब्द से केवल किसी भूखंड के निवासियों का बोध होता है।' (वही, पृ. 14) 'जातीयता' की सबसे बड़ी पहचान 'भाषा' से होती है जैसे 'हिंदी, बंगला, मराठी, तमिल आदि भाषाएँ बोलने वाले समुदायों को 'जाति' कहते हैं। प्रत्येक 'जाति' आधुनिक पूँजीवादी आर्थिक संबंधों के विकास का परिणाम है।' (परंपरा का मूल्यांकन, पृ. 16) इसी तर्क से डॉ. शर्मा नस्ल या धर्म को 'जाति' का आधार स्वीकार नहीं करते। एक ही धर्म को मानने वालों में भाषा के आधार पर अलग-अलग जातियों का अस्तित्व होता है, जैसे तुर्क, अरब, ईरानी मुसलमान हैं उनकी भाषाएँ अलग-अलग हैं। उनकी जातीयता की पहचान उनकी भाषाओं से होती है।

जातीय भाषा के रूप में हिंदी के उदय-प्रसार की चर्चा करते हुए वे व्यापारिक पूँजीवाद के उदय पर ध्यान देने हैं। शेरशाह ने सड़कें-नहरें तैयार करवाईं। इनसे व्यापार में सुविधा मिली। देश में व्यापार की बड़ी-बड़ी मंडियाँ कायम हुईं, जनपदों का अलगाव दूर हुआ - आगरा, दिल्ली, बनारस, पटना में कौमी बाज़ार पनपे। व्यापार-विनिमय के लिए इन बाज़ारों में जो भाषा काम में आती थी वह थी - 'खड़ी बोली' या 'हिंदी'। अपभ्रंश को पीछे ठेलकर ब्रज-अवधी जैसी लोक-भाषाएँ आगे बढ़ीं। भक्ति-आंदोलन इन्हीं लोक-भाषाओं की शक्ति से फैला। अतः 'ब्रजभाषा, अवधी, खड़ी बोली आदि ने हिंदुस्तानी 'हिंदी' जाति के निर्माण में मदद की।' (भारत की भाषा समस्या, पृ. 87) फिर ध्यान में रखने की बात यह है

कि 'हिंदी जाति का चरित्र संघर्षों से परिपुष्ट हुआ है।' भक्ति-आंदोलन में सूफी और संत, जुलाहे-कारीगर, किसान - सभी शामिल हैं तभी तो वह जातीय-आंदोलन है। डॉ.शर्मा की 'हिंदी जाति' की अवधारणा ने हिंदी साहित्य के स्वीकृत ढाँचे को प्रभावित किया। 'शुक्लजी का आदिकाल वास्तविक मध्यकाल है, हिंदी जनपदों के इतिहास का 'सामंतकाल' है। वीरगाथाकाल 'रीतिवाद' का प्रथम उत्थान है। पूर्व मध्यकाल (भक्तिकाल) लोक-जागरण काल है। उत्तर मध्यकाल (रीतिकाल) 'रीतिवाद' का द्वितीय उत्थान है।' (हिंदी जाति का साहित्य, पृ. 142) व्यापारिक पूँजीवाद सामंती ढाँचे के भीतर पनपता है, पर उसे तोड़ नहीं पाता। इसलिए सामंती रूढ़ियों की धारा और लोक-जागरण की धारा, समानांतर प्रवाहित होती हैं। (वही, पृ. 124) भारतीय इतिहास के विश्लेषण के बाद वे सिद्ध करते हैं कि आधुनिकता अंग्रेज़ी राज की देन नहीं है, उसका विकास इस राज के विरुद्ध संघर्ष के दौरान हुआ है। निष्कर्ष यह कि डॉ.शर्मा ने लोक-जागरण की चिंतन परंपरा में आचार्य शुक्ल का आधार ग्रहण किया। किंतु हिंदी जाति की विकास प्रक्रिया की अवधारणा उनकी अपनी मौलिक सोच की उपज है।

प्रश्न उठता है कि 'हिंदी काव्य की जातीय परंपरा' से डॉ. रामविलास शर्मा का क्या अभिप्राय है? वे भक्ति-आंदोलन को जातीय जनवादी आंदोलन क्यों कहते हैं? इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिए डॉ. शर्मा ने 'त्रिलोचन : आधुनिकता और परंपरा बोध' शीर्षक लेख में 'जातीय परंपरा' को परिभाषित करते हुए कहा है - 'जिस समाज में अनेक वर्ग हों, रहन-सहन और व्यवहार के अनेक स्तर हों, उसमें साहित्य की परंपरा भी अनेक होती हैं। मोटे तौर पर जैसे एक दरबारी परंपरा, दूसरी गैर-दरबारी परंपरा। इनमें जो परंपरा किसी जाति के सांस्कृतिक विकास में सहायक होती है, उसे हम जातीय परंपरा कहते हैं।' वे दरबारी काव्य-परंपरा को हिंदी जाति के सांस्कृतिक विकास में सहायक नहीं मानते। यही कारण है कि वे उसे हिंदी की जातीय परंपरा का काव्य भी स्वीकार नहीं करते। 'दरबारों से बाहर हमारे यहाँ भक्ति-साहित्य की परंपरा है और उसके साथ, भक्ति से अलग हटकर, रहीम जैसे कवियों की धारा है। इन लोगों को मिलाकर हम उसे लोक-जागरण की धारा कह सकते हैं। भारतेंदु-युग में प्रताप नारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट जैसे लोगों ने, आगे चलकर प्रेमचंद और निराला जैसे लेखकों ने साहित्य की सामंत-विरोधी धारा को आगे बढ़ाया। साहित्य की जातीय परंपरा के निर्माता इन लेखकों का साहित्य ही नहीं, उनका जीवन-संघर्ष भी हमारे लिए प्रेरणा का स्रोत है।' इस प्रकार भक्तिकालीन नवजागरण के कवि और आधुनिक हिंदी के नवजागरण के लेखक हिंदी की जातीय परंपरा के निर्माता हैं। निराला और केदारनाथ अग्रवाल ने किसानों-मज़दूरों तथा मध्य वर्ग के प्रबुद्ध अंश को अपने सृजन में स्थान दिया है। यहाँ जातीय-परंपरा का मुख्य आधार पीड़ित और गरीब जनता है। इसी विचार का विस्तार उन्होंने 'निराला की जातीय चेतना' (भारतीय संस्कृति और हिंदी प्रदेश, भाग-2, पृ. 595) में किया। हिंदी प्रदेश में जाति-बिरादरी, दरिद्रता, हिंदू-मुस्लिम भेदभाव अधिक है तो उसमें जातीय चेतना का अभाव है।

डॉ. रामविलास शर्मा की 'जाति', 'जातीयता की अवधारणा' का विरोध मार्क्सवादी और गैर-मार्क्सवादी दोनों मतों के लोग अपने-अपने ढंग से करते रहे हैं। डॉ. शर्मा ने 'दूसरी परंपरा की खोज' को स्वीकार नहीं किया। वे आचार्य शुक्ल की पहली लोक-जागरण वाली परंपरा को स्वीकार करते हैं। 'लोक-जागरण और रामचन्द्र शुक्ल' पुस्तक में उन्होंने हज़ारी प्रसाद द्विवेदी की चिंतन परंपरा के अनेक अंतर्विरोधों को उजागर करते हुए माना है कि हिंदी साहित्य की जातीय परंपरा का विकास आचार्य शुक्ल की विरासत को लेकर ही किया जा सकता है।

28.7 परंपरा का मूल्यांकन

'परंपरा' की चर्चा आचार्य शुक्ल के बाद हिंदी-समीक्षा में बहुत ज़ोर-शोर से हुई है। विद्वानों ने बहसों-तर्कों से इतना तो मान ही लिया है कि परंपरा, विरासत में सहज ही प्राप्त होने वाली चीज़ नहीं है, उसे अर्जित करना पड़ता है। अर्जन के प्रयत्न में चयन अनिवार्य है, जरूरी है 'संग्रह-त्याग न बिनु पहचाने'। वस्तुतः 'परंपरा' की मूल अवधारणा में ही 'चयन-वृत्ति' अंतर्निहित है। हम सभी जानते हैं कि विचारों के व्यापार में शब्दों की करेंसी केंद्रीय महत्व रखती है। यह ध्यान में रखने की बात है कि 'परंपरा' न तो 'इतिहास' है, न 'रूढ़ि', न 'सम्प्रदाय', न मात्र 'विरासत'। यह ठीक बात है कि 'प्रंपरा' एक प्रकार की 'सजगता' है, एक ऐसी सजगता जिसमें हमारी 'जातीय-स्मृति' वास करती है। लॉर्ड मैकाले ने 1913 में एक महत्वपूर्ण टिप्पणी की थी - 'जो बंगाली पश्चिमी शिक्षा पाएँगे उ सब प्रत्ययों से विरक्ति हो जाएगी, जिन्हें हिंदू कहा जाता है। अगर आप एक ऐसी पीढ़ी उत्पन्न चाहते हैं जो न केवल अपनी जातीय-अस्मिता और जातीय विरासत से अनभिज्ञ हो, बल्कि उसके प्रति गहरी हिकारत की भावना रख सके, तब उसे संस्कृत की शिक्षा नहीं देनी चाहिए, क्योंकि वह एक ऐसी भाषा है जो एक भारतीय को अपनी सशक्त परंपरा और विशिष्ट अस्मिता के प्रति सचेत करती है,

उसे अंग्रेज़ी की शिक्षा देनी चाहिए, जिसके माध्यम से वह पश्चिमी मूल्यों से दीक्षित हो सके।' ये शब्द हमारे लिए अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद की नियत को उजागर करते हैं। संस्कृत, जो भारतीय भाषाओं में 'सेतु' का काम करती थी, उस 'सेतु' को तोड़ने का अर्थ था - भारतीय एकता और अस्मिता को नष्ट करना एवं वैचारिक प्रत्ययों-विचारों-प्रतीकों को विस्मृति के अंधकार में गर्क कर देना। अपनी वैदिक-उपनिषद्-रामायण-महाभारत की परंपराओं को जो उजागर करने का प्रयास करता है उसे पश्चिमी ढंग के बुद्धिजीवी लोग 'पुनरुत्थानवादी', 'भारत व्याकुल' कहते हैं। डॉ. रामविलास शर्मा भारतीय इतिहास, धर्म, दर्शन, संस्कृति, भाषा, साहित्य की चिंतन परंपराओं में इस ढंग से रमे रहे हैं कि 'परंपरा' को एक प्रगतिशील अर्थ-परंपरा का संदर्भ मिला। लेकिन उनके विरोधी उन्हें 'पुनरुत्थानवादी' कहकर उनकी आलोचना भी करते रहे हैं।

परंपरा में इतिहास और संस्कृति के मौलिक तत्व अपने मौलिक रूप में निरंतर सन्निविष्ट रहते हैं। इस अर्थ में परंपरा का अर्थ है - सातत्य और परिवर्तन। उसमें अतीत का वर्तमान से संवाद होने के साथ जातीय जीवन, कला, दर्शन के फूल खिलते हैं। अतः परंपरा 'पुनरावृत्ति' नहीं है, उसमें मूल्यांकन-पुनर्मूल्यांकन आवश्यक होता है। प्रत्येक सभ्य जाति की अपनी विशिष्ट परंपरा होती है। इस परंपरा को आधार बनाए बिना कवि-कलाकार अपना सृजन सफलतापूर्वक नहीं कर सकता। अनके युगों और कलाकृतियों के मिश्रित प्रभाव से 'परंपरा' का रूप निर्माण होता है। रचनाकार और चिंतक अपनी परंपरा में हस्तक्षेप करता है ताकि उसकी शक्ति के प्रत्ययों को पुनः परिभाषित कर सके। एक समय में 'रामायण' ने ऐसा ही 'हस्तक्षेप' किया था। देव-परंपरा के स्थान पर मानव-परंपरा, शास्त्र-परंपरा के स्थान लोक-परंपरा की महत्व-प्रतिष्ठा की थी। डॉ. रामविलास शर्मा ने 'प्रगति और परंपरा' पुस्तक में प्रगतिशील परंपरा को रेखांकित किया और कहा कि रामचन्द्र शुक्ल और महावीर प्रसाद द्विवेदी ने परंपरा का मूल्यांकन अपने इतिहास और लेखों से किया। इसी दृष्टि को आगे बढ़ाते हुए डॉ. रामविलास शर्मा ने संस्कृत-साहित्य से लेकर स्वाधीनता आंदोलन के दौर की लोक-जागरणवादी परंपरा का वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन किया। परंपरा के इस मूल्यांकन में उनकी कौन-सी सैद्धांतिक अवधारणाएँ सक्रिय रही हैं और वे किन प्रतिमानों को अपनाकर बढ़ते है - यह चर्चा आवश्यक है।

28.7.1 परंपरा का मूल्यांकन : साहित्य की परंपरा का ज्ञान

डॉ. रामविलास शर्मा ने मार्क्सवादी दृष्टि से परंपरा का मूल्यांकन करके यह सिद्ध करने का साहस किया कि मार्क्सवादियों पर 'परंपरा' के प्रति गैर-जिम्मेदारी का अभियोग लगाना गलत है। हिंदी में शिवदान सिंह चौहान, रांगेय राघव ने जिस ढंग से 'ब्राह्मणवादी परंपरा' कहकर तुलसी की परंपरा की छीछालेदर की थी, उसे पुनः प्रतिष्ठित करने का ज़ोरदार अभियान डॉ.शर्मा ने चलाया। उन्होंने कहा कि हिन्दी जाति की जातीय भाषा हिन्दी है- संसार का कोई भी देश बहुजातीय राष्ट्र की हैसियत से, इतिहास को ध्यान में रखें तो, भारत का मुकाबला नहीं कर सकता।। यहाँ राष्ट्रीयता एक जाति द्वारा दूसरी जातियों पर राजनितिक प्रभुत्व स्थापित करके कायम नहीं हुई। वह वस्तुतः संस्कृति और इतिहास की देन है। इस संस्कृति के निर्माण में इस देश के कवियों का स्थान सर्वोच्च है। इस देश की संस्कृति से 'रामायण' और 'महाभारत' को अलग कर दें तो भारतीय साहित्य की आंतरिक एकता टूट जाएगी। किसी भी बहुजातिय राष्ट्र के सामाजिक विकास में कवियों की ऐसी निर्णायक भूमिका नहीं रही, जैसी इस देश में व्यास और वाल्मीकि की है। इसलिए किसी भी देश के लिए साहित्य की परंपरा का मूल्यांकन उतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना इस देश के लिए है।' (परंपरा का मूल्यांकन, पृ. 14-15)

गैर-मार्क्सवादी आलोचक लगातार यह भ्रम फैलाते रहे हैं कि समाजवादी संस्कृति, पुरानी संस्कृति से नाता तोड़ने की संस्कृति है। इस भ्रांति को दूर करने के लिए डॉ. रामविलास शर्मा ने कहा - 'समाजवादी संस्कृति, पुरानी संस्कृति से नाता नहीं तोड़ती, वह उसे आत्मसात करके आगे बढ़ती है।' (परंपरा का मूल्यांकन) यह आत्मसात करने की प्रक्रिया विवेक वयस्कता की माँग करती है। 'जो लोग साहित्य में युग-परिवर्तन करना चाहते हैं जो लकीर के फकीर नहीं है, वे रूढ़ियाँ तोड़कर क्रांतिकारी साहित्य रचना चाहते हैं उनके लिए साहित्य की परंपरा का ज्ञान सबसे ज्यादा आवश्यक है।' इसी स्थिति के कारण 'जो महत्व ऐतिहासिक भौतिकवाद के लिए इतिहास का है, वही आलोचना के लिए साहित्य की परंपरा का है।...साहित्य की परंपरा के ज्ञान से ही प्रगतिशील आलोचना का विकास होता है।' कहना न होगा कि डॉ.शर्मा ने हिंदी की मार्क्सवादी आलोचना का विकास इसी ढंग से किया। उनकी प्रगतिशील आलोचना किन्हीं अमूर्त सिद्धांतों का ज्ञान नहीं है, वह साहित्य की परंपरा का मूर्त्त ज्ञान है एवं यह ज्ञान उतना ही विकासमान है जितना साहित्य की परंपरा। श्रेष्ठ साहित्य में महान विचारों, गंभीर भावों, जनता के कष्टों और सूक्ष्म इन्द्रिय-बोध का समन्वय होता है - तुलसीदास साहित्य परंपरा के बड़े कवि हैं। साहित्य का मूल्यांकन शुद्ध विचारधारात्मक रूप से नहीं किया जा सकता, मानव के भाव-बोध, इन्द्रिय-बोध पर ध्यान देना आवश्यक है। इसी अर्थ में साहित्य अपने युग की

अर्थव्यवस्था का यांत्रिक प्रतिबिंब नहीं है। हिंदी साहित्य का घनिष्ठ रिश्ता संस्कृत साहित्य और उसकी मानवतावादी परंपरा से है।

28.7.2 संस्कृत साहित्य और उसकी महान मानवतावादी परंपरा

डॉ.रामविलास शर्मा संस्कृत-साहित्य में 'भारत को एक राष्ट्र' समझने की महिमा के कारण ही रामायण-महाभारत, कालिदास-भवभूति के साहित्य का नए दृष्टिकोण से नया भाष्य करते हैं। संस्कृत साहित्य की सामंत-विरोधी भावना का नया रूप संत-साहित्य में पाते हैं। संस्कृत साहित्य में रीतिवाद काफी पस्त है पर हिंदी साहित्य में वीरगाथाकाल और रीतिकाल में काफी तगड़ा है।

संस्कृत साहित्य में नवजागरण की अवधारणा को लेकर डॉ.शर्मा ने 'भारतीय नवजागरण और यूरोप' नाम से पुस्तक लिखी है। यहाँ नवजागरण से उनका तात्पर्य है - ऋग्वेद का रचनाकाल भारत में नए जागरण का युग है। यह नवजागरण अनेक बार आता है - उपनिषदों में कर्मकांड का विरोध हुआ। यह दूसरा नवजागरण था। सुकरात से पहले जो यूनानी दार्शनिक हुए हैं उनके अध्ययन करने से वे इस नतीजे पर पहुँचे कि उपनिषद के दर्शन से यूनानी परिचित थे। वे भारत आए थे, यहाँ के विद्वानों से मिले थे। हीगेल ने बहुत प्रयत्न किया कि इस सारी परंपरा का खंडन किया जाए और सिद्ध किया जाए कि ज्ञान-विज्ञान का प्रसार पहले यूनान में हुआ।

यूरोप में पुनर्जागरण के साथ अंधकार-युग की छूत-छाया एकसाथ हैं। जैसे अत्याचार प्रोटेस्टेंटों ने कैथोलिकों पर और कैथोलिकों ने प्रोटेस्टेंटों पर किए, वैसे अत्याचार हिंदू-मुसलमानों में भिन्न धर्म होने पर भी नहीं हुए। अतः भारतीय सुधार-आंदोलनों का नवजागरण पश्चिम के सुधार आंदोलनों के नवजागरण से अपनी प्रकृति में भिन्न है। डॉ.रामविलास शर्मा ने इस पर बहुत एकाग्र चित्त से सोचा है कि क्यों विलियम जोन्स, मैक्समूलर, याकोबी और मैकडूनल आदि विद्वान संस्कृत साहित्य के साथ न्याय नहीं करते। यह साहित्य जिस समाज-व्यवस्था में रचा गया उस पर विचार नहीं करना चाहते या विचार करते हैं तो पश्चिमी पूर्वाग्रहों के साथ। डॉ. रामविलास शर्मा ने ऋग्वेद, उपनिषद, आरण्यक ग्रंथों के साथ रामायण-महाभारत पर विचार किया। 'भारतीय साहित्य का इतिहास', 'आदिकाव्य', 'साहित्य में स्थायी मूल्यों की समस्या : कालिदास', 'नाटककार भवभूति' 'हिंदी जाति के सांस्कृतिक इतिहास की रूपरेखा' में उन्होंने संस्कृत साहित्य की विशिष्टताओं को रेखांकित किया। रामायण 'आदि काव्य' हो या न हो किंतु वह भारतीय संस्कृति का आदि स्रोत अवश्य है। 'वाल्मीकि उस काव्य परंपरा को जन्म दे रहे थे जो देवोपासक नहीं, बड़ी गहराई से मानवतावादी है।' वाल्मीकि काव्य के आरंभ में किसी देव-वंदना के चक्कर में नहीं पड़ते। हाँ, यह अवश्य घोषित करते हैं कि यह काव्य द्विजों के लिए ही नहीं शूद्रों के लिए भी है। याकोबी वाल्मीकि की कविता पर होमर का प्रभाव सिद्ध करते हैं। यह सब एक कुचक्र का अंग है। कालिदास की स्वच्छंद मानव प्रेम-भावना, सौंदर्य-चेतना ने पूरे भारतीय साहित्य पर प्रभाव डाला। स्वयं पश्चिमी स्वच्छंदतावाद के आदि स्रोत उपनिषदों तथा कालिदास के काव्य में मिलते हैं। अपने निबंध 'नाटककार भवभूति' में डॉ. शर्मा ने भवभूति के आविर्भाव को 'नए युग का सूत्रपात' कहा। 'मालती माधव' और 'उत्तर रामचरित' अपने मूल प्रभाव में ट्रेजेडी हैं। 'शेक्सपियर के नाटकों का युगांतरकारी महत्व यह है कि व्यवस्था मूलतः मानव-कृत है और कर्म और दुख के लिए मनुष्य स्वयं उत्तरदायी है, वह जिस न्याय व्यवस्था से टकराता है, वह देव-निरपेक्ष है। यूरोप में यह नवजागरण का युग है, प्राचीन नियतिवाद से मुक्त होकर कवि नए मानवतावाद का विकास करते हैं। शेक्सपियर से नौ सौ वर्ष पहले भारत में यह काम भवभूति ने किया।' (परंपरा का मूल्यांकन, पृ. 31) आचार्य शुक्ल की 'करुणा' और निराला की 'त्रासदी' को भवभूति से जोड़ते हुए कहा - 'आलोचना के क्षेत्र में भवभूति के समानधर्मा आ.शुक्ल हैं जैसे काव्य में उनके समानधर्मा निराला हैं।' (वही) दुःख और पराजय के अनुभव के साथ-साथ जहाँ मनुष्य पूरी शक्ति के साथ संघर्ष करता है वहीं उदात्त की सृष्टि होती है। सार-संक्षेप यह कि डॉ.शर्मा ने संस्कृत की मानवतावादी सामंत-विरोधी मूल्य-दृष्टि को उसके सामाजिक आधार के साथ उजागर किया है।

28.7.3 आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की विरासत का मूल्यांकन

हिंदी आलोचना के क्षेत्र में आचार्य शुक्ल अपने ढंग के प्रथम मौलिक चिंतक और सिद्धांतकार हैं। उन्होंने भाववादी-परलोकवादी आध्यात्मिक चिंतन का निषेध कर नए वैज्ञानिक चिंतन का विकास किया। हैकल की पुस्तक 'विश्व-प्रपंच' के विचारों का उनपर गहरा असर पड़ा। नए ज्ञान-विज्ञान के आलोक में आ शुक्ल ने हिंदी के नए समीक्षाशास्त्र की नींव रखी। इस नींव को कुछ संकीर्णतावादी मार्क्सवादियों ने खोखला करने की कोशिश की। स्वयं आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी तथा नन्द दुलारे वाजपेयी ने आ शुक्ल के चिंतन पर प्रहार किया। इस स्थिति की भयावहता को देखते हुए डॉ. रामविलास शर्मा ने 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिंदी आलोचना' (1955) तथा 'लोकजागरण और

आ.रामचन्द्र शुक्ल' (1989) में स्थापित किया है कि आ.हजारी प्रसाद द्विवेदी तथा उनकी शिष्य-परंपरा की बहुत विध्वंसात्मक आलोचना है - हनुमान-भाव से अशोकवाटिका का विध्वंस। मूल स्थापना डॉ.शर्मा जी की वही है जो 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिंदी आलोचना' में थी कि आ.शुक्ल लोकजागरणवादी, सामंत-विरोधी, साम्राज्यवाद विरोधी आलोचक हैं। आ.शुक्ल की इसी विरासत को आ.शर्मा ने आगे बढ़ाया है - पूरे संकल्प के साथ। वे आ.शुक्ल के सच्चे उत्तराधिकारी कहे जा सकते हैं। जैसा रीतिवादनविरोधी अभियान आ.शुक्ल ने अपनी आलोचना में चलाया था, वैसा ही रीति-विरोधी अभियान डॉ.रामविलास शर्मा जी जीवन-भर चलाते रहे।

पादरियों के धर्म का खंडन करने वाले जगत विख्यात प्राणितत्ववेत्ता हैकल की पुस्तक 'रिडिल ऑफ दि यूनिवर्स' (विश्व प्रपंच) को अनुवादक शुक्ल ने 'अनात्मवादी आधिभौतिक पक्ष का सिद्धांत-ग्रंथ' कहा तथा एक लंबी भूमिका लिखी। इस भूमिका पर डॉ. रामविलास शर्मा का कथन है :

1. उनकी भूमिका पुस्तक का अभिप्राय समझने ही में सहायक नहीं होती, उन्होंने हैकल के बाद की वैज्ञानिक प्रगति का उल्लेख करके मूल विवेचन को अपने युग के पाठक के लिए पूर्ण बनाया है। भूमिका के प्रथम भाग में आधुनिक भौतिकशास्त्र (Physics) के कतिपय तत्वों का परिचय है। उसके बाद जीवविज्ञान (Biology) और डारविन के विकासवाद का विस्तृत विवेचन है। अंतिम अंश में भौतिकवाद और भाववाद (या अध्यात्मवाद) के विभिन्न पक्षों का उल्लेख है। इसके साथ रसायनशास्त्र, भूगर्भशास्त्र आदि अन्य विज्ञानों का प्रसंगानुसार जिक्र आया है। संसार के प्रति हमारा दार्शनिक दृष्टिकोण क्या हो - इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए हिंदी में पहली बार इतने विस्तार से विज्ञान का अध्ययन किया गया है।.....भारतीय समाज के विकास का अध्ययन करने के लिए महाभारत के महत्व की ओर संकेत किया गया और उससे अध्ययन पद्धति के लिए बहुत ही वैज्ञानिक निष्कर्ष निकाले गए हैं।' (आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिंदी आलोचना, द्वि.सं., पृ. 11)
2. 'शुक्ल जी पौराणिक कथाओं के विरोधी हैं और विकासवाद के समर्थक'
3. शुक्लजी का दृष्टिकोण पुनरुत्थानवादियों और अंध-श्रद्धालुजनी उपासना पद्धति से बिल्कुल भिन्न है।
4. भौतिकवाद, विकासवाद, जनता से संबंध आदि शब्द सुनते ही अनेक मित्र यह निष्कर्ष निकाल लेते हैं कि शुक्लजी को मार्क्सवादी घोषित किया जा रहा है। ऐसे मित्रों की सेवा में निवेदन है कि शुक्लजी की विचारधारा और मार्क्सवाद में काफी अंतर है।....मार्क्सवाद के लिए इतिहास में वर्ग-संघर्ष की नियामक भूमिका है, वर्गों का निर्माण और उनके परस्पर संबंध उत्पादन और वितरण की पद्धति से कायम होते हैं।...इसलिए शुक्लजी को मार्क्सवादी घोषित करने का सवाल नहीं उठता। ईमानदारी का यह तकाज़ा जरूर है कि शुक्ल जी अपने युग के हिंदी अहिंदी विचारकों से कितना आगे थे और उनकी विचारधारा कितनी वैज्ञानिक है इसे अब हम स्वीकार करें।

हिंदी आलोचना में एक समय ऐसा भी था जब आचार्य शुक्ल को विरासत से वंचित करने का शुक्ल-विरोधी अभियान चलाया जा रहा था। इस अभियान में संकीर्णतावादी मार्क्सवादी शिवदान सिंह चौहान, रांगेय राघव जैसे लोग शामिल थे। शिवदान सिंह चौहान शुक्ल जी पर 'एकांगी समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण' का आरोप लगा रहे थे और रांगेय राघव कह रहे थे 'शुक्ल जी ने इतिहास को शुद्ध ब्राह्मण दृष्टिकोण से देखा है।' डॉ. नामवर सिंह कह रहे थे - 'शुक्ल जी के इतिहास में सामाजिक परिस्थितियाँ तथा साहित्यकार अलग-अलग रखे जाने पर एक-दूसरे से अलग हैं।' (आलोचना, 4 अक्तूबर, 1952) आ.शुक्ल के 'लोक-धर्म' को 'वर्णाश्रम-धर्म' का पर्याय घोषित करते हुए आ हजारी प्रसाद द्विवेदी के 'लोक-धर्म' को निम्न-वर्ग की जनता का उदार धर्म कहा जा रहा था। इस आ.शुक्ल विरोधी अभियान से डॉ. रामविलास शर्मा ने टक्कर ली और विरोधियों का टाट पलट लिया। डॉ.शर्मा ने आ.शुक्ल-विरोधी बहुत से आलोचनाओ का मत देकर 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिंदी आलोचना' पुस्तक के प्रथम लेख 'साहित्य और लोक-जीवन' में लिखा 'शुक्ल जी की विरासत का मूल्यांकन और उसकी रक्षा क्यों महत्वपूर्ण है, यह दिखाने के लिए कुछ उद्धरण काफी हैं।' शुक्ल जी के योगदान का मूल्यांकन करते हुए उन्होंने कहा :

1. 'काव्य के बारे में अलंकार, वक्रोक्ति, रीति, ध्वनि और रस - ये चार सम्प्रदाय यहाँ प्रचलित रहे हैं। इनमें से शुक्ल जी का संबंध रस-सम्प्रदाय से है। भरत से उन्होंने रस-निष्पत्ति का सिद्धांत लिया है, लेकिन संस्कृत के आचार्यों की रस-संबंधी व्याख्याएँ मान्य नहीं हैं।' (पृ. 33)
2. 'मानव-जीवन में भावों का प्रकृत रूप साहित्य में आकर बदल नहीं जाता शुक्ल जी के तर्क की यह आधारशिला है।..... शुक्ल जी की मौलिक मान्यता यह है कि साहित्य के भावों और जीवन के भावों में बुनियादी अंतर नहीं है।', (वही)

3. 'आचार्य शुक्ल रस-दशा को लोक-हृदय में लीन होने की दशा कहते हैं, लेकिन यह कोई निष्क्रिय दशा नहीं है। भावों का काम है - मनुष्य को कर्मों में प्रवृत्त करना।'
4. 'उन्होंने हर तरह की संकुचित व्यक्तिवादी और भाववादी धारणाओं से साहित्य को मुक्त करके उसे सामाजिक जीवन का एक अंग बना दिया है। इसलिए लोक हृदय, लोक मंगल या लोक हित को दर किनार करके साहित्यकार आगे नहीं बढ़ सकता।' (पृ. 34)
5. 'पश्चिमी कलावादियों की तरह शुक्ल जी साहित्य को मनुष्य की क्रीड़ा वृत्ति (प्ले इम्पल्स) का परिणाम नहीं मानते। फ्रायड आदि पश्चिमी मनोविश्लेषण के आचार्यों की काम-वासना और स्वप्न संबंधी स्थापनाओं को वे नहीं मानते।' (पृ. 36)
6. 'शुक्ल जी ने यूरोप के अभिव्यंजनावादियों का विरोध किया जो काव्य के वास्तविक आधार को ही अस्वीकार करते थे।' (पृ. 36)
7. 'आचार्य शुक्ल ने हिंदी में पहली बार जमकर रीति ग्रंथों का विरोध किया, साहित्य पर उनके घातक प्रभाव का उल्लेख किया।.... शुक्ल जी यथार्थवाद की भूमि से रीति-ग्रंथों की कृत्रिमता दिखाते हैं।'
8. 'शुक्ल जी ने अपने सिद्धांत हवा में नहीं बनाए, न वे सिद्धांत केवल निषेधात्मक हैं। उन्होंने भारतवर्ष के चार महाकवियों - वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति और तुलसीदास - को अपना आदर्श और आधार बनाया। ...... शुक्ल जी ने साहित्य में वाल्मीकि और भवभूति की परंपरा को फिर जगाया।' (पृ. 38)
9. 'शुक्ल जी सामंती संस्कृति के ही विरुद्ध नहीं हैं। वे यूरोप की बर्बर साम्राज्यवादी संस्कृति का भी विरोध करते हैं। मध्यकालीन आक्रमणकारियों से यूरोप के व्यापारियों की तुलना करते हैं।' (पृ.41)
10. 'आचार्य शुक्ल ने 'रीतिकलीन साहित्यशास्त्र का विरोध किया, साहित्य को धनी वर्ग का सेवक बनने से रोका, उन्होंने सामंती संस्कृति और साम्राज्यवादी उत्पीड़ीन का सच्चा रूप दिखाया, पश्चिमी व्यक्तिवाद और निराशावाद से बचने की चेतना दी, निष्क्रिय प्रतिरोध, तोल्स्तोय पंथ, रहस्यवाद और अध्यात्म की पुकार का रहस्य प्रकट किया और अन्याय और अत्याचार के दमन में सौंदर्य की प्रतिष्ठा की। इस तरह उन्होंने साहित्यकार को जनता का पक्ष लेना सिखाया और नए साहित्य में अपनी ऐतिहासिक भूमिका अदा की।' (पृ. 45)
11. 'शुक्ल जी की तर्क पद्धति द्वंद्वात्मक है। वह वस्तुओं और विचारों की गतिशीलता पर ज़ोर देते हैं।' (पृ.46)
12. 'शुक्ल जी सामंती साहित्यशास्त्र का टाट पलटकर हिंदी का अपना शास्त्र रच रहे थे।'

आ.शुक्ल के इस चिंतन ने डॉ. रामविलास शर्मा की आलोचना-दृष्टि को प्रेरित-प्रभावित किया है। वे आ.शुक्ल की विरासत को हर कीमत पर आगे बढ़ाने के लिए संघर्ष करते रहे हैं। विरोधियों के लिए उनका यह कहना ठीक है - 'हिंदी में अब जनता के वास्तविक जीवन को प्रतिबिंबित करने वाला, उसकी आशाओं और संघर्षों को मूर्त रूप देने वाला साहित्य अधिकाधिक रचा जा रहा है। यही कारण है कि कुछ लोग शुक्ल जी की विरासत मिटाने पर तुल गए हैं क्योंकि यह विरासत नए साहित्य के निर्माण के लिए निरंतर प्रेरणा देती है। ... निस्संदेह जनवादी और स्वाधीन भारत में सुखी और शिक्षित जनता के समृद्ध जीवन के आधार पर नए जन-साहित्य के निर्माण द्वारा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की यह पुनीत मनोकामना पूरी होगी।' (पृ.49) आ.शुक्ल की इस पुनीत मनोकामना को पूरा करने के संकल्प का नाम है - डॉ. रामविलास शर्मा।

28.8 भक्ति आंदोलन और भक्ति काव्य का आधार : लोक-संस्कृति

हिंदी साहित्य के इतिहास का सबसे विवादास्पद और महत्वपूर्ण प्रसंग है - भक्ति-आंदोलन और भक्ति-काव्य। सिद्धों-नाथों की परंपरा के बाद भक्ति-आंदोलन का उदय कैसे हुआ? इस प्रश्न पर इतिहास और साहित्य के क्षेत्र में लगातार वाद-विवाद हुआ है। डॉ. रामविलास शर्मा ने इस बहस में आ.शुक्ल की धारणाओं का साथ दिया है। उन्होंने भक्ति-आंदोलन और भक्ति काव्य या संत काव्य पर कोई अलग से पुस्तक तो नहीं लिखी, लेकिन संत-कवियों के साहित्य पर अनेक निबंधों में विचार किया है। 'संत साहित्य के अध्ययन की समस्याएँ', 'तुलसी की भक्ति , 'तुलसी साहित्य के सामंत-विरोधी मूल्य', 'भक्ति आंदोलन और तुलसीदास', 'गोस्वामी तुलसीदास और मध्यकालीन भारत', 'मध्ययुगीन हिंदी कविता में गेयता', 'संत कवि और रवीन्द्रनाथ', 'काम, क्रोध, मद, लोभ और तुलसीदास और 'भारतीय सौंदर्य बोध और तुलसीदास' आदि उनके बहुत से लेख 'परम्परा का मूल्यांकन , 'भारतीय

साहित्य की भूमिका', 'भारतीय संस्कृति और हिंदी प्रदेश', 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिंदी आलोचना' जैसी पुस्तकों में मिलते हैं। उनके इन लेखों से जाहिर है कि डॉ.शर्मा के चिंतन-केंद्र में भक्ति-आंदोलन और तुलसीदास रहे हैं। आश्चर्य की बात है कि शर्मा जी ने निर्गुणधारा के क्रांतिकारी संत कबीर पर एक भी लेख नहीं लिखा। जहाँ-तहाँ प्रसंगवश कबीर की चर्चा की है। जीवन के अंतिम दौर में आ.हज़ारी प्रसाद द्विवेदी और डॉ. रामविलास शर्मा - दोनों तुलसीदास पर किताब लिखना चाहते थे किंतु दोनों का अरमान पूरा नहीं हो सका।

डॉ. रामविलास शर्मा भक्ति-आंदोलन की सामंत-विरोधी भूमिका को संत कवियो की लोकधर्मिता से सामने लाते हैं। वे भक्ति-काव्य को लोक-जागरण का काव्य कहते हैं और भक्ति-आंदोलन को विशाल सांस्कृतिक जन-आंदोलन। आ.शुक्ल जनता की 'चित्तवृत्तियों की परंपरा को परखते हुए साहित्य-परंपरा के साथ उनका सामंजस्य' दिखाने का प्रयत्न करते हैं। डॉ. शर्मा ने आ.शुक्ल की भक्ति-आंदोलन तथा संत काव्य संबंधी अनेक असंगतियों को दूर करने के लिए भक्ति-आंदोलन के लोकजागरणवादी सामंत-विरोधी सामाजिक आधार की भूमिका को स्पष्टता से उजागर किया। उन्होंने भक्ति-आंदोलन और संत काव्य के वर्गीय आधार के विवेचन में जुलाहों-कारीगरों, व्यापारियों, किसानों के सामाजिक आधार को प्रधानता दी। शेरशाह और अकबर के शासनकाल में जन-सुधार कार्यों से जैसे नहरों-सड़कों-व्यापारिक मंडियों के कार्य से सामंतवादी व्यवस्था कमज़ोर हुई। पुराने जनपदों का अलगाव दूर हुआ और वे मिलकर एक 'जाति' के रूप में संगठित होने लगे। इसलिए भक्ति-आंदोलन को वे भारत का सबसे विराट सांस्कृतिक और जातीय आंदोलन घोषित करते हैं। जो विद्वान यह समझते रहे हैं कि अंग्रेज़ों ने यहाँ के सामंती ढाँचे को तोड़कर नवीन सामाजिक ढाँचे को जन्म दिया। उनके विषय में डॉ.शर्मा का कहना है कि ऐसे मार्क्सवादी और गैर-मार्क्सवादी दोनों तरह के विद्वान भक्ति-आंदोलन की सामंत-विरोधी भूमिका पर पर्दा डालते हैं। डॉ.शर्मा ने भक्ति-आंदोलन और संत काव्य को एक-साथ रखकर देखने के बाद कहा - 'भारतीय समाज में यह परिवर्तन उसकी अपनी ही शक्तियों से हो रहा था। यहाँ के लोगों को व्यापार करना ईरानियों, पठानों, अरबों या तुर्कों ने नहीं सिखाया था। सैकड़ों वर्षों से कायम सामंतवाद कभी का अपनी ऐतिहासिक भूमिका खत्म कर चुका था। उसे समाप्त करने वाली शक्तियाँ उसी के गर्भ में पुष्ट हो रही थी। ये शक्तियाँ व्यापारियों, जुलाहों, कारीगरों, गरीब किसानों की थीं जिनके सांस्कृतिक विकास और सुखी जीवन में सबसे बड़ी बाधा थी सामंतवाद।' (परंपरा का मूल्यांकन, संत साहित्य के अध्ययन की समस्याएँ) इस सामंतवाद की ताकत को भक्ति-आंदोलन ने धूल चटा दी। यह ध्यान रखने की बात है कि केवल धार्मिक प्रभावों की खोजबीन से ही संत साहित्य की विषय-वस्तु या रूप भाषा, भाव और विचार का विश्लेषण अधूरा रह जाता है। तुलसी साहित्य को 'प्रतिक्रियावादी' कहने वाले आलोचक संत साहित्य के सामाजिक आधार की अवहेलना करते हैं और संतों के लोक-धर्म की क्रांतिकारी भूमिका को समझते नहीं हैं। यह लोक-धर्म सामंतवाद को कमज़ोर करता है, दृढ़ नहीं। सामंती व्यवस्था में धरती पर सामंतों का अधिकार था तो धर्म पर पुरोहितों का। संतों ने धर्म पर से पुरोहितों का अधिकार तंत्र खत्म किया। जनता को - जुलाहों-किसानों को - यह मौका मिला कि शास्त्रों-पुरोहितों के बिना भी काम चल सकता है। यह ठीक है कि भक्ति-आंदोलन के संत कवियों के पास एक सुसंगत दार्शनिक दृष्टि नहीं है, कभी वे संसार को मिथ्या कहते हैं, कभी सत्य। उन पर भाग्यवाद, मायावाद, पुरोहिताई चिंतन का असर है पर यह न भूलना चाहिए कि 'संत साहित्य भारतीय जनता के प्रेम, घृणा, आशाओं और वेदना का दर्पण है। वह उसके हृदय की सबसे कोमल, सबसे सबल भावनाओं का प्रतिबिंबि है।' भक्ति, धर्म, दर्शन की सभी परंपराओं पर ध्यान देकर डॉ.शर्मा ने भक्ति-आंदोलन और संत-काव्य की अंतर्वस्तु के सामाजिक आधार को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया।

वीरगाथाकाल के बाद भक्ति-भावना का उदय कैसे? जयशंकर प्रसाद ने 'रहस्यवाद' निबंध में इस स्थिति की व्याख्या की और कहा - 'फलतः पिछले काल में भारत के दार्शनिक अनात्मवादी ही भक्तिवादी बने और बुद्धिवाद का विकास भक्ति के रूप में हुआ।.. जिन-जिन लोगों को विश्वास नही था उन्हें एक त्राणकारी की आवश्यकता हुई।' कवि प्रसाद का यह मत आ.शुक्ल के विचार से मेल खाता है कि एक के बाद राजनैतिक पराजय से हिंदुओं का आत्म-विश्वास डिगने लगा और वे भक्ति भावना की ओर उन्मुख हो गए। ग्रियर्सन के लिए भक्ति ईसाइयों की देन थी, किंतु आ.शुक्ल के लिए मुस्लिम आक्रमणों की प्रतिक्रिया का परिणाम और आ.हज़ारी प्रसाद द्विवेदी के लिए 'भारतीय चिंता का स्वाभाविक विकास'। आ.शुक्ल बाहरी इस्लामी तत्वों से क्रिया-प्रतिक्रिया को, हिंदू-मन की निराशा को महत्व देते हैं - 'भक्ति का जो सोता दक्षिण की ओर से धीरे-धीरे उत्तर भारत की ओर पहले से ही आ रहा था उसे राजनीतिक परिवर्तन के कारण शून्य पड़ते हुए जनता के हृदय-क्षेत्र में फैलने के लिए पूरा स्थान मिला।' इस्लाम की आक्रामक परिस्थितियों ने भक्ति के इस प्रभाव को बढ़ा दिया। आ.शुक्ल के इस मत से आहत होकर आ.हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने 'हिंदी साहित्य की भूमिका' में लिखा - 'मैं ज़ोर

देकर कहना चाहता हूँ कि अगर इस्लाम नहीं आया होता इस (हिंदी) साहित्य का बारह आना वैसा ही होता जैसा आज है।' यह जोर इसलिए देना पड़ा कि आ.शुक्ल कह रहे थे - 'देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिंदू जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिए अवकाश न रह गया।... अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था।' आ.द्विवेदी जी हिंदी साहित्य को 'हतदर्प पराजित जाति' की सम्पत्ति मानने को तैयार नहीं थे। आ.शुक्ल ने 'जनता की चित्तवृत्ति' पर ध्यान दिया आ. द्विवेदी ने 'लोक-चिंता' पर। डॉ. रामविलास शर्मा ने आ.शुक्ल और आ.द्विवेदी के विचारों पर ध्यान केंद्रित करते हुए कहा - 'संत साहित्य भारतीय जीवन की अपनी परिस्थितियों से पैदा हुआ था। उसका स्रोत बौद्ध धर्म या इस्लाम में हिंदू धर्म में ढूँढना सही नहीं है। इन धर्मों का उस पर असर है लेकिन ये उसके मूल स्रोत नहीं है।' (परंपरा का मूल्यांकन, पृ. 46) आ.शुक्ल का हवाला देकर डॉ.शर्मा ने कहा - 'शुक्ल जी का विचार था कि यह निराशा और उदासी मुस्लिम शासन के कारण थी। देश में विदेशी जातियों का आक्रमण और उनका शासन भी एक कारण था। लेकिन वास्तविकता यह है कि सत्ता में सहायक और भाग लेने वाले देशी सामंत भी थे उन सामंतों के देशी सहायक पंडे और पुरोहित भी थे।' आ. शुक्ल के मत में कमी यह है कि शुक्ल जी के विवेचन में 'देशी सामंतों की भूमिका हर जगह स्पष्ट नहीं है। इसलिए उन्होंने निराशा का कारण मुस्लिम शासन बताया है और लोक-धर्म से विमुख कवियों को विदेशी मतों से विमुख कहा है।'

डॉ. रामविलास शर्मा ने भक्ति-आंदोलन को अखिल भारतीय सांस्कृतिक आंदोलन मानते हुए कहा कि भक्ति-आंदोलन ने विभिन्न प्रदेशों को राष्ट्रीय एकता के सूत्र में बाँधने का कार्य किया। भक्त कवियों ने सर्वत्र लोक-भाषाओं में लोक-साहित्य की रचना की। कश्मीर में ललदेव, तमिलनाडु में अंदाल, बंगाल में चंडीदास, गुजरात में नरसी मेहता, महाराष्ट्र में नामदेव, उत्तर भारत में मीरा, कबीर, सूर-तुलसी, जायसी - सभी ने लोक में भावनात्मक एकता कायम की। भक्ति-आंदोलन की पुरोहितवादी जातिवादी नस्लवादी सामंतवाद-विरोधी चेतना का हवाला देकर कहा - 'संभवतः जाति-प्रथा जितनी दृढ़ आज है उतनी नामदेव दर्जी, सेना नाई, चोख महार, रैदास चमार और कबीर जुलाहे के समय में न थी। और जातिगत संकीर्णता जितनी शिक्षित जनों में है संभवतः उतनी सूर और कबीर के पद गाने वाले अपढ़ जनों में नहीं है। वर्णाश्रम धर्म और जाति प्रथा जितनी तीव्र आलोचना भक्ति साहित्य में है उतनी आधुनिक साहित्य में नहीं है।' (परंपरा का मूल्यांकन, पृ. 47)

डॉ. रामविलास शर्मा भक्ति-आंदोलन और संत साहित्य को नवजागरणकाल मानते हैं, आधुनिकता का प्रगतिशील काल। वे उसे आ.शुक्ल और आ.हजारी प्रसाद द्विवेदी की तरह 'मध्यकाल' नहीं मानते हैं। जो साहित्य लाखों-करोड़ों जनता के हृदय को आंदोलित करता है उसे 'मध्ययुगीन' कहना उसकी तौहीन है। 'भक्त' और 'संत' एक ही भाव के द्योतक हैं, उनमें फर्क करना व्यर्थ है - 'संत' में नर-नारी का भेद भी गलत है मीराबाई भी संत हैं, तुलसी भी संत हैं। इसीलिए यह कहना कि निर्गुण संत अधिक क्रांतिकारी हैं, सगुण संत कम विचार के क्षेत्र में व्यर्थ का वितंडावाद खड़ा करना है, संतों का एक ही लोक-दर्शन है - 'प्रेम'। प्रेम से ही मनुष्य बड़ा होता है - वैकुंठी होता है, महान उदात्त बनता है। संतों के मानवतावाद को अपनाकर ही समाज प्रगति कर सकता है। भक्ति-आंदोलन और भक्ति-काव्य की डॉ. शर्मा द्वारा की गई यह व्याख्या बहुत ही प्रगतिशील है।

28.9 रीतिकाव्य और रीतिवाद : दरबारी काव्य-परंपरा

डॉ. रामविलास शर्मा ने आ.शुक्ल की रीतिवाद-विरोधी भूमिका को हिंदी आलोचना में रेखांकित करते हुए दरबारी काव्य-परंपरा की पतनशीलता का विस्तार से उद्घाटन किया। रीतिकालीन कवियों के विषय में आ.शुक्ल ने 'इतिहास' में लिखा है कि 'इसका कारण जनता की रुचि नहीं, आश्रयदाता राजा-महराजाओं की रुचि थी जिनके लिए कर्मण्यता और वीरता का जीवन बहुत कम रह गया था।' जिसे रीतिकालीन कविता कहा जाता है, वह डॉ. रामविलास शर्मा के शब्दों में 'दरबारी कविता है और उसकी परंपरा संस्कृत से चली आ रही थी। लक्षण-ग्रंथ, नायिका-भेद, अलंकार, चमत्कारवाद, सूक्तिप्रियता, अश्लीलता हिंदी की रीतिकालीन कविता को ये सभी गुण विरासत में मिले थे। इसलिए यह समझना कि देश में मुसलमानों का राज हो जाने से जनता की रुचि पतित हो गई थी, सामंतों की कुरुचि के लिए जनता को दोषी ठहराना है।' (आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिंदी आलोचना - दरबारी काव्य परंपरा, पृ. 123) दरबारी काव्य-परंपरा की चर्चा करते हुए डॉ. रामविलास शर्मा ने डॉ. नगेन्द्र के 'देव और उनकी कविता' तथा 'रीतिकाव्य की भूमिका' में व्यक्त विचारों का कड़ा विरोध किया। विरोध का कारण है कि डॉ. नगेन्द्र सामंतों की रुचि तथा जनता की रुचि में भेद नहीं करते।

रीतिकाल के आचार्य कवि झूठे चमत्कारवाद के चक्कर में रहे। संस्कृत अलंकारशास्त्र के घटिया अनुवाद किए। कोढ़ में खाज यह कि इनमें मौलिकता का एकदम अभाव है। साथ ही, कवियों ने काव्य-क्षेत्र संकुचित कर दिया - 'वाग्धारा बँधी हुई नालियों में ही प्रवाहित होने लगी।' कवियों ने काव्य सामग्री दरबारों से ली, जनजीवन, जन-संस्कृति से नहीं। नतीजा हुआ कि वे रनिवास की नायिकाओं का श्रृंगार-वर्णन करने में ही चुक गए। इसलिए संत कवियों के प्रेम और दरबारी कवियों के प्रेम में ज़मीन-आसमान का अंतर आ गया। आचार्य शुक्ल ने केशव, चिंतामणि, बिहारी, देव, पदमाकर की आलोचना की, लेकिन रीतिमुक्त काव्यधारा के कवियों - विशेषकर घनानंद, आलम की स्वच्छंदप्रियता पर आ.शुक्ल प्रसन्न भी हुए। शुक्ल जी कृत्रिमता, नायिका-भेद तथा चमत्कारवाद के विरोधी थे, इस रीतिवाद-विरोध को डॉ.शर्मा ने आगे बढ़ाया। उन्होंने 'रीतिकालीन काव्य-परंपरा' शीर्षक निबंध में कहा - 'रीतिकालीन काव्य-परंपरा हिंदी भाषा प्रदेश के सामंत वर्ग की अपनी विशिष्ट परंपरा है। यह सामंत वर्ग ब्रजभाषा काव्य के अभ्युदय से बहुत पहले यहाँ विद्यमान रहा है। इसलिए यह काव्य-परंपरा पहले से संस्कृत में मिलती है।' संस्कृत रीति काव्य के उत्कर्ष काल में सामंत वर्ग उतना पतित न हुआ था जितना रीतिकाल में।

हिंदी आलोचना में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी तथा डॉ. रामविलास शर्मा तीनों ने रीतिवाद-विरोधी अभियान में महत्वपूर्ण हिस्सेदारी की है। डॉ.शर्मा ने रीतिकालीन काव्य-कला के सकारात्मक पहलुओं की चर्चा की है, यही विशेष बात है।

28.10 हिंदी में नवजागरण की अवधारणा का संदर्भ

हिंदी साहित्य में नवजागरण की अवधारणा को प्रथम बार प्रस्तुत करने और इसका इतिहास-समाज से पुष्ट विवेचन करने का श्रेय डॉ. रामविलास शर्मा को है। उन्होंने हिंदी नवजागरण की परंपरा को ऋग्वेद-उपनिषद काल की नवजागरण परंपरा के रूप में प्रस्तुत किया। हिंदी के भक्तिकाल को वे नवजागरण या लोक-जागरण कहते हैं। उनका विचार है कि लाखों-करोड़ों को रास्ता दिखाने वाले इस काल को 'मध्ययुगीन' कहना अन्याय और नासमझी है। पश्चिमी देशों के 'मध्यकाल' या अंधकार-काल जैसी स्थिति भारत में कभी नहीं रही। हमारी नवजागरण की कवि-परंपरा वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, भवभूति, कबीर, सूर, जायसी, तुलसी, भारतेंदु, महावीर प्रसाद द्विवेदी, प्रेमचंद, प्रसाद, निराला, केदारनाथ अग्रवाल आदि तक निरंतर भारी देश-कालगत परिवर्तनों के साथ सक्रिय रही है। इस परंपरा का रूप रीतिवाद-विरोधी, पुरोहितवाद-विरोधी, सामंतवाद-विरोधी, साम्राज्य-वाद-उपनिवेशवाद-विरोधी, व्यक्तिवाद-कलावाद विरोधी रहा है। हम एशिया के नवजागरण से भी जुड़े रहे और विश्व के साम्राज्यवाद-उपनिवेशवाद से संबंधित नवजागरण से भी। इसका प्रमाण हमारे साम्राज्य-विरोधी स्वाधीनता-संग्राम की चेतना में मिलता है। इस प्रमाण को तर्कों से प्रस्तुत करने के लिए उन्होंने 'सन सत्तावन की क्रांति', 'सन सत्तावन की क्रांति और मार्क्सवाद', 'स्वाधीनता संग्राम : बदलते परिप्रेक्ष्य', 'भारतीय नवजागरण और यूरोप' 'पश्चिम एशिया और ऋग्वेद', 'भारतेंदु और हिंदी नवजागरण की समस्याएँ' तथा 'महावीर प्रसाद द्विवेदी तथा हिंदी नवजागरण' जैसी बहुत-सी पुस्तकों को लिखा है। दरअसल, 'गदर' या सन 1857 की क्रांति उनके चिंतन की केंद्रीय धुरी है, उनकी पूरी मानसिक भूमिका को आलोचना-दृष्टि को उसने निर्मित किया है। इसी मानसिकता से 'हिंदी नवजागरण' की स्थापनाएँ फूटी हैं और हिंदी साहित्य की पूरी आधुनिकता इस 'नवजागरण' जैसे बीज-शब्द में समाहित होती गई है।

हिंदी में नवजागरण का आरंभ वे 1857 ई. की क्रांति से मानते हैं। इसे 'भारत का प्रथम स्वाधीनता संग्राम' घोषित करते हैं। इस स्वाधीनता-संग्राम या मुक्ति-संग्राम का स्वरूप सामंत विरोधी, साम्राज्यवाद विरोधी मानते हैं। उनके अनुसार 1857 की क्रांति (गदर) हिंदी प्रदेश के नवजागरण की पहली मंज़िल है। भारतेंदु-युग का नवजागरण इसकी दूसरी मंज़िल तथा द्विवेदी-युग का नवजागरण इसकी तीसरी मंज़िल है। साम्राज्यवादी इतिहासकारों की नकल पर वे हिंदी नवजागरण का संबंध बंगाल के नवजागरण और राजा राममोहन राय से नहीं जोड़ते। वे बंगाल के नवजागरण और हिंदी प्रदेश के नवजागरण में बुनियादी फर्क मानते हैं। 1857 की क्रांति हिंदी प्रदेशों में हुई। उस प्रदेश की भीतरी स्थिति के दबाव से हुई। किसानों के लड़कों ने खाकी वर्दी में सामंतों के साथ मिलकर अंग्रेज़ों से युद्ध किया। इसलिए हिंदी प्रदेश के नवजागरण का पूरा चरित्र बंगाल, महाराष्ट्र, गुजरात के नवजागरण से अलग दिखाई देता है। डॉ. रामविलास शर्मा की गदर और नवजागरण संबंधी मान्यताओं को इस प्रकार संक्षेप में रखा जा सकता है :

1. हिंदी प्रदेश में नवजागरण 1857 ई. के स्वाधीनता संग्राम से शुरू होता है।

2. इस स्वाधीनता संग्राम की पहली विशेषता है कि यह सारे देश की एकता को ध्यान में रखकर चलाया गया था। दूसरी विशेषता है - 'राज्य सत्ता की मूल समस्या सामंतों के हित में नहीं जनता के हित में हल की गई।' तीसरी विशेषता है कि अंग्रेज़ों ने ज़मींदारों और साहूकारों को जहाँ भी नए अधिकार दिए थे जनता ने उस अंग्रेज़ों की व्यवस्था को उलट दिया। इससे स्वाधीनता संग्राम का सामंत-विरोधी पक्ष पुष्ट होता है। इस संग्राम की चौथी विशेषता है - इसका नेतृत्व उन किसानों ने किया जो फौज में सिपाहियों और सूबेदारों के रूप में काम कर रहे थे। इसकी पाँचवीं विशेषता है अंग्रेज़ हिंदू-मुस्लिम दंगे कराने में असफल रहे। अतः यह असाम्प्रदायिक राष्ट्रीय क्रांति है। इस संग्राम की छठी विशेषता है कि 'यह संग्राम हिंदी भाषी प्रदेश में चलाया गया। यह हमारा जातीय संग्राम था, गाँवों-जनपदों में बहुत बड़ा लोक साहित्य रचा गया।'

3. इस स्वाधीनता संग्राम के विश्लेषण की मुख्य समस्या ब्रिटिश और भारतीय समाजों के विकास से जुड़ी है। भारत की सामंती व्यवस्था तथा इंगलैंड की औद्योगिक क्रांति पर विचार होना चाहिए।

4. 1857 में नागरिकों और सिपाहियों ने अनेक इश्तहार प्रकाशित किए। इनके पढ़ने से पता चलता है कि स्वाधीनता संग्राम के नेता अंग्रेज़ों के लूटतंत्र से परिचित थे।

5. गदर, (सन 57 का स्वाधीनता संग्राम), हिंदी प्रदेश के नवजागरण की पहली मंज़िल है। दूसरी मंज़िल भारतेंदु हरिश्चंद्र का युग है। 'कविवचन सुधा' में प्रकाशित 'लेवी प्राण लेवी' लेख अंग्रेज़ साम्राज्यवाद के लूटतंत्र की पोल खोलता है। इन गदर के इश्तहारों में व्यापार, उद्योग-धंधों के विनाश की बात कही गई है। भारतेंदु-युग का साहित्य इसका साक्ष्य प्रस्तुत करता है। क्रांति के बाद अंग्रेज़ों ने जनता पर अत्याचार किए - 'जा भय सिर न उठाय सकत कहुँ भारतवासी' जैसी कविता इसी संवेदना की अभिव्यक्ति है। कपड़ा बनाने वाले, सूत निकालने वाले, खेती करने वाले इतने गरीब हैं कि भीख माँगते हैं - 'ढपली बाज रही भारत भिखारी की' भारतेंदु का गीत इसी संदर्भ पर है।

6. गदर के चेतना से विदेशी माल के बहिष्कार और स्वदेशी वस्तुओं के व्यवहार की भावना पैदा हुई। यह स्वाभाविक ही था कि स्वदेशी वस्तुओं के व्यवहार की प्रतिज्ञा सबसे पहले हरिश्चंद्र करते।

7. ऐतिहासिक तथ्यों की अवहेलना करके भाँति-भाँति के साम्राज्यवादी-सम्प्रदायवादी विद्वानों ने यह प्रतिपादित किया कि इस देश का नवजागरण अंग्रेज़ी राज की नियामतों का नतीजा था और गदर में सिपाही और सामंत अपने स्वार्थ के लिए लड़े।

8. अंग्रेज़ी राज कायम होने पर ये किसान लाखों की संख्या में भूखों मर रहे थे। खेती की उत्पादन-पद्धति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ, न उस पद्धति का नाश हुआ। इसका कारण था कि अंग्रेज़ों ने जो नया सामंतवाद चलाया था, वह पुराने सामंतवाद से कहीं अधिक घातक था। आज़ादी की लड़ाई में ये किसान ही भारी संख्या में अंग्रेज़ों से लड़े।

9. हिंदी नवजागरण का तीसरा चरण महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनके सहयोगियों का कार्यकाल है। 'इस युग में 'सरस्वती' पत्रिका की बड़ी नवजागरणवादी भूमिका है। इस युग की सही पहचान तभी हो सकती है जब हम एक तरफ गदर और भारतेंदु युग से उसका संबंध पहचानें और दूसरी तरफ छायावादी-युग - विशेष रूप से निराला के साहित्य से। डॉ.शर्मा ने 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण' पुस्तक में इसी संबंध पर विस्तार से विचार किया है।

10. भारतीय नवजागरण एशिया के नवजागरण से जुड़ा है। अमेरिका और रूस की राज्य क्रांतियों से जुड़ा है। इस प्रकार, विश्व-नवजागरण से उसका रिश्ता है।

11. हिंदी प्रदेशों में नवजागरण का काम पत्र-पत्रिकाओं ने किया। इनमें - 'कवि वचन सुधा', 'हरिश्चंद्र चंद्रिका', 'हरिश्चंद्र मैगज़ीन', 'बाला बोधिनी', 'आनंद कादम्बिनी', 'हिंदी प्रदीप ', 'ब्राह्मण', 'सरस्वती', 'चाँद', 'समालोचक', 'कर्मवीर', 'प्रभा', 'वीणा', 'अभ्युदय', 'मतवाला', 'रणभेरी', 'विप्लव' जैसा पत्र-पत्रिकाओं का नाम उल्लेखनीय है।

12. निराला जी ने अंग्रेज़ी राज्य, ज़मींदारी प्रथा, किसान आंदोलन, वर्णाश्रम-धर्म, नारी की पराधीनता, भाषा की समस्या, रीतिवाद-विरोध आदि-आदि पर जो कुछ लिखा है उसपर ध्यान दीजिए तो पता चलेगा कि हिंदी नवजागरण के संदर्भ में निराला का लेखन महावीर प्रसाद द्विवेदी के ही कार्य की अगली कड़ी है। इस प्रकार, छायावादी चिंतन सर्वत्र द्विवेदी युग का विरोधी नहीं, उसका अनुवर्ती है। हिंदी के जो मार्क्सवादी और गैर-मार्क्सवादी आलोचक आ.शुक्ल और छायावाद के चिंतन का विरोध करते हैं वे पूरे भारतीय नवजागरण की चेतना का विरोध करते हैं। यह बात भूलने की नहीं है कि हिंदी आलोचना में रामचन्द्र शुक्ल, हिंदी कथा साहित्य में प्रेमचंद, हिंदी कविता में निराला, इसी युग की देन है। डॉ. रामविलास शर्मा ने 'निराला की साहित्य-साधना' 1, 2 और 3 खंडों में

निराला साहित्य का नवजागरणवादी परंपरा में विश्लेषण किया है और उनका संबंध वाल्मीकि, व्यास, भास, कालिदास, तुलसीदास, माइकेल मधुसूदन दत्त, रवीन्द्रनाथ से जोड़ते हुए अपने अध्ययन को दिशा-दृष्टि दी है।

13. देश का इतिहास समझने के लिए अपने प्रदेश का इतिहास समझना भी जरूरी है। जो भी इस इतिहास का विश्लेषण करना चाहे, उसे पहले सन 57 के स्वाधीनता संग्राम का अध्ययन करना चाहिए। तभी नवजागरण की पेचीदी प्रक्रिया समझ में आएगी और जो विभिन्न साहित्यकार और विभिन्न युग एक-दूसरे से कटे हुए दिखाई देते हैं, वे एक ही व्यापक प्रक्रिया के अंग्रर्तत परस्पर जुड़े दिखाई देंगे। हर युग की और हर साहित्यकार की अपनी विशेषताएँ होती हैं और सीमाएँ भी होती हैं, किंतु पृथकता के साथ जहाँ व्याप्ति है उसे भी देखना चाहिए।

14. हिंदी नवजागरण की चौथी मंज़िल का नाम है - छायावाद। हिंदी नवजागरण के विभिन्न संदर्भों को समझने के लिए इस युग के कवियों का अध्ययन करना चाहिए। कवि निराला और कथाकार प्रेमचंद पर विशेष ध्यान देना चाहिए। हिंदी प्रदेश की मुक्ति चेतना के दोनों ही बड़े अग्रदूत हैं।

15. हिंदी नवजागरण की पाँचवीं मंज़िल है - प्रगतिवाद। इसे विदेशी पौधा कहकर बात को टालना नहीं चाहिए। यह हमारी क्रांति-चेतना का विस्तार रूप है। नागार्जुन, त्रिलोचन, केदारनाथ अग्रवाल का सृजन हिंदी की प्रगतिशील धारा का विस्तार है। हिंदी साहित्य की प्रगतिशील परंपरा की व्याख्या पर हमें ध्यान देना चाहिए। दुःख की बात यह है कि इस ओर ध्यान कम दिया गया है।

16. भारतेंदु-युग, रामचन्द्र शुक्ल और हिंदी आलोचना, परंपरा का मूल्यांकन, प्रेमचंद और उनका युग, महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण, भारत में अंग्रेज़ी राज और मार्क्सवाद, निराला की साहित्य-साधना, प्रगतिशील काव्यधारा और केदारनाथ अग्रवाल - इन सभी पुस्तकों के विषय आपस में जुड़े हुए हैं। इन सभी पुस्तकों को आपस में जोड़कर पढ़ने पर ही भारतीय नवजागरण विशेष कर हिंदी प्रदेश का नवजागरण - पूरी अर्थच्छायाओं के साथ खुलता है। हम हिंदी की प्रगतिशील परंपरा को भी नए रूप में पाते हैं।

28.11 भारतेंदु युग : नवजागरण की साम्राज्य-विरोधी चेतना का विस्फोट

इस युग पर डॉ. रामविलास शर्मा ने अपने आलोचना-कर्म में बार-बार विचार किया है। उनके आलोचक की पूरी मानसिकता स्वाधीनता-संग्राम और भारतेंदु-युग से जुड़ी हुई है। उनके इस जुड़ाव का ही नतीजा है कि भारतेंदु-युग पर चार पुस्तकें लिखीं और जी नहीं भरा। हर बार एक नया विचार कौंधता रहा। ये चार पुस्तकें हैं - 'भारतेंदु युग' (1943), 'भारतेंदु युग और हिंदी भाषा की विकास परंपरा', 'भारतेंदु हरिश्चंद्र', तथा 'भारतेंदु हरिश्चंद्र और हिंदी नवजागरण की समस्याएँ'। भारतेंदु युग में गद्य की अनेक विधाओं का विकास हुआ। 'गद्य काल' नाटक, उपन्यास,. निबंध, पत्रकारिता में बड़ी उन्नति की। भारतेंदु की कविता का मुँह मध्यकाल की ओर रहा, पर गद्य का मुँह आधुनिक काल की ओर है। यहाँ साम्राज्यवाद-उपनिवेशवाद-सामंतवाद के विरोध का राष्ट्रीय नवजागरण है। इसी चेतना के अग्रदूत भारतेंदु ने कहा - 'परदेशी वस्तु और परदेशी भाषा पर भरोसा मत रखो। अपने देश में अपनी भाषा में उन्नति करो।' शर्मा जी ने लिखा है - 'भारतेंदु ने खड़ी बोली के हिंदी रूप को सँवार कर हमारी जाति की सांस्कृतिक आवश्यकताएँ पूरी कीं।......भारतेंदु के साहित्य में परंपरागत साहित्यिक धाराओं के साथ नए युग की राष्ट्रीय और जनवादी संस्कृति की धाराएँ भी आ मिलीं। भारतेंदु युग में भारतेंदु, बालकृष्ण भट्ट, प्रताप नारायण मिश्र, बदरी नारायण चौधरी प्रेमघन, राधाचरण गोस्वामी जैसे रचनाकारों ने जो पत्रकारिता की है वह गर्व और गौरव का विषय है। निबंध और नाटक का वैचारिक स्तर धूप सा खुला हुआ है, साथ ही 'बालकृष्ण भट्ट, राधाकृष्णदास आदि की रचनाएँ पढ़ने से मालूम हो जाता है कि प्रेमचंद की सुधारात्मक यथार्थवादी परंपरा का हिंदी के उपन्यास साहित्य में पहले ही बीजारोपण हो चुका था। उसी परंपरा का 'सेवासदन' और 'रंगभूमि' में विकास हुआ।' इस युग की मूल बात यह है कि अनेक सुधारात्मक, सांस्कृतिक-राजनीतिक धाराओं का कोलाहल इस साहित्य में एक-साथ सुनाई देता है। डॉ. शर्मा ने भारतेंदु-युग पर अविस्मरणीय ऐतिहासिक काम किया है।

28.12 महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण

हिंदी साहित्य के द्विवेदी युग पर डॉ. रामविलास शर्मा ने अद्‌भुत कार्य किया है, कहना चाहिए अविस्मरणीय आलोचनात्मक कार्य। इस युग पर कार्य करते हुए आरंभ में ही कहा - 'साहित्य में जो रीतिवाद-विरोधी क्रांति हुई, उसका पहला चरण है - द्विवेदी युग।' (महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण, पृ. 227) वे इस युग को साहित्य के 'ज्ञान कांड' का नाम देते हैं। इस युग के सभी

रचनाकारों ने अंग्रेज़ी राज की नाशकारी भूमिका और व्यापारिक लूट पर लिखा। यहाँ दादाभाई नौरोजी और तिलक की विचारधारा प्रेरणा बनी है। आ.द्विवेदी ने 'सम्पत्तिशास्त्र' पुस्तक लिखकर अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद के लूटतंत्र की पोल खोल दी। 'जिधर आप देखेंगे उधर ही आँख को दरिद्र-देवता का अभिनय किसी न किसी रूप में अवश्य ही देख पड़ेगा।' क्यों? अंग्रेज़ों ने ज़मीन पर अपना दखल कर लिया। 'हिंदुस्तान की ज़मीन की मालिक रियाया नहीं अंग्रेज़ी गवर्नमेंट है। वही रियाया से लगान वसूल करती है।' अतः अंग्रेज़ों के शोषण का मुख्य स्रोत किसान थे। इस व्यवस्था ने महाजनी सूदखोरी को बढ़ावा दिया। अब सबसे बड़ा ज़मींदार अंग्रेज़, फिर देशी ज़मींदार और उनके नीचे दबा दरिद्र किसान। अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद और देशी सामंतवाद के गठबंधन ने उद्योग-धंधों को चौपट कर दिया और भारत को खेतिहर देश बनाया - कच्चा माल उगाने वाला देश जिसके बल पर इंगलैंड में औद्योगिक क्रांति हो रही थी। भारत के बाज़ार विदेशी माल से पट गए। भारत का व्यापार चौपट हो गया। अंग्रेज़ व्यापारियों ने अठारहवीं शताब्दी में जहाँ-जहाँ अपना प्रभुत्व कायम किया वहाँ-वहाँ विश्व बाज़ार कायम किया ताकि विश्व साम्राज्यवादी व्यवस्था दृढ़ रहे।

विश्व इतिहास में यह वह समय है जब एशिया में नवजागरण हो रहा था। द्विवेदी जी 'सरस्वती' में सिद्धेश्वर शर्मा का लेख 'जापानी साहित्य' छाप रहे थे और कह रहे थे - जापान अंग्रेज़ों की सहायता के बिना प्रगति कर रहा है, भारत प्रगति क्यों नहीं कर सकता? शिल्प, वाणिज्य, व्यापार, विज्ञान और युद्ध विद्याओं में एशिया का एक खंड जापान सबसे आगे है। (वही, पृ. 48) रूस-जापान युद्ध में जापान की जीत हुई।'सरस्वती' (1905) में लेख छापा - 'जापान की जीत'। भारत को जापान से सीखना चाहिए, यहाँ से अंग्रेज़ों को खदेड़ना चाहिए। 1914 में प्रथम विश्व-युद्ध 'साम्राज्यवाद और युद्ध' ने साम्राज्यवाद के हिंसक चेहरे से भारत को परिचित कराया। गणेश शंकर विद्यार्थी ने 'सरस्वती', 'प्रताप', 'प्रभा' में बहुत लेख लिखे, जनता के लिए। फिर विश्व साम्राज्यवाद का घेरा तोड़ा रूस के किसानों-मज़दूरों ने। विकल्प सामने था - साम्राज्यवादी गुलामी या स्वाधीन जनता का शासन। बोलशेविक लोग जनता के आदर्श बने। माधवराव सप्रे, माखनलाल चतुर्वेदी ने 'कर्मवीर' में लेख लिखे। श्रीधर पाठक, हरिऔध, मैथिलीशरण गुप्त, सुभद्रा कुमारी चौहान, रामनरेश त्रिपाठी, माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा नवीन जैसे कवियों का काव्य-जागरण शुरू हुआ। अब खड़ी बोली गद्य-पद्य, दोनों क्षेत्रों में स्वाधीनता-संग्राम की भाषा बन गई और नवीन जी की काव्य-पंक्ति इस पूरे युग का जागरण स्वर बनी - 'कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ / जिससे उथल-पुथल मच जाए।' 'एक भारतीय आत्मा' की कविता 'कैदी और कोकिल' का क्रांति स्वर प्रबल हो उठा। भारतीय इतिहास का बौद्धिकों-राजनीतिज्ञों-कवियों ने रवीन्द्रनाथ का साथ देकर पुनर्लेखन किया और इतिहास-पुराण से प्रेरणा पाई। रामकृष्ण-प्रेरणादीप बन गए। पूरा का पूरा द्विवेदी युग स्वाधीनता नवजागरण की जवानी का सृजन युग बन गया। इस युग की महत्व-महिमा को व्यापक स्तर पर आलोचना क्षेत्र में प्रतिष्ठित किया - डॉ.रामविलास शर्मा ने। अतः शर्मा जी भी आ.शुक्ल की तरह देशभक्त आलोचक हैं।

28.13 प्रेमचंद और उनका युग : समाज और राजनीति की गहरी पकड़

हिंदी साहित्य की 'सभ्यता-समीक्षा' में आलोचकों की सूझ-बूझ के मानदंड रहे हैं - प्रेमचंद। प्रेमचंद का मूल्यांकन आलोचक के नज़रिए को सामने लाता है। डॉ.शर्मा ने स्वयं कहा है - 'प्रेमचंद के साहित्य की परख समालोचक की राजनीतिक सूझ-बूझ और उसके वैज्ञानिक दृष्टिकोण की परख है।' (प्रेमचंद और उनका युग, पृ. 35) 'प्रेमचंद का महत्व दिन पर दिन निखरेगा और उसको उतना ही ज्यादा समझेंगे जितनी ज्यादा गहराई हिंदुस्तान के स्वाधीनता आंदोलन में आएगी और उस आंदोलन से आलोचक का संबंध दृढ़ होगा।' यह कथन डॉ. शर्मा के मूल्यांकन की प्रतिज्ञा है। अपनी पहली पुस्तक 'प्रेमचंद' (1941) में शर्मा जी ने कहा है कि उन्होंने प्रेमचंद का विश्लेषण 'मार्क्सवादी ढंग' से करने की कोशिश की है। फिर 'प्रेमचंद और उनका युग' (1952) में नया मार्ग चुना - यहाँ कृतियों का अलग-अलग विश्लेषण किया, वर्गों का नहीं। इस राह से गुज़रने पर उन्होंने पाया कि प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों में समकालीन राजनीति और भारतीय समाज का गहरा विश्लेषण किया है।

प्रेमचंद कथाकार ही नहीं थे, पत्रकार थे और पत्रकार भी जुझारू। 'हंस' के लेख महाजनी सभ्यता की राजनीति का कच्चा चिट्ठा खोल देते हैं और हिंदू-उर्दू को एक मानने का अभियान चलाते हैं। हर कीमत पर अंग्रेज़ी भाषा और साम्राज्यवाद का विरोध करते हैं तथा सामंतवाद की निर्मम आलोचना। 'प्रेमचंद साहित्य में किसानों की सीधी टक्कर अंग्रेज़ी राज से कम होती है।उनकी सीधी टक्कर होती है - महाजनों, सूदखोरों, जमींदारों और पंडे-पुरोहितों से। अंग्रेज़ी राज इनके सहायक रूप में सामने आता है।' (प्रेमचंद और उनका युग, पृ. 70)

28.14 निराला की साहित्य-साधना

हिंदी आलोचना में सर्वाधिक विवाद 'छायावाद', 'स्वच्छंदतावाद' को लेकर हुआ है। छायावाद से संबंधित सभी विवादों को दरकिनार करते हुए उन्होंने लिखा - 'जैसे शेक्सपियर और मिल्टन के बाद शेली, कीट्स और बायरन का युग सबसे रचनात्मक, सबसे प्रगतिशील युग है वैसे ही तुलसीदास और सूरदास के युग के बाद प्रसाद, निराला, पंत का युग सबसे रचनात्मक, सबसे प्रगतिशील युग है।' (निराला की साहित्य साधना - भाग 2, पृ. 549) वे छायावाद को न तो 'स्वच्छंदतावाद' का पर्याय मानते हैं, न गांधीवाद की काव्यात्मक अभिव्यक्ति। उनकी दृष्टि में छायावाद स्वाधीनता संग्राम की मुक्ति चेतना से प्रभावित काव्य है।

जैसे आ.शुक्ल के प्रिय कवि हैं - तुलसीदास, वैसे ही डॉ.रामविलास शर्मा के प्रिय कवि का नाम है - सूर्यकांत त्रिपाठी निराला। उन्होंने अपनी आत्मकथा 'अपनी धरती अपने लोग' में लिखा है - 'मेरे मन में साहित्य और निराला, अभिन्न रूप से जुड़े हुए हैं।' (अपने धरती अपने लोग, देर-सबेर भाग 2, पृ. 175) अवध के निराला अवध के रामविलास, दोनों राम-कथा और तुलसीदास के भक्त। डॉ. शर्मा ने लिखा - 'मैं मानता हूँ कि वह तुलसीदास के बाद हिंदी के सबसे बड़े कवि हैं।' (भाषा, युगबोध और कवित्ता, पृ. 150) 'अन्य कवियों की तुलना में मुझे निराला वैसे ही लगे - जैसे विंध्याचल की तुलना में हिमालय। तब से मेरी उस धारणा में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं हुआ है।' (रूपतंरग, भूमिका) जहाँ तक स्वाधीनता संग्राम की चेतना का संबंध है, निराला जी प्रेमचंद के भाई तथा महावीर प्रसाद द्विवेदी के शिष्य दिखाई देते हैं। सन् 1930 के दशक में 'विशाल भारत' के सम्पादक बनारसीदास चतुर्वेदी ने निराला-विरोध का अभियान चलाया। इस अभियान की फूहड़ता को देखकर शर्मा जी ने आलोचना-क्षेत्र में हनुमान-कूद ली और लिखा - 'निराला को लेकर हिंदी में कितना संघर्ष हो चुका है, तब मुझे इसका पता न था। सन 1934 में यह संघर्ष ही मुझे आलोचना के क्षेत्र में घसीट लाया और मेरा पहला आलोचनात्मक निबंध निराला की काव्य-प्रतिभा के समर्थन में प्रकाशित हुआ। संभव है, यह संघर्ष न होता, मेरे प्रिय कवि पर द्वेषपूर्ण आरोपों की वर्षा न की गई होती तो मैं आलोचना के क्षेत्र में आता ही नहीं।' (रूपतंरग, भूमिका) उनकी इस आस्था का परिणाम यह हुआ कि उन्होंने आलोचना तो आलोचना - निराला की ऐसी जीवनी लिखी - (निराला की साहित्य साधना, भाग-1) कि इस जीवनी की टक्कर की हिंदी में कोई दूसरी जीवनी नहीं है - अपनी सर्जनात्मकता में बेजोड़, कवि-हृदय संवाद का अद्भुत मॉडल।

'छायावाद' के आरंभ के दिनों में पंत जी को निराला जी से बड़ा कवि माना जाता था। लेकिन जैसे-जैसे समय बीतता गया, पंत जी पिछड़ते गए और निराला जी 'युगकवि अपराजेय निराला' के रूप में उभरते गए। डॉ.शर्मा ने 'निराला की साहित्य साधना' (भाग-2) में निराला की विचारधारा तथा कला का गहन-गंभीर विश्लेषण-मूल्यांकन प्रस्तुत किया। निराला की वक्तृत्व कला, स्थापत्य, बिंब-विधान, ध्वनि-सौंदर्य, शब्दावली, अलंकरण, छंद योजना और लोक-संगीत काव्य-कला के विश्लेषण का एक मॉडल हिंदी आलोचना को दिया। उन्होंने हिंदी समीक्षा को रीतिवाद और कलावाद की जड़ता से बाहर निकाल कर उसे यथार्थवादी-प्रगतिशील भूमि दी।

'निराला की साहित्य साधना' के भीतर से गुजरने पर पता चल जाता है कि शर्मा जी ने कालिदास, भवभूति, तुलसीदास, भारतेंदु, महावीर प्रसाद द्विवेदी की परंपरा को कितना आदर दिया है। साहित्यशास्त्र को समाजशास्त्र-अर्थशास्त्र से जोड़कर शर्मा जी ने महत्वपूर्ण रचनाकारों और रचनाओं का विवेचन मूल्यांकन किया। निराला जी और महावीर प्रसाद द्विवेदी की बहुत-सी समान विशेषताओं को दिखाने के बाद कहा - 'निराला, महावीर प्रसाद द्विवेदी के सच्चे शिष्य और उत्तराधिकारी थे।' (महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण, पृ.392) 'निराला की साहित्य-साधना' के भाव-बोध विश्लेषण में स्वाधीनता आंदोलन के विचारों की भरमार है। डॉ. शर्मा ने निराला काव्य का सूक्ष्म-गहन विश्लेषण करने के बाद संस्कृत, बंगला और हिंदी के श्रेष्ठ कवियों के साथ निराला काव्य के आंतरिक रिश्तों (परंपरा विस्तार) पर विचार किया है।

28.15 नयी कविता : क्रांतिकारी प्रगतिशील धारा की विरासत से विद्रोह

हिंदी आलोचना में डॉ.रामविलास शर्मा की सबसे विवादास्पद आलोचनात्मक पुस्तक है - 'नयी कविता और अस्तित्ववाद'। इस पुस्तक के दूसरे संस्करण की भूमिका में उन्होंने कहा :

1. नयी कविता का इतिहास प्रगतिशील कविता के इतिहास से जुड़ा हुआ है। इस तरह जुड़ा है कि कभी-कभी विद्वानों को दोनों में कोई फर्क ही नहीं दिखाई देता।

2. दूसरा महायुद्ध समाप्त होने पर अमरीका और ब्रिटेन ने विश्व पैमाने पर एक विराट कम्युनिस्ट विरोधी अभियान छेड़ दिया। इसमें भारत के अनेक कांग्रेसी और सोशलिस्ट नेता भी शामिल हुए। इस परिस्थिति में व्यक्ति की कुंठा और घुटन को मुख्य विषय मानकर, यथार्थवाद के विरोध में प्रयोगवादी कविता का प्रसार हुआ।

3. प्रयोगवाद का सहारा लेकर फिर खुद को उससे अलगाते हुए सन 53 के बाद जिस'नयी कविता' का प्रसार हुआ, उसके संगठनकर्ता लेखक कुछ सोशलिस्ट नेताओं से संबद्ध थे। साहित्य में ये कम्युनिस्ट विरोधी विचारधारा का प्रसार कर रहे थे; इस तरह की विचारधारा के मुख्य केंद्र अमरीका में थे। इनके प्रभाव से नयी कविता की धारा स्वाधीनता आंदोलन की विरासत को, और छायावाद के साथ प्रगतिशील कविता की उपलब्धियों को नकारते हुए आगे बढ़ी।

4. नयी कविता का आंदोलन प्रगतिशील साहित्य के विरोध में चलाया गया था, इसमें संदेह की गुंजाइश नहीं है। व्यक्ति मूल्य का नारा लगाकर इसने जनवादी आंदोलनों का विरोध किया।

5. केदारनाथ अग्रवाल और नागार्जुन को पीछे ठेलकर उनकी जगह मुक्तिबोध को प्रतिष्ठित करने का जो संगठित प्रयास सन 64 से आरंभ हुआ, उससे हिंदी की यथार्थवादी धारा को भारी क्षति पहुँची।

6. नयी कविता से अनेक प्रकार की कविता का बोध होता है।....नयी कविता, प्रयोगवाद से भिन्न होकर एक रूढ़ अर्थ में तब प्रयुक्त होने लगी जब 1954 में इलाहाबाद से 'नयी कविता' नामक संकलन प्रकाशित होने लगा। आरंभ में ये नयी कविता वाले, प्रयोगवाद से अपना संबंध जोड़ते थे। किंतु प्रयोगवाद पर अज्ञेय का एकाधिकार था, अज्ञेय से प्रयोगवाद के आचार्यों की खटक गई, तब नयी कविता की धारा प्रयोगवाद से हटकर अलग प्रवाहित होने लगी। यह नई धारा बहुत कुछ अस्तित्ववाद से प्रभावित थी।

नयी कविता को मार्क्सवाद के विरोध में मानने के कारण डॉ.शर्मा ने 'नयी कविता : 'तार सप्तक' से पहले', 'नयी कविता : 'तार सप्तक' और उसके बाद', 'नयी कविता : स्वाधीनता प्राप्ति के बाद', 'नयी कविता : छायावाद और स्वाधीनता आंदोलन', 'नयी कविता : क्रांतिकारी विरासत से विद्रोह', 'नयी कविता : नए प्रतिमानों की खोज', 'छायावादोत्तर नयी छायावादी कविता', 'अज्ञेय और नवरहस्यवाद', 'शमशेर बहादुर का आत्मसंघर्ष और उनकी कविता', 'अस्तित्ववाद और नयी कविता', 'मुक्तिबोध का आत्मसंघर्ष और उनकी कविता', 'नयी कविता के संदर्भ में नागार्जुन की काव्य-कला', 'नयी कविता और मुक्तिबोध का पुनर्मूल्यांकन' तथा 'कविता में यथार्थवाद और नयी कविता' जैसे लेख इस पुस्तक में रखे हैं।

डॉ.शर्मा नयी कविता के बीज निराला में मानते हैं और उनका विकास नागार्जुन और केदारनाथ अग्रवाल में। इस विकास को ग.मा.मुक्तिबोध और शमशेर ने अस्तित्ववादी रवैया अपनाकर ध्वस्त किया। इसलिए वे मुक्तिबोध से बहुत क्षुब्ध हैं और सबसे ज्यादा क्षुब्ध हैं डॉ.नामवर सिंह और उनके समर्थक आलोचकों से जो विजयदेवनारायण साही, लक्ष्मीकांत वर्मा, सर्वेश्वर, श्रीकांत वर्मा आदि का साथ देते रहे। वे व्यंग्य भाव के साथ 'कविता के नए प्रतिमान' पुस्तक को 'हिंदी आलोचना में बाजरे की कलँगी' कहते हैं। (पृ.66)

डॉ.शर्मा का विचार है कि नयी कविता के सभी प्रमुख कवि और आलोचक पश्चिम के निराशावादी-पराजयवादी दर्शन (जिसे कामू, यास्पर्स, हाइडेगर और सार्त्र ने प्रचारित किया) के साथ रहे हैं। नतीजा यह हुआ कि ये सभी स्वाधीनता आंदोलन की विरासत से वंचित हो गए हैं और साहित्य में कम्युनिस्ट विरोधी आंदोलन चला रहे हैं। डॉ.शर्मा के इस तरह के विचारों को हिंदी आलोचना, विशेषकर मार्क्सवादी आलोचना में समर्थन प्राप्त नहीं हो रहा है।

28.16 गांधी-अम्बेडकर-लोहिया और भारतीय इतिहास की समस्याएँ

डॉ.शर्मा अपने आलोचना-कर्म के लंबे दौर में कम्युनिस्ट विचारधारा और मार्क्स, प्रगतिशील लेखक संघ, भारतीय स्वाधीनता आंदोलन, मार्क्सवाद और भारतीय समाज पर जमकर विचार करते रहे। उन्होंने गांधी विचार-दर्शन का विरोध किया और तिलक की विचारधारा का समर्थन। लेकिन भारतीय नवजागरण, भारतीय साहित्य की भूमिका पर ध्यान बार-बार जाने पर उन्होंने गांधी, अंबेडकर और लोहिया पर विचार किया। इधर गांधी को लेकर उनके विचारों में भारी परिवर्तन हुआ। वे गांधी को प्रतिगामी न मानकर 'प्रगतिशील' मानने लगे। भारतीय इतिहास की समस्याओं को ठीक-ठीक समझने के लिए वे इन तीनों आधुनिक भारतीय विचारकों के विचारों का अध्ययन प्रासंगिक मानते हैं। भारतीय समाज व्यवस्था में'जाति प्रथा के बहुत से रूप इन तीनों के विचारों से खुलते हैं।' (गांधी-अम्बेडकर-लोहिया और भारतीय इतिहास की समस्याएँ, पृ.29)

'गांधी, अम्बेडकर, लोहिया, ये तीनों वर्तमान भारत के राजनीतिक और सांस्कृतिक आंदोलनों के लिए प्रासंगिक हैं। तीनों भारतीय इतिहास के बारे में सोचते हैं, जाति प्रथा से टकराते हैं,साम्राज्यवाद के प्रति अपना विशेष दृष्टिकोण अपनाते हैं और समाज को बदलना चाहते हैं। जो लोग वर्तमान समाज व्यवस्था से असंतुष्ट हैं, उसमें परिवर्तन चाहते हैं, उन्हें इन तीनों का एक-साथ अध्ययन करना चाहिए।' इस विचार पर फिर टिप्पणी करते हैं - 'गांधी, अंबेडकर, लोहिया - तीनों प्रासंगिक हैं पर इनकी प्रासंगिकता एक-सी नहीं है। किसी समय गांधी जी का बहुत ही व्यापक प्रभाव था। आज तो ऐसा लगता है कि वे अप्रासंगिक बन गए हैं।....फिर भी जो लोग देश को आर्थिक रूप से आत्म-निर्भर बनाना चाहते हैं उन्हें विदेशी पूँजी के बारे में गांधी जी के विचारों का गहराई से अध्ययन करना चाहिए। 'दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास' उनकी श्रेष्ठ कृति है।' मूल विचार यह कि गांधी जी भारतीय सांस्कृतिक-सामाजिक विचारधाराओं के गहरे जानकार थे और साम्राज्यवाद, सम्प्रदायवाद, जाति प्रथा, पूँजीवाद के विरोधी। मार्क्स के विचारों का समर्थन न करने पर भी मज़दूर, किसान तथा साम्राज्यवाद जैसे विचारों में काफी नज़दीक थे। टालस्टॉय-रस्किन के विचारों से प्रभावित गांधी जी में जातीय अस्तित्व और राष्ट्रीय सम्मान का प्रबल भाव था। अंबेडकर अपने समय के सबसे सुपठित व्यक्ति थे। लेकिन गांधी की तुलना में उनका इतिहास-बोध कमज़ोर था। उन्होंने जाति-प्रथा पर विचार किया और जाति-प्रथा के आधार पर दलितों को संगठित करने का प्रयत्न किया। 'एक बड़े विचारक में जैसे अंतर्विरोध हो सकते हैं वैसे अंतर्विरोध अंबेडकर में भी थे।' जाति-प्रथा पर लोहिया ने बहुत लिखा है किंतु उनके विचार गांधी-अंबेडकर से दूर थे। लोहिया जी ने छोटी जातियों पर ध्यान केंद्रित किया। डॉ शर्मा कहते हैं - 'मंडल कमीशन ने आगे चलकर जो काम किया, वह लोहिया के सिद्धांत के अनुरूप था।' आज़ादी के बाद, भारत में जितना प्रभाव लोहिया विचार-दर्शन का रहा, उतना गांधी-अंबेडकर दर्शन का नहीं। लोहिया के साथ जयप्रकाश नारायण और नरेन्द्रदेव जैसे धाकड़ व्यक्तित्व थे। लोहिया का असर कम्युनिस्टों पर हुआ। फिर हिंदी का महत्व पहचानने में कम्युनिस्ट लोग गांधी-लोहिया से पीछे रहे। लोहिया जी हमेशा सोवियत संघ का विरोध करते रहे। मार्क्सवाद का विरोध करते रहे। नतीजा यह हुआ कि 'धर्म और संस्कृति पर उनके विचार उन्हें हिंदू सम्प्रदाय के पास ले आते हैं।'

डॉ.शर्मा ने गांधी, अंबेडकर, लोहिया पर जो विचार किया है उसके पीछे भी सक्रिय है - उनकी मार्क्सवादी मानसिकता। मार्क्सवाद के मानदंडों से ही वे इन तीनों पर विचार करते हैं। इसलिए बहुत से विद्वानों ने इन विचारों पर 'सम्प्रदायवादी मार्क्सवाद' का आरोप लगाया है।

28.17 मूल्यांकनपरक निष्कर्ष

डॉ.रामविलास शर्मा के आलोचना-कर्म पर विचार करते हुए निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त किए जा सकते हैं :

1. डॉ.रामविलास शर्मा का आलोचना-कर्म हिंदी साहित्य ही नहीं, बल्कि समग्र भारतीय साहित्य की परंपरा की दिशा में किया गया एक महत्वपूर्ण प्रयत्न है। उन्होंने संस्कृत साहित्य से लेकर हमारे राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन के दौर की समूची परंपरा का अत्यंत विस्तार के साथ वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन किया है। परंपरा के मूल्यांकन में उनके द्वारा अपनाए गए मार्क्सवादी और गैर-मार्क्सवादी मानदंडों से हिंदी आलोचना का चिंतन पाट चौड़ा और व्यापक रूप में सामने आया है।

2. उन्होंने हिंदी आलोचना में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की विरासत को आगे बढ़ाने के लिए कठिन संघर्ष किया है। मूलतः वे आ.शुक्ल के ही हिंदी आलोचना में संशोधित-संपादित-परिष्कृत नव्य संस्करण हैं।

3. उनके चिंतन के दो मौलिक प्रदेय बहुत महत्वपूर्ण हैं - (1) हिंदी जाति की अवधारणा और हिंदी प्रदेश की संस्कृति; तथा (2) हिंदी में नवजागरण की अवधारणा और स्वरूप तथा भारत-एशिया-विश्व जागरण का संदर्भ।

4. वाल्मीकि, व्यास, भवभूति, कालिदास, तुलसीदास, भारतेंदु महावीर प्रसाद द्विवेदी, रामचन्द्र शुक्ल, प्रेमचंद, निराला, केदारनाथ अग्रवाल की प्रगतिशील परंपरा के वे हिमायती थे। उनका मत है कि आलोचना में रामचन्द्र शुक्ल, कथा साहित्य में प्रेमचंद, कविता के क्षेत्र में निराला आधुनिक हिंदी साहित्य में सबसे बड़े नाम हैं।

5. वे हिंदी आलोचना में व्याप्त रीतिवादी-सामंतवादी-पूँजीवादी-साम्राज्यवादी-व्यक्तिवादी मूल्यों का विरोध करते हैं और आर्थिक से ज्यादा सामाजिक परिप्रेक्ष्य में साहित्य को परखने की वकालत करते हैं। साहित्य के लोकजागरणवादी मूल्यों में उनकी गहन आस्था है।

6. वे सम्प्रदायवादी मार्क्सवाद से मुक्त होकर आलोचना-दृष्टि में मार्क्सवाद का उपयोग तो करते हैं परंतु उसकी गुलामी नहीं करते। यही कारण है कि हिंदी के ज्यादातर मार्क्सवादी उनसे नाराज़ होने पर उन्हें 'पुनरुत्थानवादी आलोचक' कहते हैं और उनके विचारों पर आपत्ति उठाते हैं।

7. उन्होंने 'हिंदी साहित्य का इतिहास' नाम से कोई पुस्तक नहीं लिखी है। लेकिन अपनी महत्वपूर्ण कृतियों के माध्यम से हमारी जातीय परंपरा का जो मूल्यांकन उन्होंने किया है वह हिंदी साहित्य का इतिहास लिखने वालों के लिए भारी खजाना और दिशा-दृष्टि देने वाला है।

8. हिंदी भाषा की विकास-परंपरा पर किया गया उनका चिंतन हिंदी की जातीय अस्मिता को समझने में बहुत बड़ी भूमिका अदा करता है।

9. डॉ.शर्मा एक ऐसे प्रगतिशील विचारक और प्रखर आलोचक हैं जिन्होंने हिंदी आलोचना को कलावाद-रूपवाद से मुक्त करने के लिए एक लंबी लड़ाई लड़ी है। मार्क्सवाद के यथार्थवादी चिंतन को दृढ़ आधार देने के लिए उन्होंने हिंदी आलोचना में ऐतिहासिक कार्य किया है।

10. उन्होंने हिंदी साहित्यशास्त्र को समाजशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र तथा इतिहास से जोड़कर एक नई कसौटी का निर्माण किया है जिसे ग.मा.मुक्तिबोध 'सभ्यता-समीक्षा' नाम देते थे।

11. हिंदी साहित्य की महत्वपूर्ण रचनाओं और रचनाकारों के मूल्यांकन के लिए उन्होंने 'परशुराम तेज' धारण किया है। वे पहली महान परंपरा का समर्थन करते हैं और जिसे 'दूसरी परंप्रा की खोज' कहा गया है उसका कड़ा विरोध।

12. वे मानते हैं कि हिंदी की लोकजागरणवादी-प्रगतिशील परंपरा को नयी कविता काल में हिंदी के मार्क्सवादी आलोचकों ने गलत दिशा देकर पथ-भ्रष्ट कर दिया है।

13. हिंदी आलोचना में डॉ.रामविलास शर्मा का आलोचना-कर्म प्रगतिवादी विचारधारा के एक प्रमुख प्रवक्ता के रूप मे आरंभ होता है! पर क्रमशः उनके लेखन में वाद का आग्रह हल्का होता जाता है और विवेचन प्रधान।

14. वे किसी रचनाकार के विचार की जितनी अच्छी व्याख्या-मूल्यांकन कर सकते हैं उतनी उसकी संवेदना या रचनात्मकता की नहीं। इसी प्रवृत्ति का परिणाम यह हुआ है कि ध्वंसात्मक आलोचना उन्हें उतनी ही प्रिय है जितनी अपने मत की स्थापना।

15. भारतेंदु महावीर प्रसाद द्विवेदी, प्रेमचंद और निराला को हिंदी आलोचना के केंद्र में स्थापित करने का श्रेय उन्हें वैसे ही प्राप्त है जैसे जायसी और तुलसीदास का रामचन्द्र शुक्ल और हजारी प्रसाद द्विवेदी को 'कबीर' के लिए प्राप्त है।

16. भारतेंदु, महावीर प्रसाद द्विवेदी, रामचन्द्र शुक्ल, प्रेमचंद, निराला के माध्यम से डॉ.रामविलास शर्मा ने हिंदी नवजागरण का स्वच्छ नक्शा तैयार किया है।

17. अनेक प्रकार के विवादों के बावजूद डॉ.रामविलास शर्मा को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के बाद की हिंदी आलोचना का सबसे बड़ा आलोचक कहा जा सकता है।

28.18 कुछ उपयोगी पुस्तकें

डॉ.रामविलास शर्मा - **आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिंदी आलोचना**, राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, दिल्ली, सं. 1973.

डॉ.रामविलास शर्मा - **परंपरा का मूल्यांकन**, राजकमल प्रकाशन, दरियागज, दिल्ली.

डॉ.रामविलास शर्मा - **भारतीय संस्कृति और हिंदी प्रदेश, (खंड 1-2)** किताबघर, दरियागंज, दिल्ली.

डॉ.रामविलास शर्मा - **अपनी धरती अपने लोग, (भाग 1, 2 और 3)** किताबघर, दरियागंज, दिल्ली.

डॉ.रामविलास शर्मा - **गांधी, अम्बेडकर, लोहिया और इतिहास की समस्याएँ**, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, दिल्ली.

डॉ.रामविलास शर्मा - **महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण**, राजकमल प्रकाशन, दरियागंज दिल्ली

डॉ.रामविलास शर्मा - **निराला की साहित्य साधना (भाग 1, 2 और 3)**, राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, दिल्ली.

डॉ.रामविलास शर्मा - **हिंदी जाति का इतिहास**, राजपाल एंड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली.

डॉ.रामविलास शर्मा - **भारतेंदु युग और हिंदी भाषा की विकास परंपरा**, राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, दिल्ली.

डॉ.रामविलास शर्मा - **भारतीय नवजागरण और यूरोप**, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली.

डॉ.निर्मला जैन - **हिंदी आलोचना : बीसवीं शताब्दी**, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली.

डॉ.रामस्वरूप चतुर्वेदी - **हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास**, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद.

डॉ. नामवर सिंह (संपादक), 'आलोचना' पत्रिका का डॉ.रामविलास शर्मा अंक, 1986.

डॉ. कृष्णदत्त पालीवाल - **हिंदी आलोचना : वैचारिक आधार**, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, दिल्ली.

28.19 अभ्यास के लिए प्रश्न

1. 'डॉ.रामविलास शर्मा ने मार्क्सवाद की विचारधारा का नए ढंग से हिंदी आलोचना में उपयोग किया है।' -- इस कथन की सार्थकता पर विचार कीजिए।
2. डॉ.रामविलास शर्मा ने हिंदी में नवजागरण की अवधारण पर जो विचार किया है उसका मूल्याकन कीजिए।
3. हिंदी आलोचना में डॉ.रामविलास शर्मा के योगदान का मूल्यांकन कीजिए।
4. टिप्पणी लिखिए :
   (क) परंपरा का मूल्यांकन
   (ख) रीतिकाल और रीतिवाद
   (ग) भक्ति आंदोलन और भक्ति काव्य का आधार : लोक-संस्कृति
   (घ) भारतेंदु युग : नवजागरण की साम्राज्य विरोधी चेतना।
   (ङ) हिंदी जाति की अवधारणा

इकाई 29 साहित्य की विधाएँ

इकाई की रूपरेखा

29.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- बता सकेंगे कि साहित्य विधाओं से क्या तात्पर्य है;
- पश्चिमी तथा भारतीय साहित्य की विधाओं की चर्चा कर सकेंगे; और
- विभिन्न विधाओं के स्वरूप पर प्रकाश डाल सकेंगे।

29.1 प्रस्तावना

यह 'साहित्य सिद्धांत और समालोचना' पाठ्यक्रम की अंतिम इकाई है। इसमें आप काव्य-रूप अर्थात् साहित्य-विधाओं के विषय में पढ़ेंगे। काव्य-रूप का महत्व समझना इसलिए आवश्यक है कि यही वह माध्यम है जिससे रचनाकार की संवेदना अभिव्यक्ति पाती है। काव्य-रूप के चयन में रचनाकार की मानसिकता एवं युग-परिवेश दोनों की भूमिका होती है। रचनाकार की सृजन क्षमता और उसके समय तथा समाज के प्रभाव-दबाव मिलकर समय-समय पर साहित्य की विधाओं से नवोन्मेष करते रहे हैं तथा साहित्य चिंतक इन विधाओं के लक्षण निर्धारित करते रहे हैं।

29.2 साहित्य-विधा से तात्पर्य

साहित्य-विधा अथवा काव्य-विधा के लिए हिंदी में विविध शब्दों का प्रचलन है - काव्य-रूप, काव्य-कोटि, रचना-रूप, रचना-विधा, रूप-विधा आदि। अंग्रेज़ी शब्द 'फॉर्म' (Form) के हिंदी पर्याय के रूप में

प्रयुक्त ये सभी शब्द सामान्य रूप में एक ही अर्थ के व्यंजक हैं तथा 'रूप' शब्द वस्तु के किसी निश्चित बाह्य रूपाकार का अर्थ-संकेत। रचना या कलाकृति का काव्य-रूप वह विशिष्ट आकार है जिसमें रचनाकार एक विशिष्ट प्रणाली का अनुसरण करता हुआ संवेदनाओं को मूर्त रूप प्रदान करता है। इस स्थिति के कारण स्पष्ट है कि कृति के काव्य-रूप का संबंध काव्य-सर्जना की बाह्य-प्रक्रिया से है। आज काव्य-विधा या काव्य-रूप शब्द अभिव्यंजना-शिल्प के विभिन्न उपकरणों से पृथक कृति या काव्य के समग्र बाह्य रूपाकार के अर्थ में रूढ़ हो गया है।

दरअसल, काव्य-रूप विषय को मूर्त आकार प्रदान करने का माध्यम है - एक ऐसा माध्यम जिसमें काव्य-रूप का विषय के अनुरूप होना अनिवार्य है। विषय का विशिष्ट स्वरूप ही अपनी अभिव्यक्ति के लिए अपने उपयुक्त एक विशेष रूपाकार ग्रहण कर लेता है। विषय के विशिष्ट रूपाकार में ढलने की प्रक्रिया में कवि-व्यक्तित्व, कवि-स्वभाव तथा परिवेश भी कृति में प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में स्थान बना ही लेता है। युग की अव्यवस्था और विश्रृंखलता कृति के काव्य-रूपों में भी अस्थिरता और अव्यवस्था पैदा करती है; जाहिर है कि काव्य-विधा या काव्य-रूप किसी एक तत्व की सृष्टि न होकर अनेक तत्वों की संश्लिष्ट सृष्टि होता है। 'रामचरितमानस' और 'साकेत' दोनों महाकाव्य हैं, लेकिन युग-परिवेश की चेतना के कारण दोनों में व्यापक अंतर दिखाई देता है। यह ठीक है कि 'काव्य-रूप' या 'काव्य-विधा' में युग चेतना के अनुरूप सूक्ष्म अंतर आ जाता है - 'काव्य-रूप' रचना-प्रणाली और काव्य-विधा, रचना के भेद का अर्थ ग्रहण कर लेती है। लेकिन अपने अंतिम रूप में दोनों एक ही अर्थ का बोध कराते हैं। उपर्युक्त विवेचन का सार-संक्षेप यह है कि -

1. काव्य-विधा या काव्य-रूप से अभिप्राय काव्य की विशिष्ट रचना-प्रणाली या विशिष्ट रूपरेखा अथवा बाह्य रूपाकार से है।
2. काव्य-विधा के माध्यम से रचनाकार विषय के अनुरूप विशिष्ट रचना-पद्धति का अनुसरण करता है।
3. काव्य-विधा समग्र अभिव्यंजना शिल्प का पर्याय नहीं है। काव्य-विधा तो कृति के विभिन्न अंगों को संश्लिष्ट कर एक विशिष्ट रूपाकार प्रदान करने का कार्य करती है।
4. विषय के अनुरूप प्रत्येक रचना का एक निजी रूप होता है।
5. काव्य-विधा अपने मूलार्थ में काव्य-भेद का संकेत देती है।

29.3 साहित्यिक विधाओं के वर्गीकरण के आधार

भाव-वस्तु तथा अभिव्यंजना के आधार पर कवियों ने काव्य के नाना रूपों का आविष्कार किया है और काव्य के उन नवीन रूपों को काव्यशास्त्रियों ने नियमबद्ध कर संवारा है।

29.3.1 संस्कृत काव्यशास्त्र में निरूपित काव्य-भेद

संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्य के दो भेद किए गए हैं। जो काव्य अभिनीत होकर देखा जाए वह **दृश्य-काव्य** है, जो कानों द्वारा सुना जाए वह **श्रव्य-काव्य**। दृश्य-काव्य में कवि परमात्मा की भाँति अपनी सृष्टि में अनुमेय रहता है, वह प्रत्यक्ष नहीं होता। श्रव्य-काव्य में कवि और श्रोता का सीधा संबंध रहता है। श्रव्य-काव्य में शब्द ही मानसिक चित्र उपस्थित करते हैं इसीलिए उसमें ग्राहक-कल्पना का अधिक काम पड़ता है। श्रव्य-काव्य में वर्णन और प्राक्कथन (narration) का प्राधान्य रहता है, दृश्य में कथोपकथन और क्रियाकलाप का। श्रव्य-काव्य में भी कथोपकथन रहता है, किंतु अपेक्षाकृत कम।

भारतीय काव्यशास्त्र में रचना-बंध को दृष्टि में रखते हुए काव्य-विधाओं के भेदों का वर्गीकरण किया गया है। प्रायः काव्य-भेदों के निरूपण में बहिरंग उपादानों को ही आधार बनाया गया। (1) शैली का आधार लेकर गद्य, पद्य, चम्पू; (2) काव्य-रूपों का आधार लेकर - प्रबंध, मुक्तक, नाटक, कथा, आख्यायिका आदि; (3) भाषा का आधार लेकर संस्कृत प्राकृत, अपभ्रंश के रूप में काव्य का विभाजन किया गया। ध्वनि सिद्धांत या व्यंजना के आधार पर उत्तम, मध्यम, अधम जैसे भेद स्वीकृत किए गए। अलंकारवादी आचार्य भामह ने काव्य का वर्गीकरण इस प्रकार किया :

- **रचना शैली** की दृष्टि से दो भेद किए - (1) गद्य काव्य (2) पद्य काव्य।
- **भाषा** की दृष्टि से तीन भेद किए - (1) संस्कृत काव्य (2) प्राकृत काव्य (3) अपभ्रंश काव्य।

- **विषय-वस्तु** की दृष्टि से चार भेद किए - (1) वृत्तदेवादिचरितशंसी (2) उत्पाद्य-वस्तु (3) कलाश्रय (4) शास्त्राश्रय
- **रचना** की दृष्टि से पाँच भेद किए - (1) सर्गबद्ध (महाकाव्य) (2) अनिबद्ध (मुक्तक) (3) अभिनेयार्थ (रूपक) (4) आख्यायिका (गद्य भेद) (5) कथा (गद्य भेद)।

भामह के इस वर्गीकरण को दण्डी ने पद्य, गद्य, मिश्र - इन तीन भेदों में समेटने का प्रयत्न किया।

पद्य में छंद और संगीत का प्राधान्य है, यद्यपि इनके बिना केवल श्रव्य-सुखदा के आधार पर भी पद्य लिखा जाता है। पद्य में गद्य की अपेक्षा भाव का प्राधान्य रहता है। गद्य का संबंध बोलचाल की सामान्य भाषा से होता है। पद्य का संबंध पद में है इसलिए उसमें नृत्य की-सी गति रहती है।

वामन ने काव्य के दो भेद किए - (क) गद्य (ख) पद्य। तत्पश्चात इनके अवांतर भेदों की चर्चा की है। बंध के आधार पर दो भेद - (क) अनिबद्ध काव्य (मुक्तक) (ख) निबद्ध काव्य या प्रबंध काव्य (**अनिबद्धं मुक्तकं निबद्धं प्रबंध रूपमिति प्रसिद्धः।**) प्रबंध काव्य के पुनः स्थूल दो भेद किए गए - (1) महाकाव्य; व (2) खंड काव्य। इसके अतिरिक्त कुछ विद्वानों ने कभी-कभार 'एकार्थ काव्य' जैसे प्रबंध भेदों की चर्चा भी की है। मुक्तक के गेय (पाठ्य) अथवा प्रगीतात्मक रूप का स्पष्ट उल्लेख तथा उसके स्वरूप आदि का व्यवस्थित विवेचन भारतीय आचार्यों ने नहीं किया - यद्यपि भामह ने रीति-विवेचन प्रसंग में गेय-मुक्तक की चर्चा की है। वस्तुतः भारतीय आचार्यों की दृष्टि बहिर्मुख और वस्तुगत रही है। इसलिए उनका विवेचन अंतर्मुखी एवं व्यक्तिपरक नहीं हो पाया। इसका प्रधान कारण है कि भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा में काव्य के निर्वैयक्तिक रूप की स्वीकृति। इसके विपरीत पाश्चात्य काव्यशास्त्र और मनोविश्लेषणशास्त्र में कवि-मानस का विश्लेषण, काव्य-प्रेरणाओं पर विचार तथा कृति के काव्य-रूप का संकेत विचार के केंद्र में रहा।

आधुनिक काल में काव्य के इन्हीं दो भेदों को ग्रहण किया गया है यद्यपि नाम में परिवर्तन कर उन्हें **विषय-प्रधान** तथा **विषयि-प्रधान** कहा गया है। वस्तुतः पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार काव्य के मूलतः यही दो भेद हैं। विषय-प्रधान काव्य में कवि बहिर्जगत में अपने को लीन करके अपने बाहर रहने वाली वस्तु (विषय) में सौंदर्य का साक्षात्कार करता है, और दूसरों में वह अपनी ही सुख-दुःखात्मक अनुभूतियों को प्रकट करता है। चूँकि वह अपने को (विषयि) ही प्रकट करता है, इसीलिए ऐसे काव्य को विषयि-प्रधान काव्य कहा जाता है।

29.3.2 पाश्चात्य काव्यशास्त्र में निरूपित काव्य-भेद

पाश्चात्य आलोचकों ने काव्य के मूल में स्थित दो प्रेरणाओं पर व्यापक चर्चा की थी - (1) कवि आत्माभिव्यक्ति से प्रेरित काव्य-सर्जना में प्रवृत्त होता है (2) प्रतिभावान कवि केवल आत्माभिव्यक्ति से संतुष्ट नहीं होता - वह जीवन जगत का व्यापक स्तर पर चित्रण करता है। आत्माभिव्यक्ति प्रधान कविता प्रायः गेय-प्रगीत रूप में ढलती है और जीवन-जगत के व्यापक संघर्षों से निकली कविता में भावावेग न होकर वस्तुपरक चिंतन होता है। बाह्य जगत का चित्रण करने वाले कवि का दृष्टिकोण वैयक्तिक न होकर निर्वैयक्तिक होता है। पाश्चात्य काव्यशास्त्र में मनोविश्लेषणशास्त्रियों ने काव्य की इन दो मूल प्रेरणाओं के आधार पर काव्य को दो वर्गों में विभक्त किया -

1. व्यक्ति-प्रधान काव्य या विषयि-प्रधानं काव्य (Subjective Poetry)
2. विषय-प्रधान काव्य या समाख्यान काव्य (Objective or Narrative Poetry)

जब व्यक्ति अंतर्मुखी होकर अपनी अनुभूतियों को रचना-रूप देता है तब व्यक्ति प्रधान काव्य की सृष्टि होती है। व्यक्ति प्रधान काव्य का भाव-स्फुटन प्रायः प्रगीत के रूप में होता है। अतः प्रगीत-काव्य के समस्त भेद-प्रभेद इस विधा के अंतर्गत आ जाते हैं। जब कवि की दृष्टि बहिर्मुखी होती है तो वह जीवन-जगत के कार्य-व्यापारों का व्यापक स्तर पर विविधता के साथ चित्रण करता है। ज़ाहिर है कि इस प्रकार की कविता में कवि का दृष्टिकोण भावपरक न होकर वस्तुपरक होता है। प्रबंध काव्य के सभी भेद-प्रभेद वस्तुपरक काव्य के अंतर्गत आते हैं। जीवन-जगत का व्यापक स्तर पर चित्रण करने के कारण भारतीय तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्र में प्रगीत की अपेक्षा प्रबंध को ही उत्कृष्ट काव्य के रूप में स्वीकृति मिली है।

बाबू गुलाबराय के अनुसार, पाश्चात्य परंपरा में पहले प्रकार के काव्य में अनुकृत या प्रक्कथनात्मक (नैरेटिव) कहा गया है। महाकाव्य या खंडकाव्य इसके उप-विभाग हैं। काव्य का यह विभाग अंतर्मुखी (Introvert) और बहिर्मुखी (Extrovert) प्रकारों के अनुकूल बैठता है। यद्यपि इस विभाग के बीच की

रेखा निर्धारित करना कठिन है। पाश्चात्य देशों में महाकाव्य (ऐपिक) ही विषय-प्रधान काव्य का प्रतिनिधित्व करता है। वहाँ खण्ड-काव्य जैसा कोई विशेष उप-विभाग नहीं है। पाश्चात्य परंपरा में दूसरे प्रकार के काव्य को **प्रगीत** कहा गया है जहाँ कवि (विषयि) की प्रधानता है। बाबू गुलाबराय ने आगे कहा है कि मनोवैज्ञानिक होने पर भी यह विभाजन सर्वथा निर्दोष नहीं है क्योंकि वैयक्तिकता के गुण प्रक्कथनात्मक काव्य में प्राप्त हो सकते हैं एवं गीति काव्य में कवि अपने अतिरिक्त बाह्य संसार की बात को भी कह सकता है। इस संबंध में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि यह विभाजन प्रगीत या प्रक्कथनात्मक तत्वों की प्रधानता पर निर्भर है।

पाश्चात्य परंपरा के इसी आधार पर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने काव्य के दो भेद किए हैं। उनका कहना है कि मोटे तौर पर काव्य के दो भेद हो सकते हैं। एक, वह जिसमें अकेले कवि की बात होती है। दूसरा, वह जिसमें किसी बड़े सम्प्रदाय की बात रहती है। अकेले कवि की बात का तात्पर्य यह है कि कवि के भीतर इस प्रकार की सामर्थ्य है कि वह अपने सुख-दुःख, कल्पना और अभिज्ञता के भीतर से विश्व-मानव के चिरंतन हृदयावेग और जीवन की मर्म-व्यथा का अनायास ही प्रतिनिधित्व कर सकता है। इस प्रकार की कविता को **गीतिकाव्य** कहा गया है। दूसरे प्रकार के काव्य की बात कहते हुए रवीन्द्रनाथ ने लिखा है कि दूसरी श्रेणी के कवि वे हैं जो अपने रचना से एक समूचा देश और समूचा काल, अपने हृदय और अभिज्ञता को व्यक्त करके उस रचना को शाश्वत समादरणीय सामग्री बना देते हैं। इस द्वितीय श्रेणी के कवि को महाकवि कहते हैं और इनके काव्य को **महाकाव्य**।

29.4 प्रबंध-काव्य अथवा निबद्ध काव्य

प्रबंध काव्य से तात्पर्य ऐसे काव्य रूप से है जो कथा के दृढ़-बंधन से युक्त हो अर्थात् कथा के पूर्वापर क्रम से युक्त श्रृंखलाबद्ध छंद रचना प्रबंध कहलाती है। प्रबंध काव्य अनेक घटना-प्रसंगों, प्रकरणों-दृश्यों से संघटित संपूर्ण या खंड जीवन का अथवा उसके किसी एक अंग या प्रसंग या प्रकरण का सांगोपांग चित्रण करता है। प्रबंध काव्य में अखण्ड कथात्मकता तथा अखण्ड रसात्मकता का उल्लेख करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'जायसी ग्रंथावली' की भूमिका में प्रबंध कल्पना के अंतर्गत कहा है कि यदि प्रबंध काव्य एक विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक फूलों में गुथा गुलदस्ता। मुक्तक में प्रबंध के समान रस की धारा नहीं होती - उसमें इसके ऐसे छींटें पड़ते हैं कि हृदय-कलिका थोड़ी देर के लिए खिल जाती है। अपने इस प्रकार के कथनों से आचार्य शुक्ल ने प्रबंध काव्य में मानव जीवन का विस्तार और गहराई से चित्रण, घटनाओं का पूर्वापर क्रम से मर्मस्पर्शी स्थलों की पहचान के साथ श्रृंखलाबद्ध वर्णन, इतिवृत्त की रूक्षता (रुखेपन) के स्थान पर रसात्मक वर्णन-क्षमता तथा विविध घटना-प्रसंगों का समुचित विस्तार, अभिव्यंजना-शिल्प की भव्यता, कलात्मकता का सौंदर्य आदि कुछ सामान्य तत्वों का संकेत दिया है।

पाश्चात्य काव्यशास्त्र में प्रबंध काव्य को समाख्यान काव्य (Narrative Poetry) या वर्णनात्मक काव्य कहा गया है। प्रबंध के रचयिता को वस्तुपरक, बहिर्मुख दृष्टिकोण अपनाने के कारण विषय-प्रधान काव्य (Objective Poetry) में स्थान मिला। भारतीय काव्यशास्त्र में कुन्तक ने 'प्रबंध वक्रता' के अंतर्गत प्रबंध-कला की विस्तार से चर्चा की है। पश्चिमी आलोचकों में अरस्तू आदि ने भी घटना-प्रसंगों की क्रमबद्धता, पारस्परिक सामंजस्य आदि को समाख्यानक काव्य के अनिवार्य गुण माने हैं। भारतीय काव्यशास्त्र में जीवन के संपूर्ण अथवा खंड चित्रण के आधार पर प्रबंध काव्य का उपविभाजन - महाकाव्य, खण्ड काव्य, एकार्थ काव्य के रूप में किया गया किंतु पश्चिम में शैली की दृष्टि से विषय प्रधान काव्य को नाट्य-काव्य के रूप में वर्गीकृत किया गया। आधुनिक काल में नवीन प्रेरणाओं-विचारधाराओं, आंदोलनों आदि के कारण परंपरागत काव्य-विधाओं के साँचे और ढाँचे तोड़ दिए गए। प्रबंध, प्रगीत तथा नाट्य-रूपों के ढाँचों में मौलिक और क्रांतिकारी परिवर्तन हुए। एक विधा ने दूसरी विधा के भीतर आराम से प्रवेश पा लिया। फलतः काव्य-विधाओं में नूतन प्रयोग मानव की विचार-समृद्धि के द्योतक बने हैं। फिर आधुनिक काल में विचार केंद्रित गद्य के उदय ने परंपरागत पद्य की प्रकृति पर ही आघात किया और एक नए ढंग की गद्यात्मक काव्यात्मकता और नाट्यात्मकता को जन्म दिया है।

29.4.1 महाकाव्य

परिभाषा की समस्या

महाकाव्य की परिभाषा निश्चित करना कठिन कार्य है क्योंकि विभिन्न युगों में उसका स्वरूप बदलता रहा है। समय-समय पर साहित्य के आचार्यों ने महाकाव्य के स्वरूप पर विचार किया लेकिन कोई परिभाषा निश्चित नहीं हो सकी। महाभारत और रामायण हमारे देश के विकसनशील महाकाव्य हैं।

विकसनशील महाकाव्य (Epic of Growth) उस रचना को कहते हैं जिसकी रचना एक व्यक्ति के हाथों न होकर अनेक व्यक्तियों और युगों में होती है। अतः उसका स्वरूप निरंतर विकसित होता रहता है। भारतीय काव्यशास्त्रियों ने रामायण-महाभारत के आधार पर महाकाव्य का स्वरूप निर्धारित नहीं किया - उनके सामने अश्वघोष, कालिदास, भारवि, माघ आदि के अलंकृत महाकाव्य (Epic of Art) थे। संस्कृत काव्यशास्त्र में महाकाव्य पर सर्वप्रथम भामह ने 'काव्यालंकार' में विचार किया। उनके मतानुसार, महाकाव्य सर्गबद्ध होना चाहिए, उसमें अलंकरण हो और शैली में नागर भव्यता हो, नायक महान हो तथा उसका आकार बड़ा हो और उसमें नाटक की संधियाँ-कार्यावस्थाएँ हों अर्थात् कथानक सुगठित हो। इस प्रकार सर्गबद्धता, महान चरित्र और विजयी नायक, कार्य-व्यापारों की महत्ता, शिष्ट नागर प्रयोग और अलंकृति, जीवन के विविध रूपों का वर्णन, सुगठित कथानक तथा प्रभावान्विति और व्यापकता महाकाव्य के प्रधान तत्व होने चाहिए।

दण्डी (छठी शताब्दी ई.) ने भामह की महाकाव्य से संबंधित प्रमुख मान्यताओं को समेटते हुए कहा कि महाकाव्य का कथानक इतिहास या कथा से उद्भूत हो, नायक चतुरोदात्त (चतुर और उदात्त) हो। उसका उद्देश्य चतुर्वर्ग (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) की प्राप्ति हो, जो भावों-रसों की कलात्मकता से समृद्ध हो, जिसका आकार बड़ा हो, सर्गबद्ध, संधियों से युक्त हो। दण्डी ने महाकाव्य के आरंभ, वस्तु-व्यापार, सर्ग और छंद-योजना पर विशेष ध्यान केंद्रित किया। दण्डी की यह परिभाषा इतनी प्रचलित हुई कि आगे चलकर रुद्रट, हेमचन्द्र तथा विश्वनाथ ने उसी में कुछ बातें जोड़कर महाकाव्य के लक्षण निर्मित किए। हेमचन्द्र ने संस्कृत महाकाव्यों के अतिरिक्त प्राकृत-अपभ्रंश के महाकाव्यों पर ध्यान दिया। यह सब होने पर भी उनकी परिभाषा दण्डी से दूर न जा सकी। उनकी नवीनता यह है कि उन्होंने रसानुभव-संदर्भ (शब्द-वैचित्र्य, अर्थ-वैचित्र्य, उक्ति-वैचित्र्य), अर्थानुरूप छंद विधान, लोकरंजकता का होना महत्वपूर्ण माना। 'देश-काल-पात्र चेष्टा कथान्तरानुषंजम्' कहकर व्यापक जीवनानुभवों के चित्रण पर बल दिया। पीछे से विश्वनाथ ने सभी आचार्यों के मतों का समाहार करते हुए महाकाव्य के लक्षण निर्धारित किए। ऐसा लगता है कि उनके आदर्श ग्रंथ भारवि तथा माघ के महाकाव्य रहे हैं।

संस्कृत काव्यशास्त्र में विश्वनाथ ने भामह, दण्डी आदि प्रमुख आलंकारिकों की विचारधारा के आधार पर महाकाव्य के लक्षण और स्वरूप पर विवेचन किया है। उनके अनुसार,

1. महाकाव्य की कथा सर्गों में विभाजित होती है।
2. इसका नायक कोई देवता अथवा धीरोदात्त गुणों से युक्त कोई उच्च-कुलोत्पन्न क्षत्रिय होता है। एक ही वंश में उत्पन्न अनेक राजा भी इसके नायक हो सकते हैं।
3. इसमें शृंगार, वीर और शांत - इन तीन रसों में से कोई एक रस प्रधान होता है और अन्य रस उसके सहायक होते हैं।
4. इसमें नाटक की सारी संधियों को स्थान दिया जाता है।
5. महाकाव्य का कथानक ऐतिहासिक होता है और यदि ऐतिहासिक न हो तो किसी सज्जन व्यक्ति से उसका संबंध होता है।
6. छठा सूत्र चतुर्वर्ग से संबंधित है। उसमें धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में से कोई एक फल रूप में होना चाहिए। इस संबंध में यह भी कहा गया है कि इन पुरुषार्थों की अभिव्यक्ति होनी चाहिए और इसी से महाकाव्य की महत्ता की प्रतिष्ठा होती है और फलतः पाठकों के चित्त का विस्तार होता है और तज्जन्य रसानुभूति होती है। महाकाव्य का मूल प्रयोजन रसानंद है तथा चतुर्वर्ग-रूपी साधन से इस साध्य की प्राप्ति होती है।
7. महाकाव्य के प्रारंभ में नमस्कार, आशीर्वचन अथवा कथा की ओर संकेत के रूप में मंगलाचरण होता है। इसमें कहीं-कहीं दुष्टों की निंदा और सज्जनों की प्रशंसा की जाती है। यह महाकाव्य का बाह्य लक्षण है। यद्यपि मंगलाचरण को अधिकतर सभी कवियों ने ग्रहण किया है।
8. प्रायः प्रत्येक सर्ग में एक ही छंद का प्रयोग होता है और सर्ग के अंत में छंद-परिवर्तन उचित है। कहीं-कहीं किसी सर्ग में विविध छंदों का प्रयोग भी हो सकता है।
9. सर्गों की संख्या आठ से अधिक होनी चाहिए और इन सर्गों का आकार बहुत छोटा अथवा बहुत बड़ा नहीं होना चाहिए। सर्गों की बात महाकाव्य बृहत् आयतन के लिए कही गई है।
10. महाकाव्य में संध्या, सूर्य, चन्द्र, रात्रि, प्रदोष, अंधकार, दिन, प्रातःकाल, मध्याह्न, मृगया, पर्वत, ऋतु, वन, समुद्र, संयोग, वियोग, मुनि, स्वर्ग, नगर, यज्ञ, युद्ध, युद्ध-यात्रा, विवाह, मंत्रणा,

पुत्रोत्पत्ति आदि का यथावसर सांगोपांग वर्णन होना चाहिए। वस्तुतः महाकाव्य की कथा-वस्तु के कलेवर को बृहत् और वैचित्र्यपूर्ण बनाने के लिए ही इन वर्ण्य-विषयों की संयोजना की जाती है।

11. अंतिम सूत्र नामकरण से संबंधित है। महाकाव्य का नामकरण कवि, कथा-वस्तु, नायक अथवा किसी अन्य व्यक्ति के नाम के आधार पर होता है और सर्गों का नाम सर्गगत कथा के आधार पर होता है।

संस्कृत आचार्यों के महाकाव्य से संबंधित निष्कर्ष

1. **कथानक** : भारतीय मान्यता के अनुसार कथानक न बहुत लंबा हो, न बहुत छोटा। वह सर्गबद्ध होना चाहिए जिसमें नाटक की संधियों की पद्धति अपनाकर कलात्मक गठन पैदा किया जा सके। कथानक इतिहास-पुराण की तरह बिखरा न होकर प्रभावान्विति से युक्त हो। उसमें कार्यों की सक्रियता के साथ महती घटनाओं को स्थान मिलना चाहिए।'महाकाव्यकार' अवान्तर कथाओं को स्थान दे सकता है। कथा के भीतर कथा रखने की प्रवृत्ति लोक कलाओं-लोकगाथाओं, पुराणों की प्रवृत्ति है। कथा ऐतिहासिक, पौराणिक, उत्पाद्य तथा मिश्र होनी चाहिए।

2. **महाकाव्य का नायक** : महाकाव्य का नायक क्षत्रिय या देवता या अच्छे कुल में उत्पन्न धीरोदात्त होना चाहिए। विश्वनाथ के अनुसार एक वंश में उत्पन्न एक राजा या एक वंश में उत्पन्न अनेक राजा उसके नायक हो सकते हैं जैसे कालिदास का 'रघुवंश'। रुद्रट ने प्रतिनायक की चर्चा की और कहा कि उसमें नायक की तरह गुण होने चाहिए जिससे संघर्षमूलक घटना की सृष्टि हो सके।

3. **वस्तु-व्यापार और परिस्थिति वर्णन** : सभी संस्कृत आचार्यों ने महाकाव्य में वस्तु-व्यापार वर्णन पर बहुत ज़ोर दिया। प्रकृति-चित्रण, जीवन के विभिन्न व्यापारों और परिस्थितियों के चित्रण के द्वारा समग्र जीवन-व्यापारों के चित्रण का संकेत दिया।

4. **रस और भाव** : महाकाव्य में सभी रसों की योजना होनी चाहिए। शृंगार, वीर, शांत में से कोई एक रस उसका अंगी-रस होना चाहिए। हर स्थिति की पात्र-भावना का उसमें चित्रण हो - भाव व्यंजना उसका प्रधान तत्व है।

5. **अलौकिक और अति-प्राकृत तत्व** : मानव के हृदय में स्थित धार्मिक भावना के कारण महाकाव्यों में अलौकिक-अतिप्राकृत तत्व पाए जाते हैं। देवता-मुनि प्रायः अलौकिक शक्ति वाले होते हैं।

6. **शैली** : महाकाव्य की शैली का मूल तत्व गरिमा-गंभीरता तथा कलात्मकता है। शैली की गरिमा के लिए रम्य छंद-विधान हो, सर्ग गठित हों। भाषा में ग्राम्य शब्दों-अर्थों का अभाव हो।

7. **उद्देश्य** : महाकाव्य में कोई न कोई महान उद्देश्य होना चाहिए। आचार्यों ने चतुर्वर्ग फल-प्राप्ति की चर्चा की है। 'चतुर्वर्गफलायन्तं चतुरोदात्तनायकम्' की घोषणा पर ज़ोर दिया है।

पश्चिमी आचार्यों द्वारा निरूपित महाकाव्य के लक्षण

संस्कृत तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्र में महाकाव्य का विशद विवेचन प्राप्त हो जाता है। यूनान के प्रसिद्ध काव्यशास्त्री अरस्तू महाकाव्य की आलोचना के प्रथम पथ-प्रदर्शक माने जाते हैं। अरस्तू के विवेचन का सार निम्नलिखित है :

कथावस्तु : (1) त्रासदी के अनुरूप महाकाव्य भी जीवन का गंभीर अनुकरण है। त्रासदी दृश्य- काव्य है और महाकाव्य श्रव्य-काव्य है यद्यपि नाटक के अनुरूप ही उसके कथानक का निर्माण होता है। (2) त्रासदी के अनुरूप ही महाकाव्य का आख्यान भाग संपूर्ण ऐक्यबद्ध होता है एवं इसकी आदि-मध्य-अंत विशिष्ट समग्रता की तुलना प्राणी-विशेष की शारीरिक अखण्डता के साथ की जा सकती है अर्थात् महाकाव्य में विषय-ऐक्य की रक्षा अनिवार्य है। (3) ऐतिहासिक रचना के साथ महाकाव्य का मूल पार्थक्य इसी में है कि ऐतिहासिक रचना में एक समग्र युग एवं उस युग के एक या एकाधिक व्यक्ति के जीवन में जो कुछ घटित हो रहा है, उन्हें उपस्थित किया जाता है और महाकाव्य में केवल मात्र एक विषय की उपस्थापना होती है। यद्यपि ऐसे भी बहुत से महाकाव्य हैं (साइप्रिया-तथा लिटल एलियड) जिसमें नायक, काल तथा कार्य एक होने पर भी उसके बहुत से भाग हैं। (4) विशालता तथा दैर्घ्य की दृष्टि से महाकाव्य और त्रासदी में बड़ा पार्थक्य है। महाकाव्य के मूल आख्यान के साथ नाना प्रकार के उपाख्यान संयुक्त हो सकते हैं एवं इकट्ठे कई एक घटनाओं की उपस्थाना यहाँ निंदनीय नहीं है परंतु त्रासदी का सब कुछ रंगमंच पर संघटित होता है एवं इसीलिए एक ही समय एकाधिक घटना का संस्थापन संभव नहीं है। अतः महाकाव्यमय घटना (ऐपिक स्ट्रक्चर) का तात्पर्य है जिसमें विविध उपाख्यानों का समावेश हो सके। केवल इतना ही नहीं महाकाव्य के कथानक की विशालता के

कारण उसका प्रत्येक भाग विशेष गरिमा को प्रतिफलित करता है। इसीलिए महाकाव्य की आकृति बृहत्तर होती है और उसकी प्रकृति महत्तर बन जाती है। महाकाव्य की देह जिस प्रकार विराट होती है उसकी आत्मा उसी प्रकार महान होती है। (5) कथानक वस्तुनिष्ठ हो अर्थात् विषयगत हो और विषय-वस्तु में स्थित अलौकिकता का काव्य-सम्मत रूपायन हो अर्थात् अविश्वास्य संभाव्यता के स्थान पर विश्वास-योग्य असंभाव्यता का वर्णन अधिक वांछनीय है।

चरित्र : महाकाव्य और त्रासदी में उच्चतर कोटि के पात्रों की पद्यबद्ध अनुकृति रहती है।

भाषा-शैली : अरस्तू के मतानुसार महाकाव्य की भाषा-शैली त्रासदी की करुण-मधुर अलंकृत शैली से भिन्न, लोकातिक्रांत प्रयोगों से कलात्मक, उदात्त एवं गरिमा-वरिष्ठ होती है। साथ में आनंद देने वाली। उसका आधार अत्यंत व्यापक होता है जिससे सभी प्रकार की शब्दावली और प्रयोगों आदि का समावेश हो सके।

छंद : महाकाव्य में एक ही छंद होता है जिसे ओज गुण सम्पन्न होना चाहिए और इस दृष्टि से हेक्सामीटर (षट्पद वीरवृत्त) ही सबसे उपयुक्त है।

प्रकार : महाकाव्य के भी उतने ही प्रकार हैं जितने त्रासदी के हैं अर्थात् महाकाव्य सरल (सिम्पल), जटिल (कॉम्प्लैक्स), नीतिमूलक (एथिकल) एवं करुण-रसात्मक (पैथेटिक) हो सकता है।

प्रयोजन : महाकाव्य चाहे करुण-रसात्मक हो या नीतिमूलक, उसमें अद्‌भुत तत्त्व का समावेश अवश्य हो। जो अद्‌भुत होता है वह आह्लादित भी करता है। अरस्तू के अनुसार यह महाकाव्य का मूलभूत प्रयोजन है। अरस्तू ने जिस अद्‌भुत-तत्त्व को महाकाव्य का प्रयोजन माना है उसमें विस्मय-बोध विद्यमान रहता है। यद्यपि महाकाव्य से जिस विस्मय का बोध होता है उसका वैशिष्ट्य यह है कि वह विशाल कथावस्तु तथा चरित्र के द्वारा उद्‌बोधित होता है। अरस्तू के अनुसार काव्य अनुकरण है अर्थात् जीवन का कल्पनात्मक पुनःसृजन है और महाकाव्य समाख्यानात्मक विस्तृत परिधियुक्त गंभीर अनुकरण अर्थात् जीवन का कल्पनात्मक पुनःसृजन है।

अरस्तू के मतानुसार महाकाव्य का प्रयोजन त्रासदी के प्रयोजन से और इस दृष्टि से काव्य-मात्र के प्रयोजन से मूलतः भिन्न नहीं है - मानव मन का विरेचन या परिशुद्धि ही उसका मूल प्रयोजन है किंतु महाकाव्य की विरेचन-प्रक्रिया त्रासदी की अपेक्षा मंद और असीमता में कम सफल होती है।

अरस्तू के उपरांत पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों में से जिस किसी ने महाकाव्य का विवेचन किया, वह वस्तुतः अरस्तू की विचारधारा से अनुप्रेरित होकर ही किया है। पुनर्जागरण के युग में मिन्टुर्नो ने अरस्तू के त्रासदी-लक्षण की हू-ब-हू नकल करते हुए महाकाव्य का लक्षण प्रस्तुत किया है। इसके बाद विडा (Vida), त्रिस्सिनो (Trissino) आदि विद्वानों ने अरस्तू का ही आधार ग्रहण किया यद्यपि ये सब विद्वान महाकाव्य को त्रासदी से अधिक उत्तम कहते थे। इसके विपरीत, अरस्तू ने त्रासदी को ही सर्वश्रेष्ठ माना। मध्य युग में कस्ते लवे त्रो ने अरस्तू का विरोध करते हुए यह कहा कि महाकाव्य में विषय की एकता का कोई आत्यन्तिक नियम नहीं है। टैसो ने महाकाव्य और त्रासदी के कार्य (ऐक्शन) के प्रभाव को भिन्न बताया है। त्रासदी के कार्य से त्रास और करुणा की उत्पत्ति होती है, परंतु महाकाव्य के कार्य की यह परिणति अनिवार्य नहीं। इसके उपरांत, उन्होंने यह भी कहा कि त्रासदी के नायक में गुण-दोष विद्यमान रहते हैं, परंतु महाकाव्य का नायक केवल मात्र गुणों से ही युक्त रहता है।

17वीं तथा 18वीं शताब्दी में ड्राइडन, हब्स, डेवेनन्ट, हिम, गिबन, एडिसन आदि प्रमुख विद्वानों ने महाकाव्य के स्वरूप, आकार और प्रकृति को लेकर काफी विचार-विमर्श किया, परंतु कोई नयी बात नहीं कह पाए। इस समय से महाकाव्य को दो भागों में बाँटने की प्रथा चल पड़ी थी - विकसनशील महाकाव्य, तथा कलात्मक महाकाव्य।

यद्यपि बीसवीं शताब्दी के आलोचक एबरक्रॉम्बी ने अपनी पुस्तक 'दि एपिक' में इसका विरोध किया है यद्यपि यह सभी ने स्वीकार किया है कि महाकाव्य की आकृति और प्रकृति अर्थात् देह और आत्मा महान एवं विशाल होनी चाहिए तथा जिसका स्वरूप मानवोचित हो। इस प्रकार, थोड़े-बहुत हेरफेर से लगभग सभी ने वही बात कही है जो काव्यशास्त्र के प्रारंभिक युग में अरस्तू ने कही थी। अरस्तू ने यही कहा था कि महाकाव्य जीवन की गंभीर अनुकृति है जो गंभीर तथा उदात्त है, जिसकी परिधि विशाल है तथा वह समाख्यानात्मक है।

पश्चिम में अरस्तू ने और भारत में विश्वनाथ ने महाकाव्य का जो लक्षण निरूपण किया है परवर्ती युग के विद्वानों ने उसे ही सर्वसम्मति से ग्रहण कर लिया है। दूसरी बात यह है कि थोड़े-बहुत बाह्य लक्षणों में प्रभेद रहने पर भी अरस्तू और विश्वनाथ द्वारा निरूपित महाकाव्य के आंतरिक लक्षण एक-जैसे हैं।

मैकनेल डिक्सन ने कहा है कि महाकाव्य सब देशों में एक जैसा होता है। वह चाहे पूर्व का हो अथवा पश्चिम का, उत्तर का हो अथवा दक्षिण का, उसकी आत्मा और प्रकृति सर्वत्र एक-जैसी होती है। ('Yet heroic poetry is one; whether of East or West, the North or South, its blood and temper are the same.' – M. Dixon, English Epic and Heroic Poetry, p.22)

29.4.2 खंड काव्य

महाकाव्य से दूर का संपर्क रखने वालों में खंड काव्य का भी स्थान है। अंग्रेज़ी में जिसे हम आख्यान-मूलक कविता (Narrative poetry) कहते हैं वह भारतीय **खंड काव्य** के पर्याप्त निकट है। जीवन की अनेकरूपता और एकपक्षता के आधार पर महाकाव्य और खंडकाव्य नाम के दो भेद किए गए हैं। खंड काव्य में जीवन की वह अनेकरूपता नहीं रहती जोकि महाकाव्य में होती है। संस्कृत काव्यशास्त्र में खंड काव्य के बारे में स्पष्ट रूप से पहले पहल, विश्वनाथ ने लिखा था कि किसी भाषा या उपभाषा में सर्गबद्ध एवं एक कथा का निरूपक पद्यग्रंथ जिसमें सभी संधियाँ नहीं होती हैं ऐसे काव्य के एक अंश को **खंड काव्य** कहा जाता है :

भाषाविभाषानियमात्काव्यं सर्गसमुत्थितम।
एकार्थ प्रवणैः पद्यैः संधि सामग्र्यवर्जितम।
खंडकाव्यं भवेत्काव्यस्यैकदेशानुसारी।। **(साहित्यदर्पण, 6 : 328-29)**

विश्वनाथ द्वारा दी गई खंडकाव्य की परिभाषा के 'एकदेशानुसारी' शब्द की सहायता से ही खंडकाव्य का विश्लेषण होता है। शंभूनाथ सिंह का कहना है कि खंडकाव्य में जीवन का खंड दृश्य चित्रित होने पर तथा कथा-वस्तु की लघुता एवं उद्देश्य की सीमाओं के कारण महाकाव्य की तरह बृहदाकार तथा महान नहीं बन पाता है। खंड-जीवन की अभिव्यक्ति होने के कारण उसमें महाकाव्य जैसी गंभीरता तथा तीव्रता का अभाव रहता है और इसी के फलस्वरूप उसके उद्देश्य में महाकाव्य के उद्देश्य की तीव्रता (इन्टेंसिटी) नहीं रहती है।

मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि खंडकाव्य एक ऐसा पद्यबद्ध कथा-काव्य है जिसके कथानक में इस प्रकार की एकात्मक अन्विति हो कि उसमें अप्रासंगिक कथाएँ सामान्यतः अंतर्भुक्त न हो सकें, कथा में एकांगिता - साहित्यदर्पण के शब्दों में एक देशीयता होती है, तथा कथा-विन्यास में क्रम - आरंभ, विकास, चरम सीमा और निश्चित उद्देश्य में परिणति होती है। कथा की एकांगिता के कारण खंडकाव्य के आकार में लघुता स्वाभाविक है और साथ ही उद्देश्य की महाकाव्य जैसी सहनीयता संभव नहीं है। कथा की एकांगिता के कारण खंडकाव्य में गीति के अनेक लक्षण स्वतः आ जाते हैं। इसीलिए रवीन्द्रनाथ ने लिरिक-पोयट्री को खंडकाव्य कहा था। खंडकाव्य के संबंध में अंतिम बात यह है कि इसमें कवि की दृष्टि 'वस्तु' और 'आत्मा' के बीच में स्थित रहती है। अर्थात् वर्ण्य-वस्तु के आधार पर कभी तो कवि वस्तुपरक बन जाता है और कभी आत्मपरक यद्यपि उसमें भावमयता की मात्रा ही अधिक होती है क्योंकि खंड-जीवन के खोखलेपन को कवि अपनी भावमयता से छिपाना चाहता है और इसमें समर्थ होने से खंडकाव्य की महत्ता सिद्ध हो पाती है।

29.5 मुक्तक

मुक्तक पूर्वापर के संबंध से मुक्त सहृदयों में चमत्कार का संचार करने वाले पदों या छोटी कविताओं को कहते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है कि मुक्तक में प्रबंध के समान रस की धारा नहीं रहती, जिसमें कथा-प्रसंग की परिस्थिति में अपने को भूला हुआ पाठक मग्न हो जाता है और हृदय में एक स्थायी प्रभाव ग्रहण करता है। इसमें तो रस के ऐसे छीटें पड़ते हैं जिनमें हृदय-कलिका थोड़ी देर के लिए खिल उठती है। यदि प्रबंध काव्य एक विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है। इसी से यह सहृदयों के लिए अधिक उपयुक्त है। इसमें उत्तरोत्तर दृश्यों द्वारा संगठित पूर्ण जीवन या उसके किसी एक पूर्ण अंग का प्रदर्शन नहीं होता, बल्कि एक रमणीय खंड दृश्य इस प्रकार सहसा सामने उपस्थित कर दिया जाता है कि पाठक या श्रोता कुछ क्षणों के लिए मंत्र-मुग्ध सा हो जाता है। इसके लिए कवि को मनोरम वस्तुओं और व्यापारों का एक छोटा-सा स्तबक कल्पित करके उन्हें अत्यंत संक्षिप्त और सशक्त भाषा में व्यक्त करना पड़ता है।

ध्वनि-सिद्धांत के आधार पर ही मुक्तक को काव्य में आदरणीय स्थान मिला है। ध्वन्यालोककार के अनुसार जिस काव्य में पूर्वापर-प्रसंग-निरपेक्ष-रस-चर्वणा की सामर्थ्य होती है वही मुक्तक कहलाता है।

संस्कृत के आचार्यों ने मुक्तक काव्य के कई भेद किए हैं परंतु वैज्ञानिक दृष्टि से इसके दो ही भेद उचित जान पड़ते हैं - पाठ्य और गेय (प्रगीत)। बाबू गुलाबराय का कहना है कि इन दोनों के बीच

की रेखा बड़ी सूक्ष्म और अस्थिर है। पाठ्य सामग्री भी गेय हो जाती है किंतु कुछ पद या छंद ऐसे होते हैं जो विशेष रूप से गेय होते हैं। यद्यपि विषय-प्रधान तथा विषयि-प्रधान के आधार पर इन दोनों भेद की विभेदक-रेखा को स्पष्ट कर लिया गया है। गेय में निजी भावातिरेक की मात्रा कुछ अधिक रहती है और पाठ्य में कवि बात को एक निरपेक्ष द्रष्टा या वकील के रूप में रखता है। पाठ्य-मुक्तक प्रायः सूक्तियों के रूप में आते हैं। ऐसे मुक्तक प्रायः नीति-विषयक, शृंगार-विषयक, वीरता-विषयक होते हैं। आधुनिक युग में पाठ्य-मुक्तकों के स्थान पर गेय मुक्तकों की रचना अधिक होने लगी है। इस संबंध में आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि काव्य में 'विषयि' के प्रधान होने से उन गीत-प्रधान मुक्तकों का प्रचलन बढ़ गया है जो व्यक्तिगत भावोच्छ्वास को आश्रय कर लिख जाते हैं। इस तरह, आजकल पाठ्य-मुक्तकों के स्थान पर गेय मुक्तकों का प्रचलन अधिक हो जाने से लोगों का ध्यान इस ओर अधिक आकृष्ट हुआ है एवं प्राचीन संस्कृत मुक्तक को उसकी संपूर्णता के साथ समाहार न कर सकने पर विद्वानों ने उसका नया नामकरण किया और गेय मुक्तकों को **गीति काव्य** कहा गया। इन आधुनिक गेय मुक्तकों को गीति-काव्य के नाम से पुकारने का और एक भी कारण था जैसा कि हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि प्राचीन मुक्तकों में कवि की कल्पना कुछ ऐसे शास्त्र-रूढ़ व्यापारों की योजना करती थी जिनसे किसी रस या भाव की व्यंजना सुकर हो। आधुनिक प्रगीत मुक्तक कवि के भावावेग के महत् क्षणों की रचना होते हैं, उनमें गीत की सहज और हल्की गति होती है जिनकी गुलदस्तों के साथ तुलना नहीं की जा सकती। ये विच्छिन्न जीवन-चित्र होने पर भी प्रवाहशील होते हैं और इनमें शास्त्र-रूढ़ व्यापार-योजना की आवश्यकता नहीं होती है। पुराने रूपकों में कवि कल्पना की समाहार-शक्ति प्रधान हिस्सा लेती थी, पर आधुनिक मुक्तकों में कवि का भावावेग ही प्रधान होता है। इस दृष्टि से आधुनिक युग के गेय मुक्तकों को गीति-काव्य के नाम से अभिहित करने की प्रथा चल पड़ी है।

काव्य गुणान्वित गीत या गीतिमूलक छोटी कविता को ही गीति-काव्य कहा जाता है जिसका अंग्रेज़ी पर्याय है - लिरिकल पोयट्री। इसका सबसे प्रमुख तत्त्व है - भावावेग। हडसन का कहना है कि गीति कविता में किसी एक योग्य भाव या अनुभूति की अभिव्यक्ति आवश्यक है। ('For a lyric, to be good of its kind, must satisfy us that if embodies a worthy feeling.' - W.H. Hudson, An Introduction to the Study of Literature, p.97) अच्छी गीति कविता में व्यक्तिगत अनुभूति सर्वदेशीय होती है क्योंकि उसी से ही कवि की अनुभूति पाठक की अनुभूति बन जाती है। पहले गीति-काव्य का एकमात्र लक्षण गेयता थी, अब गेयता उसका सबसे प्रमुख लक्षण नहीं है।

29.6 गद्य

काव्य के श्रव्य-विभाग के अंतर्गत पद्य पर विवेचन करने के बाद अब गद्य पर आते हैं। संस्कृत काव्यशास्त्र में गद्य को गद्य-काव्य के अर्थ में ग्रहण किया गया है और कथा, आख्यान, आख्यायिका, वृत्त आदि को गद्य काव्य माना है। वामन ने गद्य को कवियों की कसौटी कहा है (गद्यं कवीनां निकर्षं वदन्ति)। गद्य के भेदों का उल्लेख करते हुए वामन ने कहा है कि

(क) पद्य भाग से युक्त या उसके समान प्रतीत होने वाला गद्य जिसमें वृत्त या छंद का गद्य मिले, वृत्तगंधि है।

(ख) दीर्घ समास से रहित और ललित पदों से युक्त गद्य चूर्णक कहलाता है।

(ग) इससे विपरीत, दीर्घ समास-युक्त और उद्धत पदों से युक्त गद्य को उत्कलिकाप्राय कहते हैं।

(घ) समास-रहित गद्य मुक्तक है।

संस्कृत काव्यशास्त्र कथा, आख्यायिका, आख्यान आदि के लिए ही गद्य का उपयोग बताया गया है। कथात्मक साहित्य के अतिरिक्त विचारात्मक लेखन के लिए गद्य के साहित्यिक प्रयोग तथा शास्त्रीय और वैज्ञानिक विषयों के लिए उसके व्यावहारिक उपयोग की ओर कोई संकेत नहीं किया गया है। वस्तुतः प्राचीन भारतीय शास्त्र और विज्ञान के विषय भी पद्य में लिखे जाते थे परंतु उसमें सर्वत्र शब्दार्थ की सरलता और सीधापन सुरक्षित नहीं रह पाता था क्योंकि शब्दों की विशिष्ट छंदोबद्ध योजना के लिए उसमें कृत्रिमता, भंगिमा और वक्रता आ जाना स्वाभाविक है। अतः गद्य-पद्य का भेद स्पष्ट है।

आधुनिक काल में सामाजिक रूपांतरण, ज्ञान-विज्ञान का प्रसार के कारण मानव मन अधिक वस्तु-सचेतन एवं जीवननिष्ठ हो गया। स्वप्नलोक के आवेग की अपेक्षा यथार्थ का वेग, कल्पना के स्थान पर मननशीलता पर बल ज्यादा दिया जाने लगा और परिणामतः गद्य के महत्व का विस्तार हुआ। और धीरे-

धीरे साहित्य-क्षेत्र में नयी विधाओं में गद्य का प्रयोग होने लगा और 'कवि' के स्थान पर 'लेखक समाज में प्रतिष्ठा पाने लगा।

गद्य के नाना भेदों में गद्य-काव्य, उपन्यास, कहानी, निबंध, जीवनी, पत्र आदि प्रमुख हैं।

29.6.1 गद्य-काव्य

आधुनिक विशिष्ट अर्थ में गद्य-काव्य से अभिप्राय गद्य रचना से है जिसमें काव्य जैसी संवेदनशीलता और रसमयता हो। वैयक्तिक आत्मनिष्ठता, तीव्र भावात्मकता, अंतर्निहित संगीत आदि इसके अन्य गुण हैं। संस्कृत काव्यशास्त्र में गद्य-काव्य के अंतर्गत कथा, वृत्त, आख्यायिका आदि का निर्देश किया गया है। गद्य-काव्य की शैली अधिक लययुक्त, अलंकृत और काव्यमय होती है। हिंदी के प्रथम गद्य-गीतकार हैं - राय कृष्णदास जिन्होंने 'गीतांजलि' का प्रभाव स्वीकार किया है। गद्य-काव्य में कहीं प्राकृतिक घटनाओं को आध्यात्मिक रूप देकर दार्शनिक भावनाओं की अभिव्यक्ति की गई तो कहीं भक्त की हृदय-तरंग का मार्मिक चित्रण है, कहीं देश को उद्‌बोधन दिया गया है तो कहीं ऐतिहासिक तथ्यों पर अवलम्बित अतीत के गौरवमय चित्र हैं कहीं प्रवंचित और निराश नारी का हाहाकार है तो कहीं शोषितों पर आँसू बहाए गए हैं। हिंदी के गद्य-काव्य लेखकों में उल्लेखनीय हैं - रायकृष्णदास, माखनलाल चतुर्वेदी और डॉ. रघुवीर सिंह। अंग्रेज़ी में इसका अर्थ है वह कविता जो गद्य की तरह मुद्रित हो। इसकी प्रेरणा फ्रेंच कवि पॉल फ़ोर्ट से मिली तथा इसके विकास का श्रेय ऍमी लावेल को है।

29.6.2 उपन्यास

उपन्यास अंग्रेज़ी 'नॉवेल' का हिंदी रूप है। इसी को गुजराती में 'नवल कथा', मराठी में 'कादम्बरी' और बंगला एवं हिंदी में 'उपन्यास' कहते हैं। पश्चिम में इसका जन्म पुनर्जागरण युग में हुआ। प्रारंभ में इसके इतालवी नाम 'नोवेला' तथा अंग्रेज़ी नाम 'नॉवेल' के शाब्दिक अर्थों - क्रमशः 'समाचार' और 'नवीन' - के अनुरूप ही किसी भी प्रकार की नई और ताज़ी, प्रायः कल्पित, सुविस्तृत एवं सांगोपांग कहानी को उपन्यास के रूप में स्वीकार किया गया था। बाद में, औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप निरंतर वर्द्धमान जीवन की जटिलताओं तथा मानसिक और भौतिक स्तरों पर घटित होने वाले व्यष्टि और समष्टि के जीवन-संघर्षों के चित्रण से उपन्यास में यथार्थ का रंग गहराने लगा। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में बंगला साहित्य के आश्रय से उपन्यास भारतीय साहित्य में स्थान पा गया। यहाँ भी उसका प्रारंभिक चरण क्रमशः रोमानी, प्रेमाख्यानात्मक, घटना-प्रधान और समाज-सुधार विषयक मार्गों से होते हुए यथार्थ की भूमि पर पहुँचने का इतिहास है। आज का भारतीय उपन्यास व्यक्तिवादी है और उसमें गहन मनोवैज्ञानिक स्तर पर व्यक्ति के अंतर्मन का निगूढ़ बौद्धिक चित्रण रहता है।

उपन्यास वास्तविक जीवन की काल्पनिक कथा है। प्रेमचंद उपन्यास की निम्न परिभाषा देते हैं, 'मैं उपन्यास को मानव जीवन का चित्र मात्र समझता हूँ। मानव चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्त्व है।' न्यू इंगलिश डिक्शनरी में उपन्यास की परिभाषा देते हुए कहा गया है, 'बृहत् आकार गद्य आख्यान या वृत्तांत जिसके अंतर्गत वास्तविक जीवन के प्रतिनिधित्व का दावा करने वाले पात्रों और कार्यों को कथानक में चित्रित किया जाता है।' सब परिभाषाएँ एक ही बात पर ज़ोर देती हैं कि उपन्यास में मानव-जीवन का प्रतिनिधित्व हो, घटनाएँ श्रृंखलाबद्ध हों, वास्तविकता की सेवा में नियोजित कल्पना हो।

उपन्यास के प्रमुख तत्त्व हैं : कथा-वस्तु, चरित्र-चित्रण, भाषा-शैली, देश-काल तथा उद्देश्य।

संपूर्ण उपन्यास की कहानी जिन उपकरणों से मिलकर बनती है वे **कथा-वस्तु** कहलाते हैं। ये उपकरण कथा-सूत्र (थीम), मुख्य कथानक (पात्र), प्रासंगिक कथाएँ (एपीसोड), उपकथानक (अंडर प्लाट) हैं। उपन्यास जिस मुख्य विचार, दृष्टिकोण, आधारभूत कार्य या विषय-विशेष पर अवलम्बित होता है उसी को कथा-सूत्र (थीम) कहते हैं। मुख्य कथा जो प्रमुख पात्र (नायक) से संबंधित है, उसे **कथानक** कहते हैं।

कथानक के संघटन और वस्तु-विन्यास में सत्याभास अथवा विश्वसनीयता, कार्य-कारण संबंध, मनोवैज्ञानिक क्षण, उत्कण्ठा, संघर्ष, भविष्य-संकेत और चरमोत्कर्ष का होना साधारणतया आवश्यक है।

उपन्यास में कथा-वस्तु के संघटन और विन्यास से भी अधिक महत्वपूर्ण **चरित्र-चित्रण** की कुशलता है। वस्तुतः चरित्र-चित्रण और कथानक एक-दूसरे के पूरक एवं अन्योन्याश्रित हैं। कथानक के विकास का एकमात्र साधन कुशल घटना-विधान चरित्रों के अंकन के बिना संभव नहीं है और चरित्र-विकास के अंकन के लिए घटना-विधान अपरिहार्य है। साहित्यिक उपन्यासों में निगूढ़ और सूक्ष्म चरित्रांकन पर अधिक ज़ोर रहता है और लोकप्रिय उपन्यासों में मनोरम घटना-विधान पर। चरित्र-चित्रण के ही आधार

पर उपन्यासकार अपनी कृतियों में महान उद्देश्यों की अवतारणा करके उसे स्थायी मूल्यों से समन्वित कर सकता है। महान् उपन्यासकार अपने पात्रों को देश और काल की सीमा के अनुकूल रखते हुए भी सार्वकालिक तथा सार्वजनिक बना देते हैं। **संवाद** या **कथोपकथन** का चरित्र-चित्रण में बहुत ही महत्व है। संवाद पात्रों को सजीव बना देते हैं तथा कथानक में नाटकीयता का समावेश करके उसके प्रभाव को तीव्र बना देते हैं।

पात्र जिस परिस्थिति और वातावरण में रहते एवं कार्य करते हैं, उसे **देश-काल** कहते हैं। वस्तुतः उपन्यास में पात्रों की तरह देश-काल का भी अपना व्यक्तित्व होता है। प्राचीन कथाओं के पात्र देश-काल निरपेक्ष होते थे, जबकि आधुनिक उपन्यास कभी-कभी समय और स्थान का ऐसा यथातथ्य चित्र दे देते हैं कि उन्हें वास्तविक रूप में देखा और जाना जा सकता है। कुछ उपन्यासों में देश-काल इतना सजीव बनाया जाता है कि वह स्वयं उपन्यास का एक पात्र बन जाता है। इसके महत्व की सूचना इस बात से मिलती है कि वास्तविक स्थानीय रंग (लोकल कलर) या प्रादेशिक (रीजनल) विवरण देने वाले उपन्यासों का आंचलिक उपन्यासों के नाम से एक विशेष वर्ग बन गया है।

भाषा-शैली के विषय में उपन्यासकार की दृष्टि वस्तुमुखी अथवा व्यक्तिवादी हो सकती है। आज का औपन्यासिक लेखन अधिकाधिक व्यक्तिवादी होता जा रहा है। विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से उपन्यास की श्रेष्ठता और सार्थकता का सर्वप्रमुख निकष उसमें चित्रित यथार्थ है जो आज के जीवन-संदर्भ में सामाजिक भी हो सकता है एवं वैयक्तिक भी। आधुनिक साहित्य में व्यंजना, संकेत, प्रतीक एवं रूपक की शैलियों के प्रयोग की सामान्य प्रवृत्ति देखी जाती है। उपन्यास में भी ये प्रयोग प्रचुर मात्रा में हो रहे हैं।

उद्देश्य : उपयोगितावादी अथवा लोकमंगलकारी उपन्यास की दृष्टि 'उद्देश्य' पर केंद्रित रहती है, किंतु उपन्यास में इसी एक तत्व की प्रधानता हो जाने से कलात्मकता की क्षति होती है। हो सकता है कि किसी उपन्यास का सौंदर्य-सृष्टि के अतिरिक्त और कोई बाह्य परिणाम न हो, फिर भी लेखक की कोई न कोई जीवन-दृष्टि उसमें रहती है। उपन्यास की रचना के समय कथा-सूत्र के साथ लेखक की जीवन-दृष्टि मूर्त होने लगती है। कला की दृष्टि से वस्तुतः वही उपन्यास श्रेष्ठ है जिसका लेखक पाठकों पर सफलतापूर्वक यह प्रभाव डाल सके कि उसकी रचना से जिस जीवन-दर्शन का संदेश मिलता है वह उसने बाहर से आरोपित नहीं किया है वरन् वही सामयिक अथवा शाश्वत सत्य है। उद्देश्य कथा-वस्तु और चरित्र चित्रण के माध्यम से प्रस्तुत होने में ही उसकी सफलता निहित है।

उपन्यास में चित्रित **जीवन और प्रतिपादित विषयों के अनुसार उनका वर्गीकरण** किया जाता है। प्रमुख प्रकार हैं - (क) सामाजिक, सामाजिक-आर्थिक, आर्थिक-राजनीतिक (ख) साहसिक, जासूसी-रहस्यपूर्ण, रोमांचकारी-अपराधमूलक (ग) ऐतिहासिक-पौराणिक (घ) जीवनीमूलक-आत्मकथात्मक (ङ) रोमानी-प्रेमाख्यानात्मक। **शैली की दृष्टि से प्रमुख प्रचलित प्रकार** हैं - (क) समस्यामूलक या समस्या-प्रधान (ख) आंचलिक (ग) महाकाव्यात्मक (घ) लोकवादी या जनवादी (ङ) संलाप शैली (च) पत्र-शैली में रचित (छ) घटना-प्रवाही।

29.6.3 कहानी

कहानी गद्य में रचित एक लघु कलेवर कथात्मक साहित्य-रूप है जिसमें भाव अथवा विचार के किसी एक बिंदु को केंद्र बनाकर मुख्यतया तीव्र प्रभावान्विति के उद्देश्य से कथानक की संघटना की जाती है यद्यपि भारतीय वाङ्मय में ऋग्वेद के कथा-वृत्तों, संस्कृत में महाकाव्यों के उपाख्यानों, आख्यायिकाओं, नीति कथाओं, बौद्ध अवदान-ग्रंथों और जातकों में कहानी का आदिम रूप उपलब्ध है। मध्ययुगीन प्रेमाख्यानों और मुस्लिम संस्कृति के प्रभावस्वरूप लिखे गए 'लैला-मजनू', 'युसुफ़-जुलेखा', 'शीरीं-फ़रहाद' आदि किस्सों में भी कथा-प्रवाह पूरी रसात्मकता के साथ विद्यमान है। परंतु अपने विशिष्ट रूपाकार के कारण 'कहानी' अभिधान प्राप्त करने वाली आधुनिक कथा-विधा उपन्यास की भाँति पश्चिम के प्रभाव से आधुनिक भारतीय भाषाओं में बीसवीं शती के प्रथम दशक में ही प्रायः विकसित हुई है। अंग्रेज़ी में जिसे शॉर्ट स्टोरी कहते हैं वही बांग्ला में गल्प व हिंदी में कहानी नाम से प्रचलित है।

पश्चिम में यद्यपि कथात्मकता से युक्त साहित्य की परंपरा अत्यंत प्राचीन है किंतु आधुनिक कहानी का विकास उन्नीसवीं शती की घटना है। कहानी को एक सुनिश्चित अर्थ देने का सुव्यवस्थित प्रयास सबसे पहले सन 1842 में प्रसिद्ध कहानीकार एडगर एलेन पो ने किया। उन्होंने किसी एक भाव की केंद्रीयता, कहानी की संक्षिप्तता और समय प्रभाव को अत्यधिक महत्व दिया। सन 1885 में ब्रेंडर मैथ्यूस ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'द फिलॉसफी ऑफ शॉर्ट स्टोरी' में शैली शिल्प के आधार पर कहानी को पृथक रूप प्रदान किया। उसके बाद से कहानी एक स्वतंत्र साहित्य-विधा के रूप में विकास को प्राप्त हुई।

कहानी की (1) आकृति छोटी होती है (2) इसकी कथा-वस्तु खंड जीवन से जुड़ी होने पर भी यह **सान्द्रता** का आस्वाद कराती है। (3) कहानी की सार्थकता इसी बात में है कि इसमें मनुष्य के बाहर का जीवन नहीं भीतर के जीवन का अलक्षित पूर्व रूप पकड़ में आता है। (4) रोज़मर्रा के एक-जैसे जीवन के भीतर से एक क्षण उसका उपजीव्य होता है। (5) कथानक के गठन की कुशलता चरम क्षण की सृष्टि है। उपन्यास में चरम क्षण की सृष्टि के बाद ही उपन्यास अग्रसर होता है मगर कहानी में चरम क्षण की सृष्टि में ही उसकी परिणति होती है। (6) उपन्यास में सैकड़ों ग्रंथियों को खोला जाता है। कहानी का अंत अकस्मात होता है, परंतु अस्वाभाविक ढंग से नहीं। एक ग्रंथि को खोलने के द्वारा यह प्रकट होता है। (7) कहानी में भी उपन्यास के समान कथानक, चरित्रांकन, देशकाल, अभिव्यंजना शिल्प आदि तत्व माने गए हैं। जीवन से संदर्भित करने अथवा जीवनोपयोगी बनाने के लिए कहानी लिखने वाले मूल्यवादी कहानीकारों के लिए 'उद्देश्य' भी एक महत्वपूर्ण तत्व है। किंतु कहानी-तत्वों का इस प्रकार का व्यक्तित्व विश्लेषण न तो उपयोगी है और न सार्थक ही। कहानी की प्राणवत्ता उसकी प्रभावान्विति में ही निहित होती है। प्रभाव की अन्विति यदि कथ्य के संप्रेषण से होती है तो कहानी का एकमात्र तत्व उसकी संवेदना को ही माना जाएगा, फिर कथानक, चरित्रांकन और वातावरण-सृष्टि कितनी ही अपूर्ण और धूमिल क्यों न हो। (8) यदि कहानी की प्रभविष्णुता का कारण शिल्प का विशिष्ट प्रयोग है, तब उस कहानी के लिए उसका एकमात्र महत्वपूर्ण तत्व शिल्प ही होगा। वस्तुतः कहानी अपने यथा-संक्षिप्त कलेवर में मूल संवेदना को तीव्रतम ढंग से संप्रेषित करने की कला है। यदि कथानक के बिना ही यह कार्य सम्पन्न हो सके तब कहानी अपनी अरूपता में भी सार्थक हो सकती है। पश्चिम में और भारतीय भाषाओं में अति-आधुनिक कहानी-साहित्य में 'एब्सर्ड', 'फैंटास्टिक' 'अमूर्त' और 'फार्स' आदि कहानियों का बहुप्रचलन इसी तथ्य को प्रमाणित करता है। (9) कहानी छोटी होती है केवल बाहुल्य की दृष्टि से। सब बाहुल्य खत्म करके डायरेक्टनेस के साथ आगे बढ़ना ही उसका काम है - बढ़ना भी वही तेज़ी के साथ। घटनाएँ इसीलिए धीरे-धीरे विकसित नहीं हो सकती। चरित्र का भी धीरे-धीरे विकास संभव नहीं। खंड है मगर शरीर से अलग नहीं, पेड़ के फल की तरह। (10) कहानी के लघु आकार को विशेष महत्व दिया जाता है और कथ्य इस आकार को निर्धारित करता है। कहानीकार जितने कम शब्दों में जितना अधिक प्रभाव उत्पन्न कर सके वह उतना ही सफल माना जाएगा।

कहानी-कला के विभिन्न तत्वों की प्रधानता के अंतर से कहानियों का वर्गीकरण निम्नलिखित ढंग से किया जा सकता है - (1) कथानक या घटना-प्रधान कहानी (2) चरित्र-प्रधान कहानी (3) वातावरण प्रधान कहानी और (4) भाव-प्रधान कहानी। इस वर्गीकरण के अतिरिक्त कुछ कहानियाँ ऐसी भी रह जाती हैं जो किसी वर्ग में नहीं आतीं, वस्तुतः यही कहानी-कला की विकासशीलता और मौलिकता है। यद्यपि कोई भी वर्गीकरण आत्यंतिक नहीं क्योंकि कहानी विशाल जीवन के किसी भी कोने से अपना भाव-सूत्र ले सकती है। शैलियों की संख्या भी मर्यादित नहीं की जा सकती क्योंकि प्रत्येक कहानी की अपनी शैली हो सकती है, जो इसके अन्य तत्वों का अपने विधान में उपयोग करती है। इस दृष्टि से कला-पक्ष के अंतर्गत शैली तत्व सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। मोटे तौर पर ऐतिहासिक शैली, पत्रात्मक शैली, नाटकीय शैली, आत्मचरित शैली, डायरी शैली और मिश्रित शैली का प्रयोग होता है।

29.6.4 निबंध

गद्य के अंतर्गत निबंध विधा का विशेष उल्लेख होता है। 'निबंध' शब्द का अर्थ है - पूर्ण रूप से बँधा हुआ अर्थात् निबंध एक ऐसी साहित्यिक विधा (art-form) है जिसमें लेखक अपने विचारों और भावों के सम्यक् रूप से एकत्रित करके प्रस्तुत करता है। परंतु इस अर्थ को ध्यान में रखकर यह शब्द स्वीकृत नहीं हुआ है। दरअसल अंग्रेज़ी 'एस्से' के लिए हिंदी में 'निबंध' शब्द का व्यवहार होता है। 'एस्से' शब्द का उद्भव फ्रांसीसी शब्द 'एसाई' से है जिसका अर्थ है - चेष्ट या प्रयास। फ्रांसीसी विद्वान मोंतेन (1533-1592) ने 1580 में कुछ निबंध लिखे थे जिनका उन्होंने Essais नाम दिया था। बाद में यही अंग्रेज़ी में एस्से कहलाया। स्पष्ट है कि इस साहित्यिक विधा के प्रसार की प्रारंभिक स्थिति में इसके नामकरण के फलस्वरूप यह बिखरे हुए व्यक्तिनिष्ठ चिंतन के रूप में स्वीकृत हुआ। धीरे-धीरे व्यक्ति-निष्ठता के साथ वस्तुनिष्ठता का महत्व बढ़ा और मनुष्य और जीवन को समझाने तथा उद्घाटित करने के लिए निबंध ही एकमात्र सही विधा प्रमाणित हुई। इस तरह लेखक के व्यक्तिगत व्यक्तित्व तथा आम विषय-वस्तु को रूप देने के लिए निबंध का प्रसार हुआ।

वर्सफोल्ड ने बाह्य आकार की संक्षिप्तता तथा चिंतन तत्व को निबंध का आधेय (the brevity of its external form and element of reflection) माना है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने निबंध को गंभीर विचार प्रकाशन का साधन माना है और साहित्य के गद्य-विकास का मापदंड। उनका कहना है, 'यदि गद्य कवियों या लेखकों की कसौटी है तो निबंध गद्य की कसौटी है।' व्यक्ति-व्यंजकता, विषयनिष्ठता,

साथ ही विषय स्वतंत्रता, सीमित आकार, मौलिकता आदि निबंध के स्वरूप के परिचायक हैं। इस तरह यह कहा जा सकता है कि कल्पना और बुद्धि वृत्ति की सहायता से जब लेखक किसी भाव या विषय को तर्कपूर्ण, संयत और श्रृंखलाबद्ध ढंग से एवं सरस गद्य रीति में प्रकट करता है और अपने सुचिंतित वक्तव्य को विश्लेषण-क्रम के द्वारा एक सुस्पष्ट सिद्धांत तक पहुँचाता है तब उसे निबंध कहते हैं।

निबंध के तत्वों में **व्यक्ति-व्यंजकता** को उसकी प्राण-शक्ति के रूप में स्वीकार किया जाता है। मोंतेन का कहना है कि मैं अपने निबंधों का स्वयं विषय हूँ क्योंकि मैं ही एकमात्र हूँ जिसे मैं अच्छे ढंग से जानता हूँ (I am the subject of my essays because I myself am the only person whom I know thoroughly)। इसीलिए निबंध का सार **स्वगत कथन (soliloquy)** है। और चूँकि उसमें लेखक की अपनी अनुभूति, व्यक्ति-स्वभाव तथा वैयक्तिक मनोदशाओं का महत्व है इसीलिए निबंध का तेवर **रोमांटिक** है। परंतु इसका अर्थ यह नहीं कि निबंध में **विषय-वस्तु** एवं **तार्किकता (logicality)** का कोई महत्व नहीं। आत्मीयता से निबंध की यात्रा शुरू अवश्य हुई परंतु पहुँची जाकर वह विचार के धरातल पर जहाँ असीम विषय-वस्तु का बाना पहनकर उसने अपनी जय-यात्रा बरकरार रखी। कहने का तात्पर्य कि सभी विषय, वस्तु, भाव, कथ्य, विचार निबंध की सीमा में आ सकते हैं। आत्मीयता के साथ **विषयनिष्ठता** निबंध का एक महत्वपूर्ण तत्व है। परंतु विषय के माध्यम से अंततः लेखक की **रागात्मक आत्मीयता** प्रकट होती है। नितांत वैयक्तिक दृष्टि को किसी एक विषय-वस्तु के आश्रय से प्रकट करते हुए लेखक **व्यंग्य** का सहारा लेना भूलता नहीं। निबंधकार चाहे सहज व्यक्तित्व (natural man) का परिचय दे रहा हो अथवा अर्जित व्यक्तित्व (accomplished man) दोनों ही स्थितियों में व्यंग्य आत्मीयता को प्रभावशाली बनाता है।

आत्मीयता एवं वस्तुनिष्ठता के आधार पर निबंधों को **व्यक्ति-प्रधान (subjective)** और **विषय-प्रधान (objective)** दो प्रकारों में बाँटा गया है। चूँकि आत्मीयता निबंध का सबसे प्रधान तत्त्व है इसीलिए व्यक्ति-प्रधान निबंधों में तो 'निज' की प्रधानता होती ही है और विषय-प्रधान में 'निज' के स्थान पर 'परात्मकता' का महत्व अधिक होता है। व्यक्ति-प्रधान निबंध फिर दो प्रकार के होते हैं - **विचारात्मक (reflective)** और **भावात्मक (emotional)**। इन दोनों में वह प्रकार नहीं समाता जिसे अंग्रेज़ी में व्यक्तिगत (personal) निबंध कहा जाता है। इन निबंधों में मनोवैज्ञानिकता और गीतात्मकता प्रधान होती है। जो नितांत व्यक्तिगत होते हैं उन्हें **ललित निबंध** कहा जाता है। विषय-प्रधान निबंधों के दो प्रकार हैं - **वर्णनात्मक (descriptive)** और **विवरणात्मक (narrative)**। वर्णनात्मक निबंधों में औपन्यासिकता और विवरणात्मक निबंधों में नाटकीयता या कथात्मकता रहती है।

निबंध की सबसे बड़ी परख उसकी शैली है। शैली ही निबंध को उसका व्यक्तित्व प्रदान करती है। निबंध की शैली का नियामक या तो लेखक का प्रकृत मनुष्य (natural man) या अर्जित मनुष्य (accomplished man) होता है। जहाँ प्रकृत मनुष्य बोलता है, वहाँ शैली प्रसाद गुण से जुड़ी होती है और उसे **व्यास शैली** कहा जाता है। ज़हाँ अर्जित मनुष्य बोलता है वहाँ शैली संश्लिष्ट हो जाती है। उसे **समास शैली** कहा जाता है।

29.6.5 जीवनी, पत्र, रिपोर्ताज़ आदि

जीवनी

किसी व्यक्ति-विशेष के जीवन वृत्तांत को जीवनी कहते हैं। जीवनी का अंग्रेज़ी पर्याय 'लाइफ' अथवा 'बायोग्राफी' है। हिंदी म जीवनी या जीवन्-चरित कहा जाता है। किसी प्रसिद्ध व्यक्ति को अध्ययन का विषय बनाकर, उसके संबंध में विभिन्न स्रोतों - व्यक्ति द्वारा स्वयं लिखे गए पत्र, डायरी, पुस्तक आदि समकालीनों के संस्मरण, उसके मित्रों, संबंधियों से वार्तालाप, पत्र-व्यवहार, उससे सम्बद्ध स्थानों के भ्रमण तथा उस पर अन्य व्यक्तियों द्वारा लिखे गए ग्रंथों से आधिकारिक जानकारी प्राप्त कर उसके सर्वांगीण जीवन और व्यक्तित्व का चित्र उपस्थित करता है। वह व्यक्ति के गुण-दोष - सभी पर प्रकाश डालता है। डॉ. जानसन के शब्दों में, जीवनीकार का लक्ष्य जीवन की उन घटनाओं और क्रियाकलापों का रंजक वर्णन करना होता है जो व्यक्ति-विशेष की बड़ी से बड़ी महानता से लेकर छोटी से छोटी घरेलू बातों से संबंधित होते हैं। जीवनी में व्यक्ति का संपूर्ण जीवनवृत्त भी आ सकता है और वह उसके एक काल या चरित्र पक्ष पर भी लिखी जा सकती है। वस्तुपरक वैज्ञानिक दृष्टि होते हुए भी जीवनी-लेखक जीवन का नीरस इतिहास मात्र प्रस्तुत नहीं करता, उसमें जीवनी लेखक का व्यक्तित्व भी मुखरित हो उठता है। यह शास्त्रीय ग्रंथ न होकर कोमल साहित्यिक विधा है। इसलिए लिटन स्ट्रैची ने कहा है, 'जीवनी लेखन-कला का सबसे सुकोमल और सहानुभूतिपूर्ण स्वरूप है।' पर लेखक को अपने राग-द्वेष से मुक्त होकर निष्पक्ष चित्र प्रस्तुत करना चाहिए।

पत्र

जब व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति के पास कोई प्रत्यक्ष संदेश भेजे तो उसे पत्र कहते हैं। हिंदी में बहुत कम पत्र-साहित्य पुस्तक-रूप में प्रकाशित हुआ है। किंतु पत्र-पत्रिकाओं में महत्वपूर्ण लोगों के पत्र यदा-कदा उद्धृत होते रहते हैं। जवाहरलाल नेहरू द्वारा लिखे गए पिता के पत्र पुत्री के नाम बहुत ही जनप्रिय पुस्तक है। महत्वपूर्ण विचारकों और रचनाकारों के पत्र अपनी विषय-वस्तु और समसामयिक संदर्भों के लिहाज से उपयोगी ऐतिहासिक-सांस्कृतिक दस्तावेज़ होते हैं। अतः उनको संकलित करके छपवाया जाता है। गालिब के पत्र, हज़ारी प्रसाद द्विवेदी के पत्र इसी तरह की ऐतिहासिक धरोहर हैं। डेमेट्रियस के अनुसार पत्र में मैत्रीपूर्ण भावना अंतर्निहित होनी चाहिए और शैली की दृष्टि से पत्र सच्चा, सरल, संक्षिप्त और सादा होते हुए भी भव्य होना चाहिए। पत्र आत्मीय वार्तालाप का स्थान तभी ले सकता है जब भेजने वाले और पाने वाले के बीच कोई तीसरा व्यक्ति न हो। मध्यस्थ के होने पर पत्र की सहज अनौपचारिकता एवं हार्दिकता नष्ट हो जाती है। पत्रों को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है। एक, निजी पत्र जो प्रकाशन के उद्देश्य से नहीं लिखे जाते और दूसरे, ऐसे पत्र जो बाह्यतः पत्र होते हुए भी वास्तव में साहित्यिक कृति के रूप में लिखे जाते हैं। बालमुकुंद गुप्त के 'भारत मित्र' में प्रकाशित 'शिवशम्भु के चिट्ठे' और विश्वंभर नाथ शर्मा कौशिक द्वारा 'चाँद' में प्रकाशित 'दुबेजी की चिट्ठी' प्रमुख हैं।

रिपोर्ताज़

रिपोर्ताज आधुनिक भारतीय भाषाओं की बहु-प्रचलित विधा नहीं है। फ्रेंच मूल के इस शब्द का अर्थ अंग्रेज़ी के 'रिपोर्ट' जैसा है, जिसका अर्थ है किसी विशिष्ट घटना या गतिविधि का व्यक्तिपरक सूचनांकन। यह निश्चय ही पत्रकारिता के संवाद-प्रेषण तथा तथ्यों की जाँच के पश्चात् दिए जाने वाले प्रतिवेदन से भिन्न होता है। लेखक की व्यक्ति-चेतना से निष्पन्न होने पर भी रिपोर्ताज़ की विषय-वस्तु तथ्यपरक ही होती है। समाचार-पत्र के संवादों और साहित्यिक रिपोर्ताज़ में मूल अंतर यही है कि पहले में तथ्य का निरूपण नितांत वस्तुपरक शैली में होता है, दूसरे में रचनाकार की निजी दृष्टि का वैशिष्ट्य उसे सर्जनात्मक रूप देता है। पत्र की भाँति यह भी महत्वपूर्ण ऐतिहासिक, साहित्यिक और सांस्कृतिक दस्तावेज़ होता है। हिंदी में रांगेय राघव का रिपोर्ताज़ 'तूफानों के बीच' साहित्यिक कृति होने के साथ-साथ बंगाल के अकाल का ऐतिहासिक दस्तावेज़ भी है।

29.7 दृश्य काव्य

जैसे प्रारंभ में कहा गया है, काव्य का दूसरा भेद **दृश्य काव्य** है। जो काव्य अभिनीत होकर देखा जाए वह दृश्य काव्य है। प्राचीन समय से ही काव्य की सामाजिकता व्यापक रही है। दृश्य काव्य में जन-साधारण भी आनंद ले सकते थे, श्रव्य काव्य पठित समाज के लिए था। कालिदास ने 'मालविकाग्निकमित्र' नाटक में यह कहा है कि नाटक सब प्रकार की बुद्धि और रुचि के लोगों के अनुकूल होता है- नाटयं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाकाधनम्। (1/4)

नाटक की पूर्णता अभिनय में है। संस्कृत में इसे ही **रूपक** कहते हैं। नाटक रूप के आरोप के कारण रूपक कहलाता है - **तद्रूपारोपात्तु रूपकम्।** (साहित्यदर्पण, 6 : 1) जो वस्तु जिसमें न हो उसमें देखना ही आरोप कहलाता है। नाटक एक प्रयोगमूलक कला है। नाटक की कलात्मक सार्थकता तभी व्यक्त होती है जब उसका अभिनय किया जाता है। इसीलिए प्राचीन आचार्यों ने दृश्य काव्य (नाट्य) को रूपक की संज्ञा दी है अर्थात् रामादि की जीवनगत अवस्थाओं को नट द्वारा अभिनय के माध्यम से प्रत्यक्ष करके दिखलाना। इसीलिए 'नाट्यशास्त्र' में पूर्वरंग, प्रस्तावना, रंग सज्जा, रंग निर्देश, अभिनय, रंगशाला आदि नाट्य प्रयोग के विभिन्न तत्वों का सर्वांगीण विवेचन हुआ है। पाश्चात्य चिंतन में भी इसे रंगमंच सापेक्ष कला माना गया है - त्रासदी गंभीर जीवन का क्रिया-व्यापारात्मक अनुकरण है। यह भी कहा गया कि नाटक केवल अभिनीत होकर ही अपनी प्राणवत्ता को प्राप्त कर सकता है। (Plays truly live in performance only – Ashley Dukes) ।

नाटक और रूपक दोनों शब्द पर्यायवाची होते हुए भी सूक्ष्म अंतर वाले प्रतीत होते हैं। नाट्य में अवस्थाओं की अनुकृति को प्रधानता प्रदान की जाती है, किंतु रूपक में अवस्थाओं की अनुकृति के साथ-साथ रूप का आरोप भी आवश्यक है अर्थात् अवस्था की अनुकृति और रूपानुकृति का मिश्रित रूप रूपक कहलाने का अधिकारी बनता है। भारतीय काव्यशास्त्र में नाटक का उल्लेख है दरअसल रूपक के एक भेद के रूप में हुआ है। रूपक के 10 भेद माने गए हैं जो निम्नलिखित हैं - नाटक, प्रकरण, भाण, व्यायोग, समवकार, डिम, ईहामृग, अंक, वीथी, प्रहसन। इनमें नाटक सर्वप्रमुख है। इन

भेदों के अतिरिक्त नाट्याचार्यों ने 18 उप-रूपक भी माने हैं। रूपक का एक भेद होने के कारण नाटक और रूपक को एक मानकर चलना ही ठीक है।

आचार्य विश्वनाथ नाटक का लक्षण करते हुए लिखते हैं, नाटक वह रचना है जिसकी कथा-वस्तु रामयणादि एवं इतिहास में प्रसिद्ध हो, जिसमें विलास, समृद्धि आदि गुण तथा अनेक प्रकार के ऐश्वर्यों का वर्णन हो, जो अर्थ, धर्म एवं काम का फलदाता हो, जो अंक, अर्थ (अर्थ प्रकृति) एवं दशा (पाँच कार्यावस्थाएँ) से समन्वित हो, जहाँ सुख-दुःख की उत्पत्ति दिखाई जा सके और अनेक रसों का समावेश हो सके, जिसमें 5 से 10 तक अंक हों, जिसका नायक पुराणादि में प्रसिद्ध वंश में उत्पन्न, धीरोदात्त, प्रतापी, गुणवान् कोई राजर्षि अथवा दिव्य व दिव्यादिव्य पुरुष हो जहाँ शृंगार अथवा वीर रस प्रधान हो तथा अन्य रस अंगभूत हों, जिसकी निर्वहण संधि अत्यंत अद्‌भुत हो, जिसमें चार या पाँच पुरुष प्रधान कार्य के साधन में व्याप्त हों। गौकी पूँछ के अग्रभाग के समान जिसकी रचना हो।

भारतीय आचार्यों ने नाटक के मूल रूप से **तीन तत्व** माने जाते हैं - (1) **कथावस्तु**, (2)**नायक**, तथा (3) **रस**। आइए अब इनपर एक-एक करके विचार करें।

29.7.1 कथा-वस्तु

कथा-वस्तु के दो भेद किए गए हैं - **आधिकारिक** एवं **प्रासंगिक**। मूल कथा-वस्तु को आधिकारिक एवं गौण को प्रासंगिक कहते हैं। प्रासंगिक कथा-वस्तु के फिर दो भेद हैं - **प्रकरी** एवं **पताका**। बराबर चलने वाले अवान्तर प्रसंग को पताका और कुछ काल चलकर रुक जाने एवं समाप्त हो जाने वाले प्रसंग को प्रकरी कहते हैं। कथा में चमत्कारपूर्ण धारावाहिकता लाने के लिए **पताका-स्थानक** का प्रयोग किया जाता है। पताका-स्थानक वह प्रासंगिक कथा है, जिसमें किसी के भाषण का किसी नए पदार्थ या भाव के वशीभूत होकर कोई दूसरा ही अर्थ सूचित हो जाए।)

कथा-वस्तु के कार्य-व्यापार को फल-प्राप्ति की ओर अग्रसर करने वाली चमत्कारयुक्त युक्ति को **अर्थ प्रकृति** कहते हैं। अर्थ-प्रकृतियाँ **पाँच** हैं - **बीज, बिंदु, पताका, प्रकरी** और **कार्य**। नाट्यदर्पण में अर्थ-प्रकृति को कारण मानकर 'उपाय' की संज्ञा दी गई है। धनिक और विश्वनाथ के अनुसार ये नाटक में **'प्रयोजन सिद्धि' की हेतु** हैं।

बीज वस्तुतः कथानक का बीज है जिसमें फल की संपूर्ण संभावनाएँ पहले से निहित रहती हैं। **बिंदु** की प्रकल्पना में तैल बिंदु का रूपक है। जिस प्रकार जल के धरातल पर तेल की बूँदें स्वतः विस्तार पा जाती हैं उसी प्रकार नाट्य-प्रयोजन की सिद्धि का यह दूसरा हेतु नाटकीय वस्तु पर छा जाता है। **पताका** व्यापक किंतु प्रासंगिक इतिवृत्त है जिसका उल्लेख हो चुका है। **प्रकरी** कुछ कम व्यापक इतिवृत्त है - इसका भी उल्लेख हो चुका है। **कार्य** नायक के मूल उपाय की अंतिम परिणति है। इस अवस्था में नाटक के सुदीर्घ कलेवर में परिव्याप्त विभिन्न साधनों और कार्यकलापों को पूर्ण सिद्धि अर्थात् नायक को फल की प्राप्ति होती है।

प्रत्येक नाटक में नाट्य-बंध और मूल तत्त्व नायक द्वारा फल-प्राप्ति है। फल सिद्धि के लिए किए गए कार्य की विभिन्न अवस्थाओं को **कार्यावस्थाएँ** अथवा **अवस्था पंचक** का नाम दिया गया है। ये पाँच हैं **आरंभ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति** और **फलागम**। 'आरंभ' में फल-प्राप्ति के लिए किए जाने वाले व्यावहारिक प्रयत्नों में उत्सुकता के साथ त्वरा का योग हो जाता है। यह अवस्था एक प्रकार से नाटकीय वस्तु के विकास के अंतर्गत होने वाले विभिन्न व्यापारों के विनियोजन की अवस्था है। 'प्राप्त्याशा' में फलसिद्धि की संभावनाएँ तो बढ़ जाती हैं, किंतु वे आशंका और अनिश्चय से धूमिल रहती हैं। 'नियताप्ति' की अवस्था में विघ्न-बाधाएँ निराकृत हो जाती है और फल-प्राप्ति का मार्ग स्पष्ट, अबाधित और सुनिश्चित हो जाता है। कार्य की अंतिम अवस्था 'फलागम' है जिसमें आरंभ से ही उद्दिष्ट फल अंतिम और समग्र रूप से प्राप्त हो जाता है। भारतीय दृष्टि से नाटक का समापन इसी स्थल पर होना चाहिए।

कथा-वस्तु में फल-सिद्धि के हेतुओं की दृष्टि से पाँच अर्थ-प्रकृतियों तथा फल-प्राप्ति की दिशा में किए गए कार्य की पाँच अवस्थाओं के मध्य वस्तु-विकास की विभिन्न स्थितियों के अनुरूप संश्लेषण का कार्य **नाट्य-संधियाँ** संपादित करती हैं। नाट्य-संधियों का कर्तव्य कर्म द्विविध है - प्रधान इतिवृत्त और परस्पर सम्बद्ध अन्य प्रासंगिक इतिवृत्त खंडों के बीच संबंध स्थापित करना तथा परस्पर जुड़े हुए इन छोटे उपवृत्तों के साथ नाटक के प्रधान उद्देश्य को संयुक्त करना। ये संख्या में पाँच हैं - **मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श** और **निर्वहण।**

वस्तु-विन्यास में अभिनय की दृष्टि से दो भेद हैं - **दृश्य** एवं **सूच्य**। वस्तु के अंतर्गत जिनका विस्तार आवश्यक है उन्हें दृश्य एवं जिनकी केवल सूचना देनी चाहिए उन्हें सूच्य कहा जाता है।

29.7.2 नायक

नाटक के प्रधान पात्र को **नायक** कहते हैं। वस्तु और रस की मध्यवर्ती कड़ी नेता है। यह वस्तु का संचालक, नाट्य-फल का उपभोक्ता तथा इस प्रकार नाट्य रस की सिद्धि का मुख्य उपादान है। संस्कृत काव्यशास्त्र की परंपरा में नायक का केवल आदर्श रूप ही मान्य रहा है। धनंजय ने 'दशरूपक' में नायक के प्रमुख गुणों का आख्यान करते हुए कहा है कि उसे विनीत, मधुर स्वभाव वाला, त्यागी, दक्ष, प्रियभाषी, लोकप्रिय, शुचि, वाग्मी, कुलीन, स्थिर चित्त, युवा, बुद्धिमान, उत्साही, स्मृतिवान, कलाविद, शूरवीर, दृढ़-चरित्र वाला, तेजस्वी, शास्त्रज्ञ तथा धार्मिक होना चाहिए। भरत के आधार पर 'नाट्यदर्पणकार' ने स्पष्ट रूप से कहा है कि नाटक के नायकत्व के अधिकारी केवल उत्तम और मध्यम प्रकृति के व्यक्ति ही हो सकते हैं - अधम प्रकृति के नहीं। नायक के चरित्र की प्रधान वृत्ति, उनके अनुसार, धीरता है जिसके आधार पर उन्होंने भरत का ही अनुसरण करते हुए **धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित** और **धीरप्रशांत** - चार प्रकार के नायक चरित्रों का उल्लेख किया है।

संस्कृत नाट्यशास्त्र में रूपक के विभिन्न भेदों के अनुरूप भिन्न-भिन्न प्रकार के नायक वर्णित हैं। नाटक के अतिरिक्त रूपक के डिम, व्यायोग, समवकार, अंक और ईहामृग नामक भेदों का नायक प्रख्यात तथा प्रकरण, भाण, प्रहसन और वीथी का नायक कल्पित होता है।

आधुनिक युग में नायक संबंधी उक्त समस्त अवधारणाओं का महत्व केवल शास्त्रीय एवं ऐतिहासिक है। युग-परिवेश और निजी भाव-बोध के परिवर्तन के साथ आज का नाटककार शास्त्र की अपेक्षा कृति की आंतरिक प्रकृति और आवश्यकता के अनुरूप नायक का चरित्र स्वयं निर्धारित करना अधिक उचित समझता है। आज के जटिल और अति-संकुल जीवन के कारण वह स्वभावतः व्यक्ति-वैचित्र्यपूर्ण यथार्थ-चरित्रांकन की ओर अधिक प्रवृत्त है।

29.7.3 रस

नाटक का उद्देश्य **रस** का आस्वाद है। यह नाटक का एक प्रमुख तत्व है। नाटक रस के आश्रित है। रस आनंदमयी चेतना है। यह काव्यानंद है। नाट्यशास्त्र में इसका उल्लेख करते हुए भरत ने कहा है कि विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव के संयोग से सहृदय स्थित स्थायी भाव रस रूप में परिणत होता है। उदाहरणार्थ पुष्प-वाटिका में राम घूम रहे हैं, एक ओर सीता आ जाती है। स्थल नितांत एकांत है। प्रातःकालीन सुखद समीर शरीर और मन को उत्साहित कर रहा है, पुष्पों की छटा मन को मोहित किए ले रही है। ऐसी दशा में राम सीता को देखकर मोहित हो जाते हैं और उनकी ओर आकर्षित होते हैं। उन्हें रोमांच हो जाता है। कटाक्षपात करते हैं, बार-बार रुक-रुककर देखते हैं, उनकी ओर बढ़ने की चेष्टा करते हैं। उनके द्वारा हर्ष, लज्जा आदि का प्रकाशन होता है। इस दृश्य को देख, पढ़ या सुनकर सहृदय के हृदय में वासना रूप से संस्थित रति नामक स्थायी भाव जाग्रत होकर इस सीमा तक उद्दीप्त हो जाता है कि वह देश-काल का ज्ञान भूलकर उसी घटना में तन्मय हो जाता है। इस प्रकार, सीता आलम्बन विभाव, एकांत तथा वाटिका का मनोरम दृश्य उद्दीपन विभाव, कटाक्षादि आश्रयगत अनुभाव एवं लज्जा तथा हर्ष आदि व्यभिचारी भाव के संयोग से रति नामक स्थायी भाव जिस आनंदमयी तन्मयावस्था को उपस्थित करता है वही रस है। शृंगार, हास्यादि आठ रसों की कल्पना दृश्य काव्य के प्रसंग में की गई थी। नाटकों में शृंगार और वीर को ही अधिक महत्व दिया गया है।

29.7.4 वृत्ति (शैली) और अभिनय

इन तीनों तत्वों के अतिरिक्त और दो तत्व भी महत्वपूर्ण हैं - **वृत्ति (शैली)** और **अभिनय**। नाट्यशास्त्र में रचना शैली के रूप में वृत्तियों का उल्लेख है। नाटक में विभिन्न पात्र जो एक-दूसरे के प्रति, अथवा किसी उद्देश्य-प्राप्ति के लिए विभिन्न व्यापार (व्यवहार) करते हैं उसे **नाट्यवृत्ति** कहते हैं। वृत्ति को भरत ने 'नाट्यमाता' अर्थात् अभिनेय (दृश्य) काव्य की जननी कहा है। वृत्ति के चार भेद हैं - (1) **भारती** अर्थात् पात्रों का वाग्व्यापार (2) **आरभटी** अर्थात् उत्साहपूर्ण तथा उद्धत-वचन और युद्ध तथा रौद्र प्रदर्शक चेष्टाएँ (3) **सात्वती** अर्थात् सत्य अथवा मन से संबंध रखने वाली वृत्ति, तथा (4) **कैशिकी** - केशों के समान कोमल-वृत्ति जिसका प्रयोग नारी-पात्र करते हैं। लालित्य और सौकुमार्य के प्रयोग को 'कैशिकी' वृत्ति कहते हैं।

नाटक का प्राण **अभिनय** है। 'अभिनयति हृदगत भावान् प्रकाशयति।' मन के क्रोधादि भाव को प्रकट करने वाली आंगिक चेष्टाओं द्वारा किसी विषय अथवा व्यक्ति का प्रकृत अनुकरण करके प्रदर्शित करने

को अभिनय कहते हैं। नाट्यशास्त्र के अनुसार अभिनय चार प्रकार से सम्पन्न किया जाता है - (1) आंगिक (2) वाचिक (3) आहार्य (4) सात्विक। नेत्र तथा मुख के हाव-भाव तथा हाथ पैर आदि अंगों के संचालन द्वारा किसी प्रकृत विषय के अनुकरण करने को **आंगिक** कहते हैं। वीभत्स, करुण, रौद्र प्रभृत रस-युक्त वाक्य द्वारा मानसिक भावों के अनुकरण को **वाचिक** कहते हैं। वस्त्राभरण को **आहार्य** कहते हैं, जैसे लव-कुश के अभिनय के लिए अभिनेताओं की अवस्था बारह वर्ष के लगभग तथा वेश-भूषा ऋषि बालकों की सी होनी चाहिए। अतः इन बातों को ध्यान में रखकर लव-कुश की प्रकृत मूर्ति के अनुकरण को आहार्य कहेंगे। स्तंभ, स्वेद, रोमांच आदि को **सात्विक** भाव कहते हैं। ये भाव मुख, हाथ-पैर आदि की विशेष भंगी एवं रोमांच और अश्रुपात से अभिनीत होते हैं।

नाट्यशास्त्र में उत्कृष्ट अभिनय के अनेक आवश्यक गुण माने गए हैं - जैसे, अनुकरण, कुशलता, दृष्टि-सौष्टव, श्रुति माधुर्य, परिहासादि।

29.7.5 नाट्य-रूढ़ियाँ

नाटक की मुख्य कथा को प्रारंभ करने से पूर्व कुछ कृत्यों का विधान है। इन्हें **पूर्वरंग** कहते हैं। पहले एक प्रकार की स्तुति होती है जिसे **नांदी** कहते हैं। नांदी के बाद **रंगद्वार** होता है, जिसमें देवताओं की वंदना सम्मिलित है।

नाटक के प्राचीनकालीन रूप अब प्रायः लुप्त हो गए हैं। आधुनिककाल में प्राचीन भारतीय नाट्य रूप के साथ आधुनिक पाश्चात्य नाट्य रूप को जोड़कर एक नये विधान के आश्रय से नाटक खेले जाते हैं।

29.8 पश्चिमी नाटक

पश्चिम में नाटकों के विवेचन का आधार अरस्तू का काव्यशास्त्र रहा है। भरत एवं अरस्तू दोनों नाटकों में अनुकृति को महत्व देते हैं पर भारतीय नाट्यशास्त्र में मूलाधार रस को ही माना गया है एवं पाश्चात्य साहित्य-चिंतन में संघर्ष को नाटक का मूल तत्व मानने के कारण कार्यवस्थाएँ भिन्न-भिन्न हैं।

नाटकों का वर्गीकरण उनके विषय, अंत, माध्यम, आकार, शिल्प आदि के आधार पर कई प्रकार से किया गया है। इसके प्रमुख भेद हैं - त्रासदी, कामदी, एकांकी, गीतिनाटक एवं प्रतीक नाटक। इनमें से त्रासदी, कामदी और एकांकी का संक्षेप से विवेचन किया जा रहा है।

29.8.1 त्रासदी

भारत में नाटकों में आदर्शवादिता पर बल था, पश्चिम में जीवन के प्रश्नों को लेकर यथार्थ का आग्रह रहा है। अरस्तू के अनुसार नाटकों का श्रेष्ठ रूप त्रासदी (**ट्रेजेडी**) है। त्रासदी की परिभाषा देते हुए अरस्तू ने लिखा है कि त्रासदी किसी गंभीर, स्वतःपूर्ण और निश्चित आर[illegible] से युक्त कार्य की अनुकृति का नाम है जिसका माध्यम नाटक के भिन्न-भिन्न भागों में भिन्न-भिन्न रूप [illegible] प्रयुक्त सभी प्रकार के आभरणों से अलंकृत भाषा होती है, जो समाख्यान (वर्णनात्मक) रूप में न होकर कार्य-व्यापार रूप में होती है और जिसमें करुणा और भय के उद्रेक द्वारा इन मनोविकारों का उचित विरेचन होता है। इस परिभाषा के अनुसार त्रासदी दृश्य काव्य है श्रव्य काव्य नहीं, इसमें गंभीर विषय-वस्तु की उपस्थापना होती है। त्रासदी में कार्य-व्यापार करुणा तथा भय का उद्रेक करती है इसीलिए त्रासदी भय-मिश्रित करुण नाटक है। गीत तथा छंदोबद्ध संलाप की सहायता से त्रासदी का अनुकरण सम्पन्न होता है। इस प्रकार त्रासदी के छह तत्व हैं - वृत्त (plot), चरित्र (character), शैली (dictori), विचार (thought), दृश्य (spectacle), गीत (songs)। त्रासदी अंततः हमारे दुःख में हमारी महिमा को बनाए रखने के लिए प्रेरणा देती है। इसमें जीवन के तीन तत्व मिल जाते हैं - तनाव तथा संघर्ष, अभिनय और जीवन की चरितार्थता की खोज की जिज्ञासा से प्रेरित अर्थ या मूल्य दृष्टि।

वृत्त या कथावस्तु (plot)

अरस्तू के अनुसार चरित्र के स्थान पर कथावस्तु अधिक महत्वपूर्ण है। उनका कहना है कि घटना-संघटन द्वारा चरित्र चित्रण अनिवार्यतः हो जाता है। अतः नाटक में प्रधान तत्व कथावस्तु है। वस्तुतः कार्य का समूह कथानक या plot है और उसी के साथ चरित्र जुड़ा रहता है। प्लॉट को महत्व देने का कारण चरित्र ही है। दरअसल प्लॉट को महत्व देकर अरस्तू एक विचार-दृष्टि को महत्व देना चाहते थे। त्रासदी का प्राण केंद्र इसलिए घटना है। घटना चरित्र से उद्‌भूत हो अथवा चरित्र घटना रूप में व्यक्त हो, घटना ही व्यक्त होता है (Plot is artistically the first necessity of the drama. - Butcher)। वृत्त (कथानक या प्लॉट) की विन्यास-रीति सरल या जटिल होती है। वृत्त का आदि, मध्य और अंत होता

आधुनिक धारणा के अनुसार कामदी का मुख्य उद्देश्य मनोरंजन करना है। इलियट डानेट्स का मत है कि कामदी वह कथा है जिसमें व्यक्ति के समष्टिगत और व्यक्तिगत जीवन व्यवहारों में व्यक्त प्रथाओं और स्वभावों का मनोरंजक चित्रण होता है और इस चित्रण से एक ओर तो पाठक यह सीखता है कि जीवन में उसे क्या करना चाहिए और दूसरी ओर यह कि उसे क्या त्यागना चाहिए। कामदी में चरित्रों की सृष्टि जीवन के निरीक्षण एवं अनुभव के फलस्वरूप होती है। उसका हास्य व्यक्तिगत स्तर पर न होकर संपूर्ण सामाजिक स्तर पर होता है और परिहास के उन्मुक्त क्षणों में भी हमें सोचने पर विवश कर देता है - हमें हमारी त्रुटियों का विश्वास दिलाता चलता है। एक उत्कृष्ट कामदी अपने परिहास के साथ-साथ मानव स्वभाव के मूल तक पहुँच जाती है तथा प्रेक्षक को उसकी महान् संभावनाओं तथा विभिन्न सीमाओं के प्रति जागरूक बनाती है। कामदी, फार्स (farce) से इस बात में भिन्न है कि उसमें फार्स की भाँति भोंडे एवं अपरिष्कृत मज़ाक नहीं होते और उसके संवाद एवं कथानक में एक गांभीर्य एवं परिष्कार होता है।

29.8.3 एकांकी

उपन्यास, कहानी आदि अन्य गद्य रूपों के समान एकांकी भी भारतीय साहित्य को पश्चिम की देन है। उन्नीसवीं शती के अंतिम एवं बीसवीं शती के प्रथम चरण में 'प्रायोगिक' एवं लघु नाट्यों के आंदोलन ने एकांकी को एक समृद्ध नाट्य-रूप में विकसित होने में बहुत सहायता दी। एकांकी का कभी भी पूर्ण नाटक के अंग के रूप में अस्तित्व नही रहा। उसका जन्म स्वतंत्र रूप में हुआ और अपनी अंतरंग शक्ति से उसने सदा अपना अलग और विशिष्ट स्थान बनाए रखा। जीवन के किसी एक पक्ष अथवा एक घटना या पात्र-वैशिष्ट्य को रेखांकित करने के कारण उसमें बड़ी नम्यता और विविधता होती है। कहानी की तरह इकहरापन और प्रभावान्विति एकांकी का भी वैशिष्ट्य होता है। एकांकी के कथानक की **आरंभ** और **प्रयत्न** दो ही अवस्थाएँ होती हैं और **प्राप्त्याशा** के पूर्व ही कार्य की समाप्ति हो जाती है। एकांकी में कार्य, स्थान और काल की संगति इसलिए अपेक्षित होती है कि इसमें विस्तार एवं वैविध्य की बहुत गुंजाइश नहीं है। **पात्र-विधान** के संबंध में पहली बात यह है कि एकांकी में उनकी संख्या पाँच-छह से अधिक नहीं होती। पात्रों के चरित्र का निर्माण उनके संस्कार, मनोविज्ञान और वातावरण के अनुसार ही होता है। **संवाद** एकांकी का सर्वस्व है क्योंकि संवाद के द्वारा ही कथा और चरित्र के स्थल सम्मुख लाए जाते हैं। **रंग-संकेत** का प्रयोग एकांकीकार कथा, चरित्र, संवाद का संयुक्त प्रभाव बढ़ाने के लिए करता है।

29.9 सारांश

आदिम साहित्य एकक था। यानी एक के भीतर ही बहु का समावेश था। एक ही शिल्पगत आधार में कविता, गान, नृत्य, नाटक, कथा आदि विद्यमान थे - मानो संयुक्त परिवार हो। आदिम समाज था श्रेणीहीन गणसमाज, आदिम संस्कृति थी - एक के बीच अनेक का समाहार एवं आदिम साहित्य में (आदिम शब्द मात्र कालवाचक है) कितनी धर्म-प्रेरणाएँ थीं और कितनी शिल्पकला की सृष्टि की वेदना कहना मुश्किल है। सभ्यता के प्रसार के साथ-साथ, समाज के श्रेणी-विभाग के साथ-साथ साहित्य का श्रेणी विभाग शुरू हुआ। केवल सामाजिक कार्य-कारण ही नहीं, साहित्य के श्रेणी विभाग के पीछे व्यक्तित्व एवं शिल्प रीति की देन भी कम नहीं। निरंतर अनुशीलन के फलस्वरूप शिल्प का कला-कौशल क्रमशः विशिष्ट आकार धारण करता है एवं इस विवर्धन के फलस्वरूप साहित्य का रूप परिवर्तित एवं बहुमुखी बनता रहता है। दूसरी ओर, क्रमाभिव्यक्ति के रास्ते से गुज़रते हुए व्यक्ति के चित्त का विकास और विस्तार होता रहता है। आत्म-चेतना, वस्तु-चेतना, विश्व-चेतना एवं शिल्प-चेतना जाग उठती है। उस जाग्रत चैतन्य के फलस्वरूप शिल्प भावना और प्रकाश रीति विशिष्टता और वैचित्र्य प्राप्त करती है। इस तरह सामाजिक विवर्तन, व्यक्तित्व का प्रसार एवं शिल्पगत विवर्धन के फलस्वरूप एकक साहित्य बहुमुखी रूप धारण कर लेता है और इस प्रकार साहित्य की विधाओं का विस्तार होता है। प्रस्तुत इकाई में आपने साहित्य की प्रमुख विधाओं के स्वरूप एवं विशिष्टताओं की जानकारी प्राप्त की।

29.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

डॉ.शंभूनाथ सिंह, **हिंदी महाकाव्य का स्वरूप और विकास**, हिंदी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी।

डॉ. निर्मला जैन, **आधुनिक हिंदी काव्य में रूप और विधाएँ**, वाणी प्रकाशन, दिल्ली।

धीरेन्द्र वर्मा (संपा.), **हिंदी साहित्य कोश भाग-1**, ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी।

डॉ. नगेन्द्र, **अरस्तू का काव्यशास्त्र**, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।

बाबू गुलाबराय, **काव्य के रूप**, विनोद पुस्तक भण्डार, आगरा।

29.11 अभ्यास के लिए प्रश्न

1. संस्कृत काव्यशास्त्र में निरूपित महाकाव्य के स्वरूप पर विचार कीजिए।
2. अरस्तू द्वारा प्रस्तुत महाकाव्य के लक्षणों पर प्रकाश डालिए।
3. दृश्य काव्य पर एक निबंध लिखिए।
4. पाश्चात्य काव्यशास्त्र में निरूपित नाटक की विशिष्टताओं एवं भेदों पर प्रकाश डालिए।
5. टिप्पणियाँ लिखिए :
   (क) खण्ड काव्य
   (ख) कहानी
   (ग) रेखाचित्र
   (घ) उपन्यास
   (ङ) निबंध